विक्रमादित्य की गौरव गाथा

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का ३६६वाँ पुष्प

विक्रमादित्य की गौरव गाथा

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

सम्पादक :
डॉ. लक्ष्मण भटनागर

सम्प्रेरक :
श्री दिनेश मुनि
श्री दीपेन्द्र मुनि

प्रथम संस्करण :
वि. सं. २०५५ दीप पर्व
ईस्वी सन् १९९८, अक्टूबर

प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान :
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३ ००१
फोन : ४१३ ५१८

मुद्रण :
संजय सुराना द्वारा
दिवाकर प्रकाशन
ए-७, अवागढ़ हाउस, आगरा-२८२ ००२

मूल्य :
रु. २५०/- (दो सौ पचास रुपया मात्र)

प्रकाशकीय

संसार में कोई कवि होता है तो कोई वक्ता, कोई दार्शनिक होता है तो कोई वैज्ञानिक, कोई लेखक होता है तो कोई चिन्तक। एक ही व्यक्ति में अनेक विशेषताएँ दुर्लभ हैं, किन्तु जो मनस्वी, ज्ञान की सतत साधना, आराधना में लीन रहते हैं उनकी ज्ञान-धारा एक विषयगामिनी होकर भी बहुविध-ग्राही, क्षिप्र-ग्राही आदि गुणों से युक्त होती है। वे जिस विषय में अध्ययनरत एवं चिन्तनरत होकर लेखनी उठाते हैं उसमें नया-नया निर्माण करते ही जाते हैं। चतुर्दिक व्यापी होती है उनकी प्रतिभा की गति। अप्रतिहत होती है लेखनी; क्योंकि उनका ज्ञान केवल पुस्तकीय नहीं होता, अपितु अन्तःकरण से समुद्भूत होता है। इसलिए बुद्धि व चिन्तन का क्षेत्र असीमित और व्यापक होता है। उनकी एकाग्रता और योगनिष्ठ प्रतिभा में वह चमत्कार होता है जो जिस विषय में भी प्रवेश करती है उसमें समग्रता, सुरुचिरता और श्रेष्ठता प्राप्त करती है।

श्रमणसंघ के तृतीय पट्टधर आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी म. सा. निस्संदेह एक प्रतिभा-पुरुष हैं। उनकी स्मरण-शक्ति जितनी अद्भुत है, ग्रहण एवं धारणा भी उतनी ही प्रखर तथा तेजस्वी है। उनकी बुद्धि में प्रविष्ट एक-एक शब्द, एक-एक विषय जल में गिरे तैल-बिन्दु की तरह विस्तार पाता जाता है। यही कारण है कि आचार्यश्री का ज्ञान बहुआयामी है और उनकी लेखनी शक्ति भी बहुआयामी है। उन्होंने अनेक विषयों पर सुन्दर से सुन्दर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। इतिहास, संस्कृति, प्रवचन, ललित निबन्ध, जीवन-चरित्र, बोधकथाएँ, लघुकथाएँ जैसे सरल रोचक विषयों पर उनकी लेखनी धारा प्रवाह चली है तो कर्मविज्ञान, जैन आचार तथा जैनदर्शन जैसे गूढ़तम विषयों पर भी आचार्यश्री ने अनेक विशाल ग्रन्थों का प्रणयन किया है। आचार्यश्री ने अनेक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं जो विषय एवं भाषा की दृष्टि से रोचक तथा प्रेरणाप्रद रसवाही माने जाते हैं। उपन्यासों की इस लेखन शृंखला में अब आचार्यश्री का एक बृहत्काय उपन्यास 'विक्रमादित्य की गौरव गाथा' पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है।

जितनी विशाल दिगन्तव्यापिनी महाराज विक्रमादित्य की कीर्ति है, उतना ही विस्तृत है उनका जीवन-पट। राजा विक्रम का जीवन एक ऐसा रंगीन पट है जिसमें अनेक प्रकार के मनोरम रंगों व दृश्यों की छवि अंकित है जिनकी सुषमा दर्शक का मन मुग्ध कर देती है।

परम श्रद्धेय आचार्यप्रवर ने विक्रमादित्य चरित्र से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का अनुशीलन कर उनका रोचक चरित्र बहुत ही भावप्रवण, प्रवाहमयी, रसमयी भाषा-शैली में निबद्ध किया है। साहित्य जगत् में इसका अपना मूल्यांकन होगा और प्रतिष्ठित भी होगा यह। पहले हमने दो भागों में प्रकाशित करने का विचार किया था, किन्तु कुछ पाठकों का सुझाव था कि पूरा उपन्यास एक ही भाग में होना चाहिए। अलग-अलग भागों में होने से कभी-कभी एक भाग मिल जाता है और दूसरे भाग से पाठक वंचित रह जाते हैं। जब तक दोनों भाग अर्थात् सम्पूर्ण चरित्र नहीं पढ़ा जाय तब तक रस प्रवाह विखण्डित-सा लगता है। इस कारण हमने यही निर्णय लिया कि पूरा उपन्यास चाहे एक हजार पृष्ठ से बड़ा हो फिर भी एक ही जिल्द में प्रकाशित किया जाय।

इसके सुन्दर संपादन में श्रीमान् डॉ. लक्ष्मण जी भटनागर का सहयोग सदा चिरस्मरणीय रहेगा। मुद्रण में अनेक उदार गुरु-भक्त सद्गृहस्थों ने अपना आंशिक योगदान दिया है जिनके सहयोग से हम इस विशालकाय पुस्तक का सुन्दर व रोचक प्रकाशन कर सकें। मुद्रण-कला की दृष्टि से ग्रन्थ को सर्वाधिक सुन्दर बनाने में श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' का अपूर्व सहयोग हमें प्राप्त हुआ है उन सब के प्रति हार्दिक धन्यवाद।

चुन्नीलाल धर्मावत

कोषाध्यक्ष

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

प्रस्तावना–

विक्रमादित्य : एक समर्थ लोकनायक

हजारों हजार वर्ष बीत जाने के पश्चात् भी रामायण के मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और महाभारत के वासुदेव श्रीकृष्ण भारतीय जनता के कण्ठहार बने हुए हैं। राम की मर्यादा पालकता, प्रजावत्सलता, न्यायप्रियता और श्रीकृष्ण की नीति कुशलता, अन्याय के प्रतिकार की दृढ़ता, धर्म की संस्थापना का संकल्प तथा जीवन के प्रति संतुलित सही दृष्टिकोण आज भी विश्व मानवता के लिये आदर्श है। राम के पश्चात् हजारों वर्ष के काल प्रवाह में सैकड़ों प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने अपनी रीति-नीति से प्रजा का पालन-संरक्षण किया, किन्तु जो अमर कीर्ति इन दो महापुरुषों को मिली वह किसी अन्य राजा को नहीं मिली।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारतीय इतिहास में राजा विक्रमादित्य का आगमन उस इतिहास के कुछ अंशों में पुनरावृत्ति-जैसा प्रतीत होता है। श्रीराम-श्रीकृष्ण के पश्चात् राजा विक्रमादित्य एक ऐसा राजा हुआ जिसको आज सम्पूर्ण भारत में न्यायी और प्रजापालक राजा के रूप में स्मरण किया जाता है। उसके उदात्त बहुआयामी व्यक्तित्व के अनेकानेक विस्मयकारी रूप भारत की लोककथाओं में प्रतिष्ठित हैं और प्रजा उसे आज भी अत्यधिक आदर व सम्मान के साथ याद करती है। भारत में जो दिगन्तव्यापिनी कीर्ति और आसमुद्रवर्ती यश-गौरव विक्रमादित्य को प्राप्त है वह अपने आप में अनूठा है। भारतीय इतिहास में विक्रमादित्य को महारथी, पराक्रमी, महातेजस्वी, गुणी-गुणज्ञ, प्रजावत्सल, न्यायप्रिय सम्राट् के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। ऐसी विमल कीर्ति किसी अन्य राजा को प्राप्त नहीं हुई। यही कारण है कि उसका विक्रमादित्य नाम एक अत्यन्त सम्मानपूर्ण उपाधि या विरुद बन गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१० ई.), स्कन्दगुप्त (४५५-४६७ ई.), यशोवर्मन (५३३ ई.) और हेमू (१५५ ई.) ने अपने तेज प्रताप को व्याख्यात करने के लिए अपने नाम के साथ विक्रमादित्य विशेषण लगाकर यह सिद्ध कर दिया कि विक्रमादित्य नाम से भारतीय लोकमानस में एक अत्यन्त प्रतापी प्रजापालक आदर्श राजा की छवि अंकित है। वह एक साहस-शौर्य की साक्षात् प्रतिमा था, तो दानवीरों में अग्रणी, उदात्त चरित्र और संयमनिष्ठ तथा नीतिमान सम्राट् के रूप में भारतीय साहित्याकाश का सहस्रांशु बनकर दीप्तिमान है।

यद्यपि इतिहासकारों में विक्रमादित्य की स्थिति के विषय में मतभेद हैं, विवाद हैं, किन्तु भारतीय भाषाओं के संस्कृत-प्राकृत आदि साहित्य में तथा जैन साहित्य

में तो विस्तृत रूप में राजा विक्रमादित्य का रोचक और घटनाबहुल जीवन अंकित है। वह इस बात का साक्षी है कि निस्संदेह इस धरा पर एक ऐसा व्यक्तित्व विद्यमान था।

विक्रमादित्य की उपस्थिति का सबसे प्रथम प्रमाण तो यह है कि उसके नाम से आज विक्रम संवत् चल रहा है। उसे दो हजार वर्ष से अधिक का समय बीत चुका है। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार–भारतवर्ष की काल गणना में बीसों संवत् चले, किन्तु दीर्घजीवी नहीं रहे। जितने भी संवत् चले हैं उनमें सबसे अधिक व्यापकता और लोकमान्यता विक्रम संवत् को ही प्राप्त है। विक्रम संवत् का प्रारम्भ ईस्वी पूर्व ५६-५७ में हुआ था। यह समय राजा विक्रमादित्य के राज्य का सर्वाधिक शान्ति और समृद्धि का काल माना गया है। उत्तर भारत में यह संवत् चैत्र शुक्ल पक्ष १ से तथा दक्षिण भारत मे कार्तिक शुक्ल पक्ष १ से इसका आरम्भ माना जाता है।

विक्रमादित्य के काल व ऐतिहासिकता के विषय में पश्चिमी यूरोपीय विद्वानों ने कुछ शंकाएॅ उठाई हैं। भारतीय लोकमानस में विक्रमादित्य की अनुश्रुति की कथाएँ जितनी प्रसिद्ध हैं उसके इतिहास के विषय में लोगों को उतनी ही कम जानकारी है। कुछ विद्वानों को तो यह भी सन्देह है कि विक्रम संवत्सर प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य नाम का राजा ई. पू. ५७ में हुआ है या नहीं। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। जहॉ प्राचीन विश्वस्त शिलालेखों, अभिलेखों का अभाव इस शंका का कारण बनता है वहीं उन यूरोपीय विद्वानों की वैचारिक प्रतिबद्धता भी एक मुख्य कारण रहा है। भारत के श्रेष्ठ उज्ज्वल इतिहास को यूरोपीय विद्वानों ने अपनी दृष्टि से देखा है और कुछ बद्धमूल पूर्वाग्रहों के कारण उसे तोड़-मरोड़कर विकृत रूप में भी उपस्थित किया है। यह बात आज के इतिहासकार मानते हैं, अतः हम विक्रमादित्य के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की अपेक्षा भारतीय साहित्य को ही प्रमाण मानते हैं और उन्हीं साक्ष्यों के आधार पर हम इस विषय का निश्चय करते हैं।

डॉ. लक्ष्मणस्वरूप, एम. ए., डी. फिल. के कथनानुसार विक्रमादित्य के अद्भुत अलौकिक विस्मयकारी कार्यों का विस्तृत वर्णन जानने के चार साधन हमारे पास हैं–(१) संस्कृत साहित्य, (२) जैन साहित्य, (३) महाराष्ट्री प्राकृत में रचित गाथा सप्तशती, तथा (४) गुणाढ्य रचित पैशाची प्राकृत की बृहत्कथा आदि ग्रन्थ। संस्कृत भाषा के तीन ग्रन्थ–शुकसप्तति (तोता-मैना की कहानी), सिंहासन द्वात्रिंशिका (सिंहासन बत्तीसी), तथा वेताल पंचविंशति (वेताल पचीसी) हैं। जिनके भारतीय भाषाओं में अनेक अनुवाद हो चुके हैं और भारत के नगरों व गाँवों में

ये कथाएँ बहुत प्रचलित हैं। ये कथाएँ भारतीय साहित्य के अतिरिक्त यूरोपीय भाषाओं के साहित्य में भी प्रचलित हैं।[1]

जैन साहित्य में विक्रमादित्य का वर्णन मुख्यतः इन ग्रन्थों में उपलब्ध है– (१) मेरुतुंगसूरि रचित–प्रबन्ध चिन्तामणि, (२) देवमूर्ति प्रणीत–विक्रम चरित, (३) रामचन्द्रसूरि कृत–विक्रम चरित्र, तथा (४) जर्मन विद्वान् हरमन याकोबी द्वारा सम्पादित कालकाचार्य कथा। संस्कृत साहित्य तथा जैन साहित्य की घटनाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है, प्रायः घटनाएँ समान ही हैं।

प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अनेक खोजों व तथ्यों के आधार पर यह स्थापित किया है कि ई. पू. ५७ में गौतमी-पुत्र प्रतापी राजा विक्रमादित्य ने शक राजाओं का उन्मूलन कर प्रसिद्धि प्राप्त की है। जयचन्द्र विद्यालंकार आदि विद्वानों ने भी इनका समर्थन किया है।[2]

प्रसिद्ध इतिहासकार श्री अगरचन्द जी नाहटा ने जैन साहित्य के विपुल प्रमाणों के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि विक्रमादित्य का कुल जैन परम्परा से जुड़ा था और वह सभी धर्मों का आदर करता था। तथापि जैनधर्म से अधिक प्रभावित रहा। आचार्य श्री सिद्धसेनसूरि के सम्पर्क में आने के पश्चात् तो वह उनका विशेष भक्त बन गया।

श्री नाहटा जी के अनुसार विक्रमादित्य के चरित्र पर सबसे अधिक ग्रन्थ रचना श्वेताम्बर जैन विद्वानों ने की हैं। अब तक ५५ ग्रन्थों का पता चला है, जिनके लेखक जैन विद्वान् हैं और उनमें विक्रमादित्य से सम्बन्धित विभिन्न वार्त्ताओं का बड़े रसवाही ढंग से वर्णन है।

डॉ. बनारसीदास जी जैन ने कालकाचार्य कथा से तथा अन्य प्राचीन साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि विक्रमादित्य का सम्बन्ध मौर्य वंश से जुड़ता है और वह मौर्य वंश जैनधर्म परम्परा का अनुयायी रहा है। मौर्यवंशी सम्राट् अशोक का पौत्र संप्रति पहले पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठा। किन्तु दो वर्ष बाद वह पाटलिपुत्र छोड़कर उज्जयिनी आ गया। यहाँ पर उसने शेष जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत किया। संप्रति की मृत्यु के पश्चात् उसका राज्य अशोक के पौत्रों, तिष्यगुप्त के पुत्रों–बलमित्र और भानुमित्र नामक राजकुमारों ने हस्तगत कर लिया। ये दोनों भाई जैनधर्म के उपासक थे। बलमित्र का पुत्र नभोवाहन भी जैनधर्मानुयायी था जो उज्जयिनी का राजा बना। यह वीर निर्वाण संवत् ३९० के आसपास की घटना है।

---

१. विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता : विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ. २३

२. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ. ७३३ से ७८८

नभोवाहन के पश्चात् उसका पुत्र गर्दभिल्ल उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठा। विक्रमादित्य इसी गर्दभिल्ल (जिसे गंधर्वसेन भी कहा जाता है) का पुत्र था।[1]

गर्दभिल्ल का वर्णन कालकाचार्य कथानक मे काफी विस्तार के साथ आता है। कालकाचार्य की बहन साध्वी सरस्वती अत्यन्त रूपवती थी। गर्दभिल्ल ने उस साध्वी के रूप पर मुग्ध होकर उसे अपने अन्तःपुर मे बन्दी बना लिया। तब कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया कि वह साध्वी पर बुरी नजर न डाले अन्यथा उसका सर्वनाश हो जायेगा। मंत्रियो ने भी उसे बहुत समझाया किन्तु दुष्ट गर्दभिल्ल अपने कुकृत्य पर अडा रहा। तब कालकाचार्य ने साध्वी सरस्वती को दुष्ट राजा के चगुल से मुक्त कराने के लिए सौराष्ट्र के शासक शक राजाओं से सम्पर्क किया। अपने बुद्धि-बल व विद्या-बल से उन राजाओ को प्रभावित कर उज्जयिनी के दुष्ट राजा गर्दभिल्ल से साध्वी को मुक्त करने के लिए उत्साहित किया। शकों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। गर्दभिल्ल पराजित हो गया। उज्जयिनी पर शकों का शासन हो गया।

विक्रम गर्दभिल्ल का पुत्र था। अनेक वर्षो तक वह देशाटन कर बल-विद्या आदि शक्तियों का अर्जन करता रहा। अन्त मे उसने शकों को परास्त कर उज्जयिनी को विदेशी शासन से मुक्त कराया।

डॉ. बनारसीदास ने उक्त तथ्य जैन साहित्य व अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यो के आधार पर प्रतिपादित किये हैं। यद्यपि विक्रम चरित्र मे और उक्त तथ्यों मे कहीं-कहीं थोड़ा विरोधाभास प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी गन्धर्वसेन का पुत्र होना, शकों पर विजय प्राप्त करना आदि संकेत यही सिद्ध करते हैं कि विक्रमादित्य का मूल कुल मौर्यवंशी रहा है और उसकी कुल परम्परा जैनधर्म से सम्बन्धित रही है। यह बात भी स्पष्ट है कि कामासक्त गर्दभिल्ल जैन होकर भी जैन साध्वी के साथ दुराचरण करने पर उतारू हो गया और इसी कारण कालकाचार्य ने उसे कठोर शिक्षा दिलवाई।

प्रभावक चरित्र एवं प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार राजा विक्रमादित्य आचार्य सिद्धसेन के उपदेशों से प्रभावित होकर जैनधर्म का अनुयायी बना। महाकाल के मन्दिर में आचार्य सिद्धसेन का शिवलिंग पर पैर रखना और उससे राजा का कुपित होना यह भी सूचित करता है कि विक्रमादित्य भले ही मूलतः जैनधर्म परम्परा से संपृक्त रहा है, परन्तु ये सम्पर्क गर्दभिल्ल व कालकाचार्य के सम्बन्धों के कारण शिथिल पड़ गये और देशाटन तथा अनेक ब्राह्मण विद्वानों के घनिष्ठ

---

१ विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ. १५२

सम्पर्क के कारण विक्रम शिव-भक्त वन गया हो। किन्तु सिद्धसेनसूरि के सम्पर्क से वह पुनः जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुआ है और उसकी प्रभावना में सहायक वना है। प्रभावक चरित्र के अनुसार तो राजा विक्रमादित्य जैन श्रावक वन गया—यह भी स्पष्ट है।

विक्रमादित्य विद्या-प्रेमी था। विद्वानों का आदर-सम्मान करता था। उसकी सभा मे भिन्न-भिन्न विषयों के नौ महापण्डित थे। जो नवरत्न नाम से प्रसिद्ध थे। जैसा कि प्रसिद्ध है—

धन्वन्तरि-क्षपणकाऽमर सिंह शंकु वेताल-भट्ट-घटखर्पर कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचि र्नव विक्रमस्य॥"

इनमें क्षपणक से आचार्य सिद्धसेन का तात्पर्य प्रतीत होता है।

मैंने प्रस्तुत उपन्यास-लेखन मे विक्रम चरित्र सम्बन्धी प्राप्त विविध साहित्य का उपयोग किया है। ऐतिहासिक, लोक श्रुतियॉ, किंवदन्तियॉ, लोकवार्त्ताएँ आदि भी इसमे सम्मिलित की हैं। वास्तव में विक्रमादित्य का चरित्र एक लोकनायक का चरित्र है। उसके साहस, शौर्य, दानशीलता, न्यायप्रियता आदि गुणों के कारण जन-मानस में विक्रमादित्य की छवि एक आदर्श राजा की छवि है जिसने अपने पराक्रम, साहस व बुद्धि-चातुर्य से अनेकों अलौकिक कार्य किये, प्रजा को कष्ट-मुक्त किया और राज्य में धर्म-नीति का शासन स्थापित किया।

विक्रमादित्य के चरित्र में अनेक उपकथाएँ भी आई हैं जिनमें विभिन्न प्रकार के आश्चर्यजनक कृत्य, जादुई खेल, कौतुक क्रीड़ाएँ भी हैं, उनका भी वर्णन इस उपन्यास में आ गया है। इसमें रोचकता के साथ-साथ विविध प्रकार की शिक्षाएँ भी निहित हैं। कोची हलवाइन के प्रसंग में तथा कुछ अन्य प्रसंगों में त्रिया-चरित्र की विभिन्न घटनाएँ भी आती हैं। इन घटनाओं में नारी-चरित्र की अवमानना करने का उद्देश्य नहीं है, किन्तु यह तथ्य सूचित किया गया है कि नारी स्वभाव से जितनी कोमल है, कामासक्त होकर उतनी ही कुटिल और क्रूर भी हो सकती है। यह क्रूरता, कुटिलता उसका स्वभाव नहीं, किन्तु दुःशीलता की दुर्वृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाली वुराई है जिसे त्यागकर नारी को अपने उज्ज्वल शील-सौन्दर्य की रक्षा करनी है। इस अति विस्तृत कथानक को समझने के लिए यहॉ संक्षेप में कथा-सार भी दिया जा रहा है ताकि पाठकों को विक्रमादित्य का पूरा जीवन-वृत्त विहंगम रूप से ज्ञात हो सके और आगे से आगे पढने में रुचि जाग्रत हो सके।

कथा-सार

विक्रमादित्य का जितना विस्तीर्ण यश कीर्ति है उतना ही विस्तीर्ण और विशाल है उसका जीवन-वृत्त। विक्रमादित्य ने पुरुपार्थ, पराक्रम, दृढ़ इच्छा-शक्ति, साहस, अदीनभाव, उदारता, चतुरता, समयज्ञता, न्याय-परायणता, प्रजावत्सलता, देशाटन-प्रेम, विद्या-प्रेम, देश-भ्रमण कर ज्ञान एवं शक्तियों का अर्जन करने की उत्कट इच्छा आदि गुणों का इन कथानको मे उद्भावन कर वड़ी रोचकता एवं कुतूहलवर्धकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। विक्रमादित्य के चरित्र के साथ-साथ अनेकों उपकथाएँ भी प्राचीन कथा-ग्रन्थो में गुँथी गई हैं जिनके कारण यह चरित्र अत्यन्त रोचक और वहुआयामी वन गया है। यद्यपि इन उपकथाओं में अनेकों प्रसंग अति मानवीय चमत्कारों से युक्त हैं, तो अनेको प्रसंगों में नारी-चरित्र के बहुविध पक्षों को उद्घाटित किया गया है जिसे प्राचीनकाल में त्रिया-चरित्र के नाम से जाना जाता था। वैसे तो त्रिया-चरित्र से भी गूढ गहन है पुरुष-चरित्र, किन्तु पुरुष लेखकों ने हर क्षेत्र में स्वयं को प्रतिष्ठित रखकर नारी को अप्रतिष्ठा, अविश्वास, कष्ट और दुश्चरित्र का भाजन वताया है जो एक प्रकार से नारी के साथ अन्याय ही कहा जायेगा।

जीवन का एक महान् गुण है—शील। शील गुण की महिमा और प्रतिष्ठा के साथ ही त्रिया-चरित्र के रूप में नारी को दु:शीला, चालाक, दुस्साहसी, कपट-पिटारी आदि बताने का उद्देश्य तो यही है कि ऐसी शीलरहित नारी समाज में सर्वत्र निन्दा की पात्र है। फिर भी हम इन त्रिया-चरित्र के कथानकों में निहित नारी-निन्दा से सहमत नहीं हैं। इस उपन्यास में प्राचीन कथा-ग्रन्थों में वर्णित कथाएँ प्रस्तुत करने के पीछे हमारा लक्ष्य रहा है मात्र यथार्थ चरित्रों का प्रतिपादन।

अवन्ती-नरेश गंधर्वसेन के दो पराक्रमी पुत्र हैं। युवराज भर्तृहरि और विक्रमादित्य। पिता की मृत्यु के बाद भर्तृहरि राजा बनते हैं, उनकी रानी है अनंगसेना। भर्तृहरि रानी अनंगसेना से अत्यधिक प्रेम करते हैं किन्तु वह स्वभाव व शील से विश्वसनीय नहीं रहती। अपने दुश्चरित्र को छिपाने के लिए सदाचारी, पराक्रमी विक्रम पर वह बलात्कार का आरोप लगाती है। पत्नी-प्रेमवश भर्तृहरि इसे सत्य मान लेते हैं। विक्रम को प्रताड़ित करते हैं। इस अपमान से क्षुब्ध होकर युवराज विक्रम गृह त्यागकर निकल जाता है। यह गृह-त्याग ही विक्रम को शक्ति-सम्पन्न, विद्या-सम्पन्न बनाता है। इधर भर्तृहरि को एक अमृतफल के आधार पर जब अपनी रानी के दुराचार का पता चलता है तो उनको अपने आप पर

ग्लानि हो उठती है। गृह त्यागकर योगी बन जाते हैं युवराज और उच्च योग साधना के क्षेत्र में बढ़ जाते हैं। शासकविहीन अवन्ती का राजा बनता है राज-जामाता श्रीपति। परन्तु अज्ञात असुर शक्ति ने उसको अकाल में ही काल का मेहमान बना दिया। फिर एक साहसी क्षत्रिय समरवीर अवन्ती के राज-सिंहासन पर बिठाया जाता है, परन्तु उसे भी दुष्ट असुर शक्ति काल का ग्रास बना देती। अवधूत वेशी विक्रम नगर-नगर में भ्रमण करता है। योग-मंत्र आदि की साधना द्वारा आत्म-बल को प्रखर बनाता है। इसी बीच भट्टमात्र नामक ज्योतिषी विद्वान् से उसकी मुलाकात होती है जो अवधूत विक्रम को पहचान लेता है। रोहणगिरि पर्वत से इसे रत्नों का खजाना प्राप्त कराता है। इस यात्रा में विक्रम के साहस, शौर्य एवं उदात्त क्षत्रियत्व के अनेक प्रसंग उभरते हैं। घूमता हुआ अवधूत विक्रम अवन्ती की अनाथता का समाचार सुनकर अवन्ती में आता है। अवधूत के तेज, साहस, दूरदर्शिता आदि गुणों से प्रभावित अवन्ती के मंत्रियों ने अवधूत को राज्य की सुरक्षा हेतु राज-सिंहासन सँभालने का आग्रह किया तो विक्रम, विक्रम के प्रतिनिधि के रूप में अवधूत राजा बन जाता है। असुर अग्निवेताल उससे भी युद्ध करता है। युद्ध में पराजित होकर अग्निवेताल विक्रम का सेवक तथा मित्र बन जाता है। ज्योतिषी भट्टमात्र भी भ्रमण करता हुआ अवन्ती में आ जाता है। फिर अवधूत विक्रम प्रगट होता है और राजा विक्रमादित्य के रूप में उसका राजतिलक होता है।

राजा विक्रमादित्य अपने ज्येष्ठ बन्धु भर्तृहरि की खोज करवाते हैं और उनको पुनः राज्य स्वीकारने की प्रार्थना करते हैं। इसी बीच एक धूर्त्त योगी स्वर्ण-पुरुष की सिद्धि के लिए विक्रमादित्य को सहयोगी/उत्तरसाधक बनाता है। दुष्ट धूर्त्त योगी का नाश कर विक्रमादित्य स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति कर लेता है।

नरेश विक्रमादित्य को देशाटन का अत्यधिक शौक है। देशाटन करते हुए वे प्रतिष्ठानपुर पहुँचते हैं। वहाँ शालिवाहन राजा की पुत्री सुकोमला जो तीव्र नरद्वेषिणी है, पुरुष का मुख देखना तो दूर, पुरुष-नाम से भी घृणा और द्वेष करती है। विक्रमादित्य विक्रमा बनकर उससे मैत्री - सम्बन्ध बनाता है। अपनी उत्कृष्ट संगीत-कला के माध्यम से सुकोमला के साथ घनिष्ठ मैत्री स्थापित हो जाती है। विक्रमा चली गई और कुछ समय बाद विक्रमा विजयादित्य के रूप में पुनः सुकोमला के पास पहुँचता है। उसकी अद्भुत संगीत, नृत्य-कला पर मुग्ध सुकोमला एक दिन विजयादित्य को पतिरूप में स्वीकार कर लेती है। गर्भवती सुकोमला को छोड़कर बंग-देश में संगीत-सम्मेलन के बहाने विजयादित्य फिर अवन्ती आ जाता है। उन्हीं दिनों अवन्ती में खर्परक नामक विद्या-मंत्रसिद्ध चोर के उत्पात से प्रजा पीड़ित होती है। खर्परक राजा की नव-परिणीता रानी कमलावती

का ही अपहरण कर लेता है। अन्त में विक्रमादित्य खर्परक चोर का नाश कर अवन्ती को निष्कण्टक बनाता है।

अब विक्रमादित्य के साहस-शौर्य, न्यायशीलता की कीर्ति पूरे भारत में फैल जाती है। इस कीर्ति से आकर्षित कश्मीर का श्रेष्ठ काष्ठशिल्पी अमरदेव अपना एक अद्भुत सिंहासन लेकर अवन्ती आता है। इस अद्भुत सिंहासन में बत्तीस पुतलियाँ लगी है जो एक-एक करके निकलती है और राजा विक्रमादित्य की जय बोलकर अदृश्य हो जाती है। अमरदेव यह अद्भुत सिंहासन विक्रमादित्य को भेंट करता है। बत्तीस पुतलियों वाले अद्भुत सिंहासन की महिमा सुनकर सिंधु-नरेश शंखपाद विक्रमादित्य से उसकी मांग करते है, युद्ध होता है और शंखपाद को परास्त कर वहाँ की सिंधु-सुन्दरी लीलावती से पाणिग्रहण करता है। इस प्रकार विक्रमादित्य अनेक युद्धो मे ११ देशों को अपने अधीन बनाता है और २२ राजकुमारियों से विवाह होता है।

निरन्तर प्राप्त होती विजय और अप्रत्याशित सफलताओं से विक्रम का मन दर्प से दीप्त हो जाता है। स्वयं को संसार का श्रेष्ठतम शासक बताने लगता है। रानी व महामंत्री आदि राजा के अहकार को दूर करने के अनेक उपाय करते है। इसी बीच विद्या-सिद्ध जादूगरनी देवदमनी से राजा विक्रम की मुलाकात होती है। देवदमनी राजा को पंचदण्डछत्र प्राप्त करने की चुनौती देती है। राजा सिकोतरी पर्वत पहुँचता है। पंचदण्डछत्र प्राप्त कर लेता है। देवदमनी की पुत्री नागदमनी के सौन्दर्य, शौर्य-चातुर्य पर मुग्ध हो राजा उससे विवाह कर लेता है।

इस प्रकार अनेकानेक अद्भुत करतबों के बाद एक दिन अचानक जैनाचार्य सिद्धसेनसूरि से राजा विक्रमादित्य की मुलाकात होती है। सिद्धसेनसूरि की विद्वत्ता, वचन-चातुरी से प्रभावित राजा उनका भक्त बन जाता है। कुछ समय बाद सिद्धसेनसूरि राजा विक्रमादित्य को जैनधर्मानुयायी बनाने के लिए अवन्ती के महाकाल शिवालय में आते हैं। शिव-भक्त राजा को अपने चमत्कारों से प्रभावित करते हैं। यहीं पर कल्याण-मन्दिर स्तोत्र की रचना होती है। सिद्धसेनसूरि के प्रभाव से राजा ने सम्पूर्ण राज्य में मद्यपान, माँसाहार एवं जीव-हिंसा पर प्रतिबन्ध घोषित करा दिया।

विक्रम चरित्र में इस घटनाक्रम के पश्चात् अनेक कुतूहलवर्द्धक लोककथाएँ जुड़ जाती हैं। अघटकुमार, रत्नमंजरी आदि की रोचक कथाएँ फिर रत्नमंजरी राजा को त्रिया-चरित्र की गूढ़ता जानने के लिए कोची हलवाइन के पास भेजती है। कोची हलवाइन भी जादूगरनी है। वह राजा को त्रिया-चरित्र से सम्बन्धित

अनेक कौतुक प्रसंग बताती है और अन्त में राजा की रानी मदनमंजरी और मंत्री ज्ञानचन्द के प्रणय-प्रसग की पोल खोलती है। राजा अपनी ऑखों से यह दृश्य देखकर ग्लानि से भर जाता है। फिर कोची हलवाइन सुहागसुन्दरी आदि के कथा-प्रसंग सुनाकर राजा को त्रिया-चरित्र की गूढ़ पहेलियाँ समझाती हैं।

राजा विक्रम की पुत्री प्रियंगुमंजरी अपनी विद्या और चतुरता के मद में चूर एक दिन अपने विद्या-गुरु का उपहास करती है। गुरु उसे महामूर्ख पति मिलने का शाप देते हैं और एक महामूर्ख चरवाहे के साथ प्रियंगुमंजरी का विवाह हो जाता है। अन्त मे वही महामूर्ख चरवाहा देवी-कृपा से महाकवि कालीदास बनता है।

बीच-बीच में राजा की न्यायप्रियता, प्रजावत्सलता, नीतिमत्तता आदि की भी अनेक रोचक कथाएँ जुड़ जाती हैं।

एक बार राजा विक्रमादित्य के मन में गर्व का गुब्बारा उठता है—'मैं राजा राम से कम नहीं हूँ।' उसने स्वयं को 'अभिनव राम' घोषित कर दिया। महामंत्री आदि ने राजा का गर्व दूर करने हेतु एक कुशल कथा-वाचक से रामचरित सुनवाया। राम के समय में एक भीम चमार की रत्नजटित जूती और उसका विशाल महल देखकर राजा का गर्व दूर हो जाता है कि रामराज्य में चमार आदि भी इतने वैभव-सम्पन्न और सुखी थे।

राजा विक्रमादित्य अपने राज-काज की व्यस्तता में रानी सुकोमला को भूल जाता है। विरह-संतप्त सुकोमला की दशा देखकर उसका पुत्र देवकुमार पिता का पता पूछता है। विक्रम की दी हुई मंजूषा खोलने पर पता चलता है कि विजयादित्य ही राजा विक्रमादित्य है। देवकुमार पिता को दो हाथ दिखाकर मिलना चाहता है। अवन्ती में आकर वह सर्वहर चोर के रूप में नगर में उत्पात मचाता है। कोई भी उस चोर को पकड़ नहीं पाता। देवकुमार (सर्वहर चोर) राजा विक्रमादित्य को चुनौती देता है कि मुझे पकड़कर अपना कौशल दिखाए। अन्त में बड़े आश्चर्यजनक रूप में देवकुमार प्रगट होता है। राजा विक्रमादित्य अपने समान ही बल, बुद्धि, चातुर्य-सम्पन्न पुत्र को देखकर उसका नाम 'विक्रम चरित्र' रखता है। विक्रम चरित्र का विवाह वल्लभी की राजकुमारी शुभमती के साथ होता है।

इन सब उथल-पुथल भरी घटनाओं के बाद राजा विक्रमादित्य तीर्थयात्रा पर निकलता है। तीर्थयात्रा से लौटकर जीवन के ५१वें वर्ष में विक्रम संवत् का प्रवर्त्तन करता है।

इस तरह अत्यन्त रोचक कुतूहलवर्धक घटनाओं से गुँथा यह 'विक्रम चरित्र' राजा विक्रमादित्य के व्यक्तित्व के अनेक घटक गुणों को उजागर करता है और

जीवन में साहस, धैर्य, चतुरता, नीतिमत्तता, न्यायप्रियता और सदाचारशीलता की शिक्षाएँ देता है।

इस वृहत्काय उपन्यास-लेखन में पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के आशीर्वाद का सम्बल सदा मेरे साथ रहा है। उन्हीं की कृपा एवं आशीर्वाद से मेरी साहित्य-यात्रा निर्वाध चलती रही है। ऐसे परम योगी गुरुदेव का स्मरण कर मैं अपने आप को स्फूर्तिमान अनुभव करता हूँ। विश्रुत साहित्य-सेवी डॉ. लक्ष्मण जी भटनागर ने इस संपादन में मेरा पूरा सहयोग किया है। अतः मैं उनको भी स्मृति-पथ पर लाता हुआ धन्यवाद देता हूँ। इस प्रकाशन में जिन-जिन सज्जनों का सहकार मिला सभी की सेवाओं को स्मरण करते हुए आशा करता हूँ पाठक वर्ग इस उपन्यास को धीरता के साथ पढ़ेंगे और इसमें से सद्शिक्षाएँ, प्रेरणाएँ ग्रहण करेंगे।

—आचार्य देवेन्द्र मुनि

महावीर भवन
इन्दौर

धनतेरस
१७/१०/९८
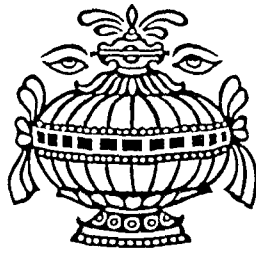
विक्रमादित्य
की
गौरव गाथा

मालव-देश की सुन्दर राजधानी अवन्ती आज उदासी और हताशा के सघन अंधकार को पार कर उल्लास के आलोक में प्रसन्नवदना दिखायी दे रही थी। नव-नरेश की प्राप्ति का शुभ समाचार मानो पवन बनकर आया, निराशा के घने मेघो को धकेलकर ले गया और पूर्णिमा का चन्द्रमा निकल आया हो। सर्वत्र आनन्द की चॉदनी छिटक गयी। मनुष्य का मन भी कितना अद्यनिष्ठ होता है। उसके लिए वर्तमान ही सर्वस्व होता है। उसमें निमग्न होकर अतीत से वह सर्वथा मुक्त हो जाता है, जैसे वह कभी रहा ही न हो। अवन्ती ही नहीं, समग्र मालव-राज्य की प्रजा सनाथ होकर ऐसी उल्लसित थी कि कल तक की अनाश्रयता की स्थिति को पूर्णतः विस्मृत कर बैठी थी। मंगल-गान के मधुर स्वरों से आकाश प्रतिध्वनित हो उठा। श्रीपति आज मालव राजसिंहासन को शोभित करेंगे। मालव-जनता को पुनः नृपति की प्राप्ति होगी। राज्य को न्यायपूर्ण सुशासन और अवन्ती को अपने स्वामी की प्राप्ति होगी। विगत दीर्घ समय से जो स्वप्न सभी की ऑखों में तैर रहा था, उसके आकार ग्रहण करने की घड़ी समीप आ गयी थी। फिर हर्ष और आनन्द का, उमंग और उल्लास का समुद्र हिलोरें क्यों न ले।

मालव-देश की श्यामा धरती को सदैव से गर्व रहा है अपनी सन्तति के पालनार्थ बहुभॉति के उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ सुलभ कराने का। इस उर्वरा भूमि को इससे भी अधिक गौरव अपने पराक्रमी, यशस्वी, शूरवीर, प्रजावत्सल नरेशों की सुदीर्घ परम्परा का। मालव-प्रजा के प्रौढ जनों को तो महाराज गंधर्वसेन की स्मृतियॉ भी अब तक ऐसी लगती हैं, मानो कल की ही बात हो। पूर्वजों की विमल कीर्ति का विस्तार करने वाले नरेश महाराज गंधर्वसेन परम न्यायी, शूरवीर और धर्मप्राण थे। महारानी श्रीमती भी अत्यन्त उदार और साक्षात् करुणा-मूर्ति थीं। ऐसी सद्‌गुणी राज-दम्पति भी भला कभी विस्मृति की विषय बन सकती हैं। ये ही युवराज भर्तृहरि और युवराज विक्रमादित्य के अभिभावक थे। दोनों भ्राता अनेक विद्याओ, कलाओं के मर्मज्ञ, न्याय-नीति में निष्णात, पराक्रम और बाहुबल में बढ़े-चढ़े और व्यवहार में अत्यन्त मृदुल और स्नेहिल थे। ऐसे युवराजद्वय को पाकर जनता भी कृतकृत्य हो उठी थी। अवन्तीनाथ महाराज गंधर्वसेन तो अपने राजकुमारों के सद्‌गुणों से फूले नहीं समाते थे। महाराज ने ज्येष्ठ युवराज भर्तृहरि

को स्वयं भी एक सुशासक के आचरण और आदर्शो की शिक्षा दी। भर्तृहरि ही उत्तराधिकारी के रूप मे मालव-देश के अधिपति भी हुए।

प्रवुद्ध एवं कला-प्रेमी महाराज भर्तृहरि और रूपमती-गुणवती महारानी अनंगसेना का युगल तो मानो इन्द्र और शची के समान ही था। प्रजा-पालन में नरेश भर्तृहरि अपनी पूर्व परम्परा मे नये-नये आयाम जोडते जा रहे थे। अत्यन्त श्रद्धास्पद और लोकप्रिय नरेश महाराज भर्तृहरि अपने अनुज शूरवीर विक्रमादित्य से अत्यन्त स्नेह करते थे, इनके सद्गुणो का आदर करते थे। महारानी अनंगसेना का विमल स्नेह और वात्सल्य उन्हे प्राप्त था। युवराज विक्रमादित्य भी इन्हे अपने माता-पिता के स्थान पर मानकर पूज्य भाव से अतिशय आदर करते थे। दोनों भ्राताओं के सम्मिलित कौशल, शक्ति और प्रतिभा से राज्य की प्रगति में और प्रजा की सुख-शान्ति मे अपूर्व वृद्धि होती चली गयी। यह क्रम चला .... चलता रहा, किन्तु यह अधिक समय तक नही रह पाया। व्यक्ति की भाँति देश और राज्य का भी प्रारब्ध होता है, नियति होती है। दैववशात् मालव-राज्य पर विपत्तियों के मेघ घिरने ही थे। जैसे धूप-छाँह, रात्रि-दिवस का परिवर्तन-चक्र चलता रहता है, वैसे ही सुख-दुःख का भी चलता है। अवन्ती के सुसमय का भी समापन हुआ। महाराज भर्तृहरि और युवराज विक्रमादित्य के जीवित रहते भी अवन्ती अनाथ हो गयी। दीर्घकाल तक राजसिंहासन सूना पड़ा रहा।

यह वह काल था जव मालव-प्रजा अत्यन्त दुःखित रही। शासकविहीन राज्य की दुर्दशा स्वाभाविक भी थी। राज्य के अधिकारीगण प्रजा-हित का सदा ध्यान रखते, सुख-सुविधा के लिए सचेष्ट रहते, किन्तु इससे नृपति के अभाव की पूर्ति संभव नहीं थी। असंख्य तारे भी अंधकार दूर करने में सफल नहीं हो पाते और अकेला एक चन्द्रमा यह कर दिखाता है। इस राज्य में ऐसी ही अमावस्या की रात्रि महीनों तक घिरी रही। प्रकाश की एक किरण भी कहीं से नहीं मिलती थी। महाराज भर्तृहरि और युवराज विक्रमादित्य दोनों का ही कोई अता-पता नहीं था। व्यापक खोज करायी गयी, किन्तु सभी दिशाओं से निराशा ही हाथ लगी। प्रश्न— राज्य की सुरक्षा, स्वतंत्रता एवं अस्तित्व का भी था। ऐसी असहाय एवं नेतृत्वहीन दशा में मालव पर अन्य सशक्त राज्यों की लालसा-भरी दृष्टि रहने लगी थी। ये लुब्ध राज्य कभी भी आक्रमण कर उसकी स्वाधीनता का रत्न छीन सकते थे।

निदान, मंत्रणा हुई। राजसभा के सूने पड़े विशाल कक्ष में अमात्य जन, नगर-श्रेष्ठी, सामंतगण, प्रतिष्ठित-प्रबुद्ध नागरिक जन एकत्र हुए। महामात्य ने रिक्त राज्यासन के निकट खड़े होकर सारी समस्या का विवेचन किया और अन्ततः प्रस्तावित किया कि ऐसी गम्भीर स्थिति में राजवंश के किसी निकटस्थ युवक को सिंहासनासीन कर दिया जाय। इस अनपेक्षित से विचार पर सभी सभासद हक्के-बक्के रह गये और एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। सभी के मुख पर अद्भुत अनुभूति की

रेखाएँ खिंच आई। इस अवाक् और स्तब्ध सभा को सम्बोधित करते हुए महामंत्री ने कहा–"चौकिये नही। इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके देखिये। सिंहासन को और अधिक समय तक रिक्त नहीं रखा जा सकता। महाराज तो स्वयं इसका त्याग करके गये ही है। वे इसे पुनः स्वीकार नहीं करेंगे.... हमारी समस्त आशाएँ युवराज विक्रमादित्य पर ही आश्रित थीं, किन्तु उनकी सघन खोज भी असफल रही है। ऐसी स्थिति में हमने तो विचार कर यही निष्कर्ष पाया कि किसी अन्य उपयुक्त जन को....। यदि आपका कोई अन्यथा प्रस्ताव हो तो.... ।"

"महामंत्री का विचार उपयुक्त ही है।"–नगर-श्रेष्ठी ने कथन-मध्य ही समर्थन करते हुए कहा–"किन्तु क्या आपने इस हेतु किसी उपयुक्त पात्र का भी चयन किया है? किसे आसीन करना चाहते हैं आप?"

"हमारे चाहने–न चाहने का प्रश्न ही नहीं है।"–महामंत्री ने आश्वस्त होते हुए धैर्य के साथ कहा–"उपयुक्त पात्र का निर्णय तो इस सभा को करना है। नया राजा सर्व स्वीकार्य हो–इस दृष्टि से हमने विचार अवश्य किया है। अवन्ती से लगभग २० कोस दूरी पर दस गॉवों की एक जागीर के कुमार श्रीपति राजवंश के सबसे निकट के परिजन हैं। उनका उत्तराधिकार भी निरापद है और वे विवेकवान, सच्चरित्र नव-युवा हैं। अवन्तीपति के रूप में वे सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होंगे। सभासदों की क्या मान्यता है...?"

"स्वीकार है.... स्वीकार है।"–उत्साहित सभासदों ने अपने हाथ उठाकर सहमति व्यक्त कर दी। सभी के मुख-मण्डल पर एक आभा फैल गयी जो आन्तरिक संतोष और हर्ष की ही झलक थी। तत्काल श्रीपति को अवन्ती ले आने की व्यवस्था की गयी। पवन की गति से यह शुभ समाचार सारे राज्य में व्याप्त हो गया कि श्रीपति नये मालवाधिपति हो रहे हैं। शीघ्र ही उनका राज्याभिषेक भी कर दिया जायेगा। जिसने भी यह समाचार सुना, वही प्रसन्न हुआ और उसने अनेक लोगों को सुनाकर ही संतोष लिया। यही क्रम आगे से आगे चलता रहा।

× × ×

"बधाई हो ! समधी जी, बधाई हो !! हमारे जामाता श्रीपति जी अब मालव-नरेश होने वाले हैं।"–श्रीपति के पिता को पुकारते हुए उनके श्वसुर ने गढ़ी में प्रवेश किया। पिता श्री दलपति इस अवांछित उपस्थिति से तनिक खिन्न-से कक्ष से बाहर आये। उन्होंने प्रत्युत्तर में कोई उत्साह नहीं दिखाया। श्वसुर जी ने पुनः अपनी बधाई दोहराई और समधी जी से गले मिलने को आगे बढ़े, किन्तु उनकी बाँहें फैली ही रह गयीं। दलपति ने अपने समधी को निराश ही किया। कहने लगे–"सुना है, सुना। हमने भी सुना है, किन्तु आपको इतना उल्लास क्यों है? मालव-नरेश हमारे कुँवर जी होंगे.... आपके जामाता नहीं। यह तो आपको

स्वतः ही समझ लेना चाहिए था।" दलपति की वाणी मे एक कर्कशता, मुख पर कठोरता और व्यवहार में शुष्कता आ गयी। समधी जी उदासी से घिर गये। वोले–"समधी साहव, यह आप क्या कह रहे है? हमने तो मिलकर खुशी के साथ वाग्दान किया है–मेरी पुत्री और आपके कुंवर की सगाई····।"

"हुई थी, अवश्य हुई थी। तव की परिस्थिति मे ऐसा होना उपयुक्त था। आज की वात तो कुछ और ही हो गयी है। कुँवर श्रीपति जव मालव-नरेश होने जा रहे है, तव पॉच गांव के एक जागीरदार की वेटी से उसका व्याह कैसे सम्भव रहेगा। यह न तो हमको शोभा देगा और न ही आपको। उत्तम यही है कि उस सारे प्रसंग को वीता हुआ एक सपना मानकर भूल जाइये। अव तो मालव-नरेश श्रीपति का परिणय किसी देश की राजकुमारी से ही···· ।"

"लेकिन ठाकुर साहव ! आपने वचन दिया···।"

"हॉ, वचन हमने दिया अवश्य था, किन्तु उसको पूरा किये जाने से पहले ही सारी परिस्थितियॉ वदल गयी। तुम स्वयं ही सोचकर देखो, क्या तुम्हारी कन्या मालव-देश की राजरानी ···।" ठाकुर की ऑखो मे फैलाव आया। उनका मुख खुला का खुला रह गया, अवाक्-से वे कुछ सुनने का प्रयत्न करने लगे। ड्योढी पर शहनाई का स्वर सुनाई दे रहा था, नक्कारे वज रहे थे। ठाकुर दलपति ड्योढी की ओर लपके।

एक सुसज्जित रथ खड़ा था। अमात्य जी के साथ कुछ राज-कर्मचारी और अश्व खड़े थे। कर्मचारियों ने ठाकुर दलपति का जय-जयकार किया। सारा ग्राम इस जयघोष से गूँज उठा। धीरे-धीरे ग्रामवासियो की भीड़ ड्योढी पर जुटने–वढ़ने लगी। अमात्य जी आगे बढ़े। एक पुष्पहार उन्होंने ठाकुर के कंठ में धारण कराया और नम्रतापूर्वक निवेदन किया–"श्रीमन् ! आपको तो ज्ञात ही है महीनों से अवन्ती का राज्यासन रिक्त पड़ा है। बधाई है ! बहुत-बहुत बधाई है !! आपके सुपुत्र कुँवर श्रीपति जी को मालव ने अपना अधिपति स्वीकार कर लिया है। आज ही उनका राजतिलक होगा। हम उन्हें अवन्ती ले जाने को आये है।" ठाकुर के मुख-मण्डल पर एक सदर्प हास व्याप्त हो गया। वे गर्व से मस्तक उठाकर बोले–"आदरणीय अमात्य जी ! यह हमारे घराने का सौभाग्य है कि उसे मालव-देश की सेवा का यह गौरव प्राप्त हुआ है। राज्य-परिषद् ने इसके लिए कुँवर श्रीपति को चुना–हम इसके लिए आभारी हैं। हमारे कुँवर इस दायित्व को निभाने के लिए जी-जान लगा देंगे और सभी के लिए सुख-शान्ति और संतोष के आधार बने रहेंगे।"

"इसका विश्वास सारे राज्य को है, श्रीमन् ! अब आपका सारा परिवार राजभवन की शोभा बनेगा। कोई पिता अपने पुत्र के राज्याभिषेक-समारोह में सम्मिलित नहीं हुआ करता। कल ही आपके अवन्ती पहुँचने की व्यवस्था कर दी

जायेगी।" अमात्य जी ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया और शान्त भाव से खड़े रह गये। ठाकुर मन्द-मन्द मुस्कराते रहे और इस आशय के साथ सिर हिलाते रहे कि उन्होंने सारी वात हृदयंगम कर ली है और वे संतुष्ट हैं। कुछ क्षणों में वे बोले– "अमात्य जी ! आप कुँवर जी से तो मिलिये.... अरे कोई है.... !"

तभी अमात्य जी वीच ही में बोल पड़े–"श्रीमान् जी ! कुँवर जी अभी वस्त्राभूषण धारण कर रहे हैं। हमारे कर्मचारी भीतर पहुँच गये है। अब वे मालव-नरेश के वेश ही में वाहर आयेंगे और इस ग्राम के निवासियों को उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होगा।"

कुँवर श्रीपति को इस वैभवशाली नव-वेश में देखकर ठाकुर का वक्ष फूल उठा। आगे वढकर उन्होंने कुँवर जी को गले लगा लिया, माथा चूमकर आशीर्वाद दिया और सजल नयनों से वे इस शोभा को निहारते रह गये। रूपवान कुँवर श्रीपति सुन्दर वस्त्राभूषणों में साक्षात् इन्द्र से लग रहे थे। अपने नरेश रूप में कुँवर जी के दर्शन पाकर जनता भी धन्य हो उठी। सभी ओर उमंग लहरा उठी। इसी उल्लास के साथ श्रीपति की जय-जयकार से धरा-गगन गूँज उठे। श्रीपति भी इस अभिनन्दन से गद्‌गद हो उठे और हाथ उठाकर अभिवादन स्वीकार करते रहे। तभी अमात्य जी ने ठाकुर दलपति से प्रस्थान की आज्ञा माँगी और ड्योढ़ी से नीचे उतर आये। ठाकुर दलपति ने अनुसरण किया। श्रीपति उनके पीछे-पीछे थे। अमात्य जी के संकेत पर श्रीपति रथारूढ़ होने को अग्रसर हुए। उन्होंने पिता के चरण स्पर्श किये। पिता ने अपने पुत्र को ऊपर उठा लिया और बाँहों में भरकर कहा–"वत्स ! नये दायित्वों को भली प्रकार निभाओ। इस घराने की और राजवंश की मर्यादाओं का पालन करो और कीर्ति बढ़ाओ।"

आगे-आगे अमात्य जी अश्वारूढ़ चल रहे थे, पीछे कुछ अश्वारोही, उनके पीछे मालवपति का रथ और सबसे पीछे अनेक अश्वारोही सैनिक इस भव्य शोभा-यात्रा का मंगल-वादन के साथ प्रस्थान हुआ। तब जय-जयकार होने लगा। क्रमशः रथ ने गति पकड़ी। ठाकुर और ग्रामवासी इस शोभा-यात्रा को पीछे से देख रहे थे। अश्वों की टाप से उछलकर धूल आकाश में ऊपर चढ़ने लगी। पिता को लगा, उनके घरराने का यश फैलता चला जा रहा है। सभी आँखें इस दृश्य की ओर तब तक लगी रहीं जब तक वह दृष्टि से ओझल नहीं हो गया। और तब एक नया उत्सव-सा आरम्भ हुआ। आनन्दित ग्रामवासियों द्वारा ठाकुर दलपति का अभिनन्दन होने लगा। बधाइयॉ दी जाने लगीं। पुष्पहारों से ठाकुर का वक्ष लद गया। वे भी सभी से गले मिलकर स्नेह प्रकट करते रहे। जय-जयकार होता रहा। नृत्य-गान चलता रहा। ठाकुर के नेत्रों में भावी भव्यता और वैभव का स्वप्न सघनतर होने लगा

× ×

अवन्ती के नगर-द्वार पर पहुँचकर रथ की गति मे विराम आया। स्वर्णालंकारों से सज्जित, मुक्ताहारो से अलंकृत श्वेत गजराज ने कुँवर श्रीपति को माल्यार्पण किया, अगले पैरों पर झुककर और सूंड़ उठाकर प्रणाम किया। श्रीपति प्रसन्न हुए। मुस्कराते हुए उन्होने हाथ उठाकर गजराज का अभिवादन स्वीकारा और रथ से नीचे उतर आये। महामंत्री ने पुष्पहार धारण कराकर नव-नरेश की अगवानी की, राजपुरोहित ने मंत्रोच्चार के साथ आशिष दी। अमात्यों, राज्य-अधिकारियो और सामन्तो ने झुक-झुककर प्रणाम किया। इतना आदर और प्रतिष्ठा पाकर कुँवर श्रीपति भाव-विभोर हो गये। श्वेत गजराज ने भूमि पर बैठकर आसन प्रस्तुत किया। कुंवर गजराज की पीठ पर कसी रत्नजटित स्वर्ण अम्बारी में विराजित हुए। और तब नव-नरेश की शोभा-यात्रा अवन्ती के राजमार्ग पर आरम्भ हुई। तुरही, शहनाई, नक्कारे निनादित हो उठे। वाद्य-वादकों के इस दल के पीछे मालव-देश की पताका उठाए एक अश्वारोही और उसके पीछे अमात्य, सामंत, नगर के प्रतिष्ठित जनादि का अनुशासित समूह था जो गजराज को घेरे, फैलकर चल रहा था। इस सारी शोभा-यात्रा का अनुसरण एक सैन्य-दल द्वारा किया जा रहा था।

सारा राजमार्ग वन्दनवारों, पुष्पहारो, पताकाओ से शोभित किया गया था। स्थान-स्थान पर स्वागत-द्वार निर्मित किये गये थे। जनसमूह मे बड़ा भारी उत्साह था। प्रजा जन गाते-नाचते अपने भूप का अभिनन्दन कर रहे थे। ऊँचे आवासों के झरोखों से रमणियाँ झाँक-झाँककर अवन्तीराज के दर्शन करतीं और पुष्प-वर्षा द्वारा स्वागत करतीं—मंगल-गान करती रही। गजारूढ कुँवर श्रीपति इसी भव्यता के साथ राजमार्ग पर अग्रसर होते रहे, सोचते रहे—'यही प्रारब्ध है। कल तक अवन्ती में आने में भी संकोच होता था और आज हम सारे मालव-राज्य के स्वामी हो गये हैं। हम स्वाधीन हैं और शेष सब-कुछ हमारे अधीन है। ऐसा स्वामित्व, ऐसा अधिकार-सम्पन्नता, ऐसा गौरव—यह सब सुकर्मों का फल और नियति ही तो है।' मन में ऐसे विविध भावों की हिलोरें और मुख-मुद्रा में विनय एवं प्रसन्नतापूर्ण कोमलता का भाव। अपार जनसमूह की स्वागत भावना का उत्तर वे सस्मित दृष्टि-निक्षेप से देते जा रहे थे। मालव-राज्य की जय, नव-नरेश श्रीपति की जय, हमारे राजा अमर रहें—के नारों से सारा वातावरण उत्साहपूरित हो रहा था।

× × ×

नव-नरेश ने अपनी रूप-शोभा और प्रताप-आभा से अवन्तीवासियों को मुग्ध कर दिया। राजभवन का विषाद भी ऐसा नृपति पाकर धूमिल होने लगा। सभी अतीत को एक दुःस्वप्न की भाँति विस्मृत कर विद्यमान सुख का स्वागत करने को उद्यत हो उठे थे। सौभाग्य की उषा वेला में विगत दुर्दिनों की स्मृति को तिलांजलि देने वाले ही सुख का सच्चा अनुभव कर पाते हैं। सारा राजभवन वधू की भाँति

सज्जित—श्रृंगारित कर दिया गया था। सभी अपनी-अपनी दृष्टि और मति के अनुसार नव-नरेश के स्वागत के उपक्रम में व्यस्त थे। सर्वत्र एक अद्भुत सक्रियता व्याप्त हो गयी। बन्दनवारों और पुष्पहारों से द्वार-कक्ष, गवाक्ष-गलियारे सजाये गये। सुरभित द्रवों का लेप भित्ति-ऑगन में किया जाने लगा। भित्ति-चित्रों और साज-सज्जा की सामग्रियों को स्वच्छ कर नई क्रान्ति प्रदान की जाने लगी। सर्वत्र जगमगाहट छा गयी। राज-परिवार के सभी सदस्यों और परिचारक-परिचारिकाओं ने अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार श्रृंगार किया, आकर्षक वस्त्रालंकार धारण किये।

नव-नरेश महाराज श्रीपति ने महामात्य के साथ राजभवन का परिभ्रमण किया। प्रथमतः वे राजमाता के कक्ष में पहुँचे और चरण-वन्दन कर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। प्रसन्नचित्तता के साथ अन्य सभी का अभिवादन स्वीकार किया और तब कुछ क्षणों के लिए अपने विश्राम-कक्ष में गये। मालव-देश के पराक्रमी नृपति-परम्परा के तेजस्वी पूर्व पुरुषों के भव्य चित्रों को देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। प्रत्येक पूर्वज की नमन-वन्दना की, माल्यार्पण किया। एक बार पुनः सभी को श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर वे सुखद आसन पर विराजित हुए ही थे कि उनके नयन स्वतः ही मुँद गये। उनके मनःचक्षुओं के समक्ष इस प्रतापी राजवंश का उज्ज्वल इतिहास चलचित्र की भाँति निकलने लगा। उनकी अन्तरात्मा प्रेरणा और स्फूर्ति से भर गयी, उन्हें अपने में अपूर्व ऊर्जा का संचार होता अनुभव होने लगा। उन्होंने मन ही मन संकल्प धारण किया कि हम इस शासक-परम्परा की विमल कीर्ति का अभिवर्धन करेंगे, स्वयं को इस श्रेणी के योग्य सिद्ध करेंगे। हम प्रजा-हित और सुख-सुविधा को अपना परम लक्ष्य मानेंगे और मालव-देश की समृद्धि और सुरक्षा के लिए सदा सचेष्ट रहेंगे।

इसी समय तुरही का तीव्र स्वर गूँज उठा। नव-नरेश ने पलकें खोलीं। उनके नयन अपूर्व दीप्ति से पूरित थे और उनके भीतर का आत्म-विश्वास उनमें झलक उठा। महामंत्री ने कक्ष में प्रवेश कर नमनपूर्वक निवेदन किया कि राज्याभिषेक का शुभ मुहूर्त्त समीप है····। नव-नरेश श्रीपति त्वरा के साथ आसन त्यागकर उठ खड़े हुए और महामात्य के साथ राजसभा की ओर चल दिये। आगे-आगे दो सुन्दरियाँ पुष्प-वर्षा करती चलने लगीं। राजसभा के विशाल, श्रृंगारित आगार में प्रवेश करते ही बन्दीजन उच्च्व स्वरों में प्रशस्ति-गान करने लगे। नव-नरेश के जयघोष से सभागार जैसे सचेतन ही हो उठा। अरुण पाँवड़े पर नृपति श्रीपति मंथर गति से राज्यासन की ओर अग्रसर होने लगे। सभी अमात्य जन, सामंत और सभासद स्वागत भावना के साथ आदरपूर्वक खड़े थे। महाराज मन्द स्मिति के साथ उपस्थिति को निहारते रहे और सामन्त आदि उन पर कोमलता के साथ पुष्प-वर्षा करते रहे।

राजसिंहासन के समीप राजपुरोहित जी सतर्क मुद्रा में एक ओर खड़े थे। दूसरी ओर महामात्य खड़े हो गये। राजपुरोहित जी ने महाराज से राज्यासन ग्रहण

अवन्ती के नगर-द्वार पर पहुँचकर रथ की गति में विराम आया। स्वर्णालंकारों से सज्जित, मुक्ताहारों से अलंकृत श्वेत गजराज ने कुँवर श्रीपति को माल्यार्पण किया, अगले पैरों पर झुककर और सूँड़ उठाकर प्रणाम किया। श्रीपति प्रसन्न हुए। मुस्कराते हुए उन्होंने हाथ उठाकर गजराज का अभिवादन स्वीकारा और रथ से नीचे उतर आये। महामंत्री ने पुष्पहार धारण कराकर नव-नरेश की अगवानी की, राजपुरोहित ने मंत्रोच्चार के साथ आशिष दी। अमात्यों, राज्य-अधिकारियों और सामन्तों ने झुक-झुककर प्रणाम किया। इतना आदर और प्रतिष्ठा पाकर कुँवर श्रीपति भाव-विभोर हो गये। श्वेत गजराज ने भूमि पर बैठकर आसन प्रस्तुत किया। कुँवर गजराज की पीठ पर कसी रत्नजटित स्वर्ण अम्बारी में विराजित हुए। और तब नव-नरेश की शोभा-यात्रा अवन्ती के राजमार्ग पर आरम्भ हुई। तुरही, शहनाई, नक्कारे निनादित हो उठे। वाद्य-वादकों के इस दल के पीछे मालव-देश की पताका उठाए एक अश्वारोही और उसके पीछे अमात्य, सामंत, नगर के प्रतिष्ठित जनादि का अनुशासित समूह था जो गजराज को घेरे, फैलकर चल रहा था। इस सारी शोभा-यात्रा का अनुसरण एक सैन्य-दल द्वारा किया जा रहा था।

सारा राजमार्ग बन्दनवारों, पुष्पहारों, पताकाओं से शोभित किया गया था। स्थान-स्थान पर स्वागत-द्वार निर्मित किये गये थे। जनसमूह में बड़ा भारी उत्साह था। प्रजा जन गाते-नाचते अपने भूप का अभिनन्दन कर रहे थे। ऊँचे आवासों के झरोखों से रमणियाँ झाँक-झाँककर अवन्तीराज के दर्शन करतीं और पुष्प-वर्षा द्वारा स्वागत करतीं—मंगल-गान करती रहीं। गजारूढ़ कुँवर श्रीपति इसी भव्यता के साथ राजमार्ग पर अग्रसर होते रहे, सोचते रहे—'यही प्रारब्ध है। कल तक अवन्ती में आने में भी संकोच होता था और आज हम सारे मालव-राज्य के स्वामी हो गये हैं। हम स्वाधीन हैं और शेष सब-कुछ हमारे अधीन है। ऐसा स्वामित्व, ऐसा अधिकार-सम्पन्नता, ऐसा गौरव—यह सब सुकर्मों का फल और नियति ही तो है।' मन में ऐसे विविध भावों की हिलोरें और मुख-मुद्रा में विनय एवं प्रसन्नतापूर्ण कोमलता का भाव। अपार जनसमूह की स्वागत भावना का उत्तर वे सस्मित दृष्टि-निक्षेप से देते जा रहे थे। मालव-राज्य की जय, नव-नरेश श्रीपति की जय, हमारे राजा अमर रहें—के नारों से सारा वातावरण उत्साहपूरित हो रहा था।

× × ×

नव-नरेश ने अपनी रूप-शोभा और प्रताप-आभा से अवन्तीवासियों को मुग्ध कर दिया। राजभवन का विषाद भी ऐसा नृपति पाकर धूमिल होने लगा। सभी अतीत को एक दुःस्वप्न की भाँति विस्मृत कर विद्यमान सुख का स्वागत करने को उद्यत हो उठे थे। सौभाग्य की उषा वेला में विगत दुर्दिनों की स्मृति को तिलांजलि देने वाले ही सुख का सच्चा अनुभव कर पाते हैं। सारा राजभवन वधू की भाँति

सज्जित–शृंगारित कर दिया गया था। सभी अपनी-अपनी दृष्टि और मति के अनुसार नव-नरेश के स्वागत के उपक्रम में व्यस्त थे। सर्वत्र एक अद्‌भुत सक्रियता व्याप्त हो गयी। बन्दनवारों और पुष्पहारों से द्वार-कक्ष, गवाक्ष-गलियारे सजाये गये। सुरभित द्रवों का लेप भित्ति-ऑगन में किया जाने लगा। भित्ति-चित्रों और साज-सज्जा की सामग्रियों को स्वच्छ कर नई क्रान्ति प्रदान की जाने लगी। सर्वत्र जगमगाहट छा गयी। राज-परिवार के सभी सदस्यों और परिचारक-परिचारिकाओं ने अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार शृंगार किया, आकर्षक वस्त्रालंकार धारण किये।

नव-नरेश महाराज श्रीपति ने महामात्य के साथ राजभवन का परिभ्रमण किया। प्रथमतः वे राजमाता के कक्ष में पहुँचे और चरण-वन्दन कर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। प्रसन्नचित्तता के साथ अन्य सभी का अभिवादन स्वीकार किया और तब कुछ क्षणों के लिए अपने विश्राम-कक्ष में गये। मालव-देश के पराक्रमी नृपति-परम्परा के तेजस्वी पूर्व पुरुषों के भव्य चित्रों को देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। प्रत्येक पूर्वज की नमन-वन्दना की, माल्यार्पण किया। एक बार पुनः सभी को श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर वे सुखद आसन पर विराजित हुए ही थे कि उनके नयन स्वतः ही मुँद गये। उनके मनःचक्षुओं के समक्ष इस प्रतापी राजवंश का उज्ज्वल इतिहास चलचित्र की भाँति निकलने लगा। उनकी अन्तरात्मा प्रेरणा और स्फूर्ति से भर गयी, उन्हें अपने में अपूर्व ऊर्जा का संचार होता अनुभव होने लगा। उन्होंने मन ही मन संकल्प धारण किया कि हम इस शासक-परम्परा की विमल कीर्ति का अभिवर्धन करेंगे, स्वयं को इस श्रेणी के योग्य सिद्ध करेगे। हम प्रजा-हित और सुख-सुविधा को अपना परम लक्ष्य मानेंगे और मालव-देश की समृद्धि और सुरक्षा के लिए सदा सचेष्ट रहेंगे।

इसी समय तुरही का तीव्र स्वर गूँज उठा। नव-नरेश ने पलकें खोलीं। उनके नयन अपूर्व दीप्ति से पूरित थे और उनके भीतर का आत्म-विश्वास उनमें झलक उठा। महामंत्री ने कक्ष में प्रवेश कर नमनपूर्वक निवेदन किया कि राज्याभिषेक का शुभ मुहूर्त्त समीप है····। नव-नरेश श्रीपति त्वरा के साथ आसन त्यागकर उठ खड़े हुए और महामात्य के साथ राजसभा की ओर चल दिये। आगे-आगे दो सुन्दरियाँ पुष्प-वर्षा करती चलने लगीं। राजसभा के विशाल, शृंगारित आगार में प्रवेश करते ही बन्दीजन उच्च स्वरों में प्रशस्ति-गान करने लगे। नव-नरेश के जयघोष से सभागार जैसे सचेतन ही हो उठा। अरुण पाँवड़े पर नृपति श्रीपति मंथर गति से राज्यासन की ओर अग्रसर होने लगे। सभी अमात्य जन, सामंत और सभासद स्वागत भावना के साथ आदरपूर्वक खड़े थे। महाराज मन्द स्मिति के साथ उपस्थिति को निहारते रहे और सामन्त आदि उन पर कोमलता के साथ पुष्प-वर्षा करते रहे।

राजसिंहासन के समीप राजपुरोहित जी सतर्क मुद्रा में एक ओर खड़े थे। दूसरी ओर महामात्य खड़े हो गये। राजपुरोहित जी ने महाराज से राज्यासन ग्रहण

करने का आग्रह किया। समस्त सभा को करवद्ध प्रणाम कर श्रीपति आसीन हुए। एक मधुर हर्ष-ध्वनि सभागार में गूँज उठी। सभी सभासदों ने अपने आसन ग्रहण किये। राजपुरोहित जी के संकेत पर एक सामन्त उठे और रजत-कलश में भरे क्षिप्रा के पवित्र जल से एक बडे रजत-पात्र में महाराज के पद प्रक्षालित करने लगे। अन्य सामन्त ने कोमल मखमली वस्त्र से पोंछना आरम्भ किया। तभी उच्च स्वर में महामात्य जी ने राजसभा को सम्वोधित किया—"आज एक दीर्घकाल के पश्चात् वह दिन आया है जव अवन्ती पुनः सनाथ हुई है। अभय, शान्ति, सुख और समृद्धि का युग मालव-राज्य के लिए हमारे वन्दनीय महाराज के साथ लौट आया है। हम सभी को सम्बल और राज्य को स्वामी की प्राप्ति हुई है। महाराज दीर्घायु हों.... राज्य और प्रजा का पालन करते रहें—यही कामना है।" इसी समय अर्चना-थाल में प्रज्वलित दीपक की शिखा कुछ लड़खड़ाई और बुझने को हुई। राजपुरोहित जी ने हाथ की आड़ देकर उसे पवन से सुरक्षित कर लिया। सभी सभासदों का ध्यान इस घटना की ओर आकर्षित हो गया। रंच मात्र-सा कोलाहल भी हुआ, किन्तु वह महामात्य जी के सहसा उच्च हो गये स्वर में तिरोहित हो गया—सभी सभासद सामान्य होने लगे। महामात्य जी ने राजपुरोहित जी से राज्याभिषेक की विधि आरम्भ करने का अनुरोध किया।

यह संक्षिप्त, किन्तु अत्यन्त गरिमामयी, गम्भीर विधि आरम्भ हुई, सर्वत्र शान्ति छा गयी। सभी की सारी चेतना मानो नेत्रों में केन्द्रित हो गयी थी और सभी अपलक दृष्टि से राज्यासन और नव-नरेश, उनके राज्याभिषेक की विधि को निहारने लगे। राजपुरोहित जी ने मालव-गंगा क्षिप्रा के पवित्र जल से अंजलि भरी और मंत्रोच्चार के साथ महाराज पर अत्यन्त कोमलता के साथ जल छिटक दिया। महाराज ने कृतार्थ मुद्रा में करबद्ध प्रणाम किया—मालव-गंगा को और सभा में एक हर्ष-ध्वनि व्याप्त हो गयी। राजपुरोहित जी ने तब महाराज की कलाई पर कलावा बॉधा और आगे झुककर रोली से राजतिलक कर भव्य भाल पर चन्दन की बिन्दी शोभित कर दी। हाथ बढ़ाकर उन्होंने राजमुकुट उठाया और महाराज के मस्तक पर धारण करा दिया। इस दिव्य और भव्य समारोह के द्रष्टा होने का गौरव सभी मन ही मन अनुभव करने लगे। राजपुरोहित जी ने तब महाराज को राजसी उत्तरीय धारण कराया और तब महाराज श्रीपति को मुक्ता-मणि के उस कण्ठ-हार से विभूषित कर दिया गया जो राज-परम्परा के अनुसार प्रत्येक नरेश द्वारा धारण किया जाता रहा था।

तभी महामात्य जी ने उच्च स्वर में जय-जयकार किया—"मालवाधिपति महाराज श्रीपति की जय।" जय-जयकार में समस्त उपस्थिति ने अपनी वाणी से सहकार दिया। सभासद—"हमारे महाराजा.... अमर रहें—मालव-नरेश..... यशस्वी हों" आदि शुभ कामना-भरे घोष करते रहे। राजपुरोहित जी ने सभी को हाथ

उठाकर शान्त हो जाने का साकेतिक अनुरोध किया और वोले–"आज़ मालव-धरा को अपना रक्षक–संरक्षक पुनः मिला है। हमारा आशीर्वाद है, महाराज दीर्घायु.... महाराजश्री राजवंश की शुभ्र कीर्ति को और अधिक वढावे, जन-पालन के नये-नये आदर्श स्थापित करें और जनता को सुख-शान्ति दे।" सभासदो ने पुनः जय-जयकार किया। महाराज ने करवद्ध प्रणामपूर्वक आशीर्वाद ग्रहण किये। महाराज श्रीपति ने तब तनिक सावधान मुद्रा में आते हुए सभा को सम्बोधित किया–"मालव-राज्य और उसकी प्रजा ने हमारे प्रति जो विश्वास व्यक्त किया है और जो गौरव प्रदान किया है उससे हमें संतोष भी हुआ है और उत्साह भी मिला है। राज्यासन की प्राप्ति को हम मान-सम्मान और प्रतिष्ठा की प्राप्ति के रूप मे कम और राजधर्म के निर्वाह का दायित्व अधिक मानते है। यही कामना है कि हम हमारे समस्त जीवन को मालव-सेवा के लिए समर्पित कर दें। न्यायपूर्ण सुशासन हमारा लक्ष्य रहेगा। प्रजा-हित और सुख के लिए हम हमारा सर्वस्व न्यौछावर कर देंगे। हमारा जीवन आज से लोक-सेवा का पर्याय हो गया है। शासक होकर हम सुखी हो जाने की अपेक्षा सुखी करने के कर्म को अधिक महत्ता देते रहेंगे और यही हमारा धर्म होगा। हम अचलता के साथ इस धर्म का पालन करते रहें। इस निमित्त गुरुजनों के आशीर्वाद का सम्बल और प्रबुद्ध राजसभा के सहयोग की शक्ति हमें मिलती रहेगी– इसमें तनिक भी संदेह नही है, अतः हम पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ अग्रसर होंगे, मालव-देश को आगे बढायेगे, जन-जन की शुभ कामनाएँ हमारे साथ रहेंगी। कुल-देवता से भी यही हमारी विनती है कि सभी की आशाओं–आकांक्षाओं की कसौटी पर खरा उतरने की क्षमता हमें प्रदान करें। जय-जय मालव देश !!"

सभागार एक बार पुनः जयघोष से पूरित हो उठा। समारोह विसर्जित हो गया।

× × ×

विलासपूर्ण शयन-कक्ष आज की रात्रि मे धन्य हो उठा। कई-कई रात्रियाँ उसने निस्संग रूप में अंधकार मे बितायी। आज वही कक्ष आलोकमय हो उठा था। भव्य और विशाल यह शयन-कक्ष आज अपने स्वामी की संगति से निहाल हो रहा था। विशाल गवाक्षों की शोभा ही निराली थी। मन्द पवन से उन पर पडी यवनिकाएँ बार-बार लहरा उठती थीं। इन्हीं गवाक्षों से मालव-गंगा क्षिप्रा के जल-प्रवाह की कलकल ध्वनि अत्यन्त मधुरता के साथ कक्ष में प्रविष्ट होती थी। महाराज श्रीपति क्षिप्रा की शोभा को निहारकर मुग्ध हो उठे थे। चन्द्रालोक में दूर प्रवाहित मालव-गंगा एक रजत रेखा-सी दिखायी दे रही थी। इस सौंदर्य से अतृप्त मन लिए महाराजा एक अन्य गवाक्ष पर आ खडे हुए। यहाँ से अवन्ती-दर्शन हो रहा था। बड़ी देर तक वे मंत्र-मुग्ध से यही छवि देखते रहे.... देखते रहे.... और उनका मन खो गया इस पुण्यशीला नगरी के भव्य अतीत के गौरव में।

शयन-कक्ष का वातावरण शान्त और एकदम गम्भीर था। विशाल दर्पण के समक्ष खड़े महाराज अपनी छवि के माध्यम से आत्मलीन ही हो गये। अब उन पर गम्भीर और महत्त्वपूर्ण दायित्व आ गया था—मालव-प्रजा के पालन का। वे उसका निर्वाह करने को कटिबद्ध थे, सन्नद्ध थे। अनेकानेक संकल्प-विकल्पों से भरा उनका मानस ही मानो इस दर्पण में मुखर हो उठा। तभी एक परिचारिका ने कक्ष में प्रवेश किया। उसने सभी गवाक्षों में पट सावधानी से वन्द किये, यवनिकाएँ व्यवस्थित कीं, जल की झारी को शय्या के निकट किया और तब वह कक्ष के मुख्य द्वार की ओर बढ़ गयी। द्वार को भीतर से भली प्रकार वन्द किया, अर्गला लगाकर वह पार्श्व मार्ग से छोटे द्वार की ओर बढ़ गयी। द्वार बाहर से बन्द कर दिया गया। प्रहरी जन सतर्क हो गये और आयुध सँभालकर कर्त्तव्य पर अवस्थित हो गये। शान्त रात्रि धीरे-धीरे अग्रसर होने लगी।

महाराज शय्या पर अधलेटे से, बड़ी देर तक चिन्तन-मनन अवस्था में जाग्रत नयनों से स्वप्न देखते रहे। यह प्रारब्ध की क्या वस्तु है। कल तक मैं क्या था.... इसी नियति ने मुझे क्या से क्या कर दिया। यह सब पूर्वकृत कर्मों के परिणाम हैं। महाराज श्रीपति सोच रहे थे—'ये परिणाम भी अनन्त स्थिरतायुक्त नहीं होते, शाश्वत नहीं होते। सुकर्मों के प्रभाव पर्यन्त ही सुफल रहते हैं। कौन जाने कब.... अशुभ कर्मों के दुष्परिणामों की भूमिका आरम्भ हो जाय.....। फिर यह जीवन भी तो क्षणिक है, क्षण-भंगुर है। जो अवधि सुलभ हुई है वह अनिश्चित है, न जाने कब समापन को प्राप्त कर ले। विवेकशीलता इसी में है कि सत्कर्मों में प्रवृत्त होकर इस अवसर का समुचित रूप में सदुपयोग कर लिया जाय।' इसी आशय के चिन्तन-मनन के क्रम में महाराज ने अपने दायित्व-निर्वाह की रूपरेखा स्थिर करने का उपक्रम आरम्भ कर दिया था। बार-बार एक ही विचार उनके मन में सघन होता जा रहा था—'इस नश्वर और मरणधर्मा शरीर का कुछ भी ठीक नहीं, अतः सेवा का साधन मानकर.....। मनीषी राजपुरोहित जी भी तो राज्याभिषेक के समय मेरे दीर्घायु होने का आशीर्वाद देते-देते सहसा रुक गये थे। ऐसा भला क्यों हुआ ! कहीं ये उनके अन्तरमन की कोई प्रतिक्रिया तो नहीं थी। जो भी हो, हमें तो अन्तिम श्वास तक शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहना ही है।' यही सब-कुछ सोचते-सोचते कब महाराज निद्राधीन हो गये.... स्वयं उन्हें भी भान नहीं रहा। विशाल पर्यंक पर वे एकाकी शयन कर रहे थे। मद्धिम ज्योति का कोमल आलोक कक्ष में व्याप्त रहा। भोर में मंगल-वाद्य निनादित हो उठे। प्रभाति गान का मधुर स्वर सारे वातावरण को रस-सिक्त करने लगा। सभी महाराज के द्वार खोलकर वाहर निकलने की प्रतीक्षा करने लगे। यही शयन-कक्ष की परम्परा रही थी। कोई राज-दम्पति के विश्राम में व्यवधान नहीं पहुँचा पाता था। स्वेच्छा से ही वे शय्या त्यागकर उठें—इसके लिए शयन-कक्ष का द्वार भीतर से ही वन्द किया जाता था।

वन्द द्वार के बाहर की सुरक्षा-व्यवस्था अवश्य रहती थी। आवश्यक सेवार्थ परिचारिकाएँ भी तत्परतापूर्वक उपस्थित रहती थीं। इस व्यवस्था का ज्ञान महाराज श्रीपति को भी भली प्रकार से था, किन्तु द्वार नहीं खुला। कदाचित् कल के श्रम के कारण थकित महाराजश्री विश्राम कर रहे हों। बाहर सभी प्रतीक्षा करते रहे। अधिक विलम्ब हो जाने पर चिन्ता अंकुरित हो गयी और समय व्यतीत होने के साथ-साथ वह पल्लवित होने लगी। सूचना पाकर महामात्य एवं अन्य अधिकारी जन भी मुख्य द्वार पर एकत्र हो गये। इतने समय तक शयन संभव नहीं है। क्या कारण हुआ कि ····। निदान, बाहर से छोटा द्वार खोलकर भीतर से मुख्य द्वार खुलवाया गया। उपस्थित जनों ने जो देखा सभी स्तब्ध रह गये।

शय्या सूनी पडी थी। महाराज का निर्जीव तन नीचे भूमि पर लुढ़का हुआ था। सारा शरीर श्वेत, रक्तहीन था। पलकें खुली थीं और मुट्ठियाँ भिंची हुई थीं। इस वीभत्स दृश्य से सभी सन्न रह गये। मालव-राज्य में शोक छा गया। कल ही दुंदुभियाँ बजी थीं, तुरही चरकी थीं और आज पुनः विषाद स्थापित हो गया। महामात्य भी, और जन भी कुछ सोच नहीं पा रहे थे—क्या हुआ, कैसे यह सब हो गया। मालव ! तेरे भाग्य में क्या बदा है? दुर्दिन की काली छाया अवन्ती पर फिर से मँडराने लगी—राज्यासन फिर से रिक्त और राज्य पुनः अनाथ हो गया। नव-नरेश की प्राप्ति का सुख तो स्वप्न की भाँति आया और तिरोहित भी हो गया। अभागों का सुख ऐसा ही होता है।

● ●

और यों अवन्ती का राजसिंहासन फिर से रिक्त हो गया। अवन्ती की नियति ही कुछ ऐसी हो गयी थी अब। अन्यथा ···· कुछ ही समय पूर्व महाराज भर्तृहरि से इस सिंहासन की शोभा और इस सिंहासन से महाराज भर्तृहरि की शोभा थी और इन दोनों से मालव-देश की शोभा थी। इस सिंहासन के दाईं ओर एक और भी कुछ छोटा सिंहासन था, जिस पर कभी युवराज विक्रमादित्य विराजित होते थे—यह भी राजसिंहासन से ही पूर्व रिक्त हो गया था। अपने अनुज विक्रमादित्य से महाराज को अतिशय अनुराग था जो वात्सल्य की सीमा तक हुँ
युवराज विक्रमादित्य के मन में भी अग्रज महाराज भर्तृहरि के प्रति
का भाव था। दोनों वन्धुओं मे अनेक समानताएँ भी रहीं। दोनों

दोनों ही अपार शूरवीर, पराक्रमी और साहसी थे, दोनों ही क्षत्रियोचित आत्म-सम्मान के धनी और वंश-मर्यादा के रक्षक थे। दोनों बन्धुओं को संगीत-कला से अतिशय प्रेम था। युवराज विक्रमादित्य ने संगीत के क्षेत्र में अपने अग्रज से बड़ी प्रेरणा ली और वे प्रतिभाशाली संगीत-साधक हो गये थे। महाराज भर्तृहरि तो एक ही साथ तलवार के भी और लेखनी के भी पारंगत उपासक थे। उनके शतकत्रय–शृंगारशतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक–संस्कृत वाड्मय की शाश्वत निधियॉ हैं। वस्तुतः ये तत्त्व शृंगार, नीति और वैराग्य उनके भव्य और दिव्य व्यक्तित्व के ही अभिन्न तत्त्व थे। महाराज के जीवन में ये प्रवृत्तियॉ अपनी समस्त सघनता के साथ अवतरित होती रहीं।

महाराज भर्तृहरि वैराग्य के क्षेत्र में निःसन्देह अत्युच्च भूमि पर विराजित हुए थे तो अपने जीवन के आरम्भिक काल में वे शृंगार के भी कम साधक नहीं रहे। प्रीति, प्रेम, अनुराग के महासागर में निमग्न महाराज भर्तृहरि अपनी महारानी अनंगसेना के प्रति समग्रतः समर्पित थे। अपूर्व सुन्दरी थीं महारानी अनंगसेना और महाराज उस रूप पर आसक्त थे–यह सत्य ही है, किन्तु यह भी तथ्य है कि महाराज का अनुराग अपनी प्रियतमा के कायिक लावण्य तक ही सीमित नही रहता था। वे तो अपनी रूपसी प्रेयसी के हृदय तक अपनी हार्दिक प्रीति की पुकार पहुँचाना चाहते थे। मनसा-वाचा-कर्मणा वे अपनी एकमेव प्रियतमा अनंगसेना को ही अपने अनुराग भाव की पात्र बनाये रहे। उनका सर्वस्व न्योछावर था प्रियतमा की प्रीति पर। उन्हें सदैव इस गौरव का अनुभव होता कि शुभ कर्मों के फलस्वरूप ही उन्हें अनंगसेना-जैसी प्रेयसी और युवराज विक्रमादित्य जैसे बन्धु की प्राप्ति हुई है और इन उपलब्धियों से वे अपने जीवन को सार्थक और महिमापूर्ण मानते थे।

महाराज अपनी प्रेयसी महारानी को कभी अपने मन से पृथक् नहीं कर पाते थे। वे अपने जीवन का सदुपयोग ही रानी अनंगसेना के सान्निध्य में मानते थे। जब वे संग-संग होते थे, वे प्रेमालाप में आत्म-विस्मृत से रहते। उनके नेत्र एकटक महारानी की मुख-शोभा पर केन्द्रित रहते। पलकें झपकना तक भूल जातीं। जब कभी पृथक् होते तो स्वप्नद्रष्टा-से वे प्रेयसी की काल्पनिक छवि को ही अविराम रूप में निहारते रहते–मुग्ध हो जाते, लुब्ध हो जाते और मिलन की प्रबल कामना से उत्साहित होकर रनिवास की ओर अग्रसर हो जाते। अतिशयता तो शुभ वस्तुओं की भी अशुभ हो जाती है। अंधकार तो पीड़ादायक होता ही है, किन्तु आलोक का आधिक्य भी ऑखों में चुभने लगता है। कुछ ऐसा ही महाराज भर्तृहरि को भी कालान्तर में अनुभव होने लगा। उन्हें प्रतीत होता–जैसे उनका अनुराग एकांगी है, एकपक्षीय है। जितना लगाव और प्रेम उन्हे अपनी प्रेयसी से है, उतना प्रतिदान में उन्हें प्राप्त नही होता। कभी वे सोचते–'नही, ऐसी धारणा का कोई कारण नहीं। हमारी प्रेयसी कदाचित् इससे भी अधिक सघनता से हमें प्रेम करती

हों, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति की शैली ही ऐसी हो।' संभव है नारियोचित संकोच ही आड़े आ जाता हो ...... किन्तु इतनी शिथिलता, इतना संकोच भी उचित नहीं।

संध्या का समय था। महाराज भर्तृहरि राजभवन के रमणीक उद्यान में विश्राम कर रहे थे। आकाश में सिंदूरी संध्या खिल गयी थी। चारों ओर निस्तब्ध नीरवता का साम्राज्य ......। महाराज खिले पुष्पों पर थिरकती तितलियों को देख रहे थे और सोच रहे थे—'इन्हें तो संकोच नहीं हो रहा।' समीप ही एक वृक्ष था, जिससे एक लता लिपटी हुई थी। अपने प्रियतम को आलिंगन में लेकर यह लता कैसी सुख-मग्न हो रही है। हमसे अधिक सौभाग्यशाली तो यह वृक्ष ही है ......। एक निःश्वास छोडकर महाराज ने आकाश को निहारा। श्वेत बक्-पॉति मुक्ता-हार-सी दिखायी दे रही थी, पश्चिम दिशा के अरुण ऑचल पर। दूर क्रौंच युगल गगन-विहार कर रहा था। इनकी उन्मुक्त उडान से महाराज सहसा उल्लसित हो उठे। आसन त्यागकर वे राजभवन की ओर बढ़े और असमय ही वे रानी अनंगसेना के कक्ष की ओर अग्रसर हो गये। रानी के रूप-दर्शन की लालसा तीव्रतर होती जा रही थी। ज्यों-ज्यों वे सीढ़ियॉ चढ़ते जाते थे—मिलन का उल्लास भी उच्च्व से उच्च्वतर होता जाता था। तीसरे तल्ले के छोर पर सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ते हुए जब महाराज पहुँचे तो प्रतिहारियों ने उनके दर्शन कर आगे से आगे सूचना प्रसारित कर दी—"महाराज पधार रहे हैं।" इसी तल्ले पर मध्य में महारानी का कक्ष था। परिचारिका त्वरा के साथ कक्ष के भीतर भागीं। कक्ष में हड़बड़ी मची—'आज महाराज इस समय यहाँ कैसे ......! ऐसा तो कभी नहीं हुआ।' महाराज भर्तृहरि ने कक्ष में प्रवेश किया—उल्लास और उमंग के साथ, किन्तु भीतर जाकर वे भी कुछ असामान्य-से हो उठे। उन्हें तनिक ऐसा आभास हुआ, जैसे कोई छाया वातायन से बाहर निकली हो। उनका मानस सक्रिय हुआ ..... लेकिन तीसरे तल्ले के वातायन से भला कोई कहॉ जा सकता है ! कदाचित् यह हमारा भ्रम ही था ...... महाराज ने सोचा, किन्तु भ्रम भी कैसे होगा .....। उन्होंने वातायन की ओर देखा तो पाया एक उत्तरीय का छोर वातायन से, कक्ष के भीतर लटक रहा था। महाराज का मुख विवर्ण हो गया। हमारे सघनतर अनुराग के उत्तर में क्या यही स्थिति .... यही परिणाम उस .....।

रानी थरथर कॉप रही थीं। उनके मुख से बोल नहीं निकल पा रहा था। वे तो जैसे रक्तहीन-सी हो गयीं। तभी सहसा त्रिया-चरित्र आरंभ हुआ। रानी अनंगसेना ने शक्ति जुटायी। वे जोर-जोर से रुदन करने लगीं—"हाय ! मैं लुट गयी। इस देवर ने मुझे कहीं का नहीं रखा। मैं इसे वत्स की भाँति मानती रही .....। उसी के मन में ऐसा कुत्सित भाव ..... हाय ! मै क्या करूँ ..... ।" रानी अनंगसेना शय्या पर औंधे मुँह पड़ी विलखती रहीं—रोती रहीं।

"उठो प्रियतमे ! उठो ...... धीर
बताओ।" महाराज ने रानी की दीन
उन्होंने कोमलता के साथ अनंगसेना के
है कि जिसने तुम्हें इतना विचलित कर
क्या कोई अशिष्टता हो गयी है उससे?"

"अशिष्टता? आप इसे अशिष्टता
गया-बीता है। उसने आज जो किया है
मुझे आपको मुख दिखाने का साहस भी
तकिये में अपना मुख और भी शक्ति से द

महाराज ने जब रानी को शान्त होने
तो रानी हिचकियाँ लेती हुई बोलीं–"स्वा
है। इस दुष्ट विक्रम ने बड़ा अनर्थ किया
जोश के साथ रानी उठ बैठीं और कहने
व्यवहार करता रहा है। वह जब भी अवस
लगता है। आरंभ में तो मैंने उसे समझ
बढ़ती चली गयीं और अश्लीलता की सीमा
बतायी तो उस निर्लज्ज ने चुनौती-भरे स्व
कर ले जाएँगे, अनंगसेना ! विक्रम जिसे
ही दम लेता है।"

"उसका इतना साहस ..... अधम,
से अग्नि बरसने लगी।

"यह तो अच्छा हुआ, स्वामी ! कि
अन्यथा वह अपहरण करके ले ही जाता
तीव्र रुदन में उसका शेष कथन विलीन हो

"तो युवराज विक्रम स्वयं यहाँ आया

"जी महाराजश्री ...... वही तो आ
वातायन से भाग खड़ा हुआ। क्लीव, कापुर
को अपने आँचल से पोंछते हुए कह दिया।

"हाँ .... हाँ ..... प्रेयसी ! तुमने उ
अब हमारा कोप-भाजन होकर ही रहेग
महाराज ने जिज्ञासा प्रकट की–"इतनी सु
तक पहुँचा कैसे?"

"[illegible] वह आंधी की भाँति इस कक्ष में प्रविष्ट हो [illegible] उत्तर दे दिया, किन्तु तत्काल वह अवाक्-सी [illegible] उसने उसे आभास हो गया। वह इस आशंका से [illegible] यह प्रश्न न कर दे कि फिर वह [illegible] में ही आकुल-व्याकुल हो उठी। महाराज के गंभीर हो [illegible] सोच-मग्न हो जाने के कारण वह आशंका पुष्ट भी होने लगी, [illegible] ने अपना मौन त्यागते हुए यही कहा—"बलवान् [illegible] उसके लिए असंभव कुछ भी नहीं है।" रानी [illegible] सामान्य होने लगा। तभी महाराज ने एक रज्जु को खींच दिया [illegible] घंटा-ध्वनि हुई। एक परिचारिका ने कक्ष में प्रवेश किया—"महाराज की जय हो !!" परिचारिका दोनों हाथ जोड़े, नतशिर शान्त भाव से खड़ी हो गयी।

"नगर-रक्षक कहाँ है ?" महाराज ने गंभीरता से पूछा। रानी और परिचारिका दोनों ही इस कथन से विचलित हो गयीं। "अभी महाराज की सेवा में उपस्थित करती हूँ।"—कहती हुई परिचारिका जाने को हुई ही थी कि महाराज ने उसे बरजा, और स्वयं कक्ष के द्वार की ओर बढ़ने लगे। चलते-चलते उन्होंने कहा—"नगर-रक्षक को हमारी आज्ञा पहुँचा दो कि महारानी के आवास पर सुरक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ कर दी जाय और युवराज विक्रमादित्य से कहो कि वह अपना कलंकित मुख कभी हमें न दिखाए।" और महाराज तीव्र गति से इस कक्ष से बाहर चले गये।

इसके पश्चात् किसी ने भी युवराज विक्रमादित्य को राजभवन में तो क्या, अवन्ती नगरी में भी नहीं देखा। राजसभा में युवराज का सिंहासन तब से रिक्त पड़ा था। भावुक हृदय महाराज भर्तृहरि जब राज्यासन पर आरूढ़ होते, पार्श्व का यह रिक्त आसन देखकर बड़े दु:खित होते थे, पर किसी से कुछ न कह पाते थे।

× × ×

राजसभा सायंकाल तक चलती रही। महाराज भर्तृहरि भी आज विशेष दत्तचित्तता के साथ राजकीय प्रकरणों पर विचार करते जा रहे थे और निर्णय भी तुरन्त हो रहे थे। यह क्रम समापन के समीप ही था कि प्रतिहारी ने निवेदन किया—"पृथ्वीनाथ ! राजसभा के द्वार पर एक विप्र बड़ी देर से प्रतीक्षा कर रहे हैं, वे महाराजश्री के दर्शनों की लालसा के साथ····।"

"विप्रदेवता को आदरपूर्वक ले आओ।" महाराज ने आज्ञा दी और तत्काल ही एक प्रौढ़ सज्जन आ उपस्थित हुए। उनकी मुख-मुद्रा से कुछ भी प्रकट नहीं होता था कि वे किसी तात्कालिक सहायता की याचना करना चाहते थे या किसी

"उठो प्रियतमे ! उठो ······ धीरज धरो और विस्तार से अपनी वात हमें बताओ।" महाराज ने रानी की दीन और करुण दशा से द्रवित होकर कहा। उन्होंने कोमलता के साथ अनंगसेना के कंधे को स्पर्श करते हुए कहा—"क्या वात है कि जिसने तुम्हें इतना विचलित कर दिया? क्या किया है अनुज विक्रम ने? क्या कोई अशिष्टता हो गयी है उससे?"

"अशिष्टता? आप इसे अशिष्टता कहते हैं ····· वह तो पशुओं से भी गया-बीता है। उसने आज जो किया है उससे मैं तो लज्जा से गड़ी जा रही हूँ। मुझे आपको मुख दिखाने का साहस भी नहीं होता ·····।" कहते-कहते रानी ने तकिये में अपना मुख और भी शक्ति से दवा दिया।

महाराज ने जब रानी को शान्त होने और पूरी बात वताने को प्रेरित किया तो रानी हिचकियाँ लेती हुई बोलीं—"स्वामी ! मेरा तन-मन आपके प्रति समर्पित है। इस दुष्ट विक्रम ने बड़ा अनर्थ किया है, नाथ ! बड़ा ही अनर्थ किया है।" जोश के साथ रानी उठ बैठीं और कहने लगीं—"वह पिछले कुछ दिनों से अटपटा व्यवहार करता रहा है। वह जब भी अवसर मिलता है—मेरे प्रति प्रेम प्रकट करने लगता है। आरंभ में तो मैंने उसे समझाया-वुझाया, किन्तु उसकी गतिविधियाँ बढ़ती चली गयीं और अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गयीं। जब मैंने उसे फटकार बतायी तो उस निर्लज्ज ने चुनौती-भरे स्वर में धमकी दी—हम तुम्हारा अपहरण कर ले जाएँगे, अनंगसेना ! विक्रम जिसे प्राप्त करना चाहता है, उसे प्राप्त करके ही दम लेता है।"

"उसका इतना साहस ····· अधम, दुष्ट ·····।" महाराज के आरक्त नयनों से अग्नि बरसने लगी।

"यह तो अच्छा हुआ, स्वामी ! कि आपका यहाँ पदार्पण हो गया ····· अन्यथा वह अपहरण करके ले ही जाता और मैं किसी को ·····।" अनंगसेना के तीव्र रुदन में उसका शेष कथन विलीन हो गया।

"तो युवराज विक्रम स्वयं यहाँ आया था ····· तुम्हारे कक्ष में?"

"जी महाराजश्री ······ वही तो आपश्री के आगमन की सूचना पाकर इस वातायन से भाग खड़ा हुआ। क्लीव, कापुरुष कहीं का !" रानी अनंगसेना ने नेत्रों को अपने आँचल से पोंछते हुए कह दिया।

"हाँ ···· हाँ ······ प्रेयसी ! तुमने उसे उचित ही कापुरुष कहा है, वह अधम अव हमारा कोप-भाजन होकर ही रहेगा।" कुछ पलों के विराम के पश्चात् महाराज ने जिज्ञासा प्रकट की—"इतनी सुरक्षा-व्यवस्था होते हुए भी वह इस कक्ष तक पहुँचा कैसे?"

"इसी वातायन के मार्ग से, स्वामी ! इधर से ही वह आँधी की भाँति इस कक्ष में प्रविष्ट हो गया था।" रानी ने तत्परतापूर्वक उत्तर दे दिया, किन्तु तत्काल वह अवाक्-सी रह गयीं। कितनी बड़ी भूल कर दी उसने–उसे आभास हो गया। वह इस आशंका से आतंकित हो उठी कि महाराज यह प्रश्न न कर दें कि फिर यह उत्तरीय वातायन से कैसे बँधा है। वह क्षणभर में ही आकुल-व्याकुल हो उठी। महाराज के गंभीर हो जाने और उत्तरीय देखकर सोच-मग्न हो जाने के कारण यह आशंका पुष्ट भी होने लगी, किन्तु महाराज ने अपना मौन त्यागते हुए यही कहा–"बलवान् विक्रम कुछ भी कर सकता है······उसके लिए असंभव कुछ भी नहीं है।" रानी अनगसेना का धड़कता हृदय सामान्य होने लगा। तभी महाराज ने एक रज्जु को खींच दिया और कक्ष के बाहर घंटा-ध्वनि हुई। एक परिचारिका ने कक्ष में प्रवेश किया–"महाराज की जय हो !!" परिचारिका दोनों हाथ जोड़े, नतशिर शान्त भाव से खड़ी रह गयी।

"नगर-रक्षक कहाँ है ?" महाराज ने गंभीरता से पूछा। रानी और परिचारिका दोनों ही इस कथन से विचलित हो गयीं। "अभी महाराज की सेवा में उपस्थित करती हूँ।"–कहती हुई परिचारिका जाने को हुई ही थी कि महाराज ने उसे बरजा, और स्वयं कक्ष के द्वार की ओर बढ़ने लगे। चलते-चलते उन्होंने कहा–"नगर-रक्षक को हमारी आज्ञा पहुँचा दो कि महारानी के आवास पर सुरक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ कर दी जाय और युवराज विक्रमादित्य से कहो कि वह अपना कलंकित मुख कभी हमें न दिखाए।" और महाराज तीव्र गति से इस कक्ष से बाहर चले गये।

इसके पश्चात् किसी ने भी युवराज विक्रमादित्य को राजभवन में तो क्या, अवन्ती नगरी में भी नहीं देखा। राजसभा में युवराज का सिंहासन तब से रिक्त पड़ा था। भावुक हृदय महाराज भर्तृहरि जब राज्यासन पर आरूढ़ होते, पार्श्व का यह रिक्त आसन देखकर बड़े दु:खित होते थे, पर किसी से कुछ न कह पाते थे।

× × ×

राजसभा सायंकाल तक चलती रही। महाराज भर्तृहरि भी आज विशेष दत्तचित्तता के साथ राजकीय प्रकरणों पर विचार करते जा रहे थे और निर्णय भी तुरन्त हो रहे थे। यह क्रम समापन के समीप ही था कि प्रतिहारी ने निवेदन किया–"पृथ्वीनाथ ! राजसभा के द्वार पर एक विप्र बड़ी देर से प्रतीक्षा कर रहे हैं, वे महाराजश्री के दर्शनों की लालसा के साथ····।"

"विप्रदेवता को आदरपूर्वक ले आओ।" महाराज ने आज्ञा दी और तत्काल ही एक प्रौढ़ सज्जन आ उपस्थित हुए। उनकी मुख-मुद्रा से कुछ भी प्रकट नहीं होता था कि वे किसी तात्कालिक सहायता की याचना करना चाहते थे या

समस्या का समाधान अथवा किसी ······। समस्त उपस्थिति में औत्सुक्य जाग्रत हो गया। विप्र ने तीन बार नमनपूर्वक प्रणाम किया और तब "राजाधिराज भर्तृहरि महाराज की जय हो !" कहते हुए उन्होंने अवन्ती-नरेश को हाथ उठाकर दीघार्यु होने का आशीर्वाद दिया, सुख-समृद्धि व आनन्द-प्राप्ति के पक्ष में शुभ कामनाएँ दीं और सहसा मौन हो गये।

गंभीरता के साथ मौन बैठे महाराजश्री तब एक सुखद मुस्कान के साथ मुखरित हुए–"कल्याणकारी मंगलाशिष से हम अनुगृहीत हुए, विप्रवर ! कृपया अब अपने आगमन का प्रयोजन स्पष्ट कीजिये। किस कारण से आना हुआ है?"

महाराज के इस कोमलतापूर्ण व्यवहार और सादर वचनावली से विप्र उत्साहित हुए और उन्होंने निवेदन करने को अपना मुख खोला भी, किन्तु फिर मौन हो गये। उनका मस्तक झुक गया। महाराज ने प्रोत्साहन देते हुए कहा– "संकोच न कीजिए, विप्रवर ! स्पष्टतः अपनी बात कह दीजिए। आपकी सेवा करने का अवसर पाकर तो हम धन्य हो जायेंगे। कहिये–हम आपके लिए क्या कर सकते हैं?"

महाराज के कथन से पुनर्बलन पाकर विप्र ने अपने कटिबंध से लाल वस्त्र की एक थैली निकाली। हाथ ऊँचा कर थैली को हवा में झुलाते हुए उन्होंने कहा– "श्रीमानेश्वर ! आपश्री तो लोकपाल हैं, दानवीर हैं, कोई याचक आपश्री के द्वार से हताश होकर नहीं गया····मैं भी एक दीन याचक हूँ, किन्तु पहले एक भेंट– दिव्य भेंट आपश्री को अर्पित करना चाहता हूँ।" हाथ की थैली को उन्होंने यह कहते हुए तनिक अधिक गति दी। महाराज और सभी सभासदों की दृष्टि उस ओर केन्द्रित हो गयी। एक उत्कट जिज्ञासा से सभी आतुर हो उठे। महामंत्री ने तभी प्रश्न किया–"इस थैली में क्या है, ब्राह्मण देवता···· आप क्या भेंट करना चाहते हैं?"

"श्रीमन् ! सरलता और विनय के वशीभूत प्रायः अपने बहुमूल्य उपहार को भी तुच्छ और साधारण कह देते हैं, किन्तु यह उपहार भव्य और दिव्य है–मैं इसे ऐसा ही कहूँगा भी। मैं चाहता हूँ कि यह भेंट सार्वजनिक न हो पाए।" विप्रदेवता इतना कहकर मौन हो गये, थैली उनके हाथ में और जिज्ञासा सभी के मन में झूलती रही। "विप्रदेव ! हम आपकी भावना का आदर करते हैं। आप हमारे विश्राम-कक्ष में आइये।" महाराजश्री ने अनुमति प्रदान की और सभा विसर्जित हो गयी।

कुछ ही क्षणों पश्चात् विश्राम-कक्ष में महाराज अपने सुखासन पर बैठे थे, किन्तु विश्राम की मुद्रा में नहीं। सामने एक चौकी पर विप्र बैठे थे। उन्होंने दोनों ओर के धागे खींचकर लाल थैली का मुख खोल दिया। भीतरी वस्तु की झलक

अब भी नहीं मिल पा रही थी। महाराज भी अनुमान लगा लेने के प्रयोजन से टकटकी लगाए थे। पूछा–"क्या है ...... इस थैली के भीतर क्या है?" अभी सब-कुछ स्पष्ट हो जाता है, अन्नदाता !"–कहते हुए विप्रदेव ने एक कान्तिपूर्ण, स्निग्ध वस्तु को आवरण-मुक्त किया और उसे एक छोटी चौकी पर स्थापित कर दिया। "यह तो कोई फल प्रतीत होता है।"–महाराज ने अनुमानित किया और अनुमोदन के स्वर में विप्र ने त्वरा के साथ कहा–"जी हॉ, महाराज ! फल ही है दिव्य अमरफल है यह।"

"क्या विशेषता है इसकी? आप इसे हमें क्यों दे देना चाहते हैं?" महाराज़ के स्वर में प्रश्न तैरने लगे।

"श्रीमानेश्वर !" दीन विप्र ने नमनपूर्वक निवेदन किया–"यह दिव्य अमरफल है। जो भी इसका सेवन करेगा, उसे दीर्घ आयुष्य और चिर यौवन की प्राप्ति होगी। वह कभी वृद्ध नहीं होगा। जरा के रोग–दुःख का निवारक यह अमरफल अद्‌भुत चमत्कारी है, महाराजश्री !"

"हूँ ....।" महाराज ने चिन्तनपूर्वक इस रहस्य को हृदयंगम कर लेने का प्रयत्न किया। अविश्वास उनके हृदय में न तो अंकुरित हुआ, न उसका आभास ही उनकी मुख-मुद्रा में व्यक्त हो रहा था। सहज जिज्ञासावश उन्होंने यही कहा–"विप्रवर ! यदि ऐसा है तो अवश्य ही यह एक अद्‌भुत फल है, किन्तु ऐसे चमत्कारी फल की प्राप्ति आपको कैसे हो गयी?"

"महाराजश्री ! मैं एक दीन-हीन निर्धन ब्राह्मण हूँ। इस रंकता के अभिशाप ने कुल-वंश में, समाज में मेरी घोर उपेक्षा कराई। मैंने धन-प्राप्ति के लिए भुवनेश्वरी देवी की आराधना की। भुवनेश्वरी देवी ने ही प्रसन्न होकर मुझे यह फल प्रदान किया और इसकी महत्ता भी समझाई। किन्तु इस फल की प्राप्ति पर भी मैं निराश हो गया। हितकारिणी देवी ने द्रवित होकर पूछा भी कि तुम निराश क्यों हो गये भक्त? ऐसी प्राप्ति सब-किसी को नहीं होती। तुम तो परम सौभाग्यशाली हो कि तुम्हें अमरफल मिला है, संतुष्ट और प्रसन्न हो जाओ ! मैंने श्रीमान् उत्तर दिया कि माते ! प्रसन्न तो मैं अवश्य ही हो जाता यदि मुझे मिलता धन। धन ही मेरी कामना है, धन ही मेरी चाहना है। बिना धन के दीर्घायु भी भला मैं क्या करूँगा। भूखे पेट यौवन का भी क्या मूल्य है? मुझे धन दो देवी ... माते ! मुझे धन चाहिए। श्रीमानेश्वर देवी मॉ ने अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। कहने लगीं कि मनुष्य को जो कुछ प्राप्त होता है उसके भाग्य से ही प्राप्त होता है। सुख-दुःख सब कर्मों के अधीन हैं, कर्म के ही फल हैं। हम देवी-देवता तो कभी-कभी उसके माध्यम बन जाते हैं, बस ! कुछ पल रुककर देवी माँ ने आशिष दी; कहा–भक्त ! हम तुम्हारी पूजा-अर्चना से अतिशय प्रसन्न हैं और वचन देती हैं कि इस अमरफल

से तुमको धन की प्राप्ति अवश्य हो जायेगी। यह कहकर देवी माँ लुप्त हो गयीं, किन्तु उनके शब्द मेरे कानों में प्रतिध्वनित होते रहे।''

''तो आपको अमरफल के माध्यम से धन चाहिए, विप्रवर?''

''राजाधिराज ! यही तो मेरी एक मात्र मनोकामना है, इसे पूर्ण कीजिये प्रभो ! मुझे धन दे दीजिए कि अपना और अपने परिवार का पोषण कर सकूँ, प्रभो !'' ब्राह्मण के दोनों हाथ जुड़कर भाल तक पहुँच गये, अधरों पर एक अनुनयपूर्ण मुस्कान फैल गयी।

महाराज भर्तृहरि ने गंभीरता के साथ कहा–''विप्र ! यह फल हमारे उपयोग का है अथवा नहीं, अभी हम कुछ नहीं जानते, किन्तु धन तुम्हें मिलेगा। देवी माँ की वाणी भी तो सत्य सिद्ध होनी ही चाहिये।'' विप्रदेवता को तो मानो कुबेर का कोष ही मिल गया, वे प्रफुल्लित हो उठे। महाराज ने अमात्य को बुलाकर आदेश दिया–''विप्रवर को मुँहमाँगा धन दे दिया जाय।'' विप्र आशीर्वाद देते हुए चले गये।

'यह अमरफल है ...... इसका चमत्कार यह है कि इसके सेवन करने वाले को यह जरा-मुक्त कर देता है, आयु बढ़ा देता है।' महाराज एकाकी बैठे सोचते रहे, सोचते रहे। अनेकानेक भावी स्थितियाँ कल्पना के नेत्रों के समक्ष दृश्यमान हो उठीं। उन्हें लगा कि वे सहसा सत्तर वर्ष के हो गये हैं और उनकी स्नायुओं में यौवनोचित स्फूर्ति है, दृष्टि में तेज और नेत्रों की दीप्ति यथावत् है। उनकी ऊर्जा भी कम नहीं हुई और केश-राशि की कालिमा में कोई न्यूनता नहीं आयी है। यही तो चिर यौवन है। गर्वानुभूति से उनके नेत्र मुँद गये। संतोष की एक साँस लेकर वे विश्राम की मुद्रा में आये ही थे कि एक अन्य दृश्य आकार ग्रहण करने लगा। प्रेयसी महारानी अनंगसेना अब ऐसी नहीं रहीं। उनके केश श्वेत हो गये हैं। दाँत ऊबड़-खावड़, देह में दुर्बलता और झुर्रियाँ, निस्तेज तन और बुझा-बुझा मन। महाराज होठों ही होठों में कुछ बुदबुदाये ...... नहीं .... नहीं, ऐसा ...... ऐसा नहीं हो सकता। कुछ ही पलों में दृश्य पुनः परिवर्तित हुआ। राजवैद्य महारानी की चिकित्सा कर रहे हैं और उनके मुख पर उदासी का भाव है। प्रेयसी अनंगसेना किसी असाध्य रोग से पीड़ित शय्या पर छटपटा रही हैं और उनकी कराहें सारे वातावरण को दुःखमय बना रही हैं। महाराज कष्टानुभूति से स्वयं कराह उठे। तभी उन्होने अनुभव किया मानो वे शय्या पर एकाकी शयन कर रहे हैं। कोई उनसे प्रेमालाप करने वाला नहीं। एकटक वे सामने लगे अनंगसेनां के चित्र को निहार रहे है जिसे पुष्पहार धारण कराया गया है और अगरू-धूम्र फैल रहा है। इस दृश्य से तो महाराज सर्वथा विचलित हो उठे। आसन त्यागकर वे उठ खड़े हुए और अपनी लटकी केश-राशि को हाथों से सहलाते हुए आगे बढ़ गये। वे

विश्राम-कक्ष में धीमे-धीमे विचरण करने लगे। दृष्टि फर्श पर, हाथ पीछे की ओर बँधे हुए, चरणों में दृढ़ता और मन में ऊहापोह.... महाराज सोचने लगे–'इस अमरफल का क्या लाभ? हमारे यौवन के रहते यदि प्रेयसी की यह दशा हो जाय.... तो इस यौवन की क्या सार्थकता। नहीं.... नहीं..... हम हमारी प्रियतमा की यह दशा नहीं देख सकते। इससे उत्तम तो यह है कि हम इस फल का सेवन ही नहीं करें। हम तो चाहते हैं कि हमारी प्राणप्रिया प्रियतमा सदा-सदा ऐसी ही बनी रहें। उनके रूप यौवन और अनुरागभाव में कोई कमी नहीं आए।' महाराज भर्तृहरि ने तब तक निश्चय किया। निश्चय की दृढ़ता ने उनकी भाव-भंगिमा में भी एक दृढ़ता भर दी, मन से विचलन छिटककर दूर हो गया और उन्होंने संतोष की एक गहरी साँस ली।

कुछ समय पश्चात् महाराज अपने शयन-कक्ष में रानी अनंगसेना से प्रेमालाप कर रहे थे। ये ही क्षण उन्हें अपने जीवन की सार्थकता के पल प्रतीत हुआ करते थे। उन्होंने अपने जीवन का सर्वस्व अपनी प्रेयसी के नाम कर दिया था। रानी अनंगसेना का दरस-परस पाकर वे निहाल हो उठते थे। महाराज ने अपनी प्रियतमा महारानी को अमरफल की सारी कथा सुना दी और वह लाल थैली उनके हाथों में देते हुए कहा–"हम चाहते हैं हमारी राजरानी इस फल का सेवन करें।"

रानी अनंगसेना के चकित नेत्र कुछ पलों तक अपलक रह गये और अवाक् मुख खुला का खुला रह गया। अपने आप को कुछ सँभालकर वे बोलीं–"इस फल पर तो आपका अधिकार है, स्वामी ! आप चिरायु हों और.... ।"

"नहीं... नहीं.... नहीं... हमने दृढ़ निश्चय कर लिया है।" महाराज रानी के कथन-मध्य ही बोल उठे–"इस फल का सेवन तुम ही करोगी।" महारानी अनंगसेना के मुख पर अनेक भाव आते और जाते रहे। इन कुछ ही क्षणों में महाराज ने अपनी प्रेयसी के हृदय को उनकी भाव-भंगिमाओं में चित्रित होते देख लिया था। इनमें से कुछ लोभ के, कुछ छद्म प्रीति के, तो कुछ चित्र भावी आशा और उमंग के थे। महाराज ने महारानी के विचार को पुनर्वलित करते हुए फिर अनुरोध किया–"प्रियतमे ! यह सोच-विचार करने का समय नहीं है। विचार तो हमने पर्याप्ततः कर लिया है और यही निष्कर्ष पाया है कि हमारी प्रेयसी ही इस फल का सेवन करें–यही उत्तम रहेगा।"

"महाराजश्री ! क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम दोनों ही इस फल का सेवन करें। अक्षुण्ण और अनन्त यौवन की अभिलाषा का कोई अर्थ तभी तो रहेगा, जब.... ।" प्रेयसी ने सिर झुकाकर अनुनय के स्वर में कहा।

उसकी मुद्रा में कृत्रिमता का आभास पाकर महाराज ने रानी को कथन-मध्य ही टोकते हुए कहा–"यह संभव नहीं होगा, महारानी। यह उपयुक्त भी नहीं होगा। संभव है ऐसा करने से किसी एक को दीर्घायु और दूसरे को चिर यौवन प्राप्त हो।

तनिक सोचकर देखो कि क्या मैं चिर यौवन प्राप्त करूँ और तुम्हे दीर्घायु मिले— यह उपयुक्त होगा। या क्या इसके विपरीत.... ।"

"नहीं.... नहीं.... महाराज, कदापि नहीं..... हम स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं कर सकतीं। हम चाहती हैं, हम आजीवन ऐसे ही रूप-लावण्य, ऐसे ही यौवन की स्वामिनी बनी रहें!"

"तब संशय और संकोच का त्याग करो, महारानी ! अमरफल का सेवन करो। इसी में हम दोनों का हित होगा।" महाराज ने प्रबोधन के स्वर में कहा।

और महारानी अनंगसेना ने अमरफल को माथे से लगाते हुए कहा—"आपके आदेश का पालन होगा, महाराज ! अवश्य होगा.... ।" महाराज आश्वस्त होकर चले गये।

रानी अनंगसेना मन ही मन प्रफुल्लित थीं कि अब वे अनन्त यौवन से सम्पन्न हो जायेंगी। नारी का यह लोभ शाश्वत होता है। किसी भी आयु में अपने रूपाकर्षण का लोभ वह त्याग नहीं पाती। जब इसके कम होने की आयु आती है, तब तो उसका लोभ और भी अधिक बढ़ जाता है। रानी ने कपाटिका खोलकर अमरफल की लाल थैली निकाली, उसे सामने की चौकी पर रखकर वे अपने आसन पर बैठीं। ज्यों ही वे थैली खोलने के लिए रज्जु खींचने लगीं कि एक विचित्र विचार उनके मानस में जाग्रत हो गया। उन्होंने थैली चौकी पर ही छोड़ दी और पीठ टिकाकर चिन्तन में खो गयीं। उनके नेत्र अर्द्ध-निमीलित हो गये। वे सोचने लगीं— 'अमरफल हमारी आयु में वृद्धि कर देगा यह सत्य है, यह भी सत्य है कि हम आमरण यौवन-सम्पन्न रहेंगी, किन्तु इसका क्या लाभ? हमारे प्रेमी तो समय के साथ जरा और मरण की ओर अग्रसर होते रहेंगे। प्रेमविहीन जीवन भी भला कोई जीवन है। क्या हमारे कटाक्ष, हमारे प्रेमी के युवा हृदय को ही बेधते रहेंगे। वह हृदय कभी तो प्रेमविहीन हो ही जायेगा। उनकी बूढ़ी दृष्टि हमारे रूप-सौन्दर्य की ओर आने का साहस भी नहीं कर सकेगी। क्या हमारे रस-भरे अधरों पर थिरकती मुस्कान उनके पपड़ाये, कान्तिहीन अधरों पर भी मुस्कान ला सकेगी। फिर हमारी युवा देह को अनन्त बिछोह का भी डर बना रहेगा। इस यौवन की सार्थकता ही क्या है ! हम यह फल, हम पर प्राण न्योछावर करने वाले प्रेमी को ही दे देंगी। वे चिरायु हों.... यही हमारे अन्तरमन की अभिलाषा है। हमारे प्रेमी के आकुल बाहुपाश में ही हम अन्तिम साँस लें.... यही हमारी इच्छा है.... ।'

"क्षमा चाहता हूँ... आने में कुछ विलम्ब हो गया।" कोमल और विनीत स्वर ने महारानी अनंगसेना को मानो निद्रा से वाहर निकाल लिया। वे सोत्साह उठ खडी हुई और त्वरा के साथ अग्रसर होकर उन्होंने अपने प्रेमी—नगर-रक्षक को आलिंगनवद्ध कर लिया। महारानी तो जैसे आनन्द की तरंगों पर झूल रही थीं। अत्यन्त हर्ष के साथ वोलीं—"कोई विलम्व नहीं, कोई विलम्व नहीं—मेरे प्रियतम... !

आप सर्वथा समय पर ही पहुँचे हैं। आइये .... आइये।'' दोनों आसीन हुए। रानी दूरस्थ आसन पर थीं, किन्तु अपनी ग्रीवा को प्रेमी की ओर झुकाकर सामीप्य-लाभ पा रही थीं। भावावेश-ग्रस्त प्रेमिका ने प्रेमालाप आरंभ किया–''प्रियतम मेरे, हम चाहती हैं कि आप ऐसे ही युवा, ऊर्जा-सम्पन्न और रूपवान बने रहें, दीर्घायु प्राप्त करें और हमें आपका ऐसा ही प्रेम जीवन-पर्यन्त मिलता रहे।''

''यह मेरा सौभाग्य होगा .... प्रियतमे !'' प्रेमी की वाणी में माधुर्य था।

''और अब यह अनन्त काल तक के लिए संभव हो गया है, प्रियतम ! यह अब संभव हो गया है। आपको हमारी यह कामना पूर्ण करनी ही होगी।'' महारानी ने इस भूमिका के साथ अमरफल का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उन्होंने अपने प्रेमी को फल-सेवन के लिए मना भी लिया। लाल थैली को अपने कटिबंध में खोंसकर नगर-रक्षक चला गया। इस आश्वासन भरे कथन के साथ कि वह इष्ट-आराधना कर इस फल का सेवन अवश्य कर लेगा। इसी समय दासी ने आकर कक्ष के दीप प्रज्वलित कर दिये। मंदालोक कक्ष में व्याप्त होकर सभी वस्तुओं को पुनः आकार प्रदान करने लगा। महारानी अनंगसेना के अन्तर में तो जैसे लक्ष-लक्ष दीप प्रज्वलित हो गये, जो उद्दीप्त होकर उनके मानस को सुखानुभूतियों से भरने लगे।

× × ×

वन्दना करके महाराज भर्तृहरि अपूर्व शान्तचित्तता के साथ अपने आसन पर विराजित हुए ही थे कि परिचारिका ने आकर करबद्ध निवेदन किया– ''राजाधिराज देव की जय हो ! राजगणिका किसी अति विशेष प्रयोजन से श्रीमानेश्वर के दर्शन करना चाहती है। द्वार पर प्रतीक्षा कर रही है।''

महाराज इस प्रातः वेला में गणिका के आगमन का कोई प्रयोजन कल्पित नहीं कर पाये। अनेकानेक प्रसंग उनके मानस में उथल-पुथल कर कुछ ही क्षणों में महाराज को उद्विग्न करने लगे ...... संभव है राज्य की सुरक्षा का ही प्रश्न हो। महाराज ने अनुमति प्रदान कर दी।

कक्ष में प्रवेश करते ही राजगणिका ने सादर नमन के साथ करबद्ध प्रणाम निवेदन किया–''मालवाधिपति राजराजेश्वर महाराजश्री की जय हो ! .... सदा विजय हो !!'' महाराजश्री प्रश्नाकुल दृष्टि से राजगणिका को देखते हुए कुछ क्षण मौन रह गये। गणिका भी यह निश्चय नहीं कर पा रही थी कि इतनी महत्त्वपूर्ण बात को वह आरंभ कहाँ से करे। अपनी बात का छोर न पाकर उसने अपने आँचल में लिपटी किसी वस्तु को निकालने का प्रयास किया। महाराज का ध्यान भी स्वाभाविक रूप से उधर आकर्षित हो गया। उनके विस्मय का ठिकाना ही नहीं रहा, जब उन्होंने देखा कि गणिका अपने आँचल से एक लाल थैली निकालकर आगे बढ़ी। 'यह तो वही अमरफल है; गणिका के पास कैसे पहुँच गया?' महाराज

ने अपनी इस चिन्तनधारा पर अंकुश लगाते हुए सहज भाव से पूछ लिया–"क्या ले आयी हो? क्या है इसमें?"

"महाराजश्री की जय हो ! यह अमरफल है। इस फल से चिर युवा और दीर्घायु होने का परिणाम मिलता है मनुष्य को।" गणिका ने व्याख्या की–"जो भी इस फल को खाएगा वह कभी वृद्ध नहीं होगा और लम्वे समय तक जीवित रहेगा। यह मनुष्य को जरा और मरण के भय से मुक्त कर देने वाला विचित्र फल है, महाराज !"

महाराजश्री ने कृत्रिम रूप में विस्मय प्रकट करते हुए कहा–"अच्छा ! यदि ऐसा है तो वास्तव में यह कोई विचित्र ही फल है। चिर यौवन का वरदान तो गणिकाओं के लिए अत्यन्त उपयोगी रहता है। वारांगनाओं के लिए रूप और यौवन ही तो जीवन का सर्वस्व होता है। अच्छा हुआ कि तुम्हें यह फल मिल गया। तुम सुखपूर्वक इस फल का सेवन करो और अवन्ती के जन···· ।"

"नहीं महाराजश्री !······ नहीं··· मैं इसका सेवन करना नहीं चाहती। मेरा नारकीय जीवन भी भला कोई जीवन है ! मैं तो एक रात्रि की वधू हूँ। इस रात्रि में इसकी तो उस रात्रि में उसकी। किसी को मुझसे प्रेम नहीं, वासना-तृप्ति का साधन मात्र बनी रहती हूँ। प्रीति–प्रेम का आडम्बर रचाते हुए लोग आते हैं और ······। ऐसे घृणित जीवन को दीर्घ बनाने की कामना मेरे मन में नहीं है। और श्रीमानेश्वर ! वास्तविकता तो यह है कि इस रूप-यौवन ने ही मेरा पतन किया। रूपासक्त जनों की क्रीड़ा की वस्तु मुझे इसी ने बना दिया है। ये सब-कुछ मेरे लिये काम्य नहीं हैं। इस जीवन से जितनी ही शीघ्र मुक्ति मिले, उतना ही श्रेष्ठ है। यह फल मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत करने को लाई हूँ। आप दीनबन्धु, प्रजा-पालक हैं। आप दीर्घायु हों और मालव-राज्य की सेवा की शक्ति यौवन के साथ-साथ आपमें बनी रहे। मेरे लिये और मालव-प्रजा के लिये इससे बढ़कर अन्य कोई कामना नहीं हो सकती। कृपया यह फल स्वीकार कीजिए।"

महाराज भर्तृहरि किंचित् गंभीर मुद्रा में शान्त भाव के साथ कुछ क्षण मौन रह गये। फिर जैसे निद्रा से जाग्रत हुए बोले–"बात तो तुम्हारी उपयुक्त ही है गणिके ! तुम क्यों इस फल का सेवन नहीं करना चाहतीं–यह बात भी हमारे समझ में आ गयी और यह भी कि इसे तुम हमारे लिए क्यों उपयुक्त मानती हो। सन्देह का कोई कारण नहीं, जव तुम कहती हो तो इस फल के परिणाम भी ऐसे ही होंगे। यह तुम्हारा महान् त्याग है कि ऐसा फल तुम मालव-देश के हितार्थ समर्पित कर रही हो। इस देश-भक्ति की उच्चतर भावना के लिए मालव तुम्हें सदा स्मरण करता रहेगा।" यह कहते हुए महाराज ने हाथ वढ़ाया और गणिका ने दो चरण आगे आकर नम्रतापूर्वक वह लाल थैली महाराजश्री के हाथों में धर दी।

"हम बड़े प्रसन्न हुए। वास्तव में तुम्हारा चरित्र बड़ा ही महान् है। तुम धन्य हो।" यह कहते हुए महाराज अपने कण्ठ का नवलखा हार गणिका को पुरस्कार में देते हुए तनिक-से मुस्करा दिये। गणिका निहाल हो गयी—यह सम्मान और प्रशस्ति पाकर। उसने कृतार्थता व्यक्त करते हुए नमन किया और तीन चरण पीछे हटकर मुड़ने को हुई ही थी कि महाराज ने प्रश्न कर दिया—"राजगणिके ! तुमने यह अद्‌भुत प्रभावकारी फल हमें देकर देश के प्रति बड़ा भारी उपकार तो किया है किन्तु यह फल तुम्हें मिला कहाँ से—यह तो तुमने बताया ही नहीं? क्या तुम्हें यह फल किसी देवता ने प्रसन्न होकर दिया है?"

"महाराजश्री ! आपसे मैं कुछ भी गुप्त नहीं रखना चाहती। देवता नहीं, एक मनुष्य ने ही मुझ पर प्रसन्न होकर यह अमरफल मुझे दिया है। क्षमा की जाऊँ, पृथ्वीपाल ! नगर-रक्षक मुझ पर रीझे हुए हैं। मेरे रूप पर वे मुग्ध ही नहीं, लुब्ध भी है और उनका मेरे प्रति आसक्ति भाव वैसा है जैसा दीप-शिखा के लिए पतंगा का होता है। मन-प्राण से वे मुझे चाहते हैं और मेरे दरस-परस के लिए वे सदा आकुल-व्याकुल रहते हैं। उन्हें उनके यौवन और आयु को दीर्घकालिक बनाने के लिए उनकी किसी प्रेमिका ने यह अमरफल भेंट किया था। नगर-रक्षक ने स्वयं सेवन करने के स्थान पर यह फल मुझे कल रात्रि में दे दिया था कि मेरा यौवन अनश्वर हो जाय, मेरा रूप अक्षुण्ण बना रहे। उनकी यही तो कामना है। और मैं वही फल आपश्री की सेवा में लायी हूँ। आपश्री ने इसे स्वीकार कर मुझे धन्य कर दिया है, श्रीमानेश्वर !" गणिका के दोनों हाथ स्वतः ही जुड़ गये और विनय भाव से उसने मस्तक झुकाकर हाथों पर टिका दिया। कुछ ही क्षणों में महाराजश्री का आदेश पाकर राजगणिका ने प्रस्थान किया और विश्राम-कक्ष के शान्त वातावरण में बड़ी देर तक महाराज भर्तृहरि चिन्तनलीन बैठे रहे। उनके मानस में क्रमशः सब-कुछ स्पष्ट होता चला गया। रानी अनंगसेना और नगर-रक्षक का अनुराग भाव स्वयं उनके प्रति रानी का छलावा और कपट-व्यवहार—सभी कुछ 'हस्तामलकवत्' स्पष्ट हो गया। उनका चिन्तन उनकी जीवनधारा को ही एक नयी दिशा देने लगा। भावी जीवन का नवीन स्वरूप अंकुरित होने लगा।

चिन्तनशीलता मनुष्य को प्राप्त एक अनूठा वरदान है। जब मनुष्य का चिन्तन जाग्रत होकर सही दिशा में गहनतर होने लगता है, तभी मनुष्य का आत्मिक उत्थान आरंभ हो जाता है। महाराज भर्तृहरि की भी यही स्थिति थी। वे सोच रहे थे कि यह जगत् माया का केन्द्र है, मिथ्या मोह का आगार है। हमने प्राणों से अधिक प्रिय रानी अनंगसेना को माना। वैभव, विलास, सुख-सुविधा, हार्दिक अनुराग—सभी-कुछ हमने उन्हें दिया और रानी की प्रीति नगर-रक्षक पर ।
उनका यह अनुराग इतना तीव्र, इतना बलवान कि लोक-व्यवहार
की, निन्दा-अपयश की—किसी की चिन्ता, किसी का भय इस मार्ग में

बन सका और नगर-रक्षक का प्रेम गणिका के प्रति रहा। इस जगत् की विचित्रता असीम है। यहाँ कौन किसका है ! यह मेरा .... यह मेरा ..... मनुष्य को उसके भीतर का मोह ही भ्रान्त कर ऐसी अनुभूति देता है। कपट और वंचना को ही वह सत्य मानता है, वास्तविकता मानता है। जव तक मनुष्य इस मिथ्या लोभ-मोह में ग्रस्त रहता है–वह आत्म-हित की दिशा में अग्रसर नहीं हो पाता। वास्तव में यह सांसारिकता एक विराट् खल-भूमिका ही है। यही विपयानुसरण मनुष्य को मनुष्य-जीवन के चरम और परम लक्ष्य-मुक्ति की प्राप्ति के पथ में आकर्षक, सरस वाधाएँ प्रस्तुत करता रहता है। यही माया-मोह गाढ़ी यवनिका वनकर मनुष्य को उसके इस लक्ष्य को दृष्टिगत ही नहीं होने देता। कौन किसका पुत्र, पत्नी अथवा पति ! सभी निरे स्वार्थ के सम्वन्ध हैं। अन्तरमन से कोई किसी का नहीं। किसी को किसी के हिताहित में रस नहीं? सभी को अपनी ही अपनी लगी रहती है। वह भी वास्तविक रूप में कहाँ है? अन्यथा वह आत्म-हित की सच्ची साधना को न अपनाकर मिथ्या मोह के प्रपंच में क्यों पड़ता। और नारी तो विधाता की एक अद्भुत, अबूझ कृति है। नारी की रचना करने के पश्चात् तो रचनाकार स्वयं ही मतिभ्रम में ग्रस्त है। वह स्वयं अपनी रचना को ही भलीभाँति नहीं समझ सकता। छल-छद्म की प्रतिमूर्ति नारी क्या तो स्वयं को व्यक्त करती है और क्या वास्तव में वह होती है–दोनों में कोई सामंजस्य नहीं। इसके आकर्षण और अनुराग में मनुष्य अपना जीवन व्यर्थ कर देता है। इसके प्रेम में पड़कर वह अपना अहित ही करता है। नारी अपने रूप के आधार पर पुरुष हृदय में सुगमता से अपना निवास बना लेती है और तब भीतर ही भीतर मोह, अहं, मद, लोभ को जगाकर इन्हें उसी पुरुष के शत्रुरूप में बलवान बनाती है। इस नारी की विनाशकारी भूमिका से परिचित और सावधान जो पुरुष जितना शीघ्र हो जाए–उसका उतना ही हित है। महारानी अनंगसेना ने यथासमय ही हमारे नेत्र खोल दिये। यही हमारी हित-साधना है। अब हम तत्काल सर्वस्व त्यागकर योग धारण करेंगे। आत्म-कल्याण की साधना में प्रवृत्त होंगे।

महाराज भर्तृहरि का मन अपने मंगल संकल्प के आलोक से पूरित हो गया। वे सोचने लगे–'इस मोह-निद्रा से मुक्त होकर व्यक्ति का जाग्रत हो जाना, सज्ञान होकर आत्म-कल्याण में लग जाना यही सार्थक जीवन का प्रतीक है। अब हम अपने जीवन के एक क्षण को भी इससे इतर व्यवहार द्वारा व्यर्थ नहीं होने देगे। राज-वैभव, सत्ता, राज्याधिकार, राजसी वैभव और सुख सव असार हैं। कदली के तने से छाल की परतें उतारते चलें कि भीतर सार मिलेगा, किन्तु निराशा ही हाथ लगती है। संसार का स्वरूप भी ऐसा ही है। विवेकशीलता इसके त्याग में है–इसमें ग्रस्त रहने में नहीं। रानी अनंगसेना का यह हमारे प्रति महान् उपकार है, उन्होंने समय रहते ही सन्मार्ग की प्रेरणा दी है।'

शुभ संकल्प ने महाराज भर्तृहरि को एक स्फूर्ति, एक उत्फुल्लता प्रदान की। भटके मनुष्य का गन्तव्य तक पहुँचने का मार्ग मिल जाने पर उत्साहित होना स्वाभाविक भी है। इसी उमंग मे महाराज आसन त्यागकर उठे। उनका यह उठ-खड़े होना उनके आत्मिक उत्थान का समारंभ था। इस दिव्य अनुभूति ने उनका मस्तक और भी उन्नत कर दिया, वक्ष चौड़ा हो गया और अद्भुत स्फूर्ति से वे तन गये। जीवन की सार्थकता की दिशा जो उन्हें मिल गयी। अब वे स्व-पर के भेद से ऊँचे–बहुत ऊँचे उठ गये थे और सर्वत्र उन्हें एक अपूर्व शान्ति का अनुभव होने लगा। शुभ संकल्प के आते ही मनःतुष्टि का आनन्द अनुभव होने लगता है। संकल्प-पूर्ति पर तो अलौकिक सुख का स्वप्न ही साकार हो जाता है।

महाराज भर्तृहरि बाहर से और अन्य जनों के लिए इस क्षण में भले ही राजभोगी राजेश्वर थे, किन्तु भीतर से वे योगी हो गये थे। यही रूप, तपश्चर्या और आध्यात्मिक साधना उनके जीवन का परमोच्च लक्ष्य था–यही देह-धारण का ध्येय था। इसे पहचानकर उन्होंने दृढ़तापूर्वक अपना लिया था। महाराज जब महारानी अनंगसेना के कक्ष में पहुँचे तो तब तक उनका अनुरागी मन विरागी हो चुका था। महारानी ने अभिनन्दनपूर्वक सस्मित स्वागत किया और प्रत्युत्तर में महाराजश्री मौन बने रहे। गंभीरतापूर्वक उन्होंने कोमल वाणी में ही प्रश्न किया–"हमने आपको अमरफल दिया था, उसका क्या हुआ?"

"इष्ट आराधना के पश्चात् हमने उस फल का सेवन कर लिया, स्वामी ! हमें अद्भुत सक्रियता का अनुभव होने लगा है।" रानी अनंगसेना ने उत्तर में सविनय निवेदन किया।

महाराज भर्तृहरि ने मुस्कराते हुए कहा–"तब तो उन विप्रवर ने अमरफल की समस्त विशेषताएँ हमें नहीं बतायीं। वह फल चिर आयुष्य और असमाप्य यौवन का ही दाता नहीं है; उसमें यह विशेषता भी है कि जो व्यक्ति यह फल दूसरे को सेवन के लिए देता है, दूसरे के सेवन कर लेने पर भी वह यथावत् पुनः उस व्यक्ति के पास लौट आता है जिसने उसे दिया था।" यह कहते हुए महाराज ने अमरफल की वही लाल थैली अपने कटिबंध से निकालकर महारानी के समक्ष रख दी। "बड़ा ही चमत्कारी फल है...... हँ...... हँ...... हँ। आज राजगणिका यह अमरफल हमें लौटा गयी। उसे उसके घनिष्ठ प्रेमी नगर-रक्षक ने यह फल दिया था। यही हमने आरंभ मे आपको दिया था।" कुछ पलों के विराम के पश्चात् महाराज ने कहा–"इस प्रसंग में चर्चा करना ही व्यर्थ है कि फल नगर-रक्षक के पास कैसे पहुँचा। सब-कुछ स्पष्ट है।"

रानी अनंगसेना तो अपने पाप के उद्घाटन से विचलित हो गयीं। उनकी सारी देह क्षणभर में ही रक्तहीन, पीतवर्णी हो गयी। वे पीपल-पातवत् काँपने लगीं।

उनकी ऑखें कान्तिहीन होकर सजला हो उठीं। महाराज ने उन्हें आश्वस्त किया– "निर्भय हो जाओ, अनंगसेना ! हमसे तुम्हारा कोई अहित न होगा। तुमने हमारी मोह-निद्रा भंग कर दी है, हमें जाग्रत कर दिया है ...... इस हेतु हम तो तुम्हारे आभारी हैं। तुमने हमें सोदाहरण यह शिक्षा दी है कि यह जगत् मिथ्या है, असार है और अर्थहीन हैं सारे नाते-रिश्ते। कोई किसी का कुछ भी नहीं। मनुष्य एकाकी है और निस्संग रूप में ही वह अपने जीवन को सफल और प्रयोजनपरक वना सकता है। प्रेम सबसे बड़ा भ्रामक छलावा है, एक सरस मोह है, मधुर विष है। तुमने, अनंगसेना ! हमारी ऑखें खोल दी हैं। हम उपकृत हुए।"

अनंगसेना अत्यन्त लज्जित थीं। उनकी सारी देह सिकुडकर गठरी-सी हो गयी। मस्तक झुक गया और दृष्टि में वह ताब शेप न रहा कि महाराजश्री की ओर वे देख भी सकें। आर्द्र वाणी में वे क्षमा-याचना करने लगीं। उन्हें बरजते हुए महाराज ने कहा–"इस सब का यह समय नहीं है, न ही इसकी कोई आवश्यकता है। तुम अपने जीवन को मनचाहा स्वरूप देने को स्वतंत्र हो। हम तो हमारा निश्चय तुम्हें जताने को आये हैं। हमने गृह त्यागकर संन्यस्त होने का संकल्प कर लिया है। हम योग धारण कर इस असार-संसार से विरक्त हो जायेंगे .... अभी .... इसी क्षण।" यह कहते हुए महाराज ने अपना स्निग्ध, मूल्यवान उत्तरीय उतारकर एक ओर रख दिया। रत्नजटित स्वर्णाभूषणों का एक-एक कर परित्याग कर दिया। समय के इस वीभत्स परिवर्तन से रानी अनंगसेना हतप्रभ हो गयीं। उन्होंने अनुनय-विनयपूर्वक महाराज को मनाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु सच्चे त्यागी भर्तृहरि ने अप्रभावित रहकर इस सब की अनदेखी कर दी। जब रानी ने उनके चरण पकड़ लिये तो अवाक् रहकर ही कोमलता के साथ वे पीछे हटे और त्वरा के साथ मुड़कर चल दिये–"अलख .... निरंजन" का स्वर गूँज उठा। इसी उच्चारण के साथ महाराज भर्तृहरि कक्ष से बाहर हो गये।

पवन-वेग के साथ समस्त अवन्ती में यह समाचार व्याप्त हो गया कि महाराज भर्तृहरि गृह त्यागकर योग धारण कर रहे हैं। राजभवन के बाहर जनसमूह आकुल-व्याकुल दशा में एकत्र हो गया। अमात्य जन, सामन्तगण सभी हड़बड़ा गये–यह सहसा क्या हो गया ! महाराजश्री ने ऐसा निश्चय क्यों कर लिया ! अब मालव-राज्य का क्या होगा ......! इसी समय योगी भर्तृहरि राजभवन के मुख्य द्वार पर पहुँच गये। तन पर चोला और रुद्राक्ष मालाएँ भुजाओं, कलाइयों और कंठ में धारण किये, खड़ाऊँ पहने योगिराज भर्तृहरि जव अपने श्रद्धालुओं के मध्य पहुँचे तो कातर स्वर में जनसमूह जय-जयकार कर उठा। योगी भर्तृहरि ने सभी को सम्वोधित करते हुए कहा–"यह शोक और विषाद का प्रसंग नहीं है, निराशा और दुःख का भी नहीं। अव तक मैं कुछ लोगों का था और कुछ ही लोग मेरे थे। अपने स्वजनों की परिधि का मैंने विस्तार किया है–सारे जगत्, प्राणी मात्र

का हितैषी हो गया हूँ मैं। व्यक्ति-विशेष से रागात्मक संबंध तो मोह है और मोह दुःखजनक होता है। मैं चिर सुख और शान्ति के मार्ग पर आरूढ़ हो गया हूँ। संकीर्ण प्रेमपाश से मैं मुक्त हो गया हूँ। स्त्री, सन्तति, धन, अधिकार–ये सभी आत्मिक उत्थान की साधना में बाधक होने वाले तत्त्व हैं। मनुष्य जितना ही शीघ्र इनसे मुक्त हो–उतना ही श्रेयस्कर है। एक विप्र ने मुझे देह की आयु दीर्घ कर देने वाला अमरफल दिया था। उसी ने मुझे आत्मा की अमरता का मार्ग दिखा दिया है। अब मैं मोक्ष–कामी, मुक्ति-मार्ग का पथिक हूँ, वीतरागी के पथ का पथिक हो गया हूँ। मुझे रोकने का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। मंगल कामना करो मेरे लिए। सभी का कल्याण हो ! सभी सन्मार्गी बनें !!" यह कहते हुए योगी भर्तृहरि ने हाथ उठाकर पुकार लगायी–"अलख······" और त्वरा के साथ आगे बढ़ गये। अश्रु प्रवाहित करती जनता के हाहाकार और चीत्कारों से अप्रभावित वे अग्रसर होते चले गये। जन-समूह विलाप करता देखता रह गया।

× × ×

और इस प्रकार राजसिंहासन रिक्त हो गया। युवराज विक्रमादित्य तो पूर्व ही में अवन्ती त्यागकर चले गये थे। उनकी खोज में असफल होकर ही श्रीपति को नव-नरेश के रूप में अधिष्ठित किया गया। इस उपक्रम का भी जो परिणाम घटित हुआ वह समग्र मालव-देश के लिए चिन्ता का प्रबल कारण बन गया था। सर्वत्र निराशा का सघन वातावरण था। दुर्भाग्य के घने मेघ छा गये थे और कहीं से कोई आशा की किरण भी दृष्टिगत नहीं होती थी। श्रीपति महाराज की जो नियति हुई थी, उससे सभी आतंकित रहते थे। महामात्य बुद्धिसागर तथापि निष्क्रिय नहीं हुए। एक के पश्चात् एक चार शूरवीर, साहसी युवकों को उन्होंने सिंहासनारूढ़ किया और सभी को आगामी भोर में मृत पाया गया। अब तो इसे मालव पर आयी दैवी विपत्ति ही माना जाने लगा। मालव के भाग्य में क्या बदा है ! क्या कोई समाधान नहीं······ इस वीभत्स परिस्थिति से बाहर निकलने का क्या कोई मार्ग नहीं ! दैवी विपत्ति से मुक्ति के लिए सभी वन्दन, आराधन, दान-पुण्य करते, मनौतियाँ मानते। सभी की एक ही कामना थी कि मालव को एक कुशल शासक का संरक्षण मिल जाये।

ऐसी ही परिस्थिति में एक क्षत्रिय नवयुवक समरवीर आगे आये। प्राणों का भय त्यागकर उन्होंने मालव-देश की सेवा का बीड़ा उठाया। उन्हें आत्म-विश्वास था कि दैविक विपत्ति ही चाहे क्यों न हो, वे सभी बाधाओं को परास्त कर देंगे। सर्वथा अपरिचित समरवीर को भी यह अवसर देने में सामन्तगण किसी प्रकार की हिचक का अनुभव नहीं कर रहे थे। सभी को इनकी साहसिकता और पराक्रम पर विश्वास भी हो गया था। राजसी परम्परानुसार विधिवत् इनका राजतिलक हो गया। शयन-कक्ष में पहुँचकर महाराज समरवीर का साहस और भी ८

गया। अपनी खड्ग सँभालकर वे शय्या पर बैठे रहे। अर्द्ध-रात्रि के समय वे और भी सन्नद्ध हो गये, किन्तु सहसा ही उन्हें निद्रालस्य अनुभव हुआ। वे विश्राम की मुद्रा में तनिक लेट-से गये। कुछ ही पलों में उनकी पलकें मुँद गईं और वे निद्राधीन हो गये। उसी समय मुख्य द्वार की अर्गला स्वतः ही खुली और द्वार के कपाट खुल गये। बाहर से विशाल धूम्र-समूह प्रविष्ट हुआ और द्वार वन्द हो गया। स्वतः ही अर्गला पुनः लग गयी। श्यामल धूम्र-समूह सारे कक्ष में व्याप्त हो गया और तीव्र हुँकारें होने लगीं। भयावह रूप से धूम्र एक स्तम्भ के रूप में संगठित हो गया। सदर्प हुँकारें और भी कठोर और तीव्र होती चली गयीं। धूम्र स्तम्भ का शिखर जैसे द्रवित होने लगा और भीतर का विकराल देव दृश्यमान होने लगा। अग्नि स्फुलिंग बिखराते विशाल आरक्त नयन ही भयातुर करने को पर्याप्त थे। मुख अपनी समस्त कठोरता के साथ दिखायी देने लगा। धूम्र-समूह निम्न से निम्नतर होता चला जा रहा था और अग्निवेताल का भीमकाय स्वरूप स्पष्ट होता चला जा रहा था। वृषभ-स्कंध, वलिष्ट-मॉसल भुजाएँ, सुदृढ़ वक्ष, अपेक्षाकृत क्षीण कटि प्रदेश और आरक्तवर्णी अधोवस्त्र। वेताल का यह विकराल रूप सूने कक्ष में भी भय और आतंक का वातावरण निर्मित करने लगा। घोर गर्जना कर उसने सुषुप्त नरेश को जाग्रत करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे और भी अधिक गहन निद्रा में निमग्न हो गये। करवट बदलकर उन्होंने अपना मुख अन्य दिशा में कर लिया। अग्निवेताल लपककर उसी दिशा में चला गया और विकट उत्पात मचाने लगा। जब उसके सारे प्रयत्न विफल हो गये तो वह भयानक रूप से क्रुद्ध हो गया। उसने अपने पैने दॉत महाराज समरवीर के पैर के अंगूठे में गड़ा दिये और रक्त शोषण करने लगा। अघाकर उसने जब अपना मुख ऊपर को किया तो उसकी मुद्रा में तृप्ति का भाव था और महाराज का कान्तिहीन, पीत, मृत देह सर्वथा अचल हो गया था। अपनी इस विजय पर अग्निवेताल अत्यन्त गर्वित हुआ। प्रचण्ड गर्जना के साथ वह बड़ी देर तक नृत्य करता रहा। सहसा वह रुका और मृत देह को शय्या से नीचे लुढ़काकर उसने जोर से हुँकार भरी। उसने तब घूरते हुए शव को देखा, पदाघात किया, अपनी विशाल भुजाओं को उठाकर जैसे ऊपर उछलने का प्रयत्न करने लगा और तभी वह धूम्र-समूह में परिवर्तित हो गया—यह धूम्र-समूह एक बार कक्ष में चक्कर लगाकर बद्ध वातायन के समीप पहुँचा और तिरोहित हो गया। अग्निवेताल की इस क्रूर लीला का भेद अब भी रहस्य बना रहा। शोक-मग्न जन को आगामी भोर में वही दुःखद स्थिति मिली, जो अव तक उन्हें मिलती रही थी। सर्वत्र उदासी छा गयी। असहाय सामन्तों के लिए पुनः एक ही विकल्प शेष रह गया था कि किसी प्रकार युवराज विक्रमादित्य की खोज की जाय। पुनः सघन रूप में प्रयत्न आरंभ कर दिये गये।

● ●

अवन्ती त्यागकर युवराज विक्रमादित्य उद्विग्न मन के साथ उद्देश्यहीन विचरण करते रहे। ग्राम-नगर पार करते वे निरन्तर अग्रसर होते चले। अवधूत वेश में उनका क्षत्रियत्व प्रच्छन्न रूप से झलक ही जाता था। उनके नेत्र विशाल और तेजपूर्ण थे। बलिष्ट देह और उन्नत कांतिपूर्ण भाल, आजानु बाहु और प्रशस्त वक्ष–उनके इस भव्य व्यक्तित्व से सभी प्रभावित होते और उनके विषय में सोच-विचार करने को स्व-प्रेरित होते थे। दर्शक सोचते–ये महाराज सामान्य अवधूत नहीं हैं..... अवश्य ही इनका सम्बन्ध किसी उच्च क्षत्रिय-कुल से होना चाहिए..... कैसी तो तेजस्विता है.... हो-न हो किसी मानसिक संताप के कारण इन्होंने वैराग्य धारण कर लिया है....।

अवधूत रूप में विक्रमादित्य का व्यक्तित्व इतना भिन्न हो गया था कि उनकी युवराज वाली पहचान तो सर्वथा लुप्त ही हो गयी थी। लम्बी केश-राशि और अभिवर्धित दाढ़ी ने भी उनके वास्तविक स्वरूप को लुप्त रखने में पर्याप्त योगदान किया। उनका मानसिक उद्वेलन कभी उनका पीछा नहीं छोड़ता..... इसी के रहते उनकी मुख-मुद्रा में अत्यन्त गहन गम्भीरता विद्यमान रहा करती थी। उनकी गति में अद्‌भुत तीव्रता का व कार्यकलापों में त्वरा के दर्शन होते थे। उनका मन शान्त ही नहीं रह पाता था और यही अशान्त मन तन को भी सक्रिय रखा करता था। वे लम्बे-लम्बे चरण भरते हुए चलते रहते और सोचते रहते–'अग्रज महाराज ने मुख न दिखाने के निर्देश के बहाने मुझे निष्कासित ही किया है, किन्तु किस अपराध के कारण.....! क्या दोष हुआ मुझसे ! क्यों पितृवत् अग्रज महाराज मुझसे रुष्ट हो गये? उनका स्नेह और वात्सल्य ही तो मेरा पोषक रहा, मातृसम भाभी का कितना निर्मल स्नेह प्राप्त होता रहा। वे सोचते कि प्रत्युत्तर में मैंने भी कभी आदर भाव में कमी नहीं आने दी। सच्चे मन से मैंने उनके प्रति श्रद्धा की। फिर क्यों यह परिणाम..... । संभव है अनभिज्ञता के साथ मुझसे ही कोई अपराध हो गया हो। वे कभी इस प्रकार सोचने लगते कि अग्रज महाराज तो निमित्त मात्र ही रहे हैं–परिणाम तो यह मेरे कर्मों का है, अशुभ कर्म के परिणाम मंगलमय हो भी कैसे सकते हैं। पूर्वकृत कर्म कभी निष्फल नहीं होते..... [illegible] शुभाशुभ परिणाम अवश्यंभावी होते हैं। इन पर किसी का कोई वश नहीं [illegible] क्या यही नियति और प्रारब्ध है, क्या इसी..... ।'

इनकी आन्तरिक उद्विग्नता कुछ नैसर्गिक सौन्दर्यपूर्ण वातावरण [illegible] जाया करती थी। सरिता के प्रवाह में उनकी अशान्ति बहकर [illegible]

करती। शीतल-मन्द-सुगंधित पवन उनके उत्ताप को शान्त कर देता। दूर-दूर तक फैली हरियाली से उनका मन हर्षित हो उठता और मुस्कराते-झूमते पुष्पों को देखकर उनके जी की कली ही खिल जाती थी। सुरम्य वनों में उनके दीर्घकालिक प्रवास रहा करते। वन्य फलों का आहार करते, प्रपातों-स्रोतों के शीतल-निर्मल जल का पान करते और अपनी आन्तरिक वेदना को विस्मृत कर वे प्रहरों तक प्रकृति की शोभा को निहारते रह जाते थे। वन-मार्ग में इसी लोभ के वशीभूत उनकी गति अपेक्षाकृत मन्थर हो जाया करती थी। ऐसे ही शान्त निर्जन वन में सुखद विचरण करते हुए एक दिन उस समय अवधूत आश्चर्यचकित रह गये जव उन्हें समीप से ही कहीं से वीणा की सुमधुर झनकार सुनायी दी। उनके भीतर का कलाकार जाग्रत हो गया। वे उन दिनों की स्मृतियों में खो गये जव ये दोनों बन्धु संगीत की साधना में रत रहा करते थे; जव उन्हें मधुर गायन के लिये अपार यश मिला करता था। वीणा की ध्वनि का अनुसरण करते हुए वे ध्यानमग्न-से अग्रसर होने लगे। शीघ्र ही वे प्रकृति की क्रोड़ में बसे एक आश्रम के समक्ष पहुँच गये। अवधूत को अब विश्वास हो गया कि वे तो यशस्वी संगीताचार्य के आश्रम में आ गये हैं। इस आश्रम की बड़ी कीर्ति रही थी। मंत्रमुग्ध-से होकर उन्होंने आश्रम में प्रवेश किया। लगभग एक वर्ष पश्चात् जब वे आश्रम से बाहर निकले तो उनके व्यक्तित्व में एक नया तत्त्व जुड़ गया था—वे दक्ष संगीतज्ञ, कुशल गायक हो गये थे। इस समस्त अवधि में अवधूत ने संगीत की गहन साधना की, विभिन्न राग-रागिनियों की उपासना और अभ्यास उन्होंने लगन और दत्तचित्तता के साथ किया। आचार्यश्री की मंगलाशिष से अपने अभ्यास-श्रम की अग्नि में तपकर अवधूत संगीत के खरे स्वर्ण से दमक उठे।

अवधूत तो यायावरवृत्ति के थे। विचरणशीलता ही उनका स्वभाव और नियति बन गयी थी। संगीत की इस अनुपम उपलब्धि को सँजोये वे पुनः अपने उद्देश्यहीन विचरण के क्रम में प्रविष्ट हो गये। विरक्त जनों को जैसे अपने विगत घर-परिवार की परिस्थितियों का न तो ज्ञान होता है, न इसके लिए वे जिज्ञासु होते हैं। अवन्ती और अपने कुल के सम्बन्ध में अवधूत भी इसी प्रकार निरपेक्ष बने रहे। उन्होंने कभी यह ज्ञात करने का प्रयत्न ही नहीं किया कि उनके पीछे से अवन्ती में क्या-कुछ घटित हुआ है। कभी-कभी क्षीण-सा यह आभास उनके मानस में झलक दे जाता कि अग्रज महाराज भर्तृहरि सर्वभाँति सक्षम एवं सुयोग्य हैं। उनके शासन में सर्वत्र कुशल-मंगल ही होगा। कभी-कभी तो उन्हें यह भी बड़ी गहनता के साथ अनुभव होता कि मैं अवधूत जीवन अंगीकार तो कर चुका हूँ किन्तु क्या हम क्षत्रियों को ऐसा निष्क्रिय और उपलब्धिहीन जीवन शोभा देता है ! पुरुपार्थ ही तो क्षत्रियों का संवल है। मैं तो किसी न किसी रूप में पराश्रित हो गया—यह उपयुक्त नहीं। योगीजनोचित जीवन पराक्रमियों और प्रतापियों के लिये नहीं वना। क्या मैं किसी राज्य में, किसी नगरी में रहकर संगीत के आश्रय से

आजीविका अर्जित नहीं कर सकता ! मगध की राजधानी राजगृह, वैशाली, विशाखा, रत्ना आदि अनेक नगरियों में ऐसे अनेक सुअवसर सुलभ हो सकते हैं। सिंह अपने पुरुषार्थ से ही जीवित रहता है, स्वयं आखेट करके ही उदरपूर्ति करता है। पराखेट से पेट नहीं भरता। इसी आदर्श से मनुष्य मात्र अपने गौरव और आत्म-सम्मान की रक्षा कर सकता है। चन्द्रावती नगर को देखा तो अवधूत का मन-मयूर ही जैसे नाच उठा। मातृभूमि का आकर्षण, देश के प्रति ममत्व विदेश में जाकर और भी अधिक प्रबल हो उठता है। यह देश-प्रेम के सजीव रहने का प्रमाण होता है। ऐसी सुन्दर, स्वच्छ और व्यवस्थित नगरी ने उन्हें अपनी अवन्ती की सहज ही स्मृति करा दी और वे सहसा आकुल-से हो उठे। उन्होंने अपने सिर को एक झटका दिया। उनकी घुँघराली केश-राशि लहरा उठी। यह मानो उन स्मृतियों को बलपूर्वक छिटका देने का प्रयत्न था। उनका प्रयत्न सफल भी रहा। वे कुछ ही पलों में सामान्य हो गये और तीव्र गति से अग्रसर हो गये। यथासंभव शीघ्रता के साथ वे चन्द्रावती नगरी को पार कर दूर निकल जाना चाहते थे।

रमणीक वन-मार्ग आ जाने पर उन्हें हार्दिक प्रसन्नता होने लगी। पर्याप्त लम्बे मार्ग पर चलते-चलते उन्होंने विस्तीर्ण वन-प्रदेश को पार किया और उन्हें गायें चरती दिखायी दीं। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि कोई नगर अब समीप ही है। उनकी जिज्ञासा प्रवल होने ही लगी थी कि उन्हें कुछ दूरी पर उच्च अट्टालिकाएँ दिखायी दीं। दूरस्थ नगर के दर्शन ने ही उनके मानस को सक्रिय कर दिया। वार-बार यही प्रश्न उनके मन में गूँजने लगा—'क्यों मुझे अग्रज महाराज ने त्याग दिया ! क्यों निष्कासन-दण्ड दिया गया मुझे ! मैं उनका प्रतिद्वंद्वी तो था नहीं। मेरे पिता-तुल्य महाराज को यह आभास भी नहीं हो सकता कि मैं राज्य-प्राप्ति का महत्त्वाकांक्षी हूँ। मेरा बल-विक्रम भी उनको आतंकित करने वाला कभी नहीं रहा। फिर मुझे किस अपराध में ...... ।' यही सब-कुछ सोचते-सोचते अवधूत ने नगर-प्रवेश किया। सुन्दर और भव्य नगर-द्वार से ही वे अत्यन्त प्रभावित हो गये। द्वारपाल ने नमनपूर्वक प्रणाम किया तो उन्हें लगा कि नगर अवश्य ही सुसभ्य होना चाहिए। वे ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये, उन्हें यह विश्वास होता गया कि यह नगर मेरे लिये अवश्य ही सहायक सिद्ध होगा। इस नगर से मुझे कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होगी। इस नगर का नाम स्तंभनपुर है—कुछ ही पलों में उन्हें यह भी ज्ञात हो गया। इस नगर का अवलोकन तो उन्होंने प्रथम बार ही किया, किन्तु स्तंभनपुर के विषय में वे पूर्व से ही वहुत-कुछ जानते थे। उन्हें ज्ञात था कि प्रस्तुत नगर अनेक सांस्कृतिक व ऐतिहासिक कलात्मक दृष्टि से विख्यात है। धनाढ्य श्रेष्ठियों का यह नगर व्यावसायिक दृष्टि से अत्यन्त उन्नत है। उन्होंने स्वयं देखा कि बाजार भीड़-भरे थे और क्रय-विक्रय का ऐसा क्रम चल रहा था मानो यह अनन्त थे। अवधूत स्तंभनपुर नगर के जिस किसी भी पथ पर होकर निकले—उन्होंने पाया कि सर्वत्र धन-धान्य है, वैभव-विलास है, सुख-शान्ति है। उन्हें हार्दिक तोष हुआ और

प्रसन्न मन, सस्मित मुद्रा में वे अग्रसर होते चले गये। इनके दीप्त, तेजस्वी व्यक्तित्व से जनता बहुत प्रभावित थी। जिसने भी इनके दर्शन किये, वे झुककर प्रणाम करते रहे और ये हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हुए आगे बढ़ते गये। अनेक जन चरण स्पर्श कर स्वयं को धन्य मानने लगे तो कुछ अवधूत के प्रभावशाली व्यक्तित्व के दर्शन में ही ऐसे खो गये कि अपलक नयनों से ताकते ही रह गये। 'ये महात्मा कौन हैं? कहॉ से आये हैं ये ...... ।' इस प्रकार के स्व-निर्मित प्रश्नों में वे उलझ जाते और महात्मा आगे निकल जाते। ऐसी स्थिति में उन लोगों के मन में एक कसक रह जाती। हम भी चरण स्पर्श तो कर ही लेते। जनता की श्रद्धा भावना से अवधूत बहुत प्रभावित हुए। सोचने लगे–'इस राज्य की उन्नति का यही रहस्य है। जिस समाज में संतों और गुणी जनों का सम्मान होता है उसका उत्कर्ष होता है, जिसमें यह विशेषता नहीं होती उसका उत्थान रुक जाता है और जिस समाज में इनका अनादर होता है वह तो रसातल में पहुँच जाता है।' अवधूत सोचते जा रहे थे और आगे बढ़ते जा रहे थे। कुछ लोग उनका अनुसरण करने लगे, उनकी जय-जयकार करते पीछे-पीछे चलने लगे। महाराज की जय ..... महाराज की जय ..... का घोष उच्च्य से उच्च्यतर होने लगा। तब अवधूत का ध्यान भी उस ओर गया। वे पीछे मुड़कर खड़े हो गये और हाथ उठाकर उन्होंने सभी को आशीर्वाद दिया–"कल्याण हो ..... ! सभी का कल्याण हो !" लोगों ने करबद्ध नमन कर लिया। तब हाथ के संकेत से ही अवधूत महाराज ने सभी को बिखर जाने, अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होने को प्रेरित किया और स्वयं आगे बढ़ गये। समीप ही एक व्यावसायिक प्रतिष्ठान पर क्रेताओं का समूह एकत्र था। उन्होंने इस अद्‌भुत दृश्य को देखा और चकित रह गये। महात्मा के दर्शनों से वे भी कृतार्थ हो गये। नमनपूर्वक वे 'पहुँचे हुए महात्मा' की मन ही मन प्रशंसा करने लगे। उनमें से एक श्रेष्ठी आगे बढ़ा और झुककर पुनः प्रणाम निवेदन किया। श्रद्धाभिभूत होकर उसने अपनी कटि से पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ निकालीं और विनती की कि महाराज इस दीन, अकिंचन की सेवा स्वीकार कर धन्य कर दीजिये, प्रभो ! और हथेली पर रखी मुद्राएँ आगे को बढ़ा दीं। अवधूत ने अस्वीकृति के आशय से हाथ हिला दिया। उनकी दृष्टि भी स्वर्ण की ओर नहीं गयी। श्रद्धालु श्रेष्ठी तथापि निराश नहीं हुआ। उसने मुद्राऍं महात्मा के श्रीचरणों में अर्पित कर दीं–"प्रभो ! यह भेंट तो स्वीकार करनी ही होगी।" अवधूत अविचल रूप में आगे बढ़ गये– "हम साधु हैं ..... स्वर्ण से हमारा क्या नाता। कल्याण हो।" मुद्राएँ भूमि पर पड़ी रह गयीं। अवधूत आगे निकल गये। श्रेष्ठी ने महात्मा जी का प्रसाद मानकर मुद्राएँ अपने पास रख लीं। ये उसके लिए अमूल्य निधि हो गयीं। जनता ने भावाभिभूत होकर जयघोष किया। निरपेक्ष, निरीह, निर्लिप्त भाव से अवधूत अपने में मगन अग्रसर होते चले गये।

× × ×

अवधूतवेशी विक्रमादित्य ने अब तक अपने लिए कुछ नियम स्वयं ही गठित कर लिये थे। वे किसी वस्तु के लिए किसी से याचना नहीं करते, भिक्षा नहीं लेते, दान ग्रहण नहीं करते थे। उन्होंने निश्चय किया था कि वे किसी के अनुरोध पर केवल आहार ग्रहण करेंगे और किसी भी आवश्यक वस्तु का भी संचय नहीं करेंगे कि भविष्य में इसका उपयोग होगा। सूर्यास्त के पश्चात् वे अन्न-जल ग्रहण ाहीं करेंगे। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुरूप उनकी एक आदर्श जीवन-शैली रूपायित हो गयी थी और इस जीवनस्वरूप पर उनको संतोष भी था। इन आदर्शों में क्षत्रियोचित गौरव और साधुत्व दोनों का संतुलित निर्वाह हो जाता था। उनकी आवश्यकताएँ सीमित, आकांक्षाएँ शून्य थीं। अतः इनका अनुसरण भी सुगम हो जाता था। वे त्यागी और निष्काम हो गये थे। कदाचित् यह विशेषता भी एक कारण थी कि वे जहाँ भी जाते उनका सम्मान होता, उनके प्रति जनमानस में श्रद्धा का भाव उमड़ पड़ता।

स्तंभनपुर के इस रमणीक नगर के विभिन्न प्रमुख–गौण पथों पर चलते-चलते वे एक ऐसे क्षेत्र में पहुँच गये जो अपेक्षाकृत कम ही जन-संकुल था। यहाँ पहुँचकर अवधूत महात्मा को कुछ शान्ति का अनुभव हुआ। मार्ग में ही खड़े रहकर उन्होंने मानो संतोष की साँस ली और अपने आसपास चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखा। अधिकतर रिक्त भूमि दिखायी दी। इक्का-दुक्का ही कोई व्यक्ति दिखाई दे जाता था। एक ओर कुछ दूरी पर साधारण-से मकान भी दिखायी दिये। दूसरी ओर एक देवालय के समक्ष खुला स्थल था। वहीं एक वृक्ष के नीचे बहुत-से लोग बैठे थे। एक व्यक्ति जो पंडित-जैसा प्रतीत हो रहा था, एक ऊँचे स्थल पर बैठा था। सामने इतने लोगों को बैठा देखा तो महात्मा का अनुमान हुआ कि संभवतः कथा चल रही है। मन में जिज्ञासा जागी और वे भी उसी ओर चल दिये। समीप के एक अन्य वृक्ष के नीचे खड़े अवधूत ने देखा कि यह पंडित तो कोई ज्योतिषी है। वह न कुंडली देखता है न ही हस्तरेखा, कोई गणना भी नहीं करता। वह केवल मुखाकृति को ध्यानपूर्वक कुछ क्षणों तक देखता है और तब उसके भविष्य को वर्णित कर देता है। केवल इसी पद्धति से वह बारी-बारी से लोगों के प्रश्नों का उत्तर देता है, उनकी समस्याओं का निदान कर देता है। इस ज्योतिषी को देखकर ग्वधूत के मन में एक अपूर्व अपनत्व की अनुभूति होने लगी। उनका चित्त उसकी ओर आकर्षित हुआ। वे मौन खड़े उसके कार्यकलाप देखते रहे, प्रभावित होते रहे। उनके विरागी मन में भी ज्योतिषी के प्रति स्नेह की भावना अंकुरित होने लगी। इस पर नियंत्रण पाने के प्रयोजन से उन्होंने उस स्थल से प्रस्थान किया। पगडंडी इस जनसमूह के पास होकर ही बाहर के मुख्य मार्ग तक जाती थी। वे उसी पर ढ़ चले। अब तक अवधूत की उपस्थिति से अनभिज्ञ रहे ज्योतिषी का ध्यान हसा उनकी ओर गया। वह प्रथम दर्शन से ही अभिभूत हो गया। अवधूत

प्रथम दर्शन ही उसके मानस में विचित्र-सी अनुभूति जगाने लगा। यह क्या ····· ये पराक्रम-पुँज, तेजस्वी महापुरुष यहाँ कैसे !! ज्योतिषी ने शेष कार्य कल के लिये छोड़ दिया और उठ खड़ा हुआ।

तब तक अवधूत पगडंडी पर कुछ आगे बढ़ चले थे। उनकी गति में भी तीव्रता आ गयी थी। इधर चिन्तन-मनन ने ज्योतिषी को कुछ शिथिल भी कर दिया था। उसने अवधूत को पीछे से देखा, चाल से कुछ अनुमान लगाया कि अवश्य ही ये कोई पहुँचे हुए संत हैं। असाधारण प्रतिभा के धनी ये महापुरुष तो ······। सोचते-सोचते ज्योतिषी के मन में श्रद्धा जागी और प्रबलतर होने लगी। उसने त्वरा के साथ अवधूत का अनुगमन किया। कुछ दूरी से ही उसने पुकार लगायी–"जय हो ······ महात्मा जी की जय हो।" अवधूत ने पीछे मुड़कर तो नहीं देखा, किन्तु वे गति-मंद हो गये। दो-एक डग चलकर ही वे थम गये। ज्योतिषी लपककर उनके समक्ष आ खड़ा हुआ। नमन-वन्दन कर उसने निवेदन किया–"महाराजश्री के दर्शन पाकर मैं धन्य हो गया, महाप्रभो ! ऐसा तेज मैंने किन्हीं महात्मा में नहीं देखा ···· आशीर्वाद प्रदान कीजिए, स्वामी !"

"कल्याण हो, मित्र !" हाथ उठाकर अवधूत ने आशीर्वाद दिया और तब स्वयं अपनी वाणी पर ही वे आश्चर्यचकित रह गये। यह वास्तव में उनकी अन्तर-आत्मा का स्वर था जो अपनी सम्पूर्ण सहजता के साथ मुखरित हो गया था। 'मित्र' का सम्बोधन पाकर वह ज्योतिषी ब्राह्मण तो धन्य ही हो गया। गद्गद होकर उसने कहा–"महाराज ! मित्र कहा है तो मैत्री भी निभाइये। मित्रों में परस्पर कोई भेद, कोई गोपन नहीं रहता। आपकी मुखाकृति देखकर मैं बड़ा प्रभावित हुआ हूँ। कृपाकर मेरी जिज्ञासा को तुष्ट कीजिये। किस कुल से आपका सम्बन्ध है और आप किस देश के रहने वाले हैं? आपका आश्रम कहाँ है?"

"हम तो फक्कड़ यायावर हैं, परिव्राजक साधु हैं। हमारा कोई देश नहीं और यह समस्त चराचर जगत् हमारा घर है–प्राणी मात्र हमारे परिजन हैं, स्नेही हैं।" अवधूत ने सस्मित उत्तर दिया। इस विशाल हृदयता से वह ज्योतिषी बड़ा प्रभावित हुआ, किन्तु उसकी जिज्ञासा अतुष्ट रह गयी। उसने फिर पूछा–"यह तो आपकी महाशयता है, महात्मा जी ! किन्तु आकृति-विज्ञान का अनुभव मुझे यह बता रहा है कि आप अवश्य ही किसी उच्च कुल के हैं। आप किस घराने से ·····?"

"यह सारी धरती हमारा घर है, ज्योतिषी ! अपने घर का पूरा परिचय पाने के लिए ही हम निकले हैं। आज यहाँ ···· कल वहाँ ····· चलते चले जाते हैं। नदी के प्रवाहित जल का भी क्या कोई ठिकाना होता है। हम तो वैसे ही घुमक्कड़ और ···· ।"

"फिर भी कुछ परिचय तो दीजिए, महाराज ! आपका शुभ नाम?" ज्योतिषी ने निहोरे लेते हुए पूछा और उत्सुकतापूर्वक अवधूत के मुख की ओर निहारने

लगा। अवधूत मंथर गति से आगे बढ़ने लगे। ज्योतिषी भी साथ-साथ चलने लगा। धरती की ओर देखते हुए अवधूत ने पूछ लिया–"तुम्हारा क्या नाम है?"

"महाराज ! इस अकिंचन को तो भट्टमात्र कहा जाता है। आकृति-विज्ञान का अभ्यास करता हूँ। लोगों के मुख-मण्डल का अध्ययन कर उनके भविष्य बताता हूँ, उनकी कठिनाइयों का समाधान सुझाता हूँ। मालव-देश का निवासी हूँ, कृपावतार !" भट्टमात्र एक ही साँस में कह गया और अवधूत के मुख की ओर ताकने लगा। उसने देखा मालव-देश का नाम सुनकर सहसा महात्मा कुछ कोमल हो उठे, भाव-विभोर हो गये और कुछ अवाक्-सी स्थिति में ज्योतिषी को देखने लगे और फिर त्वरा के साथ आगे बढ़ गये। ज्योतिषी ने अनुसरण करते हुए निवेदन किया–"एक विनती है, प्रभु ! कृपया अस्वीकार न कीजिए। आज इस दीन के घर का आतिथ्य स्वीकार कीजिये।"

"हम किसी गृहस्थ के यहाँ विश्राम नहीं करते।"

"मैं भी गृहस्थ नहीं हूँ, प्रभु ! मेरा भी यायावरी का ही जीवन है। कुछ दिनों पूर्व ही इस नगर में आया था, कुछ ही दिनों में इसे त्यागकर कहीं अन्यत्र चला जाऊँगा। एकाकी हूँ। समीप ही एक झोंपड़ी में नगर के बाहर विश्राम करता हूँ। स्वागत, सत्कार करने का अभिलाषी हूँ। कृपा कीजिए न !!"

"किन्तु मित्र, हम सूर्यास्त के पश्चात् अन्न-जल ग्रहण नहीं करते।"

"आप पधारें तो ····" भट्टमात्र ने पुनः अनुरोध किया और आगे हो गया। अवधूत उसके पीछे-पीछे चलने लगे। सूर्यास्त का समय भी समीप ही था। नगर-द्वार से निकलकर निकट ही भट्टमात्र की विश्राम-कुटिया थी। शीघ्र ही वे वहाँ पहुँच गये। उसने श्रद्धापूर्वक महाराज के चरण प्रक्षालित किये और आसन दिया। दुग्ध-फलाहार से अवधूत महाराज की आवभगत की। अवधूत भी बड़े प्रसन्न हुए।

रात्रि में शयन-पूर्व दोनों मित्रों में चर्चा होती रही। भट्टमात्र तो परिचय जान लेने को आतुर-सा था। उसने कहा–"मैं अपनी विद्या और आकृति-विज्ञान के अनुभव के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आप अवश्य ही किसी राजकुल के हैं। मेरी विद्या और मेरा निष्कर्ष मिथ्या नहीं हो सकता। आप कृपा करके अपना परिचय दें अथवा नहीं भी दें, किन्तु आपके भाल पर यह स्पष्ट लिखा है और कम से कम मैं तो उसे स्पष्टता के साथ पढ़ ही सकता हूँ।" ज्योतिपी भट्टमात्र ने यह भी कहा–"मुझे यह भी ज्ञात हो गया है कि आपके लिए तो राजयोग है। आपके शीश पर यह जटाजूट नहीं, राजमुकुट होना चाहिए था। [illegible] है कि आप इस स्थिति में कैसे ····। मेरी गणना बताती है कि आपकी [illegible] लगभग २० वर्ष है। किसी की मानसिक उलझन और षड्यंत्र के कारण ही गृह-त्याग किया है। आप जिनका आदर-सम्मान करते रहे हैं उन्हीं ने ···· ।"

"बस करो, भट्टमात्र ! बस"–अवधूत ने सहसा उसके कथन पर विराम लगाते हुए कहा–"हम संन्यस्त हैं। अतीत गृहस्थ-जीवन का स्मरण भी हमारे लिए अनुचित है। तुम्हारे संतोष के लिए हम यह बता देना चाहते हैं कि तुम्हारा अध्ययन सत्य है। हम युवराज हैं और अपने देश और समाज को जानने के लिए देशाटन पर निकले हैं।"

अवधूत महाराज के इस कथन से भट्टमात्र को वास्तव में बहुत संतोष हुआ। अवधूत भी भट्टमात्र की विद्वत्ता से बड़े प्रभावित हुए। जिस मैत्री की डोर से दोनों परस्पर आबद्ध थे, वह और भी सुदृढ़ हो गयी। अवधूत सोचने लगे–'इस नगर में प्रवेश करते समय जो अनुभूति मुझे हुई थी कि इस नगर से मुझे कोई अच्छा सहारा मिलेगा–वह यथार्थ ही थी। भट्टमात्र की मैत्री भविष्य में उपयोगी रह सकती है।' अवधूत महाराज ने स्तंभनपुर में एक दिवस और विश्राम किया और फिर भट्टमात्र को साथ लेकर चल पड़े–वही विचरणशीलता का क्रम पुनः आरम्भ हो गया।

● ●

सच्ची मैत्री दुराव-छिपाव हटाने और लगाव बढ़ाने को प्रेरित करती है। दो सच्चे मित्रों में किसी का अपना-अपना रहस्य नहीं रहता। दोनों के जीवन और मन एक-दूसरे के लिए खुली पुस्तक के समान होते हैं। तभी एक मित्र दूसरे का हित-साधक बन पाता है। सच्चे मित्र के समान अन्य कोई हितैषी नहीं हो सकता। अवधूत और भट्टमात्र में भी ऐसी ही मित्रता का उदय और विकास हो रहा था। अवधूत के मन में कुछ ऐसी प्रेरणा जागी कि भट्टमात्र से कुछ छिपाना उपयुक्त नहीं है। उनका मन अनायास ही अपनी वस्तु-स्थिति को प्रकट कर देने को होता रहता था। भट्टमात्र को उन्होंने जता दिया कि वे मालव-देश के युवराज विक्रमादित्य हैं, महाराज भर्तृहरि उनके श्रद्धेय अग्रज हैं। उनके आदेश से ही अवन्ती त्यागकर वे देशाटन को निकल पड़े हैं। माता-जैसी भाभी का भी उन पर असीम स्नेह है। उन्होंने यह भी बता दिया कि वे इस पीड़ा से प्रतिपल अशान्त और उद्विग्न रहते हैं कि अग्रज महाराज ने उनमें क्या खोट–दोष पाया कि उन्हें यह दण्ड मिला। कौन-सा अपराध उनसे हो गया .... यह न उन्हें ज्ञात है और न ही उन्हें जताया गया।

भट्टमात्र अवधूत के चरित्र से बड़ा प्रभावित हुआ। ये तो शूरवीर, पराक्रमी और बलशाली हैं। यदि चाहते तो विद्रोही हो जाते, किन्तु इन्होंने अग्रज की इच्छा

का सम्मान किया और स्वयं संकटापन्न परिस्थितियों को स्वीकार कर लिया। अन्य कोई ऐसा युवराज इन परिस्थितियों में क्या यों शान्त रह जाता। कितने प्रसंग इतिहास में मिलते हैं कि विद्रोही होकर अमुक युवराज ने अपना दल-बल गठित कर राजा को अपदस्थ करने के प्रयोजन से आक्रमण किये, अमुक युवराज राजा के शत्रु देशों से जा मिला। धन्य हैं युवराज, धन्य है इनकी भ्रातृ-भक्ति और देश-प्रेम। ऐसा प्रतिक्रियाहीन चरित्र विरल ही हो गया है। विचरण करते-करते एक दिन भट्टमात्र ने अवधूत से कहा—"आपका भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। आपका भाल यह स्पष्ट बताता है कि एक दिन आप किसी सम्पन्न राज्य के राजा बनेंगे।" अवधूत ने एक क्षीण-सी मुस्कान के साथ इस कथन को टाल दिया। इसमें रुचि ही नहीं ली। केवल इतना भर कहा—"मैं तो वर्तमान को जीता हूँ। यही जीवन है, मित्र ! भविष्य तो स्वप्नों का जीवन है।"

"आप कदाचित् सत्य ही कहते हैं महाराज !" भट्टमात्र ने निवेदन किया—"किन्तु वर्तमान भी भविष्य के उत्थान की एक सीढ़ी मात्र है और उसी भवितव्य को मैं स्पष्ट रूप से आज के वर्तमान में देख रहा हूँ।" कुछ पल मौन रहकर उसने पुनः आरंभ किया—"आप पराक्रमशील क्षत्रिय हैं और मालव-जैसे सम्पन्न और विशाल राज्य के युवराज हैं.... आपके लिये....।"

"हमें युवराज न कहो मित्र भट्टमात्र, ... युवराज न कहो", भट्टमात्र को बरजते हुए अवधूत ने कहा—"हम तो यायावर हैं, भ्रमणशील अवधूत—अब हमारा यही परिचय है। हम मात्र मालव के नहीं रहे—सम्पूर्ण जगत् ही अब हमारा विराट् घर है, प्राणी मात्र हमारे स्व-जन हैं। असीमता ने अब सारी सीमाओं को अपने में विलीन कर दिया है।"

"आश्चर्य है, महाराज ! "भट्टमात्र ने कहा; उसकी आँखें फैलकर मानो कपाल पर चढ गयीं और मुख खुलकर अवाक्-सा रह गया। तुरन्त ही स्वयं को सहज करने का प्रयास करते हुए थूक गले से उतारकर उसने कहा—"यह आप क्या कह रहे हैं? आपकी आकृति बताती है कि आपको मातृभूमि से अतिशय लगाव है। आप मालव के नहीं रहे—यह मानने को.... ।"

"मातृभूमि मालव की धरती तो हमारे नयनों में वसी है, भट्टमात्र ! वह कभी विस्मृति का विषय नहीं हो सकती। भला उसे कैसे भुलाया जा सकता है। मातृभूमि को भूल जाना तो स्वयं को ही भूल जाने के समान है। वह पुण्य और पूज्य वसुंधरा सदा प्रसन्न रहे, प्रगति करे। उसे अधिकाधिक कीर्ति मिले—यही मनोकामना सदा ही बनी रहती है हमारी। किन्तु आज का सत्य तो यही है न मित्र ! कि हम मालव-धरा से च्युत एक परिव्राजक, एक अवधूत मात्र हैं। हमें इस स्थिति से न तो कोई असतोष है और न हमारी कोई महत्त्वाकांक्षा है। हमें विश्वास है कि अग्रज महाराज के सुशासन में मालव-राज्य सुरक्षित है, मालव-जन

प्रसन्न और सुखी हैं और रहेंगे। इसी से हमे संतोप है। महाराज भर्तृहरि असि और मसि के धनी हैं। उनमें शौर्य और कवित्व का जो अद्‌भुत समन्वय है इस कारण वे पराक्रमशील भी हैं और भावुक हृदय के स्वामी होने के कारण जनहितैपी भी हैं। ऐसा राज्य स्वाधीन और सुखी, सुरक्षित और शान्तिपूर्ण भला क्यों न रहेगा ! अन्तस्थल मे वसा यही विश्वास हमारे लिए संतोप का कारण है, मित्र !''

अवधूत के इन विचारों से भट्टमात्र वहुत प्रसन्न हुआ। अवधूत के प्रति श्लाघा के भाव से उसका मन पूरित हो उठा और वह उनका मित्र ही नहीं, भक्त भी वन गया। निष्कासित करने वाले अग्रज नरेश के प्रति भी इनके मन में ऐसे उत्तम विचार हैं–अवधूत महाराज में तो देवत्व विराजित है। इनका आचरण आदर्श ही नहीं, सभी के लिए अनुकरणीय भी है। यही सव-कुछ सोचते-सोचते भट्टमात्र के मुख से अनायास–बरवस ही निकल पड़ा–''धन्य हैं महाराज, आप धन्य है ! महाराज भर्तृहरि ने आप-जैसे निर्दोष युवराज को क्यों व्यर्थ ही में संकट में डाल दिया.... निष्कासन.... यह उनका कोई अच्छा कार्य नहीं.... ।''

''ऐसा न कहो, मित्र ! ऐसा न कहो। इसमें अग्रज महाराज का कोई दोष नहीं। ये परिस्थितियाँ तो हमारे अपने कर्मों की परिणाम हैं। वे तो इसके मात्र निमित्त बन गये हैं।''

''तो.... कर्मों के परिणाम भी निरन्तर एक-से नहीं बने रहेंगे, महाराज ! अशुभ कर्मों की परिणति भी कभी अपने समापन पर आएगी। और जब शुभ कर्मों का फलोदय होगा, आप अवश्य भूपेश बनेंगे, महाराज ! आप राजा होंगे–इसमें मुझे रंच मात्र भी संदेह नहीं।'' उत्साह के साथ भट्टमात्र ने अपना निष्कर्ष प्रतिपादित किया।

''यदि ऐसा हुआ तो हम तुम्हें हमारा अमात्य बनायेंगे, मित्र !'' अवधूत ने हँसते हुए विनोद के स्वर में कहा–''मन के मोदक फीके क्यों ?''

इस निर्मल हास में भट्टमात्र ने भी योग दिया और विश्वास के साथ कहा–''फीके तो नहीं रहे महाराज ! किन्तु ये मोदक मन के नहीं हैं। मेरा कथन निरा कल्पनाधारित नहीं है। ऐसा होकर रहेगा। आपकी अनिच्छा भी इसमें व्यवधान नहीं वन सकेगी।'' इस प्रकार बतियाते हुए दोनों मित्र वन-क्षेत्र में अग्रसर होते रहे।

दोनों को ही पारस्परिक साहचर्य से वड़ा आनन्द और संतोष का अनुभव होता था। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, उन्हें एक-दूसरे की विशेषताओं और सद्‌गुणो का परिचय होता जाता और वे परस्पर समीपतर होते जा रहे थे। अवधूतवेशी विक्रमादित्य को तो भट्टमात्र के रूप में एक संवल ही प्राप्त हो गया था। दोनो चलते-चलते एक सरिता के तट पर पहुँच गये। सरिता के निर्मल जल से

अपनी तृषा को शान्त करते हुए भट्टमात्र ने कहा–"अब हम उस स्थान पर पहुँच गये है, महाराज ! जहाँ से रोहणगिरि पर्वत समीप है।" अवधूत ने सुना तो कुछ सोचते हुए वे बोले–"रोहणगिरि ····!" और जिज्ञासा-भरी मुद्रा में भट्टमात्र को ताकने लगे। आशय समझकर भट्टमात्र ने कहा–"महाराज ! यहाँ से कुछ ही दूरी पर है रोहणाचल। बड़ी भारी महिमा है इस पर्वत की। इस पर्वत पर एक गहरी दरार है। जो कोई 'हा देव ! ····· हा देव !!' कहकर एक पत्थर इस दरार में फेंकता है–यह पर्वत तत्काल उसे एक रत्न देता है। बड़ा उपकारी है रोहणाचल। पत्थर के प्रहार के उत्तर में रत्न का उपहार देता है।"

"दन्तकथा होगी।" अविश्वास के साथ कहा अवधूत ने।

"नहीं जी, सत्यकथा है।"

"तो ···· प्राचीन समय में कभी ऐसा हुआ होगा।"

"प्राचीन समय से ऐसा होता रहा है, आज भी ऐसा ही है, महाराज ! शंका न कीजिए।"

"आश्चर्य है, मित्र ! ऐसा नहीं हो सकता।"

"ऐसा होता है, महाराज ···· ऐसा ही होता है और प्रत्येक बार होता है।" –भट्टमात्र ने आत्म-विश्वासपूर्वक, किन्तु वाणी की कोमलता के साथ कहा–"मैं इसका प्रमाण भी प्रस्तुत कर सकता हूँ। यह भी है कि किसी व्यक्ति को यह स्वर्णावसर जीवन में केवल एक बार मिलता है, बार-बार कोई इस प्रकार रत्न-प्राप्ति नहीं कर सकता।"

इस दृढतापूर्वक किये गये कथन पर अवधूत मनन करने लगे। कुछ क्षणों तक शान्ति छा गयी। उनके विस्मय को भंग करते हुए भट्टमात्र ने तब कहा–"कल प्रातः हम रोहणगिरि पर चलेंगे। आप अपने नेत्रों से स्वयं यह घटना देख लेंगे।"

इस प्रकार विषय परिवर्तित होते रहे, किन्तु दोनों के मध्य वार्त्तालाप चलता रहा और वे अग्रसर होते रहे। कोई ग्राम पास ही में था। संध्या समय भी हो रहा था। ग्रामवासियों ने स्वागत-सत्कार किया। एक देवालय में दोनों ने रात्रि-विश्राम किया। अतिप्रातः ही दोनों ने देवालय त्यागकर पुनः यात्रा आरंभ की और रोहणगिरि पर पहुँच गये। इस पर्वत की हरीतिमा ने अद्भुत प्राकृतिक शोभा रच दी थी। यहाँ पहुँचकर दोनो सहयात्रियों को अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ। शीघ्र ही उन्हें पर्वत की वह दरार भी दिखाई दे गयी। संकीर्ण-सी एक खाई थी जिसका तल दिखायी नहीं देता था। इस संकीर्ण खाई की महिमा दूर-दूर तक फैली हुई थी। भट्टमात्र ने तो पूर्व में ही रत्न की प्राप्ति एक वार कर ली थी, उसका प्रत्यक्ष अनुभव उसे था।

इस दरार के समीप आकर भट्टमात्र ने भूमि पर से एक छोटा पत्थर उठाया और उसे अवधूत के हाथ में थमाते हुए कहा–"इसे आप इस दरार में फेंक दीजिए और 'हा देव !.... हा देव !.... हा देव !' तीन वार कहिये और फिर चमत्कार देखिये।"

"यह हमसे संभव नहीं है।"–अवधूत ने कहा–"इस प्रकार की दीन वाणी हम क्षत्रियों के लिये नहीं बनी है। हम तो वाहुवल और अपने पराक्रम से ही सव-कुछ प्राप्त करते हैं। दीन बनकर याचना करना क्षत्रियोचित गौरव के विपरीत है।" कुछ पलों के विरामोपरान्त ही अवधूत ने कहा–"यदि तुम चमत्कार दिखाना ही चाहते हो तो स्वयं ही यह पत्थर फेंककर रत्न-प्राप्ति क्यों नहीं कर लेते हो।" यह कहते हुए उन्होंने पत्थर भट्टमात्र की ओर वढ़ा दिया।

इसी समय भट्टमात्र को भी एक युक्ति सूझी। उसने कहा–"महात्मा जी, मेरे फेंकने से काम बनेगा नहीं। मैं तो एक बार रत्न प्राप्त कर चुका हूँ और रोहणगिरि दुबारा रत्न किसी को भी नहीं देता। अच्छा ! आप केवल पत्थर ही फेंक दीजिये। देखते हैं.... क्या होता है !"

अवधूत ने पत्थर दरार में फेंका ही था कि सहसा भट्टमात्र बोल उठा–"मैं भूल गया, महात्मा जी ! एक शोक समाचार है। महारानी अनंगसेना ने आत्महत्या कर ली।"

यह सुनते ही अवधूतरूपी विक्रमादित्य शोक-मग्न हो गये और अनायास ही उनके मुख से निकल गया–"हा देव !.... हा देव !.... हा देव !" तत्काल ही दरार के भीतर से मेघ ध्वनि-सी गड़गड़ाहट सुनाई दी और सनसनाहट के साथ एक रत्न उछलकर बाहर निकला और अवधूत के चरणों में गिर पड़ा। वे तो अवाक्-से, विस्मय के साथ इसे देखते रह गये।

तभी भट्टमात्र बोला–"शोक त्यागिये, महाराज ! आपके मुख से उन शब्दों का उच्चारण आवश्यक था इस चमत्कार के लिए। इसी कारण बनाकर मैंने अनंगसेना महारानी की बात कह दी थी; अन्यथा मेरे पास ऐसा कोई समाचार नहीं है।"

अवधूत के मुख पर निर्मल हास छा गया। वे शोक त्यागकर बोले–"मित्र, किन्तु तुमने यह अच्छा नहीं किया। हम दीन बनकर कोई प्राप्ति नहीं कर सकते।" यह कहते हुए अवधूत ने ठोकर मारकर रत्न को फिर से दरार में गिरा दिया और उच्च स्वर में बोले–

"रोहणगिरि ! सुनो, तुम रत्न का दान करते हो, यह तो वहुत सुन्दर बात है, किन्तु इसके लिए तुम लोगों को दीनता दिखाने को विवश करते हो–यह नीतियुक्त नहीं। दान में दाता की विनयशीलता का होना और उपकार जताने की प्रवृत्ति का अभाव जहाँ अपेक्षित है, वहीं दान-प्राप्ति करने वाले की मर्यादा और सम्मान वनाए रखना भी आवश्यक है। तुम कैसे दानी हो, पर्वत श्रेष्ठ !.... कैसे दानी हो !! हमें

स्वीकार नहीं है तुम्हारा यह दान–चाहे कितना ही मूल्यवान वह क्यों न हो ····· हमें स्वीकार नहीं।'' और एक झटके के साथ वे मुड़े और चल पड़े। आत्म-गौरव और सम्मान के धनी अवधूत विक्रम की इस असाधारणता से भट्टमात्र हतप्रभ-सा रह गया और उनका अनुसरण करने लगा।

× × ×

दिनभर चलते-चलते भट्टमात्र थक गया। उसके तन में शिथिलता और मुख पर अनुत्साह का भाव था। अवधूत को भ्रमणशीलता का अभ्यास भी था और वे सुदृढ़ एवं सशक्त भी थे। आज दोनों निराहार भी रह गये थे। भट्टमात्र को भूख भी लग आयी थी। उसने एक सरिता के तट पर पहुँचकर कहा–''संध्या होने को आई है, वन का यह सुरम्य प्रान्त है भी सुरक्षित। यहाँ वन्य पशुओं का भय नहीं है। क्यों न अब यात्रा स्थगित कर, यहीं विश्राम किया जाय।'' मित्र का शैथिल्य देखकर अवधूत को असामान्य-सा लगा। स्वयं उन्हें किसी प्रकार की शिथिलता अनुभव नहीं हो रही थी, किन्तु उन्होंने सोचा–'अपनी ही तुला में अन्य सभी को तोलना कदाचित् उचित नहीं है।' और उन्होंने तब मित्र के संकोच को समाप्त करते हुए एक अँगड़ाई लेकर कहा–''भट्टमात्र ! तुम ठीक ही कहते हो। आज यात्रा भी तो बहुत कर ली। सच पूछो तो हम भी आज कुछ थक गये हैं। यदि तुम न कहते तो हम यही कहने को थे कि अब आज रात्रि-विश्राम यहीं कर लिया जाय। तुमने तो मित्र, हमारे हृदय की बात छीन ली।''

भट्टमात्र प्रसन्न हो गया। उसके मुख पर मुस्कान आ गयी। तब तापी नदी में दोनों मित्रों ने हाथ-पैर धोए। समीप के एक घने वृक्ष के नीचे मृगछाला बिछाकर अवधूत को वहाँ विराजित कर भट्टमात्र वन्य फल-फूल बटोर लाया। दोनों ने आहार ग्रहण किया। शीतल निर्मल जल का पान कर वे परस्पर बतियाते हुए विश्राम करने लगे। बातों का कोई ओर-छोर नहीं होता। एक विषय समाप्त होते-होते अन्य अनेक विषयों को छोड़ जाता है और यों असमाप्य-सा क्रम चलता रहा। यथासमय दोनों ही निद्राधीन भी हो गये। अर्द्ध-रात्रि को हड़बड़ाकर भट्टमात्र उठ बैठा। अवधूत की निद्रा भी खुल गयी। समीप से ही किसी शृगाली के हूकने की ध्वनि आने लगी। भट्टमात्र खड़ा हो गया और ध्यान से सुनने लगा। अवधूत विस्मय में डूबे-से रात्रि के उस अंधकार में भी सब-कुछ ताड़ गये। लेटे-लेटे ही उन्होंने पूछा–''भट्टमात्र ! क्या हुआ? तुम अशान्त और उद्विग्न क्यों हो उठे? ···· क्या कोई भय है?''

''कोई भय नहीं, महाराज ! भय तो यहाँ कोई हो ही नहीं सकता। एक शुभ सूचना हमें शृगाली दे रही है।''

''अरे, तो तुम पशु-पक्षियों की भाषा भी जानते हो क्या? क्या समाचार दे रही है यह शृगाली।''

"शृगाली चिल्ला-चिल्लाकर यही कह रही है कि अगर कोई मेरी वोली समझ सकता हो और इस समय मेरी वात सुन रहा हो तो उसका भाग्योदय ही हो गया।"

"भाग्योदय.....! वह कैसे मित्र? शृगाली क्या कहती है?"

"उसका कहना है, महाराज ! कि दूर कहीं से किसी महिला का शव नदी में बहता हुआ समीप आ गया है। शव पर अनेक रत्नजटित आभूषण हैं। जिसे यह प्राप्त हो जायें उसके तो भाग्य ही खुल गये समझो। एक जन्म में तो किसी को इतनी सम्पदा परिश्रम से प्राप्त हो ही नहीं सकती। शृगाली कहती है कि कोई मेरी बात समझ रहा हो तो पूर्व दिशा में कुछ दूर चलकर यह सम्पदा प्राप्त कर ले।" इतना कहकर भट्टमात्र मौन हो गया और विछावन समेटने लगा।

"तो तुम क्या कहते हो मित्र....?"

"हमें नदी के किनारे-किनारे पूर्व दिशा की ओर चलना चाहिए।"

"तो चलो, चलते हैं.....।" अवधूत ने सहमति व्यक्त की। वे शृगाली के कथन की परीक्षा कर लेना चाहते थे। दोनों उस अँधियारे में चलते रहे। कभी किसी लता में पैर उलझता तो कभी कोई क्रूर शूल गड़ जाता, कभी किसी गड्ढे में पैर पड़ता तो कभी....। फिसलते-सँभलते दोनों पथिक अग्रसर होते रहे। पर्याप्त चल चुकने पर अवधूत को सरिता के जल-तल पर कुछ दीप्ति दिखायी दी। उन्होंने भट्टमात्र को दिखायी। दोनों को यहीं रत्नाभूषण होने का अनुमान हुआ। समीप आने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि शव एक खाँचे में रुका हुआ है और आभूषण जगमगा रहे हैं। आश्चर्य से कुछ क्षण अवाक् हो गया भट्टमात्र ही बोला—"महाराज ! ये आभूषण वास्तव में अत्यन्त मूल्यवान हैं। इन पर आपका ही अधिकार है। उतार लीजिये यह नवलखा हार और अन्य आभूषण, ये आपके भाग्य-निर्माता हैं—शृगाली का कथन सत्य ही था।"

"हमारा भाग्य हम पुरुषार्थ से स्वयं रचते हैं, मित्र ! इस प्रकार की सांयोगिक प्राप्तियाँ हम स्वीकार नहीं करते। बाहुबल और परिश्रम से अर्जित धन पर ही मनुष्य को अपना स्वामित्व स्थापित करना चाहिए। इसी में मानवोचित गौरव निहित है। हम तो फिर क्षत्रिय हैं—हमारे लिए यह कदापि ग्राह्य नहीं। मित्र, तुम ये आभूषण ले सकते हो। तुम ले लो और....।"

"नहीं.... महाराज ! नहीं। इन पर प्रथम दृष्टि भी आप ही की पड़ी है। आपका ही अधिकार इन आभूषणों पर है।"

"शव से अलंकार प्राप्त करने का अधिकार तो चाण्डालों का होता है, मित्र ! शूद्रों का होता है और हम राजवंशी क्षत्रिय हैं। शव से प्राप्ति हमारे लिए नहीं वनी है।"

"महाराज ! नीति यही कहती है कि शिक्षा की बात या सदुपदेश तो बालक का भी सर्वग्राह्य होता है और धन चाहे मलिन स्थल से भी उपलब्ध हो वह त्याज्य नहीं होता है। आप निःसंकोच इन्हें ग्रहण कर लीजिये।"

"नहीं .... मित्र ! साधु और सम्पदा का भला क्या मेल ! हमारी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं, कोई कामना नहीं। हमारे लिए धन और वैभव अकाम्य हैं, अवांछित हैं। तुम गृहस्थ हो, तुम्हारा भाग्योदय इससे होगा, निश्चित ही हो सकता है, ले लो।"

"मैं धन का क्या करूँगा, महाराज ! दीन ब्राह्मण हूँ .... याचक-धर्म से ही निर्वाह होना है मेरा। जिस दिन ऐसे लोभ में ग्रस्त हो जाऊँगा—मेरी विद्याएँ भी विसर्जित हो जाएँगी। मुझे भी धन की कामना नहीं, सर्वथा नहीं है, महाराज ! किन्तु आप धन्य हैं, अवधूत महाराज ! माया का मोह आपको रंच मात्र भी नहीं। अग्रज की आज्ञा शिरोधार्य कर आप समस्त सुख-सुविधा, वैभव-विलास त्यागकर संन्यस्त हो गये और अब भी क्षत्रियोचित मर्यादा का निर्वाह कर रहे हैं। धन्य हैं आप, धन्य है आपकी निर्लोभता !! शताब्दियों में ही कभी ऐसा सुदृढ़ चरित्र अवतरित होता है।" अब तक दोनों उस स्थल से लौटकर उसी विशाल वृक्ष की ओर काफी बढ़ गये थे। अवधूत विक्रम की मर्यादाशीलता और अविचल मनस्कता से भट्टमात्र अत्यधिक प्रभावित हो चुका था। उसके मानस में अवधूत महाराज का कद बहुत ऊँचा हो गया था।

मार्ग में ही फिर से शृगाली की हूक सुनायी देने लगी। अब की बार ध्वनि कुछ अधिक तीव्र और स्पष्ट थी। भट्टमात्र कान पर हाथ लगाकर ध्यान से सुनने लगा। उसकी समस्त चेतना मानो कर्णेन्द्रिय में एकत्र हो गयी थी। अवधूत भी रुककर जिज्ञासा-भरी मुद्रा में भट्टमात्र को ताकने लगे। शृगाली का स्वर रुक जाने पर उन्होंने भट्टमात्र से जानना चाहा कि अब शृगाली का कथन क्या है? भट्टमात्र ने अत्यन्त उत्साह के साथ कहा—"शृगाली आपकी मोहहीनता से वहुत प्रसन्न है। वह निकट भविष्य की ही एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना की ओर पूर्व-संकेत भी कर रही है। उसका कथन है कि यदि एक प्रहर में हमने यह स्थल छोड़ दिया तो हममें से किसी एक के लिए राजयोग है। शीघ्र ही वह अवन्ती का राजा बनेगा।" अवधूत विक्रम ने इस कथन को अर्द्ध-विश्वास के साथ ही ग्रहण किया। इसे सर्वथा अविश्वसनीय मानना भी संभव नहीं हो पा रहा था, अभी-अभी शृगाली के कथन को सत्य घटित होते हुए उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था। पूर्णतः विश्वसनीय वे इसे मान नहीं पा रहे थे। अवन्तीनाथ महाराज भर्तृहरि के होते हुए अन्य किसी के अवन्ती-नरेश होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। कुछ क्षणों के मौन चिन्तन
दोनों ने सहमतिपूर्वक यही निश्चय किया कि अभी से अव वे चलते

रहें। शृगाली के कथन की चर्चा छेड़ते हुए अवधूत ने कहा–"राजयोग वाली वात सहज प्रतीत नहीं होती। अग्रज महाराज के सुशासन के होते हुए अवन्ती ····।"

"कुछ भी हो सकता है, महाराज ! कुछ भी हो सकता है।" भट्टमात्र ने कहा–"समय बड़ा परिवर्तनशील होता है। यही मनुष्य का भाग्य, प्रारव्ध या नियति है। मनुष्य समयाधीन रहता है। शुभ समय आने पर तृण भी वज्र हो जाता है और कुसमय आने पर वज्र भी तृणवत् टूक-टूक हो जाता है। आपको भी अवन्ती का अतीत ही स्मरण है और मैं भी विगत तीन वर्षो से मालव से दूर भ्रमण करता रहा हूँ। इस मध्य अवन्ती में क्या घटित हुआ–हमें विदित नहीं। वैसे आपका राजयोग सर्वनिश्चित है। शृगाली के कथन में संदेह करना मिथ्या है। आपको स्मरण होगा प्रथम भेंट पर मैंने आपकी मुखाकृति देखकर बताया था कि एक दिन आप अवश्य ही किसी देश के नरेश बनेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि वही शुभ समय अब समीप ही आ गया है।"

अवधूत इस लम्बी दार्शनिक वार्त्ता को सुनते रहे और आगे बढ़ते रहे। संशय-मिश्रित विश्वास के साथ उन्होंने कहा–"तुम कदाचित् सत्य ही कहते हो मित्र–अपने भविष्य को किसने देखा है ! इसी से तो वह अदृष्ट कहा जाता है। शुभ कर्मों का उदय मनुष्य का उत्कर्ष किसी भी सीमा तक कर सकता है। इसी भाग्य ने हमें तुम-जैसे विद्वान् और सद्गुणी से भेंट करायी है। तुम्हारा सहयोग हमारे लिए संबल रहा है, मित्र ! अब यदि यह भाग्य हमें राजा बना देता है तो हम तुमको ही अपना महामंत्री बनाएँगे–यह सर्वथा सुनिश्चित है।"

"क्यों विनोद करते हैं, महाराज !" भट्टमात्र ने सहास कहा–"कहाँ आप अवन्ती के गौरवशाली नृपति और कहाँ मैं एक दीन-हीन ब्राह्मण। मैं भला किस श्रेणी में गण्य हूँ।"

"तुम हमारे सच्चे मित्र हो, भट्टमात्र ! सच्चे मित्र की भाँति तुमने सदा ही सद्परामर्श दिया है। हमें संबल मिला है तुम्हारी संगति से। तुम्हारी विद्याओं और बुद्धिमानी पर हमें गर्व है। एक महामात्य के सभी लक्षण हैं तुममें। तुम हमारे कथन में अविश्वास न करो। इसका कोई कारण नहीं है।"

"सुसमय आने पर मनुष्य के लिए दुर्दिन को दुःस्वप्न की भाँति भुला दिया जाना स्वाभाविक ही है। उस कुसमय की किसी बात को वह स्मरण नहीं करना चाहता। मैं भी विस्मृत कर दिया जाऊँगा, महाराज !"

"यह तो समय ही वताएगा, मित्र ! तुम विगत समय के नहीं, वर्तमान के पात्र भी सदा ही वने रहोगे। तुम्हारी महत्ता हमारे मन में स्थापित हो चुकी है। किन्तु अभी वह समय भी तो आए। अभी तो हम ····।"

"उचित ही कथन है आपका, महाराज ! अभी तो हम वनचर ही हैं। वह अवसर चाहे कितना ही समीप हो, अभी फिर भी आया नहीं है।"

यात्रा करते-करते दोनों पथिक एक ऐसे सुरम्य स्थल पर पहुँच गये, जहाँ प्राकृतिक वनश्री के साथ-साथ मानव-उद्यम से विकसित वानस्पतिक वैभव भी था। एक सुन्दर उद्यान में भाँति-भाँति के पुण्य खिले थे। पवन सुगंधित और शीतल थी। मध्य में एक देवालय था जिसके समक्ष निर्मल जल से भरा जलाशय था जिसमें कमल-पुष्प खिले थे। भ्रमर-गुंजार से सारा वातावरण संगीतमय हो गया था। इस स्थल पर पहुँचकर भट्टमात्र को हार्दिक प्रसन्नता हुई। इस उद्यान में वह बाल्यावस्था से ही अनेक बार आता रहा था। आरम्भ में अपने पिता और परिजनों के साथ और वयस्क हो जाने पर अपने मित्रों के साथ देव-दर्शनार्थ यहाँ आया करता था। उसने प्रसन्नता के साथ अवधूत से कहा—"महाराज ! अब हमारे पृथक् हो जाने का समय आ गया है। इस देवालय से दस कोस की दूरी पर ही मेरा पैतृक ग्राम है। मुझे वहीं जाना होगा। आपको पूर्व दिशा में ही गतिशील रहना होगा। कोई पन्द्रह कोस पर मालव-गंगा क्षिप्रा नदी प्रवाहित होती है। उसी के तट पर अवन्ती नगरी बसी है।"

"मित्रों का मिलन भी एक संयोग है और प्रत्येक मिलन के अनन्तर बिछोह भी स्वाभाविक है। दोनों ही अवस्थाओं में सहज रहकर व्यवहार करना ही विवेकशीलता का मार्ग है। फिर भी मित्र ! हमें यह बिछोह असह्य लग रहा है।" —अवधूत विक्रम ने कहा और उनके लोचन भर आए। आर्द्र कंठ से उन्होंने कहा— "मित्र भट्टमात्र ! अब क्या हमें एकाकी ही रहना होगा। निस्संग जीवन का अभ्यास विगत कुछ काल से छूट गया था, तुम्हारी संगति हमारे जीवन की एक उत्कृष्ट उपलब्धि रही। अब अकेले.... अकेले ही क्या....।"

"आप तो अपार पराक्रमशील हैं, महाराज ! आपको महान् कार्य पूर्ण करने हैं। आप स्वयं ही सक्षम हैं।" भावावेश के कारण इस प्रकार का विचलन भी अस्वाभाविक तो नहीं है, किन्तु महाराज ! प्रत्येक महापुरुष एकाकी ही रहा है—निस्संग रूप में ही महान् कार्यों का वह चिन्तन और संकल्प करता है। वही उनका सभारंभ भी करता है। कालान्तर में सहकर्मियों और सहयोगियों का समूह तो स्वतः ही जुट जाता है। आगामी कार्य में भी आपकी एकाकी भूमिका रहेगी।"

एक क्षीण-सी मुस्कान के साथ अवधूत विक्रम ने स्वागत किया। विवशताओं को यथावत् स्वीकार करते हुए जो तत्काल कार्य-प्रवृत्त हो जाता है, सफलता उसके मार्ग में बिछ जाती है और जो विवशताओं के जाल में उलझकर रह जाते हैं उनके पथ कंटकाकीर्ण होकर रह जाते हैं। भट्टमात्र के वियोग को एक अनिवार्य विवशता मानते हुए ज्यों ही अवधूत ने अपने मन को तत्पर किया, उनका मनोवल मानो गगन को स्पर्श करने लगा। उनकी स्नायुओं में अद्‌भुत ऊर्जा

लगी। एकाकीपन अभिशाप न होकर आत्म-विश्वास वन गया। उन्होंने भावावेश मे कहा–"मित्र ! तुमने हमारी ऑखें खोल दीं। भट्टमात्र ! तुमने हमारा मोह भंग कर हमें पुनः विक्रम वना दिया है। धन्य हो, मित्र ! तुमने सच्ची मैत्री का परिचय दिया है, हमारी सुषुप्त शक्तियों को तुमने जाग्रत कर दिया है। हमारी इच्छा आज अपने मित्र के चरण पकड़ लेने की हो रही है।" यह कहते हुए अवधूत भावावेष्ठित मन के साथ नीचे झुके ही थे कि भट्टमात्र ने उन्हें वॉहों में भर लिया। दोनों मित्र कई पलों तक परस्पर आलिंगनवद्ध खड़े रह गये। दोनों के सजल नयन जव एक-दूसरे के मुख-मंडल निहारने लगे तो ऐसे निर्मल हास की सृष्टि हुई कि दोनों के मन उत्फुल्ल हो उठे। और तव दोनों ने एक-दूसरे को प्रणाम किया और अपनी-अपनी राह पर बढ़ गये।

बहुत दूर से ही पवित्र क्षिप्रा की शोभा निहारकर अवधूत विक्रम का मन-मयूर नर्तन कर उठा। मातृभूमि का दर्शन ऐसा ही चमत्कारी होता है। अवधूत का मन उत्साह से भर उठा। क्षिप्रा-पार पहुॅचकर अवधूत ने एक वृक्ष-तले अपना आसन जमाया और विश्राम करने लगे। भविष्य के धूमिल मित्र उनके मानस में आने-जाने लगे। उन चित्रों को ठीक से पहचानने के प्रयास में उनके नेत्र निमीलित हो गये और वे ध्यानमग्न-से हो गये। संध्या-समय समीप था। चरवाहे अपने पशुओं को नगर लौटा ले जाने को एकत्र करने लगे थे। एक गोपाल की दृष्टि अवधूत महाराज पर पड़ी तो वह उनके तेजोमय मुख-मण्डल के दर्शन कर धन्य ही हो उठा। उसने अन्य गोपालों को सूचना दी। देखते-ही-देखते एक छोटी-सी भीड वहाँ एकत्र हो गयी। अवधूत महाराज ने नयन खोले। सभी ने दण्डवत् प्रणाम किया और महाराज की जय-जयकार की। एक गोपाल स्वच्छ पात्र में ताजा दुग्ध लेकर आगे बढ़ा और विनयपूर्वक निवेदन किया–"महाराज हमारी सेवा स्वीकार कर अवन्ती को आशीर्वाद दीजिए, प्रभो ! मालव-देश की तो बड़ी ही दुर्दशा हो गयी है, महाराज ! आप ही कुछ उपाय कीजिये, भगवन् !"

अवधूत को सूत्र हाथ आने लगे थे। इसी आन्तरिक प्रसन्नता को प्रच्छन्न रखते हुए उन्होंने संकेत से दुग्ध-पात्र को समीप ही रखवा दिया और हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया–"कल्याण हो, वत्स ! सभी का कल्याण हो !! अवन्ती का मंगल हो !!!" कुछ क्षणों के विरामोपरान्त उन्होंने फिर कथन किया–"तुमने कुछ बताया नहीं; कौन संकट आन पड़ा है अवन्ती पर ···· मालव-जनता के दुःखी होने का कारण क्या है? क्या समस्या है? मालवाधिपति महाराज भर्तृहरि के शासन में भला ·····।"

"अरे महाराज ! यही तो दुःखवा है। अव कहाँ रहा महाराज भर्तृहरि का राज्य।" अन्य गोपाल वोल उठा–"उन्हें अपनी रानी अनंगसेना से इतना गहरा प्रेम था जैसी चॉद-चकोर की प्रीति होती है। आप परदेसी महात्मा मालूम होते हैं, यहाँ

के हाल-चाल नहीं जानते हैं शायद। रानी से जब प्रेम में उन्हें छल मिला तो महाराज ने राज-पाट छोड़कर काषाय धारण कर वैरागी हो गये। अब कहाँ हैं—कुछ भी अता-पता नाहिन है उनका। पीछे से किसी प्रेत-बेत ने सूने सिंहासन पर अपना कब्जा जमा लिया। किसी को राजा वह बनने ही नहीं देता। जिस-जिस ने भी कोसिस किया उसी का मरण होता गया। अब सिंहासन पर बैठने की कोऊ····।"

"अब आप तो ज्ञानी-ध्यानी हैं महात्मा जी, जिस देस में राजा नाहिंन होत, वहाँ की परजा अनाथ हुई कि नाहीं···! राजा ही तो बाप की जगह होत है परजा के लिए। अनाथ जनता तो फिर दुःखी ही हुई न महात्मा जी !" एक गोपाल ने अपनी बात को इस प्रकार ठीक से जमती हुई देखा तो खींसें निपोरकर ही···· ही····· करने लगा।

अवधूत को पर्याप्त सूत्र मिल गये। इनके आधार पर तो वे पूरी कथा विकसित कर सकते थे, किन्तु···· यह प्रेम मे छल किस प्रकार का था? कहीं हमारे प्रति संदेह····। प्रकटतः उनका चिन्तन मुखर हुआ—"हम समझे··· गोपालो ! बहुत कुछ समझे; किन्तु प्रेम में यह छल क्या हुआ? क्या छल किया महारानी ने कि महाराज को विरक्ति हो गयी?"

"मैं बताता हूँ, महात्मा जी ! मैं बताऊँगा।" एक युवा गोपाल ने अति उत्साह के साथ कहा और हाथ फैलाकर अन्य लोगों को शान्त हो जाने का संकेत किया। फिर वह कहने लगा—"महात्मा जी ! महाराज तो अपने प्राण निछावर करते थे अपनी रानी पर, इन्द्राणी की तरह रखा उनको, उनका बोल तो क्या कभी उनका थूका भी नहीं उलाँघा उन्होंने। वही रानी हरजाई निकली। उसका प्रेम तो सरकार के एक कारिन्दे से था। वह उसी पर जान छिड़कै थी। महाराज को जब इसका पत्ता चल्यो तो उनके मन पर ठेस लगी और ये दुनियाँ ही उनको वेसार लगन लागी। यों ही तो वे वैरागी हुइ गिये····।"

अवधूत को इस कथन से अमित तोष उपजा। उनके मन में एक शीतलता व्यापी और संतोष की साँस लेते हुए उन्होंने केवल इतना कहा—"लगता है, मालव का उद्धार हमारे हाथों से ही होना है, वत्स ! हम सोचेंगे कि क्या-कुछ किया जा सकता है ! अब दुर्दिन समाप्त होने वाले हैं। तुम लोग अब शान्त मन से जाओ और निश्चिन्त हो जाओ। कल्याण हो सभी का !" अवधूत ने आशीर्वादात्मक मुद्रा में फिर से हाथ ऊपर को उठा दिया। "धन्य हो महाराज, धन्य हो !" कहते हुए गोपाल अपनी गौओं के संग चल पड़े। पश्चिम दिशा में कुछ लालिमा छाने लगी। पक्षी-वृन्द कलरव करते अपने नीडों को लौट रहे थे। वन-खण्ड मे धीरे-धी कोमल प्रकाश अँधियारे की काली चादर ओढ़ने लगा। शीघ्र ही वहाँ शान्ति गयी। क्षिप्रा की लहरों के कलकल स्वर का माधुर्य ही सर्वत्र व्याप्त था। उ विचार-मग्न होकर शान्त, अविचल बैठे रह गये।

"अवन्ती के दुर्दिनों की समाप्ति अव समीप ही है.... चिन्ता न करो। एक अवधूत मालव-देश का इस संकट से उद्धार करेगा।" जैन सन्त मुनि जयवर्धन की गंभीर वाणी मुखरित हुई और उन्होंने नगर-श्रेष्ठी एवं महामात्य बुद्धिसागर को आशीर्वाद प्रदान करते हुए नेत्र निमीलित कर लिये। इन दोनों भक्तों को तो जैसे अथाह समुद्र में डूबते-डूबते ही नौका मिल गयी। अति उत्साह में भरकर महामात्य ने मुनिश्री का जय-जयकार किया और नगर-श्रेष्ठी ने उसमें अपना योग दिया। महामात्य का शुष्क हृदय-तरु क्षण मात्र में ही हरित, पल्लवित और पुष्पित हो उठा। उन्हें मालव-देश का अवसाद समाप्त होता दिखायी देने लगा। अंधकार मानो विदीर्ण हो गया और सारा देश चन्द्र-ज्योत्सना में स्नात, उत्फुल्ल और स्फूर्त दृष्टिगत होने लगा। अति उत्साह के आवेश में उन्होंने नगर-श्रेष्ठी के साथ विचार-विमर्श की मुद्रा में कहा—"किन्तु यह अवधूत हमें मिलेगा कहाँ.....? कब मिलेगा.....?" जैसे वे नगर-श्रेष्ठी को मुनिश्री से यह सब-कुछ ज्ञात कर लेने को प्रेरित कर रहे थे। महामात्य का भाव ताड़कर नगर-श्रेष्ठी ने मंद स्वर में कहा—"यह सब-कुछ नहीं पूछा जा सकता है। आगे का कार्य आपका-हमारा है। मुनिश्री की मर्यादा है।" महामात्य का उत्साह बुझ-सा गया। उन्होंने भी मुनिश्री के इस पूर्व संकेत पर ही संतोष कर लेना उपयुक्त समझा। वे जान गये कि संतगण सांसारिक कार्यों में रस नहीं लेते। इतना संकेत भी महाराजश्री ने व्यापक जनहित का ध्यान करके ही दिया है, लोकमंगल के पक्षधर हैं मुनिश्री। नगर-श्रेष्ठी और महामात्य बुद्धिसागर करबद्ध मुद्रा में, पद्मासन लगाये, शान्त—प्रसन्न भाव के साथ मुनिश्री के चरणों में बैठे थे। श्रद्धा और विनय का भाव उनकी मुखाकृतियों पर छाया हुआ था। वे अपलक दृष्टि से मुनिश्री की तेजोदीप्त मुख-छवि का दर्शन करते रहे। कुछ पलों में मुनि श्री जयवर्धन ने पलकें खोलीं और शान्त भाव से दोनों की ओर निहारा। भक्तद्वय कृतार्थ हो गये। मुनिश्री तभी मुखरित हुए—"भाग्यवान् ! हम जानते हैं कि तुम्हारी चिन्ता क्या है.... अधीर मत होओ.... समय आने पर स्वतः सारा संकट समाप्त हो जायेगा। मंत्री, तुमने बड़े कौशल के साथ शासकहीन देश का राजकाज सँभाला है। इतने समय तक व्यवस्थाओं का संचालन किया है। धन्य है तुम्हारी देश-सेवा। कुछ समय तक तुम्हें इसी प्रकार प्रवृत्त रहना होगा। साहस बनाये रखो.... मंगल ही होगा।" प्रसन्न मुद्रा में मुनिश्री ने हाथ उठाकर आशीर्वाद प्रदान किया—"चिन्ता व्यर्थ है—धर्माराधना में चित्त को स्थिर करो। धर्म ही सभी कष्टों के लिए समर्थ त्राता होता है। धर्म ही उद्धारक है।

कृतज्ञ भाव से दोनों ने नमन किया, चरण-वन्दनापूर्वक उठे, बार-बार नमन किया और गद्‌गद कण्ठ से जय-जयकार करते हुए विदा हुए। राज-प्रासाद में पहुँचकर महामात्य बुद्धिसागर ने नित्य का राज-काज आरंभ किया।

संध्या समय मंत्रिपरिषद् को संबोधित करते हुए महामात्य ने कहा–"अवन्ती घोर दुर्दिनों से होकर गुजर रही है–यह तो सत्य है, किन्तु अब विश्वास होने लगा है कि मालव का यह अमंगल अदृष्ट कुछ ही काल का शेष रह गया है। शीघ्र ही निराशा के मेघ छितर जाने वाले हैं और हम सब का भाग्योदय होने वाला है।" इस नवीन आशा का संचार पाकर समग्र उपस्थिति को एक विशिष्ट कोटि का सम्बल मिला। उत्साहित होकर एक अमात्य ने प्रश्न किया–"श्रीमान् ! क्या युवराज विक्रमादित्य का कोई संदेश प्राप्त हुआ है?"

महामात्य बुद्धिसागर ने शान्त भाव के साथ अपने उत्तर में कहा–"ऐसा तो अभी तक कुछ भी नहीं है, किन्तु मालव राज्य को शीघ्र ही अपना नरेश प्राप्त होगा–यह अब सुनिश्चित हो गया है। आचार्य जयवर्धन ने निकट भविष्य का पूर्व संकेत किया है और आचार्यश्री की वाणी मिथ्या नहीं होती–हो ही नहीं सकती। आचार्यश्री का कथन है····।"–महामात्य कहते-कहते कुछ पलों के लिए रुके और सभासदों के मुख निहारने लगे। सभी में एक आश्वस्तता की झलक देखकर वे प्रसन्न हुए और बोले–"आचार्यश्री का कथन है कि अवन्ती के भाग्योदय का श्रेय किसी अवधूत को मिलेगा। अवधूत के हाथों उद्धार पाना ही मालव-राज्य की नियति है।"

महामात्य के इस कथन से सभी अवाक् रह गये। एक योगी···· अवधूत···· भला क्या यह भी संभव है ! सभी के मन में इसी आशय के अनेकानेक विचार उथल-पुथल मचाने लगे। एक बार तो सारी सभा में सन्नाटा छा गया। महामात्य ने ही अपनी बात को अग्रसर करते हुए कहा–"कुछ विचित्र तो आप सभी को यह बात लग सकती है, किन्तु यह मिथ्या नहीं है। मुझे पूर्ण आत्म-विश्वास है कि ऐसा ही होकर रहेगा। जब अवन्ती का एक राजा योगी होकर जा सकता है तो क्यों नहीं अन्य कोई योगी अवन्ती का राजा होकर आ सकता है !" इस अनुभूत तथ्यपरक तर्क ने सभासदों को और अधिक आश्वस्त कर दिया। एक हर्ष-ध्वनि से सभा-कक्ष गूँज उठा। तभी एक सभासद ने अपनी आशंका व्यक्त की और कहा–"अब यह लगभग सुनिश्चित हो गया है कि अवन्ती के राजसिंहासन पर किसी दुष्ट देव की भयानक कुदृष्टि है। इसका प्रमाण एक के पश्चात् एक अनेक राजाओं के क्रूर वध के रूप में हम देख चुके हैं। क्या अवधूत के साथ····।"

महामात्य ने कथन-मध्य ही टोकते हुए कहा–"आपकी शंका अपने स्थान पर स्वाभाविक भी हो सकती है। सोचने की बात यह है कि आचार्यश्री ने जब यह

संकेत दिया है कि एक अवधूत द्वारा संकट का मोचन होने वाला है, तो ऐसा ही होकर रहेगा। अवधूत के समक्ष क्या वाधाएँ आयेंगी—न तो कुछ इस विषय में कल्पना की जा सकती है और न ही यह कहा जा सकता है कि उन बाधाओं से वह किस प्रकार संघर्ष करेगा। यह सव तो भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ है। हाँ, इतना अवश्य है कि जैसे भी हो, किन्तु अवधूत की ही अन्तिम विजय होगी। तभी तो वह अवन्ती को संकट-मुक्त कर पायेगा। सोचने की बात विशेष रूप से यही है कि क्या अवन्ती को अपने नरेश के रूप में कोई अवधूत स्वीकार्य होगा ····?"

महामात्य एक ही साँस में यह अतीव गंभीर बात कह गये और तव जिज्ञासा-भरी दृष्टि से सभा को निहारने लगे। प्रमुख सामन्तगण एवं प्रतिष्ठित नागरिक भी इस सभा में विशेष रूप से आमंत्रित थे। एक वयोवृद्ध अमात्य ने उत्साह अभिवर्धित करते हुए कहा—"इसमें यदि कोई आपत्ति हो सकती है तो स्वयं अवधूत को ही हो सकती है—वह राजा बनना चाहे—न बनना चाहे। हमें भला क्या आपत्ति हो सकती है !"

समर्थन के स्वर में अन्य अमात्य जन भी अपने-अपने ढंग से कुछ-न-कुछ बोलने लगे। यही प्रतिपादित होता था कि मंत्रि-परिषद् किसी अवधूत के राजा होने में कोई आपत्ति नहीं मानती। सामन्तों ने भी अपनी सहमति व्यक्त की। एक पराक्रमी से प्रतीत होने वाले सामन्त ने कहा—"हमें भी कोई आपत्ति नहीं है, महामंत्री जी ! कोई आपत्ति नहीं है। हम तो पात्र-अपात्र व्यक्तियों को पहले भी नरेश बनाने की चेष्टा कर चुके हैं। यह प्रश्न तो फिर भी अवधूत का है जो आत्मिक उत्थान प्राप्त महात्मा होते हैं, जो तन-मन से निर्मल, भावना से निस्पृह और चरित्र से निर्दोष होते हैं। ऐसे नरेश की प्राप्ति से तो हम सभी धन्य हो उठेंगे, किन्तु विकट प्रश्न तो यह है कि ····· ऐसे अवधूत हमें मिलेंगे कहाँ? कैसे होगी ऐसे अवधूत की खोज?"

नगर-श्रेष्ठी अब तक मौन—शान्त बैठे हुए थे। सहसा वे मुखरित हो उठे, बोले—"इस विषय में मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। अवधूत महाराज की हमें खोज नहीं करनी होगी। आचार्य श्री जयवर्धन महाराज के संकेत के अनुसार तो ऐसे अवधूत स्वतः ही अवन्ती पहुँचेंगे। आवश्यकता इसी बात की रहेगी कि हम उनसे राज्यासन स्वीकार करने का अनुरोध करें और उन्हें इस हेतु मनाएँ। शेष कार्य तो स्वतः ही होते चले जायेंगे।"

"कव आयेंगे ऐसे अवधूत महाराज अवन्ती में ···· कव तक प्रतीक्षा करनी होगी हमें?" महावलाधिकृत ने प्रश्न कर दिया।

महामात्य ने हाथ का संकेत करते हुए उन्हें संतुष्ट करने की मुद्रा में कहा—"अवन्ती ने पर्याप्त समय इस कष्ट में व्यतीत किया है। अव अधिक समय शेष

नहीं रहा है—हमें ऐसा मान लेना चाहिए। फिर भी कब वह शुभ घड़ी आयेगी—कुछ ठीक से कहा नहीं जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि धर्माचरण ही सभी संकटों के निवारण का समर्थ साधन होता है। हम सभी को चाहिए कि धर्म की आराधना में अपने चित्त स्थिर कर लें, शुभ भावनाओं को अपने मानस में स्थान दें। अवन्ती की सारी प्रजा को धर्म की आराधना के लिए हम सभी प्रेरित करें। स्वतः ही वह घड़ी समीपतर होती चली जायेगी और मालव-राज्य को सुशासक की प्राप्ति हो जायेगी।'' इतना कहकर महामात्य ने आसन ग्रहण ही किया था कि नगर-श्रेष्ठी अपने आसन से उठ खड़े हुए। उन्होंने उपस्थित जनों से अनुरोध किया—''आइये, णमोकार महामंत्र का जाप करें।'' और उच्च स्वर में 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं' महामंत्र का गान आरम्भ कर दिया। उनके अनुसरण में सारी सभा समवेत स्वर में महामंत्र का गान करने लगी। सभा-कक्ष में एक सुखद, मांगलिक वातावरण छा गया।

महामंत्र-जाप के समाप्त होते-होते ही प्रतिहारी ने महामात्य से निवेदन किया कि एक ग्रामीण युवक आपके दर्शन करना चाहता है। बाहर खड़ा प्रतीक्षा कर रहा है। महामात्य ने दीर्घ साँस खींचते हुए कुछ अनुमान लगाने का असफल-सा प्रयास किया और तव युवक को भीतर ले आने का आदेश दे दिया।

कुछ ही पलों में युवा ग्रामीण ने उपस्थित होकर पहले महामात्य को नमनपूर्वक प्रणाम किया और फिर उपस्थित जनसमूह की ओर अभिमुख होकर सभी को करबद्ध प्रणाम किया और मुस्करा दिया। इसी समय महामात्य ने अपनी गंभीर वाणी मे कहा—''युवक ! अपना परिचय दो और यह बताओ कि तुम्हारा यहाँ आने का क्या प्रयोजन है?''

युवक महामात्य की ओर मुड़ा और करवद्ध रूप में, संयत स्वर में निवेदन करने लगा—''हम रूपन हैं माई-वाप.... रूपन ही हमारा नाम है। अवन्ती नगरी के नीयरे की वाहरी गरीवन की वस्ती में रहे हैं हम। गाइन चाराई का काम करत हैं हम महाराज !..... गरीब आदमी हैं हम। हम तो एक वात की याद कराई मते इहाँ आइ रहन हैं। माई-वाप, सिपरा के किनारे के एक वन माँह हम नित गई चरावत हैं। तीन-चार दिन तें उहाँ एक महाराज आई रहन हैं। वडे परतापी-पराकरमी साधु हैं ऊ अऊधूत महाराज ! इत्ता वखत हुई गयो—किसी ने उन महाराज की खेर-खवर नाहिन लिउ महाराज ! हमार अवन्ती तो साधु-सन्तन का सतकार करन मते आगे रहिन है। इया खवर देवन कूँ अर सतकार करन की याद दिरावउ को हमने हमार करतव जाना और इहाँ आई गये हैं महाराज....!'' गोपाल ने इतना कहते-कहते पुनः हाथ जोड़कर कुछ ऊपर कर लिये और अ' शीश उन पर झुका लिया।

सारी सभा चमत्कृत हो उठी। महावलाधिकृत ने सहर्ष कहा—"निश्चय ही धर्म में बड़ी शक्ति है। णमोकार मंत्र का जाप पूरा होते ही .... शुभ संदेश भी आ पहुँचा।"—और वे मुस्कराने लगे।

"धन्य हो रूपन गोपाल, तुम धन्य हो ! तुम तो हमारे लिए .... अवन्ती के लिए .... सारे मालव-देश के लिए एक देवदूत हो ! सारे देश को आज तुम पर गर्व है। तुमने यह शुभ समाचार सुनाकर सारी समस्या का ही समाधान कर दिया है, रूपन ! हम तुम्हारे बड़े ही आभारी हैं।"—कहते हुए महामात्य बुद्धिसागर ने उस अकिंचन को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और मस्तक झुका लिया। वह निरीह गोपाल कुछ समझ नहीं पा रहा था। उसके कृत्य की जो महत्ता स्वीकार की जा रही थी वह उससे अनभिज्ञ ही बना रहा। वह मुँह-वाए .... अवाक्-सा इधर-उधर ताकने लगा। उसका इतना आदर क्यों किया जा रहा है, अनजाने में उससे क्या हित सध गया है—उसे कुछ ज्ञात नहीं हो पा रहा था। इसी समय नगर-श्रेष्ठी अपना आसन त्यागकर आगे बढ़ आये और अपने कंठ से बहुमूल्य मुक्ता-माला उतारकर रूपन गोपाल को धारण करा दी और नमस्कार किया। महामात्य ने उसे पुरस्कृत किया। रूपन गोपाल की जय-जयकार होने लगी। सभी ओर हर्ष और उल्लास व्याप्त हो गया और इस हर्ष-ध्वनि के साथ ही सभा विसर्जित हो गयी।

× × ×

मालव-गंगा पवित्र क्षिप्रा का रमणीक तट—घनी हरीतिमा से आच्छादित वन-खण्ड। दूर—पर्याप्त दूर ही रथ को रोक देने का संकेत नगर-श्रेष्ठी ने सारथि को दिया और महामात्य को उन्होंने संकेत से जताया कि हम गन्तव्य स्थल पर पहुँच चुके हैं। महामात्य ने भी देखा कि दूर एक वट-वृक्ष तले अवधूत महाराज खड़े हैं। समीप ही एक प्रस्तर शय्या भी दिखायी दी जिस पर मृगचर्म फैला हुआ था। महामात्य और नगर-श्रेष्ठी—दोनों रथ से उतर पड़े। दोनों अपने-अपने मानस को संयोजित करने में तल्लीन थे कि अवधूत महाराज से क्या वार्त्ता, कैसे की जानी होगी? कैसे प्रस्ताव किया जाना चाहिए कि बात बनने में कोई व्यवधान नहीं आए। लक्ष्य के समीप पहुँचते-पहुँचते ही असफलता की जैसी प्रबल आशंका होने लगती है वैसी उससे पूर्व कभी भी नहीं होती। परीक्षा की इस घड़ी को जो सफलतापूर्वक पार कर जाता है—उसे ही लक्ष्य-प्राप्ति होती है, अन्यथा तट पर पहुँचते-पहुँचते भी नौका डूब जाती है। मानसिक तैयारी के क्रम में दोनों याचक मौन थे और मंथर गति से अग्रसर हो रहे थे। अनिश्चय की दशा में भी उन्हें कृत कार्य होने का आन्तरिक विश्वास अवश्य था।

अवधूत महाराज ने भी राजसी वैभवयुक्त वेश-भूषा में दो प्रौढ़ जनों को अपनी ओर आते देखा तो वे सहसा आश्चर्यचकित रह गये। वे न तो यह अनुमान

लगा पा रहे थे कि ये कौन हैं और न ही इसका अनुमान कर पा रहे थे कि इनके आगमन का प्रयोजन क्या हो सकता है। जब ये लोग कुछ समीप आ गये तो अवधूत ने इन्हें पहचान भी लिया। वे सोचने लगे–'ये तो अवन्ती के महामात्य बुद्धिसागर हैं। और .... हॉ .... हाँ ये अवन्ती के नगर-श्रेष्ठी हैं और अब इनके प्रयोजन के विषय में भी उन्हें स्पष्ट आभास होने लगा था।' उन्हें उस अँधियारी रात्रि में शृगाली का कथन स्मरण आने लगा। अब तक वे दोनों भी बहुत समीप आ गये थे, कुछ ही पलों में वे उन तक पहुँच जाने को थे। इन कुछ ही क्षणों में अवधूत ने अपने भावी व्यवहार क्रम को निर्धारित कर लेने का प्रयास किया। इसी प्रयास में उनके नेत्र निमीलित हो गये और चिन्तनलीन होकर वे अन्तर्मुखी हो गये। उनकी यह मुद्रा स्वतः ही अति गंभीर और साधुजनोचित हो गयी थी। इसी प्रभावशाली भंगिमा में याचकद्वय ने अवधूत महाराज के प्रथम दर्शन किये और अत्यन्त प्रभावित हुए। अवधूत महाराज के समक्ष पहुँचकर दोनों एक बार तो एक-दूसरे की ओर ताकने लगे और दृष्टि-विनिमय द्वारा दोनों ने अपनी-अपनी आंतरिक उद्विग्नता का परिचय दे दिया।

"हमारा नमन स्वीकार कीजिये प्रभो !"–कहते हुए नगर-श्रेष्ठी ने अवधूत के चरण स्पर्श किये। त्वरा के साथ अवधूत दो चरण पीछे की ओर खिसक गये और "अरे .... अरे .... कौन हैं आप? क्यों हमें पाप में डाल रहे हैं। हममें भी वैसी ही आत्मा है जैसी आपमें, फिर यह .... लेकिन आप ....?"

"मैं अवन्ती का नगर-श्रेष्ठी हूँ, महाराज ! और ये ....।" महामात्य की ओर संकेत कर वे उनका परिचय देने को ही थे कि सहसा अवधूत बोल पड़े–"ये बुद्धिसागर हैं।"

अवधूत महाराज ने जो नाम वता दिया तो दोनों बड़े चमत्कृत हुए और एक-दूसरे की ओर आश्चर्य से एक क्षण देखकर उन्होंने अवधूत की मुख-मण्डल पर अपनी दृष्टि टिका दी।

"आप महान् हैं, स्वामी ! आपने विना जाने ही इनका नाम वता दिया। जी हॉ, महाराज ! ये बुद्धिसागर ही हैं–अवन्ती के महामात्य"–नगर-श्रेष्ठी ने सविनय निवेदन किया।

अपनी मुद्रा में नीरसता लाते हुए अवधूत ने कहा–"कोई कुछ भी हो ..... हमारा इससे कोई प्रयोजन नहीं। हमारे लिए सभी एकसमान हैं। पंचतत्त्व के पुतले हैं सभी–माटी की मूरतें हैं।"

इस उपेक्षा भाव से नगर-श्रेष्ठी और महामात्य तनिक हतप्रभ हो गये। उन्हे कुछ सूझ नहीं रहा था कि अपनी वात को कैसे आगे वढ़ाएँ। तभी अवधूत ने रूक्ष वाणी में कहा–"हमे सांसारिक वैभव और विषयों में कोई रस नहीं है। आगे ``

सार की बात हो तो सीधे उसी पर आ जाओ ····· अन्यथा व्यर्थ ही हमारी साधना को भ्रष्ट न करो।''—यह कहते हुए वे अपनी प्रस्तर शय्या पर विछे मृगचर्म पर बैठ गये और दोनों हाथ ऊपर उठाकर उदग्रीव हो अपने इष्ट का मौन स्मरण करने लगे। आकाश की ओर उठे नयन कुछ पलों में अधमुँदे हो गये।

सारा प्रयास विफल होता देख महामात्य अत्यन्त चिन्तित हो उठे, किन्तु अपनी निराशा पर नियंत्रण करते हुए सहसा वोल पड़े—''कृपानाथ ! आप तो महान् हैं। आप दीनानाथ हैं और सारा मालव-देश आज दीन भी है और अनाथ भी। कृपा कीजिये, प्रभो ! हम अकिंचन जन आपसे कृपा की भीख मॉगने आये हैं।''

''तुमने मालव-देश को अनाथ कहा ····!''—अपने विशाल नेत्रों को और विस्तृत करते हुए अवधूत ने आश्चर्यपूर्ण भंगिमा के साथ पूछा—''अनाथ कैसे·····? महाराज भर्तृहरि जैसे प्रजा-पालक के होते हुए भी अनाथ·····? यहॉ की प्रजा दीन कैसे कही जायेगी·····।'' उत्तर की अपेक्षा में अवधूत मौन हो गये।

''यही तो समस्या है, स्वामी ! काफी समय व्यतीत हो गया—महाराज भर्तृहरि राज-वैभव, घर-परिवार सब-कुछ त्यागकर परिव्राजक योगी हो गये। तब से ही मालव-राजसिंहासन सूना पड़ा है। नरेशविहीन राज्य की प्रजा अनाथ ही तो होगी महाराज ····।''—दीनता के स्वर में नगर-श्रेष्ठी ने सहानुभूति अर्जित करने की दृष्टि से बात आरंभ की। अवधूत ने भी तब वार्त्ता में रुचि दिखायी। पूछा—''किन्तु ऐसा क्यों हुआ? सुना है नरेश भर्तृहरि की अतीव सुन्दरी रानी अनंगसेना से अतिशय प्रीति थी। फिर भला नरेश वीतरागी कैसे हो गये·····?''

''सब विधि के लेख हैं, प्रभो !''—महामात्य ने कहा—''प्रीति तो रानी अनंगसेना के साथ अतिशय थी महाराज की, यह सत्य ही है। और यही सच्ची प्रीति एक दिन वैराग्य की आधारशिला भी बनी।'' अवधूत ध्यानपूर्वक सुनते जा रहे थे। इस प्रवृत्ति से उत्साहित होकर तब नगर-श्रेष्ठी ने बात को और अग्रसर किया—''महाराज भर्तृहरि का अनुराग विराग में अकारण ही परिवर्तित नहीं हो गया, महात्मन् ! उनकी रूपवती प्रेयसी ने प्रेम में प्रवंचना की। रानी की प्रीति एक साधारण से राज-कर्मचारी से थी। महाराज के प्रति तो वे छलपूर्ण प्रीति का मात्र प्रदर्शन करती थीं।''

''और जब यह रहस्य प्रकट हुआ तो महाराज के मर्म पर प्रहार हुआ। अपनी प्रेयसी पत्नी से अनिष्ठापूर्ण व्यवहार पाकर क्षण मात्र में महाराज की सुषुप्त आत्मा जाग्रत हो उठी। संसार की असारता को हृदयंगम कर वे योगी हो गये। राज-पाट, वैभव-सुख, स्वजन-परिजन सवका त्याग कर वे आत्मोत्थान के मार्ग पर अग्रसर हो गये।'' महामात्य से यह वृत्तान्त सुनकर एक क्षण के लिए तो अवधूत गंभीर होकर आत्मलीन से हो गये। अगले ही पल वे जैसे नींद से जागे हों, सावधान से

होते हुए बोले—"त्रिया-चरित्र ···· तू भी अपार है ····· अबूझ रहस्य है।"—और क्षीण-सी मुस्कान के साथ पुनः गंभीर हो गये। कुछ पलों तक एकदम मौन छाया रहा। इस मौन को भंग करते हुए अवधूत ही बोल पड़े—"सचमुच तब तो मालव पर संकट गहराया हुआ है, किन्तु मालव का एक युवराज भी तो है—हॉ, विक्रमादित्य। वह राज्यासन ग्रहण क्यों नहीं करता। सारी समस्या ही समाप्त हो जायेगी। विक्रम भी योग्य और ····।"

नगर-श्रेष्ठी बीच ही में बोल उठे—"यह बहुत बड़ा सहारा होता, महात्मन् ! वे होते तो फिर कठिनाई ही क्या थी !! पर खेद है महाराज ! कि युवराज अवन्ती में नहीं हैं। उन्हें तो महाराज भर्तृहरि ने रुष्ट होकर पहले ही निष्कासित कर दिया था।"

"ऐसा क्यों हुआ ·····? दोनों बन्धुओं में तो बड़ा घनिष्ट स्नेह था ····।"

"इसके पीछे भी तो रानी अनंगसेना की ही दुरभि संधि थी, महाराज ! उन्हीं का षड्यंत्र था। रानी का प्रेम था नगर-रक्षक से और उन्होंने लांछन लगा दिया था युवराज पर। रानी तो रक्षित हो गयीं, किन्तु युवराज महाराज के कोपभाजन बने ····।"

"बेचारा विक्रमादित्य ····· !"—अवधूत क्षीण-सी हँसी हँसकर कुछ सोचते हुए बोले—"तो तुमने क्या सोचा है? अच्छा है महाराज भर्तृहरि से ही अनुनय-विनय करो। सम्भव है वे मान ही जायें। प्रजा को तो वे अपनी संतान मानते हैं। अपनी संतान के लिए मनुष्य सब-कुछ कर सकता है।"

"अब क्या निवेदन करूँ, महात्मन् !"—महामात्य ने विवशता प्रकट करते हुए कहा—"महाराज भर्तृहरि ऐसा कोई अनुरोध स्वीकार कर लेंगे—इसकी रंच मात्र भी आशा नहीं। वे तो अप्रतिम त्यागी हैं। वे ग्रहण के मार्ग से इतना दूर निकल गये हैं कि उन्हें लौटाकर लाना सर्वथा असंभव हो गया है, महाराज !" कुछ क्षणों के विरामोपरान्त महामात्य पुनः सवाक् हो गये—"अब तो आप ही का सहारा है, करुणावतार ! आपके किये ही अवन्ती का उद्धार संभव है।" महामात्य के मुख-मण्डल पर अनुनय-विनय साकार होकर फैल गयी। उनके दोनो हाथ स्वतः ही जुड़कर आगे बढ़ गये और नेत्र सहसा आर्द्र हो उठे।

"महामात्य का कथन सर्वथा सत्य है, स्वामी !"—अनुमोदन के स्वर में नगर-श्रेष्ठी ने कथन आरम्भ किया—"महाराज भर्तृहरि को यदि राज-काज करना ही होता तो वे गृह व राज्य त्यागकर जाते ही क्यों। वे प्रजावत्सल राजा थे—यह इतिहास का विषय ही रह गया है—वैसे उत्कट त्यागी संसार में दुर्लभ हैं। योग धारण करने के पश्चात् उन्होंने व्यापक देशाटन किया है, महाराज ! एक बार वे किसी ग्राम से बाहर निकलकर दोपहरी में किसी वृक्ष के नीचे लेटे हुए थे। सिर के नीचे तकिये के स्थान पर कुछ ऊँचा-सा पत्थर लगा हुआ था। उसी समय

ग्राम-वधुएँ पनघट के लिए उधर से निकलीं। एक ने अपनी सखी से कहा–"ये महाराज भर्तृहरि हैं, महान् त्यागी, संन्यासी हैं। क्षण मात्र में सारा राजसी वैभव तिनके की भाँति त्यागकर योगी हो गये।" "अरे.... कहाँ के त्यागी !" सखी ने व्यंग्य भरी हँसी हँसते हुए कहा–"देख, इन्होंने तकिया तो खोज ही निकाला–चाहे पत्थर का ही हो। तकिये का भी एक सुख होता है री, क्या त्याग पाये इस सुख को तेरे ये महा....राज....।" और वह उपहासात्मक रूप में खिलखिला पड़ी। पहली सखी तो बेचारी क्या उत्तर देती, किन्तु महाराज भर्तृहरि ने यह टिप्पणी सुन ली थी। ग्राम-वधुएँ जब अपने मार्ग पर आगे बढ़ गयीं तो योगी जी ने तकिये के स्थान पर रखे पत्थर को हटा दिया और पुनः लेट गये।"

"बड़ी ही उच्च्य कोटि की त्याग-भावना है....।" प्रभावित होते हुए अवधूत ने धीमे स्वर में अपना मत प्रकट किया।

उसी समय महामात्य बोल उठे–"यह प्रसंग यहीं समाप्त नहीं हो गया, स्वामिन् !" अवधूत की दृष्टि नगर-श्रेष्ठी से हटकर महामात्य पर टिक गयी। बिना भूमिका के महामात्य ने कहा–"कुछ ही समय में पनघट से ग्राम-वधुएँ सजल घट लेकर लौटीं। फिर उनकी दृष्टि योगी जी की ओर गयी। पहली सखी ने कहा–"देख, योगी जी ने पत्थर के तकिये का भी त्याग कर दिया। हैं न योगिराज परम त्यागी ! और देख लोक भावना का भी कैसा आदर....।" "अरे कौन-सा आदर है...।" बीच ही में दूसरी सखी बोल पड़ी–"हमने तकिये की जो बात की थी न, लगता है योगी भर्तृहरि ने उसे ठीक नहीं समझा। उन्होंने हमारी चर्चा का बुरा मान लिया और रुष्ट होकर पत्थर को अपने सिर के नीचे से निकालकर कैसा दूर फेंक दिया है। प्रसन्नता-अप्रसन्नता के अधीन जो बना रहे, वह तो राग-द्वेषपूर्ण ही कहा जायेगा न ! जो राग-द्वेष का त्याग न कर पाए उसे भला परम त्यागी कैसे कहा जा सकता है !..... हैं ?"

अवधूत दत्तचित्तता के साथ प्रसंग का श्रवण करते जा रहे थे। वे मूल भाव से प्रभावित होते जा रहे थे और उसे हृदयंगम करने का प्रयास भी कर रहे थे। इनकी इस प्रवृत्ति से उत्साहित होते हुए महामात्य ने अपने कथन का समापन किया–"ग्राम-वधू की इस टिप्पणी को भी योगी भर्तृहरि ने सुना और उस पर विचार किया। एक ओर तो उन्हें अनुभव हुआ कि यह जगत् मिथ्या है, बहुरूपी है। तकिया-ग्रहण भी निन्दा का विषय है और उसका त्याग भी उसके लिए निन्दा का ही विषय है। ऐसे जगत् के प्रति उनका वितृष्णा का भाव और प्रबल हो गया, उनकी विरक्ति तीव्रतर हो गयी। राग-द्वेष का त्याग तो पहले से ही उनमें था, वह और अधिक प्रचण्ड हो गया, स्वामिन् ! उनके लिए कोई अपना नहीं, और सभी अपने हैं। मालव-प्रजा के लिए विशेष स्नेह उनके मानस में शेष नहीं रहा–उनकी करुणा और हित-कामना के पात्र जगत् के समस्त प्राणी हो गये हैं। उन्होंने अपने

मानस का व्यापक विस्तार कर लिया है। वे मालव-देश मात्र के लिए चिन्तित नहीं। ऐसे में राज्यासन पुनः ग्रहण करने की आशा योगी भर्तृहरि से करना—आत्म-वंचना ही है—महाराज ! अब आप ही कृपावतार, सहाय कीजिये।" कहते हुए महामात्य बुद्धिसागर एकटक अवधूत के मुख की ओर आशा भरी दृष्टि से निहारने लगे।

प्रसंग पर विचार कर अवधूत ने कहा—"तब तो योगी भर्तृहरि वास्तव में साधना के मार्ग पर इतना आगे बढ़ गये हैं कि उन्हें .... तुम ठीक ही कहते हो .... उचित ही है तुम्हारा मत।" दो क्षण चिन्तन कर उन्होंने गंभीरतापूर्वक कहा—"महाराज भर्तृहरि को पुनः नरेश नहीं भी बनाया जा सकता तो क्या, युवराज विक्रमादित्य की खोज तो करायी जा सकती है .... युवराज तो संन्यासी नहीं हो गये .... उन्हें मालव-नरेश बनाइये ना ?"—कहते हुए अवधूत ने रहस्यपूर्ण दृष्टि के साथ दोनों की ओर ताका और कुछ ताडना चाहा। तभी नगर-श्रेष्ठी ने विनती-भरी वाणी में कहा—

"महाराज ! हमारे लिए तो आप ही युवराज हैं ....।"

"सत्य है, स्वामिन् ! जिस पोखर से प्राणी की प्यास बुझ जाये उसके लिए तो वही सागर है। अब हमें तो आपका ही आश्रय है।"

महामात्य के कथन ने अवधूत के मन को पुनः सुस्थिर कर दिया। वे आश्वस्त हो गये। महामात्य ने कथन को अग्रसर किया—"हमने राज्य की समग्र शक्ति लगाकर दूर-दूर तक युवराज की खोज करायी; किन्तु विफलता ही हाथ लगी। अन्य प्रयत्न भी किये गये। उपयुक्त जनों को एक-के-पश्चात् एक करके राज्यारूढ़ किया गया, किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे ये प्रयत्न भी विफल हुए। राज्याभिषेक की रात्रि में ही वे सभी नरेश मरण को प्राप्त होते गये। इस भयावह और रहस्यपूर्ण परिणति से राज्य में आतंक-सा छा गया है। हमारी मान्यता है, स्वामी ! अवन्ती के राज्यासन पर किसी दुष्ट देव की अमंगल दृष्टि है। उसी का उत्पात है कि मालव को कोई नृपति नहीं प्राप्त हो पा रहा। वही प्रत्येक नव-नरेश की हत्या कर देता है।"

"यही मूल संकट है, महाराज ....! यही मूल समस्या है ....।" नगर-श्रेष्ठी ने निवेदन किया और कहा—"आप तो मंत्र-वल में भी पहुँचे हुए महापुरुष हैं। अशुभ पर शुभ की, असत्य पर सत्य की सदा ही विजय होती रही है, किन्तु इस निमित्त किसी पराक्रमी, समर्थ नायक की अपेक्षा रहती है—जो जनहित के महाव्रत की पूर्ति में ही विजय का साधक बन पाता है। मालव-देश को आपकी क्षमता और शक्ति का समर्थ वरदान संयोग से ही सुलभ हुआ है। अब कृपावतार ! अनुग्रह कीजिये ... अवन्ती के राजसिंहासन को दुष्ट दृष्टि से मुक्त कीजिये, मालव-प्रजा को .. कीजिये, प्रभो !"

"हूँ ····" अवधूत ने चिन्तन की मुद्रा में ही कहा—"समस्या वडी जटिल है ···· इसे साधारण मानना भी भूल होगी। संकट वडा गंभीर है। हम इसके निवारण का प्रयास करेंगे—हमें सफलता का विश्वास भी है ···· किन्तु इसके लिए हमें हमारी मर्यादा को शिथिल करना पड़ेगा। हमें स्वयं ही सिंहासनारूढ होना होगा ···· और कोई विकल्प ही नहीं है।" इतना कहकर अवधूत मौन, गंभीर हो गये।

"हम धन्य हो गये, प्रभो ! आपने मालव-देश की मनोकामना पूर्ण कर दी।" महामात्य उत्साहातिरेक में सहसा वोल पड़े—"आपके समर्थ हाथों ही अवन्ती का संकट दूर हो सकेगा। अब हम निश्चिन्त हो गये।"

अवधूत ने कहा—"किन्तु ध्यान से सुनो ···· हम सदा-सदा के लिए अवन्ती के राज्यासन पर आरूढ़ नहीं रहेंगे। हम तभी तक यह दायित्व वहन करेंगे जब तक विक्रमादित्य लौटकर नहीं आते। उनका ही राज्याधिकार वनता है, वे ही मालव-देश के स्थायी नरेश होंगे। हम उनके प्रकट होने पर उन्हें उनका अधिकार सौंप देंगे और स्वयं मुक्त हो जायेंगे।"

"यथार्थ हे प्रभो !"—नगर-श्रेष्ठी ने आभारपूर्ण स्वर में कहा—"ऐसा ही होगा। एक बार समस्त संकटों का निवारण कर मालव-देश को सनाथ कर दीजिये।"

"मालव को सनाथ करना विक्रमादित्य का काम है और वे ही इसे पूर्ण करेंगे भी। यही नियति का संकेत भी है और ····।" अवधूत ने सहजतः कह दिया।

"तो कृतार्थ कीजिये, स्वामी ! रथ में विराजिये और राजभवन की ओर प्रस्थान कीजिए ····।" महामात्य ने गद्‌गद कंठ के साथ निवेदन किया। नगर-श्रेष्ठी ने भी विनती की।

"कल सूर्योदय के समय हम स्वयं अवन्ती में प्रवेश करेंगे। हम स्वतः ही पहुँचेंगे और अपनी मर्यादानुसार एकाकी ही प्रवेश करेंगे। तुम निश्चिन्त होकर जाओ।" अवधूत ने कथन समाप्त किया और आसन से उठ खड़े हुए—"जय गुरुदेव !" की वाणी अपनी गंभीरता के साथ गूँज उठी और उद्‌ग्रीव अवधूत आकाश को निहारने लगे।

महामात्य बुद्धिसागर और नगर-श्रेष्ठी—दोनों ने नमनपूर्वक प्रणाम निवेदन किया। अवधूत महाराज ने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया—"मंगल हो !"

● ●

अल्प-काल के बाद सारे अवन्ती में यह समाचार सर्वत्र व्याप्त हो गया कि एक अद्भुत योगी मालव-राज्य के सिंहासन को शोभित करेंगे। आश्चर्य और एक विचित्र सुख के साथ अवन्ती के नागरिक जन इस समाचार को कहते सुनते रहे, चर्चा करते रहे। लोगों ने सिंहासन पर आरूढ़ उनके पूर्ववर्ती महाराज और भर्तृहरि महाराज के दर्शन किये थे। वह स्वरूप आज उनके नेत्रों के समक्ष स्मृति रूप में पुनः जीवित हो उठा। वे कल्पना करने लगे कि अवन्ती के सिंहासन पर एक योगी कैसा दिखाई देगा! लोक-कल्याण के पालन और वैराग्य का यह अद्भुत संयोग कैसा विचित्र होगा! कैसी अपूर्व शोभा होगी! वैभवपूर्ण राजसभा में रत्नजटित स्वर्णासन पर भगवावेशधारी नरेश .... कैसी अलौकिक सी झाँकी होगी! कैसा अद्भुत अनुभव होगा—उस छवि का दर्शन! सर्वत्र एक अपूर्व आशा और उल्लास का वातावरण छा गया। प्रजा जन नव-नरेश की प्राप्ति पर परस्पर बधाइयाँ देने लगे थे। अवन्ती के पुनर्भाग्योदय की यह पूर्व संध्या बड़ी उल्लासमयी हो गयी। नगर को सज्जित करने और नव-नरेश का स्वागत करने के उपक्रम होने लगे। उमंग का ऐसा वातावरण बड़े दिनों बाद दिखायी देने लगा था।

सूर्योदय-पूर्व ही सारा नगर सज्जित होकर अपने भूपेश की अगवानी हेतु तत्पर हो गया। पुष्पों-पल्लवों से तोरण-द्वार निर्मित कर दिये गये थे। बन्दनवारों की सजावट विशेष रूप से की गयी थी। राजपथ भी स्वच्छ ही नहीं, भाँति भाँति की अलंकरण सामग्रियों से सज्जित भी कर दिये गये थे। आवासों की सजावट निराली ही थी। नगरवासी भी स्नान-ध्यान कर, सुन्दर वस्त्रालंकारों से सज्जित हो, राजपथ के दोनों ओर स्वागतार्थ सन्नद्ध खड़े थे। तोरण-द्वारों पर विशेष रूप से जन-समूह एकत्र थे।

महाराज का आगमन हो गया .... महाराज पधार गये यह समाचार आगे-से-आगे बढ़ते हुए सारे नगर में फैल गया और कोलाहल सहसा चरम पर पहुँच गया। सभी की दृष्टि नगर के प्रवेश-द्वार की दिशा में लग गई, जिधर से नव-नरेश के आगमन की प्रतीक्षा थी। प्रतीक्षा की घड़ियों में मन जितना चंचल और उद्विग्न रहता है—वैसा कदाचित् अन्य किसी भी परिस्थिति में नहीं रहता। अधीरता और आकुलता मानो साकार होकर मुख-मण्डल पर झलकती है और रोम-रोम में समा जाती है। यही उत्साह अतिरिक्त ऊर्जा बनकर नगरवासियों को स्फूर्त किये हुए था।

सूर्योदय के साथ ही अवधूत महाराज ने अवन्ती में प्रवेश किया। उनके अतीव कान्तिमान मुख-मण्डल को देखकर सभी को ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो इस भोर में अवन्ती में दो-दो दिवाकर उदित हो गये हों। सौम्य, प्रशान्त मुद्रा में भी अवधूत की आन्तरिक साहसिकता और प्रवलता की झलक स्पष्टतः दृश्यमान हो रही थी। ये भगवाधारी योगी अवधूत तो थे, किन्तु साधारण अवधूतों से भिन्न उनकी एक ऐसी छवि के दर्शन सभी को होने लगे जिसमे आत्म-विश्वास की सघनता और धीरता-गंभीरता के रंग विशेष रूप से सम्मिलित थे। मुख्य द्वार पर राजसी विधि से उनकी अगवानी की गयी। एक क्षण मात्र के विरामोपरान्त तटस्थ भाव के साथ वे राजपथ पर अग्रसर हो गये। वहाँ उपस्थित जन-समुदाय का अभिवादन स्वीकारते हुए आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाया और एक गंभीर मुस्कान उनके अधरों पर आ गयी। उन्होंने अपने सम्मान में आयोजित किसी विधि में रस नहीं लिया। महामात्य ने एक पुष्पहार अवश्य धारण कराया था। खड़ाऊँ खड़खड़ाते वे लम्बे-लम्बे डग भरते, तीव्र गति से राजभवन की ओर बढ़ रहे थे। राजपथ पर एकत्र असंख्य-असंख्य जन अवधूत महाराज की जय-जयकार कर रहे थे। राजपथ पर वे निस्संग–एकाकी ही अग्रसर हो रहे थे। महामात्य बुद्धिसागर के संकेत पर सभी लोग नगर-द्वार पर रुक गये थे, किसी ने अनुसरण नहीं किया। उत्साहित जनसमूहों से घिरे रिक्त राजपथ पर अकेले एक योगी का संचरण अद्भुत दृश्य निर्मित कर रहा था। प्रजा इस अद्भुत छवि के दर्शन से निहाल हो रही थी। ऐसे तेजस्वी संत के दर्शन सौभाग्य से ही किसी को होते हैं। लोगों में भाँति-भाँति की चर्चाएँ होने लगीं–

– "कैसा बलिष्ट और सुदृढ़ शरीर है, अवधूत महाराज का। ये तो जैसे मालव-नरेश बनने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं।"

– "हो-न हो–इनका सम्बन्ध किसी राजवंश से है, कैसा तो पराक्रम झलकता है....।"

– "और नेत्र देखे नहीं ! कितने विशाल, कितने सुन्दर, कितने आभापूर्ण–ये साधारण संत नहीं, भैया.... इनका तो....।"

– "आजानु बाँहें हैं इनकी। बड़े पराक्रमी हैं.... न जाने कैसे ये अवधूत हो गये होंगे। ये तो शूरवीर लगते हैं। ऊँचा कद, चौड़ा वक्ष, सुदृढ़ स्कंध–सब-कुछ तो वैसा ही है जैसे कि पराक्रमी, प्रतापी राजपुत्र में मिलता है।"

– "अव चाहे ये अवधूत योगी ही क्यों न हों, वन्धु ! अवन्ती-नरेश हो रहे हैं ये, तो सर्वथा इस योग्य भी हैं। इनको शासक रूप में पाकर हम धन्य हो गये।"

– "इसे कहते हैं सौभाग्य.... जव तक अनाथ रही–अवन्ती अनाथ ही रही और जव उसे स्वामी मिला तो कैसा प्रताप.... कैसा प्रभावशाली....।"

"तुम सौभाग्य की बातें करते हो, किन्तु भाई ! मुझे तो अवधूत महाराज की नियति की कल्पना से ही भय लगता है। महाराज भर्तृहरि के गृह-त्याग के पश्चात् कितने शूरवीर सिंहासनारूढ़ हुए और उनका कैसा दुर्भाग्यपूर्ण और दयनीय अन्त हुआ....। कैसा सुदर्शन व्यक्तित्व है, अवधूत महाराज का.... कहीं इनके साथ भी वैसा ही हुआ तो अवन्ती को अपयश का भागी होना पड़ेगा। हाय ! बेचारे अवधूत महाराज.... ।"

"मुझे भी इस कल्पना से भीतर ही भीतर एक सिहरन-सी होती है, भाई मेरे ! हमारी प्रार्थना है–सभी बाधा-आपदाओं से ये रक्षित रहें। अवन्ती को राजा मिले.... न मिले.... ऐसे महात्मा की कोई हानि नहीं हो..... ।"

"अरे भाई, कैसी बातें सोचते हो ! कैसा भी अभिशाप अवन्ती को न लग गया हो, अवधूत महाराज अपनी शक्ति से उसे निरस्त कर देंगे। इनके ही हाथों तो अवन्ती का उद्धार होने को है। क्यों ऐसा दुर्बल सोच अपने मन में लाते हो। सब-कुछ ठीक हो जायेगा।"

सभी उनके ऊर्जस्वित व्यक्तित्व से प्रभावित थे। सभी आशंकाओं के होते हुए भी लोगों के मन के किसी कोने में यह विश्वास भी था कि मालव दुर्भाग्य इन्हीं के हाथों सौभाग्य में परिवर्तित हो सकेगा। अवधूत महाराज मंत्र-शक्ति में भी बहुत पहुँचे हुए हैं और अवन्ती के राजसिंहासन पर मँडरा रही दैवी विपत्ति की काली छाया को ये अपनी इस शक्ति से तिरोहित कर देंगे। इनके हाथों मालव-देश की स्वाधीनता और सुख-शान्ति सुरक्षित रहेगी। मालव को प्रतापी शासक की प्राप्ति ही अवधूत महाराज के रूप में हुई है।

तेजस्वी अवधूत महाराज सभी को चमत्कृत–प्रभावित करते शीघ्र ही राजभवन पहुँच गये। अनेक प्रतिष्ठित जन वहाँ मुख्य द्वार पर अनेक स्वागतार्थ तत्पर खड़े थे। सभी के अभिवादनों को हाथ उठाकर स्वीकार करते हुए मौन और शान्त रूप मे वे प्रविष्ट हुए। उपेक्षा भाव उनके व्यवहार में प्रमुख हो गया था। किसी मान-सम्मान की कोई प्रसन्नता नहीं, किसी आवभगत की कोई प्रतिक्रिया नहीं। मुख्य द्वार से ही पॉवड़ा बिछा हुआ था जो उद्यान मे होता हुआ मुख्य राजभवन तक पहुँचाता था। अवधूत इस पॉवड़े पर बढ़ चले, किन्तु उद्यान के मध्य पहुँचकर वे सहसा रुक गये। उनके चरण पॉवड़े से नीचे उतर गये। महामात्य जो पहले ही वहाँ पहुँच गये थे, आगे बढ़े और उन्होंने विनती की–"राजभवन में पदार्पण कीजिये, महाराज !"

हाथ के संकेत से निषेध करते हुए अवधूत ने गंभीर वाणी "राज्यारोहण के पश्चात् ही हम राजभवन में प्रवेश करेंगे, इससे पूर्व न सुरम्य उद्यान के भीतर की ओर बढ़ गये। उद्यान के एक खुले स्थल प

ही एक स्फटिक मंच था। वगल से मृग-चर्म निकालकर उन्होने मंच पर फैलाया और उस पर वैठ गये। सहसा उनके नेत्र निमीलित हो गये। उनके अधरों में हलचल होने लगी—मन ही मन वे णमोकार महामंत्र का गान करने लगे। कुछ ही क्षणों में उनकी पलकें खुलीं। उपस्थित जनों को उन्होंने आशीर्वाद प्रदान किया— "मंगल हो .... ! सभी का मंगल हो !!" और हाथ के संकेत से सभी को वैठने को कहा।

"भाग्यवानो ! आपने .... समस्त अवन्ती ने .... समग्र मालव-देश ने असह्य कष्ट का सामना किया है—इसमें रंच मात्र भी संदेह नहीं। महाराज भर्तृहरि ने राज्य-त्याग कर दिया, युवराज विक्रमादित्य अवन्ती में नहीं हैं; उनकी खोज भी सफल नहीं हुई। आपका यह विचार भी सत्य ही है कि एक प्रकार से मालव-देश अनाथ हो गया। नरेशविहीन राज्य, चाहे कितना ही सवल क्यों न हो—वह असुरक्षित हो जाता है। जनता को सारी व्यवस्थाओं के होते हुए भी एक अज्ञा भय त्रस्त किये रहता है। किसी दुष्ट देव की कुदृष्टि भी अवन्ती के सिंहासन प लगी हुई है। वह किसी नव-नरेश को जीवित नहीं छोड़ती। मालव जन की इ दुर्भाग्यपूर्ण पीड़ा ने ही हमें द्रवित कर दिया और आपके अनुरोध को हम स्वीकार कर लिया .... अन्यथा साधु और सत्ता का क्या संबंध। हम समृद्ध औ सशक्त मालव-देश के स्वामी नहीं होना चाहते .... स्वामी तो हम हमारे मन के हैं वही बने रहना चाहते हैं।"—अवधूत महाराज ने अपनी बात कही। उनके विचार से उपस्थित जन चमत्कृत रह गये। वे स्तब्ध से, मूर्तिवत् बैठे, अवधूत महारा का कथन हृदयंगम कर रहे थे। अवधूत ने कुछ पलों के विरामोपरान्त कथन क पुंनः आरंभ किया—

दैविक बाधा का पराभव हमारा मुख्य लक्ष्य है। हम चाहते हैं कि अवन्ती के उसके नरेश की प्राप्ति हो। इसी उद्देश्य से हमने तथाकथित देव को अपने वश मे करने का निश्चय किया है। उस देव से हमारा सामना तभी संभव है, जब हम मालव के राज्यासन पर आरूढ़ हों। त्यागी जन को भी इस प्रकार लोक-हित में ग्रहण का मार्ग अपनाना पड़ता है—वही हम कर रहे हैं, किन्तु यह एक तात्कालिक व्यवस्था ही रहेगी। हम आजीवन मालवाधिपति रहेंगे—ऐसा नहीं है। हम इस रूप में राजसिंहासन को निष्कंटक बनाकर मात्र तभी तक राज-काज करेंगे कि जब तक विक्रमादित्य नहीं आ जाते। कदाचित् यह दैव-बाधा भी इसी कारण है कि विक्रमादित्य के स्थान पर अन्य-अन्य को राज्यासन देकर राजा बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं। हमें हमारा भवितव्य स्पष्ट दिखायी दे रहा है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि दुष्ट देव को हम अवश्य ही पराभूत कर सकेंगे। विक्रम को राज्य सौंपकर हम पुनः साधनामार्गी हो जायेंगे।"

इतना कहकर अवधूत महाराज पुनः मौन हो गये और जन-समूह की ओर उसकी प्रतिक्रिया जानने के प्रयोजन से देखने लगे। "धन्य हो ...... धन्य हो !! अवधूत महाराज की जय ! मालव के सौभाग्य की जय !" के स्वरों से सारा उद्यान गुंजरित हो उठा। हाथ उठाकर शान्त हो जाने का संकेत करते हुए अवधूत बोले–

"हमने मालव-प्रजा का अनुरोध माना और राजा बनना स्वीकार किया है। हम राजा ही बनेंगे .... नरेश नहीं। हम राज-वैभव और विलास के भोक्ता नहीं बनना चाहते। यह अधिकार तो आपके युवराज विक्रमादित्य का है। हम मात्र राजा रहेंगे। राजा का परमोच्च कर्त्तव्य है–दुष्ट-दलन और सज्जन-त्राण का। सर्वप्रथम हम इसका पालन करेंगे। जिस दुष्ट देव की कुदृष्टि लगी है अवन्ती पर उससे मुक्ति दिलाना हमारा महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। इस दुष्प्रवृत्ति का दमन कर हम मालव को सुखी कर देना चाहते हैं। न्याय-नीति से राजकोष को सतत रूप से समृद्ध करते रहने का प्रयत्न भी रहेगा हमारा और हम सन्तान की भाँति, वात्सल्यपूर्ण व्यवहार के साथ प्रजा का पालन भी करेंगे। प्रजा के सुखों की वृद्धि हो–हमारी चेष्टा इसी दिशा में होगी। आक्रान्ताओं और शत्रुओं से देश और जनता का रक्षण भी आदर्श राजा का परम कर्त्तव्य होता है और इसे भी हम प्राथमिकता के साथ अपनाएँगे। हमने राज्य का अनुरोध केवल कर्त्तव्य-पूर्ति के लिए ही स्वीकारा है– सत्ता-सुख के उपभोग अथवा महिमा-मंडित होने के अधिकार के लिए नहीं।" अवधूत योगी की इस उक्ति ने उनके मानस की एक खुली झलक जनता और राज्याधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत कर दी। इससे सभी की दृष्टि में उनका ऊँचा कद किसी सीमा तक और भी ऊँचा हो गया। वे सभी के लिए सहज श्रद्धा के पात्र बन गये। ऐसी निस्पृहता, ऐसी स्वार्थहीन लोकसेवा .... ऐसी जनहितैषिता ... अद्‌भुत है, अपूर्व और असाधारण है।

कुछ पलों के मौन के उपरान्त अवधूत पुनः मुखरित हुए–

"भाग्यवानो ! मनुष्य की भाँति ही राज्य और देश का भी भविष्य होता है– प्रारब्ध होता है। समय-समय पर इन्हें भी अनेक उतार-चढ़ाव देखने और भोगने पड़ते हैं। इनका सुसमय भी कभी रहता है, तो कभी दुर्दिनों से भी ये घिर जाते हैं। मालव-देश का कुसमय अब समाप्त होने वाला है–इसमें कोई सन्देह नहीं है और सुख-शान्ति का, सौभाग्य का समय अब इसका द्वार खटखटा रहा है। स्वागत कीजिये इस सुसमय का और निश्चिन्त हो जाइये। धर्माराधना में जिस देश की जनता की गहन रुचि होती है उस देश का सौभाग्य जाग्रत रहता है। समता भाव के साथ जीवन व्यतीत करने वालों के लिए दुःख क्षणिक हो जाते हैं, वे दुःखद प्रतीत ही नहीं होते। शुभ कर्मों के फल सदा ही सुखद होते हैं। शुद्ध भावना के साथ सुकर्मों में प्रवृत्त रहना भावी मंगल का स्वयं निर्माण करना है। महान् जनों

की महत्ता को निःस्वार्थ भाव से सानन्द स्वीकार करना—आदर्शोन्मुख हो जाना है और यही आत्मोत्थान के क्रम का आदि सोपान है। प्रेम भाव से णमोकार महामंत्र का जाप करो—

"णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं......।"

अवधूत योगी के साथ-साथ समग्र सभा ही नवकार का जाप करने लगी। सर्वत्र आनन्द की वर्षा होने लगी।

× × ×

अत्यन्त सादे-से समारोह में अवधूत महाराज का राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ। वे विधिवत् मालव-शासक घोषित हुए। राजसिंहासन पर एक योगी अवधूत की छवि न केवल अद्‌भुत, अपितु अत्यन्त आकर्षक भी लग रही थी। भगवावेश में नृपति की कल्पना भी किसी ने नहीं की थी। गेरुआ उत्तरीय और रत्नजटित स्वर्ण किरीट, स्वर्ण-सिंहासन पर मृग-चर्म, रजत के पॉवदान पर काठ की खड़ाऊँ कैसा अपूर्व सयोग था ! कैसा अद्‌भुत ! भूपेश के योग्य ही योगी अवधूत का व्यक्तित्व था। पराक्रम का प्रतीक दीप्तिमान मुख-मण्डल, आत्म-विश्वास की दमक से परिपूरित विशाल नयन और भरा-पूरा बलिष्ट गात्र। सभी को विश्वास था कि अवधूत हमें हमारे सौभाग्य से ही नृप रूप में मिले है। इनके हाथों मालव-राज्य सुरक्षित रहेगा। सभी के लिए सुख-शान्ति के दूत बनकर ही आये है हमारे अवधूत महाराज। सभी अन्तर्मुखी बने भॉति-भॉति की कल्पना-भावना में खोये हुए थे। तभी व्याप्त शान्ति को विदीर्ण करते हुए एक स्वर गूँजा—"हमारे राजा अवधूत महाराज की...." और समस्त उपस्थिति ने पूरी शक्ति के साथ उच्च वाणी में योग दिया—"जय....।" तभी किसी ने अवसरानुकूल शुभ कामना भरा घोष किया—"अवधूत महाराज....अमर रहें।" और तब तो असंख्य कण्ठों द्वारा इस घोष की पुनः-पुनः आवृत्ति होती रही। अवधूत महाराज भी इस घोष के मर्म को तत्काल समझकर आन्तरिक आह्लाद से पूरित हो उठे। उमंग और उत्साहपूर्ण वातावरण के प्रभाव ने महाराज को अस्थिर और तनिक चंचल कर दिया। वे त्वरा के साथ राजसिंहासन से उठे—एक दृष्टि पार्श्व के रिक्त लघु सिंहासन पर डाली और मुस्करा उठे। तभी महामात्य बुद्धिसागर ने निवेदन किया—"श्रीमानेश्वर ! यह युवराज विक्रमादित्य का आसन है।"

अवधूत महाराज ने वात को समझ लेने की मुद्रा में शीश हिलाते हुए कहा—"अच्छा....अच्छा। किन्तु अव तो विक्रमादित्य का सिंहासन यह है, महामात्य !" —और राजसिंहासन की ओर संकेत कर दिया।" हम तो उनके मात्र प्रतिनिधि रूप मे राज-काज की वागडोर सँभाल रहे हैं उनके आगमन तक।"

महामात्य ने सादर शीश झुका दिया और अवधूत महाराज का अनुसरण करने लगे। महाराज ने हाथ उठाकर सभासदों से विदा ली और सभासदों के आसनों के मध्य वाले मार्ग से आगे बढ गये। दोनों ओर से राजसभा के सदस्यगण अक्षत और पुष्पों की वर्षा करते हुए शुभ कामनाएँ प्रकट करते रहे। बन्दीजन प्रशस्ति-गान करने लगे और महाराज अग्रसर होते रहे। समारोह विसर्जित हो गया।

अवधूत महाराज से निवेदन किया गया था कि वे राजसी वेश धारण करें और जटा-दाढी भी साफ करवा ले। महाराज ने केवल राजमुकुट और परम्परा से चला आ रहा अवन्ती-नरेश का मुक्ता-हार धारण करना स्वीकारा। शेष उनका सारा वेश यथावत् रहा। हॉ, क्षौर द्वारा उन्होंने जटा को छँटवाकर कुछ हल्का करवा लिया। सध्या समय शोभा-यात्रा द्वारा नगर-परिभ्रमण का आयोजन था कि अवन्ती की प्रजा अपने नव-नरेश के दर्शन कर सके। सज्जित श्वेत गजराज प्रतीक्षा कर रहा था कि अपने स्वामी की सेवा कर सके। महाराज ने शोभा-यात्रा के लिए प्रस्थान से पूर्व महामात्य को आज्ञाएँ दीं कि सभी बन्दियो को मुक्त कर दिया जाय, एक सप्ताह तक अहर्निश दान दिये जाने की व्यवस्था कर दी जाय। कोई भी याचक, किसी भी समय निराश न हो। राज-अतिथिशाला में जो-जो भी पहुँचे—सभी के लिए भोजन-व्यवस्था रहे। "जो आज्ञा ...... श्रीमानेश्वर !" -महामात्य बुद्धिसागर ने शीश झुकाकर आदेश ग्रहण किया। तभी महाबलाधिकृत की ओर अभिमुख होकर अवधूत महाराज ने आदेश दिया—"राजभवन के प्रवेश-द्वार से हमारे शयन-कक्ष तक का सारा प्रासाद-भाग सुगधित कर दिया जाय। भाँति-भाँति के सौरभ द्रवों का लेप भित्तियों पर कर दिया जाय और विभिन्न प्रकार के फलों, मिष्टान्नों, पकवानों, बाकलों आदि के बड़े-बड़े कई-कई ढेर इस सारे भाग में स्थान-स्थान पर रखवा दिये जावें।" महाबलाधिकृत असमजस मे पड गये और उनकी मुख-मुद्रा मे आन्तरिक ऊहापोह झलक आया। महाराज ने निर्देश दिया—"आप वैसा ही कर लीजिये जैसा कहा जा रहा है। प्रयोजन हम जानते हैं।" महाबलाधिकृत ने आदेश पालनार्थ स्वीकार करते हुए शीश झुकाया और विनीत स्वर में बोले—"आदेश का पालन होगा, महाराज !"

सूर्यास्त का समय समीप था। राजभवन के विस्तीर्ण प्रांगण मे शोभा-यात्रा सज्जित थी। श्वेत गजराज पर महाराज अवधूत आरूढ़ हुए और शुड उठाकर उसने प्रणाम निवेदित किया। अपने कोमल स्पर्श से महाराज ने गजराज का अभिवादन स्वीकार किया तो गजराज प्रफुल्लित हो उठा और धैर्य के साथ धीमे से उठ खड़ा हुआ। तभी दुंदुभी और तुरही निनादित हो उठी। शोभा-यात्रा के सर्वाग्र भाग मे एक चपल अश्व पर आरूढ सैन्य अधिकारी मालवराज का निशान उठाए चल रहा था। उसके पीछे-पीछे विविध वाद्यो का वादन करते हुए वादक दल

था। सामन्तों एवं अमात्यों का विशिष्ट दल उसका अनुसरण कर रहा था, जिसके पीछे महाराज का गजराज था जिसे घेरकर चल रहे थे प्रमुख सामन्तगण। गजराज के आगे-आगे महामात्य, नगर-श्रेष्ठी और राजपुरोहित जी चल रहे थे। गजराज के पीछे-पीछे चल रहा था सज्जित हस्तियों का एक व्यवस्थित दल। उसका अनुसरण कर रहा था फुर्तीले 'युवा सैनिकों का एक अनुशासित दल और शोभा-यात्रा के अन्तिम भाग में था अश्वारोहियों का एक विशाल दल।

राजपथ पर होकर शोभा-यात्रा अग्रसर होती चली जा रही थी। गजराज पर शोभित स्वर्ण अंबारी में अवधूत महाराज की शोभा भी निराली ही थी। राजपथ के दोनों ओर खड़ा जनसमूह जय-जयकार करता जा रहा था। गवाक्षों से सुन्दरियाँ पुष्प-वर्षा करती युवा अवधूत के विषय में बतियाती जा रही थीं—"कैसा तो यौवन है और कैसा वेश धारण कर लिया है। प्रीति-प्रसंग में पराजित होकर ही इन्होंने संसार का त्याग किया होगा। कैसी निष्ठुर रही होगी वह नारी जिसने ऐसे प्रेमिल युवा का हृदय भंग कर दिया।" कोई कहती—"हाय ! हाय !! कैसे अपने स्वर्ण-जैसे पुत्र को योग धारण करने दिया होगा इनके माता-पिता ने। कैसी विवशता में उन्हें अनुमति देनी पड़ी होगी। पर योगी अवधूत को भी यह क्या सूझी कि अवन्ती के शापग्रस्त राज्यासन पर आरूढ़ होना स्वीकार कर लिया। हाय ! अभी जगत् में इन्होंने देखा ही क्या है····· क्या इस भरे यौवन में ही ये दुष्ट प्रेत के आखेट हो जाएँगे।"

"····अरी, नहीं रे, इन निरीह योगिराज को इसका कोई भय नहीं होगा-राज्याधिकारियों ने इन्हें जताया ही नहीं होगा कि राजा के लिए कैसा वीभत्स संकट है। अन्यथा यह संध्या इनके लिए काल रात्रि की पूर्व संध्या है और अपने अन्तिम समय से अनभिज्ञ ये तो प्रसन्न दिखायी दे रहे हैं।" तभी किसी अन्य सखी ने कहा-"अरी बावली···· ऐसा भी कहीं हुआ है। योगिराज बड़े पहुँचे हुए महात्मा हैं। अपने मंत्र-बल पर ये विकट बाधाओं को भी ध्वस्त कर देने की समर्थता रखते हैं। योगियों की शक्ति को तुम नहीं जानतीं····· बड़े-बड़े असुरों को भी पराजित करना इनके लिए दुर्गम नहीं। फिर ये तो शरीर-बल में भी कम नहीं हैं। शौर्य और पराक्रम तो इनके विशाल नयनों से बरसा पड़ रहा है। इनका प्रशस्त भाल देखा नहीं ! विजय-कीर्ति के लेख स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं—इनके ललाट पर।"

"····हाँ, तुम ठीक ही कहती हो, बहन।" किसी अन्य स्त्री ने कहा—"अवन्ती का उद्धार करने को ही इन्होंने यह संकट मोल लिया है। सन्त तो परोपकार के लिए ही जीते हैं···· मरण-भय उन्हें विचलित नहीं कर पाता।"

महाराज अवधूत हाथ हिला-हिलाकर जनता के अभिवादन का उत्तर देते जाते थे—मुस्कराते जाते थे। अपनी व्यवस्थित केश-राशि पर सहज ही उनका हाथ जाता और उन्हें अपने युवराज काल की स्मृति हो जाती थी। यह सारा नगर—सारा

वातावरण, राजभवन का चप्पा-चप्पा, सभी छोटे-बड़े लोग उनके परिचित थे, किन्तु अपरिचित रहने की विवशता ने विचित्र-सी आकुलता निर्मित कर दी थी। ऐसी शोभा-यात्राओं में उन्होंने स्वयं अनेक बार भाग लिया था—युवराज के रूप में। स्वाभाविक ही था कि उन्हें ऐसे क्षणों में अग्रज महाराज भर्तृहरि की स्मृति हो आए। कभी वे गजारूढ़ होकर अपनी सन्तानवत् प्रजा को इस प्रकार दर्शन दिया करते थे। कैसा सुख-शान्ति का स्वर्ण युग था, वह भी—सब-कुछ चौपट हो गया। एक नारी की विनाश-लीला कितनी प्रचण्ड सिद्ध हुई। अवन्ती अनाथ और मालव-जनता अनाश्रित हो गयी। अवन्ती के राजसिंहासन पर प्रेत-बाधा की काली छाया मँडरा रही है। यह सारा अनर्थ एक स्त्री के अनैतिक आचरण का कैसा वीभत्स और दारुण दुष्परिणाम ! नारी-चरित्र को समझना ···· उसे स्वानुकूल ानाना टेढ़ी खीर है। नारी विध्वंस और विनाश की, पतन और पाप की ही प्रतीक ः। अवधूत महाराज चिन्तन-मनन की धारा में प्रवाहित हो ही रहे थे कि सहसा ौंक पड़े ···· सुन्दर सुगंधित गुलाब के पुष्पों की एक माला उनके कंठ में पहुँच ायी। हड़वड़ाकर उन्होंने जो देखा तो पार्श्व के एक गवाक्ष में करबद्ध खड़ी एक ुन्दरी युवती दिखायी दी ···· मुस्कराकर उसने नमन किया। उसे वलाइयाँ लेते ेखकर महाराज का मन करवट लेने लगा ···· नहीं ····· नही ···· रानी अनंगसेना की करतूत को समस्त नारी जाति के लिए सामान्यीकरण किया जाना उपयुक्त नहीं। नारी तो देवी है। नारी अपने कोमलता के प्रभाव से क्रूरकर्मी पुरुष को मानवता की सीमा में ले आती है—उसे असुरत्व से बचाती है। उसे सन्मार्गी वनाये रखने की भूमिका नारी ही निभाती है। नारी दुष्टता की प्रतीक ही होती तो वह संसार को श्रेष्ठतम नर-रत्न देने की समर्थता कैसे रख पाती। महाराज भर्तृहरि की जननी भी तो नारी ही थी—देवी थी। भर्तृहरि महाराज का प्रसंग स्मरण आते ही—अवधूत महाराज को सिंहासन पर अधिकार जमाए वैठे दुष्टात्मा की भी स्मृति हो आयी। हमने यह दायित्व स्वेच्छा से ग्रहण तो कर लिया है, किन्तु किसी विधि से इसे पूर्ण किया जाय। हमें अभी तो यह भी ज्ञात नहीं कि वाधा कैसी और कितनी सशक्त है। आज ही परीक्षा की रात्रि भी है। कहीं ···· ऐसा न हो कि प्रेत-वाधा पर हम विजय न पा सकें। महामात्यादि वेचारे कितने भ्रमित हैं कि हमारी वढ़ी-चढ़ी मंत्र-शक्ति चमत्कार कर देगी। उन अनभिज्ञ जनो को क्या मालूम ······ ।

शोभा-यात्रा अग्रसर होती चली जा रही थी। महाराज की चिन्तनधारा भी वढ़ती जा रही थी। कितनी श्रद्धालु जनता है। अपने राजा को यह परमात्मा का रूप मानती है। ऐसा निश्छल—निर्मल प्रेम हमारे प्रति प्रकट किया जा रहा है। ऐसी जनता की रक्षा के लिए तो प्राणों को भी न्यौछावर करना पडे तो जीवन धन्य हो उठेगा। हम राजा वन गये हैं तो ऐसी आदर्श प्रजा का पालन करना हमारा चरम और परम

धर्म है—इसे हम पूर्ण शक्ति के साथ निभाएंगे। रही वात प्रेत-वाधा की `` तो उसे हम हमारी शक्ति और शौर्य के वल पर परास्त करके ही रहेगे। हम शूरवीर क्षत्रिय गुण के वंशज हैं। साहस सभी सफलताओं का मूल मंत्र है। साहस के साथ आरंभ किये गये कार्य लक्ष्य-प्राप्ति में अवश्य सफल रहते हैं; यदि दत्तचित्तता और सम्पूर्ण सामर्थ्य का योग रहे। हम साहसी हैं, पराक्रमी हैं, शक्तिशाली और वीर हैं। इस वाधा पर अन्तिम क्या ```` प्रथम विजय ही हमारी ही रहेगी। साहस एक ऐसा चुम्वक है कि सभी अपेक्षित साधन—सहायक स्वतः खिंचकर चले आते हैं। असि आदि आयुध भी तभी संचालित होकर सार्थक हो पाते हैं, जव साहस की ऊर्जा उनके संचालनार्थ सुलभ हो। हम उस प्रेत-वाधा से भिड जाएँगे और उसे ध्वस्त करके ही दम लेंगे—चाहे कितनी ही क्रूर, दुष्ट और प्रवल वह क्यो न हो। हम आज नवीन कीर्तिमान अवश्य स्थापित करेंगे ```` अवश्य ! अवधूत महाराज का आत्म-विश्वास उनके मुख-मण्डल पर नवीन आभा वनकर छा गया। नवीन स्फूर्ति और ऊर्जा उनकी स्नायुओं में संचारित होने लगी। मुस्कराकर वे जनता के अभिवादन का हाथ हिला-हिलाकर उत्तर देते रहे—वाद्य वजते रहे—शोभा-यात्रा अग्रसर होती रही। अवधूत महाराज की जय-जयकार होती रही।

●●

"कुशल है ```` सब कुशल है ````।" प्रहरियों की वाणी शान्त रात्रि के प्रहर में वार-वार गूँज उठती थी। अवधूत महाराज अपने शयन-कक्ष में जाग्रत अवस्था मे सर्वथा सतर्क मुद्रा में शय्या पर बैठे थे। मुक्त खड्ग उनके समीप ही रखा था। सहसा घंटा-ध्वनि गूँज उठी—अर्द्ध-रात्रि का समय हो गया। महाराज आगत वाधा की प्रतीक्षा में सन्नद्ध थे। अब आशंकित अनिष्ट का आगमन किसी भी पल हो सकता था और महाराज प्रचण्डतम परिस्थिति का भी सामना करने को मानसिक रूप से सर्वथा तत्पर थे। महाराज ने शयन-कक्ष में प्रवेश के पूर्व राजभवन में नियुक्त प्रहरियों, सशस्त्र सैनिकों को भी कर्त्तव्य-मुक्त कर विश्रामार्थ विदा कर दिया था। राजभवन के भीतर प्रवेश द्वार से उनके शयन-कक्ष तक के समस्त प्रहरियों को भी उन्होंने भोर तक के लिए अवकाश दे दिया था। तभी तथाकथित दुष्ट देव अपने लिए रखी गयी वलिभोज-सामग्री, फल-मिष्टान्नादि का सेवन कर पायेगा। प्रवेश के पूर्व ही महाराज अवधूत ने सारी सामग्री का अवलोकन भी कर लिया था। उन्होंने किसी प्रहरी-रक्षक-सैनिक की उपस्थिति

वांछित नहीं समझी। उनकी सोच थी कि वनराज केसरी भी एकाकी रहता है और अपना आखेट भी अकेले ही करता है। निर्भीक और साहसी, वीर केसरी अकेला ही गजराज पर आक्रमण करता है और उसे पराभूत कर देता है। सच्चा वीर भी अपना समूह बनाकर नहीं चलता। वीर का सच्चा साथी तो स्वयं उसका अपना साहस ही होता है। साहस की आधारशिला पर ही सफलताओं के भव्य प्रासाद निर्मित होते है।

इसी साहस और आत्म-विश्वास के वल पर अवधूत महाराज निर्भीक थे और उनकी शक्ति द्विगुणित होकर जाग्रत थी। वे आगत बाधा की विकटता की कल्पना भी कर रहे थे और अपने वल-विक्रम को भी तोल रहे थे। आत्म-विश्वास ही विजय-वल्लरी का वीज होता है। सफलता के प्रति आशंका की देन असफलता ही रहेगी। हम शूरवीर क्षत्रिय हैं। पराजय की कल्पना ही कायरता की प्रतीक है और हम उस कल्पना से दूर—वहुत दूर के प्राणी हैं। जिन्हे प्राणों का भय नहीं, वे भीरु हो नहीं सकते और सच्चे शूरमा साहसिक जन विजय का वरण करके ही छोडते है। कोई शक्ति उनकी सिद्धि के मार्ग में अवरोध उपस्थित नही कर सकती। विचारों की शृंखलता भी वड़ी अद्‌भुत होती है। जाने कहॉ-कहॉ से नयी-नयी कड़ियॉ जुड़ती रहती हैं और शृंखला की लम्बाई ही नहीं वढती, उसकी दिशा भी किधर से किधर को हो जाती है। अवधूत महाराज भी इन विविध विचारों मे डूबते-उतरते कव निद्राधीन हो गये—उन्हें स्वयं भी ज्ञात नहीं रहा। आज का दिवस तो वैभव और विरक्ति के संयोग का मुहूर्त्त रहा और यह रात्रि विरक्ति और शक्ति के समायोजन की घड़ियॉ लेकर आयी थी। भगवाधारी महाराज शय्या पर शयन किये हुए भी रत्नजटित स्वर्ण मूठ को थामे हुए थे और चमचमाती तलवार अपनी पैनी धार के साथ उनकी संगिनी वनी हुई थी।

राजप्रासाद के वाहर प्रांगण में प्रहरी जन सतर्क मुद्रा में गतिशील थे। 'सव कुशल है' की ध्वनि गूँज रही थी और इसी समय अदृश्य देव ने राजप्रासाद मे प्रवेश किया। फल, पकवानों और मिष्टान्नों की सुगंध से ही देव अधीर हो गया। चारों ओर सुनसान पाया तो साकार होकर व्यंजनों का आहार करने लगा। एक के वाद एक थालो को समाप्त करता हुआ देव आगे वढ़ा और महाराज के शयन-कक्ष के द्वार तक पहुँच गया। द्वार पाकर नित्य की भॉति उसने अहंपूर्ण हुँकार भरी। क्रुद्ध सिंह की भॉति कुछ पलों तक गर्जना करने के पश्चात् वह धूम्र-समूह में परिवर्तित हो गया और वन्द द्वार पर कुछ क्षण मॅडराने के पश्चात् धूम्र-समूह द्वार के भीतर प्रविष्ट हो गया।

अव तो महाराज के शयन-कक्ष मे प्रचण्ड उत्पात सक्रिय हो गया। उस विशाल कक्ष में किसी की गतिशीलता का स्पष्ट आभास होने लगा। अवधूत महाराज अव भी निश्चिन्त भाव के साथ निद्राधीन थे। इस उपेक्षा से देव क्रुद्ध हो गया, क्रु

गर्जना के साथ तीव्र अट्टहास करने लगा। महाराज की निद्रा टूटी। कुछ पलों तक पलकें खोले वे अविचल स्थिति मे शयन-कक्ष के सूने वातावरण को देखते रह गये। भाँति-भाँति की अद्‌भुत ध्वनियाँ, हुँकारे और अट्टहास सुनायी देने लगे जिनसे एक भयावह वातावरण निर्मित हो गया है। साधारण जनों को आतंकित करने को यह भयावहता न्यून नही थी। सुधीर महाराज अवधूत की समझ में सव-कुछ आ गया। अव तो विपत्ति समक्ष उपस्थित होकर ताण्डव कर रही थी। धूम्र-समूह तीव्र गति से दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे चक्कर लगाने लगा है—महाराज ने स्पष्ट देखा औ उत्तेजना के आवेश में वे उठ वैठे। तलवार जव ऊपर को उठ गयी; तभी उ धूम्र-समूह के वाहर चमकती अन्य तलवार भी दिखायी दी। तो प्रेत धुआँ वनक आया है.... अहः हः हः। त्वरा के साथ वे खड़े हो गये और ललकार-भरे स्व में उन्होंने गर्जना की—"अव अपनी माया छोड़ और शूरवीरों की भाँति साह दिखा। धूम्र-आवरण को त्यागकर प्रकट क्यों नहीं होता? आ.... खुलकर साम आ और देख हमारी शक्ति-शौर्य के करतव।"

इन शब्दों से उत्तेजित होकर देव ने धूम्रावरण त्यागा और अपने भीमाकार साक्षात् हो गया। मुंडित शीश, गोलमटोल मुखाकृति.... विशाल देह—कानों कुण्डल और प्रशस्त वक्ष पर मुक्तामाला। रक्तवर्णी अधोवस्त्र और पीत उत्तरीय कलाइयों में मोटे कड़े और पाँवों में रत्नजटित उपानह—शृंगार और वीभत्सता क संगम यह देव एक विचित्र ही छवि का था। गोल-गोल, बड़ी-बड़ी आँखे भरी-सघन भौंहों से और घनी मूँछों से उसकी आकृति और अधिक दुर्जनोचित लगती थी, उसकी क्रूरता और अभिवर्धित प्रतीत होती थी। उसने रूक्षता के साथ कहा—"हमारी शक्ति से अनभिज्ञ राजन्!.... तुम नहीं जानते, हमारे समक्ष तलवार खींचकर तुमने अपने अनिष्ट को आमंत्रित कर दिया है....।"

"वीरों को बड़बोल शोभा नहीं देता, असुर!.... अभी भी तुम्हारी जीभ ही चल रही है, तलवार नहीं... यह तुम्हारी भीरुता का ही परिचय है....।" महाराज के कथन से देव तमतमा उठा। उसकी भुजाएँ फड़कने लगीं और नासापुट व्यग्र हो उठे। उसकी आँखों में जैसे जहर उतर आया—अंगारों की भाँति वे दहकने लगीं। वह तलवार के भरपूर वार के साथ झपटने ही वाला था कि महाराज अवधूत का स्वर उसके कानों में पड़ा—

"असुर! तुमने हमारे द्वारा प्रस्तुत वलि-भोज का आस्वादन कर अपनी वुभुक्षा को तो तुष्ट कर ही लिया होगा—अब हम तुम्हारी युद्ध-कामना को भी संतुष्ट करेंगे। तुम्हें गर्व है न अपने पराक्रम पर? हमारा शौर्य उसे आज ध्वस्त करके ही दम लेगा।" अवधूत महाराज यथोचित उत्साह के साथ संयमित रूप में अपने भाव प्रकट करते जा रहे थे—क्रोध का लेश मात्र भी आभास नहीं मिल रहा था। वीरोचित गौरव के साथ उन्होंने कहा—"सुनो असुर! दुर्जनों को उनकी

दुष्प्रवृत्तियों के लिए उचित शिक्षा देने और सज्जनों की रक्षा करने के लिए ही हमने राज्यासन ग्रहण किया है और आज हम ये दोनों कार्य सम्पन्न कर लेंगे।''

इस वीर-वाणी से देव तो हतप्रभ रह गया। यह तो अद्‌भुत वीर है। हो-न हो, यह तो ····। वह सोचने लगा–'आज तक सभी वीर मुझसे भय-विकम्पित होते रहे हैं। किसी का साहस मेरे समक्ष टिक नहीं पाया। किन्तु ये महाराज तो अप्रतिम शूरवीर हैं। इनसे भिड़ना ···· क्या हितकर होगा ! सभी एक-से तो होते नहीं हैं।' इस सोच ने देव को मानसिक रूप से शिथिल कर दिया। उसकी तलवार नीचे को झुक गयी, भृकुटि का तनाव और नासापुट का प्रकम्प समाप्त हो गया। उसकी देह का खिंचाव कम हो गया और मंथर गति से वह राजा अवधूत की ओर अग्रसर हुआ। तभी अवधूत महाराज ने कथन आरम्भ किया–

''असुर देव ! तुमने एक के पश्चात् एक कितने ही नव-नरेशों का संहार किया है, किन्तु अब बारी हमारी है–इस वार तुम शिथिल क्यों हो रहे हो। हम हमारे पराक्रम से तुम्हारी इस लीला को समापन पर पहुँचाएँगे। आज ···· या तो तुम नहीं ···· या फिर ····।''

''शान्त हो जाओ, राजन् ! शान्त !!'' गंभीरतापूर्वक देव ने कहा–''मैं अग्निवेताल हूँ। अनेक नरेशों को मैंने पहली ही रात्रि में मृत्यु के घाट उतार दिया–सत्य है यह। और सत्य यह भी है कि मेरी उनसे कोई शत्रुता नहीं थी। मैं आपका हितैषी हूँ। योगी वेश में तुम विक्रमादित्य हो ···· मै पहचान गया हूँ। यह राजसिंहासन महाराज भर्तृहरि के पश्चात् तुम्हारा और मात्र तुम्हारा है। मैंने तो तुम्हारे लिए इसे सुरक्षित रखने का ही प्रयास किया है। इसी प्रयोजन से अव तक मुझे विनाश-लीला करनी पड़ी।'' अग्निवेताल के मुख-मण्डल पर अपूर्व कोमलता छा गयी थी।

''ओह ! ···· तुम अग्निवेताल ! ···· तव तो तुम हमारे हितैपी हो ···· हमारे मित्र हो !''–प्रसन्नतापूर्वक अवधूत विक्रम ने असित्याग करते हुए स्वागत भाव के साथ अपने दोनों हाथों को आगे की ओर वढ़ाया। देव ने अपना दैहिक आकार भी लघु कर लिया और दोनों गले मिले। वडी देर तक दोनो आलिंगनवद्ध रहे। सहज होने पर अपने आनन्दाश्रु पोंछते हुए राजन् ! अपनी शय्या पर विराजित हुए और एक सिंहासन अग्निवेताल ने ग्रहण कर लिया।

''खेद है कि हम अपने मित्र को विनाशकारी शत्रु समझते रहे ···· कितना उचित-अनुचित व्यवहार इस वीच हमसे हो गया।''–राजा के इस कथन ने अग्निवेताल को और अधिक विनम्र वना दिया। उसने शीश झुकाया और नि[illegible] किया–''प्रभो ! इसमें आपका कोई दोप नहीं। अवधूत-वेश में आपको प[illegible] मुझे भी तो विलम्ब हो गया। मैं आपका वहुत आभारी हूँ, राजन् ! आ[illegible]

जैसी स्वादु वलि-सामग्री और इतनी अच्छी मात्रा में सुलभ करायी .... आनन्द ही आ गया। वड़े दिनों से आज ही तृप्ति पायी है .... आप महान् हैं, राजन् ! नर-श्रेष्ठ है।''

''यह तो तुम्हे आगे भी मिलती रह सकती है, मित्र !''—अवधूत विक्रम ने अत्यन्त सहज भाव से कोमलता के साथ कहा—''मैत्री के निर्वाह में यह हमारा कर्त्तव्य हो जायेगा, किन्तु तुम हमारे मित्र वन ही गये हो तो फिर इस मित्रता को सुदृढ करना होगा—इसे चिर-स्थायी वनाना होगा।''

''हमारी मैत्री तो ऐसी ही होती है, राजन् ! जैसी आप चाहते है। वताइये इसके लिए हमें क्या करना होगा?'' अग्निवेताल ने पूछा।

''मित्रता के लिए साहचर्य भी आवश्यक होता है। हम चाहते हैं कि हमारी-तुम्हारी भेंट नित्य-प्रति होती रहे। निरन्तर सम्पर्क से ही मैत्री मे प्रगाढता का तत्त्व आ पाता है।''

अवधूत विक्रम से सहमत होते हुए अग्निवेताल ने शीश डुलाते हुए कहा—''उचित ही कथन है महाराज का। मैं नित्य ही अर्द्ध-रात्रि को आपकी सेवा मे आता रहूँगा। और कोई आज्ञा? हॉ, मुझे यहॉ बलि-भोज अवश्य मिलता रहे .... इसका ....।''

''तुम निश्चिन्त रहो मित्र ! .... इसके लिए हम व्यवस्था कर देंगे। हमारे लिए यह क्या कम है कि तुम्हारे जैसे सक्षम मित्र की हितैषिता प्राप्त होती रहेगी।''—महाराज अवधूत विक्रम ने साभार-से स्वर में कहा और हाथ फिराकर केश-राशि को व्यवस्थित करते हुए वे पीछे खिसककर पीठ ठिकाकर बैठ गये। उनके नयनों से सफलता का संतोष ज्योति बनकर छलकने लगा था।

इसी समय अग्निवेताल ने कहा—''हे नरोत्तम विक्रमादित्य ! मैं आपसे प्रसन्न-अतिशय प्रसन्न हूँ। निर्बाध रूप में न्यायपूर्ण शासन-संचालन करो और दीन-दुःखियो को सुखी बनाओ, वात्सल्य के साथ प्रजा-पालन करो।'' और अग्निवेताल अदृश्य हो गया। उसके सहसा लुप्त हो जाने पर अवधूत विक्रम साश्चर्य सब ओर देखने लगे। अब भी शयन-कक्ष की अर्गला भीतर से लगी हुई थी। सारे वातायन बन्द थे।

संतोष की एक दीर्घ साँस लेते हुए महाराज उठे और एक वातायन खोलकर दूर-दूर तक फैली चॉदनी को निहारने लगे। शीतल-मंद पवन अत्यन्त सुखद अनुभव होने लगी थी। क्षिप्रा की कलकल ध्वनि वड़ी मनमोहक लग रही थी। वातायन खुला ही छोड़कर महाराज अवधूत विक्रम-शय्या की ओर वढे। शान्त और संतुष्ट मन के साथ वे लेट गये। यह रात्रि अवधूत महाराज के लिए काल-रात्रि के रूप मे आशंकित थी, किन्तु यह तो उनके लिए महान् उपलब्धिकारक सिद्ध हुई। अवन्ती का राज-संकट समाप्त कर परमोच्च कोटि की विजय तो प्राप्त हुई ही, एक सशक्त मित्र भी अग्निवेताल के रूप में उन्हें प्राप्त हुआ। अवधूत विक्रम वडे ही प्रसन्न

और वे एक अद्भुत दवावहीनता का सुखानुभव कर रहे थे। लोगों का विश्वास था कि हम हमारी मंत्र-शक्ति के वल पर दुष्ट देव को पराजित कर देंगे। यदि इस विजय का श्रेय किसी मंत्र को दिया ही जाय तो वह मंत्र साहस का है। सत्य ही, सभी सिद्धियो को संभाव्य रूप देने की समर्थता, साहस और लगनपूर्ण उद्योग मे ही निहित रहती है। इस मित्र की प्राप्ति ने अवधूत विक्रम को एक अन्य सक्षम मित्र भट्टमात्र की स्मृति दिला दी और वे अपने सौभाग्य को सराहने लगे। ये दोनों मित्र हमारे भविष्य के निर्माण में सक्रिय योगदान में कोई कृपणता नहीं बरतेंगे। पारस्परिक मित्रता की इस वल्लरी को स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार से सींचकर पल्लवित-पुष्पित करने की अपेक्षा तो है; किन्तु इसके फल भी अत्यन्त सुखद होंगे। यही सब-कुछ सोचते-सोचते वे निद्रालस्य अनुभव करने लगे। इसी समय प्रत्यूष वेला का आगमन समीप होता प्रतीत होने लगा। अवधूत महाराज उठे और नमस्कार महामंत्र का जाप करने लगे। खुले वातायन से उद्यान के पक्षियों के चहचहाने का स्वर आने लगा। भोर की समीपता को लक्षित कर उन्होंने शयन-कक्ष के प्रवेश-द्वार की अर्गला खोल दी। सेवकों ने धकेलकर कपाट खोले। प्रभाती गायी जा रही थी। तब तक प्रहरी आदि अपने कर्त्तव्य पर पहुँच गये थे। महामात्य सहित अन्य अमात्यगण भी विद्यमान थे। सव सुखद आश्चर्य के साथ हर्ष-ध्वनि कर उठे। सर्वत्र उत्साह और उल्लास का नवीन वातावरण छा गया। मेवा-मिष्टान्नों के रिक्त पात्र इस तथ्य के द्योतक थे कि दुष्ट देव का आगमन हुआ था और महाराज का प्रसन्नवदन संकेत करता था कि उस वाधा पर महाराज ने विजय प्राप्त कर ली है। अवन्ती का उद्धार हो गया है। नमनपूर्वक आगे वढते हुए महामात्य वुद्धिसागर ने इस विजय पर वधाई अर्पित की। अवधूत महाराज हाथ उठाकर मुस्करा दिये।

"धन्य हैं महाराज आप; धन्य है आपका वल-विक्रम और आपका मांत्रिक वल। जैसे हमें विश्वास था आपके विषय मे, आपने स्वयं को उससे उच्चतर ही सिद्ध कर दिया है। मालव-देश की असंख्य-असंख्य जनता आपके इस उपकार से कभी उऋण नही हो सकेगी ····।"

"उपकार नहीं ···· महामात्य, उपकार नही ····।" अवधूत महाराज महामात्य के कथन-मध्य ही मुखरित हो उठे। वोले—"यह तो हमारा कर्त्तव्य था, यह हमें वहुत पहले ही पूर्ण कर लेना चाहिये था। इसमें हुए विलम्व के कारण हमे दुःख है। हमारी प्रिय जनता को कितना उत्पीडन सहना पडा।" अवधूत महाराज ने यह कह तो दिया, किन्तु अपरिपक्वावस्था में कहीं रहस्योद्घाटन न हो जाय—यह सोचकर वे तनिक सकुचा गये।

"श्रीमानेश्वर ! मालव-राजवंश की परम्परा ही यही रही है। जनता के सुख को अपने जीवन की सिद्धि मानना राजा का आदर्श रहा है—मालव-दे[illegible] आपश्री ने राज्यारोहण के प्रथम दिवस मे ही इसे अपनाया, अपने प्रा[illegible]

चिन्ता न करते हुए आपश्री ने जनता की सेवा का जो अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है—मालव-इतिहास में इसे गौरव के साथ अंकित किया जायेगा।" महामात्य के इन शब्दों ने महाराज को आश्वस्त कर दिया। वे अपने कक्ष में लौट गये। कर्मशील महापुरुष एक कार्य के सम्पन्न होते-होते ही अन्य आगामी सेवा-कार्य की रूपरेखा को अपने मानस में स्थान देने लग जाते हैं। सेवा-कार्यों के ताने-वाने से ही उनके जीवनरूपी वस्त्र का निर्माण होता है। महाराज आगामी कार्यों का चिन्तन करने लगे और अपने शयन-कक्ष में चहलकदमी करने लगे।

× × ×

समस्त अवन्ती में यह समाचार विद्युत-वेग से प्रसारित हो गया कि अवधूत राजा ने विकट असुर को पराजित कर दिया और राजसिंहासन पर छायी अभिशाप की छाया दूर हो गयी है। सर्वत्र हर्ष छा गया। सभी को अपने शक्तिशाली शासक पर गर्व का अनुभव होने लगा। जन-समुदायों में भाँति-भाँति की चर्चाएँ होने लगीं—

– "हम तो पहले ही जानते थे कि अब असुर की चाल चल नहीं पायेगी, कैसा तो पराक्रम का तेज दमकता है अवधूत महाराज के मुख-मण्डल पर, हाँ?"
– "बेचारा असुर सिर पर पाँव रखकर भाग खड़ा हुआ होगा। भला ऐसे महान् बलशाली के समक्ष कोई असुर-वसुर टिक भी सकता है। एक-ही-दो प्रहारों में चीं बोल गया होगा बेचारा।"
– "कुछ भी हो .... अवधूत महाराज हैं बड़े शक्तिशाली। अवश्य ही उनका सम्बन्ध भी किसी राजवंश से ही होगा। सामान्य जन तो वे लगते ही नहीं।"
– "संभव है .... वे कहीं के युवराज हों। गृह-कलह से प्रताड़ित हों—ऐसा हो सकता है।"
– "जो भी हो, भैया ! मालव को तो सौभाग्य से महाराज भर्तृहरि का उपयुक्त उत्तराधिकारी ही मिल गया है।"
– "हमारी कामना है कि महाराज चिरंजीवी हों और युग-युगों तक मालव-प्रजा का पालन करते रहें।"
– "आयु उनकी कोई बीस वर्ष के आसपास ही होगी अभी तो।"—एक नागरिक ने कहा—"आयुष्य के चढ़ाव में इतना पराक्रम है तो आगे चलकर तो ये न जाने कैसे शूरवीर निकलेंगे।"
– "यही तो ....।" अन्य ने उसका समर्थन किया—"यही तो मैं भी कहता हूँ ....। अवधूत महाराज मालव-देश के यश को कहाँ से कहाँ पहुँचा देंगे। इनका शासनकाल इतिहास में स्वर्ण युग माना जायेगा।"

– "हमें तो भय था कि कहीं ऐसा न हो कि पूर्व के अन्य नरेशों की भाँति.... अवधूत महाराज भी असुर के हाथों....।"

– "शुभ-शुभ बोलो, बन्धु.... शुभ ही सोचो और अशुभ वाणी से तो दूर ही रहो.... अब काहे को ऐसा सोचते हो? महाराज-जैसे साहसी के लिए प्रत्येक बाधा का पराभव सम्भव है भैया–कुछ भी असम्भव नहीं।"

जितने मुँह उतनी ही बातें चलने लगीं। एक बात जो अति सामान्य थी, वह यही थी कि जनता को अपने नरेश के प्रति अगाध श्रद्धा थी, उनके अपार शौर्य का विश्वास था और प्रशस्ति भाव से सभी के हृदय पूरित थे। एक लम्बे समय के पश्चात् जनता के मन में उत्साह समाया था। सभी को ऐसे नरेश की प्रजा होने में गौरव अनुभव हो रहा था।

प्रथम रात्रि की अवधूत महाराज और अग्निवेताल के मध्य की वह मैत्री उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होती चली जा रही थी। प्रत्येक रात्रि को अग्निवेताल राजप्रासाद में आता, रुचिकर बलि-भोज प्राप्त करता और सन्तुष्ट होकर प्रसन्नतापूर्वक अपने मित्र भूपेश अवधूत महाराज से भेंट कर विदा हो जाता। यही क्रम चलता रहा। नरेश अवधूत नित्य ही असुर के लिए बलि-भोज की समुचित व्यवस्था करवाते थे। असुर के लिए भारी मात्रा में विभिन्न प्रकार की भोज्य-सामग्री अपेक्षित रहा करती थी। अल्प मात्रा से उसे तृप्त किया जाना सम्भव भी नहीं था। एक रात्रि को महाराज ने अपने शयन-कक्ष के द्वार पर नित्य की भाँति विविध खाद्य-सामग्रियाँ रखवा दीं। अनेक प्रकार के गंध-द्रवों से भरी शीशियों की एक मंजूषा भी शयन-कक्ष में रखवा दी। महाराज प्रतीक्षा करने लगे असुर-आगमन की। अपने नियत समय पर अग्निवेताल राजप्रासाद में पहुँचा और रुचिकर आहार ग्रहण कर अघा गया। तब सन्तोष भाव के साथ जब वह महाराज के शयन-कक्ष में प्रविष्ट हुआ तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि आज तो महाराज उसकी प्रतीक्षा में जागते हुए शय्या पर विराजे हुए हैं। आज उसे महाराज को जगाना नहीं पड़ा। डकार लेता हुआ वह महाराज के समक्ष प्रकट हुआ तो महाराज प्रसन्नतापूर्वक मुस्कराए और मित्र का स्वागत करते हुए बोले–"आओ, मित्र अग्निवेताल, आओ।"–और वे शय्या पर ही पीठ टिकाकर विश्राम की मुद्रा में बैठ गये।

"महाराज की सेवा में प्रणाम निवेदन करता हूँ।"–अग्निवेताल ने कृतज्ञता-भरी वाणी के साथ अभिवादन किया और महाराज ने भी हाथ उठाकर उत्तर में एक मधुर मुस्कान बिखेर दी। रिक्त आसन की ओर महाराज का संकेत पाकर अग्निवेताल आसीन हो गया। तभी महाराज ने मंजूषा की ओर संकेत करते हुए कहा–"मित्रवर ! यह मंजूषा तो खोलो।"

"क्या है महाराज.... इस मंजूषा में?" अग्निवेताल ने प्रश्न तो किया, किन्तु उत्तर की प्रतीक्षा किये विना ही उसने मंजूषा को खोल लिया। तत्काल ही सारे कक्ष

में सुगन्ध व्याप्त हो गयी। वेताल बहुत प्रसन्न हुआ। उसकी आँखे तक नाचने लगी। उसने एक-एक कर अनेक शीशियों को खोला और गंध-द्रव अपने मस्तक पर, कंधो पर, सारे शरीर पर उँडेलने लगा। उसे यह सुख एक दीर्घकाल के उपरान्त प्राप्त हुआ था। उसकी तो बाँछें ही खिल गयीं। बोला—"आहा.... हा....! मित्रवर, आपने तो धरती पर स्वर्गिक सुख की सृष्टि कर दी है मेरे लिए....।"

"वेताल मित्र ! आज तो भोजन के समय भी तुम्हें विशेष आनन्द मिला होगा और उससे भी अधिक आनन्द तो अब रहा होगा—तुम्हारे लिए.... ठीक है न?" महाराज अवधूत ने बात आरम्भ की और अग्निवेताल ने —"यथार्थ है—यही सत्य है, महाराज"—कहकर अनुमोदन किया।

"और सत्य तो यह भी है, वेताल मित्र !" अवधूत विक्रम ने कहा—"तुम भी परम शक्तिशाली हो, वीर हो। यह अन्य बात है कि विजय हमारे पक्ष में रहती है। यह हमारी साहसिकता का परिणाम भी हो सकता है—हमारे पूर्व पुण्य-प्रभावों, शुभ कर्मो का प्रभाव भी हो सकता है। शक्ति तुम्हारी भी अपरिमेय है... असीम है—इसमे कोई सन्देह नहीं।"

"महाराज ! क्यों लज्जित करते हैं....! आपकी महानता है—विशाल हृदयता है यह कि आप इतना आदर भाव प्रकट कर रहे है।" सकुचाते हुए अग्निवेताल ने निवेदन किया और बद्ध कर तनिक आगे की ओर बढ गये।

"शक्ति के साथ-साथ, मित्रवर ! तुममें कुछ चमत्कार भी अवश्य होंगे कुछ दैविक शक्तियों के स्वामी तुम अवश्य होगे—हमारा यह विश्वास है।" अध्ययनशील दृष्टि के साथ अग्निवेताल अपलक नेत्रों से अवधूत विक्रम का मुख ताकने लगा। यह प्रसंग क्यों छिड गया.... क्या प्रयोजन.... वेताल यह सोच ही रहा था कि अवधूत ने पूछ लिया—"क्या-क्या सिद्धियॉ प्राप्त हैं तुम्हे? तनिक खुलकर परिचय तो दो....।"

"मै आपका मित्र हूँ, महाराज ! .... सच्चा मित्र। मित्रों के मध्य कोई दुराव शोभा नहीं देता। मित्र को अपने गुणावगुणो का परिचय देकर ही एक-दूसरे की सहायता की जा सकती है, एक की शक्तियों का लाभ अन्य को प्राप्त हो सकता है। सहायक बने रहना—सच्चे मित्र का सर्वप्रथम और सर्वाग्रगण्य गुण है। मैं आपसे कुछ भी छिपाऊँगा नहीं, महाराज !" कुछ पल मौन रहकर अग्निवेताल ने अपने मानस को संयोजित करते हुए कहा—

"मैं सार्वभौमिक संचरण की क्षमता रखता हूँ। कोई स्थल मेरे लिए दुर्गम या दुर्गम्य नहीं। मैं जब, जहॉ चाहूँ, वहाँ अविलम्ब—तत्काल पहुँच जाता हूँ। किसी को [illegible] ले जाना हो तो भी कोई बाधा नहीं।"

"इसके अतिरिक्त मैं प्रत्येक इच्छित कार्य को भी बिना किसी विलम्ब के सम्पन्न कर सकता हूँ। कोई भी कार्य मेरे लिए अशक्य नहीं.... असम्भव नहीं।"

"इसी प्रकार....।" रहस्योद्घाटन की मुद्रा में तनिक निम्न स्वर में कहा—"महाराज ! एक बात और भी है—अवधिज्ञान के बल पर मैं भूत-भविष्य की परिस्थितियों को भी जान लेता हूँ। मुझसे कुछ भी गुह्य, कुछ भी गोपनीय नहीं रहता।"—अग्निवेताल अपने आसन पर बैठा हुआ ही कुछ आगे झुक आया था, अब कथन-पूर्ति पर वह यथास्थिति होते हुए अपने केशरहित मस्तक पर हौले-से हाथ फिराने लगा।

"सचमुच तुम महान् हो, वेताल !.... महान् हो। तुम्हारी मैत्री पाकर हम गौरवान्वित हो उठे हैं। तुम्हारी सिद्धियों ने हमारी शक्तियों का अभिवर्धन कर देया है—मित्र ! पहले से हम कहीं अधिक शक्तिमत्ता का अनुभव करते हैं। मित्र की शक्ति भी तो अपनी ही शक्ति मानी जा सकती है।" अवधूत-नरेश ने अपनत्व प्रकट करते हुए कहा और सौजन्य व्यक्त करते हुए वेताल सविनय हो उठा और बोला—"आपकी ही है, महाराज !.... आपकी सेवार्थ ही है। आप तो आदेश दीजिये, सब-कुछ....।" कहते-कहते वेताल आसन त्यागकर उठ खड़ा हो गया—'वहुत विलम्व हो गया, महाराज ! आप भी विश्राम कीजिये और मुझे विदा कीजिये।"

"अरे मित्र ! कभी-कभी तुमसे वाते करते रहने को वहुत जी करता है—बैठो... वैठो।" महाराज ने आग्रह किया जिसे वेताल अस्वीकार नहीं कर पाया। कुछ समय और रुक जाने के प्रयोजन से उसने पुनः आसन ग्रहण किया और महाराज का मुख उत्सुकता के साथ देखने लगा। जिज्ञासा का भाव उसके नयनों में उभर आया।

"मित्र वेताल ! हमारे मन में वडी-वड़ी महत्त्वाकांक्षाएँ पल रही है। अनेक कार्यों का हमारे जीवन में वड़ा महत्त्व है। हम अपने जीवनकाल मे ही उन सव को पूर्ण कर लेना चाहते हैं—हममें वह समर्थता भी है। समस्या केवल समय की है।" अवधूत विक्रम ने अपने स्वर में तनिक उत्साहहीनता लाते हुए कहा—"मित्र, किन्तु यह जीवन क्षणभंगुर है। कुछ निश्चय नहीं.... कि हमारा आयुष्य कितना है। इस अनिश्चय ने हमें विफल कर दिया है।" महाराज के भाल पर चिन्ता की रेखाएँ उभर आयीं।

"जीवन की परिणति मरण मे होना तो एक सर्वथा स्थापित तथ्य है, मित्र श्रेष्ठ !" वेताल ने कहा—"इसमे चिन्ता का विषय कुछ है ही नहीं. आप व्यर्थ ही व्यग्र होते है।"

"हम व्यग्र अवश्य हैं, बन्धु !.... किन्तु हमारी चिन्ता इस कारण को लेकर नहीं है कि एक दिन हम मरण को प्राप्त हो जायेंगे। अमरत्व की कामना तो हमारी नहीं है, किन्तु मरण के साथ अनिश्चितता का जो तत्त्व जुड़ा है–हमें उसी ने आकुल कर दिया है। सहसा मृत्यु के आगमन पर तो हमारे कार्य अपूर्ण रह जायेंगे। जीवन चाहे संक्षिप्त भी हो, किन्तु उसकी अवधि का ज्ञान हो जाने पर उपलब्ध समय में व्यक्ति अपने कार्यों को योजनाबद्ध रूप तो दे सकता है। आवश्यकता और महत्ता के अनुरूप प्राथमिकताओं का निर्धारण कर सकता है।" गंभीर होकर अवधूत अन्तर्मुखी, मौन हो गये।

कुछ ही क्षणों में नवीन उत्साह के साथ महाराज पुनः बोल पड़े–"किन्तु मित्र ! तुम इसमें हमारी सहायता अवश्य कर सकते हो। अवधिज्ञान की सहायता से क्या तुम यह नहीं जता सकते हमें कि हमारा आयुष्य कितना है? तुम्हारे लिए तो यह दुष्कर नहीं है।"

"कदापि दुष्कर नहीं है।"–वेताल ने गर्व के साथ कहा–"किन्तु आपको इस विषय में तनिक भी चिन्तित होना नहीं चाहिये। पर्याप्त विस्तीर्ण जीवनकाल आपके लिए सुरक्षित है। फिर भी.... आप निश्चित स्थिति ज्ञात कर लेना चाहते हैं तो इसमें मैं आपकी सहायता अवश्य करूँगा।"

यह कहते हुए अग्निवेताल ध्यान-मग्न हो गया। कुछ क्षणों तक उसकी मुख-मुद्रा में गंभीरता बढ़ती चली गयी और तब सहसा तनावमुक्तता के चिह्न दृष्टिगत होने लगे। और तब तो उसके अधरों पर हास थिरक उठा। सहज होते हुए वेताल ने धीरे-धीरे अपनी पलकें खोलीं और प्रसन्न होता हुआ बोला–

– "शुभ समाचार है, मित्रवर ! प्रसन्न हो जाओ.... आपकी आयु पूरे सौ वर्ष की है, हाँ.... ऑ....।"
– "किन्तु यह तो प्रसन्न हो जाने जैसा शुभ समाचार नहीं है, मित्र !"
– "क्यों-क्यों? एक सौ वर्ष का आयुष्य सौभाग्यशाली जन ही प्राप्त कर पाते हैं। आप इसे अशुभ कैसे मानते हैं, महाराज !"
– "शून्य स्वतः ही अशुभ होता है, मित्र वेताल ! फिर तुम तो कहते हो मेरे आयुष्य में एक ही नहीं, दो-दो शून्यों का योग है। भयावह स्थिति है यह तो....।"

महाराज की व्याकुलता गहराती चली गई। तभी उन्होंने अनुनय के स्वर में कहा–"तुम तो बड़े चमत्कारी देव हो। मेरी आयु से इन दोनों शून्यों को हटाने की कृपा करो, मित्र ! एक सौ वर्ष के स्थान पर एक सौ ग्यारह वर्षों का आयुष्य कर दो ना !"

हँसते हुए तब अग्निवेताल ने कहा–"यदि मैं कर सकता तो अवश्य कर देता, महाराज ! और मुझे प्रसन्नता ही होती ऐसा करके, किन्तु यह सम्भव नहीं है।"

"अच्छा !.... यदि ग्यारह वर्ष बढ़ाना सम्भव नहीं तो रहने दो, निन्यानवे वर्ष ही कर दो। शून्य का लोप तो तब भी हो जायेगा।"–युक्ति सुझाते हुए महाराज ने आग्रह किया।

"किन्तु मित्रवर ! इस विषय में कुछ भी सम्भव नहीं है। आयु तो पूर्व-निश्चित होती है। इसमें घटा-बढ़ी नहीं हो सकती। इन्द्रदेव भी यह सामर्थ्य नहीं रखते। आयु के निर्धारण के पश्चात् तो स्वयं विधाता के लिए भी अपने लेख में कोई हेर-फेर करना असम्भव हो जाता है। मैं तो एक तुच्छ देव हूँ.... मेरी शक्ति ही क्या है !" वेताल ने विवशता प्रकट की।

अवधूत विक्रम ने बात को और अधिक प्रतिपादित करा लेने के प्रयोजन से कहा–"जैसी तुम्हारी इच्छा.... तुमको हम विवश तो कर भी नहीं सकते। तुम चाहो तो....।"

"मैं तो क्यों न चाहूँगा.... आपको जो रुचिकर हो उस कार्य को पूर्ण करने में तो आनन्द ही नहीं, संतोष का सुख भी मिलता है, किन्तु इस प्रसंग में कुछ भी तो नहीं कहा जा सकता। निर्वाण के समय भगवान महावीर से विनय की गयी थी कि अपनी आयुष्य को कुछ अभिवर्धित कर लें। भगवान का उत्तर यही था कि एक क्षण भी सम्भव नहीं।" वेताल ने दृढ़तापूर्वक कहा।

"अच्छा, यदि मैं अपने आयुष्य को बढ़ा नहीं भी सकता, किन्तु कम तो कर ही सकता हूँ। मैं आत्मघात ही कर लूँ....।" सहसा अवधूत को टोका वेताल ने और कहा–"ऐसे अशुभ वचन न बोलिए, महाराज ! आप अपनी निश्चित आयु पूर्ण करेंगे, आत्मघात नहीं करेंगे। यदि आपने ऐसा किया भी तो आपके ऐसे प्रयास की सफलता का समय वही पूर्व-निर्धारित मरण का क्षण होगा। उसके पूर्व तो यह भी सम्भव नहीं होगा। उसके पूर्व न तो आप आत्म-हनन कर सकते हैं, न ही अन्य कोई आपका संहार कर सकता है। मरण जीवन की अपरिवर्तनीय सीमा है। जीवन इस सीमा को लाँघ भी नहीं सकता और इस सीमा का स्पर्श किये विना भी नहीं रह सकता। यही जीवन का ध्रुव-सत्य है।"

यह कहते हुए अग्निवेताल अपने आसन से उठा और लुप्त हो गया। महाराज मित्र अग्निवेताल के स्वरूप से अवगत होकर उसकी शक्तियों–क्षमताओं पर विचार करते-करते लेट गये और निद्रा-जगत् मे खो गये। अब शयन-कक्ष के समस्त वातायन खुले रखे जाते थे। शीतल-मन्द पवन आकर महाराज को थपकियाँ देने लगीं–उनकी निद्रा प्रगाढतर होती चली गयी।
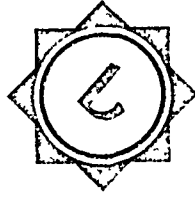
सुहाना संध्या समय.... महाराज अवधूत राजप्रासाद के भीतरी उद्यान में बैठे शान्त मन से चिन्तन कर रहे थे। द्रुम-लतिकाओं की अपूर्व शोभा बिखरी पड़ती थी। अनेक पक्षियों के चहचहाने का मधुर स्वर उपवन में गूँजने लगा था। निकट ही एक जल-प्रपात का निर्माण किया गया था जिसकी नन्हीं-नन्हीं बूँदें पवन में फैलकर शीतलता का सुखद अनुभव करा रही थीं। महाराज अवधूत के आसन के समक्ष महामात्य करबद्ध मुद्रा में अन्य अधिकारियों के साथ खड़े थे। राज-काज के आवश्यक निर्णय लिये जा रहे थे। उस मनोरम वातावरण में भूपेश के मन में अपनी प्रजा के प्रति स्नेह का भाव उमड़ उठा। स्नेहिल वाणी में उन्होंने कहा– "हमारी प्रजा ने संरक्षणहीनता का दुस्तार कष्ट बड़े धैर्य के साथ भोगा है, महामात्य अब हमें राशि-राशि सुखों की ऐसी व्यवस्था करेंगे कि प्रजा को कभी उन दुर्दिनों की स्मृति भी नहीं आ सके। वर्तमान के दुःखद होने पर ही अतीत का स्मरण आता है; अन्यथा मानव-स्वभाव तो जो विद्यमान है–वर्तमान है, उसी को जीवन की सचाई मानते रहने का होता है। हम मालव-देश का वर्तमान और भविष्य मंगलमय बनाने के संकल्पाधीन ही सेवा-कार्य करते रहेंगे। जनता का सुख शासक का चरम और परम कर्त्तव्य होता है। राज्य की यही नीति कीर्तिकारिणी भी होती है और शासक के लिए संजीवनी भी बनी रहती है।"

अपने नृप के सद्विचारों से सभी राज्याधिकारी प्रभावित हो रहे थे। सभी को सुकर्मयुक्त शासन-कार्य की प्रेरणा मिल रही थी। इसी समय अवधूत-नरेश ने महाप्रतिहारी को आदेश दिया–"आज से हमारे शयन-कक्ष के बाहर असुर के हित वलि-भोज रखने की व्यवस्था न की जाय।" इस आदेश ने सभी को चिन्तित कर दिया। साहस करके महामात्य ने निवेदन किया–"श्रीमानेश्वर ! यह कैसी आज्ञा है? इससे तो असुर कुपित हो जायेगा.... वह महाविनाश पर उतारू हो जायेगा, प्रभो ! हमने सुयोग से ही मालव-नरेश की प्राप्ति की है। मालव-प्रजा अपने स्वामी को फिर से खो देना नहीं चाहती, कृपानाथ ! अपना यह आदेश तत्काल निरस्त कर दीजिए। कहीं ऐसा-वैसा कुछ हो गया तो....।"

"कुछ नहीं होगा.... ऐसा-वैसा कुछ भी नहीं हो सकता।" नरेश अवधूत ने परम आत्म-विश्वास के साथ कहा–"होगा तो वही, जो हम करने की ठान लेंगे। अभय हो जाइये सभी.... हम पर विश्वास कीजिए।"

"किन्तु महाराजश्री ! आपने ऐसा निश्चय किया किस कारण से है?" महाबलाधिकृत का प्रश्न था।

"राजकोष जनता का अपना धन होता है। उसका सदुपयोग ही शासक का कर्त्तव्य होता है। हम राजकोष के स्वामी नहीं, मात्र संरक्षक हैं उसके। इस प्रकार बलि-भोज में नित्य-प्रति का अपव्यय जनता के धन का दुरुपयोग है।"—धैर्य के साथ अवधूत ने कहा।

तभी एक अन्य मंत्री ने सविनय निवेदन किया—"राजा की रक्षा के लिए किया गया व्यय राजकोष का दुरुपयोग या अपव्यय नहीं है, महाराजश्री !"

"विचारणीय यह भी है कि रंच मात्र से इस व्यय का परिणाम कितना उत्तम है। हमारे प्रजा-पालक का रक्षण इससे संभव हो रहा है।"—एक अन्य स्वर उभरा।

त्वरा के साथ महाराज अवधूत ने उत्तर में कहा—"जिस नरेश का सामर्थ्य आत्म-रक्षा ही नहीं कर सके वह राज्य की रक्षा, प्रजा की रक्षा भला क्या कर सकेगा ! हम अपनी रक्षा स्वयं कर लेंगे। हमारी रक्षा के निमित्त असुर को संतुष्ट रखने हेतु इतना धन प्रतिदिन व्यय करना तो असुर की चाटुकारिता का एक रूप है। हम चाटुकारिता को सच्चे शौर्य के लिए अपयश भी मानते हैं और इसे क्षत्रियोचित भी नहीं मानते।"

अन्ततः यही निश्चित हुआ कि इस रात्रि में बलि-भोज के रूप मे मेवा-मिष्टान्न, फल-पकवान के थाल असुर के आहारार्थ नहीं रखे जायें। निश्चय की क्रियान्विति भी हुई। अवधूत राजा अपने कक्ष मे एकाकी रूप में शयन किया करते थे। आज भी दृश्यमान रूप में तो वे कक्ष में अकेले ही थे, किन्तु प्रच्छन्न रूप में कक्ष के एक गलियारे में महाराज का एक विश्वस्त सेवक रखा गया। गलियारा कक्ष के लघु द्वार की ओर जाता था जिसकी दीवार में एक झरोखा इस कक्ष में खुला करता था। झरोखे के समीप ही सेवक सो रहा था।

रात्रि का शान्त वातावरण .... महाराज के शयन-कक्ष में गंभीर सन्नाटा छाया हुआ .... महाराज इस शान्तैकान्त में चिन्तनलीन एक आसन पर सतर्क मुद्रा में बैठे थे। उनकी प्रिय असि की ओर उनकी दृष्टि वार-वार चली जाती थी। वे मन ही मन तलवार की धार की तीक्ष्णता का आभास कर लेते थे। अवधूत महाराज आसन्न संकट से दो-दो हाथ करने को सन्नद्ध—अग्निवेताल की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे आज बलि-भोज के प्रश्न का अंतिम निर्णय कर लेना चाहते थे। वे जानते थे कि इस सहसा परिवर्तन से असुर उग्र होगा और उसके रौद्र रूप की कल्पना भी वे भलीभाँति कर रहे थे। साथ ही उस सारी स्थिति से पार पाने की ऊर्जा और सामर्थ्य का भी उन्हें स्वयं मे होने का पूर्ण विश्वास था। वे तन-मन से तत्पर थे और आसन्न आपदा के लिए अपनी भूमिका को सँवारने लगे थे।

"सब कुशल है .... ए ....।" प्रहरियो की ध्वनियाँ दूर-समीप से आती जा रही थीं। अर्द्ध-रात्रि की घंटा-ध्वनि हुई। महाराज का उत्साह भाव चरम को स्पर्श

करने लगा। इसी समय मेघ-गर्जना जैसा तीव्र स्वर कक्ष में व्याप्त हो गया। क्रुद्ध हुँकारें होने लगीं और क्रूर अट्टहास से सारा कक्ष मानो थरथरा उठा। महाराज अपने पैरों को फैला, दृढ़तापूर्वक स्थापित कर खड़े थे। उनके हाथ में तलवार चमचमा रही थी। सारा वातावरण प्रथम रात्रि जैसा ही वीभत्स और भयावह बन गया था। गलियारे में सोया सेवक भी इन प्रचण्ड ध्वनियो से जाग उठा था और स्वयं को छिपाकर झरोखे की ओर से भीतर झाँकने का प्रयास करने लगा था। कक्ष के मध्य तभी चिंघाड़ता हुआ अग्निवेताल साक्षात् हुआ। उसने अपने आकार को अभिवर्धित करते हुए भीमकाय रूप धारण कर लिया। उसका ऐसा भयावह और रौद्र रूप तो प्रथम रात्रि में भी महाराज ने नहीं देखा। सच्चे वीर संकट के समय और अधिक धीर और साहसी, निर्भीक और शक्तिशाली हो जाते हैं। अवधूत महाराज अपलक दृष्टि से असुर को घूर रहे थे। इस सारे दृश्य को देखकर प्रच्छन्न सेवक तो बेचारा सन्न रह गया ···· अब क्या होगा। इस पर्वत-समान राक्षस से बेचारे महाराज कैसे युद्ध करेंगे। यह तो अनर्थ ही हो जाने का कुसमय आ गया है। वह भय से कँपकँपाने लगा था।

अग्निवेताल ने अवधूत महाराज से कहा–"आँखें अपनी नीची कर लो ··· घूरते क्या हो? तुम्हें लज्जा नहीं आयी ···· मित्र बनकर हमारे संग छल करते हुए।"

अवधूत प्रश्न करने को हुए ही थे कि वेताल उछलकर उनके समीप आ गया–"पूछते क्या हो ···· आज तुमने मेरे लिए आहार क्यों नहीं जुटाया।"–असुर ने रूक्षता के साथ कहा–"बोलो, क्या तुमने वचन नहीं दिया था कि मेरे लिए तुम भोज का प्रवन्ध किया करोगे?" "दिया था ···· हमने वचन दिया था।" महाराज ने दृढतापूर्वक उत्तर दिया।

– "फिर उस वचन का निर्वाह क्यों नहीं किया?"

– "हमने वचन निभाया है। तुम्हारे लिए बलि-भोज की व्यवस्था बड़े ही व्यापक परिमाण मे हम करते रहे हैं, अग्निवेताल !"

– "आज हमारी क्षुधा शान्त करने की व्यवस्था क्यों नहीं की तुमने ···· क्या मैत्री को वात से तुम हमारी अपार शक्ति को भूल गये?"

– "अग्निवेताल ! हमने तुम्हें भाँति-भाँति के व्यंजन, फल, मेवा-मिष्टान्न देने का वचन दिया था अवश्य, किन्तु वह वचन किसी अनन्त क्रम के लिए तो नहीं था। हमने समुचित व्यवस्था तुम्हारे लिए की थी, किन्तु ऐसी किसी भी व्यवस्था की कोई समय-सीमा भी होती ही है। समझ लो कि वह सीमा आज पूर्ण हो गयी ····।"

"तुम समझते हो कि मैं तुम्हारी इन मीठी बातों में आ जाऊँगा। हैं?..... आज मैं तुम्हें तुम्हारे वचन-भंग का दण्ड दूँगा.... अवश्य दूँगा। मित्र बनकर तुमने केवल मित्रता का दिखावा किया है.... तुमने....।"

"अरे बढ़-बढ़कर क्या बातें बनाते हो, वेताल ! दिखावा तो तुमने किया है। कुछ पाते रहने की लालसा और लोभ में जो सम्पर्क रहता है तुम उसे मैत्री कहते हो....?"

"मुझे मेरा भोज्य चाहिये.... तुमने मुझे रुष्ट करके अच्छा नहीं किया.... आत्मघात का प्रयत्न किया है तुमने अवधूत....। भगवावेश धारण किया है तुमने.... अतः सोचना पड़ता है। तुम्हारे साथ करुणा....।"

"हम किसी की दया पर जीवित नहीं रहते, वेताल !"–अवधूत महाराज ने क्रोधावेश में गर्जना की। "हम अपनी शक्ति पर ही विश्वास रखते हैं.... अपने भुज-वल पर.... यही हमारा संगी है और विश्वस्त है।" महाराज ने यह कहते-कहते अपनी पकड़ तलवार की मूँठ पर तनिक सुदृढ़ की और उसे हवा में लहरा दिया।

अग्निवेताल की रोषाग्नि पर मानो घृत पड़ गया। वह तिलमिला उठा और घोर गर्जना के साथ उसने बॉह ऊपर को उठायी कि उसके हाथ में एक खड्ग आ गया। अपनी असि को घूरते हुए वेताल ने कहा–"वहुत दिनों से प्यासी है न ! आज रक्तपान से तुझे अघा दूँगा। जी भरकर रक्त पी ले इस अधम मित्र का।"

वेताल का क्रोध तो उसकी स्वाभाविक वृत्ति थी, किन्तु अवधूत महाराज तो मात्र अभिनय कर रहे थे। रोष प्रकट करते हुए उन्होंने अपनी तलवार को सम्वोधित करते हुए कहा–"रक्तपान से तुझे संतोष कहॉ होता है ! तू तो रुधिर-स्नान होकर ही संतुष्ट होती है न ! आज तुझे रक्त-स्नान का अवसर मिलेगा। अव तक अरि-रक्त ही तुझे स्नानार्थ मिलता रहा था; आज मित्र के रक्त मे स्नान करेगी तू..... मिथ्याभिमानी मित्र का रक्त....।"–अवधूत महाराज की वाणी में अद्भुत ओज था। अपने स्वामी का यह रौद्र रूप देखकर सेवक भी अचरज मे आ गया था। उसने राजा का अवधूत-वेश ही देखा था, आज अवधूत का वीर-वेश वह देख रहा था। वह असुर का विकट स्वरूप देखकर स्वामी के लिए चिन्तित तो था, किन्तु स्वामी का आत्म-विश्वास देखकर उनकी विजय के प्रति वह मन-ही-मन आश्वस्त भी था।

अग्निवेताल ने अपनी चमचमाती असि को हवा में घुमाया और त्वरा के साथ वह अवधूत पर झपट पड़ा। अवधूत असि-सचालन की कला में निष्णात थे। उन्होंने सतर्कता के साथ अपनी तलवार पर ही प्रहार को दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लिया। विकट झनझनाहट से शयन-कक्ष गूँज उठा। अव तो असि-युद्ध [illegible]।

गया। दोनों पक्ष पराक्रम-प्रदर्शन करने लगे। वेताल शक्तिशाली था, किन्तु त्वरित कम ही था। उसका शारीरिक भारीपन इसमें वाधक होता था। इसके विपरीत अवधूत की चपलता असि-संचालन के पराक्रम को द्विगुणित कर देती थी। क्षिप्रता के साथ अवधूत विक्रम ने असि-प्रहारों का ऐसा तॉता ही लगा दिया कि वेताल बेचारा आत्म-रक्षा के प्रयत्न में ही जुटा रहा। कोई प्रभावी प्रहार वह अवधूत विक्रम पर कर ही नहीं पा रहा था। उसके जो इक्के-दुक्के प्रहार होते भी थे तो बडी सुगमता के साथ अपने को बचाते हुए अवधूत तत्काल ऐसा भीषण प्रहार कर देते थे कि वेताल को दो-एक चरण पीछे हटकर अपना बचाव करना पड़ता, तभी लपककर अवधूत अग्रसर हो जाते। इस क्रम ने वेताल को कक्ष के एक कोने में धकेल दिया। अब तो अवधूत विक्रम की बन पड़ी। वे वेताल पर ताबड़तोड़ असि-प्रहार करने लगे। वेताल को आत्म-रक्षा के प्रयास का समुचित अवकाश भी नहीं मिल पा रहा था। सजग अवधूत विक्रम के एक प्रचण्ड प्रहार ने वेताल की खड्ग को खण्ड-खण्ड कर दिया। केवल मूँठ उसके हाथ में रह गया। झनझनाकर असि-खण्ड कक्ष में छितरा गये। स्वेद-कणों से लथपथ भीमकाय वेताल बुरी तरह हॉफ रहा था।

अवधूत महाराज ने भी तब असि का त्याग कर दिया और ललकारते हुए वोले—"अग्निवेताल ! अभी हमारी विजय पूर्णतः नहीं मानते हैं हम। अब हम द्वन्द्व-युद्ध करेंगे। यह फिर एक नया अवसर है तुम्हारे लिये, शक्ति-परीक्षण का।" —और वेताल की बॉह पकड़कर महाराज उसे पुनः कक्ष के मध्य भाग में खींच लाए। वेताल तो अवधूत की शक्ति से आतंकित हो चुका था। नवीन उत्साह के साथ वह फिर भी उद्यमरत हुआ। महाराज का सेवक लुका हुआ अभी भी सव-कुछ देख रहा था। कभी उसके मन में महाराज के प्रति सहानुभूति जाग्रत हो जाती तो कभी वेताल के प्रति करुणा। वह अन्तरमन से अपने स्वामी की अंतिम विजय की कामना करने लगा था।

इसी समय वेताल ने सहसा महाराज की बॉह पकड़ी और ऊपर को उठाने का प्रयत्न करने लगा। इस प्रयत्न में वह तो सफल नहीं हो पाया, किन्तु इसी समय अवधूत विक्रम ने वेताल के उदर पर भरपूर शक्ति के साथ पदाघात किया। अवधूत वेचारा चीत्कार कर उठा और उसका मुख खुला का खुला रह गया। अवधूत ने पहली वार तीव्र अट्टहास किया, किन्तु उनके अट्टहास में अपनी विजय का कम और वेताल के उपहास का आभास अधिक होता था। सहसा ही सॅभलकर वेताल ने अपने दोनो हाथों से अवधूत को ऊपर उठा लिया और कंधे पर चढाकर सारे कक्ष का चक्कर लगाने लगा। क्षण मात्र के लिए तो अवधूत विक्रम ने स्वयं को असहाय-सा अनुभव किया, किन्तु उसी समय उन्हें एक युक्ति सूझ गई। उन्होंने भरपूर शक्ति के साथ दोनों हाथों से वेताल की गर्दन पर मुष्टि-प्रहार

किया। घोर पीड़ा से वेताल कराह उठा और उसकी पकड़ शिथिल हो गयी। त्वरा के साथ महाराज अवधूत उछलकर पुनः नीचे आ गये। अवधूत सँभल पाता उससे पूर्व ही अवधूत विक्रम अपनी शय्या पर चढ़ गये और उछलकर अपनी भेंटी का प्रहार उन्होंने वेताल के प्रशस्त वक्ष पर किया। वह पुनः चरमरा उठा और लड़खड़ाकर भूलुंठित हो गया। उसी समय अवधूत विक्रम उसके वक्ष पर चढ़ बैठे और अजस्र रूप से मुष्टि-प्रहार करने लगे। असह्य पीड़ा से कराहते हुए वह भूमि पर हाथ-पैर पटकने लगा और हा-हा खाने लगा। द्वन्द्व की इस कोमलावस्था का लाभ उठाते हुए अवधूत महाराज ने कहा–"वेताल ! हम तुम्हारे प्राणों के भूखे नहीं हैं। हम तुम्हें क्षमा भी कर सकते हैं। यदि हमारे हाथों मरण को प्राप्त नहीं चाहते तो हमारी अधीनता स्वीकार कर लो। हमारे अधीन रहकर तुम सुखपूर्वक रहोगे।"

अधीरता के साथ हड़बड़ाते हुए वेताल बोला–"मित्र ! हमें स्वीकार है.... स्वीकार है हमें।" और वह हाँफने लगा। तत्काल ही महाराज अवधूत ने वेताल को मुक्त कर दिया और बोले–"तुमने हमें अब भी मित्र कहा है–यह बड़ी सुन्दर बात है। हम प्रसन्न हुए। उठो.... अब उठ खड़े हो जाओ।"–कहते हुए महाराज विक्रम ने वेताल को बाँह पकड़कर सहारा दिया और रिक्त आसन पर बिठाया। बोले–"हाँ, हम अब भी मित्र हैं... मित्र ही रहेंगे। हम तो तुम्हारी मित्रता की भावना में जो स्वार्थ भाव आ गया था उसे दूर करना चाहते थे। इसी के लिए यह सारा उपक्रम हमें करना पड़ा।"

"आपने उचित ही किया है, मित्र !.... मुझे प्रसन्नता है कि आप अपने प्रयास में सफल भी रहे हैं। मैं आपका आभार मानता हूँ, महाराज !.... किन्तु मित्र होने के नाते मेरी क्षुधा शान्ति का कुछ....।"

"हाँ..... हाँ.... मित्र वेताल ! क्यों नहीं.... वह तो हमारा कर्त्तव्य है ही।" इसी समय महाराज ने कक्ष मे स्थापित घंटिका पर उसकी छडी से प्रहार किया और अत्यन्त मधुर स्वर में घंटिका ध्वनित हो उठी। प्रच्छन्न सेवक प्रकट होते हुए महाराज अवधूत के समक्ष करबद्ध और नतशिर अवस्था में खडा हो गया और अत्यन्त कोमल स्वर में सविनय बोला–"आदेश महाराज... !"

"भृत्य ! जाओ और समीपवर्ती कक्ष मे वसन्त-मोदक के थाल रखे हैं। उन्हें यहाँ उठा लाओ।" महाराज की आज्ञा पाकर भृत्य पालनार्थ चला गया। इसी समय अग्निवेताल ने मुस्कराते हुए कहा–"अवधूत विक्रम ! आप मेरे मित्र तो आरंभ में हो गये थे। आज आपका बल-विक्रम देखकर मुझे असीम हार्दिक प्रसन्नता हुई। मैं चाहता हूँ आपको वरदान दूँ। अपनी कामना प्रकट कीजिये, मित्रवर ! मैं उसे पूर्ण करूँगा।"

गया। दोनों पक्ष पराक्रम-प्रदर्शन करने लगे। वेताल शक्तिशाली था, किन्तु त्वरित कम ही था। उसका शारीरिक भारीपन इसमें बाधक होता था। इसके विपरीत अवधूत की चपलता असि-संचालन के पराक्रम को द्विगुणित कर देती थी। क्षिप्रता के साथ अवधूत विक्रम ने असि-प्रहारों का ऐसा ताँता ही लगा दिया कि वेताल वेचारा आत्म-रक्षा के प्रयत्न में ही जुटा रहा। कोई प्रभावी प्रहार वह अवधूत विक्रम पर कर ही नहीं पा रहा था। उसके जो इक्के-दुक्के प्रहार होते भी थे तो बडी सुगमता के साथ अपने को बचाते हुए अवधूत तत्काल ऐसा भीषण प्रहार कर देते थे कि वेताल को दो-एक चरण पीछे हटकर अपना बचाव करना पड़ता, तभी लपककर अवधूत अग्रसर हो जाते। इस क्रम ने वेताल को कक्ष के एक कोने में धकेल दिया। अब तो अवधूत विक्रम की बन पड़ी। वे वेताल पर ताबड़तोड असि-प्रहार करने लगे। वेताल को आत्म-रक्षा के प्रयास का समुचित अवकाश भी नहीं मिल पा रहा था। सजग अवधूत विक्रम के एक प्रचण्ड प्रहार ने वेताल की खड्ग को खण्ड-खण्ड कर दिया। केवल मूँठ उसके हाथ में रह गया। झनझनाकर असि-खण्ड कक्ष में छितरा गये। स्वेद-कणों से लथपथ भीमकाय वेताल बुरी तरह हॉफ रहा था।

अवधूत महाराज ने भी तब असि का त्याग कर दिया और ललकारते हुए वोले—"अग्निवेताल ! अभी हमारी विजय पूर्णतः नहीं मानते हैं हम। अब हम द्वन्द्व-युद्ध करेगे। यह फिर एक नया अवसर है तुम्हारे लिये, शक्ति-परीक्षण का।" —और वेताल की वॉह पकड़कर महाराज उसे पुनः कक्ष के मध्य भाग में खींच लाए। वेताल तो अवधूत की शक्ति से आतंकित हो चुका था। नवीन उत्साह के साथ वह फिर भी उद्यमरत हुआ। महाराज का सेवक लुका हुआ अभी भी सव-कुछ देख रहा था। कभी उसके मन में महाराज के प्रति सहानुभूति जाग्रत हो जाती तो कभी वेताल के प्रति करुणा। वह अन्तरमन से अपने स्वामी की अंतिम विजय की कामना करने लगा था।

इसी समय वेताल ने सहसा महाराज की वॉह पकडी और ऊपर को उठाने का प्रयत्न करने लगा। इस प्रयत्न में वह तो सफल नहीं हो पाया, किन्तु इसी समय अवधूत विक्रम ने वेताल के उदर पर भरपूर शक्ति के साथ पदाघात किया। अवधूत वेचारा चीत्कार कर उठा और उसका मुख खुला का खुला रह गया। अवधूत ने पहली बार तीव्र अट्टहास किया, किन्तु उनके अट्टहास में अपनी विजय का कम और वेताल के उपहास का आभास अधिक होता था। सहसा ही सँभलकर वेताल ने अपने दोनों हाथों से अवधूत को ऊपर उठा लिया और कंधे पर उठाकर उसे कक्ष का चक्कर लगाने लगा। क्षण मात्र के लिए तो अवधूत विक्रम ने [illegible] असहाय-सा अनुभव किया, किन्तु उसी समय उन्हें एक युक्ति सूझ गई। [illegible] भरपूर शक्ति के साथ दोनों हाथों से वेताल की गर्दन पर मुष्टि-

किया। घोर पीड़ा से वेताल कराह उठा और उसकी पकड़ शिथिल हो गयी। त्वरा के साथ महाराज अवधूत उछलकर पुनः नीचे आ गये। अवधूत सँभल पाता उससे पूर्व ही अवधूत विक्रम अपनी शय्या पर चढ़ गये और उछलकर अपनी भेंटी का प्रहार उन्होने वेताल के प्रशस्त वक्ष पर किया। वह पुनः चरमरा उठा और लड़खड़ाकर भूलुंठित हो गया। उसी समय अवधूत विक्रम उसके वक्ष पर चढ़ बैठे और अजस्र रूप से मुष्टि-प्रहार करने लगे। असह्य पीड़ा से कराहते हुए वह भूमि पर हाथ-पैर पटकने लगा और हा-हा खाने लगा। द्वन्द्व की इस कोमलावस्था का लाभ उठाते हुए अवधूत महाराज ने कहा–"वेताल ! हम तुम्हारे प्राणों के भूखे नहीं हैं। हम तुम्हें क्षमा भी कर सकते हैं। यदि हमारे हाथों मरण को प्राप्त नहीं चाहते तो हमारी अधीनता स्वीकार कर लो। हमारे अधीन रहकर तुम सुखपूर्वक रहोगे।"

अधीरता के साथ हड़बड़ाते हुए वेताल बोला–"मित्र ! हमें स्वीकार है.... स्वीकार है हमें।" और वह हॉफने लगा। तत्काल ही महाराज अवधूत ने वेताल को मुक्त कर दिया और वोले–"तुमने हमें अब भी मित्र कहा है–यह बड़ी सुन्दर बात है। हम प्रसन्न हुए। उठो.... अव उठ खड़े हो जाओ।"–कहते हुए महाराज विक्रम ने वेताल को बाँह पकड़कर सहारा दिया और रिक्त आसन पर बिठाया। बोले–"हॉ, हम अब भी मित्र हैं... मित्र ही रहेंगे। हम तो तुम्हारी मित्रता की भावना में जो स्वार्थ भाव आ गया था उसे दूर करना चाहते थे। इसी के लिए यह सारा उपक्रम हमें करना पड़ा।"

"आपने उचित ही किया है, मित्र !.... मुझे प्रसन्नता है कि आप अपने प्रयास में सफल भी रहे हैं। मैं आपका आभार मानता हूँ, महाराज !.... किन्तु मित्र होने के नाते मेरी क्षुधा शान्ति का कुछ....।"

"हॉ..... हॉ.... मित्र वेताल ! क्यों नहीं.... वह तो हमारा कर्त्तव्य है ही।" इसी समय महाराज ने कक्ष में स्थापित घंटिका पर उसकी छड़ी से प्रहार किया और अत्यन्त मधुर स्वर में घंटिका ध्वनित हो उठी। प्रच्छन्न सेवक प्रकट होते हुए महाराज अवधूत के समक्ष करबद्ध और नतशिर अवस्था में खड़ा हो गया और अत्यन्त कोमल स्वर में सविनय वोला–"आदेश महाराज... !"

"भृत्य ! जाओ और समीपवर्ती कक्ष में वसन्त-मोदक के थाल रखे हैं। उन्हें यहॉ उठा लाओ।" महाराज की आज्ञा पाकर भृत्य पालनार्थ चला गया। इसी समय अग्निवेताल ने मुस्कराते हुए कहा–"अवधूत विक्रम ! आप मेरे मित्र तो आरंभ से हो गये थे। आज आपका वल-विक्रम देखकर मुझे असीम हार्दिक प्रसन्नता हुई। मैं चाहता हूॅ आपको वरदान हूॅ। अपनी कामना प्रकट कीजिये, मित्रवर ! मै उसे पूर्ण करूॅगा।"

भृत्य की अनुपस्थिति में ही अवधूत-नरेश यह प्रसंग समाप्त कर लेना चाहते थे। अतः भूमिकाहीन कथन करते हुए वे बोले—"मित्र अग्निवेताल ! तुम इच्छा-पूर्ति करना ही चाहते हो तो मेरी कामना है कि जब कभी मैं स्मरण करूँ तुम तत्काल मेरे समक्ष उपस्थित हो जाओ और जो कार्य करने को कहूँ उसे सम्पन्न कर दो।" कुछ रुककर अवधूत-नरेश ने प्रश्न कर दिया—"शीघ्र बोलो ···· तुम्हें क्या कहना है?" और उस दिशा की ओर ताकने लगे जिधर से सेवक का आगमन होने वाला था।

संकेत समझकर वेताल ने भी धीमे स्वर में कहा—"महाराज ····· ! कहना क्या है ! तथास्तु !! ऐसा ही होगा, मित्रप्रवर ! यह वरदान ही नहीं, वचन भी है जिसमे मैं आज स्वयं आपकी साक्षी में बद्ध हो गया हूँ। वचन-भंग मैं कभी नही करूँगा। आज से मै आपका दासत्व ग्रहण करता हूँ।"

"दास नहीं ····· नहीं, अग्निवेताल ! तुम हमारे मित्र ही रहो। ऐसी मैत्री पर हमे सदा गर्व रहेगा।" यह कहते हुए महाराज तनिक हॅस दिये और सहज हो गये। इस हॅसी मे अग्निवेताल भी अपना योग देने लगा और सारा वातावरण उत्फुल्लता से पूरित हो उठा। इसी काल भृत्य वसन्त-मोदक ले आया। वेताल ने रुचिपूर्वक मोदक-भोग किया और अल्प मात्रा में ही वह तृप्त हो गया। मोदक अभी थाल मे पर्याप्त संख्या में शेष पडे थे और वेताल उठ खड़ा हुआ। उसने महाराज अवधूत को प्रणाम किया और सहसा अदृश्य हो गया। महाराज ने देखा—शयन-कक्ष की अर्गला भीतर से खुली थी। इसी द्वार से भृत्य मोदक पहुॅचाकर बाहर गया था। शयन-कक्ष में अब नरेश एकाकी ही थे। अब अर्गला की कोई अपेक्षा ही नहीं रह गयी थी। शय्या पर लेटकर महाराज भावी योजना पर चिन्तन करने लगे। कर्मशील व्यक्ति की कर्म-शृंखला कभी समाप्त नहीं होती। उसे तो करणीय कार्य अत्यधिक और जीवन छोटा-सा ही प्रतीत होता रहता है। वह पल मात्र भी व्यर्थ नहीं होने देना चाहता।

× × ×

रात्रि के संघर्ष में भी असुर पर महाराजश्री की विजय ही हुई है। योगी होने पर भी महाराज अवधूत शूरवीर, साहसी, वलवान और सर्वथा निर्भीक हैं—इस तथ्य की पुनर्स्थापना हो गयी थी। इसी समय महामात्य दो-एक चरण आगे बढ़ गये और विनीत स्वर मे वधाई प्रेषित करते हुए वोले—"असुर-नियंत्रण के इस महान् अवसर पर अवन्ती आपका हार्दिक अभिनन्दन करती है, महाराज ! ऐसे सक्षम शासक को पाकर मालव-देश का मस्तक गर्व से ऊँचा हो गया है, श्रीमानेश्वर !" हाथ उठाकर मुस्कराते हुए अवधूत महाराज ने सभी का अभिवादन और अभिनन्दन स्वीकार किया तथा बाहरी विशाल कक्ष में ही सभी को वैठने का संकेत किया। स्वयं महाराजश्री भी अपने आसन पर विराजित हुए। मंगल-वाद्यों का निनाद अभी हो ही रहा था। अवधूत महाराज ने सहज भाव से कहा—"आप असुर-नियंत्रण की बात करते हैं। गत रात्रि में हमने असुर पर विजय तो प्राप्त कर ही ली थी, मालव-देश के लिए एक योग्य और उपयोगी शक्ति के साथ मैत्री भी स्थापित की है। मालव हित-साधना में उसकी क्षमताओं का उपयोग होता रहेगा। यह उससे भी अधिक प्रसन्नता का विषय है। और इसके लिए हम सारे देश को बधाई देते हैं।" कुछ पलों के विरामोपरान्त महाराजश्री ने पुनः आरंभ किया—"ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ काल के अन्तराल के पश्चात् मालव-प्रारब्ध अब जाग्रत हो उठा है और उसकी चतुर्दिक प्रगति के शुभ लक्षण दृष्टिगत होने लगे हैं। सभी दिशाओं से अनुकूल सहयोग होने लगा है।"

"आपश्री की महती कृपा और पराक्रम से ही यह सब-कुछ संभव हो गया है, महाराजश्री !" एक सामन्त ने आसन से उठकर निवेदन किया और एक हर्ष-ध्वनि होने लगी जो मानो कथन का अनुमोदन करने लगी थी। इसी समय प्रतिहारी ने आकर सूचना दी—"दूरस्थ किसी ग्राम से कोई ब्राह्मण देवता पधारे हैं और श्रीमान् के दर्शनों के अभिलाषी हैं। कहते हैं कि मालवाधिपति से उनका पूर्व-परिचय भी है।"

अवधूत-नरेश ने उन्हें तत्काल सादर लिवा लाने का आदेश दिया और कुछ ही पलों में एक तेजस्वी युवक ने प्रवेश किया। श्वेत-वस्त्रधारी यह ब्राह्मण-युवा अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व का धनी था। दूर से ही इसे आते देखकर पहचानते हुए नरेश अपने आसन से सहसा उठ खड़े हुए और त्वरा के साथ आगे वढ गये। प्रसन्नता का प्रगाढ भाव उनके मुख-मण्डल पर उत्साह के रूप में छा गया था। सव सकते में आ गये। महाराज ने आगत अतिथि को आलिंगनबद्ध कर लिया—"अरे मित्र, भट्टमात्र ! तुम वहुत समय पर पहुँचे। आज ही हमने तुम्हें स्मरण भी किया और तुम आ पहुँचे। आओ.... आओ, अवन्ती में तुम्हारा हार्दिक स्वागत है !" —महाराज अवधूत मित्र भट्टमात्र को स्नेहपूर्वक आसन तक ले आए। अपने समीप का आसन दिया और तब उपस्थित जनों से उसका परिचय भी कराया।

महाराज ने महामात्य को निर्देश दिया—"मित्र भट्टमात्र हमारे राज-अतिथि के रूप में प्रासाद में रहेंगे। इनके लिए सारी समुचित व्यवस्थाएँ कर दी जायें। लगता है आज ही अवन्ती के युवराज भी आने वाले हैं। बड़ा शुभ दिवस है आज का।" इस संकेत ने पुनः हर्ष-ध्वनि को प्रेरित किया। सभी के हृदय में उल्लास नाच उठा।

इसी समय अवधूत महाराज ने भट्टमात्र की ओर संकेत करते हुए कहा—"हमारे मित्र धर्मप्रिय और महान् विद्वान् तो हैं ही, एक और भी विशेषता है इनमें। ये आकृति-विज्ञान के निपुण पंडित भी हैं। व्यक्ति के मुख-मण्डल का अध्ययन करते हैं और उसके विषय में भूतकालीन तथ्यों को ही नहीं जान लेते, अनागत भविष्य की भी सूचना देते हैं। वर्तमान समस्याओं का निदान भी करते हैं। आप इनसे चर्चा करें, हम नित्य-कर्म से निवृत्त होकर आते हैं।" महाराज अवधूत यह कहते हुए आसन से उठे और भट्टमात्र को प्रतीक्षा करने का संकेत कर चल दिये। स्नानागार में राज-खवास प्रतीक्षा कर ही रहा था। नित्य ही वह तेल-मर्दनादि कर महाराज को स्नान करवाता था। उसके आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रहा जब उसे आज एक नवीन निर्देश मिला। महाराज ने कहा—"खवास ! आज हमारी इच्छा है कि इस दाढी से मुक्ति पा लें।" यह सुनकर तो राज-खवास की ऑखें कपाल पर चढ गयीं। "देख क्या रहा है, जा और अपने क्षौर-उपकरण ले आ···· ।" महाराज ने आदेश दिया। खवास लपककर जाने लगा। पीछे से महाराज की वाणी आयी—"और सुन, पहले राज-वस्त्रागार के अधिकारी को भेज दे।"

राज-खवास ने क्षौर-कार्य आरंभ किया। ज्यों-ज्यों दाढ़ी साफ होती जा रही थी ऐसा लगता था मानो मेघों के मध्य से चन्द्रमा निकलता चला जा रहा हो। खवास को कुछ अद्‌भुत-सी अनुभूति होने लगी थी। उसे प्रतीत होने लगा था—ऐसा रूप, ऐसा तेज···· अवश्य ही अवधूत-वेश में ये कहीं के राजा—राजकुमार हैं। उच्च क्षत्रिय-कुल के—किसी राजवंश के ही होने चाहिए। ऐसा तेज अन्य किसी में कहाँ···· । सहसा वह ऊर्ध्व स्वर में, अनियंत्रित-सा होकर बोल पडा—"महाराज ! आप···· आप तो अवन्ती के ही युवराज···· युवराज विक्रमादित्य हैं। धन्य भाग···· धन्य भाग महाराज कि···· ।" नरेश ने अपने होठों पर उँगली रखते हुए उसे चुप रहने का संकेत किया और अपना काम करते रहने को कहा। अब तो खवास सारी बात समझ गया। उसके नेत्र सजल हो उठे। आनन्द-मग्न हृदय से उसने क्षौर-कार्य पूर्ण किया। मूँछों को उसने वही आकृति दे दी जो विक्रमादित्य की मूँछों की थी। और तब वह महाराज को स्नान कराने लगा।

महाराज ने राजसी-वेश धारण किया और अपने शयन-कक्ष की ओर गये। [illegible] भी वे लोग वहाँ बैठे राज-अतिथि भट्टमात्र से बतिया रहे थे। पहले की [illegible] अब लोगों की संख्या भी बहुत बढ गयी थी। युवराज विक्रमादित्य को आते [illegible] एक सुखद आश्चर्य में निमग्न हो गये। महाराज अवधूत तब [illegible]

यथार्थ ही कहते थे कि आज ही विक्रमादित्य युवराज लौट आएँगे। यह असंभव भी संभव हो गया। अवधूत महाराज तो सिद्ध योगी हैं ···· वे वाचासिद्ध हैं। उनकी वाणी कभी मिथ्या नहीं हो सकती। उनका कथन सत्य ही घटित होकर रहा। सभी उठ खड़े हुए और नमनपूर्वक प्रणाम करने लगे। एक सामन्त ने कहा– "युवराजश्री ! इतने समय आप कहाँ रहे? हम तो खोज करते-करते परास्त ही हो गये।" युवराज मौन रहे।

– "युवराजश्री ! आपकी अवन्ती–प्रिय अवन्ती आपके वियोग में रोती-कलपती रही है।"

– "हम तो अनेक दिवसों से अवन्ती में ····· आप ही लोगों के समीप रहे हैं। फिर भी आप लोग अचेतन रहे–यह नियति का ही परिणाम है।"–कहते हुए तनिक से मुस्करा दिये।

उपस्थित जन इस कथन के मर्म को समझ नहीं पाये। वे हक्के-बक्के से एक-दूसरे का मुख ताकने लगे। उनकी दृष्टियों में यह भाव छलछला आया कि इस कथन का आशय कोई जान गया हो तो हमें भी बतलाए। इसी समय रहस्योद्घाटन की मुद्रा में भट्टमात्र कुछ कहने को आगे बढ़ने लगे। तभी युवराज विक्रमादित्य ने हाथ के संकेत से निषेध करते हुए कहा–

"आपने अवधूत महाराज को शासक बनाया था। राज्यारूढ़ होते हुए अवधूत ने कहा था कि वे युवराज के आने तक ही राज्यासीन रहेंगे। युवराज के आने पर हम उन्हें राज्यासन सौंप कर चले जायेंगे।"

"हाँ, युवराजश्री ! ···· हाँ, उन्होंने ऐसा कहा अवश्य था।" महामात्य ने अपनी श्वेत दाढ़ी पर हाथ फिराते हुए कहा–"किन्तु युवराजश्री ! वो अवधूतश्री हैं कहाँ ·····? आपसे उनकी कहाँ भेंट हुई? उनका ऐसा कथन रहा–आपको यह कैसे ज्ञात?" महामात्य के मुख पर जिज्ञासा का भाव झलकने लगा।

"आप सभी मानते हैं कि अवधूत-नरेश ने हमारे आगमन पर राज्य त्यागकर चले जाने की बात सोच रखी थी।" युवराज विक्रमादित्य ने कहा और एक रहस्यमयी मुस्कान उनके अधरों पर बिछ गयी। वे बोले–"अवधूत चले गये ····। वास्तविकता यह है कि हम और अवधूत दोनों एक साथ रह नहीं सकते। हमारे आगमन के लिए अनिवार्य है कि अवधूत चले जाएँ।"

"सुनिये महानुभावो ! सुनिये ···· हम इस गुत्थी को सुलझा सकते हैं ····।" धीरज के साथ भट्ट महामात्र बोला–"एक ही मुद्रा के दो पार्श्व हैं–अवधूत और विक्रम। वास्तव में वे अवधूत विक्रमादित्य ही थे, जिन्हें आपने अवन्ती-नरेश बनाकर राज्यासन पर आरूढ़ किया था। अवधूत-वेश में विक्रम थे वे विक्रमादित्य ही थे। खेद है कि आप कोई उन्हें पहचान नहीं पाए। नि

पश्चात् ही युवराज ने अवधूत-वेश धारण कर लिया था। अवधूत से ही हमारी मित्रता हुई थी। आज वे अपने मौलिक वेश में उपस्थित हुए हैं।''

घोर हर्ष-ध्वनि का ऐसा कोलाहल छा गया कि कोई क्या कहता है, कुछ सुनायी नहीं पडता था। महामात्य ने हाथ ऊपर को उठाकर सबको शान्त करने का प्रयत्न किया। धीमे होते ··· होते ही वह शोर कुछ पलों में जाकर थम पाया।

''आज मालव-राज्य के लिए सर्वाधिक प्रसन्नता का दिवस है, जब उसे अपने युवराज की प्राप्ति हुई है। हमारा सौभाग्य ही अपने युवराज के रूप में लौटकर आया है। आश्चर्य है कि हममें से कोई पहचान ही नहीं पाया कि वे अवधूत महाराज वास्तव मे युवराज ही हैं।''—महामात्य बुद्धिसागर ने निवेदन किया।

इसी समय एक प्रौढ़ सामन्त ने कहा—''किसी सुन्दरी का स्वर्णहार खो गया हो और वैसे ही किसी कृत्रिम हार से संतोष कर रही हो—उसे यह ज्ञात हो जाय कि यह कृत्रिम नहीं वही खोया हुआ वास्तविक हार यही है तो उसे जितनी अपार-अपार प्रसन्नता होती है, आज अवन्ती उतनी ही असीम प्रसन्नता का अनुभव कर रही है। अव युवराज का राजतिलक किये जाने की अनुमति मिले तो हम सब उस हेतु ····।''

''राजतिलक तो हमारा हो गया है। आप सभी ने चाहे अवधूत-वेश में ही सही, किन्तु हमे ही सिंहासनारूढ किया था। आपने विक्रम को ही राजा बनाया था। अन्तर यही है कि वे अवधूत विक्रम थे और हम विक्रमादित्य हैं। विक्रमादित्य मालव का राजा ही है।''

भट्टमात्र ने इसी समय पुकार लगायी—

''महाराज विक्रमादित्य की ······ जय !!

हमारे महाराज ········ अमर रहें !!''

मुस्कराते हुए महाराज विक्रमादित्य ने दोनों हाथ ऊपर उठाकर जय-जयकार के तुमुल नाद को धीमा करने का असफल प्रयास किया और तव वे राजसभा की ओर प्रस्थान कर गये। हाथो में हाथ डालकर वे मित्र भट्टमात्र को संग-संग लिये जा रहे थे। पीछे-पीछे महामात्य बुद्धिसागर चलने लगे थे और अन्य उपस्थित जन उनका अनुसरण करने लगे।

राज-काज की पैतृक निपुणता से सम्पन्न महाराज विक्रमादित्य को सार्वभौमिक कीर्ति प्राप्त होने लगी थी। न्यायशील नरेश के राज्य में प्रजा संतुष्ट और सुखी थी। [illegible] के साथ कोई अन्याय, कोई अनौचित्य नहीं, सर्वत्र सुव्यवस्था की परिव्याप्ति, [illegible] के प्रति अटूट आश्वस्तता और चतुर्दिक शान्ति का साम्राज्य। दूर-दूर तक [illegible] आदर्श रूप में विक्रमादित्य महाराज के शासन को उदाहरणीय और [illegible] माना जाता था। 'राजा हो तो विक्रमादित्य जैसा और राज्य हो तो [illegible]। [illegible] नरेश के अनुकरण में प्रजा भी नीतिशील और पार

आचरण की थी। कुछ ही काल में अवन्ती ने अपना खोया हुआ सुसमय पुनः प्राप्त कर लिया। राज-काज से निवृत्त होकर महाराज अपने प्रासाद के विश्राम-कक्ष में बैठे, मित्र भट्टमात्र से वार्त्तालाप कर रहे थे। कभी अतीत विषय वन जाता तो कभी भविष्य। पल-पल में वार्त्तालाप की दिशा परिवर्तित होती चली जा रही थी। आज ही अवधूत और विक्रमादित्य के एकत्व का रहस्य उद्घाटित हुआ था। सारे राजभवन में अपने युवराज विक्रमादित्य को भूप-रूप में पाकर अपार-अपार उत्साह और उल्लास का वातावरण छा गया। सेवक-अनुचरों से लेकर सम्मान्य जनों तक राजभवन के प्रत्येक व्यक्ति को असीम प्रसन्नता थी। इस समय दोनों मित्रों के मध्य चर्चा का यही विन्दु वन गया था। भट्टमात्र ने कहा–"प्रसन्न तो सभी होंगे.... किन्तु महाराज आपश्री की कुशल-क्षेम और पुनरागमन से राजमाता को जो प्रसन्नता हो रही होगी वह अतुलनीय है। वात्सल्यमयी जननी का हृदय......!"

"तुम उचित ही कहते हो, भट्टमात्र ! माँ का स्थान तो अत्युच्च ही रहता है। जो निर्मल स्नेह भाव उसके हृदय में अपनी संतति के प्रति रहता है ऐसा निःस्वार्थ प्रेम और कौन रख सकेगा भला !"–नरेश अगाध मातृ-श्रद्धा से आर्द्र हो उठे। कुछ क्षणों की आत्म-विभोरता के पश्चात् भट्टमात्र की वाणी सुनकर उनका ध्यान उधर आकर्षित हो गया–"महाराजश्री ! पुत्र के लिए माता का आश्रय बड़ा मूल्यवान होता है। माता के स्नेह में सन्तति को निश्चिन्त और सुखी बनाने की अपार शक्ति है। इसी कारण माता के चरणों में स्वर्ग का होना कहा जाता है।"

"सौभाग्यशाली हैं वे, जो जननी की स्नेह-छाया प्राप्त कर पाते हैं और उससे अधिक अभागा और कौन होगा जो ऐसी जननी के प्रति आभार और सम्मान का भाव नहीं रखता।" अवन्ती-नरेश ने कहा–"माता पूज्या ही नहीं, आदि पूज्या होती है, मित्र ! सभी देवताओं से भी प्रथमतः माता पूजनीया होती है। मातृ देवो भव.... पितृ देवो भव..... में भी सर्वाग्र स्थान माता को ही प्राप्त है।"

"सत्य ही कथन है, महाराजश्री !..... सर्वथा सत्य। ईश्वर में भी जो हितकारी गुण हैं, उनके विवेचन में प्रथमतः उनके माता जैसे गुणों की वन्दना की जाती है–त्वमेव माता च पिता त्वमेव....।" भट्टमात्र ने कहा और माता की महिमा का स्मरण करते हुए वह अन्तर्मुखी हो गये। इसी समय प्रसन्न होते हुए महाराज विक्रमादित्य ने कहा–"हम हमारे इस नये जीवन का समारंभ मातृ-भक्ति से ही करना चाहते हैं। इस राजमाता के दर्शनार्थ उनकी चरण वन्दना करने को जा रहे हैं। हमारी इच्छा है कि मित्र तुम भी हमारे साथ रहो।"

"जैसी आपकी इच्छा.....।"–कहते हुए भट्टमात्र भी उठ खड़ा हुआ। दोनों मित्र राजमाता के प्रासाद की ओर चल पड़े।

राजमाता श्रीमती तो आज प्रातः से ही आनन्द के सरोवर में निमग्न-सी थीं। उनके लिए तो मानो आज ही दीर्घावधि के पश्चात् पुत्रागमन हुआ था। स्नेहातिरेकवश उनके नयन सजल हो उठे थे। वात्सल्य भाव उनके हृदय में ज्वार उठा रहा था। वे सोच रही थीं–'सारा दिवस ही व्यतीत हो गया और अभी विक्रम को अपनी माता की सुधि नहीं आयी। कैसा बिलख पड़ता था यह शैशव में तनिक-सी जब हम उसकी दृष्टि से दूर हो जातीं। सच है, पुत्र जितना बड़ा होता है, वह स्वयं को उससे भी बड़ा अनुभव करने लगा है। यह तो माता ही है जिसके लिए वह सदा छोटा बना रहता है।' अनेकानेक भाव उनके मन से होकर निकलते चले जा रहे थे। इसी समय उन्हें पुत्र की वाणी सुनायी दी–

"चरण-वन्दना करता हूँ, मातेश्वरी ! आपका पुत्र विक्रम आपको सादर प्रणाम करता है····।" अत्यन्त कोमल और विनीत स्वर में विक्रमादित्य महाराज ने निवेदन किया और जननी के चरणारविन्दों में झुक गये। भट्टमात्र ने भी प्रणामपूर्वक चरण-वन्दना की।

"हमे वड़ी प्रसन्नता है, वत्स ! अतीव प्रसन्नता है कि तुम आ गये। आज का दिवस हमारे जीवन का वड़ा महत्त्वपूर्ण दिवस है जब हमने अपने खोये हुए पुत्र को पुनः प्राप्त किया····हमने तो भर्तृहरि को और तुमको–दोनों को अत्यन्त प्रेम किया है–प्राणों से भी अधिक चाहा है। तुम दोनों हमारे नयन-तारे रहे। इसे अपने दुर्भाग्य के अतिरिक्त क्या कहूँ कि तुम दोनों ही गृह त्यागकर चले गये। तुम्हारे दुःखों की कल्पना मात्र से माँ तुम्हारी काँपती रही है, बेटे ! तुम उस पीड़ा का मर्म नहीं जान सकते जो तुम्हारे अभाव में हमने सही है–भोगी है।"

"सत्य ही कथन है राजमाता का····।"

"तू वत्स ! राजमाता न कहा कर। हम तेरी जननी हैं। तू हमें 'माँ'···· केवल 'माँ' कहे–यही अच्छा लगता है।" राजमाता ने ममतामयी वाणी में कहा और जननी का भाव हृदयंगम करते हुए नरेश विक्रमादित्य ने तत्काल संशोधन किया–

"माँ ! आपका कथन यथार्थ ही है–हम आपकी वेदना को समझ सकते हैं··· ये हमारे मित्र हैं–भट्टमात्र।"–महाराज ने मित्र की ओर संकेत करते हुए कहा और भट्टमात्र ने पुनः नमनपूर्वक प्रणाम किया।" भट्टमात्र की संगति में भी हमारे निर्वासित जीवन का पर्याप्त भाग व्यतीत हुआ है। ये साक्षी हैं माँ····· इस तथ्य के कि आपकी स्मृति के बिना हमारा दिवस भी नहीं वीता है।"

"[illegible] की आवश्यकता नहीं, वत्स ! माँ से वढ़कर कौन किसी के [illegible] सकती है। हम सब-कुछ जानती हैं–किन्तु यहाँ आकर इतना निठु[illegible] [illegible]।" माँ ने [illegible] स्वर में कहा–"तू अवन्ती में आ गया–

राजभवन में रहा ····· और छद्मवेश में अवधूत बनकर ···· तुझे अपनी माता के सुख की कामना भी नहीं रही–यह वेश तूने पहले ही त्याग क्यों नहीं ···· ।"

"विवशता थी माँ, परिस्थिति ही ऐसी रही ···· हमें कुछ समय इसी प्रकार व्यतीत करना था। हम क्षमा-याचना करते हैं माँ ! ···· हमें ····· ।"

"क्षमा-वमा कुछ नहीं ···· हम तुमको ···· ।"

मौन खड़ा भट्टमात्र तभी वोल उठा–"यह सत्य है, मातुश्री ! कि वन-वन भटकते हुए भी महाराज ने कभी आपको विस्मृत नहीं किया। वे तो आपकी सदा पूजा करते रहे हैं। जगत् को मातृ-सेवा की शिक्षा देते रहे हैं।"

"देता रहा होगा ···· पर इसका यह अपराध अक्षम्य है कि इसने राजभवन में रहते हुए भी अपनी माँ के कष्ट का अनुभव नहीं किया। छिपकर रहा और उस कष्ट को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया ····।" माँ की इस कठोरता में नाटकीयता का अंश दोनों मित्रों ने पाया और तब भट्टमात्र ने निवेदन किया– "आपका कथन यथार्थ है, मातुश्री ! यह अपराध तो अक्षम्य ही है।" भट्टमात्र ने तनिक मुस्कराते हुए पूछा–"महाराज विक्रमादित्य के लिए आपने क्या दण्ड निर्णीत किया है?"

"हम इसे बंधन में डालेंगी। अब यह मुक्त नहीं रह सकता। इसे अब आजीवन विवाह-पाश में रहना होगा।" राजमाता ने अपना निर्णय सुनाया और मधुर हास उनके अधरों पर बिखर गया।

"हमें स्वीकार है, माँ ! आपका दण्ड हमें स्वीकार है, किन्तु मृत्यु-दण्ड के पात्र से भी उसकी अन्तिम इच्छा पूछी जाती है–उसे पूर्ण किया जाता है। क्या हमसे ····।"

"बोल वत्स, बोला"–माँ ने ममता के साथ पूछा–"क्या चाहता है तू? क्या इच्छा है तेरी?"

"माँ, एक ही इच्छा हमारी है ·····।" महाराज कुछ सोचते हुए कहने लगे– हम एक बार अग्रज महाराज से भेंट कर लेना चाहते हैं। मालव-राज्य पर उन्हीं का अधिकार है। हम उन्हें मनाकर लौटा लाना चाहते हैं।"

"वत्स ! तुम ऐसी कामना चाहे रखते हो ···· पर इसमें सफलता संदिग्ध ही है।" माँ ने प्रबोधन के स्वर में कहा–"हमने उसे गृह त्यागकर संन्यस्त होते हुए देखा है। भर्तृहरि अपने मानस का पक्का है। जैसे किया हुआ प्रहार और कंठ से निसृत वाणी को लौटाया नहीं जा सकता ···· वैसे ही भर्तृहरि को संसाराभिमुख नही किया जा सकता। उसकी विरक्ति प्रचण्ड है। वह अव ····।"

राजमाता श्रीमती तो आज प्रातः से ही आनन्द के सरोवर में निमग्न-सी थीं। उनके लिए तो मानो आज ही दीर्घावधि के पश्चात् पुत्रागमन हुआ था। स्नेहातिरेकवश उनके नयन सजल हो उठे थे। वात्सल्य भाव उनके हृदय में ज्वार उठा रहा था। वे सोच रही थीं–'सारा दिवस ही व्यतीत हो गया और अभी विक्रम को अपनी माता की सुधि नहीं आयी। कैसा बिलख पड़ता था यह शैशव में तनिक-सी जब हम उसकी दृष्टि से दूर हो जातीं। सच है, पुत्र जितना बड़ा होता है, वह स्वयं को उससे भी बड़ा अनुभव करने लगा है। यह तो माता ही है जिसके लिए वह सदा छोटा बना रहता है।' अनेकानेक भाव उनके मन से होकर निकलते चले जा रहे थे। इसी समय उन्हें पुत्र की वाणी सुनायी दी–

"चरण-वन्दना करता हूँ, मातेश्वरी ! आपका पुत्र विक्रम आपको सादर प्रणाम करता है····।" अत्यन्त कोमल और विनीत स्वर में विक्रमादित्य महाराज ने निवेदन किया और जननी के चरणारविन्दों में झुक गये। भट्टमात्र ने भी प्रणामपूर्वक चरण-वन्दना की।

"हमें बड़ी प्रसन्नता है, वत्स ! अतीव प्रसन्नता है कि तुम आ गये। आज का दिवस हमारे जीवन का बड़ा महत्त्वपूर्ण दिवस है जब हमने अपने खोये हुए पुत्र को पुनः प्राप्त किया·····हमने तो भर्तृहरि को और तुमको–दोनों को अत्यन्त प्रेम किया है–प्राणों से भी अधिक चाहा है। तुम दोनों हमारे नयन-तारे रहे। इसे अपने दुर्भाग्य के अतिरिक्त क्या कहूँ कि तुम दोनों ही गृह त्यागकर चले गये। तुम्हारे दुःखों की कल्पना मात्र से माँ तुम्हारी काँपती रही है, बेटे ! तुम उस पीड़ा का मर्म नहीं जान सकते जो तुम्हारे अभाव में हमने सही है–भोगी है।"

"सत्य ही कथन है राजमाता का····।"

"तू वत्स ! राजमाता न कहा कर। हम तेरी जननी हैं। तू हमें 'माँ'···· केवल 'माँ' कहे–यही अच्छा लगता है।" राजमाता ने ममतामयी वाणी में कहा और जननी का भाव हृदयंगम करते हुए नरेश विक्रमादित्य ने तत्काल संशोधन किया–

"माँ ! आपका कथन यथार्थ ही है–हम आपकी वेदना को समझ सकते हैं··· ये हमारे मित्र हैं–भट्टमात्र।"–महाराज ने मित्र की ओर संकेत करते हुए कहा और भट्टमात्र ने पुनः नमनपूर्वक प्रणाम किया।" भट्टमात्र की संगति में भी हमारे निष्कासित जीवन का पर्याप्त भाग व्यतीत हुआ है। ये साक्षी हैं माँ····· इस तथ्य के कि आपकी स्मृति के बिना हमारा दिवस भी नहीं बीता है।"

"साक्षी-प्रमाण की आवश्यकता नहीं, वत्स ! माँ से बढ़कर कौन किसी के हृदय को जान सकती है। हम सब-कुछ जानती हैं–किन्तु यहाँ आकर इतना निष्ठुर कैसे हो गया है।" माँ ने उपालंभ-भरे स्वर में कहा–"तू अवन्ती में आ गया–

राजभवन में रहा ..... और छद्मवेश में अवधूत बनकर .... तुझे अपनी माता के सुख की कामना भी नहीं रही—यह वेश तूने पहले ही त्याग क्यों नहीं .... ।"

"विवशता थी माँ, परिस्थिति ही ऐसी रही .... हमें कुछ समय इसी प्रकार व्यतीत करना था। हम क्षमा-याचना करते हैं माँ ! .... हमें ..... ।"

"क्षमा-वमा कुछ नहीं .... हम तुमको .... ।"

मौन खड़ा भट्टमात्र तभी वोल उठा—"यह सत्य है, मातुश्री ! कि वन-वन भटकते हुए भी महाराज ने कभी आपको विस्मृत नहीं किया। वे तो आपकी सदा पूजा करते रहे हैं। जगत् को मातृ-सेवा की शिक्षा देते रहे हैं।"

"देता रहा होगा .... पर इसका यह अपराध अक्षम्य है कि इसने राजभवन में रहते हुए भी अपनी मॉ के कष्ट का अनुभव नहीं किया। छिपकर रहा और उस कष्ट को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया ....।" मॉ की इस कठोरता में नाटकीयता का अंश दोनों मित्रों ने पाया और तब भट्टमात्र ने निवेदन किया—"आपका कथन यथार्थ है, मातुश्री ! यह अपराध तो अक्षम्य ही है।" भट्टमात्र ने तनिक मुस्कराते हुए पूछा—"महाराज विक्रमादित्य के लिए आपने क्या दण्ड निर्णीत किया है?"

"हम इसे बंधन में डालेंगी। अब यह मुक्त नहीं रह सकता। इसे अब आजीवन विवाह-पाश में रहना होगा।" राजमाता ने अपना निर्णय सुनाया और मधुर हास उनके अधरों पर बिखर गया।

"हमें स्वीकार है, माँ ! आपका दण्ड हमें स्वीकार है, किन्तु मृत्यु-दण्ड के पात्र से भी उसकी अन्तिम इच्छा पूछी जाती है—उसे पूर्ण किया जाता है। क्या हमसे ....।"

"बोल वत्स, बोला"—माँ ने ममता के साथ पूछा—"क्या चाहता है तू? क्या इच्छा है तेरी?"

"माँ, एक ही इच्छा हमारी है .....।" महाराज कुछ सोचते हुए कहने लगे—हम एक बार अग्रज महाराज से भेंट कर लेना चाहते हैं। मालव-राज्य पर उन्हीं का अधिकार है। हम उन्हें मनाकर लौटा लाना चाहते हैं।"

"वत्स ! तुम ऐसी कामना चाहे रखते हो .... पर इसमें सफलता संदिग्ध ही है।" मॉ ने प्रबोधन के स्वर में कहा—"हमने उसे गृह त्यागकर संन्यस्त होते हुए देखा है। भर्तृहरि अपने मानस का पक्का है। जैसे किया हुआ प्रहार और कंठ से निसृत वाणी को लौटाया नहीं जा सकता .... वैसे ही भर्तृहरि को संसाराभिमुख नहीं किया जा सकता। उसकी विरक्ति प्रचण्ड है। वह अव ....।"

"फिर भी अग्रज महाराज के दर्शन तो किये ही जा सकते हैं। हम अनुरोध भी कर सकते हैं.... अवन्ती लौट आने का.... और हमारा विश्वास है.....।"

"कुल-देवता तुम्हारे विश्वास को पूर्ण करें।" आशिष देते हुए राजमाता ने कहा—"किन्तु योगी भर्तृहरि से भेंट करना भी तो सुगम नहीं है। ये लोग भी सभी खोज करते-करते थक गये हैं।" इस बाधा को दूर करने में अग्निवेताल के सहयोग की आशा से उत्साहित होकर महाराज ने कहा—"प्रयत्न तो किया ही जा सकता है।"

"अवश्य किया जा सकता है, मेरे राजा बेटे ! प्रयत्न क्यों नहीं किया जा सकता?"—राजमाता ने कहा—"किन्तु विवाहोपरान्त भी तो ऐसा किया जा सकता है। अपने अग्रज से आशीर्वाद माँग सकोगे अपने दाम्पत्य जीवन की सुखमयता का। हमारी कामना तो यही है कि तुम यथाशीघ्र परिणय कर लो। इसी में हमारा सुख भी है।" यह कहते हुए राजमाता ने अपने वत्स को कंठ से लगा लिया। कई क्षणों तक दोनों गले मिले रहे। "आपका सुख हमारे जीवन की परम साधना है, माँ ! आपकी इच्छा किसी भी परिस्थिति में हमारे लिये उपेक्षा की विषय नहीं बन सकती।" पूज्य भाव के साथ महाराज ने ये शब्द कहे और उनके नयनों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे। राजमाता अपने वक्ष में मुख छिपाये पुत्र के शीश पर स्नेहपूर्वक हाथ फिराती रहीं। आर्द्र कंठ से उन्होंने सुखमयता की कामना की। उनके नेत्र भी सजल हो उठे थे। दोनों आत्म-विभोर होकर एक-दूसरे का चिन्तन करते रहे। माता-पुत्र के इस आदर्श मिलन की साक्षीस्वरूप भट्टमात्र भी इस अद्भुत दृश्य से आनन्दित होता रहा। माता के माहात्म्य को महाराज विक्रमादित्य हृदय से स्वीकार करते थे। भक्तिपूर्वक जननी की आजीवन सेवा करते रहना पुत्र का प्रथम और प्रमुख कर्त्तव्य है। माँ से स्वार्थाधारित सम्बन्ध तो पशुत्व का चिह्न है। पशु स्तनपान काल तक ही माता से सम्बन्ध रखते हैं। महाराजश्री यह मानते थे कि अधम पुरुष केवल अपना विवाह हो जाने तक और मध्यम पुरुष विवाहोपरान्त भी, किन्तु जब तक माता से उनकी स्वार्थसिद्धि संभव हो तभी तक माता का सम्मान करते हैं। उत्तम पुरुष ही माँ को देव-तुल्य मानते हुए जीवन-पर्यन्त उसकी सेवा और सम्मान करते हैं। महाराजश्री माँ की वन्दना करके ही अपना दिन आरंभ करते थे। वे आदर्श जननी के आदर्श पुत्र थे।

× × ×

प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व इस जगत् में तब तक बना ही रहता है, जब तक जगत के लिए उसका कोई उपयोग शेष बना रहता है। मनुष्य के लिए यह सिद्धान्त कुछ अधिक ही प्रासंगिक रहता है। जब तक जगत् को उसकी अपेक्षा रहती है - कैसी-कैसी स्थिति में भी वह जीवित रहता ही है। इस आवश्यकता को [illegible] [illegible] जान लेता है और कभी वह उससे अनभिज्ञ भी रह जाता है।

मनुष्य का कोई दायित्व जव तक शेष रहता है उसके मन में जीवन की कामना रहती है। जव तक उसकी कोई कामना रहती है वह जीने की प्रेरणा प्राप्त करता है। जिस दिन यह कामना पूर्ण हो जाती है उसकी जिजीविषा भी चुक जाती है। राजमाता श्रीमती की सवसे बड़ी कामना यही थी कि अपने पुत्र विक्रम को एक बार देख लें जो दीर्घकाल से निष्कासन भोग रहा है। राजमाता की यह कामना पूर्ण हो ही गयी थी। इसके साथ ही उन्हें अपने जीवन की सार्थकता भी पूर्ण हो गयी लगती थी। कुछ भी करणीय शेष नहीं रहा। ऐसी स्थिति में उनकी जीवनी-शक्ति ही क्षीण होने लगी। जीवनेच्छा का अभाव ही मरण का प्रमुख आधार वनता है।

राजमाता श्रीमती की प्रवृत्ति धर्माराधना में दृढ़तर होती चली गयी। उनका चित्त धर्म में स्थिर हो गया था। परिजनों से उनका सम्पर्क अत्यन्त मधुर किन्तु संक्षिप्त हो गया। तटस्थता का भाव अधिक सशक्त हो गया। उन्हें स्वयं अनुभव होने लगा जैसे अपने जीवन के एक-एक क्षण का उपभोग उन्होंने कर लिया है। रात्रि के प्रथम प्रहर में उन्होंने नरेश विक्रम को अपने पास बुलाया। स्नेहपूर्वक बड़ी देर तक वे उनके शीश को अपने कोमल स्पर्श के साथ सहलाती रहीं। विक्रम महाराज भी माता की इस असीम ममता से निहाल हो गये थे। वे माता के समीप ही शय्या पर बैठ गये और अपना मुख माँ के वक्ष में छिपा लिया।

राजमाता ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ अपने पुत्र नरेश विक्रम को आशीर्वाद प्रदान किया–"युग-युग जिए मेरा लाल। प्रजा को सुख पहुँचा और अपने वंश की मर्यादा को, कीर्ति को और भी ऊँचा उठा। वत्स ! तू सदा सुखी रहे और हर बाधा को पराजित करते हुए उत्तरोत्तर उन्नति करता रहे !" राजमाता ने महाराज का मुख अपने दोनों हाथों से थामकर ऊपर उठाते हुए कहा–"वत्स ! तू तो रो रहा है·····अरे, तुझे क्या कष्ट है?"

"कोई कष्ट नहीं माँ·····मुझे क्या कष्ट हो सकता है? आप-जैसी जननी का आश्रय पाकर मैं तो परम सुखी हूँ, माँ·····!" महाराज ने आर्द्र कंठ से कहा–"ये आँसू तो आपका असीम प्रेम–स्नेह पाकर गद्‌गद हो जाने के परिणाम हैं, माँ !·····किन्तु आज असमय आपने स्मरण किया मुझे····इससे कुछ असामान्य-सा लगा। कोई विशेष प्रयोजन·····?"

"अरे, नहीं रे·····!" माँ ने पुत्र की पीठ थपथपाते हुए कहा–"····यों ही इच्छा हो आई थी। अब तू थक गया होगा··· जा विश्राम कर···· हाँ····?"

"अच्छा माँ ! जैसी आज्ञा"–कहते हुए महाराज विक्रम उठे, माँ के चरणों में शीश झुकाया और चल दिये।····किन्तु उनका चिन्तनशील मन और भी सक्रिय हो उठा। वे समझ नहीं पा रहे थे कि माँ के इस असाधारण व्यवहार का क्या हेतु

है? अवश्य कोई विशेष ..... । महाराज विक्रम के प्रस्थानोपरान्त राजमाता भी विश्रामरत हुईं। नयन मूँदकर वे इष्ट-स्मरण में लीन हो गयीं।

भोर होते-होते सारे राजभवन में कोहराम मच गया। राजमाता की सेविका ने जब उन्हें अपने निश्चित समय पर जाग्रत नहीं पाया तो वह शय्या के समीप पहुँची। राजमाता का निष्प्रभ मुख देखा तो वह हक्की-बक्की रह गयी। स्पर्श किया तो उनकी देह बर्फ-सी शीतल थी। महानिद्रा में निमग्न राजमाता सौम्य, एकदम गंभीर मुद्रा में दिखाई दे रही थीं। उनकी इहलीला समाप्त हो चुकी थी। कब उनके प्राण-पखेरू उड़ गये .... किसी को ज्ञात नहीं। सेविका अपनी पूर्ण शक्ति के साथ चीख पड़ी। समीपवर्ती दास-दासियाँ एकत्र हो गयीं और तब तो रुदन-क्रन्दन का ऐसा करुण वातावरण छा गया कि कठोर से कठोर हृदय भी द्रवित हो जाय।

यह तो अहोभाग्य ही था राजमाता श्रीमती का कि उनकी अरथी को अपने सुपुत्र का स्कंध सुलभ था, किन्तु मालवाधिपति महाराज विक्रमादित्य तो मानो शोक-सागर मे ही निमग्न हो गये। मात्र मातृ-ममता का ही उन्हें आश्रय प्राप्त था–वे उससे भी वंचित हो गये। पितृवत् अग्रज महाराज के संरक्षण से रहित तो वे पूर्व में ही हो गये थे। उन्हें इस विराट् संसार में अपना अस्तित्व सर्वथा एकाकी अनुभव होने लगा। वे तो रुदन-क्रन्दन भी नहीं कर पा रहे थे। इसी स्थिति में उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा–मानो उनके प्राण विकल हो रहे हों–वक्ष में उनका श्वास घुट रहा हो। वे क्षणों तक तो अचेत ही हो गये। प्रयत्नपूर्वक उन्हें सचेत किया गया तो उनके नेत्रों से असहाय अवस्था की दीनता प्रकट होने लगी। तर्जनी से पलकों की आर्द्रता को पोछते हुए उन्होंने दीर्घ साँस ली और अपलक दृष्टि से भूतल को निहारते रहे।

मित्र ही घोरतम कष्टों की घड़ी में सच्चा सहायक सिद्ध होता है। नरेश विक्रमादित्य को शोक-संतप्त देखकर भट्टमात्र भी संवेदनापूर्वक दुःखित हो उठा था, किन्तु कर्त्तव्य-बोध ने उसे प्रेरित किया। भट्टमात्र ने प्रबोधन के स्वर में कहा–

"राजन् ! यह शोक का समय नहीं है। जन्म यदि मुद्रा का एक पार्श्व है तो उसका दूसरा पार्श्व मरण ही है। आप तो स्वयं ज्ञानी हैं। जन्म के साथ ही मृत्यु का घटित होना भी एक अवश्यंभावी तथ्य के रूप में सुनिश्चित हो जाता है। अमर कौन हुआ है? शरीर तो नश्वर ही रहा है। जल की बुदबुद की भाँति अस्थिर और क्षणभंगुर है। महापराक्रमी और परम शक्तिशाली जन भी इस संसार में अमर नहीं रहे। मृत्यु तो एक अनिवारणीय घटना है–इसके लिए क्या शोक करना। प्रबुद्ध जनों का शोकाकुल हो जाना अस्वाभाविक है। राजेश्वर ! शोक त्यागिये और कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होइये।"

"हे विवेकशील नृपति ! आप तो स्वयं जानते हैं कि मृत्यु जीवन की अन्ति[illegible] महत्त्वपूर्ण घटना है ...... जिसकी महत्ता स्वयं मृतक के लिए शून्यवत हो

है—महत्त्व तो इसका अन्य जनों के लिए रहता है। दिवंगत के सद्‌गुणों को अपनाकर पीछे वाले आत्म-कल्याण कर सकते हैं। मृतक के अपूर्ण कार्यों को पूर्ण करना, उसके स्वप्नों को आकार देना, उत्तर शेष जनों का पवित्र दायित्व है। ऐसा करके ही हम दुतात्मा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं। आपका-हमारा यही कर्त्तव्य है—ऐसा करके हम दिवंगत आत्मा को अमर बना सकते हैं। श्रद्धालु संतति का यही कर्म है—यही धर्म है।" मित्र भट्टमात्र के प्रबोधन का महाराज के चित्त पर अनुकूल प्रभाव होता जा रहा था और वे सहज होने लगे थे।

"हमें तो इस समय दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। राजमाता के वात्सल्य की कोई सीमा नहीं थी। वे सारी मालव-प्रजा को अपनी संतति मानकर उसके सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख मानती थीं। ऐसी उदाराशय और करुणावती महान् महिलाएँ जगत् में सहस्रों वर्षों में ही कभी अवतरित होती हैं। उन्होंने अपने सद्‌गुणों से ही महान् नरेश गंधर्वसेन महाराज को प्रभावित कर उनके उज्ज्वल व्यक्तित्व की रचना की। राजमाता को महाराज भर्तृहरि और आप जैसे नर-रत्नों की जननी होने का गौरव प्राप्त हुआ। विश्व की महानतम महिलाओं की श्रेणी में वे अग्रगण्य रहेंगी। ऐसी नारी-रत्न के जीवन से प्रेरणा ग्रहण की जानी चाहिए।"

भट्टमात्र के कथन से ऐसा अनुभव महाराज विक्रमादित्य को होने लगा था कि जैसे उनके भावों को ही उनके मित्र ने वाणी दी हो। माता के यशोगान से उनके चित्त में माँ की महत्ता का प्रतिपादन हो गया था और वे मृत्यु को अटल तथ्य मानकर सहज हो गये—शोक की आकुलता से मुक्त हो गये।

● ●

समय का शिल्पी भी अद्‌भुत कलाकार है जो मानव-मन को नव-नवीन रूप-रंग देने की अद्‌भुत क्षमता रखता है। जो कल था वह आज नहीं और जो आज है वह कल नहीं रहेगा। इसी क्षमता के कारण वह सुख-दुःख, हर्ष-शोक, उत्थान-पतन का क्रम-निर्धारक हो गया है। स्मृति यदि मनुष्य के लिए वरदान है तो विस्मृति महावरदान है। यह विस्मृति मनुष्य की स्वभावगत विशेषता नहीं होती तो दुःख—शोक के प्रसंगों में घुल-घुलकर मनुष्य का जीवन नारकीय हो जाता। दुःखों में डूबकर मनुष्य जीवन के सच्चे सुख का अनुभव ही नहीं कर पाता। का आतप दुःख-हिम को क्रमशः द्रवित करते-करते सर्वथा लुप्त कर दिया

है और वर्तमान का सेवन करने का अभ्यस्त मनुष्य दुःखद अतीत से बाहर निकल आता है। माता का निधन भी नरेश विक्रमादित्य के लिए भारी दुःखद प्रसंग था, किन्तु समय-यापन के साथ उनका मानस सहज होता चला गया। भट्टमात्र का प्रबोधन भी इस क्रम में सशक्त रूप में सहायक बना। कुछ ही समय में महाराज राज-काज और प्रजा-पालन में दत्तचित्तता के साथ संलग्न हो गये। राज-काज में अग्रज महाराज भर्तृहरि ही उनके आदर्श रहे। प्रजा को यही अनुभव होता था कि मानो वह भर्तृहरि के शासन में ही जीवन-यापन कर रही हो। मात्र राजसिंहासन पर विक्रमादित्य विराजित हैं। और यथार्थ यह था कि विक्रम नरेश भी ऐसा मन-ही-मन स्वीकारते रहते थे कि हम तो तभी तक राज्यासन सँभाले हुए हैं जब तक अग्रज महाराज अवन्ती नहीं लौट आते। मालव-राज्य के वे ही अधिपति हैं और वे ही राज्य करेंगे। हम उन्हें अवन्ती लौटा लाएँगे।

अपने इस विश्वास को व्यक्त करते हुए एक शुभ प्रातः अमात्य जनों और सामन्तों की छोटी-सी सभा में नरेश विक्रमादित्य ने कहा–"अग्रज महाराज के पावन कर दर्शनों की हमारे हृदय में उत्कट अभिलाषा है....।"

"महाराजश्री की इच्छा तो अति उत्तम है, किन्तु इसकी पूर्ति सम्भव प्रतीत नहीं होती, श्रीमानेश्वर !"–एक अनुभवी सामन्त ने दृढ़ आत्म-विश्वास अपनी दृष्टि मे छलकाते हुए कहा।

आपका कथन ध्यान देने योग्य तो हो सकता है.... किन्तु इसका कोई कारण समझ में नहीं आता....।" महाराज ने संदेह प्रकट किया। "कारण है महाराज... यह निष्कर्ष अनाचार नहीं है।"–महामात्य बुद्धिसागर ने त्वरा के साथ कहा–"महीनों तक मालव-राज्य पूर्व महाराजश्री की गहन खोज करवा चुका है। उनका कहीं भी पता नहीं लग पाया....। उन्हें गंगा की ओर जाते हुए देखा गया। उस दिशा में तो और भी सघन प्रयत्न किये गये थे, किन्तु सब विफल रहे।"

"फिर भी एक वार पुनः हम प्रयास करना चाहेंगे।"–महाराज ने माधुर्यपूर्ण मुस्कान के साथ कहा और एक रहस्यपूर्ण दृष्टि से वे भट्टमात्र की ओर देखने लगे।

भट्टमात्र ने कहा–"साहस हर असंभव को संभव बना देता है, श्रीमानो ! साहसी नर-श्रेष्ठों के समक्ष तो हिमगिरि भी दुर्लंघ्य नहीं रह पाता। हमारे महाराजश्री अनुपम साहस के धनी भी हैं और लगन के पक्के भी।"

"किन्तु महाराजश्री का प्रयोजन क्या है? इस जटिल खोज से....।"

"प्रयोजन बड़ा स्पष्ट है....।" महाराज विक्रमादित्य ने एक अमात्य के कथन-मध्य ही कह दिया–"हम अग्रज महाराज को खोजकर अवन्ती ले आना चाहते हैं। वे ही मालवाधिपति रहेंगे।"

"यह तो और भी असम्भव है.... श्रीमानेश्वर ! तपस्या-मार्ग पर अग्रसर
ो समय हजारों-लाखों जनों ने अनुनय-विनय किया था, प्रबोधन भी दिया,
न्तु महाराजश्री तो अपने विचार पर अटल रहे।"–महामात्य ने कहा–"स्वयं मैंने
ाशः निवेदन किया, किन्तु हम सभी असफल रहे।"

"तुम्हारा कथन भी अपने स्थान पर उपयुक्त हो सकता है, अमात्यवर ! किन्तु
ारे प्रयत्न की बात और ही रहेगी। अग्रज महाराज की विरक्ति के लिए महादेवी
नंगसेना कारण रहीं–यह तो सभी जानते हैं।"–महाराजश्री ने सधैर्य कहा–
किन्तु हम मानते हैं कि इसके पीछे हम भी एक प्रमुख हेतुक रहे हैं। सम्भव है
नारा अनुरोध प्रभावशाली हो ही जाय।"

"प्रयत्न कर देखने में कोई हानि भी नहीं है.... किन्तु हमें आशा अत्यल्प ही
।"–एक अन्य अमात्य ने स्पष्टोक्ति की। महाराज ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी–वे
ौन रह गये, किन्तु उनका मनोभाव दृढ़तर होता गया। इसके पश्चात् कतिपय
न्य विषयों पर चर्चा चलने लगी।

कोई एक घटिका पश्चात् महाराज विक्रमादित्य ने शान्त–एकान्त स्थल पर
ासीन होकर अपने मित्र अग्निवेताल का स्मरण किया। देव तत्काल प्रत्यक्ष हो
या–"क्या आदेश है, मेरे स्वामी !" गंभीर वाणी गूँज उठी।

"मित्र वेताल ! न तो हम तुम्हारे स्वामी हैं और न ही तुम्हारे लिए हमारा
ोई आदेश हो सकता है। स्मरण रखो कि तुम्हारे-हमारे मध्य मैत्री का ही सम्बन्ध
।" महाराज विक्रम-नरेश ने कहा–"और हम तो तुमसे सहायता का अनरोध ही
र सकते हैं।"

"तो क्या अनुरोध है, श्रीमान् जी?" क्षीण-सी हँसी अधरों पर लाते हुए
अग्निवेताल ने पूछा–"कैसे स्मरण किया?"

"मित्र ! एक विशेष प्रयोजन से तुम्हें कष्ट देना पड़ा।"

"..............."

"हमारे मन में अग्रज महाराज के दर्शनों की तीव्र लालसा है। तुम तो सर्वत्र
चरणशील रहते हो....।"

"क्या यही ज्ञात करना है कि इस समय वे कहाँ हैं?"

"हाँ, मित्र ! यही प्रमुख बात है। यह ज्ञात हो जाय तो फिर....।"

"यह तो मै तुरन्त ही ज्ञात कर लेता हूँ। आप चिन्ता त्यागिये, महाराज !"
ह कहते हुए अग्निवेताल ने आँखें मूँदीं और अन्तर्मुखी हो गया। कुछ ही पलों
उसने पलके झपकाते हुए स्वयं को कुछ सहज किया और बोला–"मैं अग्रज
ाराज के दर्शन करके आ रहा हूँ, राजन्, ! वे सकुशल और प्रसन्न हैं–इस

समय ध्यान-मग्न हैं। गंगा के उस पार चित्रकूट वन में वे विराजमान हैं।''-वेताल ने सविस्तार सूचना दी जिसे पाकर नरेश मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुए।

''आइये···· राजन् ! मैं आपको भी उनके दर्शन करा लाता हूँ।''-प्रसन्नवदन अग्निवेताल ने यह कहते हुए अपना सीधा हाथ महाराजश्री की ओर आगे बढाते हुए तर्जनी को आगे बढ़ाकर बोला-''आप इसे पकड़कर अपने नेत्र मूँद लीजिये···· बस।''

महाराजश्री ने ऐसा ही किया और नवकार मंत्र का जाप करने लगे। मंत्र-जाप पूर्ण होते-होते ही वेताल का स्वर उनके कानों में पड़ा-''आँखें खोलिये, प्रभो !''

महाराज विक्रमादित्य ने आँखें खोलीं और आश्चर्यचकित रह गये। सघन वृक्षावली से सज्जित इस सुरम्य कानन की नैसर्गिक छटा से उनके लोचन तृप्त हो गये। विस्मय के साथ उन्होंने जिज्ञासा-भरी वाणी में पूछा-''मित्र !···· यह हम कहाँ पहुँच गये ?''

''यही चित्रकूट का अरण्य है, महाराज ! यही अग्रज महाराज का तपोवन है।''

''इतने ही समय में···· वाह ! किन्तु···· अग्रज महाराज का स्थान···· कहाँ····?''

''वह सामने जो पर्वत है, उसी की कन्दरा में राजर्षि योगी भर्तृहरि तपोलीन हैं, महाराज ! अब वहाँ आपको एकाकी···· निस्संग ही जाना होगा। मै गुप्त रूप में ही आपके संग रह सकूँगा।''

''ऐसा ही सही।''-महाराज विक्रमादित्य ने कहा और पर्वत की ओर बढ गये। कुछ ही पलो में वे कन्दरा के द्वार पर पहुँच गये। पर यह क्या····! द्वार पर एक विशाल आकार का भारी-भरकम अजगर···· स्वाभाविक दमक से परिपूर्ण पीत-श्याम वर्ण का, खुरदरा-सा शरीर, डरावनी आँखें और रुक-रुककर लपलपा जाती जिह्वा। एक क्षण को तो नरेश भी भीतर तक काँप उठे। तुरन्त उन्होंने कोष से तलवार निकाली और प्रहारार्थ पूर्ण शक्ति के साथ उसे ऊपर को उठाया ही था कि उन्हें वेताल की वाणी सुनाई दी-''अ हँ हँ···· महाराज···· यह क्या···· नहीं-नहीं···· ऐसा भी अनर्थ न कीजिये, राजन् !''

महाराज हक्के-वक्के से थम गये और प्रश्नसूचक दृष्टि से वाणी की दिशा ताकने लगे। पुनः वेताल मुखरित हुआ-

''यह साधारण अजगर नहीं है। अग्रज महाराज का रक्षक यह अजगर वेशधारी एक हठयोगी है। तीन-चार वर्षों से यह रक्षक बना हुआ तपस्या कर रहा है। वायु-भक्षण के अतिरिक्त यह अन्य कोई आहार ग्रहण नहीं करता है। वास्तव में यही हठयोगी इस कन्दरा का स्वामी भी है, महाराज !''

यह रहस्य ज्ञात होने पर अपनी भूल पर महाराज को पछतावा हुआ। तलवार को कोषाश्रित कर उन्होंने अजगर को सभक्ति प्रणाम किया और मन ही मन क्षमा-याचना की। अजगर ने तब शान्ति के साथ एक ओर खिसककर मार्ग दे दिया और महाराज भीतर प्रविष्ट हो गये। अदृश्य वेताल ने तब बताया कि अजगररूपी हठयोगी–राजर्षि योगी के अनुज रूप में महाराज को पहचान गया था और इसी कारण उसने आक्रमण नहीं किया था।

ज्यों-ज्यों महाराज कन्दरा के भीतर बढ रहे थे–अंधकार सघनतर होता जा रहा था। भीतर से कन्दरा वड़ी व्यापक और सर्वथा स्वच्छ थी। मनोमुग्धकारी स्वच्छ और शीतल वायु का प्रवाह आनन्दित कर देता था। कुछ पल के लिए ऐसा घोर अंधकार का स्थल आया, जहॉ दृष्टि विफल हो गयी थी। कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता था। केवल अनुमान से ही वे अग्रसर होते रहे। और तभी प्रकाश की क्षीण-सी दमक हुई। ज्यों-ज्यों वे उस दिशा में अग्रसर हुए आलोक-राशि अभिवर्धित होती रही। जब वे और समीप पहुँचे तो योगिराज ध्यान-मग्न आसीन–दृष्टिगत होने लगे। कुछ ही चरण महाराज और आगे बढ़े होंगे कि उन्हें स्पष्ट हो गया अग्रज महाराज ही विराजमान हैं। तब तो भ्रातृ-भक्ति का ऐसा ज्वार-सा उनके संवेदनशील हृदय में उमड़ उठा कि वे दौड़कर आगे बढ़े और दण्डवत् प्रणाम करते हुए करुण स्वर में रुदन ही कर उठे–"यह क्या .... अग्रज महाराज ! आपने अपनी यह क्या दशा कर ली ! कहॉ राजभवन के स्वर्गिक सुख और कहॉ वन-कन्दरा का यह दुःखमय जीवन ! कितना तो कृष हो गया है तन आपका .... आपने ऐसा क्यों किया, महाराज ! .... क्यों? मुझे तो मात्र आपका ही आश्रय था। मुझे अनाश्रित करके आप ....।"

इस रुदन-क्रन्दन से योगी भर्तृहरि का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने भूलुंठित, अपने चरणों से लिपटे रोते-बिलखते अग्रज को देखा तो तटस्थ भाव से, शान्ति के साथ, सधीर वाणी में कहा–"उठो राजन् ! .... उठो। क्षत्रिय-कुल के धीर जनों को ऐसी उद्विग्नता शोभा नहीं देती। उठो ....।" अपने हाथ से महाराज का स्कंध थपथपाते हुए वे बोले–"अच्छा किया अनुज तुमने कि यहॉ आ गये ....।" कुछ क्षण रुककर उन्होंने कहा–"मैं तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रहा था ....।"

"किन्तु अग्रज, महाराज ! आपने यह वैराग्य क्यों धारण कर लिया। मालव-देश की निरीह प्रजा पर, अपनी वृद्धा माता पर भी आपको दया नही आयी। मॉ ने आपके वियोग मे तडप-तडपकर प्राण त्याग दिये ....।" महाराज विक्रमादित्य के कथन का मर्मांतक अन्तिम भाग भी योगी भर्तृहरि को विचलित नही कर पाया। "एक नारी की निष्ठाहीनता से रुष्ट होकर आपने राज्य ही नही, संसार को ही तिलांजलि दे दी ....।"

"ऐसा न सोचो अनुज .... ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है।" योगी भर्तृहरि ने प्रबोधन देते हुए कहा—"राजन् ! जिस नारी की चर्चा तुम कर रहे हो उससे रुष्ट होने का कोई प्रसंग नहीं है। उसने तो इस जन पर महतोपकार किया है। उसी ने तो मुझे संसार की असारता समझाई है। उसने मेरी सुषुप्त आत्मा को जगा दिया। यदि उसका छलपूर्ण व्यवहार नहीं होता .... तो मैं मोह-निद्रा में ही लीन रहकर अपना सारा जीवन व्यर्थ कर देता।"

योगिराज के कथन का मर्म समझने के प्रयास में महाराज विक्रमादित्य शान्त और धीर हो गये थे। योगी भर्तृहरि ने आगे कहा—"मैंने कहा न मैं स्वयं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। वास्तव में यह प्रसंग आज तुमने ही स्मरण करा दिया; अन्यथा मैं तो सारा अतीत ही विस्मृत कर चुका हूँ। सभी को भूल गया—एक तुमको नहीं भूल पाया—यह सत्य है। तुम्हारे ही कारण मेरे मन में उद्विग्नता थी ... आज मुझे पूर्ण शान्ति प्राप्त हुई है।"

"मैं भी आपका अपराधी हूँ, अग्रज महाराज ! .... मैं आपकी वेदना का हेतुक वन गया था। चाहे उस कपटी नारी के छद्म के कारण ही सही, किन्तु मेरे कारण आपके मन में रोष उत्पन्न हुआ जिसने विराग की ऐसी कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं।"—महाराज विक्रमादित्य ने भाव-विह्वलता के साथ कहा।

"इसमें तो तुम्हारा कोई दोष ही नहीं था, राजन् ! तथापि यदि तुम स्वयं को किसी प्रकार से कारण या हेतुक मानते भी हो तो मुझे आत्मोत्थान के मार्ग पर आरूढ़ करने के, मेरे जागरण के हेतुक हुए हो। तुम धन्य हो उठे हो ....। महापाप का भागी तो मैं रहा हूँ।"

"वह .... वह कैसे, अग्रज महाराज !"

"वह ऐसे कि मिथ्या जगत् की असारता को भुलाकर मैं रूप-यौवन के आकर्षण मे ग्रस्त होकर मोहान्ध वना रहा। यही एक प्रमुख पाप था और सुनो, राजन् ! एक पाप अन्य अनेक पापों का जनक हो जाता है। उसी मोहान्धता ने मुझमे यह पाप करा दिया कि तुमको—अपने निरपराध बन्धु को, अकारण ही मैंने निष्कासित कर दिया। इसी अपराध के कारण मेरा मन पश्चात्ताप की ज्वाला मे दग्ध होता रहा है। आज मुझे अवसर मिला है कि उस ज्वाला को शान्त कर शीतलता का अनुभव करूँ। मैं अन्तरमन की गहराई से, हे अनुज ! तुमसे क्षमा-याचना करता हूँ।"

अग्रज महाराज के इस आर्त्त स्वर ने महाराज विक्रमादित्य को विह्वल कर दिया और उनका मन अस्थिर हो उठा। वे अनियन्त्रित से वोल उठे—"न .... न न महाराज ! ऐसा न कहिये .... ऐसे शब्दो से मुझ पर पाप न चढ़ाइये। आप मेरे लिए पूज्य रहे हैं और पूज्य ही रहेंगे। आपके आदेश ....।"

"भावावेश में न आओ, राजन् ! यही सत्य है–यथार्थ यही है। इसे मैंने अन्तरमन से स्वीकार किया है। कृत पाप की आलोचना करना–मन से स्वीकार करना कि मुझसे पाप हो गया और तब उसका शोधन करना, प्रायश्चित्त करना–पाप से मुक्ति का यही मार्ग है। इसे ही मैं भी अपना रहा हूँ। आज मुझे अतीव संतोष प्राप्त हुआ है। इसका श्रेय भी तुम्हें ही जाता है।"–योगी भर्तृहरि ने सविनय कहा।

"किन्तु मैं तो आपकी सेवा में अन्य प्रयोजन से आया हूँ, अग्रज महाराज !"

"तुम्हारे आगमन से मेरा इच्छित प्रयोजन तो पूर्ण हो गया। अब तुम अपना प्रयोजन बताओ।"

"अग्रज महाराज ! इस दीन अनुज का तो एक ही प्रयोजन है। मालव-राज्य पर आपका अधिकार है–आप ही मालवाधिपति है। हे नरपाल ! आप अवन्ती पधारिये और राज्यासन ग्रहण कीजिए। मैं तो आपको अपने साथ अवन्ती लिवा ले जाने को ही आया हूँ और आपको मेरी प्रार्थना स्वीकार भी करनी होगी।"

"हे अबोध अनुज ! सुनो, तपस्वियों का जीवन और नदी के प्रवाह की अवस्था समान ही होती है। नदी का जल जिस स्थल को पार कर आगे बढ़ जाता है वह उस स्थल पर लौटकर नहीं आता। आगे ही आगे बढ़ता चला जाता है। तुम भली प्रकार समझ लो कि राज्य का मैंने त्याग किया और आत्मोत्थान का यह मार्ग अपनाया है। मैं पुनः राज्य को ग्रहण करूँ–इस विलोम गति को मैं कैसे अपना सकता हूँ। क्षत्रिय-कुल की मर्यादा भी इसी में है कि त्यागी हुई वस्तु के प्रति ममता का भाव भी मन में न आने दिया जाय। यही प्रबुद्ध जनों का, ज्ञानियों का मार्ग है। माया-मोह के विकारों को मैं त्यागकर मुक्त हो गया हूँ; जैसे–वमन द्वारा शरीर के भीतरी विकारों को त्यागकर मनुष्य स्वस्थ हो जाता है। क्या वही मनुष्य त्यक्त दूषित पदार्थों को, वमन को पुनः ग्रहण कर सकता है। नहीं.... न....? वैसे ही मैं भी राज्यादि के माया-मोह को पुनः ग्रहण नही करूँगा। अब तो अविचल रूप में तपस्या-मार्ग पर अग्रसर होते रहना ही मेरा एक मात्र क्रम है–उसी में संलग्न रहूँगा। आज तुम्हारे आगमन से मेरा मन और भी निश्चिन्त और निरुद्विग्न हो चुका है।"

"किन्तु अग्रज महाराज ! आपको यहाँ कैसे-कैसे दुस्सह कष्ट झेलने पडते है। कैसी घोर कन्दरा में निवास करना पडता है–इस निर्जन वन में भोजनादि की....।"

"अनुज ! कन्दरा में मुझे राजप्रासाद की अपेक्षा अधिक मानसिक शान्ति मिलती है। यह जलप्रपात समीप ही है–कन्दरा मे ही है। सुविस्तृत वन फलों का आहार नित्य ही प्रस्तुत करता है। अभाव क्या है? फिर अभाव

खलता है जो अधिकाधिक प्राप्ति की कामना रखता है। मेरी आवश्यकताएँ तो अत्यल्प हैं, मर्यादित हैं। मुझे कोई कष्ट नहीं, सुख ही सुख हैं यहाँ।"

"किन्तु अग्रज महाराज ! मेरी एक विनती तो स्वीकार कीजिये। एक बार अवन्ती पधारकर सभी को अपने दर्शनों से कृतार्थ कर दीजिये।"

"मैं आऊँगा .... अवन्ती में आऊँगा, किन्तु प्रासाद में नहीं। विहार करते-करते कभी अवन्ती भी पहुँचूँगा अवश्य। आश्वस्त रहो। अब तुम जाओ। प्रसन्न मन से मालव का राज्य सँभालो और प्रजा-हित की साधना करो। तुम्हें अपार कीर्ति प्राप्त हो !! जाओ, अब मुझे भी साधनारत होना है।"–यह कहते हुए राजर्षि योगी भर्तृहरि ने उच्च स्वर में पुकारा–"अल....ख" और नयन मूँदकर ध्यानलीन हो गये। महाराज विक्रमादित्य धीरे-धीरे कन्दरा से बाहर निकल आये।

कन्दरा के द्वार पर अग्निवेताल पुनः साकार हो गया। वह महाराज विक्रमादित्य को अविलम्ब ही अवन्ती के राजभवन में ले आया।

× × ×

अपराह्नकाल में विशेष राजदरबार लगा। महाराज विक्रमादित्य राजसी वस्त्राभूषणों से सज्जित महाराज स्वर्ण-सिंहासन पर अत्यन्त शोभित हो रहे थे। राज-परम्परा से चला आ रहा मुक्ता-हार उनके वक्ष पर विशिष्ट कान्ति के साथ झूल रहा था। गौरवर्ण .... भरा-पूरा बलिष्ट शरीर, आजानु बाँहें, उन्नत भाल और उस पर दमकता राजकिरीट। विशाल नेत्र और सुती हुई-सी सुगढ़ नासिका। छोटी-छोटी-सी प्रभावशाली मूँछें और कलात्मकता के साथ व्यवस्थित केश-राशि-रूप, यौवन और पराक्रम के अद्‌भुत समन्वय के प्रतीक प्रतीत हो रहे थे महाराजश्री। श्वेत अधोवस्त्र और पीत उत्तरीय धारण किये अवन्तीपति विक्रमादित्य, नरोत्तम विक्रमादित्य गंभीर, धीर और वीर थे। उनके ये सभी गुण इस समय प्रकटतः उनकी छवि में प्रस्फुटित हो रहे थे।

राजसभा में गंभीरता छायी हुई थी, किन्तु किसी सभासद के मन पर कोई आतंक न था। ज्यों ही वन्दीजन का प्रशस्ति-गान समापन पर आया, महामात्य बुद्धिसागर कुछ निवेदन करने के प्रयोजन से आसन से उठ खड़े हुए और अनुमति की प्रतीक्षा करने लगे। तभी राजराजेश्वर विक्रमादित्य ने उन्हें आसन ग्रहण कर लेने को ससम्मान संकेत किया और महामात्य ने संकेत का अनुसरण किया। उनके मन में आज के इस असाधारण व्यवहार को लेकर तनिक उथल-पुथल होने लगी। वे ही राजसभा का संचालन करते रहे थे। आज की इस राजसभा में यह संकेत किसी महत्त्वपूर्ण घटना की पूर्व भूमिका होनी चाहिये। कुछ अद्‌भुत, कुछ असाधारण ही घटित होने वाला है।

मस्तिष्क है। यही सुन्दर समन्वय समाजोत्थान में सार्थक और समर्थ रह सकता है। बुद्धिसागर जी को अब आत्म-कल्याण हेतु अध्यात्म की ओर भी उन्मुख होना है। हम आज से ही उन्हें कार्य-भार से मुक्त करते हैं।'' इतना कहकर महाराज के मौन हो जाने पर सभी आगामी घोषणा की प्रतीक्षा करने लगे। महामात्य बुद्धिसागर तो हतप्रभ-से ही रह गये।

''और मालव-देश के नये महामात्य होंगे–भट्टमात्र।'' इस राजकीय निर्णय से सभी स्तब्ध से रह गये। ''भट्टमात्र .... भट्टमात्र''–क्षणिक-सा कोलाहल भी हुआ–आश्चर्य-मिश्रित हर्ष-ध्वनि होने लगी। महाराज महामात्य की भाव-भंगिमा का अध्ययन करने लगे। बुद्धिसागर कुछ उदास और शिथिल हो गये थे। उन्होंने उठकर राजमुद्रिका नव-महामात्य भट्टमात्र को सौंप दी और महाराजश्री को प्रणाम किया।

''आज से मालव-देश के दो महामात्य होंगे ....।''–महाराज विक्रमादित्य ने गंभीर होते हुए कहा–''भट्टमात्र और बुद्धिसागर ये महामात्यद्वय होंगे। बुद्धिसागर के मान-मर्यादा, उनकी प्रतिष्ठा यथावत् बनी रहेगी। वे महामात्य भट्टमात्र के मार्गदर्शक होंगे और बने रहेंगे। इनकी सुविधाएँ यथावत् निरन्तरित रहेंगी।''

राजसभा में सहसा पुनः हर्ष-ध्वनि हुई–''धन्य हो महाराज !'' अनेक कंठों से इस आशय के शब्द निःसृत होने लगे।

''मालवाधिपति महाराज विक्रमादित्य की .... जय !''

''महामात्य भट्टमात्र की .... जय !''

''महामात्य वुद्धिसागर की .... जय !''

सारा सभा भवन जय-जयकार से गूँज उठा। महाराजश्री के औदार्य और नीति-कौशल की प्रशंसाएँ होने लगीं। भट्टमात्र को गौरव भी प्रदान किया है महाराज ने और वुद्धिसागर के मान की रक्षा भी कर ली है। बडे ही चतुर और कुशल हैं हमारे महाराजश्री।''

''हम महामात्य के रूप में भट्टमात्र का स्वागत करते हैं, महाराजश्री !''–एक सामन्त कह उठे–''कुछ ही दिनों के संग में हम इनके वुद्धि-कौशल और अपार ज्ञानशीलता से परिचित हो गये। श्रीमानेश्वर ! आपका निर्णय समर्थनीय और सर्वथा औचित्य-संगत है। मालव-देश की प्रगति के विपय में हम सभी आश्वस्त हैं। महामात्य भट्टमात्र के हाथों में देश की सुख-शान्ति पूर्णतः सुरक्षित रहेगी–इसमें कोई आशंका हो ही नहीं सकती। मैं सभी सभासदों की ओर से नये महामात्य को प्रणाम करता हूँ, महाराज !'' भट्टमात्र ने धन्यवाद करते हुए सभा को सम्वोधित कर कहा–''मैं मालव-देश का साधारण-सा पुत्र हूँ। मालव-नरेश ने मेरी विशेपताओं का

सम्मान कर मुझे जो गौरव प्रदान किया है मैं उसके लिए आभारी हूँ। आप सभी से मेरी विनती है कि आप मेरी सफलता के लिए अपने इष्ट देवों से प्रार्थना करें। आपकी शुभ कामनाएँ ही मुझे अपने दायित्वों की भलीभाँति पूर्ति के पक्ष में समर्थ कर सकेंगी। आप सभी का सहकार मेरा सम्बल रहेगा। मैं आपकी आशा-आकांक्षाओं के अनुरूप सिद्ध हो सकूँ-यही कामना है। धन्यवाद !''-यह कहते हुए भट्टमात्र ने सभा को सभी दिशाओं की ओर अवलोकन करते हुए नमनपूर्वक प्रणाम किया और सभा समाप्त हो गयी। महाराजश्री भट्टमात्र के साथ राजप्रासाद की ओर प्रस्थान कर गये। राजसभा विसर्जित हुई।

कुछ ही कालान्तर में विश्राम-कक्ष में बैठे दोनों मित्र बतिया रहे थे। उस एकान्त का लाभ उठाते हुए महाराजश्री ने कहा-''हमारे अग्रज महाराज अपने तपस्वी जीवन में सुदृढ़ हो गये हैं। हम सभी प्रयत्न कर पराजित हो गये, किन्तु वे अविचल बने रहे। हमारी प्रार्थना थी कि वे अवन्ती पधारें और अपना राजपाट पुनः सँभालें, किन्तु हम विफल रहे। उन्होंने तो यही आदेश दिया कि हमें मालव-राज्य का शासन करना है। राजा हम ही रहेंगे। आज इस आदेश के पश्चात् ही हम स्वयं को मालव-नरेश मानने लगे हैं। यही हमारे इस नवीन जीवन का प्रथम दिवस है।''

''उचित ही विचार है आपका, श्रीमानेश्वर !''

''और हमने इस प्रथम दिवस को ही अपने वचन का पालन भी कर दिया है।''-कथन के साथ ही उनके मुख-मण्डल पर क्षीण-से गर्व की रेखाएँ उभर आयीं। ''हमने अपने मित्र को महामात्य बनाने का वचन दिया था .... तुमको-और तुमने उस समय उसे मात्र विनोद ही समझा न ! किन्तु हमने क्षत्रियोचित वचन-दृढ़ता का आदर्श निभाया है।''

''महाराजश्री !'' महामात्य भट्टमात्र ने विनयपूर्वक निवेदन किया-''वचन-पालन की दृढ़ता के साथ-साथ आपश्री ने अपने चरित्र की एक और भी महती विशेषता को उजागर कर दिया है।''

''वह क्या मित्र ?'' जिज्ञासा-भरी वाणी में महाराजश्री ने प्रश्न कर दिया।

''वचन-पालन को आपने क्षत्रियोचित आदर्श कहा .... ठीक भी है।'' महामात्य ने कहा-''किन्तु आपने इतनी गरिमा और महिमापूर्ण स्थिति पाकर भी इस अशक्त और दीन ब्राह्मण को स्मरण रखा-इस अन्तराल को महत्ता न देकर उसे गले लगाया-यह तो आपश्री की अपनी .... निजी विशेषता है। महान् पद पाकर कौन अतीत के क्षुद्र सम्पर्कियों को स्मरण करता है। आप वास्तव में महान् हैं, महाराज !''

"सावधान भट्टमात्र ! भविष्य में ऐसा कथन तो क्या .... ऐसा विचार भी नहीं करोगे। मैत्री के शुद्ध भाव का तरु तो समकक्षता के जल से ही पल्लवित हो पाता है। ऊँच-नीच का भेदभाव तो मैत्री के लिए घातक तत्त्व है।"

"सत्य है श्रीमान् ! .... सर्वथा सत्य है।" महामात्य भट्टमात्र ने सकुचाते हुए कहा–"किन्तु ऐसी मैत्री का निर्वाह भी तो विरले जन ही कर पाते हैं। और आपश्री उनमें अन्यतम स्थान रखते हैं–इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं।" विमल हास से दोनों मित्रों के मुख-कमल खिल उठे। बड़ी देर तक दोनों हँसते-बतियाते रहे। संध्या-समय समीप आ गया। पंछियों के चहचहाने का स्वर तीव्र से तीव्रतर होने लगा। धरती पर कोमल तिमिर बिछने लगा। आकाश में दिवस और रात्रि का मिलन-बिछोह अद्भुत दृश्य का निर्माण कर रहा था।

● ●

महाराज विक्रमादित्य अपने विश्राम-कक्ष में बैठे एक दिन मंत्रियों–अधिकारियों के साथ राजकीय विषयों पर सामान्य-सी चर्चा, विचार-विमर्श कर रहे थे। महामात्यद्वय भी उपस्थित थे। महाराजश्री इस समय किंचित् साधारण मुद्रा में, चिन्ता–गंभीरता से मुक्तावस्था में थे। चर्चा के विषय भी सामान्य थे। विचार-विमर्श के मध्य कभी-कभी कोई हास्य-प्रसंग भी आकर सभी के चित्त को उत्फुल्ल कर जाता था। इसी समय नगर-श्रेष्ठी ने प्रवेश किया। नमन-प्रणाम निवेदन करते हुए महाराज का संकेत पाकर वे एक रिक्तासन पर बैठे। महाराज की प्रश्नवोधक दृष्टि का आशय ग्रहण कर वे अपने आसन से उठ खड़े हुए और करवद्ध मुद्रा में उन्होंने निवेदन किया–"आपश्री की एक चूक की ओर ध्यानाकर्पित करने के प्रयोजन से उपस्थित हुआ हूँ, श्रीमानेश्वर !"

महाराज विक्रमादित्य इस कथन से सहसा विभ्रमग्रस्त हो गये। हमने कहॉ .... कौन-सी अनीति कर दी–कहॉ भूल हुई है हमसे ! वे कुछ समझ नहीं पा रहे थे। इसी ऊहापोह में अनियंत्रित-से हो महाराजश्री ने प्रश्न कर दिया–"कौन-सा अनुचित कार्य हो गया हमसे, नगर-श्रेष्ठी ....? कुछ स्पष्ट कहिये–हम हमारी भूल को तुरन्त सुधार लेंगे ....।"

"अवन्तीनाथ ! भूल का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। आपश्री सदृश विवेकशील और प्रवुद्ध शासक को पाकर सारी मालव-प्रजा गर्वानुभव करती है। आपसे भला किसी भूल या अनीति की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, महाराजश्री !" श्रेष्ठी ने सविनय कहा।

"फिर आपका क्या अर्थ है?"

"करुणानिधान ! मैंने तो 'चूक' कहा था। कोई अनीति का कार्य आपसे नहीं हुआ है, किन्तु एक नीति का काम भी ऐसा है जो आपसे अभी तक नहीं हुआ? इसी चूक को संकेतित कर निवेदन करना चाहता हूँ, राजन् !"

"अर्थात्....।"

"हे प्रजापाल ! आपने अपनी प्रजा को अतिशय स्नेह दिया है। इसमें संदेह के लिए कोई स्थान नहीं.... किन्तु मालव-जनता आपसे पितृ-स्नेह पाकर भी अभी मातृ-ममता से विहीन है, राजेश्वर ! उसकी अभाव-पूर्ति भी तो आपश्री के माध्यम से ही संभव हो सकेगी। पाणिग्रहण....।"

"हम समझ गये नगर-श्रेष्ठी.... आपका तात्पर्य अब....।"

"कृपावतार ! इनका अनुरोध यथार्थ ही है। आपके आसन का वाम पक्ष अब रिक्त नहीं रहना चाहिये। आप तो करुणानिधान हैं, यह जन-कामना पूर्ण कीजिये, प्रभो !" वयोवृद्ध महामात्य बुद्धिसागर ने भी समर्थन के स्वर में योग दिया।

भट्टमात्र ने भी अनुरोध किया—"यथार्थ ही है, महाराज ! इन सभी के अनुरोध में औचित्य है। अब मालव-देश को राजमहिषी का स्वागत करने का सौभाग्य प्राप्त होना ही चाहिये। इस प्रार्थना को स्वीकार कीजिये, कृपावतार !"

महाराजश्री याचनाओं से घिरे मूक—मौन, कुछ क्षणों तक अविचल बैठे रह गये। और तब अपनी अनूठी मुस्कान के साथ उन्होंने कहा—"अब तो अग्रज महाराज के अवन्ती लौट आने की सारी संभावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं। ऐसी स्थिति में हमें परिणय-सूत्र में बँधने में कोई आपत्ति नहीं है। हम हृदय से आप सभी की भावना का सम्मान करते हैं।"

महाराज विक्रमादित्य की सहमति से उपस्थित जनों में सहसा प्रसन्नता छा गयी और एक दीर्घ हर्ष-ध्वनि हुई। भट्टमात्र ने तभी कहा—"श्रीमानेश्वर ! आप पराक्रमी और शौर्यशाली ही नहीं, परम विवेकशील भी हैं—इसमें किसी प्रकार का मतद्वय नहीं हो सकता। आदर्श शासक जनाकांक्षा की पूर्ति में तन-मन से सन्नद्ध रहता है और किसी संगत बात को अकारण अस्वीकृत नहीं करता। आप महान् हैं—कृपावतार ! आपकी जय हो.... सदा विजय हो !!"

गंभीरता के इस वातावरण में भी भूपेश विक्रमादित्य के अधरों पर एक मधुर मुस्कान बिखर गयी। अपनी प्रशंसा से तो देवता भी प्रसन्न और तुष्ट ही होते हैं—मनुष्य के लिए ऐसा संतोष एक स्वाभाविक परिणाम होता है। महाराजश्री ने तब गंभीरतापूर्वक ही व्यवस्था दी—"मालव-देश की राजरानी की खोज हमारे महामात्यद्वय करेंगे। एक के प्रस्ताव का अनुमोदन दूसरे के द्वारा जब तक न हो—

प्रस्ताव परिपक्व नहीं माना जायेगा और हमारे लिए वह विचारणीय नही होगा....।"

अति उत्साह के आवेग में भट्टमात्र ने कहा–"प्रस्ताव मेरे पास है, महाराज....!" महाराजश्री की कथन-पूर्ति के पूर्व ही भट्टमात्र ने अवसर का लाभ उठा लेने की प्रवृत्ति के साथ तुरन्त निवेदन किया–"मेरी दृष्टि में ऐसी एक राजबाला....।" महाराज के हाथ के संकेत ने भट्टमात्र को मौन कर दिया। कुछ पलों तक उसका उत्तेजित मन अपनी बात कह देने को अधीर रहा–विवशता के कारण उत्पन्न मानसिक उद्विग्नता उसे हाव-भाव और आंगिक चेष्टाओं से व्यक्त होती रही। "हम चाहते हैं कि परिणय-प्रस्ताव सोच-समझकर सुपात्र राजकन्या के विषय में ही किया जाय। अस्वीकार्य प्रस्ताव किसी राजपुत्री के अनावश्यक अपमान का कारण बनता है जो हमारे लिए उपयुक्त नहीं।" महाराजश्री ने चिन्तन की मुद्रा में कहा!

"उचित ही है श्रीमान् का विचार।"–अनुभवी महामात्य बुद्धिसागर ने कहा–"आपश्री की दृष्टि से सुपात्र-कन्या की अपेक्षित योग्यता....।"

"हम उसी विषय में अपना मत व्यक्त करने ही वाले थे कि महामात्य, आपने यह प्रश्न कर दिया।" महाराजश्री ने कथन किया और कुछ पलों तक मौन रह गये। यह निःशब्द, अल्पावधि भी जिज्ञासु और आतुर लोगों को एक अकाट्य, दीर्घ अवधि-सी प्रतीत होने लगी। सभी महाराज के हाव-भाव देखकर ताड़ने का प्रयास करने लगे थे कि उनका आशय क्या है? भौंहों को तनिक झुकाते और पलकों को अर्द्ध-निमीलित करते हुए महाराजश्री ने कहा–

"अतीत मनुष्य का सबसे बड़ा गुरु है, उपदेशक है। उसके उपदेश से जो मार्गदर्शन प्राप्त करता है उसी का जीवन निर्बाध हो पाता है, वही उत्थान-मार्ग पर अग्रसर हो पाता है। हमारा पारिवारिक अतीत यही सिखा रहा है कि जो राजकन्या मालव-देश की राजमहिषी हो उसका रूपवती होना उतना आवश्यक नहीं, जितना उसका गुणवती होना है। वह विशाल हृदया और करुणाशीला हो, उदारमना और नैष्ठिक आचरण वाली हो, जन-जन के प्रति वात्सल्य भाव से सम्पन्न और संवेदनशीला हो। अग्रज महाराज की रूप के प्रति आसक्ति के दुष्परिणाम हम देख ही चुके हैं। हम उसी मार्ग के पथिक नहीं होना चाहते।" इतना कहकर महाराजश्री कुछ क्षण मौन रह गये। इस लघु अवधि में भी उन्होंने अपने मानस को निष्कर्षान्वित कर लिया और अतिरिक्त गंभीरता के साथ मुखरित हुए–

"सौन्दर्य सद्भाव के साथ समन्वित होकर शीतलकर हो जाता है। इससे विरहित सौजन्यरहित सुन्दरता ऐसी ज्वाला है जो दाहक होती है–महाविनाशक,

होती है।" तब एक दीर्घ श्वास छोड़ते हुए उन्होंने पीठ टिका ली और हवा में बॉह लहराते हुए बोले–"हमें ऐसे जीवन-साथी की अपेक्षा है जो सुन्दरता में चाहे साधारण ही क्यों न हो, किन्तु मानवीय गुणों, आदर्शों और भावों में असाधारण हो। हमें विश्वास है–हमारे विचारों को हमारे दोनों महामात्य जन अपने खोज-कार्य का आधार मानकर चलेंगे।"

इस लम्बी वार्त्ता और विवेचना को सभी उपस्थित जनों ने ध्यातव्य मानते हुए हृदयंगम किया और महाराजश्री के विचारों की मन ही मन सराहना करने लगे। मानो सभी का प्रतिनिधित्व करते हुए महामात्य भट्टमात्र ने कहा–"श्रीमानेश्वर ! उपयुक्त जीवन-साथी का स्वरूप व्याख्यायित कर आपश्री ने एक प्रकार से अपने आदर्श मानस का ही परिचय दे दिया है। हम सभी आपश्री जैसे शासक को पाकर धन्य हो उठे हैं। अनुमति हो कृपावतार ! तो यह जन इसी संदर्भ में कुछ निवेदन करना चाहता है।" महामात्य ने करबद्ध प्रार्थना की।

महाराजश्री ने तब अपना मस्तक 'हॉ' की मुद्रा में इस प्रकार हिलाया मानो यह संकेत हो गया कि कहो, क्या कहना चाहते हो। अनुमति प्रदान करते हुए उन्होंने कहा–"किन्तु हमारा इस विषय में दृष्टिकोण अपरिवर्तनीय है। हमने दृढता के साथ अपने विचारों को सुस्थिर किया है और हम इनमें संशोधन की अपेक्षा भी अनुभव नहीं करते हैं।" महाराजश्री की अटलता उनके मुख-मण्डल पर खिंच आयी। उनकी एक भौंह नीची तो अन्य कुछ ऊँची हो गयीं और पलकें अचल होकर उनके सहसा चिन्तनलीन हो जाने की सूचना देने लगीं।

"जी.... जी.... महाराजश्री ! आपके विचार परिपूर्ण हैं, परिपक्व हैं। उनमें परिवर्तन का अवकाश ही नहीं है। मैं तो निवेदन यह करना चाहता हूँ, कृपावतार ! .... कि ऐसी ही एक आदर्श राजपुत्री मेरी दृष्टि में हैं.... शालीनता की प्रतिमूर्ति, नारियोचित समस्त आदर्शों की प्रतीक वह राजकुमारी जी सर्वथा अनिंद्य सुन्दरी भी हैं और मन-वचन-कर्म से वे कोमल हैं, स्निग्ध और माधुर्यपूर्ण भी हैं। मालव की राजरानी होने की समस्त उचित पात्रता की स्वामिनी हैं और....।" भट्टमात्र के कथन-मध्य ही अधीर-से महामात्य बुद्धिसागर ने प्रश्न किया–"कौन राजकुमारी की चर्चा कर रहे हैं आप? लक्ष्मीपुर के नरपाल वैरीसिंह की इकलौती राजकुमारी के विषय में तो चर्चा नहीं कर रहे हैं आप !"

"आश्चर्य ! महामात्य जी, आश्चर्य ! आपका अनुमान सर्वथा सत्य है। सच है–दो बुद्धिमान एक विषय पर एक-सा ही सोचते हैं।" तब वे महाराजश्री के प्रति उन्मुख होते हुए बोले–"लक्ष्मीपुर यहॉ से कोई डेढ़-सौ कोस दूर स्थित एक सम्पन्न और यशस्वी राज्य है, श्रीमन् ! वहॉ की राजकन्या कमलावती ठीक वैसी है, जैसी आपकी काम्य है।"

नगर-श्रेष्ठी ने तभी अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की—"महामात्य जी ! लगता है आप लक्ष्मीपुर के राजघराने से बहुत परिचित हैं। क्या राज-दम्पति की एक मात्र संतति हैं—राजकुमारी कमलावती ?"

"जी हॉ .... परिचित हूँ मैं ! मेरा उन सभी से व्यक्तिगत सम्पर्क है। राज-दम्पति सात राजकुमारों के अभिभावक हैं। हॉ, वे एक्र मात्र कन्या के ही माता-पिता हैं। राजकुमारी कमलावती इकलौती पुत्री इस प्रकार से कही जा सकती हैं।"

"आपके अनुसार महामात्य जी लक्ष्मीपुर की राजकुमारी मालव-देश की महारानी होने की सारी उपयुक्तताएँ रखती हैं। क्या उन्हें कलाओं से भी अनुराग है?"

"हाँ, सामन्त जी ! वे कला-प्रेमी ही नहीं, एक निपुण कलाकार भी हैं। संगीत कला के क्षेत्र में उनकी विशेष गति है।"

"महामात्य जी ! यह सब तो ठीक है, तनिक राजघराने के विषय मे, उस राज्य के विषय में भी परिचय दीजिये।"

महामात्य बुद्धिसागर के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महामात्य भट्टमात्र ने सविस्तार राजा वैरीसिंह और लक्ष्मीपुर की परिचयात्मक विवेचना प्रस्तुत कर दी। सभी को संतोष हुआ। "हमने हमारे दोनों अमात्यों को यह कार्य सौंपा था और संयोग से दोनों ही एक ही राजकुमारी के औचित्य से सहमत हैं। हम ....।"

"जी, श्रीमानेश्वर ! राजकुमारी कमलावती के हमारे राजघराने में आगमन से मालव-देश की प्रतिष्ठा और गौरव में अभिवृद्धि ही होगी। मैं स्वयं भी लक्ष्मीपुर और वहॉ की राजपुत्री के सम्बन्ध में जानकार हूँ। मेरे मत में भी यह सम्बन्ध स्वीकार्य ही है।" बुद्धिसागर के इस मंतव्य पर टिप्पणी करते हुए महाराज विक्रमादित्य ने कहा—"शुभ है। हमें हमारे महामात्यों की विवेक-बुद्धि पर विश्वास है। हम सोच-समझकर यथाशीघ्र ही निर्णय ले लेंगे। प्रतीक्षा की जाय।" महाराजश्री सहसा उठ खड़े हुए। सभी ने नमन किया और विसर्जित हो गये।

× × ×

नियति के विरुद्ध कार्यकाल के अत्यधिक प्रवाह के उपरान्त भी सम्पन्न नहीं हो पाते और नियति-सम्मत कार्य तत्काल ही पूर्ण हो जाते हैं। नरेश विक्रमादित्य और राजकुमारी कमलावती का परिणय भी इसी प्रकार यथाशीघ्र सम्पन्न हो गया। पितृ-गृह से विदा होते समय जननी पद्मावती का हृदय भर आया। भावुक मन और अश्रुपूरित नयनों से राजा वैरीसिंह ने अपनी बिटिया को पालकी में बिठाया। राजभवन की मुख्य ड्योढ़ी ऐसे अनेक करुण दृश्य देख चुकी थी, किन्तु राजपुत्री

की विदाई का, इस पीढ़ी का यह एक मात्र प्रसंग था। राजकुमारी ड्योढ़ी लाँघकर अब दूसरी ड्योढ़ी की होने जा रही थी। राजकुमारी भी अत्यन्त भावुक हो उठी थी। गीली पलकों से वह अपनी सखियों को निहारती तो एक हूक-सी उसके अन्तर में उठ जाती थी। पितृश्री ने आशिष दी और शीश पर अपने हाथ का स्नेहिल स्पर्श दिया तो वधू कमलावती फफककर रो पड़ीं.... भावातिरेक से अवरुद्ध कंठ विवश था। भीत हरिणी-सी वह अपने जनक को निहारती रहीं और तब वह हिचकियाँ लेने लगीं। परिस्थिति को कोमलता का अनुभव कर नरेश वैरीसिंह कुछ चरण पीछे हटकर एक ओर खिसक गये और वधू की दुःखित दृष्टि के लिए अदृश्य हो गये। उनके स्थान पर दृश्यमान हो गयीं रानी पद्मावती जो अब तक अपने पति की ओट में थीं। जननी के दर्शन पाकर वधू कमलावती और भी अधिक भावुक हो उठीं। उनका करुण क्रन्दन अब सशब्द हो उठा। विलाप की मुद्रा में वह चीख उठीं–"माँ.... ऑ !" भावावेश में वह पालकी से बाहर झुक आयीं और जननी से लिपट गयीं। "माँ.... क्यों हमें ड्योढ़ी से बाहर भेज रही हो माँ....। क्या हम अब इस घराने के लिए....।"

"धीरज धरो, बिटिया रानी.... धीरज धरो। यह भावुकता का समय तो नहीं है।" रानी पद्मावती ने प्रवोधन के स्वर में कहा और वधू कमलावती के शीश से पीठ तक हाथ फिराने लगीं। "यह समय मन को नये कर्त्तव्यों के लिए तैयार कर लेने का है। बेटियों की भूमिका इसी प्रकार दोतरफा हुआ करती है, कमला ! उसे एक प्यारा सपरिवार, उसका स्नेह त्यागकर अन्य घराना स्वीकार करना पड़ता है। नया आदर, नये अधिकारों की उसे प्राप्ति होती है, उसको नयी गरिमा मिलती है, कमल बिटिया ! इस गरिमा का निर्वाह और अधिकारों की वढ़ोतरी तभी हो पाती है, जब वह स्वयं स्नेह-सौजन्यपूर्ण सद्व्यवहार रखे और अपने दायित्वों की पूर्ति करती चले।" एक-एक शब्द को नववधू हृदयंगम करती जा रही थीं। और स्नेहपूर्ण वाणी में जननी पद्मावती उसे क्रमशः अधिक-से-अधिक महत्त्व की बातें वताती जा रही थीं। अब तक वधू का भावावेग भी धीमा हो चुका था। माता ने हौले-से उनके कंधे थपथपाये और सहारा देकर धीमे-से, अपने वक्ष से पृथक् किया। धीरे-धीरे वधू भी पालकी मे ठीक-से वैठ गयी। "तुम्हारे हाथ में इस कुल का मान-सम्मान और उस कुल की मर्यादा–दोनों हैं विटिया ! तुम्हे दोनों की रक्षा अपने आचरण से करनी है। वहाँ के प्राप्त सुखों और प्रतिष्टा को जो तुमने सहज भाव से स्वीकार किया तो तुम्हारी गृहस्थी देवलोक-तुल्य हो जायेगी। जा विटिया ! अपने घर जा, वहाँ की शोभा वढा–चिर सुखों की प्राप्ति हो।" स्वयं माँ का कण्ठ भी आर्द्र हो उठा और नयन सजल हो उठे। एक ओर मुख करके उन्होंने तर्जनी से पलकों पर छलक आयी आर्द्रता को पोछ लिया। वधू एक वार पुनः वाहर को झुकी और उसी समय कहारों ने प्रस्थान किया। पालकी आगे को चढ़

गयी। और वधू कमलावती पीछे झाँकती रह गयीं। उनकी दोनों बाहें फैलकर ऊपर को उठ गयी। घर छूटने की पीडा मुख पर साकार हो उठी। पालकी के पीछे माता पद्मावती, पिता वैरीसिह, उसकी सखी-सहेलियाँ और दासियाँ चलने लगी। पालकी के आगे-आगे अश्वारूढ़ मालवाधिपति विक्रमादित्य महाराज और अवन्ती के अन्य जन चल रहे थे।

राज-दम्पति का भव्य—अतिभव्य अभिनन्दन अवन्ती में हुआ। कई दिनों तक समारोह होते रहे। इन्द्र और शची जैसे अपने राजा-रानी के दर्शनों से प्रजा जन के नयन निहाल हो गये। सर्वत्र इनके वैभवपूर्ण सौन्दर्य की चर्चाएँ चलने लगीं। ऐसा अनुभव होने लगा कि जैसे मालव-देश की राजरानी बनने को ही राजमहिषी कमलावती जन्मी हों। रानी कमलावती अवन्ती के लिए और अवन्ती रानी कमलावती के ही योग्य हैं। राजमहिषी के हृदय में भी सहज वात्सल्य का एक ऐसा उत्स फूटा कि उनके प्रत्येक आचार-व्यवहार में स्नेह ही स्नेह वर्षित होने लगा। मन-वचन से वे मधुर हो उठीं। अप्रिय वाणी तो बहुत दूर ···· उनके मानस मे कोई कटु और अप्रिय विचार भी उदित नहीं होता। उन्होंने राजभवन के सभी दास-दासियों के चित्त को अपने प्रेमाधीन कर लिया। वे अपनी स्वामिनी को साक्षात् देवी मानते थे। वे प्रत्येक की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कठिनाइयो और समस्याओं को आगे होकर समाधान करने को तत्पर रहती थीं। प्रजा के लिए उनके मन में संततिवत् स्नेह भावना विकसित हो गयी। राजमहिषी किसी की पीड़ा नहीं देख पातीं—उसका निवारण करके ही वे दम लेती थीं। ममता की मूर्ति हो उठी थीं राजरानी कमलावती। मालव-देश पर महाराज विक्रमादित्य का शासन था; किन्तु प्रजा के मन पर राजमहिषी कमलावती का ही शासन था। माता के समान वे प्रजा जन के लिए हितैषिणी बनी रहती थीं।

"भट्टमात्र हमारा मित्र है, कमल ! ····· सच्चा मित्र। उसके परामर्श पर ही हमने अपनी सहमति दी थी। आज हमें लगता है कि उसने कमल, तुम्हारे विषय मे जो सद्गुणों की विवेचना की थी उसमें कुछ कृपणता बरत ली थीं ··· अन्यथा तुम तो उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ हो, जैसी तुम्हें उसने वर्णित किया था। सौभाग्य से ही तुम्हारा सान्निध्य-लाभ संभव हुआ है। हम तो कृतार्थ हो गये रानी, तुमको पाकर धन्य हो गये ···।"

"क्यों हमें लज्जित करते हैं, महाराज ! हम किस योग्य हैं? यह तो आपकी उदारता है, स्वामी ! कि आप ऐसा कहते हैं। सज्जन अपने रजकण-सम विकारों को और अन्य जनों के क्षुद्र से गुणो को भी पर्वत के समान विशाल मानते है। यह उनकी सद्भावना ····।"

"हमारे कथन में तनिक-सी भी अतिशयोक्ति नहीं है, महारानी ! अन्तत हम तो भट्टमात्र के मित्र हैं ··· उसके गुण, कुछ तो हममें आये ही हैं। हम भी दे

ही कृपण हो गये हैं''—तनिक-से मुस्कराते हुए महाराज विक्रमादित्य ने कहा—''वास्तविकता यह है कि आपकी सद्गुणशीलता तो और भी अधिक व्यापक है—हम तो उसका एक अंश ही बता पा रहे हैं।'' महाराज ने इतना कहा और राजमहिषी का मस्तक संकोचवश कुछ झुक गया और वे मन ही मन अपने सद्भाग्य की सराहना करने लगीं। इसी समय महाराज ने रानी कमलावती का मुख अपने वक्ष में छिपा लिया। बड़ी देर तक राज-दम्पति ऐसी ही भाव-विभोर स्थिति में निमग्न रहे।

स्नेहपूर्वक रानी कमलावती को सहलाते हुए महाराज ने कहा—''सुनो कमल ! आदर्श पत्नी के विषय में शास्त्रों में कहा गया है कि वह रम्या, आनन्दप्रदा, सुन्दरी, सौभाग्यशालिनी, विनययुक्त, सस्नेह हृदय और सरल स्वभाव वाली होती है और सदैव ही सदाचारिणी बनी रहती है।'' महाराज विक्रमादित्य ने अपनी धर्मपत्नी की ओर देखा--वह मन लगाकर, ध्यानपूर्वक अपने स्वामी का कथन सुन रही थीं और मानो उसे अपने मन में बिठाती जा रही थीं। इस प्रयास के अनुमान मात्र से महाराज को आन्तरिक प्रसन्नता हुई। गद्गद वाणी में उन्होंने कहा—''प्रिये ! ऐसी पत्नी जिसे मिले उस पति के सौभाग्य को देवता भी सराहते हैं। हम स्वयं को ऐसा ही सौभाग्यशाली मानते हैं।''—और वे मनोमुग्धकारी मुस्कान से सज्जित हो उठे।

''आपका मन्तव्य हमने हृदयंगम कर लिया है, स्वामी ! हम इन आदर्शों को अपने चरित्र में ढालने का प्रयास करेंगी। हम स्वयं को आपके योग्य बना सकेंगी—इसका विश्वास है हमें। हम तो सराहना अपने इस सौभाग्य की करती है कि हमारा हाथ आप-जैसे शूरवीर, पराक्रमी, कीर्तिमान नरोत्तम ने थामा। आप शक्ति, शील और सौन्दर्य के साकार रूप ही हैं। आपश्री की प्रीति हमारे जीवन की सर्वस्व है, अमूल्य निधि है, महाराज !'' राजमहिषी ने स्वीकारोक्ति के स्वर में कहा। राज-दम्पति में परस्पर दृढ अनुराग के साथ-साथ आदर भाव भी था और वे एक-दूसरे की नेकी को समझने और उसे महत्ता के साथ स्वीकार करने का प्रयत्न करते थे। इससे उत्पन्न पारस्परिक सद्भाव ने उनके दाम्पत्य-सूत्र को दृढतर कर दिया।

राजा विक्रमादित्य के शौर्य, वैभव, यश और साहस से प्रभावित होकर अनेक राज्यों के नृपतिगण प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी कन्याओं का पाणिग्रहण महाराज से करवाया। सूना पड़ा रनिवास कामिनियो के हर्षद स्वर से गूँज उठा। अब अनेक रूपसी और गुणशीला रानियों के पतिरूप में महाराज विक्रमादित्य शोभित थे। मालव-नरेश की रानियॉ सभी अद्वितीय थी—इसमें कोई सदेह किन्तु इनमे रानी कमलावती का स्थान ही प्रमुख और अग्रगण्य था

राजमहिषी के गौरव से सम्पन्न रहीं। पट्टरानी कमलावती को भी इसका गौरव था, किन्तु गर्व रंच मात्र भी कभी नहीं रहा।

राजा विक्रमादित्य ने अनेक राजा-महाराजाओं पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपना अधीनस्थ बना लिया था। विशेषता यह थी कि इन अधीनस्थ नरेशों के साथ महाराज का मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध व व्यवहार रहा। उनकी राजसभा इन मित्र-नरेशों से अलंकृत हो उठती थी। राजसभा में गौरवशाली विद्वानों, प्रबुद्ध जनों, पंडितों, कवियों और कलाकारों की उपस्थिति से ही ऐसी महिमा निर्मित हो गयी थी जिसे अनिर्वचनीय ही कहा जा सकता है। नरेश स्वयं सर्वधर्म समादर के प्रतीक थे। इस विशेषता से विभूषित व्यक्तित्व के कारण निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा सकता था कि वे हिन्दू नहीं, जैन मतावलम्बी ही हैं, अथवा वे जिनधर्म के उपासक नहीं वरन् सनातनी हिन्दू हैं। वे तो सभी धर्मों के सिद्धान्तों का संकलन कर उनका अवलम्बन करते थे। वे मानते थे कि सभी धर्मों में अपनी-अपनी अच्छाइयॉ हैं और न्यूनाधिक रूप में सभी अच्छाइयों में एक ही सार-तत्त्व है। सभी अच्छाइयॉ मिलकर मानव धर्म को रूपायित करते हैं। वे वस्तुतः इसी मानव धर्म के पालनकर्त्ता थे। सभी धर्मों के प्रति निष्ठापूर्ण आदर का भाव भी इसी कारण प्रवल था। यह महाराज विक्रमादित्य के लिये स्वाभाविक ही था कि उन्हें सनातनधर्मी हिन्दू मानते थे तो जैनधर्मावलम्बी जन उन्हें जिनधर्मोपासक मानते थे। यों वे हिन्दू भी थे, जैन भी थे। जैनधर्मोपासना के तत्त्वों का विवेचन और माहात्म्य का प्रतिपादन भी वे रस लेकर किया करते थे।

महाराज विक्रमादित्य एक कुशल और आदर्श नरेश थे। उनकी न्याय-नीति और न्याय-प्रणाली तो इतिहास-विश्रुत रही है। वे उदारमना नरेश थे। दान-दक्षिणा मे अग्रगण्य महाराज विक्रमादित्य लोक जीवन को सुविधापूर्ण बनाने के कार्यो में भी अत्यन्त रुचिशील रहा करते थे। धर्मशालाएॅ, वापियॉ, दानशालाएॅ आदि स्थान-स्थान पर समस्त राज्य में स्थापित कराई गईं। यह उनके पूर्वकृत सुकर्मो का ही फल था कि उन्हे अमित दान करने की प्रवृत्ति और सामर्थ्य सुलभ हुआ और अपार दान करते हुए वे पुनः शुभ कर्मों का बन्ध ही कर रहे थे जो भावी शुभ फलों की सृष्टि की दृष्टि से सामर्थ्यवान थे। वस्तुतः वे कर्म-सिद्धान्त के अटल विश्वासी, निस्पृह और निर्लोभ महापुरुष थे। अपने इन महान् सद्गुणों के कारण वे जन-जन की श्रद्धा के पात्र थे। उनकी महत्ता को सभी कोई आनन्दपूर्वक स्वीकार करते थे और वे सभी की सच्ची सहानुभूति के पात्र थे। शताब्दियों में जाकर कभी ऐसा शासक किसी देश को मिलता है।

●●

राज-दम्पति में प्रेमालाप चल रहा था। पति-पत्नी दोनों ही एक-दूसरे पर मुग्ध थे। दोनों एक-दूसरे की विशेषताओं, सद्गुणों से परिचित भी थे और ऐसे जीवन-साथी की प्राप्ति पर तुष्ट और प्रफुल्लित भी। इस सुयोग को वे विधि का वरदान मानते थे। शयन-कक्ष के उस सुखद, विलासपूर्ण वातावरण में महाराजा विक्रमादित्य और राजमहिषी कमलावती एक-दूसरे में खोये हुए-से, शय्या पर अधलेटे बैठे वतिया रहे थे। वार्त्तालाप के मध्य नरेश को सहसा अपनी भाभी रानी अनंगसेना की स्मृति हो आयी। कुछ क्षणों तक वे मौन रह गये और तब उन्होंने रानी कमलावती से कहा–"अच्छा, कमल ! आपने अनंगसेना रानी की घटना से क्या निष्कर्ष निकाला ?"

रानी कमलावती को इस समय ऐसे किसी प्रसंग के आ जाने की आशा न थी, अतः वे सहसा अचकचा गयीं और शून्य दृष्टि से वे पतिदेव का मुख निहारती रह गयीं। स्थिति का आभास पाकर महाराज ने कोमल स्पर्श से कंधा थपथपाते हुए उत्साहित किया–"इस घटना से आपने कुछ परिणाम तो निकाला ही होगा, राजरानी !···· ऐसा क्यों हुआ ?"

"स्वामी ! हम तो इसी परिणाम पर पहुँची हैं कि रूप और यौवन दोनों मिलकर जीवन-पथ पर ऐसी फिसलन बना देते है कि मन की तनिक-सी चंचलता चरणो को डगमगा देती है और ऐसी स्त्री फिसलकर गिर पडती है। दंभ और चंचलता से मुक्त स्त्रियाँ ही सन्मार्ग पर अग्रसर होकर स्व और पर-कल्याण मे योगदान करती हैं। ऐसी सुन्दरियो का सौन्दर्य ही सार्थक और धन्य होता है। मन को वश में रखना, अपने समक्ष महान् सन्नारियों के आदर्श रखना आदि इस सव के लिए अनिवार्य होता है। भाभी यदि संयम और आत्म-नियमन से काम लेती तो··· उनके लिए अभाव तो किसी प्रकार का था ही नहीं·· वे····।"

"वड़े सुन्दर विचार है, राजरानी ! ···· आपका दृष्टिकोण सर्वथा उपयुक्त है। आपकी इस विचारधारा से हमें वड़ा संतोष हुआ। नारी देवी का रूप प्राप्त करने को ही जन्मी है। वह तो स्वयं ही अपने कर्मो से पतित होकर पशुवत् हो जाती है, किन्तु क्या आपने कभी यह भी सोचा कि इस प्रकरण का प्रभाव हम पर क्या हुआ होगा··· हाँ···· ?"

"हम आपकी मनःस्थिति को इस अल्पकाल में भी पर्याप्ततः समझ गयी हैं।" –राजमहिषी ने किंचित् मुस्कान के साथ कहा–"उस असाधारण घटना का आपके

मानस पर घोर प्रतिकूल प्रभाव ही होना था वही हुआ भी होगा।" यह कहते-कहते उनकी चिन्तन-मुद्रा कुछ गहराने लगी। अपने कमलवत् नयनों को अर्द्ध-निमीलित करते हुए तब उन्होंने निष्कर्ष प्रस्तुत किया—"जब उस मिथ्या कलंक का पता आपको चला होगा जिसके दण्डस्वरूप अग्रज महाराज ने आपको निष्कासित भी कर दिया—आपके मन में विकट वितृष्णा उत्पन्न हुई होगी। आपके मन में समस्त नारी-जाति के प्रति अनास्था और घृणा का भाव जाग गया होगा। कदाचित् मेरा अनुमान ....।"

राजमहिषी के कथन-मध्य ही राजेश्वर विक्रमादित्य बोल उठे—"आपका अनुमान बीस-बिस्वा सत्य है, राजरानी ! ऐसा ही हुआ। नारी-चरित्र में हमने माधुर्यपूर्ण विषाक्तता का साक्षात् अनुभव कर लिया था। निश्चय ही इस जुगुप्सा ने हमारे मन में भी विरक्ति को सतेज कर दिया था और एक प्रकार से यह भाभी अनंगसेना का उपकार ही है हम पर कि वैराग्य के मार्ग पर हमें उन्होंने अपने पतिदेव, हमारे अग्रज महाराज से भी पूर्व आरूढ़ कर दिया। सचमुच हमारे मन मे नारी के प्रति श्रद्धा का भाव लुप्त ही हो चुका था। हम समझने लगे थे कि स्त्री प्रेयसी नहीं, प्रेम की अभिनेत्री है। वह दीप-शिखा है जो अपनी ज्वाला मे अनेक शलभों को भस्मीभूत करके भी स्वयं प्रखर दीप्ति से जगमगाती रहती है—अन्य शलभो को लुभाती रहती है। निष्ठा और नारीत्व जैसे दो विपरीत छोर है।" अपनी इस दीर्घ विवेचना का राजरानी पर अंकित प्रभाव को जान लेने की उत्सुकता के साथ महाराजश्री जिज्ञासा-भरी दृष्टि से अपनी रानी के मुख-मण्डल की ओर ताकने लगे।

"तो .... क्या आप हमें भी उसी श्रेणी में ......।"

"नहीं ... नहीं, हम यही आपको वताना चाहते हैं। वह विचार तो हमारे लिए अव इतिहास का विषय वन चुका है। हमारा हृदय-परिवर्तन जो आपने कर दिया है। आपके आचरण, आपके व्यवहार ने हमारी मान्यताओं को परिष्कृत और शोधित कर दिया है। अव तो हम ऐसा मानने लगे हैं कि नारी सामान्यतः देवी ही होती है। अपवादस्वरूप ही कोई-कोई महिला विपरीत आचरण की हो जाती है और दोष ऐसी स्त्री-विशेष का अपना निजी विकार होता है, नारी जाति का दोष नहीं। धन्य है आप, राजरानी ! आपने अपनी जाति के गौरव की श्रीवृद्धि कर दी है।"

"यह आपकी सदाशयता है, महाराज ! .... कि आप हमारे विषय में ऐसे शुभ विचार रखते हैं। आप महान् हैं ..... नरोत्तम हैं, स्वामी !"

प्रेम-लतिका के पल्लवन के लिए पारस्परिक सम्मान भावना जल-सिंचन के समान होती है। यही स्नेह भावना अपने चरम विकास पर पहुँचकर प्रेम-पात्रों की पारस्परिक हित-कामना में ढल जाती है और प्रेम-पात्रों को एक-दूसरे के प्रति

कोमल, मृदुल वना देती है। यह कोमलता मन-वचन-कर्म में ऐसी प्रगाढ़ हो जाती है कि प्रेमी जन में कहीं रूक्षता या शुष्कता का नाम भी नहीं रह जाता। यह स्नेहमय कोमलता जव आंगिक चेष्टाओ में व्यक्त होने लगती है तो प्रेम साकार हो उठता है। महाराज विक्रमादित्य के प्रशस्त वक्ष में मुख छिपाकर शान्त, आश्वस्त राजरानी कमलावती बड़ी देर तक स्वयं ही अपने प्रारब्ध पर गर्व अनुभव करती रहीं कि उन्हें ऐसा निश्छल, निर्मल पति-प्रेम मिला और महाराजश्री भी कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए अपने अति कोमल स्पर्श से अपनी धर्मपत्नी का शीश सहलाते रहे। प्रेमी युगल की प्रेमाभिव्यक्ति इसी प्रकार होती रही और समर्पित भाव से दोनों एक-दूसरे की अतिशयता के साथ चाहत की भावना में खो गये। मालव-गंगा का कलकल स्वर लोरियॉ सुना रहा था और मलय-पवन थपकियॉ देने लगा था। दोनों अयश-से निद्राधीन हो गये।

भोर हुई। राजरानी की निद्रा सहसा ही जन-रव से भंग हुई। अरुण कमल-से नेत्र खुले तो वे इधर-उधर ताकती हुई कुछ क्षणों तक इस निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करती रहीं कि अति प्रातः यह ध्वनि कैसी ! सहज होकर जब वे ध्यान केन्द्रित कर पहचानने का प्रयत्न करने लगीं तो उन्हें लगा कि असंख्य जन सम्मिलित स्वर में जय-जयकार कर रहे हैं। राजरानी ने कोमलता के साथ अपनी वाणी और स्पर्श से महाराजश्री को जाग्रत करने का प्रयत्न किया। नरेश भी अचकचाकर उठ बैठे। ध्यान से उस दूर होती जा रही ध्वनि का श्रवण कर वे कह उठे–"निश्चय ही अग्रज महाराज का अवन्ती आगमन हुआ है। यह तो अवन्ती द्वारा उन्हीं का अभिनन्दन किया जा रहा है, रानी !" वे तत्काल शय्या त्यागकर खड़े हो गये और कक्ष से बाहर निकल आये। "योगिराज भर्तृहरि की .... जय .... !" का अति उच्च्य स्वर मे घोष सुनकर वे रोमांचित हो उठे। उनका अन्तरमन पुलक से भर गया। गवाक्ष से दृष्टिगत हुआ कि अवन्ती के नागरिकों का विशाल समूह अति उत्साह में पर्वतीय सरिता की भॉति उछलता-फॉदता वढ़ा जा रहा था। आगे-आगे तपस्वी भर्तृहरि चले जा रहे थे। तड़के ही उनका अवन्ती में आगमन हुआ था। नगर-प्रवेश की निरन्तरता में ही वे नगर-परिभ्रमण कर रहे थे। सर्वथा तटस्थ बुद्धि और समत्व के साथ वे अपने चिर-परिचित स्थलों को देखते चल रहे थे। इसी क्रम में राजभवन के समीप होकर वे अभी-अभी आगे वढ़ गये थे। अपने प्रिय नरेश का नवीन–उन्नत स्वरूप देखकर जनता का हृदय उछाह से भर उठा था। शीश पर राजमुकुट के स्थान पर जटाजूट, देह पर उत्तम वहुमूल्य वस्त्रो के स्थान पर काषाय, अलंकारों के स्थान पर रुद्राक्ष .... तन पूर्वापेक्षा कृप किन्तु मुख-मण्डल की आभा अत्यन्त प्रखर .... आत्म-विश्वास और गांभीर्य की प्रतिमूर्ति-से। अवन्ती की प्रजा एक योगी का राजा के रूप मे अभिनन्दन कर चुकी

थी, अब वह एक राजा का योगी रूप में स्वागत कर रही थी। प्रारब्ध और कर्मफल की चर्चाएँ फिर से प्रबल हो गयी थीं।

× × ×

उस शुभ प्रभात की मंगल वेला में नगर का बाह्य उद्यान जन-समूहों से भर गया था। राजर्षि भर्तृहरि का पावन सान्निध्य और मंगल वाणी का प्रलोभन जन-मन में समाया हुआ था। उद्यान के एक उच्च स्थल पर मृगचर्म बिछाकर योगी भर्तृहरि वैठे थे। उनके चरणों में नरेश विक्रमादित्य राजमहिषी कमलावती एवं अन्य रानियों के संग करबद्ध स्थिति में बैठे थे। महामात्य, अमात्यगण, सामन्तगण उनके साथ थे। उनके पीछे विशाल जन-समूह .... विराट् धर्मसभा जुडी हुई थी। "मालव-देश के राज्यासन ग्रहण करने का हमारा अनुरोध तो अग्रज महाराज, आप पहले ही अस्वीकृत कर चुके हैं। हमने उसे मान लिया, भगवन् ! किन्तु हमारा एक अन्य अनुरोध है, कृपापूर्वक उसे स्वीकार कर लीजिये। उपकृत कीजिए हमें, प्रभो !" नरेश ने विनीत वाणी में निवेदन किया।

"साधु से क्या अनुरोध .... !!" राजर्षि मुस्करा दिये। फिर बोले—"कहो राजन् ! क्या कहना चाहते हो तुम हमसे ?"

"हमारी हार्दिक इच्छा है, भगवन् ! कि आप कृपापूर्वक राजभवन में ही निवास करें। सिंहासनारूढ आप नहीं होना चाहते तो न होइये ... राजभवन में ही जीवन-यापन कर लेने मे तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती ... !"

"यह संभव नही .. राजन् ! साधु गृहस्थों के संग नहीं रहता, अल्पकाल के लिए भी नहीं, फिर तुम तो जीवनभर की वात करते हो .... असंभव .... !"

महाराज के मन में तनिक निराशा का संचार हुआ, किन्तु वे नवीन उत्साह के साथ वोल पडे—"न सही राजभवन, इस उद्यान में तो आप सदा-सदा के लिए निवास कर ही सकते हैं। हमें नित्य दर्शन का सौभाग्य प्राप्त रहेगा। आपश्री के पुण्य-सान्निध्य से अवन्ती पावन वनी रहेगी, प्रभो !" नकारात्मक आशय के साथ मस्तक डोलाते हुए योगिराज भर्तृहरि ने कहा—"नहीं भूपेश .... नहीं। यह भी संभव नहीं है। साधु की अपनी मर्यादाएँ हैं। किसी भी साधु को एक स्थल पर रहना उचित नहीं। साधु परिव्राजक होता है, उसे विचरणशील ही होना चाहिए, राजन् !"

"अच्छा, अग्रज महाराज ! यह विनती तो स्वीकार कर लीजिए कि इस उद्यान में ही सही, किन्तु आपश्री का अवन्ती-प्रवास कुछ दीर्घ अवधि का रहे और आप राजभवन का भोजन ग्रहण कर ले।"

"राजन् ! तुम्हारा मोह निरर्थक है—त्यागो इसे। साधु नित्य ही किसी एक घर [illegible] ग्रहण नहीं करता। तुम जानते हो हमें एक दिवस का आहार भी

एक हर्ष-ध्वनि हुई। हल्की-सी हलचल अवश्य हुई, किन्तु वह क्षणिक ही रही। सभी एकटक उसी दिशा की ओर निहारने लगे जैसे वे इस दरस-सुयोग का एक क्षण भी निरर्थक नहीं होने देना चाहते थे। महात्मा भर्तृहरि दूर एक गेरुआ बिम्ब से दिखायी दे रहे थे। क्षण-प्रतिक्षण समीपतर होता जा रहा यह विम्ब क्रमशः स्पष्टतर भी होता जा रहा था और वह क्षण भी आ पहुँचा जब महात्मा जी की आकृति पहचानने योग्य स्थिति प्राप्त करने लगी। और समीप आ जाने पर दर्शकों के मन में आनन्द की हिलोरें उठने लगीं। प्रवेश-द्वार पर पहुँचे तो मंगल-कलश लिये स्त्रियाँ आगे बढ़ आईं। मंगल-वाद्य निनादित हो उठे। महात्मा रुके नहीं। उन्होंने अपनी क्षिप्र गति को तनिक मंथर कर लिया। महामात्य वुद्धिसागर ने झुककर प्रणाम निवेदित किया। हाथ उटाकर राजर्षि ने अभिवादन-स्वीकृति और आशिष दी। प्रसन्न मन की छवि उनके अधरों पर मुस्कान रूप में उभर आयी। मनोमुग्धकारी अर्द्ध-निमीलित दृष्टि से स्नेहपूर्वक सभी को निहारते हुए एक-एक चरण अग्रसर होते रहे। अवाक्-सी खड़ी जनता अपने स्वामी के उज्ज्वल दरस से तृप्त होती ही नही थी। हाय !.... तपस्या ने कैसा दुर्वल तो कर दिया है इनके तन को.... आहो ! मुख पर कैसा तीव्र तेज.... आँखों में कैसी भव्य ज्योति... वाह ! वाह ! मेरे राजा, तुम्हारे बिना तुम्हारी अवन्ती सूनी पड़ी है रे.... नाना भाँति के विचार-कण जन-मानस को उद्वेलित कर रहे थे। बाहर से तथापि सभी शान्त-गभीर थे। भावुक जन लम्वी साँसें छोडते तो अति भावुक जनों के होठों पर स्वरहीन शव्द थिरक उठते। अनेक जन दरस के आनन्द से अतृप्त रहकर परस को लालायित हो उठे। भगवन् के चरणों मे लोट जाने की अभिलाषा की पूर्ति इस समय संभव न पाकर वे अपने स्थान पर ही भूमि का स्पर्श कर मत्था टेकते और खड़े होकर करवद्ध प्रणाम कर महात्मा की उस दिव्य छवि में खो जाते। महात्मा भर्तृहरि तटस्थ भाव से अवन्ती को निहारते, जनता के अभिवादन स्वीकारते अग्रसर होते रहे। अव उनकी गति तीव्र हो गयी। लम्वे-लम्बे डग भरते हुए वे राजभवन की ओर वढ रहे थे। एक के पश्चात् एक तोरण-द्वार पार करते, स्वागत की जनभावना की सघनता का अनुभव करते, वे तटस्थ भाव से सभी को मंगलाशिप से कृतार्थ करते चले जा रहे थे। राजपथ के जिस भाग के समीप पहुँचते वहाँ की दर्शनार्थ जनता में हर्प छा जाता। राजर्पि के संग-संग हर्प की यह हिलोर आगे वढती जा रही थी, साथ ही राजभवन की ओर अग्रसर होती जा रही थी उनकी जय-जयकार। जिस भाग को पार कर वे आगे निकल जाते, वहाँ के दर्शनार्थी पथ पर उतर आते और उत्साहपूर्वक महात्मा का अनुसरण करने लगते थे। राजर्षि के आगे-आगे का मार्ग सूना, किन्तु उनके पीछे क्षण-प्रतिक्षण अभिवर्धित होता जा रहा जन-समूह था। इस भारी भीड़ में उल्लास था, उमंग थी, उत्साह था, किन्तु उच्छृंखलता रंच मात्र भी न थी। इस जन-समूह के आगे वा

भाग में वयोवृद्ध महामात्य बुद्धिसागर, अन्य सामंत एवं राज्याधिकारीगण थे। नगर-श्रेष्ठी भी सर्वग्र पंक्ति में थे। यों राजपथ पर राजर्षि के संचरण ने शोभा-यात्रा का स्वरूप ग्रहण कर लिया।

राजभवन के खुले प्रांगण और बाह्य उद्यान में पहले से ही अपार भीड़ एकत्र थी। इस अनियंत्रित-सी भीड़ को शान्त और नियंत्रित रखना राज-कर्मचारियों के लिए कठिन हो रहा था। अवसर के अनुकूल स्वाभाविक उत्साह को दृष्टिगत रखते अधिक कठोरता का व्यवहार उनके लिए उपयुक्त भी नहीं था। तनिक-सी आहट पर भारी हलचल मच जाती थी और निराश होकर दर्शक फिर से पूर्ववत् हो जाते कि अभी भी कुछ विलम्ब है। सारा प्रांगण ऊपर उठ आये सूर्य के कारण धूप से भर गया, कुछ ताप भी बढ़ चला था, किन्तु इस कारण कोई विचलन नहीं, इसका कदाचित् आभास भी नहीं।

इसी समय तीव्र गति से राजभवन के बाह्य उद्यान में महात्मा भर्तृहरि का प्रवेश हुआ। जयघोष के तुमुल नाद से सारा स्थल गुंजायमान हो उठा। रोमांचित दर्शनार्थियों को दर्शन-लाभ हुआ अवश्य, किन्तु किंचित् ही ··· तृप्ति नहीं। महात्मा इतनी क्षिप्रता से निकल गये कि ···। कसी-किसी को तो मात्र पीठ ही दिखायी दी। इस अतृप्ति के आवेग ने एकत्र भीड़ को राजभवन में प्रवेश कर लेने को प्रेरित किया। महात्मा अविराम ड्योढ़ी पार कर भीतर प्रविष्ट हो गये। स्वागतार्थ खड़े महाराज विक्रमादित्य ने चरण-वन्दना की। आशिष देते हुए महात्मा भर्तृहरि अपनी गति से ही चलते चले गये। भीतर सब-कुछ जाना-पहचाना था। राजभवन अपनी वैभवपूर्ण साज-सज्जा से विभूषित था। आज तो और भी अधिक चमक-दमक थी। महात्मा ने इस ओर दृष्टिपात भी नहीं किया। उनके लिए तो तृण और स्वर्ण—सभी कुछ समान था। यह तटस्थता और समता भावना उनमें कुछ विशिष्ट रूप मे ही वढ़ी-चढ़ी थी।

राजभवन में प्रवेश पा लाने को आतुर जन-समूह आकुल-व्याकुल-सा हो रहा था। महामात्यद्वय और स्वयं राजन् भी इन्हें प्रबोधन देने में व्यस्त हुए, किन्तु किसी प्रकार भी उस भीड़ की कामना का दमन नहीं किया जा रहा था। वे तो अपनी ऑखों से यह दृश्य देख लेने को व्यग्र थे कि जो कभी इस विशाल वैभव का एकमेव स्वामी रहा—वही भर्तृहरि उसी वैभव से भिक्षा पाने को झोली फैलाए खड़ा है। वाहर यह विचित्र अभिलाषा जब उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही थी, उसी समय राजभवन के भीतर एक और विचित्र घटना हुई।

महात्मा भर्तृहरि तो अविराम गति से उस स्थल पर पहुँच गये जहॉ से उन्हें भवन के ऊर्ध्वखण्ड की ओर जाना था। एक पल को वे थमे और सोपान श्रेणी को ऊपर तक निहारकर चढने लगे। श्रेणी के मध्य मे पहुँचकर उन्होने पुकार लगायी—

"अलख ..." और आरोहण क्रम निरंतरित रखा। सोपान श्रेणी के समापन पर भवन के ऊपरी खण्ड में ज्यों ही महात्मा जी पहुँचे खुले दालान में बायीं ओर से किसी द्वार के खुलने का खटका हुआ और राजर्षि की दृष्टि स्वाभाविक रूप से उस ओर मुड़ी। स्नानागार से राजमहिषी बाहर निकलीं और इस ओर बढ़ी आ रही हैं–यह आभास पाकर वे ठिठककर खड़े रह गये। सद्यःस्नाता राजरानी अपने इस असाधारण वेश में असाधारण ही लग रही थीं। उनके भीगे तन पर महीन गुलाबी साटिका चिपकती-सी जा रही थी। इस पारदर्शी माध्यम से उनकी देह का समस्त नैसर्गिक सौन्दर्य छलका पड़ रहा था। वे स्वयं भी कुछ सकुचा गयीं और स्वतः ही उनका तन सिकुड़ने-सा लगा। अनायास ही उनके मुख से निकला–"अरे ... !" वे एक पल को स्तंभित-सी हुईं और तब सहसा आगे बढ़ गयीं। "प्रणाम करती हूँ, राजर्षि महात्मन् !"–जैसे कोकिला कूक उठी। भीगी केश-राशि की एक कुंचित श्याम लट को शीश डुलाकर पीछे धकेलते हुए राजरानी ने देखा कि महात्मा भर्तृहरि तो पीछे मुड़ गये हैं और लौट जाने को तत्पर हो गये हैं।

राजरानी की तो ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे ही रह गयी। "हा देव ! यह कैसा अनर्थ .... क्या द्वार पर पधारे महात्मा बिना भिक्षा ग्रहण किये ही लौट जाएँगे .... यह कैसा ....?" राजमहिषी ने अधरों ही अधरों में बुदबुदाया और तब इस प्रकरण को कटु होने से बचाने के प्रयास में वे सहसा मुखरित हो उठीं–"हमारे सौभाग्य की रक्षा कीजिए, प्रभु ! आप लौट कैसे पड़े ... महात्मन् ?"

राजरानी की ओर इस समय महात्मा भर्तृहरि की पीठ थी। इसी स्थिति में उन्होने खड़े-खडे उत्तर दिया–"साधु-मर्यादा ... रानी ! साधु को दृष्टि की निर्मलता की ओर ध्यान रखना होता है।" राजर्षि का कथन सुनकर राजमहिषी चौंकीं; सोचने लगीं–'साधु-मर्यादा? .... यह कैसी मर्यादा ....?' और उनकी भौहें तनिक कुंचित हो उठीं। तभी महात्मा भर्तृहरि ने कहा–"स्त्री को स्नानावस्था में देखकर साधु जन मधुकरी भी ग्रहण नहीं किया करते ... ।"

"किन्तु महात्मन् ! हम तो स्नानावस्था में नहीं हैं। हम तो स्नान कर चुकीं।" राजमहिषी ने वाणी में अतिरिक्त विनय का योग करते हुए उन्होंने अपने कथन को पूर्ण किया–"महात्मन् ! मेरी एक जिज्ञासा है। कृपापूर्वक मेरी शंका का समाधान कीजिए।"

"अवश्य, रानी ! अवश्य। पूछो–क्या शंका है तुम्हारी?"

"शंका तो कदाचित् साधारण-सी ही है, महाराज ! पहले आप सामने वाले कक्ष में विराजें। हम वस्त्र धारणकर उपस्थित होती हैं।"–यह कहकर रानी [illegible]वर्ती वसनागार की ओर चल दीं। उनकी पद-चाप क्रमशः धीमे होते-होते

जब लुप्त हो गयी तो महात्मा भर्तृहरि फिर से मुड़े और निर्दिष्ट कक्ष की ओर बढ़ गये। कक्ष सुरुचिपूर्वक सज्जित किया गया था। स्वर्ण-रत्नमंडित आसन महात्मा जी के लिए वहाँ पहले से ही अवस्थित था। राजर्षि ने अपनी कटि में बँधे मृग-चर्म को खोला और उसे कक्ष के स्वच्छ ऑगन में फैलाकर शान्त मन से बैठ गये। कुछ ही पलों में उनकी पलकें मुँद गयीं और वे ध्यानावस्थित हो गये। साधु अपना अधिकतम समय साधना में ही व्यय करते हैं। एक पल भी व्यर्थ नहीं होने देते।

अभी भी ड्योढ़ी पर जन-रव हो रहा था। जनाकांक्षा का दमन न तो सुगम होता है और न ही अपेक्षित। उसकी पूर्ति करने वाला शासक ही जनता के मन पर शासन कर पाता है और यशस्वी होता है। सुयोग्य एवं विवेकशील शासक नरेश विक्रमादित्य इस मर्म के ज्ञाता थे। उन्होंने एक युक्ति सोच निकाली। एक उच्च स्थल पर खड़े होकर उन्होंने घोषणा की–"शान्त हो जाइये प्रजा जनो ! शान्त हो जाइए। हम आपके उत्साह, आपकी भावना को भलीभाँति जानते–समझते हैं। आपको संतुष्ट करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य होगा। आपकी इच्छा पूरी होगी।" घोषणा से तुष्ट जनता की हर्ष-ध्वनि ऊपर के कक्ष तक पहुँच रही थी। प्रसन्नता के आवेग में जनता महाराज विक्रमादित्य का जय-जयकार करने लगी। बाँह उठाकर महाराजश्री ने सभी को शान्त करते हुए कहा–"जय-जयकार कीजिये ··· अवश्य कीजिये, किन्तु महात्मा भर्तृहरि की जय बोलिये।" तभी दोनों बाहें ऊपर उठाकर महाराज विक्रमादित्य ने तीव्र स्वर में कहा–"महात्मा भर्तृहरि की ··· " और हजारों-हजारों कंठों से "जय" ध्वनि निःसृत हुई। यह क्रम जो आरंभ हुआ तो चलता ही रहा। महाराजश्री ने इसी मध्य राजभवन के प्रथम खण्ड के एक वन्द गवाक्ष की ओर संकेत करते हुए महामात्य भट्टमात्र से कुछ चर्चा की। सारी वात समझ लेने पर सहमति सूचक सिर हिलाते हुए भट्टमात्र तनिक मुस्कराये।

इसी समय सादगीपूर्ण वेश-भूषा में राजमहिषी ने कक्ष में प्रवेश किया और राजर्षि की चरण-वन्दना की–"जय हो, महात्मन् !" महात्मा जी ने नयनोमिलनपूर्वक मुस्कराते हुए पूछा–"हाँ, रानी ! क्या जिज्ञासा है तुम्हारी? अपना प्रश्न प्रस्तुत करो।"

"योगिराज ! आपश्री तो साधना के उच्च सोपान पर पहुँच चुके हैं। तपस्या का चरम और परम लक्ष्य भी अब समीप ही है। इस अवस्था तक तो साधु-जीवन की··· ।" रानी कहते-कहते कुछ हिचकीं और मौन हो गयीं।

"कहो रानी ···! रुक क्यों गयीं। अपना कथन पूर्ण करो।"–योगिराज भर्तृहरि ने उत्साहित किया।

"क्षमा की जाऊँ, महात्मन् ! आपकी आत्मा को हम पीड़ा तो नहीं पहुँचाना चाहतीं. किन्तु निवेदन यह करना चाहती हैं हम कि साधु-व्यवहार तो ममत्व

भावना से पूरित होता है।" राजमहिषी ने गंभीरता के साथ कहा–"साधु के लिए तो अभेद दृष्टि अपेक्षित रहती है, प्रभो ! उसके लिए जैसी मिट्टी होती है, वैसा ही स्वर्ण भी होता है। दोनों में उसकी रुचि नहीं होती–कोई भावना नहीं होती। साधु की अभेद दृष्टि में पापी और पुण्यात्मा, धनाढ्य एवं रंक सभी समान हैं। समान रूप से ये सभी उसके लिए विराग की पात्र–वस्तुएँ हैं, उसकी अनुरक्ति किसी में भी नहीं रहती, स्वामिन् !"

"सत्य.... सर्वथा सत्य विचार है, रानी ! तुम्हारा।"

"फिर आपश्री ने यह भेद-बुद्धि का व्यवहार कैसे किया, प्रभो ! आपके लिए जैसे पुरुष वैसी ही स्त्रियाँ हैं।"

"यह भी सत्य है, रानी !"

"यदि यह भी सत्य है तो आपश्री ने हमें देखकर लौट पड़ने की तत्परता क्यों कर दिखायी? यह हम समझ नहीं सकीं। आपकी समता दृष्टि तो हमें आपके साधनामार्ग की बाधा नहीं मान सकती, प्रभो !"

"यह भी सारगर्भित सत्य कथन है तुम्हारा, रानी !" आज तुमने हमें नयी दिशा में प्रेरित किया है। एक नवालोक हमें प्रदान किया है। सुनो–एक बार हम वृक्ष-तले पत्थर का तकिया लगाये लेटे थे कि एक ग्रामीण वधू ने सत्य को संकेतित किया कि हमने गृह त्याग किया–सुख के साधनों का तो हमने त्याग कर दिया, किन्तु सुख-प्राप्ति की भावना हममें बनी हुई रही–कोमल, मखमली नही तो पत्थर का तकिया ही प्रयुक्त किया। विषय-सामग्री या साधनों का ही नहीं–विषय भावना का त्याग ही सच्चा त्याग है–उस ग्रामीण वधू ने हमें यह सीख दी थी। वह हमारी एक गुरु थी। उसने त्याग का सच्चा स्वरूप हमें समझा दिया। तुम भी रानी हमारे लिए गुरु हो। तुम्हारी वार्त्ता ने हमें मौलिक ज्ञान प्रदान किया है–विराग की स्थिति में किसी को प्रेय और अन्य को हेय मानना अनुपयुक्त है। सभी समतापूर्वक एकरूप हैं। यह व्यापक दृष्टि अव तक अभावित रही। इसकी प्राप्ति के पूर्व हमारा लक्ष्य ही अप्राप्य रहेगा। तुमने इस नवीन प्रेरणा के साथ हम पर बड़ा उपकार किया है रानी ! हम ऋणी हैं तुम्हारे।"

"नहीं.... महात्मन् ! नहीं.... हमने ऐसा कुछ भी नहीं किया।" अपनी लघुता का प्रदर्शन करते हुए राजमहिपी ने विनयपूर्ण स्वर में कहा–"हमारी याचना तो मात्र इतनी है कि हमारे यहाँ की मधुकरी को अस्वीकार कर न जाइये, स्वामिन् ! ग्रहण कर हमें उपकृत कीजिए.... ।"

योगिराज भर्तृहरि ने सम्मित मौन अनुमति प्रदान कर दी और राजरानी के हृदय में मानो शत-शत शतदल विकसित हो उठे। उनके नेत्र अपूर्व ज्योति से भर उठे। अति उन्नमित हो रानी ने भोजन का थाल परोसकर लाने का आदेश दि

किन्तु उसी समय योगिराज ने कहा कि वे तो अपने पत्र में ही आहार ग्रहण करेंगे। इसी समय भट्टमात्र के संकेत पर दो सेविकाओं ने इस कक्ष में प्रवेश किया और सभी गवाक्षों के कपाट खोल दिये। नीचे एकत्र जन-समूह का कोलाहल अब कुछ सीमा तक इस कक्ष में भी आने लगा। जनता ने खुले गवाक्षों से देखा कि राजमहिषी कमलावती मधुकरी अर्पित कर रही हैं और महात्मा भर्तृहरि उसे ग्रहण कर रहे हैं। कृतकृत्य दर्शकों के नयन निहाल हो उठे। श्रद्धालु समुदाय ने पुनः राजर्षि का जय-जयकार किया। महात्मा भर्तृहरि ने नतशिर राजमहिषी को आशिष दी और चल पड़े।

कुछ ही क्षणों में महात्मा जी ड्योढ़ी पर पहुँच गये और तीव्र गति से आँगन में उतर आया। महाराज विक्रमादित्य ने पुनः चरण-वन्दना की। अपनी सहज गति से महात्मा भर्तृहरि अपार भीड़ के मध्य छूटे मार्ग पर आगे बढ़ गये। यों महात्मा जी ने अपने वचन का निर्वाह कर लिया और राज-परिवार हर्षित–उपकृत हो गया। सारा जन-समुदाय क्रमशः विसर्जित हो गया।

संध्या समय राज-दम्पति के मध्य प्रातःकालीन गौरव प्रसंग की चर्चा चल रही थी। महाराज विक्रमादित्य ने राजमहिषी से कहा–''अग्रज महाराज आपकी बडी प्रशंसा कर रहे थे। मुझसे कहा–राजन् ! तुम्हारी रानी बहुत ज्ञानवती हैं, माँ सरस्वती के समकक्ष हैं। उन्होंने अपने एक ही प्रश्न से मुझे दृष्टिवान बना दिया। मुझे उनसे ज्ञान की प्राप्ति हो गयी।'' क्षणेक विरामोपरान्त उन्होंने प्रश्न किया–''आपने अग्रज महाराज से ऐसा कौन-सा प्रश्न कर दिया कि उनका अज्ञान दूर हो गया?''

राजरानी ने सधैर्य सारा वृत्तान्त प्रस्तुत कर कहा–''महात्मा जी का कथन था कि सभी साधनाओं का एक मात्र लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार ही है। इस उद्देश्य से निश्चय दृष्टि फलकारी रहती है। उन्होंने यह भी कहा कि स्वयं को पहचानना मेरा अपना लक्ष्य है, किन्तु अज्ञानवशात् समदृष्टि को मैं अपना नहीं पाया। अच्छे-बुरे, पाप-पुण्य, स्वर्ण-मृदा, संसार और मोक्ष को देखने–समझने की अभेद दृष्टि मुझमें विकसित नहीं हुई। इन सब के प्रति समदृष्टि वाला ही मोक्ष-लाभ कर सकता है। आत्म-साक्षात्कार के लिए यह समदृष्टि अनिवार्य है। उन्होने यह निश्चय किया कि वे अव इसी क्षण से समदृष्टि अपनाने की साधना करेगे।'' राजमहिपी ने स्वीकारोक्ति करते हुए कहा–''कुछ भी हो, महाराज ! आपके अग्रज महाराज हैं अति उदार और परम ज्ञानी। ज्ञान-सरोवर का कोई पार नहीं होता। सच्चा ज्ञानी वही है जो अपने अज्ञान का ज्ञान रखता हो। इस प्रकार अपने अभावों के प्रति सज्ञान होकर ही वह अपने अज्ञान का निवारण कर सकता है।''

कुछ क्षणों तक दोनों मौन, शान्त बैठे अन्तर्मुखी हो गये। और तभी–''हमने राजर्पि से आग्रह भी किया था कि भगवन् ! हमें अतिथि सत्कार का .

प्रदान करें। कुछ दिवस राजभवन में ही विश्राम करें।" बड़ी ही तत्परता के साथ असहमत होते हुए उन्होंने उत्तर दिया—"क्या तपोवन और क्या राजभवन—हमारे लिए आज से दोनों ही परस्पर समान हैं। इसी समता दृष्टि का पाठ तो तुमने हमें पढाया है। किन्तु व्यवहार दृष्टि से साधुजनोचित केवल तपोवन है, राजभवन नहीं। इस दृष्टि की उपेक्षा से साधु का पथच्युत हो जाना संभावित रहता है। अतः ऐसा कोई आग्रह स्वीकार्य नहीं हो सकता।" पति-पत्नी दोनों बड़ी देर तक महात्मा भर्तृहरि की महानता की चर्चा करते रहे।

आगामी प्रातः राजरानी ने स्मरण किया—"कल इस समय तो हम सभी अग्रज महाराज के शुभ आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। अब आज ....।"

"अव आज तो संभव नहीं, किन्तु कुछ दिन हमें यदा-कदा यह सौभाग्य प्राप्त होता रहेगा। कुछ काल अग्रज महाराज अवन्ती-प्रवास पर रहेंगे। हमें सत्कार का अवसर भी मिलेगा ही।"

उसी समय परिचारक ने आकर दुःखद संदेश दिया। बड़े सवेरे ही महात्मा भर्तृहरि अवन्ती से विहार कर गये। राज-दम्पति ही नहीं, समस्त नगरवासियों को वडा आघात लगा। सर्वत्र एक गहरी उदासी व्याप्त हो गयी। समदृष्टि को प्राप्त करने का उनका नवीन लक्ष्य बन गया था। उसकी प्राप्ति की साधना में वे तल्लीन हो गये थे। सच्चे साधक लक्ष्य-निश्चय के पश्चात् तत्काल ही उसकी प्राप्ति की साधना में रत हो जाते हैं। एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करते और लक्ष्य-प्राप्ति तक एक लक्षण को भी निरर्थक नहीं जाने देते।

● ●

राजराजेश्वर वीर विक्रमादित्य की राजसभा सदा विद्वानों, प्रबुद्ध जनों, कलाकारों, गुणी जनों से भरी रहती थी। विभिन्न कलाओं के प्रदर्शन निष्णात कलाकारों द्वारा राजसभा में होते ही रहते थे। महाराजश्री स्वयं अनेक कलाओं के, विशेषकर संगीत के, निपुण अभ्यासी थे। भूपेश ने राज्य के श्रेष्ठ शिल्पियों को आदेश देकर एक अति रम्य एवं आकर्षक राजसिंहासन का निर्माण भी करवाया था। यह सिंहासन विशिष्ट कोटि की कलावस्तु थी। जो कोई उसे देखता दंग रह जाता था। [illegible] काष्ठ का बना यह सिंहासन स्वर्ण और मणि-रत्नों से जटित [illegible] था और उसके आकार की विशालता उसे और अधिक भव्यता प्रदान

करती थी। सिंहासन का पृष्ठ भाग नृत्य-मग्न मयूर की आकृति में था। काष्ठ मे खुदाई से मूल आसन के चार पार्श्वों में आठ-आठ पुतलियाँ उकेरी गयी थी। इन वत्तीस पुतलियों वाले सिंहासन पर आरूढ महाराजा विक्रमादित्य देवराज इन्द्र के समान प्रतीत होते थे और राजसभा अपनी भव्यता में इन्द्र-सभा के समतुल्य लगती थी।

पिछले कुछ दिनों से एक योगी नित्य एक निश्चित समय पर आता और प्रणाम-वन्दन कर एक फल राजराजेश्वर विक्रमादित्य को भेंट कर चला जाता। इस असाधारण योगी से सभी सभासद बड़े प्रभावित थे। उसकी अमुक्त जटा की केश-राशि विशाल और एकदम श्यामवर्णी थी। उन्नत भाल और दीप्तिमान, विशाल, आरक्त नयन, सुती हुई-सी नासिका और बहुत ही प्रियकर मुस्कान ....। योगी की गति में तीव्रता और वाणी में माधुर्य था। इस योगी के विषय में कोई भी कुछ विशेष नही जानता था। हाँ, इतना कुछ लोग जानते थे कि समीप ही के एक सघन वन में योगी का आश्रम है, जहाँ वह तन्त्र-मंत्र की साधना करता है। एक दिन महाराजश्री को जव उसने फल भेंट किया तो सहसा एक घटना हो गयी। कही से एक वानर राजसभा के कक्ष में प्रविष्ट हो गया और उसने राजा के हाथों से वह फल झपट्टा मारकर छीन लिया और दूर वैठकर वड़ी देरी तक उससे क्रीड़ा करता रहा। और तब वह उस फल को जव खाने लगा तो उसमें से एक रत्न निकलकर वाहर आँगन में गिरा। रत्न की जगमगाहट से आसपास प्रकाश फैल गया।

अवन्तीनाथ महाराज विक्रमादित्य आश्चर्यचकित रह गये। जिज्ञासा-भरी दृष्टि से वे योगी का मुख निहारने लगे। उनके नेत्रो में खुला प्रश्न तैरने लगा—"यह क्या माया है?"

अवसर का लाभ उठाते हुए योगी ने भी त्वरित उत्तर दिया—"पृथ्वीपति राजराजेश्वर ! यह रत्न ही है। फल के गर्भ में रत्न होने के कारण यह रत्नफल कहलाता है।"

"अच्छा .... आ !" महाराज ने कहा—"तो यह रत्नफल है ! तुमने वड़े कौशल से फल के भीतर रत्न को स्थापित किया। ऊपर से तो कोई चिह्न भी दिखायी नही देता था। .... किन्तु योगिराज ! यह रत्नफल तो वड़ा विचित्र है। आप इसे हमें क्यों दे जाते हैं?"

"यह तो इस दीन अकिंचन की साधारण-सी भेंट है, श्रीमानेश्वर !" योगी ने कहा—"आपके दर्शनों की लालसा से मैं आता रहा। यह एक सिद्धान्त है कि राजा, गुरु, प्रतिष्ठित और वयोवृद्ध जनों से भेंट करने को रिक्त-हन्त जाना उचित नहीं होता, यथासंभव भेंट अवश्य करना चाहिये।" योगी कुछ स्तब्ध होता-सा रुका और वोला—"महाराज ! इसी कारण मैं रत्नफल लेकर आता हूँ .... फल से ही तो फल की प्राप्ति होती है।" योगी यह कहकर [illegible]। प्रतिक्रिया जानने को उत्सुक हो उठा।

"फल.... ! भला ऐसे चमत्कारी फल हमारे पास कहाँ जो हम आपको देकर तुष्ट कर सकें।" महाराजश्री तनिक मुस्कराते हुए कहने लगे—"फिर भी हम आपको निराश नहीं करेंगे, योगिराज ! कहिये... क्या याचना है आपकी?"

"मैं याचक तो कदापि नहीं हूँ, श्रीमानेश्वर ! मैं तो एक कामना के साथ उपस्थित हुआ हूँ।"

"कैसी कामना?"

"आप तो अत्यन्त शूरवीर, पराक्रमी और साहसी हैं। आपश्री की साहस-गाथाओं में एक नवीन अध्याय जोड़ने के प्रयोजन से मैं आपके पास....।"

"अपने प्रयोजन को स्पष्ट रूप में प्रकट कीजिए, योगिराज ! प्रहेलिकाएँ छोड़िये और बताइये कि आप कहना क्या चाहते हैं?"

"तो लीजिये, महाराज ! मैं सीधे कथ्य पर ही आता हूँ। मैं अपने आश्रम में एक अनुष्ठान कर रहा हूँ। अनुष्ठान है स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति का। बड़ा जटिल और असुरक्षित है यह अनुष्ठान। इसमें अनेक प्रेत-बाधाओं की आशंका रहती है, जिनसे अनुष्ठान के भंग होकर असफल रह जाने का भय बना ही रहता है।.... आपसे विनती है कि कृपया आप इसमें मेरी सहायता अवश्य करें.... आप... ।"

"हम..... हम भला इस प्रसंग में आपकी क्या सहायता.... ?"

"आप राजराजेश्वर ! चाहें तो सब-कुछ कर सकते हैं.... सब-कुछ कर सकते हैं आप। आप इस अनुष्ठान की रक्षा का दायित्व ग्रहण कर लीजिये। सफलता सर्व निश्चित है और परिणाम—स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति के रूप में अवश्यंभावी है। साहस के साथ दृढ़ निश्चय कार्य के सफल समापन का पूर्वार्द्ध होता है और लगन के साथ प्रवृत्त रहना उसका उत्तरार्द्ध होता है। साहस की तो आप प्रतिमूर्ति ही हैं। इसी कारण मेरा विश्वास है कि आप अवश्य सफल होंगे।"

"किन्तु हम भला... ।"

"अब किन्तु... परन्तु को त्यागिये, महाराज ! आप तो परम परोपकारक हैं और आपके लिए तो यशोगाथाएँ प्रचलित हैं कि आप अपना तन का मोह त्यागकर भी परोपकार में प्रवृत्त रहते हैं, अन्य जनों की वेदना, दुःख, समस्याओं-बाधाओं का निवारण करते हैं।"

"इसमें क्या परोपकार होगा, योगिराज? यह तो...।"

"निश्चय ही यह आपका परोपकार ही होगा, प्रभो ! यह अनुष्ठान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि आपने इसकी सुरक्षा का दायित्व स्वीकार कर लिया तो इसमें मुझे उत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त होगी।"

"अनुष्ठान से प्राप्त स्वर्ण-पुरुष मैं आपको भेंट करूँगा, दीनबन्धु ! मुझे स्वर्ण नहीं सिद्धि ही काम्य है। वही मेरे लिए सर्वस्व है।"

"हमें करना क्या होगा?"

"आप श्रीमान् की भूमिका अत्यन्त सुगम है, महाराजश्री ! आपको इस अनुष्ठान में मेरा उत्तर-साधक बनना होगा। आपकी सहायता मेरे लिए अचूक सिद्ध होगी, श्रीमानेश्वर !"

"हूँ····· ऊँ·····।" महाराज विक्रमादित्य ने चिन्तनलीन अवस्था में ही कहा–"अच्छा योगिराज ! यदि हमारे कुछ किये से आपका कोई लाभ होता है तो हम अवश्य ही आपकी सहायता करेंगे। यह वचन रहा हमारा।" महाराजश्री ने तनिक विराम लेते हुए कहा–"हमें अपनी शक्ति–साहस पर विश्वास है। हम अपने अनुष्ठान को निर्बाध रखेंगे। उत्तर-साधक भी बनेंगे, किन्तु हमें करना क्या होगा?"

"वहुत साधारण····· बहुत सरल कार्य है आपका, अवन्तीनाथ ! आपश्री ने मेरी विनती स्वीकार की–बहुत आभारी हूँ मैं। आगामी चतुर्दशी को मेरा अनुष्ठान चरम पर पहुँचेगा। वही पूर्णाहुति की रात्रि होगी–सिद्धि और सफलता की रात्रि होगी वह। आपको वहाँ एकाकी ही पहुँचना होगा···· आपके साथ अन्य कोई भी नहीं हो–यह अत्यावश्यक है।"

"किन्तु ऐसा क्यों, योगिराज?"

"अनुष्ठान की क्रियाओ का–साधक और उत्तर-साधक–इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई दर्शक न हो–यह मर्यादा है, महाराज ! इस कारण।"

"फिर हमारे रक्षकगण?···· उनका क्या होगा?"

"आप स्वयं वहाँ रक्षक होंगे, महाराज ! अनुष्ठान के रक्षक···· भला आपके लिए किसी रक्षक की क्या अपेक्षा?"

"हमारे साथ अन्य कोई साधन-सामग्री····।"

"कोई अपेक्षा नहीं, श्रीमानेश्वर ! स्वच्छ वस्त्रों का एक जोडा साथ रहे··· वस।"

"और आपके आश्रम तक हम पहुँचेगे कैसे? हमें तो एकाकी ही आना होगा न !"

"करुणावतार ! आप इसके लिए भी सर्वथा निश्चिन्त रहिये। आपको कोई कठिनाई नहीं होगी। हमारा काला अश्व आपको चतुर्दशी के दिन राजभवन के उद्यान में खडा मिलेगा। आप उस पर आरूढ़ हो जाइये, दस। अश्व आपको गंतव्य स्थल पर स्वतः ही ले आएगा।"

"तो.... अब आप निश्चिन्त रहिये योगिराज ! आपकी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी। हमने वचन दिया है.... हम उसका निर्वाह भी करेगे। ऐसे साहसिक आमंत्रण हमें नव-नवीन ऊर्जा प्रदान करते हैं, हमारे शौर्य को प्रबल बनाते हैं। चाहे जितना भी जोखिम क्यो न हो–हमने इसे चुनौती के रूप मे स्वीकारा है....।" महाराज ने हाथ ऊपर को उठाकर कहा–"आप निश्चिन्त मन से प्रसन्नतापूर्वक जा सकते हो।"

योगी ने अपने आन्तरिक उत्साह-ज्वार का दमन करते हुए कहा–"राजन् ! हमे आपसे यही आशा थी। आप तो करुणावतार है.... परोपकार आपश्री का व्यसन है। आपश्री के वचनों से आज मैं कृतकृत्य हो गया, प्रभो !"–यह कहते हुए योगी दो चरण पीछे हटा और प्रणाम कर वह राजसभा से चला गया। सभी सभासद इस विचित्र प्रकरण से दंग रह गये। 'यह योगी कहीं वंचक न निकले ! हमारे मालवनाथ की कोई हानि तो नहीं हो जायेगी !!' भाँति-भाँति की आशंकाओ मे सामन्तों आदि के मन खिन्न-से हो गये थे और सभी को भावी अनिष्ट की संदेह भावना त्रस्त करने लगी। वयोवृद्ध महामात्य बुद्धिसागर ने कहा–"क्षमा किया जाऊँ, अवन्तीपति ! तो निवेदन करूँ...। श्रीमानेश्वर ने कुछ सोच-समझकर ही वचन दिया होगा, किन्तु हमे उस योगी की भावना कुछ अमंगल लगी।"

"महामात्य जी ! साहस से बडे कठिन कार्य भी करणीय हो जाते है और साहस सोच-समझकर नही किया जाता। पलकें मूँदकर दुष्करणीय कार्यो में प्रवृत्त हो जाने का ही नाम साहस है। सच्चा क्षत्रिय साहस का ही पर्याय होता है।"

"छोटे मुँह बडी बात तो होगी, राजराजेश्वर ! किन्तु...।" एक वीर सामन्त ने कहा–"हमारा मत है कि श्रीमान् ! उस योगी के आश्रम में न जाये–[illegible] विश्वसनीय प्रतीत नही होता।"

"हमारे शासन मे सभी को अपना मत प्रस्तुत करने की स्वच्छन्दता तो [illegible] किन्तु वही मत स्वीकार्य होता है जिसमें औचित्य का योग हो। हमें खेद है कि [illegible] वचन-भग का परामर्श दिया जा रहा है।"–महाराज विक्रमादित्य ने कहा–"ह[illegible] किसी को सहायता देने का वचन दिया है, हम हमारे वचन को स्वयं के [illegible] अनुल्लंघनीय मानते है।"

इसी समय अपना मौन भग करते हुए महामात्य भट्टमात्र ने निवेदन के [illegible] से कहा–"न तोडिये अपने वचन को–निर्वाह कीजिये उसका, किन्तु इतना तो [illegible] सकता है कि आप एक सैन्य-दल को साथ आने की अनुमति प्रदान कर [illegible] पहले तो [illegible]-विडंबना का कष्ट पर्याप्त रूप मे भोग चुका है। [illegible] कोई जोखिम नहीं उठाना चाहता।"

"आपने सारा संवाद स्वयं सुना है। हमने एकाकी जाने की बात स्वीकार कर ली है–उसी वात का अनुसरण किया जाना चाहिये।"–महाराजश्री ने कहा–"किन्तु आज हमारे प्रतापी शौर्य और साहसिक शक्ति पर संदेह क्यों किया जा रहा है? क्या आपको मालव-नरेश की शूरवीरता पर संदेह होने लगा? क्या हमारी भुजाओं का वल आपको रीतता हुआ प्रतीत होता है?"

"शंका नहीं, महाराज .... रंच मात्र भी शंका नहीं।" महामात्य ने कहा–"आपके पराक्रम को घटाकर ऑकना संभव ही नहीं है, किन्तु साहस भी सफल तभी होता है, जब विवेक उसके संग हो। विवेक का आग्रह रहता है–सुरक्षा का। निरापद साहस ही वांछनीय है; अन्यथा वह आत्म-हानि का उपक्रम मात्र रह जाता है।"

"कदाचित् आपका कथन उपयुक्त ही हो ... ।" महाराजश्री ने धीर-गंभीरतापूर्वक कहा–"किन्तु हम कहने को ही एकाकी हैं अन्यथा हमारे सगी-साथी तो हमारे साथ ही होगे। हमारे साथ हमारी निर्भीकता, हमारा वल, हमारा शौर्य–सभी-कुछ तो होंगे। हमारे लिए आप लोग चिन्तित रहते हैं–हम इस भावना का आदर करते हैं, किन्तु योगी के आश्रम में हमें जाना ही होगा और अकेले ही जाना होगा। आप निश्चिन्त रहें। ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपक्रम भी हमारे लिए एक नवीन उपलब्धि लेकर आ रहा है।"

संध्या समय महाराजश्री जब विचार-मुद्रा में अपने विश्राम-कक्ष में थे–सहसा एक कोमल हुँकार कक्ष में व्याप्त हो गयी और अग्निवेताल साक्षात् हो गया। आश्चर्य के साथ मालवराज विक्रमादित्य ने स्वागत करते हुए अपनी दोनों वॉहे ऊपर उठाते हुए कहा–"अरे मित्र, तुम .... ! इस समय यहॉ .... ! आओ ... आओ। किन्तु तुम तो विना हमारे स्मरण किये आते नहीं हो। हमे वड़ा सुखद विस्मय .... ।"

"विस्मय तो होगा ही आपको, महाराज ! किन्तु एक विशेप प्रयोजन से आना पड़ा है मुझे।"

"वह क्या? .... प्रयोजन कैसा भला ! हम कुछ समझ नही पा रहे है।"

"वह भी आप अविलम्ब ही समझ जायेंगे, श्रीमान् ! आज एक योगी आपसे भेंट करने को आया था।"

"हॉ .... हॉ .... आया तो था। वड़ा चमत्कारी प्रतीत होता था। वह एक अद्‌भुत फल लेकर आया था जो रत्नगर्भी .... ।"

"वह सब तो उसका छल था, महाराज ! वह रत्नफल के माध्यम से आपको अपने सामर्थ्य की जानकारी देकर प्रभावित करना चाहता था। और वह अपने प्रयोजन मे सफल भी हो गया।"

"अर्थात्....?"

"वह आपको अपने अनुष्ठान का उत्तर-साधक बनाना चाहता था न, और आपने बनना स्वीकार भी कर लिया।"

"..............."

"वह बड़ा धूर्त योगी है, महाराज ! महान् प्रवंचक। उसका उत्तर-साधक तो कोई साधारण पुरुष भी हो सकता था। उसने आपको क्यों चुना.... इस रहस्य को आप अभी ताड़ नहीं पाये हैं....।"

"रहस्य कैसा, अग्निवेताल ! क्या चाहता है वह?"

"वह स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति करने के लक्ष्य से अनुष्ठान कर रहा है। इस अनुष्ठान में नर-बलि दी जाती है। किसी पुरुष को होमकर पूर्णाहुति दी जाती है। और पुरुष भी कोई साधारण नहीं.... बत्तीस लक्षणों वाला पुरुष इस हेतु अपेक्षित रहता है।"

"समझे.... तो हमारे अतिरिक्त भी ऐसा कोई बत्तीस लक्षणों वाला पुरुष वहाँ....।"

"अतिरिक्त नहीं, मित्रवर ! .... अतिरिक्त नहीं। आप ही तो बत्तीस लक्षणों वाले पुरुष हैं। वह एकाधिक बार रत्नफल भेंट करने के मिस आपकी सेवा में उपस्थित होता रहा और परीक्षा करता रहा कि आप बत्तीस लक्षणों वाले पुरुष है अथवा नहीं। अन्ततः वह संतुष्ट हो गया। पूरे एक युग से वह इस खोज में लगा रहा है। आज उसे सफलता मिली है।"

"तो क्या वह योगी हमारी....।"

"हाँ, महाराज ! हाँ।.... उसका धृष्ट प्रयोजन यही है कि आपको अग्निकुंड में झोंककर स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति कर ले।"

"अच्छा....! अब हम समझे हैं, उसकी मनोकामना क्या है?"

"मैं आपकी सेवा मे असमय और विना आपके स्मरण किये ही इसी प्रयोजन से आया हूँ कि आपको वस्तु-स्थिति से अवगत कराकर सतर्क कर दूँ।"

"तो तुम्हारे मत में, हमें क्या करना चाहिए?"

"सतर्क और सावधान रहते हुए आत्म-रक्षा....।"

"..............."

"आपको मैं यह परामर्श दूँगा नहीं कि आप उस कपटी योगी के आश्रम मे न जाइये। जाइये.... अवश्य जाइये; किन्तु वस्तु-स्थिति से अनभिज्ञ होने का प्रदर्शन करिये और जैसा-जैसा करने को वह कहे—वैसा ही करते भी जाइये।

सारे अनुष्ठान के अन्त में वह हवन-कुण्ड की तीन प्रदक्षिणा करने को आपसे कहेगा। अन्तिम परिक्रमा के समय वह आपको पूर्णाहुति के रूप में अग्नि में डाल देना चाहेगा। इसी समय आपको चाहिए कि आप उसे हवन-कुण्ड में फेंक दें।"

"अच्छा.... ऐसा तो हो सकेगा, किन्तु इससे क्या होगा?"

"इस अनुष्ठान के कर्त्ता आप माने जायेगे, प्रभो ! आपको स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति होगी.... आप इस महान् सिद्धि के स्वामी हो जायेंगे, महाराज !"

"यह हमारे लिए असम्भव नहीं रहेगा, मित्र ! ऐसा हो ही जायेगा।.... किन्तु इस स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति से क्या कोई मंगल घटित होगा?...... विस्तार से तनिक इस विषय में......।"

"श्रीमानेश्वर ! जिसे स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति हो जाय, वह इस रूप में सृष्टि का सर्वाधिक धनाढ्य व्यक्ति हो जाता है। मनुष्य के आकार–आकृति की स्वर्ण-निर्मित प्रतिमा ही स्वर्ण-पुरुष है। इस प्रतिमा से जितना चाहें, स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता है।"

महाराज विक्रमादित्य के समक्ष अब सारी भावी परिस्थितियाँ स्पष्ट हो गयीं। उन्हे अपने अन्तरमन में यह विश्वास था कि तब तो यह प्रसंग हमारे लिए महान् उपलब्धिकारक ही रहेगा। उन्होंने सहज भाव से प्रश्न कर दिया–"किन्तु मित्र अग्निवेताल ! तुम्हें कैसे ज्ञात हो गया कि ऐसा कुछ होने वाला है? वह धूर्त्त योगी हमारे पास आया है?"

"मैं आपका मित्र हूँ न ! सच्चे मित्रों को एक-दूसरे की कुशल-क्षेम से सतत रूप में अवगत रहना चाहिए और आने वाले संकट से उसे सावधान कर उसके निवारण में सक्रिय रहना चाहिए। यही मैत्री-धर्म का मूल है कि मित्रगण एक-दूसरे के लिए मंगल के विधायक हों।" कहते-कहते ही अग्निवेताल सहसा लुप्त हो गया और महाराज के चिन्तन के लिए एक प्रश्न छोड़ गया कि आगामी क्रम क्या हो? वे इस सिद्धि के लिए युक्ति सोचने लगे।

× × ×

सूर्य ऊपर से ऊपर को चढ़ता चला गया.... निरभ्र नभ अपनी नीलाभा के साथ सूर्य के तेज से भर गया। चतुर्दशी की रात्रि जितनी तिमिराच्छन्न रहती है दिवस उतना ही अधिक आलोकपूर्ण प्रतीत हो रहा था मानो वह अग्रिम रूप में क्षतिपूर्ति की तत्परता दिखा रहा हो। सुरम्य और सघन वन की गोद में योगी का आश्रम प्रसन्न शिशु की भाँति प्रतीत हो रहा था। आज आश्रम में चरम और परम सिद्धि की उपलब्धि का योग जो था। ज्यो-ज्यों समय व्यतीत होता जा रहा था। योगी के मन में उत्साह प्रवल होता जा रहा था। आज का दिन उसके जीवन का

धन्य दिवस जो होने वाला था--उस दिवस की भी वह घड़ी समीपतर होती जा रही थी, जब उसे स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति होने को थी। योगी का हृदय प्रसन्नता के मारे बल्लियों उछलने लगा था। अब वह जगत् का सर्व समृद्धि का स्वामी हो जायेगा। अक्षय स्वर्ण भण्डार उसके पास होगा—वह धन की अपार शक्ति से सम्पन्न होकर जो चाहेगा वही करने की समर्थता रख सकेगा। किन्तु .... किन्तु यह सब तभी तो सम्भव होगा, जब बत्तीस लक्षणों वाले सम्राट् विक्रमादित्य वहाँ पहुँच जायें। मध्याह्न हो गया .... वे अभी तक आये क्यों नहीं .... अश्व जिस समय राजभवन के उद्यान में पहुँचा था—"उसके अनुसार तो अवन्तीनाथ को अब से काफी पूर्व ही यहाँ पहुँच जाना चाहिए था। योगी का मन चिन्तित हो उठा। उसके मन पटल पर भाँति-भाँति की काल्पनिक परिस्थितियाँ उभरने लगीं, जो कभी उसे गहन निराशा के अंधकार में धकेल देती, तो कभी उसका मन आशा से उत्फुल्ल हो उठता

कभी योगी सोचता—'यदि राजा विक्रम को आना ही होता तो वह कभी का आ चुका होता। अब वह क्या आयेगा ! हाय ! कहीं मेरी सारी साधना मिट्टी मे मिलकर न रह जाय।' और तभी उसका मन आगामी ही क्षण विश्वास से भर उठता—'नही .. नहीं . विक्रम तो आयेगा और अवश्य आयेगा। विलम्ब का अर्थ नकारात्मक नहीं होता। और अभी ऐसा कोई विशेष विलम्ब भी नही हुआ है।' इसी समय फिर उसके मन मे आशका घर कर जाती—'कहीं वह वास्तव मे नहीं आया तो गजब ही हो जायेगा .... मेरा स्वप्न स्वप्न ही रह जायेगा। सम्भव है कि उसके मित्रो—मन्त्रियों ने कुछ ताड लिया हो .... और उन्होंने भावी अनिष्ट की आशंका से उसे बहका दिया हो। प्राणो का भय मानकर उसने यहाँ आना स्थगित कर दिया हो .... । ऐसा हो तो सकता है, किन्तु वचनवीर विक्रमादित्य अपने कथन से फिर जाने वाला भी तो नहीं है। किसी भय के वशीभूत होकर वह वचन भग नही करेगा .... कभी नहीं करेगा . वह आयेगा ... अवश्य आयेगा।'

योगी के मन मे परस्पर विरोधी विचारो का तीव्र अन्तर्द्वन्द्व सक्रियता की पराकाष्ठा पर था। आशा-निराशा के रंग उसके मुख पर आते-जाते स्पष्ट दिखायी देने लगते। निराशा उसे चंचल बनाकर उठ खड़ा करती और उद्विग्न बना देती तो आशा उसे सुधीर और शान्त करती। वह कुछ क्षणों के लिए बैठ जाता और भावी सुखों की मदिर कल्पनाओं मे लीन हो जाता। जब दिन का चौथा प्रहर आ गया तो योगी हडबडाकर खड़ा हो गया। ऐसा न हो कि राजा आये ही नही ...। चंचल मन तन को भी सुस्थिर नही रहने देता। वह धीमे-धीमे आश्रम के द्वार की ओर बढ़ा कि देखूं, राजा विक्रमादित्य आ रहा है क्या ! मुख्य द्वार पर पहुँचकर उसने [illegible] दृष्टि को अतिरिक्त रूप मे सक्रिय करते हुए, वन—प्रान्तर में [illegible] का प्रयास किया। तभी सहसा उसे सुदूर मे आती अश्व-टापों [illegible] सुनायी दिया। उसके मन मे उषा वेला अपने समस्त

हवन की रक्षा करना है। वे प्रयत्न करेंगे कि यज्ञ को भ्रष्ट कर दें और हमें स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति न हो सके। यज्ञ से प्राप्त स्वर्ण-पुरुष मैं आपको देने का वचन दे चुका हूँ उसे निभाऊँगा। स्वर्ण-पुरुष पर अधिकार आपका रहेगा, महाराज !''

'वह तो रहेगा ही .... चाहे तू स्वेच्छा से न भी दे।'–मन ही मन महाराज ने सोचा और प्रकटतः कहा–''यह तो आपकी उदारता होगी योगिराज ! वैसे .... हमारा उद्देश्य आपकी सेवा-सहायता मात्र तक की सीमित है।''

''धन्य हैं राजन् ! आप और धन्य है आपकी निर्लोभता। अब हमारे पास समय कम रह गया है। हमें कार्यारंभ कर देना चाहिए। समय-समय पर जो कार्य आपको पूर्ण करने हैं उनके लिए मैं संकेत करता चलूँगा। आप निश्चिन्त रहें।'' यह कहते हुए योगी ने महाराजश्री को एक आसन पर बिठाया और अभिमंत्रित जल से भरा एक कलश उनके मस्तक पर उँड़ेल दिया। उत्तर-साधक को स्नान कराकर उन्हें वल्कल वस्त्र धारण कराये और उन्हें मृग-चर्म पर आसीन किया। योगी ने तव उनके भाल पर सिन्दूर का एक मोटा-सा तिलक लगा दिया। इससे महाराजश्री की आभा कुछ और ही हो गयी। उनकी पराक्रमशीलता मानो मुख-मण्डल पर सतेज हो गयी थी। तब योगी ने कहा–''राजन् ! अब मैं आपका शिखा-वन्ध कर देता हूँ।'' यह कहते हुए उन्होंने महाराज की केश-राशि की लट को सिर के वीचोवीच संकलित कर उसमें बँट भरा और गॉठ बॉध दी। ''जब तक यह शिखा-वन्ध रहेगा, राजन् ! तब तक आप भूत-प्रेतादि दुष्टात्माओं से सुरक्षित रहेंगे। वे आपकी रंच मात्र भी हानि नहीं कर सकेंगे।'' मंत्रोच्चारण के साथ तव योगी ने यज्ञोपकरण श्रुवा उठाया और रोली-अक्षत, पुष्पादि से उसकी अर्चना करते हुए हवन-कुण्ड से पन्द्रह-वीस चरण की दूरी पर जा खड़ा हुआ। मंत्र-जाप करते हुए ही उसने श्रुवा की डण्डी से भूतल पर एक घेरा बनाया और उस वर्तुल रेखा पर सूखा सिन्दूर विछा दिया। यह सिन्दूरी घेरा आकार में इतना बड़ा था कि उसमें एक व्यक्ति सुगमतापूर्वक खड़ा रह सके और आवश्यकतानुसार चारों ओर घूम भी सके। ''राजन् ! यह अभिमंत्रित घेरा सुरक्षित स्थल है। समय आने पर आपको इस घेरे में खडे रहना होगा। जव तक आप इसके भीतर रहेंगे कोई भी भूत-प्रेत आप पर घात नहीं लगा सकेगा। प्रेतात्माओं के वीभत्स उपद्रवों से भयभीत होकर यदि आत्म-रक्षा के प्रयत्न में आप घेरा लॉघकर वाहर निकल आये तो आपको प्राणो का संकट आ जायेगा। आपका साहस ही इस घेरे के प्रभाव से आपको लाभान्वित कर सकेगा, प्रभो !'' प्रवोधन के स्वर में योगी ने महाराज से कहा और हवन-कुण्ड की ओर वढ गया।

''अब अधिक विलम्ब करना उपयुक्त नहीं होगा। हमें अनुष्ठान आरम्भ कर देना चाहिए।''–योगी ने कहा और स्वयं की ओर संकेत करते हुए वोला–''हम इस अनुष्ठान के साधक हैं, आप उत्तर-साधक हैं, राजन् ! इस नाते आपको

कि कहीं से कोई भूत-प्रेतादि तो नहीं आ रहे। अनुष्ठान की सुरक्षा का दायित्व इस समय उनके लिए सहज धर्म बन गया था। आहुतियों का क्रम समापन पर आया और तनिक विरामोपरान्त साधक योगी ने कहा–

"राजन् ! अब अनुष्ठान अपने चरम की ओर अग्रसर हो रहा है। आपने इसकी रक्षा बहुत सावधानी के साथ कर ली।"

"आगे क्या आदेश है, योगिराज !"

"अब आपको एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करना है। समीप ही श्मशान भूमि है। वहॉ एक वट-वृक्ष पर एक शव टॅगा हुआ है। आप जाइये और उस शव को यहॉ ले आइये।" योगी के स्वर में विचित्र कर्कशता थी।

शव को उठाकर लाने के प्रसंग से एक बार तो महाराजश्री का मन ग्लानि से भर उठा, किन्तु तुरन्त ही उन्होंने उसे वश में करते हुए कहा–"ले आऊँगा योगिराज !...... मैं ले आऊँगा .... मेरे लिए इसमें कोई समस्या नहीं है।"

"सावधान ! शव को उठाकर यहॉ तक लाते समय, राजन् ! आपको सर्वथा मौन रहना होगा। आपके मुख से एक अक्षर का उच्चारण भी न हो–आपको इसके लिए सतर्क रहना होगा।"–योगी ने सचेत किया। महाराज ने मुख-मुद्रा द्वारा ही यह जता दिया कि वे इसका भी पालन कर लेंगे और घेरे के वाहर निकलकर मरघट की ओर चल दिये। अब तक के क्रम से शिथिल होकर योगी शेष रही प्रक्रिया धीमे-धीमे सम्पन्न करने लगा। निम्न वाणी में वह मंत्रोच्चार करने लगा।

मरघट अधिक दूर न था। कुछ ही समय में महाराजश्री वहॉ पहुॅच गये। एक अधजली चिता की लपटों के प्रकाश में उन्हें वह वट-वृक्ष भी दिखायी दे गया। विशाल वट प्राचीन लगता था। उसके नीचे लटकते तन्तुओं में बॅधा वास्तव में एक शव उलटा लटक रहा था। पीत मृत देह वड़ी वीभत्स लग रही थी। खुली पलकों में पथराए नेत्र और भी अधिक भयावह प्रतीत होते थे। शीश के केश नीचे को लटक रहे थे और वॉहें भी झूल रही थीं। इस असामान्य दृश्य से महाराज के मन में कुछ विचलन भी उठी, किन्तु तत्काल उन्होने उस पर नियंत्रण किया और गम्भीरता के साथ वे धीरे-धीरे वृक्ष की ओर वढने लगे। शृगालों की हू-हू मरघट के वातावरण को और अधिक आतंकमय वना रही थी। अर्द्ध-रात्रि का समय, श्मशान भूमि, वट-वृक्ष पर उलटा लटकता शव, जलती चिताएँ और प्रेतात्माओं के उपद्रव की आशंका–सभी भयावह सामग्रियो के होते हुए भी स्थिर चित्त महाराज विक्रमादित्य निर्भय होकर शव की ओर अग्रसर होते चले गये। समीप आकर जो [illegible] शुष्क मृत शरीर को देखा तो उसे स्पर्श करने की हिम्मत भी उनमें नहीं आ सकी। ध्यान से उन्होंने इस निर्जीव तन को देखा, सिर से नजर ऊपर [illegible] हुए उन्होंने पॉव तक देख लिया। वट के तंतुओं से पैरों को टखनों के [illegible]

से बाँध रखा था। वे युक्ति सोचने लगे कि किस प्रकार शव को उतारा जाये। भूतल पर खड़े नरेश शव के शीश को भी नहीं छू पाते थे। पैरों का बंधन खोलने के लिए वृक्ष पर चढना अनिवार्य था। और कोई प्रयत्न भी संभव नहीं था।

निदान, वे वृक्ष पर चढ़े और शव को ऊपर खींचकर उस मोटी डाल पर ठीक से टिका दिया, जिससे वह बँधा हुआ था। तब उन्होंने एक हाथ से शव को थामे रखा और दूसरे से पाँवों को बंधन-मुक्त किया। और तब अपने इष्ट पार्श्वनाथ भगवान का स्मरण करते हुए अपने सीधे कंधे पर शव को लाद लिया। शव का उदर भाग कंधे पर टिकाया, पैर पीछे की ओर पीठ पर झूलते रहे और मस्तक तथा बाँहें आगे की ओर लटकी हुई थीं। राजा विक्रमादित्य तब धीरे-धीरे वृक्ष से नीचे उतर आये। भूतल पर आकर उन्होंने नमस्कार महामंत्र का जाप किया और योगी के आश्रम की ओर बढ़े।

दो-चार चरण ही वे आगे बढ़े होंगे कि सहसा कंधे पर लदे शव ने चमत्कारिक ढंग से कुछ सक्रियता दिखायी। पहले तो वह व्यंग्य में कुछ हँसा। इस हँसी को सुनकर अनायास ही महाराजश्री को अपने मित्र अग्निवेताल का स्मरण हो आया। हँसने का ढंग ही ऐसा था। तब शव ने कहा—"राजन् ! स्वयं को बड़ा बुद्धिमान कहते हो न ! दो अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय। मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ।" यह कहकर शव ने एक छोटी-सी कहानी सुनायी और उससे जुड़ा एक प्रश्न पूछ लिया और बोला—"अब दो उत्तर इसका।" महाराज ने उसका उत्तर देने को कुछ शब्दों का ही कथन किया था कि शव ने कहा—"राजन् ! तुम बोल पड़े—मौन भंग कर दिया तुमने। अब तुम मुझे नहीं ले जा सकते।" और वह राजा के कंधे से उड़कर पुनः वट-वृक्ष पर जा लगा; उलटा लटक गया।

नरेश विक्रमादित्य को अपनी भूल पर पछतावा हुआ। वे पुनः वृक्ष पर चढ़े और शव को उतारकर कंधे पर लादा। अब की बार भी वही क्रम रहा। शव ने फिर एक दूसरी कथा कही और प्रश्न का ऐसा रूप वनाकर प्रस्तुत किया कि राजा सब-कुछ भूलकर उसका उत्तर देने को उत्तेजित-सा हो गया। शव फिर वृक्ष पर जा लटका। इस प्रकार शव ने राजा विक्रमादित्य को पच्चीस कहानियाँ सुनायी और पच्चीस बार यह क्रम पुनरावृत्त हुआ। अन्तर यही रहा कि अन्तिम कथा के उत्तर में महाराजा सर्वथा मौन रहे और आगे से आगे वढ़ते चले गये। इसी समय शव तो शान्त हो गया, किन्तु महाराज विक्रमादित्य का मित्र अग्निवेताल प्रकट हुआ। उसने कहा—"राजन् ! ये पच्चीस कहानियाँ मैंने आपको सुनायी थीं। आप तो एकाकी ही इस वन में चले आये, किन्तु आप पर आसन्न संकट के आभास ने मुझे विवश कर दिया और मैं भी यहाँ आ पहुँचा। इधर मैं अदृश्य होकर सारी लीला देखता रहा हूँ। जब आप शव को ले जाने मरघट मे पहुँचे मैं भी वहाँ पहुँच गया और शव मे प्रविष्ट हो गया था। मैंने आपको जो कथाएँ सुनायीं उनमें अनेक

कपटी, धूर्त्त, पापी और स्वार्थी लोगों का वर्णन आया। यह योगी भी ऐसा ही है, राजन् ! इससे आपको सावधान करने को ही मेरा यह प्रयत्न रहा है। यदि असावधान रहे तो धूर्त्त योगी अपनी मनोकामना पूर्ण कर लेगा। वह आपको जीवित होमाग्नि में झौंककर पूर्णाहुति देना चाहता है और स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति कर लेना चाहता है। अनुष्ठान के अन्तिम चरण में यह आपको हवन-कुण्ड की तीन प्रदक्षिणा करने को कहेगा। उसी समय यह स्वार्थी अपनी कुटिल योजना को पूर्ण करना चाहेगा। आप सावधान रहकर यदि ····।''

इस सुदीर्घ कथन के मर्म को समझते-समझते, मौन रहकर शव को लिए राजा अग्रसर होते ही चले गये थे। अग्निवेताल अपना कथन पूर्ण कर अदृश्य हो गया। वह तो लुप्त हो गया, किन्तु उसका कथन बड़ी देर तक महाराज के कानों में गूॅजता रहा और अन्त को उनके मानस में स्थापित हो गया। वे णमोकार मंत्र जपते हुए आश्रम में प्रविष्ट हुए। शव लेकर राजा आ गये हैं, यह देखकर योगी को आत्मतोष तो हुआ, किन्तु इसमें हुए विलम्ब के कारण वह क्रुद्ध भी था। उसने रोषपूर्ण स्वर में पूछा–''इतना समय क्यों लगा, राजन् ! तुमने मेरे सारे अनुष्ठान को विफल ही कर दिया होता। पूर्णाहुति का मुहूर्त्त टल जाता तो ···· !'' और वह अपने अरुण हो उठे नेत्रों को विशाल आकार देते हुए नरेश को घूरने लगा। उसके नेत्रों से जैसे चिनगारियॉ बरस रही थीं।

इधर नरेश विक्रमादित्य भी ऐसे प्रश्नों और कथनों को सुनने के अभ्यस्त तो थे नहीं। क्रोध उन्हें भी आया, किन्तु वे उसे पीकर रह गये। विनय के स्वर मे ही उन्होंने शव के वार-बार वृक्ष पर जा लटकने का वृत्तान्त सुनाया और विलम्ब की सकारणता स्पष्ट की। योगी भी नीति कुशल तो था। वह सारे किये-धरे पर पानी नही फेरना चाहता था। नरेश विक्रमादित्य ही तो उसकी सिद्धि के हेतुक होने वाले थे। वह उन्हे रुष्ट भला कैसे कर सकता था। अपने स्वर में अतिरिक्त विनय मिश्रित करते हुए योगी ने तव कहा–''क्षमा कीजिये, राजन् ! मैं कुछ अधिक ही उत्तेजित हो गया था। हॉ, ऐसी परिस्थिति में आप भी क्या कर सकते थे। विलम्व होना स्वाभाविक ही है। लाइये अव शव को इधर रख दीजिये।'' योगी ने अपना आसन हटा दिया और शव को उतारने में वह राजा की सहायता करने लगा। शव को यथास्थान स्थापित कर दिया गया तो योगी के संकेत पर महाराज अभिमंत्रित कृपाण हाथ में लेकर सुरक्षित घेरे में जा खडे हुए।

अव योगी ने अपनी प्रक्रियाएँ आरम्भ कीं। सर्वप्रथम तो शव को दो-तीन कलश उँडेलकर स्नान करवाया और तव दूर्वा का आसन रखकर वह शव पर बैठ गया। शवारूढ योगी का स्वरूप एकदम परिवर्तित हो गया। वह रौद्र-प्रचण्ड रूप धारण कर मंत्रोच्चार करने लगा। उसके शवारूढ होने के साथ ही असंख्य [illegible] एकत्र हो गयीं। विकट अट्टहास, चीखों और कराहों का ऐसा तुमुल नाद

होने लगा कि सारा वातावरण ही रौद्र हो गया। ज्यों-ज्यों योगी की मंत्र-प्रक्रिया आगे बढ़ती गयी–इनका उपद्रव भी उग्रतर होता चला गया। अनुष्ठान की रक्षा के लिए तत्पर खड़े राजा विक्रमादित्य रंच मात्र भी विचलित नहीं हुए। उनकी कृपाण का भय ऐसा था कि कोई भी दुष्टात्मा उनकी ओर अग्रसर नहीं हो सकती थी। वे दूर रहकर ही अपना असंतोष व्यक्त करती रहीं। होम में विघ्न पहुँचाने का साहस वे नहीं कर पा रही थीं। प्रचण्डतर रूप में योगी मंत्र प्रक्रिया में लीन था। बीच-बीच में वह आहुतियाँ भी देता जा रहा था और बड़े-बड़े काष्ठ-खण्ड हवन-कुण्ड में डालता जा रहा था। इससे नरेश को योगी की कुत्सित योजना का स्पष्ट आभास लगने लगा था–नर-बलि के लिए साधारण-सी अग्नि तो अपर्याप्त रह जाती। योगी के प्रयास से हवन-कुण्ड की अग्नि अत्यन्त तीव्र हो गयी। चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश व्याप्त हो गया। दूर-दूर तक हवा में ताप फैल गया। बहुत ऊँची ज्वालाएँ लपलपाने लगीं। अनुष्ठान अपने चरम पर पहुँचने वाला है–ऐसा प्रतीत होने लगा। सहसा मंत्रोच्चार थमा। योगी ने अपनी हथेलियों से पलकों को सहलाया, हवन-कुण्ड को प्रणाम किया और शव से नीचे उतर आया।

तत्काल ही सारी प्रेतात्माएँ भी लुप्त हो गयीं। सारा कोलाहल शान्त हो गया। उसी क्षण में एक मदिर मुस्कान के साथ योगी ने तुष्ट दृष्टि से अपने उत्तर-साधक की ओर निहारा और झुककर प्रणाम करते हुए कहा–"राजन् ! मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि आपने इस महान् सिद्धि के लिए मुझे उदारता के साथ इतना सहयोग प्रदान किया। आप महान् हैं, ऐसा परोपकारी युगों-युगों में ही कभी कोई अवतरित होता है।..... अब आप घेरे से बाहर आ सकते हैं। इधर आ जाइये।"

राजा विक्रमादित्य हवन-कुण्ड के समीप पहुँच गये। "अब इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं होगी।"–यह कहते हुए योगी ने उनके हाथों से कृपाण ले ली और सावधानी से उसे अपने झोले में रख दी। "स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति का अनुष्ठान अब सम्पन्न होने जा रहा है, श्रीमान् ! केवल एक अन्तिम चरण शेष रह गया है। यह आपके उपकार क्रम का अन्तिम सोपान होगा। उत्तर-साधक को अन्त में हवन-कुण्ड की तीन प्रदक्षिणा करनी होती हैं। आप देखेंगे कि तब कैसे यज्ञाग्नि से स्वर्ण-पुरुष निकलता है। सिद्धि का यश ही मेरा रहेगा, राजन् ! अन्यथा जैसा मैंने आपको वचन दिया है–स्वर्ण-पुरुष के अधिकारी आप ही होंगे। मैं तो संन्यासी हूँ। मुझे स्वर्ण का क्या करना है !" यह कहते हुए योगी ने घृतपात्र का अवशिष्ट सारा घृत एक साथ होम दिया। ज्वालाएँ प्रबलतर हो उठीं और तब योगी ने नरेश से पुनः आग्रह किया कि वे शीघ्रता करें.... प्रदक्षिणा आरम्भ करें।

इस चरम पर पहुँचकर नरेश को तनिक मानसिक विचलन हुआ, किन्तु ... दमित करते हुए उन्होंने कहा–"योगिराज ! इस अनुष्ठान की अलौकिक ... के द्रष्टा होने के कारण हममें तो मति-विभ्रम विकसित हो चला है। मुझे तो ...

प्रदक्षिणा विधि का भान भी नहीं है—इस समय। आप मार्गदर्शन करें। क्या ऐसा नहीं सम्भव है कि हमारे संग-संग आप भी प्रदक्षिणा करते चलें। हम अनुसरण करेंगे, योगिवर ! आप आगे रहें।"

'संग-संग की प्रदक्षिणा तो संभव है।' कुछ शीघ्रता के साथ सोचते हुए योगी ने कहा—"किन्तु राजन् ! मैं आपके पीछे-पीछे ही चल सकता हूँ। उत्तर-साधक आप हैं न ! आपको ही यह क्रम पूर्ण करना है।"

महाराजश्री ने भी शीघ्रतापूर्वक चिन्तन कर तत्काल इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि योगी पीछे क्यों रहना चाहता है। इससे तो उसको अपनी योजना पूर्ण कर लेने में और भी अधिक सुविधा और सुगमता होगी। राजा विक्रमादित्य ने योगी की युक्ति को स्वीकार कर लिया। महाराज ने प्रदक्षिणा आरम्भ की। हवन-कुण्ड से तीव्र ताप निस्सृत हो रहा था, तथापि आवश्यक हो गया था कि उस कष्ट को भी सहन कर लें, किन्तु प्रदक्षिणा का घेरा छोटा रखें—कुण्ड से दूर न रहें। प्रथम प्रदक्षिणा सम्पन्न हुई और द्वितीय आरम्भ हुई। योगी को सिद्धि की समीपता का असीम हर्ष था। तृतीय प्रदक्षिणा आरम्भ हुई और योगी अपनी योजना-पूर्ति के पक्ष में सावधान हो गया। इस अन्तिम प्रदक्षिणा के समापन पर बड़ी ही त्वरा के साथ महाराज ने अपना सीधा पैर पीछे की ओर बढ़ाकर योगी के पैरों में उलझा दिया। योगी लडखड़ाकर संतुलनहीन हुआ ही था कि अपने सम्पूर्ण लाघव के साथ नरेश पीछे को मुड़े और कंधा पकड़कर योगी को अग्नि में धकेल दिया। भयंकर चीत्कार के साथ योगी भीषण ज्वालाओं में तड़पा और शान्त हो गया। हवन की पूर्णाहुति हो गयी। सर्वत्र शान्ति छा गयी। काष्ठ-दहन की चटचट ध्वनि और धधकती ज्वालाओं एवं पवन के संघर्ष की ध्वनियाँ शेष रह गयीं। अनुष्ठान सफल हुआ। मनुष्य के पूर्णाकार की स्वर्ण प्रतिमा हवन-कुण्ड से प्रकट हुई। यही स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति थी। यज्ञ के अधिष्ठाता देव इसी समय प्रकट हुए और महाराजश्री को आशीर्वाद देते हुए उन्होने स्वर्ण-पुरुष की महत्ता का परिचय दिया—

"राजन् ! यह स्वर्ण-पुरुष एक अद्भुत सिद्धि है। स्वर्ण का अक्षय भण्डार है यह। इस स्वर्ण-पुरुष के तन से जितना चाहें स्वर्ण काटकर उपयोग में लिया जा सकता है। रात्रि में यह प्रतिमा अपनी क्षति की पूर्ति कर भोर में पूर्ववत् हो जाती है, उससे पुनः स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता है। कितनी वार ऐसा किया जा सकता है—इसकी कोई मर्यादा भी नहीं है।" अधिष्ठाता देव कुछ पल के विरामोपरान्त पुनः मुखर हुए—"किन्तु एक वात का ध्यान रखना वहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वर्ण-पुरुष से स्वर्ण की प्राप्ति सूर्योदय से सूर्यास्त के मध्य ही की जानी चाहिए। रात्रि में ऐसा कभी न किया जाना चाहिए।" इन शब्दों के साथ देव अन्तर्धान हो गये।

[illegible] योगी के आश्रम में सिद्धि के साथ राजा विक्रमादित्य एकाकी रह गये [illegible] लाल लपटों-भरे कुण्ड से स्वर्ण-पुरुष प्रकट हुआ था। गगन-मण्डल में

भी रक्ताभ पूर्व दिशा से स्वर्ण-पुरुष प्रकट हुआ। सूर्योदय के साथ ही वन-प्रदेश का सारा वातावरण मनोरम हो उठा। इसी समय एक मधुर हास के साथ आश्रम में अग्निवेताल साकार प्रकट हो गया और बोला–"धन्य हो राजन् ! आपने बड़ी ही त्वरित बुद्धि से युक्ति सोची और बड़ी सक्रियता के साथ उसे पूर्ण कर दिखाया।"

"मित्र वेताल ! हम एक बार फिर तुम्हारे कृतज्ञ हुए। तुम न होते तो आज हमारे प्राणों का शेष रहना असंभव ही था।"

"ऐसा न कहिये मित्र ! सच्ची मित्रता में न उपकार का गर्व आना चाहिए और न ही कृतज्ञता का दैन्य। पारस्परिक हितैषिता की धरती पर ही मैत्री-भवन निर्मित होकर सुदृढ वना रहता है।"

"वेताल ! तुम ऐसा मानकर अपनी मानसिक महानता का ही परिचय दे रहे हो।" सज्जन आत्म-प्रशंसा से तो दूर रहते ही हैं, अन्य जनों द्वारा की जा रही अपनी प्रशंसा से भी संकोच अनुभव करते हैं और विषयान्तर की कामना करने लगते है। वेताल ने भी त्वरा के साथ वार्त्तालाप की दिशा बदली, वोला–"वह योगी कितना ही दुष्ट और नीच क्यों न रहा हो; अपने वचन का तो वह पक्का ही रहा····।"

"·········" मंतव्य न समझकर अवाक् से महाराज जव अग्निवेताल का मुख निहारने लगे तो वह वोला–"उसने कहा था कि स्वर्ण-पुरुष वह आपको दे देगा, महाराज ! सो आपको देकर ही गया।" दोनों मित्रों को इस व्यंग्य पर हँसी आ गयी। वडी देर तक वे हँसते ही रहे। महाराज को स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति तो हुई ही, इस प्रसंग से उन्हे वह प्रेरणा भी मिली कि सदा पर-हित में लगे रहो। पर-अहित के लिए कोई जिन साधनों को निर्मित करता है, वे साधन उसी का विनाश कर देते हैं। इसी समय वेताल ने प्रश्न किया–"इस अक्षय स्वर्ण भण्डार का आप करेंगे क्या, महाराज?"

उत्तर तो पहले से ही महाराजश्री के मन में घूमता जा रहा था। प्रकटतः वे वोले–"इस सम्पदा से व्यापक जन-हितकारी कार्य किये जायेंगे। पंथशालाएँ, कूप, दीनों का भरण-पोषण, अनाथो का पालन, कितनी-कितनी तो योजनाएँ हो सकती है जिनमे इस धन का उपयोग हो सकता है।"

"उपयोग नहीं, महाराज ! यह तो सदुपयोग है।" वेताल ने कहा और अपनी तर्जनी आगे वढाकर कहा–"थामिये महाराज ! उँगली थामिये ···· आँखें वन्द करके।" महाराज ने तर्जनी थामी। वेताल ने स्वर्ण-पुरुष को वगल में दवाया और राजभवन के लिए प्रस्थान किया।

● ●

राजभवन में महाराजश्री ने स्वर्ण-पुरुष की सुरक्षा की सुदृढ़ व्यवस्था करवाई। यह मालव-देश के लिए एक समृद्धिदायक वरदान था जो मालवनाथ विक्रमादित्य के साहस एवं चातुर्य की एक महान् उपलब्धि के रूप में प्राप्त हुआ। महाराजश्री ने राजभवन से प्रस्थान के पूर्व किसी को अपने इस साहसिक अभियान पर जाने की सूचना न दी थी। वे प्रातः उपवन में गये और योगी का अश्व प्रस्थान हेतु तत्पर खड़ा था। वे स्वयं भी अनभिज्ञ थे कि अश्व उन्हें कहाँ ले जायेगा? योगी का आश्रम किस ओर है? ऐसी स्थिति में जबकि उन्हें निस्संग रूप में पहुँचना था– किसी अन्य की कोई अवगति होना स्वाभाविक भी नहीं था। केवल महाराज की अनुपस्थिति से ही यह विश्वास हो गया कि वे अवश्य ही योगी के आश्रम को चले गये हैं।

इस विश्वास ने सम्बन्धित जनों की चिन्ता को और भी बढ़ा दिया था; क्योंकि योगी के रंग-ढंग किसी को भी अच्छे नहीं लगे थे। वह योगी महाराजश्री का छलपूर्वक कोई अहित न करे .... आशंका यही थी। संभव है कि इसी कारण उसने महाराजश्री को एकाकी रूप में आने को कहा हो। सभी शंकित मन के साथ महाराज के अवन्ती लौटने–सकुशल, सुरक्षित पहुँच जाने की कामना कर रहे थे। जो महाराजश्री के जितना निकट था, वह उतनी ही अधिक कठिनाई से रात्रि व्यतीत कर पाया। उदार सज्जनों के प्रति व्यापक लोक सद्भावना एवं हित-कामना सहज स्वाभाविक रहती है। इसके लिए स्वार्थ बुद्धि या अन्य कोई सकारणता अपेक्षित नहीं रहती। महाराज विक्रमादित्य को अपनी राजसभा में भी ऐसी ही सामान्य सद्भावना का अनुभव अपने प्रति हुआ। सव-कोई ही अपने मनोभावों को व्यक्त करने को आतुर प्रतीत होता था। सभी के मन में आँधी के निकल जाने के पश्चात् की शान्ति जैसी स्थिति थी। किन्तु यह आँधी महाविनाश भी तो कर सकती थी। महाराजश्री के शुभ कर्मो का ही प्रतिफल है, मालव-देश के सौभाग्य का ही परिणाम है कि वे सुरक्षित लौट आये हैं। "हमारे महाराजश्री को अपना जीवन जोखिम में नहीं डालना चाहिये। उनका जीवन अकेले स्वयं उन्हीं का नहीं है, उस पर मालव-देश के जन-जन का अधिकार है। यदि कोई अनहोनी हो ही जाती तो हम सभी कहीं के नहीं रहते।" महामात्य भट्टमात्र के मुख से मानो सभी [illegible] के मनोभाव प्रकट हुए। महाराज की प्रतिक्रिया जानने को सभी उत्सुक [illegible] उठे।

"महामात्य ! आपका कथन कदाचित् उपयुक्त ही है, यह हमारे प्रति आप सभी का, प्रजाजन का अपार स्नेह ही है कि हमारे विषय में इतनी चिन्ता रही। यह प्रेम पाकर हम गद्गद हैं, किन्तु किसी भी शासक को जोखिम से बचने के बहाने कायर और कापुरुष हो जाना शोभा नहीं दे सकता। किसी भी शुभ कर्म के साफल्य के लिए साहस एक अनिवार्य और आदि तत्त्व होता है। निर्भीकता ही उसे लोकोपकारक बना सकती है जो शासक की मूलभूत विशेषता है।" महाराज ने अत्यन्त गंभीरता के साथ अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए कहा–

"आप सभी योगी के अनुष्ठान, सिद्धि और स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति के विषय में जानने को उत्सुक होंगे। हम पर क्या बीती यह भी जान लेना चाहते होंगे····।"

"धृष्टता के लिए क्षमा किया जाऊँ, महाराज ! किन्तु इतना अवश्य निवेदन करना चाहूँगा कि उस धूर्त्त योगी का क्या भरोसा···· वह स्वर्ण-पुरुष आपको देता भी नहीं और आप किसी भयंकर संकट में ग्रस्त भी हो जाते···· ऐसा भी तो संभव था।" एक आयु-सम्पन्न, अनुभवी सामंत ने आशंका व्यक्त करते हुए कहा।

"संभव था····? हुआ ही यही है···· बिलकुल यही स्थिति रही।" महाराजश्री ने साँस छोड़ते हुए कहा–"स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति हमें अवश्य हुई है, किन्तु यह योगी के वचन-पालन की परिणाम नहीं है। संकट भी हम पर अति भंयकर बना रहा–प्राणों का संकट।"

महाराजश्री का कथन सुनकर सभी अवाक्-से रह गये। किसी ने कहा–"हम कुछ समझ नहीं पा रहे हैं, श्रीमानेश्वर ! कृपया कुछ····।"

"हम सब-कुछ सविस्तार और स्पष्टतापूर्वक वर्णन करेंगे···· सब-कुछ बता देंगे। वास्तव में वह योगी छलिया ही था, किन्तु जो अहित वह हमारा करना चाहता था–वह स्वयं उसी का हो गया और जो लाभ उसे मिलने वाला था–वह हमें मिल गया। यह सब कैसे हुआ–यह बताने से पूर्व हम एक कथा सुनाना चाहते हैं।"–महाराज कुछ क्षणों के विराम के अनन्तर पुनः मुखरित हुए–"यह एक ऐसा ऐतिहासिक वृत्तान्त है जो योगी वाली इस घटना से सर्वथा साम्य रखता है। जो अन्य जनों की हानि की कामना और प्रयत्न करता है हानि स्वयं उसी को उठानी पड़ती है। पासा पलट जाता है और पर-अहित के लिए निर्मित साधन निर्माता का ही विनाश कर देते हैं–यह तथ्य इन दोनो घटनाओं में समान रूप से मिलता है।"

अवन्तीनाथ महाराज विक्रमादित्य ने एक बार सारी राजसभा पर सभी ओर अपनी दृष्टि दौड़ाई और कथा आरम्भ की–

घटना कदाचित् अति प्राचीन है। चन्दनपुर मे किसी समय में एक धनाढ्य और शीलवती महिला जया रहा करती थी। नियति के क्रूर असमय ही उससे उसका पति छीन लिया था। यही एक विषम दुर्भाग्य

प्रौढ़ा जया के जीवन में थी। इस अभाव के अतिरिक्त कोई अन्य दुःख, कोई पीड़ा नहीं थी। इस साहसी माता ने अपने पुत्र को बड़े जतन से बड़ा किया। पुत्र वीर कुमार भी बड़ा संस्कारशील और मातृ-भक्त पुत्र था। उसने अपनी जननी को ही अपना जीवन सर्वस्व मान रखा था। माँ जया को भी अपनी संतति पर अपार गर्व था। शास्त्रोक्त वचन हैं कि अधम पुरुष केवल तभी तक मातृ-भक्ति का निर्वाह करते हैं, जब तक उनका परिणय नहीं हो जाता, सो यह एक सांसारिक सत्य है। श्रेष्ठी वीरकुमार भी तभी तक माता जया का रह सका, जब तक वीरमती उसके जीवन में धर्मपत्नी बनकर प्रविष्ट नहीं हो गयी। विवाहोपरान्त उसका सारा ध्यान वीरमती में ऐसा लगा कि माँ की सर्वथा उपेक्षा होने लगी। कभी-कभी तो कई-कई दिनों तक अपने पुत्र की वाणी तक उसे सुनने को नहीं मिल पाती थी। तरस जाती थी बेचारी अपने लाड़ले के दरस को। वीर कुमार तीव्र अनुरक्ति से घिर गया।

पुत्रवधू वीरमती का व्यवहार अपनी सासू माँ के प्रति अत्यन्त कर्कश और कठोर था। वह मन-वचन से जया का अपमान करती रहती। बहू का कलह प्राय एकपक्षीय ही रहा करता था। बेचारी माँ तो विवाद को निरस्त करने के प्रयोजन से ही सही—पर शान्त रह जाया करती थी। कारण-अकारण ही वीरमती उसे बुरा-भला कहा करती और मानसिक आघात पहुँचाने में ही उसे एक विचित्र संतोष अनुभव हुआ करता। बेचारी जया का बड़ा बुरा हाल था। दैहिक और दैविक कष्टों से भी कहीं अधिक उत्पीड़क हुआ करती हैं—मानसिक वेदनाएँ। और दुर्भाग्य से उसे इनका ही आखेट बनना पड़ा था। यदि बहू गृह-स्वामिनी का पद पाकर ही संतुष्ट होती हो तो माँ ने सब अधिकार उसे प्रदान कर दिये थे, किन्तु सत्ता पाकर वीरमती नीति-अनीति का भेद भी भूल गयी थी और समस्त मर्यादाओं को लाँघकर वह अपनी सासू माँ को भाँति-भाँति से अपमानित करने में लगी रहती। कभी-कभी तो जया यह सोचने लगती थी कि ऐसी जीवन-लीला का तो पटाक्षेप हो जाना ही श्रेयस्कर है।

कोई पर्व आया। जया ने सस्मित अपनी बहू से कहा—"वह वीर के व्यवसाय-केन्द्र पर जाकर उसे कुछ खाद्य सामग्रियाँ घर पर भिजवाने को कह दे।" सासू माँ ने एक सूची उसे थमाते हुए कहा—"बेटे वीर से कहना कि, कुछ काष्ठ भी भिजवा दे। मैं इस सूची में नहीं लिख पायी। इसकी भी आवश्यकता रहेगी।" वीरमती ने जाकर अपने पति वीर से कहा—"माँ काष्ठ-भक्षण करना चाहती है। आत्म-दाह के लिए उन्होंने काष्ठ मँगवाया है।" ये शब्द कहते समय उसके मुख पर एक सहज मुस्कान फैल गयी जो उसके आन्तरिक आनन्द और संतोष की परिचायक थी। वीर कुमार ने भी इस बात को बड़ी सहजता के साथ लिया। उसे कोई आघात नहीं पहुँचा। सामान्य ढंग से ही उसने भी इसे ग्रहण किया और वह घर लौट आयी।

संध्या समय कुछ विलम्ब से ही वीर घर पहुँचा। सामग्री सारी पहले ही पहुँच चुकी थी। उसने माँ से केवल इतना पूछा—"काष्ठ भिजवाया था—पर्याप्त है न, माँ? तुमने काष्ठ-भक्षण का न जाने क्यों सोचा, किन्तु तुमने कुछ सोच-समझकर ही निर्णय लिया होगा।" माँ जया तो इस कथन से सन्न रह गयी। उसकी त्वरित बुद्धि ने उसे तत्काल जता दिया कि पर्वार्थ मँगाये गये काष्ठ के प्रसंग को बहू ने यह रंग दिया है। वह मेरी मृत्यु की कामना कर रही है। इस रूप में यह कामना पूर्ण न भी हुई तो वह कोई अन्य युक्ति कर लेगी। उत्तम तो फिर यही है कि काष्ठ-भक्षण कर ही लिया जाय। प्रकटतः माँ ने कहा—"हाँ, वत्स ! अब मैंने यही सोचा है। अपने आत्म-कल्याण के लिए····।"

कृतघ्न पुत्र ने अपनी माँ के ऐसे गंभीर कथन को भी गंभीरता से नहीं लिया। उसकी वात भी नहीं सुनी और—"जैसी आपकी इच्छा, माँ !"—कहता हुआ कक्ष से बाहर निकल गया। इस व्यवहार ने माँ को और भी पक्का कर दिया। वह सोचने लगी—'अव इस जीवन का कोई अर्थ भी नहीं रह गया है। मेरा अपना पुत्र भी तो मेरे जीवित रहने की कामना नहीं करता। उसे कुछ दुःख भी नहीं हुआ। उसने औपचारिकतावश भी तो यह नहीं कहा कि नहीं माँ, नहीं, हम तुम्हें ऐसा नही करने देंगे। उसने यह जानने का प्रयत्न भी नहीं किया कि यदि मैं ऐसा चाहती हूँ तो क्यों चाहने लगी हूँ ऐसा? मैं जीवन से उकता क्यों गयी हूँ? क्या कष्ट है मुझे? मैं कहीं उनके व्यवहार से पीड़ित तो नहीं हूँ?' माँ ने अव काष्ठ-भक्षण का निर्णय और सुदृढ कर लिया।

रात्रि जव काफी व्यतीत हो गयी तो वीर कुमार ने सोचा—'माँ को दूर के वन में ले जाकर ही काष्ठ-भक्षण कराया जाना चाहिए। यहाँ तो आसपास के लोग, अपने-पराये एकत्र हो जायेंगे। हमारी निन्दा भी होगी और संभव है कि माँ को काष्ठ-भक्षण करने ही न दिया जाय।' यह सोचकर वह माँ के कक्ष में आया और वोला—"चलो माँ !···· समय हो गया है। तुम्हारी यह इच्छा भी पूरी कर दें।" माँ ने कहा—"समय क्या आ गया, बड़ी देरी हो गयी, वत्स ! मुझे तो वहुत पहले ही काष्ठ-भक्षण कर लेना चाहिये था। माँ की अन्तिम इच्छा को पूर्ण करना ही पुत्र का धर्म होता है।" माँ जया ने 'अन्तिम' शब्द पर कुछ अधिक ही वल दिया और चादर ओढ़कर वह चल पड़ी। वेटा हाथ में उल्का थामे आगे हो गया। वहू वीरमती ने भी अनुसरण किया। चौथे किसी व्यक्ति की अपेक्षा भी नही थी। मध्य रात्रि के कुछ पश्चात् वे वन के कुछ खुले क्षेत्र में पहुँच गये। वहीं वेटे ने माँ के आत्म-दाहार्थ सूखी लकड़ियाँ एकत्र कीं और चिता निर्मित कर दी। माँ स्वेच्छापूर्वक चिता पर शयन कर ध्यान-मग्न हो गयीं। दुर्योग से उसी समय तीव्र पवन आया और उल्का बुझ गयी। अव समस्या आ गयी कि चिता को प्रज्वलित कैसे किया जाय। वीर कुमार ने कहा—"वीरमती ! तुम चिता के पास वैठो, मैं कहीं से ···

ले आता हूँ।" यह कहकर वीर आगे बढ़ा ही था कि पत्नी ने कहा–"नहीं स्वामी ! मुझे अकेले में यहाँ भय लगता है। मैं भी संग चलूँगी। उल्का के बुझ जाने से इस वन प्रदेश में घोर अंधकार छा गया था। वीरमती पति के साथ-साथ चलने लगी।

अब चितारूढ़ जया इस स्थल पर अकेली रह गयी थी। इसी समय उसके मानस में एक युक्ति आ गयी। त्वरा के साथ उसने अपने ऊपर रखे गये काष्ठ-खंडों को धकेलकर हटा दिया और सक्रियता के साथ वह चिता से नीचे उतर आयी। शीघ्रतापूर्वक बिखरे हुए काष्ठ-खण्डों को पुनः व्यवस्थित कर एक बार सभी ओर घूमकर उसने चिता का निरीक्षण कर लिया। सब-कुछ पूर्ववत् हो गया–यह पाकर जया संतुष्ट हो गयी और तब वह समीप के ही एक सघन वृक्ष पर चढ गयी और लुककर बैठ गयी।

माँ जया ने वृक्ष पर से देखा कि उसका पुत्र और बहू कुछ ही पलों में चिता के पास लौट आये, वीर के हाथों में अग्नि भी थी। उसने आकर चिता को प्रज्वलित कर दिया। माॅ ने देखा कि बेटे-बहू ने अंतिम प्रणाम भी नहीं किया; धर्माराधना तो बहुत दूर की बात थी। चिता ने जब अग्नि पकड़ी और वन के उन्मुक्त पवन ने उसे प्रबल कर दिया तो वे उसी वृक्ष के नीचे आकर खड़े हो गये जिस पर माॅ ने आश्रय ले रखा था। दोनों पति-पत्नी परस्पर वार्त्तालाप करने लगे–

वीर–"अच्छा हुआ माॅ की अंतिम इच्छा पूर्ण हो गयी।"

वीरमती–"अच्छा तो हुआ, किन्तु माँ की नहीं मेरी इच्छा पूर्ण हुई है।"

वीर–"वीरमती ! क्या कहती हो ! तुम्हारी इच्छा ?"

वीरमती–"हॉ, मेरी इच्छा थी कि हमारे स्वच्छन्द जीवन में इस बुढ़िया की कोई वाधा न रहे। माॅ की इच्छा ने हमारी इच्छा की पूर्ति कर दी है।"

वीर–"सो तो है ही .... वीरमती न जाने क्यों बूढ़े लोग नाहक इतने-इतने समय तक जीवित रहते हैं।"

वीरमती–"यह उपयुक्त ही रहा कि सासू माँ ने काष्ठ-भक्षण का विचार कर लिया, अन्यथा अव उनका मान-सम्मान ....।"

वीर–"ठीक ही कहती हो तुम। कोई वेचारा कव तक वड़े-वूढों की चिन्ता कर सकता है। इनके विचार भी तो कितने पिछड़े हुए और व्यर्थ के रीति-रिवाजो में बँधे रहते हैं।"

वीरमती–"नवीनता या परिवर्तन तो इन्हें रुचिकर होता ही नहीं। अपनी लीक से हटना तो दूर की वात है, ये तो नव-युवाओं को लीक से हटते भी नहीं देख पाते हैं। फिर आपकी माॅ तो हठी भी कितनी थीं।"

वीर–"हाँ ... जी, उसने तो मेरा जीना ही हराम कर दिया था।"

वीरमती–"आप तो फिर भी बाहर रहा करते हैं। मुझे तो सारा समय घर में निकालना होता है। मेरा क्या हाल हुआ होगा? जरा सोचिये।"

वीर–"अब बीती बातों पर व्यर्थ ही है सोच-विचार करना। माँ ने हम पर यह सबसे बड़ा उपकार किया है कि हमें स्वतंत्र कर दिया।..... अब हम स्वाधीन पंछी की भॉति....।"

वीरमती–"ऐसा तो होना ही था, स्वामी ! वे आत्म-दाह न करतीं तो मैं कुछ अन्य युक्ति करती; पर उस बुढ़िया से तो छुटकारा पाना ही था।"

वीर–"जो भी हो, अब हम-तुम हैं और है हमारा प्यार.... असीम–अपार प्यार। कोई रोकटोक नहीं.... कोई व्यवधान नहीं।"

वीरमती–"अब हम छककर प्यार करेंगे। हमारे जीवन में प्यार-ही-प्यार होगा, प्रियतम !"

वीरमती ने पति को आलिंगनबद्ध कर लिया। वृक्ष पर बैठी मॉ ने दृष्टि घुमा ली। उसने सारी वार्त्ता ध्यानपूर्वक सुनी थी। उससे उसकी अपनी धारणा ही पुष्ट हो गयी थी। कुछ क्षणोपरान्त मॉ ने देखा कि उसका पुत्र अपनी पत्नी की कमर में हाथ डाले धीमे स्वर में बतियाता हुआ चला जा रहा था। वे दोनों क्रमशः अग्रसर होते-होते दृष्टि से ओझल हो गये। वन-प्रान्त में निविड़ नीरवता छा गयी थी। रह-रहकर पवन के झौंके वृक्षों की शाखाओं को झकझोरते हुए कभी ध्वनि कर बैठते थे, तो कभी शृगाल आदि वन्य पशुओं की ध्वनियाँ गूँज जाती थीं। प्रौढा जया अभी भी उस वृक्ष पर आसीन थी। अभी जब तक अंधकार दूर न हो जाय नीचे उतरना सुरक्षित नहीं मानकर वह वहीं बैठी रही। मनुष्य कभी एकाकी नहीं रहता–उसके साथ उसका मन रहता है। वह उसी से बतियाने लगता है। वह आप-आप से कहता है और आप ही आपकी सुनता रहता है। इस सन्नाटे में जया का मानस भी सक्रिय हो उठा और उसका आंतरिक संवाद चलने लगा।

पिछली रात्रि का समय हो गया था। जया को दूर से कुछ लोगों के वार्त्तालाप का स्वर सुनायी दिया। वह चौंक पड़ी। क्या मेरे काष्ठ-भक्षण की चर्चा सुनकर चंदनपुरवासी इधर आ रहे हैं? उसे लगा कि स्वर अधिक स्पष्ट होता जा रहा है। अवश्य ही कुछ लोग इधर ही आ रहे हैं। पर.... ये हो कौन सकते हैं। पथिक तो नही हो सकते.... इस समय वनमार्ग से कौन निकलेगा ! वार्त्तालाप के विषय ने कुछ स्पष्टता ला दी। चर्चा धन, स्वर्ण, आभूषण आदि की चल रही थी। जया ने अनुमान लगाया कि ये चोर भी हो सकते हैं। संभव है कहीं से चोरी करके आ रहे हो। चार चोरों का यह दल चोरी की संपदा का परस्पर विभाजन करने को इस वन मे आया था। यहॉ जलती चिता के आलोक की सुविधा मिली तो दल यहीं रुक गया और सुरक्षित स्थल मानकर चोर उसी वृक्ष के नीचे बैठ गये। एक ने

भारी-सा पोटला खोला और आभूषण आदि फैलाने लगा कि सभी देख लें–कितनी संपदा है। स्वर्ण की दमक से उस अँधियारे में भी प्रौढ़ा जया के नेत्र चुँधियाने लगे। उसी समय जया के मन में ऐसी अन्तःप्रेरणा जागी कि वह जोर-जोर से हुँकार भरने लगी। चोर भयभीत हो गये। "यहाँ चिता जल रही है–मैंने पहले ही कहा था, यहाँ रुकना ठीक न होगा.... यहाँ प्रेत होंगे।"–एक प्रौढ़ चोर ने कहा–"परन्तु मेरी सुनता ही कौन है ! अब भुगतो।" "इसको खाऊँ.... या उसको खाऊँ.... किसको खाऊँ–किसको खाऊँ। जी करता है–सबको खा जाऊँ....। इसको खाऊँ.... या उसको खाऊँ....।" इन शब्दों का चीखते हुए उच्चारण करती हुई वह वृक्ष पर से नीचे उतरने लगी। चोर तो भयंकर रूप से आतंकित हो गये। सभी को कंठावरोध हो गया–कोई एक शब्द भी न बोल सका। पिशाचिनी आ गयी–ऐसा मान सभी थरथराने लगे और भाग खड़े हुए। गिरते-पड़ते वे चिता से दूर–बहुत दूर निकल गये–तभी हाँफते-काँपते हुए रुके।

जया ने नीचे उतरकर देखा कि अनेक मूल्यवान आभूषण है, बहुमूल्य किन्तु सादे वस्त्र भी हैं। उसने सारे धन को पोटले में बाँधा और नदी पर ले गयी। वहाँ उसने स्नान किया और सुन्दर वस्त्र धारण किये। उपयुक्त आभूषण भी धारण कर लिये। स्वर्ण-मुद्राओं की बडी-सी थैली और कुछ चयनित आभूषण अपने साथ लिये और नगर की ओर प्रस्थान किया। भोर अभी भी दूर थी।

अपने भवन तक पहुँचते-पहुँचते भोर का समय होने आया था। उसने द्वार खटखटाया। भीतर से वीरमती ने द्वार खोला और जयाँ को देखकर वह अवाक्-सी रह गयी। वह भीतर तक काँप उठी–"इन्होंने तो काष्ठ-भक्षण किया था–ये कैसे आ गयीं।" उसके मुख से निकला–"सासू माँ, आप !" और उसका मुख खुला-का-खुला ही रह गया। वह थरथर काँपने लगी और उसका मुख विवर्ण हो उठा। वह चीखने ही वाली थी कि जया ने प्रवोधन के स्वर मे कहा–"डरो नहीं, वहू !.... डरो नहीं। मैं तुम्हारी सासू माँ, वीर की माता ही हूँ। चलो.. भीतर तो चलो। सव-कुछ विस्तार से वताती हूँ।"

भीतर जाकर थकित-श्रमित जया वैठ गयी। वीर कुमार भी आ पहुँचा। जया ने प्रेम से पुकारते हुए कहा–"आ जा वीर ! आ, मेरे पास आकर वैठ। अरे वहू ! काष्ठ-भक्षण के वाद तो अद्‌भुत ही रचना देखी। मैं स्वर्ग में पहुँची–इतनी शीतलता.... इतनी शान्ति.... वस, सुख ही सुख है वहाँ।"

"फिर तुम लौटकर क्यों आ गयी माँ ?"–वीर ने पूछा।

इन्द्रदेव ने मुझे बहुत सम्मान दिया। ये वस्त्रालंकार दिये और विमान में बिठाकर मुझे यहाँ भेज दिया। अभी-अभी तो लौटकर गया है स्वर्ग का वह विमान। अरे हॉं.... ये आभूषण बहू तेरे लिए दिये हैं।" मॉं ने आभूषणों की पोटली खोलकर वीरमती को दी। वीरमती की तो ऑंखें खुली-की-खुली रह गयीं–"अरे वाह !!"

"और मेरे लिए, माँ ! .... क्या मेरे लिए....?"

"दिया है बेटे ! दिया है.... तेरे लिए भी दिया है। तू उतावला बहुत हो जाता है रे !" मॉं ने थैली उसे थमाते हुए कहा–"ले, ये स्वर्ण-मुद्राएँ तेरे लिए हैं।"

हथेली पर रखकर भार का अनुमान करते हुए वीर कुमार बोला–"इतनी स्वर्ण-मुद्राएँ !" और उसके नेत्रों का आकार बढ़ता चला गया। "मॉं, तब तो तुमने काष्ठ-भक्षण का विचार कर बहुत उत्तम काम किया है, माँ !"–वीर कुमार ने प्रसन्नतापूर्वक कहा।

"सासू मॉं ! एक बात तो बताइये।" उत्साहित होकर वीरमती ने पूछा–"क्या कोई सुन्दरी, सुहागिन नवयुवती स्वेच्छा से काष्ठ-भक्षण करे तो उसे भी इन्द्र देवता उपहार देते हैं?"

"क्यों नहीं बहू !.... यदि काष्ठ-भक्षण का विचार आते ही, तत्काल ऐसी स्त्री वैसा कर ले तो देवराज और अधिक प्रसन्न होते हैं। उसे तो आठ गुना अधिक उपहार मिलता है, बहू ! उसका त्याग भी कितना अधिक होता है।" मॉं ने समझाते हुए कहा।

"तब तो मैं भी काष्ठ-भक्षण करूँगी, माँ ! अवश्य करूँगी।"–बहू ने सोत्साह कहा।

"किन्तु तेरे पति की अनुमति भी तो हो.... वीर का क्या कहना है?"

"अरे माँ ! पुण्य के मार्ग पर चलने से किसी को रोकना भी पाप होता है।" –वीरकुमार ने कहा–"मैं भला, पाप का भागी क्यों बनूँ?" वीरमती यदि काष्ठ-भक्षण करना ही चाहती है तो प्रसन्नता से करे.... इसमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती है !"

माँ, पुत्र और पुत्रवधू–तीनों इस निश्चय से प्रसन्न थे। वीरमती के नेत्रों में सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालंकार नाच रहे थे तो वीर कुमार के कानों में स्वर्ण-मुद्राएँ खनक रही थीं। जया के लिए प्रसन्नता का कारण रहस्यमय ही रहा। प्रकटतः उसने कहा–"मेरे पुत्र के घर में सम्पदा आये, बहू को पुण्य-लाभ मिले–इससे बढ़कर मेरे लिए आनन्द का अन्य विषय कोई क्या होगा ! सबका कल्याण हो....!!" माँ ने दोनों हाथ जोड़कर कपाल पर लगा लिये। उसके नेत्र स्वतः ही निमीलित हो गये और होंठ इष्ट-स्मरण में थरथराने लगे।

उसी वन के उसी स्थल पर निर्मित चिता में बहू वीरमती ने उसी रात्रि में काष्ठ-भक्षण कर लिया। आगामी प्रातः ही अत्यन्त उत्सुकता के साथ वीर कुमार उपहारों के साथ वीरमती की प्रतीक्षा करने लगा। लौटकर वह नहीं आयी और धूप चढ़ आयी तो चिन्ता के स्वर में उसने जया से पूछा—

"माँ ! क्या बात हुई ? वीरमती अभी तक लौटकर नहीं आयी !"

"अरे मेरे अबोध बच्चे ! अब वह लौटकर कभी नहीं आयेगी। यह तो ऋतुएँ ही हैं जो जा-जाकर भी लौट आती हैं; अन्यथा जैसे सरिता का जल एक घाट से आगे निकल जाने पर उस घाट पर लौटकर नहीं आता, वैसे ही मरण को प्राप्त प्राणी भी कभी नहीं लौटता, वत्स !" माँ ने समझाकर कहा।

माँ का कथन सुनकर वीर कुमार को भारी आघात पहुँचा। शोक-संतप्त हृदय के साथ वह रुदन-क्रन्दन करने लगा। माँ ने प्रबोध दिया—"शोक को त्याग, मेरे वत्स ! वीरमती तुझे कुमार्ग पर धकेल रही थी। तेरी सारी नैतिकता और मर्यादाओं को भ्रष्ट कर तुझे अधर्मी बना रही थी। मैं तेरा विवाह ऐसी कन्या से कराऊँगी जो तुझे धर्म और सुकर्म की प्रेरणा देगी। जो घटित होता है वह चाहे तात्कालिक रूप से कितना ही अनिष्टकारी लगे, किन्तु अन्ततः शुभ परिणाम का दाता ही होता है। अपने मन को स्थिर करो—धैर्य से बढ़कर दुःखी जनों का अन्य कोई साथी नहीं हो सकता।

महाराज विक्रमादित्य ने वृत्तान्त समाप्त करते हुए कहा कि यह सत्य है कि जैसा बोओगे, वैसा ही काटोगे। इस कथा जैसा ही हमारे साथ भी घटित हुआ है। वह योगी हमें होमाग्नि में झौंककर स्वयं स्वर्ण-पुरुष प्राप्त कर लेना चाहता था। हुआ इसका विलोम ही। योगी जलकर भस्म हो गया और हमें स्वर्ण-पुरुष की प्राप्ति हुई। निष्कर्ष-प्रतिपादन के पश्चात् महाराजश्री ने सविस्तार सारी घटना का वर्णन किया।

● ●

अवन्ती की वैभवपूर्ण राजसभा। अमात्य जन, सामन्तगण, प्रतिष्ठित नागरिक, कलाविद्, विद्वज्जन आदि यथास्थान विराजित। सिंहासनारूढ़ महाराज विक्रमादित्य का व्यक्तित्व आज कुछ अतिरिक्त आकर्षक और प्रभावशाली प्रतीत हो रहा था। नेत्रों की दमक और मुख-मण्डल की असाधारण चमक; सस्मित, अरुण

अधर और मुक्तावली-सी दन्त-पंक्तियाँ, उन्नत भाल और प्रशस्त वक्ष उनके व्यक्तित्व के अलौकिक रूप को प्रतिष्ठित कर रहा था। विभिन्न कला-प्रदर्शनों और ज्ञान-चर्चाओं के अनन्तर अब याचना-अनुरोध का क्रम आरंभ होने वाला था। पूर्व परम्परा में परिवर्तन कर महाराजश्री ने यह नवीन व्यवस्था करा दी थी कि जिन परिवादों पर राजसभा में खुलेआम चर्चा कराने से लोग संकोच करते हों—उन पर अभाव-अभियोग-निवेदन राजसभा के अतिरिक्त राजभवन में भी किया जा सकता है। ऐसे अनेक प्रसंगों में लोग महाराजश्री से भेंटकर राजभवन में ही निर्णय करवा लिया करते थे—वहीं उनके परिवादों का निवारण हो जाता था। तात्पर्य यह कि जनता को न्याय पाने के मार्ग में किसी व्यवधान का सामना नहीं करना पड़ता था। सच्चा और अच्छा शासक अपने शासितों के लिए सदा सुलभ रहता है, वह सभी को भेंट करने के लिए प्रेरित—उत्साहित करता है और वह उनकी प्रत्येक उपयुक्त अपेक्षा को सुविचारित ढंग से पूर्ण भी कर देता है। सामान्य व्यवस्था के प्रसंग अब भी राजसभा में ही प्रस्तुत होते थे। वहीं नीतियाँ बनती थीं। वहीं आम लोग अपनी आम समस्याओं का निदान पाते थे। जब राजसभा का अपना आन्तरिक क्रम सम्पन्न हुआ तो प्रतिहारी महाराजश्री के समक्ष उपस्थित हुआ और नमनपूर्वक बोला—"मालवनाथ की जय हो ! ···· सदा विजय हो !! आज एक ही प्रार्थी द्वार पर खड़ा है जो श्रीमानेश्वर के दर्शनों का अभिलाषी है। वह प्रौढ़ कोई आगंतुक परदेसी प्रतीत होता है, पृथ्वीनाथ ! आज्ञा हो तो··· ।"

महाराजश्री ने हाथ उठाकर अनुमति प्रदान करते हुए कहा—"आगंतुक सज्जन को सादर ले आया जाय।"

कुछ ही क्षणों में एक भव्य व्यक्तित्व वाला सज्जन पुरुष आकर खड़ा हो गया और उसने महाराज को आशीर्वाद दिया—"मालवनाथ की जय हो ! आपका यश और गौरव सदा अभिवर्धित होता रहे—पुण्यशीलता और परोपकारिता विकसित होती रहे। आपके शासनकाल में प्रजा सुखी रहे और देश प्रगति करे। आपकी सदा विजय हो····।"

आशीर्वादात्मक मंगल कामनाओं के इस क्रम ने सभी सभासदों को प्रभावित किया। इसमें जो मौलिकता और नवीनता थी, महाराज विक्रमादित्य भी इससे प्रसन्न हुए—वे वास्तव में अपना यही स्वरूप जो चाहते थे। यह प्रथम ही अवसर था, जब उन्हें किसी ने ऐसी आशिष दी थी। उन्होने अन्तर से प्रेरित होकर आगंतुक को नमस्कार किया, शीश झुकाया और कहा—"हम कृतार्थ हुए।"

आगंतुक के रूप-वैभव पर सभी की दृष्टि टिक गयी। गौर वर्ण, श्याम केश, लघु आकार की सुन्दर मूँछें, विशाल, आभायुक्त नयन, नाक-नक्श पैने, मझोला कद और सामान्य देह यष्टि—योग रूप में वह सज्जन रूपवान और असाधारण

प्रतीत होते थे। श्वेत परिधान में वे और भी आकर्षक लग रहे थे। भट्टमात्र महामात्य भी इस छवि से बड़े आनन्दित हुए। इस अनुभूति से सायास मुक्त होते हुए उन्होंने कहा–

"महाशय ! अवन्ती की राजसभा में आपका स्वागत है। कृपया अपना परिचय स्वयं प्रस्तुत कीजिये और फिर अपनी याचना.... अपना परिवाद....।"

"श्रीमन् ! मेरी कोई याचना नहीं.... कोई परिवाद भी नहीं.... मेरी तो एक भावना है। वैसे मैं एक यायावरी चारण हूँ, महाराज ! देवकीर्ति नाम है मेरा।" आगंतुक ने अपने विषय में कथन आरम्भ किया। "मैं देश-देश में भ्रमण करता हूँ और जन-जीवन को देखता-समझता रहता हूँ।"

महामात्य भट्टमात्र भी अन्य जनों की भाँति जिज्ञासु हो गये थे–"चारण देवता ! फिर आपके आगमन का प्रयोजन?"

"वह भी निवेदन करता हूँ"–चारण देवकीर्ति ने कहा–"मैंने निवेदन किया था कि एक भावना लेकर ही मैं उपस्थित हुआ हूँ। इसी प्रकार विचरण करते-करते कुछ दिनों पूर्व में प्रतिष्ठानपुर गया था। महाराज शालिवाहन का सुशासन है वहाँ। राजमहिषी विजया भी मातृवत् स्नेह अपनी प्रजा को देती हैं। सुकोमला नाम की उनकी राजकन्या है जो अनिंद्य, सुन्दर, अत्यन्त मृदुल और नृत्य-गानादि कलाओं में पारंगत है। सत्रह वर्षीय उस राजपुत्री की अलौकिक सुन्दरता तो अनिर्वचनीय है। शतदल से नयन, पाटल से अधर, चन्द्रमा-सा मुख-मण्डल, लतिका-सी लचक, कम्बु-सी ग्रीवा और सिंह-सा कटि-प्रदेश–उस गजगामिनी का रूप-लावण्य कोई रसज्ञ कवि भी कदाचित् शब्दों में नहीं ढाल सकेगा। किन्तु....।"

महाराजश्री जैसे शब्द-चित्र के दर्शन अपने मनःचक्षुओं से करते जा रहे थे–उसी रूप-सागर में निमग्न होते जा रहे थे। चारण देवकीर्ति के सहसा रुक जाने पर उन्हें एक आघात-सा लगा। वे पूछ बैठे–"किन्तु क्या चारण देवता.... किन्तु क्या? आप रुक क्यों गये?"

"किन्तु पृथ्वीनाथ ! उस रूपवती, गुणशीला राजकन्या में एक अति विकट दोष है और वह दोष उत्तरोत्तर प्रबल होता जा रहा है।"–चारण ने कथन किया और वे महाराज की प्रतिक्रिया जानने को उनका मुख निहारने लगे। उन्होंने मौन उत्सुकता प्रकट की और अपनी समग्र चेतना संकलित कर आगामी कथन की प्रतीक्षा करने लगे। इसी समय महामात्य बुद्धिसागर ने प्रश्न किया–"दोष?.... कैसा दोष चारण देवता ! ऐसी रूपवती में कोई दोष....?"

"हाँ, श्रीमन् ! दोष भी है और वह भी साधारण नहीं.... बड़ा भयावह [illegible] वह नर-द्वेषी है।" चारण ने सार-रूप में कहा।

अब तो महाराजश्री मुखरित हुए–"नर-द्वेषी? हम कुछ समझे नहीं चारण देवता ! तनिक स्पष्ट कीजिये।''

राजकुमारी सुकोमला को सारी पुरुष जाति से घृणा है, अवन्तीनाथ ! वह किसी पुरुष को नहीं देखती। यदि कोई पुरुष भूल से भी उसके प्रासाद के समीप पहुँच जाता है तो वह उसका वध करवा देती है। अब तक शताधिक बार वह ऐसा कर चुकी है। उसके अपने भाई भी .... अर्थात् राजकुमार भी उसके प्रासाद में प्रवेश नहीं कर पाते। साहस ही नहीं है उनमें। केवल उसके पिता महाराज शालिवाहन ही अपवाद हैं।''

"तब तो महाराज शालिवाहन बड़ी विकट समस्या में ग्रस्त हैं।''

"अत्यन्त दुःखित हैं महाराज ! आरम्भ में तो प्रबोधन के कोटिश: प्रयास किये गये, किन्तु जब सभी प्रयास असफल रहे तो मुख्य राजभवन से पृथक् नगर के बाह्य भाग में स्थित एक प्रासाद में उसे भेज दिया गया। इस एकान्त स्थल पर उसे किसी पुरुष की झलक भी नहीं मिलती। इस भवन में सुरक्षाकर्मी भी महिलाएँ ही हैं। बिल्ली जैसी आँखों वाली मर्जरा देवी इस भवन की मुख्य रक्षिका है। इसे इस भवन की ओर अग्रसर होने वाला पुरुष बड़ी दूर से दिखायी दे जाता है और भवन में प्रवेश पर तो वह उसे जीवित ही नहीं छोड़ती। उसका मरण सर्व निश्चित है, महाराज ! किसी पुरुष की अज्ञानता या भूल भी क्षम्य नहीं मानी जाती। ऐसी प्रचण्ड रुष्टता है राजकुमारी सुकोमला की–नर-जाति के प्रति। इसी कारण वह नर-द्वेषी कहलाती है।''

"किन्तु ....'' महाराजश्री ने कुछ सोचते हुए कहा–" .. राजकन्या सुकोमला के मन में ऐसा तीव्र रोष क्यों है, चारण देवता !–पुरुषो के प्रति ? कारण क्या हो सकता है?''

"प्रतिशोध, महाराज ! तीव्र प्रतिशोध का भाव ही इसका मूल कारण है।'' चारण देवकीर्ति ने कहा–"जब राजकन्या सात वर्ष की हुई तो संयोग से उसे जातिस्मरण का ज्ञान हो गया। परिणामतः राजकुमारी को अपने विगत छह जन्मो का ज्ञान हुआ। दुर्योग ही है यह कि उसे प्रत्येक जन्म मे अपने पति से दुर्व्यवहार और अत्याचार ही मिला। इस ज्ञान ने उसके मन मे पुरुषो के प्रति प्रबल रोष उत्पन्न कर दिया। उसी की प्रतिक्रिया में राजकुमारी नर-द्वेषिणी हो गयी है। अब तो वह किसी पुरुष के विषय में चर्चा भी नही सुनती। कोई स्त्री उसके समक्ष पुरुषो का नाम भी नहीं लेती।''

महाराज विक्रमादित्य यह वृत्तान्त सुनकर विचारलीन हो गये। चारण देवकीर्ति ने अपना कथन अविराम रखा–"प्रतिष्ठानपुर मे इस दास ने जब उस [illegible] देखी, श्रीमानेश्वर ! तो वडा विचित्र-सा अनुभव हुआ। मेरा मन इस नारी को इस

प्रचण्डता से बड़ा दुःखित हुआ। मैंने निश्चय कर लिया था कि इस विकट विद्वेष से राजकुमारी सुकोमला को मुक्त करने का मैं प्राण-पण से प्रयास करूँगा। मैंने इस विषय पर पर्याप्ततः चिन्तन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कोई पुरुष.... महापुरुष ही सुकोमला का उद्धार कर सकता है। मृत्यु के भय को त्यागकर जो साहस के साथ प्रयत्न करे—अपने बुद्धि-कौशल का उपयोग करे, वही इस महान् कार्य में सफल हो सकता है।"

"आपने ऐसे किसी पुरुष की खोज नहीं की?"

"वही... तब से मैं निरन्तर वही खोज कर रहा हूँ, राजाधिराज ! वही कर रहा हूँ।"—चारण ने निवेदन किया—"मैं, तब से मैं अनेक राजधानियों की यात्रा करता रहा। राजा-युवराजों से भेंट की। किसी में इतना साहस, पराक्रम और बुद्धि-वैभव नहीं पाया। प्रत्येक राज्य से मैं निराश होकर ही लौटा। आज इस राजसभा में प्रवेश करते ही मैं आशाओं से घिर गया, श्रीमान् ! आपश्री के प्रथम दर्शन से ही मैं आश्वस्त हो गया। आपश्री ही इस महान् पुण्य के भागी हो सकते हैं, प्रभो ! यही मैंने आरम्भ में निवेदन किया था कि मैं तो याचना नहीं; एक भावना लेकर उपस्थित हुआ हूँ। मुझे प्रसन्नता है कि आज मैं एक उपयुक्त स्थल पर पहुँचा हूँ। आपश्री द्वारा ही मेरी भावना की पूर्ति संभव है।"

"हूँ.... हम विचार करेंगे, चारण देवता !.... आपकी भावना उत्तम है। हमें देखना है कि हम उस भावना के लिए कितनी पात्रता रखते हैं।" महाराज ने चिन्तन-मुद्रा के साथ कहा।

"आप सर्व सामर्थ्यवान हैं, श्रीमानेश्वर ! आपश्री के लिए कुछ भी अशक्य नहीं है। यह वस्तुतः महान् पुण्य-कर्म होगा आप पुरुष जाति की रक्षा तो कर ही लेंगे, एक नारी का भी उसके विकट विकार से उद्धार कर सकेंगे। आपश्री से मेरी अनुनयपूर्ण विनय है, पृथ्वीनाथ ! इस महान् कार्य का वीड़ा उठाइये और परोपकारशीलता के अपने गौरव को दृढ़तर कीजिये।"

"हमने सोच लिया, चारण देवता ! हम संकल्प करते हैं कि राजकुमारी सुकोमला को हम विकार-मुक्त कर देंगे। पुरुषों के प्रति उसके विद्वेष को हम मैत्री में परिवर्तित कर देंगे—यह हमारा वचन रहा।" महाराज विक्रमादित्य ने दृढ़ मनस्कता के साथ कहा—"हमें आत्म-विश्वास है कि इस कार्य में भी हम सफल रहेंगे—चाहे कितना ही कठिन क्यों न हो यह।"

महाराज के संकेत पर एक रजत थाल में एक लक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ लेकर प्रतिहारी उपस्थित हुआ। महाराज ने थाल का स्पर्श कर कहा—"चारण देवता ! यह मालव-राज्य की ओर से अपने अतिथि के लिए साधारण-सी भेंट है। कृपया स्वीकार कर हम पर अनुग्रह कीजिये।"

प्रतिहारी तब तक चारण देवकीर्ति के सम्मुख पहुँच गया था। चारण ने थाल को स्पर्श किया और महाराजश्री को प्रणाम किया। तत्काल ही उन्होंने मुट्ठी बाँधकर एक हाथ ऊपर उठाया और मुट्ठी खोली—असंख्य स्वर्ण-मुद्राओं का प्रवाह आरम्भ हो गया और सप्त कोटि स्वर्ण-मुद्राओं का ढेर हो गया। इस चमत्कार से सभी उपस्थित जन आश्चर्यचकित रह गये। यह क्या.... इतनी मुद्राएँ। सभी स्वर्ण-वर्षा को ही अपलक दृष्टि से देखते रह गये—स्वयं महाराजश्री भी। मुद्राओं की धारा धीमी होते-होते जब थमी तो उनका ढेर कटि-समान ऊँचाई तक पहुँच गया। "यह मालव-देश के लिए उपहार है।"—मेघ-गंभीर ध्वनि में जब राजसभा में ये शब्द गूँजे तो सभी की दृष्टि चारण देवता की ओर गयी, पर वहाँ चारण देवता न थे। वहाँ तो भव्य रूप में एक देव खड़े थे। आकृति तो वही, किन्तु वेश-भूषादि सर्वथा परिवर्तित.... शिरस्त्राण के स्थान पर एक सुन्दर किरीट था, अरुण उत्तरीय और पीत अधोवस्त्र, कंठ में मूल्यवान आभरण और कानों में स्वर्ण-कुंडल—बड़ा ही भव्य और दिव्य रूप।

महाराज और समस्त उपस्थित जनों ने देव को प्रणाम किया। सभी को मंगलमय आशिष देते हुए देव ने हाथ उठाया और महाराज को सम्बोधित करते हुए कहा—"हमने स्वर्गलोक में भी आपकी धर्मशीलता और न्यायप्रियता की साहस और प्रजा-वत्सलता की चर्चा सुनी थी। तब से हे नृपति ! आपके दर्शनों की कामना रही। इसी हेतु से हम पृथ्वीलोक में आये। प्रतिष्ठानपुर में राजकुमारी सुकोमला के विषय में ज्ञात हुआ तो कामना जागी कि राजन् ! आपसे ही उसके उद्धार हेतु निवेदन किया जाय। आपको हमने वैसा ही पाया है, जैसा आपके विषय में हमने सुना और कल्पना की थी। आपके वास्तविक स्वरूप को देख सकें—इस प्रयोजन से ही हमें चारण रूप धारण करना पड़ा। आप धन्य हैं, राजन् ! पृथ्वीलोक में ऐसे शासक शताब्दियों में ही कभी अवतरित होते हैं। हम आप पर अतिशय प्रसन्न हैं। राजन् ! माँगिये.... आप क्या माँगना चाहते हैं?"

"आपके दर्शन से ही हम कृतार्थ हो गये, देव !" महाराज ने मुस्कराते हुए करबद्ध निवेदन किया—"हम सच्चे क्षत्रिय हैं। माँगना हमारा धर्म नहीं। वैसे हमे आपकी कृपा के अतिरिक्त और चाहिये भी क्या !" महाराजश्री सहज भाव से मुस्कराने लगे।

"हम प्रसन्न होते हैं तो प्रसन्नता के पात्र को दान नहीं, उपहार देते हैं। उपहार ग्रहण करने मे किसी को भी आपत्ति नहीं होती। आपने देवता के दर्शन किये हैं इसका सुफल भी आपको स्वाभाविक रूप में मिलना चाहिये।" देव ने यह कहते हुए एक लघु स्वर्ण-मंजूषा महाराज को भेंट की—"यह गुटिका हम आपको भेंट करते है, राजन् ! यह रूप परिवर्तनकारी गुटिका है जिसकी सहायता से आप जब

चाहे तब अपना अथवा किसी अन्य का मनचाहा रूप बना सकते हैं और जब चाहें अपने मौलिक रूप में भी लौट सकते हैं। महाराज ने उपहार ग्रहण किया और कृतज्ञता-ज्ञापन हेतु मुस्कराते हुए देव को निहारने लगे कि सहसा देव लुप्त हो गये। राजसभा में अचरज-भरा सन्नाटा छाया रहा। बड़ी देर तक सभी आत्म-लीन साधक-से बैठे रह गये।

× × ×

महाराज विक्रमादित्य का मन भी चंचल हो उठा। चारणरूपी देव द्वारा राजकुमारी के सौन्दर्य का जो वर्णन किया गया था—वे शब्द उनके कानों में गूँजते रहते थे। उन शब्दों से महाराजश्री के मन में जो चित्र उभरा था, उसकी स्थायी स्थापना-सी हो गयी थी। उनके मनःचक्षु उसी चित्र का सतत दर्शन करते रहते और वे मुग्ध भाव से, आत्म-लीन होकर खोये-से बैठे रह जाते। मित्र अग्निवेताल ने राजकुमारी सुकोमला का एक चित्र भी महाराजश्री को सुलभ करा दिया था। उसे उन्होंने सहेजकर रख लिया था। जैसा सुना था—चित्रदर्शन में राजकुमारी का रूप-लावण्य उससे कहीं बढ़कर मिला और उन्हें विश्वास था कि जैसा रूप चित्र में दर्शित हुआ है उससे कहीं बढ़कर साक्षात् भेंट में मिलेगा। उस सौन्दर्य-सागर मे अवगाहन करने को महाराजश्री का चित्त मचलने लगा था। अति उत्कट कामना थी—राजकुमारी सुकोमलता का सान्निध्य पा लेने की। दरस-सुख ने परस-सुख की प्रेरणा को जाग्रत और उद्दीप्त कर दिया। वे अव राजकुमारी के पूर्व-राग में ऐसे ग्रस्त हो गये थे कि मिलन के पूर्व ही वे वियोगानल में दग्ध होने लगे।

महाराज अपनी प्रेम-पीर को व्यक्त करने में संकोच भी करते थे और ऐसा होना स्वाभाविक भी था, वे न[illegible]ा जो थे ! अपने अन्तरंग मित्र भट्टमात्र से उन्होंने अपना अन्तर व्यक्त करने का विचार भी किया, किन्तु प्रत्येक वार आन्तरिक झिझक व्यवधान वनी। राजमहिषी कमलावती तो महाराज की अर्द्धागिनी थीं। उनसे महाराज का आन्तरिक उद्वेलन भला कैसे छिपा रहता। वे पतिदेव की मानसिक असामान्यता का अनुभव कुछ दिन मन-ही-मन करती रहीं; अन्ततः उन्होंने एक दिवस तो पूछ ही लिया कि महाराज को क्या कष्ट है? क्या समस्या है? सर्व सामर्थ्यवान होकर भी वे किस अभाव के कारण अशान्त और व्यग्र प्रतीत होते हैं? यह प्रोत्साहन पाकर महाराजश्री को कुछ अच्छा लगा। उन्होंने तव इधर-उधर देख, आश्वस्त होकर कुछ धीमे स्वर में कहा—"अव आपसे क्या छिपाना है, राजरानी ! वास्तविकता यह है कि जव से हमने प्रतिष्ठानपुर की राजकन्या की चर्चा सुनी है— हम उसे प्राप्त करने को लालायित हो उठे हैं। उस रूप-राशि को हम अपना वना लेना चाहते हैं। किन्तु....।"

"किन्तु क्या महाराज !....आप रुक क्यों गये?" महारानी ने जानना चाहा [illegible] उसमें क्या है?

"किन्तु यह कि ···· हमें आपकी प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा का विचार भी तो आता है। आपको भला अन्य रानी ·····!"

"आप इसका विचार न कीजिये, स्वामी ! हमें स्वीकार्य होगा कि आप सुकोमला को भी अपनी रानी वनायें। भूपतियों के रनिवास तो भरे ही पड़े रहते हैं। मुझे आत्म-विश्वास है कि इस नव-विवाह से भी आपके-हमारे पारस्परिक अनुराग भाव को कोई हानि न होगी। आपका सुख, आपकी प्रसन्नचित्तता मेरे जीवन का परम और चरम लक्ष्य है। आप मेरे कारण कोई संकोच न कीजिये। वस, वात यही है कि ··· ।" राजरानी कमलावती की वाणी मंथर होते-होते विराम पर आ गयी और महाराज भी इससे सहसा चौंक उठे। चिंतित मुद्रा में बोले– "क्या वात है, राजरानी ! आप सकुचा क्यों रही हैं–बात क्या है?"

"वात वहुत बड़ी है, नाथ !"

"कितनी ही बड़ी क्यों न हो ! आप निस्संकोच उसे प्रकट करें। ज्ञात तो हो हमें। अन्त की वात क्या है?"

"हम इस वात को वड़ी इसलिए मानते हैं, स्वामी ! कि इसका सम्बन्ध एक नर-द्वेषिणी राजकुमारी से है।" और अधिक चिन्ता को अपने नयनों में साकार करती हुई महारानी ने कहा–"वह किसी पुरुष को देखती भी नहीं है। उसके प्रासाद में कोई पुरुष प्रवेश नहीं कर सकता। यदि कोई प्रवेश कर भी जाय तो वह जीवित वाहर नहीं निकल सकता। ऐसी राजकुमारी को आप ····।"

"राजरानी ! इसकी चिन्ता आप त्याग ही दें। इस कार्य के लिए जितना साहस अपेक्षित है–हममें उसकी अपेक्षा अनेक गुना साहस है। साहस और शक्ति की अपेक्षा भी वुद्धि-चातुर्य की अधिक आवश्यकता है और इसमें भी हम पीछे नहीं हैं। ऐसा न होता तो इस कार्यार्थ चारण देवता ने हमारा चयन क्योंकर किया होता।"

महाराज के इस तर्क ने महारानी को कुछ आश्वस्त किया–"हॉ, यह वात तो है, किन्तु हम हमारे सौभाग्य के साथ कोई खिलवाड नहीं चाहतीं।" रानी कमलावती ने सुरक्षा को महत्ता देते हुए कहा–"वडी तपस्या के अनन्तर हमने आपको पाया है–हम कोई जोखिम ····।"

"आप निश्चिन्त रहें, राजरानी ! कोई जोखिम नहीं है। हम युक्तिपूर्वक कार्य करेंगे। साहस और युक्ति से तो मनुष्य सर्प को भी पकड लेता है और वनराज सिंह को भी पिंजरे मे वद्ध कर अपने अधीन कर लेता है–वह नर-द्वेपिणी हुई भी तो क्या–है तो एक वाला ही। हमें विश्वास है; हम अवश्य विजयी होंगे।"

"विश्वास तो हमें भी है कि विजय आपकी ही होगी ···· परन्तु क्या करें नारी-हृदय सदा शंकित रहता है।"

"शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं है, प्रिये ! आप हमारी असुरक्षा का भय अपने मन से निकाल दें। हमने पराभव का मुख कभी देखा ही नहीं है—अब भी····।"

"किन्तु वह नर-द्वेषिणी तो किसी पुरुष को जीवित छोड़ती ही नहीं है। आप कैसे उससे भेंट करेंगे? भेंट किये बिना क्या····।"

"आपकी चिन्ता स्वाभाविक है, प्रियतमे ! बहुत स्वाभाविक है, किन्तु सकारण नहीं। वह नर-द्वेषिणी है और हमें उसकी इसी द्वेषाग्नि को शान्त करना है। यही तो हमारा संकल्प है। हमने इसी प्रकार पुरुष जाति के कल्याण का बीड़ा उठाया है। धर्माराधना और पवित्र शुभ भावना हमारे इस संकल्प-पूर्ति में सहायक रहेगी।"

"यह भी सत्य है, महाराज ! किन्तु यह विवाह का प्रसंग कैसे फिर बीच में आ गया?"

"जब तक राजकुमारी सुकोमला का विवाह नहीं हो जायेगा, तब तक उसका नर-द्वेष सदा के लिए और पूर्णतः शान्त नहीं हो पायेगा। उसके नर-द्वेष-निवारक महायज्ञ की पूर्णाहुति परिणय के रूप में होगी और तब शान्ति की सिद्धि प्राप्त हो सकेगी—सारा पुरुष समाज सुरक्षा से लाभान्वित हो सकेगा।"

कनखियों से देखते हुए तब राजरानी ने कहा—"सुन्दरी-प्राप्ति का यह बड़ा सुन्दर वहाना है। परोपकार की अपेक्षा रूपाकर्षण ही तो अधिक प्रेरित कर रहा है न आपको।" और तब लघु मुस्कान के साथ वे अधर को दाँतों में दबाकर अधोमुखी हो गयीं। मानो मुस्कराहट चबायी जा रही हो।

"कदाचित् यह भी सत्य कथन ही है आपका। रूप तो राजकुमारी का असीम ही नहीं; लोकोत्तर भी है। यह देखिये····।" महाराज ने राजकुमारी का चित्र हाथ मे थामे, अपनी राजरानी को दिखाया।

"अरे वाह ! अति सुन्दर।" राजरानी कमलावती की आँखें फटी-की-फटी रह गयीं। लाइये हमें देखने दीजिये।"—चहकते-से स्वर में रानी कमलावती ने हाथ आगे वढ़ाते हुए कहा। महाराजश्री ने छकाते हुए अपना हाथ पीछे को हटा लिया। रानी ने हाथ जव और आगे वढ़ाया तो त्वरा के साथ महाराज ने अपना हाथ ऊपर—वहुत ऊपर को उठा दिया। रानी ने चित्र छीन लेने का प्रयत्न किया और इसी प्रयास में वे महाराज के समीपतर हो गयीं। महाराज ने राजरानी के दोनों हाथ अपने एक हाथ से दृढ़ता के साथ पकड लिये और चित्र उनकी आँखों के आगे लाते हुए बोले—"देख लीजिये राजरानी ! रूप और लावण्य की इस राशि को भली प्रकार से देख लीजिये। है आपमें ऐसा सौन्दर्य?" महाराज ने उन्हें [illegible] हुए कहा।

इस व्यस्तता का लाभ उठाते हुए महारानी ने अपना सीधा हाथ मुक्त करा लिया और कोमलता किन्तु तत्परता के साथ उन्होंने चित्र हस्तगत कर लिया। "अनुपम सुन्दरता है, महाराज ! इस रूप-राशि पर आपका न्यौछावर हो जाना भी स्वाभाविक ही है। अब हम समझीं उस राजकुमारी के वियोग में आप इतने पीडित क्यों हैं?" अपनी भीतर से उठकर आ रही मुस्कान को सायास छिपाते हुए उन्होंने कहा—"इस लावण्य पर तो कामदेव भी मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। रति बेचारी की क्या ताकत कि राजकुमारी सुकोमला की समता कर सके।"

महाराज अपनी रानी के एक-एक शब्द को ध्यानपूर्वक सुनते जा रहे थे। वे उनके मनोभावों को ताड़ लेना चाहते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने प्रश्न कर दिया— "हमारी राजरानी को ईर्ष्या तो न होगी इस रूप-सौन्दर्य पर?" और वे अपनी प्रेयसी के नेत्रों में झाँकने लगे जो मुग्ध भाव से अर्द्ध-निमीलित हो चित्र को निहार रहे थे।

उन्होंने तभी गद्गद कंठ से कहा—"ईर्ष्या भला क्यों होगी हमें !.... हम तो वलिहारी जायेंगी उस पर.... वास्तविकता तो यह है कि हमारे मालवाधिपति के रनिवास की शोभा ही होना चाहिये इस राजकुमारी को। पर.... भला आप इसे प्राप्त भी कर सकेंगे....?"

"क्यों न कर सकेंगे ! हम प्राप्त करके ही रहेंगे, राजरानी ! क्या आपको इसमें कोई संदेह है?"

"हाँ, सो तो है ही।"

"यदि है.... तो आपका संदेह मिथ्या है।"

"कितना अच्छा हो कि वह मिथ्या ही हो, किन्तु यथार्थ यह है कि वह राजकुमारी नर-द्वेषिणी है.... वह भला आपको....।"

"यह चिन्ता त्याग दीजिये, राजरानी ! जहाँ वल से सफलता की संभावना न हो, वहाँ कल का प्रयोग करना होता है और उसमें भी हम पीछे नहीं हैं। आपकी सहमति हमारे लिए सबसे बड़ी प्रेरणा है। प्रेरणा किसी कार्य की सिद्धि मे वहुत वड़ी शक्ति का काम करती है। प्रेरणा उत्साह को जाग्रत करती है और उत्साह साफल्य का जनक होता है। अव हम शीघ्र ही प्रतिष्ठानपुर की ओर प्रस्थान करेगे।" यह कहते हुए महाराज विक्रमादित्य उठ खड़े हुए। उन्हें अपने भीतर अपूर्व ऊर्जा का संचार अनुभव होने लगा। वे सस्मित प्रेयसी को निहारने लगे और मन-ही-मन सोचने लगे—'हमारी राजरानी वड़ी उदार हैं, महान् हैं। विना किसी दुर्भाव के इन्होने राजकुमारी के सौन्दर्य का यथार्थ आकलन किया—उसकी सराहना की है। कम ही नारियाँ ऐसा कर सकती हैं। और जव एक नारी अन्य नारी के रूप-लावण्य की प्रशंसा मुग्ध भाव से करती है तो उस रूप के श्रेष्ठ होने में कोई सदेह शेष ही नही रह जाता।' तभी परिचारिका ने आकर सूचना दी कि महामात्य

भट्टमात्र विश्राम-कक्ष में प्रतीक्षा कर रहे हैं। महाराज रानी से विदा होकर सोत्साह चल पड़े।

"हमने निश्चय कर लिया है···· राजकुमारी सुकोमला को हम नर-द्वेष से मुक्त करके ही रहेंगे और एक दिन उसे अपनी बनाकर अवन्ती ले आयेंगे।" महाराजश्री विश्राम-कक्ष में बैठे अपने अन्तरंग मित्र भट्टमात्र से बतिया रहे थे। उनके स्वर में दृढ़ता और मुख-मण्डल पर सुनिश्चय का भाव था।

"प्रतीत होता है, राजन् ! आप रूपासक्ति में ग्रस्त हैं। इस आसक्ति के परिणाम के विषय में भी आपने सोचा है?" महामात्य ने धैर्य के साथ पूछा।

"दृढ़ निश्चय परिणाम की चिन्ता नहीं किया करता, मित्र !"

"किन्तु प्रत्येक सौन्दर्य भी ग्राह्य नहीं हुआ करता है। कितना लचीला, स्निग्ध और चमकीला होता है—नाग···· असीम सुन्दर, किन्तु वह स्पर्श के भी परे की वस्तु है। देखकर ही लोग भयभीत हो जाते हैं, राजन् ! इसी प्रकार का सौन्दर्य नहीं है···· राजकुमारी का क्या···· घातक और विषैला?"

"किन्तु सर्प चाहे कितना ही घातक क्यों न हो···· मनुष्य ही युक्ति और प्रयास द्वारा उसे निर्विष भी कर देता है और अपने आधीन भी। हमें भी राजकुमारी का विकार दूर करना है···· उसका नर-द्वेष दूर कर उसे हम अपनी रानी बनाएँगे।"

"उसे प्राप्त करने की कामना आत्म-हत्या के विचार के समान है, महाराज ! वह किसी पुरुष को जीवित नहीं छोड़ती····।"

"ज्ञात है···· हमें ज्ञात है। सज्ञान होकर ही उसकी प्राप्ति की कामना करते हैं, मित्र भट्टमात्र ! यदि कोई युक्ति सफल न होने और मरण की आशंका है···· तो अव उसके अभाव में जीवित रहना भी तो शक्य नहीं है। दोनों ओर मरण की स्थिति हो तो प्रयत्न पक्ष को अपनाकर जीवन की संभावना का वरण ही विवेक-संगत है। हम अभियान पर जायेंगे···· अवश्य जायेंगे।"

"जव इतना दृढ विचार है तो सफलता भी आपके चरण स्पर्श करेगी···· अवश्य करेगी, राजन्····! मुझे इसका सकारण पक्का विश्वास है और मुझे एक सूत्र भी हाथ लगा है।"

"सूत्र?···· कैसा सूत्र? मित्र !"

"महाराज ! मैंने अपने प्रयत्न पक्ष की रूपरेखा सोची है। राजकुमारी सुकोमला कलात्मक अभिरुचि की हैं। वे नृत्य-गान में प्रवीण हैं और संगीत के क्षेत्र में आपकी गति भी असाधारण है। संगीत के माध्यम से ही राजकुमारी को सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। मृग और नागों को नाद से वशीभूत किया जा सकता है, [illegible] !"

चमत्कृत से हो गये महाराज विक्रमादित्य–"मित्र ! तुमने यह माध्यम वडा सुन्दर खोज निकाला है।"–कहते हुए उन्होंने भट्टमात्र को कंधे से पकडकर झकझोर दिया–"धन्य हो तुम ! और धन्य है तुम्हारी बुद्धि !!"

"यही नहीं, महाराजश्री ! हमने इसके लिए एक सक्षम स्रोत भी खोज निकाला है।"

"वह···· वह क्या, भट्टमात्र?"

अवन्ती में दो गणिकाएँ हैं–दोनों सगी बहनें हैं–मदनमाला और कामकेलि। ये नर्तकियाँ नृत्य-गान की कला के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं–कला-सिद्ध हैं राजन् ! हमे इन्हें अपने पक्ष में करना चाहिये। इनकी ज्येष्ठा बहन रूपमाला प्रतिष्ठानपुर की राजगणिका है, राजन् ! वही राजकन्या सुकोमला को नृत्य-संगीत की शिक्षा भी देती है।"

"यह स्रोत तो बड़ा ही सशक्त है, मित्रवर ! ऐसा सुयोग तो सौभाग्य से ही मिलता है। यह हमारे भावी साफल्य का पूर्व संकेत है। हम इसी आचरण-पथ का अनुसरण करेंगे।" आश्वस्त होते हुए महाराजश्री ने कहा–"और तुम्हारा कथन भी सर्वथा अविचारणीय तो नहीं है–जोखिम इसमें निश्चित रूप से है···· किन्तु उस जीवन में रस ही नहीं, जिसमें जोखिम का अंश सम्मिलित न हो। यह जीवन ही अनिश्चित अस्तित्व का है···· क्षण-भंगुर है, फिर जोखिम से क्या भय !" महाराज ने निश्चिन्तता के साथ कहा–"राजप्रासाद में भी जीवन हमारा सर्वथा सुरक्षित तो नहीं···· फिर प्रयत्न करते रहने····।"

"अव इन बातों का समय निकल गया महाराज ! अव ये अविचारणीय हो गयी हैं। अब तो नव-निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहने में ही विवेकशीलता है। प्रत्यावर्तन की प्रवृत्ति प्रगति-पथ में वाधक ही सिद्ध होती है। उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहना सफलता के लिए शुभकर है।"

"तुम उचित ही कहते हो, भट्टमात्र ! अव हमे इस अभियान मे जुट जाना चाहिये। तुम दोनों नर्तकियों को संदेश भेज दो। तुम हमारे संग रहोगे। हमारा अन्य मित्र अग्निवेताल भी साथ रहेगा। कल सूर्योदय के साथ ही हम प्रस्थान करेंगे। शीघ्र ही हम प्रतिष्ठानपुर पहुँच जाना चाहते हैं।" महाराज ने व्यवस्था दी।

"जैसी आज्ञा, महाराज····! किन्तु प्रतिष्ठानपुर तक का मार्ग वहुत लम्बा है।" भट्टमात्र ने संयमित स्वर में निवेदन किया–"तीव्रतम गति भी न्यूनतम एक माह की अपेक्षा रखेगी, श्रीमन् !"

"फिर वेताल मित्र किस दिन के लिए है···· है?"

दोनों मित्रों के अधरों पर सहज हास प्रस्फुटित हो गया और इस निर्मल हास का उजास वातावरण में व्याप्त हो गया। महाराज एक सुखद स्थिति का अनुभव करने लगे। उनके अन्तर में एक विशेष प्रकार की निश्चिन्तता बन गयी थी।

× × ×

संध्या समय मदनमाला और कामकेलि दोनों गणिकाएँ राजभवन में उपस्थित हो गयीं। महाराजश्री को नमनपूर्वक प्रणाम कर वे नतशिर खड़ी रह गयीं। महाराजश्री को तो ऐसा प्रतीत होने लगा मानो इन्द्रलोक से उर्वशी और रंभा ही पृथ्वी-तल पर उतर आयी हों। वे प्रशंसा-भरे हृदय को वश में करने का प्रयास कर ही रहे थे कि तभी मानो कोकिल कूक उठी। महाराजश्री के कर्णेन्द्रिय में मानो अमृत वर्षा-सी करती हुई मदनमाला बोली—"हम आपश्री की सेवा में उपस्थित हैं, श्रीमानेश्वर ! क्या आदेश है?"

अपने मुग्ध भाव को नियंत्रित करते-से महाराज विक्रमादित्य ने कहा—"तुम-जैसी रमणियों का सान्निध्य पाकर अवन्ती धन्य हो उठी है, ललनाओ ! हमें गर्व है, तुम्हारी कमनीयता और तुम्हारी कला पर। तुम मालव-देश की गौरव हो !"

"हम कृतार्थ हुईं, कृपावतार !"—दोनों नर्तकियाँ सहज भाव से एक साथ वोल उठीं। यदि हम आपश्री की कोई सेवा कर सकें तो इस अधम जीवन की भी कुछ सार्थकता बने। आज्ञा कीजिये, महाराज !" आग्रह-भरे स्वर में कामकेलि ने माधुर्यपूर्वक निवेदन किया।

"हमें तुम दोनों से बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। तुम्हें हमारे साथ प्रतिष्ठानपुर चलना होगा। हम कल सूर्योदय के समय ही अवन्ती से प्रस्थान करेंगे। सुना है कि वहाँ तुम्हारी वहन भी कोई है !"

"है महाराज ! हमारी अग्रजा रूपश्री दीदी प्रतिष्ठानपुर में ही निवास करती हैं और उनका कलाकार के रूप में तो अच्छा मान-सम्मान है ही, राजं-परिवार पर उनका अच्छा प्रभाव भी है। राजकुमारी सुकोमला देवी तो उन्हें वहुत चाहती-मानती हैं। उनके उद्यान-स्थित आवास पर दीदी प्रतिदिन गायन-नर्तन हेतु जाती भी हैं।"—मदनमाला का कथन सुनकर महाराजश्री का उत्साह अनेक गुना अभिवर्धित हो गया।"

"हमें प्रतिष्टानपुर की राजकन्या से ही प्रयोजन है, देवियो ! अच्छा है कि तुम लोगों का सम्पर्क किसी रूप में उनसे है। इसमे हमें सहायता रहेगी।" —महाराजश्री ने संयत रूप में कहा।

"अवश्य महाराजश्री !.... हम प्रतिष्टानपुर आती-जाती ही रहती हैं.... दीदी के यहाँ।"—मदनमाला ने कहा—"आपश्री की सेवा से हमें अतिशय प्रसन्नता होगी।"

[illegible] ने भी योग दिया—"रूपश्री दीदी की सहायता भी सुलभ रहेगी,

करुणावतार ! हम राजकुमारी के विषय में भी विस्तार से सब-कुछ जानती हैं और आपश्री के प्रयोजन से भी महामात्य जी ने हमें अवगत करा दिया है। आपश्री निश्चिन्त रहें...... आप निश्चित रूप में सफल-काम होंगे—हमें पूर्ण विश्वास है।"

"ऐसा विश्वास तुम्हीं लोगों ने सर्वप्रथम व्यक्त किया है। हम इसके लिए आभारी हैं।"—महाराजश्री ने आदेश दिया कि प्रवास की तैयारी करो। तुम्हें ही बड़े कौशल के साथ सब-कुछ सम्पन्न करना है। अच्छा ! अब तुम जा सकती हो।"

नर्तकियों के प्रस्थान के अनन्तर महाराजश्री ने अग्निवेताल का स्मरण किया और वह तत्काल प्रकट हो गया। महाराजश्री ने उसे सारी बात बताकर आगामी भोर में उनके साथ प्रस्थान करने का आग्रह किया। अपने मित्र नरेश के लिए वह तो अपनी समस्त शक्तियों और क्षमताओं के साथ सदा तत्पर रहा ही करता था। तदनन्तर महाराज ने महामात्य बुद्धिसागर को बुलवाया और कहा—

"आप मालव-देश के गौरव हैं, महामात्य जी ! आपके कार्यकलापों में आपका नाम सार्थक हो जाता है। आपने जीवन और जगत् का गहन अनुभव प्राप्त किया है। लोक-व्यवहार एवं राजनीति में भी आप कुशल हैं। आगामी कुछ दिनों के लिए हम अपने दायित्व, राज्य-व्यवस्था आपके इस कौशल और अनुभवशीलता को सौंपकर निश्चिन्त हो जाना चाहते हैं। आपको सारी व्यवस्थाएँ संचालित करनी होंगी। चाहें तो अपनी सहायतार्थ नगर-श्रेष्ठी के नेतृत्व में पाँच प्रबुद्ध जनो की एक समिति भी आप गठित कर लें। हमारी प्रजा की सुख-सुविधा हमारे जीवन का परम लक्ष्य है—हमारी समस्त क्रियाशीलताओं का लक्ष्य ही यही है, महामात्य जी ! प्रजा के सुख और राज्य की सुरक्षा हमारी अनुपस्थिति में भी यथावत् वनी रहे-- इसी कामना के अधीन यह प्रभार हम आपको सौंप रहे हैं। आप पर हमारा अविचल विश्वास है। नरेश-विहीन मालव-राज्य का संचालन आप जिस नीतिज्ञता और निपुणता के साथ अतीत में एक दीर्घ अवधि तक करते रहे हैं—उसके लिए आप इतिहास द्वारा सदा स्मरण कराये जाते रहेंगे। यह एक संक्षिप्त कालावधि पुनः प्रस्तुत हो गयी है, मंत्रीवर !"

"आप निश्चिन्त रहें, श्रीमानेश्वर ! आपका यह जन निष्ठा और दायित्व भावना के साथ राज्य-संचालन में लगा रहेगा और आपश्री की अनुपस्थिति की प्रतीति जनता को होने नहीं देगा। आपने जो आस्था और विश्वास मुझमे व्यक्त किया—मैं उससे धन्य हो गया हूँ, कृपावतार ! कृतज्ञ हूँ मै। आश्वस्त रहिये राजन ! मै अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति में अपने संपूर्ण कौशल और क्षमता का उपयोग करूँगा— इसमें कोई कृपणता नहीं वरतूँगा। एक वार फिर से राजवंश के लवण का मोल निष्ठा की मुद्रा मे अदा करने का अवसर आया है तो मैं भी चूक नहीं करूँगा—आप निश्चिन्त होकर पधारें, महाराज ! अपने अभियान पर आपको इस वार भी विजय और गौरव प्राप्त हो !!"

महाराजश्री और महामात्य बुद्धिसागर दोनों ने ही अपने-अपने दीर्घ कथनों द्वारा अपने मनोभावों को भलीभाँति प्रतिपादित किया और इनसे पारस्परिक आस्था एवं आश्वस्तता विकसित हुई।

"हमें आपसे यही आशा थी, महामात्य जी ! आप-जैसे कुशल एवं नीतिज्ञ प्रशासकों का अवलम्ब पाकर ही कोई राज्य निश्चिन्त रह सकता है।" महाराज यह कहते हुए स्वस्थ मन और स्फूर्त्त तन के साथ अपने आसन से उठ खड़े हुए। "अवन्तीनाथ की जय हो .... सदा विजय हो !!"—महामात्य बुद्धिसागर ने नमनपूर्वक प्रणाम किया। इसी समय परिचारिका कक्ष में प्रवेश कर दीप प्रज्वलित करने लगी। वातायन से सांध्य पवन आकर अपने शीतल स्पर्श का सुख वितरित करने लगी। दीपक की शिखा का मान रखते हुए पवन ने अपनी गति में कोमलता और मंथरता बरती। महाराज का उत्तरीय हौले-से लहराने लगा। अपने दोनों हाथों से कुंचित केश-राशि को व्यवस्था देने का प्रयास करते हुए महाराजश्री धीर चरणों से आगे बढ़े और कक्ष से बाहर हो गये।

× × ×

तीव्रगामी अश्वों पर आरूढ़ महाराज विक्रमादित्य का अभियान-दल प्रतिष्ठानपुर की ओर अग्रसर होता चला जा रहा था। लक्ष्याभिमुख इन सभी के मन में गंतव्य-स्थल पर शीघ्र पहुँच जाने की तीव्र कामना, गति में क्षिप्रता—सव-कुछ था, किन्तु लक्ष्य—प्रतिष्ठानपुर तो मृग-जल की भाँति दूर-से-दूर होता चला जा रहा था। ये जितने आगे वढ़ते .... मंजिल उतनी ही मानो पीछे खिसक जाती थी। अश्व लपक-लपककर रास्ता समेटने में लगे रहे, किन्तु रास्ता था कि द्रौपदी-चीरवत् अनन्त हो रहा था। सर्वाधिक व्यग्रता तो मालव-नरेश के मन में थी। वन-ग्राम-नगर पार करते हुए दल आगे वढ़ता चला गया। यह तृतीय संध्या थी। भट्टमात्र ने वताया कि हमारे अश्व चाहे कितने ही तीव्रगामी क्यों न हों, हमें अभी मालव-सीमा के पार भी नही कर पाये हैं। वन-मार्ग समाप्त हुआ। पशुओं का समूह घर लौटता मिला। सहज अनुमान हुआ कि कोई वडी वस्ती समीप ही है। ग्राम में प्रवेश करते हुए कामकला ने अपना मंतव्य प्रकट करते हुए कहा—"इसी ग्राम में रात्रि-विश्राम उपयुक्त रहेगा।" मदनमाला ने भी समर्थन किया—"यही उपयुक्त रहेगा। आज की यात्रा अव स्थगित रखी जाय।" दोनों नारियों की वाणी से ही उनका श्रमजन्य शैथिल्य प्रकट होने लगा था। भट्टमात्र ने भी इनकी अवस्था देखकर इनके सुझाव को विचारणीय माना। निदान, रात्रि-विश्राम यहीं करने का निश्चय कर लिया गया। धर्मशाला में प्रवेश करते हुए अग्निवेताल ने अपना उत्तरीय कांधे पर डालते हुए कहा—"यों चले तो .... प्रतिष्ठानपुर तक की यात्रा एक माह का समय ले लेगी।"

"चल तो रहे हैं, वेताल जी ! अव जो समय लगना है वो तो लगेगा ही। आप इसे कम कर सकते हैं क्या?" मदनमाला ने व्यंग्य किया।

"ये वेताल हैं, बहना ! जो चाहें कर लें ... इनका क्या?" कामकेलि ने कटाक्ष किया और कनखियों से वेताल को निहारते हुए वक्र मुस्कान देने लगी।

भट्टमात्र और महाराजश्री कुछ आगे-आगे चले जा रहे थे। अग्निवेताल ने इस संवाद को अति सहजता से लिया और बोला—"जैसे हम वेताल नहीं हुए कोई जादूगर हो गये ... ऐं?" और जोर से हँस पड़ा। दोनों नर्तकियों ने भी इस हास में योग दिया। भट्टमात्र का ध्यान भी आकर्षित हुआ। वह पीछे मुड़कर देखने लगा। हँसी भी संक्रामक रोग-सी होती है। एक के हास के प्रभाव से समीपस्थ अन्य जन भी हँस पडते हैं—अकारण ही। भट्टमात्र भी मुस्करा दिया।

धर्मशाला की अश्वशाला में अश्व विश्राम करने लगे। उनके दाना-पानी की व्यवस्था हो गयी। भोजनादि से निवृत्त होकर पाँचों प्रवासी भी विश्राम करने लगे। अग्निवेताल को परिहास सूझा—"बहनो, थोड़ा विश्राम कर लो। एक घटिका मे हमे यहाँ से प्रस्थान करना है।"

"ना .... ना ..... भैया ! अब नहीं। अब भोर में ही देखेंगे।"

"भोर किसने देखी है। भोर तक तो हमें प्रतिष्ठानपुर के समीप पहुँच जाना है।"

"वाह ! यह खूब रही। वेताल भैया क्या उडाकर हम सभी को प्रतिष्ठानपुर पहुँचा दोगे?"

"अब जैसे भी हो .... आज रात्रि में भी यात्रा तो करनी ही होगी, देवियो ! जितना भी रास्ता कटे ... अच्छा ही है। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते अभी वहुत समय लग जायेगा।" वेताल ने प्रबोधन के स्वर में कहा।

"किन्तु अभी तो हम बहुत थक चुकी हैं ...।"

"तो क्या हुआ ! .... तुम्हें पता भी न चल पायेगा कि हम यात्रा भी कर रहे हैं। हमारे अश्व ही ऐसे उत्तम है।"

वात करते-करते ही दोनों वहनें कव निद्राधीन हो गयीं—स्वयं उन्हें भी ज्ञात न हो सका। उधर भट्टमात्र भी सो गये। महाराज को लेकर वेताल वाहर आ गया। धर्मशाला के प्रांगण में खड़े दोनों मित्र परस्पर वार्त्तालाप करने लगे। चाँदनी छिटक रही थी और मंद पवन का प्रवाह वड़ा सुखद अनुभव हो रहा था। कुछ समय वाद दोनो कक्ष मे प्रविष्ट हुए। महाराज ने शयन किया, किन्तु वेताल के नयनों में नींद नहीं थी। दायित्व-वोध मनुष्य को जाग्रत रखता है—उसकी निद्रा तो ऐसे मेघो के समान होती है जिसे कर्त्तव्य-पवन उड़ा ले जाती है।

● ●

"मित्र, अद्भुत है माया तुम्हारी ! ऐसी क्षमता है तुम्हारी .... अविश्वसनीय तथ्य .... हम पाँचों और हमारे अश्व ... सभी पलक झपकते में कोसों की यात्रा कर यहाँ पहुँच गये .... विचित्र है, वेताल !" महाराज की आँखें फटी की फटी ही रह गयीं।

"....................."

"यहाँ से कितना दूर है प्रतिष्ठानपुर ...... ? हम कहाँ आ गये हैं?"

"यहाँ से कोई पाँच कोस दूर रह गया है आपके सपनों का नगर, महाराज ! अभी भी भोर दूर है। आप तनिक विश्राम कर लें। महामात्य जी और दोनों नर्तकियाँ भी गहन निद्रा में हैं।"

"ये इस उड़ान में चौंके भी नहीं ! क्या .....?"

"मैंने इन पर प्रगाढ़ निद्रा का प्रयोग कर दिया था, स्वामी ! इन्हें कुछ ज्ञात नहीं कि ये कहाँ से कहाँ और कैसे पहुँच गये। ..... अभी ये देर तक सोये रहेंगे .....।"

"जब जागेंगे तो इन्हें अद्भुत लगेगा न .... ये विश्वास न कर पायेंगे कि हम प्रतिष्ठानपुर के इतने समीप पहुँच गये हैं। हमारे शुभ कर्मों का ही प्रतिफल है, वेताल ! कि हमें तुम्हारा सम्बल सुलभ हुआ है।" महाराजश्री ने कहा और भाव-विभोर दृष्टि से वे अपलक रूप में अपने मित्र को निहारते रह गये।

"यह सुरम्य कानन है, स्वामी ! हमारे अश्व यहाँ उन्मुक्त वातावरण में विश्राम कर रहे हैं। आप भी शयन कर लीजिए, तब तक मैं वन-विहार कर आता हूँ।"

"किन्तु अभी .... इस समय ....।"

"आप तो जानते ही हैं, स्वामी ! मैं रात्रि में ही आहार ग्रहण करता हूँ। यह वन भी फलों से लदा हुआ है। निकट ही शुद्ध शीतल जल से भरी सरिता है।"

"अच्छा .... अच्छा ! तुम जाओ। खूब वन-विहार करो, किन्तु भोर से पूर्व ही लौट आना।"

"जी, महाराज ... !" अग्निवेताल देखते ही देखते लुप्त हो गया।

मदनमाला की आँख खुली तो स्वयं को वन में पाकर आश्चर्यचकित रह गयी। सोचने लगी–'हम कहाँ आ गये? धर्मशाला में सोये थे हम तो .... यह सुन्दर-सा वन ... ।' एक क्षण तो उसे ऐसा लगा कि कहीं वह स्वप्न तो नहीं देख रही।

उसने त्वरा के साथ अपनी पलकें मलीं और देखा कि समीप ही अश्व भी विचरण कर रहे हैं। महाराज और भट्टमात्र भी वही हैं। उसने झकझोरकर कामकेलि को जगाया—"अरे.... देख-देख... हम कहाँ आ गये ! यह क्या माया है? अरी देख तो.... उठ ना.... अरे उठ भी जा।"

कामकेलि उठी तो उसे भी अपनी दृष्टि पर विश्वास न हुआ—"यह क्या है री, मदना ! कौन स्थल है री, यह ! वह धर्मशाला कहाँ रह गयी.... हम रातोंरात यहाँ कहाँ पहुँच गये री !"

"यही तो मैं भी सोचूँ, कौन-सी जगह है ये? अग्निवेताल कहता था.... विनोद कर रहा था कि भोर होते-होते हम प्रतिष्ठानपुर जा पहुँचेंगे। कहीं उसी ने तो यह....।"

"संभव है, मदनमाला !... ऐसा ही कुछ हो। उसने अपना विनोद ही सच कर दिखाया हो। वेताल के लिए भला असंभव क्या है ! हाँ?"

तभी समीप खड़ा मुस्कराता अग्निवेताल उन्हें दिखायी दे गया। वह दोनों बहनों की इस विचित्र स्थिति का आनन्द ले रहा था। उसकी मुख-मुद्रा से स्पष्ट झलकता था, मानो वह अपनी किसी करतूत को छिपाकर निरीह बन रहा हो। कामकेलि ने चुटकी ली—"वेताल भैया, तुम तो कहते थे कि तुम कोई जादूगर थोड़े ही हो ! .... हाँ? यह जादू नहीं तो और क्या है?"

भोला बनता हुआ वेताल बोला—"क्या हुआ है? मैंने भला क्या कर दिया?"

"कुछ नहीं किया... तुम भला कर ही क्या सकते हो, हैं? हम यहाँ आ कैसे गये—यदि तुमने कुछ किया न होता ! बोलो....।"

"अरे, यह तो हमने एक छोटा-सा चमत्कार किया है।"

"अच्छा-अच्छा, यह छोटा-सा है तो तुम्हारा बड़ा चमत्कार न जाने कैसा होगा, भाई !" कामकेलि चहकी।

"वह भी तुमने चाहा तो देखने को मिल जायेगा। अभी तो आरंभ ही हुआ है....।" अग्निवेताल मुस्कराने लगा।

भट्टमात्र को जब ज्ञात हुआ कि हम प्रतिष्ठानपुर के समीप पहुँच गये हैं तो उसका मानस सक्रिय हो उठा। उसे आगामी योजना को रूपायित करना था। महाराजश्री के साथ विचार-विमर्श कर वह किसी निश्चय पर पहुँचा और मनन करने लगा। जब सूर्य काफी ऊँचा चढ़ आया तो सभी प्रातः कर्म से निवृत्त होकर आगामी यात्रा हेतु तत्पर हो गये थे। कुछ ही पलों में वे अश्वारूढ होकर चल पड़े। कोई दो-तीन कोस चलने पर ही उन्हें सामने से आते हुए गोपालक और गायों के अनेक समूह मिले। स्पष्ट था कि नगर समीप ही है। कुछ ही आगे बढ़ने पर उन्हें उच्च अट्टालिकाओं के शिखर दृष्टिगत होने लगे। तभी मदनमाला ने कहा—"यहीं

प्रतिष्ठानपुर है। हम पहुँचने ही वाले हैं। वार्त्तालाप के दौरान ही कामकेलि ने बताया कि वे इस नगर में अवन्ती से अनेक बार आई हैं, किन्तु इतना कम समय तो कभी भी नहीं लगा। दोनों बहनें इस नगर से भलीभाँति परिचित थीं। उन्होंने अपने अश्व आगे कर लिये। नगर-बाह्य उद्यान आने पर यही निश्चय हुआ कि अश्वों का त्याग कर दिया जाय। वे पैदल ही आगे बढ़े और मुख्य प्रवेश-द्वार से नगर में प्रविष्ट हो गये।

नगर समृद्धिशाली है–इस तथ्य का संकेत भवनों और नगरवासियों को देखकर भलीभाँति हो जाता था। बड़ी सुन्दरता के साथ नगर को बसाया गया था। मार्ग प्रशस्त एवं एकदम स्वच्छ थे। स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे उद्यान थे। कलात्मकता के साथ आवासों को सज्जित किया हुआ था। महाराज विक्रमादित्य को इस नगर में धर्मप्रियता के भी अनेक चिह्न दिखायी दिये। इससे उनके चित्त में विशेष प्रकार की प्रफुल्लता का संचार हुआ। भट्टमात्र ने मदनमाला से पूछा–"हम किस ओर चल रहे हैं?"

उत्तर में उसने बताया–"पहले हम रूपश्री दीदी के आवास पर चलते हैं। उनका भवन इसी मार्ग पर कुछ आगे है।" कुछ रुककर वह बोली–"वहीं पहुँचकर दीदी के साथ मिलकर अगली योजना बना लेंगे। वे राजकुमारी से भेंट करने में हमारी सहायता भी करेंगी।"

"यह तो ठीक है। उन्हीं की सहायता हमारे लिये महत्त्वपूर्ण रहेगी भी; किन्तु पहले हम क्यों न राजकुमारी के एकाकी प्रासाद की ओर चलें !" महाराजश्री ने कहा–"उस प्रासाद का अवलोकन कर लेने पर हमें एक अनुमान हो जायेगा जो उपयोगी रहेगा।"

भट्टमात्र ने इस विचार का समर्थन किया। तभी मदनमाला ने कहा–"इसी मार्ग से राजकुमारी सुकोमला के आवास की ओर भी जाया जा सकता है। चलिये, पहले उधर को चलते हैं।" कुछ ही दूर चलने पर मदनमाला रुकी और बोली–"हमें उस भवन के लिए इस नगर-द्वार से बाहर निकलना होगा और यहाँ से सीधे चलें तो कुछ दूरी पर ही दीदी का आवास आ जाता है।" सभी लोग नगर प्राचीर में बने इस द्वार से बाहर निकल आये। नगर के बाहर काफी दूर निकल जाने पर एक विशाल उद्यान दृष्टिगत हुआ। दूरस्थ इस उद्यान की ओर संकेत कर कामकेलि ने बताया कि इसी उद्यान के भीतर राजकुमारी सुकोमला का प्रासाद स्थित है। कोई दो कोस की दूरी पर यह एकान्त प्रासाद निर्मित कराया गया है जिसमें राजकुमारी अपनी सखियों के साथ रहती हैं। रूपश्री दीदी भी यहाँ नृत्य-गान हेतु प्रतिदिन आती हैं। इसकी सुरक्षा का भार भी नारियों ने ही सँभाल रखा है। पुरुष तो इस भवन के समीप भी नहीं पहुँच सकते। राजकुमारी जी निर्दयतापूर्वक उन पुरुषों का वध करवा देती हैं जो उनके आवास के समीप भी पहुँचने का प्रयत्न करता है।"

इस प्रकार वार्त्तालाप करते, परिस्थितियों का आकलन करते हुए ये लोग प्रासाद की ओर अग्रसर हो रहे थे। महाराजश्री के प्रति सभी के मन में उच्च सराहना का भाव था जो पुरुष-जाति के कल्याण और राजकुमारी के इस विकार से उद्धार के लिए कृत संकल्प थे। उन्होंने इस परोपकार के लिए 'आ बैल मुझे मार' वाला संकल्प कर लिया है। मृत्यु-भय से मुक्त होकर वे मानो नाग की बॉबी में हाथ देने जैसा जोखिम उठा रहे थे। आगे बढ़ते-बढ़ते जब वे कुछ और समीप हो गये तो एक अद्‌भुत घटना हुई। प्रासाद के उद्यान में निर्मित एक उच्च मीनार से विल्लियों की ध्वनि आने लगी जो कुछ देर चली और समाप्त हो गयी। ऐसा ही कुल तीन बार हुआ। भट्टमात्र ने इस संकेत को समझते हुए कहा–"यह प्रासाद की प्रमुख रक्षिका मार्जरा देवी की ध्वनि है। उसने अपनी पैनी दृष्टि से हम लोगों को प्रासाद की ओर वढते देख लिया था। उसे ज्ञात हो गया है कि हममें से तीन पुरुष हैं और तीन बार ध्वनि कर उसने राजकुमारी को संकेत भेजा है कि तीन पुरुष आ रहे हैं।"

"अरे.... फिर.... अब क्या होगा !" कामकेलि ने व्याकुलता के साथ पूछा।

"अब प्रासाद के मध्यवर्ती गवाक्ष से एक लाल ध्वज वाहर निकलेगा और पवन में लहराने लगेगा।"

"इसका क्या तात्पर्य ?"

"सीधा है–यह इस बात का संकेत होगा कि राजकुमारी ने अनुमति दे दी है। इनका वध कर दिया जाय।"

"फिर..... !"

"फिर मार्जरा देवी हम तीनों का वध करवा देंगी।.... वस.... ।"

"नहीं....।" मदनमाला भयातुर-सी चीखी।–"ऐसा नहीं होना चाहिए। अभी तो हमने दीदी से सहायता भी नहीं ली। उन्हें ज्ञात ही नहीं कि.... ।"

तभी कामकेलि ने कहा–"मरण के पूर्व आत्म-रक्षा का उपाय भी न करना क्या विवेक-संगत है ! ... हमारी कोई हानि नहीं होगी.... ।"

"लेकिन कोई उपाय भी तो हो।"–भट्टमात्र ने कहा।

"उपाय है.... महामात्य जी ! उपाय क्यों न होगा !! आप तीनो ही नारी-वेश धारण कर लें।..... त्वरा के साथ... आप.... फिर मरण-भय से मुक्त हो जायेगे।" कामकेलि ने सुझाया।

"वहन ! तुमने सर्वथा उपयुक्त सुझाव दिया है। ऐसा ही होना चाहिए....।" –महाराजश्री ने अपनी कटि से रूप-परिवर्तनी गुटिका निकाली और अपने मुख में रख ली। क्षण मात्र मे ही वे एक रमणी के रूप मे परिवर्तित हो गये। गुटिका के प्रभाव से ही उन्होने भट्टमात्र और अग्निवेताल को भी ललना-रूप प्रदान कर दिया।

इसी समय दो बिल्लियाँ प्रासाद की ओर से लपकती हुई आयीं और समीप आकर इन पाँचों को कुछ क्षणों तक घूरती रहीं, फिर धीमे चरणों से वे लौट गयीं और कुछ आगे बढ़कर उन्होंने अपनी गति तीव्र कर दी।

"अब हम सर्वथा सुरक्षित हैं।" प्रसन्नतापूर्वक भट्टमात्र ने कहा—"ये बिल्लियाँ परीक्षा करने को आयी थीं। इनको हममें से कोई पुरुष नहीं मिला। ऐसी ही सूचना अब राजकुमारी को ये देंगी।" अब यहाँ से लौट जाना ही हितकर मानकर पाँचों स्त्रियाँ नगर की ओर अग्रसर हो गयीं।

महाराज विक्रमादित्य ने अपने परिवर्तित नारी रूप का नाम विक्रमा रख लिया था। इसी क्रम में अन्य नाम हुए—भट्टमात्रा और अग्निवेताला। तीनों अतिशय कोमल, अति कमनीय, रूप-लावण्य की प्रतिमूर्ति-सी लगती थीं, तथापि विक्रमादेवी के सौन्दर्य में अद्वितीयता थी। उनकी सुदृढ़ माँसपेशियाँ लचीली माँसलता में परिवर्तित हो गयीं। कंबुवत् ग्रीवा और क्षीण कटि, चिबुक का आकर्ष तो गजब का हो गया। उनके विशाल नयन अब कटाक्षयुक्त भी हो गये और भौंहें कमान-जैसी हो गयीं। कुंचित केश-राशि पूर्वापेक्षा अधिक मनोहारी और वाणी में नारियोचित माधुर्य आ गया। उनका सारा व्यक्तित्व मृदुल और सुषमायुक्त हो गया। विक्रमा की दृष्टि में एक प्रमत्तता और गति में वह गजगामिनी हो गयी। उसके शुभ्र भाल पर लगी अरुण बिन्दी तो ऐसी लगती थी मानो आलोकमयी प्राची में बाल-रवि उदित हो गया हो। मदनमाला, कामकेलि, भट्टमात्रा और अग्निवेताला चारों सुन्दर सखियों के मध्य विक्रमा ऐसी प्रतीत होती थी मानो कचनार पुष्पों के मध्य प्रफुल्लित गुलाब का पुष्प हो। वह हास्यवदना जब बोलती तो जैसे वीणा झंकृत हो उठी हो। पाँचों सखियाँ जब लौटने लगीं तो महाराज विक्रमादित्य को विचार आया—'सभी का महिलावेश में रहना उपयुक्त न होगा। इससे मिथ्या भ्रान्ति भी विकसित होगी और समस्याएँ भी आ सकती हैं। इस वेश के कारण हमने आत्म-रक्षा तो कर ही ली, अब इसका कोई प्रयोजन भी नहीं रहा।'

"आपकी गुटिका ने आज हमारी प्राण-रक्षा कर ली, महाराज ! इसमें भी यदि तनिक-सा विलम्ब हो गया होता तो अनर्थ ही हो जाता।"—अग्निवेताल ने अपनी बात कही।

तभी भट्टमात्र ने कहा—"श्रीमानेश्वर, अब तो केवल आपका ही नारी-वेश आवश्यक रहेगा। क्यों न हम दोनों अब पुनः पुरुष-वेश प्राप्त कर लें।"

"यही तो हम भी सोच रहे हैं। ऐसा ही उपयुक्त रहेगा।" विक्रमारूपी महाराज विक्रमादित्य ने तुरन्त ही रूप-परिवर्तनी गुटिका के प्रयोग से भट्टमात्र और अग्निवेताल को उनका मौलिक पुरुष रूप प्रदान कर दिया। तीन महिलाएँ और दो पुरुष अब इस शून्य-पथ पर नगर की ओर अग्रसर हो रहे थे। विक्रमा ने इसी समय चर्चा चला दी—"यह नर-द्वेषिणी राजकुमारी इस नगर-विहीन क्षेत्र में रहते-रहते उकता नहीं जाती है क्या, बहन मदना !"

"उकताना कैसा, विक्रमा सखी ! यह तो उसकी स्वारोपित प्रतिज्ञा है न। उसका पालन करने में तो राजकुमारी को रस ही आता होगा। पर आश्चर्य होता है सखी ! ऐसे कोमल मन में ऐसी विकट घृणा और निष्ठुरता का भाव. ऐसी प्रचण्ड प्रति-हिंसा ..... अद्‌भुत है।"

"तो क्या राजकुमारी अपने इस आवास से कभी बाहर भी नहीं आतीं?" भट्टमात्र ने जिज्ञासा प्रकट की।

"अधिकतर वे अपनी इच्छा से इसी प्रासाद में रहती हैं, महामात्य जी !" कामकेलि ने कहा–"पर कभी-कभी वे बन्द रथ में आरूढ होकर राजभवन जाती हैं। पिताश्री से, अपने बंधुओं से मिलती हैं। जब कभी उनका चित्त शान्त होता है वे राजसभा में भी जाती हैं। अन्य पुरुषों को देख भर लेती हैं। उनके मानस का घृणा भाव उन्हें पुरुषों से वार्त्तालाप की अनुमति नहीं देता। राजसभा में भी सभी जन आतंकित रहते हैं। किसी का साहस नहीं होता राजकुमारी की ओर दृष्टिपात करने का भी। वे तो मनौतियाँ मनाते रहते हैं कि कब राजकुमारी यहाँ से प्रस्थान करें और यह संकट टले। किसी के लिए भी वह सुरक्षित समय नहीं हुआ करता। राजकुमारी ऐसे अवसरों पर शान्त और गंभीर बनी रहती हैं। किसी से कुछ नही कहती, किन्तु जब कभी कोई युवा उनसे विवाह का प्रस्ताव करता है तो वे आपे में नहीं रह पातीं। क्रुद्ध होकर वे तत्काल उसका वध करवा देती है।"

कथन के अन्तिम वाक्य से विक्रमा एक बारगी काँप उठी। उनके मन के भीतर एक भय विचलन मचाने लगा, किन्तु इस तात्कालिक प्रतिक्रिया को उन्होने अपने पर हावी नहीं होने दिया; बोले–"बहना ! सुकोमला चाहे कितनी ही नर-द्वेषिणी क्यों न हो .... अन्ततः है तो वह एक नारी ही और परिणय भी एक दिन उनका होगा ही, उनके जीवन में भी देर-सबेर ही सही, किन्तु किसी पुरुप का प्रवेश होगा ही–यह अवश्यंभावी है।"

"क्या कहा जा सकता है? अभी तो ऐसे कोई चिह्न दिखते नहीं।"–मदनमाला ने कहा–"राजकुमारी को अभी तो किसी पुरुष की चर्चा भी सह्य नही होती।"

"उसे कोई नारी ही एक दिन बदल देगी, मदना ! उसका हृदय-परिवर्तन किसी नारी से ही होगा।"

"सत्य कथन है आपका–सर्वथा सत्य है।"–भट्टमात्र ने हास्य की मुद्रा में कहा "....हम तो उस नारी का नाम भी जानते हैं। विक्रमा नाम है उस महान् नारी का।"

"क्यों विनोद करते हो मित्र–विक्रमा भी भला कोई नारी है?"

"जैसी भी है, नारी से नारी का उद्धार तो इसी प्रकार होगा न ! [illegible] आप वास्तव में वडे साहसी महाराज !"

"चुप ! चुप ! कहाँ हमें पुरुष बना रहा है, मित्र ! हमें मरवाना चाहता है क्या?" विक्रमा ने भी सहास कहा।

"क्षमा कीजिये ··· भूल हो गयी हमसे, विक्रमा जी ! किन्तु पुरुष होकर नारी रूप धारण करना भी कम साहस का कार्य नहीं है। किसी मनचले की नजरो में चढ़ गयीं तो न जाने क्या हो ! रूप-लावण्य भी तो ऐसा ही अद्भुत पाया है आपने, विक्रमा जी !"

विक्रमारूपी महाराज केवल मुस्कराकर ही रह गये।

रूपश्री का भवन तब तक समीप आ गया था। कुछ ही दूरी से मदनमाला ने संकेत कर बताया कि यहीं रहती है हमारी दीदी। कुछ ही पलों में ये सभी रूपश्री के भवन में पहुँच गये। दासी ने अपनी स्वामिनी की बहनों को आया देखा तो द्वार तक आगे बढ़ आयी और अतिथियों का स्वागत किया। अन्य दासी ने ऊपर रूपमाला को सूचना दी तो वह भी वेग से नीचे उतर आयी।

"अरे ! मेरी बहनो, आओ ····· आओ।" रूपश्री अपनी दोनों बहनों से गले मिली। सहसा आये प्रसन्नता के इन क्षणों ने उसके नयन आर्द्र कर दिये–"कहो ··· तुम लोग ठीक तो हो न !"

"हाँ, दीदी ! कुशल से हैं हम, आप कैसी है?"–कामकेलि ने माधुर्य के साथ पूछा।

"हाँ, कामा ! बिलकुल कुशल से हूँ मैं भी। समय अच्छा व्यतीत हो रहा है, स्वस्थ हूँ, प्रसन्न हूँ ···। किन्तु इस मदना को क्या हो गया है? यह क्यों दुर्बल हुई चली जा रही है?"

"नहीं तो ···· मैं तो वैसी की वैसी ही हूँ, दीदी ! ये तो आप बड़े दिनों के वाद देख रही हैं न–इससे ऐसा लगा हो शायद।"

"हाँ, आये तो तुम लोग अव की बार लम्बे समय के बाद हो। याद नही आती तुम्हें मेरी ····?" रूपश्री के स्वर में चहक आ गयी।

"नही, दीदी ! ··· ऐसा भी भला हो सकता है कि आपकी याद न आये ! पर इधर आने का अवसर ही नहीं मिला।" कामकेलि ने कहा–"ये लोग इस नगर की यात्रा पर निकल रहे थे। दीदी ! ये हमारी सखी है–विक्रमा ! संगीत की कला-मर्मज्ञ है ये। इतना सुन्दर गाती है कि वस ····। और ये इनके मृदंगिया हैं अग्निवेताल। और ये भट्टमात्र हैं। इनके दल के व्यवस्थापक।" अपने साथियों का परिचय देते हुए कामा ने कहा–"ये लोग इधर आ रहे थे, हम भी इनके संग हो लिये।"

"अच्छा ··· अच्छा ! अच्छा किया तुम लोगों ने। भई, विक्रमा ··· इस तरह की गायिका का नाम तो कभी सुना है–ऐसा लगता है।"

"दीदी ! सारी अवन्ती और मालव-देश में दूर-दूर तक ख्याति है इनकी गायकी की। जितनी वाहवाही इस गायिका ने लूटी है बहुत कम कलाकारों को मिल पाती है।"

"अहो भाग्य हमारे कि हमें भी ऐसा गायन सुनने का अवसर मिलेगा। सुन्दर संगीत सौभाग्य से ही सुनने को मिला करता है। यह सुयोग सभी को सुलभ कहाँ होता है। अभी तो तुम लोग थके हुए आये हो। चलो, स्नानादि से निवृत्त होकर विश्राम कर लो। तब बातें होंगी।"

रूपश्री उन्हें ऊपर के तल्ले पर ले आयी और दासियों को उचित सत्कार-सेवा के निर्देश देकर अन्य व्यवस्थाएँ देखने लगी।

भोजनोपरान्त अग्निवेताल और भट्टमात्र एक कक्ष में विश्राम करने लगे। एक अन्य कक्ष विक्रमा के लिए था। मदनमाला और कामकेलि अपनी दीदी के कक्ष में ही विश्राम करने लगीं। वर्षों के पश्चात् मिलीं तीनों बहनों के मध्य नयी-पुरानी अनेक बातें होती रहीं। निरुद्देश्य बातों का सर्प इधर से उधर और उधर से इधर मुड़ते-घूमते ऐसी वक्र गति से अग्रसर होता है कि कोई नहीं जानता, वह पहुँचेगा कहाँ? ऐसे ही बातें विषयान्तरित होती हुई आगे बढ़ती रहीं और यह आभास भी न हो पाया कि संध्या हो चुकी है। एकाकीपन से उकताकर विक्रमा भी इनके पास आ गयी थी और बातों-बातों में उसने अपने चातुर्य के सहारे राजकन्या सुकोमला और उसके नर-द्वेष के विषय में अनेक सूचनाएँ संकलित कर लीं। इस वार्तालाप में भाग लेकर उसने अपनी अनेक प्रभुख विशेषताओं से रूपश्री को परिचित करा दिया। रूपश्री तो मानो उसकी भक्त ही हो गयी थी। निष्कासित जीवन में अवधूत रूप में जो संगीत-शिक्षा उन्होंने ली थी उसका प्रयोग रूपश्री पर अपना प्रभाव जमाने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। वह निपुण कलाकार आज विक्रमा की सहचरी ही नहीं, उसकी भक्त भी हो गयी थी।

जब परिचारिका दीप प्रज्वलित करने को कक्ष में आयी तो रूपश्री को जैसे चेतना आयी–"अरे ! विलम्ब हो गया। बहुत विलम्ब हो गया। हमें तो राजकुमारी की सेवा में उपस्थित होना था....।" चिंतित रूपश्री के मुख पर निस्तेजता छा गयी। "यह अच्छा नहीं हुआ....।" कहती हुई वह उठ खड़ी हुई और बोली– "यदि राजकुमारी रुष्ट हो गयीं तो अनर्थ ही हो जायेगा।"

"न होंगी, दीदी !... राजकुमारी रुष्ट कदापि न होंगी।"–विक्रमा ने आश्वासन के स्वर में कहा–"आप उनसे निवेदन तो कर ही देंगी कि अवन्ती से एक गायक-दल आपके यहाँ आया है। वे तो संगीत-स्नेही हैं.... इतना मान तो वे रखेंगी ही।"

"हाँ ··· यह तुमने बहुत अच्छा स्मरण कराया। मैं ऐसा ही करूँगी। नर्तकियो-गायिकाओ के दल के आगमन की बात सुनकर तो वे अत्यन्त प्रसन्न होंगी और फिर यदि उनमे कोई रोष होगा भी तो कपूर की भाँति वह विलीन हो जायेगा। इसमें कोई सदेह नही है।" रूपश्री के नयन नवोत्साह से दमक उठे। उसके अरुण अधरों के मध्य दीप्तियुक्त दन्त-पंक्ति दमक उठी। मुस्कराते हुए उसने कहा-"विक्रमा ! हो तुम बडी वाक्पटु। किन्तु एक बात है-तुम लोगों को एक बार मै राजकुमारी के प्रासाद में ले अवश्य जाऊँगी। तुम्हें अपनी कला का प्रदर्शन करना होगा उनके समक्ष।"

विक्रमा का अन्तर तो सहसा उत्साह से भर उठा-हमारा मनचाहा स्वतः ही घटित होता चला जा रहा है। इस हर्षोल्लास को गुह्य रखते हुए वह बोली-"क्यो नहीं, अवश्य ही हम ऐसा करेंगी, किन्तु यदि ऐसा राजुकमारी के न्यौते पर हो तो उसका आनन्द ही निराला है।"

रूपश्री ने बात को ध्यान से तो सुना, किन्तु उत्तर न देते हुए वह सहज भाव से वहाँ से चली गयी और शृंगारादि में व्यस्त हो गयी। वह स्वाभाविक रूप से ही इतनी रूपवती थी कि उसे अधिक शृंगार या रूप-सज्जा की आवश्यकता नहीं रहती थी। इसी अवधि मे सुकोमला देवी की ओर से दूसरा बुलावा आ गया था। वे अधीरता के साथ रूपश्री की प्रतीक्षा कर रही थी। भवन के बाहर राजकीय रथ और एक दासी रूपश्री को ले जाने को तत्पर थी। शीघ्र ही रूपश्री रथारूढ हुई और सारथी रथ को ले चला।

"राजकुमारी जी की जय हो !

पुरुष-वर्ग का क्षय हो !!"

रूपश्री ने राजकुमारी के कला-कक्ष में प्रवेश कर कहा। इस मंगल कामना से उत्साहित राजकुमारी का मानस रोष-मुक्त होकर सहज हो गया। उसे अपार सुखानुभूति होने लगी।

"बड़ी सज्ञान हो गयी हो रूपा तुम।" राजकुमारी ने प्रमत्त नेत्रों को विकसित करने के प्रयास के साथ कहा। सुन्दर मुख-मण्डल पर झूल आयी केश-लट को शीश का झटका देकर पीछे की ओर करते हुए उसने मसनद पर टिकी कोहनी हटा ली और आसन पर सीधे बैठते हुए कहा-"यह तो बताओ आज तुमको इतना विलम्ब कैसे हो गया? तुम तो नित्य ही समय पर उपस्थित हो जाती हो। आज क्या हो गया तुम्हें?" और उनके मन्द हास में उनके हृदय की सहजता व्यक्त होने लगी।

"क्षमा चाहती हूँ, स्वामिनी !" दयनीयता प्रकट करते हुए रूपश्री ने करबद्ध निवेदन किया-"कलाओं की नगरी अवन्ती में कुछ कलाकार आये हैं। दो नर्तकियाँ हैं जो मेरी बहनें हैं और एक गायिका उनकी सखी है। मेरे यहाँ अतिथि

हैं ये लोग। आज ही पहुँचे और कुछ दिनों यही रहेगे भी। इन निपुण कलाकारो के आतिथ्य में व्यस्त हो जाने से आज विलम्व हो गया, राजकुमारी जी ! मुझे क्षमा कर दीजिये।'' एक याचक-सी दीनता उसके मुख-मण्डल पर छा गयी।

''अच्छा ही किया है तुमने, रूपा !.... वहुत अच्छा किया। अतिथि-सत्कार की परम्परा के लिए हमारा नगर विख्यात है। तुम व्यक्तिगत रुचि लेकर अतिथि कलाकारों के सत्कार में लगी रहीं–हमे प्रसन्नता हुई। अवन्ती की ये नर्तकियाँ तो अपनी कला में कुशल होंगी न?''

''जी.... वहुत ख्याति है इनकी। मदनमाला और कामकेलि मेरी ये दोनों वहने नृत्य-विद्या में निष्णात हैं। मंत्र-मुग्ध-से दर्शक नृत्य देखते ही रह जाते है। समाप्ति पर तो उन्हें ऐसा लगता है मानो वे कोई सरस स्वप्न देखकर जागे हो।''

''और यह गायिका.... ? कैसी है वह?''

''गायिका विक्रमा तो स्वामिनी ! गौरव मानी जाती है मालव-देश की–मेरी दोनों वहने इसकी वहुत प्रशंसा करती हैं। संगीत के क्षेत्र मे विक्रमा ने कुछ अद्‌भुत प्रयोग किये हैं। प्राचीन परम्परा के ऐसे रागो का इसे अच्छा अभ्यास है जिनसे वर्षागमन, जल-स्तंभन, दीप-प्रज्वलन आदि संभव हो जाते है। विक्रमा आज भी अपने संगीत से ये चमत्कार दिखाकर रागो के प्रभावों को विश्वसनीय वना रही है। अद्‌भुत गायिका है यह, स्वामिनी !''

रूपश्री की टिप्पणी से इन कलानेत्रियों का चमत्कारपूर्ण प्रभाव राजकुमारी सुकोमला के हृदय मे अंकित हो गया। नये-नये नृत्य-गान के लिए वह लालायित हो उठी। राजकुमारी ने चमत्कारिक संगीत न कभी सुना था और न आश्चर्यजनक, अविश्वसनीय चमत्कार होते देखा था। संगीत से ऐसा हो सकता है–वैसा हो सकता है–यह मात्र सुना ही सुना था और ये कथन उसे दन्त-कथा ही लगते थे। जव इनकी संभावना इतनी समीप लगी तो राजकुमारी का हृदय तो मानो वल्लियों उछलने लगा। इसी उल्लास में प्रवाहित राजकुमारी असयमित होती-सी कह उठी–''ऐसे कलाकारो का प्रदर्शन हम देखना–सुनना चाहेगे, रूपा ! उन्हें अपने साथ यहाँ ले आओ। वे आयेंगे न रूपा?''

''क्यो न आयेगे, स्वामिनी ! अवश्य आयेगे। आपका आदेश हो और वे न आएँ.... ऐसा मैं सोच भी नहीं सकती।'' विनयपूर्वक रूपश्री ने कहा ही था कि त्वरा के साथ राजकुमारी वोल उठीं–''आदेश नही.... आदेश नहीं, कलाकारों को आमंत्रण दिया जाता है, समझी?''

''जो भी हो, स्वामिनी.... उन्हे आपके सम्मुख कला का प्रदर्शन करके गर्वानुभव ही होगा।''

"तो कल ही रात्रि को उनका कार्यक्रम रहेगा·····। तुम उन्हें अपने संग ले आना।"

"जैसी आज्ञा, स्वामिनी !···· ले आऊँगी—अपने साथ ही ले आऊँगी।"

"अब तुम जा सकती हो रूपा ! अपने भवन को जाओ और अपनी बहनों के साथ अच्छा समय व्यतीत करो। कल हम तुम तीनों बहनों और विक्रमा की प्रतीक्षा करेंगी, किन्तु सावधान उनके संग कोई पुरुष न हो····।"

"क्षमा की जाऊँ, राजकुमारी जी ! इनका मृदंगिया तो पुरुष ही है। विक्रमा उसी से संगत चाहेगी।"

"नहीं···· कदापि नहीं··· हमारी वादक-मण्डली विक्रमा का सहयोग करेगी। हमारी वादिकाएँ भी अनुभवी हैं, योग्य हैं। पुरुष-चर्चा से तुमने व्यर्थ ही में हमें संतप्त कर दिया, किन्तु अब तुम जाओ।" प्रसन्नता के साथ ही उन्होंने रूपा को विदा किया। रूपा ने शीश झुकाकर प्रणाम किया और कक्ष से बाहर हो गयी।

× × ×

सब-कुछ स्वतः ही महाराज विक्रमादित्य के मनोनुकूल होता जा रहा था। कल का आमंत्रण भी आ गया और विक्रमा को लगा कि यह इस भावी इष्ट का पूर्व संकेत ही है कि सफलता हमें अवश्य ही अवश्य मिलेगी। अपने भवन में आकर जब रूपश्री ने यह शुभ संदेश अपनी बहनों को दिया तो उस समय विक्रमा भी वहाँ उपस्थित थी। बहनों को तो भारी प्रसन्नता हुई—उन्हें सम्मानजनक विधि से एक राजघराने में अपनी नृत्य-कला के प्रदर्शन का अवसर मिलने वाला था। किन्तु विक्रमा के लिए यह अवसर एक चुनौती था। यहीं से उसकी योजना को अथ प्राप्त होने वाला था। इस अवसर का समुचित उपयोग होना परमावश्यक था। अस्तु, वह कुछ ध्यानलीन-सी हो गयी। इस अवस्था को ताड़कर रूपश्री ने उसे टोका—"क्या बात है?···· हमारी सखी विक्रमा किस सोच में डूब गयी है?···· ऐं?"

"कुछ नहीं··· कुछ विशेष नहीं, दीदी ! मैं सोचती थी कि एक निपुण कलाकार के समक्ष संगीत का प्रदर्शन करना साधारण कार्य नही है। हमें कौशल का अच्छा प्रदर्शन करना होगा न !"

"सो तो है, विक्रमा !··· किन्तु तुम-जैसी गायिका के लिए यह कार्य कठिन भी तो नहीं है। ऐसी-ऐसी कई संगीत-सभाएं तो तुम कर ही चुकी होंगी। हाँ, एक बात अवश्य है····।" कुछ सोचते हुए रूपश्री ने कथन अपूर्ण छोड दिया।

"वह क्या, दीदी ! तुम रुक क्यों गयीं··· क्या बात है?" विक्रमा ने जिज्ञासा-भरा प्रश्न कर दिया।

"बात तो साधारण-सी है··· किन्तु कदाचित् तुम उसे कोई व्यवधान समझो–ऐसा भी हो सकता है। बात यह है कि हमारी स्वामिनी ने जब तुम्हारी गायकी के विषय में सुना तो वे बड़ी प्रसन्न हुईं, किन्तु उन्होंने किसी पुरुष को संग ले जाने का निषेध किया है।"

"अच्छा······!" विक्रमा मुस्करा दी। जिसे आमंत्रित किया गया है वह कौन है–वेचारी राजकुमारी इससे अनभिज्ञ हैं–यही सोचकर उसे हँसी आ गयी थी। प्रकटतः वोली–"किन्तु दीदी ! हमारी गायकी में तो अग्निवेताल मृदंगिया रहा करता है। उसके बिना कुछ असुविधा रहेगी न ! क्या उसे और वीणा-वादन के लिए भट्टमात्र को नहीं ले जाया जा सकता?"

"नहीं···· विक्रमा !··· यह संभव ही नहीं है, किन्तु तुम चिन्ता न करो···· राजकुमारी का एक कुशल वादक-दल है। संगत-प्रवीण है उस दल की प्रत्येक वादिका।"

"अर्थात् मेरे संगीत के साथ कोई महिला मृदंग-वादन करेगी?"

"ऐसा ही होगा, विक्रमा !··· स्त्री ही मृदंग बजाएगी। वड़ी-वडी गायिकाओ को सगत दे चुकी है वह। मृदंग के युगल पर हाथ तो उसके ऐसे चलते हैं, मानो मेघो में चपला चमकती हो और घनघोष-सी ही गंभीर मृदंग-ध्वनि भी रहती है। तुम्हारे सगीत के साथ उसका मृदंग-वादन तो मणिकांचन योग-सा प्रतीत होगा।"

विवशता थी··· क्या किया जा सकता था। अग्निवेताल के विपय में विक्रमा सोचने लगी थी–'वह साथ रहता, भट्टमात्र भी होता तो कितना अच्छा रहता।' अपने कक्ष में भी शय्या पर लेटे-लेटे जव वह इसी विपय पर चिन्तन कर रही थी सहसा अग्निवेताल कक्ष में प्रकट हो गया।

"ओफ्फोह··· क्या रूप है··· क्या आकर्षण है··· क्या लचक और क्या चमक है !"–अग्निवेताल ने शरारत भरे स्वर में कहा–"पहले कोई हमारा मित्र था। अव वही सखी है हमारी। इस प्यारी सखी पर शत-शत प्राणो से कामदेव भी न्यौछावर हो जायें··· ।"

"अव चुप भी हो जा वेताल !···· यह समय विनोद का नहीं, हास-परिहास सूझ रहा है तुम्हें और हमारे तो प्राण ही संकट मे हैं···।"

"अव छोड़िये भी···· कौन-सा विकट प्रश्न है कि प्राणो का संकट माना जाय। वात यही है न कि राजकुमारी ने विक्रमा को अकेले बुलाया है। भट्टमात्र और अग्निवेताल साथ नही रह सकेंगे !!"

"तुम्हे कैसे ज्ञात हो गया?"

"हमसे क्या छिपा है, सखी ! हम सब जान लेते हैं।" कृत्रिम अकड के साथ अग्निवेताल ने कहा और तब रहस्योद्घाटन की मुद्रा में धीमे स्वर मे कहा—"जब रूपश्री दीदी और आप लोगो का वार्त्तालाप चल रहा था तो मै भी वहाँ था ··· अदृश्य रूप में।"

"फिर ··· फिर क्या सोचा है तुमने, मित्र वेताल ! हमारे मत में यदि तुम लोग भी साथ रहते तो ···।"

"हम रहेंगे ··· साथ रहेंगे हम लोग आपके ·· इसमें आप सन्देह नही रखें। हम साथ भी रहेंगे और ऐसा कुछ करेगे कि हमारी सखी की धाक जम जाए राजकुमारी पर ····।"

"परन्तु वहाँ तो किसी पुरुष का प्रवेश ही निषिद्ध होगा न ! कैसे तुम लोग ···· क्या तुम फिर से नारी-वेश धारण करोगे?"

"नहीं, मित्रवर ! ··· कदापि नहीं। इसकी आवश्यकता ही नहीं होगी। फिर जो चमत्कार हम दिखाना चाहते हैं—उसका आकर्षण ही क्या रहेगा ! पहली भेंट चमत्कारपूर्ण होनी चाहिए राजकुमारी के साथ ····।"

"वात तो उपयुक्त है ····· परन्तु तुम कहना क्या चाहते हो, अग्निवेताल ! हमारे तो कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है ···· क्या चमत्कार? ··· कैसा चमत्कार?"

"आ जायेगा ···· आ जायेगा ···· समझ में भी आ जायेगा और आपको उपयुक्त भी लगेगा। एक बात पक्की है कि हम तीनों ही राजकुमारी के समक्ष रहेंगे ····।"

"परन्तु यह होगा कैसे ····?"

अग्निवेताल ने तव मंद स्वर में अपनी वात कहना आरंभ किया। उत्साह, विस्मयादि के विभिन्न भाव विक्रमा के मुख-मण्डल पर आते-जाते रहे। नीरव रात्रि का शान्त वातावरण इस विचार-विमर्श के लिए वडा सहायक सिद्ध हुआ। भट्टमात्र अपने कक्ष में सो रहा था। उसकी अनभिज्ञता में ही सारी योजना वन गयी जिसमे उसकी भी अति महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

आगामी प्रातः ही विचार किया गया कि राजकुमारी के प्रासाद में होने वाले कार्यक्रम का स्वरूप क्या रखा जाय। रूपश्री ने मार्गदर्शन दिया। निश्चित यह हुआ कि मदनमाला और कामकेलि नृत्य करेंगी और विक्रमा एक गीत गाएगी। निश्चय हो जाने के पश्चात् मदना ने पूछा—"सखी विक्रमा ! नये वादकों के साथ तुम्हें गायन में कुछ असुविधा तो न होगी।"

"गायिका स्वयं यदि स्वर-ताल में चले तो ··· वाद्य तो स्वत: उसका अनुसरण करते चलते हैं ···· असुविधा कैसी ! फिर भी आज मैं ऐसा राग गाऊँगी कि उसमें वादकों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।"

रूपश्री ने कथन सुना तो भौचक्की-सी रह गयी। विस्मय के साथ कहने लगी– "क्या कहती हो, विक्रमा ! तो क्या तुम बिना संगत के ही गाओगी? ··· नीरस नही हो जायेगा इससे संगीत तुम्हारा ····।"

विक्रमा ने तुरन्त ही बडी चतुराई के साथ बात को नवीन दिशा दे दी। वोली– "दीदी ! वहॉ राजकुमारी जी के अतिरिक्त कुछ अन्य श्रोता भी तो होगे न !"

"हॉ ··· हॉ ··· क्यो न होगे। राजकुमारी जी की सगीत-शिक्षिका आचार्या मधुमती जी होंगी। वे नृत्य-संगीत की मर्मज्ञा विदुषी है। राजकुमारी जी की सखियॉ होंगी, प्रासाद की प्रमुख अधिकृतियॉ होंगीं। इस प्रासाद मे सगीत सभाऍ वडी स्तरीय होती हैं। वडी ही व्यवस्था और शालीनता के साथ ऐसे कार्यक्रम चलते है।"

"मुझे बडी प्रसन्नता हुई यह जानकर। ऐसा तो राजघरानो मे भी प्राय: कम ही मिलता है। सगीतज्ञों को आनन्द ही तभी प्राप्त होता है, जब संगीत के रसज्ञो–ज्ञाताओं की उपस्थिति हो। ऐसे ही श्रोताओ की टिप्पणी का कोई मोल भी होता है। मुझे तो ऐसे श्रोताओं से ही संतोष मिलता है।"–विक्रमा ने कहा।

"मै तो चाहती हूँ कल की सगीत-सभा मे, विक्रमा ! तुम्हारा रग जम जाये। मुझे विश्वास भी पूरा-पूरा है इसका। तुम्हारा यश और अधिक वढे · तुम राजकुमारी जी की दृष्टि मे सम्मान-प्राप्त बनो ·· ।" रूपश्री ने टिप्पणी की और उत्तर मे विक्रमा ने कहा–"प्रत्येक कलाकार की यही कामना स्वय के लिए और अपने चहेते अन्य कलाकारों के विषय मे रहती है, दीदी ! मै तो आपका आश्रय पाकर निश्चिन्त हूँ।" विक्रमा ने कहा और उसके मुख पर अपूर्व शान्ति और संतोष का भाव छा गया।

× × ×

सध्या समय राजकुमारी सुकोमला का एकान्त आवास सर्वथा शान्त हो जाता था। पछियों की चहचहाहट जब थम जाती थी, तब ऐसी घोर नीरवता छा जाती थी; मानो प्रासाद सर्वथा जन-शून्य हो। ऐसी ही शान्तैकान्त स्थिति राजकुमारी जी को रुचिकर भी थी। उनका निर्देश था कि कोई भी दासी–परिचारिका उच्च स्वर मे भी कथन नही करे। स्वच्छता की वे पुजारिन थी। स्वच्छता मे वढकर भवन का और कोई अलंकरण नहीं हो सकता–ऐसी उनकी मान्यता रहा करती थी। साधारण-सी सजावट और सामान्य अलंकरणो से भी उनका आवास दमक उठता था। किसी सम्पन्न परिवार के इकलौते पुत्र की भॉति यह एकाकी प्रासाद भी सर्वथा

अचंचल, निष्क्रिय, शान्त और क्रीड़ा-विहीन बना रहता था। इस शान्ति को क्षणेक के लिए भंग करते हुए तीन रथ उद्यान को पार करते, अपनी गति को मंथर बनाते हुए सहसा भवन के मुख्य द्वार पर रुक गये। मध्यवर्ती रथ से परिचारिका उतरी और उसने आगे वाले रथ पर जाकर यवनिका खोली। इस रथ से शोभा और सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति रूपश्री उतरी। साक्षात् देव-कन्या-सी लग रही रूपश्री यत्किंचित् गर्व को भी रूप-यौवन का आवश्यक अंग मानती थी। उसी ठसक मे ग्रीवा सीधी और नयन अर्द्ध-निमीलित किये हुए वह एक-एक चरण आगे वढ़ी। तब तक पिछले रथ से उतरकर मदनमाला, कामकेलि और विक्रमा भी उसके समीप पहुँच गयीं। अत्यन्त सादगीपूर्ण रूप-सज्जा के होते हुए भी अपने नैसर्गिक सौन्दर्य से विभूषित विक्रमा अत्यधिक आकर्षक और आभायुक्त लग रही थी। वह नक्षत्रों के मध्य पूर्ण चन्द्र-सी लगती थी।

यह रूपसी वृन्द ड्योढी पर पहुँचा ही था कि मुख्य परिचारिका प्रदीपा हास्यवदन रूप में सम्मुख आयी। मुस्कराते हुए उसने अतिथियों का स्वागत किया। मगल-घट लेकर एक अन्य परिचारिका उपस्थित हुई। प्रदीपा ने तीनो अतिथियों को मुक्ता-हार धारण कराये। उत्तरीय ओढ़ाकर श्रीफल भेंट किये। तभी तुरही वज उठी। मंगल दुंदुभि-नाद के साथ अतिथियों ने प्रवेश किया। प्रासाद की भीतरी संरचना की ओर विक्रमा का ध्यान गया। सादगी-भरी साज-सज्जा से वह अत्यधिक प्रभावित हुई। कहीं कोई शब्द नहीं, कोई अन्य जन नहीं। अपनी पद-चाप भी स्पष्ट सुन पड़ती थी। प्रासाद की भीतरी फुलवारी में पहुँवकर तो वडी ही शीतलता का अनुभव होता था। पुलवारी के मध्य में एक सुन्दर जल-कुड था जिसमें जल-उत्स था। निर्मल जल की सतह से उछलकर जल-धार ऊँची उठती और विखकर नीचे की जल-राशि में समा जाती थी। नन्हीं-नहीं वूँदें वातावरण में फैलती जा रही थीं। इस उद्यान को पार कर प्रदीपा अतिथियों को सामने के प्रशस्त सोपान श्रेणी से ऊपर के तल्ले पर ले आयी और सभा-कक्ष मे लाकर उन्हे अपने-अपने आसनों पर विराजित कर दिया। रूपश्री का अपना निर्धारित आसन रहा करता था, वह उसी पर वैठ गयी। इस विशाल कक्ष मे तीन ओर गवाक्ष निर्मित थे। चौथी ओर एक मंच था और मच के समीप ही एक कोने मे वादक-मण्डली का एक छोटा मंच था। मच के समक्ष ठीक मध्य मे राजकुमारी जी का रत्नजटित स्वर्ण-आसन था। अर्द्ध-चन्द्राकार पंक्ति में इस आसन के दोनों ओर चार-चार आसन स्थित थे। राजकुमारी जी के आसन के समीप ही एक ओर रजत-आसन पर आचार्या मधुमती जी विराजा करतीं तो दूसरी ओर के आसन पर रूपश्री। उनके समीप ही प्रमुख परिचारिका प्रदीपा और मुख्य रक्षिका मार्जरा देवी के आसन थे। दूसरी ओर आचार्या जी के पास के आसन अतिथियों के लिए रहा करते थे। इस समय इन्हीं पर मदना, कामा और विक्रमा आसीन थे। स्वस्थ,

सुन्दर वादिकाएँ अपने-अएने वाद्यों के संग अपने मंच पर तत्पर मुद्रा में बैठी थी। दर्शकों की प्रथम पंक्ति के पीछे आसनों की कुछ कतारें प्रथम पंक्ति के समान्तर रूप में निर्मित थीं जो उच्च से उच्चतर होती चली गयी थीं। यह प्रेक्षागृह आज विशेष रूप में सज्जित किया गया था। मंच का अग्र भाग और कक्ष की भित्तियॉ पुष्पमालाओं और गुच्छों से अलंकृत कर दी गयी थीं। अगरू-धूम्र से सारा कक्ष सुवासित था। समस्त प्रेक्षागृह प्रेरक, कलात्मक वातावरण से सम्पन्न था।

मदना और कामा दोनों ही इस समय रंगमंच के पीछे निर्मित सज्जा-कक्ष में शृंगार कर रही थीं। नृत्य के अनुरूप वेश-भूषा और रूप-सज्जा में वे लगी हुई थीं। आचार्या मधुमती जी ने यही निर्देश दिया था—पहले दोनों बहनों का नर्तन होगा और तदनन्तर विक्रमा का गायन। भीतर मदना पूरी तरह से तैयार हो गयी थी और कामा घुँघरू बॉध रही थी कि कक्ष के बाहर से ध्वनि आयी—

"सावधान !··· सावधान !!····राजकन्या प्रतिष्ठानपुर की···· राजरानी ताल और सुर की···· गौरव—नारी की···· गौरव पृथ्वी सारी की······ राजकुमारियो की राजकुमारी···· जनता की राजदुलारी···· राजकुमारी सुकोमला जी पधार रही है···· ऐं।" सारी उपस्थिति सजग—सावधान हो गयी। दर्शक स्त्रियॉ अपने-अपने स्थान पर खडी हो गयीं। वादक मंच पर वादक-मंडली पहुँच गयी। मंच के समीप के शोभित द्वार से राजकुमारी अपनी दो सखियों के साथ प्रविष्ट हुई। सभी के मस्तक झुके रहे और "राजकुमारी जी की जय !" के नाद से सभा-कक्ष गूँज उठा। राजकुमारी ने कक्ष में आकर पहले मॉ सरस्वती की प्रतिमा को माल्यार्पण किया और तब आचार्या मधुमती जी को झुककर प्रणाम किया। आशीर्वचनपूर्वक उन्होने राजकुमारी को विराजने का आग्रह करते हुए उनके आसन की ओर सकेत किया। राजकुमारी आसीन हो गयीं। सभी ने अपना-अपना स्थान ग्रहण किया। समस्त सभागृह मे ऐसी शान्ति थी कि सुई भी गिरे तो ध्वनि स्पष्ट सुनायी दे जाय।

विक्रमा अपने आसन से उठी और कोमल गति से राजकुमारी के सम्मुख नतशिर करबद्ध खडी हो गयी। तभी रूपश्री ने निवेदन किया—"स्वामिनी ! ये ही अतिथि कलाकार विक्रमा है। अवन्ती निवासी इस गायिका ने अपनी गायकी की धूम मचा रखी है। इसकी दो-एक चीजे ही सुनी हैं मैने अभी—अद्भुत कलाकार है। सगीत-जगत् में अपार-अपार यशार्जन किया है इसने, देवी !"

"प्रसन्नता की बात है···· ऐसी कलाकार की उपस्थिति से हमारा भी गौरव बढा है···।" राजकुमारी ने मधुर, मोहक मुस्कान के साथ कोकिल स्वर मे कहा और सकारात्मक आशय में शीश हिलाया। इस प्रथम दर्शन मे ही राजकुमारी की कमनीयता, उसकी शालीनता से असीम प्रभावित हो गयी। वह उसकी अपार रूप-राशि को निहारती रह गयी। ऐसा रूप, ऐसी शोभा किसी नारी की···

नही-नहीं यह अपररूप ···· यह अलौकिक रूपसी हैं। कैसी शिष्ट, कैसी लता-सी लचकीली ··· कैसी गरिमापूर्ण ! आहा ··· ! इन्हीं कतिपय क्षणों मे रूपसी विक्रमा के उद्विग्न मन में भी असंख्य विचार उठे। कैसी लता-सी कोमल ···· प्रसून-सी कमनीय तो यह राजकुमारी हैं। सुना है कलाकार का सुन्दर मनवा की स्वामिनी भी है यह ···· क्या ये सभी दन्त-कथाएँ ही हैं कि यह भयंकर प्रति-हिंसा-भरी, क्रूर, पुरुष-द्वेषिणी हैं–काश ! यह मिथ्या चर्चा ही हो। प्रेम की प्रतिमा यह राजकुमारी वरेण्य हैं। कोई पूर्वजन्म का ही सूत्र लगता है कि इनसे सम्पर्क हुआ। प्रतीत होता है हम दोनों एक-दूजे के लिए ही उत्पन्न हुए हैं। विचारो के अश्व की वल्गा कसना आवश्यक था–अवसर का आग्रह ऐसा ही था। विक्रमा ने पुन· प्रणाम किया और रंगमंच पर एक ओर बैठ गयी। उसकी रमणीयता की प्रथम झलक पाकर दर्शक वाह ! वाह ! कर उठे। प्रेक्षागृह हर्ष-ध्वनि से गूँज उठा।

इसी समय राजकुमारी की अनुमति प्राप्त कर नृत्यारंभ का संकेत किया गया। वादक-मंच से एक टंकार गूँजा और वाद्य स्वर आरंभ हुआ। नर्तन मुद्रा मे ही दोनो नर्तकियाँ रगमंच पर अवतरित हुई। मंच के वीचोवीच दोनो प्रणाम मुद्रा में अवस्थित हो गयीं–दोनों हाथ जुड़े हुए, लचीली कमर सामान्य से अधिक झुकी हुई, मस्तक नमित। इसी समय एक सक्षिप्त किन्तु अति मधुर आलाप के साथ गायिका विक्रमा ने वाचिक रूप में सस्वर प्रणाम निवेदन किया–

प्रणाम ··· नारी-गौरव वोधिनी को प्रणाम !
प्रणाम ··· नर-निष्ठुरता विरोधिनी को प्रणाम !!
प्रणाम है उसे जो, नर-अत्याचार हेतु कुठार वनी।
नारी-स्वाभिमान की त्राता, नारी-नारी की प्यार वनी॥
नारी के प्रति निर्ममता की प्रतिशोधिनी को प्रणाम !
प्रणाम ··· नारी-गौरव वोधिनी को प्रणाम !!

विक्रमा के कंठ-माधुर्य और सुर-साधना की यह वानगी ही थी और इसी से दर्शकों का प्रभावित होना ऐसा आरंभ हुआ कि समस्त कार्यक्रम में वस वही छायी रही। आचार्या मधुमती जी तो मत्र-मुग्ध-सी, अविचल रूप मे सुनती ही रह गयी। प्रणाम निवेदन में दोनों नर्तकियों ने अनेक शैलियो एवं विधियो मे, अनेक भंगिमाओ और मुद्राओं से, विभिन्न आगिक चेष्टाओं से, सरस एव आकर्षक रूप में नमन प्रेपित किये। वोल और स्वर इतना हावी हो गया था नर्तन और वादन पर कि उनकी ओर प्रेक्षको का ध्यान अत्यल्प ही जा पाया। राजकुमारी सुकोमला को स्वर से वढकर वोल और वोल से वढकर स्वर प्यारा लगा। प्रणाम-निवेदन में हमारी विशेषताओं, हमारी भावनाओं और चरित्र को भली प्रकार से व्यक्त किया गया है। हमारी भावना का मोल कदाचित सर्वप्रथम इस सुन्दरी ने ही समझा है।

यही सब-कुछ सोचते हुए राजकुमारी के मुख से निकला–"वाह ! सुन्दर ..... अति सुन्दर !" नर्तकियो ने इस प्रशंसा पर प्रसन्न होकर आभारपूर्ण नमन किया ही था कि राजकुमारी ने मुस्कराते हुए अपने कंठ से मोतियों का हार निकालकर ऐसा उछाला कि वह जाकर विक्रमा के कंठ में शोभा देने लगा। करतल ध्वनि के मध्य विक्रमा ने कृतज्ञता-ज्ञापनपूर्वक नमन किया।

नृत्य आरंभ हुआ। विक्रमा के गीत की ही पृष्ठभूमि रही। वादक-मंडली ने अपने सम्पूर्ण कौशल का प्रदर्शन किया। इस संगत ने नृत्य-स्वर्ण में अद्भुत आभा भरकर उसे कुंदन बना दिया–इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु विक्रमा के गीत ने तो उस स्वर्ण में सुगंध का समावेश कर दिया। गीत के भावों को नर्तकियों ने बड़े चातुर्य और दक्षता के साथ अपनी आंगिक चेष्टाओं और मुख-मुद्राओं से, कटाक्ष और ग्रीवा-संचालन से, कटि की लोच और पद-संचरण की विभिन्न शैलियों से इतनी सुन्दरता के साथ संप्रेषित कर दिया कि राजकुमारी-जैसी गंभीर दर्शक भी स्थल-स्थल पर वाह !..... वाह !.... कर उठीं। मंत्रबद्ध-सी सारी दर्शिकाएँ दत्तचित्त होकर मुग्ध भाव से देखती रह गयीं। मर्मज्ञ आचार्या भी नृत्य-प्रदर्शन से बडी प्रभावित हुईं। उनके अधर ताल पर निःशब्द रूप में गुनगुनाते रहे। एक हथेली से दूसरी बॉह पर वे ताल देती रहीं। एक अद्भुत समां छा गया था। नृत्य के साथ ही जो गीत चल रहा था–राजकुमारी को उसके भावों ने वहुत प्रभावित किया। "लता वृक्ष पर लिपटी रहती मन में सपन सॅजोये"–गीत का यही मुखडा था–यही स्थायी था। मालकोष में गाये गये इस गीत में मुख्यतः यही भाव सन्निहित था कि लता अपने प्रियतम वृक्ष के साथ प्रेम भावना के संग, भाव-विभोर होकर लिपटी रहती है। अपनी प्रियतमा लता की इस सघन प्रेम भावना का आदर करते हुए वृक्ष भी इस अनुराग का प्रतिराग करता है। फिर यह पुरुष ही क्यो इतना निष्ठुर है कि समर्पिता प्रेयसी की भी उपेक्षा करता है–उससे दूर भागता है, उसे दूर भगाता है। उसके साथ अपमान और अत्याचार का व्यवहार वह क्यो करता है। मेघ मे चपला मुस्कराती है, जल में लहरियॉ नर्तन करती है, आकाश मे पवन गुनगुनाती है, फिर पुरुष प्रियतम के सान्निध्य मे क्यों नारी प्रेयसी कम्पित रहती है। क्या समर्पण का प्रतिदान यही है? क्या निश्छल प्रीति का यही परिणाम है? कामकेलि और मदनमाला ने निस्संदेह बड़ी सुन्दरता के साथ इन भावों का प्रभावपूर्ण और सरस प्रतिपादन अपने नृत्य मे किया। गीत के भावो ने राजकुमारी सुकोमला के हृदय को मानो द्रवित ही कर दिया। उसे भाव-विभोर करने में बोलों के साथ जुडे विक्रमा के सुकंठ ने महती भूमिका निभायी।

और अव तक एकाकी विक्रमा के ही कला-प्रदर्शन का क्रम आ गया था। विक्रमा को सगीत प्रस्तुत करना था। घोषणा का स्वागत सुदीर्घ करतल ध्वनि से हुआ जो इस वात की संकेत थी कि श्रोतागण विक्रमा का गीत सुनने को कितने

उत्सुक हैं। विक्रमा आज 'पटयोग' की साधना में एक चरण और आगे बढ़ना चाहती थी। इस विशिष्ट राग की चमत्कारपूर्ण गायकी बड़ी अद्भुत रहती है। इसमें वाद्य-वादन तो होता है, किन्तु वादकों की अपेक्षा नहीं रहती। वाद्य स्वतः स्वरित-झंकृत होते रहते हैं। श्रोता जैसे अद्भुत मायालोक में पहुँच जाता है–वह जो कुछ देखता है वह अविश्वसनीय, किन्तु तथ्य होता है; विचित्र, किन्तु सत्य होता है।

नृत्य के साथ गाये गये गीत ने विक्रमा को राजकुमारी सुकोमला के मन में सम्मानपूर्ण स्थान दे दिया था। गीत के भाव राजकुमारी के मनोनुकूल जो थे। इस भूमिका ने आगामी गीत के प्रति उनकी मानसिक तत्परता को और अधिक बढ़ा दिया। उनके उत्साह को अभिवर्धित कर दिया।

विक्रमा रंगमंच के मध्यवर्ती भाग में तनिक-से उच्च पीठ पर आसीन हो गयी। निर्देशानुसार वादक-मंच से वादकगण हट गये। केवल मृदंग और वीणा को छोड़कर शेष वाद्य भी हटा लिये गये। आगत चमत्कार के प्रत्यक्षदर्शी होने का गौरव अनुभूत होकर गर्व के रूप में श्रोताओं में घर करने लगा था। सहसा वीणा झंकृत हो उठी। कोई वादक नहीं ..... और वीणा स्वरित हो उठी है। आश्चर्य .... महान् आश्चर्य .... ! सभी ने देखा कि मंच पर रखी वीणा ऊँची उठी और ऐसी झुककर स्थिर हो गयी जैसे किसी ने काँधे के सहारे उसे टिका दिया हो। झनक के साथ वीणा के तार भी कम्पित होते स्पष्ट दिखायी दे रहे थे। विक्रमा ने आलाप भरा। सभी के कर्णेन्द्रिय में मानो मधु घुल गया। ऐसा स्वर किसी मानवी का भी हो सकता है ..... विचित्र है। तभी सभी ने देखा कि मृदंग में हलचल हो उठी। वह तनिक-सी ऊपर को उठकर स्थिर हो गयी–जैसे वादक ने उसे अपनी सुविधानुसार स्थापित कर लिया। आलाप के समुचित स्थल पर मृदंग ध्वनित हो उठी। लय-ताल के साथ वीणा और मृदंग वादित–निनादित होते रहे। एक स्थल-विशेष पर आकर विक्रमा का गीत आरंभ हुआ।

गीत क्या था .... अलौकिक आनन्द का स्रोत था। समग्र संगीत सभा इस आमोद-धारा में प्रवाहित होती चली जा रही थी। इस गीत की विषय-वस्तु से भी राजकुमारी सुकोमला का हृदय मुदित हो उठा। उसकी अपनी विचारधारा का, अपने दृष्टिकोण का समर्थन जो हो रहा था। प्रतीक रूप में नर और नारी के अनेक रूपक स्थिर किये गये थे। नारी की कोमलता और भाव-संकुलता तथा नर की उपेक्षा और कठोरता का उपालंभपूर्ण चित्रण गीत की प्रमुख भावभूमि रही। वाद्य-वादन का अद्भुत चमत्कार चल ही रहा था। संगत स्वतः ही ऐसी चलती चली जा रही थी मानो निपुण वादकों द्वारा की जा रही हो। सभी अचंभित, चमत्कृत-से देखते–सुनते रहे।

अन्ततः गीत विराम पर आया। मृदंग पर सशक्त थाप पड़ी–वीणा भी एकदम झंकृत होकर मंथर होती-होती थम गयी। सभी ने देखा–वीणा जैसे वादक के काँधे

से उतरकर मंच पर समतल स्थापित हो गयी। मृदंग भी यथास्थान आ गयी। विक्रमा ने नमस्कार महामंत्र का मन ही मन जाप कर गीत का आरंभ किया था। समापन पर नयन मूँदकर करबद्ध रूप में वह भगवान महावीर स्वामी का स्मरण करने लगी थी। तभी किसी ने उसकी पीठ थपथपायी हो–उसे ऐसा अनुभव हुआ। मंच पर विक्रमा के अतिरिक्त और कोई न था। उसने मन ही मन अनुमानित किया। उसका मनोबल बढ़ गया। उसने अपनी हथेलियों से बन्द पलको को सहलाया और आँखें खोल दीं। ऐसा दिव्य संगीत कभी नहीं सुना.... ऐसा मनोहर और चमत्कारपूर्ण पटयोग प्रयोग.... आहा.... हा ! अपार करतल ध्वनि से यही आशय प्रकट होता था। आचार्या मधुमती जी तो गद्‌गद हो गयीं। अपने आसन से उठकर वे बोलीं–"अपूर्व गायिका विक्रमा का हम इस सभा में वन्दन–अभिनन्दन करते हैं। संगीत के अनेक चमत्कार सुने जाते हैं। दीप प्रज्वलित हो उठते हैं, जल स्तंभन हो जाता है, अनिद्रा दूर होती है, रोग शमन होता है। किन्तु ऐसे सिद्ध गायक अब कहाँ। इतिहास को विक्रमा ने पुनर्जीवित कर दिखाया है स्वतः वाद्य-वादन के चमत्कार से। ऐसा सुयोग सौभाग्य से ही मिलता है कि हम इस चमत्कार के प्रत्यक्ष साक्षी बन सके। बधाई !.... हार्दिक बधाई !!"

राजकुमारी सुकोमला तो जैसे स्वर्णिम स्वप्न-समापन पर जागी हों.... कामना ही रह गयी कि यह स्वप्न तनिक और निरन्तरित रहता। उन्होंने तो मानो साँस ही तब ली जब गीत विराम पर आया। राजकुमारी ने पुरस्कारों से भरे थाल छुए और परिचारिकाओं ने ये थाल सादर भेंट कर दिये–दोनों नर्तकियों को। तभी राजकुमारी अपने आसन से उठकर रंगमंच पर आ गयीं। विक्रमा भी उठ खड़ी हुई। राजकुमारी ने उसे प्रीतिपूर्वक आलिंगनबद्ध कर लिया। विक्रमा के भीतर के विक्रमादित्य रोमांचित हो उठे। अपने ध्येय की ऐसी समीपता पाकर वे आह्लादित हो उठे। असंभाव्य ही संभव हो उठा था। प्रेयसी नारी का यह स्नेहिल स्पर्श पाकर प्रियतम नर तुष्ट और प्रसन्न था। विक्रमा के नयन यह आदर पाकर आर्द्र हो उठे।

"धन्य हो विक्रमा ! कैसी अद्‌भुत संगीत-साधना है तुम्हारी। संगीत-सिद्ध विक्रमा आज से तुम हमारी सखी हो..... सहचरी हो।" यह कहते हुए विक्रमा को पुरस्कृत किया। राजकुमारी की घोषणा पर हर्षाभिव्यक्ति की करतल ध्वनि हुई। विक्रमा हाथ जोड़े, शीश झुकाए खड़ी रह गयी।

सभा विसर्जित हो गयी। राजकुमारी सुकोमला का मन नहीं करता था–विक्रमा को विदा करने का। मर्यादा का आग्रह था कि उसे रोका भी नहीं जा सकता था। ड्योढ़ी तक राजकुमारी उसे विदा करने को आयीं–"सखी ! अवन्ती धन्य है–ऐसे कलाकार वहाँ हैं–तुम अवश्य ही अवन्ती की गौरव हो, सखी ! अवन्ती जब ऐसे-ऐसे कलाकारों से अलंकृत है तो अवन्तीपति न जाने कैसे होंगे ! सुना है वे स्वयं भी कुशल गायक हैं।" राजकुमारी अपनी सारी मर्यादा विस्मृत कर भावावेश में स्वच्छन्दतापूर्वक कह गयीं।

"अभी आपने अवन्तीपति विक्रमादित्य का ही संगीत सुना है, स्वामिनी! आपकी यह सखी .... उन्ही की शिष्या है और मेरे पास कला के नाम पर जो कुछ भी है–सब उन्हीं का है।"–विक्रमा ने कहा–"इसी से तो मेरा नाम विक्रमा हो गया है।"

"अच्छा .... अच्छा ! ऐसा है क्या ....।" राजकुमारी ने अपने मन्द हास से वातावरण को प्रमुदित कर दिया। रूपश्री अपने रथ में आरूढ हो चुकी थी, मदनमाला और कामकेलि अपने रथ में बैठ ही रही थीं। राजकुमारी ने वॉह छूकर विक्रमा को भी रथारूढ़ होने का आग्रह कर दिया। प्रणाम करती हुई वह रथ की ओर अग्रसर हुई–"तुम मेरी सखी हो गयी हो ..... तुम्हें कल फिर यहॉ आना होगा–प्रतिदिन आना होगा, विक्रमा !"–राजकुमारी ने कहा।

"जैसा आदेश, स्वामिनी !"–विक्रमा अपने रथ पर चढी और यवनिका गिर गयी। रथ-चक्रों में गति आ गयी। तभी एक क्षीण अट्टहास के साथ रथ के भीतर अग्निवेताल और भट्टमात्र साकार हो गये। अदृश्य रूप में ये दोनों पहले से ही रथारूढ़ हो गये थे। विक्रमा के मुख पर मुस्कान तैर गयी–"बधाई हो विक्रमा ! ऐसी दिव्य सफलता के लिए हार्दिक बधाई !!" भट्टमात्र ने कहा–"और हॉ, मेरा वीणा-वादन कैसा रहा?" विक्रमा कुछ कहना ही चाहती थी कि वेताल पूछ वैठा–"पहले यह बताओ कि मेरा मृदंग-वादन कैसा रहा?"

"अच्छा रहा ..... बहुत अच्छा !!"–विक्रमा ने सस्मित उत्तर दिया।"–सत्य तो यह है कि आज जो भी प्रभाव वना है–वह तुम्हारे अदृश्य रहकर किये गये वाद्य-वादन से ही बना है। राजकुमारी तो गद्‌गद हो गयीं।"

"वह सव-कुछ हमसे कहॉ छिपा है। हम सब-कुछ जानते हैं।"–अग्निवेताल ने हॅसते हुए कहा–"राजकुमारी के आलिंगन ने हृदय की धड़कनें तीव्र कर दीं या नहीं?"

"अरे, मित्र ! यह तो अथ है। इस यात्रा की इति तो अभी वहुत दूर है।"

"तो क्या हुआ। सही मार्ग पर उठा हुआ प्रथम चरण ही लक्ष्य-प्राप्ति का सशक्त आश्वासन होता है। आवश्यकता केवल धैर्य, साहस और लगन की ही रहती है।"

"अच्छा .... अच्छा, अव तुम लोग जाओ। तुम्हें पहले से वहॉ–रूपश्री के आवास पर होना चाहिये। जाओ ....शीघ्रता करो .... अन्यथा।"

"कोई अन्यथा नहीं, विक्रमा जी ! अन्यथा होगा ही क्या !" अग्निवेताल ने विश्वास-भरे शब्दों मे कहा और दोनों अदृश्य हो गये। रथ अपने वेग से अग्रसर होता रहा और एकाकी विक्रमा आप-आप ही मौन वार्त्तालाप करती रही। उसे अपनी प्रथम चरण की सफलता पर असीम संतोष था। सुकोमला का हृदय जीतने की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मे वह तुष्ट थी।

● ●

प्रात:काल की बेला में विक्रमा का मन अशान्त–उद्विग्न था। वस्तुतः सारी रात्रि ही उसने आँखों में व्यतीत कर दी थी। एक क्षण को भी उसने निद्रा नहीं ली। जागती आँखों के स्वप्नों में ही वह खोयी रही। भोर हो जाने पर वह राजकुमारी सुकोमला से भेंट करने को व्यग्र हो गयी थी। रूपश्री की साक्षी में उसे राजकुमारी का आमंत्रण तो प्राप्त था ही कि वह उनकी सहचरी हो गयी है और इस नाते उसे प्रतिदिन प्रासाद मैं उपस्थित होना है। प्रासाद मे जाने का हेतुक तो इस प्रकार बना हुआ था ही। प्रश्न यही था कि विक्रमा अपनी ओर से कैसे कहे कि वह राजकुमारी की सेवा में जाना चाहती है! कुछ ही क्षणो में इस समस्या का भी समाधान हो गया, जब प्रासाद में एक दासी रथ लेकर उपस्थित हो गयी। राजकुमारी जी ने स्वयं विक्रमा का स्मरण किया था। विक्रमारूपी महाराज विक्रमादित्य का कार्य आगे-से-आगे इस प्रकार स्वतः वनता चला जा रहा था। इस बुलावे को पाकर विक्रमा का हृदय-प्रसून खिल उठा। अपनी आन्तरिक उत्फुल्लता को दमित कर वह सहज भाव से राजप्रासाद जाने को तैयार होने लगी। साधारण-सी रूप-सज्जा से ही उसका नैसर्गिक सौन्दर्य खिल उठता था। सामान्य-से वस्त्रालंकारों में भी वह सज्जित दिखायी देने लगती थी, अपितु उसका सान्निध्य पाकर ये वस्त्रालंकार ही और अधिक शोभायुक्त हो जाते थे।

विक्रमा जब प्रासाद में पहुँची तो राजकुमारी स्नानागार मे थी। उनका निर्देश था कि विक्रमादेवी के पहुँचते ही उन्हें तत्काल अवगत कराया जाय। स्नानागार में जब सूचना भिजवायी गयी तो भीतर से निर्देश आया कि विक्रमा को वहां भेज दो। वह हमारी अन्तरंग सहचरी है। हमारे साथ-साथ वह भी स्नान करेगी। संदेश तो उत्साहवर्धक था; किन्तु यह परिस्थिति इस समय अनुकूल नहीं थी। विक्रमा और विक्रमादित्य का भेद आड़े आ रहा था। इसी प्रकार से विक्रमा बना रहना ही उनके लिए अपेक्षित था। अतः विक्रमा ने असमर्थता व्यक्त करते हुए क्षमा-याचना कर ली और वात वनाते हुए दासी से कहा–"क्या करूँ ! राजकुमारी जी के [illegible] की अवज्ञा भी कैसे करूँ? परन्तु मैं विवश हूँ। मैंने जो कंचुकी धारण कर [illegible] उसे मै स्वामिनी की अनुमति के विना उतार नही सकती हूँ; अन्यथा मुझे [illegible] की कठोर यातनाएँ भोगनी होगीं।"

कठोर यातनाओ की जब चर्चा राजकुमारी के कानों में [illegible] अपने आग्रह पर बल नहीं दिया। वे नहीं चाहती थीं कि [illegible]

कोई पीड़ा हो। विक्रमा के लिए उनके मन में अपार स्नेह भाव जाग्रत हो गया था वे तो दो देह एक प्राण वाली स्थिति अनुभव करने लगी थी। अब तो स्नानानन्द मे उनका मन भी नही लगा। वे शीघ्र ही स्नानागार से बाहर निकल आयीं और उसी स्थिति मे द्रुत गति से स्वयं ही विक्रमा के समीप पहुँच गयीं। सद्यःस्नाता सुकोमला का सज्जा सहित, प्राकृतिक रूप-वैभव देखकर विक्रमा तो आश्चर्यचकित रह गयी–ऐसा अलौकिक सौन्दर्य ...... वाह ! उसके भीतर का पुरुष इस रूप का पुजारी बन गया। आर्द्र तन पर सटकर महीन गुलाबी साटिका पारदर्शी हो गयी थी। उसकी झाँई ने सुकोमला के सुकोमल तन को गुलाबी कर दिया था। राजकुमारी की साधारण देह-यष्टि अपनी समस्त मॉसलता और संरचना-सौन्दर्य के साथ प्रकटीभूत हो रही थी। प्रिय सहचरी के दर्शन मात्र से मानो उनके नयन मुस्करा उठे थे और अधरों पर मन्द हास बिखरा पड़ रहा था। राजकुमारी ने अपने कोकिल कंठ से स्नेहपूर्वक इतना कहा–"तुम आ गयीं, विक्रमा ! हमें तुम्हारी ही प्रतीक्षा थी।" और वे वस्त्र-परिवर्तन के लिए चली गयीं। राजकुमारी को उसने खड़े होकर नमनपूर्वक प्रणाम किया। कंठावरोधवश वह मूक ही बनी रही। राजकुमारी सुकोमला तो वस्त्रागार में चली गयीं, किन्तु उनकी वह अपरूप छवि विक्रमा के नयनों में बस गयी थी। उसे मुस्कराती सुकोमला अब भी वहीं खड़ी दिखायी दे रही थीं और उसके नयन राजकुमारी के सौन्दर्य-रस का पान करने में तन्मय थे। विक्रमा की इस आभ्यन्तरिक व्यस्तता ने ऐसा तल्लीन कर लिया था कि वह बाह्य परिवेश को जैसे विस्मृत ही कर बैठी थी। दिवा-स्वप्न मे खोई बड़ी देर तक वह अपलक–अविचल बैठी रह गयी।

विक्रमा के इस स्वप्निल सुखोपभोग का सीमान्त तो तब आया, जब परिचारिका ने व्यवधान डाला। राजकुमारी जी ने विक्रमा को विश्राम-कक्ष मे बुलाया था और यही सूचना लेकर परिचारिका आयी थी। राजकुमारी सुकोमला ने अपनी स्वाभाविक स्मिति के साथ अपनी अन्तरंग सखी का स्वागत किया। अपने समक्ष ही उसे आसन दिया और बोलीं–"अच्छा हुआ कि तुम शीघ्र ही आ गयीं। जब से तुम्हारा वह दिव्य संगीत सुना है–हम तो तुम्हारी ही होकर रह गयी हैं। इतने समय कहाँ छिपी रहीं तुम, विक्रमा ! पहले हमारा सम्पर्क क्यों नहीं हुआ। ऐसा महान् संगीत-रत्न ...... आहा हा ...... !"

"ये तो सभी योग-संयोग की स्थितियाँ हैं, स्वामिनी ! मनुष्य के हाथ में कुछ भी नहीं है। जब उपयुक्त समय आता है .... ये स्थितियाँ स्वतः ही बनती चली जाती हैं। अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य तो ऐसा ही मानते रहे हैं और हमें भी ऐसे ही संस्कार दिये हैं।"–विक्रमादित्य का नाम सुनकर क्या प्रतिक्रिया होती है–यह जानने को व्यग्र विक्रमा राजकुमारी का मुख निहारने लगी और बोली–"आपका-हमारा मिलन–सम्पर्क जब होना था–तभी हुआ।"

"सो तो ठीक है—कदाचित् तुम्हारे महाराज विक्रमादित्य ठीक ही सोचते है। कैसे हैं तुम्हारे विक्रमादित्य महाराज?"—राजकुमारी सुकोमला ने कहा—"सुना है बड़े पराक्रमी हैं।"

"जी...... पराक्रमी भी और साहसी भी। वे जिसे चाहते हैं उसे प्राप्त करके ही रहते हैं। फिर कोई बाधा, कोई भय या संकट उनके मार्ग में अवरोध नहीं वना रह सकता। अपार वलवान भी हैं वे और अत्यन्त रूपवान भी। साक्षात् कामदेव ही हैं। उनका मन भी अपने सदादर्शों और सुनीतियों के कारण अतिशय सुन्दर है।" विक्रमा ने एकाध क्षण का विराम लेकर कहा—"वस, यह समझिये कि वे शक्ति शील और सौन्दर्य के अद्भुत संगम हैं—महापुरुष हैं।"

"हूँ....।" राजकुमारी ने निःश्वास छोड़ा और विपयान्तर के प्रयोजन से वोलीं—"जो भी हो.... संगीत के क्षेत्र मे सखी विक्रमा ! तुम इस युग में अद्वितीय हो। हमारी आचार्या जी के मन में भी तुम्हारे लिए उच्च्य प्रशंसा का भाव है।.... हमने तो जव से तुम्हारा वह चमत्कारपूर्ण संगीत सुना है—तुम्हारे साहचर्य की कामना तभी से प्रवलतर होती चली गयी है।"

"यह आपकी उदारतापूर्ण कृपा और मेरा सौभाग्य है।" विक्रमा ने सविनय निवेदन किया और उसका शीश स्वतः ही झुक गया।

"विक्रमा..... विक्रमा..... ! दो सखियों के मध्य ऐसी औपचारिकताएँ शोभा नहीं देतीं। हमारे वीच स्नेह तो पारस्परिक रूप मे है, किन्तु किसी की किसी पर कृपा का कोई प्रश्न नही होता। हम सच कहती है।"—राजकुमारी ने कहा—"हम तो रातभर सो ही नही सकी हैं। तुम्हारा वह मधुर गीत ही कानो मे गूँजता रहा—तुम्हारे हाव-भाव ही आँखों में वसे रहे। अच्छा, एक वात वताओ.... हमारी एक कामना—एक अभिलापा पूर्ण करोगी?"

"आदेश करें, स्वामिनी !"

"हमें तुम रात्रि समय में अकेले अपना संगीत नहीं सुना सकती?"

"क्यों नहीं, स्वामिनी ! अवश्य सुना सकती हूँ। यह तो अहोभाग्य होगा मेरा किन्तु....।"

"किन्तु क्या..... ? वोलो, विक्रमा !"

"किन्तु यह कि व्यक्तिगत स्तर पर हमें किसी को भी निःशुल्क रूप में संगीत सुनाने की अनुमति नही है। सार्वजनिक प्रस्तुतीकरण ही निःशुल्क हो सकता है।"

"ऐसा है?"

"जी, ऐसा ही है। हमारे महाराज विक्रमादित्य की ऐसी ही व्यवस्था है [illegible] संगीत-आचार्य भी तो हैं।"

"तो हम तुम्हें शुल्क क्या दें...... ! पुरस्कृत करेंगे तुम्हें।" पुरस्कार नहीं देवी ! शुल्क ही अपेक्षित है। पुरस्कार पर तो कलाकार का स्वामित्व हो जाता है। शुल्क राशि एक कोष में जमा होती है जिसका उपयोग दीन-दुःखियों की सहायतार्थ होता है। यह कला की समाज के प्रति सेवा है।"

"ओह...... कितना ऊँचा उद्देश्य है। महान् हैं तुम्हारे महाराज विक्रमादित्य। अच्छा...... क्या है तुम्हारा शुल्क?"

"मात्र सवा लाख मुद्राएँ।"

"स्वीकार है...... हमें स्वीकार है, सखी ! हम शुल्क देंगी—अवश्य देंगी। जब तक तुम प्रतिष्ठानपुर में हो हमें हर रात्रि में अपना संगीत सुनाया करो।'

"जैसी आज्ञा देवी !"

"अच्छा चलो....हमारे साथ भोजन करो। हम आज तुम्हारे साथ ही.... ।"

"क्षमा की जाऊँ तो एक निवेदन करूँ, स्वामिनी !"

"क्या कहना चाहती हो? सखी विक्रमा....कहो...... कहो...... निःसंकोच रूप मे कहो।"

"वास्तविकता यह है कि दो स्त्रियों अथवा दो पुरुषों का संग-संग भोजन करना भी क्या कभी आनन्दप्रद हो सकता है ! या तो स्त्री अथवा पुरुष एकाकी ही भोजन करे, या स्त्री-पुरुष का युग्म साथ-साथ भोजन करे—यही अच्छा लगता है।"

"तुम्हें भोजन न करना हो हमारे साथ तो न करो, किन्तु पुरुषों के उल्लेख द्वारा हमें उत्पीडित न करो, सखी ! हम संकेत रूप में तुम्हें भविष्य में सावधानी वरतने को कहती हैं। हमें घृणा है पुरुष जाति से.... हमें उसका नाम भी अच्छा नहीं लगता।" किंचित् रोष के साथ राजकुमारी ने कहा—

"क्षमा चाहती हूँ...... देवी ! भविष्य में ध्यान रखूँगी। आपको पीड़ा पहुँचाना, भला मुझे कब प्रिय होगा !"

"ठीक है...... तुमसे हमें आशा भी यही है। आगे से सावधानी रखना अपेक्षित है।"—सहज होती हुई राजकुमारी बोलीं और भोजन के लिए चली गयी। विक्रमा को शयन-कक्ष मे प्रतीक्षा करने को कहा गया। शयन-कक्ष कलात्मकता के साथ सज्जित था। गवाक्षों पर सुन्दर यवनिकाएँ पडी थीं जिन पर अति सुन्दर वेल-बूटे वने थे। यवनिकाओं के कारण कक्ष के भीतर का आलोक मंद और कोमल हो गया था। गहरे लाल किन्तु चमकीले रंग का कालीन सारे कक्ष में बिछा था। कक्ष का आँगन इससे भव्य और गुदगुदा हो गया था। भित्तियों पर विभिन्न नृत्यों के मनोहर दृश्य अंकित थे। शय्या इस कक्ष की परम आकर्षक वस्तु थी। चन्दन-काष्ठ से निर्मित शय्या पर स्वर्ण पुष्पों–पल्लवों का मडन था जिसमें रत्न

जड़े हुए थे। मुक्ता-हारों से विभिन्न आकृतियॉ बनाकर इसे अलंकृत किया गया था। शय्या का सिरहाने का उच्च भाग दो हंसिनियों की सुन्दर आकृतियों के योग से वनाया गया था। सारा कक्ष चन्दन की मन्द सुगन्ध से सदा ही भरा रहता। शय्या पर पीतवर्णी आवरणयुक्त सुखद गद्दे, गाव-तकिये थे। नीलवर्णी महीन जाली के वस्त्र से इस शय्या का सुन्दर आवरण निर्मित किया गया था। छत से लटकते कमल-गुच्छ से निकला यह शंकु ऊपर से सिमटकर केन्द्रित हो गया था और नीचे की ओर विकेन्द्रित होता हुआ फैलता गया और अन्ततः शय्या को उसने अपने घेरे में ले लिया था। शय्या के समीप ही शोभन-मंडनयुक्त दो सुन्दर आसन स्थित थे। आसनों के ऊपर छत से झूलता एक बड़ा व्यजन था जिसका रज्जु खीचते ही वह हिल उठता और कक्ष की वायु दोलित हो जाती थी। एक शीतलता का संचार कक्ष-भर में हो जाता था। विक्रगा को इस कक्ष ने परिचित करा दिया था कि राजकुमारी सुकोमला की वृत्तियाँ और मानस कैसा है। वह एक आसन पर वैठी, शीतल पेय का पान कर रही थी। ज्यों ही उसने रिक्त हुए पानक को समक्ष स्थित त्रिपदी पर रखा—त्यों ही ताम्वूल चर्वण करती हुई राजकुमारी सुकोमला ने प्रवेश किया, सम्मान भावना के साथ विक्रमा उठ खड़ी हुई। उसे आसीन होने का सकेत करते हुए राजकुमारी ने शय्या के नील आवरण के मध्यवर्ती भाग को एक ओर खिसकाया और शय्या पर आसीन हो गयी। रत्नजटित मखमली पदत्राण त्यागकर वह शय्या पर पीछे की ओर खिसकी और हंसाकृतियों मे वने पृष्ठ-विश्राम की ओर वढ गयी। हंसों पर शीश को आधारित कर, कुहनी टिकाकर वे अधलेटी विश्राम करने लगीं। इसी समय व्यजन दोलित हो उठा और कक्ष की वायु शीतल पवन मे परिणत होकर सुख देने लगी।

"सखी विक्रमा ! कभी-कभी हम सोचती हैं ......।" ताम्वूल का संकलित रस गटकते हुए राजकुमारी सुकोमला ने कहा—"दो व्यक्तियों के मध्य सहसा स्नेह-सहानुभूति का भाव उदित हो जाता है। वे परस्पर हितकामी हो जाते हैं। कोई कारण ...... कोई स्वार्थ दिखायी ही नहीं देता। इसके विपरीत कभी-कभी दो व्यक्तियो के मध्य वैमनस्य और विद्वेष का भाव भी घर कर जाता है—कारण इसका भी कोई प्रतीत नहीं होता। किन्तु स्नेह अथवा घृणा ...... यो सर्वथा अकारण भी तो नही हो सकती। तुम क्या मानती हो, विक्रमे !"

विक्रमा के लिए तो यह प्रश्न पूर्व मे ही सुचिन्तित रहा था। उसके पास इसके उत्तर भी इसका तैयार था। त्वरित बुद्धि का परिचय देती हुई उसने उत्तर दिया—"स्वामिनी ! कोई भी परिणाम बिना कारण के तो नहीं रहता है। धुआँ है तो अग्नि भी अवश्य होगी। मेरी तो ऐसी मान्यता है कि इस प्रकार के स्नेह या वैमनस्य का आधार चाहे हमे स्पष्ट दिखायी न भी देता हो, तथापि वह [illegible] अवश्य है। पूर्वभवो के पारस्परिक सबंधो और व्यवहारो के परिणाम ही इस प्रकार

में किसी के साथ हमारे सबंध होते हैं—अच्छे अथवा बुरे, मैत्री के अथवा विरोध के। पूर्वभव से हम अनभिज्ञ होते है अतः इस जन्म के संबंधों का आधार हमें ज्ञात नहीं हो पाता और हम उन्हें अकारण अथवा आधारहीन मानने लगते हैं।''

अपनी चिबुक पर तर्जनी गड़ाए हुए राजकुमारी दत्तचित होकर विक्रमा का कथन सुन रही थीं। उन्होंने इन शब्दों को सारभूत माना और इसके भाव को हृदयंगम करने का प्रयास किया। सहसा वे शय्या पर सीधी बैठ गयीं और आगे आ गयीं एक केश-लट की शीश डुलाकर पीछे धकेलते हुए प्रसन्नता व उत्साह के साथ बोलीं—''सखी ...... सखी ! तुम बड़ी मेधावी हो ..... मेरे मन को मथने वाले इस प्रश्न का ऐसा सटीक समाधान कर दिया है तुमने कि अब कोई संशय शेष ही नहीं रह गया है। तुम तो चिन्तक भी उच्च श्रेणी की हो। पूर्वभव का ही कोई कारण हमें परस्पर मिला पाया है। हमें बड़ी ही प्रसन्नता है।'' इस प्रशस्ति के लिए विक्रमा ने शीश झुकाकर कृतज्ञता ज्ञापित की।

रात्रि में जब सर्वत्र शान्ति व्याप्त हो गयी तो इस शयन-कक्ष में राजकुमारी सुकोमला ने गायिका विक्रमा को पुनः स्मरण किया। विचार-विपुलता से राजकुमारी संतप्त थीं। तनावग्रस्तता ने उन्हें अशान्त—अधीर बना दिया था। वे चाहती थीं कि उन्हें निद्रा आ जाय और निद्रा थी कि उनके नयनों से दूर-दूर भागी जा रही थी। गत रात्रि में भी वे सो न सकी थीं और अब भी निद्रा की कोई संभावना न पाकर वे चिन्तित हो रही थीं। आँखों में जैसे टेसू खिल आये थे। आरक्त नयनों से वे द्वार की ओर निहारती रहीं कि कब विक्रमा आये और .....। विक्रमा से उनका अन्तरतम का सामीप्य ऐसा जुड़ गया था कि अलगाव दुस्सह हो उठा था।

''जय हो देवी !'' परिचारिका ने शयन-कक्ष में प्रवेश कर मानो अपने अस्तित्व से अवगत कराया—''गायिका विक्रमादेवी उपस्थित है, राजकुमारी जी !''

प्रसन्नवदना राजकुमारी ने निहारा और प्राण-प्यारी सखी विक्रमा को अपने कक्ष में पाकर वे हर्षित हो उठीं।

''आओ, विक्रमा ! .... आओ, आज तो लगता है हम मृत्यु को भी स्मरण करते तो वह आ उपस्थित होती। तुम्हें स्मरण किया—और .... और तुम आ गयीं। आज के समान तीव्र आवश्यकता हमको तुम्हारी कदाचित् कभी न रही।''

''आदेश ...... स्वामिनी !''

''आदेश नहीं .... अनुरोध है। तुम तो महान् कलाकार हो। अपनी कला से, गीत-संगीत से हमारी पीडा दूर करो, सखी ! हम निद्रा को तरस रही है। ऐसी तान सुनाओ कोई कि हम सो जायें—मीठी-मीठी नींद का आनन्द ले सकें।'' —राजकुमारी ने निहोरे की मुद्रा में कहा और आशा-भरी दृष्टि से विक्रमा का मुख निहारने लगीं।

"प्रयत्न करूँगी, स्वामिनी ! ...... विश्वास है मेरा गीत सफल होगा और आपको निद्रा-सुख अवश्य मिलेगा।" दर्पहीन वाणी में विक्रमा ने करवद्ध निवेदन किया और एक सहज मुस्कान विखेरती हुई वह आगे वढी। उसने अपने कोमल स्पर्श से राजकुमारी को अद्‌भुत अपूर्व सुख देते हुए उनके पैर लम्वे कर दिये। तकिया ठीक करते हुए उन्हें सीधा लिटा दिया और कहा कि ऊपर हसो की ओर देखने का प्रयत्न कीजिये। इस प्रयत्न में उनकी पुतलियॉ ऊपर को चढ गयी। "हॉ. अव ठीक है ..... अव आप अपने अंग-प्रत्यंग को शिथिल छोड दीजिए और सामान्य रूप से सॉस लेने का प्रयत्न कीजिए। अब मैं गायन आरभ करती हूँ ...।" विक्रमा ने कहा और विना किसी वाद्य-सहयोग के उसने गुनगुनाना आरभ किया–जैसे सहस्रों भ्रमर गुंजार कर रहे हो। गुनगुनाहट वोलो में ढलने लगी–

निंदिया की पालकी में बैठी हूँ मैं,

अब सपनो की नगरी को जाती हूँ मैं।

संकट के कंटकों को पीछे है छोड़ा,

कल्पना की कलियॉ खिलाती हूँ मैं॥

आँखों को अमृत पिलाती हूँ मैं ....॥

गीत अग्रसर होता रहा–माधुर्य सघनतर होता रहा–राजकुमारी पर मत्तता छाती रही। नृत्य-प्रवीणा राजकुमारी के चरण गीत की लय पर थरथराने लगे। गीत और आगे वढ़ा–वढता गया। चरणो की थिरकन मंद से मंदतर होती गयी। सारा वातावरण मादकता से सिक्त हो उठा। चरणो की गति थम गयी। राजकुमारी के नयन अर्द्ध-निमीलित हो गये। पलकें वोझिल होकर झुक गयी। कुछ ही पलो में पलके मुँद गयी और राजकुमारी सुकोमला गहन निद्रा के अधीन हो गयी। गीत के दो चरण अभी शेप थे, किन्तु उनकी अव कोई आवश्यकता न रही। विक्रमा ने संकेत से ही परिचारिका को वोध कराया कि कक्ष का प्रकाश मद कर दो और अव यहॉ से चलो। वड़ी सावधानी के साथ निःशव्द रूप मे चरण वढाते हुए दोनो कक्ष से वाहर आ गयी। प्रहरियों को निर्देश दिया गया कि स्वामिनी की निद्रा में कोई व्यवधान न आए। वे स्वतः ही जागेगी–उन्हे इससे पूर्व जगाने का प्रयत्न भी न किया जाय। अव विक्रमा अपनी स्वाभाविक गति से नीचे उतर [illegible] और समक्ष खडे रथ की ओर वढ गयी।

* * *

रात्रि के शान्तैकान्त मे विक्रमा अपने कक्ष मे एकाकी थी। निद्रा उसकी आँखों से दूर–अति दूर हो गयी थी। ऐसे मे उसका मानस सक्रिय हो उठा। [illegible] भाँति-भाँति के विचारो का आवागमन होने लगा। राजकुमारी के [illegible]

में किसी के साथ हमारे संबंध होते हैं—अच्छे अथवा बुरे, मैत्री के अथवा विरोध के। पूर्वभव से हम अनभिज्ञ होते है अतः इस जन्म के संबंधों का आधार हमें ज्ञात नहीं हो पाता और हम उन्हें अकारण अथवा आधारहीन मानने लगते है।"

अपनी चिबुक पर तर्जनी गड़ाए हुए राजकुमारी दत्तचित होकर विक्रमा का कथन सुन रही थीं। उन्होंने इन शब्दों को सारभूत माना और इसके भाव को हृदयंगम करने का प्रयास किया। सहसा वे शय्या पर सीधी बैठ गयीं और आगे आ गयीं एक केश-लट की शीश डुलाकर पीछे धकेलते हुए प्रसन्नता व उत्साह के साथ वोलीं—"सखी ...... सखी ! तुम बड़ी मेधावी हो ..... मेरे मन को मथने वाले इस प्रश्न का ऐसा सटीक समाधान कर दिया है तुमने कि अब कोई संशय शेष ही नहीं रह गया है। तुम तो चिन्तक भी उच्च श्रेणी की हो। पूर्वभव का ही कोई कारण हमें परस्पर मिला पाया है। हमें बड़ी ही प्रसन्नता है।" इस प्रशस्ति के लिए विक्रमा ने शीश झुकाकर कृतज्ञता ज्ञापित की।

रात्रि में जब सर्वत्र शान्ति व्याप्त हो गयी तो इस शयन-कक्ष में राजकुमारी सुकोमला ने गायिका विक्रमा को पुनः स्मरण किया। विचार-विपुलता से राजकुमारी संतप्त थीं। तनावग्रस्तता ने उन्हें अशान्त—अधीर बना दिया था। वे चाहती थीं कि उन्हे निद्रा आ जाय और निद्रा थी कि उनके नयनों से दूर-दूर भागी जा रही थी। गत रात्रि में भी वे सो न सकी थीं और अब भी निद्रा की कोई संभावना न पाकर वे चिन्तित हो रही थीं। ऑखों में जैसे टेसू खिल आये थे। आरक्त नयनों से वे द्वार की ओर निहारती रहीं कि कब विक्रमा आये और .....। विक्रमा से उनका अन्तरतम का सामीप्य ऐसा जुड़ गया था कि अलगाव दुस्सह हो उठा था।

"जय हो देवी !" परिचारिका ने शयन-कक्ष में प्रवेश कर मानो अपने अस्तित्व से अवगत कराया—"गायिका विक्रमादेवी उपस्थित हैं, राजकुमारी जी !"

प्रसन्नवदना राजकुमारी ने निहारा और प्राण-प्यारी सखी विक्रमा को अपने कक्ष में पाकर वे हर्षित हो उठीं।

"आओ, विक्रमा ! .... आओ, आज तो लगता है हम मृत्यु को भी स्मरण करते तो वह आ उपस्थित होती। तुम्हें स्मरण किया—और ....और तुम आ गयीं। आज के समान तीव्र आवश्यकता हमको तुम्हारी कदाचित् कभी न रही।"

"आदेश ...... स्वामिनी !"

"आदेश नहीं .....अनुरोध है। तुम तो महान् कलाकार हो। अपनी कला से, गीत-संगीत से हमारी पीडा दूर करो, सखी ! हम निद्रा को तरस रही हैं। ऐसी तान सुनाओ कोई कि हम सो जायें—मीठी-मीठी नींद का आनन्द ले सकें।" —राजकुमारी ने निहोरे की मुद्रा में कहा और आशा-भरी दृष्टि से विक्रमा का मुख निहारने लगीं।

"प्रयत्न करूँगी, स्वामिनी ! ...... विश्वास है मेरा गीत सफल होगा और आपको निद्रा-सुख अवश्य मिलेगा।" दर्पहीन वाणी में विक्रमा ने करबद्ध निवेदन किया और एक सहज मुस्कान विखेरती हुई वह आगे बढी। उसने अपने कोमल स्पर्श से राजकुमारी को अद्‌भुत अपूर्व सुख देते हुए उनके पैर लम्वे कर दिये। तकिया ठीक करते हुए उन्हें सीधा लिटा दिया और कहा कि ऊपर हसों की ओर देखने का प्रयत्न कीजिये। इस प्रयत्न में उनकी पुतलियॉ ऊपर को चढ गयीं। "हॉ, अव ठीक है ..... अव आप अपने अंग-प्रत्यंग को शिथिल छोड़ दीजिए और सामान्य रूप से सॉस लेने का प्रयत्न कीजिए। अब मैं गायन आरभ करती हूँ ....।" विक्रमा ने कहा और विना किसी वाद्य-सहयोग के उसने गुनगुनाना आरंभ किया–जैसे सहस्रों भ्रमर गुजार कर रहे हों। गुनगुनाहट बोलों में ढलने लगी–

निंदिया की पालकी में बैठी हूँ मैं,

अब सपनों की नगरी को जाती हूँ मैं।

संकट के कंटकों को पीछे है छोड़ा,

कल्पना की कलियॉ खिलाती हूँ मैं॥

आँखों को अमृत पिलाती हूँ मैं ....॥

गीत अग्रसर होता रहा–माधुर्य सघनतर होता रहा–राजकुमारी पर मत्तता छाती रही। नृत्य-प्रवीणा राजकुमारी के चरण गीत की लय पर थरथराने लगे। गीत और आगे वढ़ा–बढ़ता गया। चरणों की थिरकन मंद से मंदतर होती गयी। सारा वातावरण मादकता से सिक्त हो उठा। चरणों की गति थम गयी। राजकुमारी के नयन अर्द्ध-निमीलित हो गये। पलकें बोझिल होकर झुक गयी। कुछ ही पलों मे पलके मुँद गयीं और राजकुमारी सुकोमला गहन निद्रा के अधीन हो गयी। गीत के दो चरण अभी शेष थे, किन्तु उनकी अब कोई आवश्यकता न रही। विक्रमा ने संकेत से ही परिचारिका को बोध कराया कि कक्ष का प्रकाश मंद कर दो और अव यहॉ से चलो। वड़ी सावधानी के साथ निःशब्द रूप में चरण वढाते हुए दोनो कक्ष से वाहर आ गयीं। प्रहरियों को निर्देश दिया गया कि स्वामिनी की निद्रा मे कोई व्यवधान न आए। वे स्वतः ही जागेंगी–उन्हें इससे पूर्व जगाने का प्रयत्न भी न किया जाय। अब विक्रमा अपनी स्वाभाविक गति से नीचे उतर आयी और सन्नद्ध खड़े रथ की ओर वढ गयी।

× × ×

रात्रि के शान्तैकान्त में विक्रमा अपने कक्ष में एकाकी थी। निद्रा उसकी पलकों से दूर–अति दूर हो गयी थी। ऐसे में उसका मानस सक्रिय हो उठा। उसके मन मे भॉति-भॉति के विचारों का आवागमन होने लगा। राजकुमारी के मन को पुरुष-द्वेष

से मोड़कर भावुक और संवेदनशील बनाने के क्रम में मुझे प्रथमतः स्वयं उनके म में स्थान बनाना होगा। तभी मेरा प्रभाव होगा—मैं उनका विश्वास जीत सकूँगी इसके अभाव में मैं उनके विचारों को कैसे नया मोड़ दे सकूँगी ! मुझे तो वह का संभव कर दिखाना है, जो अभी सभी को असंभव प्रतीत होता है—यही कि राजकुमारी सुकोमला का हृदय-परिवर्तन किया जाय—कायापलट। विक्रमा सोचते चली जा रही थी कि अभी भी मुझे उनके मन में अपने प्रति स्नेह भाव को सुदृढ़ करने के लिए बहुत-कुछ करना है। स्नेह की भावना में बड़ा बल होता है। इस साधन के सहारे दुराग्रहियों से भी उनकी हठ छुड़वाकर, उन्हें स्वानुकूल बनाया जा सकता है जो कदाचित् अपार शक्ति के प्रयोग द्वारा भी संभव नहीं है। अश्व को पानी तक तो लाया जा सकता है, किन्तु पीता वह अपनी इच्छा से ही है। हम उसे पानी पिला नहीं सकते, पर स्नेहपूर्ण पुचकार से हम उसे प्रेरित तो कर ही सकते हैं। सहसा उसका विचार-क्रम खंडित हुआ। अग्निवेताल उसके कक्ष में दृश्यमान हो गया था। उसने मुस्कराते हुए पूछा—"महाराजश्री ! अब मंजिल कितनी दूर रह गयी है?"

"वेताल ! तुम्हारा-हमारा नाता मैत्री का है न ! यह शोभा नहीं देता कि तुम हमें अन्य जनों की भाँति महाराज का सम्बोधन देकर बात करो, मित्र अग्निवेताल !"—महाराज ने चिन्तन को मुखर करते हुए-से कहा—"मंजिल की दूरी तो अभी अज्ञात है, किन्तु एक बात अवश्य है कि राजकन्या के मन में अवन्ती-नरेश के प्रति सम्मान का बड़ा ऊँचा भाव है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमादित्य को वह अपने अनुराग का पात्र मानने लगी हैं।"

"मित्रवर ! यह सत्य भी हो, तब भी इसका क्या लाभ !"—अग्निवेताल ने कहा—"उसकी नर-द्वेष की प्रवृत्ति तो बनी ही हुई है न ! अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य उसे प्राप्त तो नहीं कर सकते हें न !"

"तुम सत्य ही कहते हो, मित्र वेताल ! पहले उनके दृष्टिकोण को परिवर्तित करने की अपेक्षा है और मैं उसी प्रयत्न में लगा हूँ।" विक्रमा वेशधारी विक्रमादित्य ने सधैर्य कहा और वे अन्तर्मुखी हो गये।

"एक बात तो है ....।"—अग्निवेताल ने कुछ सोचते हुए कहा—"जब अवन्ती-नरेश के प्रति उनके मन में प्रीतिपूर्ण स्थान है तो आपको इस पर नारी-वेश धारण करने और यह सब-कुछ करने की आवश्यकता ही क्या है ! आपका आदेश हो तो मैं राजकन्या को प्रतिष्ठानपुर से उठाकर अवन्ती के राजभवन मे पहुँचा दूँ .... समस्या हल हो जायेगी।"

"नहीं, वेताल ! यह तुम्हारा मिथ्या विचार है।"—प्रबोधन के स्वर में विक्रमा ने कहा—"हमारा मूल उद्देश्य सुकोमला को प्राप्त करने का नहीं, अपितु उसके नर-द्वेष के विकार को समाप्त करना है। इस विकार के बने रहते—बलपूर्वक उन्हें अपना बनाने का कोई अर्थ न होगा।"

"मैं भूल रहा था, स्वामी ! आपका कथन यथार्थ ही है।"

"मित्र अग्निवेताल ! तुम तो ज्ञानी हो .... विवेकशील हो। इस प्रकार अपहरण कर एकांगी प्रेम के आधार पर आधिपत्य स्थापित करना दुष्ट कर्म है। हमें यह शोभा नहीं देगा। हम तो उनके तन पर नहीं .... मन पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। हमें भी अनुराग है उनसे .... और ....।"

"और क्या, महाराज? आप सहसा चुप क्यों हो गये?"

"राजकन्या को भी हमसे अनुराग है, किन्तु वह अनुराग विक्रमा से है .... विक्रमादित्य से नहीं। विक्रमा के प्रति यह प्रीति .... विक्रम के प्रति प्रेम में परिणत हो जाय .... बस, यही हमारी आकांक्षा है–यही हमारा ध्येय है।"

"सर्वथा उपयुक्त है, महाराज ! ऐसा ही होना चाहिए .... और होगा भी ऐसा ही। पहले तो राजकन्या का विकार ही दूर करना होगा।"

दोनो मित्रों के मध्य यह अन्तरंग वार्त्तालाप चल ही रहा था कि सहसा द्वार पर हौले-से थपकी हुई। इस समय कौन हो सकता है .... विक्रमा कुछ अनुमान न कर पा रही थी। तभी अग्निवेताल द्वार की ओर बढ़ा। विक्रमा ने तब उसे बरजते हुए कहा–"नहीं .... तुम नहीं ! सारा रहस्य खुल नहीं जायेगा यदि द्वार तुमने खोला ! न जाने कौन है .... सोचेगा तुम मेरे कक्ष में कैसे .... !" और अपनी भूल पर सकुचाते हुए अग्निवेताल पीछे की ओर खिसक गया। विक्रमा ने आगे बढकर द्वार खोला और जमुहाई लेते हुए उसने एक अँगड़ाई ली। द्वार पर भट्टमात्र खड़ा था। विक्रमा ने सहज होते हुए उसे भीतर लिया और कुण्डी चढ़ा ली।

"आओ .... आओ, महामात्य .... इस समय कैसे आना हुआ? कोई विशेष बात?"

"श्रीमानेश्वर ! जब ऑख खुली तो पाया कि वेताल कक्ष में नही है। सोचा था कि नगर-भ्रमण को गया होगा, यह तो पहले से ही यहॉ बैठा है।"

"महामात्य जी ! हम छिन में यहाँ तो छिन में वहॉ हो सकते हैं। हमारी तो चर्चा ही त्यागिये। आप अपनी भी तो कहिये !"

"हम तो यह जानना चाहते थे कि बात कितनी आगे बढ़ी? कब तक हमें यहॉ रहना होगा? हम इधर अकर्मण्य होकर उकता रहे हैं और उधर राज-काज की हानि हो रही होगी।"

"तुम ठीक कहते हो, भट्टमात्र ! किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि अव तुम्हें अधिक समय तक यहॉ रुकना नहीं होगा। हमें तो कार्य-पूर्ति में कुछ अधिक ही समय अभी भी लग सकता है। किन्तु भट्टमात्र, तुम्हारा प्रयोजन अव लगभग पूर्ण होने को आया है।"

"यह आपने बड़ा शुभ संकेत दिया, महाराज ! मन को कुछ तुष्टि हुई, किन्तु आपको अकेले छोड़कर मैं भला जा भी सकूँगा, महाराज ! यह कैसे संभव होगा····?"

"संभव बनाना ही होगा, भट्टमात्र ! इसे ही संभव बनाना होगा। यह जानकर कि हम शीघ्र ही प्रतिष्ठानपुर से लौट जायेंगे, राजकन्या सुकोमला ने आज ही आदेश दिया है कि हम उनके साथ उनके प्रासाद में रहें–अतिथि रूप में। कल से ही यह सारी व्यवस्था हो जाने को है। हमने टालने का प्रयास भी वहुतेरा किया, कहा कि हम तो प्रतिष्ठानपुर में दीदी रूपश्री के अतिथि हैं–उनकी अनुमति के बिना यह सम्भव नहीं है। हमारे तर्क को महत्ता देते हुए राजकन्या ने कहा कि रूपश्री को हम मना लेंगी–उसकी चिन्ता हम पर छोड़ दो। अव आगे हम क्या कर सकते थे। वहीं रहना होगा···· फिर तुम यहॉ अकेले रहकर करोगे भी क्या?"

"और हमारे लिए क्या आदेश है?" अग्निवेताल ने जिज्ञासा व्यक्त करते हुए पूछा।

"तुम्हारी वात अन्य प्रकार की है, वेताल ! तुम अदृश्य रूप में हमारे साथ वहॉ भी रह सकते हो। और तुम्हारी हमें आवश्यकता भी रहेगी। तुमको अभी मुक्ति कैसे मिलेगी?"

"किन्तु कल से ही आपका राजकन्या के साथ रहना मुझे शक्य नहीं प्रतीत होता, महाराज ! मैंने सुना है····।"

"क्या सुना है, तुमने भट्टमात्र !····· क्या सुना?"

"सुना है कल तो नगर के कतिपय संभ्रान्त जनों के लिए रूपश्री अपने यहॉ कोई संगीत-सत्र का आयोजन रख रही है। महाराज शालिवाहन के अनुज जितवाहन कदाचित् मुख्य अतिथि होंगे। आपका संगीत-प्रदर्शन कल के कार्यक्रम का मुख्याकर्पण रहेगा।"

"ऐसा···· ! तव तो राजकन्या से कल के लिए क्षमा-याचना करनी होगी। इस सभा में हम गायेंगी–अवश्य गायेंगी।"

"साधारण संगीत से भी काम वनेगा नहीं, महाराज ! असाधारण चमत्कार ही दिखाना होगा। सुना है जितवाहन भी वड़े अच्छे कला-प्रेमी हैं। वे रूपश्री के प्रियतम हैं–यह भी ज्ञात हुआ है। अपने प्रियतम पर वे संगीत का जादू कर देना चाहती हैं–कल।"

"हम भी कुछ ऐसा ही सोचते हैं, भट्टमात्र ! हमें कल की सभा में अपूर्व प्रभाव अंकित करना चाहिए। अद्भुत चमत्कार प्रकट होना चाहिए–संगीत का।"

"मैं हूँ न, स्वामी ! क्या चमत्कार कर दिखाना चाहते हैं आप कल की संगीत-सभा में?"

जल-स्तंभन .... यह अद्भुत चमत्कार कल दिखाना होगा। सगीत के स्वरों के साथ जल-कुंभ से जलधार ऊपर उठे .... सुरों के आरोह-अवरोह के साथ जल-उत्स उत्थान-पतन प्राप्त करता रहे, किन्तु यह धारा बनी रहे .... उसकी एक बूँद भी पतित होकर कुंभ में न समाये। यही जल-स्तंभन का चमत्कार है।''

''हो जायेगा, महाराज ! मेरे लिए सभी कुछ संभव है। मैं इस चमत्कार को नवीन मोड़ देकर और अधिक आकर्षक बना दूँगा, प्रभो ! .... आप निश्चिन्त रहें। जल-स्तंभन जो आपने वर्णित किया है, उसे कुछ लोगों ने देखा भी हो, सुना तो बहुतेरों ने होगा, किन्तु जो चमत्कार आप अपने संगीत से घटित करेंगे, वह कुछ नवीन अद्भुतता लिए हुए होगा। ऐसा किसी ने कभी देखा–सुना नहीं होगा।''

''तुम सर्व सामर्थ्यवान हो, बेताल ! तुम्हारी क्षमता हमारी निश्चिन्तता का आधार है।''

''तब तो कल की संगीत-सभा, ऐतिहासिक महत्त्व की रहेगी। प्रतिष्ठानपुर के संगीत-क्षेत्र की यह एक अभूतपूर्व घटना रहेगी।''–भट्टमात्र ने प्रसन्नतापूर्वक कहा।

''तुमने अच्छा ही किया, भट्टमात्र ! तुम्हारी पूर्व सूचना से हम कल का प्रदर्शन भलीभाँति योजनाबद्ध कर सकेंगे।'' विक्रमा ने कहा–''कल प्रातः ही जाकर राजकुमारी से क्षमा-याचना करनी होगी।''

राजकन्या के प्रासाद से रथ आया विक्रमा को लिवा ले जाने के लिए। विक्रमा के पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि राजकुमारी सुकोमला व्यग्रता के साथ उसकी प्रतीक्षा कर रही हैं। विक्रमा का हृदय तीव्रता के साथ धड़कने लगा। प्रीति-भरी मनुहार को टालना किसी संवेदनशील व्यक्ति के लिए साधारण नही होता। राजकुमारी के सम्मुख उपस्थित होकर उसने नमनपूर्वक प्रणाम किया–''आ री सखी ! आ, विक्रमा ! तूने बडा विलम्ब कर दिया ... ।'' कहते हुए राजकुमारी उठ खड़ी हुई और उसे बाँहों में भर लिया।

''आपका आदेश है, स्वामिनी ! मैं अब आपके प्रासाद में ही रहूँगी। अहो भाग्य है मेरा कि मुझे आपका सतत सान्निध्य मिलेगा, किन्तु ....।'' मूल कथ्य प्रस्तुत करने में विक्रमा कुछ हिचकिचाई।

''क्यों .... क्या हुआ? क्या कहना चाहती हो, सखी तुम?

''मेरा आज से यहाँ रुकना सम्भव नहीं हो पा रहा है।''

''तो .... कब से सम्भव होगा?'' राजकुमारी चिन्तित हो उठीं।

''कल से, स्वामिनी ! कल से।''

राजकुमारी निश्चिन्त हो गयीं। सहजता के साथ वोली—"तुम्हारे विना एव पल भी व्यतीत करना बड़ा दुष्कर है, किन्तु यदि तुम चाहती हो तो एक दिवर और अशान्ति में व्यतीत कर लेंगी हम। किन्तु .... कारण क्या हो गया?"

"कारण भी कुछ विशेष नहीं। रूपश्री दीदी ने आज रात्रि की एक संगीत-सभ रख ली है। मुझे ही संगीत-प्रस्तुति प्रमुख रूप से करनी होगी। नगर के अनेव संभ्रान्त जन एकत्र होंगे।"

"अच्छा ! अवश्य करो, विक्रमा ! अवश्य करो ! तुम्हें हमारे राज्य मे गौरव मिले—यह तो प्रसन्नता का विषय है हमारे लिए। तब तो आज की सभा मे भी तुम कोई चमत्कार दिखाओगी ही? है .... न?"

"चमत्कार कोई कलाकार दिखा नहीं सकता, स्वामिनी ! उसकी कला-साधना जब सिद्धि को स्पर्श करने लगती है तो परिणाम रूप में चमत्कार तो स्वतः घटित हो जाता है।"

"धन्य हो विक्रमा तुम और धन्य है तुम्हारी संगीत-साधना ! तुम कितनी महान् हो कि अपने चमत्कारों का श्रेय भी स्वयं न लेकर सिद्धि को दे देना चाहती हो। जगत् में ऐसे जन भी बहुत कम होते हैं।"

"यह सब आपकी कृपा है, देवी !"

"हम स्वयं अपने नेत्रों से यह चमत्कार देखना चाहेंगी।"—राजकुमारी ने सोत्साह कहा।—"रूपश्री से कहना हम भी इस संगीत-सभा का आनन्द लेने को अपनी कुछ सखियों के साथ आयेंगी।"

"जो आज्ञा, देवी !" विक्रमा ने नतशिर अभिवादन के साथ विदा ली। रूपश्री को जव ज्ञात हुआ कि स्वामिनी राजकुमारी सुकोमला भी आज की संगीत-सभा मे उपस्थित रहेंगी तो वह घोर चिन्ता में पड़ गयी। उसके मुख का रंग ही फीका-फीका-सा हो गया। भट्टमात्र ने इसे ताड लिया और पूछा—"क्या वात है, दीदी ! आप राजकुमारी जी के सम्मिलित होने की वात से इतनी उदास क्यों हो गयीं? क्या कोई विशेष वात है?"

"हॉ, भैया !.... वहुत विशेष वात है?

"वो क्या ....?"

"राजकुमारी जी जिस समारोह में सम्मिलित हों, वह तो विशेष ही प्रकार का होता है। और हमारी संगीत-सभा में तो अनेक पुरुष सम्मिलित होगे। श्रीमान जितवाहन भी पधारेंगे।"

"इसीलिए तो वहुत विशेष वात है ....।" एक ढीठ-सी हँसी हँसते हुए कामा

ने कहा–"हमारी दीदी के उनके साथ का प्रणय-प्रसंग राजकुमारी के लिए खुल नहीं जायेगा–यदि वे सभा में आयीं।"

"प्यार और अपराध का आनन्द तभी तक है, जब तक वह गोपनीय रहे।"

मदनमाला इस हास में योग देते हुए, अपना उत्तरीय सँभालते हुए कामा की पीठ पर एक हल्का-सा धौल जमाते हुए इस प्रकार हँस दी मानो वह तो रूपश्री दीदी के प्रणय-प्रसंग को और भी विस्तार से जानती हो, किन्तु वह उसे सबके समक्ष खोलेगी नहीं। बोली–"दीदी भी हमारी महान् है और उनका चयन, उनकी पसन्द तो और भी महान् है। वाह किस ऊँचाई पर जाकर नयन टिके हैं इनके। हाय ! हमारे ऐसे भाग्य कहाँ····।"

"अरी तो जलती क्यों है? समय आने पर भाग्य तेरे भी जागेंगे ही। और जो तुझे प्रेयसी माने वह साधारण व्यक्ति तो हो नहीं सकता।"–रूपश्री ने तमकते हुए कहा। कुछ क्षणों के उपरान्त वह पुनः बोली–"मुझे तो चिन्ता इस बात की है कि महाराज जब सुनेंगे कि राजकुमारी सुकोमला मेरे यहाँ आयीं तो वे मुझ पर भयानक रूप में कुपित होंगे कि हमने ही राजकन्या को इस मर्यादा-भंग के लिए उकसाया है। वे तो यही कहेंगे न कि मैंने निमन्त्रण दिया होगा तभी तो राजकन्या मेरे आवास पर आयीं।"

"हाँ···· आँ? ऐसा है, तब तो यह बड़ी विकट बात होगी। इसका तो कोई उचित निराकरण आवश्यक है, किन्तु उपाय भी तो कोई सूझता नहीं····।" सचिन्ता मुद्रा में विक्रमा ने कहा।

"है क्यों नहीं। जहाँ हम हैं वहाँ सभी-कुछ सम्भव है। असम्भव हमारे लिए कुछ भी नहीं है।"–अग्निवेताल ने अत्यन्त सहजता के साथ कहा। उसने सायास अपनी वाणी में दंभ का स्पर्श नहीं होने दिया।

"तो तुम क्या करोगे, वेताल !····" कामा बीच ही में पूछ बैठी–"क्या राजकुमारी जी को कहला भेजोगे कि आज की संगीत-सभा स्थगित कर दी गयी है?"

"नहीं री, कामा !···· नहीं। असत्य और मिथ्या का आश्रय तो अशक्त और असमर्थ जन लिया करते हैं। सामर्थ्यवान तो समस्या के समाधान का कोई मार्ग खोज लेते हैं।"

"तो क्या मार्ग खोजोगे, मेरे मित्र ! तनिक हमें भी तो ज्ञात हो।"–विक्रमा ने बात स्पष्ट करानी चाही, किन्तु वेताल ने बात टाल दी। बोला–"आप लोगों को आम खाने से काम है या पेड़ गिनने से? हैं····? जो भी उपाय होगा हम समय पर कर लेंगे। जब सामर्थ्यवान आश्वस्त कर दें तो उनके वचनों को विश्वसनीय मानकर निश्चिन्त हो जाने में ही विवेकशीलता है।"

"विश्वसनीय बन्धु ! हम सभी विवेकशील प्राणी हैं।" मदना ने कहा और जोर से हँस दी। उसकी हँसी में सभी ने योग दिया और कुछ क्षणों तक कक्ष में उदासी का स्थान प्रफुल्लता ने ले लिया, किन्तु रूपश्री अब भी चिन्तित बैठी रही .... अविचल और शान्त। वह अपलक आँगन को निहारती रही। तभी भट्टमात्र बोला– "दीदी ! जब वेताल ने दायित्व सँभाल लिया है तो आपको वास्तव में चिन्ता त्याग देनी चाहिए। हमारे ये मित्र वस्तुतः महान् हैं और महान् जन की कथनी-करनी मे अभेद स्थिति रहती है। वे उतना ही कथन करते हैं, जितना करना उनके लिए शक्य होता है।"

"देखते हैं ....।"–रूपश्री ने ठण्डी साँस छोड़ते हुए कहा–"अब तो वेताल भैया के ही हाथों में हमारी लाज है।"

मदनमाला ने दीदी को प्रबोधित किया–"सभी लोग उचित ही कहते हैं, दीदी ! अब उदासी छोड़कर संध्या के कार्यक्रम की तैयारी में लगिये। आज की सभा स्तरीय और सुव्यवस्थित रहे–उसके लिए उपक्रम तो करने ही होंगे न !"

"हाँ, सो तो है, बहना ! काम तो सभी पूरे करने होंगे।"–रूपश्री यह कहते-कहते उठ खड़ी हुई और उसने अपनी प्रमुख परिचारिका को पुकारा। वह भवन के भीतरी उद्यान को ताकने लगी कि कहाँ क्या होगा। रूपश्री के साथ ही अन्य सभी लोग भी उठ खड़े हुए और अपने-अपने काम में लग गये।

× × ×

संध्या का सुहावना वातावरण अपनी सिन्दूरी माया समेटकर लुप्त हो गया और धरती पर मानो काजल बरसने लगा। देखते ही देखते अंधकार अपना प्रभाव बढाने लगा। तभी रूपश्री के भवन के भीतरी उद्यान में अनेक उल्काएँ जगमगा उठीं। उद्यान-मध्य का दूर्वा प्रांगण स्निग्ध आलोक से भर गया। यही संगीत-सभा का आयोजन-स्थल था। एक ओर प्रतिष्ठित जनों के लिए आसन अवस्थित थे। इनके पीछे सारे प्रांगण में फैली आसनों की वर्तुलाकार पंक्तियाँ थीं। इस दर्शक-वृत्त के ठीक केन्द्र-स्थल पर एक विशाल पात्र था जिसके मध्य कुछ ऊँचाई पर जल से भरा एक कुम्भ स्थापित कर दिया गया था। कुंभ को इस प्रकार की स्थिति दी गयी थी कि उसमें ऊपर तक भरा जल सभी दर्शको को स्पष्ट दिखायी दे जाय। बाहर का विशाल पात्र इस समय रिक्त था। इसके समीप ही मंच निर्मित किया गया था।

अब तक अनेक दर्शकगण अपना-अपना स्थान ग्रहण कर चुके थे। रूपश्री मुस्कराती हुई अतिथियों का स्वागत करने में व्यस्त थी। दर्शकगण मध्य में स्थापित पात्र और कुंभ को देखकर आश्चर्य करने लगे थे। यह सामान्य सजावट तो हो नहीं सकती, फिर इसका प्रयोजन क्या है। कोई कहता कि यह तो संगीत के देवता को प्रसन्न करने की कोई विधि है, तो कोई अन्य कहता कि नहीं .... नहीं ...

यह तो संगीत का कोई चमत्कार दिखाने का उपकरण ही हो सकता है। तो क्या देवी विक्रमा आज कोई जल-स्तंभन जैसा चमत्कार दिखाने वाली हैं। लगता तो कुछ ऐसा ही है। अहो भाग्य हमारे कि हम अपनी ऑखों से संगीत का कोई चमत्कार देख सकेंगे। दर्शकगण नाना भॉति चर्चा करते जा रहे थे। गायिका का मंच अभी रिक्त था, किन्तु वादक–मंच पर वादक-मण्डली पहुँच चुकी थी और वादकगण अपने-अपने वाद्यों को समायोजित कर चुके थे।

सहसा द्वार पर कुछ हलचल होती अनुभव होने लगी। सभा-स्थल हर्ष-ध्वनि से भर गया। सभी छोटे महाराज जितवाहन के सम्मान में खड़े हो गये। तभी कुछ संभ्रान्त जनों का एक छोटा-सा दल प्रविष्ट हुआ। आगे-आगे छोटे महाराज और रूपश्री बतियाते चल रहे थे। पीछे कतिपय राजपुरुष थे। महाबलाधिकृत महेन्द्रपाल भी उनमें थे। सभी ने अग्र पंक्ति में अपने स्थान ग्रहण किये। समस्त श्रोतागण भी पुनः आसीन हो गये। सभा में सर्वथा शान्ति छा गयी। छोटे महाराज को विराजमान कर रूपश्री चली गयी थी। हास्यवदन जितवाहन सदा प्रसन्नचित्त रहने वाले अति शिष्ट और कोमल व्यवहार वाले कला-प्रेमी थे। उनके मुख-मण्डल का सौम्य उनके आन्तरिक सौन्दर्य का द्योतक बना रहता था। उन्हें सभी से स्नेह था। उनके व्यक्तित्व की भव्यता में उनके मनोभावों की उच्चता से एक दिव्यता का भी समावेश हो गया था। वे अजातशत्रु थे। वे सभी के हितैषी थे और उनसे किसी के मन में वैमनस्य न था। कुछ ही पलों में रूपश्री अपने साथ एक नव-यौवना रूपश्री को लिए छोटे महाराज के समक्ष उपस्थित हुई। रूपश्री ने अपने हाथों का पुष्पहार छोटे महाराज को धारण कराते हुए इस सभा में उनका अभिनन्दन किया और प्रणाम मुद्रा में खड़ी सुन्दरी का परिचय दिया।

"स्वामी ! यह निष्णात गायिका देवी विक्रमा हैं। अवन्ती से आयी इस गायिका के संगीत-गुरु स्वयं अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य हैं। अपनी संगीत-प्रतिभा का परिचय देकर ये अनेक राज्यों में अवन्ती और अवन्तीपति का सम्मान बढ़ा चुकी हैं और इन दिनों ये प्रतिष्ठानपुर में मेरी अतिथि हैं। आज ये राग-मंजरी का गान प्रस्तुत करेंगी। इस राग के गायक आज कहीं साधारणतः मिलते नहीं हैं। यह अत्यन्त उच्च साधकों का राग है। हमें प्रसन्नता है कि देवी विक्रमा संगीत की सिद्धि-प्राप्त कुशल गायिका हैं और वे इस सभा में राग-मंजरी जैसे कठिन, किन्तु अत्यन्त सरस राग से हम सभी को आनन्दित भी करेंगी और इस राग का असभव-सा प्रतीत होता चमत्कार साकार करेंगी। विक्रमा का मस्तक झुक गया।

छोटे महाराज जितवाहन सुन्दरी गायिका का परिचय प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और वोले–"यह प्रतिष्ठानपुर के लिए गौरव की वात है कि देवी विक्रमा-जैसी निष्णात गायिका का यहॉ आगमन हुआ है। हम इनका स्वागत और अभिनन्दन करते है। हमे प्रसन्नता है कि इनकी संगीत-सभा में उपस्थित रहने और इनकी

कला से आनन्दित होने का आज हमें भी अवसर मिला। हम आभारी हैं।" यह कहते हुए छोटे महाराज ने हाथ उठाकर मुस्कराते हुए विक्रमा का अभिवादन स्वीकार किया। तब रूपश्री विक्रमा को लेकर मंच की ओर बढ़ गयी।

छोटे महाराज जितवाहन ने रूपश्री को संगीत-सभा आरम्भ करने की अनुमति सस्मित प्रदान कर दी। विक्रमा ने प्रणाम-मुद्रा में दोनों हाथ भाल से ऊपर उठाते हुए मुकुलित नयन भगवान पार्श्वनाथ का सश्रद्धा स्मरण करते हुए मधुर स्वर में नवकार महामंत्र का गान किया। सर्वत्र शान्ति छा गयी। श्रोता मंत्र-मुग्ध से इस मंगलाचरण का रसपान करते रहे। वातावरण में एक आध्यात्मिक सौरभ व्याप्त हो गयी। सभी के मानस भक्ति भाव से सिक्त हो उठे। स्वर ऐसा मर्मस्पर्शी था कि भाव स्वतः ही हृदयंगम होते चले गये। मंत्र-गान के समापन पर गायिका ने सहज मुद्रा ग्रहण करते हुए समस्त श्रोता-मण्डल को प्रणाम किया और राग-मंजरी की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए जल-स्तंभन के चमत्कार की चर्चा की। उसने कहा कि आज मेरे मंजरी राग के गायन में जल का मात्र स्तंभ ही निर्मित नहीं होगा अपितु मैं प्रयत्न करूँगी कि कतिपय अन्य प्रक्रियाएँ भी हों। मेरी सफलता आप सभी की शुभ कामनाओं की परिणाम ही हो सकती है—मैं तो केवल साधना कर सकती हूँ। सिद्धि के लिए आपके आशिष की कामना है।" यह निवेदन करते हुए उसने पुनः करबद्ध प्रणाम किया और आलाप भरा। स्वर में ऐसी मौलिकता थी कि श्रोतागण मुग्ध हो गये। इतना सधा हुआ और अभ्यस्त कंठ .... वाह ! छोटे महाराज को तो स्वर की बड़ी गहन पहचान थी। ऐसा अद्भुत स्वर उन्हे पूर्व में कभी सुनने को नहीं मिला। लगता था, जैसे किसी वाद्य की ध्वनि हो। आरोह-अवरोह का ऐसा प्रभावशाली क्रम अपूर्व ही था। गीत भी बड़ा सुन्दर और भाव-प्रधान था। बोल थे—

दान करो .... आत्म-कल्याण करो।
दान .... दान .... दान करो।

और श्रोताओं ने आरम्भ में ही चमत्कृत होकर देखा कि कुंभ का जल फव्वारे के रूप में उछलकर ऊपर .... काफी ऊँचा उठ गया। यह ऊर्ध्वमुखी जलधारा यथावत् स्थिर होकर जल-स्तंभ वन गयी। पानी अव न ऊपर जाता था न ही नीचे को गिरता था। आश्चर्य ! .... महान् आश्चर्य !! संगीत की शक्ति से सभी अभिभूत हो उठे थे और इससे भी अधिक तो इस शक्ति का प्रदर्शन करने का सामर्थ्य रखने वाली गायिका देवी विक्रमा की महिमा को मन ही मन स्वीकारा जाने लगा था। छोटे महाराज भी एकटक यह अद्भुत दृश्य देखते रहे। अन्तरा आया—

छोटा हो या कि वड़ा, दान तो वस दान है।
भावना पवित्र रहे , ... दान तो महान् है॥

इस वोल पर यह जल-स्तंभ कुछ छोटा-बडा होता रहा और अपनी पूर्ववत् ऊँचाई पर पहुँच गया। गीत अग्रसर होता चला गया और जल-स्तंभ भावानुरूप करतव दिखाता चला गया। एक अन्तरा ऐसा आया जिसमें वर्णित था कि सभी को सुख का, शीतलता का, शान्ति का दान करो और जल-स्तंभ कुछ झुककर एक कोण वनाता हुआ गोल-गोल चक्कर लगाने लगा। जल की नन्हीं-नन्हीं बूँदों की बौछारें सभी श्रोताओं को आनन्द-मग्न करने लगीं। हर्ष-ध्वनि से प्रांगण गूँज उठा।

दान से कटे हैं दोष, दान से मिटे हैं रोष।

दान से होती है बढ़त, रिक्त नहीं होते हैं कोष॥

धन को तुम धन्य करो.... जीवन वरदान करो। दान करो....।

और सारी उपस्थिति ने महान् आश्चर्य के साथ देखा कि अब जल-स्तंभ क्रमशः निम्न होते-होते कुंभ मे समा गया और कुंभ का लबालब भरा जल उफनने लगा। उछलकर जल वाहर के बडे पात्र में भरने लगा। गीतों के साथ-साथ यह क्रम चलता रहा। बाहर का विशाल पात्र जल से भर गया और जल ऊपर तक आकर लहराने लगा। गीत की समाप्ति पर लोगों ने देखा कि कुंभ के बाहर निकलकर जल ने उस विशाल पात्र को तो भर दिया, किन्तु कुभ के जल में एक वूँद भी कभी नही आयी। कुभ पूर्ववत् पूरा भरा हुआ था। उपस्थित श्रोतागण इस माया को समझ न सके। सगीत के चमत्कार की महिमा का बखान करते रहे। "दान से होती है बढ़त.... रिक्त नही होते हैं कोष"—गीत के ये बोल सभी के अधरों पर थिरकने लगे। जल-स्तंभन की प्रक्रिया इस गीत के साथ कितनी सटीक और सार्थक हो गयी थी। ये दोनो मानो एक-दूजे के लिए ही बने थे। गीत के साथ-साथ एक विचित्र, एक कुतूहल, एक अद्‌भुत अनुभव भी समापन पर आया। दर्शकगण मानो कोई स्वर्णिम स्वप्न देखते-देखते हठात् जगा दिये गये थे। उन्हें इस जागरण पर रोष होने लगा था। छोटे महाराज तो इस अभूतपूर्व संगीत-साधना के साक्षी वनकर अतीव गद्‌गद हो रहे थे। "न भूतो न भविष्यते।"—शेष जीवन में आगे ऐसे विचित्र, किन्तु सत्य के साक्षी होने की भी उन्हें कोई आशा न थी। जव वे प्रसन्न होते थे, तव उनकी मुस्कान और अधिक मोहक और मुखाकृति और अधिक सौम्य हो जाती थी। भावुक हृदय और मधुर वाणी में उन संगीत-प्रेमी छोटे महाराज ने कहा—"हम इस अद्‌भुत संगीत-सभा मे उपस्थित रहकर कृतार्थ हो गये, देवी ! ऐसा अनुभव है ! अवन्ती-कोकिले, सगीत ने हमें अव से पूर्व कभी नही दिया.... कभी नहीं। तुम धन्य हो ! धन्य है तुम्हारी कला-साधना ! हमारे मन मे तुम्हारे लिए उच्च सम्मान का भाव है। हम तुम्हारे प्रशंसक हो गये हैं।" यह कहते हुए छोटे महाराज अपने आसन से उठे और अपने कंठ से नौलखा हार उतारते हुए मंच की ओर वढे। उन्होने करतल पर वह वहुमूल्य, सुन्दर कंठाभरण

रखकर भेंट करने को विक्रमा के समक्ष बढ़ा दिया। गायिका छोटे महाराज के हाथों के सामने कुछ नीचे की ओर अपनी हथेली पर धरकर ले आयी।

"नहीं.... नहीं.... यह दान नहीं, पुरस्कार है, भेंट है, नजराना है। हमारे हाथों पर से उठा लो गायिका ! हाथ तुम्हारा ऊपर को रहेगा, हमारा नहीं।" छोटे महाराज ने सम्मान करते हुए कहा और तब उनका मान रखते हुए विक्रमा ने ससंकोच अपना हाथ आगे बढ़ाया और छोटे महाराज के हाथों पर से कंठहार उठा लिया। बड़ी कोमलता के साथ उसने अपनी साटिका के ऊपर ही वह हार अपने कंठ में धारण कर लिया। छोटे महाराज ने तब उत्तरीय धारण कराकर श्रीफल भेंट किया। "विक्रमा देवी की जय.... !" और "देवी विक्रमा अमर रहें... !" नारों से सभा-स्थल गुंजित हो उठा। रूपश्री ने सभी के प्रति आभार ज्ञापित किया और संगीत का यह अद्‌भुत समारोह विसर्जित हो गया।

× × ×

रात्रि में राजकुमारी सुकोमला अत्यन्त गहन निद्रा के अधीन रहीं। उन्हें क्षण मात्र के लिए भी कोई सुधि नहीं आयी। संध्या समय के व्यतीत होते-होते ही उन्हें अपनी पलकें भारी लगने लगी थीं। सारे तन में एक शिथिलता का आभास होने लगा था और वे विश्रामार्थ शय्या पर लेट गयीं। उन्हें रूपश्री के आवास पर आयोज्य संगीत-सभा में जाना था और देवी विक्रमा का चमत्कारपूर्ण संगीत सुनना था। इस आकर्षण का लोभ उन्हें जागने को प्रेरित करता रहा, किन्तु उस संध्या को उन्हें न जाने क्या हो गया था। पलकें स्वतः मुँदती गयीं.... मुँदती गयीं और वे निद्राधीन हो गयीं। कुछ समय विश्राम कर लेने के पश्चात् जब रूपश्री के भवन के लिए प्रस्थान का समय आया तो मुख्य परिचारिका प्रदीपा ने वहुतेरे प्रयत्न किये राजकुमारी को जगाने के, किन्तु सभी प्रयत्न असफल रहे। वे जाग्रत नहीं हुईं। प्रासाद में पहुँचने पर जब विक्रमा को यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो सारी स्थिति को वह तुरन्त भॉप गयी। रूपश्री को चिन्तित देखकर अग्निवेताल ने उन्हें निश्चिन्त हो जाने को कहा था कि इस संगीत-सभा में राजकुमारी सुकोमला कदापि सम्मिलित नहीं हो सकेंगी। वैसा ही हुआ भी। उसी ने राजकुमारी पर अपने मंत्र का प्रयोग किया और उन्हें निद्राधीन कर दिया—यही एक मात्र संभावना है।

अव विक्रमा राजकुमारी सुकोमला की सखी ही नहीं, उनकी अतिथि भी थी। इसी रूप में प्रतिप्ठानपुर प्रवास का शेप समय व्यतीत करने को वह प्रासाद में आ चुकी थी। उसे लिवा लाने को राजकुमारी की आज्ञानुसार रथ भोर में ही रूपश्री के भवन पर पहुँच गया था। वह सभी से विदा होकर रथारूढ़ हुई तो उसका मन कुछ भारी हो चला था, वह मदना, कामा, भट्टमात्र से विदा होकर जो जा रही थी। रथ के प्रस्थान के पश्चात् भी वह कुछ समय इसी विचार में खोयी रही।

किन्तु वह विवेक-सम्पन्न थी। उसने सोचा–'साधना के लिए उपकरण अपेक्षित तो रहते हैं तभी सिद्धि प्राप्त होती है, किन्तु इस सिद्धि को गौण मानकर जो साधनों के मोह मे ही ग्रस्त हो जाता है–उसे सिद्धि का प्राप्त होना असम्भव हो जाता है। साधक का सारा ध्यान सिद्धि पर ही केन्द्रित रहना चाहिए। ये मेरे संगी-साथी इस दृष्टि से साधन ही तो हैं। ये आज नहीं तो कल, फिर मिलेंगे ही। इस महान् कार्य में इनकी भूमिका पूरी हो चुकी। हॉ, जो कार्य अभी शेष है, उसमें मित्र अग्निवेताल की सहायता हमारे लिए आवश्यक ही नहीं, अति महत्त्वपूर्ण भी रहेगी। और ···· मुख्य कार्य तो अभी शेष ही है। राजकुमारी के मन को नर-द्वेष से मुक्त किया जाना है। उसका इस प्रकार उद्धार करना और फिर उसे अपनी बनाना है। काम बड़ा जोखिम का है और अभी उसका उपक्रम शेष है। युक्ति से काम करना होगा। वैसे इस कठिन कार्य मे मार्ग स्वतः ही खुलते चले गये हैं। हमें राजकुमारी ने अपनी अन्तरंग सखी का स्थान दिया, प्रासाद में उनके साथ रहने का, अतिथि के रूप में रहने का आमंत्रण दिया–इससे समीपता का अवसर मिला है। इससे कार्य और भी सुगम हो गया है।' यही सब-कुछ सोचते-सोचते विक्रमादित्य का रथ राजकुमारी के प्रासाद पर पहुँच गया था। इतना लम्बा मार्ग कब निकल गया–इसका उसे भान ही नहीं रहा।

प्रासाद का एक खण्ड देवी विक्रमा के लिए व्यवस्थित कर दिया गया था। स्नानागार, शयन-कक्ष, विश्राम-कक्ष, सेविका, परिचारिकाएँ आदि सारी सुविधाएँ कर दी गयी थी। प्रासाद की मुख्य परिचारिका प्रदीपा ने विक्रमा को उसके आवास-खण्ड में पहुँचा दिया। राजकुमारी सुकोमला ने भी अभी-अभी ही शय्या-त्याग किया था। विक्रमा ने स्नान किया। इष्ट स्मरण कर उसने वस्त्र परिवर्तित किये और अपने विश्राम-कक्ष में आ गयी। अपने नैसर्गिक रूपाभा से वह दमक रही थी। एक परिचारिका से उसे ज्ञात हुआ कि स्वामिनी के मन में बड़ा पछतावा है कि वे गत रात्रि की संगीत-सभा में सम्मिलित नही हो सकीं। जब से उन्होंने सुना कि रात की सभा में आपने राग-मंजरी का गान किया और आश्चर्यजनक संगीत-चमत्कार घटित कर दिखाया और उसमें भी अनेक नवीनताएँ थीं–तब से वे विकल हो उठी हैं। बार-बार वे यही कहती रही हैं कि हमें ऐसी गहन निद्रा ने क्यों आ घेरा, हम एक स्वर्णिम अवसर से वंचित रह गयीं। ऐसी निद्रा तो पहले कभी भी नहीं रही–सब योग-संयोग की बातें हैं। किन्तु ···· हमे किसी ने जगाया क्यों नहीं? एक अपूर्व अनुभव से हम वंचित रह गयीं। सचमुच स्वामिनी बड़ी दुःखी हैं। विक्रमा ने इतना कहकर पटाक्षेप कर दिया कि प्रतीक्षा तो हमें भी बहुत रही उनकी। न आ सकने का कोई कारण भी ज्ञात न हो सका–और वह विचारों मे निमग्न हो गयी।

● ●

"ऐसे अपलक.... टकटकी लगाए क्या देख रही हो, सखी विक्रमा ! क्या है इस वृक्ष में? अमलताश का सीधासादा-सा वृक्ष ही तो है !" राजकुमारी सुकोमला ने प्यार-भरे स्वरों में चहकते हुए-से कहा।

"वृक्ष नहीं.... मैं कुछ और ही देख रही हूँ, राजकुमारी जी !"

"क्या?.... फिर क्या देख रही हो?"

"मै देख रही हूँ मिलन.... प्यार-भरा मिलन....।"

"मिलन....! किसका?.... यहाँ कौन-सा मिलन है?"

"देखिये राजकुमारी जी ! यह लता अमलताश के सुदृढ़ वृक्ष से लिपटकर कैसी असीम सुख में खोई हुई है।" विक्रमा ने तर्जनी से वृक्ष की ओर संकेत किया और कहा–"वेचारी निरीह लता.... कितना प्यार भरा है इसके कोमल मन मे। और उस अपार.... असीम प्रीति का पात्र बनकर यह अमलताश भी कैसा झूम रहा है। यह प्रेम-योग देखकर मेरे मन को असीम आनन्द अनुभव हो रहा है। कितनी निश्चिन्त और प्रमत्त हो गयी है यह लता, वृक्ष की सुरक्षा और संवल पाकर.... आहा ! यही संयोग का सुख है जो भाग्यवानों को ही सुलभ हो पाता है।"

"तुम वडी भावुक हो, सखी ! इस सीधेसादे दृश्य में भी तुमने भावना की खोज कर ली। ऐसे-ऐसे दृश्य तो प्रकृति मे विखरे पड़े हैं।"

"यही.... मै वही तो सोच रही हूँ। पुरुष और प्रकृति.... प्रकृति और पुरुष का यह अद्भुत संयोग–यही नैसर्गिक नियम है।"

"तुम कहना क्या चाहती हो? पुरुष का नाम वार-वार लेकर मेरे चित्त को तुम क्यों व्यर्थ ही मे संताप मे भर देती हो?" राजकुमारी की वाणी मे तनिक रोष और नयनों मे लालिमा आ गयी थी।

"स्वामिनी ! पुरुष और प्रकृति–नर और नारी का यह सहज आकर्षण नैसर्गिक नियम है।" राजकुमारी की ओर कनखियों से देखती हुई विक्रमा ने [illegible] के साथ कहा–"यही नियम इस जगत्–इस सृष्टि के संचालन का आधार है, देवी !"

"व्यर्थ का प्रलाप कर रही हो, विक्रमा तुम....!"

"प्रलाप····! प्रलाप नहीं···· यह तथ्य है, राजकुमारी जी ! यही सत्य है। विक्रमा ने अपने स्वर में दृढता का भाव लाते हुए कहा–"सारी सृष्टि में नर-नारी का अनुराग, पारस्परिक प्रेम ही आदि सत्य के रूप व्याप्त है।"

प्रासाद के भीतरी उद्यान में संध्या समय राजकुमारी के संग विचरण करती हुई विक्रमा ने सुकोमला के हृदय से नर-द्वेष दूर करने के अभियान का इस प्रकार शुभारंभ कर दिया था। विचरण करते-करते वह राजकुमारी को कमल-ताल की ओर ले आयी–"अब देखिये, इस विशाल जलाशय में कैसी लोल लहरियाँ उठ रही हैं। मानो अपने प्रियतम से मिलन पाकर प्रियतमा नृत्य कर उठी हो। पावस में, मेघाडम्वर में दमकती विद्युत् रेखा का दृश्य क्या नर-नारी के मिलन का प्रतीक नहीं है?"

"··················"

"यह देखिये, सारस पक्षियों का यह युग्म।"–पारस्परिक प्रीति की दृढता का यह अद्‌भुत प्रतीक है। ये नर-मादा पक्षी सदा सहचर बने रहते हैं। ये कभी पृथक्-पृथक् नहीं रहते। दुर्योग से इनमें से किसी एक का निधन हो जाता है तो शेष पक्षी करुण क्रन्दन कर उठता है। वियोग उसके लिए असहनीय हो उठता है, स्वामिनी !"

"तुम चाहे ठीक ही क्यों न कह रही हो···· किन्तु हमें नहीं सुननी इस विषय की बातें····। जिन वातों में पुरुष का विषय हो–वे हमारे लिए चाहक होती हैं, विक्रमा !" राजकुमारी ने त्वरित गति से वढ़ते हुए कहा–"चलो···· अव हमें विश्राम-कक्ष मे चलना चाहिए।"

"जैसी आपकी इच्छा····!"–विक्रमा ने सरल भाव के साथ कहा और राजकुमारी का अनुसरण करने लगी। दोनों विश्राम-कक्ष में शीघ्र ही पहुँच गयी। प्रवेश करते-करते राजकुमारी ने मधुर झिड़की देते हुए कहा–"आज तुमने पुरुष-चर्चा द्वारा हमारे जी को वहुत जलाया है। अव तुम्हें ही अपने गीतो से उसे शीतल भी करना पड़ेगा।"

"जैसा आदेश आपका।"–विक्रमा ने विनय भाव के साथ कहा।

"तुम जानती हो, विक्रमा ! कि हमें पुरुषों से कितनी घृणा है। मेरे सम्मुख पुरुषो की चर्चा न किया करो। इसी में हमारा हित है।" कुछ रुककर उन्होने पुनः कथन किया–"····और तुम हमारी सखी हो, हमारा हित ही चाहती हो न !"

"जी···· हित ही चाहती हूँ। आपके हित के लिए ही मेरे सारे प्रयत्न रहे हैं और रहेगे भी····।" विक्रमा ने कहा–"इसके विपरीत मैं कुछ भी नहीं करूँगी।"

"हमारी अच्छी सखी ! तुमसे यही तो आशा है। न जाने क्यों तुमसे इतना स्नेह हो गया है। हम तुम्हारे बिना रह नहीं सकतीं। ऐसा तीव्र आकर्षण क्यों है? हम तो कुछ समझ नहीं पातीं....।"

विक्रमा कहना चाहती थी कि यह नर-नारी का ही पारस्परिक आकर्षण है। मेरे प्रति आपके मन का आकर्षण एक नारी नहीं, नर के प्रति ही है.... विक्रमादित्य के प्रति है। किन्तु यह बात वह कह भी कैसे सकती थी। उसे फिर भी राजकुमारी के इस भाव से संतोष और प्रसन्नता का अनुभव हुआ। विक्रमा तो एक माध्यम मात्र है। वस्तुतः इनका अनुराग भाव तो विक्रमादित्य के प्रति हैं।

"अब किस सोच में पड़ गयी है, विक्रमा ! .... हमारी बात का बुरा मान गयी क्या?"

"ना.... ना.... बुरा मैं क्यों मानूँगी, स्वामिनी ! और वह भी आपकी बात का !" विक्रमा के होठों पर एक विवश-सी मुस्कान आ गयी।

"मेरी प्यारी, सखी !" राजकुमारी ने विक्रमा को गले से लगाते हुए कोमलता के साथ भींच लिया। विक्रमारूपी महाराज विक्रमादित्य रोमांचित हो उठे। "गा.... अब कोई सुन्दर-सा.... मधुर-सा गीत गा न !"—राजकुमारी ने अनुरोध किया। और विक्रमा ने इसे आदेश मानकर शिरोधार्य किया।

एक अति मधुर तान से राजकुमारी का विश्राम-कक्ष कोमल वातावरण से भर गया। राजकुमारी सुकोमला आलाप से ही आनन्दित होने लगी थीं। कैसा लोच है कंठ में.... कैसा माधुर्यपूर्ण स्वर ! उनका मन-मयूर नर्तन कर उठा। विक्रमा ने सुनियोजित ढंग से इस गीत का विशेष रूप से चयन किया था। गीत में स्तुति थी-देवी-दवताओं की। सीता-राम, राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण, गौरी-शंकर, शची-इन्द्र आदि-आदि विभिन्न देवताओं और देवियों की भक्तिपूर्ण आराधना के इस गीत में उनकी महिमा का गान किया जा रहा था। गायन-मध्य ही राजकुमारी आकुल-व्याकुल, उद्विग्न और अशान्त हो उठीं। गीत में इतने पुरुपवाचक नाम जो आ रहे थे। गीत-समाप्ति पर तो वह अधीर हो उठीं। अव तक का आराम नियंत्रण अव समाप्त हो गया। वे सहसा रोप-भरे स्वर में वोलीं—"सखी ! हमने तुझसे कहा न कि हमारे समक्ष नर-चर्चा न किया करो। फिर तूने वही....।"

"मेरे गीत में नरों की चर्चा नहीं, स्वामिनी ! ये सभी राम, कृष्ण, नारायण, शंकर, इन्द्रादि नर नहीं, अमर हैं। यह अमरो की वन्दना की गयी थी।" प्रवोधन के स्वर में सविनय विक्रमा ने कहा—"सायंकाल का सदुपयोग ईश-स्मरण में ही होना है, राजकुमारी जी ! इसी कारण आपकी सखी ने यह भक्ति-गीत विशेपतः चुना। तर्क वडा सवल था। वेचारी राजकुमारी निरुत्तर हो गयीं। ईश-विरोध वह

भला कैसे करतीं। शान्त मन से उन्होंने विक्रमा के कथन में औचित्य का अनुभव किया और कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। यह विक्रमा की एक और सफलता थी। राजकुमारी पुरुष-नाम-श्रवण को सह चुकी थीं। उनकी पुरुष-विरोध की भावना शिथिल होने लगी थी। इसी कोमल परिस्थिति का लाभ लेते हुए चतुर विक्रमा ने सहानुभूति का भाव अपनी वाणी में मिश्रित करते हुए पूछा—"स्वामिनी ! आपके मन में पुरुषों के प्रति इतना रोष, तीव्र घृणा क्यों है? पुरुष तो बेचारा प्रेम का पुजारी है, प्रेयसी का अतीव हितैषी है। उसका····।"

"अब बन्द भी करो यह पुरुष-महिमा।"—राजकुमारी ने त्वरा के साथ कहा। तुम नहीं जानतीं, विक्रमा ! पुरुष कितना दुष्ट प्राणी है?" राजकुमारी पुनः सरोष हो उठीं।

"संभव है आपका अनुभव ऐसा रहा होगा। मैंने उद्यान में आपको एक दृश्य दिखाया था। कमल-पुष्प के मकरन्द का पान कर रहा था एक भ्रमर और कमल मुकुलित हो गया था। भ्रमर उस पुष्प की कोमल कारा में बंदी हो गया था। अब निशाभर वह उस पुष्प के भीतर ही बन्द रहेगा। भोर में जब पुष्प पुनः खिलेगा, तभी वह मुक्त होगा। भ्रमर तो कठोर काष्ठ को भी छेदकर बाहर निकल आता है। प्रेम का आदर इसी को कहते हैं कि कोमल पंखुरियों में भी वह बन्द रह जायेगा। ऐसे होते हैं प्रेमी-पुरुष। और आप····।"

"तू क्या जाने, विक्रमा ! कि पुरुष क्या है? हम जन्म-जन्मों के अनुभव से बता सकती हैं कि पुरुष दुष्ट होता है, पापी होता है, निष्ठुर होता है। हमें पुरुषों की दुष्टता, उनके अत्याचार, अपमान और उपेक्षा को विवशता के साथ सहन करना पड़ा है। उसकी स्मृति मात्र से हमारे भीतर प्रतिशोध की अग्नि धधक उठती है। हम जलने लगती हैं। इस प्रचण्ड दाह ने हमें नर-द्वेषी बना दिया है। हम कभी किसी पुरुष को क्षमा नहीं कर सकतीं, नहीं करेंगी हम क्षमा····।" राजकुमारी के भीतर की आग की चिनगारियाँ उनके नेत्रों से वरसने लगीं। विक्रमारूपी विक्रमादित्य का दाँव बिलकुल ठीक वैठता जा रहा था।

"जिस प्रसंग से मन को पीड़ा पहुँचे, उसे त्याज्य मानकर अन्य विषय ग्रहण कर लेना ही उपयुक्त रहता है। वैसे सभी प्रकार की अग्नियों से अधिक विषय, अधिक प्रचण्ड क्रोध और द्वेष की अग्नि होती है। अग्नि से सर्वनाश होता है, यह सत्य है; किन्तु यह भी तथ्य है कि उससे प्रथमतः तो वहीं विनाश होता है जहाँ वह प्रज्वलित होती है। द्वेषी व्यक्ति आत्म-हानि ही अधिक करता है।" विक्रमा ने सन्मार्ग की प्रेरणा देते हुए कहा—"किन्तु आपके इस प्रकार के व्यवहार के पीछे भी सकारणता रही होगी···· अवश्य रही होगी।"

'विक्रमा बड़ी विवेकशीला है, कितनी सटीक वात कही है। मैं दु.खी रहती हूँ, संतप्त रहती हूँ···· क्या द्वेष हमारे दुःख का कारण है।' राजकुमारी जी सोच रही थीं–'कदाचित् विक्रमा सत्य ही कहती है। किन्तु इससे पूर्व कभी भी, किसी ने भी हमसे ऐसी बात नहीं की। यही मेरी सच्ची हितैषिणी है।' राजकुमारी सुकोमला को इस प्रकार विचारलीन देखकर विक्रमा ने कहा–"छोड़िये···· जाने दीजिये इस अप्रिय और कटु प्रसंग को जो आपको पीड़ा देता है। अभी तो मैं आपको कुछ सुन्दर-सुन्दर गीत सुनाती हूँ।" गीतों का नाम सुनते ही राजकुमारी भीतर तक उत्फुल्ल हो उठीं। उनका मानसिक मालिन्य घुल गया। वास्तव में विक्रमा ने कुछ अत्यन्त मधुर, अति सुन्दर गीत सुनाये। सुकोमला उन गीतों के भावों में रम गयी। अब तक रात काफी उतर आयी थी। गीतों की समाप्ति पर कुछ विराम लेकर विक्रमा ने शान्त स्वर में कहा–"सभी का मंगल करने वाले भगवान शंकर आपका कल्याण करें।" इतना कहकर वह उठ खड़ी हुई। आसीन राजकुमारी दृष्टि ऊपर उठाकर सखी का मुख ताकने लगी। विक्रमा ने तब कहा–"हे राजकुमारी ! मेघ की-सी कान्ति वाले भगवान नेमिनाथ आपका कल्याण करें।"

इन मंगल वचनों ने सुकोमला के मन में स्निग्धता उत्पन्न कर दी। अनायास ही उनके मन में भगवान नेमिनाथ और भगवान शंकर के प्रति श्रद्धा जाग्रत हो गयी और कृतज्ञ भाव से उन्होंने इनके प्रति नयन मूँदकर करबद्ध रूप में वन्दना की। राजकुमारी के इस हृदय-परिवर्तन को देखकर विक्रमा के मन में संतोष हुआ। उसे भावी सफलता के स्पष्ट दर्शन होने लगे थे। राजकुमारी के सहज हो जाने पर विक्रमा ने उन्हें नमनपूर्वक प्रणाम किया और अनुमति लेकर वह अपने खण्ड की ओर चली गयी।

विक्रमा के चले जाने के पश्चात् भी वड़ी देर तक राजकुमारी के कानो में उसके शव्द गूँजते रहे। वे सोचती रहीं–'कदाचित् सत्य ही कथन है विक्रमा का···।' उधर विक्रमा अपने शयन-कक्ष में विश्राम कर रही थी। भोजन तो वह सूर्यास्त पूर्व ही कर चुकी थी। उसे अपना भावी कार्यक्रम निश्चित करना था। इसी विपय पर वह चिन्तन करने लगी थी कि सहसा अग्निवेताल कक्ष में प्रकट हो गया। उसने विनोद के स्वर में पूछा–"कहो, विक्रमा ! आज का दिवस कैसा व्यतीत हुआ? राजकुमारी के साथ एकान्त-सेवन तो वड़ा आनन्ददायी रहा होगा ! आज तो उद्यान में विचरण और··· ।"

"आओ···· आओ···· मित्र ! आओ।" विक्रमा ने कहा–"वहुत सुन्दर रहा आज का दिन।"

"सुन्दर तो रहा ही होगा··· अवश्य रहा होगा। प्रेयसी का साथ रहे और समय सुन्दरता के साथ व्यतीत न हो··· ऐसा ···।"

"विनोद छोड़ो, वेताल ! यह न भूलो कि इस समय हम अवन्ती-नरेश विक्रमादित्य नहीं, गायिका विक्रमा हैं। सखी हैं राजकुमारी की, प्रेयसी नहीं हो सकती वह। हॉ, प्रसन्नता इस बात की है कि राजुकमारी के नर-द्वेष को दूर करने मे आरंभिक सफलताएँ मिलने लगी हैं।"

"यह ··· यह तो वास्तव में ही प्रसन्नता की बात है ···।" अब हमने यह सोचा है, मित्र ! कि तुम्हें तो हमारे साथ बने रहना होगा, किन्तु भट्टमात्र, कामकला और मदनमाला का यहॉ कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा है। तुम आज रात्रि में ही उन्हें अवन्ती पहुँचा दो।"

"विचार उत्तम है। ऐसा हो जायेगा, श्रीमानेश्वर !"

"····· किन्तु तुम्हें आज ही रात्रि-समाप्ति से पूर्व पुनः यहॉ पहुँच जाना होगा–संभव है न यह?"

"भला अग्निवेताल के लिए असंभव क्या हो सकता है, महाराज ! आपके आदेश का पालन होगा, ··· अक्षरशः पालन होगा, पृथ्वीनाथ !"–यह कहकर वह प्रस्थान को उद्यत हुआ ही था कि विक्रमा ने उसे हाथ के संकेत से रुकने को कहा और बोले–"सुनो, प्रेयसी राजरानी कमलावती से भेंट करके आना। उनसे कहना कि हम यहॉ सर्वथा कुशल और प्रसन्न हैं। अभी कुछ समय और लगेगा, किन्तु राजकुमारी के नर-द्वेष को दूर करने का जो संकल्प हमने लिया था उसे हम पूरा कर लेंगे। सफलता के आरंभिक लक्षण प्रकट भी होने लगे हैं। यह भी कहना कि इस काम में हमें न तो कोई कठिनाई आ रही है और न ही कोई कष्ट है।"

"अच्छा ··· अच्छा ··· कह दूँगा ····।"–अग्निवेताल तिरोहित होने लगा।"

"और यह भी कहना कि हम पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं ····· हमें कोई ····।" विक्रमारूपी महाराज विक्रमादित्य के भाव-विह्वल शब्द अधूरे ही रह गये और अग्निवेताल लुप्त हो गया। विक्रमा पुनः विचार-मग्न हो गयी।

× × ×

बहुत प्राचीनकाल का वृत्तान्त है, सखी विक्रमा ! लक्ष्मीपुर मे एक अत्यन्त धनाढ्य श्रेष्ठी निवास करता था। वह बड़ा अद्भुत पुजारी था लक्ष्मी का। वह परिग्रह की प्रवृत्ति में अग्रगण्य माना जाता था। अपार ऐश्वर्य का स्वामी होकर भी वह दरिद्रों का-सा जीवन जीता था। लक्ष्मी की कृपा तो असीम थी, व्यवसाय मे स्वर्ण की वर्षा होती थी। दोनों हाथों से बटोरकर वह श्रेष्ठी धनकुमार उसे भूमिगत कर दिया करता था। दान में एक छदाम भी नहीं देता। समाज-सेवा या निर्धन रंकों की सेवा में उसके धन का उपयोग नहीं होता। वह तो प्रथम श्रेणी का कंजूस था। वह भला अन्य जनों पर तो क्या, स्वयं पर और स्व-जनों की साधारण

सुख-सुविधा पर व्यय करना भी व्यर्थ मानता था। यही तो बात थी कि वह कोट्याधिपति दरिद्र था। साधारण-सा आवास, कोई सजावट नहीं, अत्यावश्यक समझा जाने वाला, अति साधारण-स्तर का सामान रहा करता था, उसके घर में, जो आवश्यकता से कम—बहुत ही कम होता था। साधारण जनों जैसे वस्त्र रहा करते थे उसके यहाँ।

राजकुमारी सुकोमला ने कहानी आरंभ की। विक्रमा ध्यान लगाकर इस कथा को सुनने लगी थी। वाचक-श्रोता दोनों सखियाँ प्रासाद के एक सुसज्जित खण्ड में बने झूले पर बैठी थीं। रजत श्रृंखलाओं पर एक चौड़ा आसन लगाकर यह झूला निर्मित किया गया था। आसन ऐसा कि राजकुमारी जब चाहें इस पर लेट भी सकें। मखमल मढ़ा यह आसन बड़ा सुखद था। एक सेविका दूर बैठी झूले की रज्जु खींच रही थी। राजकुमारी ने विक्रमा के मुख पर लटक आयी कोमल केश-लट को अपनी तर्जनी के उपयोग से एक ओर किया और कमर में हाथ डालकर उसे अपने से सटा लिया। मध्यम गति से झूला चल रहा था। विक्रमारूपी विक्रमादित्य के मानस में तीव्र गति से मनोभावों का एक रेला-सा चलने लगा। वे रोमांचित हो उठे, उनका हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा। ऐसा सामीप्य.... ऐसा अनुराग.... इतनी सहजता से सुलभ...। वे रोमांचित हो उठे। उनकी हृदयगत असामान्यता उनके मुख-मण्डल पर भी झलकने लगी। उसे ताड़कर राजकुमारी सुकोमला बोलीं—"तुम्हें अटपटा लग रहा है, सखी !... किन्तु यह सत्य है। श्रेष्ठी धनकुमार ऐसा ही कृपण था। इसे सादगीपूर्ण जीवन भी तो नहीं कहा जा सकता।"

हाँ, तो... उस श्रेष्ठी का विवाह भी हुआ। एक श्रेष्ठी-कन्या श्रीमती उसके घर में आयी। सुन्दरी, गुणवती, नव-यौवना श्रीमती अपने पितृ-गृह में वैभव-विलास में पली-बढ़ी थी। उसके मन में भी अपने विवाहित जीवन के असंख्य रंग-रंगीले स्वप्न थे। क्या-क्या कल्पनाएँ सँजोकर वह इस घर में आयी थी, किन्तु अपने पति का आवास देखकर ही उसे एक आघात पहुँचा। श्रेष्ठीवर ऐसे घर में रहते हैं...! मिलन की प्रथम निशा में ही उसे बड़ी निराशा हुई। पिता के घर से आयी सेज लगा दी गयी थी। सेज पर बैठी वधू श्रीमती अपने मन को सहज बनाने का प्रयत्न करने लगी। अब किसी भी क्षण पतिदेव का आगमन हो सकता है। वे आएँगे, अपने कोमल स्पर्श से मुझे गुदगुदाएँगे। मेरे रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए आलिंगन सुख से मुझे निहाल कर देंगे। मधुर, प्रियकर वार्त्तालाप होगा। न जाने क्या-क्या सोचती चली जा रही थी और स्वप्निल सुख में निमग्न होती जा रही थी श्रीमती। तनिक-सी आहट से वह चौंक उठती और उसकी दृष्टि कुछ क्षणों तक द्वार पर टिक जाती।

धनकुमार आया तो... किन्तु श्रीमती की कल्पनाओं को पोषण नहीं मिला। आते ही उसने सर्वप्रथम यही कहा—"अरे ! इतना साज-श्रृंगार क्यों? व्यर्थ ही धन

का अपव्यय करना ठीक नहीं और तुम्हारे पिता के घर से आये ये रत्नालंकार इसलिए नहीं हैं कि तुम उन्हें हर समय लादे रहो। ये घिस जायेंगे। इनमें जड़े रत्नादि भी झड़ सकते हैं। ये तो देखने-दिखाने के लिए हैं। इन्हें उतारकर मंजूषा में सुरक्षित रख लो। तुम्हें मेरी गृहस्थी चलानी है, श्रीमती ! व्यर्थ के दिखावे पर अपव्यय नहीं किया करो। और ये बहुमूल्य वस्त्र भी शयन के समय के लिए नहीं हैं। जाओ, बदल लो इन्हें।'' श्रीमती तो इस व्यवहार से सन्न रह गयी। उसने आभूषण ही नहीं उतारे अपनी मिलन-रजनी-विषयक सारे अरमान ही उतारकर रख दिये। उसके मन में एक विचित्र फीकापन भर गया। उसे अपने जीवन के भावी रूप की पूर्व कल्पना होने लगी। वह सोच में पड़ गयी—'मुझे कैसा श्रेष्ठी पति मिला है? कैसे बीतेगा मेरा जीवन ऐसे पति के साथ?'

और सखी विक्रमा ! धनकुमार ने श्रीमती को अपने-जैसा ही नीरस और कृपणतापूर्ण जीवन जीने को विवश कर दिया। न ठीक से वस्त्र, न उपयुक्त भोजन। किन्तु इस नये वातावरण में श्रीमती ने स्वयं को किसी प्रकार ढाल लिया। दुःख-द्रारिद्रय का जीवन अपनाकर वह अपने पति का आदर करने लगी थी, उन्हें पूज्य मानती, उनकी सेवा को अपना धर्म मानती। कालान्तर में इस दम्पति को एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। माता का मन प्रफुल्लता से भर उठा। पिता को भी प्रसन्नता तो हुई होगी, किन्तु उसका अनुमान भी नहीं हो पाता था। उसे तो धन के व्यय हो जाने की पीड़ा थी। अब हमारा खर्च बढ़ जायेगा। यही सोच-सोचकर वह दुःखी थी, यद्यपि उसने व्यय कोई विशेष बढ़ने नहीं दिया। धनकुमार अपने पुत्र करण के पालन-पोषण पर भी कोई ध्यान नहीं देता था। न अच्छा खाने-पीने को और न ही अच्छा पहनने-ओढ़ने को—यों ही करण बेचारा दीन-हीनों की भाँति बड़ा होता रहा। उसके रुग्ण हो जाने पर उसकी चिकित्सा भी ढंग से नहीं करायी जाती।

एक दिवस धनश्रेष्ठी कुछ प्रसन्नचित्त दिखायी दे रहा था। अनुकूल अवसर पाकर श्रीमती ने मुस्कराते हुए दान की महिमा का बखान किया। उसने पूछा—"पतिदेव ! आप तो ज्ञानी हैं, सब-कुछ जानते हैं आप। कृपया यह बताइये कि समुद्र एकदम पाताल में क्यों पहुँच गया और मेघ आकाश की ऊँचाइयों में क्यों रहता है?'' पति निरुत्तर, अवाक् रह गया तो उसकी मर्यादा की रक्षा करते हुए पत्नी ने स्वयं उत्तर देने का निश्चय किया—"आपको तो सभी-कुछ ज्ञात है, मेरा उत्तर सुनकर बताइये कि क्या यह सत्य नहीं है कि समुद्र अपना जल किसी को नहीं देता। साधारण जीव-जन्तु, पक्षी आदि भी उसका जल ग्रहण नहीं कर पाते। इस अतिशय कृपणता के कारण उसका पतन हुआ और उसे पाताल मिला। इसके विपरीत मेघ सभी को जल का दान करता है। सभी की प्यास बुझाता है। नदी-नालों, जलाशयों यहाँ तक कि समुद्र को भी जल देता है। इस दानवृत्ति का परिणाम है कि उसे उत्थान मिला, स्वर्ग मिला। हे स्वामी ! आपको अपार धन मिला हैं। आप भी

दान में उसका सदुपयोग कीजिये। दान में लगाया धन अगले जन्म में सहस्रों गुना होकर मिल जाता है। दान स्वर्ग का सुख देता है। कृपणता से कोई मंगल संभव नहीं है। संग्रह की वृत्ति तो नरक में ले जाती है।" श्रीमती की बातें नीतिसंगत थीं, किन्तु धनकुमार के विचारों से मेल नहीं खाती थीं। अतः वह क्रुद्ध हो गया। उसकी ऑखों से अंगारे बरसने लगे। उसका स्वर अत्यन्त उच्च और रोषपूर्ण हो गया। उसने तिरस्कार करते हुए श्रीमती से कहा–"मूर्ख स्त्री ! बढ़-बढ़कर बातें न बना, मुझे शिक्षा देने का प्रयत्न मत कर। मेरे धन पर मेरा अपना अधिकार है। तू कौन होती है यह कहने वाली कि इस धन का मैं क्या करूॅ और क्या न करूॅ? आराम से भोजन क्या मिलने लग गया, तेरे तो रंग-ढंग ही बदल गये। सावधान ! आगे से दान की चर्चा भी की तो मुझसे बुरा कोई न होगा।" आतंकित होकर बेचारी श्रीमती मौन हो गयी। वह कर ही क्या सकती थी।

एक दिन दान की महत्ता को स्वीकारने वाली श्रीमती ने पति से छिपाकर एक छदाम का दान कर दिया। धनकुमार को ज्ञात हुआ तो वह आगबबूला हो उठा। भाँति-भाँति से उसने पत्नी को प्रताड़ित किया–"इस प्रकार पानी की तरह पैसा बहाने को मेरे पास नहीं है। कठिन परिश्रम से मैं धन कमाता हूँ। तू उसे इस प्रकार नष्ट नहीं करेगी–यह जान ले।" यह कहते-कहते कृपण पति का क्रोध चरम पर पहुॅच गया और हाथ उठाकर वह पत्नी की ओर लपका। पत्नी वहॉ से भाग खड़ी हुई। पति ने भी संयम बरता, रुक गया; किन्तु उसने यह चेतावनी अवश्य दे दी कि यदि अब तूने भविष्य में कभी ऐसी भूल की तो मैं तेरे प्राण ही ले लूॅगा। पति के इस रौद्र रूप से पत्नी श्रीमती अत्यन्त भयभीत हो गयी। इस घर में वह सुरक्षित नहीं है–ऐसा मानकर वह अपने पिता के घर चली गयी।

हॉ, इस वीच करण भी बड़ा हो गया था। उसमें माता के संस्कार थे। पिता की कृपणता से वह भी चिढ़ा करता था। वह जानता था कि दान ही धन का सदुपयोग है। उसने एक दिन वहुत थोड़ा-सा धन दान कर दिया था। कुपित होकर पिता धनकुमार ने उसे भयानक यंत्रणाऍ दीं। मॉ का हृदय यह देखकर कॉप गया। यह घटना उसे स्मरण हो आयी और मॉ जव पितृ-गृह गयी तो पुत्र को भी साथ ले गई।

अव श्रेष्ठी धनकुमार घर में अकेला रह गया। उसे इस एकाकी जीवन में नाना प्रकार के कष्ट होने लगे। लोक-निन्दा का भी भय था कि श्रीमती अपने पितृ-गृह में क्यों वैठी है। निदान, एक दिन वह ससुराल गया और श्रीमती एवं उसके पिता से चिकनी चुपडी वातें करके, भविष्य के लिए उन्हें आश्वस्त करके अपनी पत्नी और पुत्र को घर ले आया। कुछ समय तो शान्ति से व्यतीत हुआ, किन्तु विग्रह तो होना ही था। मनुष्य का स्वभाव कुछ समय के लिए तिरोहित भले ही रह जाय, वह सर्वथा समाप्त नहीं होता। अवसर आने पर वह पुनः सतेज और

"कभी-कभी हम सोचती हैं—तुम्हारा कथन भी उचित ही है, विक्रमा ! कि पुरुष और स्त्री का सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध इस जगत् की एक अनिवार्य आवश्यकता है। तुम्हारे विचारों ने हमारे मन में एक क्रान्ति मचा दी है। हम हमारी दृढ़ता से विमुख होती जा रही हैं। हमें ऐसा लगता अवश्य है, किन्तु ····" किन्तु हम उन अत्याचारों को भी कैसे विस्मृत कर दें जो हमने निष्ठुर पुरुषों की क्रूरता के परिणामस्वरूप पाये हैं। जब हमें उनकी स्मृति हो आती है—हमारा हृदय धधक उठता है, हम ··· हम ···।" विचारावेग ने कंठावरोध उत्पन्न कर दिया और राजकुमारी का कथन अपूर्ण रह गया। उनके आरक्त नयन आर्द्र हो उठे। भीगी पलकों को विक्रमा सहानुभूति के साथ उँगलियों के पोरों से पोंछने लगीं। सेविका अब भी रज्जु खींच रही थी। झूला अब भी मंद गति से चल रहा था। शीतल पवन का एक झोंका खुले गवाक्ष से आकर शीतलता बिखेर गया।

× × ×

"आपने अपने ज्ञात पूर्वभवों में से प्रथम भव की जो कथा सुनायी थी राजकुमारी जी, उससे तो मेरी धारणा में भी हलचल मच गयी है। हाय ! नारी पर इतना दारुण अत्याचार भी कर सकता है पुरुष ··· कितना निष्ठुर ··· कितना निर्दय ··· और बेचारी नारी ··· कितनी निरीह ··· कितनी निरुपाय ··· बेचारी अबला।" एक विशिष्ट प्रयोजन से विक्रमा ने कहा और वह अपनी युक्ति में सफल भी हो गयी। उत्तेजित स्वर में सुकोमला अनियंत्रित-सी बोल उठीं—"न कहो नारी को अवला और निरुपाय—वह न बेचारी है और न ही निरीह। दुर्गा, भवानी, चंडिका का रूप नारी का ही है। पुरुषों की इसी दमनपूर्ण प्रवृत्ति ने हमें भी नर-द्वेषिणी बनाया है। आज थरथर कॉपता है पुरुष, हमारा नाम सुनकर ···· हमारा नाम ··· ।" राजकन्या के नासापुट फड़कने लगे, भौंहे कमान हो गयी। अग्नि स्फुलिंग विकीर्ण होने लगे उनके नयनों से जो आरक्त हो उठे थे। आकाश मे फूली सिन्दूरी सॉझ मानो दो तलैयों में अपना प्रतिविम्व उभार रही थी।

"आवेश में न आइये, राजकुमारी जी !···· इतना आवेश स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। तन और मन दोनों ही दुःखी हो जाते हैं। अव आप विस्मृत कर दीजिये न उस दुःखद अतीत को ···।"—प्रवोधन के स्वर में विक्रमा ने कहा।

"यदि विस्मृति ही नियति होती तो हमें जाति-स्मरण होता ही क्यों, विक्रमे ! क्यों होता ? ऐं ? हमें पुरुप-जाति ने प्रत्येक भव में दग्ध और आहत किया है। कैसे विस्मृत कर दें हम उन आततायियों के व्यवहार को ··· क्यों न प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की ज्वाला हमारे अन्तर में धधके, सखी ! तुमने अभी नारी पर पुरुप के दारुण अत्याचार का एक ही प्रसंग सुना है न ··· तुम सोचती होगी कि यह एक नारी पर एक पुरुप की ही निष्ठुरता की गाथा है। यह पुरुप-वर्ग है ही निष्ठुर—

सारा का सारा निर्दय और अत्याचारी। लो, हम तुम्हें फिर एक पुरुष का अविवेकपूर्ण अत्याचार का आख्यान सुनाती हैं।"—राजकुमारी कुछ-कुछ सामान्य होने लगीं और अपने अधर पर जीभ फिराते हुए उन्होंने मानो कथा-कथन की तत्परता संकलित कर ली। यह देखकर उनका उत्साह और अभिवर्धित हो गया कि विक्रमा कथा-श्रवण के लिए समुत्सुक हो उठी है। उद्ग्रीव विक्रमा सतत रूप से राजकन्या के मुख की ओर शान्त भाव से एकटक निहार रही थी। इस मूक औत्सुक्य से संतुष्ट राजकन्या सुकोमला ने कथारंभ किया—

प्रजावत्सल, जन-जन के पालक, न्यायशीलता का गौरव वहन करने वाले नृपति भी अपनी प्रेयसी पत्नी, राजरानी के साथ कैसा उपेक्षापूर्ण और निर्दय व्यवहार करते हैं—इस कहानी में यह उजागर हो जायेगा। ऐतिहासिक काल की चर्चा है कि चम्पापुर में एक न्यायशील, आदर्श भूपति मधु राजा का शासन था। नरेश की एक मात्र राजकन्या थी, जिसका नाम था पद्मावती। राजकन्या पद्मावती अत्यन्त गुणशीला और अपार रूपमती थी। उसके समक्ष इन्द्रलोक की अप्सराएँ भी लज्जानुभव करतीं, रति भी उससे ईर्ष्या करती। अपनी विवाह-योग्य पुत्री के लिये योग्य वर की खोज में नरेश मधु राजा ने दूर-दूर तक अपने दूत भेजे। ऐसी सुयोग्य कन्या के लिए वर भी तो मनोज्ञ ही अपेक्षित था। अन्ततः ऐसे नरेश की खोज सफल हुई और राजकुमारी पद्मावती का शुभ परिणय भूपेश जितशत्रु के साथ हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ। राज-दम्पति का वैवाहिक जीवन अपने समस्त सुख और सुन्दरता के साथ आरंभ हुआ। पितृ-गृह में भी राजकुमारी को कोई अभाव न था, अपार वैभव और सुख-सुविधाओं में वह पालित-पोषित हुई थी। पति-गृह का वैभव तो उससे भी अनेक गुना था। विलास-मग्न राजरानी पद्मावती मानो सुख-तरंगों पर संतरण करती रहती। सर्वत्र कमनीयता और सुकुमारता बिखरी रहती। नरेश जितशत्रु अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे अपनी प्रेयसी राजरानी को। उस पर उनका सर्वस्व न्यौछावर था। और रानी पद्मावती भी अपने पतिदेव को सदा ही अपने मन-मंदिर में ईश-प्रतिमा के समान प्रतिष्ठित रखती, प्रेम-पुष्पों की अंजलि से अर्चना करती। दोनों ही परस्पर व्यवहार में अतिशय कोमल, अत्यन्त भावपूर्ण और प्रीतिमय थे। पद्मावती के चिर संचित स्वप्न अचिन्त्य आकर्षक रंगों के साथ साकार हो उठे थे। इतना सुख, इतना उल्लास उसे प्राप्त हो गया कि उसकी कामनाओं की झोली ही छोटी पड गयी। उसे अपने सद्भाग्य पर गर्वानुभव होने लगा।

"किन्तु सखी ! समय सदा एक-सा नहीं रहता ··· पद्मावती का सुख-काल भी समापन पर आया। अल्पावधि का वह अपार-अपार सुख देखते ही देखते गहन दुःख में ढल गया। उसका भाग्य क्या विपरीत हुआ, उसके सारे सुख-स्वप्न चूर-चूर होकर विखर गये ····।" राजकुमारी सुकोमला ने एक ठंडी साँस ली और

उदास हो गयी। आर्द्र नयनों से उन्होंने सखी विक्रमा की ओर ताका जो स्वय इस करुण परिवर्तन से आहत-सी लग रही थी। राजकुमारी ने कथा को अग्रसर करते हुए कहा–

पद्मावती के जीवनाकाश से सतरंगी संझा सिमट गयी और विपत्तियों के घनघोर श्याम मेघ छा गये। प्रेम के छिन जाने से बढ़कर और कोई विपत्ति किसी नारी के लिए क्या हो सकती है? पद्मावती से उसका राजरानी का गौरव भी छिन गया। नृपति जितशत्रु ने एक अन्य राजकन्या से विवाह कर लिया था। राजा के मनोराज्य पर इस नवीन रानी का ही एकछत्र साम्राज्य था। नारी घोरतम कष्ट सहन कर सकती है, किन्तु अपने अनुराग का विभाजन वह सहन नही कर सकती। अपने प्रेमी के समस्त प्रेम की प्राप्ति वह एकाकी रूप में चाहती है–उसमें अन्य कोई भागीदार असह्य हो जाता है। राजा जितशत्रु का तो सारा प्रेम ही पद्मावती से विमुख हो गया था। जिस पति को वह मन-प्राण से अपना बना चुकी थी उसी ने उसकी घोर उपेक्षा की। उसने नव-निवाह के पश्चात् कभी पद्मावती से भेंट भी नही की। जिस कक्ष में कभी पद्मावती और जितशत्रु का प्रेम-मिलन हुआ करता था, वह अव नवीन रानी का शयन-कक्ष था। एक अति साधारण कक्ष पद्मावती को मिला था। दासियों से भी अधिक दुर्दशा हो गयी उसकी। राजा की उपेक्षा से प्रेरित राजभवन की अन्य दासियों के लिए भी वह आदर और मान-सम्मान की पात्र नहीं रह गयी थी। कोई उसकी साधारण सेवा भी नहीं करती थी। वेचारी पद्मावती अत्यन्त दुःखी हो गयी। वह प्रीति-वचिता जलहीन मीन-सी तड़पती रहती। पद्मावती के गवाक्ष से राजा के शयन-कक्ष का गवाक्ष स्पष्ट दिखायी देता था। पद्मावती को दिखा-दिखाकर राजा-रानी प्रेम-क्रीडाएँ करते, सुना-सुनाकर प्रेमालाप करते। राजा अपनी नवीन रानी के प्रेम में वे गीत गाता जो कभी पद्मावती ने अपने पति के प्रेम मे गाये थे। पद्मावती भीतर-ही-भीतर जल-भुनकर रह जाती। अव आहें और कराहें ही उसके जीवन मे शेप रह गयी थीं। अश्रुओं की अजस्रता ही उसका प्रारब्ध था। वह दिन-दिन क्षीण होने लगी। उसके नेत्र जैसे गड्ढे मे धँसने लगे। उसका मुख-मण्डल असमय ही कातिहीन हो गया।

राजा जितसेन के द्वितीय विवाह से कुछ ही पूर्व पद्मावती ने अपने पतिदेव से अनुरोध किया था कि उसे सूर्य-कुंडल वनवा दे। राजा ने प्रसन्नतापूर्वक, तत्परता के साथ रानी की कामना-पूर्ति का वचन दिया और सूर्य-कुंडल वनवाने का आदेश भी अपने मंत्री को दे दिया। कुडल निर्मित होने के पूर्व ही नरेश का द्वितीय विवाह कलावती के साथ हो गया। एक सन्ध्या को पद्मावती ने देखा कि अत्यन्त प्रीति के साथ उसका पति कलावती को वे ही कुडल पहना रहा था। ऐसे अद्भुत–अपूर्व आभूषण को पाकर कलावती का मुदित मन तो जैसे नर्तन ही कर उठा। मोहक मुस्कान के साथ उसने मानो कृतज्ञता का ज्ञापन किया ही था कि राजा ने

कोमलता के साथ उसे आलिंगनबद्ध कर लिया। कलावती तो निहाल हो गयी। बाहुपाश में बँधी प्रेयसी उद्ग्रीव अपने प्रियतम का मुख निहारती रही। इस विचित्र दृश्य ने पद्मावती के अन्तर्मन को सपत्नी-ईर्ष्या की अग्नि में झुलसा दिया। वह अत्यधिक संतप्त हो गयी। उसकी कामना पूर्ण तो क्या होती, पति को उसकी किसी कामना का आभास भी नहीं हो पाता था। ऐसी अपूर्ण काम, अतृप्त, दुःखिता पद्मावती का जीवन दूभर हो गया था। कलावती के प्रति अमंगल भाव उसके मन में प्रबलतर होते चले गये। उसके मन में राजा जितसेन के प्रति विकट आक्रोश का भाव था जिसने उसे उपेक्षित जीवन जीने को विवश कर दिया था। बेचारी पद्मावती एक दिन इन्हीं दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों में मरण को प्राप्त हो गयी। एक दुःखान्तिका का पटाक्षेप हो गया।

इस कथन के अन्त में राजकुमारी सुकोमला अत्यन्त आहत दिखायी देने लगी थी। सखी विक्रमा भी सिसकारती रह गयी। करुणा उसकी मुख-मुद्रा में साकार हो उठी। तभी राजकुमारी ने पुनः अपना कथन आरंभ किया।

सखी विक्रमे ! सुनो, मानव-जाति में ही नर अत्याचारी और निष्ठुर नहीं होते, पशु-पक्षियों तक में नर-जाति इसी प्रकार विकृत और दूषित होती है। पद्मावती की मृत्यु जिन असामान्य परिस्थितियों में हुई, उसके परिणाम में उसने आगामी भव में तिर्यंच योनि प्राप्त की। उसे मृगी की देह में अपना आगामी जीवन व्यतीत करना पड़ा। बेचारी इस मृगी को भी अपने पति मृग की असंख्य यातनाओं और अत्याचारों का सामना करना पड़ा। यह मृगी अत्यन्त आकर्षक और कमनीय थी। उसकी सारी देह के गेरुआ रोम बड़े ही स्निग्ध और चमकीले थे। उसके चंचल और विशाल नेत्र मनोमुग्धकारी थे। लम्बी, पतली टाँगों में अद्भुत स्फूर्ति थी। ऐसी कुलाँचें भरती थी कि उसके चरण धरा-स्पर्श करते तो प्रतीत ही नहीं होते थे। इस मृगी के घुमावदार बलखाये काले सींग भी बड़े चित्ताकर्षक थे। प्रकृति की क्रोड में–एक सघन वन में यह सुन्दर मृगी एक दिन कुलाँचे भर रही थी कि उसका मिलन एक मृग से, हो गया। दोनों संग-संग अठखेलियाँ करने लगे। परस्पर जीवन-साथी के रूप में रहने लगे। वन के अन्य मृगो को इस मृग के सौभाग्य पर ईर्ष्या होती थी कि इसे कितनी सुन्दर पत्नी मिली। उस मृग को भी इस वात का गर्व कम नहीं था। वह स्वयं भी बलशाली और वड़ा चपल था। जव दोनो साथ-साथ विचरण करते तो कानन की शोभा अपूर्व हो उठती।

मृगी को अपने पति मृग से बड़ा गहरा प्रेम था। कभी वह उसके समक्ष मौन खड़ी पलकें झपकाते हुए इस प्रेम को व्यक्त करती तो कभी वह मृग के तन को अपने कानों से सहलाती। उस सुरम्य सघन वन में वह मृग वैठ जाता और मृगी उसके चारों ओर दौडती-फाँदती चक्कर लगाती रहती। जव दोनों एक साथ कुलाँचें भरते तो वड़ी भव्य घटा निर्मित हो जाती थी। इसमें भी मृग की अपेक्षा मृगी की

कूद कुछ अधिक ही ऊँची रहा करती थी। वही दौड में आगे हो जाती थी। मृग वेचारा हॉपने लग जाता, किन्तु मृगी से पार नहीं पाता। मर्यादा का ध्यान आने पर मृगी स्वयं ही मंथर हो जाती और मृग को कभी-कभी आगे कर लेती–वह बात अन्य थी।

मृगी बेचारी बडी सरल और स्नेहभावी थी, किन्तु मृग बडा दुष्ट था। ऊपर से स्नेह तो वह भी व्यक्त करता था, किन्तु उसमें भी अहं का भाव और कठोरता का पुट स्पष्ट झलकता था। मृगी की अपेक्षाकृत जो श्रेष्ठताएँ थीं, मृग उन पर अपने दंभ से हावी रहना चाहता था। अपना पौरुषेय दबदबा जमाने के लिए वह मृगी को प्रायः आहत कर दिया करता। कुलाँचें भरते हुए उस पर दुलत्ती का प्रहार कर देना तो उसके लिए साधारण-सी बात थी, उसे जब भी अवसर मिलता प्रेम-प्रदर्शन के लिए अपने पैने सींग मृगी के तन पर गड़ा देता। मृगी बेचारी आह भरकर रह जाती। कभी बात-बेबात ही वह उस पर आक्रमण कर देता और घायल हिरणी कई-कई दिनों तक लँगड़ाती रहती। मृगी ने आत्म-रक्षा का प्रयत्न अवश्य किया होगा, किन्तु उसने कभी भी प्रत्याक्रमण की प्रवृत्ति को नहीं अपनाया।

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, मृग का दंभ और क्रूरता तीव्रतर होती चली गयी। मृगी गर्भवती हुई तो उसका मन आनन्द-मग्न हो गया। वह अपनी भावी संतति के स्वप्न-सुख में डूवी रहती। तभी तो वह मौन-मूक, शान्त भाव के साथ किसी झुरमुट में बैठी प्रहरों तक अपने शावक की कल्पनाओं में लीन रहती। इसे प्रेम के क्षेत्र में उदासीनता मानकर मृग कुपित हो जाता और वह उसके साथ दुष्ट व्यवहार करता, यातनाएँ देता। बेचारी मृगी यह सब सहन कर लेती। उसे शारीरिक और मानसिक पीड़ा तो बहुत होती, किन्तु आगामी सन्तति-सुख की कल्पना में वह उसे भी विस्मृत करने का प्रयत्न करती। जब मृग की कठोरता और दुर्व्यवहार सीमोल्लंघन करने लगा तो आहत मन से वह वेचारी दया की भीख मॉगती, किन्तु पौरुषेय दंभ उसकी प्रतिक्रिया में दमन चक्र की गति को ही तीव्र कर देता। कामांध मृग इस अवस्था में भी मृगी को विश्राम न करने देता। उसका तन-मन रतिरत ही रहा करता था।

मृगी ने स्नेहपूर्वक अनेक वार उसे प्रतिवोधित भी किया, किन्तु उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। वह तो अपने सुख के लिए, स्वार्थ-पूर्ति के लिए ही सदा सचेष्ट रहा करता। उसने आसन्न प्रसवा मृगी के लिए कभी कोई हित का विचार नहीं किया। ऐसे ही, एक दिन कामातुर मृग ने एक वृक्ष के तले विश्रामरत वैठी अपनी मृगी को उठाने का प्रयास किया। उसकी कोई रुचि न होने के कारण उसने उपेक्षा बरती। इस व्यवहार से आघात पाकर मृग का दंभ और भी सतेज हो गया। वह अपनी इच्छा की विजय स्थापित करना चाहता था। वलपूर्वक वह मृगी को उठा देना चाहता था। उसने सींग मारना आरंभ कर दिया। पीडित मृगी उठी तो, किन्तु

लपककर वह एक दूसरे वृक्ष के नीचे जा बैठी। मृग देखता ही रह गया। वह इस अवहेलना को सहन नही कर सका। एक निष्ठुर रौद्रता उसके मन में जाग उठी और दौड़कर वह भी वहीं पहुँच गया और अपने सींगों से मृगी पर तीव्र प्रहार करने लगा। एक के बाद दूसरा प्रहार सहते-सहते बेचारी अशक्त मृगी विचलित हो गयी। अपनी निरीह दृष्टि से वह दया की याचना करने लगी। अपनी असहाय अवस्था में वह थरथर कॉपने लगी। प्रत्येक प्रहार उसे अधिक से अधिक शिथिल और असमर्थ करता जा रहा था।

पुरुष का ऐसा वीभत्स रूप उसने पहली बार देखा, जब वह मृत्यु का दूत बनकर आ गया हो। मृगी को अपने पति के हाथों अपना मरण स्पष्ट दिखायी दे गया। अव उसमें इतनी शक्ति भी शेष नहीं रह गयी थी कि अपने छौने के हित में ही अपनी रक्षा के लिए कहीं अन्यत्र चली जाय। उसके लिए तो अब कोई भी चेष्टा असम्भव हो गयी थी। विवश आत्म-समर्पिता-सी वह भूमि पर निढाल हो गयी। दुष्ट की दुष्टता अवल की विवशता से और अधिक प्रचण्ड हो जाती है और वह सर्वनाश के लिए प्रेरित हो जाता है। ऐसा ही हुआ भी। अपने समक्ष, अपनी ही संगति की भावी जननी मृगी को अवश अवस्था में पड़ी देखकर भी उसके चित्त में करुणा और सहानुभूति का भाव नहीं जागा। उसने इस स्थिति का लाभ उठाया और अपने प्रहारों को प्रचण्ड कर दिया। उसने मृगी के उदरस्थ शिशु की भी चिन्ता नही की और उस पर तीव्र पदाघात किये। हिंस्र हो गये इस क्रुद्ध मृग ने जव मृगी के उदर पर भरपूर शक्ति से सीग-प्रहार किया तो मृगी का उदर विदीर्ण हो गया। धरती रक्त से लाल हो उठी। गर्भस्थ शावक की मृत्यु हो गयी। मृगी अचचल नयनो से यही शोक व्यक्त करने लगी और अश्रु प्रवाहित होने लगे। भावी सतति का सुख-स्वप्न ध्वस्त हो गया था। ममता पर हुई चोट को वेचारी मृगी कैसे सह पाती। वह छटपटाने लगी। धीरे-धीरे उसकी टॉगें भी शिथिल होने लगी और घोर वेदना के क्षणो मे उसने अपनी अतिम सॉस ले ली। अव इसकी देह अचल हो गयी, ऑखें पथरा गयी। इस मृत देह को अहकारी मृग ने एक वार फिर से देखा, उस पर निरादरपूर्वक पदाघात किया और तव अभिमानपूर्वक गर्दन ऊँची कर उस शान्तैकान्त कानन में दूर-दूर तक दृष्टि फैलायी। उसी समय उसे एक अन्य मृगी दूर–वहुत दूर कुलॉचे भरती दिखायी दे गयी। मृग उसी दिशा मे उन्मुख हुआ और मानो पवन से वाते करने लगा। ऐसा दुःखद अन्त हुआ वेचारी प्रेमशीला मृगी के पीडित जीवन का।

"सखी ! क्या अव भी तुम पुरुप जाति के प्रति सहानुभूति और सद्भाव रखने का उपदेश दोगी? अव हम तुम्हे यह भी वताती हैं कि हम ही ये पीडाऍ, ये दारुण कष्ट झेलती रही है। श्रीमती के रूप मे हमारा मरण जव हुआ तो आगामी भव मे हमने ही पद्मावती के रूप में जन्म लिया था और पद्मावती के मरणोपरान्त हम ही तिर्यंच योनि मे मृगी हुई। पुरुपो के हाथो इतने निमर्म अत्याचार और

भीषण दुर्व्यवहार पाकर हम क्यों न द्वेषिणी हो जातीं ! है? क्यों? अब भी तुम्हे क्या हमारा नर-द्वेष अनुचित प्रतीत होता है?"

इस लम्बी वार्त्ता के पश्चात् राजकुमारी सुकोमला ने विराम लिया और आवेश के कारण उनकी साँसें तीव्र हो गयीं। उनके वक्ष का स्पष्ट गतिशील दिखार्यी देना प्रतीक हो गया था–उनकी असामान्य मानसिक अवस्था का। राजकुमारी ने थूँक गटककर और लम्बी साँस छोड़कर कुछ सामान्य होने का प्रयत्न किया। इसी समय सखी विक्रमा सवाक् हो उठी, बोली–"स्यात् आपका चिन्तन भी सत्य हो–मैं एकांगी दृष्टिकोण के पक्ष में नहीं हूँ। मैंने पुरुषों को एक पार्श्व से देखा और उस पार्श्व को नहीं देख पायी जो आपने देखा–संभव है इस कारण हम दोनों के मतों में भेद है। किन्तु यह भी सत्य है कि यदि मेरा विचार एकांगी या एकपार्श्वीय है–समग्र नहीं है, तो आपके विचारों के साथ भी ऐसा ही है। हाथी का पूरा तन देखने वालों को ही उसका सत्य स्वरूप समझ में आ सकता है। नेत्रहीन लोग केवल स्पर्श से जब उसका पैर पहचानने लगते हैं तो उन्हें वह हाथी स्तंभ-सा लगता है, किसी अन्य को कान छूकर वह सूप-सा प्रतीत होता है और पूँछ का स्पर्श करने वालों को हाथी रस्सी जैसा लगता है। ये सब एकांगी दृष्टिकोण है। हाथी स्तंभ जैसा नहीं है, किन्तु तनिक सोचकर देखिये कि हाथी क्या आंशिक रूप से स्तंभ-जैसा नहीं है? वह स्तंभ-जैसा भी है, रस्सी-जैसा भी है, सूप-जैसा भी है। यही समन्वित सत्य सम्पूर्ण सत्य का सर्जन करता है और यथार्थ है, यही सर्व शुद्ध सत्य है। आंशिक सत्य–सम्पूर्ण सत्य कभी हो नहीं सकता। क्षमा की जाऊँ तो यह निवेदन करना चाहूँगी, राजकुमारी जी ! कि आपका दृष्टिकोण भी एकांगी है और इस आधार पर आपकी धारणा जो बनी है, आवश्यक नहीं है कि यह शुद्ध सत्य हो, समग्र सत्य हो। यह सत्यांश मात्र ही है। हो सकता है मेरी धारणा भी सत्यांश मात्र हो। ऐसे श्रव्य सत्यांश और भी हो सकते हैं। इन सभी के संगम से ही सम्पूर्ण एवं सर्व शुद्ध सत्य बनेगा। पुरुष-विषयक वही धारणा यथार्थ होगी।"

यह प्रथम अवसर था जब नर-द्वेष का खण्डन राजकुमारी के समक्ष हो रहा था। विक्रमा को भी अपने इस दुस्साहस से पहले तो बड़ा भय लग रहा था, किन्तु राजकुमारी की प्रतिक्रिया से वह भी उत्साहित हुई। राजकुमारी गंभीर हो गयीं। वे अपलक नयनों से आँगन की ओर ताकती, अविचल बैठी रह गयीं। अपनी चिबुक पर उनकी उँगली स्थिर हो गयी थी। वे विक्रमा के कथन में औचित्य का अनुभव करने लगी थीं। स्पष्ट था कि राजकुमारी सुकोमला ने विक्रमा की बातों को विचारणीय समझा। उसे इससे संतोष हुआ। प्रोत्साहित होकर उसने अपने कथन को आगे बढ़ाया–

"जी, यही स्याद्वाद है। दूसरों के विपरीत दृष्टिकोणो पर भी पूरक रूप मे विचार करके देखना चाहिए। सभी दृष्टिकोणों के संदर्भ में अपनी धारणा बनाई जाय तो अपना निर्णय अखंडनीय सत्य का रूप ले सकेगा।" विक्रमा ने गंभीरता, किन्तु विजय के साथ अपनी बात कही।

"तुम्हारे कथन में कदाचित् औचित्य हो, विक्रमा !"–राजकुमारी ने कोमल होते हुए कहा–"हम नये संदर्भो के प्रकाश में अपनी धारणा पर पुनर्विचार करेगी, किन्तु इतने भवो में सतत रूप से नर के हाथों प्रताडित होने और पीडित रहने के उस कटु अनुभव की प्रतिक्रिया से विमुख कैसे हुआ जा सकता है। नारी पर अत्याचार करना क्रूर पुरुष-वर्ग का सहज स्वभाव है, चाहे वह किसी जाति का प्राणी क्यों न हो। हमने तुम्हें मानव पुरुष का वृत्तान्त भी बताया। चाहे वह सम्पन्न, धनिक-वर्ग का हो, चाहे सत्ता-सम्पन्न नरेश हो–नारी के साथ उसका वही दुष्टतापूर्ण व्यवहार रहता है। नर-पशु का वृत्तान्त भी तुमने सुना। यहाँ तक कि देव-वर्ग भी इस विकार से मुक्त नहीं रहा है। इसका भी हमें प्रत्यक्ष अनुभव है विक्रमे ! हम भुक्त यथार्थ के आधार पर कह सकती हैं कि देव भी देवियों के प्रति निर्ममतापूर्ण व्यवहार करते हैं। मृगी के जीवन का अन्त होने पर हमने अपने पुण्य कर्मो के बल पर स्वर्ग को प्रस्थान किया और वहाँ हमें देवी-जीवन प्राप्त हुआ। विभावसु देव की पत्नी के रूप में हमने देव-जीवन व्यतीत किया, किन्तु वह जीवन भी भार ही बना रहा। मेरे पति विभावसु देव की एक अन्य प्रियतमा भी थी उनके जीवन मे हमारे प्रवेश के पूर्व–बहुत पूर्व से ही उनका प्रेम-संवध उस प्रियतमा के संग रहा था। मेरे साथ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी उनका वह प्रणय सतत रूप से चलता रहा। यही नहीं, वह प्रेम-बंधन तक तो और भी प्रगाढ हो गया। हम देव की पत्नी देवी अवश्य थीं, किन्तु कभी भी हमारे पतिदेव ने हमारे प्रति अपने कर्त्तव्य पर ध्यान नहीं दिया। सदा ही हमारी उपेक्षा होती रही, निरादर होता रहा। हमारी किसी को कोई चिन्ता नहीं थी। हम इस भव में भी अपूर्ण काम वनी रही। पीड़ा और सताप से हमारा जीवन दाहक अंगारों से घिरा रहा। पल-पल हमे अपमान सहना पड़ता। इस जीवन मे भी हमे अपने प्रियतम की प्रीति से वंचित रहकर तिरस्कार सहना पड़ा। पतिदेव ने कभी पतिधर्म का निर्वाह किया ही नहीं।"

राजकुमारी सुकोमला कथा कहती जा रही थीं और उनकी सखी विक्रमा गंभीरतापूर्वक उसे हृदयंगम करती जा रही थी। राजकुमारी ने कहा–"विक्रमा ! मेरी प्यारी सखी ! उस देवीभव का भी एक दिन अतिशय दु.खमय परिस्थितियो मे अन्त हो गया और हमारे जीव ने पुनः स्त्री-जीवन ग्रहण किया। मगध-देश के पद्मपुर नगर के एक संस्कारशील ब्राह्मण-कुल मे हमने जन्म लिया। उस भव में हमारा नाम मनोरमा था। जैसा नाम था, उसी के अनुरूप हमारा रूप-सौन्दर्य भी था। हमने यथा समय उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की, शास्त्रो का ज्ञान भी प्राप्त किया

और धर्माचरण को भी अपनाया। माता एवं पिता श्री मुकुन्द पंडित ने सप्रयास हममे सुसंस्कारों का विकास किया। हम एक आदर्श कन्या के योग्य व्यक्तित्व धारण कर चुकी थीं। विवाह-योग्य वय-प्राप्ति पर पिताश्री ने हमारा पाणिग्रहण विप्र देवशर्मा के संग सम्पन्न कर दिया। हम शेषपुर में अपने पति-गृह में सुखपूर्वक रहने लगी, किन्तु धीर-धीरे इस नये जीवन का कटु यथार्थ प्रकट हो ही गया। हम धर्मानुरागी, संस्कारशीला थीं। धर्माचरण हमारे जीवन की आधारशिला थी, किन्तु हमारे पति देवशर्मा सिद्धान्त-विहीन और संस्कार-च्युत व्यक्ति थे। मिथ्याचरण उनका स्वभाव हो गया था। रात्रि-भोजन को उन्होंने जानबूझकर जैसे अनिवार्य ही बना लिया था। अनछना जल का पान किये बिना जैसे उनकी तृषा शान्त ही नही होती थी। कन्दमूल का सेवन, सरोवर में स्नान आदि अन्य हिंसामूल कृत्यों मे भी वह रुचि के साथ अग्रगामी रहा करता था। मनोरमा और देवशर्मा का दाम्पत्य तो केर-बेर के संग के समान था। बेरी-झाड़ी कँटीली होती है। केले के पेड़ के कोमल स्निग्ध पात होते है। पवन झकोरों के साथ बेरी आनन्द-मग्न होकर झूमने लगती है और समीप ही स्थित केले के पात बेचारे काँटों से फट जाते हैं। दुर्विचारों और दुष्प्रवृत्तियों में देवशर्मा को तो आनन्द आता था, किन्तु उसकी जीवन सहचरी धर्मप्राण पत्नी मनोरमा को इससे बड़ा कष्ट होता था। अधर्मियों का संग जब दुर्निवार्य हो जाता है तो धर्मानुरागियों के लिए वह सर्वाधिक पीड़ादायक हो जाता है; जीवित चितारोहण-सा दाहक हो जाता है। मनोरमा प्रतिपल ऐसे ही दाह की पीड़ा भोगती रही।" राजकुमारी के मुख-मण्डल पर भुक्त पीड़ा का भाव साकार हो उठा और श्रोता सखी विक्रमा की मुख-मुद्रा में सहानुभूति का रंग झलक आया। क्षणेक विरामोपरान्त राजकुमारी ने कथा आगे बढ़ायी–

"यह भी सत्य है कि अधर्मियों को धर्ममार्ग वताना और उस पर गतिशील होने को प्रेरित करना भी धर्म का एक आवश्यक अंग है। प्रत्येक धर्मानुरागी का यह एक अनिवार्य कर्म है, मात्र स्वयं धर्माचरणरत रहना ही पर्याप्त नहीं है।" राजकुमारी के इस मर्म कथन का विक्रमा ने अनुमोदन किया और कहा–"वहुत सुन्दर कथन है, राजकुमारी जी ! वही सच्चा मित्र है, वही सच्चा जीवन-सहचर है, वही गुरु, वही आदर्श पिता है जो अपने अधर्मी मित्र, जीवन-सहचर, शिष्य और सन्तति को धर्म-विमुखता से मुक्त करे और उन्हें धर्म के सन्मार्ग पर आरुढ कर दे। इस प्रयास के विना धर्म-प्रेम अपूर्ण ही रह जाता है।"

"हाँ सखी ! मनोरमा भी हमारी भाँति ही सोचती थी। अपनी पीड़ा दूर करने और उससे भी अधिक तो स्वयं देवशर्मा के मंगल के लिए उसने अपने पति को बार-बार प्रतिबोध दिया, किन्तु प्रत्येक प्रयत्न का प्रभाव विलोम ही होता गया। देवशर्मा अधिकाधिक अधर्मी होता चला गया। हिंसा और अधर्म के नित नये पाप उसके आचरण में जुड़ते चले गये।"

"कान्ता सम्मत उपदेश वृत्ति, कोमल वाणी, आग्रह-अनुरोध का स्वर—सब व्यर्थ हो गये। एक रात्रि को मनोरमा ने फिर साहस सँजोकर अपने पति से कहा—"स्वामी ! मेरी बात को प्रार्थना मानकर ध्यान से सुनिये—पुराणों में भी, जैनागमों में भी—दोनों में रात्रि-भोजन को निषिद्ध माना गया है। अनछने जल को भी पेय नहीं माना गया है। वर्षभर मछली मारते रहने के पाप के समान पाप एक बार बिना छना जल पी लेने से होता है। कृपापूर्वक इन प्रवृत्तियो को त्यागिये। रात्रि मे भोजन करना अपने लिए नरक का द्वार खोलने के समान ही है। पूर्वजों ने तो कहा है कि सूर्यास्त के पश्चात् जल रक्त पीने और भोजन मॉस खाने के बराबर होता है। इन हिंसक और अधर्मपूर्ण कृत्यों को छोड़िये न ! आप तो स्वयं ही ज्ञानी है, अपने जीवन को सुखी बनाइये।"

"मूर्खा ! हमें उपदेश देना चाहती है। हमें ज्ञान देना चाहती है।··· दुष्टे ! तू हमें धर्म-अधर्म का मर्म क्या समझाएगी ! हमें तू सुखी होने का मार्ग दिखायेगी? सुखी तो आज मैं तुझे करता हूँ··· आ··· ।"—क्रुद्ध पति ने मनोरमा को शय्या से नीचे धकेल दिया। वह भू-लुंठित हो गयी। वह सँभल भी न पायी थी कि देवशर्मा ने चादर को रस्सी-सा बॅटकर चाबुक बना लिया और कोडे बरसाने लगा। अपमानजनक शब्दों का सरोष प्रयोग करते हुए वह कोड़े मारता रहा· मारता रहा। पिटते-पिटते मनोरमा अचेत हो गयी, किन्तु कोड़े बरसते ही रहे। यह क्रम तब थमा, जब देवशर्मा स्वयं थककर बेदम हो गया। धर्म के मार्ग मे ऐसी अनेक बाधाएँ परीक्षा बनकर आती हैं। इनसे विचलित होने वाला भी भला कोई धर्म-प्रेमी हो सकता है। यही मानकर मनोरमा गत रात्रि की यातनाओं को भूलकर फिर से हर शाम नये सिरे से प्रतिबोधन का प्रयास करती और दुष्परिणाम वही होता रहता। वैसे भी यातना का क्रम तो दाम्पत्य जीवन की प्रथम निशा से ही आरंभ हो चुका था। देवशर्मा का संस्कारहीन मन अत्यन्त शंकालु था। वह मानता था कि स्त्री कभी विश्वसनीय नही हो सकती। पुरुष को चाहिये कि वह उसे पूर्णत अपने नियंत्रण मे रखे। नियंत्रण का आधार आतंक ही बन सकता है और यह आतक परिचय और सम्पर्क के आरभिक क्षणों मे ही स्थापित हो जाना चाहिए। सुहाग-रात्रि में पुष्पों से सज्जित सेज पर वैठी नव-वधू मनोरमा जव अपने प्रियतम पति की आतुर प्रतीक्षा में लीन थी, शत-शत कामनाओं—स्वप्नो से घिरी मनोरमा ने अपने पतिदेव का प्रथम दर्शन ही क्रूरता की प्रतिमूर्ति के रूप मे किया। उसने आरक्त नेत्रों और उग्र वाणी के साथ कक्ष मे प्रवेश किया। उसके हाथ मे कण्ठहार के स्थान पर कोड़ा था, जिसे देखकर मनोरमा के तो प्राण ही सूख गये। वह अवाक्-सी देखती ही रह गयी और भावी अनिष्ट की प्रतीक्षा करने लगी। थरथर कॉपती मनोरमा को देवशर्मा ने बॉह पकडकर खींच लिया और उसकी कोमल पीठ पर वह कोडे वरसाने लगा।

अश्लील शब्दावली का प्रयोग करते हुए वह उच्च स्वर में चीखने लगा– "हमारे सामने शय्या पर बैठी रहती है, दुष्टा ! मैं तुझे तेरी अभद्रता का पूरा मजा चखाऊँगा। भूल जाएगी सारी अकड़ ....। उसे तो कोई बहाना चाहिए था, कारण-अकारण उसे तो यातना देनी थी। मनोरमा का आत्म-सम्मान बुरी तरह आहत हुआ, उसके सारे स्वप्न मिट्टी में मिल गये। किन्तु धीरा मनोरमा बडी विवेकशीला थी। उसने जीवन को नये सिरे से बनाने का प्रयास किया। उसने इस प्रयत्न में बहुतेरे उद्यम किये, किन्तु बात थी कि बनने को ही नहीं आती थी। आये दिन उसे यातना, दुर्व्यवहार, पीड़ा और अत्याचार ही मिला करते थे। ऐसा कठोर हृदय था देवशर्मा कि मनोरमा के आन्तरिक सौन्दर्य, उसके सद्गुणों और आदर्शो से तो क्या; उसके कायिक सौन्दर्य, उसके रूप-यौवन से भी प्रभावित नहीं हो पाता था। वह तो अपनी दुष्प्रवृत्तियों में ही रस लिया करता था। पति के व्यवहार से पीडित मनोरमा की धर्म-श्रद्धा तीव्र से तीव्रतर होती चली गयी; किन्तु दुर्ध्यान में मरण होने से उसे तिर्यंच योनि मिली और उसे शुकी (तोती) का आगामी भव प्राप्त हुआ।"

"शुक-शुकी का जीवन भी बड़ा ही अनूठा होता है। वाणी-अनुकरण की विचित्र प्रवृत्ति के कारण वह मानव-जाति के भी चहेते हो जाते हैं। वे सर्वप्रिय हो जाते हैं। सभी उनके सान्निध्य की लालसा रखते हैं। ऐसा सौभाग्य कम ही प्राणियों को सुलभ होता है। मनोरमा के रूप में हमारा प्राणान्त हुआ तो एक विशाल, सघन वन में हमारा ही जन्म शुकी के रूप में हुआ। इसी रूप में मैंने शान्त प्राकृतिक वातावरण में अपने नयन विस्फारित किये। आयु प्राप्त कर शुकी अत्यन्त आकर्षक, अत्यन्त सुन्दर पंछी के रूप में सारे वन-प्रान्तर में सर्वत्र कीर्ति अर्जित करने लगी। सभी पशु-पक्षी उसके प्रशंसक थे। हरित पक्ष, अरुण चंचु, श्याम रेखा का सुन्दर कंठहार, पाटलवर्णी पंजे और गोल-गोल सुन्दर चंचल नेत्र–शुकी के शोभा-सर्जक अवयव सवसे भिन्न थे। भूमि पर विचरण करती तो उसकी ठुमुक चाल वडी ही मनोमुग्धकारी होती और जव गगन-विहार करती तो उसकी उडान में भी एक विचित्र थिरकन होती। एक शुक उसके प्रति आकर्षित हो गया और वह सदा उसके साथ रहने लगा। निरन्तर संसर्ग ने पारस्परिक अनुराग भाव उत्पन्न कर दिया और दोनो पति-पत्नी के रूप में रहने लगे। यह शुक-युग्म वड़ा सुखी था। साथ-साथ दोनों वन्य-फलों के मधुर आहार का आनन्द लेते, साथ ही साथ निर्मल स्रोतो का जल-पान करते। साथ-साथ ही वे क्रीडा करते और गगन की ऊँचाइयों में एकान्त विहार करते। किसी भी वन्य प्राणी ने उनमें से किसी एक को एकाकी अवस्था में नहीं देखा। शुकी का जीवन अत्यन्त सुखमयता के साथ व्यतीत हो रहा । किन्तु तव शीघ्र ही शुकी के भ्रम का निराकरण हो गया, सखी !"

"भ्रम ... यह भ्रम कैसा, राजकुमारी जी ! शुक-शुकी का जीवन तो अत्यन्त सरस और सुन्दर था। उसका पति भी उससे प्रेम करता था फिर भ्रम कैसा, देवी !"—विक्रमा ने जिज्ञासा के साथ प्रश्न कर दिया।

"शुकी बड़े भारी भ्रम में थी, सखी ! वह मानती थी कि उसका पति शुक भी उसके प्रति समर्पित भाव से संग रहता है, उसे भी उसकी उतनी ही चाहना है जितनी शुकी की शुक के प्रति है। शुक तो बड़ा स्वार्थी निकला। जब शुकी गर्भवती हुई तो उसे अपने शावकों के लिए नीड़ की आवश्यकता अनुभवं होने लगी। अब तक वे दोनों तो वृक्षों की टहनियों पर मुक्त आवास कर लेते थे। एक दिन उसने शुक से कहा कि कोई सुरक्षित स्थल देखकर अच्छे-से वृक्ष पर हम एक नीड का निर्माण मिलकर कर लें। वहीं हमारे शावकों का पालन-पोषण कर लेंगे। शुक ने इस बात में रुचि ही नहीं ली। वह तुरन्त उड़कर अन्य टहनी पर बैठ गया। उसके बाद तो वह अन्य युवा शुकियों के साथ देखा जाता रहा। इस शुकी के साथ मानो बात रखने के लिए ही वह कुछ समय रहता। बेचारी शुकी एकाकी रह गयी। दिन-दिनभर परिश्रम करके उसने एक सुरक्षित नीड़ बना लिया। वहीं उसने अंडे दिये। वह दोनों अंडों को सेती रही और यथासमय दो प्यारे-प्यारे शावको ने जन्म लिया। शुकी का हृदय ममता से भर उठा।

शुक के कठोर हृदय में कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। अकेली शुकी ही शावकों का भरण-पोषण करती रही, वही उनकी रक्षा भी करती। अभी शावक छोटे ही थे कि एक दिन उस वन में दावानल भयंकर रूप में भडक उठा। वृक्ष की ऊँचाई से स्पष्ट दिखायी दे रहा था कि कुछ ही दूरी तक वनाग्नि बढती हुई चली आयी है। प्रमादी शुक निश्चिन्तता के साथ बैठा ऊँघ रहा था। शुकी को अपने शावकों की चिन्ता ने व्याकुल कर दिया था। उसने पति को सजग किया और आसन्न सकट की ओर उसका ध्यान दिलाया। शुक ने एक नेत्र खोलकर वन की दूर से आगे वढती अग्नि की ओर देखा और फिर ऊँघने लगा। शुकी बड़ी चिन्तित थी। उसने पुन: झकझोरकर जगाया। बोली कि उठो ... उठो .... दावानल शीघ्र ही यहाँ तक वढ आएगा और हम-सब उसमें जलकर भस्म हो जाएँगे। अभी समय है। एक शावक को मै उठाती हूँ, एक को तुम उठा लो और उड़ चलो। दूर कही जाकर ऐसे स्थल पर वसेरा करेंगे, जहाँ यह अग्नि न पहुँच सके। उठो .. आलस्य को त्यागो ... अपने शावको को वचाओ। झुँझलाते हुए पति शुक ने फटकार दिया अपनी पत्नी को—क्यो कान खा रही है ... बहुत थक गया हूँ .... तनिक सोने भी दे। वेचारी शुकी क्या करती? दोनों शावकों को लेकर वह उड नहीं सकती थी। जव अग्नि समीप आ गयी और तप्त पवन का अनुभव होने लगा तो शुक अपनी टहनी छोड़कर उड़ चला और पंख हिलाते-हिलाते दूर—बहुत दूर निकल गया। निरीह शुकी ताकती ही रह गयी और शुक उसकी दृष्टि से ओझल हो गया।

वन के इस क्षेत्र में भी हड़कम्प मच गया। सभी जीव अपने-अपने प्राण लेकर भाग खड़े हुए, किन्तु शुकी विवश थी। उसकी ममता किसी भी एक शावक को जल मरने के लिए छोड़कर अपने प्राण वचाने की अनुमति नहीं दे रही थी। वह बेचारी विचित्र संकट से घिरी थी। देखते ही देखते अग्नि भी आ पहुँची। लताओ का झुलसकर तड़तड़ाना स्पष्ट सुनाई दे रहा था। सूखी घास जलकर ज्वालाओ को प्रचण्ड बना रही थी। धुआँ उठकर टहनियों के मध्य घुटने लगा। जिस वृक्ष पर नीड़ था, वह भी जलने लगा। नीचे से तने ने आग पकड़ी और कुछ ही पलों मे जलता हुआ वृक्ष ध्वस्त हो गया। नीड़ सहित शुकी अग्नि के विशाल पुँज में जा गिरी और माँ-शावक–तीनों कुछ ही क्षणों में भस्म हो गये। अंतिम क्षणों तक भी शुकी अपने दोनों शावकों की रक्षा का विफल प्रयत्न करती रही। इन प्राणियो का दहन देखने वाला वहाँ कोई होता तो देखता कि माता शुकी अपने दोनों पंखों मे अपने दोनों शावकों को आवृत किये प्रचण्ड अग्नि से घिरी, मरण की प्रतीक्षा कर रही है। ममता का भाव सर्वस्व न्यौछावर कर देने को प्रेरित करता है। ममत्व के समक्ष स्व-प्राणों का भी कोई मोल नहीं होता, किन्तु नर-शुक ने तनिक भी चिन्ता नहीं की। शावक तो वे उसके भी थे, किन्तु पुरुष का स्वार्थ उसे कहाँ निष्ठावान रहने देता है। शुभ ध्यान में मरण पाकर उसी शुकी का जीव अपने सातवें भव में प्रतिष्ठानपुर-नरेश महाराज शालिवाहन के यहाँ राजकन्या के रूप में जन्मा। माता-पिता ने कन्या का नाम सुकोमला रख दिया, वही आज तुम्हारे समक्ष नर-द्वेषिणी राजकुमारी के रूप में बैठी हैं। अब तुम्हें हमारे नर-द्वेष का उचित कारण ज्ञात हो गया होगा। क्या तुम उसे अभी भी अस्वाभाविक, अकारण और आधारहीन मानती हो, विक्रमे ! छह-छह जन्मो में हमने नारी के रूप में पुरुष के अन्याय और अत्याचारों को झेला है, भोगा है। अव हम नर-द्वेष अपने भीतर विकसित कर पुरुष जाति मे प्रतिशोध क्यों न लें !'' अन्तिम वाक्य के पूर्ण होते-होते राजकुमारी सुकोमला रोप से भर उठीं, उनके अधर फड़फडाने लगे।

''वड़ी ही करुण कथा है, राजकुमारी जी ! आपके पूर्वभवों की....।'' आर्द्र कंठ से विक्रमा सहानुभूतिपूर्वक वोली–''संभव है इन निर्मम व्यवहारों के परिणामस्वरूप नर-द्वेप की जो प्रतिक्रिया आपमें जागी है, वह उचित ही हो। यह भी हो सकता है कि इन व्यवहारों का कारण पुरुपो की निर्ममता न होकर कुछ अन्य ही हो। कभी विस्तार से इसकी चर्चा होगी। अभी आपका चित्त भी उद्विग्न है, आप श्रमित–थकित भी हैं। विश्राम कीजिये....।'' नर्तकी विक्रमा यह कहते हुए आसन से उठने को हुई। तभी राजकुमारी ने वड़ी स्निग्धता और कोमलता के साथ विक्रमा का हाथ दवा दिया। इस स्पर्श ने विक्रमा के तन में एक विद्युत संचार-सी हलचल मचा दी। उसे वडा विचित्र-सा अनुभव होने लगा। इस चिर-याचित परम-क्रिया की सम्भावना उसे इतनी सन्निकट नहीं प्रतीत होती थी। अपनी प्रफुल्लता के दमन के

प्रयत्न में उसके अधरों पर क्षीण-सा हास बिखर गया। वह स्व-नियंत्रण का प्रयास कर ही रही थी। राजकन्या सुकोमला ने कहा–"विक्रमे ! यदि तुम पुरुष होतीं तो···· कितना ही पुरुष-विरोध मेरे मन में हो–तुमसे अवश्य ही मैं विवाह कर लेती।" और वह जोर से हँस पड़ीं। विक्रमा ने भी इस हास में सहयोग किया और प्रत्युत्तर में कहा–"देवी ! दैव अनुकूल हो तो असंभव-सी कामनाएँ भी एक दिन संभव होकर पूर्ण हो जाती हैं। कौन जानता है–आपका-मेरा परिणय घटित होकर ही रहे।"–और इस बार विक्रमा ने कथन को परिहास का रूप देने को हास्य की पहल की और राजकुमारी ने बढ़-चढ़कर उसमें सहयोग किया। गंभीर वातावरण सहसा हल्का-फुल्का हो उठा। राजकुमारी से अनुमति पाकर विक्रमा अपने कक्ष की ओर चल दी। बड़ी देर तक राजकुमारी का चित्त उल्लसित रहा। वे गवाक्ष से बाहर दूर-दूर के प्राकृतिक वातावरण को देखने में निमग्न हो गयीं।

प्रतिष्ठानपुर का चैत्यालय··· चैत्यालय के बाहर उन्मुक्त विस्तीर्ण प्रांगण··· अर्द्ध-रात्रि का समय····· समस्त पृथ्वी-तल निर्मल, शीतल चॉदनी से पूरित और ऐसे मे एक अद्भुत–अपूर्व घटना। चैत्यालय के प्रांगण में तीन विद्याधर आत्म-विस्मृत होकर, अन्तर्लीन होकर नर्तन कर रहे थे। कोई दर्शक नहीं–कोई साक्षी नहीं। निपट एकाकी रूप में वे नृत्य-मग्न थे। उस क्षेत्र के रात्रि-प्रहरियों ने देखा तो महान् आश्चर्य में डूब गये। इस विचित्र घटना से वे तो हतप्रभ रह गये। आरभिक कुछ क्षणों तक तो वे कुछ कर्त्तव्य निश्चय ही नही कर सके कि उन्हें क्या करना चाहिए। वे अवाक् रूप से यह लीला देखते रह गये। जव कुछ सामान्य हो गये तो उन्हें अपने करणीय का बोध हुआ। उन्होंने नगर-रक्षक को सूचना दी और तत्काल प्रतिष्ठानपुर के राजभवन में विश्रामरत महाराज शालिवाहन को इस तथ्य से अवगत कराया गया। महामंत्री ने स्वयं यह कार्य सम्पन्न किया। सूचना पाकर महाराज के नेत्र विस्फारित और मुख वाणीविहीन होकर खुला का खुला रह गया। कुछ क्षणों तक तो उनकी वस यही प्रतिक्रिया रही, किन्तु जव वे कुछ सामान्य हुए तो बोले–"महामंत्री जी ! इस राज्य के इतिहास में यह अपूर्व प्रसंग है। ऐसा कभी हुआ नहीं···· हम स्वयं इस अलौकिक नृत्य को देखेंगे··· हम चैत्यालय जाएँगे···· इसी समय।" महाराज ने अपना निश्चय व्यक्त किया और उठ खडे हुए।

महाराज शालिवाहन जब महामंत्री और अपने कतिपय निजी सहायकों के संग चैत्यालय पहुँचे और सूचना को सत्य पाया। तीन विद्याधर नृत्य कर रहे थे। उस अद्भुत–अलौकिक नृत्य के द्रष्टा रूप में महाराज असाधारण आनन्द का अनुभव कुछ क्षण ही कर पाये थे कि तीनों विद्याधर नर्तक पृथ्वी-तल त्यागकर गगन-विहारी हो गये, आकाश-मार्ग से अन्यत्र जाने लगे। महाराज को इससे आघात लगा। नृत्य स्थगित कर ये चले क्यों जा रहे है? तुरन्त उन्होने उच्च स्वर में पूछा–"विद्याधरो ! तुम जा क्यों रहे हो? .... नृत्य क्यों रोक दिया? .... तुम लौट आओ और नृत्य करो। ...... हमें आनन्द-विभोर कर दो।" विद्याधर आकाश में ही त्रिशंकु-से थम गये। उनकी यात्रा स्थगित हो गयी। तभी महाराज ने आगे कथन किया–"विद्याधरो ! सुनो–यदि तुम लौटे नहीं तो सच मानो, हम यही, इसी समय प्राण त्याग देंगे .... यह हमारा निश्चय है–संकल्प है। विद्याधरो ! हॉ, ... हमारी प्रतिज्ञा है यह।" और महाराज के आनन्द का कोई पार नही रहा, जब उन्होंने देखा कि विद्याधर नीचे उतरने लगे। कुछ ही क्षणों मे वे चैत्यालय के प्रांगण में उतर आये। उतरते-उतरते ही, कुछ ऊपर से ही वे नृत्य करने लगे थे और पृथ्वी-तल पर पहुँचकर तो उनका नृत्य अच्छी गति पकड़ चुका था। महाराज शालिवाहन इस महान् नृत्य के साक्षात् दर्शक होकर विशिष्ट गौरव का अनुभव करने लगे। वड़ी देर तक नृत्य चलता रहा और रस-मग्न महाराज उसका आनन्द लेते रहे।

नृत्य-समाप्ति पर जब नर्तक और दर्शक दोनों कुछ सामान्य हुए तो महाराज ने विद्याधरों को सम्वोधित किया और अनुरोध-भरे स्वर मे कहा–"आपका यह अलौकिक नृत्य जो भी देखेगा वह निहाल हो जायेगा। एक कृपा हम पर कीजिये न .... हमारी राजसभा में अपनी ऐसी अद्भुत कला का प्रदर्शन कीजिये न विद्याधरो ! ...... हमारे राज्य को, प्रजा और राजसभा को निहाल कर दो ....।"

प्रौढ विद्याधर ने उत्तर दिया–"राजन् ! हमने आपका अनुरोध सुना, किन्तु हमें खेद है .... हम राजसभा में नृत्य कर नहीं सकेंगे।"

"किन्तु क्यो, विद्याधर ! ऐसा क्यों नहीं हो सकता?"

"इसका कारण है, महाराज ! यह निश्चय हमारा मिथ्या नहीं है।"

"कारण तो अवश्य होगा, किन्तु वह क्या है? क्या उसे हम जान नहीं सकते? क्या हमारी राजसभा आप लोगो को तुच्छ प्रतीत होती है?"

"नहीं ... नहीं, महाराज ! ऐसा नहीं है, किन्तु हमारा नृत्य तो प्राय: चैत्यालयों के समक्ष ही होता है। एकान्त कानन, पर्वत शिखर पर भी हम नृत्य कर लेते हैं, किन्तु जन-समूह के समक्ष हमारा नृत्य होता ही नहीं है। आपका आग्रह कैसे स्वीकारें ...।"

"हम आपकी बात को समझ गये, विद्याधर ! अच्छी प्रकार से समझ लिया, किन्तु इसका क्या कारण है? आप जन-समूह के समक्ष क्यो नहीं नृत्य करते? क्यों ऐसा नहीं हो सकता.... ?"

"राजन् ! आप बड़े चतुर हैं। कदाचित् कुछ भी गोपनीय नहीं रहने देंगे। हम एकान्त स्थलों पर ही नृत्य इस कारण से करते हैं कि वहाँ कोई दर्शक नहीं होते। दर्शक होंगे तो उनमें महिलाएँ भी होंगी और हम स्त्रियों के समक्ष नृत्य नहीं करते।" बड़ी दृढ़ता के साथ उस प्रौढ़ विद्याधर ने कथन किया।

महाराज भी एक क्षण के लिए तो चिन्ता में पड़ गये। वे पूछना चाहते थे कि नारियों में ऐसा कौन-सा दोष है कि विद्याधर.... किन्तु यह प्रश्न और कभी के लिए लम्बित रखते हुए उन्होंने कहा—"विद्याधरो ! हम इसकी सुनिश्चित व्यवस्था कर देंगे कि कोई नारी उस समय राजसभा में उपस्थित न रहे। हमें आपकी भावना का आदर करना चाहिए और हम ऐसा ही करेंगे। अब तो कोई आपत्ति आपको नहीं होनी चाहिए।"

"उचित है, राजन् ! उपयुक्त है। यदि ऐसी व्यवस्था हो जाती है तो हम हमारी मर्यादा के अपवाद रूप में भी आपकी राजसभा मे उपस्थित होंगे। हम कल रात्रि में ही आ जायेंगे, नृपति ! किन्तु ध्यान रहे.. कोई स्त्री.... ।"

"इसके लिए आप निश्चिन्त रहें.... कड़ी व्यवस्था कर दी जायेगी।"

आश्वस्त होकर विद्याधर आकाश-मार्ग से अपने स्थल को चले गये। महाराज शालिवाहन ने तत्काल महामंत्री को आदेश दिया—"कल की रात्रि में राजसभा आमंत्रित कर ली जाय। राजसभा में कोई भी स्त्री प्रवेश न कर पाये। नगर में घोषणा करा दी जाये कि संध्या के पश्चात् कोई स्त्री अपने घर से वाहर नहीं निकले।"

"जैसी आज्ञा, श्रीमानेश्वर !"—महामंत्री ने इस शब्दावली के साथ आदेश ग्रहण किया।

× × ×

महाराज शालिवाहन की राजसभा में तीनों विद्याधर दिव्य नृत्य कर रहे थे। तल्लीनता के साथ नर्तक अपनी नृत्य-कला के प्रस्तुतीकरण में रत थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे सब-कुछ भूल गये थे, सुध-वुध का भान भी उन्हें नहीं था। सभासद, दर्शक और अनेक प्रजा जन भी प्रत्यक्षदर्शी होने का गौरव प्राप्त करने को एकत्र हुए थे। सभी इस अनूठे कला-प्रदर्शन के रस-सिन्धु में निमग्न हो गये थे। ताल-सुर के संग-संग नृत्यगत हाव भाव और आंगिक चेष्टाऍ भी द्रुत से द्रुततर होती चली गयीं। दर्शकों की जैसे साँस ही थम चुकी थी। मंत्र-मुग्ध से शान्त और सर्वथा अविचल रूप में नृत्य देखते चले जा रहे थे। एक अद्भुत वातावरण राजसभा मे छा गया था और इसी समय सहसा एक झटके के साथ नृत्य का क्रम

चरम के पूर्व ही स्थगित हो गया। बीच में ही नर्तक नृत्य रोककर खड़े रह गये। वह कलात्मक वातावरण भंग हो गया। दर्शकगण हक्के-बक्के रह गये–यह क्या हुआ? नृत्य बीच ही में क्यों रुक गया?

महाराज भी कोई सुन्दर-सा स्वप्न देखते-देखते जैसे सहसा जाग गये। उन्हें भी एक झटका-सा लगा। वे नृत्य के सहसा रुक जाने का कारण पूछने ही वाले थे कि प्रमुख विद्याधर ने आरोप कर दिया–"हमारे साथ छल किया गया है, महाराज !"

– "छल···· ! कैसा छल?"

– "हमने बताया था–हम नारियों की उपस्थिति में नृत्य नहीं किया करते·····।"

– "बताया था···· अवश्य बताया था, विद्याधर ! और हमने वैसी ही कडी व्यवस्था भी करवाई है। राजसभा में नारी का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया।"

– "किन्तु यहॉ नारियॉ हैं, राजन् !"

– "क्या कहते हो, विद्याधर ! यहाँ कोई स्त्री नहीं है।"

– "हैं महाराज ! यहॉ नारियॉ हैं। हम नारी-द्वेषी हैं और हमे दूर से ही नारी-गंध का अनुभव हो जाता है। पुरुष-वेश धारण कर लेने से किसी स्त्री का नारीत्व समाप्त नहीं हो जाता, महाराज !" विद्याधर की दृष्टि तक विशेष दर्शक पर गड़ गयी। दर्शक की दृष्टि विद्याधर की दृष्टि से मिली और तुरन्त नीचे झुक गयी।

इसी समय महाराज ने कहा–"यहॉ राजसभा में यदि कोई स्त्री हो तो वह अपने स्थान पर खड़ी हो जाय और यह बताए कि उसने यहॉ आने का साहस क्यों किया?"

राजसभा में सन्नाटा छा गया। महाराज की दृष्टि सारी राजसभा में घूम गयी। उन्हें कोई दर्शक खड़ा न दिखायी दिया। तव उन्होंने विद्याधर की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से ताका।

विद्याधर ने कहा–"किसी के खड़े न होने से भी इस वात का प्रमाण नहीं मिल जाता कि सभा में कोई स्त्री नहीं है। मैंने पहचान लिया है, महाराज ! कौन स्त्री पुरुप-वेश में कहॉ वैठी है?"

"पहचान लिया?···· कौन है वह?" महाराज ने जिज्ञासा के साथ प्रश्न कर दिया। उसी समय दर्शकों के वीच में से एक व्यक्ति का स्वर आया–"हॉ·· हॉ··· मैं नारी हूँ।" वह तनकर खड़ी हो गयी–"मैंने पुरुप-वेश में राजसभा में प्रवेश किया।"–झटके के साथ उसने अपना शिरस्त्राण खींच लिया। लम्बी केश-राशि विखरकर लहराने लगी। महाराज के अधरों ही अधरों में वोल फेल गया– "ओहो !···· राजकन्या सुकोमला !!" सभी ने उसे पहचान लिया। एक वार तो सारी सभा में सन्नाटा ही छा गया और फिर मन्द्रम-सा कोलाहल उठा। महाराज ने

हाथ के संकेत से सभी को शान्त किया। तभी राजकन्या ने पुनः कथन आरंभ किया-"इस प्रश्न की आवश्यकता नहीं कि हमने नारी-निषिद्ध इस राजसभा में पुरुष-वेश में क्यों प्रवेश किया? हम नर-द्वेषिणी हैं। पुरुष-वर्ग के प्रति घृणा ही नहीं, हमारे मन में प्रतिहिंसा और प्रतिशोध का भी भाव अत्यन्त प्रचण्ड है। और इसका कारण है। हमने विगत छह पूर्वभवों मे नारी जीवन पाया और प्रत्येक भव में हम पुरुष के अत्याचार, अन्याय, उपेक्षा और निष्ठुरता को ही झेलती रही हैं। उसी अनुचित व्यवहार ने हमें नर-द्वेषिणी बनाया, किन्तु जब यह सुना कि ये विद्याधर नर्तक किसी नारी के समक्ष नृत्य नहीं करते, नारी की उपस्थिति ही इन्हे असह्य है तो इनके नारी-द्वेष को हमने पहचान लिया। अत्याचार भी नर करे और वही नारी से द्वेष भी रखे-यह नारी पर नर का एक और अत्याचार है। हमारे मन में इनके नारी-द्वेषी होने का कारण जान लेने की उत्सुकता जागी और हमने इस सभा में उपस्थित रहने का निश्चय कर लिया। अपने मूल नारी-वेश में तो हम यहाँ प्रविष्ट हो नहीं पातीं, इस कारण हमें नर-वेश धारण करना पड़ा।" रोष के कारण राजकन्या का श्वास-प्रश्वास अव्यवस्थित होकर तीव्र हो गया और कथन के अन्तिम शब्द स्वर-भंग के कारण किंचित् अस्पष्ट हो गये। कुछ क्षणों के विरामोपरान्त उन्होंने पुनः कथन किया-"हमारा नर-द्वेष तो पुरुषों द्वारा किये गये अत्याचारो पर आधारित है-छह-छह जन्मों का अत्याचार, किन्तु विद्याधर के मन में नारी के प्रति द्वेष क्यों है? अत्याचार-पीड़िता नारी के प्रति भी भला द्वेष हो सकता है?"

"अपना आसन ग्रहण कीजिए, राजकुमारी जी ! और आवेश को त्यागिये। सहज होकर शान्त मन से अब आप मेरी बात सुनिये।"-अत्यन्त कोमलता के साथ ससम्मान विद्याधर ने कहा और राजकुमारी सुकोमला आसनस्थ हो गयी। अव भी अवशिष्ट आवेश के कारण उनका वक्ष ऊपर-नीचे को हो रहा था। महाराज की ओर उन्मुख होते हुए तब प्रमुख विद्याधर ने निवेदन किया-"अनुमति हो तो मै राजकुमारी जी का उत्तर दूँ-यह स्पष्ट कर दूँ कि मै नारी के प्रति विरोध का भाव क्यों रखता हूँ।" विद्याधर अनुमति की प्रतीक्षा करने लगा। वातावरण यकायक गंभीर हो उठा। महाराज ने हाथ उठाकर विद्याधर को अनुमति प्रदान करते हुए कहा-"अच्छा हुआ कि राजकन्या के हित में जो प्रश्न हम तुमसे करने वाले थे वही उन्होंने कर दिया। एक नर को दोषी मानती हैं तो दूसरा नारी से वैमनस्य रखता है। अन्ततः वास्तविकता क्या है? हम भी यह जानना चाहते है। विद्याधर ! अव आप विस्तार से वताइये-आप नारी के प्रति द्वेष का भाव क्यों रखते हैं-आधारस्वरूप इसका कारण क्या है?"

"राजन् !"-महाराज को सम्बोधित करते हुए विद्याधर ने कहा-"संयोगवशात् मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। मुझे इसके परिणामस्वरूप पूर्वभवों

की स्मृति हो गयी। मैंने जान लिया कि उन छह पूर्वभवों में मुझे मानव-देह भी मिली, देव-जीवन, पशु-पक्षियों का जीवन भी मैंने जीया और प्रत्येक भव में मैं नर योनि में रहा। इस समानता के साथ-साथ एक बात की समानता और रही कि मुझे नारी के हाथों सदा, प्रत्येक भव में अपमानित, उपेक्षित होना पड़ा। नारी के अत्याचारों और निर्दयता को मुझे विवश होकर सहते रहना पड़ा। नारी के इसी आचरण ने मुझे नारी-विरोधी बना दिया, महाराज !" सरोष अभिव्यक्ति ने विद्याधर को उद्विग्न बना दिया और उसके नैन किंचित् आरक्त हो उठे।"

"मिथ्या है, महाराज ! विद्याधर का कथन अत्युक्तिपूर्ण है। नारी-जाति सदा से कोमल और सदय रही है। उस पर यह मिथ्या आरोप है कि वह अत्याचार करती रही है, कठोरता और निष्ठुरता उसका स्वभाव है।" सावेश राजकुमारी सुकोमलता ने गर्जना की।

"जो कुछ हम कह रहे हैं—वह सप्रमाण है, महाराज ! राजकुमारी जी की उत्तेजना अनुपयुक्त है। हम जो कुछ कह रहे हैं वह तो हमारा भोगा हुआ यथार्थ है। छह-छह जन्मों में भोगा हुआ नारी का दुर्व्यवहार मिथ्या कैसे हो सकता है।" —धैर्य के साथ विद्याधर ने कहा। महाराज ने उसके कथन में औचित्य का अनुभव किया और राजकन्या को शान्त रहने का संकेत किया। प्रोत्साहित होकर विद्याधर ने कहा—"मुझे तो प्रतीत होता है, स्वयं राजकुमारी जी का नर-द्वेष ही एक अभिनय है, वह द्वेष मिथ्या और अर्थहीन है। यदि पुरुषों से उन्हें वास्तविक और आन्तरिक घृणा होती तो स्वेच्छा से वे यह पुरुष-वेश धारण नहीं करती।" —विद्याधर इतना कहकर अपने कथन की प्रतिक्रिया ताड़ने को कुछ पल के लिए मौन हो गया। इस सबल तर्क से उपस्थित जन-समूह में एक कोलाहल हुआ। राजकुमारी की दृष्टि नीचे झुकी और महाराज शालिवाहन अपलक नयनों से विद्याधर को निहारते रह गये।"—"मैंने नारी के कठोर और निर्मम व्यवहारों को खूब सहा है, महाराज !" विद्याधर ने आपबीती का बखान आरंभ किया—

"जाति-स्मरण से ज्ञात मेरे प्रथम भव में मैं एक श्रेष्ठी था। मेरा नाम धन था और मैं लक्ष्मीपुर में निवास करता था।" आरंभिक कथन पर ही राजकन्या चौंक उठीं। विद्याधर ने कथन को अग्रसर किया—"श्रीमती नामक कन्या से मेरा विवाह सम्पन्न हुआ। हम दोनों पति-पत्नी थे, किन्तु दोनों के स्वभाव-आचरण में आकाश-पाताल का अन्तर था। मैं धार्मिक प्रवृत्ति का था, धार्मिक प्रवृत्तियों में श्रीमती की रुचि रंच मात्र भी नहीं थी। वह न दान स्वयं करती, न ही मुझे करने देती। जब कभी मैं कोई दान करता—वह क्लेश करने लगती। उसकी जीवन-प्रणाली वह मुझ पर भी थोपती थी। सौभाग्य से हमें एक पुत्र की प्राप्ति हुई। हमने उसका नाम करणकुमार रखा। वह पुत्र के प्रति भी सदय नहीं रही। उसे आवश्यक खाद्य भी सुलभ नहीं कराती। मुझे भी रूखा-सूखा भोजन देती। अपार ऐश्वर्य होते हुए

भी मुझे दीन-दु:खियों की भाँति फटेहाल रहना पड़ता। प्रेम के दो बोल भी कभी उसके मुख से नहीं निकले। नित-नया बखेड़ा खड़ा कर झगड़ती रहती। मेरा धर्म-प्रेम उसकी आँखों में खटकता था। ऐसे वातावरण में मेरा घर मेरे लिये नरक के समान हो गया था।''

''पत्नी के कठोर और अप्रिय व्यवहारों को सहन करते-करते ही एक दिन मेरा प्राणान्त हो गया और दूसरे भव में मैं राजा जितशत्रु के रूप में जन्मा। पद्मावती से मेरा विवाह हुआ। रानी पद्मावती भी अत्यन्त दुष्ट स्वभाव की थी। उसने सदा मेरी उपेक्षा और अवहेलना ही की। सदा मनमानी करती रहने वाली उस नारी ने कभी मेरे आदेशों का पालन नहीं किया। जो कुछ भी मैं चाहता वह उसके विपरीत ही आचरण करती थी। राजा होकर भी मैं रानी की ओर से बड़ा दु:खित और पीड़ित रहा। इस भव में भी मुझे प्रतीत होने लगा कि मेरा मानव-जीवन धारण करना ही निरर्थक हो गया।''

''तीसरे भव में मैं एक मृग हुआ। मृग-जीवन में मुझे स्वच्छन्दता प्राप्त हुई। उन्मुक्त वन-विहार मुझे बड़ा आनन्द देता था, किन्तु यह सुख भी अल्पकालीन ही रहा। एक सुन्दर मृगी के प्रेम-जाल में मैं ऐसा ग्रस्त हुआ कि जीवन भार प्रतीत होने लगा। मैं जीवन को एक विवशता मानकर जीने लगा। आरंभ में तो मृगी प्यार से रहती थी, किन्तु धीरे-धीरे वह मुझे अपने नियंत्रण में रखने लगी। उसकी इच्छाएँ ही उसके लिए सर्वस्व थीं। मेरी कामना का कोई स्थान नहीं था। वही जिस दिशा में चाहती मुझे वन के उसी भाग में धकेल ले जाती और यदि मैं आनाकानी करता तो मुझे उन्हीं सींगों के पैने प्रहार मिलते जिन सींगों की सुन्दरता पर मै मुग्ध हो गया था। दुलत्तियाँ झाड़ना तो मृगी का सामान्य स्वभाव ही हो गया था। एक बार मैं वन की एक एकान्त दिशा में पहुँचा तो मैंने एक मुनि के दर्शन किये। शान्ति और करुणा के अवतार मुनिराज के दर्शन मात्र से मेरे मन को वड़ी शान्ति मिली। बड़ी देर तक मैं ध्यानलीन मुनिराज के दर्शन ही करता रहा। जव मृगी के पास पहुँचा तो वह बड़ी कुपित थी। उसे रोष था कि मैं इतने समय कहाँ रह गया। मैंने वास्तविकता प्रकट कर दी और उससे कहा कि वह भी मुनिराज के दर्शनार्थ चले-उसे वड़ी शान्ति और सुख की प्राप्ति होगी। मुनिराज का तो नाम सुनते ही वह आग-आग हो गयी। नहीं जाना मुझे किसी मुनि के पास। मुझे कुमार्ग का परामर्श देता है। तू उधर गया ही क्यो था, बोल ...। उसे भयंकर क्रोध ने आ घेरा। वह अपने आपे में नहीं रही और लगी मुझ पर सींग प्रहार करने। उसने एक जोरदार भेंटी मेरे उदर में मारी। मेरा उदर फट गया और मेरी जीवन-लीला समाप्त हो गयी। धर्म-रुचि के साथ मैंने मरण को प्राप्त किया था।''

''आगामी भव मे मुझे देवगति मिली। देव-जीवन में भी मुझे जो देवी पत्नी रूप मे प्राप्त हुई वह अत्यन्त दुष्ट आचरण और विपरीत विचारो वाली थी। उसने

भी मुझे नाना भाँति से पीड़ित करने में कोई अभाव नहीं रखा। मेरे कष्ट मे ही उसे आनन्द मिलता और वह सदा–सर्वदा आनन्दित रहना चाहती थी। और अपने ज्ञात पॉचवें भव में मैंने एक ब्राह्मण कुल में जन्म लिया और देवशर्मा मेरा नाम रहा। मनोरमा नाम की एक कन्या से मेरा विवाह हुआ। मनोरमा कुलक्षिणी स्त्री थी। धर्माचरण का मार्ग उसे तनिक भी रुचिकर नहीं था। रात्रि में भोजन करना उसे आनन्ददायी लगता था। पेय-जल को कभी वह छानती नहीं। कन्दमूल का सेवन करना, सरोवर में स्नान करना आदि अनेक प्रकार के हिंसात्मक कृत्यों में उसकी प्रवृत्ति बनी रहती। मैंने पति के नाते उसे सन्मार्ग का परामर्श दिया, अधार्मिक प्रवृत्तियॉ त्यागने की प्रेरणा दी, किन्तु इस सब का प्रभाव विपरीत रूप में ही हुआ। वह हठपूर्वक अपने अधार्मिक कार्यों में ही लगी रही। यही नहीं, मेरे मार्ग में भी वह बाधा पहुॅचाती। मुझे वह अपने-जैसा ही बना लेना चाहती थी। मेरे विरोध करने पर वह मेरा अपमान करती, मुझे कष्ट देती।''

''इन्हीं परिस्थितियों में दु:खितावस्था में एक दिन मेरा वह जीवन भी इति पर आ गया। और मैं अपने छठे भव में एक तोता बना। मेरी जीवन-सहचरी तोती बड़ी प्रमादी और अहंकारी थी। जब उसका प्रसवकाल समीप आया तो उसने मेरी ही नहीं अपनी भावी संतति के प्रति भी उपेक्षा आरंभ कर दी। मैंने सुरक्षित नीड़ बना लेने की बात कही, किन्तु उसने उसे अनसुना कर दिया। मैंने अकेले ही नीड़ निर्मित किया। उसने एक तिनका भी नहीं उठाया। हमारे दो प्यारे-प्यारे शावक हुए। मैंने ही उनके लिए दाना जुटाया। एक दिन जब वन में अग्नि लगी तो प्राणों का संकट आ गया। मैने कहा–हमें कहीं दूर चला जाना चाहिए। एक शावक को तू ले ले, दूसरे को मैं उठाता हूँ और यहाँ से उड़ चलें। वह इसके लिए भी तत्पर नहीं हुई और अकेली ही उड़कर कहीं दूर चली गयी। मैं दोनों शावकों के साथ कैसे उड़ता। अंतिम क्षण तक मैं हम तीनों की रक्षा के लिए प्रयत्न करता रहा, किन्तु व्यर्थ हुआ। भीषण अग्नि ने हमें भस्म कर दिया। उसके पश्चात् ही मैं इस सातवें भव में विद्याधर हुआ।''

इस सुदीर्घ कथन के पश्चात् वह प्रमुख विद्याधर थकित-सा निस्तेज, अविचल, मूक खडा रह गया। अभी वह मुख्य कथन को तो प्रस्तुत कर ही नहीं पाया था। उस शेष कथ्य के लिए वह मौन रहकर, नेत्र निमीलित कर मानो नयी शक्ति का संचय करने लगा था। इस विचित्र घटनावली से सहृदय उपस्थित जन द्रवित हृदय के साथ सिसकारने लगे थे। इन विचित्र कथानकों ने राजकन्या के मन में एक अविश्वसनीयता-भरी मानसिकता का प्रादुर्भाव कर दिया था। 'यह विद्याधर वंचक है। हमारी आपबीती को यह इस प्रकार उलटकर प्रेषित कर रहा है कि सारी भर्त्सनायुक्त भूमिका नारी की हो जाय और नर निरीह, करुणापात्र बन जाये, जबकि वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है।' राजकन्या का चिन्तन क्रमिक रूप में

बढ़ता ही जा रहा था कि उनका चिन्तन-चक्र हठात् गतिहीन हो गया। विद्याधर की वाणी पुनः मुखरित हो उठी थी। वह कहने लगा–"मैं जनता जनार्दन से, राजकुल से, सिंहासन से सविनय यह जानना चाहता हूँ कि एक के पश्चात् दूसरे भव में ऐसा-ऐसा अनर्थ, अन्याय, पीड़ा और मासनिक संताप सहते रहने पर यदि मुझे नारी जाति से ग्लानि हो गयी तो इसमें क्या कोई अनौचित्य है। क्या अतिशय अत्याचार सहकर भी मैं मनमानी प्रतिक्रिया नहीं दे सकता।"

इसी समय राजकुमारी सुकोमला का उच्च स्वर गूँज उठा–"यह विद्याधर मिथ्यावादी है। प्रयोजन हम नहीं जानतीं, किन्तु यह जन-संवेदना प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। यदि यह जो कुछ भी अपने पूर्वभवों के विषय में व्यक्त कर चुका है–वह सही है तो फिर हमारे पूर्वभवों से इनका मेल होता है। प्रत्येक भव में हम पति-पत्नी रहे हैं, किन्तु मुझ पर इसने अपना दुष्ट चरित्र थोप दिया है, ताकि यह अपने आप को, पुरुष-वर्ग को निर्दोष और निरीह सिद्ध कर सके, हमारे नर-द्वेष को अकारण और अनुचित सिद्ध कर सके। और हमारा सहिष्णुता-भरा धार्मिक आचरण स्वयं ओढ़ लिया है। हमारे अत्याचारों से पीड़ित रहने का इसका यह ढोंग इसी प्रयोजन से है कि यह अपने पक्ष में जन-जन की दया बटोर सके। हम यहाँ उपस्थित न होतीं तो यह दुष्ट अपने मिथ्या को सत्य के रूप में ही प्रतिपादित कर चुका होता। पिताजी महाराज ! यह विद्याधर अविश्वसनीय है। इसके आख्यानों पर भरोसा करने से आप सभी भ्रमित हो जायेंगे। जाति-स्मरण का ज्ञान हमसे छल नहीं कर सकता ..... उसने हमारे भव-भव की पीड़ा से परिचित करा दिया है जो पुरुष के अहंकार और कठोरता के हाथों सहन करते रहने के लिए हमें विवश किया था। हमारे नर-द्वेष को अकारण और मिथ्या सिद्ध करने का यह एक सुनियोजित षड्यंत्र है।"

एक क्षीण-सी हँसी हँसते हुए विद्याधर ने मानो राजकन्या के वक्तव्य का उपहास किया। एक मुस्कान उसके अधरों पर आकर सवाक्-सी हो उठी। हँसी की यह मन्द-सी ध्वनि राजकुमारी सुकोमला के अन्तर को सालने लगी। तभी विद्याधर बोल उठा–"यही आरोप, ठीक यही आरोप मेरा राजकन्या के प्रति है। उन्हें पूर्वभवों की स्मृति आयी अवश्य होगी, किन्तु अपने नर-द्वेषी स्वभाव के कारण उन्होंने उसे तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया है। वे पुरुष-वर्ग की अपकीर्ति करना चाहती हैं, अतः सभी पूर्वभवों में वे स्वयं निष्ठुर और अधार्मिक रहते हुए भी पुरुषों का ही ऐसा होना बताती रही हैं। इनका जो कठोर और क्रूर स्वरूप पूर्व के छह जीवन में रहा वही इन्हें वर्तमान के सातवें भव में भी मिला है। पुरुषों के प्रति इनका हिंसात्मक रुख इसका प्रमाण है। ऐसा ही व्यवहार ये पुरुषों के साथ पूर्वभवों में करती रही हैं।" विद्याधर के सशक्त तर्क का लोहा सभी मानने लगे। नरेश शालिवाहन तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ ही हो गये। राजकन्या भी हक्की-बक्की रह

गयीं। इस स्थिति पर नियंत्रण करते हुए उन्होंने प्रत्यारोप करते हुए कहा– "विद्याधर ! तुम वाचाल तो हो सकते हो, किन्तु सत्यवादी नहीं हो। धन-श्रेष्ठी के रूप में तुम्हीं ने मेरी हत्या कर दी थी, तुम्हीं ने मृग रूप में अपने पैने सींगों से मुझे मार डाला था और तुम्हीं वो शुक थे जो मुझ शुकी को अपने दो-दो नवजात शावकों के साथ अरण्यानल में जलकर मर जाने को छोड़ भाग गये थे अपने प्राण लेकर। तुम ही.....।"

– "राजकुमारी जी ! ऊँचे स्वर में बोलकर प्रकट करने से कोई मिथ्या सत्य तो नहीं हो जाता।"

– "तुम हो झूठे.... तुम्हारा सारा का सारा कथन आधारहीन है,.... असत्य है,.... मिथ्या है।"

– "राजन् ! अब न्याय आपके हाथ में है। यदि राजकुमारी सच्ची हैं तो बताएँ कि शुकी रूप में इनके साथ जो दो शुक शावक जलकर मर गये, उन दोनों का क्या हुआ? ये स्वयं तो राजकन्या के रूप में जन्मीं, पर शावक क्या बने अपने अगले जन्म में?"

राजकुमारी निरुत्तर रह गयीं। उन्हें शावकों के पुनर्जन्म के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं था। बोलीं–"हम इस विषय में अनभिज्ञ हैं। किन्तु इसी आधार पर सत्यासत्य का निर्णय यदि होना है तो ये प्रमाण के साथ यह बताएँ कि उसके साथ जल मरने वाले बच्चों का क्या हुआ? विद्याधर ! तुम तो मानते हो न कि तुम शुक थे और तुम्हें हम जल मरने को छोड़ गयीं। तो..... लो, अब तुम उत्तर दो प्रमाण के साथ।"

"सांच को क्या आँच, राजकुमारी जी।..... मैं आपके प्रश्न का उत्तर दूँगा वह भी सप्रमाण। राजन् ! शुक के रूप में मरण प्राप्त कर मैंने देवगति प्राप्त की थी। मेरे साथ मरने वाले मेरे दोनो शावकों ने भी देवलोक प्राप्त किया। वे मेरे ही पुत्र रूप में इस भव में जन्मे। वे दोनों विद्याधर पुत्र इस समय भी मेरे साथ हैं।"

दोनो युवा विद्याधरों ने करबद्ध निवेदन किया–"जी हाँ, श्रीमानेश्वर ! हम दोनों ही अपने पूर्वभव में शुक शावक ही थे और हम ही अपने पिता शुक के साथ दावानल में जलकर भस्म हो गये थे।"–प्रमाण स्वयं मुखरित हो उठे। दूध का दूध और पानी का पानी हो गया। अब तो राजकन्या की स्थिति डाँवाडोल हो गयी। वे कहीं की भी नहीं रहीं। राजसभा इन तथ्यों से चकित रह गयी। उपस्थित जन के मन में विद्याधरों के प्रति विश्वास ही नहीं, श्रद्धा का भाव भी भर गया। राजकन्या के मन में इस विकट स्थिति के समय अपनी प्रबुद्ध सखी विक्रमा का अभाव खलने लगा। वह दो दिन पूर्व ही कुछ समय के लिए अनुमति लेकर चली गयी थी। [illegible] माता की रुग्णता का संदेश जो आया था। उसे जाना ही था,

किन्तु आज यदि वह हमारे साथ होती तो बात ही कुछ और होती। वे अन्तर्लीन-सी बैठी रह गयीं, कुछ क्षणों तक के लिए। और फिर सतेज होती हुई बोलीं–"इन थोथे तर्कों में हम कोई सार नहीं मानतीं। उस यथार्थ को हम कैसे भुला दें जो हमने अपने जाति-स्मरण से ऐसा देखा है जैसे सब-कुछ हमारे कल्पना के नेत्रों के समक्ष घटित होता चला जा रहा हो। विद्याधर जो चाहे सोचने-समझने के लिए स्वच्छन्द है, किन्तु इससे हमको कोई अन्तर नहीं आने वाला।"–इतना कह राजकुमारी सुकोमला पैर पटकती हुई राजसभा से बाहर निकल गयीं।

"हमने अपना काम कर लिया, राजन् ! हमने तो अपना कारण स्पष्ट कर दिया कि नारी-द्वेष हमारे मन में क्यों है? कौन इसे सत्य मानता है, कौन नहीं.... इससे हमें क्या ! हम तो देव-जाति के हैं, मानव-जाति से हमारा वास्ता ही कितना रहता है? अच्छा, राजन् ! अब हम चलेंगे।" यह कहकर प्रमुख विद्याधर ने हाथ ऊपर को उठा दिया और तीनों ने प्रस्थान किया। राजसभा से बाहर आकर खुले प्रांगण में पहुँचे तो वे उद्ग्रीव होकर आकाश की ओर ताकने लगे और सबके देखते-देखते वे ऊपर को उठे और आकाश-मार्ग से अपने स्थल को चले गये। शीघ्र ही वे सबकी दृष्टि से ओझल हो गये।

× × ×

अपने शयन-कक्ष में उनींदी, अधलेटी-सी राजकुमारी सुकोमला चिन्तनलीन-सी, खोयी-खोयी-सी और रात्रि का सन्नाटा और गंभीर होता हुआ। कक्ष के मद्धिम आलोक में भी राजकुमारी जी के नेत्र चुभन-सी अनुभव करने लगे थे। उनके नयनों में विद्याधर की छवि जो समायी हुई थी। उस कटु और अप्रिय संवाद को स्मरण करते-करते ही उनके उत्तम मन में एक सहज प्रश्न उठ खडा हुआ। उस विद्याधर को अन्ततः हमारे पूर्वभव की कथाएँ कैसे ज्ञात हो गयीं। वह तो देवलोक से आया था। संभव है उसके कथन में भी सत्य रहा हो कि उसे जाति-स्मरण द्वारा उसके पूर्वभवों का ज्ञान हो गया। अकारण ही किसी पर अविश्वास भी तो नहीं किया जा सकता। तो क्या उसकी और हमारी पूर्वभव की कथाएँ एक ही रहीं, क्या हममें भव-भव का दाम्पत्य संवंध रहा... ऐसा भी असंभव तो नहीं....। जब दोनों का जीवन संयुक्त रहा होगा तभी तो जीवन गाथाएँ भी समान रही हैं। तो क्या यही विद्याधर धन-श्रेष्ठी, मृग, देव, राजा जितशत्रु, देवशर्मा और शुक रहा था। संभव है ऐसा हो–वहुत संभव है ! तभी तो इतने विस्तार के साथ उसे सब-कुछ ज्ञात हुआ है। किन्तु... किन्तु.... फिर हमारी कथाओं में यह अन्तर्विरोध कैसा ! क्यों वह विद्याधर कहता था कि नारी प्रत्येक वार उसके भवों में क्रूर और अधार्मिक वनकर आयी जवकि हमारे भव-भव का पुरुष ही ऐसा था। सत्य तक पहुँचने की साधना का मार्ग उदारता के प्रांगण से होकर ही जाता है, आत्माग्रह से चिपके रहने वाला संभवतः मिथ्याग्रही

होकर रह जाता और अन्य जनो के दृष्टिकोण को भी विचारणीय मानने वाला सत्यान्वेषण मे सफल हो जाता है। हमें भी अपने विचारों को दुराग्रह की सीमाओ मे पीछे खींचकर सोचना चाहिए। संभव है हमारे दृष्टिकोण में ही कहीं कोई कमी रह गयी हो। उस विद्याधर में अविश्वास करना, उसकी बातों को झुठलाना तो सुगम है, किन्तु अकारण ही ऐसा करना भी उपयुक्त नहीं। स्यात् वही सत्य हो, या वह भी सत्य हो। और ···· और ···· हमारे पूर्वभवों का परिचय जो हमें हुआ–उसमें ही कोई अभाव या दोष रह गया हो। ऐसा हो तो सकता ही है। हमारा वह परिचय विद्याधर की अपेक्षा अपूर्ण रहा है–यह तो स्पष्ट ही है। उसे ज्ञात है कि शुक-शावकों का पुनर्जन्म किस रूप में हुआ ···· हमें हमारे अतिरिक्त किसी के भी विषय में, कुछ भी ज्ञात नहीं।

राजकुमारी सुकोमला का यह एकान्त चिन्तन उनके मानस को सुकोमल और लचीला बनाने लगा था। इस चिन्तन का औदार्य उनके मानस में हृदय-परिवर्तन को अंकुरित करने लगा था। वे सोचने लगीं–'इस संभावना को भी तो नकारा नहीं जा सकता कि हमारे जाति-स्मरण ज्ञान के ग्रहण में ही कोई अभाव रह गया हो। हमें अपने पूर्वभवों के विषय में उस समय जो कुछ भी ज्ञात हुआ हो वह आंशिक या विकृत रूप में ही हमारे मानस का अंग बन पाया हो। हम जो स्वप्न देखते है, वे भी तो कहॉ पूरे विस्तार के साथ और स्पष्टतः स्मरण रहते हैं। जागरण के पश्चात् उनमें भी कतिपय भ्रान्तियॉ विकसित हो जाती हैं। स्मरण-शक्ति की भी अपनी एक सीमा होती है। ऐसा हो सकता है कि जो कमियॉ हमारी स्मृति मे रही हों वे विद्याधर की अपेक्षा कुछ अधिक ही हों; अन्यथा उसने जो वृत्तान्त प्रस्तुत किये वे सत्य और तथ्यात्मक थे। बस, यही एक खलनीय वात थी कि उसने पुरुष को सदय और सज्जन बताया तथा नारी को क्रूर और अधार्मिक। हमारा निष्कर्ष इसके विपरीत रहा है। ····· किन्तु जव हमारे तथ्य ही अपूर्ण और भ्रान्तियुक्त हो तो उनके परिणामस्वरूप जो हमारा निष्कर्ष रहा है, वह सत्य के समीप कैसे रह सकता है? यदि ऐसा है तो फिर हमसे भूल ही हो गयी। हमारा नर-द्वेष फिर उपयुक्त नहीं। संभव है हमारे हाथों वही विद्याधर पूर्वभवो में पीड़ित होता रहा हो। पुरुषो को पीड़ित करने का वही स्वभाव संस्कार रूप मे संचित होकर इस जन्म में नर-द्वेष वन गया हो। इस आशंका को भी तो ध्वस्त नहीं किया जा सकता। यत्किंचित् अंशो मे भी यदि यही यथार्थ है तो फिर हमसे भारी भूल हो गयी।' यही सब-कुछ सोचते-सोचते राजकन्या का हृदय ही नहीं, पलके भी भारी हो गयीं और उन्हें ज्ञात ही नहीं रहा कि वे कव निद्राधीन हो गयीं।

प्रतिष्ठानपुर से कुछ ही दूरी पर एक सघन वन में चन्द्रालोक में ही तीनों विद्याधर धरती पर उतरे। पृथ्वी-तल पर आते-आते वे तीनों अपने वास्तविक स्वरूप का ग्रहण करने लगे। अग्निवेताल ने महाराज विक्रमादित्य और भट्टमात्र को

अपने कंधों पर से नीचे उतारा। तीनों अपनी योजना की सफलता पर प्रसन्न थे। वन-विहार करते हुए भट्टमात्र ने कहा—"महाराज अब सफलता के वहुत समीप पहुँच गये हैं। शीघ्र ही आप अपना वह वचन पूर्ण कर लेंगे जो आपने कभी चारणराज को दिया था। अव राजकुमारी का नर-द्वेष समाप्त होकर ही रहेगा, श्रीमन् !"

"अरे, महाराज का वचन ही नहीं, इनकी कामना भी पूर्ण होकर रहेगी। राजकुमारी के संग आपका विवाह भी अब दूर नहीं रहा।"—अग्निवेताल ने अपना विश्वास व्यक्त किया।

"अभी कुछ कहा नही जा सकता कि क्या होने वाला है?" महाराज ने कुछ सोचते हुए कहा—"किन्तु इतना निश्चित है कि कुछ संकेत भावी शुभ के मिलने लगे है। मंगल ही होगा।"

"अवश्य होगा, महाराज ! अव तो बाधाएँ ध्वस्त होने लगी है।"—अग्निवेताल ने कहा—"राजकुमारी का दंभ तो आपने विद्याधर रूप में द्रवित ही कर दिया।"

"हाँ, महाराज ! आपने वडे आत्म-विश्वास के साथ पूर्वभवो के आख्यानो को इच्छित रग देकर प्रस्तुत किया। राजकुमारी जी तो असमजस में पड गयी कि यह सत्य है या वह सत्य है जिसे वे जानती-मानती रही है। यह उनके मन में अन्तर्द्वन्द्व आपने खूब जगा दिया।" भट्टमात्र ने प्रशस्ति के स्वर में कहा और महाराज उसके मुख को निहारने लगे। वोले—"तुम दोनों की उपस्थिति ने ही सारा काम वनाया है, मित्रो ! शुक-शावकों के विपय में जो प्रश्न निर्मित हो गया था—राजकुमारी उसका उत्तर न दे सकीं, हमने उसका उत्तर दे दिया। वात इसी से वनी है। प्रमाण रूप में हमने तुम दोनो का जो उल्लेख किया तो उनके विचारो के प्रति स्वय उनकी आस्था डगमगा गयी। तुम न होते तो प्रमाण के अभाव में हमारा उत्तर प्रभावहीन रह जाता।"

"यह भी किसी अंश तक सत्य ही है, महाराज ! किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि आपने राजकुमारी को अपने दृष्टिकोण पर पुनर्चिन्तन के लिए प्रेरित कर दिया····।"

"भट्टमात्र ! यही तो मुख्य है। हृदय-परिवर्तन का यही प्रवेश-द्वार है। यहाँ तक राजकन्या को पहुँचा देना हमारा काम था—वह हमने कर भी लिया। आगे का कार्य भी स्वतः होता चलेगा ··· किन्तु इसमे मित्र अग्निवेताल की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण रही। इसने ही हमें, भट्टमात्र ! तुम्हारी उपस्थिति का लाभ दिया, अवन्ती से तुम्हें ले आया और हमे आकाश-विहार करवाकर हमारा विद्याधर होना भी पुष्ट करा दिया। यदि इस प्रकरण से हमारे मन्तव्य को कोई वल मिलने वाला है तो उसका श्रेय मित्र अग्निवेताल को ही जायेगा।" महाराज मुस्कराने लगे।

विनयावनत बेचारा अग्निवेताल संकोच अनुभव करने लगा। हाथ जोड़े-सिर झुकाए वह मात्र यही कह सका-"क्यों मुझे लज्जित करते हैं, महाराज ! आपश्री की सेवा को ही तो मैंने अपना कर्त्तव्य चुना है।" और तब तीनों मौन हो गये। पूर्व दिशा में आभा व्याप्त होने लगी। पक्षी जाग्रत होकर चहचहाने लगे थे।

× × ×

कुछ दिवस चिन्तन-मनन में बीतते रहे। राजकुमारी सुकोमला का मानसिक द्वन्द्व तीव्रतर होता चला गया। अंतरंग सखी विक्रमा का अभाव उन्हें अत्यन्त खलने लगा। किसी भी प्रकार से वे अपने विचारों को किसी अन्य के साथ बॉटने का अवसर नहीं पा रही थीं। उनके विचारों पर कोई टिप्पणी नहीं हो पा रही थी। विचार-विमर्श से अपनी धारणाओं में भी उदारता आती है, चिन्तन को नयी दिशाएँ प्राप्त होती हैं, एक हल्का-फुल्कापन भी अनुभव होने लगता है। राजकुमारी को यह अवसर विक्रमा की अनुपस्थिति के कारण सुलभ नहीं हो पा रहा था। परिणामतः वे भीतर ही भीतर घुटन अनुभव करने लगीं। बाह्य वातावरण से सर्वथा निरपेक्ष वे अन्तर्लीन होती चली गयीं। अहर्निश वे यही सोचती रहती कि उस विद्याधर ने मेरे अनुभवों से विलोम जो अपने पूर्वभव के आख्यान सुनाये- उनमें यदि सत्य है तो ···· तो फिर हमारी धारणा ही मिथ्या नहीं हो गयी ··· हमारा प्रतिशोधात्मक पुरुष-द्वेष भी आधारहीन हो जाता है ····· क्या वास्तव में हमने हिंसा का मार्ग अपनाकर पाप किया ·····। नहीं ··· नहीं, हमने प्रत्यक्षतः विगत भवों को इस भव में देखा है। जाति-स्मरण ज्ञान मिथ्या कैसे होगा ····। संभव है किसी प्रयोजनवश ही विद्याधर ने बातें बनाकर की हों ··· किन्तु उसे ··· उसे मेरे पूर्वभवों की इतने विस्तार के साथ जानकारी कैसे हुई ···· हो नही सकती ····। उसका कथन अपने अनुभव पर ही आधारित रहा होगा। फिर उसमें सन्देह करना व्यर्थ है ···· तो ···· तो क्या हमारा अनुभव ···। सर्वथा शान्त निशा मे ऐसे ही अन्तर्द्वन्द्व के साथ वे निद्राधीन हो गयीं। अशान्त मन गहन निद्रा मे वाधक होता है। मानसिक रूप से वे अर्द्ध-जागरण की अवस्था में थीं। द्वन्द्व की प्रतिक्रिया शारीरिक चेष्टाओं में भी व्यक्त होती रही। उनके अधर फुसफुसाते रहे, उँगलियॉ नाचती रहीं। उद्विग्नता का संकेत इस वात से भी मिलता रहा कि वे वार-वार करवटें वदलती रहीं।

परिचारिका ने आकर शुभ समाचार दिया और एक वार तो राजकुमारी सुकोमला अपनी सारी समस्याओं-उलझनों को विस्मृत कर मुस्करा उठीं-"अच्छा, सखी विक्रमा आ गयी है क्या ! यह वहुत अच्छा हुआ। ले आ ··· उसे यहीं ले आ।" राजकुमारी न जाने कितने दिनों के पश्चात् अव प्रसन्नवदना दिखायी देने लगी थीं। त्वरा के साथ विक्रमा ने राजकुमारी जी के कक्ष में प्रवेश किया ही था कि वह प्रणाम-वन्दन करे, उसके पूर्व ही राजकुमारी आसन त्यागकर उठीं,

लपककर दो चरण आगे बढ़ीं और अपने बाहु-पाश में उसे आबद्ध कर लिया। विक्रमारूपी विक्रमादित्य एक अद्‌भुत अनुभूति से भीतर ही भीतर आह्लादित हो गये। रोमांचित हो उठे विक्रम ने सायास बड़ी कोमलता के साथ स्वयं को आलिंगन-मुक्त किया और सामान्य प्रसंग आरंभ करते हुए पूछा–"मुझे अधिक समय तो नहीं लग गया, राजकुमारी जी ! आप कैसी रहीं इस बीच?"

"तू यह क्या पूछती है–अधिक समय तो नहीं लग गया?···· अरी सखी ! तेरे अभाव का वह समय तो काटे नहीं कटता था। सचमुच तू बड़ी निष्ठुर है।"

"सो तो मैं हूँ ही, स्वामिनी ! सदा से ही हूँ····।" विक्रमा के अधरों पर मधुर हास बिखर गया।"

राजकुमारी सखी विक्रमा को हाथ पकड़कर धकेलती-सी शय्या तक ले आयीं। दोनों ही शय्या पर बैठ गयीं और परस्पर वार्त्तालाप करने लगीं। राजकन्या का मन आज बड़े दिनों बाद स्वस्थ और संतुष्ट था। वे विक्रमा से सटकर बैठ गयीं और उसके नेत्रों में नेत्र डालकर बतियाने लगीं। विक्रमा के हाव-भावों में भी उत्साह और हर्ष झलकने लगा। वार्त्तालाप अभी चल ही रहा था कि इस सुधोपम मधुर क्रम में सहसा अवरोध आ गया। एक झटके के साथ राजकन्या की निद्रा खुल गयी और स्वप्न की वह रेशमीन डोरी टूट गयी। तो हम स्वप्न देख रही थी····। किन्तु स्वप्न में भी हमें सुख न मिल सका पूरी तरह। कुछ ही क्षणों में वह सारा सुख बिखरकर रह गया। हम भी कैसी अभागी हैं। यही सब-कुछ सोचती-सोचती वे शय्या त्यागकर उठ खड़ी हुईं और अँगड़ाई लेने लगीं। सूर्योदय होने को था। ओह, तो यह भोर का स्वप्न था। कहते हैं भोर का स्वप्न मिथ्या नहीं होता। देखते हैं···· यह स्वप्न क्या घटित करता है। स्वप्न में भी हमारी सखी कैसी प्यारी-प्यारी लग रही थी। आहा ! हा···· ! राजकुमारी जी सिर झुकाए खड़ी-खडी सोचती रहीं···· किन्तु विक्रमा तो उस विद्याधर की बातों में मिथ्या तत्त्व का होना निर्मूल बता रही थी। संभव है वह विद्याधर ठीक ही कहता हो··· हमे ही कोई भ्रान्ति रह गयी है। भोर के स्वप्न में विक्रमा के मुख से सुनी बातें स्यात् सत्य ही हों··· कौन कह सकता है ! कुछ क्षणों के विराम के पश्चात् उनकी चिन्तनधारा पुनः प्रवाहित होने लगी–कदाचित् हमारे दुराग्रह ने ही मिथ्या विचारों को रूढ़ कर दिया हो। हम कहीं असत्य और अनीति के मार्ग पर तो नहीं हैं। ऐसा भी हो तो सकता है। हम किससे परामर्श करें···· विक्रमा काश इस समय यहाँ होती। पैरों से टटोलते हुए राजकन्या ने पदत्राण धारण कर लिये और वे मंथर गति से वातायन के पास जाकर खड़ी हो गयीं। खुले वातायन से वे दूर-दूर तक आकाश और धरती को निहारने लगीं। मन्द पवन उनकी केश-राशि को हलचलाने लगी। हौले-से उन्होंने हाथ फिराकर केशों को व्यवस्थित कर लिया और दृष्टि घुमाकर दूर तक देखती रहीं।

भोर का स्वप्न भवितव्य का संकेत होता है और यों सत्य में ढल जाता है। इस स्वप्न के साथ भी ऐसा ही हुआ। कुछ समय पश्चात् सेविका से उन्हें ज्ञात हुआ कि वास्तव में विक्रमा लौटकर आ गयी। राजकन्या का अन्तरमन प्रफुल्लित हो उठा। वे कहने लगीं कि उसे तुरन्त हमारे पास भेज दिया जाय, किन्तु मर्यादा का ध्यान बाधक बना। उन्होंने अपने अति उत्साह को दमित किया, तथापि एक क्षीण-सी मुस्कान मानसिक स्थिति का उल्लासमय चित्र उनके अधरों पर खींच ही गयी। उन्होंने–"अच्छा हुआ कि वह आ गयी, तुम जाओ···।" वे तटस्थ भाव से इतना कहकर मौन हो गयीं और सेविका नमन कर चली गयी। अब तो राजकन्या का मन विक्रमा से भेंट करने को छटपटाने लगा। वह हमारी अन्तरंग सखी है–उसे यहॉ आते ही हमसे भेंट करनी चाहिए। हम उससे मिलने को कितनी विकल हैं···· और वह है कि··· ।

प्रातराश के समय विक्रमा जब राजकन्या की सेवा में उपस्थित हुई तो उनकी जी की कली खिल गयी। प्रणाम करने को झुकती हुई विक्रमा को राजकुमारी सुकोमला ने उठा लिया और बॉहों में भर लिया–"वहुत समय लगा दिया विक्रमे ! तुम्हें हमारी चिन्ता नहीं रही?"

"चिन्ता और चिन्तन प्रतिपल आप ही का रहा, राजकुमारी जी ! आपके साथ मैत्री-सम्बन्ध जुड़ जाने के पश्चात् भला मै कभी आपको विस्मृत कर सकती हूॅ। किन्तु जाना भी तो अनिवार्य था–मैं न जाती तो मेरा···।"

"सो तो ठीक है, किन्तु तुम्हारी अनुपस्थिति मे हम पर यहॉ क्या वीती तुम जानती हो··· हम तो अद्भुत मानसिक समस्या मे ग्रस्त हो गयीं। किसी के साथ विचार-विमर्श भी संभव नहीं··· तुम्हारी अनुपस्थिति हमें वहुत खली, सखी विक्रमे ! तुमने जो सहारा दिया है, विक्रमा ! वह हमारे लिए वहुत वडा सम्वल है। प्रतीत ऐसा होता है, उस सम्वल के विना तो हम जल पर इधर-उधर डोलते हुए तिनके के समान हैं।" राजकुमारी सुकोमला ने अपना अन्तरमन ही मानो खोलकर रख दिया।

"आपका यह विश्वास पाकर मैं धन्य हो उठी, स्वामिनी ! सेवक की स्वामिभक्ति स्वामी के विश्वास में ही सफल होती है। इस विश्वास के आभास मात्र से स्वामिभक्ति न केवल कृतार्थ हो जाती है–वह कई गुना अभिवर्धित भी हो जाती है। किन्तु मेरे पीछे-से ऐसा हुआ क्या, कि जिसने आपके मन को आपदा में डाल दिया? मात्र कुछ दिनों के लिए ही तो मैं ··।" जानकर विक्रमा ने अपना कथन अपूर्ण छोड दिया। उसके फैले हुए नयनो मे जिज्ञासा का भाव तैरने लगा। क्षणेक के लिए उसका मुख खुला का खुला रह गया।

"कुछ न पूछो, सखी···! वो कुछ दिन हमारे लिए अग्नि-परीक्षा के दिन सिद्ध हुए। एक विद्याधर ने हमें विचलित कर दिया। उसने हमारे सारे मानस को चिन्तन

के गहन जल-चक्र में ऐसा डाल दिया कि हम अब न तल स्पर्श कर पा रही हैं और न ही उबरकर ऊपर आ पा रही हैं। हम क्या करें ··· क्या करें ····? कुछ भी सुझाई नहीं देता।" सुकोमला राजकन्या का मनोमथन मानो मुखाकृति पर साकार होने लग गया था। उनके अपलक नयन एकाग्रता के साथ शून्य में ताकते रह गये। वे निढाल-सी हो गयीं, निस्तेज और सर्वथा निष्क्रिय। तभी विक्रमा ने अपने कोमल स्पर्श के साथ राजकन्या का हाथ हौले-से दबा दिया। राजकन्या जब पुनः सामान्य होने लगी तो उचित अवसर मानकर विक्रमा ने पूछ लिया–"वह कौन विद्याधर था, देवी ! क्या कहता था वह ?"

राजकन्या ने एक दीर्घ श्वॉस खींचकर तत्काल ही छोड़ते हुए कहा–"मेरी प्यारी सखी ! वह विद्याधर कौन था? इससे कोई प्रयोजन विशेष नहीं रहेगा–विशेष महत्त्वपूर्ण तो उसका कथन था। और उससे भी विशिष्ट महत्त्व उसकी धारणा का था, उसके विचारों का था। वह तो विपरीत ही कथन कर रहा था।" सहसा राजकन्या की मुख-मुद्रा मे विस्मय का रंग घुलने लगा और अपने हाथों के संकेत से किसी अविश्वसनीय धारणा के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करने लगी।

"यदि ऐसा है तो ··· फिर प्रंसग वास्तव में गभीर ही है, राजकुमारी जी ! किन्तु अब आप चिन्ता न करें–मैं जो आ गयी हूँ। प्रत्येक समस्या का कोई समाधान अवश्य होता है, अन्यथा वह समस्या नहीं, अन्य कुछ है। आवश्यकता उसके समाधान को धैर्य और लगन के साथ खोजने की रहती है। आप कृपाकर यह तो बताएँ कि विद्याधर का सोच कैसा था? क्या कहता था वह ?"

"अरी सखी ! उसका सोच ··· उसका सोच तो अग्नि-स्फुलिग की भाँति था जिसने हमारे तन-मन में एक भीषण ज्वाला धधका दी है। उस अग्नि मे हमारी धारणा, हमारी मान्यता जलने लगी है। कहता था–युग-युगो से नारी पुरुष पर अत्याचार करती आ रही है। स्वयं उसके जीवन का रूप ही उसकी इस धारणा ने परिवर्तित कर दिया है। वह नारी-द्वेषी विद्याधर हमसे ठीक विपरीत है। हमने अपने पूर्वभवो मे पति-पुरुषो के निर्मम अत्याचार, अन्याय और दुस्सह पीडा महन की है और उसी ने हमे नर-द्वेषी बनाया है। उस विद्याधर ने क्षण मात्र मे हमारी सारी आस्था को हिलाकर रख दिया, विक्रमे ! कहता था कि उसने अपने छह-छह पूर्वभवों में अपनी पत्नी के अत्याचार और अन्याय सहन किये हैं। उन्ही के परिणामस्वरूप उसके मन मे नारी के प्रति घृणा और द्वेष उत्पन्न हो गया। वह विद्याधर नारी की उपस्थिति को सहन ही नहीं कर पाता। वह एकान्त मे नृत्य करता है। जन-समूह से उसे आशंका रहती है कि उसमे नारियाँ भी हो सकती हैं और नारियो के समक्ष वह नृत्य नही करता।"

"अद्‌भुत है, राजकुमारी जी ! सर्वथा विचित्र ····!!"

"यह जितना विचित्र है उतना ही सत्य भी है—इस पर विश्वास नहीं होता है, सखी ! कैसे मान लें हम कि स्त्रियाँ इतनी निर्मम, इतनी कठोर और क्रूर हो सकती हैं कि पुरुष जाति के लिए वे घृणा और द्वेष की, वैमनस्य की कारण हो जायें ! कैसे हो सकती हैं ऐसी ···· ऐं?" राजकन्या सुकोमला की सारी देह पीपल-पातवत् कॅपकँपाने लगी, उनके अधरों पर भी एक शून्य-सा बिखर गया और विस्फारित नयनों से वे ऑगन को ताकने लगीं। इस असहज स्थिति को विक्रमा ने उसकी पूरी गहनता के साथ अनुभव किया और उनके विचलित मन को सहारा देते हुए बोलीं—"कभी-कभी इस व्यापक जगत् में हमारी धारणा के विपरीत तथ्य भी दिखायी देते हैं। सत्य की खोज के लिए, स्वामिनी ! हमें तनिक कोमल होना पड़ता है। उस विपरीत धारणा या तथ्य को आरंभ से ही मिथ्या मान लेना—ऐसा दुराग्रह और पूर्वाग्रह होगा कि जो हमें सत्य से दूर-दूर ही भटकाता रहेगा। शायद उस तथ्य में भी कोई सत्य हो। ऐसा विचार ही तो हमें उसके समीप ले जा सकेगा। और तभी तो हम उसे देख—परख सकेंगे। उसकी समीक्षा—विश्लेषण हम तभी कर सकेंगे कि जब हम उसके प्रति तटस्थ होकर उस पर विचार करे। स्यात् वह विद्याधर सत्य ही कथन कर रहा था—ऐसा मानें, तभी हम निष्कर्ष तक पहुँच सकेंगे। हमें यह भी मानना होगा—कुछ क्षणों के लिए कि स्यात् हमारा दृष्टिकोण, हमारी धारणा मिथ्या ही हो और तब ···।"

"तुम यह तो ठीक कहती हो, सखी ! बिलकुल उपयुक्त कथन है तुम्हारा।" —राजकुमारी के निस्तेज अधरों पर सहसा क्षीण हास की दीप्ति व्याप्त हो गयी, नेत्रों में एक उत्साह झलक आया। जिज्ञासा के आवेश में वे पूछ बैठीं—"किन्तु क्या विद्याधर के इस कथन में भी कोई सार्थकता है कि उसने हमारी ही भाँति अपने छह-छह पूर्वजन्मों को जान लिया है और ···।"

"संदेह का कोई कारण नहीं हो सकता है, राजकुमारी जी !" तपाक से सखी विक्रमा ने कहा—"तनिक विचार कर देखिये—यदि आपको यह सब-कुछ ज्ञात हो सकता है ···· तो उसे क्यों नहीं हो सकता भला ! उसे ज्ञात है तो उस पर हमे विश्वास करके ही चलना होगा। हठपूर्वक नकार देने से हम सत्य तक नहीं पहुँच पाएँगी। संभव है कि उसके कथन में भी सत्य हो ··· इसी दृष्टिकोण से हमें उसके कथनों पर विचार करना होगा। कहता क्या था वह विद्याधर, स्वामिनी ! तनिक यह तो बताइए।" विक्रमा ने अपनी वाणी को विनय से सिक्त करते हुए आग्रहपूर्वक पूछ लिया।

"सच पूछो तो विक्रमे ····! उस विद्याधर में हमें तुम्हारी ही छवि दिखायी देती थी।"—राजकुमारी ने एक झटके के साथ कह दिया और विक्रमा हतप्रभ-सी राजकन्या का मुख ताकती रह गयी, उसके अन्तर में हलचल होने लगी। तभी वह राजकुमारी के इस कथन से आश्वस्त होने लगी कि "विद्याधर के विचार तुमसे

बहुत समता रखते थे, विक्रमे ! उसमें और तुममें एक-जैसी धारणाएँ हैं।" इतना कहकर राजकन्या सुकोमला ने चिन्तन के लिए ही मानो विराम लिया और तब वह मानो स्मृति-सागर में विलीन हो गयीं। आगामी कुछ क्षणों में ही जैसे वह जागते हुए बोलीं—"आश्चर्य है कि उसके पूर्वभवों की कथाएँ हमारे पूर्वभवों से मेल खाती हैं—हमारे पूर्वभव एक ही हैं। प्रत्येक भव में हम दोनों युग्म रूप में रहे, सखी ! वह विद्याधर पूर्वभवों में हमारा पति और हम उसकी पत्नी रहीं। उसी ने जन्म-जन्मान्तर तक हमारे साथ अन्याय किया, अत्याचार किये और वह कहता था कि प्रत्येक जीवन में वह पत्नी-पीड़ित रहा। उसको इसी कारण इस जन्म में नारी से घृणा हो गयी और वह नारी-द्वेषी हो गया है—आश्चर्य है !" राजकन्या के नेत्र विस्फारित हो गये और अधर कँपकँपा उठे। विचलित-से स्वर में बोलीं—"महान् आश्चर्य है, विक्रमे ! जब हम दोनों की पूर्वभव-कथाएँ एक-सी हैं तो फिर यह अन्तर क्यों? क्यों हम पूर्वभव के पति को अत्याचारी मानती आयी हैं और क्यों वह विद्याधर पूर्वभव की पत्नी को ऐसा मानता है। यदि हमने एक साथ, एक-दूसरे के पूरक रूप में ही जीवन बिताये तो उन अनुभवों ने हमें तो नर-द्वेषी बना दिया और उसे नारी-द्वेषी—ऐसा कैसे हो सकता है?" आवेग ने राजकन्या को विचलित कर दिया। उनकी श्वास-प्रश्वास की असामान्यता से वक्ष की आरोह-अवरोह की गति स्पष्ट दिखायी देनी लगी थी। इस कोमल मानसिकता का लाभ उठाते हुए विक्रमा ने कहा—"हो सकता है, राजकुमारी जी ! अवश्य हो सकता है। जब आप अपने जाति-स्मरण ज्ञान को मिथ्या नहीं मान सकतीं तो विद्याधर के ज्ञान को कैसे झुठला सकती हैं ! उसे भी तो जाति-स्मरण से ही ...।"

कथन-मध्य ही राजकन्या अवश-सी बोल पड़ीं—"कदाचित् तुम ठीक कहती हो, सखी ! उसके कथन को झुठलाया नहीं जा सकता। हमारे पक्षीभव की जो कथा उसने सुनायी—उसकी सत्यता का प्रमाण भी उसने प्रस्तुत किया। वनाग्नि प्रचंड हो जाने पर मै अपने दोनों शावकों को उनके पिता के पास जल मरने को छोड़कर भाग गयी—सुरक्षित स्थल पर। शावकों की सुरक्षा का ध्यान भी मैंने नहीं रखा। विद्याधर की कहानी का रूप ऐसा था। उसने कहा कि वह तो इस भव मे विद्याधर हो गया और उसके वे दोनों पक्षी-शावक भी उसके घर मे विद्याधर-पुत्रों के रूप मे जन्मे। विद्याधर के साथ उसके दो पुत्र भी थे, विक्रमे !"

"तब विद्याधर के कथन के मिथ्या होने की आशंका कहाँ है ! हमे मानना चाहिए कि वह पूर्ण नहीं तो आंशिक सत्य तो रखता ही है। पर-धारणा कितनी ही मिथ्या क्यों न प्रतीत हो, उसके प्रति आदर और स्वागत का भाव हमें सत्यान्वेषण की प्रेरणा देता है। यही प्रयत्न हमें अन्तिम सत्य तक पहुँचा सकता है।" विक्रमा ने गभीरता के साथ प्रवोधन के स्वर में कहा। राजकन्या के मानस पर उसका प्रभाव भी अंकित होने लगा। उनकी दृष्टि मे स्थिरता, श्वास-प्रश्वास की सहजता,

मुख-मण्डल का अविचलन का भाव इसका साक्षी था। विक्रमा के इस विचार पर चिन्तन करती हुई राजकन्या ने कहा–"कदाचित् तुम सत्य ही कहती हो, सखी ! तुम्हारा कथन अशक्त नहीं है। हम भी सोचती हैं कि हमारा विचार एकांगी रहा है अब तक, सर्वथा एकान्त सत्य···। हमने किसी अन्य के दृष्टिकोण पर कभी विचार ही नहीं किया। यह हमारा कृत्य अपराध-जैसा है। हम हमारे विचारों को अब दूसरो की नजर से भी परखेंगी और दूसरों के विचारों को अपनी दृष्टि से देखने की भी चेष्टा करेंगी। संभव है ये दोनों ही अर्द्ध-सत्य हों···· मिथ्या हों और······ यह भी संभव है कि पर-धारणा ही सत्य हो। सत्य इन दोनों का मध्यस्थ भी हो सकता है।"

राजकन्या यही सब-कुछ मन से सोचती जा रही थीं और मुख से व्यक्त करती जा रही थीं। ऐसा प्रतीत होता था, मानो राजकुमारी का चिन्तन सवाक् हो गया था। इस विचार ने तो उनके मन की कठोरता को द्रवित करना आरंभ कर दिया था। विचारों की उदारता व्यक्तित्व को उदात्तता प्रदान करता है। सत्यनिष्ठा के गर्व में भी अनुदार रहना व्यक्ति को क्रूर और सदाशयता से दूर कर देता है। अब हम उदारता के व्यवहार के साथ ही अपने निश्चयों को अन्तिम रूप देंगी। राजकुमारी सोचने लगीं–'इस सखी विक्रमा का मुझ पर बड़ा उपकार है–महान् है यह सचमुच जिसने हमें पाशविकता से बाहर खींचकर मानवता के मार्ग पर आरूढ़ कर दिया है। धन्य है यह विक्रमा··· और इसका संग पाकर हमारा जीवन ही धन्य हो उठा है। सचमुच यही तो मैत्री-धर्म है। सच्चे मित्र एक-दूसरे के हितैषी होते हैं। मित्र को कुमार्ग से सन्मार्ग पर लगा देने में ही मित्र की सार्थक हितैषिता निहित रहती है। मित्र के दोषों–अभावों को पहचानकर उनको दूर करने में ही सच्चा मैत्री-धर्म रहा करता है। मात्र प्रसन्न रखने के उद्देश्य से, सदासद् के विवेक से शून्य रहकर कोरा प्रशंसक बना रहने वाला तो मित्र नहीं, एक छद्म शत्रु होता है।' राजकुमारी की यह चिन्तनधारा इतनी वेगवती रही कि अनायास ही उनके मुख से निकल गया–"तुम कितनी विवेकशीला हो, सखी ! तुम हमसे पहले–बहुत पहले क्यो न मिलीं ···· हम पर बड़ा उपकार हो जाता··· हम मिथ्या विचारों और अनुचित निश्चयों से तो बच जाती····· हमारा····।"

"यह सभी संयोग से ही घटित होता है, राजकुमारी जी ! किसी के किये तो कुछ होता नहीं। नियति के अधीन ही जीवन का सारा क्रम चलता चला जाता है। काल और कर्म ही पतन करते हैं–इनसे ही व्यक्ति का उत्कर्ष होता है। जब जैसी नियति होती है उसके अनुरूप स्वतः ही वातावरण रच जाता है, साधन जुट जाते हैं, संसर्ग-सम्पर्क बनते-बिगड़ते चले जाते हैं।" गंभीर स्वर में दार्शनिक मुद्रा में विक्रमा ने निष्कर्ष दे दिया। राजकन्या सहमति के आशय में मस्तक डुलाने लगीं। बोलीं–"यह तो तुम ठीक ही कहती हो, सखी ! किन्तु तुम इतनी विचारशील कैसे बनीं, कहाँ से पायी ऐसी विवेक बुद्धि ? है···· ?"

"मैंने पूर्व में ही निवेदन किया था, राजकुमारी जी ! अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य जी का मुझ पर बड़ा प्रभाव है। मैं जो कुछ आज हूँ, उसका श्रेय उन्हीं को है, राजकुमारी जी !" सविनय कथन किया विक्रमा ने और उसके नयन स्मृति में मुँद गये। उसके दोनों हाथ श्रद्धा व्यक्त करने को आपस में जुड़कर सादर ऊपर उठ गये–भाल छूने लगे।

"तब तो सचमुच ही अवन्ती-नरेश बहुत ही गुणी हैं। धन्य हो तुम कि तुम्हें उनका संग सुलभ हुआ।" राजकुमारी के कथन को संशोधित करते विक्रमा ने कहा–"संग नहीं···· संग नहीं, आश्रय मिला है, राजकुमारी जी !"

"यह तुमने उचित ही कहा है, सखी ! किन्तु तुम तो बुद्धिमती स्त्री हो। मेरी एक शंका का निवारण भी करो ना !"

राजकुमारी जी अपनी बात के लिए उपयुक्त शब्दों को मानो खोजने लगीं और विक्रमा जिज्ञासा-भरी दृष्टि से उनका मुख निहारने लगी। राजकुमारी जी ने पूछा–"वह विद्याधर यदि पूर्वभवों में हमारा पति रहा···· तो वह इस भव में हमारा पति क्यों न हुआ? तनिक सोचकर उत्तर देना···· हाँ !"

"आपकी शंका निर्मूल नहीं है, स्वामिनी ! मन में ऐसे प्रश्नों का उठना स्वाभाविक ही है।" अपनी दार्शनिक मुद्रा को तनिक और गहराते हुए विक्रमा ने कहा–"ऐसे प्रश्नों को तात्कालिक दृष्टि से देखा जाना उपयुक्त नहीं है, राजकुमारी जी ! दूरगामी दृष्टि ही इनमें अपेक्षित रहती है। नियति को किसने देखा है ! दूर भविष्य मे कभी इस युग्म का गठन हो ही जाय–ऐसा भी तो हो सकता है। और मेरा मन कहता है कि उस विद्याधर को आप पतिरूप में अवश्य ही प्राप्त करेगी।" एक झटके के साथ उसने यह कथन कर तो दिया, किन्तु वह तत्काल ही सकपका गयी। अपनी बात को तनिक कोमलता प्रदान करते हुए त्वरा के साथ उसने जोडा–"चाहे उसका रूप कोई अन्य ही क्यों न हो····।"

"किन्तु सखी ! हमारे पिता महाराज ने तो विवाह का प्रस्ताव भी उस विद्याधर से किया था। उसने अस्वीकार कर दिया कि यह इस कारण संभव नहीं है कि दोनों पृथक्-पृथक् जातियों के हैं। वह देव-जाति का है और हम मानव-जाति की····।"

"उचित ही कहा था उस विद्याधर ने। ऐसा अन्तर्जातीय विवाह संभव नहीं हो पाता, किन्तु कालान्तर मे आप दोनों समजातीय भी तो सिद्ध हो सकते हैं। परिस्थितियाँ कब···· कैसा मोड़ लें–कुछ कहा नहीं जा सकता····।"

"बात तो तुम ठीक ही कहती हो···· किन्तु क्या हमारा विवाह होगा भी···· क्या हो सकता है विवाह······ हमे तो पुरुष-जाति से·····।"

"यहीं थोड़ा-सा लचीलापन अब आपके विचारों में अपेक्षित है, स्वामिनी !" राजकुमारी सुकोमला के कथन-मध्य ही विक्रमा ने अति उत्साहपूर्वक कहा–"अब जब हमें वस्तु-स्थिति की खोज करनी है तो हमें हमारी धारणाओं की कट्टरता का भी परित्याग करना ही होगा। व्यापक दृष्टि अपनाये बिना हम न तो अन्य धारणाओं की जाँच–परख कर सकते हैं और न ही सत्य तक हमारी पहुँच संभव है।"

"··· तो ··· तो ···· हमें क्या करना होगा? हम ···।"

"केवल इतना मानना होगा, राजकुमारी जी ! कि संभव है–विपक्ष में भी सत्य हो और यह भी संभव है कि स्व-पक्ष में कोई अभाव, कोई दोष जाने-अनजाने ही रह गया हो। मानव को विवेक का वरदान इसी प्रयोजन से मिला है कि वह सर्वपक्षीय विचारकर सदासद् और सत्यासत्य का निर्णय करे। स्व-पक्ष के दुराग्रह को इसमें बाधक न बनने दें–हमारे लिए भी अपेक्षित है। इसीलिए मेरा कथन है कि विद्याधर के कथन को अपने पूर्वाग्रहों का शिकार न होने दीजिये।" प्रबोधन के स्वर को सतेज करते हुए विक्रमा ने कहा–"तनिक गहराई से सोचकर देखिये कि क्या नारी पुरुष के लिए उत्पीड़क नहीं हो सकती ! मेरे मत में तो नारी भी हो सकती है, पुरुष भी हो सकता है। किसी प्रसंग में नारी का पुरुष पर तो किन्हीं अन्य प्रसंगों में पुरुषों का नारियों पर अत्याचार सिद्ध हो सकता है। अन्ततः हैं तो दोनों एक ही मानव-जाति के। यह समानता असंभव नहीं है।"

इस मर्मस्पर्शी तथ्य ने राजकुमारी सुकोमला की कठोरता को कम करना आरंभ कर दिया। उसे एक अद्भुत आन्तरिक हलचल अनुभव होने लगी; जैसे तेजी के साथ भीतर ही भीतर कुछ बदलाव की प्रक्रिया चल रही हो। राजकुमारी ने इसी आवेग में, मधुरता के साथ पूछा–"सखी ! ··· सखी !! तुमने यह जादू कहाँ से सीखा ··· हृदय-परिवर्तन का। तुम कहना क्या चाहती हो, विक्रमे ! तनिक और भी स्पष्ट करो।"

"राजकुमारी जी ! बात बड़ी सरल है। नारी भी कठोर हो सकती है और वह उदार भी हो सकती है। विद्याधर से अपने पूर्वभवों की कठोरता का उल्लेख आप सुन ही चुकी हैं। इसके विपरीत पुरुष भी कठोर हो सकता है तो वह उदार भी हो सकता है। किसी एक के लिए सदा सर्वदा कोई एक गुण और दूसरे में कोई अवगुण ही रहे–ऐसा नहीं है। कठोरता और उदारता के गुणावगुण पुरुष और नारी दोनो के लिए बने हैं–दोनों में ये मिलते हैं।"

"स्यात् तुम ठीक कहती हो ··· विक्रमे !"

अपने प्रयासो की आरम्भिक सफलता से उत्साहित होकर विक्रमा ने कहा– "राजकुमारी जी ! अपने हृदय को व्यापक दृष्टिकोण द्वारा विशाल बनाइये। अपने आग्रहों तक सीमित रखकर उसे संकीर्ण न रहने दीजिये। आपकी मान्यता है कि

पुरुष निर्मम है, स्वार्थी है, नारी पर अत्याचार, कठोर व्यवहार करता है। इसे झुठलाया नहीं जा सकता, किन्तु ··· किन्तु यह एकांगी सत्य है, आंशिक सत्य है। कुछ ही पुरुष ऐसे होते हैं, सभी ऐसे नहीं होते। आपके पिता महाराज भी तो पुरुष हैं–वे बडे दयालु, उदार और उदात्त हैं। क्या आपको अपने चाचाश्री या भ्राता मे ऐसा अवगुण दिखायी दिया? तनिक सोचकर देखिये कि क्या आपकी मातुश्री महाराजश्री के विषय में ऐसा ही दृष्टिकोण रखती हैं जैसा आपका है–पुरुषों के प्रति? " विक्रमा ने देखा कि राजकन्या सहसा ही गंभीर और कोमल हो उठी है। वे अपलक नयनों से धरती को निहार रही हैं। उसका अनुमान बना कि परिवर्तन की प्रक्रिया सतेज हो गयी है। अपने विचार-क्रम में राजकुमारी जी को भी सक्रियता के साथ सम्मिलित कर लेने के प्रयोजन से उसने पूछा–"कहिये, स्वामिनी ! आप क्या सोचती हैं?"

"बात तो ठीक कहती हो, सखी ! सभी पुरुष तो ऐसे नहीं होते, किन्तु यह विचार कभी हमारे मन में आया ही नहीं।" राजकुमारी ने स्वीकारोक्ति के स्वर में कहा।

"न आया हो–उसे छोड़िये। वर्तमान और भविष्य पर दृष्टि रखिये–अतीत को विसरा दीजिये। अब यह नवीन और श्रेयस्कर विचार आया है तो उसका स्वागत कीजिये, उस पर मनन कीजिये और वह उत्तम लगे तो उसे अपना लीजिये।" सहमति के आशय के साथ राजकन्या का मस्तक डोलने लगा। विक्रमा ने यह देखा और मन ही मन प्रसन्नता का अनुभव उसे होने लगा।

"अव प्रश्न यह रहता है कि आपको जाति-स्मरण ज्ञान से जो अनुभव हुआ उसका क्या कारण है?" विक्रमा ने एक कुशल विवेचनकर्त्ता के रूप में अपनी भूमिका आरंभ की। यह मानना भी उपयुक्त नही कि आपके पूर्वभवों में पुरुप-जाति की जो निर्ममता और क्रूरता रही–वह अवास्तविक है। रही होगी–अवश्य रही होगी। किन्तु पुरुषों का यह अवगुण समग्र पुरुष-जाति का आपने मान लिया–यह उपयुक्त नहीं। ऐसा करके आपने पुरुष-जाति के साथ जो व्यवहार किया–भला उसे कैसे उचित माना जा सकता है। क्या अन्याय का प्रतिकार आपने अन्याय से नहीं किया? क्या सत्पुरुषों को भी आपके अन्याय का शिकार न होना पडा? क्या ऐसे पुरुष मौत के घाट नहीं उतार दिये गये ··· जिन्होंने आपका कोई अपराध नहीं किया था। ऐसे निरीह जनों का वध क्या अपने आप में क्रूर कर्म नहीं है। इसका आपको पश्चात्ताप करना होगा, स्वामिनी ! पश्चात्ताप करना ही होगा। जरा सोचकर देखेंगी तो आप पाएँगी कि आपके पूर्वभवों मे जो पुरुप आये वे चाहे आपको उत्पीड़क प्रतीत होते हों किन्तु उनका कोई दोप नहीं था। वे तो निमित्त मात्र थे–दोष तो यदि था तो वह आपके अपने कर्मों का था।"

"क्या कहती है, सखी ! क्या कहती है तू यह ! क्या वे भी दोषी नहीं थे ! क्या हमने ···!"

"मैं यथार्थ का ही निवेदन कर रही हूँ। किसी का भी सुख अथवा दुःख उसके पूर्व कृत शुभाशुभ कर्मों का ही परिणाम होता है। कभी कोई परिस्थिति या कोई व्यक्ति उसका कारण प्रतीत होने लगे—यह अन्य बात है। कार्य के लिए किसी न किसी कारण का होना तो अनिवार्य ही होता है और नियति ऐसे कारणों का निर्माण स्वतः ही कर लिया करती है।"

"तो तुम्हारा तात्पर्य है कि हम ही स्वयं हमारे कष्टों की कारण रहीं?"

"यही राजकुमारी जी ! यही—यही यथार्थ है। इसे स्वीकार किये बिना अन्य कोई आश्रय नहीं।" विक्रमा ने सधीर होते हुए राजकुमारी के विचलन को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया।" यही संयोग है, स्वामिनी ! कर्म के परिणामानुसार जो कुछ गठित होना होता है, उसी के अनुसार संयोग बनता चला जाता है। आपके कर्मानुसार आपको पूर्वभवों में कष्ट भोगने थे—ऐसी ही नियति थी; अतः आपको ऐसे जीवन-संगी मिले, अथवा यों कहा जा सकता है कि आपकी नियति के अनुसार व्यवहार करने की प्रेरणा उनके मन में जाग्रत हो गयी। एक प्रकार से वे स्वयं तो निरीह और निर्दोष ही थे। उन्हें ऐसा बना दिया गया था कि आपको कर्मानुसार परिणाम भोगना पड़े।"

"ओह ··· हो ! ऐसा है क्या !! तब तो हमसे महान् भूल हुई। हमने अति जघन्य अपराध किया है—पुरुष जाति से द्वेष रखकर। हमसे यह अशुभ कर्म अब तक और होता चला गया है। इसके और भी अमंगल परिणाम होंगे।" व्याकुल हो गयीं राजकन्या और उनके मुख पर एक विचित्र आतंक दृष्टिगत होने लगा। अपनी समस्त आकुलता के साथ उन्होंने कहा—"सखी ! तुम तो बड़ी ज्ञानी निकलीं। तुमने तो सारा मर्म ही खोलकर रख दिया। अब यह भी तो बताओ कि हमें क्या करना चाहिए? क्या भावी दुःखों से बचने का कोई उपाय नहीं?"

"है क्यों नहीं, राजकुमारी जी ! उपाय है—अवश्य है। आवश्यकता इस बात की है कि सम्पूर्ण श्रद्धा और आस्था के साथ उसे अपनाया जाय।"

"हम अपनायेंगी, सखी ! निष्ठा, लगन और श्रद्धा के साथ अपनायेंगी। तुम उपाय तो बताओ। हमें क्या करना चाहिये?" राजकन्या अत्यन्त आकुल हो उठीं और आशा-भरी दृष्टि से विक्रमा का मुख निहारने लगीं। वे तनिक सरककर विक्रमा से सट-सी गयीं। मर्यादापूर्वक विक्रमा ने पुनः कुछ दूरी बनायी और कहा—"स्वामिनी ! धैर्य रखिये। सब-कुछ ठीक हो जायेगा। अधीरता सफलता के मार्ग में आने वाली सबसे बड़ी बाधा होती है। धैर्य ही लक्ष्य-प्राप्ति को सुनिश्चित करता है। धैर्य के बिना उचित प्रयत्न नहीं और उचित प्रयत्नों के बिना वांछित सफलता नहीं। मैं इसका उपाय भी आपको समझाती हूँ। मैंने कहा कि व्यक्ति के सुख-दुःखों के कारण उसी के पूर्व कृत कर्म होते हैं। शुभ कर्मों का परिणाम सुख और अशुभ

कर्मो का परिणाम दुःख नितान्त अवश्यंभावी है। इस परिणाम को टाला नही जा सकता, निरस्त नहीं किया जा सकता। हॉ, भावी दुःख को कम अवश्य किया जा सकता है। ऐसी कामना रखने वाले व्यक्ति को अपने अशुभ कर्मों की आलोचना करनी चाहिए। उसे अपना पाप अपने आप स्वीकार करना चाहिए और विनयपूर्वक उस पर खेद व्यक्त करना चाहिए। उसे अनुत्ताप अनुभव करना चाहिए।''

''यह अनुत्ताप तो तुम्हारी प्रेरणा से हममें जाग्रत हो गया है, विक्रमे ! हमारी ऑखें खुल गयी हैं। अब तक जिस मार्ग का अनुसरण हम करती रहीं–वह पाप का मार्ग था।''

''यदि आप यह स्वीकार करती हैं तो एक प्रकार से आप अपने अशुभ कर्मो की आलोचना करती हैं। यह एक शुभ लक्षण है। आत्मोद्धार का यह प्रथम सोपान है, राजकुमारी जी ! अब आपको यह संकल्प लेना चाहिए कि आप इस अशुभ कर्म में भविष्य में कभी प्रवृत्त नहीं होंगी और सदा शुभ कर्म की ही कर्त्ता रहेंगी। अपनी अब तक की भूलों को सुधारने का क्रम शुभ कर्म का समारंभ करेगा।''

''यह संकल्प भी हमने धारण कर लिया है, विक्रमे !''–राजकन्या ने स्थिर मन और संयत वाणी से स्वीकार किया–''अब हम नर-द्वेषिणी नहीं रहीं। पुरुप मात्र के प्रति हमारा दुर्भाव अब गत हो चुका है, हम अव पुरुषों के प्रति सदा ही सहृदय रहेगी, उनके लिए सद्भाव रखेंगी, मिथ्या दुराग्रहों से दूर रहेगी।''

''शुभ कर्मों में बड़ी शक्ति होती है, स्वामिनी ! वहुत शक्ति होती है।''–विक्रमा ने आत्म-विश्वास के साथ कहा–''शुभ कर्म भावी सुखों का विधान तो करते ही है–उनसे अशुभ कर्मो का क्षय भी होता है। ज्यों-ज्यों शुभ कर्मो की विपुलता वढती चली जाती है त्यों ही त्यों पूर्व कृत अशुभ कर्मो का विनाश होता जाता है और भावी दुःखों के विधान में क्रमशः कमी आती रहती है। मनुष्य इस प्रकार अपने मंगल का स्वयं ही विधायक होता है। पूर्व कृत कर्मों पर हमारा अव तो कोई वश नही है, राजकुमारी जी ! किन्तु वर्तमान को शुभ कर्म-मुक्त कर हम अतीत-आधारित भावी दुष्परिणामों या दुःखों को कम कर सकते हैं। आश्चर्य नहीं, यदि कोई मनुष्य अपने शुभ कर्मो की वहुलता से पूर्व कृत अशुभ कर्मों को समूल ही क्षरित कर दे। यह तो व्यक्ति के आत्म-वल पर निर्भर करता है।'' क्षणंक विरामोपरान्त विक्रमा ने पुनः कथनारम्भ किया–''राजकुमारी जी ! आपके लिए यही मंगल का मार्ग है। इस पर गतिशील हो जाइये और फिर निश्चिन्त हो जाइये। शुभ का परिणाम शुभ ही होगा, अन्यथा कुछ भी नहीं हो सकता।''

''हमारी अच्छी सखी ! आज तुमने हमारे इस भव को सुधार दिया, अन्यथा यह तो पूर्वभवों की भाँति ही मिट्टी में ही मिला जा रहा था। हम तुम्हारे उपकार से

कैसे उऋण होंगीं। हमारे पास तो न इतना ज्ञान है और न ही·····।" राजकुमारी सुकोमला का कंठ आर्द्र हो उठा और पलकें सजल हो गयीं। कृतकृत्य-सी राजकन्या करबद्ध होकर विक्रमा का मुख निहारने लगीं।

इसी समय विक्रमा भी अनियंत्रित-सी भावुक हो उठी। उसने राजकुमारी जी के जुड़े हुए हाथों को अपने हाथों में लेकर कोमलता के साथ हौले-से दबाये और विनय-योग से वाणी को अतिशय मृदुल बनाते हुए बोली—"स्वामिनी ! उपकार कैसा ! मैं तो आपकी दासी हूँ। आपकी महानता है यह कि आपने मुझे सखी का स्थान दिया अन्यथा क्या तो मैं और क्या मेरी स्थिति ! मैंने तो एक सच्ची सखी का धर्म निभाया है। परस्पर हितैषिता ही सच्ची मैत्री की आधारशिला होती है। सखी अपनी सखी को गिरते हुए तटस्थ भाव से कैसे देखती रह सकती है–उसे सँभालकर आसरा देना, गिरने से बचाना तो दूसरी सखी का कर्त्तव्य ही है। उसे ऐसा करना ही चाहिये।"

"यह तुम्हारा बड़प्पन है, विक्रमा ! हम तो अब तुम्हें गुरु मानने लगी हैं। तुमने हमें वास्तव में गिरने से बचा लिया है। यही नहीं, ऊपर उठने का मार्ग भी दिखाया है, उस पर चलते रहने की शक्ति और प्रेरणा भी दी है।" राजकन्या कंठावरोधवश मौन हो गयीं।

"आप चाहें तो इस कार्य के लिए मुझे पुरस्कार तो प्रदान कर ही सकती है, राजकुमारी जी !" उत्साह के साथ विक्रमा ने कहा और दुगुने उत्साह के साथ राजकन्या बोलीं—"अहो भाग्य हमारा ! बोलो क्या पुरस्कार चाहती हो। हम भेंट करेंगी। असंभव को भी हम संभव करते हुए तुम्हें पुरस्कृत करेंगी।"

"असंभव नहीं राजकुमारी जी ! आपको तो संभव को ही संभव कर देना है। मेरा पुरस्कार यही होगा कि नवीन शुभ मार्ग पर आप अडिग रहें और अविचल भाव से उसी मार्ग पर सतत रूप में अग्रसर होती रहें। अपना दुराग्रह तो आपने त्याग ही दिया। नर-द्वेष भी अब आपके लिए विगत हो गया है। अब मेरा आपसे एक परामर्श है।"

"बोलो, सखी ! बोलो··· तुम क्या कहना चाहती हो?"

"यही कि अब आपको विवाह कर लेना चाहिए। यही आपका प्रायश्चित्त भी होगा। इसी से यह भी सिद्ध होगा कि आपके मन में पुरुषों के प्रति दुर्भाव नहीं, सद्भाव है।"

"कदाचित् तुम ठीक ही कहती हो, सखी ! तुम्हारा परामर्श उचित ही है।" राजकन्या ने दृढ़तापूर्वक कहा—"अब इस विषय में सोच-विचार की बात ही नहीं रही। हम विवाह करेंगी—अवश्य करेंगी, किन्तु···।" राजकन्या सहसा कथन-मध्य ही मौन हो गयीं।

"किन्तु ..... क्या, राजकुमारी जी ! आप मौन कैसे हो गयीं?"

"किन्तु, सखी ! हम किसी राजा-राजकुमार से विवाह नहीं कर सकेंगी। हमारी कामना है कि साधारण जन से ही ... ।"

"मैं समझी, राजकुमारी जी ! भलीभाँति समझ गयी कि आप किसी राजघराने में क्यों नहीं जाना चाहतीं। आप तो कुशल कलाकार है, सगीत की साधिका हैं। आपके योग्य वर तो कोई संगीतज्ञ ही हो सकता है।"

"तुमने ठीक ही हमारे हृदय को पहचाना है, सखी ! आहा ! यदि तुम पुरुष होतीं तो कितना अच्छा होता !! मैं........।"

"नियति को किसने देखा है ! कौन जाने आपका परिणय मेरे साथ ही हो जाये !" विक्रमा ने कहा और उसके अधरों पर हास उभर आया। राजकन्या ने भी योग दिया। दोनो सखियाँ कुछ पलो तक हँसती ही रह गयी। राजकन्या का हृदय उत्फुल्ल हो गया। घुटन और तनाव से मुक्त होकर वे भविष्य के सुखद स्वप्नो मे खोने लगीं। तभी विक्रमा ने कहा—"यदि कोई पराक्रमी, शूरवीर और कलाकार नरेश हो—हमारे अवन्तीपति महाराज विक्रमादित्य-जैसा ... तो क्या आपको वह स्वीकार्य न होगा, राजकुमारी जी !"

एक क्षण को तो राजकुमारी जैसे सकते मे आ गयी। अवाक् होकर टकटकी लगाकर वे विक्रमा को ताकती रहीं, फिर बोली—"यह बात तो हमारी कल्पना मे ही नही आयी। किन्तु .... सखी !"

"नही ... नही ... आपके लिए यही ठीक रहेगा, स्वामिनी ! कि कोई कुशल संगीतकार आपको पति रूप में मिले।" विक्रमा ने कहा—"यही उपयुक्त है फिर यदि प्रारब्ध मे हुआ तो वह संगीतज्ञ राजा भी बन सकता है, अवन्ती-नरेश भी हो सकता है। यदि आपके भाग्य में राजरानी ही बनना लिखा होगा तो आप चाहे साधारण जन को चुने—कालान्तर में वह नरेश बन सकता है। आप क्या सोचती है?" कथन-समापन के साथ ही सखी विक्रमा जोर से हँस पडी और राजकुमारी जी तो और भी जोर से हँसने लगी। इस निर्मल हास ने वातावरण मे उल्लास भर दिया। प्रतिष्ठानपुर की राजकन्या सुकोमला प्रसन्न थीं। उनके जीवन में नव-प्रभात जो आया था ! विक्रमारूपी महाराज विक्रमादित्य भी प्रसन्न थे—वे अपने संकल्प की पूर्ति के इतने समीप जो आ गये थे।

● ●

चित्त की प्रफुल्लता बाहरी जगत् को सुन्दर बना देती है। तनावहीन व्यक्ति को सारा जगत् ही मोहक प्रतीत होता है। राजकन्या सुकोमला को कदाचित् प्रथम बार ही अपने आप सारा वातावरण आनन्दपूर्ण प्रतीत होने लगा था। विकारातीत हृदय आनन्द की खान होता है। ऐसा हृदय तो सदा संतुष्ट और उदार बना रहता है। व्यक्ति को अपने आसपास सर्वत्र सभी मित्र ही मित्र दृष्टिगोचर होते हैं, कोई भी उसका शत्रु नहीं रह जाता। राजकन्या सुकोमला की यही दशा थी। पुरुष-जाति के प्रति द्वेष और हिंसा की भावना का शमन हो गया था और उनके मन में वैमनस्य नहीं रह गया था। उस संध्या को वे अपने शून्य-कक्ष में अधलेटी बैठी अपने भावी जीवन की कल्पनाओं में खोयी हुई थीं। जीवन के इस नवीन रूप को आकार देने वाली अपनी सखी विक्रमा के प्रति उनके मन में बड़े उच्च भाव थे। विक्रमा हमारी सच्ची सहेली है। उसकी प्रेरणा ने ही हमें सन्मार्ग पर लगा दिया है, अन्यथा हम इस मिथ्या मार्ग पर इतनी आगे बढ़ गयी थीं कि प्रत्यावर्तन असंभव ही था। यह हमारा सौभाग्य ही था कि ऐसी हितैषिणी सखी मिली। सत्य ही है—जब सुदिन आते हैं, उत्कर्ष का समय आता है तो उसके लिए अपेक्षित साधन भी स्वतः ही जुटने लग जाते हैं। दैव योग से ही हमें भी इतनी सुन्दर संगति मिली है। विक्रमा ने हमारे हृदय को ही नहीं, समस्त जीवन को परिवर्तित कर दिया है। हमारे जीवन को उसने सार्थक बना दिया है। अब हमें जीवन के सच्चे स्वरूप का अनुभव होने लगा है। वही सखी हमारी सच्ची सखी है। धन्य है वह और उसे पाकर हम भी धन्य हो उठी हैं। हमारे इस परिवर्तन का ज्ञान अभी तो हम दोनों सखियों तक ही सीमित है। जब इसका समाचार अन्य जनों तक पहुँचेगा तो वे आश्चर्यचकित रह जायेगे। राजकन्या के भावों में ऐसा आशातीत परिवर्तन कैसे आ गया ! यह चमत्कार सारा विक्रमा का है—जब सभी को यह ज्ञात होगा, तब तो उसके प्रति सभी के मन प्रशंसा से भर उठेंगे।

राजकुमारी उस शान्तैकान्त वातावरण में, इसी विषय में आगे से आगे सोचती चली जा रही थीं। अब यह दायित्व भी विक्रमा का ही होगा कि हमारे नर-द्वेषी न रह जाने का सुसमाचार सभी तक पहुँचे और हमारे विवाह कर लेने का निश्चय भी वही हमारे माता-पिता तक पहुँचाएगी। यही नहीं, उसने स्वयं ही यह कार्य भी अपने हाथ में ले लिया है कि विवाह की समस्त योजना बनाकर उसे पिताजी महाराज से स्वीकृत भी करा लेगी। महान् है ···· हमारी सखी !····· वस्तुतः महान् है। महान् व्यक्ति श्रेयस्कर कार्य स्वयं ही ग्रहण कर लेते हैं और

अपनी समग्र समर्थता के साथ उसे सम्पन्न भी करते हैं। उस कार्य का कोई अंश अपूर्ण नहीं छोड़ते। सखी विक्रमा भी इस कार्य को दायित्व-बोध के साथ पूर्ण करेगी.... किन्तु.... किन्तु.... वह कहती थी कि अपनी माता की सेवा के प्रयोजन से उसे जाना भी होगा। उसको क्या यहाँ रोका नहीं जा सकता ! कहती थी कि जाने से पूर्व वह सारी व्यवस्था कर देगी। फिर भी वह यदि अन्त तक का कार्य स्वयं ही करती तो कितना अच्छा होता ! हम उससे आग्रह करेंगी.... किन्तु उसकी समस्या भी तो गंभीर है। उसने हम पर महान् उपकार किया है। हमें भी उसके कर्त्तव्य-मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहिये। वह जायेगी.... कुछ दिनों में लौटकर भी तो आएगी। समय तो आए.... तब देखेंगे।

'बड़ी वाचाल है विक्रमा भी....।' राजकन्या सोचने के क्रम मे आगे वढती जा रही थीं–'कहती थी कि कौन जाने उसी के संग हमारा विवाह हो जाय।' इस प्रसंग का स्मरण आते ही एक मादक हास उनके अन्तर में फूटा और वह अधरो पर मुस्कान बनकर खिल उठा। 'कैसा.... कैसा तो विनोद कर वैठती है हमारी सखी।'–सोचते-सोचते राजकुमारी का तनिक मन्द हास मुखरित हो उठा। अपने हाथ में थामे फूल को वो अधरों में झुलाने लगीं और उनकी दृष्टि उसी पर केन्द्रित हो गयी। विक्रमा चाहती थी कि अवन्ती के नरेश महाराज विक्रमादित्य सर्वगुण-सम्पन्न हैं, उच्च श्रेणी के संगीतज्ञ भी है। अच्छा ही किया कि हमने उसकी इस सम्मति को महत्ता न दी। राजा तो अन्ततः राजा ही होता है न ! हमे तो साधारण पुरुष का वरण करना है। और ढिठाई तो देखो उस विक्रमा की कि हमारे स्पष्टतः असहमत हो जाने पर भी वह कहती है–कौन जाने अवन्तीपति के साथ ही हमारा विवाह हो जाय। हम साधारण व्यक्ति का ही वरण क्यो न करें और वाद में वह राजा वन जाय। वड़ी ही मनमोहक वातें करती है विक्रमा। अव देखना है कि वह क्या-क्या करती है, कैसे करती है ! हमारे साथ तो उसने वहुत उपकार किया है। हमें आगामी अशुभ कर्मवंधन से उसने वचा लिया। पूर्व अशुभ कर्मो के फल तो हम विगत जन्म-जन्मान्तरों से भोग ही रही हैं। यदि यह कर्म क्रम चलता ही रहता तो हमारे दुःखों का क्रम भी अनन्त हो गया होता। पुरुष-जाति के प्रति विरोध और प्रतिशोध का व्यवहार कर इस जन्म में भी हमने अशुभ कर्मों को थामा नही। यह हमारी भूल हुई। नियति भूलों को क्षमा करना नहीं जानती। दुष्कर्मों के दुष्परिणाम अवश्यंभावी रहते हैं। हाँ, समय रहते शुभ कर्मों और संकल्पों से उनका प्रभाव कम किया जा सकता है। इसकी प्रेरणा हमें सखी विक्रमा ने दी है। हम उसकी कृतज्ञ हैं। अव जव भी वह आए.... हमने अपने अशुभ कर्मों के स्थगन के रूप में भवितव्य के कष्टों का एक विराम, एक समापन निर्मित कर लिया है। कभी तो वह छोर भी आएगा ही और तव एक आश्वासन बनेगा–अनन्त सुख का। सखी ने हमारा भविष्य शुभ कर दिया। उसने हमारा वर्तमान भी मंगलमय कर दिया। घृणा, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध आदि मनोविकारों का भाव उसके

लक्ष्य को उत्पीड़ित करने के पूर्व तो उस मन को पीड़ित करता है जहाँ वह उदित होता है। अग्नि व्याप्त होकर दूर-दूर तक विनाश करती है किन्तु वह स्थल भी सुरक्षित नहीं रहता जहाँ वह प्रज्वलित होती है। हम इस जीवन में भी अन्तर दाह से पीड़ित—कष्टित रही हैं। आहा ! अब कितनी शान्ति और शीतलता का अनुभव हो रहा है। वाह री ! विक्रमे, तू महान् है। राजकुमारी ने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि अब वे द्वेष-भाव से दूर रहेंगी, वे पुरुषों के प्रति वैमनस्य नही रखेंगी और इस भव के अमंगल कर्मो का प्रायश्चित्त भी वे करेंगी। वे किसी योग्य कलाकार से विवाह भी कर लेंगी।

"कोई पास न रहने पर भी, जन-मन मौन नहीं रहता।
आप-आप की सुनता है वह, आप-आप से है कहता॥"

राजकन्या भी बड़ी देर तक स्वयं से बतियाती रहीं और किस क्षण वे निद्राधीन हो गयीं, यह स्वयं उन्हें भी ज्ञात न था।

× × ×

प्रतिष्ठानपुर के राजभवन में आज अद्भुत—अपूर्व उल्लास का वातावरण व्याप्त था। महाराज शालिवाहन और महारानी विजया की प्रसन्नता का कोई पार ही नहीं था। संतति का सन्मार्गी हो जाना माता-पिता के लिए बडा सुखद प्रसंग होता है। संतति का कुमार्गी न होना—संतोष का विषय है, किन्तु उसका कुमार्ग त्यागकर सन्मार्ग पर आ जाना माता-पिता को अपार-अपार सुख देता है। राज-दम्पति इसी सुख-सागर में निमग्न थे। राजकन्या में यह परिवर्तन कैसे आया ! वह नर-द्वेषिणी थीं .... सहसा उसका यह विकार समाप्त कैसे हो गया ! आज संध्या-समय उन्होने अपने भवन में एक भोज का आयोजन किया है जिसमे महाराजश्री, महारानी, युवराज, मंत्री-सामंतगण, नगर-श्रेष्ठी और अनेक संभ्रान्त जन आमंत्रित है। यह ज्ञात होने पर महाराज स्वयं बड़े ही चकित थे। उस भवन में तो पुरुषों का प्रवेश निषिद्ध रहा है। यदि कोई पुरुष भूल से भी वहाँ चला जाता तो हमारी राजकन्या तो उसका वध करा देती थीं। आज वही अपने भवन में पुरुषों को आमंत्रित कर रही है। यह चेटक—यह जादू कैसे हो गया ! चमत्कार ही है यह तो ! यह-सब कैसे घटित हो गया !!

महारानी विजया ने कहा—"महाराजश्री ! अवन्ती से कोई कुशल गायिका विक्रमा यहाँ आयी हुई है। राजकुमारी सुकोमला उससे बडी प्रभावित है। ये दोनों परस्पर सखियाँ हो गयी हैं।"

"ज्ञात है .... हमें ज्ञात है, महारानी ! हमने सुना है कि देवी विक्रमा संगीत-कला की निष्णात साधिका है। उसने संगीत के प्रभाव से कुछ चमत्कार भी प्रतिष्ठानपुर में घटित किये है .... ।"

"वही ···· वही विक्रमा।"–महाराज के कथन-मध्य ही महारानी ने आरंभ कर दिया। वही विक्रमा राजकुमारी की अन्तरंग सखी हो गयी है। जैसा मुझे ज्ञात हुआ है, इसी सखी ने उनका हृदय-परिवर्तन कर दिया है। अब वे नर-द्वेषिणी नही रहीं। अपने इस विकार और अशुभ कर्म को राजकन्या अपना अपराध और पाप मानने लगी हैं।"

"ऐसा ····? यह तो बड़ा शुभ समाचार है।"–महाराज ने प्रसन्नता के साथ कहा।

"यही नहीं ···· उनके मन में अपने इस अमंगल व्यवहार के विषय में अनुताप का भाव भी है। वे इसका प्रायश्चित्त करना चाहती हैं।"

"यदि ऐसा है तो ···· राजकुमारी के लिए यह अत्यन्त मंगलकारी है। हम तो स्वयं जानते और मानते थे कि वे एक वीभत्स दुराग्रह के अधीन हैं और उनका व्यवहार विवेकपूर्ण नहीं है, पर उनके हठ के आगे हम भी असहाय रह गये। हमारा मानस सदा चिन्ताग्रस्त रहा करता था कि राजकन्या को कैसे सन्मार्गी वनाया जाय। हमारी वह चिन्ता आज फलित हुई और ····। राजकन्या विमुक्त हो गयी है सारे विकारों से–यह बडी ही शुभ घड़ी है। इसका श्रेय ····।" महाराजश्री अतीव आह्लाद के स्वर में कह उठे–"इसका श्रेय परदेसिन गायिका देवी विक्रमा को ही जाता है।"

"स्वामी का कथन सर्वथा सत्य है।" महारानी श्रीमती विजयादेवी ने समर्थन के भाव सहित कहा–"देवी विक्रमा ने हमारे इस राज-परिवार पर अतिशय उपकार किया है। हमें उसका आभारी होना चाहिये।"

"निश्चित रूप से हम देवी विक्रमा के कृतज्ञ है। इस नारी ने हम सभी पर वहुत ही कृपा की है। हम आज ही भोज के अवसर पर देवी विक्रमा को सम्मानित करेंगे।" महाराज शालिवाहन ने प्रसन्नतापूर्वक कहा और एक मुस्कान उनके मुख-मण्डल पर छा गयी। वे अन्तरमन से तुष्ट और हर्षित थे।

संध्या-समय राजकन्या सुकोमला के एकान्त भवन में जन-संकुलता क्रमशः अभिवर्धित होती रही। कुछ ही समय में सभा-भवन खचाखच भर गया। एक सज्जित मंच पर महाराज शालिवाहन और महारानी स्वर्ण-खचित आसनो पर विराजित थे। महाराज के समीप के आसन पर राजकुमारी सुकोमला और महारानी के समीप विक्रमा वैठी थीं। सामने की अग्र पंक्ति मे अमात्यगण, नगर-श्रेष्ठी, सामंतगण, काकाश्री, नगरश्रेष्ठी और अन्य महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी आसीन थे। इनके पीछे अन्य अनेक आमंत्रित संभ्रान्त जन वैठे थे। सभा-भवन को सुरुचिपूर्वक सजाया गया था। अगरू-धूम्र से सुवासित वातावरण अत्यन्त सुखद, मनोमुग्धकारी हो उठा था। सवके मन मे यही एक प्रश्न विभिन्न रूप धारण कर हलचल मचा रहा था कि राजकन्या मे सहसा यह विचार-परिवर्तन कैसे आ गया ! उनका नर-द्वेष निर्गलित

कैसे हो गया !! अनेक जन परस्पर विचार-विमर्श करते अपने-अपने अनुमान प्रस्तुत करने में लगे थे। समग्र उपस्थिति जिज्ञासु हो उठी थी। मंगल वाद्यों ने एक मधुर और सरस वातावरण निर्मित कर दिया था। सहसा घंटा ध्वनि हुई। वाद्य-वादन का स्वर थमा। उपस्थित जन सतर्क हो गये। सर्वत्र शान्ति छा गयी। तभी राजकन्या सुकोमला पिता महाराज से अनुमति प्राप्त कर अपने आसन से उठीं। श्रद्धापूर्वक माता-पिता के चरण स्पर्श कर उपस्थित महानुभावों से नतशिर–करबद्ध प्रणाम किया और तब गंभीर वाणी में अपना कथन आरंभ किया–

"देवतातुल्य हमारे पिताश्री महाराज, परम हितैषिणी मातुश्री जी, गुरुवत् सखी प्रिय विक्रमादेवी, उपस्थित सम्मान्य संभ्रान्त जनो !! आप सभी को हमारे आज के आमंत्रण पर विस्मय हुआ होगा। हम अति आरंभ से विकट नर-द्वेष की साकार प्रतिमा जैसी रहीं और आज हमने अपने ही आवास पर पुरुषों को आमंत्रित कर स्नेहपूर्वक सादर बुलाया–सभी से सम्मिलित होने का व्यक्तिगत आग्रह किया। यह परिवर्तन हमारे व्यवहार में जो आया–यही आपके आश्चर्य का कारण हो सकता है। यह सत्य है कि हम अब नर-द्वेषिणी नहीं रहीं। यह भी तथ्य है कि हमें अब तक के व्यवहार पर खेद है, हम समस्त पुरुष-वर्ग के प्रति क्षमा-याचनापूर्वक श्रद्धावनत हैं। हमारे ऐसे दुष्ट और क्रूर व्यवहार के विरोध में भी पुरुष-जाति ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखायी, कोई रोष व्यक्त नहीं किया। ऐसे महान् वर्ग के प्रति हमारे मन में अब अपार-अपार श्रद्धा का भाव है।"

राजकुमारी सुकोमला ने एक क्षण शान्त रहकर स्थिरचित्तता के साथ सारी सभा को करबद्ध प्रणाम किया और उनका मस्तक बद्ध करों पर झुक गया–"हम प्रणाम करती हैं इस उदार और क्षमाशील पुरुष-वर्ग को और वचनबद्ध होती हैं कि भविष्य में हमारे मन में भी पुरुषों के प्रति कोई दुर्भाव नहीं आयेगा। यदि हमारे जीवन का, हमारे आचरण का यह कोई परिवर्तन है तो हम स्वीकार करती हैं कि यह परिवर्तन सुधारकारी है, हमारे लिए उत्थानकारी ही यह सिद्ध होगा। यही मंगल का मार्ग है, यही हमारे लिए शान्ति और आत्मतोष का कारण वनेगा। हम आप सभी की साक्षी में आज यह स्वीकारोक्ति करती हैं कि हमारा अव तक का चिन्तन और दृष्टिकोण, अव तक का आचरण और व्यवहार सदोष था.... हम कुमार्ग पर अग्रसर थीं। हमने जो कुछ किया वह अनीति था, अकरणीय था। हम आप सभी के समक्ष उन्मुक्त रूप से, अन्तरमन से अपने दुष्कर्मों की आलोचना करती हैं, हम आत्म-भर्त्सना करती हैं; हमारा मन अत्यन्त आकुलतापूर्वक पुरुषों से क्षमा-याचना करता है। हम चाहती हैं कि लोक की क्षमा और आशिष तो हमें मिले, किन्तु लोक हमारे इस अमानवीय व्यवहार को विस्मृत न करे.... जितनी निन्दा और भर्त्सना इस व्यवहार की, इस व्यवहार की चर्चा–हमारी हो सके.... अवश्य हो। हम निन्दा की ही पात्र हैं।"

"हमारी मान्यता है हमें यह लोक-निन्दा हमारे नवीन, शुभ मार्ग पर अविचल करेगी। निन्दा की इन ज्वालाओं में तपकर हमारा मानस कुंदनवत् खरा हो सकेगा। कर्म ही ऐसा किया है हमने कि सर्वत्र हमारी थू-थू हो .... सभी हमें घृणा की दृष्टि से देखें, सभी के लिए हम पापी हैं .... इस जघन्य पाप का किसी सीमा तक मोचन होगा हमारे प्रति की गयी व्यापक जन-घृणा से। हमारी कामना यह नहीं है कि इतिहास भी हमें क्षमा कर दे और इस जघन्य वृत्तान्त का उल्लेख न करे। इतिहास भी हमारे कुकर्म को पूरी शक्ति के साथ उजागर करे .... हमारी यह कुकर्म-कथा युग-युग तक चलती रही, विस्मृत न हो और प्रत्येक पीढ़ी को यह अवसर दे कि वह हमें निन्दा का पात्र जाने—हमसे, हमारे दुष्कर्म से घृणा करे। कदाचित् इस प्रकार हम दूसरों को सन्मार्ग की प्रेरणा दे सकें और हमारे दुर्व्यवहार की, हमारे अमंगल कर्मों की ऑच कुछ कम हो सके। इतिहास कहे .... अवश्य कहे कि प्रतिष्ठानपुर के राजवंश में एक राजकन्या हुई .... सुकोमला। उसका नाम ही नाम था .... अन्यथा वह अत्यन्त कठोर थी .... क्रूरकर्णी थी। उसने नारी की करुणा और कोमलता के भावों को दाग लगाया उसने अकारण पुरुषों के प्रति वैर—वैमनस्य रखा और .... और अनेक-अनेक निरीह, निष्पाप पुरुषो का वध कर दिया। नारी जाति की वह कलंक थी .... इतिहास मे लिखा जाय .... इतिहास में .... ।" राजकन्या अत्यन्त भावुक हो उठीं। कंठावरोधवश वे मूक हो गयीं। उनके आर्द्र नेत्रों से सहसा अश्रु प्रवाहित होने लगे और वे सवकी करुणा की पात्र हो गयीं।

उपस्थित जन राजकन्या की इस विचित्र स्थिति से अत्यन्त प्रभावित हुए। संवेदनशील व्यक्ति तो विचलित हो उठे। उनके मुख से करुणा-भरे शब्दों का अनायास निकल जाना उनके मानसिक उद्वेलन का प्रतीक हो गया था। हाय वेचारी राजकुमारी जी को कैसा परिताप हो रहा है ! हाय .... हाय .... कैसी दशा है इनकी ....! सहृदया माता अपने को रोक नहीं पायीं। करुणार्द्र हो वे अपने आसन से उठीं और पुत्री को अपने अंक में लेकर उसे आश्वस्त करने लगीं। महाराज भी उन्हें सान्त्वना देने लगे। इसी समय चाचाश्री अपने आसन से उठे और उच्च स्वर मे वोले—"हमें, हमारे सारे राज-परिवार को, समग्र प्रतिष्ठानपुर को अपनी राजकुमारी पर गर्व है। हमारी राजकुमारी जी गौरव हैं इस राज-परिवार की जिन्होने यदि कोई अपकर्म किया भी तो उसकी खुले रूप से स्वय आलोचना भी की है और उस मार्ग के त्याग का वचन लिया है। अव उन्हें शान्त हो जाना चाहिये। उनके दुःखी होने से हम सभी दुःख का अनुभव कर रहे हैं और सभी उनका मंगल चाहते हैं। वास्तविकता तो यह है कि सवेरे का भूला अगर सन्ध्या को घर पहुँच जाय तो वह भूला नहीं कहलाता।"

"किन्तु .... हम तो संध्या की भूली हुई थीं और सवेरे घर लौटी है।" हम एक घोर तिमिर से घिरी रात्रि में भटकती रही हैं, अज्ञान की रात्रि, अनीति की रात्रि, अन्याय और अविचार की अँधेरी रात से निकलकर हम एक शुभ यथार्थ के मंगल प्रभात में पहुँची हैं। अब हमारे मन को सुख है, शान्ति है, तोष है। दुःख है, तो अतीत के अमंगल आचरण का ही दुःख है। हम वैसी क्यों रहीं .... हमने वैसा क्यों किया?"

क्षणेक विरामोपरान्त राजकुमारी ने कथनारंभ किया—"अतीत हमारा कलुषित और पापमय रहा हो .... अशुभ कर्मो से भरा रहा हो .... किन्तु हमारा वह अशुभ आचरण अब हमारे लिए विगत हो गया है। वह कटु रूप में भी हमारे जीवन का रहना था .... सो रहा, किन्तु अब हम उस अँधकार से आलोक में आ गयी हैं। अब हम सतत रूप से शुभ कर्मो में रत रहेगी। पुरुष-वर्ग के प्रति स्नेह और ममता, सद्भाव और सहानुभूति, अब हमारी यही भावनाएँ रहेंगी। यही हमारे जीवन का वर्तमान और भावी रूप रहेगा। हमे उस घोर अँधियारे से इस पुनीत आलोक में बॉह पकड़कर ले आने वाली हमारी एक अन्तरंग सखी रही है—देवी विक्रमा।" राजकन्या के हाथ आंतरिक प्रेरणा से स्वतः ही जुड गये और वे तनिक विक्रमा की ओर उन्मुख हुई।

"मेरा समग्र जीवन अपनी इस सखी का कृतज्ञ रहेगा। विक्रमा ने हमे सभी भ्रान्तियों से मुक्त किया और सन्मार्ग दिखाया है। सखी विक्रमा के प्रयत्नों से हमे हमारे पूर्वभवो के यथार्थ को समझने का अवसर मिला है। हमें जाति-स्मरण ज्ञान ने यह तो परिचित कराया कि सतत रूप से विगत छह भवों मे हम पुरुपो के अन्याय, अत्याचार से पीड़ित—कष्टित रही हैं—उसी ज्ञान ने हमें नर-द्वेपिणी वनाया और हमारे भीतर प्रतिहिंसा का प्रचण्ड भाव जाग्रत कर दिया, किन्तु पूर्वभवों की हमारी उस दयनीय दशा का दायित्व उन पुरुपों का नहीं था, जो जीवन-संगी वनते रहे—यह मर्म हमे हमारी सखी ने ही समझाया। देवी विक्रमा ने हमें वताया कि वे पुरुप तो उस पीड़ा के मात्र निमित्त वना दिये गये थे। दोपी वे न थे, दोप तो स्वयं हमारे कर्मो का था। पूर्वकृत दुष्कर्मो का परिणाम तो भोगना ही था—वही परिणाम मानसिक सतापो और कष्टों के रूप मे फलित हुआ। कर्मफल अवश्यंभावी होते हैं—उनसे छुटकारा नही मिलता, भोगना ही पड़ता है उन्हे। कर्म का यह मर्म जव हमारी समझ मे आ गया तो हमें यह भी आभास हो गया कि इस भव मे हम जो कुछ कर रही है वह भी अशुभ है, अमंगल है और ये कर्म हमारे भावी जीवन को दु खमय ही वनाएगा। मनुष्य स्वयं अपने भविष्य का निर्माता होता है। वही अपने लिए मुख-दु ख की संरचना करता है—अपने कर्मों के द्वारा। अत. हमारे मन में शुभ कर्मो को अपनाने की प्रेरणा जाग्रत हुई। इस प्रेरणा ने हमारे आचरण-व्यवहार को ही नहीं, हमारे चिन्तन और जीवन को ही एक नया स्वरूप प्रदान कर दिया है। यह

परिवर्तन यदि किसी जादू का प्रभाव है तो यह जादू देवी विक्रमा का है। हमारी सखी का हमारे प्रति महान् उपकार है। मित्र के प्रति मित्र की हित-कामना उसे सच्चा मित्र बना देता है, किन्तु प्रयत्नपूर्वक मित्र का हित साध लेने वाला–महान् मित्र हो जाता। देवी विक्रमा महान् हैं। उनका हम पर ऋण है····"

राजकन्या ने कनखियों से विक्रमा की ओर झॉका। वह विनय की मूर्ति वनी हुई अचंचल दृष्टि से मंच के शोभित बिछावन को ताक रही थी–नतमस्तक–सर्वथा विचलनहीन और स्थिर मुद्रा में। आन्तरिक लघुता और संकोच का भाव उसके मुख-मण्डल पर उभर आया था। राजकुमारी ने अपना कथन पूर्ण किया–"···· ऐसा ऋण जिससे हम कभी मुक्ति नहीं पा सकतीं, पाना कदाचित् हम चाहती भी नहीं। हम तो सदा-सदा के लिए हमारी सखी का उपकार मानते हुए उसके प्रति आभारी बनी रहना चाहती हैं।" सुकोमला के दोनों हाथ परस्पर जुड गये और वे आन्तरिक प्रेरणा से किंचित् नमित होकर सखी विक्रमा की ओर ताकने लगीं। इस अपूर्व दृश्य के द्रष्टा, समस्त उपस्थित जन भाव-विभोर से होकर जडवत् हो गये थे। तभी सभागार में किसी ने उच्च वाणी में घोष किया–"देवी विक्रमा की" और सारी सभा ने पूर्ति की "ज···· य"।

कुछ पलों तक एक अद्‌भुत उमंग का वातावरण छा गया। देवी विक्रमा और राजकुमारी सुकोमला की जय-जयकार निनादित होती रही। सभी मे एक नवीन उत्साह और उल्लास भर गया। राज-दम्पति भी इसके अपवाद न रहे। अभी भी राजकन्या अपने स्थान पर खडी थीं। उन्होंने गंभीर वाणी के साथ कथन पुनः आरम्भ किया–"महानुभावो ! हमने निश्चय किया है कि नर-द्वेष की दुष्प्रवृत्ति का त्याग हममें शाश्वत रूप से बना रहे और पुरुषों के प्रति सद्‌भाव से हम विमुख न हों। इस संकल्प के प्रतीक रूप में हमने अपनी सखी की प्रेरणा से यह भी निश्चय कर लिया है कि हम शीघ्र ही किसी योग्य पुरुष का पतिरूप मे वरण भी करेंगी और आदर्श विवाहित जीवन व्यतीत करेगी। हमें आशीर्वाद प्रदान कीजिये·· ·।" यह कहती हुई राजकन्या विनय से दोहरी-सी हो गयीं। उन्होने झुककर सभी को प्रणाम किया। माता-पिता के चरण स्पर्श को जव वे झुकी तो माँ ने उन्हें थाम लिया और वॉहों मे भरकर स्नेहपूर्वक उसके शीश पर कोमल करो से स्पर्श करती रहीं। तदनन्तर महारानी ने उन्हे उनके आसन पर विठा दिया। कुछ क्षणों तक एक असामान्य-सी स्थिति का आन्तरिक अनुभव उन्हें होता रहा। धीरे-धीरे वे सहज होने लगी। सभा-भवन अव भी हर्ष-ध्वनि से गूँज रहा था। सभी राजकन्या और विक्रमा के प्रशसक वन गये थे। उपस्थित जन परस्पर चर्चा करने लगे थे और एक मंद ध्वनि सभागार में व्याप्त हो गयी थी। तभी महाराज शालिवाहन ने हाथ उठाकर सभी को शान्त हो जाने का संकेतात्मक आदेश दिया और अपना कथन आरम्भ किया–

"आज हमारे जीवन का महानतम शुभ दिवस आया है, जब हमारी प्यारी बिटिया ने हमें परम सुख का अनुभव करा दिया है। एक नरेश और उनकी रानी अपनी नन्हीं-सी राजकुमारी को साथ लेकर एक मेले में गये थे। दुर्भाग्य से बिटिया मेले में कहीं बिछुड़ गयी। बहुत खोज करने पर भी उसका कहीं पता न चला। वह तो अकेली ही वन की राह पर चलती चली गयी और भटकती रही। राज-दम्पति बेचारे एकाकी और निराश हो गये, दुःखी हो गये। उस वन में उसे एक वन-कन्या मिल गयी जो उसे राजभवन ले आयी। राजा-रानी के प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। असीम आनन्द में वे निमग्न हो गये। आज हमें वैसा ही हर्ष अनुभव हो रहा है। जगत् के मेले में हमारी प्यारी बिटिया हमसे बिछुड़ गयी थी। उसके अभाव में हम जिस वेदना में जीवन बिता रहे थे—वह तो अनिर्वचनीय ही है। बिटिया हमारी वनों में भटकती रही .... अविचारों के सघन वन से निकालकर यह वन-कन्या हमारी बिटिया को आज हमारे पास ले आयी है।"—महाराज ने विक्रमा की ओर संकेत करते हुए कहा—"देवी विक्रमा की कृपा से आज हमें हमारी खोयी हुई प्यारी-सी बिटिया वर्षों पश्चात् पुनः मिल गयी है। राजकन्या ने उपयुक्त ही कथन किया था कि देवी विक्रमा उन्हें बाँह पकड़कर अँधेरे से उजाले में ले आयी। हम यह भी कहेंगे कि वे राजकन्या को वनों से निकालकर घर ले आयीं, उन्हें विचारों की उलझनों से मुक्त कर एक सुलझा हुआ जीवन दिया, उनमें एक नवीन दृष्टि का विकास किया है, देवी विक्रमा ने। हम देवी विक्रमा के इस अनुग्रह को हमारा सौभाग्य मानते हैं। हम ही नहीं सारा प्रतिष्ठानपुर राज्य देवी विक्रमा के प्रति आभारी है, कृतज्ञ है। अवन्ती की महान् गायिका हैं देवी विक्रमा, जिन्हें संगीत की सिद्धियाँ प्राप्त हैं। इस कला की महान् शक्तियों को उजागर करने की अपरिमित क्षमता इनमें है। यह लोकप्रिय महान् कलाकार हैं। इसके अतिरिक्त जो अन्य कला इनमें है वह हृदय-परिवर्तन की कला है। उसमें भी देवी विक्रमा पारंगत हैं। अपने सम्पर्क में आने वाले जनों के मानस को समझने का, उनकी समस्याओं का विश्लेषण करने का, उनका समाधान खोजने का जो अचूक प्रयास इनका रहा करता है वह वस्तुतः प्रशंसनीय है। हमें गर्व है कि प्रतिष्ठानपुर की राजकन्या के साथ इनका सम्पर्क हुआ और इन्होंने उनका कायापलट कर दिया। इसे ही हम हमारा पुत्री के साथ पुनर्मिलन कह रहे हैं। इस परिवर्तनकारी शक्ति की स्वामिनी देवी विक्रमा का हम अभिनन्दन करते हैं। कृतज्ञ राष्ट्र प्रतिष्ठानपुर देवी विक्रमा का राजकीय सम्मान करता है। उन्हें स्वर्ण पद्म भेंट कर हम राज्य के सर्वोच्च अलंकरण 'प्रतिष्ठानपुर-रत्न' से इन्हें विभूषित करते हैं।"—महाराज अपने आसन से उठे और स्वयं विक्रमा के समक्ष जाकर उसे स्वर्ण पद्म भेंट किया और तुमुल करतल ध्वनि के मध्य उन्होंने कहा—"देवी विक्रमा को सम्मानित कर सारा प्रतिष्ठानपुर गौरव का अनुभव करता है।" महाराज ने विक्रमा के मस्तक पर हाथ

रखकर आशिष दी। महारानी विजयादेवी ने विक्रमा को उत्तरीय ओढाया और मुक्ता-हार अपने हाथों से पहनाया। स्नेहपूर्वक महारानी ने विक्रमा को गले लगा लिया और विक्रमा कृतकृत्य हो उठी। सारा सभा-भवन देवी विक्रमा के जय-जयकार से गूँज उठा।

इसी समय विक्रमा ने कृतज्ञतापूर्वक राज-दम्पति के चरणों का श्रद्धापूर्वक स्पर्श किया। चरण-वन्दन के पश्चात् वह धीमे-धीमे, कोमलता के साथ उठ खडी हुई। अपने मुख-मण्डल पर कृतज्ञता और विनय की भावना को गहराते हुए उसने राज-दम्पति एवं उपस्थित जनों को सम्बोधित करते हुए अपनी सुरीली वाणी में कहा–

"आज मेरे जीवन का एक धन्य-दिवस आया है जब मुझे प्रतिष्ठानपुर की जनता और राज-परिवार का असीम और निर्मल स्नेह प्राप्त हुआ है। मै नहीं जानती कि जो सम्मान मुझे प्रदान किया गया–मैं उसकी कितनी पात्रता रखती हूँ, कदाचित् ऐसी कोई विशेषता मुझमें नहीं। मैं तो प्रत्युत्तर में अपने हृदय की कृतज्ञता ही व्यक्त करना चाहती हूँ। मैं आप सभी के मेरे प्रति इस सद्भाव के लिए अत्यन्त आभारी हूँ, मैं अनुगृहीत हूँ। मुझमें कोई महानता नहीं, मैंने तो अपने एक कर्त्तव्य का ही निर्वाह किया है। मैं तो अपनी संगीत-कला के प्रदर्शन हेतु ही देश-देशान्तर में विचरण करते-करते इधर प्रतिष्ठानपुर मे आ निकली थी। यह मात्र एक संयोग ही था कि मैं अगण्य-सी, तुच्छ-सी नारी राजकुमारी जी के सम्पर्क मे आ गयी। यही नहीं, उदारतापूर्वक इन्होंने मुझे अपनी सखी का स्थान दिया– मेरा मान, मेरा गौरव बढ़ाया। मैं उपकृत हुई। समय-समय पर हमारे मध्य विचार-विमर्श होते रहे। मुझे एक भ्रान्ति प्रतीत हुई–राजकुमारी जी के विचारों और आचरण में। मुझे लगा कि किसी असार-सी बात को लेकर राजकुमारी जी को रोष है और इस रोष के आवेश मे उन्होंने अपना व्यवहार क्रूर और निर्मम बना लिया है–वे नर-द्वेषिणी हो गयी। मैंने अनुभव किया कि यह नर-द्वेष विवेकशीलता का समर्थन नहीं रखता, मिथ्या आधार पर यह खडा है, फिर हिंसा–चाहे प्रतिहिंसा के रूप में ही क्यो न हो वह कभी औचित्यपूर्ण नहीं हो सकती; कोई भी तर्क उसे मानवीय व्यवहार सिद्ध नहीं कर सकता। मेरी मैत्री-भावना ने मुझे प्रेरित किया कि राजकुमारी जी के अनुचित मार्ग पर गतिशील होते रहने के क्रम को स्थगित करना चाहिये। यह स्वयं इनके अहित का मार्ग है– इनके अमंगल कर्मों ने इनके विगत भवों को तो दुःखमय बनाया ही; अब यदि अशुभ कर्मों को थामा न गया तो भवितव्य का संकट भी यथावत् बना रहेगा–यह बात जब मेरे हृदय मे आयी तो मैंने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। राजकुमारी जी के हृदय-परिवर्तन की साधना में लग गयी। यह मेरा सौभाग्य और राजकुमारी जी की नियति, उनके कर्मफल की गति है कि इस प्रयास में सफलता

अर्जित हो सकी। परिणाम आप सभी के सम्मुख है। मैं तो निमित्त मात्र रही हूँ अन्यथा मेरा अपना भला क्या सामर्थ्य है !"

विक्रमा का सारगर्भित, दीर्घ कथन सभी लोग मंत्र-मुग्ध से सुनते चले जा रहे थे। अपने कथन के अन्तिम अंश पर जब वह करबद्ध और नतशिर हो अविचल भाव से खड़ी रह गयी तो उसकी इस असीम विनय से प्रभावित उपस्थित जन-समुदाय प्रशंसासूचक ध्वनि कर बैठा। नम्रता की पराकाष्ठा तो देखिये-इतनी बड़ी सफलता का श्रेय भी यह महान् नारी स्वयं नहीं लेना चाहती। इसे भी यह राजकुमारी जी के प्रारब्ध के रूप में मानती है। वाह !.... वाह !! धन्य हो ! कुछ इस प्रकार के भावों से जन-ध्वनि ने सभागार के वातावरण को भर दिया।

इसी समय सखी विक्रमा ने अपना कथन पुनः आरम्भ किया-"इस हृदय-परिवर्तन की स्थिति में हमारी राजकुमारी जी के मन में अपने इस भव के पूर्व कृत्यों के लिए, अब तक के नर-द्वेष के लिए पश्चात्ताप का भाव भी है। अभी इन्होंने स्वयं ही अपने इन अशुभ कर्मों की आलोचना भी की। अपने दोषों को स्वीकार करना पर्याय रूप में भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति न करने के संकल्प की अभिव्यक्ति है। शुभाचरण का यह आदि सोपान है। इन्होंने अब नर-द्वेष को त्याग दिया है-सर्वथा त्याग दिया है। अब वे इस पथ से मुड़ गयी हैं। यह एक शुभ संकेत है-राजकुमारी जी के उत्कर्ष का, उनके भावी मंगल और सुख का।"

कुछ पलों के विरामोपरान्त सखी विक्रमा पुनः मुखरित हो उठीं-"एक महत्त्व की बात का निवेदन और करना चाहूँगी। पुरुषों के प्रति घृणा के भाव का उनके मन से सर्वथा तिरोहित हो जाना एक मांगलिक प्रवृत्ति है। वे इस प्रवृत्ति में संलग्न हो गयी हैं, इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि उन्होंने अव परिणय का मानस बना लिया है। मेरी प्रेरणा से इन्होंने इतना तो स्वीकार कर लिया है कि वे भी सामान्य नारी की भाँति विवाहित जीवन को अपनाएँगी, किन्तु इनका यह मंतव्य भी है कि वे किसी राजपुरुष का वरण नहीं करेंगी। इनके मन के किसी कोने में अभी कुछ आंशिक वैमनस्य छिपा हुआ है। कुछ ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु हमें इतने पर भी संतोष कर लेना चाहिये कि हमारी उदारमना राजकुमारी पुरुषों के सामान्य वर्ग से प्रीति करने लगी है। सुधार और उत्थान की प्रक्रिया तो कृत्रिम ही होती है। इसके सोपान एक साथ पार नहीं किये जा सकते हैं। एक सीढ़ी पर चढना आगामी सीढी पर आरोहण की भूमिका वनाता है। कालान्तर में इनके मन का राजपुरुषों के प्रति मालिन्य भी समापन पर आयेगा.... अवश्य आयेगा-मुझे इसका आन्तरिक विश्वास है। आज की स्थिति में ये किसी योग्य कलाकार को जीवन-साथी बनाने को तत्पर हैं। हमारे अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य के विषय में मैंने राजकुमारी जी से चर्चा की। वे तो महापुरुष हैं। न्यायशील और प्रजा-वत्सल शासक होने के साथ-साथ वे निपुण संगीतशास्त्री और कुशल गायक

हैं। मैं स्वयं आज जो कुछ भी हूँ वह हमारे महाराज का ही प्रसाद है। उनके शिष्यत्व में ही मैंने संगीत की यत्किंचित् साधना की है। महाराज विक्रमादित्य मनुष्यत्व की साकार प्रतिमा हैं। वे निश्छल स्नेही हैं, उदारमना और कोमल व्यवहारी हैं, मृदुभाषी हैं और जन-सेवी हैं। हमारे अतिशय विनम्र और करुणाशील महाराज के प्रति, किन्तु राजकुमारी जी ने कोई रुचि प्रदर्शित नही की। मेरे मत में तो अवन्ती-नरेश ही इनके लिए सर्वथा उपयुक्त, वरण योग्य पात्र हैं। वे नरेश भी हैं और कलाकार भी, किन्तु यदि इनका रुझान उस ओर नहीं है तो हमें भी इनके मनोभावों का आदर करना चाहिये और किसी प्रकार के पूर्वाग्रह या दुराग्रह से हमें ग्रस्त नहीं रहना चाहिये। राजकन्या के लिए राजपुरुष ही उपयुक्त पात्र रहता है—इस राज-मर्यादा का विस्मरण भी हम सभी के लिए मंगलकारी प्रतीत हो रहा है। मेरा महाराजश्री से विनम्र अनुरोध है कि राजकन्या को श्रीमानेश्वर कृपापूर्वक साधारण वर्ग के किसी अत्यन्त निष्णात संगीतज्ञ से विवाह कर लेने के निमित्त अनुमति प्रदान करें।'' इतना कहकर देवी विक्रमा राज-दम्पति की ओर करबद्ध मुद्रा में मुड़ी और उनके मुख निहारने लगी। गहन मनोमंथन से उबरते हुए महाराज शालिवाहन ने ऊर्ध्व ग्रीव होते हुए एक बार विक्रमा की ओर सस्मिति निहारा और फिर समग्र उपस्थिति की ओर दृष्टि प्रसारित कर स्थिर मन और गंभीर वचनों के साथ अपना कथन आरम्भ किया—

''देवी विक्रमा ! तुमने जो असम्भव कार्य सम्भव कर दिखाया उससे तुम्हारा बुद्धि-कौशल और विवेकशीलता स्वयं प्रमाणित और पुष्ट हो रही है। विवेकी जनो के मन्तव्य कभी असार नहीं होते, उनको न अपनाकर कोई अपनी हतभाग्यता का ही परिचय देता है। अच्छा तो यही होता कि हमारी राजकुमारी का परिणय किसी उच्च राजघराने में ही होता, किन्तु हमारी प्यारी बिटिया का जब मानस इसके पक्ष में नहीं है और देवी विक्रमा भी इसकी अभिशंसा करती हैं कि साधारण वर्ग के योग्य कलाकार के साथ परिणय की अनुमति राजकन्या को दे दी जाय तो सारी परिस्थिति पर सम्यक् रूप से विचार कर लेने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि इस प्रकार की अनुमति दिये जाने में कोई आपत्ति होनी नहीं चाहिये। हमारी बिटिया की प्रसन्नता के साथ ही जुड़ी हुई है—हमारी, सारे राज-परिवार की प्रतिष्ठानपुर की प्रसन्नता। हम सहर्ष इसकी अनुमति देते हैं।''

राजकुमारी सुकोमला तो उछल पड़ने को हुई। उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अपने को नियंत्रित किया। उनका हृदय फिर भी मानो बल्लियों उछलने लगा। महारानी विजयादेवी बड़ी देर से साँस थामे बैठी निर्णय की प्रतीक्षा कर रही थीं—उन्होंने संतोष की साँस ली। उनके अधरों पर मुस्कान थिरक उठी। विक्रमा को तो जैसे आकाश-कुसुम ही प्राप्त हो गया। आन्तरिक प्रसन्नता से उनके नेत्र [illegible] उठे और उनमें अद्भुत दीप्ति आ गयी। सभागार तो जैसे हर्षोल्लास [illegible]

सागर ही हो गया। सभी ओर प्रसन्नता लहराने लगी। महाराजश्री शालिवाहन, राजकुमारी सुकोमला और देवी विक्रमा के जय-जयकार से सारा आगार गूँज उठा। सभी के मन-मयूर नाच उठे। हल्का-सा कोलाहल छा गया था। इसी बीच विक्रमा ने कुछ निवेदन करना चाहा और महाराजश्री ने हाथ के संकेत से सभी को शान्त किया।

देवी विक्रमा ने अपना कथन आरम्भ किया—"श्रीमानेश्वर के इस उदारतापूर्ण निर्णय के लिए मैं आपश्री के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ और अनुगृहीत हूँ। मेरा विश्वास है कि आज एक भला निर्णय लिया गया है जिसके सुफल सभी के लिए सुखद और आनन्दप्रद होंगे। अनुमति प्रदान करते हुए भी महाराजश्री ने अपनी आन्तरिक इच्छा की झलक अवश्य दी है—आप मानते हैं कि परिणय सम्बन्ध यदि किसी राजघराने में होता तो अच्छा होता। ऐसी इच्छा का होना अस्वाभाविक नहीं है और प्रारब्ध को किसने देखा है ⋯! सम्भव है जिस साधारण व्यक्ति का वरण पतिरूप में हमारी राजकुमारी करें वह कभी कहीं का शासक ही बन जाय! निर्मल मन में उदित सहज भाव अवश्य ही घटित होते हैं। जो घटनीय होता है, निश्छल मन में वही मनोभाव के रूप में उद्भवित होता है। असम्भव और अघटनीय तो सहज मनोभाव बन ही नहीं पाता। सुख का मार्ग यही है कि जो कुछ स्वतः होता चला जा रहा है, उसे होते रहने दें—यदि उसमें कुछ अशुभ लगे तो उसे सुधारते चलें। अन्तिम परिणाम मनोनुकूल ही होगा।" किंचित् मुस्कराते हुए विक्रमा ने अपनी बात को अग्रसर करते हुए कहा—"एकाधिक बार राजकुमारी जी ने मुझसे कहा है कि यदि मैं पुरुष होती तो मेरे साथ ही वे विवाह रचा लेतीं।" मुस्कराती हुई लज्जावनत राजकन्या की ओर निहारते हुए विक्रमा बोली—"यह उनका संगीत-प्रेम बोल रहा था। वे स्वयं संगीत की अचल साधिका हैं—संगीतज्ञ को जीवन-साथी बना लेने की आन्तरिक प्रेरणा उनके लिए स्वाभाविक ही है। सम्भव है जिस किसी कलाकार का वरण वे करें—उस कलाकार में इन्हें कहीं मेरी छवि भी दिखायी दे। मैं ही पुरुष-वेश में राजकुमारी जी को ले जाऊँ और अन्ततः मैं ही अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य निकलूँ—क्या ऐसा भी हो सकता है?" विक्रमा ने विनोद के स्वर में कहा और स्वयं ही जोर से हँस पड़ी। सारी सभा ठठाकर हँस पडी। महाराज और महारानी भी अपवाद न कर सके। अपनी हँसी को बीच ही में रोकते हुए महाराजश्री ने विक्रमा को सम्बोधित करते हुए कहा—"तुम्हारी बात को तो हमने स्वीकार कर लिया, विक्रमे! किन्तु हमें ऐसा योग्य संगीतकार मिलेगा कहाँ? कैसे और कहाँ खोजेंगे हम उसे?"

"हमें खोजना न पड़ेगा, श्रीमानेश्वर! योग्य पात्र स्वयं हमारे पास आयेगा।"

"ऐसा ⋯।" आश्चर्य व्यक्त करते हुए महाराज ने पूछा—"ऐसा होगा कैसे?"

विक्रमा ने विचारशीलता की मुद्रा में कहा—"केवल एक राजकीय घोषणा करवानी होगी कि जो गायक राग-मंजरी अथवा राग मालकोष की आराधना कर उस राग के प्रभावों को प्रदर्शित करने में सफल रहेगा—उसके साथ प्रतिष्ठानपुर की राजकन्या सुकोमला देवी का परिणय करा दिया जायेगा। गायक के लिए जाति, वर्ण या सामाजिक ऊँच-नीच जैसा कोई प्रतिबंध नहीं रहेगा। हाँ, किसी राज-परिवार का सदस्य, राजा या राजकुमार अपने भाग्य की परीक्षा नहीं कर सकेगा।" एक क्षण का विराम लेकर विक्रमा ने कहा—"बस, इतना भर करना होगा। जैसे पतंगे दीपक के समीप स्वयं खिंचे चले आते हैं, वैसे ही संगीतकार दौड़े चले आएँगे और उनमें से कोई एक वरण-योग्य कलाकार भी निकल आएगा।"

"हाँ ···· ऐसा तो किया जा सकता है ····।" महाराजश्री ने चिन्तन की भंगिमा के साथ कहा—"···· यही किया जाना चाहिये—ऐसा ही होगा—विक्रमे !··· ऐसा ही होगा।"

विक्रमा ने तब पुनः कथनारंभ किया—"मैंने श्रीमानेश्वर ! अपना कर्त्तव्य पूर्ण कर लिया है, मेरी भूमिका पूरी हुई। अब मैं स्वदेश लौटने की अनुमति चाहती हूँ, महाराज ! अब मुझे जाना ही होगा ···· बहुत समय हो गया है प्रवास का। अब अवन्ती को भी मेरी आवश्यकता है। अनेक संदेश भी आये है। अब मैं उनकी अनसुनी नहीं कर सकती ··· मुझे नहीं करनी चाहिये। मैं विदा चाहती हूँ।" मस्तक झुकाकर उसने हाथ जोड लिये।

"अरी बिटिया, विक्रमे ! क्या कुछ दिन और नहीं रुक सकोगी तुम ? जो योजना तुमने बनाई उसे पूर्ण भी तो कर लेतीं।" महारानी ने कोमल वाणी में अनुरोध किया।

"मातेश्वरी ! आपके वचन मेरे सिर-आँखों पर, किन्तु अब रुकना सम्भव न होगा। आवश्यकता भी मेरी—ऐसी कोई रहेगी नहीं। सब-कुछ स्वतः घटित होता चला जायेगा। चिन्ता का कोई विषय नहीं है। मुझे विश्वास है कि योजना अवश्य सफल होगी और सबको संतोष होगा। हाँ, मैं यह अवश्य चाहती हूँ कि राजकुमारी जी के विवाह के अवसर पर मुझे भी स्मरण किया जाय। मैं सभी अनिवार्यताओं को भी छोड दूँगी और प्रतिष्ठानपुर अवश्य आऊँगी।"

"आना ही होगा, विक्रमे !···· तुम्हें आना पड़ेगा ···।" महाराज ने स्नेहपूर्वक कहा—"··· तुम्हारे आये बिना तो राजकुमारी का विवाह सम्भव ही कैसे होगा ?" महाराज ने तो ये शब्द सहज रूप में ही कहे थे, किन्तु [illegible] विक्रमादित्य के मानस-पटल पर एक स्वप्न साकार होकर उभर उठा—वे [illegible] में [illegible] में बैठे हैं और उनके साथ बैठी हैं वधू रूप में राजकुमारी सुकोमला ··· [illegible] के अंतिम [illegible] ने उनका स्वप्न भंग कर दिया—"···· [illegible]

प्रतीत होता है कि देवी विक्रमा कलाकारों द्वारा संगीत-कला के प्रदर्शन के क्रम में भी उपस्थित रहेंगी। उनका हमारी बिटिया के साथ आत्मा-आत्मा का सम्बन्ध जो हो गया है····।" महाराज के कथन-मध्य ही विक्रमा स्व-प्रेरित-सी बोल उठी—"यह आपका कथन सर्वथा सत्य है, श्रीमानेश्वर ! हम दोनों सखियों का संबंध आत्मा-आत्मा का ही संबंध है। यह संबंध तो शाश्वत है···· अमर है···· आजीवन अस्तित्व में रहता है। हम दोनों भी जीवनभर साथ ही रहेंगे—मुझे तो ऐसा आन्तरिक विश्वास है। यह तो जीवन का क्रम है महाराज—संयोग और वियोग चलता ही रहता है। मेरा मिलन राजकुमारी जी से हुआ···· अब विदा होना होगा, किन्तु यह वियोग भी पुनर्मिलन का ही स्रोत रहेगा। जो बिछुड़ेंगे उन्हीं को तो पुनर्मिलन का उल्लास सुलभ होगा। अब मुझे अनुमति प्रदान कीजिये।"

"जाओ···· बेटी ! सुखी रहो !!" महारानी श्रीदेवी ने भावाकुलता के साथ आशीर्वाद दिया। महाराज ने विक्रमा के शीश को कोमलता के साथ स्पर्श किया। राजकन्या सुकोमला का मन भी भावावेष्टित हो गया था। उनके नेत्र आर्द्र हो गये। स्व-प्रेरणा से वे आसन त्यागकर उठीं और अपने कंठ का मुक्ता-हार उतारकर विक्रमा के कंठ में धारण करा दिया और बाँहें पसारकर उसे आलिंगनबद्ध करने को आगे बढ़ीं। ये क्षण विक्रमारूपी विक्रमादित्य के लिए असाधारण-से थे, किन्तु वे मर्यादावश स्वयं नियंत्रित होना अनिवार्य मानने लगे। विक्रमा ने भी अपनी दोनों बाँहें फैलायीं और दोनों सखियों के दोनों-दोनों हाथ परस्पर मिले, उँगलियाँ परस्पर गुँथ गयीं और चारों हाथ ऊपर को उठ गये। सर्वत्र उल्लास की वर्षा होने लगी। उठी हुई बाँहों ने एक तोरण द्वार निर्मित कर दिया था जिसके नीचे दो सखियाँ उत्फुल्ल मन और आर्द्र नयन लिये खड़ी थीं। यह अपूर्व दृश्य सभी में उत्साह भरने लगा। राजकन्या ने उपस्थित जनों को भोजन की मनुहार की और सभी ने भोजन-कक्ष के लिए प्रस्थान किया।

● ●

मनोभावों के सौन्दर्य से ही मनुष्य वाह्य सौन्दर्य एवं सुहावनेपन से सम्पन्न होता है। भीतर का सौम्य ही मुखाकृति पर प्रतिविम्बित होकर साधारण-से प्रतीत होने वालों को भी सुन्दर वना देता है। राजकुमारी सुकोमला तो जन्म से ही सुन्दर थीं। मनोभावों की रुचिरता ने अलंकारों का प्रयोजन पूर्ण किया। उनकी नैसर्गिक सुषमा और अधिक खिल उठी। क्या तो वे थीं और क्या अव वे हो गयी थीं। यह परिवर्तन उनके विचारों में ही नहीं आचरण में भी स्पष्ट झलकने लगा था। पहले

उन्हे केवल लताएँ प्रिय थीं, अव वृक्ष भी उन्हें प्रिय लगने लगे। कलियों के साथ-साथ पुष्प भी और तड़ित के साथ-साथ मेघ भी उनकी प्रीति के पात्र हो गये थे। सरिता ही नहीं अव झरनों के प्रति भी उनके प्रेम का भाव उमड़ने लगा। सचमुच उनकी कायापलट का प्रभाव उनके समग्र व्यवहार को प्रभावित कर चुका था। अब वे एकान्तवासिनी भी नहीं रहीं। वे राजभवन में अपने माता-पिता और अन्य परिजनों के सान्निध्य में रहने लगी थीं। अपने नामानुरूप वे अन्तर-वाह्य सुकोमलता से युक्त, सुकौमार्य से सम्पन्न एक उदार, मृदुल और गौरवशालिनी राजकन्या हो गयी थीं। आन्तरिक कालुष्य के धुल जाने से उनके मुख पर एक अपूर्व दीप्ति झलकने लगी थी। राजभवन के विविध वर्गो के पुरुषो के साथ उनके व्यवहार में एक विशिष्ट कोमलता मिश्रित हो गयी थी। कठोरता और क्रूरता का अवशेष भी कहीं दृष्टिगत नही होता था। ऐसा प्रतीत होता था कि ग्रहण से मुक्त हो चन्द्रमा ने पूर्णिमा की पूर्ण आभा प्राप्त कर ली हो और सभी के लिए शीतलता, सुख और नयनाभिराम आलोक प्रसारित कर रहा था। वे सुधाकर हो उठी थीं।

अपने इस नवीन रूप की धन्यता से वे गदगद हो उठती थीं और एकान्त में वे वैठी प्रहरों तक विचार-मग्न रह जाती थी। कभी-कभी तो स्वजन-परिजनों के मध्य वैठी हुई भी वे उनसे सर्वथा निरपेक्ष होकर एकाकी हो जातीं। अन्तर्लीन होकर विचारों मे खो जातीं। अन्य जनों को प्रयत्नपूर्वक ही उन्हें अपने में पुनः सम्मिलित करना पड़ता था। उन्हें प्रतिपल सखी विक्रमा का अभाव मन-ही-मन खटकता था—'आहा ! कैसी प्यारी सखी है ! काश ! ···· वह जीवनभर हमारे साथ रहती। अरे हाँ ···· वह तो कहा करती थी निर्मल मन मे जो भावना या कामना उदित होती है वह अवश्य पूर्ण हो जाती है। सम्भव है मेरी वह कामना भी पूर्ण हो जाय। वह जीवनभर मेरे साथ रहे ···· क्या यह असम्भव है ! नहीं ···· नही ···· असम्भव तो कुछ भी नहीं है। जिसने मेरे जीवन का इतना शुभ किया, भावी मंगल के लिए वह और भी कुछ कर सकती है। उसके लिए कुछ भी तो अकरणीय नहीं, वह सर्वसामर्थ्यशाला है। उसका कल्याण हो उसकी प्रत्येक मनोकामना पूर्ण हो ···· उसे भी मनचाहा जीवन-साथी मिले ····।'

राजभवन के खुले उद्यान मे एक वृक्ष-तले बैठी राजकन्या सुकोमला विचार-सागर मे डूबती-उतरती चली जा रही थी। जीवन-साथी के इस प्रसंग ने उनकी चिन्तनधारा को एक नवीन मोड़ दे दिया। उन्हें एक अज्ञात भय कम्पित करने लगा। भावी अनिश्चय का भय यह था—न जाने कैसा वर मेरे भाग्य होगा ! उसकी मनोवृत्तियाँ कैसी और हमारे अनुराग का कितना प्रतिदान उससे सम्भव होगा ! हमें और ···· और कुछ भी नहीं चाहिये—मात्र प्रेम ···· निश्छल प्रेम ···· असीम प्रेम ···· अनन्य प्रेम की ही आकांक्षा है हमें। वह [illegible] से सुन्दर ····

अतिसुन्दर हो, विवेकवान जीवन-सहचर हो.... वह.... वह कोमल, मधुर और कमनीय हो। हम परस्पर समर्पित होकर प्रेममय जीवन व्यतीत कर सकें। यही.... मात्र यही हमारी सीमित-सी मनोकामना है! इसीलिए हमने संगीत-कला के निष्णात साधक को अपना वर चुनने का निश्चय किया है। कलाकार है तो वह अवश्य ही इन गुणों का धारक भी होगा। नरेश.... युवराज आदि में तो अहम् रहता है, सत्ता का मद उन्हें कोमल नहीं रहने देता। कुछ कठोरता आ ही जाती है। फिर, अनन्यता का भाव भी उनमें अक्षुण्ण रूप में नहीं रह पाता। वे समय आने पर उपेक्षा भी कर सकते हैं।.... हाँ, एक राजा की चर्चा अवश्य ही की थी विक्रमा ने.... अवन्तीपति महाराज विक्रमादित्य की।

यह बिन्दु आते ही राजकन्या अतिशय भावुक हो उठी। उनके भावों मे अतिरिक्त नरमी और औदार्य प्रविष्ट हो गया। वे सोचने लगीं–'अवन्ती-नरेश के विषय में विक्रमा के मन.में बड़ी ही ऊँची प्रशंसा का भाव था। कहती थी कि वे बडे उदार, न्यायशील और करुणाशील शासक हैं.... फिर वे उच्च्य कोटि के कलाकार भी हैं। विक्रमा तो उनकी ही शिष्या है। जब शिष्या इतनी निपुण है तो गुरु....। सम्भव है विक्रमादित्य शासक होते हुए भी अन्य शासकों से भिन्न हों। विक्रमा-जैसी बुद्धिमती और विवेकवती के निष्कर्ष आधारहीन और संदेह-योग्य नहीं हो सकते। किन्तु.... अब तो समय ही निकल गया। अब उन सारी बातों का क्या....! सुना है जब से पिता महाराज ने घोषणा कराई है प्रतिष्ठानपुर में गायकों, संगीतज्ञों का तॉता लगा हुआ है। प्रतिदिन अनेक कलाकार नगर मे पहुॅच रहे हैं। अभी निश्चित तिथि तो कुछ दूर है। तब तक अन्य कुछ कलाकार और भी आ सकते है। इन्हीं में से कोई हमारे स्वप्नों का राजकुमार...., नहीं.... नहीं... स्वप्नो का प्रियतम भी होगा।'

सहसा यह विचार आते ही राजकन्या की पलके झुक गयीं। वे मुस्करा उठी और लज्जावनत होकर उस एकान्त में भी इस मनोभाव पर कुछ संकुचित हो उठीं। वडी सहजता के साथ उन्होंने अपना ओष्ट दॉतों तले ले लिया मानो मुस्कराहट चवायी जा रही हो। इसी समय परिचारिका ने मातुश्री का संदेश दिया.... वे उठी। वृक्ष से झरे कुछ पुष्प उनकी साटिका से फिसलकर भूतल पर आ गये। वडी कोमलता से झुककर उन्होंने एक पुष्प उठा लिया और अपनी मृदुल उँगलियो मे थामकर उसे चक्रित करने लगीं। उनके मदिर नयन चक्रित पुष्प को निहारने लगे। कुछ पलों तक यह क्रम चलता रहा और तव राजकन्या मातुश्री का सान्निध्य पाने के लिए चल पडीं। मंद गति से राजभवन की ओर अग्रसर होती राजकन्या वडी सुन्दर लग रही थीं। उद्यान में पक्षियों की चहचहाहट अभिवर्धित होने लगी थी। पश्चिम दिशा में अरुणिमा व्याप्त हो गयी थी।

प्रतिष्ठानपुर की एक स्वच्छ पंथशाला के विस्तृत प्रांगण में वासती प्रभात की पीली धूप बिछी हुई थी। मंद पवन में शीतलता सामान्य से कुछ अधिक ही थी। पंथशाला के लघु से उद्यान में भाँति-भाँति के पुष्प खिले थे। पवन उनकी संगन्ध से सुरभित हो उठी थी। सरसों की पीले फूलों की छडियाँ मदोन्मत्त-सी झूम रही थीं और तितलियाँ फूल-फूल पर थिरककर मानो सगर्व यह व्यक्त कर रही थीं कि देखो तुम्हारा रंग तो एक ही है ···· हमारे रंगों का कहना ही क्या है ···· है तुम्हारे पास ऐसे विविध वर्ण ! उस महान् कलाकार ने कैसी अनुपम चित्रकारी की है हमारे पंखो पर ! भ्रमरो की गुँजार मधुरता विखरा रही थी। तभी एक कोने के आम्र-तरु पर सहसा कोकिल कूक उठी। अपनी अधखुली-सी आँखों से इस प्राकृतिक शोभा को भावभग्नता के साथ निहारता एक सुन्दर युवक प्रांगण मे आ खडा हुआ। इस मादक वातावरण ने उसे मंत्र-मुग्ध-सा कर दिया था। अचंचल सा वह वहीं खडा रह गया।

"कौन हो भाई ? ···· क्या चाहते हो ····?" पंथशाला के प्रबंधक की वाणी ने युवा का ध्यान भंग किया। वह सतर्क होते हुए सहसा मुस्करा उठा और वयोवृद्ध प्रबंधक को सादर प्रणाम करते हुए उनकी ओर बढा। प्रबंधक का कार्यालय एक खुले दालान में ही था। समीप पहुँचकर युवा पथिक ने विनयपूर्वक कहा–

– "बाबा ! मैं एक परदेसी पथिक हूँ।"

– "यो तो ज्ञात ही हो रहा है कि परदेसी हो, पर आप आ कहाँ से रहे हैं ?"

– "मैं अवन्ती का निवासी हूँ। प्रतिष्ठानपुर की चर्चाएँ बहुत सुनी थीं। चला आया हूँ यहाँ की ···।"

"सो तो ठीक है, भाई ! पर अपना परिचय भी तो दो–नाम क्या है [illegible] तक रुकोगे, क्या अकेले ही हो ···· करते क्या हो ····?"

– "बताऊँगा, बाबा ! सब-कुछ बताऊँगा। विजयादित्य मेरा नाम है। [illegible] और संगीत की साधना करता हूँ। कुछ ही समय प्रतिष्ठानपुर में [illegible] पंथशाला में आश्रय चाहता हूँ। इसी के लिए विनती है।" [illegible] करबद्ध प्रणाम करते हुए शीश झुका दिया।

प्रबंधक को इस विनयशीलता ने बहुत प्रभावित किया। [illegible] बोले–"मिलेगा ···· स्थान अवश्य मिलेगा, पथिक ! प्रवासियों [illegible] तो पंथशाला है [illegible]। चलो आपको आवास कक्ष में पहुँचा दूँ।" [illegible] प्रबंधक अपने आसन से उठा और [illegible] चला। विजयादित्य ने अनुसरण किया। [illegible]
[illegible]
[illegible]

अतिसुन्दर हो, विवेकवान जीवन-सहचर हो.... वह.... वह कोमल, मधुर और कमनीय हो। हम परस्पर समर्पित होकर प्रेममय जीवन व्यतीत कर सकें। यही.... मात्र यही हमारी सीमित-सी मनोकामना है! इसीलिए हमने संगीत-कला के निष्णात साधक को अपना वर चुनने का निश्चय किया है। कलाकार है तो वह अवश्य ही इन गुणों का धारक भी होगा। नरेश.... युवराज आदि में तो अहम् रहता है, सत्ता का मद उन्हें कोमल नहीं रहने देता। कुछ कठोरता आ ही जाती है। फिर, अनन्यता का भाव भी उनमें अक्षुण्ण रूप में नहीं रह पाता। वे समय आने पर उपेक्षा भी कर सकते हैं।.... हॉ, एक राजा की चर्चा अवश्य ही की थी विक्रमा ने.... अवन्तीपति महाराज विक्रमादित्य की।

यह बिन्दु आते ही राजकन्या अतिशय भावुक हो उठीं। उनके भावों मे अतिरिक्त नरमी और औदार्य प्रविष्ट हो गया। वे सोचने लगीं—'अवन्ती-नरेश के विषय में विक्रमा के मन.में बड़ी ही ऊँची प्रशंसा का भाव था। कहती थी कि वे बड़े उदार, न्यायशील और करुणाशील शासक हैं.... फिर वे उच्च कोटि के कलाकार भी हैं। विक्रमा तो उनकी ही शिष्या है। जब शिष्या इतनी निपुण है तो गुरु....। सम्भव है विक्रमादित्य शासक होते हुए भी अन्य शासकों से भिन्न हों। विक्रमा-जैसी बुद्धिमती और विवेकवती के निष्कर्ष आधारहीन और संदेह-योग्य नहीं हो सकते। किन्तु.... अब तो समय ही निकल गया। अब उन सारी बातो का क्या....! सुना है जब से पिता महाराज ने घोषणा कराई है प्रतिष्ठानपुर मे गायकों, संगीतज्ञों का तॉता लगा हुआ है। प्रतिदिन अनेक कलाकार नगर मे पहुँच रहे हैं। अभी निश्चित तिथि तो कुछ दूर है। तब तक अन्य कुछ कलाकार और भी आ सकते हैं। इन्हीं में से कोई हमारे स्वप्नों का राजकुमार...., नहीं.... नही... स्वप्नों का प्रियतम भी होगा।'

सहसा यह विचार आते ही राजकन्या की पलके झुक गयीं। वे मुस्करा उठीं और लज्जावनत होकर उस एकान्त में भी इस मनोभाव पर कुछ संकुचित हो उठीं। वड़ी सहजता के साथ उन्होंने अपना ओष्ट दॉतों तले ले लिया मानो मुस्कराहट चवायी जा रही हो। इसी समय परिचारिका ने मातुश्री का संदेश दिया.... वे उठीं। वृक्ष से झरे कुछ पुष्प उनकी साटिका से फिसलकर भूतल पर आ गये। वडी कोमलता से झुककर उन्होंने एक पुष्प उठा लिया और अपनी मृदुल ऊँगलियो मे थामकर उसे चक्रित करने लगी। उनके मदिर नयन चक्रित पुष्प को निहारने लगे। कुछ पलों तक यह क्रम चलता रहा और तव राजकन्या मातुश्री का सान्निध्य पाने के लिए चल पडीं। मंद गति से राजभवन की ओर अग्रसर होती राजकन्या वडी सुन्दर लग रही थीं। उद्यान में पक्षियो की चहचहाहट अभिवर्धित होने लगी थी। पश्चिम दिशा में अरुणिमा व्याप्त हो गयी थी।

× × ×

प्रतिष्ठानपुर की एक स्वच्छ पंथशाला के विस्तृत प्रांगण में वासंती प्रभात की पीली धूप बिछी हुई थी। मंद पवन में शीतलता सामान्य से कुछ अधिक ही थी। पंथशाला के लघु से उद्यान में भाँति-भाँति के पुष्प खिले थे। पवन उनकी संगति से सुरभित हो उठी थी। सरसों की पीले फूलों की छड़ियाँ मदोन्मत्त-सी झूम रही थी और तितलियाँ फूल-फूल पर थिरककर मानो सगर्व यह व्यक्त कर रही थी कि देखो तुम्हारा रंग तो एक ही है ···· हमारे रंगो का कहना ही क्या है ···· है तुम्हारे पास ऐसे विविध वर्ण ! उस महान् कलाकार ने कैसी अनुपम चित्रकारी की है हमारे पंखों पर ! भ्रमरों की गुँजार मधुरता बिखरा रही थी। तभी एक कोने के आम्र-तरु पर सहसा कोकिल कूक उठी। अपनी अधखुली-सी आँखों से इस प्राकृतिक शोभा को भावभग्नता के साथ निहारता एक सुन्दर युवक प्रांगण मे आ खड़ा हुआ। इस मादक वातावरण ने उसे मत्र-मुग्ध-सा कर दिया था। अचंचल-सा वह वहीं खडा रह गया।

"कौन हो भाई? ···· क्या चाहते हो ····?" पंथशाला के प्रवधक की वाणी ने युवा का ध्यान भंग किया। वह सतर्क होते हुए सहसा मुस्करा उठा और वयोवृद्ध प्रवधक को सादर प्रणाम करते हुए उनकी ओर वढा। प्रवंधक का कार्यालय एक खुले दालान में ही था। समीप पहुँचकर युवा पथिक ने विनयपूर्वक कहा–

– "वावा ! मैं एक परदेसी पथिक हूँ।"

– "यो तो ज्ञात ही हो रहा है कि परदेसी हो, पर आप आ कहाँ से रहे है?"

– "मैं अवन्ती का निवासी हूँ। प्रतिष्ठानपुर की चर्चाएँ वहुत सुनी थीं। चला आया हूँ यहाँ की ····।"

– "सो तो ठीक है, भाई ! पर अपना परिचय भी तो दो–नाम क्या है? कव तक रुकोगे? क्या अकेले ही हो ···· करते क्या हो ····?"

– "वताऊँगा, वावा ! सव-कुछ वताऊँगा। विजयादित्य मेरा नाम है। मै क्षत्रिय हूँ और संगीत की साधना करता हूँ। कुछ ही समय प्रतिष्ठानपुर में रहूँगा–आपकी पंथशाला मे आश्रय चाहता हूँ। उसी के लिए विनती है।" युवक ने पुनः करवद्ध प्रणाम करते हुए शीश झुका दिया।

प्रवंधक को इस विनयशीलता ने वहुत प्रभावित किया। आश्वस्त होते हुए कहा–"मिलेगा ···· स्थान अवश्य मिलेगा, पथिक ! प्रवासियों की सेवा के लिए ही तो पंथशाला है यह। चलो, आपको आपके कक्ष मे पहुँचा दूँ।" यह कहते हुए वृद्ध प्रवंधक अपने आसन से उठा और पदत्राण धारण करते हुए पंथशाला के भीतर चला। विजयादित्य ने अनुसरण किया। दो चरण चलकर ही प्रवधक रुका, मुड़कर विजयादित्य से पूछा–"क्या वह अकेला है।" विजयादित्य ने भी उत्तर में व्यक्त किया–"वह अकेला नही है। उसका एक साथी रविमित्र भी उसके साथ है। अभी

कहीं गया है—आता ही होगा।" आश्वस्त होकर प्रबंधक पुनः आगे बढ़ गया और एक कक्ष के कपाट खोलकर पथिक को भीतर ले गया। बड़ा-सा कक्ष, जल-भरा कलश, स्वच्छ दो शय्याएँ, सामने की भित्ति में एक वातायन और एक द्वार जो पिछले उद्यान में पहुँचाता। द्वार के समीप ही भित्ति पर एक विशाल दर्पण लगा हुआ। प्रबन्धक बोला—"भैया ! यह पंथशाला है तो बड़ी साधारण, किन्तु स्वच्छता और पवित्रता, शान्ति और सात्विकता ही हमारी विशेषताएँ हैं। हमारे यहाँ विश्राम करने वाले प्रवासी नहीं, हमारे लिए अतिथि हैं और अतिथि तो हमारे लिए देवता-समान होते हैं। अतिथियों की सेवा में ही हमारा संतोष है, उसी में हमारी सफलता है। विश्राम करो, भैया ! मालव-देश से आये हो ··· अहा ···· हा ! कैसे सुन्दर और महान् देश के गायक कलाकार हो। तुम्हारी सेवा का अवसर पाकर तो हम धन्य हो गये, भैया ! संकोच न करना—जो भी आवश्यकता हो हमें बता देना। व्यवस्था हो जायेगी।"

"धन्यवाद, बाबा ! बहुत प्रसन्नता हुई आपसे मिलकर। अभी तो हम प्रतिष्ठानपुर के पहले नागरिक अर्थात् आपके ही सम्पर्क में आये हैं। आप कितने सहृदय हैं—कितने मृदुल व्यवहारी और सेवाभावी हैं। आप—जैसे निवासियों से ही प्रतिष्ठानपुर धन्य हो गया है।" काँधे से वीणा उतारकर एक कोने में स्थापित करते हुए विजयादित्य ने अपने लम्बे केशों पर हाथ फिराकर उन्हें व्यवस्थित करते हुए दर्पण में झाँक लिया और प्रबन्धक की ओर उन्मुख होते हुए कहा—"आश्चर्य है, बाबा ! ऐसे संस्कारशील और शालीन राज्य की राजकुमारी कैसी कठोर और क्रूर व्यवहारी रहीं !"

"ये सब कर्मों की गति है, भैया ! अब और क्या कहा जाय। भयंकर नर-द्वेष से वे ऐसी घिरी रहीं कि पुरुष की प्रतिच्छाया से भी उनके मन में घृणा भड़क उठती और कोई पुरुष भूल से भी उनके एकान्त आवास तक पहुँच जाता तो वे उसका वध करवा देती थीं। भला हो तुम्हारे मालव-देश का ···· वहीं की कोई गायिका आयी थी—कुछ समय पूर्व। उसने राजकन्या का हृदय-परिवर्तन कर दिया। अब वे वैसी नहीं रहीं। प्रचण्ड दुष्प्रवृत्ति से उनका उद्धार करने वाली वह गायिका मालवपति विक्रमादित्य महाराज की शिष्या थी। अब तो हमारे यहाँ की राजकन्या विवाह कर लेने को भी सहमत हो गयी हैं। किसी योग्य संगीतज्ञ से वे ···· । अरे भैया ! तुम भी तो गायक हो ···· क्यों नहीं ···।"

"अरे बाबा ! हम गायक अवश्य हैं, किन्तु हमारी साधना अभी मार्ग में ही है—पहुँचे हुए कलाकार को ही यह सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा न ····। मैं भला ····।"

"अरे भैया ! ···· सुनो, भाग्य को किसने देखा है। यह भाग्य ही है जो राजा को रंक और रंक को राजा बना देने में विलम्ब नहीं करता।"

"भाग्य.... भाग्य नहीं, बाबा ! कर्मफल.... कर्मफल कहिये। इसी से नियति गठित होती है और मनुष्य का उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद प्राप्त होता रहता है।"

ईषत् मुस्कराते हुए प्रबन्धक ने कहा–"तुम ऐसा कह लो.... ऐसा भी माना जा सकता है....।" और वह कक्ष से बाहर हो गया।

आसन पर बैठे-बैठे ही विजयादित्य की दृष्टि सामने के दर्पण की ओर गयी और वे अपनी ही सजधज पर मुग्ध हो गये। अपने रूपाधिक्य पर मोहित होते हुए वे अनियंत्रित से कह उठे–"अरे वाह ! तुम तो वास्तव में कलाकार बन बैठे हो। उन्नत भाल पर एक लम्बा-पतला तिलक; घुँघराले, लम्बे, श्याम केश; पीतवर्णी कुर्त्ता और श्वेत अधोवस्त्र। विशाल, कान्तिपूर्ण नयन और पतली, लम्बी, वक्र भौंहें। छोटी-छोटी मूछों और अरुण अधरोष्ठ से तो प्रभावशीलता और भी बढ़ गयी थी। मुख-मण्डल पर छायी यौवन की आभा में कला और शौर्य का समन्वित स्वरूप निहित था। छरहरा तन और सामान्य से कुछ अधिक ऊँचाई। विजयादित्य को अनुभव होने लगा कि प्रभावशाली व्यक्तित्व वैभवशाली साधनों और अलंकरणों का आश्रित नहीं होता। उन्होंने अपने कण्ठ में पड़ी साधारण-सी काले मनकों की माला का एक मनका अपनी लम्बी, पतली उँगलियो-में घुमाने लगे। कॉधे पर पड़ा सिमटा हुआ उत्तरीय उन्होंने फिर से व्यवस्थित किया और आसन से उठे। शय्या के समीप पहुँचे ही थे कि कक्ष का द्वार खटका। "कौन है भाई ! भीतर आ जाओ.... द्वार खुला ही है।"–कहते हुए उन्होंने मुड़कर द्वार की ओर झॉका। देखा, एक श्वेत वस्त्रधारी युवक ने प्रवेश किया। प्रथम दृष्टि में तो वे पहचान ही नहीं पाये पर आगंतुक ने जब झुककर प्रणाम किया तो वे जान सके कि अरे ! यह तो मित्र अग्निवेताल है। बोले–"भाई रविमित्र ! कैसे हो.... ?"

"रविमित्र.... !" अग्निवेताल चौंका और अपने आसपास ताकने लगा।

"अरे चौंको नहीं.... चौंको नहीं। रविमित्र अन्य कोई नहीं, तुम्हारा ही नाम यहॉ रविमित्र है.... और... और हम विजयादित्य है।"

"अरे, वाह ! क्या कहने....। आप आदित्य और मैं आपका सखा–रविमित्र.... नामकरण तो बहुत सोच-समझकर किया है आपने। आदित्य का मित्र.... रविमित्र.... आहा.... हा !!"

"हम तो सारे काम सोच-समझकर ही करते हैं–सही है यह, पर तुम क्या करके आये हो.... अवन्ती से? ऐं....?"

"महाराज ! आपका पत्र मैने कल संध्या को ही राजरानी कमलावती को प्रेषित कर दिया था। आरम्भ मे तो वे वडी चिन्तित और दुःखी प्रतीत हो रही थीं, किन्तु आपका पत्र पढकर वे वडी प्रसन्न हो गयी. आश्वस्त होकर उन्होंने आपकी कुशल-क्षेम पूछी। मैने विस्तार से सारा वृत्तान्त सुना दिया। यह निवेदन भी कर

दिया कि अभी महाराजश्री दो-तीन माह प्रवास पर और रहेंगे। उन्हें इस वात का दृढ़ विश्वास है महाराज ! कि विजय-लाभ आपको अवश्य होगा।'' तनिक मुस्कराते हुए रविमित्र मन ही मन जैसे हँसने लगा जिसकी अभिव्यक्ति अधरो ने मुस्कान से की। बोला–''जब मैंने आपकी विजयश्री की, अब तक की कथा बतायी तो राजरानी ने हँसते हुए कहा था कि अन्ततः विजय एक स्त्री की ही हुई है। यह विजय विक्रमा की ही तो है–जब उन्होंने यह वात की तो मेरी समझ मे वह रहस्य आया।'' महाराज भी इस पर प्रसन्नतापूर्वक मुस्करा उठे। ''और हाँ, राजन् ! मैं राजरानी से वह नवलखा हार भी ले आया हूँ।''–एक मंजूषा खोलकर रविमित्र ने जगमगाता हुआ, रत्न-जटित स्वर्ण-हार उन्हें दिखाया और कहा–''यह आभूषण उन्होंने प्रसन्नता के साथ ही भिजवाया है और कामना की है कि अन्तिम विजय के पश्चात् आप शीघ्र ही अवन्ती पधारें।''

महाराज विक्रमादित्य पंथशाला के उस कक्ष में विजयादित्य के रूप में कुछ गम्भीर हो उठे। महारानी की विशाल हृदयता के विचार ने उन्हे तनिक अन्तर्मुखी वना दिया था। वंश की परम्परानुसार नव-वधू को यह हार उसकी सास देती आयी है। नव-वधू के–रानी-युवराज्ञी के पास वह हार रहता है और जव राजा-राजकुमार आगे यदि अन्य विवाह करता है तो वह उस हार को नयी वधू को देती है। यह एक ऐसी परम्परा थी जिसमे नयी-पुरानी राज-वधुओं मे स्नेहभाव तो विकसित होता ही था, वरिष्ठ वधू की ओर से अपने पति द्वारा अन्य विवाह की मौन सहमति भी व्यक्त होती थी। प्रसन्नतापूर्वक रानी ने नवलखा हार भिजवाया ... वास्तव मे वे महान् है। महाराज विक्रमादित्य इसी क्रम में सोच-विचार करते रहे। अग्निवेताल वहाँ मे चला गया था।

विक्रमा के वेश में अग्निवेताल के साथ जव महाराज विक्रमादित्य ने पूर्व मे प्रतिष्ठानपुर से विदा ली थी तो वे एक सुदूर सघन वन मे पहुँच गये थे। चारण-देवता द्वारा प्रदत्त रूप-परिवर्तनकारी गुटिका का प्रयोग कर महाराज ने विक्रमा का वेश त्यागा और अपने वास्तविक वेश मे आ गये थे। उन्हे अव इस नव-वेश में प्रतिष्ठानपुर के राजभवन मे संगीत-कला का प्रदर्शन कर राजकन्या सुकोमला की प्राप्ति करनी थी। उस वन के समीप ही एक साधारण-सा ग्राम था। अपने मित्र के साथ वे वहीं पहुँच गये थे। वहाँ से उन्होने अपने लिए एक कलाकार के योग्य वस्त्रादि का क्रय किया। वीणा, मृदग भी ली, भोजनोपरान्त उन्होंने आगे की योजना वनायी। अपनी शक्ति से अग्निवेताल आकाश-मार्ग से महाराज को प्रतिष्ठानपुर से कुछ दूरी पर ले आया। संध्या समय उस छोटे-से ग्राम के वाहर वाले मन्दिर में पहुँचकर दोनों विश्राम करने लगे। महाराज ने राजरानी कमलावती के नाम संदेश लिखा और अग्निवेताल को दिया कि रात्रि में ही वह अवन्ती पहुँचकर राजरानी से भेंट करे। [illegible] हार और राजरानी का संदेश लेकर आगाग। प्रात

वह सीधा प्रतिष्ठानपुर पहुँचे। आदेशानुसार वेताल ने रात्रि में अवन्ती के लिए प्रस्थान किया। महाराज ने रात्रि-विश्राम उसी निर्जन मन्दिर में किया और तड़के ही उन्होंने वहाँ से प्रस्थान कर लिया। भोर में वे प्रतिष्ठानपुर पहुँच गये।

अग्निवेताल पुनः कक्ष मे आया तो दोनों मित्र आगे के कार्य पर विचार करने लगे। यह निश्चय किया गया कि अग्निवेताल नगर में जाये और भोजन की व्यवस्था भी करे, साथ ही यह भी बात कर ले कि संगीत प्रदर्शन के लिए कौन कलाकार पहुँचे हैं। अग्निवेताल गया और भोजन के लिए भाँति-भाँति के व्यंजनों के साथ लौटा। अपराह्न का समय हो गया था। भोजन किया। इसी समय वेताल ने चर्चा की। महाराज को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि अनेक कलाकार अब तक प्रतिष्ठानपुर आये तो थे किन्तु लौट गये। जो राग निर्धारित किये गये थे उनकी कठिनता से वे विचलित हो गये। उनकी साधना ऐसी न रही होगी कि वे इन रागो का प्रभाव अपने गायन से प्रकट कर सकें। दक्षिण के एक निपुण गायक जयकेसरी कुछ दिनों से आये हुए हैं। राजभवन की अतिथिशाला मे उनके आवास की व्यवस्था की गयी है। महाराज ने जयकेसरी का नाम खूब सुन रखा था। सम्पूर्ण देश में उनकी ख्याति है। वे मालकोश के निष्णात गायक है और संगीत की साधना में वे दीर्घकाल से निरत हैं। बड़े ही प्रभावशाली गायक है। संगीतकारों का सम्मेलन उनके अभाव में पूर्ण नहीं माना जाता है। जयकेसरी--जैसे कुशल एवं प्रख्यात गायक से उनकी प्रतिद्वन्द्विता रहेगी—इस कल्पना से ही महाराज विक्रमादित्य को बड़ी प्रसन्नता हुई। अंधों में तो काना भी राजा हो जाता है। गौरव तो योग्यतर व्यक्तियो से प्रतिस्पर्धा कर सफलता प्राप्त करने में ही है। संघर्ष और उद्यम से जो प्राप्त हो, वही यथार्थ विजय और उपलब्धि होती है।

"तो हमारा सामना संगीत शिरोमणि जयकेसरी से होने वाला है !" विजयादित्य ने उत्साहपूर्वक कहा।

"जी महाराज ! सुना है बड़ा चमत्कारी गायक है, जयकेसरी।"

"तुमने यथार्थ ही सुना है, मित्र। वे असाधारण गायक हैं, परम निपुण और अनुभवी संगीतज्ञ हैं वे। उनके कण्ठ में सरस्वती का निवास है।"

"श्रीमानेश्वर ! आप अपने प्रतिद्वन्द्वी की प्रशंसा कर रहे है ! यह क्या !!"

"प्रशंसा के योग्य व्यक्ति की प्रशंसा करने वाला प्रशंसक भी प्रशंसनीय हो जाता है। यह गुणी जनो का उचित सम्मान है जो उनको स्वाभाविक प्राप्य है और इसका दाता अपनी स्वीकारोक्तियो से धन्य हो जाता है।"

"धन्य है, महाराज ! आप धन्य हैं .... महान् हैं आप !!"

"प्रदर्शन कब होने वाला है ?"

"हॉ, महाराज ! यह बताना तो मैं भूल ही गया। बसन्त पंचमी की रात्रि में कलाकार अपनी संगीत-कला का प्रदर्शन करेंगे। अभी दो दिवस बीच में हैं। सम्भव है कुछ और कलाकार इस बीच आ जायें ....।"

"आने दो .... किन्तु हमें आज ही प्रतिष्ठानपुर-नरेश से भेंट करनी होगी। यही उचित समय है। तुम तैयारी करो ....।"

"जैसी आज्ञा महाराज !" अग्निवेताल ने सविनय कहा और उठ खड़ा हुआ। उसके दोनों हाथ परस्पर जुड़ गये और मस्तक किंचित् झुक गया।

संध्या समय दोनों मित्र राजभवन पहुॅच गये। विजयादित्य कॉधे पर वीणा धारण किये साक्षात् संगीतावतार से प्रतीत हो रहे थे। रविमित्र के गले से मृदंग झूल रही थी। महाराज शालिवाहन अपने विश्राम-कक्ष में शान्त भाव से आसनासीन बैठे विचारों में खोये हुए थे कि सहसा उन्हें कक्ष के बाहर से वीणा की मधुर झनकार और मृदंग की मादक ताल सुनायी दी। इस संगीतमय वातावरण की एक झलक से ही वे प्रमुदित हो उठे। किसी गायक कलाकार का कदाचित् आगमन हुआ है–इस आभास मात्र से उनका चित्त प्रसन्न हो उठा। वे द्वार की ओर उन्मुख हुए ही थे कि उनके निजी सेवक ने आकर सूचना प्रेषित की–"महाराज की जय हो–दो कलाकर दर्शन की अनुमति चाहते हैं।"

"उन्हें सादर लिवा लाओ ....।" महाराज ने अनुमति प्रदान की और उठ खड़े हुए। कुछ ही क्षणों में दो युवा कलाकारों के अपने कक्ष में प्रवेश करते देखकर महाराज शालिवाहन के अधरों पर एक मधुर स्मिति थिरक उठी। दोनों मित्रो ने नमनपूर्वक प्रणाम निवेदन दिया और सीधे खड़े होते हुए सुरीले कण्ठ से महाराज का जय-जयकार किया। "आइये .... आइये ! आसन ग्रहण कीजिए ....।" महाराज ने आदरपूर्वक, प्रसन्नचित्तता के साथ स्वागत भाव व्यक्त किया। कलाकारो ने आसनासीन होकर धन्यवाद प्रेषित किया।

"क्या हम आपका परिचय जान सकते हैं?" महाराज ने जिज्ञासा व्यक्त की।

"मालव-देश का संगीत-साधक हूॅ, राजन् ! मुझे विजयादित्य नाम से सम्वोधित किया जाता है। साधारण-से एक क्षत्रिय वंश से सम्वन्ध रखता हूॅ। प्रतिप्ठानपुर की राजकीय घोपणा सुनी तो चित्त लालायित हो उठा, संगीत की साधना से जो कुछ उपलव्धि हुई है–उसके प्रस्तुतीकरण के लिए। और आपकी सेवा में चला आया। यह मेरा सहयोगी है, सखा है–रविमित्र नाम है इसका।" और रविमित्र ने नतशिर हो पुनः प्रणाम किया।

ऐसा प्रतीत होता है मालव-देश और प्रतिप्ठानपुर के मध्य माधुर्यपूर्ण सम्वन्धों का एक क्रम ही आरम्भ हो गया है। गत दिनों अवन्ती की एक गायिका विक्रमा आयी थी। हम पर उस सन्नारी का वडा उपकार है। वह हमारी राजकन्या

सुकोमला की अन्तरंग सखी हो गयी थी। और अब आप आये हैं। विक्रमादेवी ने राजकन्या के हृदय-परिवर्तन का जो यज्ञारंभ किया था, लगता है आपके हाथों उसकी पूर्णाहुति होने वाली है।''

''मैं तो मात्र एक साधारण-सा गायक हूँ। राज-परिवार की तो महिमा और गरिमा अत्युच्च है। तथापि यदि कोई सार्थक सेवा इस जन से बन पड़ी तो मेरा जीवन धन्य हो जायेगा। देवी विक्रमा से मार्ग में भेंट हुई थी। विस्तार से उन्होंने यहॉ की चर्चा की थी। उनकी प्रेरणा से ही मैं यहॉ आने का साहस जुटा पाया हूँ, श्रीमानेश्वर !''

''हम धन्य हुए आपके आगमन से, क्षत्रिय कुमार ! मालव-देश के गुणी जनों और कलाकारों का प्रतिष्ठानपुर की धरती पर हम हार्दिक स्वागत करते हैं, अभिनन्दन करते हैं।'' महाराज ने सगर्व व्यक्त किया और खड़े होकर समीप खड़े सेवक के थाल से मोतियों की एक सुन्दर-सी माला कलाकार विजयादित्य के कण्ठ में धारण करा दी। दोनों मित्र भी तब तक आसन त्यागकर उठ खड़े हुए थे। महाराज ने विजयादित्य को उत्तरीय भी धारण करवाया और एक मुक्ता-हार रविमित्र को पहनाया। दोनों मित्रों ने महाराजश्री के चरण स्पर्श किये।

''अब हम तुम्हें क्या आशीर्वाद दें। तुम्हारा तो नाम ही विजयादित्य है। तुम्हारा नाम सार्थक हो .... विजयश्री तुम्हारा वरण करे।'' महाराज ने गद्‌गद वाणी में आशिष दी। दोनों मित्र तो मानो द्रवीभूत हो गये। मस्तक झुकाकर खड़े रह गये। तभी महाराज ने सेवक को आज्ञा दी–''दोनों कलाकारों को राजभवन की विशिष्ट अतिथिशाला मे ले जाओ। वहीं इनके आवास का प्रबन्ध किया जाय।

''जो आज्ञा, महाराज !'' सेवक ने नम्रता के साथ आज्ञा ग्रहण की।

''महाराज की जय हो।''–दोनों मित्रों ने झुककर प्रणाम किया और सेवक के साथ अतिथिशाला की ओर चल दिये।

× × ×

राजभवन के रमणीक उद्यान को वसन्त ऋतु ने अतिरिक्त रूप से सज्जित–शृंगारित कर दिया था। इसी उद्यान में संगीत का कार्यक्रम आयोजित किया गया था। रात्रि का शान्त वातावरण अतिरिक्त रूप में सहायक हो रहा था। एक खुले मंच पर तीन भव्य आसन व्यवस्थित थे। इस मंच के दोनों ओर कुछ कम ऊँचाई के दो मंच थे। इन छोटे मंचो पर श्वेत बिछावन शोभा दे रहे थे। एक मंच पर संगीतज्ञ श्री जयकेसरी आसीन थे। उनके समीप ही उनके वादकगण भी वैठे थे। दूसरे मंच पर कलाकार श्री विजयादित्य शोभा दे रहे थे। उनके समीप उनका मृदंग-वादक रविमित्र भी शान्त भाव से बैठा था। मंचों के समस्त पंक्तिवद्ध आसनों पर विराजित थे प्रधानामात्य, अमात्यगण, सामन्तगण, नगर-श्रेष्ठी एवं अन्य संभ्रान्त जन। इस

अग्र पंक्ति के पृष्ठ भाग में अनेक कला-प्रेमी उत्सुक मन से उस घडी की प्रतीक्षा में आसनासीन थे जब इन निपुण कलाकारों द्वारा संगीत के अद्भुत प्रभावों का प्रदर्शन किया जायेगा। श्रोतागण कभी सुदर्शन विजयादित्य की ओर ताकते तो कभी जयकेसरी की ओर। अपरिचय की अवस्था मे भी वे इनके विषय में अनुमानाधारित धारणाएँ बनाते-मिटाते चले जा रहे थे। कोई सोचता कि जयकेसरी का देशभर मे सुनाम है। वे पहुँचे हुए गायक हैं। राजकुमारी सुकोमलादेवी इन्हीं का वरण करेंगी। जय तो इनके नाम के साथ ही जुड़ी है। अपनी धारणा वह समीप के श्रोता से व्यक्त करता और उस अन्य जन की धारणा से अपने आप को संशोधित करने लगता कि अन्य कलाकार भी तो विजयादित्य है। क्या हुआ जो इनका नाम हमारे लिए अनसुना रह गया। विजयादित्य मालवादेश के हैं। सुना है मालवाधिपति महाराज विक्रमादित्य के शिष्य हैं। उनकी एक शिष्य पूर्व में भी प्रतिष्ठानपुर में अपने अद्वितीय संगीत-कौशल का चमत्कार दिखाकर गयी है। सम्भावनाएँ विजयादित्य की भी कम नहीं कही जा सकतीं। नाना प्रकार के विचार बनते जा रहे थे। उस समय तो सभी उपस्थित जन व्यग्रतापूर्वक महाराजश्री के पदार्पण की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी तीव्र और उच्च्य स्वर में घोष हुआ—"सावधान ! प्रतिष्ठानपुराधीश .... राजराजेश्वर .... दीनानाथ .... प्रजा-पालक .... श्रीमानेश्वर महाराजश्री का शुभागमन .... हो रहा है ....।" समस्त उपस्थित जन आदरपूर्वक अपने आसनो से उठ खड़े हुए। मस्तक झुकाकर सभी ने महाराज का जय-जयकार किया। समस्त उद्यान इस जय-जयकार से गुँजायमान हो उठा। महाराजश्री और महारानी कुछ ही पलों में मंच पर अवतरित हुए। साथ में राजकन्या सुकोमला भी थीं। उच्च्य मंच पर खड़े महाराजश्री ने हाथ उठाकर सभी का अभिवादन स्वीकार किया और उल्काओं के प्रकाश में दूर-दूर तक दृष्टि प्रसारित कर उपस्थित जन-मेदिनी को निहारा। प्रसन्नतापूर्वक मुस्कराते हुए उन्होंने आसन ग्रहण किया। उनके वाम पक्ष में महारानी और दूसरी ओर राजकन्या आसीन हो गयी। सभी जन तब अपने-अपने आसनों को ग्रहण कर शान्त भाव से बैठ गये। एक परिचारिका राजकन्या के पीछे अपने हाथों में स्वर्ण-थाल लिए खड़ी थी जिसमें वरमाला शोभा दे रही थी। महाराजश्री से आदेश पाकर प्रधानामात्य ने कथनारंभ किया—

"महाराज की जय हो ! यह प्रतिष्ठानपुर का सौभाग्य रहा है कि कला के सभी क्षेत्रों में निपुण विभूतियाँ अपनी-अपनी कलाओं से राज्य का गौरव बढ़ाती रही हैं। समय-समय पर अन्य राज्यों के यशस्वी कलाकार भी पधारते रहे हैं और प्रतिष्ठानपुर की कला-स्नेही जनता को आनन्द से तृप्त करते रहे हैं। आज भी ऐसा ही एक अवसर आ उपस्थित हुआ है जब कलाकार-द्वय हमारे मध्य उपस्थित हैं। आज के अवसर की गरिमा और महिमा तो और भी बढ़ी-चढ़ी है। ये दोनों कलाकार मानो स्वयंवर मे भाग ले रहे हैं। दक्षिण से पधारे संगीत-निष्णात श्री जयकेसरी जी विख्यात कलाकार हैं। आपके संगीत की अद्भुत महिमा है। आप

आज अपनी कला के प्रदर्शन में राग मालकोश प्रस्तुत करेंगे। मालव-निवासी गायक कलाकार श्री विजयादित्य जी कलाओं की नगरी अवंती से पधारे हैं। ये राग-मंजरी की साधना करेंगे। विजयादित्य जी मर्मज्ञ संगीतकार हैं और इस विद्या के सुदृढ़ साधक हैं।'' इस परिचय-प्रेषण के पश्चात् प्रधानामात्य ने विराम लिया और कुछ ही पलों में वे पुनः मुखरित हो उठे। बोले–''राजकीय घोषणा हो ही चुकी है। कुछ और गायक कलाकार भी आये थे। कदाचित् घोषणा की शर्तें पूर्ण करने की समर्थता में अपने आप को न पाकर लौट गये। ये दो शीर्ष कलाकार ही इस प्रकार के प्रदर्शन हेतु शेष रह गये हैं। संगीत का रागानुसार अपना प्रभाव होता है। संगीत चराचर प्रकृति पर अपना प्रभाव अंकित करने की अपार क्षमता रखता है–आवश्यकता सच्चे कलाकार की आत्म-विश्वासपूर्ण साधना की है। जिसे सामान्य जन संगीत का चमत्कार मान लेते हैं वह इसी साधना की सर्वोच्च्य सिद्धि होती है। हमें गर्व है कि ऐसी सिद्धियों के स्वामी ये दो कलाकार आज अपनी साधना का प्रदर्शन करेंगे। इनमें से जो कलाकार अपने राग का श्रेष्ठतर प्रभाव व्यक्त कर दिखायेगा–राजकन्या सुकोमलादेवी उसका पतिरूप में वरण करेंगी। हमें गर्व है कि प्रतिष्ठानपुर की राजकुमारी जी स्वयं ही संगीत की मर्मज्ञ विदुषी और सिद्ध-कण्ठ गायिका हैं। श्रेष्ठतर प्रभाव का निर्णय वे स्वयं करेंगी और वरमाला धारण कराना उनके निर्णय की घोषणा का स्वरूप रहेगा। तो.... अब मैं अनुरोध करता हूँ कलाकार शिरोमणि श्री जयकेसरी जी से.... वे कृपया अपना गायन आरम्भ करें।'' कथन-समापन पर सर्वत्र निःशब्दता छा गयी थी। सभी भरतखण्ड के महान् गायक की संगीत-सुधा का पान करने को उत्सुक हो उठे थे। श्रोताओं की समस्त चेतना ही जैसे उनकी श्रवणेन्द्रिय में केन्द्रित हो गयी थी। अपने वाहर का सब-कुछ वे विस्मृत कर बैठे थे। इसी समय घण्टा-ध्वनि हो उठी और सभी की जिज्ञासा-भरी उत्सुकता अपने चरम पर पहुँच गयी। मृदंग की थाप ने एक अद्‌भुत, सरस और मादक वातावरण सृजित कर दिया। तत्काल ही वीणा की झनकार हुई और एक सुरीली तान ऐसी छिड़ी कि आह्लाद जाग्रत होने लगा। तभी निपुण गायक के कण्ठ से आलाप निसृत हो उठा–''ए..... ए.... अ-अ-अ-अ ए.... ओ-ओ-ए.... ए....।'' आलाप के आरोहावरोह से मुग्ध श्रोताओ ने तव ऐसा स्वर सुना जिसकी मधुरता आशातीत थी। वोलों ने उस माधुर्य को और अभिवर्धित कर दिया–

''मैं नमन करूँ श्रीचरणो मे।

चिरसुख के साधक सबल उपकरणो मे। मैं नमन करूँ....॥''

आहा.... हा.... कैसा मनोरम कण्ठ और कैसे सुन्दर हाव-भाव.... स्थायी और अन्तरा के संधि-स्थल पर गायन के पहुँचते-पहुँचते तो श्रोतागण आत्म-विभोर होने लगे थे और उन्हें भीतर ही भीतर ऐसी अनुभूति होने लगी थी मानो वे कला के रुचिर और मनमोहक जगत् में प्रविष्ट हो गये है जहाँ; सर्वत्र कमनीयत्व का,

सरसता का, माधुर्य का ही साम्राज्य है। अतीन्द्रिय सुखोपभोग में ही सभी निमग्न हो गये थे। मंत्र-मुग्ध-से, चित्रांकित-से, अचपल, मूर्तिवत् होकर उपस्थित जन उस अनुपम गायन का रसपान करने लगे। सभी स्तब्ध और स्तंभित रह गये। उनके भौतिक तन ही इस कठोर जगत् में रह गये–उनकी सुकोमल चेतना तो मानो गायक कलाकार के स्वरों की उँगली थामे स्वप्न जगत् में विचरने लगी। किसी को किसी का आभास ही नहीं रहा। गायन-समापन पर जब अन्तिम चरण का वादन चल रहा था–श्रोताओं की चेतना यथास्थान लौटने लगी। एक अव्यक्त खेद का भाव मुखाकृति में व्यक्त होने लगा–हाय.... इतना शीघ्र ही गायन समाप्त क्यों हो गया.... बस... क्या इतना-सा ही सुख हमारे भाग्य में बदा था। कुछ अधिक सहृदय श्रोता तो अभी भी भावुकता के वशीभूत उस सरस मनोरम भूमि की कल्पना में खोये थे जिसका निर्माण जयकेसरी ने अपने गायन से कर दिया। वाह.... ! वाह.... !! के साथ जब दीर्घ करतल ध्वनि हुई तो उनके उस सरस विचरण में बाधा पड़ी और इस जगत् में लौटकर वे भी शेष सभी के साथ जयकेसरी की जय-जयकार में सम्मिलित हुए। कलाकार के प्रति लोक-प्रशंसा का यह तीव्र भाव नाना प्रकार से व्यक्त होता रहा और अद्भुत उमंग तथा उत्साह का वातावरण, एक कोलाहल बडी देर तक छाया रहा। कलाकार जयकेसरी ने मालकोश राग साधा था–श्रोतागण स्तब्ध, मुग्ध, स्तंभित-से रह गये। यही इस राग का प्रभाव होता है। कलाकार की साधना सफल रही। वे मनोयोगपूर्वक गायन में लीन थे। एक निश्चित स्थल पर गान थमा। वे संगीत के आन्तरिक जगत् से शनैः-शनैः बाह्य जगत् में आते से प्रतीत होने लगे। उनकी बन्द पलकें धीमे-धीमे खुलने लगीं और कुछ ही पलों में वे सहज और सामान्य हो गये। उन्होंने बद्ध कर शीश के ऊपर ले जाकर श्रोताओ का अभिनन्दन स्वीकार किया और उठकर महाराजश्री को प्रणाम किया। "सुन्दर.... अति सुन्दर !"–महाराज ने टिप्पणी की। प्रसन्नवदन और तुष्ट मन के साथ पुनः आसन ग्रहण करते हुए उन्होंने संतोष की साँस ली। विजयादित्य भी मालकोश में खो-से गये थे। उन्हें वाह्य जगत् की सुध-बुध ही जैसे नहीं रही थी। उन्होंने गान की पूर्ति पर वाह....! वाह... !! की। प्रशंसा-भरे शव्दों में जयकेसरी के कौशल का संक्षिप्त वखान किया। राजकन्या मर्मज्ञ संगीत-साधिका थीं। उनका रसज्ञ मन इस कला-प्रदर्शन से प्रभावित हुआ है–इस आशय को उनकी भाव-भंगिमा भली प्रकार से व्यक्त कर रही थी।

और अव वारी थी विजयादित्य की। महाराज शालिवाहन को नमन कर उन्होंने अपना प्रदर्शन आरम्भ करने की अनुमति चाही। सकारात्मक भाव के साथ शीश डुलाकर महाराज ने अनुमति प्रदान की। इस नवीन कलाकार के कौशल का परिचय पा लेने को आतुर श्रोतागण सर्वथा शान्त हो गये और जिज्ञासु मन के साथ व्यग्र प्रतीक्षा में लीन हो गये। इस जन-संकुल स्थल पर जो सहसा निःशब्दता छा गयी थी–वह अद्भुत थी। विजयादित्य ने इस वातावरण को अपनी गायन-कला

का लोक-स्वागत रूप माना और उन्हें एक सशक्त प्रेरणा प्राप्त हुई। विजयादित्य ने वीणा के तार झंकृत किये। इस मधुर झनकार ने एक सरस–आकर्षक परिवेश का निर्माण कर दिया। वीणा की धुन जब सम पर आयी तो मृदंगिया रविमित्र ने अपने कौशल का प्रदर्शन आरम्भ किया। उसके सधे हुए हाथ की थाप ने मृदंग का मधुर निनाद ऐसा गुँजित किया कि सहृदय श्रोताओं को विचित्र-सी रसानुभूति होने लगी। कुछ क्षणों तक तो वीणा और मृदंग की युगलबन्दी-सी चलती रही और राग-मंजरी के गान की सुन्दर, रसपूर्ण भूमिका निर्मित होने लगी। तभी अत्यन्त मधुर आलाप कोमलता के साथ विजयादित्य ने ऐसा खींचा कि उसके आरोहावरोह से श्रोता मंत्र-मुग्ध-से स्तब्ध रह गये। महाराज, महारानी और स्वयं राजकुमारी सुकोमला इस स्वर-कारा में जैसे बन्दी बन गये थे। सभी के लोचन भी एकाग्र होकर अपलक अवस्था में विजयादित्य की ओर केन्द्रित हो गये। सोचने लगे थे सभी जन, अपने मन ही मन कि क्या चमत्कार दिखाने वाला है यह कलाकार अपनी संगीत-विद्या का .... आहा .... हा .... क्या समा बाँधा है–इसने। और तभी गायन के बोल आरम्भ हुए–

"मनोकामना लेकर आया .... पाऊँगा मैं मन की।
चाहे सुधि न रहे इस जन को, तन की औ' जीवन की॥"

इस मुखड़े ने तो संवेदनशील श्रोताओं की मनःवीणा को ही झंकृत कर दिया। "वाह .... ! वाह .... !! क्या 'स्थायी' रचा है .... अत्यन्त सुन्दर !" जयकेसरी भी जैसे अनियंत्रित-से बोल उठे। गीत की यह प्रमुख पंक्ति सांकेतिक और सार्थक होकर ऐसी प्रसंगानुकूल हो गयी थी कि इसके औचित्य और गूढ़ार्थ का आभास पाकर श्रोतागण आनन्दित हो उठे। उनके मन का–गायक के प्रति प्रशस्ति भाव प्रवलतर हो गया। गायन का क्रम अग्रसर होता चला गया। तानें और मुकरियाँ, आरोह और अवरोह इतनी सुन्दरता के साथ कलाकार ने अपने गायन में सँजोये थे कि उनका कला-प्रदर्शन कई गुना प्रभावयुक्त हो गया। रविमित्र का हस्तलाघव भी इस प्रभाव को अपने मृदंग-वादन से और गहराने से समर्थ होता जा रहा था। उसे एक अन्य भूमिका भी निभानी थी। उसकी ओर उसका ध्यान वना हुआ था। गायन जव चरम पर पहुँचा तो मृदंग पर एक प्रवल थाप पड़ी और मुग्ध दर्शकों के चमत्कृत नेत्रों ने एक अद्‌भुत दृश्य देखा–मंच के समक्ष खुले रिक्त स्थल पर वने जल-कुण्ड का जल स्तंभाकार मे संगठित होकर ऊपर को उठा। मृदंग की लय के साथ-साथ यह जल-स्तम्भ ऊपर-नीचे को होता रहा। गीत के आरोह के साथ-साथ वह ऊँचा होता गया .... होता गया और वृक्षों से भी ऊँचा .... वहुत ऊँचा इस स्तम्भ का शिखर पहुँच गया। उद्‌ग्रीव होकर स्तव्ध दर्शक इस दृश्य को देखते रह गये। स्वर के अवरोहण के साथ शिखर की ऊँचाई भी क्रमशः निम्न होती चली गयी। एक स्थल पर आकर शिखर का यह अवरोहण थमा–

"सबका शिव कल्याण करें, है यही प्रार्थना जन की।"

गीत की इस पंक्ति के आने पर तो जल-स्तम्भ की मोटाई ऐसी वढ़ी कि शिवलिंग की आकृति निर्मित हो गयी। श्रद्धालु उपस्थित जन मस्तक झुकाकर विनय भाव से, सभक्ति नमन करने लगे। आहा.... हा ! साक्षात् शिव के दर्शन हो गये। धन्य हो .... धन्य हो कलाकार और धन्य है तुम्हारी कला। आश्चर्यचकित महाराज ने देखा कि शिवलिंग में जितनी जल-राशि समायी हुई है उतना तो जल भी इस कुण्ड में नहीं रहा होगा। इस प्रतिमा-निर्माण के पश्चात् भी कुण्ड में जल किनारों तक यथावत् भरा हुआ है। फिर जल तो स्वच्छ था अपने स्वाभाविक रंग कथा और उससे निर्मित यह प्रतिमा पीत वर्ण की कैसे....! मृदंग की लय पर शिवलिंग का पीत वर्ण अरुण, श्याम और हरित वर्ण मे परिवर्तित होता चला गया। विजयादित्य का ज्ञान चलता चला जा रहा था। रविमित्र की मृदग अपना चमत्कार दिखा रही थी। चकित श्रोता आनन्द के सागर में निमग्न होते चले जा रहे थे। सहसा जल-स्तम्भ लुप्त हो गया और जल-कुण्ड का जल नन्हीं बूँदो के रूप में सारे सभा-स्थल पर वर्षित होने लगा। आनन्द की इस वर्षा ने सभी को रस-मग्न कर दिया। जल-कुण्ड के चारों ओर के खुले स्थल पर तो जैसे मेघो की वर्षा ही होने लगी थी। कुण्ड का जल-स्तर तब भी यथावत् था।

"पुरस्कार की नहीं कामना.... चाह न सुख-साधन की।
मनोकामना लेकर आया.... पाऊँगा मैं मन की॥"

वड़ी ही कोमलता के साथ कलाकार विजयादित्य ने गायन समाप्त किया। करतल ध्वनि से मानो गगन ही गूँज उठा। अद्भुत उल्लास छा गया था, सर्वत्र इस सफल और चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन पर विस्मय का वातावरण था। श्रोताओं ने मानो वड़ी देरी तक थमी हुई साँस को सहज किया। सभी के सामान्य होने में कुछ क्षणो का यापन होना स्वाभाविक भी था। भावातिरेक में गायक जयकेसरी अपने स्थान से उठे और विजयादित्य की ओर गये। उन्होंने मंच पर जाकर मृदगिया को गले लगाया और उसकी पीठ थपथपाकर साधुवाद किया। और तव वे विजयादित्य की ओर उन्मुख हुए। वोले—"संगीत की साधना में कदाचित् तुम ही अग्रतम हो। सगीत के प्रभाव को व्यक्त करने का अपूर्व प्रयास जो तुमने सफलतापूर्वक किया है—वैसा अत्यल्प जन ही कर सकते हैं। यथार्थ मे विजयादित्य महान् कलाकार और संगीत का सिद्धहस्त साधक है।"—घोषणा के स्वर में उच्च वाणी में जयकेसरी ने कहा—"मैं तो इस कलाकार की चरण-रज की भी समकक्षता नहीं कर सकता। स्वीकारोक्ति है मेरी कि विजयादित्य संगीत-कला मे मुझसे कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।" यह कहते हुए जयकेसरी चरण स्पर्श करने को झुके ही थे कि विजयादित्य ने प्रसन्न भाव से उन्हें थाम लिया और बाँहों में भर लिया। "मुझे पाप का भागी न बनाइये.... आप तो मेरे अग्रज हैं। अभी हमें आप-जैसे कलाकारों

से वहुत-कुछ सीखना है। आपकी महानता है कि आपने इस जन को इतना मान दिया–अन्यथा मै तो संगीत का साधारण-सा साधक मात्र ही हूँ।" बड़ी देर तक विजयादित्य और जयकेसरी परस्पर महत्त्व प्रतिपादित करते रहे। दोनों के नेत्रों से जल प्रवाहित होने लगा था। श्रद्धा सहित जनता दो शीर्षस्थ कलाकारों का यह स्नेह-मिलन देखती रही। तभी विजयादित्य की बॉह थामकर उसे ऊँची उठाकर जयकेसरी ने घोषणा की–"विजयादित्य की विजय पर इनका अभिनन्दन कीजिए ! अभिनन्दन कीजिए इनका।" उद्यान हर्ष-ध्वनि से भर उठा। निर्णय सामान्य जन के लिए स्पष्ट ही था–जयकेसरी ने तो मानो उसका अनुमोदन मात्र किया था।

राजकुमारी सुकोमला के मन में भी कोई संशय न था। वे तो पहले से ही विजयादित्य की निपुणता और कौशल से प्रभावित हो चुकी थीं। उत्फुल्ल मन के साथ वे उठीं और अपने माता-पिता की ओर उन्मुख होकर वोलीं–"मैंने निर्णय कर लिया है, पिता महाराज ! कलाकार विजयादित्य ही वरण योग्य हैं। मैं उनका पतिरूप में वरण करने की अनुमति चाहती हूँ।"

महाराज मुस्करा उठे–"तुम्हारा निर्णय यथार्थ ही है, बेटी ! हम तुम्हारे विचार को उपयुक्त ही मानते हैं।"

"सुखी रहो, वेटी ! सदा प्रसन्न रहो ····।" मातुश्री का आशीर्वाद प्राप्त कर उल्लसित–उमंगित राजकन्या एक-एक चरण बड़ी कोमलता के साथ वढाते हुए विजयादित्य की ओर अग्रसर हुई। पुष्पमालाओं का थाल लिए सेविका ने उनका अनुसरण किया। उस लघु मंच पर पहुँचकर राजकन्या ने नतशिर होकर विजयादित्य को करवद्ध प्रणाम किया और उसी समय सेविका ने हाथ वढाकर थाल कुछ आगे को कर दिया। वड़ी ही कोमलता के साथ राजकन्या ने वरमाला थामी–दोनों हाथों में उसे भली प्रकार से सँजोया और स्नेहाधिक्य की अनुभूति के साथ रोमाचित होती हुई एक चरण आगे वढ़ी। विजयादित्य के सौम्य सौन्दर्य और सुकोमलता पर यह उनका प्रथम दृष्टिपात था। वे मुग्ध हो गयीं और इस आकर्पण के अधीन राजकन्या के दोनों हाथ वरमाला लिए हुए ऊपर को उठे। विजयादित्यरूपी विक्रमादित्य का रोम-रोम सफलता की इस घडी मे प्रफुल्लित हो उठा था। उनका हृदय तीव्रता के साथ धड़कने लगा। वड़ी कठिनाई से वे स्वय को सयत कर पा रहे थे। और वह क्षण भी आ गया जव राजकन्या ने वरमाला धारण कराकर विजयादित्य को विधिवत् अपना जीवन-सहचर घोपित कर दिया। पुष्पमाला का थाल तव विजयादित्य की ओर वढा। कलाकार के कोमल करों ने तव प्रत्युत्तर मे राजकन्या की ग्रीवा मे पुष्पहार धारण कराया। दाम्पत्य जीवन के लिए दोनो जीवन-साथियो की यह पारस्परिक अनुमति का ही क्रम था। और इसके साक्षी स्वरूप उपस्थित जन मूक भाव से यह मनोरम, भावपूर्ण दृश्य देखते ही रह गये। सहसा राजकन्या और विजयादित्य का जय-जयकार उठा और जनता ने

इनके दीर्घायु होने की कामना करते हुए–'अमर रहें' का घोष किया। इन्हीं शुभ कामनाओं के मध्य यह युगल मुख्य मंच पर आ गया। दोनों ने महाराज और महारानी को प्रणाम किया और चरण वन्दना की। माता-पिता ने हृदय से उन्हें आशीर्वाद प्रदान किया। गद्‌गद भाव के साथ महाराज ने कहा–"प्रतिष्ठानपुर के इतिहास में आज से एक नवीन अध्याय जुड़ गया है। प्रतिष्ठानपुर और मालव-देश के मध्य जो सम्बन्ध आज स्थापित हुआ है–वह उत्तरोत्तर सुदृढ़ होता चला जायेगा।" राज-दम्पति आसन त्यागकर उठ गये और सभी श्रोता भी उठ खड़े हुए। सभा विसर्जित हो गयी। सभी के मन हर्ष, आनन्द और प्रफुल्लता से भरे थे। नवीन आशाओं के साथ सभी राजोद्यान से विदा हुए।

••

नृपति शालिवाहन ने एक भव्य प्रासाद का तत्काल निर्माण करवाया। प्रासाद को समस्त भीतरी साज-सज्जाओं और सुख-सुविधाओं से सज्जित करवाया गया। दास-दासियाँ नियुक्त कर दी गयीं। इसी प्रासाद में कलाकार विजयादित्य का निवास कराया गया था। कुल-पुरोहित जी ने शुभ मुहूर्त्त की घोषणा की। नवीन राजप्रासाद से विशाल और भव्य वर-यात्रा ने राजभवन के लिए प्रस्थान किया। भाँति-भाँति के वाद्यों का माधुर्यपूर्ण वादन मांगलिक वातावरण की संरचना कर रहा था। अनुपम अलंकरण उपकरणों से वर-यात्रा की छटा अभिवर्धित हो रही थी। एक सुसज्जित गजराज पर स्वर्ण अम्बारी में विराजित थे राज-वर कलाकार विजयादित्य। अनुपम रूपवान एवं सौम्य की प्रतिमूर्ति विजयादित्य इन्द्रवत् प्रतीत हो रहे थे। गजराज के आगे-पीछे अनेक देवतुल्य संभ्रान्त जन सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज्जित हो चल रहे थे। निश्चित समय पर वर-यात्रा राजभवन के तोरण-द्वार पर पहुँच गयी। सोल्लास तोरण विधि सम्पन्न हुई। मंत्रोच्चार के साथ वर विजयादित्य को कन्या के पितृश्री द्वारा सरोपा भेंट किया गया और स्वर्ण-जटित मूठ की असि उनकी कटि में बाँधी गयी। रत्न-चौकी पर उन्हें ससम्मान खड़ा किया गया। राजमहिषी ने बीस बातियों की शिखाओं से जगमगाते विशाल दीप से वर की आरती उतारी और तब ऐसे ही दीपकों से युक्त थालों को हाथों में लिए राज-परिवार की अन्य महिलाओं ने वर्तुलाकार में वर की परिक्रमाएँ कीं। महिलाओं का नेतृत्व स्वयं राजमहिषी कर रही थीं। ये महिलाएँ पुष्प-अक्षत की वर्षा भी वर पर कर रही थीं। तब बड़े ही स्नेह, आदर और कोमलता के साथ राजमहिषी ने अपने जामाता को रत्न-चौकी से उतारा और उनके कटिबंध का वस्त्र थामकर आग्रहपूर्वक उन्हें विवाह-मण्डप में ले

गयीं। यथासमय अपनी सखियों से घिरी वधू सुकोमला लज्जावनत शीश के साथ अत्यन्त मंथर गति से अग्रसर होती हुई मण्डप में पहुँचीं। विधि-विधान और हर्षोल्लास के साथ परिणय संस्कार-सम्पन्न हुआ और सर्वत्र मंगलमय वातावरण छा गया। राजकन्या अपने स्वामी के साथ राजभवन से विदा हुईं। यह विदाई सभी के लिए चिर-प्रतीक्षित और चिराकांक्षित थी, किन्तु इस बेला के आ जाने पर सभी के मन भारी और नयन आर्द्र हो उठे थे। इस घड़ी में राजकन्या भी अत्यन्त भावुक हो उठीं। अपने पिता के चरण स्पर्श कर वे फफक उठीं। पिता ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक राजकन्या का मस्तक छूकर आशिष दी। जननी ने राजकन्या को गले लगा लिया। विचलित मन और अश्रुपूरित नयनों के साथ महारानी ने सदादर्श के उपदेशों के संग मंगल कामनाएँ कीं, आशीर्वाद दिये। कई क्षणों तक जननी-सुता एक-दूसरे से लिपटकर सिसकती रहीं, अश्रु प्रवाहित करती रहीं। भावातिरेक के इन क्षणों में सखियों के मन भी विह्वल हो उठे थे। इस बोझिल हो उठी बेला में वाद्यों से भी कारुणिक संगीत निसृत होने लगा। राजकन्या एक के बाद एक, अपनी सभी सखियों से गले मिलीं और सुसज्जित पालकी में बैठकर पतिगृहार्थ प्रस्थान किया। माता-पिता ने हाथ उठाकर आशीर्वादपूर्वक उन्हें विदा किया। सखियों ने पुष्प-वर्षा की। राजकन्या सुकोमला अपना मुख पालकी से बाहर निकालकर पीछे की ओर झाँकती रहीं.... पालकी आगे बढ़ती रही.... जीवन का क्रम आगे बढ़ता जा रहा था और उनका मन अतीत की स्मृतियों के प्रति आकर्षित होता चला जा रहा था।

नवीन प्रासाद पर जाकर पालकी रुकी। राजकन्या ने पालकी छोड़कर पतिगृह में पदार्पण किया। यह प्रथम चरण वढाते हुए ही उनका मन अनेकानेक भावों से पूरित हो उठा था। अपने मन को सायास संयत कर राजकन्या ने मुग्ध नयनों से भवन की ओर निहारा। उनकी मुख-मुद्रा में हास और मृदुलता आ गयी। उत्साह के साथ वे अपने स्वामी विजयादित्य के साथ प्रासाद में प्रविष्ट हुईं। द्वार पर सुहागिन सुन्दरियों ने आरती उतारकर वर-वधू का स्वागत किया। मंगल गान होने लगे। राजकन्या को अपने भीतर और बाहर उत्फुल्लता की अनुभूति होने लगी।

मधुरजनी की मादक घड़ियाँ भी आयीं और अपने साथ असंख्य उमंगें और उत्साह, हर्ष और कामनाएँ लेकर आयीं। रत्न-जटित स्वर्ण पर्यंक पर मखमली शय्या—सुरभित पुष्पों से आच्छादित शय्या पर आसीन सुकोमला मानो आज अपने नाम को चरितार्थ करती-सी प्रतीत हो रही थी। सुमनों से भी अधिक सुकोमल.... मुख-मण्डल पर शुभ्र हास.... मन में उत्फुल्लता और भावों में उमंग....। सुकोमला का वधू-वेश अत्यन्त भव्य लग रहा था। सखियों से घिरी राजकन्या ऐसी लग रही थीं मानो नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा शोभा दे रहा हो। सखियाँ सरस वार्तालाप कर रही थीं। वाणी का कम और हास का उपयोग अधिक हो रहा था।

राजकन्या के अधरों पर भी स्मिति की रेखा वार-वार खिंच जाती और आन्तरिक उमंग को व्यक्त कर जाती थी। चर्चा के विषय कदाचित् ऐसे कोमल और हर्षद थे कि राजकन्या का मन गुदगुदा उठता था। कक्ष में व्याप्त कोमल प्रकाश और सुरभित वातावरण प्रथम मिलन का साक्षी होने को आतुर हो उठा था। सहसा कक्ष के बाहर कहीं दूर तुरही निनादित हो उठी। प्रतीक्षा की बेला चरम पर आने लगी। कलाकार विजयादित्य के आगमन की इस पूर्व सूचना ने सभी को उत्साहित कर दिया। सखियॉ प्रस्थान को तत्पर हुईं। तभी किसी सखी ने कुछ ऐसा कहा कि राजकन्या वीड़ा से पलकें झुकाकर संकुचित-सी हो उठी। सारा कक्ष मानो वसन्त का स्पर्श पाकर उमंगित हो उठा। कलाकार ने प्रवेश किया और सखियॉ भागती-सी कक्ष के बाहर हो गयीं। वह चिर-प्रतीक्षित बेला अब आ उपस्थित हुई थी। प्रियतम के स्वागत में राजकुमारी सुकोमल शय्या त्यागकर उठ खड़ी हुई थी। कोमलता के साथ चरण बढ़ाती वे आगे आयीं और पतिदेव के चरणों में झुकी ही थीं कि कलाकार वर ने उन्हें थाम लिया। अतिशय कोमलता के साथ उन्हें ऊपर उठाकर गले से लगा लिया। कलाकार के मुख पर मुस्कान आ गयी। अधरों की शोभा मुस्कान से बढ़कर अन्य किसी से भी अभिवर्धित नही हो पाती—यह मान्यता उस क्षण में पुष्ट होने लगी थी। अनुराग का ऐसा आदान-प्रदान मूक रूप में होने लगा कि नव-दम्पति के हृदय रसरिक्त हो उठे।

राजकन्या ने स्वर्ण-थाल की ओर हाथ बढ़ाया और सुरभित, अरुण पाटल पुष्पों का हार उठाकर कलाकार के कण्ठ में धारण करा दिया। ऐसा प्रतीत होता था मानो पुष्पों के रूप में वधू ने अपनी प्रीति-भरे भावो को अर्पित कर दिया हो। कलाकार विजयादित्य गद्गद हो उठे। समीप की त्रिपदी पर रखी मंजूषा खोलकर उन्होने रत्न-जटित नवलखा हार निकाला और बडी ही कोमलता के साथ वधू के कण्ठ मे धारण करा दिया। इतना सुन्दर .... इतना मूल्यवान .... इतना .... । राजकन्या का तो मन ही चकित रह गया। सच है .... हार्दिक प्रीति के समर्पण का प्रतिदान भी वडा सुन्दर .... वड़ा भव्य होता है। राजकन्या का दर्शन प्रवर्तित हुआ ही था कि कलाकार ने उनके चिन्तन को लक्षित कर लिया। कोमल वाणी में बोले—"यही सोच रही हैं न कि ऐसा बहुमूल्य आभूषण हमारे पास कैसे ....! हॉ, आपका ऐसा सोच स्वाभाविक भी है। किसी देश के नरेश ने हमारी संगीत-विद्या से प्रसन्न होकर कभी हमें उपहार में यह भेट दी थी। तभी हमने निश्चय किया था कि हम यह भेंट अपनी जीवन-सहचरी के लिए आरक्षित रखेंगे। आज इस आभूषण को अपनी स्वामिनी मिल गई है। इसका एक-एक रत्न प्रसन्नता के आवेग से दमक रहा है। अपनी स्वामिनी की मुख की कान्ति के समक्ष लज्जित होते हुए ये रत्न बेचारे हतप्रभ होते जा रहे हैं। ऐसे असीम सौंदर्य का आश्रय पाकर ये कृतार्थ भी हो रहे है और गर्वित भी ....।"

"कलाकारों से भला कौन जीत सकता है··· ! वाणी मे आप बड़े कुशल है, स्वामी ! कलाकार तो ककर को भी हीरा··· !" राजकन्या एक सहज सकोच का अनुभव करती हुई नतमस्तक हो गयीं—"हमारे कथन मे तनिक भी अतिशयोक्ति नही रानी···· रंच मात्र भी अत्युक्ति नहीं····!" दोनों शय्या पर आसीन हुए और अपना कथन निरंतरित रखते हुए कलाकार बोले—"हम सौदर्योपासक है··· हमे आज हमारा उपास्य···· असीम-असीम सौन्दर्य प्राप्त हो चुका···· मन की साध पूरी हुई।"

"हम कह नही सकती, आपके कथन में कितना यथार्थ है, किन्तु यह सर्वथा सत्य है कि हमें हमारा अभीप्सित अवश्य प्राप्त हो गया। हमारा स्वप्न साकार हो गया है, हमारे जीवन मे आपके आगमन से। कामदेव-सा रूप और वीणा की झनकार-सी वाणी ··· कुसुमो-सी कमनीयता और अलौकिक सगीत-साधना के धनी· । आपका साहचर्य पाकर यह दासी धन्य हो उठी है, नाथ !"

"ना· ना·· ना ! ऐसा न कहिये। दासी नहीं ··· रानी। हम चाहे राजा न भी हों···· आप रानी अवश्य है· ·· हमारे हृदय-साम्राज्य की रानी।" भावातिरेक से कलाकार के नेत्र मुँद गये। उन्होने आगे कहा—"आपने हमारी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण कर दीं। हमारा जीवन आप-जैसी सहचरी पाकर धन्य हो उठा है। हमारा सुख शब्दातीत हो चला है।"

"आप कलाकार है न·· · ! कलाकार अन्य जनों के भावों को सुगमता से ज्ञात कर लेते है और उसी के अनुरूप व्यवहार कर लेते है। आपने हमारे मनोभावों को भी ताड लिया और बड़े कौशल से उन्हे अपना बनाकर हमारे ही समक्ष रख दिया। वास्तव में धन्य तो हमारा जीवन हुआ है। हम आप-जैसे कला-निष्णात, ऐसे ही सगीत-साधक की साध रखती थीं।"

"आपको अनुपयुक्त न लगे तो एक प्रश्न करूँ?"

"अवश्य···· अवश्य ··· अनुपयुक्त भला क्यो लगेगा हमे !" राजकन्या चहक उठीं और अपलक नयनो मे जिज्ञासापूर्वक पतिदेव का मुख निहारने लगीं।

"प्रसंग आ गया है तो जी उत्सुक हो उठा है।"—कलाकार ने अपने दोनो हाथो मे राजकन्या का हाथ थामकर उसे कोमलता के साथ दबाते हुए कहा—"हम यह न समझ सके कि आप-जैसी रूपमती, गुणवती राजकन्या का जीवन-सग पाने को अनेक प्रतिष्ठित नरेशगण लालायित रह सकते है। आपने किसी कलाकार को अपना जीवन-संगी बनाने का निश्चय क्यो कर लिया?" कलाकार विक्रमादित्य ने प्रश्न तो कर लिया, किन्तु आन्तरिक आशंका से आतंकित हो राजकन्या की प्रतिक्रिया ज्ञात कर लेने को उनकी ओर निहारने लगे।

राजकन्या भी इस अयाचित और अनपेक्षित प्रश्न से कुछ असहज-सी हो उठीं और तिरछी दृष्टि से कलाकार पति की ओर ताकती कुछ क्षण तो मानसिक अतत्परता के साथ मौन रह गयीं और फिर रुक-रुककर कहने लगीं—"आप .... आपने .... यह प्रश्न क्यों कर लिया ....? किन्तु सोचती हूँ यह आपने अच्छा ही किया कि आज ही यह पूछ लिया ....। वास्तविकता यह है, स्वामिन् ! कि हमने अपने अनेक पूर्वजन्मों में पुरुषों की निर्ममता और अन्याय को भोगा है। इससे मुझे पुरुष जाति के प्रति ही घृणा हो चली थी। बाद में जाकर हमें अपनी भूल का आभास भी हुआ कि हमने प्रतिशोध का रुख अपनाकर कुछ अति ही कर दी थी। हम नर-द्वेषिणी हो गयी थीं। भला हो उस गायिका विक्रमा का जिसने हमारी आँखें खोल दीं और हमें उस अनुचित विचार-क्षेत्र से खींचकर बाहर निकाला और हमें सन्मार्ग पर लगा दिया ....।" राजकन्या का कंठावरोध होने लगा और उनके नयन आर्द्र हो गये।

कलाकार विजयादित्य ने भाँप लिया कि वधू के मन में भावातिरेक हो आया है और कुछ-कुछ संताप की स्थिति बन गयी है। उन्होंने बड़ी ही स्निग्धता के साथ पत्नी के मुख पर झूल आयी एक कुंचित अलक को पीछे की ओर करते हुए कोमल स्पर्श के साथ उनका शीश सहलाया। बोले—"हमने तो यों ही पूछ लिया था, रानी ! लगता है यह प्रश्न असामयिक हो गया .... हमें खेद है कि हमने ....।"

"नहीं .... नहीं .... ।" सुकोमला ने अपने मेंहदी रचे हाथ से कलाकार के मुख को बन्द करने का प्रयास करते हुए कहा—"ऐसा न कहिए .... आप ऐसा न कहें। आपने उपयुक्त ही किया है। आप न भी पूछते तो एक दिन मैं स्वयं भी आप पर प्रकट करने को थी यह सब-कुछ। यह तो विक्रमा की स्मृति से हृदय भर आया था। वह हमारी अत्यन्त प्रिय और अन्तरंग सखी हो चली थी। आपके .... अपने .... अपने मालव-देश की ही है। बड़ी निपुण गायिका है और इससे भी बढ़कर एक बहुत अच्छी मनुष्य है, बड़ी ही उदार और शान्त-संतोषी। उसने हमारे नर-द्वेष के विकार को धोकर हमारे मानस को स्वच्छ कर दिया। हमें जो भोगना पड़ा वह हमारा कर्मफल था। कोई अन्य उसका निमित्त भले ही बना हो, वह उसका कारण नहीं था—यह दर्शन उस सखी ने हमारे मानस में पक्का कर दिया। पर हम अतिशय स्नेह-प्राप्ति की आकांक्षिकी तब भी बनी रहीं और चाहती थीं कि हमें हमारा जीवन-साथी ऐसा मिले जो समग्रतः हमारा .... केवल हमारा बना रहे। उसके स्नेह की एक मात्र पात्र हम हों .... उसमें विभाजन न हो। कोई राजा-राजकुमार हमें प्राप्त कर अन्य तो हो सकता था, किन्तु उस वर्ग से हमें अतिशय स्नेह की आशा नहीं थी। राजमद होता ही ऐसा है। उसमें यह दोष स्वाभाविक ही होता है। पुरुष अपने को सर्वोच्च और सर्वोत्तम मानकर अन्य सभी को अपने से हीन मानने लगता है। हम भी ऐसी स्थिति में उसकी प्रजा होकर ही रह जातीं। उसका प्रेम भी

प्रजा-पालन का एक रूप होकर रह जाता। कब उसका अहं प्रबल बनकर हमारी उपेक्षा कराने लग जाता—यह कुछ कहा नहीं जा सकता। उस स्थिति में हम स्वयं को लाना नहीं चाहती थीं। अतः हमने निश्चय किया कि हम कोमलमनस्क कलाकार से परिणय करें। राजा तो राजा है। उसके मन का क्या विश्वास.... आज एक रानी से प्रीति और कल नवीन रानी का आगमन। पूर्व रानी उपेक्षिता, स्नेहवंचिता होकर मात्र अपने गौरव को लादे रहे और मनवांछित प्रीति उसे प्राप्त न हो.... ऐसा होता ही आया है। हम स्वयं को ऐसी अवस्था से बचाना चाहती थीं। कलाकार तो स्नेह-मूर्ति होता है। वह जिसे अपना लेता है उस सहचर को अपना प्रेम-पात्र बना लेता है। प्रेम की तृप्ति कलाकार साथी के साथ असंदिग्ध हो जाती है। हमने इसीलिए कलाकार से विवाह करने का निश्चय किया है।"

राजकन्या ने एक विस्तृत भावभूमि को अल्पतम संभव शब्दों में समेटकर प्रस्तुत कर दिया और प्रतिक्रिया जानने को उत्सुक दृष्टि से कलाकार पति को निहारने लगीं। उसकी दृष्टि मानो कह रही हो....क्यों....हमारा दृष्टिकोण आपको कैसा लगा? वृत्तान्त सुनते-सुनते जिस गम्भीरता में कलाकार पति निमग्न हो गये थे, उससे बाहर निकलते हुए उन्होंने कहा—"तब तो हम स्वयं को धन्य मानते हैं कि आपने अपने प्रेम-पात्र के रूप में हमारा वरण किया। आपकी वह सखी वास्तव में बड़ी विवेकशीला रही होगी। क्या नाम बताया था आपने उसका....?"

"विक्रमा।"

"हॉ, विक्रमा.... विक्रमा का प्रयास प्रशंसनीय रहा, किन्तु हमें ऐसा भी प्रतीत होता है कि विक्रमा अपनी भूमिका पूर्ण न कर पायी। कहीं.... कुछ ऐसा रह गया है, जो वह करना चाहती थी, किन्तु हो नहीं पाया। उसे आपके संग कुछ समय और भी रहना था। जहॉ नर-द्वेष को उसने आपके मन से हटाया वहॉ वह आंशिक रूप से शेष भी रह गया कि आपका सद्भाव राजपुरुषों के प्रति निर्मित न हो पाया। अच्छा, एक बात वताइये....।"

"पूछिये।"—सुकोमला ने जिज्ञासु दृष्टि से देखते हुए कहा।

कलाकार विजयादित्य ने अपनी वात को सुगठित रूप देने के प्रयोजन से कतिपय क्षणों का मौन चिन्तन किया। और तव उत्साह के साथ वोला—"सुकोमला जी ! संभव है कि मेरे कथन में आप औचित्य पावें या न भी पावें, किन्तु न तो सभी राजपुरुष निर्मम हो सकते हैं और न ही सभी कलाकार कोमल। हॉ, प्रायः ऐसी स्थिति रह सकती है.... अपवाद फिर भी हो सकते हैं। अनेक नरेशगण कोमल भी हो सकते हैं और कलाकार कठोर भी। फिर यदि कोई नृपति प्रजावत्सल, न्यायशील, लोकसेवक होने के साथ निपुण कलाकार भी हो, तो?" राजकन्या को आत्म-चिन्तन का अवसर देते हुए कलाकार ने अपने कथन-प्रवाह

को क्षणेक विराम दिया। राजकन्या की मानसिक सक्रियता उनकी पलकों के गिरने-उठने में व्यक्त होने लगी। उन्होने अपना वैठने का ढंग थोडा वदला और वे सतर्क हो गयीं। इस सक्रियता को मानसिक उथल-पुथल का सकेत मानकर कलाकार विजयादित्य तनिक और उद्दीप्त हुए और सहसा पूछ वैठे–"··· ऐसे कलाकार नरेश के विषय में आपकी क्या धारणा है?"

"धारणा तो सुस्पष्ट और सुदृढ़ है, स्वामिन् !" सुनिश्चय के साथ राजकन्या ने कहा और उनके मुख-मण्डल पर दृढता की आभा आ गयी। ऐसा पुरुप भी राजा पहले और कलाकार उसके वाद होता है। वह नृप-कलाकार हो सकता है, कलाकार-नृप नहीं। वह कव कलाकार का चोला त्यागकर अपने मौलिक राजवेश में आ जाय–कुछ कहा नहीं जा सकता। उसकी कोमलता सदिग्ध ही है। शाश्वत और अनश्वर सद्‌भाव उसमें नहीं हो सकता।" अपने इस अविचलित मत का स्थापन करते हुए वधू सुकोमला मौन हो गयी। तभी मानो कुछ स्मरण करते हुए धीरे-धीरे वे बोलीं–"···· एक वार हमारी उस सखी ने भी ऐसी चर्चा की थी और अवन्तीपति महाराज विक्रमादित्य का उद्धरण देते हुए उसने कहा था कि वे अत्यन्त रूपवान और कोमल भी है, शूरवीर और पराक्रमी भी है, वे न्यायशील और लोकपाल भी हैं और यशस्वी, प्रभावशाली संगीतज्ञ भी हैं। उसके मन में अपने राजा के प्रति उच्च प्रशंसा का भाव है। वह सगीत-विद्या में महाराज विक्रमादित्य की शिष्या भी रही है। वहुत सुन्दरता के साथ उसने नरेश का सद्‌भावयुक्त सुकुमारता का प्रतिपादन किया था।"

"महाराज विक्रमादित्य तो हमारे ही पराक्रमी प्रजा-पालक है। ऐसी ही धारणा हमारे मन मे भी उनके प्रति रही है। वैसा नरेश तो शताब्दियो मे ही किसी देश को सुलभ हो पाता है। नवनीत-सम स्निग्ध मन के स्वामी हमारे महाराज है, अत्यन्त स्नेहशील····। अच्छा, यह वताओ सुकोमला, आपकी सखी की धारणा के विपय मे आपकी क्या प्रतिक्रिया रही?"

दृष्टि नीची किये हुए राजकन्या ने कहा–"अवन्ती-नरेश के विपय मे हमारी अन्तरंग सखी ने तव प्रशस्ति-गान किया था और आज, स्वामी! आप भी उसी धारणा को व्यक्त कर रहे हैं। एक वात वताऊँ आपको··· हमारी सखी ने वचन दिया था कि हमारे परिणय-प्रसंग मे वह अवश्य सम्मिलित होगी। वह तो आयी नही, किन्तु अव ऐसा लगता है, जैसे उसका अभाव नही रहा। हमे लगता रहा है कि आपके रूप में मानो हमारी वही सखी हमे मिल गयी हो।" मुस्कराते हुए राजकन्या ने जोडा–"वैसे ही विचार, वैसी ही विवेकशीलता, वैसा ही संगीत-नैपुण्य। आहा ··· हा! क्या गाती है! वाह!! और आप तो उससे भी दो चरण आगे ही निकले!"

"वह तो ठीक है–वह आपकी सखी थी, हम आपके सखा सही।" कलाकार ने विनोद के स्वर में कहा–"हमे आप अपनी सखी के समान माने–इसमे हमे कोई आपत्ति नही, किन्तु आपने हमारे प्रश्न का उत्तर तो दिया नहीं। हमारा प्रश्न अब भी प्रतीक्षारत है····।"

उत्तर मे जब राजकन्या प्रश्नाकुल दृष्टि से कलाकार को ताकने लगीं तो कलाकार ने संक्षिप्त पुनरावृत्ति कर दी–"अपनी सखी की धारणा पर आपकी क्या प्रतिक्रिया रही?"

"ओह ! हॉ, हम क्षमा की जाये, स्वामिन् ! तब भी विक्रमा की धारणा हमारे विचारों को परिवर्तित नहीं कर सकी और आज भी आपकी धारणा हमारे विचारों मे परिवर्तन नही ला रही है। हमे शुद्ध सात्त्विक कलाकार की कामना थी–वह पूर्ण हो गयी। हमे वांछना ऐसे वर की रही ही नही कि जो कलाकार होने के साथ-साथ कुछ और ··· कुछ और भी हो। किन्तु आप सव-कुछ क्यो पूछ रहे है, स्वामी !"

कलाकार विजयादित्य का मन हठात् वुझ-सा गया और उनके हृदय को हल्का-सा आघात पहुँचा। इस आन्तरिक अवस्था को लुप्त रखते हुए, अपने मुख पर आये शैथिल्य को मुस्कराहट से लिप्त करते हुए वोले–"आज से हमारा नया जीवन जो आरम्भ हो रहा है। हमे एक-दूसरे का मानसिक परिचय भी तो प्राप्त कर लेना चाहिए न। यह परिचय भावी व्यवहारो को सुखद स्वरूप देगा, सुकोमला जी !"

"आपके कथन में औचित्य है, स्वामी ! हम इससे सहमत है। अपरिचय की स्थिति ही दुःखद हो जाया करती है।"

"सुकोमला जी ! आपने हमे अपनी सखी विक्रमा के समान माना है। हम भी इतना अवश्य मानते है कि दाम्पत्य जीवन मे हम सहचर हो गये है तो हम परस्पर हित-कामना ही नही, हित-साधना भी करें। विक्रमा ने जो कार्य किया–उसे आगे वढाने, उसके अपूर्ण रह गये कार्य को पूर्ण करना भी एक हित-साधना ही होगी। आप हमे विक्रमा के स्थान पर भी मान सकती है।"

"आप विक्रमा का स्थान भी लें–यह तो वडी प्रसन्नता की वात है, हमारे लिए····।" राजकुमारी ने गद्गद स्वर मे कहा–"किन्तु फिर आपके लिए हमारा क्या स्थान रहेगा?"

"वही ···· विक्रमा के लिए आप सखी थी, हमारे लिए जीवन-सगी।" और दोनो को इस मधुर वार्त्ता का आनन्द अनुभव होने लगा। कलाकार-दम्पति मानो अपने ही विमल हास मे नहा गये। गम्भीर और उत्तेजक वातावरण तिरोहित हो गया। आनन्द के क्षणों के आगमन से उत्फुल्लता छा गयी। 'प्रीति अनन्त–प्रीति-वार्त्ता अनन्ता।' दोनों प्रेमी–प्रिय युगल स्नेह का परस्पर आदान-प्रदान करने

रहे और समर्पणशीलता का परिचय देते रहे। सुकोमला के अनुरोध पर कलाकार ने राग भैरवी का ऐसा मधुर गान किया कि राजकन्या का रोम-रोम पुलकित हो उठा। वातायन से शीतल मन्द पवन के झकोरे उन्हें और भी आनन्दित करने लगे थे। कलाकार-दम्पति की अलकें लहराने लगीं। पूर्व दिशा के साथ-साथ इनके नेत्रों में भी लालिमा व्याप्त होने लगी। प्रत्यूष वेला में कलाकार युग्म परस्पर निष्ठा और प्रेम-निर्वाह की शपथ लेते रहे—इस मिलन से अपने जीवन की सार्थकता अनुभव करते रहे। मिलन-यामिनी के इस अन्तिम प्रहर में स्नेहसिक्त हृदय के साथ वे निद्राधीन होकर स्वप्न-लोक में विचरण करने लगे।

भोर में स्नानादिक से निवृत्त होकर कलाकार विजयादित्य जब अपने कक्ष में पहुँचे तो मित्र अग्निवेताल वहाँ प्रतीक्षा कर रहा था। विजयादित्य के पहुँचते ही वह आसन से उठ खड़ा हुआ और मुस्कराते हुए करबद्ध रूप में नमन करते हुए बोला—"बधाई हो महाराज ! शत-शत अभिनन्दन ! इस परिणय-प्रसंग पर हार्दिक मंगल कामनाएँ स्वीकार कीजिये।"

"मित्रों की मंगल कामनाएँ देवताओं के वरदान की भाँति सार्थक और प्रभावशील होती हैं। मित्र कामना ही नहीं करते वे हमारी हित-साधना भी करते हैं और कामनाओं का साफल्य इससे अवश्यंभावी हो जाता है।" महाराज विक्रमादित्य ने विजयादित्य के रूप में उक्त कथन करते हुए अग्निवेताल की सहायताओं को अपनी सफलता के मूल में माना और इसके लिए उसका धन्यवाद भी किया। उन्होंने कहा कि यदि अग्निवेताल की सच्ची मित्रता का लाभ न मिला होता तो वे राजकन्या को नर-द्वेष से मुक्त कराने के अपने संकल्प को कदाचित् इस रूप में पूर्ण न कर पाये होते। अग्निवेताल ने महाराज को यह स्मरण भी कराया कि अवन्ती में उनकी तीव्र प्रतीक्षा की जा रही है। राजकाज के अनेक प्रसंग उनके निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे होंगे। अब उन्हें राजवधू के संग अवन्ती लौटना चाहिए। महाराज ने उसे अपने मंतव्य से अवगत करा दिया कि अभी लौटने का समुचित समय नहीं आया है। राजकन्या सुकोमला के प्रति अभी वहुत-कुछ करना शेष है। राजपुरुषों के प्रति उनके मन में जो आशंकाएँ हैं उनको जव तक दूर न कर दिया जाय, तव तक उनका उद्योग अधूरा है। पुरुष-जाति के प्रति सद्भावपूर्णता की स्थिति को तभी समग्रता का रूप मिल सकेगा। और इसमें अभी कुछ समय और लग जायेगा। हमें राजकन्या का मन जीतना होगा और वह भावनाओं से ही संभव होगा तर्कों से नहीं। तर्कों से मस्तिष्क को चमत्कृत किया जा सकता है, किन्तु आचरण मन की प्रेरणा से होता है। सुन्दर भावनाओं से मन को प्रभावित करके ही किसी से सुन्दर आचरण की आशा की जा सकती है। अग्निवेताल महाराज के मर्म को समझ गया और तव उसने अपने स्थान को चले जाने की अनुमति माँगी। उसने यह भी कहा कि जव कभी मेरी सेवाओं की

आवश्यकता हो, मेरा स्मरण कीजिए। मैं तत्काल उपस्थित हो जाऊँगा। महाराज ने सकारात्मक संकेत के साथ सिर हिलाया और मित्र अग्निवेताल को विदा कर दिया। वेताल अदृश्य हो गया।

सुख का समय कपूर की भाँति शीघ्रता के साथ विलीन होता चला जाता है। यह तो कष्ट का समय ही होता है जो लौह-खण्ड की भाँति काटे नहीं कटता। कलाकार-दम्पति आमोद-प्रमोद में निरत हो गये। वन-भ्रमण, जल-क्रीड़ा, नृत्य-संगीत, हास्य-विनोद, यही सब-कुछ चलता रहता। राजकन्या को जीवन में रस आने लगा। पहली बार उन्हें आनन्दपूर्णता में जीवन की सार्थकता का अनुभव होने लगा था। तनावों और अप्रिय भावों से मुक्त वे सर्वथा सुखी हो गयीं। उन्हें सर्वत्र अपने हितैषी और स्नेही जन ही दिखायी देने लगे। यह नीला आकाश उनके लिए अब हर रात्रि में दीपावली लेकर आता और धरती वसन्त की भेंट लेकर उपस्थित रहती। पवन उन्हें मादक और सुखकर प्रतीत होती तो मेघ अमृतोपम आनन्द की वर्षा करते थे। वे अहर्निश अनुराग की उपासना में निरत रहतीं। उन्हें सर्वत्र प्रेम की शीतल फुहार का ही आनन्द प्राप्त होता रहता। सत्य ही है मनुष्य अपने अन्तर के अनुरूप ही बाह्य जगत् को अपने लिए रूपायित कर लेता है। भीतर की सुन्दरता ही बाहर फैलकर सारे वातावरण को सुन्दर बना देने की क्षमता रखती है। प्रतिदान में राजकुमारी सुकोमला का विशुद्ध, विपुल अनुराग पाकर कलाकार विजयादित्य भी परम सुख का अनुभव कर रहे थे। विजयादित्य कलाकार तो थे ही और संगीत-कला के निष्णात अभ्यासी थे, साथ ही वे उच्च कोटि के संस्कारशील भी थे। उनके मृदुल व्यवहार और मधुरभाषिता के गुणों ने उन्हें सर्वप्रिय भी बना दिया था। प्रसन्नचित्त व्यक्ति तो सुखी बना ही रहता है, उसका व्यवहार भी सर्वजन सुखकारी हो जाता है। उसके व्यक्तित्व के सौम्य का रहस्य उसकी प्रसन्नचित्तता में ही निहित रहता है। कलाकार विजयादित्य का हास्यवदनीय व्यक्तित्व भी इसी प्रकार मनमोहक बना रहता था। राज-दम्पति तो ऐसा जामाता पाकर निहाल ही हो गये थे। महाराजश्री और महारानी के मन में उनके प्रति आदर का ही नहीं सहज श्रद्धा का भाव भी रहा करता था। वे परम संतुष्ट थे—अपनी कन्या के भवितव्य से भी।

राजकन्या का सुखमय जीवन नवनवीन सुखायामों से सज्जित होता चला जा रहा था। मानसिक संतोष उनके मुख पर सौन्दर्य की अपूर्व आभा बनकर छाया रहता था। पुलक भरा उनका हृदय स्वयं उन्हें ही अतिशय हल्का-फुल्का अनुभव होता था। समय को तो जैसे पंख ही लग गये थे। देखते-देखते ही महीने निकल गये। विजयादित्यरूपी महाराज विक्रमादित्य कभी-कभी मानसिक रूप में उद्वेलित हो उठते थे, किन्तु ऊपर से वे यथावत् शान्त और गम्भीर बने रहते। मन की चिन्ता मुख-मुद्रा पर न आने देने की कला में भी वे पीछे न थे। चिन्ता का मूल विषय

उनका अपना मौलिक परिचय बना हुआ था जो अब तक कलाकार के चोले मे छिपा हुआ था। राजकन्या सुकोमला के मानस को किस प्रकार मोड दिया जाय कि यह ज्ञात होने पर भी कि विवाहोपरान्त वे अवन्ती की रानी हो गयी हैं–उनके भावों में उग्रता न आ पाए। वे तो राजपुरुषों से अप्रसन्नता का भाव रखती है। यो सहसा ही उनका मानस पलट भी नहीं सकता है। वे कलाकार के रूप मे ही राजकुमारी सुकोमला के प्रिय हैं और रह सकते हैं। कालान्तर में ही, धीरे-धीरे कोई परिवर्तन संभव हो सकेगा। उसके लिए भी आवश्यक यह रहेगा कि हमारे प्रति उनका आकर्षण् तीव्रतम रूप ले ले। ऐसी स्थिति संयोगकाल में सम्भव नहीं है। वियोगकालीन मनोमंथन ही ऐसी किसी अप्रिय स्थिति को भी प्रिय और स्वीकार्य बना सकेगा। पुनर्मिलन की उत्कट आकांक्षा समझौतावादी वना देती है। यदि मातृत्व की श्री से यह शोभित हो जाये तो मार्ग और भी सुगम हो सकता है। वात्सल्य भाव जननी के हृदय को क्षमाशील भी बना देता है। अपनी संतति के हित के लिए माताएँ अपने दुराग्रहों के परित्याग को भी तत्पर हो जाती हैं। जव भी विजयादित्य एकाकी होते, उनका मन समस्या और समाधान के चिन्तन में लीन हो जाता था। हॉ, पत्नी के समक्ष वे कभी अन्तर्मुखी नहीं हुए। उनके समक्ष तो वे अपना सर्वप्रिय और एक मात्र ध्यातव्य पत्नी को ही मानकर चलते और तदनुरूप ही अपना व्यवहार रखते थे। राजकन्या को अपने स्वामी के इस व्यवहार पर गर्व भी था और संतोष भी।

सुस्वस्थता दैहिक रूप-सौन्दर्य को और अधिक आकर्षक बना देती है। सुखमय विवाहित जीवन के सुख-संतोष ने राजकन्या के स्वास्थ्य में भी अपूर्व विकास कर दिया था। उनकी कृश काया अव कुछ मॉसल और सुगठित हो चली थी। वस्त्रालंकारों के प्रति भी उनकी रुचि वढ़ गयी थी और शृंगार-प्रसाधनों के उपयोग में भी। ये प्रवृत्तियॉ राजकन्या के सहज सौन्दर्य के सोने में सुहागा की सफल भूमिका निभाती थीं। उनके रूप शृंगार पर उनकी सखियों को भी गर्वानुभूति होती थी। पिछले कुछ समय से तो राजकन्या की मुख-दीप्ति में असाधारण वृद्धि हो गयी थी। उनकी गौरवर्णी त्वचा दमक उठी थी। उनके हाव-भावों में भी अतिशय आकर्षण आ गया था। असामान्य रूप से वे चंचल और उत्फुल्ल दिखाई देने लगीं।

एक दिवस राजमाता का सुकोमला के प्रासाद में आगमन हुआ। पुत्री की इस अपूर्व स्थिति को देखकर उनका मन अति प्रसन्न हुआ और मन ही मन वे कुछ अनुमान करने लगीं। कक्ष मे प्रवेश के समय उन्होने पाया कि जैसे राजकन्या कुछ असहज-सी हो उठी हों और उन्होने अपनी पीठ के पीछे कुछ छिपाने का प्रयत्न किया हो। स्वभाव के अनुसार पुत्री अपनी जननी से हॅस-हॅसकर वार्त्तालाप करने लगी। राजमाता ने कुशल-क्षेम पृछा और अपनी पुत्री के सुखी जीवन पर संतोष व्यक्त किया। वार्त्तालाप जो चल पडा तो विषयान्तरित होते-होते कहीं से कहीं पहुँच

गया। इस वीच माता ने ऐसा भी अनुभव किया कि पुत्री को उवकाइयॉ आ रही हैं और वह उन्हें सायास दबाती जा रही है। अन्ततः राजपुत्री अपने प्रयास मे असफल हो गयीं और वमन करने को सहसा उन्हे लपककर भागना ही पडा। तभी छिपाई गयी कच्ची अमियॉ की फॉकों पर राजमाता की दृष्टि गयी और उनका अनुमान पुष्ट हो गया। राजपुत्री कुछ क्षणों में लौटकर आयीं। हॉफती हुई वे शय्या पर बैठी ही थीं कि माता ने हौले-से उन्हे लिटा दिया। बोलीं—"घबराने की कोई बात नही, विटिया ! यह तो भावी शुभ का पूर्व संकेत है।"

नारी-जीवन की सफलता मातृत्व के वरदान में ही निहित रहती है। और राजकन्या सुकोमला इस वरदान से विभूषित होने वाली है—वे सगर्भा है। यह समाचार जब कलाकार विजयादित्य को प्राप्त हुआ तो उनकी बॉंछें ही खिल गयी। अवन्ती राजकुल में वृद्धि की इस अनिवार्य संभावना ने उन्हें पुलकित कर दिया। उन्होने अपने सौभाग्य को भी शत-शत नमन किया कि उनका मार्ग सरल होता जा रहा है। दैव सदा ही उनके अनुकूल रहा है—इस वार पुनः संकट-मोचन परिस्थिति वनाकर उसने उनकी सहायता की है। वे अतिशय दीन भाव से नवकार महामंत्र का जाप करने लगे। एक अद्‌भुत शान्ति का प्रसार उनके मानस में होने लगा। संध्या समय प्रासाद के उपवन में विचरण करते हुए कलाकार ने राजकन्या को वधाई दी। सुकोमला मानसिक रूप से आनन्दित, किन्तु दैहिक रूप से किंचित् संकुचित हो गयीं। एक सहज क्रीड़ा का भाव उनकी पलकों को अवनत कर गया। झुकी पलकों से ही ऊपर उठकर कृतज्ञ दृष्टि प्रियतम की ओर वढी। कलाकार ने देखा राजकन्या ऊपर की दन्त पक्ति से नीचे के होठ को दवाने लगी थी, मानो आन्तरिक भावों को छिपाने का प्रयत्न किया जा रहा हो। कलाकार-दम्पति वडी देर तक अपनी भावी सन्तति की मधुर कल्पनाओं मे खोये रहे।

अव विजयादित्य को अपने भावी कार्यक्रम की रूपरेखा निश्चित करनी थी। उन्होने इस प्रकरण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो माना, किन्तु इसमे कोई अतिरिक्त त्वरा नही वरती। धैर्य से कुछ समय तक वे इस विषय मे चिन्तन करते रहे। इस वीच उन्होंने पत्नी सुकोमला के साथ अपने व्यवहार में अतिरिक्त मृदुलता और स्नेह का योग कर दिया। उनका लगाव भी वढ गया। विजयादित्य ने अनेक वार अपने मित्र अग्निवेताल को वुलाने की वात भी सोची, किन्तु उसका उचित समय अभी नही आया है—यह मानकर अपना विचार वे स्थगित करते रहे। उन्होंने सुकोमला राजकुमारी को एक दिवस वार्तालाप के दौरान आभास करा दिया कि कुछ ही दिनो मे उन्हें कुछ समय के लिए प्रतिष्ठानपुर मे प्रस्थान करना होगा। देश-स्तर पर वंग देश मे एक विशाल संगीत-सम्मेलन होने जा रहा है और उन्हें भी उसमे भाग लेना होगा। यह सुनकर ही राजकन्या को आघात-सा लगा। हताश होकर वे वोलीं—"न जाने मे क्या काम न चलेगा ?"

"जाना तो होगा ही। गुरुदेव का आदेश जो है।" विजयादित्य ने बड़ी ही नरमी के साथ कहा—"आपको यों ऐसी अवस्था में छोड़कर जाने को मन तो नहीं करता, किन्तु विवशता है।"

कई क्षणों तक तो राजकन्या मौन ही रह गयीं। तदनन्तर वे कुछ साहस जुटाकर बोलीं—"कब तक का प्रवास रहेगा?" उनके नयन छलछला आये—"हमने तो कभी कल्पना भी नहीं की थी कि यों एकाकी होकर भी रहना होगा।" कहते-कहते राजकन्या फफक उठीं।

सान्त्वना के स्वर में विजयादित्य ने कहा—"यों अधीर होने से तो .... प्रेयसी ! .... प्रीति के मार्ग में मिलन-बिछोह तो लगा ही रहता है।" कोमलता के साथ प्रेयसी के कंधे को स्पर्श करते हुए उन्होंने अपनी बात को अग्रसर किया—"और हम कौन वर्ष-दो वर्ष के लिए जा रहे हैं। शीघ्र ही लौट आयेंगे। ३-४ माह का समय लग सकता है, बस ....।"

"इतना समय ....?"

"दूर का प्रसंग भी तो है। इतना तो लग ही सकता है।"

इस भूमिका का लाभ यह हुआ कि राजकन्या विजयादित्य को विदा करने के लिए मानसिक रूप से तैयार होने लगीं। और तब एक दिन प्रातःकाल ही स्नानादि से निवृत्त होकर विजयादित्य ने एक पत्र पर अपना मूल परिचय अंकित किया और पत्र को एक मंजूषा में रखकर उसे भलीभाँति बन्द कर दिया। पत्र के साथ उन्होंने अपनी मुद्रिका भी मंजूषा में रख दी थी।

रात्रि में विजयादित्यरूपी अवन्ती-नरेश ने मित्र अग्निवेताल का स्मरण किया और तत्काल ही वह साक्षात् हो गया। वेताल ने महाराज को नमनपूर्वक प्रणाम किया और पूछा—"आज उसे कैसे स्मरण किया गया है—क्या आदेश है?" महाराज ने उसे आसन ग्रहण कर लेने को कहा और सारी स्थिति का विवेचन करते हुए कहा—"राजकन्या को हमने अपना यथार्थ परिचय अभी तक नहीं दिया है। उनके मन में राजपुरुषों के प्रति अभी सद्भाव नहीं आया है। अतः भय है कि यदि उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि हम विक्रमादित्य—मालवाधिपति हैं तो उनका मन रोष से भर उठेगा और सारा उपक्रम ही विनष्ट हो जायेगा। उचित समय पर ही यह रहस्य उद्घाटित हो—यही हम चाहते हैं।"

"यह तो वडा अद्भुत है, महाराज ! पति-पत्नी के मध्य ऐसा दुराव क्या अनीति नहीं।" आश्चर्य के साथ वेताल ने कहा।

"अनीति उसी कर्म में है जो किसी अन्य के लिए हानिकारक हो, मित्र ! हमारी सारी योजना का मूल मंतव्य राजकन्या की उसकी नर-द्वेष की दुष्प्रवृत्ति से मुक्ति का रहा है। वही आज भी है और इसी मुक्ति में ही उनका हित है। किसी के हित के प्रयोजन से जो भी कुछ किया जाय—उसमें अनीति कैसी? अव हम जो

कर रहे हैं वह भी उसी बड़ी योजना का एक अंग है और उसमें भी यथार्थ मे कोई अनीति नहीं है ...... ।" महाराज ने प्रबोधित करते हुए अग्निवेताल से कहा और चिन्तन की मुद्रा में मौन हो गये।

"इस दृष्टि से तो आपका मार्ग कदाचित् उपयुक्त ही है, किन्तु फिर वह उचित समय कौन-सा होगा, स्वामी !..... किस घड़ी में .....?"

"यही हम तुमसे विचार-विमर्श करके निश्चित करना चाहते हैं।" महाराज ने कहा–"मित्र वेताल ! यह सुनिश्चित है कि अभी राजकुमारी का सत्य और तथ्य से अनभिज्ञ रहना ही उपयुक्त है। अब कोई ऐसा क्रम आरंभ होना चाहिये कि उनका मानस क्रमशः राजपुरुषों के प्रति द्वेष से मुक्त होता चला जाय। जब इस स्थिति की परिपक्वता आने लगे, तभी उन्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि उनके पतिदेव भी ऐसे ही एक पराक्रमी राजपुरुष हैं, कलाकार तो वे है ही।"

ध्यान से सुनते हुए अग्निवेताल का मस्तक सहमति के आशय के साथ डोलने लगा। उसे महाराज के कथन मे औचित्य प्रतीत होने लगा। जिज्ञासा से अभिभूत होकर उसने पूछा–"और वह क्रम क्या होगा .... कब आरंभ होगा वह क्रम ?"

"एक प्रकार से वह क्रम आरंभ हो ही चुका है, मेरे मित्र !"–प्रसन्नता के साथ महाराज विक्रमादित्य ने कथन किया–"आरंभ हो चुका है वह क्रम। राजकन्या सुकोमला माता बनने वाली है।"

"महाराज की जय हो ...... वधाई हो ! महाराज, वधाई !!" अतिशय हार्दिक प्रसन्नता के आवेग में वेताल अनियंत्रित-सा वोल उठा–वह अत्यत उल्लसित था। महाराज ने अपना कथन निरन्तरित रखते हुए कहा–

"मातृत्व में नारी के स्वरूप की सम्पूर्णता निहित रहती है, मित्र ! मॉ होकर नारी अपने समस्त शीलों और सद्गुणों से विभूषित हो जाती है। मॉ का हृदय स्नेह और वात्सल्य की सरिता का ऐसा उत्स हो जाता है कि उसमे कोमलता का साम्राज्य हो जाता है। उसमें कठोरता शेष रह ही नही जाती। मातृत्व नारी के लिए देवत्व का वरदान होता है। उसे सभी के प्रति अपनत्व का भाव घेरे रहता है। ऐसे वात्सल्य–कोमल मन में स्नेह ही स्नेह रह जाता है। द्वेष जैसा कोई दुर्भाव उसके लिए ग्राह्य नहीं रह जाता। वह ममता की मूर्ति हो जाती है।"

"आपका यह विचार भी यथार्थ ही है, महाराज !" अग्निवेताल ने समर्थन की भावना के साथ कहा–"और तव तो इस रूप मे दैव ने आपकी प्रत्यक्ष रूप में ही सहायता की है।"

"सत्य कहते हो मेरे मित्र ! तुम सर्वथा सत्य कहते हो। सद्भाव के साथ किये जाने वाले सभी सुकर्मो मे दैव सदा सहायक ही रहता है। [illegible]

ही किसी कर्म के अशुभ होने का पूर्व संकेत होता है–कर्त्ता को अपने कर्म की पुनः समीक्षा ऐसी स्थिति में कर लेनी चाहिये। यही विवेक का मार्ग है।"–महाराज विक्रमादित्य ने आत्म-विश्वास के साथ कहा।

"यह तो ठीक है, श्रीमानेश्वर ! किन्तु फिर भी यह प्रश्न तो शेष ही रह जाता है कि राजकन्या सुकोमला को कब और कैसे आपका यथार्थ परिचय ज्ञात होगा?"–अग्निवेताल ने पूछा।

"यह भी हमने सोच रखा है। हमने अपना परिचय लिखकर इस मंजूषा में बन्द कर दिया है, मित्र ! अब यह मंजूषा ही हमारा यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करेगी, किन्तु हमारी अनुपस्थिति में।" अपनी बात में रहस्य का रंग लाते हुए महाराज ने कहा।

"अनुपस्थिति में? ······ क्या कहते हैं, महाराज ! तो क्या आप रहस्योद्घाटन के पूर्व ही प्रतिष्ठानपुर छोड़कर चले जाना चाहते हैं?"

"तुमने ठीक ही सोचा है, मित्र ! ऐसा ही करना होगा। हम प्रवास पर रहेंगे।" अवन्ती-नरेश ने कुछ सोचते हुए कहा। वियोग की अग्नि भी राजकन्या के हृदयरूपी स्वर्ण को तपाकर शुद्ध और विकारयुक्त करने मे सहायक होगी। पुनर्मिलन की अधीरता उनके हृदय को कोमल बना देगी, तभी यह मंजूषा हमारा यथार्थ परिचय प्रस्तुत करेगी। और तब ·····।"

महाराज के व थन-मध्य ही अति उत्साहित होते हुए अग्निवेताल बोल उठा–"सर्वथा उपयुक्त है, महाराज ! आपश्री ने जो निश्चय किया है, वह शुभ है ···· मंगलकारी सिद्ध होगा यह। इस दास को क्या करना होगा, महाराज !" विनयपूर्वक वेताल ने प्रश्न किया।

"तुमने अपना आधा कार्य तो कर ही लिया है, अग्निमित्र !"–मुस्कराते हुए महाराज विक्रमादित्य ने कहा–"हमें हमारे इस सोच-विचार के विषय में हमारे हितैपियों की सम्मति की आवश्यकता थी। उसकी पूर्ति तुमने कर दी। अव हमें विश्वास हो गया कि हमारे चरण सही दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। कल ही हमें प्रतिष्ठानपुर से प्रस्थान करना होगा।"

"उत्तम है, महाराज ! किन्तु हमें जाना कहॉ होगा?"

"अभी तो तुम इतना जान लो कि हमें वंग देश के लिए प्रस्थान करना है, जहॉ एक संगीत-सम्मेलन में हमें भाग लेना है। शेप तुम्हें यथासमय ज्ञात होता रहेगा। जाओ, तुम भी विश्राम करो अव।"

महाराज विक्रमादित्य का आदेश पाकर वेताल अदृश्य हो गया। भोर होते-होते कलाकार विजयादित्य ने श्वेत वस्त्रधारी एक व्यक्ति को प्रासाद में इधर-उधर

विचरण करते देखा। ज्ञात हुआ कि अवन्ती से उनका कोई मित्र गुरुदेव का संदेश लेकर आया है। क्षण मात्र में वे सारी बात समझ गये। कुछ समय पश्चात् कलाकार राजकन्या के साथ हँस-हँसकर बातें कर रहे थे। उन्होंने पत्नी को वह मंजूषा थमायी और कहा–"इसे अपने पास रख लो। इसकी सुरक्षा का ध्यान भी तुम्हें रखना है। यह हम दोनों के लिए अत्यन्त मूल्यवान है।" राजकन्या सुकोमला ने मंजूषा को अपने समीप रखते हुए कहा–"ऐसा क्या है, स्वामी ! इसमें ...... कोई ......।"

विजयादित्य ने क्षीण हास के साथ उत्तर दिया–"यथासमय तुम्हें स्वयं ही यह भी ज्ञात हो जायेगा। ऐसा कुछ विशेष नहीं है इसमें, बस कुछ महत्त्वपूर्ण पत्रादि हैं। लौटकर आऊँगा, तो आपसे ले लूँगा।"

प्रियतम के लिए महत्त्वपूर्ण मंजूषा स्वयं राजकन्या के लिए भी अत्यन्त प्रिय और महत्त्वशील हो गयी। उन्होंने तत्काल उसे सहेजकर सुरक्षित स्थल पर रखवा दिया और बोलीं–"क्या आज ही प्रस्थान होगा? ..... अभी कुछ समय और भी रुकना न हो सकेगा?" उनकी पलकें आर्द्र हो गयीं।

एक बार तो विजयादित्य भी तनिक विचलित हुए, किन्तु वह विचलन व्यक्त हो, उसके पूर्व ही उन्होंने उस पर नियंत्रण कर लिया। अपनी कोमल-कोमल उँगलियों के मृदुल स्पर्श से उन्होंने प्रेयसी की पलकों को पोंछते हुए गले से लगा लिया और पीठ सहलाते हुए मौन सांत्वना देते रहे। कुछ पलों में ही दोनों जब सहज हुए तो कलाकार ने पुनः मुखरित होते हुए आश्वासन के स्वर में कहा– "चिन्ता न करो ...... हम यथाशीघ्र लौट आने का प्रयास करेंगे। हमे हँसते हुए विदा करो, अन्यथा प्रवासभर में हमारा चित्त खिन्न ही रहेगा।" और सत्य ही कलाकार के मुख पर उदासी छा गयी। उनकी ग्रीवा झुक गयी और कुंचित केश-राशि से विलग हो एक अलक भाल पर झूल आयी।

राजकन्या ने प्रियतम की यह अवस्था देखी तो तनिक विचलित हो गयी। सोचा सचमुच इन्हें वियुक्त होने का दुःख है। यदि अनिवार्यता न होती तो कदाचित् ये जाते ही नहीं। आश्वस्त होकर उन्होंने अपने मन को वश मे किया, विचलन को त्यागकर दृढ़ता दिखाना आवश्यक मानकर अत्यन्त स्नेह के साथ बोलीं–"प्रेयसी को एकाकी छोड़कर जाने में आपको जिस वेदना का अनुभव हो रहा है, उसे हम भलीभाँति जान सकती है।" उन्होने प्रियतम की अलक को अपनी उँगलियो से पीछे करते हुए दोनो हाथो से स्नेहपूर्वक उनका मुख थामकर ऊँचा किया; बोलीं–"तनिक अपने नयनों को हमारे नयनों में झाँकने का अवसर दीजिये। पुरुषों को भला ऐसी अधीरता शोभा देती है ! नारी होकर हमने इस वियोग को सह लेने का निश्चय कर लिया, मन को इस हेतु तत्पर कर लिया और आप .... आप ......।"

"ना .... ना, ऐसी विकलता आपको ...... आपको तो और भी दृढ़ रहना चाहिये न ...... तनिक झाँककर देखिये हमारी ओर .... आप पाएँगे कि हम तो सहज और सामान्य हैं। देखिये .... ऊपर की ओर ......।" प्रेयसी की प्रेरणा से कलाकार ने दृष्टि ऊपर की तो पाया कि यथार्थ में राजकन्या मुस्करा रही हैं। इस सम्बल ने कलाकार को थाम लिया। कई क्षणों से भीतर भरी हुई साँस को छोडते हुए उन्होंने कहा–"प्रेयसी ! कहती तो आप ठीक ही हैं, किन्तु हमारा मन भी बड़ा दुर्बल है। क्या करें ...... ।"

"दुर्बल नहीं ...... कोमल है, भावुक है। किन्तु कुछ दिनों की ही तो बात है।"–राजकन्या ने धीरज दिलाने के स्वर में कहा।

"यही सोचकर तो हम भी कुछ आश्वस्त हैं। हम शीघ्र ही लौट आएँगे। जाने क्या चेटक .... क्या चमत्कार कर दिया है–आपके विमल अनुराग ने, हमारे मन पर। ये नयन आपकी मुख-छवि के ऐसे लोलुप हो गये हैं कि दास के बिना दो क्षण में ही प्यास से विकल हो उठते हैं। स्वयं हमारे लिए भी यह प्रवास वेदना का कारण बना रहेगा।" कलाकार ने अन्तर को खोलकर ही जैसे प्रस्तुत कर दिया।

"इसी से तो हम कहती हैं कि आप अत्यन्त भावुक हैं। आपका यह असीम अनुराग पाकर हम धन्य हो उठी हैं। फिर यह तो ऐसा प्रवास है कि जो आपके यश को अभिवर्धित करने वाला सिद्ध होगा। यही हमारे लिए प्रसन्नता और संतोष का कारण है। हम हँसते-हँसते यह वियोगावधि व्यतीत कर लेंगी। आप निश्चिन्त होकर जाइये। बस .... जितना शीघ्र संभव हो लौट आइये।" एक आदर्श पत्नी के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह करते हुए राजकुमारी सुकोमला ने कहा और उनकी वाणी अवरुद्ध होने लगी।

इस स्थिति ने कलाकार विजयादित्य को भी तनिक अस्थिर कर दिया। उन्होंने देखा कि राजकन्या की आर्द्र पलकों की छाया में उनके अधर क्षीण-से सस्मित हो उठे थे–"प्रिये ! आपका यह दुःखित भाव हमें हमारे प्रवास-विषयक कार्यक्रम पर पुनः विचार कर लेने को विवश करता है। क्या हमे सचमुच जाना चाहिये? इस प्रकार क्या हम पतिधर्म का पालन करने में पिछड़ न जायेंगे?" कलाकार ने कहा।

और त्वरा के साथ ही राजकन्या ने भी उत्तर में कहा–"अवश्य जाना चाहिये, स्वामी ! इस प्रकार तो अपनी पत्नी को उसके धर्म-पालन के योग्य ही बनायेंगे। हम क्षत्राणी हैं। क्षत्राणी अपने स्वामी की कीर्ति में कभी बाधक नहीं बनतीं। हम तो अपने पतियों को तिलक लगाकर समर भूमि के लिए विदा करने वाली सन्नारियाँ हैं। आप तो कला के साधना-क्षेत्र के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। अवश्य जाइये। आपका प्रवास मंगलमय हो। उज्ज्वल यश से अभिषिक्त होकर आप प्रसन्नवदन शीघ्र लौटें–यही कामना है।"

विजयादित्य को मानसिक दृढ़ता प्राप्त हुई–"तो अब हँसते हुए हमे विदा करो, प्राणेश्वरी ! प्रस्थान वेला आ पहुँची है।" उन्होंने धीमे स्वर मे कहा और उठ खड़े हुए।

राजकन्या ने भी आसन त्यागा। पूजा का थाल लेकर वह कलाकार के समक्ष खड़ी हो गयीं। विजयादित्य के उन्नत भाल पर तिलक लगाकर सुरभित पुष्पहार धारण कराया और तब बड़ी मृदुलता के साथ झंकृत कर वीणा उन्हे थमा दी। आरती के दीपक के प्रकाश में कलाकार का मुख-मण्डल खिल उठा। राजकन्या ने मौन भाव के साथ अपने स्वामी की आरती उतारी और तब उन्हें दधि-आचमन कराया। हँसते हुए उन्होंने कहा–"जाएँ प्राणनाथ ! अपना नाम सार्थक करें। आपको विजयी रहने का गौरव प्राप्त हो।"

विजयादित्य ने भी हँसकर अपनी प्रेयसी को गले से लगा लिया और शीघ्रता के साथ कक्ष से बाहर हो गये। तुरन्त ही वे प्रासाद के प्रांगण में पहुँच गये। राजकन्या सुकोमला गवाक्ष से झाँककर नीचे का हृदय देखती रहीं। राज-दम्पति अपने जामाता को विदा करने को आये हुए थे। कलाकार ने उनका चरण स्पर्श किया। हाथ उठाकर उन्होंने आशीर्वाद प्रदान किया। समस्त उपस्थित जनों को करवद्ध प्रणाम कर वे अश्वारूढ हो गये। श्वेत वस्त्रधारी उनका मित्र भी आरूढ हो गया। तव दोनों अश्वों ने प्रस्थान किया। देखते ही देखते विश्वात्म प्रागण को पार कर वे परिसर से बाहर हो गये। राजकन्या ने दीर्घ श्वास छोड़ते हुए गवाक्ष के कपाट बंद किये और शय्या पर जा लेटीं। छत को अपलक दृष्टि से निहारती हुई वे न जाने क्या-क्या सोचने लगीं। अनेक मोड़ पार कर उनकी चिन्तनधारा अन्ततः अपने उदरस्थ शिशु की मधुर-मादक कल्पनाओं में खो गयीं।

दोनों अश्वारोही द्रुत गति से नगर पार कर वनमार्ग पर आ गये थे। दोनो के मध्य मैत्रीपूर्ण वार्त्तालाप होता रहा। वेताल समझ न पाया था पूरी तरह कि महाराज विक्रमादित्य रानी को प्रतिष्ठानपुर में ही क्यों छोडे जा रहे हैं। महाराज ने उसे शान्तिपूर्वक विस्तार से सारी बात वतायी और कहा कि अभी उन्हे अवन्ती ले जाने का अवसर आया नहीं है। उपचार प्रक्रिया अभी शेष है। उन्होंने यह भी कहा कि एक दिवस उन्होंने राजकन्या सुकोमला से यो ही विनोद मे पृछा था कि यदि सहसा किसी दिन उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि उनका विवाह जिस कलाकार के साथ हुआ है वह तो किसी देश का राजा है तो क्या राजरानी का गौरव पाकर वे हर्षित न हो उठेंगी? उन्होंने कुंठित होते हुए उत्तर दिया–कहाँ का हर्ष ..... वह दिन तो हमारे लिए दुर्भाग्यपूर्ण काला दिवस होगा, स्वामी ! यदि यह विनोद न होकर यथार्थ हुआ तो हम हमारे प्रियतम स्वामी से सम्बन्ध विच्छेद कर लेंगी और शेष सारा जीवन एकाकी ही व्यतीत कर लेंगी। वे अपने आग्रह पर इतनी दृढ वनी हुई हैं। यही कारण है कि हमने अपना यथार्थ परिचय भी उन्हें अभी तक

नहीं दिया। हम उनके मधुर स्वप्न को यों भंग भी नहीं करना चाहते। हमारा अभाव और पुत्र-प्राप्ति का प्रसंग अवश्य ही उनके मन में लचीलापन ला सकेगा– हमारा ऐसा प्रबल विश्वास है। मित्र अग्निवेताल उनके इस विश्वास में समुचित यथार्थ का आभास करने लगा था। बोला–मातृत्व की प्राप्ति से नारी का मन अतिरिक्त रूप से कोमल हो उठता है। उसके पूर्वाग्रह और दुराग्रह सभी शिथिल होने लग जाते हैं। संतति का हित ही सर्वोपरि हो जाता है। माँ के लिए संसार का सार सन्तान में ही केन्द्रित हो जाता है। महाराज ने बात को आगे बढ़ाते हुए बताया कि किस प्रकार राजकन्या इन दिनों अपनी भावी संतान की कल्पनाओं में निमग्न रहती हैं और एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति में खो जाती हैं। उन्होंने अपना अनुभव व्यक्त करते हुए बताया कि यह नवीन व्यवहार इतना प्रबल हो गया है कि हमारे प्रति भी उनका आकर्षण अब पूर्ववत् नहीं रह पाया है। एक भोर में उन्होंने हमें निद्रा से सहसा जाग्रत कर दिया। हमने देखा कि राजकन्या के मुख पर भय और आश्चर्य के मिश्रित भाव बिखरे पड़े हैं। हम भी उनके इस आतंकित स्वरूप को देखकर विचलित हो उठे। पसीना-पसीना हो गयी थीं वे। उनके नयनों में इस आशय का भाव तैरने लगा कि हाय ! अब न जाने क्या होगा? मुख से वाणी फूटती न थी। उन्हें इस दशा में देखकर हम भी त्वरा के साथ उठ बैठे। उनके मस्तक–पीठ पर हाथ फिराकर उन्हें आश्वस्त करने का प्रयत्न करते हुए हमने उनसे इस असामान्य स्थिति का कारण पूछा–"वे ऐसी घबरायी हुई क्यों हैं?" तब वे बड़ी कठिनाई से यह बता पायीं कि अभी-अभी उन्होंने एक स्वप्न देखा–स्वप्न बड़ा विचित्र, अद्‌भुत था। उन्होंने बताया कि वे एक उद्यान में बैठी थीं। एक भ्रमर कहीं से आ गया और गुन-गुन करता हुआ उन पर मँडराने लगा। उन्होंने बहुतेरा प्रयत्न किया उसे दूर भगाने का, किन्तु वह ढीठ भ्रमर भागता ही न था। तब वे यह देखकर भयभीत हो गयीं कि उस भ्रमर ने सिंह-शावक का रूप ग्रहण कर लिया और वह उनके मुख में प्रविष्ट होकर उदरस्थ हो गया। और तव उनकी निद्रा टूट गयी।

मित्र वेताल को राजकन्या के स्वप्न का वृत्तान्त वताते हुए महाराज विक्रमादित्य ने कहा कि प्रेयसी सुकोमला ने यह सव सुनाकर अपनी जिज्ञासा प्रकट की। वे आतंकित थीं कि कहीं इस भयानक स्वप्न का कोई दुष्परिणाम तो घटित होने वाला नहीं है। उन्होंने चाहा कि हम उन्हें इस स्वप्न का फल वताएँ। हमने उन्हें आश्वस्त किया यह स्वप्न अशुभ नहीं; महान् मंगलकारी है। उनके विशाल नेत्र और भी दीर्घ हो गये और मुख खुला का खुला रह गया। अवाक्-सी वे सुनती रहीं। हमने सार रूप में स्वप्न-फल जव वताया कि वे एक तेजस्वी पुत्र की जननी वनने वाली हैं तो एक अद्‌भुत प्रसन्नता का भाव उनकी मुख-मुद्रा में आ गया। वही अभी शाश्वत हो गया है। वे तव से ही अति प्रसन्न दिखायी देती रहीं। उनके आचार-विचार में भी अद्‌भुत मृदुलता आ गयी है। पाँच माह से वे इसी

प्रकार मातृत्व का पूर्व सुख अनुभव करती चली आ रही हैं। उनकी धर्मरुचि भी वढ़ गयी है और सदा सद्विचारों में ही वे निमग्न रहती हैं।

महाराज से यह विवरण सुनकर वेताल भी आश्वस्त हो गया कि योजना अदोष है। विनोद के स्वर में वह बोला—"महाराज ! स्वप्न का परिणाम तो द्रष्टा के लिए ही शुभाशुभ रहता है, किन्तु प्रतीत होता है कि राजकन्या का स्वप्न आपके लिए भी मंगलकारी सिद्ध होने वाला है। आपकी मनोकामना भी पूर्ण होगी।"

"कदाचित् तुम ठीक ही कहते हो, मित्र ! किन्तु अभी तो हमारी मनोकामना यथाशीघ्र अवन्ती पहुँच जाने की है।" महाराज विक्रम ने कहा।

"यथाशीघ्र ! ...... किन्तु अवन्ती तो यहाँ से योजनों दूर है। अभी प्रतिष्ठानपुर से हम दस कोस ही आये हैं। संध्या-पूर्व हम अवन्ती पहुँच जाएँ तो उत्तम है।" यह कहकर वेताल ने तनिक विराम लिया।

"क्यों....... क्यों...... क्या तुम्हें भी......।"

"हाँ, महाराज ! शीघ्रता मुझे भी है। हमारे समाज का एक सम्मेलन होने वाला है। मुझे इस संदर्भ में अनेक दायित्व सौंपे गये हैं। मुझे तुरन्त ही वहाँ पहुँच जाना होगा और क्षमा करें महाराज ! मैं दो-तीन माह तक आपकी सेवा में नहीं रह सकूँगा।" एक ही प्रवाह में वेताल अपनी सारी बात कह गया।

"ऐसा क्या....... ! किन्तु हमारा कार्य तो तुम्हारे विना........।"

"आपकी सेवा भी मेरा धर्म है। मैं इस धर्म से विमुख भी नहीं होना चाहता। जब कभी मेरी आवश्यकता अनुभव की जाय, आप कृपया मुझे स्मरण कर लीजिये। मैं उपस्थित हो जाऊँगा, सेवा-कार्य सम्पन्न कर तत्काल लौट जाऊँगा। चलिये महाराज, अभी तो हम अवन्ती चलें। आप अपने नेत्र वन्द कर लीजिये।" अग्निवेताल ने अपनी माया फैलायी और संध्या-पूर्व ही दोनों मित्र अपने अश्वो सहित अवन्ती से दो कोस दूर एक वन में पहुँच गये। वेताल ने विदा माँगी और स्वामी की अनुमति पाकर वह अदृश्य हो गया।

● ●

पवन-वेग से महाराज का अश्व अवन्ती नगरी के मुख्य द्वार मे प्रविष्ट हुआ। उसका अनुगमन कर रहा था एक अन्य अश्व जिस पर कोई आरूढ न था। द्वारपाल ने विना किसी पूर्व सूचना के महाराज विक्रमादित्य का आगमन देखा तो कुछ अचकचा गया और नमनपूर्वक प्रणाम करता ही रह गया वह और अश्व नद नक

बहुत आगे बढ़ गया। पीछे के रिक्त आसन वाले अश्व को देखा तो वह और भी चकित हो गया। यह अन्य अश्व कैसा .....! उसके संकेत पर उसके सहायक ने आगे बढ़कर अन्य अश्व की वाल्गा थाम ली कि अनावश्यक रूप से नगर में कोई भ्रान्ति व्याप्त न हो। राजपथ में सर्वत्र वीर विक्रमादित्य महाराज की जय-जयकार का तुमुल घोष व्याप्त हो गया। कुछ ही पलों में सारे नगर में यह हर्षप्रद समाचार विद्युत् गति से फैल गया कि महाराज आ गये हैं...... महाराज पधार गये हैं। ऐसे अनायास ही कैसे आगमन हो गया उनका !..... न कोई समाचार..... न संदेश...... जो भी हो..... अब अवन्तीनाथ आ गये हैं तो सब-कुछ ठीक हो जायेगा।...... अब हमारे प्राणों में प्राण आये हैं..... अब सभी सुख की नींद सो सकेंगे।.... अरे उस मायावी ने तो भयंकर आतंक मचा रखा है..... कोई भी तो स्वयं को सुरक्षित अनुभव नहीं कर रहा....। अब देखते हैं कैसे वह पापी बचा रहता है.... पाप का घड़ा एक न एक दिन फूटता ही है..... सब-कुछ उजागर हो जायेगा—वह है कौन?...... हमारे महाराज के पराक्रम के समक्ष उसकी एक न चलने की.... ! चाहे कितना ही शक्तिशाली और मायावी क्यों न हो। महाराजश्री का आगमन तो जैसे राक्षस के आतंक से सज्जनों की रक्षा के लिए अवतार के समान है.... अब हमें निश्चिन्त हो जाना चाहिए।

महाराज विक्रमादित्य प्रजा जन का सादर अभिवादन हाथ उठा-उठाकर स्वीकार करते जा रहे थे। अपनी प्रजा का अपार स्नेह पाकर वे निहाल हो उठे थे। प्रजा का सद्भाव और स्नेह शासक के लिए उसकी कर्त्तव्य-परायणता का सुन्दरतम उपहार होता है। यह उपहार योग्य और विशाल हृदय शासकों को ही सुलभ हो पाता है और ऐसे शासकों की भूमिका ही सफल मानी जा सकती है। अश्व देखते-ही-देखते राजभवन के मुख्य द्वार पर पहुँचा। एक परिचारक ने महाराजश्री का जय-जयकार करते हुए नमन किया और आगे बढ़कर अश्व की वाल्गा थाम ली, उसकी पसीने से भीगी ग्रीवा को थपथपाकर उसे आश्वस्त करने लगा। नरेश त्वरा के साथ अवरोहण कर राजभवन में प्रविष्ट हो गये। उनके प्रसन्नवदन से उनकी सफलता स्पष्ट संकेतित होने लगी थी। उनके चिर-प्रतीक्षित, किन्तु आकस्मिक आगमन से सारे राजभवन में उत्साह और प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। राजरानी कमलावती का हृदय तो मानो वल्लियों उछलने लगा। उनके चरणो में अद्भुत गति आ गयी। तीव्रता के साथ वे अगवानी को चल पड़ीं। उनकी भेंट सीढियों पर ही हो गयी। अपार उत्साहपूरित राजमहिषी ने—"महाराज की जय हो"—कहा और प्रणामपूर्वक स्थिर खड़ी रह गयीं। नरेश भी उत्साह के साथ आगे बढ़े और राजरानी को गले से लगा लिया—"महाराजश्री को अनेकशः बधाई ! सुकोमला के नर-द्वेष को दूर करने का आपका संकल्प पूर्ण हुआ..... हम अभिनन्दन करती हैं आपका, स्वामी !" ग्रीवा झुकाकर महाराज ने कृतज्ञता के स्वर में कहा—"यह आपकी शुभ कामनाओं का ही परिणाम है, प्रेयसी !"

आगामी ही क्षण महाराज ने कुशल-क्षेम पूछते हुए राजरानी का अतिशय कोमलता के साथ हाथ थाम लिया। दोनों मंथर गति से, हँसते-मुस्कराते विश्राम-कक्ष की ओर बढ़े। रानी कमलावती कह रही थीं—"हमारा क्या है ...... हम तो सब सकुशल ही हैं .... बस, अहर्निश आपकी चिन्ता बनी रहती थी। न जाने किन समस्याओं से जूझ रहे होंगे ..... कैसे रहते होंगे .....।"

"स्वाभाविक है, रानी .... आपकी ऐसी व्यग्रता स्वाभाविक ही है ...।" नरेश ने कहा और एक सुखद आसन ग्रहण कर लिया। समीप ही राजरानी भी विराजित हो गयीं। कठिनाइयाँ तो अनेक आयीं, किन्तु आपकी हित-कामनाओं ने सभी को पराजित कर दिया।" सहसा कुछ स्मरण करती-सी राजमहिषी ने प्रश्न किया—"... किन्तु नव-वधू सुकोमला बहन .... वह कहाँ है? ..... वह ...... कब आएँगी?"

अवन्ती-नरेश जानते थे कि यह प्रश्न आयेगा अवश्य। प्रश्न आया भी, किन्तु उसका कोई बना-बनाया उत्तर उनके पास नहीं था। तत्काल तो उन्होंने यही कह दिया कि उनके आने में अभी कुछ विलम्ब होगा। अभी उनके नर-द्वेष को हम आंशिक रूप से ही दूर कर पाये हैं। शेष कार्य प्रगति पर है। इसी कारण हम उन्हें साथ लेकर नहीं आ सके। हाँ, एक शुभ समाचार भी है। मालव-राज्य को राजकुमार की प्राप्ति का योग भी बना है। इतना कहकर महाराज आसन त्यागकर उठ खड़े हुए और अँगड़ाई लेते हुए बोले—"पहले हम स्नान करके कुछ स्वस्थ हो लें तो शेष चर्चा विस्तार से करेंगे।" और वे स्नान-गृह की ओर चल दिये।

लौटकर आये तो नरेश अब भूप-वेश में थे। रानी ने विनोद के स्वर में कहा—"अवन्ती में मालव-नरेश का आगमन तो अब हुआ है। आप इतने साधारण-से वेश में क्यों लौटे थे? और एक खाली अश्व भी था साथ में ... यह क्यों ....?"

"आप तो जानती हैं राजरानी! ...... प्रतिष्ठानपुर की राजकन्या ने मालवाधिपति का नहीं एक गायक कलाकार का वरण किया। कलाकार और नृपति की वेश-भूषा में अन्तर तो होता ही है न। हमारे मित्र वेताल ने हम पर कृपा की। उसने शीघ्र ही हमें वहाँ से यहाँ पहुँचा दिया। उसे अनिवार्य कारणो से अन्यत्र भी कहीं जाना था। नगर से कुछ दूरी तक हमे छोडकर उसने प्रस्थान कर दिया था। दूसरा अश्व उसी का था जो हमारे साथ-साथ चला आया था।" महाराज ने हाथ फिराकर अपनी केश-राशि को व्यवस्थित करते हुए आसन ग्रहण किया और संतोष की साँस ली। इसी समय महारानी कमलावती के संकेत पर परिचारिकाएँ भोजन का थाल ले आयीं। महाराज भोजन करने लगे और रानी हौले-हौले पखा झलने लगीं। मधुर और कोमल स्वर में कहने लगीं—"राजकुमारी सुकोमला ने वड़ा उपकार किया है .... मालव-देश को उसका उत्तराधिकारी जो प्रदान करने वाली हैं वे। सचमुच आज हम हृदय से अतीव प्रसन्न हैं। अब ले

आइये न उन्हें, स्वामी !.... उनसे भेंट करने को बहुत मन कर रहा है।.....हम भी तो देखें कि... ।"

"मनुष्य तो व्यग्र हो उठता है, किन्तु प्रत्येक कार्य अपने सुनिश्चित समय पर ही सम्पन्न होता है। स्वतः घटित हो जाने वाली घटना ही अपने स्वाभाविक स्वरूप में होती है... वही उसका सही समय भी होता है। मनुष्य को भवितव्य की प्रतीक्षा करनी चाहिये.... धैर्य के साथ।" महाराज विक्रमादित्य ने अपनी धर्मपत्नी को प्रबोधन दिया। रानी भी कुछ अधीर.... कुछ व्यग्र तो कुछ तुष्ट और आश्वस्त-सी भी दिखायी देनी लगीं। कक्ष में सहसा कुछ निःशब्दता व्याप्त हो गयी। महारानी कमलावती के अधरों पर रह-रहकर मुस्कान आ जाती थी। यह मुस्कान भी बेबात की और अनर्गल न थी। वह तो उनकी आन्तरिक पुलक की बाह्य अभिव्यक्ति थी।

भोजनोपरान्त महाराज ने सहज जिज्ञासावश पूछा—"क्या कारण है, प्रिये ! मुझे राजभवन में भी कुछ चिन्ता और तनाव के वातावरण का आभास हो रहा है। राजपथ पर प्रजा जन को जो देखा तो उनकी मुख-मुद्रा में भी ऐसा ही कुछ.....। सब कुशल तो है न? या कोई संकट..... कोई समस्या...... ।"

"वैसे तो सब-कुछ ठीक ही चल रहा है, स्वामी ! आपके पीछे से महामात्य भट्टमात्र, बुद्धिसागर, अन्य मंत्रीगण, अधिकारी जन सुचारु व्यवस्था करते रहे हैं, किन्तु पिछले कुछ ही दिनों से एक समस्या आ गयी है—यह भी सत्य है।" रानी ने अपनी बात को व्यवस्था देते हुए कहा—"ऐसी समस्या पूर्व में कभी न रही। यों समस्या भी साधारण ही है, किन्तु उसका निदान किसी भी प्रयत्न से नहीं हो पा रहा है—इसी से वह असाधारण हो गयी है और दिनोंदिन जटिलतर होती जा रही है। चोरी की एक सामान्य समस्या ही बढ़कर...... ।"

"अवन्तीनाथ की जय हो !" द्वार पर महामात्य खड़े आपके दर्शनों की अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे हैं, महाराज !" परिचारिका ने कक्ष में प्रवेश कर निवेदन किया और नतमस्तक, करबद्ध मुद्रा में खड़ी हो गयी। महाराज ने प्रसन्न-मुद्रा में कहा—"अनुमति है..... भेज दो उन्हें।"

"अवन्तीपति श्रीमानेश्वर की जय हो !" भट्टमात्र और बुद्धिसागर ने सादर नमनपूर्वक जयघोष किया। महाराज ने हाथ उठाकर उनका अभिवादन स्वीकार किया और मुस्कराते हुए कुशल-क्षेम पूछी—"कहिये..... प्रसन्न तो हैं आप लोग !"

"प्रसन्न हैं, महाराज !..... अत्यन्त प्रसन्न, किन्तु संतुष्ट नहीं।"—महामात्य भट्टमात्र ने निवेदन किया। उत्तर के वैचित्र्य पर महाराज कुछ चकित हुए ही थे कि महामंत्री बुद्धिसागर ने कहा—"पहले तो सारे मालव-देश की बधाई स्वीकार करें, महाराज ! आपने नर-द्वेषिणी राजकुमारी का भयंकर नर-द्वेष से उद्धार का जो संकल्प धारण किया था—उसे आपश्री ने अनुपम साहस और चातुर्य से पूर्ण कर

दिखाया। सारे मालव-राज्य को अपने नरेश पर गर्व है और वह आपश्री का अभिनन्दन कर रहा है।"

"इस बधाई के लिए, अभिनन्दन के लिए हम आपका, मालव-देश के प्रजा जन का धन्यवाद करते हैं। किन्तु भट्टमात्र ! तुम्हारे कथन का भाव हम ग्रहण न कर सके–तुम प्रसन्न हो पर संतुष्ट नहीं–इसका क्या अर्थ हुआ?" महाराज ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की।

"अपने राजा के सत् संकल्पों की पूर्ति से सारी प्रजा का गौरव भी बढता है, राजन् ! आपकी इस महान् उपलब्धि से आपको यश की और उससे हम सभी को प्रसन्नता की प्राप्ति हुई है। ऐसे पराक्रमी और परोपकारी नरेश की प्रजा होने में जो सुख और प्रसन्नता रहती है, श्रीमन् ! उसकी कोई सीमा नहीं है।" भट्टमात्र ने कहा–"किन्तु यह भी सत्य है कि हम संतुष्ट नहीं हैं।"

"यही तो हम जानना चाहते हैं ..... असंतोष का क्या कारण ..... ।" महाराज ने पूछा।

"मैं निवेदन करना चाहता हूँ, श्रीमानेश्वर !" विनयपूर्वक बुद्धिसागर ने पहल की और महाराज ने उनकी ओर उन्मुख होते हुए मौन अनुमति प्रदान कर दी। वे कहने लगे–"भट्टमात्र जी का कथन यथार्थ ही है, महाराज ! हम संतुष्ट नहीं हैं। एक घटना ने हमारे इस गौरव को नष्ट कर दिया है। आपश्री के प्रवासकाल मे हम सभी ने बड़ी ही तत्परता के साथ अपनी-अपनी भूमिका का निर्वाह किया .... वडी लगन के साथ किया। व्यवस्थाएँ सुचारु रूप से चलती रहीं। किसी को भी कोई कष्ट न होने दिया गया। अपार शान्ति का साम्राज्य वना रहा। लोक-सुख हमारा ध्येय बना रहा। हम इस प्रयत्न में भी सफल रहे कि जनता को आपकी अनुपस्थिति का अभाव अनुभव न हो। किन्तु .... किन्तु इस अवधि के अन्तिम चरण में .... अन्तिम चरण मे .... ।"

"क्या हुआ इस अंतिम चरण मे?" महाराज विक्रमादित्य ने जानना चाहा–"आप निर्भय होकर सारी बात स्पष्ट रूप में कहिये।"

"श्रीमानेश्वर ! निवेदन करते हुए लज्जा का अनुभव होता है कि हम एक साधारण-से अपराध को नियंत्रित नहीं कर पा रहे हैं। अवन्ती मे गत कुछ दिनों से चोरियों का एक क्रम ही चलता जा रहा है। प्रत्येक रात्रि में कोई चोरी किसी श्रेष्ठी के यहाँ हो जाती है। विपुल धन चला जाता है। और अपराधी पकड में नहीं आता है। हमारा सारा शासन-तंत्र उस एक अपराधी को बंदी बनाने के लिए सक्रिय हो गया। जनता स्वयं जागरूक हो गयी है; किन्तु इसका कोई परिणाम नहीं आ रहा। सारा घर रात्रिभर जागता रहा और उसी घर में न जाने कब चोर घुसा और चोरी कर ले गया–ऐसी घटनाएँ भी हुई हैं।"

"इसका अर्थ हम क्या लें?" महाराज विक्रम ने कहा–"क्या हमें आश्वस्त नहीं रहना चाहिये कि हमारी अनुपस्थिति में भी हमारी प्रजा सुख-शान्ति से रह सकती है? उनकी जन-धन की पूरी-पूरी सुरक्षा सुनिश्चित रहेगी–हमें अपने राजतंत्र पर इतना भी विश्वास नहीं रखना चाहिये?"

"विश्वास तो रखना ही होगा–आपश्री का समस्त शासनतंत्र ऐसा ही विश्वस्त भी है और वह सक्षम भी है।"–भट्टमात्र ने निवेदन किया–"नगर-रक्षक भी अपनी ओर से पूरी सतर्कता बरत रहे हैं, हम भी भॉति-भाँति की युक्तियॉ लगा रहे हैं; किन्तु सफलता हाथ नहीं आ रही है।"

"आश्चर्य है, महामात्य !······ महान् आश्चर्य !! आप जैसे योग्य और बुद्धिमान प्रशासक भी इस सामान्य-सी समस्या का निदान····।"

"यथार्थ है, श्रीमानेश्वर ! समस्या अपने स्वरूप में तो सामान्य-सी ही है–चोरी का ही तो प्रसंग है। किन्तु चोरी-जैसी साधारण-सी यह घटना अब साधारण नहीं रही है।"

"अर्थात्······।"

"चोरी की यह घटना यदि असाधारण नहीं रही होती तो कभी की ही समाप्त हो चुकी होती। मुझे प्रतीत होता है कि इस घटना के पीछे कोई मांत्रिक····· कोई मायावी शक्ति है। चोरी करना उसका मूल प्रयोजन कदाचित् नहीं है, वह तो एक आतंक स्थापित करना चाहती है और इसके पीछे उसका कोई ऊँचा प्रयोजन संभव है····· ।"

महाराज विक्रम दुराग्रही या उग्र नहीं, विचारशील शासक थे। भट्टमात्र के इस कथन को उन्होंने महत्ता दी। चिन्तनशील मुद्रा में ही उन्होंने पूछा–"······तुम्हारी बात में सार तो प्रतीत होता है····· क्या प्रयोजन हो सकता है?"

"क्षमा किया जाऊँ, श्रीमानेश्वर ! कोई असाधारण प्रयोजन ही संभव है। कोई शक्ति कदाचित् मालव-राज्य की सम्पन्नता पर लुब्ध है और वह इसे हड़प करने का षड्यंत्र कर रही है। चोरी-जैसा यह कर्म तो एक आरंभिक चरण है, एक वहाना मात्र है।"

"हूँ···ऊँ····· ऊँ······। क्या ऐसा हो सकता है?"

"मेरा मन तो यही कहता है, राजेश्वर !" विनयपूर्वक भट्टमात्र ने कहा–"हमें सतर्क होकर इसकी छानवीन करनी होगी। इसे साधारण अपराध मानना हमारी भूल होगी !"

"कदाचित् तुम सही दिशा में ही सोच रहे हो······।"

"जी हाँ, श्रीमान् ! अब तो यह साधारण अपराध नहीं रहा। लगातार अनेक चोरियाँ करने के पश्चात् चोर ने चार श्रेष्ठी-कन्याओं का अपहरण भी कर लिया है। आतंक मचाना उस अपराधी का मूल प्रयोजन है...... महामात्य ठीक ही कहते हैं।" बुद्धिसागर ने सविनय निवेदन किया।

"ऐसा....... ? उस अधम पामर ने ऐसा नीच कर्म किया और आप लोग हाथ पर हाथ धरे बैठे हुए हैं...... क्या हो रहा है यह सब......।" महाराज विक्रम आवेश में आने लगे।

"यह घड़ी आवेश की नहीं है, महाराज !" भट्टमात्र ने तनिक गंभीरता के साथ कहा–"अब हमें आपश्री के मार्गदर्शन का, नेतृत्व का संबल मिल गया है तो हम इस सारी समस्या को समूल ही नष्ट कर देंगे...... हमें आत्म-विश्वास है। कठिनाई यह है कि वह अपराधी बड़ा चतुर प्रतीत होता है। चोरी के स्थल पर अथवा आसपास कोई ऐसा संकेत नहीं छोड़ जाता है कि उसके विषय में कुछ अनुमान भी लगाया जा सके। परिजन सारे रात्रिभर जागते रहते हैं और भोर में ज्ञात होता है कि उनके जागते रहने पर भी चोरी हो गयी। अवश्य ही वह कोई मांत्रिक चोर है। अब बल से नहीं, कल से ही काम करना होगा...... ।" भट्टमात्र के कथन मे युक्ति की खोज की प्रेरणा निहित थी। महाराज विक्रम इस दिशा में भी मानसिक रूप से सक्रिय हुए। कुछ सोचते हुए बोले–"......किन्तु...... श्रेष्ठी-कन्याओं का अपहरण तो घोर अपमानजनक भी है.... हम यदि अपनी प्रजा की रक्षा न कर सकें तो फिर हमारे सिंहासनारूढ़ रहने का औचित्य ही क्या है !"

"वह छद्म शक्ति तो यही चाहती है, महाराज ! वह स्वयं राज्यारूढ होना चाहती है। इस अवसर पर इस प्रकार का भावावेश चित्त मे न आने दीजिए, राजन् !" भट्टमात्र ने दृढतापूर्वक कहा–"यह घड़ी तो वल, कल और आवश्यकता हो तो छल का भी प्रयोग करें, किन्तु हमे उस शक्ति को पराभूत करने का उपाय सोचने की है।" भट्टमात्र ने क्षणेक विराम लिया और पुनः कथनारंभ करते हुए कहा–"यह सत्य ही है कि प्रजा-रक्षण राज्य का प्रथम और सर्वोपरि दायित्व है, किन्तु इस दिशा में प्राथमिक असफलताओं से विचलित होना भी उपयुक्त नहीं है ....अन्तिम विजय हमारी ही होगी और उसी के लिए घोरतम प्रयत्न हमे आरंभ करने होंगे। मुझे विश्वास है कि हमें सफलता अवश्य मिलेगी।"

इन आशा-भरे शब्दों से महाराजश्री को भी वल मिला। उत्साहित होकर उन्होने कहा–"महामात्य ! ऐसा ही होगा.... ऐसा ही होना भी चाहिये.... किन्तु इस असामान्य संकट से त्रस्त हमारी प्रजा के दुःख से हम दुःखित हैं। हमें तब तक कल न पडेगी जब तक यह समस्या बनी रहेगी। तन-मन से हम इस संकट को निर्मूल करने मे लगे रहेंगे। सारी राज-शक्ति का प्रथम कर्त्तव्य इस संकट को दूर

करना होगा। प्रजा जन के त्रस्त रहते राजा सुख-शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। हमने निश्चय किया कि जैसे भी हो, उस अपराधी को खोजकर दंडित करेंगे और जनता की खोयी हुई सुख-शान्ति उसे पुनः सुलभ कराएँगे।.... यदि ऐसा हम न कर सके तो राज्यासन पर बने रहने का कोई नैतिक अधिकार हमारा नहीं रहेगा। हम स्वेच्छा से राज्य का परित्याग कर देंगे।"

"श्रीमानेश्वर का चिन्तन और कथन उपयुक्त ही है, किन्तु.... किन्तु उसकी आवश्यकता बनेगी ही नहीं।"—बुद्धिसागर ने आत्म-विश्वास के साथ कहा—"हमें हमारे राजराजेश्वर के पराक्रम और चातुर्य पर गर्व है। समस्या जटिल अवश्य हो गयी है, किन्तु आप श्रीमान् के लिए तो कुछ भी कठिन नहीं है। लगन और साहस के ताप के समक्ष प्रत्येक कठिनाई कपूर के समान विलीन हो जाती है। आप श्रीमानेश्वर लोक-रक्षक हैं, प्रजा-हितैषी हैं। आपश्री अवश्य ही कोई समाधान खोज लेंगे—हम आश्वस्त हैं।"

वयोवृद्ध बुद्धिसागर के कथन में महाराज को सार-तत्त्व की प्रतीति होने लगी। कदाचित् इसी कारण वे मन ही मन प्रेरित भी अनुभव करने लगे थे। भट्टमात्र को उन्होंने संध्या समय पुनः भेंट करने को कहा और स्वयं आत्मलीन-से इस समस्या पर चिन्तन करने लगे।

रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया था। अवन्ती की गलियों में सन्नाटा छा गया था। शून्य वीथियों में दो दरिद्र-से ग्रामीण जन भ्रमण कर रहे थे। इस वेश में स्वयं महाराज विक्रमादित्य अपराधी की खोज में निकले थे। उनके साथ अन्य जन महामात्य भट्टमात्र ही था। हल्की-सी आहट से सतर्क महाराज तत्परता से इधर-उधर झाँकने लगते थे। अर्द्ध-रात्रि तक दोनों विचरण करते रहे। कहीं कोई सूत्र न मिला। अवश्य ही यह चोर किसी विद्या का धारक होना चाहिये। मांत्रिक भी हो सकता है। अन्यथा कोई भी अपराधी इतना कुशल नहीं हो सकता कि कभी पकड़ में ही न आए। दोनों मित्र मंद स्वर में वार्त्तालाप करते चले जा रहे थे। "हर मंत्र से बड़ा एक महामंत्र होता है, प्रभो ! दृढ़ निश्चय और निर्भीक पराक्रम का। आप साहसी हैं, इस महामंत्र के धारक हैं। अव वह साधारण मंत्रधारक कव तक छिपा रह सकेगा.... आज नहीं तो कल उसे अपने दुष्कर्मो का दण्ड भोगना ही पड़ेगा, राजन् !" भट्टमात्र ने कहा और देखा कि महाराज कान लगाकर कुछ सुनने का प्रयत्न कर रहे हैं। सुदूर से आता क्षीण-सा स्वर था। "सावधान, भट्टमात्र ! किसी की ध्वनि आ रही है।"—महाराज ने कहा और वे एकाग्रता के साथ सुनने का प्रयत्न करने लगे। भट्टमात्र भी अनुमान लगाने लगा था। स्वर क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा था, ध्वनि अपेक्षाकृत तीव्र होती जा रही थी। प्रतीत होता था कि वक्ता उन्हीं की दिशा में आ रहा है और समीपतर होता चला जा रहा है। जव पर्याप्त समीपता हो गयी तो महाराज ने सुना—कोई कह रहा था—

"कर भला तो हो बुरा ..... कर भला तो हो बुरा ..... कर भला ....।" इस विपरीत कथन पर महाराज आश्चर्यचकित होने लगे। धीरे से पूछा–"मित्र ! यह ऐसा क्यों कहता है?"

भट्टमात्र ने तत्काल कोई उत्तर नहीं दिया। संकेत से उसने यही परामर्श दिया कि आइये हम कहीं से छिपकर इसे देखते हैं। और दोनों इस मुख्य मार्ग पर आकर मिलने वाली एक ओर की गली में जाकर नुक्कड़ के भवन की दीवार से सटकर खड़े हो गये। उछलता-कूदता वह व्यक्ति बहुत समीप पहुँच गया था। "सावधान हो जाओ मित्र, चोर .... ।"

"नहीं, महाराज ! नहीं .... यह चोर नहीं है। यह तो एक विक्षिप्त है बेचारा।" भट्टमात्र ने उत्तर में कहा और दोनों उसकी प्रतीक्षा करने लगे। कुछ ही पलों में मुख्य मार्ग पर वह दिखायी भी दे गया। महाराज ने छिपे-छिपे ही चकित भाव से देखा कि एक अद्‌भुत-सा प्रतीत होता व्यक्ति उछल-उछलकर चल रहा है। लौह-शृंखलाएँ उसके शरीर पर, अंग-अंग पर बँधी हैं। गले में एक मटकी लटकी हुई है। वस्त्र फट-फटकर नाम मात्र को ही शेष रह गये हैं। वह उछलता है और जोर से अट्टहास करता है। सहसा अट्टहास को रोककर दो क्षण मौन हो जाता है और आकाश में दृष्टि गड़ा देता है–और तभी चिल्ला उठता है–"कर भला तो हो बुरा !" चिल्लाता हुआ यह विक्षिप्त आगे दौड़ गया तो दोनों मित्र गली से वाहर निकल आये और अपने मार्ग पर बढ़ने लगे। महाराज के मन में अनेक प्रश्न उठ रहे थे। उन्होंने भट्टमात्र से पूछा–"कौन है यह व्यक्ति? इसकी ऐसी दशा क्यो हो गयी?"

भट्टमात्र ने उत्तर दिया–"यह श्रेष्ठी जिनदास है, महाराज !"

"अरे ! यह श्रेष्ठी जिनदास था ..... !!" महाराज विक्रमादित्य को एक झटका-सा लगा। बोले–"यह विक्षिप्त कैसे हो गया, मित्र .... ! क्यों यह कहता है कि 'कर भला तो हो बुरा'?" भट्टमात्र ने तब संक्षेप में ही सारा वृत्तान्त सुनाया।

अवन्ती का यह श्रेष्ठी जिनदास अपार-अपार धन का स्वामी था। इसके पास कितना धन है–यह स्वयं उसे भी ठीक से ज्ञात नहीं रहा करता था। दूर-दूर तक इसका व्यवसाय चलता और अनेक लोगों को उसमें आजीविका अर्जित करने का आश्रय मिलता। कुछ ही दिनों पूर्व इसकी भावना हुई कि वह समाज की सेवा भी करे। इसमें वह अपने धन का सदुपयोग करे; अन्यथा वह इस धन का करेगा भी क्या ! यही सोचकर उसने अनेक स्वजाति वन्धुओं को निमंत्रित किया। अवन्ती से वाहर के भी शत-शत परिवार दूर-दूर से आये। श्रेष्ठी जिनदास ने उनकी हृदय से आवभगत की। सप्ताहभर तक उन्हे अपने यहाँ अतिथि रूप मे रखा। स्वादिष्ट भोजन से उन्हें तृप्त करता रहा। तभी उसके मन में यह भावना भी उदित हुई कि

वह स्वजाति कन्याओं के परिणय सम्पन्न करने का भी पुण्य कर्म करे। उसने इस आशय की घोषणा की। ऐसी विवाह योग्य नौ सौ कन्याएँ निकलीं। इनके योग्य वरों की खोज होने लगी। सारे नगरभर में एक उत्सव-जैसा वातावरण छा गया था। तभी एक अघटनीय घटना हो गयी। किसी को भी ज्ञात न हो सका और एक संध्या में जब ये कन्याएँ उद्यान में विहार कर रही थीं; उस मायावी चोर ने चार कन्याओं का अपहरण कर लिया। वातावरण सहसा तनावग्रस्त हो गया। श्रेष्ठी जिनदास दुःखित हो उठा। अपहृत कन्याओं के पिताओं ने भी दुःखी मन से उसकी कटु आलोचना की। समाज के अन्य व्यक्तियों व वर्गों से भी उसकी भर्त्सना होने लगी। इन परिस्थितियों से जिनदास के लिए एक ऐसा सघन मानसिक दबाव बना कि वह विक्षिप्त हो गया। अब वह एक ही बोल उच्चरित करता रहता है–"कर भला तो हो बुरा ····।" यह वृत्तान्त सुनाते हुए भट्टमात्र ने कहा–"राजन् ! जिनदास के इन बोलों में सत्य का आभास तो होता है।"

"सो तो ठीक है ···· किन्तु हमें खेद है कि राज्य इस प्रसंग में कुछ नहीं कर पाया ····।" महाराज विक्रमादित्य ने दुःखित स्वर में कहा और उत्तर में महामात्य ने निवेदन किया कि राज्य ने जो कुछ भी किया जा सकता है, वह सब किया है, अब भी कर रहा है, किन्तु यह सत्य है कि उस सब का कोई परिणाम नहीं आया है। इसके लिए तो हम सभी को खेद है, किन्तु हमें विश्वास है कि अब वह चोर अधिक दिनों तक स्वतंत्र नहीं रहेगा। उसे हमारी पकड़ में आना ही होगा। अव श्रीमानेश्वर आप पधार गये हैं ···· हमारा यह विश्वास दुगुना हो गया है। महाराज इस विषय में सोचते चले जा रहे थे। वे कभी शान्त–गंभीर हो जाते तो कभी उद्विग्न हो उठते। दोनों ही कभी बतियाने लगते तो कभी अन्तर्लीन हो जाते। चलते-चलते वे बहुत दूर निकल आये थे–जहाँ नगर की सीमा भी समाप्त होने को थी। गहन चिन्तन के पश्चात् महाराज ने मन ही मन एक निश्चय किया। उनके बढ़ते चरण थम गये। भट्टमात्र की ओर उन्मुख होकर उन्होंने कहा–"मित्र ! जव तक हम इस रहस्य को उद्घाटित न कर देंगे, उस मायावी अपराधी को हम जव तक पकड़ न लेंगे, हम शान्ति से नहीं वैठ सकेंगे। प्रजा की सुख-शान्ति और सुरक्षा के लिए हमारा दायित्व है, हमारा ही है।" महाराज ने इतना कहा और अतिरिक्त रूप से गंभीर हो गये। कुछ क्षणों के विरामोपरान्त वोले–"हम प्रण करते हैं कि इस चोर को यदि हम दण्डित न कर सके तो हम मालव-देश का राज-सिंहासन स्वेच्छा से त्याग देंगे। हमें नैतिकता का आग्रह यही करने को प्रेरित करता है।"

भट्टमात्र भी महाराज की इस प्रतिज्ञा से हतप्रभ हो गया। किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा वह महाराजश्री का मुख निहारता रह गया और तव आन्तरिक प्रेरणा से ही वह सहसा कह उठा–"उचित ही कथन है श्रीमान् का ···· सर्वथा उचित है ···· किन्तु ऐसी स्थिति आएगी नहीं। आप-जैसे शक्तिमान राजेश्वर के लिए ऐसी कठिनाइयाँ

तो कुछ भी अस्तित्व नहीं रखती हैं। मुझे विश्वास है कि आप इस अपराधी पर अवश्य ही विजय प्राप्त करेंगे। साहस, धैर्य और लगन के समक्ष कोई लक्ष्य कठिन तो हो सकता है, किन्तु असंभव या अप्राप्य नहीं। आवश्यकता मनोयोगपूर्ण प्रयत्न की ही होती है। आज आपश्री ने उसका भी संकल्प ले लिया है।'' भट्टमात्र ने अपने और समस्त राजतंत्र के पूर्णतः सक्रिय रहने का आश्वासन भी दिया। महाराज को भी इससे संतोष हुआ और तब दोनों राजभवन की ओर लौट गये।

× × ×

इसी प्रकार विक्रमादित्य कभी एकाकी और कभी भट्टमात्र के साथ छद्मवेश में नगर में रात्रि-भ्रमण करते रहे। तीन-चार रात्रियाँ यों ही व्यतीत हो गयीं, किन्तु चोर का कोई संकेत भी नहीं मिला। यह धारणा भी बनने लगी कि कदाचित् वह मांत्रिक अपराधी अदृश्य रहकर ही चौर्यकर्म करता हो। अर्द्ध-रात्रि के पश्चात् नगर-भ्रमण से लौटकर महाराज अपने शयन-कक्ष में विश्राम कर रहे थे। शय्या पर लेटे-लेटे भी उनके मानस में इसी समस्या के विषय में चिन्तन चल रहा था। अपहत श्रेष्ठी-कन्याओं की ओर उनका ध्यान केन्द्रित हो गया। हमारे शासन में ऐसी गतिविधियाँ....। हम क्या इतने अशक्त और निरुपाय हो गये कि नारी-रक्षा के धर्म का पालन भी नहीं कर सकें.... धिक्कार है।.... धिक्कार है हमारे पराक्रम और हमारी शक्तिमत्ता को....। प्रजा का रक्षण जनरंजन की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण दायित्व होता है एक राजा का.... क्या इस प्रकार असफल रहकर भी हम उत्तम नरेश के गौरव का वहन करते रह सकेगे। किन्तु.... नहीं। शक्ति, साहस और शौर्य माया और मांत्रिक शक्तियों के लिए बने ही नही हैं। भट्टमात्र का कथन यथार्थ ही है। अनेक प्रसंगों में बल नहीं कल ही सार्थक रहती है। अव हमे अन्य उपायों पर भी विचार करना चाहिए। वेचारी उन कन्याओ की क्या दशा होगी.. । इन्हीं विचारों की सघनता के मध्य महाराज निद्राधीन हो गये। भोर होते-होते तो उनकी निद्रा और भी प्रगाढ़ हो गयी। एक सेवक की असावधानी से महाराज की निद्रा सहसा टूट गयी। सेवक पूजा का थाल लेकर जा रहा था। उसका पैर फिसला और थाल नीचे आ गिरा। पूजा के पात्र और उपकरण भू-स्पर्श से झनझना उठे। घटिका जोर से वज उठी। थाल की ध्वनि तो कई क्षणो तक गूँजती रही। महाराज के कक्ष के वाहर ही यह घटित हुआ। उनकी निद्रा भंग हो गयी। वे अचकचाकर उठ वैठे। ऑखें मलते हुए उन्होंने स्थिति का अनुमान लगाया। उनका मन रोष से भर उठा। वे आवेश के साथ वोले—''कौन दुष्ट है यह ! इसने हमारी निद्रा ही नहीं स्वप्न भी भंग कर दिया है। हम इसे दण्डित करेंगे।'' प्रहरियों को संकेत मिल गया। तुरन्त ही उस सेवक को वन्दी वना लिया गया।

प्रातःकाल ही भट्टमात्र महाराज की सेवा मे उपस्थित हुए तो स्वप्न-भंग का प्रकरण उन्होंने भी सुना। वे उत्सुक हो उठे कि ऐसा कौन-सा स्वप्न था जिसके

लिए सेवक को दण्डित करने का निश्चय महाराज को करना पड़ा हो। महाराज को प्रणाम करते हुए महामात्य भट्टमात्र ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए विनयपूर्वक महाराज से पूछ ही लिया–"सब कुशल तो है न, श्रीमानेश्वर ! ज्ञात हुआ कि आज आप भोर से ही कुछ कुपित और रुष्ट हैं। बेचारे सेवक को दण्डित करने का निश्चय भी आपको करना पड़ा।"

"उस दुष्ट ने काम ही ऐसा किया है····। उसे दण्ड मिलना ही चाहिए।" –महाराज ने अडिग मानसिकता व्यक्त करते हुए कहा।

"जी हाँ···· जी हाँ, उसके कार्य के परिणामस्वरूप आपके निद्रा-सुख में बाधा आयी, किन्तु राजन् ! उसने किया तो कुछ भी नहीं था···· ऐसा हो गया। इसे होनहार ही कहा जा सकता है, महाराज ! आपके सुख में बाधा पहुँचाने का मन्तव्य उस सेवक का नहीं था। मंतव्य ही दण्डित होना चाहिए, महाराज ! बेचारे का पैर फिसल गया। वह निर्दोष है। वह क्षमा का, सहानुभूति का पात्र है। उसे····।" भट्टमात्र के कथन-मध्य ही महाराज मुखरित हो उठे–"उसने हमारी निद्रा ही भंग नहीं की···· हमारे स्वप्न को भी अपूर्ण रख दिया। बीच स्वप्न ही हमारी निद्रा टूट गयी और इसका हेतु वही दुष्ट बना है।"

"यह तो सत्य है, महाराजश्री !···· सर्वथा सत्य है कि वह निरीह सेवक इसका हेतु है, किन्तु ऐसा तो घटित होना ही था। आपका स्वप्न अपूर्ण ही रहे-यही विधान था–अतः अपूर्ण रह गया। वह बेचारा तो इसका निमित्त मात्र है। आपश्री तो विशाल हृदय हैं···· करुणावतार हैं···· क्षमाशील हैं, महाराज ! यदि विधि के विधान ने उसे अपना उपकरण बना लिया तो उसका दोष ही क्या रहा?" विनयाधिक्य में महामात्य करबद्ध मुद्रा में आ गये और प्रार्थना का अनुनय उनके स्वर को कोमलतर बनाने लगा। वे बोले–"उस दुष्ट की दुष्टता क्षम्य है, श्रीमानेश्वर ! आपश्री से ऐसी उदारता की ही आशा की जा सकती है।"

"मित्र ! तुम कदाचित् यथार्थ ही कहते हो। संभव है कि उस स्वप्न की अपूर्णता ही उसकी नियति रही हो। और यह भी सत्य है कि सेवक ने योजना बनाकर, सुविचारित रूप में कुछ इस निमित्त किया हो–ऐसा भी नहीं है।" महाराज अब तक सहज हो गये थे; बोले–"हमने उस सेवक को क्षमा किया।···· किन्तु···· किन्तु, मित्र ! उसने एक अवांछित कर्म तो किया है···· हमारा स्वप्न··· ।"

"स्वप्न तो स्वप्न ही होता है, महाराज !" भट्टमात्र ने उपेक्षा के स्वर में कहा–"स्वप्न कौन-से साकार होते हैं। आप यदि उसे अन्त तक भी देख लेते तो भी वह अपूर्ण ही बना रहता। स्वप्न किसके पूरे हुए हैं····।"

"नहीं, भट्टमात्र !···· नहीं···· वह साधारण स्वप्न न था। उसका सम्बन्ध हमें लगता है कि हमारी समस्याओं से था। अच्छा, हुआ मित्र ! तुम स्वतः आ

गये। हम तुमसे विचार-विमर्श करना चाहते हैं, इस विषय मे।" महाराज ने कुछ सोचते हुए कहा और भट्टमात्र भी कुछ सजग और गंभीर हो गये—"ऐसा कौन-सा स्वप्न था, महाराज ! तनिक विस्तार से बताइये। संभव है कुछ संकेत उससे मिलते हों।" उन्होंने कहा।

"बड़ा अद्‌भुत स्वप्न था, मित्र ! वह बड़ा विचित्र ही स्वप्न था।" महाराज जैसे स्मृतियों में खोये-खोये-से कहने लगे—"हमने स्वप्न में देखा तो कदाचित् बहुत-कुछ था, किन्तु प्रतीत होता है कि उसका सार-संक्षेप ही हमारी स्मृति मे अवशेष रह गया है। हम अवन्ती की पूर्व दिशा में वन विचरण के लिए गये हुए थे। हम वनों में बहुत दूर निकल गये और प्राकृतिक शोभा में खो-से गये थे कि किसी नारी की करुण पुकार आने लगी। हमने अनुभव किया कि जैसे किसी दुष्ट ने किसी सुन्दरी का अपहरण कर लिया हो। उसके अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए सुन्दरी याचना कर रही हो। उसके स्वर में बडी वेदना थी। हमने मन ही मन उसके उद्धार का निश्चय कर लिया। हम उस दिशा मे आगे बढ़े जिस ओर से स्वर आ रहा था। कुछ ही दूर चलने पर एक कूप दिखायी दिया। ऐसा आभास भी होने लगा जैसे इसी कूप में से वह स्वर आ रहा हो। हम उस कूप के समीप पहुँचे तो हमारा अनुमान सत्य भी निकला। एक क्षण तो हम कूप के समीप शान्त भाव से खड़े रह गये और उस वाणी को सुनते रहे, फिर तुरन्त आगे वढकर कूप में झाँका तो बड़ा कारुणिक दृश्य दिखायी दिया। कूप के भीतर एक विशाल भुजंग था—एकदम श्यामवर्णी ···· उसके मुख में एक सुन्दरी उलझी हुई थी। वेचारी हाहाकार कर रही थी। अरे कोई मेरी रक्षा करो। यह भुजंग मुझे निगल रहा है ··· हाय ! कोई मुझे इससे मुक्त कर मेरे प्राणों की रक्षा करे। वह आत्म-रक्षा के लिये छटपटा रही थी और भुजंग के मुख की पकड़ दृढतर होती जा रही थी। यह दृश्य देखकर हमारा मन करुणार्द्र हो उठा। हमने अपनी तलवार निकाली और कूप की मुँडेर पर चढ गये। हम कूप के भीतर कूदने को ही थे कि सहसा निद्रा भग हो गयी। हमने पाया कि हम तो अपने शयन-कक्ष में हैं।"

"सचमुच ही वडा अद्‌भुत था वह स्वप्न, महाराज !" चकित-विस्मित-से भट्टमात्र ने कहा—"प्रभातकालीन स्वप्न प्रायः सत्य घटित होते है और ····।"

"यह सत्य ही घटित हो रहा होगा, मित्र ! कहीं न कहीं घटित हो ही रहा होगा।" महाराज विक्रमादित्य ने कहा—"हमे आभास होता है कि इस स्वप्न में उन श्रेष्ठी-कन्याओं के उत्पीड़न का संकेत मिलता है जिनका अपहरण उस मायावी चोर ने कर लिया है। चोर के अवांछित नियंत्रण में पीड़ित उन कन्याओं की करुण पुकार ही नागग्रस्त सुन्दरी की पुकार के रूप में हमारे कानों में पड़ी है, वही मुक्ति की याचना, वही छटपटाहट। और हम हैं कि कुछ कर नहीं पा रहे हैं—कैसी विवशता है ···· कैसा ···· ।"

"प्रत्येक कार्य अपने निश्चित समय पर ही सम्पन्न होता है, यह अन्य बात है कि पूर्व रूप में हम उस मुहूर्त्त से अनभिज्ञ रहें और कार्य-सम्पादन का कोई मार्ग भी हमें न मिले। उचित समय आने पर सारे अनुकूल सुयोग जुट जाते हैं और कार्यसिद्धि हो जाती है।" दार्शनिक मुद्रा में प्रबोधन के स्वर में भट्टमात्र ने कहा और तब रहस्योद्घाटन की भंगिमा के साथ कहा—"महाराज ! श्रेष्ठी-कन्याओं का उद्धार भी यथासमय हो ही जायेगा, किन्तु आपके स्वप्न का इस प्रकरण से कोई संबंध सीधे-सीधे नहीं है, महाराज ! यह स्वप्न तो एक नवीन, शुभ, भावी घटना का पूर्व संकेत है।"

"हूँ ̈ ऊँ ̈ ̈ ऊँ ̈ ̈ ̈ !" महाराज विक्रमादित्य ने गंभीरतापूर्वक भट्टमात्र के कथन को ग्रहण किया। वे उत्सुकता के साथ, अपलक नयनों से भट्टमात्र की ओर ताकने लगे। उनके अधर तो मौन रह गये, किन्तु उनकी दृष्टि मानो कहने लगी थी—"कौन-सी वह शुभ घटना है, जिसका संकेत इस स्वप्न में तुम्हें मिलता है, भट्टमात्र ! हमें भी तो बताओ।" महाराज की इस उत्सुकता से उत्साहित होकर त्वरा के साथ बोले—"हाँ ̈ ̈ हाँ ̈ महाराज ! यह स्वप्न तो यह कहता है कि आपश्री को शीघ्र ही एक सुन्दरी की प्राप्ति होने वाली है। मालव-देश को एक नवीन राजमहिषी मिलेगी और अतिशीघ्र मिलेगी।"

"क्यों विनोद करते हो, मित्र ! यह विनोद का समय नहीं है।"

"नहीं, महाराज ! ̈ ̈ ̈ ̈ मैं विनोद नहीं करता—यही इस स्वप्न का फल है ̈ ̈ ̈ ̈ और कुछ हो ही नहीं सकता।"—आत्म-विश्वास के साथ भट्टमात्र ने कहा।

महाराज ने उनके कथन को महत्ता न देते हुए कहा—"अब हम विवाह करेंगे? बड़े अबोध हो तुम। अभी तो हमारे समक्ष इतनी बड़ी समस्या है। पहले हम इसका समाधान करेंगे कि विवाह रचाएँगे ̈ ̈ ̈ ̈ ऐं?"

"मनुष्य कुछ और सोचता है और भवितव्य को स्वीकार कुछ और ही होता है। होता भी वही है जो नियति है। विवाह तो आपश्री का होगा ही ̈ ̈ ̈ ̈ यह अटलनीय है। हाँ, यह परिणय ही आपके लिए प्रेरणा और उत्साह का विशिष्ट स्रोत वनेगा और चोर-विषयक समस्या के समाधान की राह भी इसी से मिले—यह भी संभावित लगता है।"—गंभीरता के साथ भट्टमात्र ने कहा।

"अरे ̈ ̈ ̈ ̈ नहीं ̈ ̈ ̈ ̈ परिणय के ̈ ̈ ̈ ̈ विलास के लिए हमें अभी अवकाश नहीं ̈ ̈ ̈ ̈ मित्र ! अभी हमें हमारा कर्त्तव्य-क्षेत्र पुकार रहा है। हम उसकी अनसुनी कैसे कर सकते हैं !" यह कहते हुए महाराज विक्रमादित्य, ने उपेक्षापूर्ण क्षीण मुस्कान के साथ आसन त्यागा और उठ खड़े हुए। भट्टमात्र हतोत्साह नहीं हुआ। महाराज का अनुगमन करते-करते वह भी कक्ष के बाहर निकल आया और विनीत वाणी

में बोला–"राजन् ! मेरा फलितार्थ कितना सत्य है? इस प्रश्न को विचारणीय माना जाय अथवा नहीं .... मैं इसका निर्णय नहीं कराना चाहता, किन्तु हमें एक वार इस स्वप्न की सत्यता की परीक्षा तो करनी ही चाहिये। हमें वन के उस स्थल की खोज करनी चाहिये जिसे आपने स्वप्न में देखा है।"

महाराज एक पल को रुके। पीछे मुड़कर उन्होंने भट्टमात्र की ओर देखा और मुस्कराते हुए बोले–"मित्र ! यह तुम ठीक ही कहते हो। हम आज संध्या को ही चलेंगे। देखते हैं ऐसा कोई कूप है भी अथवा नहीं।" और वे सहज भाव से आगे वढ गये।

अवन्ती के पूर्व में सघन वन था ही। सॉझ ढलते-ढलते अश्वारूढ़ महाराज विक्रमादित्य और महामात्य भट्टमात्र ने इस वन में प्रवेश किया। दोनों मौन–अपने-अपने विचारों में खोये हुए थे। आगे-आगे अवन्ती-नरेश का अश्व था। कुछ समय तो ये वन में इधर-उधर भटकते रहे, किन्तु अन्ततः मार्ग के वे चिह्न उन्हे दिखायी देने लगे जिन्हें उन्होंने स्वप्न में देखा था। अव उन्हें उचित मार्ग मिल गया है–इस संतोष ने उनके उत्साह को पुनर्वलित कर दिया। उत्साह ने त्वरा को जाग्रत कर दिया। वे द्रुत गति से आगे वढ़ते गये। अव मार्ग के चिह्न और भी स्पष्ट होने लगे और अन्ततः जव स्त्री-कंठ की आर्त्त वाणी सुनायी देने लगी तो महाराजश्री को अपना स्वप्न साकार होता हुआ प्रतीत होने लगा। भट्टमात्र ने करुण क्रन्दन का वह क्षीण स्वर पहले सुना और तव उसने महाराज को इसका ध्यान दिलाया। महाराज का उत्साह और द्विगुणित हो चला और जव उन्होंने दृष्टि घुमाकर चारों ओर देखा तो स्वप्न का वह कूप भी उन्हें एक ओर दिखायी दे गया। सकेत से उन्होने भट्टमात्र को भी उसे दिखाया और दोनो मे एक आश्वस्तता प्रवल हो गयी। दोनों ने अपने अश्व वही छोड दिये और तीव्र गति से कूप की ओर चल दिये। ज्यों-ज्यो वे कूप के समीप होते गये नारी-कंठ की वह वाणी और भी स्पष्ट होती चली जा रही थी। कूप के समीप पहुँचकर दोनो मौन–अचल कई क्षणों तक खडे रह गये।

भट्टमात्र और महाराज विक्रम ने वडे आश्चर्य के साथ पाया कि सहसा वह नारी-विलाप शान्त हो गया। उसके स्थान पर एक कर्कश पुरुष-स्वर उभरने लगा। एक क्रूर अट्टहास से वह सारा वनखण्ड गूँज उठा। भट्टमात्र तो भीतर तक कम्पित हो गया। महामात्य अपने महाराजश्री के समीपतर हो गया। महाराज ने उससे कहा–"तुम यहीं खडे रहो, हम कूप मे झॉककर देखते हैं ... भीतर है कौन और वहाँ क्या हो रहा है?" भट्टमात्र भयभीत-सा हो गया था। उसने सामने आकर महाराज का मार्ग रोकते हुए कहा–"वह उन्हे अकेले कदापि न जाने देगा–वह भी साथ चलेगा।" और उत्तर की प्रतीक्षा किये विना ही वह उनका अनुसरण करने लगा। दोनो ने कूप मे झॉककर देखा। जो दृश्य देखा उससे भट्टमात्र पुनः कम्पित हो उठा।

अवन्तीपति ने जैसा अपने स्वप्न के वृत्तान्त में बताया था—कूप में एक विशालकाय, प्रचण्ड नाग था और उसके मुख में फँसी हुई एक दुःखिता अलौकिक रूपवती कन्या थी। नाग के मुख में मानवी का होना इस अस्वाभाविक दृश्य के रहस्य को समझने का प्रयत्न करने में व्यस्त भट्टमात्र को महाराज ने कहा—"यह नाग और कोई नहीं, अवश्य ही यह वह मांत्रिक चोर होगा। माया से उसने यह छद्म रूप धारण किया होगा।" भट्टमात्र ने असहमति के आशय में अपना मस्तक हिलाया और बोला—"नहीं, राजन् !.... नहीं... ऐसा संभव नहीं है। यह सुन्दरी तो अलौकिक रूपवती भी है। अपहृत कन्याएँ ऐसी नहीं हैं। यह कोई अन्य ही प्रसंग है।"

"जो भी हो .... हम इस अत्याचारी का विनाश करेंगे .... अवश्य ही करेंगे।"—यह कहते हुए महाराज विक्रमादित्य ने अपना खड्ग आवरण-मुक्त कर ऊपर को उठा लिया। "हमें क्षात्र-धर्म का पालन करना ही होगा। इस अबला का त्राण करना हमारा धर्म है।" महाराज के नेत्रों से अपूर्व दीप्ति विकीर्ण होने लगी। वे साहस और निर्भीकता की प्रतिमूर्ति से दिखायी देने लगे थे।

तभी उस विकराल नाग का अट्टहास पुनः गूँजा। सहसा कठोर स्वर सुनायी दिया—"बाहर जो भी हैं, ध्यान से सुनें। यदि तुममें से किसी में शौर्य हो, साहस और शक्ति हो, तो वह भीतर आए और मेरे मुख से इस रूपवती युवती को छुड़ा ले जाये।"

महाराज के रक्त में अपार उष्णता व्याप्त हो गयी। उनकी भुजाएँ फड़कने लगीं। कूप में झाँककर उन्होंने ललकारते हुए कहा—"अरे अधम, दुष्ट ! क्या बढ-वढकर बातें करता है। हम आते हैं, पामर ! कूप के भीतर हम आते हैं और अभी अपनी पैनी तलवार से तेरे टूक-टूक कर देते हैं। तेरा अन्तिम समय समीप ही है अब।" यह घोर गर्जना सिंह की दहाड़ की भाँति उस निर्जन में ध्वनित-प्रतिध्वनित होने लगी। वीर विक्रम नग्न खड्ग लेकर कूप की मुँडेर पर चढ गये।

तभी भयातंकित भट्टमात्र ने विचलित स्वर में कहा—"अरे... रे... महाराज ! यह आप क्या कर रहे हैं ! क्यों व्यर्थ ही में आप इस झमेले में पडते हैं, जिसमें प्राणों का संकट स्पष्ट ही दिखायी दे रहा है। नरेश का जीवन अनेक शुभ और सर्वमंगलकारी कार्यों के निमित्त होता है, उसे इस प्रकार किसी एक और अति साधारण कारण पर न्योछावर कर देना क्या ठीक होगा ?"

"भला कार्य और कर्त्तव्य कोई भी तुच्छ या साधारण नहीं होता। प्रस्तुत कर्त्तव्य को साधारण मानकर पूर्ण न करना और अप्रस्तुत महान् कर्त्तव्यों की प्रतीक्षा करते रहना स्वयं में कर्त्तव्यहीनता का द्योतक है। हम क्षत्रिय, हैं मित्र ! दुर्बलों की रक्षा करना हमारा प्रमुख दायित्व है। फिर इस दुष्ट ने हमारे पराक्रम और साहस को ललकारा है।" महाराज ने आत्म-गौरव के साथ कहा।

"हॉ ... हॉ .... तुम्हें ललकारा हैं मैंने। फिर कहता हूँ–यदि साहस हो तो इस परम गुणवती सुन्दरी को छुड़ा ले जाओ और कायर–कापुरुष हो तो तुरन्त पराजय स्वीकार कर अपने भवन को लौट जाओ।" उस कूप से पुनः यह ध्वनि आयी और फिर अट्टहास गूँज उठा।

इस दर्पपूर्ण उग्र हास ने वीर विक्रमदेव को अतिशय उत्तेजित कर दिया। उन्होंने भट्टमात्र को कहा–"धर्म की राह पर प्राणों का विसर्जन भी पुण्यदायी होता है और धर्म-विमुख होकर प्राणों की सुरक्षा जीवन को ग्लानिपूर्ण कर देती है। तुम आश्वस्त रहो, मित्र ! हम इस अबला को निश्चित रूप से त्राण देने में समर्थ हैं। इस दुराचारी को इसके दुष्कर्मो का दण्ड देना हमारा अनिवार्य धर्म है। हम इसे अवश्य पूरा करेंगे।"

इस कथन के साथ ही महाराज ने राजकिरीट उतारकर महामात्य को दिया और चमचमाती हुई असि को लहराते हुए अपूर्व साहस के साथ वे कूप में कूद पड़े। इसी समय एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी। वीर विक्रमदेव कूप के तल में पहुँचने के स्थान पर अधर में ही स्थित हो गये और तल से ऊपर उठकर वह सुन्दरी और एक सौम्य तथा प्रौढ़ दिव्य पुरुष उनके समक्ष आ उपस्थित हुए। दोनो ने महाराज को सादर प्रणाम किया। इस परिवर्तित परिस्थिति से चकित महाराज कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि वह विकराल नाग कहॉ गया .... यह दिव्य पुरुष कौन है .... क्या इसी पुरुष ने नाग का रूप धारण कर रखा था? उनके मन मे ऐसे-ऐसे अनेक प्रश्न उठ-उठकर उथल-पुथल मचा रहे थे। तभी उस दिव्य पुरुष ने अपना परिचय आरंभ कर दिया।

"राजराजेश्वर ! मैं वैताढ्य पर्वत-स्थित श्रीपुर नामक नगर का निवासी विद्याधर देव हूँ। धीर मेरा नाम है और ....।" सुन्दरी की ओर सकेत करते हुए उसने कहा–"यह कलावती, मेरी पुत्री है। यह अतीव सुन्दरी जैसी तन से है, मन मे भी यह इतनी ही सुन्दर है। परम गुणवती यह कलावती महापुरुषो के प्रति अपार श्रद्धा भाव रखती है। इसकी कामना है कि कोई परम पराक्रमी, वीर, साहसी पुरुष उसे जीवन-सहचर के रूप में प्राप्त हो। हमारी जाति के पुरुषो मे ये मानव सुलभ गुण नहीं होते। अतः मैं इस कन्या के योग्य वर की खोज में विचरण कर रहा हूँ। आपके साहस और शौर्य की गाथाएँ सुनीं तो अवन्ती आ गया और आपके साहस की परीक्षा लेने के उद्देश्य से ही मैने यह कूप-लीला रची। मुझे प्रसन्नता है कि आपने स्वयं को अपार साहसी सिद्ध कर दिखाया है। धन्य है आप ..... धन्य है आपका कुल ....।" यह कहते-कहते विद्याधर का शीश स्वतः ही झुक गया।

कुछ क्षणो के विरामोपरान्त उसने अपने कथन को पुनः [illegible] करते हुए कहा–"राजन् ! आज मेरी खोज सम्पन्न हो गयी। मैं तो विरक्त होकर मुनि-[illegible] अंगीकार करना चाहता हूँ। यही एक उत्तरदायित्व [illegible] रह गया था कि अपनी

अवन्तीपति ने जैसा अपने स्वप्न के वृत्तान्त में बताया था—कूप मे एक विशालकाय, प्रचण्ड नाग था और उसके मुख में फँसी हुई एक दुःखिता अलौकिक रूपवती कन्या थी। नाग के मुख में मानवी का होना इस अस्वाभाविक दृश्य के रहस्य को समझने का प्रयत्न करने में व्यस्त भट्टमात्र को महाराज ने कहा—"यह नाग और कोई नहीं, अवश्य ही यह वह मांत्रिक चोर होगा। माया से उसने यह छद्म रूप धारण किया होगा।" भट्टमात्र ने असहमति के आशय में अपना मस्तक हिलाया और बोला—"नहीं, राजन् !.... नहीं... ऐसा संभव नहीं है। यह सुन्दरी तो अलौकिक रूपवती भी है। अपहृत कन्याएँ ऐसी नहीं हैं। यह कोई अन्य ही प्रसंग है।"

"जो भी हो.... हम इस अत्याचारी का विनाश करेंगे.... अवश्य ही करेंगे।"—यह कहते हुए महाराज विक्रमादित्य ने अपना खड्ग आवरण-मुक्त कर ऊपर को उठा लिया। "हमें क्षात्र-धर्म का पालन करना ही होगा। इस अबला का त्राण करना हमारा धर्म है।" महाराज के नेत्रों से अपूर्व दीप्ति विकीर्ण होने लगी। वे साहस और निर्भीकता की प्रतिमूर्ति से दिखायी देने लगे थे।

तभी उस विकराल नाग का अट्टहास पुनः गूँजा। सहसा कठोर स्वर सुनायी दिया—"बाहर जो भी हैं, ध्यान से सुनें। यदि तुममें से किसी में शौर्य हो, साहस और शक्ति हो, तो वह भीतर आए और मेरे मुख से इस रूपवती युवती को छुडा ले जाये।"

महाराज के रक्त में अपार उष्णता व्याप्त हो गयी। उनकी भुजाएँ फड़कने लगीं। कूप में झाँककर उन्होंने ललकारते हुए कहा—"अरे अधम, दुष्ट ! क्या बढ-बढ़कर वातें करता है। हम आते हैं, पामर ! कूप के भीतर हम आते हैं और अभी अपनी पैनी तलवार से तेरे टूक-टूक कर देते हैं। तेरा अन्तिम समय समीप ही है अव !" यह घोर गर्जना सिंह की दहाड़ की भाँति उस निर्जन में ध्वनित-प्रतिध्वनित होने लगी। वीर विक्रम नग्न खड्ग लेकर कूप की मुँडेर पर चढ़ गये।

तभी भयातंकित भट्टमात्र ने विचलित स्वर में कहा—"अरे... रे... महाराज ! यह आप क्या कर रहे हैं ! क्यों व्यर्थ ही में आप इस झमेले में पड़ते हैं, जिसमें प्राणों का संकट स्पष्ट ही दिखायी दे रहा है। नरेश का जीवन अनेक शुभ और सर्वमंगलकारी कार्यो के निमित्त होता है, उसे इस प्रकार किसी एक और अति साधारण कारण पर न्योछावर कर देना क्या ठीक होगा?"

"भला कार्य और कर्त्तव्य कोई भी तुच्छ या साधारण नहीं होता। प्रस्तुत कर्त्तव्य को साधारण मानकर पूर्ण न करना और अप्रस्तुत महान् कर्त्तव्यों की प्रतीक्षा करते रहना स्वयं में कर्त्तव्यहीनता का द्योतक है। हम क्षत्रिय, हैं मित्र ! दुर्वलों की रक्षा करना हमारा प्रमुख दायित्व है। फिर इस दुष्ट ने हमारे पराक्रम और साहस को ललकारा है।" महाराज ने आत्म-गौरव के साथ कहा।

"हाँ .... हाँ .... तुम्हें ललकारा हैं मैंने। फिर कहता हूँ—यदि साहस हो तो इस परम गुणवती सुन्दरी को छुड़ा ले जाओ और कायर—कापुरुष हो तो तुरन्त पराजय स्वीकार कर अपने भवन को लौट जाओ।" उस कूप से पुनः यह ध्वनि आयी और फिर अट्टहास गूँज उठा।

इस दर्पपूर्ण उग्र हास ने वीर विक्रमदेव को अतिशय उत्तेजित कर दिया। उन्होंने भट्टमात्र को कहा—"धर्म की राह पर प्राणों का विसर्जन भी पुण्यदायी होता है और धर्म-विमुख होकर प्राणों की सुरक्षा जीवन को ग्लानिपूर्ण कर देती है। तुम आश्वस्त रहो, मित्र ! हम इस अवला को निश्चित रूप से त्राण देने में समर्थ हैं। इस दुराचारी को इसके दुष्कर्मों का दण्ड देना हमारा अनिवार्य धर्म है। हम इसे अवश्य पूरा करेंगे।"

इस कथन के साथ ही महाराज ने राजकिरीट उतारकर महामात्य को दिया और चमचमाती हुई असि को लहराते हुए अपूर्व साहस के साथ वे कूप में कूद पड़े। इसी समय एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी। वीर विक्रमदेव कूप के तल में पहुँचने के स्थान पर अधर में ही स्थित हो गये और तल से ऊपर उठकर वह सुन्दरी और एक सौम्य तथा प्रौढ़ दिव्य पुरुष उनके समक्ष आ उपस्थित हुए। दोनों ने महाराज को सादर प्रणाम किया। इस परिवर्तित परिस्थिति से चकित महाराज कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि वह विकराल नाग कहाँ गया .... यह दिव्य पुरुष कौन है .... क्या इसी पुरुष ने नाग का रूप धारण कर रखा था? उनके मन में ऐसे-ऐसे अनेक प्रश्न उठ-उठकर उथल-पुथल मचा रहे थे। तभी उस दिव्य पुरुष ने अपना परिचय आरंभ कर दिया।

"राजराजेश्वर ! मैं वैताढ्य पर्वत-स्थित श्रीपुर नामक नगर का निवासी विद्याधर देव हूँ। धीर मेरा नाम है और ....।" सुन्दरी की ओर संकेत करते हुए उसने कहा—"यह कलावती, मेरी पुत्री है। यह अतीव सुन्दरी जैसी तन से है, मन से भी यह इतनी ही सुन्दर है। परम गुणवती यह कलावती महापुरुषों के प्रति अपार श्रद्धा भाव रखती है। इसकी कामना है कि कोई परम पराक्रमी, वीर, साहसी पुरुष उसे जीवन-सहचर के रूप में प्राप्त हो। हमारी जाति के पुरुषों में ये मानव सुलभ गुण नहीं होते। अतः मैं इस कन्या के योग्य वर की खोज में विचरण कर रहा हूँ। आपके साहस और शौर्य की गाथाएँ सुनीं तो अवन्ती आ गया और आपके साहस की परीक्षा लेने के उद्देश्य से ही मैंने यह कूप-लीला रची। मुझे प्रसन्नता है कि आपने स्वयं को अपार साहसी सिद्ध कर दिखाया है। धन्य हैं आप ..... धन्य है आपका कुल ....।" यह कहते-कहते विद्याधर का शीश स्वतः ही झुक गया।

कुछ क्षणों के विरामोपरान्त उसने अपने कथन को पुनः अग्रसर करते हुए कहा—"राजन् ! आज मेरी खोज सम्पन्न हो गयी। मैं तो विरक्त होकर मुनि-जीवन अंगीकार करना चाहता हूँ। यही एक उत्तरदायित्व शेष रह गया था कि अपनी

बेटी के हाथ पीले कर दूँ। अब आपसे मेरी अनुनय-विनय है कि कलावती का हाथ थामकर मुझे इस कर्त्तव्य-भार से मुक्त कीजिये। मेरे आत्मोत्थान की साधना के पक्ष में यह आपका परमोपकार होगा, राजन् !" इन वचनों के साथ ही विद्याधर धीर के मुख-मण्डल पर याचना और दीनता का भाव आ गया। महाराज विक्रमादित्य ध्यानपूर्वक विद्याधर धीर के कथन को सुनते रहे। उन्हें सर्वप्रथम महामात्य भट्टमात्र का कथन ही स्मरण आया जो उसने स्वप्न-फल के संवंध मे किया था। भट्टमात्र का फलितार्थ सर्वथा सत्य सिद्ध होने जा रहा है। योग तो ऐसा ही बन रहा है कि हमें सुन्दरी की प्राप्ति हो जाये। भट्टमात्र ने तो यह संकेत भी दिया था कि यही सुन्दरी उस सशक्त मायावी चोर के अन्त के लिए माध्यम बनेगी। हमारा परम साध्य तो वही है, उस प्रचण्ड अपराधी से जनता की रक्षा करना। यदि उसके लिए यह साधन प्राप्त हो रहा है तो इसे ठुकराना विवेक-संगत न होगा। हमें स्वीकार करना चाहिए। फिर ये दिव्य पुरुष विरक्त होकर आत्मोत्थान के मार्ग के पथिक भी बनना चाहते हैं। क्या हमें इनकी कन्या को स्वीकार कर इनके मार्ग को अबाध और सुगम नहीं बना देना चाहिए ! सज्जनों का धर्म तो यही है। महाराज विक्रमादित्य का चित्त कुछ ही पलों में वही सब-कुछ चिन्तन कर गया। तभी आशा-भरी दृष्टि से उनका मुख निहारते हुए विद्याधर धीर ने पुनः अनुरोध किया—"कृपानाथ ! मेरे लिये क्या आदेश है? मेरी कन्या कलावती को अपनी जीवन-संगिनी के रूप में स्वीकार कीजिये न प्रभो ! कलावती का जीवन तो धन्य हो ही जायेगा—मुझे भी साधना का सुअवसर प्राप्त होगा।"

एक मोहक मुस्कान बिखराते हुए महाराज ने मृदुल वाणी में कहा—"महात्मन् ! प्रतीत ऐसा होता है कि कलावती को अपने जीवन में स्वीकारना ही अब नियति का आग्रह हो गया है। हम आपके आदेश की अवज्ञा भी कैसे कर सकते हैं !"

इस प्रतिक्रिया ने विद्याधर का हृदय असीम आनन्द से पूरित कर दिया। सारे जगत् में उसे मानो सुमन ही सुमन बिखरे दिखायी देने लगे। पवन में अतिरिक्त सुरभि और आलोक में असामान्य दीप्ति का अनुभव होने लगा। उसे जीवन का साफल्य अपने समक्ष खड़ा दृष्टिगत होने लगा। उसने हाथ जोड़कर शीश झुकाकर महाराज का कृतज्ञतापूर्ण पुनराभिवादन किया और वोला—"धन्य हो राजन् ! परोपकारी हो तो आप जैसा ··· ! आपने तो आज मेरा सारा भार ही हर लिया। अव मैं निश्चिन्त मन से तपश्चर्या कर सकूँगा। आप जैसा साहसी, शूरवीर, वैभवशाली जामाता पाकर मेरा जीवन धन्य हो गया है।" विद्याधर-कन्या कलावती नतग्रीव हो अपनी मन्द मुस्कान को भी छिपाने का प्रयास कर रही थी। उसी समय अपने हाथों से वीर विक्रमादित्य के हाथ में कलावती का हाथ थमाते हुए विद्याधर धीर ने सुखमय जीवन की आशिष दी। वर-वधू ने एक साथ झुककर उसे प्रणाम किया।

तव अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर विद्याधर स्वयं, विक्रमादित्य महाराज और कलावती को कूप के भीतर से ऊपर ले आया। भट्टमात्र तो महाराज के शुभाशुभ भवितव्य के विचार से कभी आशान्वित और कभी आशंकित होता चला जा रहा था। कूप मे प्रचण्ड भुजंग को जो उसने ऊपर से देखा था—वह दृश्य महाराज के अमंगल की कल्पना के लिए पूर्णतः सशक्त था और महाराज के उच्चतम साहस, वल और पराक्रम का स्मरण उसे शुभ आशाओं से घेर लेता था। उसके अन्तर में इन दो विपरीत कल्पनाओं—आशा और आशंकाओं के मध्य द्वन्द्व होता रहा और वह अद्भुत तनाव से ग्रस्त हो गया था। जब उसने महाराज को सकुशल बाहर आते देखा तो उसके हर्ष का पार नहीं रहा। उनके साथ एक सुन्दरी और एक दिव्य पुरुष को जो देखा तो वह विस्मित रह गया। वह महाराज की जय-जयकार कर उठा। अनेक प्रश्न उसके नयनों में तैरने लगे। ये प्रश्न महाराज की सूक्ष्म दृष्टि से छिपे न रह सके।

महाराज ने दोनों आगंतुकों का परिचय देते हुए मुस्कराकर कहा—"मित्र भट्टमात्र ! तुम्हारा कथन सत्य ही सिद्ध हुआ है। तुमने स्वप्न का जो फल घोषित किया था, वह घटित होकर ही रहा।"

"आपको तो श्रीमानेश्वर ! मुझ पर विश्वास ही नहीं हो रहा था। आपको यह आशंका भी हो चली थी कि कदाचित् राजकाज की व्यस्तता के क्रम में मैं अपनी विद्या विस्मृत कर गया हूँ।" भट्टमात्र की इस उक्ति पर महाराज ने अन्य दिशा में दृष्टि करते हुए कहा—"हॉं, भट्टमात्र ! तुम सत्य कहते हो। हमें खेद है कि तुम्हारे विषय में हमारे मन में ऐसी कल्पना आयी अवश्य थी।"

"आपश्री ने प्रकट रूप में कुछ व्यक्त नहीं किया था, किन्तु मैं आपके मन का भाव ताड़ गया था।". भट्टमात्र ने कहा—"किन्तु आपको यह स्वप्न-दर्शन हुआ क्यों? यह मैं न समझ पाया। जीवन में अनेक घटनाएँ बिना किसी पूर्व संकेत के ही घटित होती चलती हैं। फिर वह अपूर्ण भी····।"

"वह मेरी माया थी, महामात्य जी !"—विद्याधर ने भट्टमात्र के कथन-पूर्ति के पूर्व ही कहा—"मैंने ही राजन् को वह स्वप्न दिखाया और तदनुसार ही मैं विशाल नाग का रूप धारण कर इस वीरान कूप में आया। मैं तो महाराज के साहस की परीक्षा लेना चाहता था। स्वप्न दिखाकर मैं महाराज को इस परीक्षा के लिए तत्पर कर देना चाहता था। मैं अपने इस प्रयास में और महाराज इस परीक्षा में सफल हुए हैं। मेरे इस आयोजन ने सिद्ध कर दिया है कि महाराज विक्रमादित्य शूरवीर, साहसी, परोपकारी, दुर्बलों के रक्षक और धर्मप्राण हैं। अब मैं मुनि-जीवन की ओर निर्बाध रूप में अग्रसर हो सकूँगा।"

"धन्य हैं, महात्मन् ! आप धन्य हैं कि आत्म-कल्याण का भाव आपके मन में

आया और उसकी पूर्ति की दिशा में आप सचेष्ट हुए हैं। किन्तु क्या पिता होकर भी आप कन्यादान ....।" महामात्य भट्टमात्र ने कहा।

"कन्यादान तो मैं अपने हाथों से करूँगा ही। इसके पश्चात् ही मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा।" यह कहते हुए विद्याधर वन की एक दिशा में बढ़ गया और विद्याधर का संकेत पाकर अन्य जन उसका अनुसरण करने लगे। कुछ ही दूरी पर एक रथ खड़ा था। सभी उसमें आरूढ़ हो गये और राजभवन की ओर चल दिये। आगामी दिवस राजभवन में सोल्लास महाराज का कलावती के साथ परिणय सम्पन्न हुआ। विद्याधर धीर ने सानन्द कन्यादान किया। पुत्री-जामाता को उसने मंगलाशिष दी। मण्डप से ही धीर विद्याधर ने तत्काल प्रस्थान किया और आत्मोत्थान की साधना के उपक्रम में संलग्न हो गया। कलावती का सत्कार भाव से राज-परिवार में स्वागत हुआ। स्वयं कलावती रानी ने आरती उतारी। महाराज वीर विक्रम के जीवन-ग्रन्थ में प्रीति और उल्लास का नवीन अध्याय खुल गया।

सभी का अपार-अपार स्नेह राज-परिवार में कलावती को सुलभ होने लगा तथापि महारानी कमलावती और वधू कलावती का पारस्परिक स्नेह सम्बन्ध विशेषतः अधिक प्रगाढ़ था। इनका अधिकांश समय संग-संग ही व्यतीत होने लगा नव-वधू को तो अपने आसपास सर्वत्र सौरभ और चटख रंगों का ही वातावरण अनुभव होने लगा। असंख्य-असंख्य पुष्प ही खिले और मन्द पवन में झूमते-से उन्हें दृष्टिगत होते, सर्वत्र और प्रतिपल। उन्हें अनुभव होने लगता था मानो वे परियों की भाँति गगन-विहार कर रही हों। उत्फुल्लता से भरा मन अपने स्वप्नों को साकार पाकर कृतकृत्य और तृप्त था।

महाराज वीर विक्रमादित्य भी ऐसी रूपसी और प्रीति-प्रतिमा का निर्मल स्नेह-सान्निध्य पाकर अत्यन्त हर्षित थे। उनका मन भी अनुराग-तड़ाग में खिले राजीव की भाँति अतिशय मृदुल, अतिशय कमनीय हो उठा था, किन्तु वे अपने राज-काज के कर्त्तव्य से रंच मात्र भी विमुख नहीं हुए। चोर संबंधी विकट समस्या का समाधान उनका परम लक्ष्य बना हुआ था। वे चोर की खोज में अब भी रात्रि में छद्मवेश में नगर-भ्रमण किया करते थे। यद्यपि अभी भी कोई सूत्र हस्तगत न हो पाया था, किन्तु वे हताश नहीं थे। आरंभिक असफलताएँ तो शिखरस्थ साफल्य तक पहुँचने की सोपान होती हैं। जो विचलित और अधीर होकर असफलताओं से निराश हो जाता है, वह इन सोपानों पर बैठा रह जाता है और जो उन्हें सोत्साह पार करता चलता है, वही शिखर पर पहुँचकर सफलता का गौरव पा सकता है। महाराज तो निराश होना जानते ही न थे। वे तो निरन्तर उद्यमशील बने रहने में ही विश्वास करते थे। वे भलीभाँति जानते थे कि उत्तम कार्यों की साधना में व्यस्त साधक के समक्ष अनेक परीक्षाएँ आती हैं। इनमें उत्तीर्ण होना आंशिक रूप से ही सही, मनवांछित ध्येय की प्राप्ति का ही एक रूप होता है।

और तीन-चार दिनो के पश्चात् ऐसी ही एक कठोर परीक्षा उनके समक्ष आ खडी हुई। वे उस रात्रि मे एकाकी रूप में ही नगर-भ्रमण के लिए गए थे। पिछली रात्रि में वे राजभवन को लौटे तो नित्य की भाँति वातावरण नही पाया। सेवक-सेविकाएँ इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहे थे। वरिष्ठ सदस्यों के मुख पर चिन्ता और तनाव के चिह्न थे। एक विचित्र अशान्ति सर्वत्र व्याप्त थी। सभी कक्ष आलोकित कर दिये गये। प्रहरी जन के मस्तक झुके हुए थे। भारी असफलता के बोझ के होते वे उन्नत ग्रीव रह भी कैसे सकते थे। अज्ञात अनिष्ट की आशंका से महाराज भी एकबारगी कुंठित हो गये। तभी महारानी कमलावती ने "महाराज की जय हो !" कहते हुए अत्यन्त मंथर गति से अग्रसर होते हुए कहा–"स्वामी ! आज तो गजब हो गया··· हम कहीं के न रहे···· हम अब क्या····।" अपूर्ण कथन में ही वे फफक उठी और नेत्रों से अविरल अश्रु प्रवाहित होने लगे। महाराज ने स्थिति की गंभीरता का अनुमान लगाते हुए महारानी को वक्ष से लगा लिया और तब अत्यन्त कोमलता के साथ उनके शीश और पीठ पर हाथ फिराते हुए उन्होंने मौन रूप से आश्वस्त करने का प्रयास किया और कुछ क्षणोपरान्त बोले–"धीरज धरो, राजरानी !···· धैर्य से ही सभी संकटों से मुक्ति के साधन मिलते हैं। आप तो वीरांगना हैं···· इस प्रकार विचलित तो हमने आपको कभी भी न पाया····। शान्त हो जाओ···· और तब बताओ कि हुआ क्या है?"

महाराज के इस मृदुल व्यवहार ने राजरानी को ढाढ़स बँधाया। वे कुछ आन्तरिक स्वस्थता का अनुभव करने लगीं। अपनी अधीरता पर सकुचाती हुई वे बोलीं–"कदाचित् आप ठीक ही कहते हैं, नाथ ! कि हमें ऐसी अधीरता शोभा नहीं देती, किन्तु घटित ही कुछ ऐसा हो गया है कि····।"

अपनी व्यग्रता को जान-बूझकर छिपाते हए महाराज ने अपनी उँगलियों से राजरानी की पलकों को पोंछा और तब उनके नयनों में झाँकते हुए कहा– "प्रियतमे ! आश्वस्त हो जाओ···· हम कठोर से कठोर और अप्रिय से अप्रिय बात भी सुनने का मनोबल बना चुके हैं। आप सारी बात स्पष्ट करके बताएँ···· ऐसा क्या घटित हो गया है?"

"उस नराधम, दुष्ट चोर का इतना साहस हो गया महाराज ! कि उसने राज-परिवार को भी नहीं छोड़ा····।" राजरानी कमलावती की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं।

"अच्छा····? उस दुरात्मा का इतना दुस्साहस !" महाराज ने सप्रयास अपने आवेश पर अंकुश लगाते हुए कहा–"जब तक वह पापी अपने दुष्कर्मों की पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचे, उसका विनाश कैसे होगा, प्रेयसी ! उसने हमारा अपराधी होकर पाप की चरम सीमा क़ो छू लिया है। उसने क्या राजभवन में चोरी की है?"

"चोरी भी की है, प्रियतम ! और.... और....।" राजरानी ने कुछ पल रुककर कहा—"आप स्वयं ही अपनी ऑखों से देख लीजिये न... !" रानी ने इस कथन के साथ महाराज को भवन के ऊपरी तल्ले पर चलने का अनुरोध किया। कलावती के कक्ष को जो देखा तो महाराज भी हतप्रभ रह गये। शय्या सूनी पडी थी। कक्ष की सारी वस्तुएँ बिखरी और अस्त-व्यस्त थीं। वातायन खुला पडा था। समीप आकर वातायन के बाहर झाँककर उन्होंने भूतल से ऊँचाई का अनुमान लगाया और कुछ सोचने लगे। तुरन्त ही उनकी दृष्टि कक्ष में लौट आयी और सहसा उनका ध्यान शय्या पर पड़ी एक ताम्र-पट्टिका की ओर गया। वे त्वरा से शय्या की ओर बढ़े और उस पट्टिका को उठाकर देखने लगे। उस पर एक खर्पर का चित्र अंकित था। अपना सांकेतिक परिचय देने के लिए अपराधी जान-बूझकर यह चिह्न छोड़ गया—ऐसा प्रतीत होता है। चिन्तन के इन क्षणों में महाराज की एक भौंह नीची तो दूसरी वक्र होकर ऊँची हो गयी थी। इसी मुद्रा में अचल-से महाराज ने सहज भाव से पूछ लिया—"और नव-वधू कलावती कहाँ हैं ?"

रोते-कलपते हुए रानी कमलावती ने कहा—"यही तो हमारा दुर्भाग्य है, स्वामी ! उस चोर ने हमारे बहुमूल्य रत्नादि ही नहीं चुराये, वह कलावती बहन का भी अपहरण कर ले गया है.... कुछ कीजिए, स्वामी !.... कुछ तो कीजिए.... हम उस स्नेहशीला बहन के बिना कैसे....?"

"अरे !" महाराज के मुख से सहसा निकला और कुछ पलों तक तो वे अचल..... अवाक्-से स्तंभित रह गये। उनकी स्तब्धता उस क्षण में उनके मानस को साहस से पूरित करने लगी थी। तत्काल ही सहज होते हुए महाराज ने कहा—"अब हम समझे... सारी बातों का अर्थ अब स्पष्ट होने लगा। इतने कड़े सुरक्षा-प्रबंध के होते हुए भी वह चोर भवन में प्रविष्ट हो गया, फिर वातायान से वह अपहरण कर रानी को ले गया.... इस ताम्र-पट्टिका पर खर्पर का चिह्न अंकित है। इससे यही पुष्ट होता है कि अवश्य ही वह तांत्रिक-मांत्रिक चोर है। अदृश्य रहकर ही वह प्रविष्ट हुआ होगा और चोरी का कर्म भी उसी रूप में किया होगा।.... किन्तु प्रिये ! विचलित होना व्यर्थ है.... कठिनाइयों और सकटों पर तो साहसपूर्ण उद्यमशीलता से ही विजय प्राप्त की जा सकती है। हमे आत्म-विश्वास है हम शीघ्र ही उस मायावी का विनाश कर देंगे। रानी कलावती ही नहीं अन्य श्रेष्ठी-कन्याओं को भी उसके क्रूर आधिपत्य से मुक्त करा लेगे। आप सभी को निश्चिन्त हो जाना चाहिए। अन्याय और दुराचार चिरायु नहीं होता। पुण्यों की अपेक्षा पाप अल्पकाल में ही परिपक्व होकर फलदायी हो जाते हैं। उस दुष्ट ने हमे चुनौती दी है.... हमारे बल और साहस को ललकारा है। वह शक्ति में अपने को हमसे श्रेष्ठ करने का प्रयोजन रखता है, किन्तु उसकी यही कामना उसके सर्वनाश का कारण बनेगी। उसके पापों का घडा भर गया लगता है। हमें छोडकर उसने अपने विनाश को आमंत्रित किया है....।" महाराज के कथन में

दर्प नहीं, घटना-चक्र का विश्लेषण झलक रहा था। वे वास्तविकता का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहते थे और उनका चिन्तन इसी दिशा में अग्रसर कर रहा था उन्हें। उसी समय भट्टमात्र और बुद्धिसागर भी आ उपस्थित हुए। प्रणाम करते हुए भट्टमात्र ने निवेदन किया—"क्षमा किया जाऊँ, श्रीमानेश्वर ! उस अधम, पामर ने जो नीच कर्म किया है···· उसका कराल दण्ड उसे तत्काल मिलना ही चाहिये।" भट्टमात्र के स्वर में स्वर मिलाते हुए वयोवृद्ध बुद्धिसागर ने भी निवेदन किया—"पृथ्वीनाथ ! उस मांत्रिक चोर का लक्ष्य केवल धन या रूपवती कन्याओं का अपहरण करना मात्र नहीं लगता है, महाराज···। यदि ऐसा ही होता तो···।"

महामात्य भट्टमात्र इस नवीन उद्भावना से चकित-से होते हुए अपलक बुद्धिसागर का मुख ताकने लगा। महाराज भी जिज्ञासु हो उठे। पूछा—"आप कहना क्या चाहते हैं?"

"वही निवेदन कर रहा हूँ, प्रभो !" वाणी में और भी अधिक विनय लाते हुए वह बोला—"यदि ऐसे साधारण-से प्रयोजन ही होते तो वह राज-परिवार को अपना लक्ष्य नहीं बनाता। चोरियों से तो वह अपने आतंक की भूमिका बनाना चाहता है, अपना दवदबा जमाना चाहता है। अपनी माया की शक्ति के सहारे वह तो आपश्री से लोहा लेना चाहता है और मालवाधिपति बनने का स्वप्न देख रहा है, राजाधिराज !"

"संभव है···· ऐसा संभव है कि उस नीच के मन में ऐसी कामना हो, किन्तु नहीं···· नहीं, उसका यह स्वप्न कभी साकार नहीं हो सकता।" भट्टमात्र ने कहा—"माया की शक्ति पर काया की शक्ति ही प्रबल सिद्ध होगी। कल की अपेक्षा बल ही सदा वरेण्य रहा है। मलिनताएँ तो ध्वस्त होने के लिए ही विकसित होती हैं।"

"हूँ···आप लोगों की धारणा आधारहीन तो प्रतीत नहीं होतीं। उस मायावी की ऐसी लालसा हो तो सकती है। कदाचित् इसी कारण उसने राज-परिवार के विरुद्ध अपराध कर हमें उत्तेजित करना चाहा है।" महाराज विक्रमादित्य ने विचारपूर्वक कहा—"हमें भी शत्रु को दुर्बल न मानते हुए अपनी रणनीति गठित करनी होगी। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक उस दुराचारी का विनाश न कर देंगे···· हम शान्ति से नहीं बैठेंगे। अब हमारा यही प्रथम और सर्वप्रमुख कर्त्तव्य रहेगा।"

"महाराज की जय हो···· !" भट्टमात्र और बुद्धिसागर ने जय-जयकार की—"हमने उस दुरात्मा को स्वयं दण्ड देने का संकल्प किया था। इस कारण उसने हमारे विरुद्ध यह अपराध किया है—कदाचित् यह जताने के लिए कि हमारी राज-शक्ति की अपेक्षा वह अधिक बलशाली है। हम····।" महाराज विक्रमादित्य ने सधीर कहा—"हमने उसकी चुनौती को स्वीकार किया है, भट्टमात्र ! और अब हम अकेले ही उसका सर्वनाश भी करेंगे। यह मंगल मार्ग है और सभी शक्तियाँ इस मार्ग को सुगम वनाएँगी—हमें विश्वास है।"

बुद्धिसागर ने तभी सशंक होते हुए कहा—"यह सारी राज-शक्ति आपकी शक्ति की ही तो पर्याय है, प्रभो ! अपार सैन्य-बल होते हुए भी आप अकेले ···।"

"हमने निश्चय कर लिया है ···· इस निश्चय से डिगने का कोई कारण भी नहीं। उस अधम के अपावन मंतव्यों को ध्वस्त करना, उस दुष्ट को नष्ट करना अब हमारा ···· अकेले हमारा ही दायित्व रहेगा। हम चाहेंगे कि राजकीय सुरक्षा व्यवस्था को और भी सुदृढ़ कर दिया जाय, चौकसी बढ़ा दी जाय।" महाराज के कथन में आदेश का-सा स्वर था।

"जैसी आज्ञा, महाराज !"—भट्टमात्र और बुद्धिसागर ने नमनपूर्वक प्रणाम किया और प्रस्थान कर गये।

× × ×

अब महाराज अवन्तीनाथ तन-मन से उस मांत्रिक चोर पर विजय प्राप्त करने के उद्यम में सोत्साह प्रवृत्त हो गये। वे रात्रि में नग्न खड्ग लिए नगर में अकेले ही भ्रमण करते रहे। मन ही मन वे अनेक युक्तियाँ सोचने लगे। कोई भी प्रयास जब सफल होता प्रतीत नहीं हुआ तो वे इन प्रयत्नों के मिथ्यात्व का विचार करते हुए अन्य विकल्प का चिन्तन करने लगे। तभी रानी कमलावती ने उन्हें परामर्श दिया कि अन्य प्रयत्नों के साथ-साथ वे चक्रेश्वरी देवी की आराधना भी करें। संभव है देवी का आशीर्वाद ही सहायक सिद्ध हो जाय। महाराज को यह सुझाव अपनाने योग्य प्रतीत हुआ। उस संध्या उन्होंने निश्चय किया कि रात्रि में नगर-विचरण के स्थान पर वे देवी-आराधना ही करेंगे। कल को कल से, छल को छल से और बल को बल से ही जीता जा सकता है। मंत्र-बल से प्राप्त शक्ति वाले उस प्रचण्ड चोर के लिए मांत्रिक आराधना एक समर्थ उपाय हो भी सकता है। महाराज यही सब सोचते-सोचते अन्तर्लीन से हो गये, उनकी पलकें बड़ी देर तक तो झपकना ही भूल गयीं। उनका तन ही नहीं मानो मन भी अचंचल हो गया था। महारानी कलावती ने जब यह स्थिति देखी तो कुछ चिन्तित स्वर में बोलीं—"क्या सोच रहे हैं, स्वामी ! ···· किन विचारों में खो गये हैं आप ····?"

महाराज इस कथन से तनिक सचेत-से हुए, जैसे तन्द्रा से जागे हों और अपनी केश-राशि में उँगलियाँ उलझाते हुए बोले—"प्रिये ! चिन्ता नहीं ···· चिन्ता नहीं है। चिन्ता तो वे करते हैं जिनमें कर्म का सामर्थ्य नहीं होता। उद्यमी जन तो चिन्तन करते हैं और कठिनाइयों के निराकरण का मार्ग खोज लेते हैं। रानी अब युक्ति से ही काम लेना होगा। उस कौवी ने भी तो युक्ति से ही अपना कार्य सिद्ध किया था ····।"

"कौवी ··· कौन कौवी ? किसकी चर्चा कर रहे हैं, महाराज !" चकित होकर महारानी नरेश का मुख ताकती रह गयीं।

"हमें सहसा परिस्थिति-साम्य से एक कथा स्मरण हो आयी है, प्रिये !.... काक पक्षी की कथा।" महाराज विक्रमादित्य ने अपनी बात को स्पष्ट किया और सार रूप में कथा-कथन करने लगे–

"किसी वन में एक वृक्ष की टहनियों पर घोंसला बनाकर काक पक्षियों का एक जोड़ा रहा करता था। विशाल वन विचरण के लिए था.... पीने को जल और खाने को आहार की कोई समस्या नहीं थी। नर-मादा काक दोनों परस्पर समर्पित भाव से प्रेमपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे। इन विपुल सुखों के मध्य इस खग युगल के जीवन में एक भारी दुःख भी था।" महाराज कथन करते-करते सहसा रुके और करुणा से उनका कंठ भर आया। जिज्ञासा-भरे नयनों से रानी भी महाराज का मुख निहारने लगीं। मौन रहकर भी अपनी दृष्टि से उन्होंने जैसे प्रश्न कर लिया कि उनके सुखमय जीवन में ऐसा कौन-सा कष्ट था? और महाराज ने भी विराम को अधिक विस्तीर्ण न होने दिया, कथा को अग्रसर करते हुए बोले–

"उसी वृक्ष की खोह में एक काले नाग ने अपना आश्रय बना रखा था। काक-दम्पति जब घोंसले से निकलकर विचरण को जाते, आहार-संकलन या गगन-विहार को जाते तो यह नाग ऊपर चढ़कर उनके अंडों–बच्चों को खा जाता और जाकर अपनी खोह में छिप जाता। इस नाग पर इन पक्षियों का कोई वश नहीं चल पाता था। वे अपनी सन्तति का यों विनाश देखकर व्यग्र हो जाते और हाहाकार कर उठते। कई दिनों तक यही क्रम चलता रहा। एक दिन कौवी ने सोचा–'इस समस्या को तो निर्मूल करना ही होगा.... क्यों न राजा की शक्ति का सहारा लिया जाय। राजा तो अपने राज्य के सभी जीवों का रक्षक होता है।' वह सोचने लगी–'राजा की सहायता कैसे प्राप्त की जाय ! हम अपने कष्ट का निवेदन भी तो राजदबार में कर नहीं सकते।' तभी उसके मानस में एक युक्ति उपजी। कौवी ने उड़ान भरी और राजभवन पर मँडराने लगी। रानी उस समय छत पर केश सुखा रही थी। कौवी ने देखा कि रानी मोतियों का हार पहने हैं। वह धीरे-धीरे नीचे उतरने लगी और जाकर रानी के कंधे पर बैठ गयी। इस आकस्मिक घटना से रानी हड़वड़ा उठी.... वह समझ न पा रही थी कि क्या हो गया.. उसे क्या करना उचित है। इसी बीच कौवी रानी के कंठ से मोतियों का हार निकालने में सफल हो गयी। हार को पंजों में दबाकर वह उड़ी और राजभवन के ऊँचे कंगूरे पर बैठी। रानी की चीख-पुकार से परिचारिकाएँ एकत्र हो गयी। उन्होंने कौवी से हार छुड़ाने का प्रयत्न किया। कौवी एक से दूसरे कंगूरे पर उड़ती-बैठती रही। सब ओर कोलाहल मच गया। कौवी राजभवन से धीरे-धीरे उड़ती हुई सामने के एक वृक्ष पर जा बैठी। प्रहरी दौड़कर गये और भाँति-भाँति के प्रयत्न करने लगे कि कौवी अपने पंजों से हार छोड़ दे। शोर किया गया, वृक्ष की उस टहनी को झकझोरा गया जिस पर वह बैठी थी। कौवी ने हार नहीं छोड़ा।

सबके देखते-देखते वह उस वृक्ष से उड़ी और कुछ दूरी की उड़ान भरकर अन्य वृक्ष पर बैठ गयी। हार अब भी उसके पंजों में झूल रहा था। सभी सैनिक, प्रहरी आदि उसका अनुगमन करने लगे। कौवी एक से दूसरे वृक्ष पर होती हुई आगे बढ़ती रही और सैनिक उसके पीछे-पीछे चलते रहे। अन्ततः वह वन में अपने वृक्ष तक पहुँच गयी। यहाँ आकर उसने मोतियों का हार सबके देखते-देखते नाग की खोह में गिरा दिया। अब सैनिकों की साँस में साँस आयी। एक सैनिक आगे बढ़कर ज्यों ही खोह में हाथ डालने लगा .... फन उठाकर नाग फुफकार उठा। भयभीत सैनिक घटना-क्रम के इस असंभावित नये मोड़ से घबराकर दो-एक चरण पीछे को हट गया। अन्य सतर्क सैनिकों ने आगे बढ़कर अपनी लाठियों के प्रहारो से नाग की जीवन-लीला समाप्त कर दी। सैनिक हार लेकर राजभवन को लौटे। वे अत्यन्त प्रसन्न थे अपनी सफलता पर और कौवी भी प्रसन्न थी अपनी युक्ति की सफलता पर जिसने उसके जीवन को अब सुखमय और निर्बाध बना दिया था।"

कथा समाप्त करते-करते महाराज ने कहा—"राजरानी ! युक्ति की अपनी सार्थकता है, शक्ति का अपना सामर्थ्य है। युक्ति और शक्ति का मेल सफलता को सुनिश्चित कर देता है। हमें अब दोनों का समन्वित प्रयोग ही करना होगा। आरंभ युक्ति से करना होगा और युक्ति का प्रथम चरण होगा—माँ चक्रेश्वरी देवी की आराधना।" महाराज की दृष्टि आकाश की ओर उठ गयी और उनके मुख-मण्डल पर अपूर्व आत्म-विश्वास की दीप्ति छा गयी।

महारानी कलावती को भी भावी साफल्य की आश्वस्तता एक स्थैर्य और धैर्य देने लगी। दोनों हर्षातिरेक के साथ एक-दूसरे को स्नेह-दृष्टि से देखते रहे। रानी फुसफुसाने लगी—"मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। मुझे मेरी बहन कलावती ला दीजिये ... कलावती ....।" महाराज अपने स्निग्ध स्पर्श से उन्हें आश्वस्त करते रहे। मंद पवन उनकी अलकों से क्रीड़ा करती रही। आलोक अपनी तीव्रता खोकर मन्द और कोमलतर होता जा रहा था। संध्या-वेला तीव्रता के साथ रजनी का वेश धारण कर लेने को तत्पर दिखायी देने लगी थी। पंछियों का मधुर गान वातावरण को मादक बनाने लगा।

× × ×

चक्रेश्वरी देवी का पावन स्थान अगरू-धूम्र से सुवासित हो रहा था। घृत का अखण्ड दीप शीतल-मन्द आलोक प्रसारित कर रहा था। देवी चक्रेश्वरी की भव्य आकृति प्रसन्न-मुद्रा के साथ, हाथ उठाकर आशीर्वाद दे रही थी। माँ के चरणों में बैठे वीर विक्रमादित्य सतत रूप से देवी माँ का स्तुति-गान, स्तोत्र पाठ किये जा रहे थे। नेत्र-निमीलित, तन अचंचल, चित्त में देवी माँ की चेतना, मन में आस्था का बल, भावों में श्रद्धा के सुमन और पलकों में आनन्द का जल .... नरेश विक्रम अजस्र रूप से मंत्रपाठ में संलग्न थे। अन्न-जल का त्याग कर वे सतत

तप-निरत थे। इसी अवस्था में दो दिन व्यतीत हो गये थे, आज तीसरा दिन था। आज भी वीर विक्रम दृढ़तापूर्वक साधना-लीन थे। रंच मात्र भी अन्यमनस्कता नहीं, भाल पर अद्भुत तेज दीप्त हो रहा।

साधना-स्थल के बाहर स्वयं राजरानी कमलावती प्रतिपल सतर्क रहते हुए सन्नद्ध थीं। चारों ओर कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था थी। आज महाराज की आराधना का अन्तिम दिन था। रानी के मन में विशिष्ट उल्लास तरंगित था। ज्यों-ज्यों भोर समीप आ रही थी उनके उत्साह मे ज्वार आने लगा था। मन करता था कि भीतर जाकर एक पल को अपने स्वामी के साधक स्वरूप की एक झलक तो पा ले, किन्तु तुरन्त ही साधना में व्यवधान पड जाने का भय उनके चरणों को रोक लेता था। उत्साहित प्रजा जन भी वहाँ एकत्र होने लगे थे। साधना की उस पिछली रजनी में मातेश्वरी के स्थान पर कुछ अद्भुत, अभूतपूर्व घटित हुआ। सघन मेघों की घोर गर्जना का स्वर निनादित होने लगा। कुछ ही पलों में क्रुद्ध झंझावात का वीभत्स वातावरण छा गया। अडिग और अचंचल तन-मन अब भी साधक वीर विक्रम देवी माँ के स्तुति-गान में तल्लीन थे। भीतर से सर्वथा सचेत महाराज बाहर की इन गतिविधियों से सर्वथा अनभिज्ञ थे। देवी माँ की कसौटी पर उनकी साधना खरी सिद्ध हुई। तभी सारी माया स्वतः सिमट गयी। वातावरण सर्वथा शान्त और नीरव हो गया। तभी एक स्वर गूँजा—"उठो, वत्स ! .... मैं तुम्हारी साधना से प्रसन्न हूँ .... अत्यन्त प्रसन्न हूँ ....।"

नरेश विक्रमादित्य महाराज की चेतना को अस्फुट रूप में ही इस वाणी ने जैसे स्पर्श मात्र किया। वे अर्द्ध-सचेत से होने ही लगे थे कि वाणी पुनः गूँज उठी— "हाँ ... हाँ .. वत्स ! उठो ... तुम्हारी साधना सफल हुई .... उठो ....।"

महाराज की दृष्टि देवी माँ की ओर गयी तो वे स्तब्ध रह गये। और साथ ही माँ के अधरों की वह मुस्कान देखकर वे निहाल ही हो गये। बड़ी ही श्रद्धापूर्वक उन्होने माँ के चरणों में माथा टेका और सभक्ति चरणों को पकड़कर लोटने लगे। देवी माँ के साक्षात् हो जाने के आनन्द से उनके लोचन अश्रुपूरित हो गये। इसी जल से देवी माँ के चरणों को प्रक्षालित करते हुए वे माँ की जय-जयकार करने लगे।

"उठो, वत्स ! .... उठो ....।" माँ की वाणी पुनः उनके कानों में गूँज उठी। उन्हें आभास होने लगा जैसे कोई उन्हें ऊपर को उठा रहा है। महाराज उठ खड़े हुए। मातेश्वरी देवी की वह प्रसन्न-मुद्रा देखकर वे आनन्दातिरेक से झूम उठे। "जय हो, देवी माँ ! तुम्हारी जय हो। मातेश्वरी ! आपने तो अपने दर्शन देकर मेरा जीवन ही कृतकृत्य कर दिया .... माँ ! मैं निहाल हो गया .... मैं ....।" महाराज श्रद्धावनत हो गये।

"वत्स ! तुमने मेरी कठोर साधना की है। मैं तुम्हारे अडिग भक्ति भाव से अत्यन्त प्रसन्न हूँ।"—देवी माँ ने हाथ उठाकर आशिष देते हुए कहा—"माँग ले ....

मनवांछित वरदान माँग ले। आज तो तू जो माँगेगा—वही तुझे मिल जायेगा। संकोच न कर वत्स···· !"

"देवी माँ ! अब क्या माँगूं ! आपका ही प्रदान किया हुआ सब-कुछ तो है हमारे पास। आपका प्रसाद बना रहे, माँ ! हमारा भक्ति भाव आपके चरणों मे बना रहे···· बस, यही कामना है। आपके दर्शन हो गये, माँ ! हमें सब-कुछ मिल गया।" नरेश ने हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया।

"बेटे ! यह तो तुमने कुछ भी नहीं माँगा···· यह तो वही भक्ति तुमने माँग ली जिसके परिणाम में तुम वरदान के पात्र हो चुके हो। तुम्हें वर तो कोई माँगना ही होगा। वत्स ! तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होकर ही रहेगी।"

"माँ ! हमें अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिए···· सब कृपा है आपकी। हाँ, एक ही याचना है····।" महाराज ने सकुचाते हुए कहा।

तो देवी माँ ने भी उन्हें उत्साहित किया—"··· कहो ··· कहो ··· वत्स ! निस्संकोच प्रकट करो·· क्या चाहते हो?"

"माँ !···· देवी माँ ! आपकी कृपा आपके इस भक्त पर और इसकी सारी प्रजा पर भरपूर है। सब प्रकार से हमारे राज्य में सुख-शान्ति है, किन्तु कुछ दिनों से एक चोर ने बड़ा उत्पात मचा रखा है। उसने हमारा सारा सुख ही अर्थहीन कर दिया है। अनेक श्रेष्ठियों का, यहाँ तक कि राज-परिवार का भी धन तो चुराया ही है, वह श्रेष्ठी-कन्याओं का अपहरण भी कर चुका है। हमारी नव-विवाहिता रानी को भी हमारे शयन-कक्ष से वह उठाकर ले गया है। सभी ओर एक भय और आतंक का वातावरण छाया है। कृपा करो माँ !···· दया करो और हमें इतना बता दो कि वह चोर है कौन···· और उसे कैसे पाया जा सकता है?"

"धन्य हो, वत्स ! तुम-जैसा नरेश भी कहीं अन्यत्र मिलना कठिन है।" देवी माँ ने कहा और उनके मुख पर प्रसन्नता का भाव आ गया। वे बोलीं—"जब वरदान माँगने का अवसर आया तो तुमने अपनी प्रजा के हित को ही सर्वोपरि माना; अपने लिए कुछ न माँगा। तुम्हारी इस स्वार्थहीनता से मैं बड़ी प्रभावित हुई हूँ। मैं तुम्हें उस चोर का परिचय विस्तार से दूँगी। यह खर्परक चोर है जिसे लोग खप्पर चोर के नाम से भी जानते हैं। वास्तविकता यह है कि वत्स ! उसकी कुदृष्टि तुम्हारे राज्य पर है। वह तुम्हें मारकर स्वयं मालवाधिपति बनने के स्वप्न देख रहा है। यही उसका मूल मंतव्य है। खप्पर चोर बड़ा शक्तिशाली है और उसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हैं। यही कारण है कि वह बड़े-से-बड़ा अपराध भी कर लेता है और बड़ी सुगमता से कर लेता है, साथ ही अपराध करते समय में भी और बाद में भी वह पकड़ में नहीं आता।"

"किन्तु वह····।"

देवी माँ ने हाथ के संकेत से नरेश विक्रमदेव को मौन कर दिया और बोलीं– मैं तुम्हें उस अपार सामर्थ्यवान अपराधी की कथा अति आरंभ से बताती हूँ–

स्थान यही अवन्तीनगर था और समय तुम्हारे पितामह के शासनकाल का था। एक अपार ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठी था–धनेश्वर। प्रेमवती उसकी अत्यन्त शीलवती पत्नी थी। गुणसार नामक इकलौता पुत्र था इस श्रेष्ठी-दम्पति का। अपने नाम को चरितार्थ करने वाला गुणसार वास्तव में वड़ा गुणवान था। वह शिक्षित था, धर्माचारी भी था और अपने पैतृक व्यवसाय में भी अत्यन्त दक्ष था। यथासमय उसका परिणय भी एक सुन्दरी श्रेष्ठ-कन्या रूपवती के संग हो गया। नव-युगल भी पारस्परिक प्रेम के साथ सानन्द जीवन-यापन करने लगे। गुणसार मनोयोगपूर्वक व्यापार-कार्य भी करता था और उसमें उसे अपार सफलता भी मिलती थी। ऐश्वर्य और सुख दिनोंदिन अभिवर्धित होता रहा। सत्य ही है कि किसी के भी दिन सदा एक से नहीं रहते। आने वाला संकट तो परिणाम ही बनकर आता है। इसके पूर्व वह अपने लिए कारण बना लेता है–भोक्ता की मति ही वैसी कर देता है। ऐसा ही गुणसार के साथ भी हुआ। जैसे उसे अपने ही असीम सुख से वैर हो गया हो। एक दिन उसके मन में यह कामना उठी कि वह विदेश जाकर व्यापार करे और नव-नवीन उपलब्धियाँ अर्जित करे, अपने वैभव का कद कुछ और ऊँचा कर ले। उसने अपने पिता से इस हेतु अनुमति माँगी तो धनेश्वर तो भौंचक्का ही रह गया। वह कैसे उसे जाने दे सकता था। उसके पास धन-वैभव की कमी ही क्या थी और गुणसार के बिना दिन बिताने की कल्पना भी भला उसके माता-पिता, उसकी धर्मपत्नी कैसे कर सकते हैं ! यही तो इस परिवार का एक मात्र आशा का दीप था। पिता ने उसे बहुत प्रबोधन दिया, किन्तु विनय के साथ गुणसार अपनी कामना पर दृढ़ बना रहा–भवितव्य ही ऐसा था। उसका हठ तो प्रारब्ध का उपकरण बना हुआ था। जब उसने पिता की बात ही अनसुनी कर दी तो परिस्थितियों को स्वानुकूल बनाये रखने के प्रयोजन से पिता ने विवश होकर अनुमति भी दे दी और प्रचुर धन भी व्यवसाय हेतु दिया।

कुछ समय भी गुणसार के बिना श्रेष्ठी-परिवार ने बड़ी कठिनाई से व्यतीत किया था। एक उसके ही न होने से सारा वातावरण फीका-फीका-सा हो गया था, नीरस और कुरूप। जब उसकी स्मृति आती तो माता-पिता बेचारे लम्बी साँस ले कर रह जाते। एक प्रातः कुछ ऐसा हुआ कि परिवार के इन तीनों प्राणियों के लिए हर्ष का पारावार ही नहीं रहा। गुणसार लौट आया था। आठ-दस दिन में ही खाली हाथ पुत्र को लौटा देखा तो पिता धनेश्वर को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह कुछ समझ न पाया कि क्या हो गया है। वात्सल्यपूरित माता प्रेमवती का हृदय भी धक् से रह गया कि कहीं कोई अघटनीय तो नहीं .... किन्तु अपने पुत्र को सकुशल पाकर दोनों के चित्त प्रसन्न अवश्य थे। जिज्ञासावश पुत्र से पिता ने पूछ ही लिया

कि वह इतना शीघ्र कैसे आ गया? गुणसार ने कहा कि गया तो वास्तव में वह लम्बी अवधि के लिए था, किन्तु मार्ग में उसे एक महात्मा मिल गये जिन्होंने उसे टोक दिया कि उसका विदेश जाना शुभ नहीं है। यदि हठपूर्वक वह गया भी तो उसके लिए मरणयोग निश्चित है, जो टल नहीं सकता। अतः उसने विचार ही त्याग दिया और घर लौट आया है। पिता ने आन्तरिक प्रसन्नता व्यक्त करते हुए गुणसार का साधुवाद किया कि उसने बड़ा विवेकपूर्ण निर्णय लिया और दुराग्रह को त्याग दिया। धन तो आती-जाती माया है—जीवन ही मूल्यवान है। जीवन रह गया है तो धन तो और भी आता रहेगा। वैसे भी धन का अभाव कहाँ है। माता ने पुत्र की बलैयाँ लीं और जुग-जुग जीने की आशिष दी। रूपवती तो असंभाव्य संयोग-सुख से अति उल्लसित थी। आशा के विपरीत ही वियोगावधि संकुचित हो गयी और पुनर्मिलन का छोर आ पहुँचा था। गुणसार पूर्ववत् अपने व्यवसाय में प्रवृत्त हो गया और परिवार की वही जीवन-शैली लौट आयी। रूपवती को अनुभव होने लगा कि उसका पति पूर्वापेक्षा अधिक ही आसक्त है। सोचा—कदाचित् इस अल्पकालीन वियोग ने ही उनकी सोई हुई प्रवृत्ति को जाग्रत कर दिया है। बिछोह ही मिलन-सुख की महत्ता को भलीभाँति प्रतिपादित करता है। समय अपनी गति से व्यतीत होता रहा। विदेश-यात्रा का वह प्रसंग आया-गया ही हो गया।

कोई छह माह का समय उस घटना को हुए हो गया। गुणसार और रूपवती का दाम्पत्य जीवन भी सुखमयता के साथ चल रहा था, तभी जैसे शान्त सरोवर मे किसी ने प्रस्तरपात कर दिया हो और स्थिर जल में लहरें उठने लगी हों—वैसे ही इस श्रेष्ठी-परिवार की सुख-शान्ति में भी सहसा व्यवधान उपस्थित हो गया। एक दिन श्रेष्ठी धनेश्वर को संदेश प्राप्त हुआ कि उसका पुत्र गुणसार सामुद्रिक व्यापार मे अपार लाभ अर्जित कर अवन्ती लौट रहा है और कल ही वह घर पहुँच जायेगा। संदेश पाकर धनेश्वर का माथा ठनक उठा। तो यह गुणसार कौन है जो हमारे साथ है? कहीं कोई छलावा तो नहीं है । छलावा तो है, अवश्य ही है, किन्तु यह छल हमारे साथ हो चुका है या अब होने वाला है? धनेश्वर सोचने लगा कि जो गुणसार पहले ही घर को लौट आया है—उसमें कोई भी तो सन्देह की वात नहीं लगी।

"सुनो राजन् !" महाराज विक्रमादित्य को सम्वोधित करते हुए देवी माँ ने कहा—"श्रेष्ठी धनेश्वर के भवन के पास ही वरगद का एक प्राचीन वृक्ष था और उसमे एक अधम व्यन्तर पिशाच का वास था। गुणसार की पत्नी रूपवती के रूप सौन्दर्य पर वह आरंभ से ही मुग्ध था। उसकी आसक्ति उसे रूपवती को प्राप्त कर लेने को लालायित करती थी, किन्तु उसका वस कुछ चलता नहीं था। जव गुणसार विदेश चला गया तो पिशाच को अवसर मिल गया। वही गुणसार का रूप धरकर पहुँच गया और निर्बाध रूप में रूपवती के पति की भाँति रहने लग गया था।

यथासमय जब वास्तव में गुणसार अपने घर पहुँचा तो धनेश्वर के लिए समस्या अति विकट हो गयी। वह किसे वास्तविक गुणसार माने और किसे छद्मरूपधारी माने? वह इस असमंजस की स्थिति में किकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। पुत्र ने जब चरण स्पर्श कर उसे प्रणाम किया तब भी वह कोई प्रतिक्रिया न दे पाया, मौन रह गया। पिता के इस उदासीन व्यवहार से पुत्र को बड़ी पीड़ा हुई। उसने आश्चर्य व्यक्त करते हुए पिता से कहा–"मैं इतने लम्बे प्रवास से लौटा हूँ और आपको कोई प्रसन्नता नहीं हो रही–क्या आप मुझसे अब भी रुष्ट हैं? यदि मेरा कोई अपराध हो गया हो तो मुझे क्षमा कर दीजिये, पिताजी ! मैं भारी सफलता के साथ लौटा हूँ। अपना धन कई गुना बढाकर मैं लाया हूँ। मुनीम को मैं कार्यवश वहीं छोड़कर आया हूँ। वह सारा व्यवसाय समेटकर कुछ दिनों में आ पहुँचेगा....।"

मुनीम से ही यह पहचाना जा सकता था कि वास्तविक गुणसार कौन है; किन्तु वह सूत्र भी उपलब्ध न था। फिर पूर्व गुणसार तो इस घर में छह माह से रूपवती के साथ रह रहा है.... क्या इससे बदनामी न होगी। रूपवती के शील का क्या होगा। अनेक विचार उसके मानस में उभरने लगे थे। पीले वस्त्रों में यह आगंतुक गुणसार साक्षात् उसके पुत्रवत् ही दृष्टिगत हो रहा था। वह किसी के भी विषय में यह निश्चय करने की स्थिति में नहीं था कि वह वास्तविक गुणसार है अथवा कृत्रिम। अन्ततः पिता ने अपना मुँह खोला–"तुम भी स्वयं को गुणसार कहते हो और एक गुणसार पहले से ही घर में है जो विदेश गया ही नहीं, बीच मार्ग से लौट आया था। मैं किसे अपना वास्तविक पुत्र मानूँ?"

"क्या कह रहे हैं आप, पिताजी ! ऐसा हो कैसे सकता है?" पुत्र ने स्वयं को जटिल स्थिति में ग्रस्त अनुभव किया और कहा–"इसका अर्थ तो यह हुआ कि आप ठगे गये हैं। किसी ने मेरा रूप धरकर आपको छला है। आपने यह क्या अनर्थ कर डाला। पिता होकर भी पुत्र की पहचान न कर सके आप?"

"पहचान तो मैं कराऊँगा तेरी.... तू है कौन और गुणसार बनकर यहाँ आने का तुझे साहस कैसे हो गया !"–भीतर से गुणसार रूपधारी पिशाच उत्तेजित होकर बाहर आ गया–"हमारे धन को हड़पने का लोभ तुझे तेरी मृत्यु के समीप खींच लाया है। मैं तुझे तेरी इस धृष्टता का मजा चखाकर ही दम लूँगा।" कथनकर्त्ता ने नीले वस्त्र धारण कर रखे थे।

गुणसार को सारी बात तत्काल समझ में आ गयी, किन्तु स्व-कथन के अतिरिक्त उसके पास भी कोई ठोस तर्क न था जो उसे वास्तविक और अन्य को कृत्रिम सिद्ध कर सके। इस विवशता की छटपटाहट में धनेश्वर का वास्तविक पुत्र बोल उठा–"तू जो भी कोई हो, पर है तू मायावी। तूने मेरे परिवार के साथ छल किया है, किन्तु तेरी आकांक्षा कभी पूर्ण न होगी, वंचक ! जो कुछ तूने अभी-अभी

कहा है—वह सब-कुछ तो मुझे तेरे लिए कहना चाहिये। तूने वेश तो मेरा अच्छा बना लिया है, किन्तु ····।"

"जा-जा, अब बढ़-बढ़कर बातें न बना। जिस दिशा से आया है, ढोंगी ! अब तू उसी दिशा में लौट जा।" नीले वस्त्रधारी ने कहा। वह चिल्ला-चिल्लाकर बोलता अवश्य था, किन्तु आगे बढ़ने का साहस उसका नहीं होता था।

पिता धनेश्वर तो अद्‌भुत समस्या में था। उसके पास निर्णय करने का कोई आधार न था कि उसका वास्तविक पुत्र कौन है? विवश होकर वह अवन्ती-नरेश के पास पहुँच गया और अपनी सारी समस्या विस्तार से रख दी। अवन्ती-नरेश के समक्ष भी ऐसी समस्या प्रथम बार ही आयी थी। इधर दोनों गुणसारों में वाक्-युद्ध होता रहा। आसपास के अनेक जन एकत्र हो गये। वे भी आश्चर्यचकित थे। इनमें से वास्तविक गुणसार कौन? कोई भी निश्चय नहीं कर पा रहा। इसी समय राज्य-कर्मचारी आए और दोनों को बन्दी बनाकर ले गये। विचित्र स्थिति थी। उस पिशाच ने ऐसा रूप बनाया था कि उसमें और गुणसार में कोई अन्तर ही नहीं रह गया था। माता प्रेमवती का हृदय धक्-धक् करने लगा था कि कहीं हमारा वास्तविक पुत्र यही बाद में आने वाला निकला तो ····। इसी प्रश्न को लेकर सर्वाधिक तनाव तो रूपवती के मन में था। उसने तो तन-मन से पूर्व में आ गये गुणसार की सेवा की थी। संकोचवश अब तक वह किसी को कह तो नहीं सकी थी, किन्तु वह उसके पुत्र की जननी होने वाली थी। उसे मन-ही-मन यह आशंका होने लगी थी कि अवश्य ही इस विषय में उसके साथ धोखा हुआ है। वह तो बार-बार अचेत हो जाती थी। बेचारी दुःखियारी प्रेमवती उसे भी सँभालती।

उसी समय राज-दरबार जुड़ा और दोनों युवकों को उपस्थित किया गया जो गुणसार होने का दावा कर रहे थे। दोनों सर्वथा एक-जैसे थे। तिल मात्र का भी अन्तर न था। यह बड़ी भारी समस्या हो गयी थी कि वास्तविक गुणसार की पहचान कैसे की जाय। अवन्ती की राजसभा में अनेक अनुभवी गुणी जन थे, प्रवुद्ध जन थे; किन्तु जब कोई भी इस हेतु कोई मार्ग नहीं निकाल पाया तो तत्कालीन महामंत्री ने एक सुझाव प्रस्तुत किया कि इन दोनों को पन्द्रह दिवस तक पृथक्-पृथक् कक्षों में वन्द कर दिया जाय। इस मध्य कोई पहचान उभर आए, ऐसी संभावना हो सकती है। हमारे सभासद भी तव तक कोई युक्ति खोज लें—ऐसी संभावना है। अन्य कोई विकल्प न होने की स्थिति में महामंत्री का परामर्श स्वीकार्य होना ही था। ऐसा ही किया गया—दोनों गुणसारों को पृथक्-पृथक् कक्षों में वंद कर दिया गया।

ज्यों-ज्यों समय वीतता रहा रूपवती अधिकाधिक चिन्तातुर होती जा रही थी। उसके तो जीवन-मरण का प्रश्न आ खड़ा हुआ था। उसने अपनी एक विश्वस्त

सखी के माध्यम से अन्य गॉव की एक कुशल दाई को बुला लिया और एक रात्रि में गोपनीय ढंग से उसने गर्भपात करवा लिया। पॉच माह का गर्भ था–सप्राण। दाई इस भ्रूण को लेकर वन में गयी और एक खर्पर (खोपड़ी) पड़ी थी, उसी में उसे रख आयी।

समय व्यतीत होता रहा। पन्द्रह दिवसीय अवधि समापन की ओर बढ रही थी। राजसभा में गुणसार की पहचान की समस्या पर अनेक बार इस बीच चर्चा हुई, किन्तु कोई समाधान नहीं निकल पाया था। एक दिन राजसभा में गणिका चिन्तामणि उपस्थित हुई और उसने राजा से निवेदन किया कि उसे प्रयत्न करने की अनुमति प्रदान की जाय। उसे विश्वास है कि इस समस्या का समाधान वह सफलतापूर्वक कर सकेगी। उसे अनुमति प्राप्त हो भी गयी। उसने एक युक्ति निकाल रखी थी। वह उस भवन में गयी जहॉ दोनों युवकों को बन्दी बनाकर रखा गया था। उसने दोनों को अपने-अपने कक्ष से बाहर निकलवाया और उनसे कहा कि मैं इस बात की परीक्षा करूँगी कि तुममें से वास्तविक गुणसार कौन है? तुम दोनों यहीं इसी स्थल पर मुक्त रहोगे। तुम्हारे स्थान पर अब मैं एक कक्ष में बन्द रहूँगी। जब मैं झरोखे से झॉककर पुकारूँ तो तुम दोनों को दौड़कर मेरे पास आना होगा। जो मुझे पहले छू लेगा वही श्रेष्ठी धनेश्वर का वास्तविक पुत्र गुणसार होगा। और तब ध्यान से वह दोनों के मुख-मण्डल की ओर देखने लगी। नीलवस्त्रधारी तो अति उत्साहित था, किन्तु पीतवस्त्रधारी बुझ-सा गया था। गणिका ने कुछ अनुमान मन-ही-मन लगाया और बोली–ठीक है न ! तुमको तुरन्त और शीघ्रता से मेरे पास आना है। कहीं ऐंसा न हो कि वास्तविक गुणसार शिथिल रह जाय। अच्छा, अब मैं जाती हूॅ। यह कहकर गणिका भवन के भीतर चली गयी। मुख्य द्वार भीतर से बन्द कर वह ऊपर के कक्ष में गयी और उस कक्ष को भी भीतर से बन्द कर लिया।

भवन के बाहर स्वयं नरेश, अमात्य जन, राज्याधिकारीगण और अनेक जन यह कौतुक देखने को एकत्र थे। कुछ ही पलों में ऊपर के कक्ष का झरोखा खुला और गणिका चिन्तामणि ने पुकारा–आओ गुणसार, मुझे छू लो और उसने त्वरा के साथ झरोखा भी पुनः बन्द कर लिया। दोनों गुणसार भवन की ओर लपके। उपस्थित जनों ने देखा पीतवस्त्रधारी युवक भवन के बन्द मुख्य द्वार को धकेलकर असफल, निराश खड़ा रह गया। वह अपनी पराजय पर हाथ मलने लगा था। कुछ ही पलों में नीलवस्त्रधारी युवक गणिका के पास पहुँच गया और गणिका के हाथ को स्पर्श कर लिया। प्रसन्न भाव से गणिका ने उसका साधुवाद किया। अपनी ॲंगलियों से उसने अपनी पलकों को छू लिया और तब युवक ने भाल पर टीका लगाते हुए बोली–इस विजय-तिलक के सच्चे अधिकारी तुम ही हो। आओ .... चलें। गणिका उठी। ऊपर के कक्ष का द्वार भीतर से खोलकर वह नीचे आयी और

मुख्य द्वार की कुंडी खोलकर वह प्रांगण में आ गयी। नीलवस्त्रधारी युवक का हाथ थामे वह नृपति की ओर बढ़ीं। अरे ! तुम क्यों नहीं आये मेरे पास .... हाँ ....? बड़ी कोमलता के साथ उसने पीतवस्त्रधारी युवक से कहा और उसे भी अपने संग ले लिया। समीप आकर उसने—महाराज की जय हो—कहकर अपना निर्णय सुनाया— श्रीमानेश्वर यह युवक जिसने नीले वस्त्र धारण कर रखे हैं, जिसके भाल पर काला टीका लगा है—यह कृत्रिम गुणसार है। यह मेरे पास बन्द भवन में पहुँच गया। यह असामान्य कृत्य किसी भी मनुष्य के लिए संभव नहीं है। इसने अवश्य ही अपनी मायावी शक्ति का प्रयोग कर, द्वार बन्द रहते हुए भी भीतर प्रवेश करने में सफलता प्राप्त कर ली। उसी माया के सहारे इस अधम ने गुणसार का रूप धारण कर रखा है। वास्तविक गुणसार तो यह पीतवस्त्रधारी युवक है जो मनुष्येतर चमत्कार बेचारा कहाँ से दिखा पाता, बन्द द्वार के बाहर ही खड़ा रह गया।

पीतवस्त्रधारी युवक की आँखों में एक अद्भुत दीप्ति छा गयी जो उसकी आन्तरिक प्रसन्नता की द्योतक थी। वह तत्काल कुछ निश्चय न कर पा रहा था कि वह क्या कहे—क्या करे। वह मस्तक झुकाकर प्रणाम करने के अतिरिक्त कुछ न कर सका और मुस्कराता रहा। उसकी पलकें आर्द्र हो उठीं। लज्जा के भार से नीलवस्त्रधारी युवक का शीश झुक गया था। अवन्ती-नरेश ने गणिका के बुद्धि-कौशल की भूरि-भूरि प्रशंसा की, अपने कंठ से हीरक-हार निकालकर उसे पुरस्कृत किया। उन्होंने नीलवस्त्रधारी युवक की ओर संकेत करते हुए आज्ञा दी कि इस पापी, दुष्टात्मा को बन्दी बना लिया जाय। आरक्षी उसकी ओर बढ़े ही थे कि वह सभी के देखते-देखते वहाँ से भाग खड़ा हुआ। आरक्षियों ने उसका पीछा किया। कुछ दूर जाकर वह धुएँ से घिर गया। आरक्षीगण उसके समीप पहुँचे तब तक धुआँ भी अदृश्य हो गया और वह दुरात्मा भी।

"वत्स ! अब आगे का वृत्तान्त सुनो, वह और भी अधिक महत्त्व का है।" माँ चक्रेश्वरी देवी ने स्नेहपूर्वक कहा। अवन्तीनाथ वीर विक्रम महाराज टकटकी लगाकर माँ का मुख-दर्शन किये जा रहे थे। देवी माँ ने कथन पुनः आरंभ किया—

वह दाई नगर से दो कोस दूर निर्जन में, एक खर्पर में सजीव भ्रूण को रख आयी थी। उसके कुछ ही समय पश्चात् देवी चण्डालिका का विमान आकाश-मार्ग से जा रहा था। वह उस स्थल पर आकर सहसा विराम को प्राप्त हो गया। देवी को बड़ा अचरज हुआ। विमान रुक क्यों गया .... अवश्य कोई विशेष कारण होना चाहिये। झाँककर देखा तो उन्हें खर्पर में भ्रूण दिखायी दे गया। उन्होंने सोचा—इस भ्रूण ने हमारे विमान की गति को स्थगित कर दिया—अवश्य ही इसमें कोई शक्ति है। यह असाधारण है। देवी ने विमान को उतारकर खर्पर को अपने साथ ले लिया और अपने स्थल पर ले जाकर भ्रूण को पोषित किया। बड़ा होने पर यही खर्परक कहलाया और लोक में इसका नाम 'खप्पर' हो गया। यही वह

खप्पर चोर या खर्परक चोर है जिसने तुम्हारे नगर में उत्पात मचा रखा है। यह साधारण चोर नहीं है, वड़ा शक्तिशाली है यह। देवी चण्डालिका ने अनेक वरदान और सिद्धियाँ देकर उसे अजेय बना दिया है। एक भू-गृह (गुफा) में रखकर उसका पालन-पोपण किया गया था। चण्डालिका के वरदान से यह इस स्थल से बाहर सर्वत्र अपराजेय है। केवल उस भू-गृह मे ही कोई इसका वध कर सकता है। देवी चण्डालिका ने खप्पर को एक दिव्य खड्ग भी दिया है जिससे वह महानतम वीरों और बलशालियों को भी मौत के घाट उतार सकता है। वह अदृश्य हो जाने की विद्या का अभ्यासी भी हो गया है और अदृश्य रूप में ही वह चोरी, अपहरण आदि के दुष्कर्म करता है। उसे इसी कारण खोजना और पकड़ पाना संभव नहीं हो पाता है। किन्तु दुराचार और अन्याय कितना ही प्रबल क्यों न हो, वह चिरस्थायी नहीं होता। इस दुष्ट का विनाश भी अब समीप ही है।

महाराज विक्रमादित्य सारा वृत्तान्त ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। उन्होंने देवी माँ से कहा–"मातेश्वरी ! मुझे आशीर्वाद और शक्ति प्रदान करें कि मैं उस पापाचारी का विनाश कर सकूँ।"

देवी माँ ने भी प्रसन्न भाव से कहा कि उनकी आशिष सदा ही बनी रहेगी और वीर विक्रम जैसा कोई साहसी और वलशाली ही खप्पर चोर को नष्ट कर सकता है। विक्रमादित्य महाराज ने इस कथन से अतिशय प्रेरित होकर पूछा–"माँ ! हम अवश्य ही जनहित और लोकरंजन के लिए इस साहसिक कार्य को पूर्ण करेंगे, किन्तु हम उस दुष्ट को पहचानेंगे कैसे.... उस तक पहुँचेंगे कैसे?"

"राजन् ! एक बात का विशेष ध्यान रखो।" माँ चक्रेश्वरी देवी ने कहा–"खप्पर चोर दिनभर अपनी गुफा में ही रहता है। रात्रि के प्रथम प्रहर में वह नगर में जाता है, चोरियाँ करता है और लौट जाता है। वह नित नये वेश बनाकर नगर में आता है। इस कारण भी उसे पहचानना कठिन हो जाता है। एक पहचान उसकी है। वह चाहे जिस वेश में हो, किन्तु उसके बाएँ हाथ में लोहे का कड़ा अवश्य रहता है। सुनो वत्स !" महाराज को संबोधित करते हुए देवी माँ ने कहा–"अत्यन्त सावधान रहना अत्यावश्यक है। भू-गृह से बाहर उसके प्रत्येक दुष्कर्म के लिए उसे क्षमा करते रहना, किन्तु भू-गृह में उसे क्षमा न करना, प्रहार का कोई अवसर हाथ से जाने न देना। वहीं उसका मरण संभव है।"

"हम कृतार्थ हो गये, मातेश्वरी ! हम धन्य-धन्य हो गये। अब प्रजा की रक्षा के लिए हमें विजय का वरदान दो, माँ !"–महाराज ने प्रार्थना की और देवी माँ के चरणों में झुक गये–"हमें शक्ति दो, माँ ! हमें शक्ति दो।" उत्तर में कोई वाणी न सुनायी दी तो आग्रह-भरे स्वर में उन्होंने पुकारा–"माँ !... देवी माँ !!" और ऊपर को दृष्टि की। चक्रेश्वरी देवी अदृश्य हो गई थी। उनका हाथ आशीर्वाद के लिए उठा हुआ दिखाई दिया। महाराज विक्रमादित्य समझ गये। आत्मतोष के साथ

वे उठे। देवी माँ को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मंथर गति से मंदिर के बाहर आ गये। उनके मुख का प्रसन्नता का भाव देखकर ही महारानी कमलावती को संतोष हो गया कि स्वामी को अवश्य ही सफलता प्राप्त हो गयी है, वह भोर नवीन आशा लेकर आयी है। राजरानी ने सफल तप और आराधना के लिए महाराजश्री का अभिनन्दन किया। उपस्थित जन-समुदाय की जय-जयकार से वातावरण गूँज उठा। थकित, श्रमित से महाराज राजा की कमलावती के संग रथारूढ़ होकर राजभवन के लिए प्रस्थित हुए।

● ●

अवन्तीनाथ वीर विक्रमादित्य ने अनशनपूर्वक त्रिदिवसीय आराधना के उपरान्त चक्रेश्वरी देवी के साक्षात् दर्शन किये थे। इस तेले के तप ने उनमें अद्भुत आत्म-विश्वास जाग्रत कर दिया था। खप्पर चोर के इस अपावन मन्तव्य से भी परिचित हो गये थे वे कि वह मालव-राज्य पर अधिकार करना चाहता है। उनके मन में देश-रक्षा का प्रचण्ड भाव उद्वेलित हो उठा। खप्पर अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कुत्सित कृत्य कर रहा था. वे तो और भी अधिक जघन्य थे। चोरियाँ और सुन्दरियों के अपहरण के दुष्कर्म उसके आत्मघाती प्रयास होते जा रहे थे। उसके विनाश के लिए नरेश के मन में अद्भुत उत्साह जाग्रत होकर प्रबल से प्रबलतर होता जा रहा था। महाराज की शक्ति में भी एक विचित्र ज्वार-सा आ गया था। उन्हें अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य तात्कालिक रूप में तो यही दृष्टिगत होता था कि जिस किसी प्रकार से संभव हो, खप्पर चोर का विनाश किया जाय। मनसा-वाचा-कर्मणा वे इसी लक्ष्य को समर्पित-से हो गये थे। सोते-जागते, उठते-बैठते उनका ध्यान इसी ओर लगा रहता। जाग्रत मन से वे युक्तियाँ खोजते तो निद्रा में भी इसी के स्वप्न देखते। दैहिक सचेष्टता से वे खप्पर चोर की खोज में प्रवृत्त हो गये। उनकी समग्र चेतना का केन्द्र यही खप्पर चोर हो गया था। शक्तिशाली दोनों ही थे। एक में सुदृढ़ मन और सवल तन का आत्म-विश्वास था तो दूसरे में माया और मंत्रों का पराधीनतापरक वल था। खप्पर चोर की स्वयं की कोई शक्ति न थी। एक की शक्ति लोकमंगल में प्रयुक्त थी, तो दूसरे की शक्ति मालव-राज्य को छद्म रूप से हड़प कर लेने की मलिन और कुत्सित प्रवृत्तियों को ही समर्पित थी। एक में आत्म-गौरव और आत्म-विश्वासपूर्ण सदोद्देश्य था, तो दूसरे मे अशिष्ट दम्भपूर्ण कदाचार था। दोनों में यदि समानता कोई थी, तो वह यही थी कि दोनो ही अपनी-अपनी विजय के लिए आश्वस्त थे और विरोधी के पराभव के लिए अपनी शक्ति को पर्याप्त से भी अधिक असीम मानते थे।

तेला तप की अपनी उपलब्धियों की चर्चा महाराज ने प्रेयसी राजरानी कमलावती के साथ भी की और अमात्य-परिषद् में भी। उन्होंने सर्वत्र अपना यही संकल्प व्यक्त किया कि राज-शक्ति का प्रयोग किये बिना हम स्वयं, अकेले ही उस दुराचारी से लोहा लेंगे। उसने कलावती का हरण कर हमारे विरुद्ध अपराध किया है—अब हमारे हाथों उसका विनाश सकारण भी हो गया है। कदाचित् इस अपहरण के पीछे उसका यह प्रयोजन भी रहा हो कि वह हमें पराजित कर मालव-सत्ता हथिया सके। वाचालता की अपेक्षा मूक चिन्तन मन को अधिक दृढ़ बनाता है और वास्तविकताओं का दर्शन कराता है। महाराज विक्रमादित्य भी बड़े समय तक मन-ही-मन गहन विचार करने लगे। कल्पनाएँ परिष्कृत होकर यथार्थ की ओर उन्मुख होने लगीं। वे सोचने लगे—'खर्परक को साधारण और दुर्बल मानना पराभव को आमंत्रण देना होगा। उसकी शक्ति के मर्म को समझकर अनुकूल रूप में युक्तिपूर्वक ही उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है।' प्राथमिक समस्या यही थी कि उस दुष्ट तक पहुँचा कैसे जाय !

संध्या व्यतीत हुई और रात्रि ने अपना तमावरण फैलाया। एक दरिद्र के वेश में फटे-पुराने वस्त्रों मे नरेश नगरचर्या पर निकले। प्रथम प्रहर में उन्होंने अधिक सतर्कता बरती। यही वह समय था जब खप्पर चोर का पाना अधिक संभाव्य था। नरेश के चौकन्ने नेत्र सर्व दिशाओं में उसी एक खर्परक की खोज में लगे थे। उनकी समग्र चेतना ही मानो दृष्टि में केन्द्रित हो गयी थी। वे अवन्ती के मार्गों पर भ्रमण करते-करते सहसा एक चौक में निकल आये जहाँ कुछ हलवाइयों की दुकानें थीं। एक दुकान पर दूर खड़े वे ताड़ने लगे कि ग्राहकों की भीड़ में कौन कैसा व्यक्ति हो सकता है। मद्धिम प्रकाश में उन्होंने देखा एक भारी डीलडौल वाला ग्राहक अपने कर्कश स्वर में कुछ मिठाई तोलने को कह रहा है। वेश-भूषा से तो वह संभ्रान्त प्रतीत होता था; किन्तु चेहरे-मोहरे से, बोलचाल से वह संदिग्ध लग रहा था। नरेश विक्रमादित्य की दृष्टि ने उसी को लक्ष्य बना लिया। वे ध्यानपूर्वक उसकी गतिविधियों को ताड़ने लगे। अमुक मिष्टान्न की ओर संकेत करने को उसने बाँह उठाई कि नरेश को उसकी कलाई में लोहे का कड़ा दिखाई दे गया। महाराज विक्रमादित्य का अनुमान पुष्ट हो गया—'हाँ, यही खप्पर चोर है···· यही····।' वे मन-ही-मन बुदबुदाये। उनका मन-मयूर नर्तन कर उठा। साफल्य के प्रथम सोपान पर आरूढ़ महाराज को अनुभव होने लगा कि अब किसी भी प्रकार से हमारी विजय को कोई पीछे नहीं धकेल सकता। उनका मन त्वरा के साथ युक्तियों के ताने-बाने से योजना-पट बुनने लगा। इसे बल से नहीं कल से ही पराभूत करना होगा। उन्हें स्मरण हो आया—'अपने भू-गृह के बाहर तो यह देव-दानव के लिए भी अजेय है, अवध्य है। इसे इसके आवास-स्थल—भू-गृह मे ही····।'

दीन-दुःखी के वेश में महाराज विक्रमादित्य के समक्ष अब प्रथम और सर्वप्रमुख कार्य यह रह गया था कि इसके आवास का पता लगाया जाय। वे मौन होकर अपने स्थल पर ही खड़े रहे और जब खर्परक चलने को हुआ तो वे सतर्क हो गये। मार्ग पर जब वह आगे बढ़ गया तो महाराज सावधानीपूर्वक उसका अनुसरण करने लगे। लुकते-छिपते वे सतत रूप से खर्परक के पीछे-पीछे चलते रहे। कुछ वन-मार्ग भी पार करना पड़ा और तब एक मंदिर दिखायी पड़ा। महाराज ने सोचा—यही वह चण्डालिका का मंदिर होगा। अब वे और भी अधिक सतर्क होकर चलने लगे। उनकी साँस थम-सी गयी। उन्होंने देखा खर्परक ने एक पाँव पर खड़े होकर मंदिर के समक्ष मैदान में ही देवी को नमस्कार किया और कोई मंत्र गुनगुनाते हुए मंदिर के पीछे की ओर मुड़ गया। बिना आहट किये महाराज भी एक वृक्ष की ओट में खड़े होकर देखने लगे। देवी-मंदिर के पीछे की ओर कुछ ही दूरी पर एक टीला था। टीले के समीप पहुँचकर खर्परक ने एक विशाल शिलाखण्ड को अपनी पूर्ण शक्ति का प्रयोग कर तनिक खिसकाया और वह भीतर प्रविष्ट हो गया। भीतर से उसने पुनः शिला को अड़ाकर द्वार को बन्द कर दिया। महाराज को विश्वास हो गया कि यही खप्पर चोर का आवास-स्थल वह भू-गृह है। इस सफलता के पश्चात् वे राजभवन लौट आये और अपने आज के अनुभवों के विषय में उन्होंने किसी को भी कुछ नहीं जताया।

× × ×

सूर्यास्त हुए को पर्याप्त समय हो गया था। चारों ओर चम्पई अंधेरा या कहें कि सुरभई उजाला छा रहा था। इसी समय खर्परक नित्यानुसार अपने गुहा-गृह से निकलकर नगर की ओर चला। चण्डालिका माँ को बाहर से ही नमन कर वह मार्ग पर कुछ आगे बढ़ा ही था कि उसके कानों में आर्त्त स्वर पड़ा—"अरे है कोई .... जो इस भूखे-प्यासे की सहायता कर सके .... बड़ा पुण्य होगा ....।"

खर्परक चौंका और देखा कि पगडंडी के पास ही एक दीन-हीन युवक पडा तड़प रहा था। उसके वस्त्रों की दुर्दशा से उसकी दीनता स्पष्ट झलक रही थी। खर्परक के कठोर हृदय में भी सहसा करुणा अंकुरित हो उठी। रुककर उसने सहानुभूति के स्वर में पूछा—"कौन हो भाई ! यहाँ क्यों पड़े हो? .... नाम क्या है तुम्हारा?"

"एक अभागा दुःखियारा हूँ, महाराज ! परदेसी हूँ .... तेलंग-प्रदेश से आया हूँ।" उस दरिद्र भिक्षुक-से युवक ने कहा—"भाग्य का मारा हूँ .... दो दिन से तो अन्न का एक दाना भी मुँह में नहीं गया है, दाता !"

"अच्छा-अच्छा ! बकवास बन्द कर .... बड़ा दो दिन का भूखा है ....। भूखा है तो यहाँ निर्जन में क्यों पड़ा है। यहाँ कौन तुझे अन्न देने को बैठा है। बस्ती में कहीं ....।" खर्परक ने कहा—

उसका वाक्य भी पूर्ण नही हो पाया था कि युवक बोल पड़ा–"किसी ने दया करके मुझे देवी माँ के मंदिर का पता वता दिया था कि वहाँ से प्रसाद मिल जायेगा। पर भाग्य की रेखाएँ ही विपरीत हैं। यहाँ पुजारी बाबा ही नहीं मिले। न सही पुजारी बाबा···· माँ ने आप-जैसे करुणानिधान को भेज दिया है मेरे दाता ! दया करो प्रभो !"

"अच्छा ले, कुछ पैसे ले जा। नगर में जाकर····।" कहते हुए खर्परक ने अपने कटिवन्ध की ओर हाथ वढाया ही था कि त्वरा के साथ वह दरिद्र बोल पडा–"क्षमा करें, श्रीमान् ! मैं भिक्षा नहीं ग्रहण कर सकता। क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। इसकी मर्यादा तो रखनी ही होगी। आप तो कृपा करके मुझे अपना सेवक बना लीजिये। परिश्रमपूर्वक आपकी सेवा करूँगा और दो रोटी पा लूँगा।"

खर्परक चोर सोच में पड़ गया–'इसके योग्य काम ही क्या है मेरे पास····। पर इसकी सहायता तो कर ही दूँ। बेचारा भूखा है।' प्रकट रूप में वह बोला–"आज-आज का काम है···· चल मेरे साथ। कल को तू अपना काम स्वयं ही कहीं देखना।"

"जय हो···· जय हो, महाराज ! आपकी दया से तो मैं मरता-मरता भी जी उठूँगा, मेरे स्वामी ! आज-आज का रोजगार दे दें। कल की बात तो मैं भी नहीं करता···· कल न जाने मैं कहाँ···और तुम कहाँ···।" दरिद्र के कथन पर खर्परक कुछ शंका-भरी दृष्टि से जब उसे घूरने लगा तो बात को सँभालते हुए उस रंक ने कहा–"परदेसी पथिक हूँ न महाराज ! कल का क्या ठिकाना मेरा।" खर्परक आश्वस्त होकर अपने मार्ग पर, नगर की ओर बढ़ गया। सोचने लगा–'और कुछ नहीं तो चोरी और क्रय की गयी वस्तुएँ ही उठाकर भू-गृह तक ले आयेगा।'

आगे-आगे चोर खर्परक और उसके पीछे-पीछे वह भूखा दरिद्र···· चलते-चलते दोनों ने नगर-प्रवेश किया और मुख्य बाजार में पहुँच गये। मिष्टान्न विक्रेता की उसी दुकान पर पहुँचकर खर्परक ने अनेक प्रकार की मिठाइयाँ क्रय कीं और उन्हें एक वड़े-से टोकरे में ठीक-से रखवाकर दरिद्र श्रमिक को सौंपा। कुछ और मिठाई और अन्य खाद्य क्रय कर पृथक् से उसे देते हुए खर्परक ने कहा–"ले, अब तू डटकर भोजन कर ले। सड़क किनारे इस पटरी पर बैठ जा। मै अभी आता हूँ। मेरी प्रतीक्षा में तू यहीं बैठना···· और सुन, यह मिठाइयों का टोकरा सँभालकर रख ले अपने पास।"

कृतज्ञता के स्वर में युवा श्रमिक ने कहा–"जय हो···· जय हो दाता की। आपने तो मेरे प्राणों की ही रक्षा कर ली है, श्रीमान् ! आपके इस उपकार को मैं सदा ही स्मरण करता रहूँगा। भूखे को भोजन देना···· महान् पुण्य का कर्म है। आप निश्चिन्त होकर जाएँ···· मैं यहीं आपके लौटने की प्रतीक्षा करूँगा।"

खर्परक चोर प्रसन्नता के साथ वहाँ से चला। श्रमिक ने इस भोजन को ग्राह्य रूप में स्वीकार न किया। नीच का अन्न ग्रहण करने से चरित्र में नीचता और हीनता ही उत्पन्न होती है। बुद्धि ही विकृत हो जाती है। उसने सारी भोज्य सामग्री कुत्ते को खिला दी। कुछ विलम्ब से ही खर्परक चोर लौटा। उसके पास कोई भारी-सी गठरी थी। आकर बोला—"उठ रे ! उठ !! आज तो बड़ी देरी हो गयी, अब चलना होगा। उठा, सारा सामान उठा ले और चल !"

युवा और दरिद्र श्रमिक आदेश पाकर त्वरा के साथ उठा और तत्परता के साथ प्रस्थान की तैयारी करने लगा। उसने गठरी पीठ पर लादी और मिष्टान्न का टोकरा सिर पर रखा। देखा, तो खर्परक कुछ आगे बढ़ गया था। शीघ्र-शीघ्र चलकर श्रमिक ने अपने स्वामी की समीपता प्राप्त कर ली। नगर से बाहर निकलते-निकलते श्रमिक ने गठरी को हाथों से टटोलकर अनुमान लगाया.... इसमें तो आभूषण हैं.... इतने सारे.... अवश्य ही उस समय वह चोरी करने को ही गया था। किन्तु.... किन्तु अभी तो रात्रि हुई ही है.... सभी जन जाग रहे हैं। बड़ा कुशल चोर प्रतीत होता है। संभव है यह अदृश्य रहकर ही....। नगर से बाहर निकलकर कुछ दूरी पर एक मदिरालय था। खर्परक ने हाथ के संकेत से श्रमिक को रुकने को कहा और तब मदिरालय की ओर अग्रसर हो गया। श्रमिक ने देखा कि कुछ ही पलों में मदिरा से भरे दो घड़े लेकर खर्परक लौट आया। श्रमिक ने अपने शीश पर एक-पर-दूसरा घड़ा रखा, मिष्टान्न की टोकरी कंधे पर उठायी और दोनों चल पड़े। लम्बा-सा मार्ग पार कर वे वन-मध्य चण्डालिका के मंदिर पर पहुँचे। खर्परक चोर मंदिर के समक्ष एक क्षण को रुका, मस्तक झुकाकर वन्दना की और तब अधिक वेग से बढ़ गया।

भू-गृह के द्वार पर पहुँचकर खर्परक ने श्रमिक को सारा सामान धरती पर उतार देने को कहा ही था कि एक ओर से एक महात्मा आते हुए दिखाई दे गये। महात्मा को प्रणाम कर चोर खर्परक विनयपूर्वक खड़ा रह गया। कुछ क्षणों के उपरान्त वह बोला—"महात्मन् ! आपने तो कहा था कि आज विक्रमादित्य से मेरी भेंट होगी। विक्रमादित्य राजा से आज तो भेंट हुई ही नहीं। मैं उसे मारकर शीघ्र अवन्तीनाथ हो जाना चाहता हूँ।"

हँसते हुए महात्मा ने कहा—"मूर्ख ! साधु वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। हमने कहा था कि विक्रम आज तुझे मिलेगा... सो वह तुझे मिल गया....।"

– "किन्तु कब....? कहाँ....? महाराज ! मैंने तो उसे...."

– "यह तेरे सामने जो खड़ा है....।"

– "यह.... किन्तु यह तो भूखा-दरिद्र, साधारण-से भी हीन श्रेणी का....।"

– "इससे प्रयोजन नहीं।" महात्मा ने गंभीरता के साथ कहा–"यह भी विक्रम है .... विक्रम का ही दूसरा रूप है .... पूछकर देख ले।"

खर्परक के प्रश्न की प्रतीक्षा किये बिना ही श्रमिक ने कथन किया–"महात्मा जी का वचन सत्य है, स्वामी ! मेरा नाम विक्रम है; किन्तु कहॉं वह मालव-नरेश विक्रम, पराक्रमी और वैभवशाली और .... कहॉं मैं एक दु:खियारा रंक, अभागा और दीनहीन ....।" उसके मुख पर दैन्य साकार हो उठा। महात्मा तब तक अपने मार्ग पर अग्रसर हो चुके थे। उनके शब्द खर्परक के मानस में गूँजते रहे–"यह विक्रम का ही दूसरा रूप है।" वह भीतर तक कॉंप उठा। बाह्य रूप से उद्धतता प्रदर्शित करते हुए वह बोला–"विक्रम नाम है तेरा? अच्छा, तू जो भी है .... यहीं रुका रह। तुझे तेरा पारिश्रमिक यहीं मिल जायेगा। प्रतीक्षा कर।" इतना कहकर उसने भू-गृह के द्वार का शिला-कपाट खोला और स्वयं ही सारा सामान उठाने लगा। विक्रम श्रमिक ने उसे टोका–"स्वामी ! मेरे होते हुए आप भला क्यों कष्ट करेंगे। लाइये, मैं भीतर पहुँचाए देता हूँ।" हाथ के संकेत से निषेध करते हुए खर्परक ने सामान स्वयं उठाया और भीतर चल दिया। उसके मन में संदेह अंकुरित हो गया था। वह जानता था कि उसके आवास के भीतर उसकी शक्ति क्षीण रहती है। वह किसी को भी भीतर आने की अनुमति नहीं देता था, फिर विक्रम को तो वह संदिग्ध मानने लगा था।

भू-गृह के खुले द्वार पर बैठा विक्रम श्रमिक प्रतीक्षा करने लगा था। कुछ ही पलों में अग्निवेताल वहाँ प्रकट हो गया। विनयपूर्वक प्रणाम करते हुए उसने आश्चर्य व्यक्त किया–"श्रीमानेश्वर ! आप इस समय यहॉं? .... और इस वेश में ....?"

– "मित्र ! अभी-अभी हमने तुम्हें स्मरण किया था।"

– "तब ही तो मैं तत्काल उपस्थित हो गया हूँ, महाराज ! क्या आदेश है?"

महाराज विक्रमादित्य ने संक्षेप में सारा वृत्तान्त सुनाते हुए कहा–"आज की रात्रि में ही इस दुष्ट खर्परक का विनाश होना है। अपहृत कन्याओं और रानी कलावती का इसके बंधनों से उद्धार होना है। हम तदर्थ कृत-संकल्प हैं, मित्र ! किन्तु तुम्हें हमारा सहायक होना होगा। अदृश्य रूप से तुम हमारे साथ बने रहोगे।"

"जैसी आज्ञा, महाराज !" वेताल ने शीश झुकाकर निवेदन किया–"किन्तु है खर्परक बड़ा प्रचण्ड। इसके निवास पर भी इसे साधारण मानने की भूल हम नहीं कर सकते।"

"मित्र ! तुम्हारा कथन यथार्थ ही है; किन्तु दृढ़ संकल्प और उसकी निष्ठापूर्ण क्रियान्विति के प्रयासों के समक्ष विकट बाधाएँ भी कपूर की भाँति लुप्त हो जाती हैं, वेताल ! किन्तु तुम्हारा सहकार वांछित रहेगा ही।"

"आप निश्चिन्त रहें, महाराज ! मैं तत्पर हूँ।"–अग्निवेताल ने आश्वस्त कराते हुए कहा–"उपयुक्त अवसर का समुचित लाभ उठा लेने को जो तत्पर रहते हैं इच्छित सफलता भी उन्हीं को हाथ लगती है। श्रेष्ठतर अवसर की प्रतीक्षा करते रहने वाला तो उपलब्ध अवसर को ही निष्फल नहीं कर देता, सफलता की कलियों पर भी तुषारापात कर देता है।"

"यथार्थ कथन है तुम्हारा, मित्र !" अवन्ती-नरेश ने कहा और सोचने लगे-'इतना समय हो गया, अभी तक खर्परक लौटकर नहीं आया। अच्छा ही हुआ कि वह अब तक नहीं लौटा। पारिश्रमिक माँगने के लिए भीतर जाने का बहाना हमें मिल जायेगा। इस उत्तम अवसर को अकारथ नहीं जाने दिया जाय–इसी में विवेकशीलता है। मदिरा के दोनों घड़े अभी गुहा-गृह के द्वार पर ही रखे थे। इन्हें उठाने को तो वह आयेगा ही।' इसके पूर्व ही ....। मदिरा की मादक गंध से अग्निवेताल अधीर हो उठा था। मदिरापान की उसकी कामना पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। उसने उतावलेपन के साथ महाराज की अनुमति प्राप्त की। ऊपर के घड़े में एक छेद कर दिया। मोटी-सी धार (मदिरा की) उछलकर बाहर आने लगी। ओक लगाकर वेताल पान करने लगा। बहुत-सी मदिरा धरती पर बिखरने लगी। मदिरा का यह प्रवाह भू-गृह में प्रविष्ट हो गया। जब वेताल छककर मदिरापान कर चुका तो एक पत्थर के प्रहार से उसने दूसरे घड़े को भी तोड़ दिया। सर्वत्र मदिरा की ही गंध व्याप्त हो गयी। महाराज विक्रमादित्य ने एक क्षण को यह भी सोचा कि मदिरा के नष्ट हो जाने के कारण खर्परक अप्रसन्न होगा, कुपित हो जायेगा। फिर सोचा, इसमें भी कोई हानि नहीं है। विग्रह तो खड़ा करना ही है। "अच्छा ! अब हमें भीतर चलना चाहिये। तुम प्रच्छन्न रूप से हमारे साथ रहोगे।" यह कहते हुए महाराज साहसपूर्वक भू-गृह में प्रविष्ट हुए। भू-गृह में गहन अंधकार था। अनुमान से ही वे धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। खर्परक की शक्ति, दुष्टता और क्रूरता से वे अपरिचित न थे। भीतर की स्थिति और वातावरण से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे; फिर भी उनके मन में लेशमात्र भी भय न था। अपना लक्ष्य इतना समीप पाकर वे अति उत्साहित थे। साहसपूर्वक वे अग्रसर होते जा रहे थे। थोड़ी ही दूर और चलने पर उन्हें दूर–बहुत दूर क्षीण-सा प्रकाश दृष्टिगत होने लगा। कुछ और आगे बढ़ने पर उन्हें अनेक प्रज्वलित उल्काएँ दिखायी देने लगीं। सावधानी के साथ वे आगे बढ़ते चले गये.... बिना कोई आहट किये। अब तो उन्हें खर्परक का स्वर भी सुनाई देने लगा। अतिक्रूर और कर्कश वाणी उनके कानों में पडने लगी। दूरी के कारण स्वर इतना अस्पष्ट था कि कथन समझ में न आता था। तनिक समीपता होने पर महाराज को अनुभव होने लगा कि जैसे वह किसी को प्रबोधन दे रहा हो। तभी नारी कंठ से निसृत स्वर भी सुनायी देने लगे। कुछ स्त्रियों और खर्परक के मध्य वार्तालाप हो रहा है–महाराज विक्रम को कुछ ऐसा आभास होने लगा। उन्होंने तीव्र गति से कुछ

दूरी और पार कर ली तथा दीवार से सटकर खडे हो गये। उन्होंने देखा कि एक कक्ष में कुछ बालाएँ हैं जो कक्ष के बडे से वातायन के समीप खड़ी हैं और अनुनय-विनय कर रही हैं। एक नारी-स्वर उन्हें परिचित-सा प्रतीत हुआ। अरे ! यह तो रानी कलावती की वाणी है। रानी कह रही थीं–"रे दुष्ट ! हमने तुझसे इतनी प्रार्थना की कि हमें मुक्त कर दे, हमें अपने-अपने परिवारों में जाने दे, किन्तु तूने एक न सुनी। हम अन्तिम बार तुझे फिर से कहती हैं····।"

"मेरी प्यारी रानियो ! तुम्हे यहाँ क्या कष्ट है? कितनी सुख-सुविधा से रखता हूँ मैं तुम्हें यहाँ···· हाँ?" स्नेहाभिनय के साथ खप्पर चोर ने कहा।

"न तेरी सुख-सुविधा का उपभोग हमने किया है और न ही हमें करना है। नहीं चाहिये हमें तेरी चोरी से जुटाई हुई सुख-सुविधा। तू हमें मुक्त कर दे, बस– हमें और कुछ न चाहिये।" एक श्रेष्ठी-कन्या ने कहा।

"तो तुमने मुझे चोर कहा···· हैं?" खर्परक रोष से भर उठा–"मैं साधारण चोर नहीं मांत्रिक हूँ···· तांत्रिक हूँ···· अपार शक्ति और वैभव का स्वामी हूँ। इस अवन्ती का नेरश बेचारा विक्रम भी वैभव में हमारी क्या समता कर सकेगा····?"

"तुझे अभिमान है अपनी शक्ति और वैभव पर···· जब महाराज विक्रमादित्य ठान लेंगे, तो तेरा अभिमान ही नहीं स्वयं तेरा भी सर्वनाश कर देंगे।" रानी कलावती ने तमककर कहा–"क्या तो तू है···· और क्या है तेरा वैभव···· चोरी के धन पर क्या इतराता है? मूर्ख ! तेरा पाप का घड़ा····।"

"कह ले···· कह ले, छोकरी ! जो जी में आये···· आज कह ले। कल तुझे अवसर न मिलेगा। आने वाला कल मेरे मस्तक पर मालव-राज्य का राजमुकुट रखेगा।" यह कहते हुए खर्परक ने ऐसा प्रचण्ड अट्टहास किया कि भू-गृह की भित्तियाँ भी थरथरा उठीं। तब मैं स्वामी बनूँगा। मालव-नरेश···· अवन्तीपति खर्परक···· महाराज और श्रीमानेश्वर। हा···· हा···· हा-हा ! और तुम भी दासियाँ नहीं होओगी···· रानियाँ बनोगी···· रानियाँ। वह घड़ी अब दूर नही, जब मैं विक्रमादित्य का वध कर बलपूर्वक मालव-सिंहासन पर आरूढ़ होने वाला हूँ और कलावती···· तुमको तो पट्टरानी का गौरव मिलेगा। तुम मेरी हृदयेश्वरी होगी, प्राणेश्वरी होगी।"

"थूकती हूँ मैं तेरे इस गौरव पर ! रानी तो मैं आज भी हूँ मालव-देश की और कल भी बनी ही रहूँगी, किन्तु मेरे स्वामी महाराज विक्रमादित्य ही रहेंगे।" कलावती ने अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से कहा।

"भूल जा, कलावती ! उस तुच्छ और नगण्य विक्रम को···· उसमे धरा ही क्या है···· ऐं? जगत् में उदित होते सूर्य को नमन किया जाता है। मै मालवाधिपति होने वाला हूँ। विक्रम तो यमलोक का पथिक वन चुका है। मैंने वैभव···· अपार

वैभव प्राप्त ही इसीलिए किया है कि उससे श्रेष्ठ बन सकूँ। अब किसी भी दिन उछलकर राज्यासन पर आरूढ़ हो जाऊँगा। जनता मेरी जय-जयकार करेगी, मै तुम त्रिलोक सुन्दरियों के साथ सुखोपभोगी बनूँगा। मेरा स्वप्न ....।"

"स्वप्न ही रहेगा, नीच ! यह तेरा .... अवन्ती-नरेश अपने खड्ग-प्रहार से इसे खण्ड-खण्ड कर देंगे।"-एक अन्य श्रेष्ठी-कन्या ने कहा-"तू जानता नहीं क्या महाराज के बल-विक्रम को ....।"

"यह तो भविष्य ही बताएगा कि किसमें कितना पराक्रम है।" खर्परक ने उत्साह के साथ कहा-"किन्तु तुमने यह ठीक नहीं किया .... मैंने स्नेहपूर्वक मिष्टान्न खाने को दिया और तुमने उसे पाँवों-तले कुचल दिया !"

"कान खोलकर सुन ले, दुष्ट ! हममें से किसी को तेरी किसी भी वस्तु की कामना नहीं है। मैंने आज से अन्न-जल त्याग दिया है।"-कलावती ने कहा-"कल से ये सभी श्रेष्ठी-कन्याएँ भी अन्न ग्रहण नहीं करेंगी। अब हम अपने-अपने परिवारों में पहुँचकर ही अन्न-जल लेंगी। हमें मुक्त कर दे इस कारा से-इसी में तेरा भी हित है।"

"मेरा हिताहित किसमें है-मैं यह भलीभाँति जानता हूँ मेरी रानी ! माँ को मौसी से परिचित कराने-जैसा व्यर्थ श्रम न कर। किन्तु .... एक बात तुम भी सभी सुन लो .... मंने अब तक संयम से काम लिया है। यही मानता रहा हूँ कि मैं मालवाधिपति बनने के उपरान्त ही तुमसे विवाह करके तुम्हें अपनी रानियाँ वनाऊँगा और दाम्पत्य-सुख का उपभोग करूँगा। परन्तु .... परन्तु यदि तुमने अन्न-जल त्यागने-जैसी कोई बात की, अथवा मुक्ति की माँग की तो मेरा संयम भी फिर टूट जायेगा-कोई तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेगा। मैं तुम्हें कहीं की नही छोड़ूँगा। फिर तो तुम मेरे राजभवन में दासी बनने के योग्य भी नहीं रहोगी।"

"अरे ! क्या बढ़-बढ़कर बातें बनाता है। तेरा पाप और तेरी दुर्बुद्धि स्वयं तेरा शीघ्र ही सर्वनाश कर देंगे।" कलावती ने साहसपूर्वक कहा-"यह तो तेरे किसी जन्म के शुभ कर्म आड़े आ रहे हैं कि तू अभी तक जीवित भी रह गया और .... किन्तु अव वे क्षीण हो चले हैं। शीघ्र ही तो जन-रक्षक, प्रजावत्सल अवन्तीनाथ के हाथों मरण प्राप्त करने वाला है।"

"विधि या प्रारव्ध जव किसी को नष्ट करना चाहता है तो स्वयं अस्त्र नहीं उठाता, उस व्यक्ति के कर्मों में ही विनाश के वीज अंकुरित कर देता है। उसकी वुद्धि को छीन लेता है और किसी पराक्रमी सज्जन को उसके विनाश का निमित्त वना देता है।"-एक श्रेष्ठी-कन्या ने भी कहा-"तेरे दुष्कर्मो को जानकर भी कहाँ महाराज विक्रमादित्य शान्त वैठे रहने वाले हैं ! वे शीघ्र ही तुझे खोज निकालेंगे। तेरा पतन और हमारा उद्धार शीघ्र ही होने वाला है।"

"कह ले.... कह ले उस कायर विक्रम को अवन्तीनाथ.... कुछ समय तक और कह ले.... फिर तो—मै ही अवन्तीनाथ होने वाला हूँ।" अभिमानी खर्परक ने कहा—"कोई शक्ति अब मुझे रोक नहीं सकती।"

तभी आकाशवाणी-सा स्वर भू-गृह में गूँज उठा—"खर्परक ! तेरा विनाश-काल समीप आ गया है। महात्मा की वाणी मिथ्या नहीं होगी—आज ही राजा विक्रमादित्य से तेरी भेंट होगी और आज ही तेरा मरण भी सर्व निश्चित है। तेरा काल तेरे समीप आ चुका है।"

खर्परक चौंका। उसके आवास पर यह कौन पुरुष आ गया.... किसका स्वर है यह ! उसकी श्वास क्षिप्र गति से चलने लगी और उसका वक्ष धौंकनी-सा हो गया। वह लपककर अपने चारों ओर के स्थल टटोलने लगा। उसका विवर्ण मुख उसकी साहसहीनता और हतप्रभता की कहानी कहने लगा। वह अपनी दुर्बलता को जानता था—अपने आवास-स्थल पर वह सर्वथा अशक्त है। भू-गृह के बाहर ही वह देवासुर के लिए भी अपराजेय है। वह आकाशवाणी सुनकर पसीना-पसीना हो उठा। प्रच्छन्न महाराज विक्रमादित्य अदृश्य रहकर कथन करने के, मित्र अग्निवेताल के चातुर्य पर रीझ गये। बालाएँ आश्वस्त हुईं। खर्परक ने भी अपने मानस को किंचित् दृढ़ किया। पसीना पोंछकर सायास अपनी श्वास प्रक्रिया को नियंत्रित किया। एक दीर्घ श्वास लेकर थूक गले से नीचे उतारते हुए बोला—"कौन कायर इस प्रकार वाचालता का प्रदर्शन कर रहा है। साहस हो तो सामने आ.... आ सामने और मेरी दिव्य खड्ग के प्रहार से आत्म-रक्षा करके दिखा। त्रिलोक में कोई मेरा वध करने की क्षमता नहीं रखता.... मैं शाश्वत विजय का स्वामी.... मैं अपराजेय हूँ। मैं....।"

"ओ मेरे स्वामी ! कहॉ हो तुम? ॲधेरे में कुछ दीख भी तो नहीं पड़ता.... मुझे बाहर बैठाकर कहाँ चले गये?" कुछ दूरी से आता यह स्वर सुनकर खर्परक को अपनी भूल का स्मरण हो आया। उसने द्वार तो खुला ही छोड़ दिया। "मॉ ! आज क्या होने वाला है—रक्षा करो माँ.... रक्षा करो।"—वह होठो ही होठों में बुदबुदाया और श्रद्धा सहित देवी मॉ का स्मरण करने लगा। प्रकटतः वह बोला—"अरे विक्रमा ! तू भीतर क्यों चला आया। मैं तुझे द्वार पर ही बिठाकर आया था।"

"क्या करता, स्वामी ! आप तो भीतर आकर लौटना ही भूल गये। मुझे अपना पारिश्रमिक तो....।" विक्रमा ने कहा।

"किन्तु तू भीतर क्यो आ गया? जानता नहीं भीतर आने की अनुमति किसी को भी नहीं है।"—क्रुद्धता के साथ खर्परक ने डपटते हुए कहा—"दुष्ट ! तुझे आज यहॉ का मजा चखाता हूँ।"

"यहाँ के मजे तो तुम भरपेट लेते रहो.... मुझे अपना पारिश्रमिक दे दो.... मैं जाऊँ.... विलम्ब हो रहा है।"

"ठहर तो.... मैं देता हूँ तुझे पारिश्रमिक, शठ कहीं के।" यह कहते हुए खर्परक त्वरा के साथ उठा और लपककर भित्ति पर टँगी तलवार उतार ली। चीते की-सी स्फूर्ति के साथ वहीं से एक तलवार महाराज विक्रम ने भी हथिया ली। दोनों के मध्य सहसा ही असि-संग्राम आरम्भ हो गया। तलवारों की खनखनाहट से भू-गृह का वातावरण भयानक हो उठा। अँधियारे में लहराती तलवारों की दमक ऐसी लगती थी, मानो मेघों के मध्य विद्युत-रेखाएँ कौंध रही हों। बाहर के खर्परक और भू-गृह के खर्परक में बड़ा अन्तर अनुभव होने लगा था। जिसे बाहर महाराज ने एक सज्जन के रूप में पाया—वही खर्परक अभी महादुष्ट, क्रूर और आततायी लग रहा था। भीमकाय खर्परक के विशाल अरुण नेत्रों से जैसे अग्नि-स्फुलिंग बरस रहे थे। वाणी अंगारों के समान और भुजाओं में मानो अतुलित बल प्रतीत हो रहा था। हाव-भाव से भी वह असुरवत् लग रहा था। असि-संघर्ष के दौरान वह अपना कौशल दिखाने में पीछे न था। पराक्रमी विक्रमादित्य के मानस पर उसके शौर्य और शक्ति का प्रचुर प्रभाव होने लगा। "आज तेरा सामना अपने परम शक्तिशाली शत्रु से हुआ है, अबोध विक्रम ! आज तू जीवित इस स्थल से जा नहीं सकेगा। अब तो तेरी शिथिल, निर्जीव देह ही भू-गृह से बाहर फेंकी जायेगी जिसे चील-कौए नोंच-नोंचकर खा जायेंगे।" उच्च स्वर में खर्परक ने सकोप कहा। महाराज विक्रम ने उपहास के स्वर में कहा—"गरजने वाले मेघ वरसा नहीं करते और बरसते मेघ गरजते नहीं। जीभ नहीं तलवार चला.... तलवार। तूने अकारण मुझ पर आक्रमण कर दिया है, तो आज तुझे भी ज्ञात हो जायेगा कि सोते सिंह को जगाना कितना महँगा पड़ सकता है। आज तेरा पाला सच्चे क्षत्रिय से पड़ा है।"—यह कहते हुए महाराज ने भरपूर शक्ति के साथ प्रहार किया, किन्तु भूमि पर झुककर खर्परक वार वचा गया। विद्युत् वेग के साथ वह उठा और दोनों हाथों से मूँठ पकड़कर अपने समग्र वल का प्रयोग करते हुए विक्रम के पेट में तलवार घोंपने के लक्ष्य से दौड़ा। परिस्थिति भाँपकर नरेश कूदकर एक ओर को हो गये। खर्परक मदिरा के वीच में औंधे मुख गिर पड़ा। इस अपमानजनक स्थिति ने उसे और भी उग्र वना दिया। सिंह की भाँति दहाड़ता हुआ वह उठा ही था कि फिर से फिसलकर गिर पड़ा। अव तो वह खिसिया उठा। सँभलकर वह त्वरा के साथ उठ खड़ा हुआ और विक्रम की ओर झपटा ही था कि उसके प्रहार को निरस्त करने के प्रयोजन से नरेश ने अपनी असि को आड़ा कर लिया। परिणामतः झनझनाकर खर्परक की खड्ग खण्ड-खण्ड होकर रह गयी। मरण का आतंक एक क्षण को तो उसके मुख पर पीतिमा विखेर गया। वह असहाय दृष्टि से शून्य में ताकता रह गया। तुरन्त उसने पुनः साहस वटोरा और

वह अपनी दुर्दशा पर मिथ्याभिमान का आवरण डालने का असफल प्रयास करने लगा। "अरे ओ परदेसी ! तू अपरिचित है–मेरे भुजबल से। आज मैं शस्त्रहीन अवस्था में भिड़कर तुझे पराजित कर दूँगा। तुझे ठिकाने लगाने को तो मेरा मुष्टि-प्रहार ही पर्याप्त है।"–यह कहते हुए अपनी भुजाएँ फटकारता और मूँछें ऐंठता हुआ वह आगे बढ़ा। राजा विक्रम ने यह कहते हुए कि निःशस्त्र प्रतिद्वंद्वी के साथ हम भी सशस्त्र होकर युद्ध नहीं करेंगे–अपनी अक्षत असि एक ओर को फेंक दी। महाराज विक्रम की इस न्यायोचित नीतिशीलता की साक्षी थी छह श्रेष्ठी-कन्याएँ और रानी कलावती। वे सभी अपने महाराज के उत्कर्ष पर प्रसन्न और गर्वित हो रही थीं। आठवाँ अदृश्य साक्षी था–अग्निवेताल जो अपने मित्र के कौशल पर असीम आस्था रखता था और पूर्णतः सतर्क होकर इस समय अपनी भूमिका की प्रतीक्षा भी कर रहा था।

अब तो मल्लयुद्ध आरम्भ हो गया था। गजराज की-सी शक्ति वाला खर्परक चिंघाड़ता हुआ आगे बढा। मस्तक झुकाकर आगे को किये हुए प्रचंड वेग से वह परदेसी के उदर में मस्तक प्रहार करने को लपका ही था कि सचेत प्रतिद्वद्वी ने झपटकर उसे कमर से पकड़ लिया। तभी पूरी शक्ति के साथ उन्होंने उसकी टाँगें ऊपर को कर दीं। उसका शीश नीचे की ओर लटक गया। बड़ी दयनीय और असहाय अवस्था में ग्रस्त खर्परक बिलबिलाने लगा। इसी अवस्था में उन्होंने उसे कई क्षणों तक रखा और वह टाँगों को थरथराकर अपनी असाधारण बेचैनी को व्यक्त करने लगा। तभी नरेश ने उसे कुछ नीचे को फिसला दिया। अपने शीश को धरती से टकराने से बचाने के प्रयोजन से अपने दोनों हाथों को टिका दिया। फिर तो राजा विक्रम ने खर्परक को हाथों के बल खूब चलाया। उसे इसी प्रकार चलाकर उस पिंजररूपी कक्ष की ओर ले आये जिसमें खडी वालाएँ ये सारी घटना देख रही थीं। खर्परक की इस दुर्दशा पर श्रेष्ठी-कन्याओं ने करतल-ध्वनि द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। रानी कलावती को अपने स्वामी के अकल्पनीय वल पर अपार गर्व की अनुभूति होने लगी थी। प्रसन्नवदना रानी ने मुस्कराकर राजन् का अभिवादन किया। "दुराचारी, पापी ! तूने इन बालाओं को अपने गर्व की पूर्ति के लिए व्यर्थ ही भारी संताप दिया है।" महाराज ने कहा–"अव इन से क्षमा-याचना कर ले।"

"क्षमा-याचना !!....।" रोष-भरे स्वर पर खर्परक चिल्लाया–"क्षमा-याचना तो मै देवी माँ से भी न करूँ। ये छोकरियाँ तो मेरी दासियाँ हैं।"

"इनके चरणो में शीश तो तुझे झुकाना ही पड़ा है, पामर ! तेरा मिथ्या गर्व ही तुझे तहस-नहस करेगा। तेरा सर्वनाश अव सर्व निश्चित है, पापी !" महाराज ने उसे झिड़कते हुए कहा।

"मुझे .... मुझे कोन मारेगा? मुझे पराजित करने की शक्ति तो इस राज्य के नरेश की भी नहीं हो सकती; तू परदेसी तो कर ही क्या सकता है?" खर्परक अट्टहास करने लगा।

महाराज ने तब उसकी दोनों टॉगों में बल डालकर इस प्रकार ऐंठ लगायी कि पीड़ा की तीव्रतावश वह जोर से कराह उठा। नरेश ने तब पूर्ण वेग के साथ उसे धरती पर पटखनी बतायी। इस भीषण आघात से वह हाय-हाय करने लगा। उसकी भीषण चीत्कार से भू-गृह गूॅज उठा। अब उसे अपने अमोघ अस्त्र दिव्य खड्ग का ही एक मात्र आसरा शेष रह गया था। वह कुछ पलों में शक्ति बटोरकर उठ खडा हुआ और भीतरी कक्ष की ओर भागा। इसी समय इस बंद भू-गृह में भी जैसे तीव्र झंझावात हहरा उठा। खर्परक कुछ समझने की चेष्टा कर ही रहा था कि सहसा यह परिवर्तन कैसे आया–तभी उसने वह विशाल खड्ग हवा में उड़ते हुए कक्ष से बाहर आते देखा–मानो कोई अदृश्य व्यक्ति उसे उठा ले जा रहा हो। उसे अपने नेत्रों पर विश्वास न हो रहा था। आयुध-पूजा-स्थल पर उसकी दृष्टि गयी तो उसने पाया कि वहॉ खड्ग का स्थान रिक्त पड़ा था। यह देखकर तो खर्परक की सारी चेतना ही जाती रही। उसके अंग-प्रत्यंग शिथिल और अशक्त हो गये। उसका समस्त साहस ध्वस्त हो गया। खर्परक की ऑखें डबडबानें लगीं और पैर कॉपने लगे। उसने पलटकर देखा तो पाया कि वही दिव्य खड्ग अब परदेसी के हाथ में लहरा रही थी। मित्र अग्निवेताल ने अदृश्य रहकर यह भूमिका निभायी। अपने मित्र विक्रम को उसने इस अमोघ अस्त्र से सज्जित कर दिया था। अपने शत्रु को इस नवीन शक्ति से युक्त पाकर खर्परक विचलित हो गया और लड़खड़ाकर धरती पर गिर पडा। इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाते हुए नरेश विक्रमादित्य त्वरित गति से आगे वढे। लपककर उन्होंने भू-लुंठित खर्परक की धरती पर फैली बाहों को अपने पैरों से दवा दिया और तत्काल ही अपनी दोनों वाहुओं की संयुक्त शक्ति के साथ दिव्य खड्ग का प्रहार खर्परक के प्रशस्त वक्ष पर किया। खड्ग वक्ष के पार हो गया और रक्त का एक सशक्त उत्स उछलकर भू-गृह की छत पर अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य की विजय-कथा लिख गया। अपने ही रक्त से सिक्त मरणासन्न खर्परक की देह छटपटाने लगी। "हाय ! मैं अपनी ही भूल का आज आखेट हो गया। मेरी सारी शक्ति धरी रह गयी और एक साधारण परदेसी के हाथों मुझे यों मरण को प्राप्त करना पड रहा है।"–खर्परक पछताने लगा।

"खर्परक ! सुन, तूने किसी साधारण या अकिंचन के हाथों नहीं, अवन्ती-नरेश महापराक्रमी महाराज विक्रमादित्य के हाथों अपनी इह-लीला समाप्त की है। इसमें भी तेरे लिए गर्व और गौरव की अनुभूति का समुचित कारण है।" रानी कलावती के इन शब्दों को सुनकर खर्परक की ऑखें पूरे आकार में ऐसी खुलीं कि वे खुली ही रह गयीं। उसका देह निष्क्रिय हो गया, उसके प्राण-पखेरू

उड गये। विक्रमादित्य महाराज ने उँगलियों के कोमल स्पर्श से उसकी खुली पलकों को बन्द कर दिया। भगवान पार्श्वनाथ की वन्दना करते हुए महाराज विक्रमादित्य नवकार महामंत्र का जाप करने लगे। इसी समय अग्निवेताल ने प्रकट होकर अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य की जय-जयकार की। काराबद्ध बालाओं ने भी उल्लासपूर्वक इसमें योगदान किया, अभिवादन किया। प्रसन्नवदन राजन् असि सहित हाथ उठाकर अभिवादन स्वीकार करने लगे। अभी भी वह दिव्य आयुध रक्तरंजित अवस्था में भी चमचमा रहा था। सभी के देखते-देखते महाराज ने तलवार के दोनों सिरों को दोनों हाथों में थामकर उसका मध्य भाग अपने घुटने से अडाकर बल लगाया और उसके दो खण्ड कर दिये।

"महान् आश्चर्य के साथ अग्निवेताल ने कहा—"श्रीमानेश्वर ! आपने यह क्या किया। धारक को अपराजेय बना देने वाला यह दिव्यास्त्र तो हमारे लिए रक्षणीय था। आपने इसे नष्ट क्यों कर दिया?"—मित्र अग्निवेताल के प्रश्न के उत्तर मे महाराज विक्रमादित्य ने कहा—"ऐसे प्रचण्ड और भयावह आयुध का नष्ट हो जाना ही श्रेयस्कर है, मित्र ! ऐसे आयुध को पाकर तो धारक उद्यम छोड़कर पराश्रित हो जाता है। शक्ति और क्षमता की वृद्धि अनावश्यक मानकर वह दुर्बल ही होता चला जायेगा। सफलता का मूल मंत्र अपनी शक्ति और क्षमता में ही निहित रहता है। पराधारित क्षमता साफल्य और विजय को असंदिग्ध नहीं बना पाती।" महाराज के कथन में जो गूढ़ रहस्य था; मित्र उसे शीघ्र ही समझ भी गया और उसमे छिपे विचार-वैभव से प्रभावित भी बहुत हुआ। सहमति के आशय के साथ अपना मस्तक सकारात्मक रूप में डोलाते हुए वेताल स्वयं चिन्ता में खो गया। कुछ पलों तक वह अपने महान् मित्र के आदर्श मंतव्य के औचित्य को ही स्वीकारता रह गया। बात बड़े पते की कही है। व्यक्ति को अपने पैरों पर ही खड़ा रहना चाहिये।

अग्निवेताल ने सर्वप्रथम तो काराबद्ध बालाओं को मुक्त किया और तव भू-गृह में छिपे हीरे-मोती, रत्न, स्वर्ण-मुद्राओं को खोज-खोजकर एकत्र करने लगा। राशि-राशि आभूषणों को देखकर सभी चकित रह गये। इतना असीम वैभव खर्परक ने चोरी से संगृहीत कर लिया था। अवन्ती के कितने-कितने प्रजा जनो को धन की हानि उसने पहुँचाई है। ऐसा अपराधी आतंक का कारण न बने—तो ही विस्मय है। रात्रि का पिछला प्रहर चल रहा था। महाराज सभी बालाओ और रानी कलावती के संग भू-गृह से बाहर निकल आये। अग्निवेताल ने शिला अडाकर द्वार अवरुद्ध कर दिया। सभी राजभवन पहुँचे। तब तक अरुणोदय का समय समीप आने लगा था। राजभवन के मुख्य द्वार पर ही अग्निवेताल रुक गया और महाराज से विदा माँगने लगा। प्रसन्नतापूर्वक महाराज ने उसे विदा किया। महाराज सभी अपहृत श्रेष्ठी-कन्याओं और रानी कलावती के साथ लौट आये हैं, खर्परक मांत्रिक चोर का संहारकर विजयश्री के साथ लौट आये हैं—यह समाचार विद्युत्

वेग के साथ अवन्ती-नगर में प्रसारित हो गया। सर्वत्र प्रसन्नता और उमंग का वातावरण छा गया। राजरानी कमलावती ने अनुजावत् रानी कलावती को गले से लगाकर स्नेहपूर्वक उसका स्वागत किया।

प्रातः होने पर सभी श्रेष्ठी-कन्याओं को अपने-अपने परिवार में पहुँचा दिया गया। सभी परिवारों में मांगलिक वातावरण छा गया। महामात्य भट्टमात्र भू-गृह जाकर सारी सम्पदा ले आये। चुरायी गयी यह मूल्यवान सम्पदा वास्तविक स्वामियों को लौटा दी गयी। अशांति और उद्वेग का अध्याय समाप्त हो गया, चोर का आतंक तिरोहित हो गया। सुख-शान्ति सर्वत्र व्याप्त हो गयी। राजा विक्रमादित्य एक आदर्श शासक का कर्त्तव्य निभाते हुए अपनी प्रजा के धन-जन-रक्षक की भूमिका में खरे सिद्ध हुए। उनके यश-कीर्ति में चार चाँद लग गये।

कलावती राज-परिवार में नयी रानी के रूप में प्रविष्ट हुई, किन्तु प्रतिष्ठानपुर की राजकन्या की स्मृति भी राजा विक्रमादित्य को न आयी। प्रारब्ध की बात कि राजकुमारी सुकोमला विस्मृत ही बनी रहीं। योग ही कुछ ऐसा बन गया था। पितृ-गृह में राजा विक्रमादित्य की एक रानी सुकोमला पल-प्रतिपल अपने स्वामी के वियोग में संतप्त रहतीं और अत्यन्त वेदना के साथ समय-यापन करती जा रही थीं। विजयादित्य संगीतज्ञ रूप में राजकन्या के संग विवाह कर अवन्ती-नरेश कुछ माह में लौट आने का वचन देकर बंग-देश गये थे। वे लौटकर न कभी प्रतिष्ठानपुर गये और न ही उन्हें इस सारे प्रकरण का कभी अभिज्ञान ही हुआ। इसे ही नियति कहते हैं। जान-बूझकर कोई भी कुछ नही कर रहा, जो होनहार है वह स्वयमेव घटित होता चला जा रहा है।

मालवाधिपति प्रजा की सुख-शान्ति के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर चुके थे। दुर्दांत, मायावी, मांत्रिक चोर खर्परक पर विजय प्राप्त कर उस दुष्ट का सर्वनाश करने में उन्होंने अपने प्राणों का मोह भी नहीं किया। सत्य है–निष्ठा के साथ जब कोई अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाता है, प्रमाद और भय को अपने मार्ग की बाधा जो नहीं बनने देता है–उसे दुस्तर और कठिनतर लक्ष्यों की प्राप्ति भी एक दिन होकर ही रहती है। महाराज विक्रमादित्य भी ऐसे ही निष्ठावान, सेवाभावी महापुरुष थे। अपहृत श्रेष्ठी-कन्याओं का खप्पर चोर से उद्धार की कहानी उनकी साहसिकता और आदर्श शासन की एक अनुपम उदाहरण थी। एक दिन कृतज्ञता व्यक्त करने को इन कन्याओं के श्रेष्ठी पितृगण राजसभा में उपस्थित हुए। वे अपने साथ जिनदास को भी लाये थे। वह विक्षिप्त बेचारा ऐसा था, जिसके हाथ होम करने जल गये थे। 'कर भला तो हो बुरा'–केवल ये ही शब्द वह रटता रहता था। राजसभा में जब उसे लाया गया–वह मौन .... मूक छत पर दृष्टि गडाये रहा। हाथों से वह अटपटे संकेत करता रहा। उसे कई लोग अब तक खप्पर चोर और उस पर नरेन्द्र विक्रमादित्य की विजय की कहानी सुना चुके थे। उसने किसी को भी अपनी

प्रतिक्रिया से यह आभास न होने दिया कि उसके मानस ने कोई तथ्य ग्रहण किया भी है या नहीं। किसी को उसकी मानसिक स्थिति में किसी नवीन परिवर्तन का आभास भी नहीं हुआ। सभी के प्रयत्न विफल होकर रह गये थे।

राजसभा में सम्बन्धित श्रेष्ठी जनों ने महाराज के पराक्रम, निर्भीकता और साहसिकता की भूरि-भूरि प्रशंसा की, उपकार माना। महामात्य भट्टमात्र ने महाराज की इस शौर्य-गाथा का बखान किया। स्वयं महाराज ने इस सेवा को अपना परम धर्म माना और कहा कि वही शासक सफल और शाश्वत यश का अधिकारी बनता है जो राजसत्ता से प्राप्त अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्त्तव्यो को अधिक महत्त्व देता है। राज्यासन सुख-सुविधाओं का स्थल, ऐश्वर्यदायी और प्रभुत्वदायक स्थिति नहीं, अपितु स्वार्थहीन रहकर सेवा का व्यापक कर्त्तव्य-क्षेत्र है। इसमें कोई उपकार नहीं, कोई अहसान नहीं। यह तो शासक की न्यूनतम भूमिका है। अपने पितृवत् नरेश की इस महानता और विनय से प्रभावित श्रेष्ठी जन अन्तःप्रेरणा से उनकी जय-जयकार कर उठे। उनकी भाव-विभोरता दर्शनीय थी। जय-जयकार के इस तुमुल नाद के मध्य विक्षिप्त जिनदास भी जोर-जोर से चिल्ला उठा—"कर बुरा, तो हो बुरा.... कर बुरा, तो हो बुरा.....।" सहसा वह नाचने-कूदने लगा और अपने नवीन अनुभव पर आधारित नया कथन दोहराने लगा। इसी प्रकार चिल्लाते हुए वह राजसभा से बाहर चला गया। उपस्थित जन आश्चर्यचकित हो देखते रह गये।

"त्राहि माम्.... त्राहि माम्.... रक्षा करो, प्रभो ! रक्षा करो !!" पुकार लगाता हुआ एक परदेसी पथिक अवन्ती की राजसभा मे उपस्थित हुआ। श्रीमानेश्वर महाराज विक्रमादित्य स्वस्थ एवं प्रसन्न मन से राज-सिंहासन पर आसीन हुए ही थे कि उस प्रातः यह प्रार्थी असीम विचलित अवस्था में आ पहुँचा। पसीना-पसीना हो रहा यह ग्रामीण थरथर कॉप रहा था और भयातंक से उसका कंठावरोध हो रहा था। उसके नयनों में प्रचण्ड संकट की वीभत्स छाया स्पष्टतः दृष्टिगत होने लगी थी। वह प्रार्थी अस्त-व्यस्त-सा आ खड़ा हुआ और सिहासन की ओर बढते हुए गिर पड़ा। सँभलकर उठा भी, किन्तु पुनः गिर पड़ा। दो प्रहरियों ने उसे बॉह से पकडकर खड़ा किया। हॉफते-हॉफते उसने मस्तक झुकाकर महाराज को अपने बद्ध कर ऊपर तक उठाकर प्रणाम किया—कोई अभिवादन के वोल उसके कण्ठ से निकल नहीं पाये।

महामात्य भट्टमात्र ने उसे कोमल वाणी में सांत्वना दी–"धीरज धारण करो, प्राथी ! किसी संकट से ग्रस्त ज्ञात होते हो। शान्ति के साथ अपने चित्त को स्थिर करो और अपना दुःख प्रकट करो। महाराज दीन वत्सल हैं, परम दयालु है। तुम्हारे सारे कष्टों का निवारण होगा।"

सहानुभूति के बोल सुनकर प्रार्थी को कुछ संतोष होने लगा। उसकी सॉस की गति भी सामान्य होने लगी। थूक को गले से नीचे उतारते हुए उसने क्षीण-से स्वर में निवेदन किया–"आपने उचित ही अनुमान लगाया है, महोदय ! मैं परदेस में भारी विपत्ति में फॅस गया हूॅ। मालव-देश के भ्रमण पर आया हुआ हूॅ। मेरे साथ मेरी युवा पुत्री भी थी।" इतना कहकर वह फूट-फूटकर रोने लगा–"कैसा अभागा हूॅ कि पुत्री भी कहना पड़ रहा है।"

सभासद कुछ-कुछ अनुमान लगाने लगे थे। महाराज ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा–"घबराओ नहीं, शान्ति धारण करो और हमें पूरा वृत्तान्त बताओ। क्या हुआ है तुम्हारी पुत्री को? तुम्हारा संकट–हमारा संकट है। तुम्हारी हर सम्भव सहायता की जायेगी। स्पष्ट बताओ कि हुआ क्या है?"

प्रार्थी को इस कथन से मनोबल प्राप्त हुआ और उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया–"कृपानाथ ! हम लोग अवन्ती-नगरी के लिए पिछली ही रात्रि में एक ग्राम में रात्रि-विश्राम कर चल पड़े थे। भोर होते-होते एक अन्य ग्राम को पार कर हम आगे बढ़े ही थे कि मार्ग के समीप एक कुऑ दिखायी दिया। हम लोग मुॅह-हाथ धोने को वहॉ रुके और मेरी बिटिया कुएँ में गिर पड़ी। गिर तो क्या पडी मुझे लगा, जैसे किसी ने उसे भीतर खींच लिया हो। मैं उस असहाय बच्ची का हाहाकार सुनता रह गया, उसे बचा न सका, प्रभो !.... उसे मैं बचा न सका। भागकर मैं उसी समीप के गॉव में गया और अपना दुःखड़ा रोकर लोगों की सहायता मॉगी, किन्तु कोई भी मेरी सहायता को तत्पर नहीं हुआ। उनका कहना था कि यह कुऑ कुछ ऐसा-वैसा ही है। एक माह में पॉच लोगों का भक्ष्य ले चुका है यह। उनके शव तक नहीं मिले हैं। दया करो, दीनानाथ ! मेरी बिटिया मुझे लौटा दो, प्रभो ! गॉव जाकर घर वालों को क्या उत्तर .... दूॅगा .... मैं।" कहते-कहते वह फिर से फफक उठा।

"मालव-देश की जनता के प्राण और धन की सुरक्षा का दायित्व हमारा है। मालव-देश के अतिथियों के लिए तो हमारा यह दायित्व और भी गहरा है।" गंभीरतापूर्वक महाराज ने कहा–"हमारी अन्तरात्मा कहती है भाई ! कि तुम्हारी विटिया एक दिन सुरक्षित रूप में मिल जायेगी .... किन्तु .... किन्तु हमें लगता है कि तुम्हें कोई भ्रम हो गया है। जिस अभागे कूप की वात तुम कर रहे हो–हम उसकी कथा से अपरिचित नहीं हैं। हमने इसका समाधान भी किया है। अव ऐसा हो नहीं सकता मेरे भाई !.... यह घटना कव की है?"

"आज की कृपानिधान ! आज ही भोर की। मैं वहाँ से सीधा आपकी शरण में आया हूँ, महाराज !"

"असम्भव, मेरे भैया .... असम्भव ! आज ऐसा कैसे हो सकता है? आत्म-विश्वास और आश्वासन मिश्रित स्वर में महाराज ने कहा। उस कूप को कल ही तो पाट दिया था। आज ऐसा ....।"

"गाँव वालों ने हमें यह बात भी बतायी थी, महाराज ! मुझे बताई थी यह सारी बात !" परदेसी प्रार्थी ने निवेदन किया–"श्रीमानेश्वर ने तो उस हत्यारे कुएँ को पटवा दिया था, किन्तु रातोंरात वह ज्यों का त्यों हो गया, प्रभो ! उसे मेरी बेटी का भक्ष्य जो लेना था।"

अर्द्ध-विश्वास के साथ ही महाराज ने उसकी बात को ग्रहण किया, किन्तु पूर्णतः मिथ्या भी वे मानने का कोई आधार नही पा रहे थे। अद्भुत असमंजस की स्थिति थी। अनिवार्य यह हो गया था कि परीक्षा करके देख लिया जाय कि अन्ततः वास्तविकता क्या है। महाराज के आदेश पर भट्टमात्र उस परदेसी को अपने साथ घटना-स्थल पर ले गये। वह कूप अवन्ती की दक्षिण दिशा में कोई दो कोस की दूरी पर ही था। उस ग्राम के कुछ निवासी, कुछ ही दिनों पूर्व अपना संकट सुनाने और उसका समाधान पाने को इसी राजसभा में उपस्थित हुए थे। उन्होंने विस्तारपूर्वक निवेदन किया था कि उस कूप के पास जो भी व्यक्ति जाता है उसे वह अपने भीतर खीच लेता है। शव भी तैरकर ऊपर नहीं आता। न जाने कहाँ लुप्त हो जाता है। अब तक पाँच भोलेभाले ग्रामीणों का भक्षण कर चुका है। ग्रामीणों ने दो व्यक्तियों को कुएँ में उतारा भी कि उन लोगों के शव तो निकाले जाये, किन्तु उन दोनों व्यक्तियों का भी कोई पता न चला। वे भी उस कूप की भेट चढ गये। इस अद्भुत समस्या ने महाराज को विभ्रम में ग्रस्त कर दिया। वे समस्या की वास्तविकता तक न पहुँच पाये। अन्ततः निर्णय लिया गया कि उस विचित्र कूप के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाय। महाराज स्वयं अपने अमात्यों, मन्त्रियो और अनेक राजकीय अधिकारियों के साथ वहाँ पहुँचे। एक कर्मचारी को कमर मे रज्जु बाँधकर कूप के भीतर उतारा गया। कुछ ही पलों में रज्जु ढीली पड गयी। खींचकर देखा तो पाया कि रज्जु खाली पडी थी। वह कर्मचारी कूप के भीतर ही रह गया। अब सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं रहा।

ऐसी अबूझ स्थिति मे महाराज ने प्रबद्ध जनों के साथ सघन विचार-विमर्श किया। समस्या की गंभीरता और जटिलता तो प्रतिपादित होती चली गयी, किन्तु जो हो चुका उसको सुधारने का कोई मार्ग न मिला। यही ज्ञात न हो सका कि जो जन कूप में समा गये हैं वे अभी भी जीवित हैं या नहीं। उनके शव तक तो मिले नहीं। भविष्य में ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति पर रोक लगाने के प्रयोजन से

महाराज ने निश्चय किया कि इस अमंगल कूप को तत्काल पाट दिया जाय। अस्तु, असंख्य जनों ने श्रम दिया और संध्या-पूर्व ही उसमें मिट्टी-पत्थर भरकर बूर दिया गया। उस कूप का कोई चिह्न भी शेष नहीं रहा। यह मानकर सभी को संतोष हुआ कि एक समस्या भविष्य के लिए तो समाप्त हुई। महाराज तब राजभवन लौट आए। एक ही रात्रि व्यतीत हुई थी कि आगामी भोर में ही वह परदेसी पथिक राजसभा में, पहुँच गया था। महामात्य भट्टमात्र भी निरीक्षण करके लौटे तो उन्होंने प्रतिवेदित किया कि पथिक का प्रकरण सर्वथा सत्य है। जिस कूप को हम कल संध्या में पाटकर आये थे, वह आज तो अपने स्थान पर यथावत् बना हुआ है। बाहर आसपास उसमें से निकाले गये मिट्टी-पत्थर आदि भी दिखाई तो नही दिये, किन्तु कूप की अवस्था ऐसी अवश्य है कि जैसे उसे कभी पाटा ही नहीं गया हो। महामात्य के इस सत्यापन ने महाराज के मानस को हलचल में डाल दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्या को समूल ही समाप्त करना होगा। महाराज मन ही मन सोचने लगे। समस्या कैसी भी हो उसके कुछ आधारभूत कारण अवश्य होते हैं। समस्या के निराकरण के लिए उन कारणों को खोजकर उन्हें निरस्त करना होता है। स्वतः ही समाधान हो जाता है। समस्या को निर्मूल करना ही उसका समाधान करना है, किन्तु प्रस्तुत समस्या का स्वरूप ही स्वरूप सभी के समक्ष था, उसकी विद्रूपता से तो सभी अवगत थे, किन्तु कोई यह न जानता था कि ऐसा क्यो घटित हो रहा है। इसके पीछे कारणस्वरूप क्या परिस्थितियाँ हैं? महाराज ने परदेसी प्रार्थी को राजकीय अतिथि के रूप में रखे जाने का आदेश दिया। उन्होंने उसे आश्वस्त किया कि वे इस दिशा में प्रभावकारी प्रयत्न करेंगे। कोई मार्ग निकल ही आएगा। वे स्वयं प्रयत्न करेंगे और कोई भी उपाय शेष नहीं रखेंगे। कुछ दिनों का समय अवश्य लग सकता है, किन्तु इसका समाधान असंभव नहीं है। निदान, राजसभा स्थगित हो गयी।

अपने विश्राम-कक्ष में संध्या समय महाराज आत्म-लीन से वैठे इस समस्या पर चिन्तन कर रहे थे। राजरानी कमलावती ने महाराज को इस स्थिति में देखा तो वे भी चिन्तित हो उठीं, किन्तु उन्हें आभास हो गया कि प्रियतम किसी जटिल समस्या का समाधान खोजने में दत्तचित्त हैं। इस समय विघ्न डालना उचित न होगा। संकट क्या है? यह जिज्ञासा उनके मन में प्रवलतर अवश्य होती चली गयी किन्तु उन्होने सायास उसका शमन किया। रात्रि कुछ ही व्यतीत हुई होगी कि अग्निवेताल उपस्थित हुआ। महाराज ने तव कहा–"संकोच न करो मित्र ! परम्पराओं का निर्वाह तो होना ही चाहिये। परम्पराएँ तो वे कीलें हैं जो जीवन, जगत् और समाज के प्रासादो के विभिन्न अंगों को दृढता के साथ जोडे हुई हैं। जिस दिन ये परम्पराएँ न रहेंगी सारे प्रासाद चरमराकर ढह जायेंगे। हमें प्रसन्नता है कि तुम्हारा विवाह सानन्द सम्पन्न हो गया।" दोनों मित्र वैठे वातें करते रहे। नरेश ने कहा–"संजोग की

ही बात है, मित्र वेताल ! कि तुम इस समय आ गये। मुझे तुम्हारी आवश्यकता थी।" महाराज ने कूप के संकट वाली सारी कथा वेताल को सुना दी। वेताल इस सारे रहस्य से परिचित था। उसने एकान्त में ही महाराज को बताया कि वह कूप साधारण नहीं है। उसके भीतर प्रेत-सम्राट् का विशाल प्रासाद है, जहाँ वह सुखपूर्वक सपरिवार रहता है। उसी ने लोगों को कूप के भीतर खींचा है। किन्तु वे सभी लोग अभी जीवित हैं। अभी अमावस्या आने में बहुत दिन पड़े हैं। उस दिन ही वह उनका भक्ष्य लेगा। इसके पूर्व प्रयत्न कर उन सभी की रक्षा भी की जा सकती है। किन्तु यह साहसिक कार्य स्वयं महाराज को ही सम्पन्न करना होगा। वह प्रेत-सम्राट् है, अतः वेताल के कार्य-क्षेत्र से बाहर है, वह अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकेगा। यदि वह करेगा भी तो उसके प्रयत्न विफल ही होंगे। तब अपने स्वर को तनिक मंद करते हुए वेताल ने महाराज को इस प्रसंग की अनेक बातें बतायीं और उन्हें अनुभव होने लगा कि मित्र ने उनके कार्य को बहुत सुगम कर दिया। उन्हें सारे प्रकरण का तलस्पर्शी ज्ञान हो गया और उनके उद्यम की रूपरेखा भी उनके मानस में गठित होने लगी। एक बात निश्चित हो गयी कि अब समय व्यर्थ करना उचित न होगा। तत्काल ही प्रेत-सम्राट् के बंधनों में फँसे लोगों को मुक्त कराया जाना चाहिए। अमावस्या के पूर्व ही सारा कार्य सम्पन्न हो जाना है अन्यथा सारा श्रम, साहस और शक्ति भी सार्थक न हो सकेगी।

आगामी भोर ही वेताल-दम्पति अपने भ्रमण पर अग्रसर हो गये। महाराज महामात्य भट्टमात्र, बुद्धिसागर एवं अन्य प्रमुख जनों के साथ विचार-विमर्श करने लगे—"महामात्य ! अभागे कूप की समस्या को तत्काल हाथ में लेकर उसका समाधान कर लेना अनिवार्य हो गया है। उपलब्ध कार्य-समय को जो व्यर्थ कर देता है, समय उसके जीवन को ही व्यर्थ कर देता है। हमने निश्चय किया है कि इस समस्या का समाधान करने को आज से ही अभियान आरंभ करना होगा और हम स्वयं एकमेव हम ही यह प्रयत्न करेंगे।"

"तो क्या श्रीमानेश्वर उस अभिशप्त कूप में स्वयं उतरेंगे !" वयोवृद्ध बुद्धिसागर ने कहा।

"हम आपको ऐसा नहीं करने दे सकते, महाराज ! श्रीमान् का जीवन अत्यन्त मूल्यवान है ...... इस ......।" एक मंत्री का कथन अपूर्ण ही रह गया और महाराज ने त्वरा के साथ कहा—"हम आपकी चिन्ता का आदर करते हैं किन्तु अँधेरी रात में सर्प की फुफकार सुनकर भी दीपक को इस कारण न जलाने में बुद्धिमानी है कि उसमें जो तेल बचा है उसे आगामी किसी संकट के समय के लिए सुरक्षित रखना है। वर्तमान संकट ही अन्तिम हो जायेगा और जीवन-लीला का ही पटाक्षेप हो जायेगा, यदि सर्प ने डस लिया।" महाराज ने धैर्य के साथ विना कोई प्रतिक्रिया जताए प्रबोधन के स्वर में कहा।

"प्रजा के प्राणों की रक्षा के लिए जो प्रयत्नशील ही न रहे उसे शासक कहलाने का अधिकार नहीं। जब जनता का जीवन ही सॉसत में पड़ा हो–राजा भला सुख की नींद कैसे सो सकता है ! हमें स्वयं ही सक्रिय होना पडेगा। अब की बार प्रेत-सम्राट् बर्बरक से सामना होगा जो अत्यन्त दुष्ट है, दुर्द्धर्ष और दुर्दांत है .... किन्तु हम उससे भयभीत भी नहीं हैं। हमें विश्वास है मालव-प्रजाजनों को हम उसके चंगुल से अवश्य ही मुक्त करा लेंगे।" महाराज ने कथन पूर्ण किया।

"किन्तु श्रीमानेश्वर ! इस तुच्छ से प्रयोजन के लिए मालवाधिपति स्वयं अपने प्राणों को संकट में डालें ...। आपश्री आदेश प्रदान करें। हममें से कोई भी इस अभियान में जाने को तत्पर रहेगा। सेना ....।"

किन्तु मंत्रीवर ! कोई भी शुभ कार्य तुच्छ नहीं होता, कर्त्तव्य तो कर्त्तव्य ही है। छोटे-बड़े का भेद इसमें नहीं होता। इस विषय में अब विवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। हम आज ही संध्या को सूर्यास्त के पूर्व अभियान पर प्रस्थान करेंगे। हमें आपकी चिन्ता नहीं, शुभ कामनाओं की अपेक्षा है।" महाराज ने अन्तिमीकरण की मुद्रा में कहा और विवश हो समस्त उपस्थित जन जय-जयकार के साथ प्रणाम कर विदा हो गये। केवल महामात्य भट्टमात्र के साथ महाराज कुछ देर वार्त्तालाप करते रहे।

सूर्यास्त के समय से कुछ पूर्व ही महाराज कूप पर पहुँचे और अश्व से उतरकर उन्होंने उसे संकेत दिया। अश्व राजभवन की ओर दौड़ गया। आज महाराज का वेश बड़ा असामान्य-सा था। श्वेत धोती-अंगरखा पहने, शीश पर श्वेत ही पगड़ी बाँधे थे। कंधों पर होता हुआ गले में पड़ा पीत-दुकूल घुटनों तक लटक रहा था। माथे पर चन्दन की बड़ी-सी बिन्दी जिसके मध्य छोटी-सी केसर की विन्दी थी। गले में रुद्राक्ष के छोटे मनकों की माला धारण कर ली थी। कूप की मुण्डेर से कुछ दूर खड़े नरेश ने भगवान पार्श्वनाथ की वन्दना की और णमोकार मंत्र का जाप कर वे आगे बढ़ गये। उन्होंने मुँडेर पर अपना चरण धरा ही था कि उनके मुख-मण्डल पर अपूर्व आत्म-विश्वास की दीप्ति छा गयी। साहस और पराक्रम की भावना उनके भीतर से जैसे उनके विशाल नेत्रों में अनुपम आभा बनकर दमक उठी। उन्हें ऐसा कुछ अनुभव होने लगा कि पवन का कोई ववण्डर कूप के भीतर से ऊपर उठा और उन्हें अपने में लपेटकर भीतर खींच ले गया।

कूप के भीतर चार प्रेत एक पंक्ति वनाए खडे थे। एक विशालकाय अन्य प्रेत जो इनका नायक प्रतीत होता था, कुछ दूरी पर खड़ा था। चारों प्रेत मारे प्रसन्नता के नाचने-कूदने लगे और विचित्र-सी ध्वनियॉ निकालने लगे। नायक ने चिल्लाकर उन्हें शान्त किया और आदेश दिया–"पकड़ लो इसे और ले जाओ। प्रत्येक आगत परिस्थिति का सामना करने को तत्पर महाराज ने कहा–"क्षमा कीजिये .... आप

प्रेतराज बर्बरक के इस प्रासाद के द्वारपाल ही है न !" और नम्रतापूर्वक उन्होंने तनिक झुककर प्रणाम किया। आगंतुक की इस विनयशीलता और निर्भीक व्यवहार से द्वारपाल मुग्ध हो गया। हाथ के संकेत से अपने चरों को थमने का आदेश देते हुए उसने प्रश्न किया—"हॉ··· हूँ तो···· किन्तु आप कौन हैं?"

"मैं वैद्यराज हूँ, मेरे भाई ! लोकसेवक हूँ। पीड़ित रुग्ण जनों को नीरोग करना मेरा धर्म है। मुझे पकड़ना व्यर्थ होगा, द्वारपाल जी !···· कोई लाभ न होगा इससे। मैं तो एक विशेष प्रयोजन से यहाँ स्वयं आया हूँ···· स्वेच्छा से····।" यह कहते हुए वैद्यराज मुस्कराने लगे।

उस माधुरी पर द्वारपाल तो मोहित ही हो गया। उसके मन में एक पारिवारिक स्वार्थ जाग्रत होने लगा था, किन्तु प्रकटतः उसने पूछा—"किस प्रयोजन से आप आये हैं यहॉ?"

"मुझे एक जोगी से ज्ञात हुआ है द्वारपाल कि तुम्हारी धर्मपत्नी दीर्घकाल से जीर्ण और असाध्य रोग से ग्रस्त है···· है न?" महाराज ने सीधा-सा प्रश्न कर दिया। द्वारपाल तो हतप्रभ-सा रह गया। वह अवाक्-सा, अचंचल खड़ा ही रह गया।

वैद्यराज ने उसे उत्साहित करते हुए कहा--"बोलो द्वारपाल ! जोगी की सूचना सत्य है, अथवा नहीं?"

"सत्य है··· वैद्यराज जी ! सर्वथा सत्य है। तो आप उसे स्वस्थ कर देंगे? अब तक तो किसी चिकित्सा से उसे कोई लाभ न हुआ···· क्या आप····।" —द्वारपाल ने आश्चर्य के साथ कहा।

"चिन्ता को त्यागो, द्वारपाल ! हमारा धर्म ही अब यह रह गया है कि असाध्य रोगों से पीड़ित निराश रोगियों को खोजते रहें और उनको स्वस्थ कर दें। प्रत्युत्तर में हम किसी से कुछ भी स्वीकार नहीं करते।" वैद्यराज ने वाणी में प्रभाव संकलित करते हुए कहा—"विगत अनेक वर्षों से हम इसी सेवा में प्रवृत्त हैं। कहॉ···· कहॉ है?··· हमारी रोगिणी बहन कहाँ है? हम उसके रोग की परीक्षा करेंगे।"

"चलिये, महाराज !···· चलिये, मैं आपको अपने आवास पर लिये चलता हूँ।"—कहता हुआ द्वारपाल एक ओर को बढ़ गया और वैद्य जी उसका अनुगमन करने लगे।

प्रेतराज बर्बरक के प्रासाद के समीप ही बाहर की ओर एक छोटा-सा घर उसका आवास था। वैद्य जी बाहर की भव्यता से ही प्रासाद के आन्तरिक वैभव का अनुमान लगाते चल रहे थे। द्वारपाल ने अपने घर का द्वार खटखटाया। द्वार खोलकर एक अधेड़-सी प्रेतिनी बाहर आयी और चिढ़कर अपने पति से वोली— "इस मनुष्य को यहॉ क्यों ले आए हो। बन्द क्यों न कर दिया इसे भी, दूसरे लोगो के साथ?"

"अरी बावली ! ये दूसरे लोगों-जैसे नहीं हैं। तेरे भाग्य खुल गये कि ये वैद्यराज जी यहाँ आये हैं ··· तुझे रोग-मुक्त कर देंगे, इन्हें प्रणाम कर।" अपने पति की बातें सुनकर प्रेतिनी की तो जी की कली ही खिल गयी। उसके पीले पड़े मुख पर भी एक बार तो प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। मुस्कराते हुए वह बोली– "क्षमा कीजिये मुझे ··· मैं अज्ञानी कुछ भी जान नहीं पायी कि आप इतने महान् हैं। प्रणाम करती हूँ, वैद्य जी ····!"

"सदा स्वस्थ और सुखी रहो, बहन !" यह कहते हए वैद्यराज घर में प्रविष्ट हो गये। एक आसन पर बैठते हुए उन्होंने कक्ष के भीतर चारों ओर दृष्टि घुमायी और नेत्र मूँदकर नवकार जाप करने लगे। कुछ ही पलों में पलकें खोलकर उन्होंने शान्त भाव से कहा–"बहन ! अपना हाथ इधर लाओ, नाड़ी-परीक्षण करूँगा।" नाड़ी देखकर उन्होंने उसके नाखून देखे, मुँह खुलवाकर जीभ का निरीक्षण किया, अपनी उँगलियों से उसकी पलकों को भली प्रकार खोलकर आँखों को ध्यानपूर्वक देखा, श्वास की गति का अनुमान लगाया और तब कुछ क्षण सोचते हुए बोले– "चिन्ता की बात नहीं है। रोग जीर्ण अवश्य हो गया है, किन्तु छूट जायेगा।" एक क्षण के विराम के पश्चात् प्रेतिनी की ओर निहारते हुए वे बोले–"मेरी विद्या कहती है कि तुम्हें सूर्योदय होते ही बहन ! तुम्हें दिखायी देना बन्द हो जाता है और फिर सूर्यास्त के पश्चात् ही दिखायी देने लगता है–क्या मेरा यह निष्कर्ष सत्य है?"

प्रेत-पत्नी आश्चर्यचकित होकर वैद्यराज की ओर एकटक देखती रह गयी और 'हाँ' के आशय में तनिक शीश डुलाया। द्वारपाल-प्रेत भी देखता ही रह गया। वह बोल कुछ न पाया, सोचता रहा कि वैद्य जी हैं बड़े निपुण।

मुस्कराते हुए वैद्यराज ने फिर पूछा–"क्या रात्रिभर तुमको वमन होती रहती है ···· याने उलटी और ऐसा पिछले कई बरसों से होता आ रहा है?"

"जी वैद्य जी ! ऐसा ही होता है, किन्तु आपको यह सब कैसे ज्ञात हो गया।" रोगिणी ने चकित होकर पूछा। द्वारपाल ने भी प्रसन्नता के साथ कहा–"धन्य हो, महाराज ! ····धन्य हो !! ····अब तो दया करके इसका रोग भी दूर कर दो, प्रभो ! ···· बहुत दुःखी है यह बेचारी।"

वैद्य जी ने हाथ के संकेत से द्वारपाल को शान्त रहने को कहा। बोले– "बहन ! मेरी विद्या कहती है कि इसके अतिरिक्त तुम्हें और कोई कष्ट होना नहीं चाहिए। यदि और कोई शारीरिक पीड़ा हो तो कहो।"

"नहीं, वैद्य जी ···· नहीं। और कोई कष्ट है ही नहीं। अब तो मेरी ये पीड़ा दूर कर दीजिये ···· जीवनभर आपका उपकार मानती रहूँगी।" वह हाथ जोड़े बैठी रह गयी।

"होगा ····इन रोगों का उपाय भी अवश्य होगा, बहन ! रोगों की चिकित्सा करना मेरा कार्य है, परिणाम तो परमात्मा के हाथ में है। यदि उसने चाहा तो एक

ही रात्रि में रोगों का निवारण हो जायेगा।'' तब उन्होंने अपने झोले से एक छोटी-सी पुड़िया निकालकर प्रेतिनी को दी और निर्देश दिया–''भोजन के पश्चात् सोने से पूर्व यह औषधि दूध के साथ ले लेना।'' इतना बताकर वैद्य जी आसन से उठने का उपक्रम करने लगे। द्वारपाल भी उठ खड़ा हुआ। प्रेतराज के प्रासाद के बाह्य उद्यान में अतिथिशाला थी। द्वारपाल ने वहीं उनके आवास की व्यवस्था कर दी थी। वे वहॉ विश्राम करने लगे। रात्रि भी ज्यों-त्यों व्यतीत होती रही। वैद्य जी के नेत्रों में निद्रा न थी। उत्सुकता व्यग्रता हो गयी थी और व्यग्रता थी कि सघन से सघनतर होती रही। पिछली रात्रि में ही उनकी आँख लग पायी। बन्द आँखों से वे प्रेत-भवन में विचरण करते रहे–प्रेत-सम्राट् बर्बरक के निष्ठुर व्यवहार देखते रहे। उसके चंगुल में फॅसे कराहते-चीखते अपने ग्रामीण जनों को देखते रहे। कभी वे इनकी पीड़ा से कॉप-कॉप जाते तो कभी प्रेतराज बर्बरक के विनाश के लिये अति उत्साहित हो उठते। सहसा भोर होते-होते एक शोर हुआ जो वैद्य जी को स्वप्नों के मायावी जगत् से बाहर खींच लाया। जाग्रत ऑखें कुछ पलों तक तो उनके मानस को बोध ही नहीं करा पायीं कि वे कहॉ, किस परिस्थिति में हैं। जब प्रेतिनी का आह्लाद भरा तीव्र स्वर सुनायी दिया तो उनकी चेतना व्यवस्थित हो पायी। वे उठे और कक्ष से बाहर आये। द्वारपाल की पत्नी ने उन्हें देखा तो दूर से दौड़कर आयी और उनके चरणों से लिपट गयी। धन्य हो··· धन्य हो, वैद्य जी महाराज ! आपकी जय हो ! आपका यह महान् उपकार मैं जीवनभर भूल न पाऊॅगी। अब मैं दिन में भी देख सकती हूँ, महाराज !···· हॉ, मैं सब-कुछ देख रही हूँ। रात्रि को वमन भी नहीं हुई···· एक बार भी नहीं। आज तो मैं असीम प्रसन्न हूँ···· आज में रोगमुक्त हो गयी हूँ····।''

''अब तुम सदा ही रोग-मुक्त रहोगी, मेरी बहन ! यह रोग कभी लौटकर अब तुम्हारे पास न आ सकेगा।'' वैद्य जी ने उसे आश्वस्त कर दिया। वह तो मारे प्रसन्नता के पागल-सी हुई जा रही थी। प्रेतराज का द्वारपाल भी हाथ जोडे खडा था। बोला–''आपकी कृपा से यह स्वस्थ हो गयी है, महाराज ! मैं सेवा करने के योग्य नहीं, आपका महान् उपकार भी अमूल्य है, फिर भी मेरी हार्दिक इच्छा है, महाराज ! स्मृति-चिह्न के रूप में साधारण-सा उपहार भेंट करूँ। ना न करने दूँगा, महाराज !'' यह कहते हुए द्वारपाल ने अपनी बन्द मुट्ठी आगे बढ़ाकर खोल दी। उसकी हथेली पर दमकती-चमकती वज्रमणि की सुन्दर ॲगूठी रखी थी। ''स्वीकार करें, प्रभो !''–द्वारपाल का मुख सहसा सौम्य हो उठा और उस पर विचित्र दीनता पसर गयी।

वैद्य जी ने हाथ जोड़कर क्षमा मॉगते हुए अपनी विवशता प्रकट की। वोले–''मैं तो सेवक हूँ, भाई ! निःशुल्क ही चिकित्सा करता हूँ। प्रतिदान मे मैं कुछ भी स्वीकार नही करता।''

"किन्तु यह शुल्क नहीं.... उपहार है, प्रभो !" द्वारपाल ने निवेदन किया- "इसे अस्वीकार न करें।"

असमंजस की स्थिति में पड़े बेचारे वैद्य जी को कोई राह न सूझ रही थी। उन्होंने कहा-"मुझे उपहार मिल गया। जिस रोगी की सेवा चिकित्सा मैंने की, वह स्वस्थ है, अत्यन्त प्रसन्न है-यही मेरा उपहार है। इससे बढ़कर भला और क्या उपहार हो सकता है ! ऐं....?"

किन्तु प्रेत-दम्पति स्नेहानुरोध पर अडिग ही बने रहे। वैद्य जी ने अँगूठी का उपहार स्वीकार कर लिया और बड़े स्नेह से प्रेत-पत्नी से बोले-"मैंने तुम्हें बहन कहा है तो इस नाते तुम्हारा मैं भाई हुआ। भाई की यह भेंट तुम स्वीकार करो।"-और अंगूठी प्रेतिनी को स्नेहपूर्वक दे दी।

इसी समय वैद्य जी का मनवांछित प्रसंग भी अनायास ही आ गया-"आपको, वैद्य जी ! मेरा एक अनुरोध और भी मानना होगा।"-स्नेहासिक्त वाणी में द्वारपाल ने कहा तो वैद्य जी प्रश्न-भरी दृष्टि से उसकी ओर ताकने लगे। वह कुछ सकुचा-सा गया। उसे प्रेरित करते हुए वैद्य जी ने कहा-"कहो-कहो, संकोच न करो.... कोई अन्य रोगी तो नहीं है जिसे... ?"

"हाँ... वैद्य जी !.... एक रोगी और भी है। आपको हमारे प्रेतराज से मिलना होगा। बड़ा असाध्य रोग है उन्हें, वे भी बड़े कष्ट में हैं?" द्वारपाल आशा-भरी दृष्टि से वैद्य जी का मुख निरखने लगा।

"अवश्य.... अवश्य मिलेंगे....। प्रेतराज को भी रोगमुक्त कर देंगे हम। हमें बस यह ज्ञात होना चाहिये कि कौन रुग्ण है... बस, फिर तो हमारी धर्म-वुद्धि जाग्रत हो जाती है।" वैद्य जी ने सोत्साह कहा-"मिलेंगे.... अवश्य मिलेंगे.... कब मिलना होगा उनसे?"

"जब आपको सुविधा हो, महाराज ! कभी भी....।"

"शीघ्र ही मिलवा दो.... अमावस्या समीप....।" वैद्यराज ने सहसा सँभलकर कथन को अपूर्ण ही छोड़ दिया। अनायास ही अमावस्या की चर्चा उनके मुख से निकल आयी थी।

"यह अमावस्या का क्या प्रसंग है, महाराज !" द्वारपाल ने जिज्ञासा और स्नेह के वशीभूत होकर प्रश्न कर दिया।

"अमावस्या का कोई विशेप प्रसंग नहीं।"-कुछ सोचते हुए वैद्य जी ने वात को सँभाला-"वात वास्तव में यह है कि हमें अमावस्या से पूर्व यहाँ से विदा होना होगा। एक अन्य रोगी को हमें अमावस्या के दिन देखना होगा-पूर्व निश्चित है न।"

"अमावस्या तो अभी दूर है, वैद्य जी महाराज ! मैं आज ही बात कर पक्का कर लेता हूँ।"—नमस्कार कर द्वारपाल अपनी पत्नी के साथ विदा हो गया। जाते-जाते वह शीघ्र ही लौटने का भी कह गया था।

उसी रात्रि को द्वारपाल वैद्य जी को लेकर प्रेतराज बर्बरक के पास पहुँच गया। वैद्य जी ने देखा एक सुखद शय्या पर बर्बरक पड़ा हुआ था, अत्यन्त उद्विग्न ··· अत्यन्त व्यग्र ···· तनिक भी स्थिरता नहीं। पल-पल में वह करवट बदलता। उठ बैठता तो फिर लेटकर तड़पने लगता। उफ ··· उफ करता रहता। अनेक प्रेत-पिशाच दास-दासियाँ सेवा में सन्नद्ध खड़े। कोई पंखा झल रही है तो कोई तलवे सहला रहा है, कोई चामर डुला रही है तो कोई सुगंधित द्रव छिड़क रही है। किसी के हाथ में ताम्बूल के बीड़े हैं तो कोई शीतल जल की झारी लिये खड़ी है। समीप ही कोई गायिका मधुर स्वरों में लोरियाँ गा रही है, किन्तु बर्बरक को क्षण मात्र के लिए भी जक नहीं आती। वह शान्ति का अनुभव कर ही नहीं पाता। द्वारपाल ने मुख्य रक्षक से वैद्य जी को मिलवाया और मुख्य रक्षक ही उन्हें प्रेतराज की सेवा में ले गया था।

"महाराज की जय हो !" मुख्य रक्षक ने प्रेतराज का अभिवादन किया और निवेदन किया कि वे वैद्यराज को संग ले आये हैं।

प्रेतराज बर्बरक अपनी शय्या पर तुरन्त उठ बैठा और आगंतुक को सिर से पॉव तक ध्यान से देखकर कहा—"वैद्य जी तो आए हैं ···· अच्छा है कि ये आ गये, किन्तु हमारा यह असाध्य रोग जाने वाला प्रतीत नहीं होता ···· यह हमारे प्राणों के संग ही जाएगा—ऐसा प्रतीत होता है ··· हाय ··· ओह ····।"

"ऐसा न सोचिये, प्रेतराज !" वैद्य जी ने कहा—"वह रोग ही क्या जो जैसे आता है वैसे ही लौटकर चला न जाये। जो लौटकर जाता नहीं, वह तो विकार है जो जन्म से ही व्यक्ति का संगी बना रहता है। हॉ, कभी वह निस्तेज रहता हो तो कभी सतेज हो जाता हो—ऐसा तो संभव है। प्रत्येक रोग का निदान अवश्य होता है, प्रेतराज !"

वैद्य जी के विचारों को सुनकर प्रेतराज बर्बरक बड़ा प्रभावित हुआ। उनकी बातें उसके मर्म को छू गयीं। सहसा उसके मन में वैद्य जी के प्रति आदर का भाव विकसित हो गया। प्रेतराज तनिक और ऊपर को खिसककर सीधा वैठ गया। उत्साह के साथ बोला—"तो क्या मै फिर से स्वस्थ हो सकूँगा, वैद्य जी ! क्या मेरे कष्टों से मुझे मुक्ति मिल जायेगी ?"

"अवश्य, श्रीमान् जी ! आप फिर से स्वस्थ हो सकेंगे, मै आपकी सेवा में आया ही इसी प्रयोजन से हूँ।" वैद्य जी ने मुस्कराते हुए कहा और सहज भाव से विनयपूर्वक करबद्ध खड़े रह गये।

"तो फिर चिकित्सा आरंभ कीजिये न।"—प्रेतराज ने अपना हाथ नाड़ी-परीक्षण के लिए आगे को कर दिया। निपेधात्मक रूप में सिर हिलाते हुए वैद्य जी

ने कहा–"नहीं, श्रीमान् ! मुझे नाड़ी-परीक्षा की आवश्यकता नहीं रहती। मैं तो दृष्टि-वैद्य हूँ। रोगी को ध्यानपूर्वक देखकर ही मैं रोग का अध्ययन कर लेता हूँ।"

"तब तो आप मेरे रोग के विषय में भी किसी निष्कर्ष पर पहुँच गये होंगे··· बताइये तो ! मुझे क्या रोग है?" बर्बरक ने जिज्ञासा के साथ प्रश्न किया।

"आपका रोग उतना जटिल नहीं है, जितना आप अनुभव कर रहे हैं, प्रेतराज !" वैद्य जी ने विवेचना की–"हाँ, संभव है कि यह पीड़ा आपको दीर्घ अवधि से घेरे हुए हो। आपने रोग-निवारण के उपाय भी अनेक किये हों और कोई भी सफल न हो पाया हो यह भी संभव है, किन्तु इस कारण रोग को असाध्य मान लेना हमारी भ्रान्ति ही होगी। वास्तविकता यह है कि अब तक कभी रोग का समुचित निदान ही नहीं हो पाया। आपको रात्रि में निद्रा नहीं आती, दिन भी आपके लिए बेचैनी से भरा रहता है। आन्तरिक उथल-पुथल मची रहती है। क्या मैं ठीक कह रहा हूँ?"

"बीस ही बिस्वा आपका कथन सत्य है, वैद्यराज जी ! रंच मात्र भी मिथ्यात्व इसमें नहीं है। आपका निष्कर्ष सर्वथा सत्य है। अब औषधि निर्धारित करें।" प्रेतराज ने कहा–"मुझे विश्वास हो चला है कि आपकी औषधि भी अवश्य ही सफल रहेगी।"

"यही विश्वास रोग-मुक्ति का प्रथम सोपान होता है, श्रीमान् जी ! जो इस सोपान पर अपने चरण दृढ़ता के साथ स्थापित कर लेता है, उसके लिए आगे के सोपान भी सुगम हो जाते हैं और वह नीरोगता के लक्ष्य को भी शीघ्र ही प्राप्त अच्छे वैद्य को अपने चिकित्सा क्रम में रोगी से यह सहकार मिलने लग जाय तो फिर उसकी सफलता सर्व निश्चित हो जाती है। मुझे विश्वास हो गया है कि मैं आपके रोग-निवारण में अवश्य ही सफल होऊँगा और शीघ्र ही····।"

"आपकी मनोकामना पूर्ण हो, वैद्य जी ! अब शीघ्र ही औषधि का निर्धारण भी कर दीजिये। मुझे कौन-कौन-सी औषधियॉ लेनी होंगी?" वर्वरक ने उत्साह, विश्वास और जिज्ञासा की सम्मिलित भावनाओं को व्यक्त करते हुए कहा।

"ऐसे रोगों में औषधि कोई विशेष भूमिका नहीं रखती, श्रीमान् ! मैं आपको औषधि के विषय में कालान्तर में ही कुछ संकेत दूँगा। पहले तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप भोजन किस समय करते हैं? मैं अनुमति चाहता हूँ कि उस समय उपस्थित रह सकूँ। क्या यह संभव नहीं है?" विनयपूर्वक वैद्य जी ने पूछा।

"संभव क्यों नहीं है? मैं मध्य-रात्रि में भोजन करता हूँ। आपकी उस समय उपस्थिति की व्यवस्था भी हो जायेगी।" प्रेतराज वर्वरक ने कहा और मुख्य रक्षक को निर्देश भी दे दिये। मध्य-रात्रि को वैद्य जी भोजन-कक्ष में पहुँचा दिये गये। अनेक छोटे-छोटे मंचों पर विविध प्रकार के व्यंजनों से भरे थाल सजे हुए थे।

सामिष और निरामिष अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ थे। पकवानों और मिष्टान्नों की अनेक छोटी-बड़ी थालियाँ सजी थीं। सुगंधित धूम्र से वह विशाल कक्ष सुवासित हो उठा था। भाँति-भाँति के सुगंधित सुन्दर पुष्पों से कक्ष की भीतियों को अलंकृत कर दिया गया था। एक मंच पर बैठी पिशाच गायिका मधुर स्वरों में गीत गा रही थी। सैकड़ों प्रेत-प्रेतिनियाँ आदेश की प्रतीक्षा में सर्वथा सतर्क मुद्रा में खड़ी थीं। कुछ ही पलों में प्रेतराज आने वाले थे। इन प्रेत-प्रेतिनियों को भोज्य पदार्थों की सुगंध से बड़ी विकलता हो रही थी। बुभूक्षित दृष्टि से ये लोग परसे हुए भोजन के थालों को निहार रहे थे। सभी भूख से पीड़ित थे, यदि अनुमति मिले तो क्षणों में ही वे सारा उपलब्ध भोजन चट कर जाएँ। उनकी रसना में कल्पना का स्वाद समाने लगा। वे लुब्ध भाव से देखते इन भोजन थालों को और ललचाकर विवश रह जाते। नियमानुसार प्रेतराज के भोजन कर लेने के पश्चात् ही इनकी बारी आती थी। इतना समय-यापन ही इनके लिये कठिन हो जाता था। वैद्यराज कक्ष में घूम-घूमकर इन सारी स्थितियों का प्रत्यक्ष अवलोकन कर रहे थे। सहसा भोजन-कक्ष में प्रेतराज ने प्रवेश किया। दास-दासियों द्वारा किये गये जय-जयकार से सारा कक्ष गूँज उठा। बर्बरक सीधा भोजन थालों की ओर बढ़ गया और शीघ्रता के साथ आहार ग्रहण करने लगा। कुछ उसके मुख में समाता तो कुछ नीचे गिरता चला जा रहा था। उसे खाते देखकर उपस्थित प्रेतों के मुख में पानी भरने लगा था। ललचाई दृष्टियाँ और भी तीक्ष्ण हो गयी थीं। प्रेतराज कुछ ही समय में सारा भोज्य पदार्थ उदरस्थ कर गया और तब रजत-कलश उठाकर उसने जल पिया और शयन-कक्ष की ओर चल दिया। रिक्त थालों को निहारते-निहारते प्रेतगण भी भोजन के लिये चले गये।

अतिथिशाला के अपने कक्ष में पहुँचकर वैद्यराज भी भोजन-कक्ष के वातावरण पर विचार करने लगे। भूखे प्रेतों की दृष्टि प्रेतराज के भोजन पर लगती रही इससे भोजन विकारग्रस्त हो रहा था। भोजन-पूर्व प्रेतराज ने हस्त-प्रक्षालन भी नही किया और भोजन का समय मध्य-रात्रि तो और भी अनुचित था। इस सारी प्रक्रिया में क्या सुधार अपेक्षित हैं यही सोचते-सोचते वे निद्राधीन हो गये। आगामी प्रातः वे प्रेतराज के समक्ष उपस्थित हुए और निवेदन किया—"प्रेतराज ! आपके रोग का निदान हो गया है। औषधि का निर्धारण भी हो गया है। औषधि के ताजा रस में एक गोली को मिश्रित कर एक पानक मात्रा में आप पान करे और तव भोजन-कक्ष में पधारे। यह मिश्रण तैयार करने के पश्चात् कुछ क्षणों तक धूप मे रखा जाय यह भी अपेक्षित है और धूप से हटाकर तुरन्त उसका पान कर लिया जाय। औषधि आपके लिए मात्र इतनी ही है किन्तु उसका प्रभाव तभी होगा जव पीने के तत्काल वाद भोजन ग्रहण कर लिया जाय। भोजन का प्रकार और मात्रा वही रह सकती है जो इस समय है किन्तु भोजन आरंभ करने से पूर्व यह

आवश्यक है कि आप अपने इष्टदेव को स्मरण करें। ऐसी तीन बार आवृत्ति की जाय और तब भोजन आरंभ करें।" प्रेतराज बड़े ही ध्यान के साथ वैद्य जी की सारी बातें हृदयंगम करता जा रहा था।

"एक और भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आवश्यक है, श्रीमान् ! जब आप भोजन करें तो आपके कक्ष में आप अकेले रहें और शान्ति के साथ आहार ग्रहण करें। यदि दो-चार सेवकों की उपस्थिति आवश्यक मानी भी जाय तो उनको निर्देश दिये जायें कि जो भी भोज्य पदार्थ आपके लिये तैयार किये गये हैं वे उन सभी की पहले स्वयं खाकर परीक्षा कर लें कि वे उपयुक्त और स्तरीय हैं भी, अथवा नहीं और जिनके लिए वे अनुमति दें, उन्हीं व्यंजनों को परसा जाय।" आप आज ही यह सारे परिवर्तन परीक्षण के रूप में करके देखें। अवश्य ही अवश्य लाभ होगा।"

प्रेतराज बर्बरक वैद्यराज के कौशल और विद्वत्ता से प्रभावित तो हो ही चुका था। उनके निर्देशों की पालना के लिए वह तत्पर हो गया। वह अशान्ति और पीड़ा से इतना त्रस्त हो गया था कि कुछ भी करने को वह तैयार था। वैद्य जी के सुझाव उसे बड़े साधारण-से लगे। संध्या को समय रहते ही औषधि तैयार करा ली गयी। उसे धूप में भी रखा गया और तुरन्त सेवन भी कर ली गयी। तत्काल वह भोजन-कक्ष में पहुँचा, जहॉ वास्तव में दो-चार निजी सेवकों के अतिरिक्त कोई न था। ये सेवक भी तृप्त थे। भोजन की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जा रही थी। भोजन-कक्ष में पहुँचकर बर्बरक ने इष्टदेव का स्मरण किया। चित्त शान्त और एकाग्र हो गया। जब वह भोजन करने लगा, तब संध्या ढली भी नहीं थी। सूर्यास्त तक तो वह भोजन से निवृत्त भी हो चुका। भोजन-कक्ष से वह उद्यान में चला गया और धीमे-धीमे विचरण करने लगा। जब ॲधेरा होने को हुआ तो वह अपने शयन-कक्ष में पहुँचा। गीत-संगीत का मनोविनोद कुछ समय चलता रहा और अनायास ही कब उसकी पलकें बन्द हो गयीं। स्वयं उसे भी ज्ञात न हो सका। सूर्योदय तक वह गहन निद्रा में खोया रहा। भोर में उसके नेत्र स्वतः ही खुल गये। शय्या त्यागकर जव वह उठा तो उसे वड़ी स्फूर्ति अनुभव होने लगी। शीघ्र ही स्नानादि से निवृत्त होकर वह अपने नियमित कार्यो में प्रवृत्त हो गया।

उस संध्या को पुनः वैद्य जी को वुलाकर प्रेतराज ने उनसे भेंट की। वर्षों वाद प्रेतराज वर्वरक का सारा दिवस सामान्य-सा व्यतीत हुआ था। उसकी चर्चा करते हुए उसने वैद्यराज को वताया कि उसे आज कोई उद्विग्नता, कोई अशान्ति नहीं रही। रात को भी गहरी निद्रा का आनन्द मिला। सचमुच उसका रोग दूर हो गया। "वीस वर्षों तक जो संभव न हो पाया, वैद्य जी ! आपने एक ही दिन में वह चमत्कार घटित कर दिखाया।" वर्वरक ने कृतज्ञता के स्वर में कहा—"मैं आपका यह उपकार जीवनभर नहीं भूलूँगा। आपने तो मेरी भोजन-पद्धति ही परिवर्तित

कर दी। मेरे सुख का मूल कदाचित् इस परिवर्तित पद्धति में ही निहित अब यही पद्धति मेरे शेष जीवन की अंग बनी रहेगी। आप महान् हैं, वैद्य जी ! सचमुच आप महान् हैं·····।"

"मैं तो साधारण-सा जनसेवक हूँ, श्रीमान् जी !" वैद्यराज ने कहा–"पीड़ित लोगों को खोज-खोजकर उनके रोग–कष्ट का निवारण करते रहना ही मेरा धर्म है।"

"सज्जनों का स्वभाव विनययुक्त ही होता है। वे अपनी गरिमा और महिमा को भी नम्रता के आवरण में छिपाकर रख लेते हैं।" बर्बरक ने कहा–"मेरे पास अतुलित वैभव है, वैद्यराज ! मुँहमाँगा पुरस्कार देने को मैं तत्पर हूँ। कहिये क्या सेवा करूँ?"

"मुझे मेरा पुरस्कार मिल गया, प्रेतराज ! आप रोग–कष्ट से मुक्त हो गये–सुखी हो गये–यही सफलता मेरे लिए सबसे बड़ा पुरस्कार है। मेरी कोई याचना नहीं। मैं क्षत्रिय हूँ···· याचना इस नाते भी मेरा धर्म नहीं है। आपको एक रहस्य की बात बता दूँ।"–भेद खोलने की मुद्रा में वैद्यराज बोले–"वास्तव में मैं अवन्ती-नरेश विक्रमादित्य हूँ।"

महाराज का कथन सुनकर प्रेतराज तो अवाक्-सा रह गया। उसकी ऑखें फटी की फटी रह गयीं–"आप···· अवन्तीनाथ हैं···· । मुझसे कोई अविनय हो गयी हो तो क्षमा करे दें, राजन् !" हाथ जोड़कर मस्तक झुकाते हुए प्रेतराज बोला–"आज से मैं आपका दास हूँ, प्रभो !"

"हमारी एक कामना है, प्रेतराज !"

"आज्ञा कीजिये, राजन् ! आदेश दीजिये, मैं क्या कर सकता हूँ?"

"अवन्ती के समीपस्थ ग्राम के कुछ लोग आपके बंधन में हैं। अपनी प्रजा की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य-पालन में आप कृपाकर मेरी सहायता कीजिये। उन लोगों को मुक्त कर दीजिये। कर सकेंगे न आप?"

"आपका आदेश शिरोधार्य है, राजन् ! समझिये कि वे मुक्त हो गये।" प्रेतराज बर्बरक का आभार मानते हुए महाराज विक्रमादित्य ने प्रेतराज को नमस्कार किया और चल दिये। उसी रात्रि में वे कूपग्रस्त प्रजा जनों को साथ लेकर अवन्ती पहुँच गये। परदेसी पथिक को उसकी पुत्री मिल गयी। अन्य जन भी अपने बिछुड़े हुए परिवारों में जा मिले। महाराज ने शासकोचित आदर्शों का एक नवीन पक्ष और प्रतिष्ठित कर दिया।

●●

भारतवर्ष का मधुर उत्तरी प्रदेश काश्मीर को सदा से ही प्रकृति देवी का सौन्दर्य वरदान-प्राप्त रहा है। ललित मनोरमता की बहुलता ने वहाँ के निवासियों में उत्कट सौन्दर्य-बोध की अनुपम रचना कर दी है। कोमल मन और सुन्दर भाव, आकर्षक और सरस अभिव्यक्ति वहाँ के जन-जन की विशेषताएँ हो गयी हैं। यही कारण है कदाचित् कि काश्मीर को उत्तमोत्तम कलाकार देने का श्रेय प्राप्त है। कला के हर क्षेत्र में शाश्वत यश-सम्पन्न शिल्पकारों की एक दीर्घ परम्परा ही वहाँ रही है। महाराज वीर विक्रमादित्य का समकालीन ऐसा ही एक शिल्पी–अमरदेव था जिसकी कला-निपुणता की सर्वत्र चर्चा थी।

शिल्पी अमरदेव ऐसी वंश-परम्परा से सम्बद्ध था, जिसमें में उत्तम कोटि के कलाकारों का, प्रत्येक पीढ़ी में अनुपम गौरवपूर्ण स्थान रहा। कलाकार पूर्वजों के संस्कारों से सज्जित अमरदेव नैपुण्य के चरम को स्पर्श कर गया था। यह काष्ठशिल्पी तन-मन-धन से कला के प्रति सर्वथा समर्पित था। उसकी कलाकृतियाँ मुँह बोलती-सी प्रतीत होती थीं और उनकी सुन्दरता मनोमुग्धकारी हुआ करती थी। अपने जीवन की अति महत्त्वपूर्ण बारह वर्षीय अवधि उसने एक सिंहासन की संरचना में लगा दी। उसने अपने संचित धन का भी इसी कृति में उपयोग कर दिया था। अन्य कोई आय उसे इस कारण भी हो नहीं रही थी कि सिंहासन निर्माण के अतिरिक्त वह अन्य कुछ कर नहीं पाया था। परिणामतः अत्यन्त विपन्नावस्था में वह अभावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहा था। वह और उसके परिजन दुःखी हो गये थे। सिंहासन लगभग निर्मित हो ही चुका था। इसमें व्यय करने को अब उसके पास धन भी नहीं था। काष्ठ-निर्मित इस सिंहासन का आकार बड़ा भव्य था, आकृति अति मनोरम थी। ऐसे काष्ठ का प्रयोग इसमें किया गया था जो स्निग्ध भी किया जा सका और जो सुदृढ़ भी था। कालक्षेप के साथ उसमें किसी प्रकार के विकार आने की भी तनिक-सी आशंका न थी। दीर्घकाल तक वह यथावत् बना रहेगा–इसका विश्वास था। इस पर पुष्प-पल्लव और लता-द्रुमों की ऐसी छवियाँ उकेरी गयी थीं कि जो वास्तविक स्वरूप के अत्यन्त समीप थीं। वन-पर्वत, सरिता-सरोवर आदि के प्राकृतिक दृश्यो की संरचना भी अद्भुत, सजीव थी। अमरदेव यंत्रशिल्पी था। उसने इस सिंहासन में बाहर की ओर बत्तीस पुतलियों का निर्माण भी किया था और इन पुतलियों की विशेषता यह थी कि यांत्रिक व्यवस्था के अधीन ये आंगिक चेष्टाएँ भी करती थीं और बोल भी सकती थीं। वस्तुतः शिल्पी अमरदेव ने अद्भुत रचना की थी। अब इस सिंहासन

को स्वर्ण-रत्न-मंडित करने का ही कार्य शेष रह गया था, किन्तु इस हेतु उसके पास धन न था। उसकी योजना थी कि जिन राजा-महाराजा को वह सिंहासन अर्पित करेगा उन्हीं के धन से वह शेष कार्य सम्पन्न कर लेगा।

समस्या यह थी उसके समक्ष कि यह सिंहासन दिया किसे जाय। ऐसे नृपति तो एकाधिक मिल सकते थे जो रचनाकार को सिंहासन के मूल्य रूप में समुचित से भी अधिक धन दे सकें, किन्तु अमरदेव की कामना थी कि सिंहासन ऐसे राज्य में रहे जिसके पूर्व गौरव से इसकी महिमा बढ़े। ऐसे सिंहासन पर आरूढ़ होने वाला नरेश शूरवीर हो, पराक्रमी हो, न्यायशील हो, दानशील हो, सर्वगुण-सम्पन्न हो। नृपति के गौरव से स्वतः ही सिंहासन का गौरव कम भी बनेगा—बढ़ेगा। वह इस खोज में लग गया था कि इस भव्य सिंहासन के योग्य और सुपात्र नृपति कौन है? और वह कहाँ का शासक है जो समुचित पुरस्कार भी दे सके और इस सिंहासन का गौरव भी बढ़ा सके? अब अधिक प्रतीक्षा करना भी उसके लिए संभव न था। परिवार की भुखमरी उसे विचलित कर देती थी। परिजन उसे परामर्श देते थे कि सिंहासन का शीघ्र ही विक्रय कर धनोपार्जन कर लिया जाय कि घर का न्यूनतम व्यय जुटना तो संभव हो जाय। इसी धन से आगे का व्यवसाय भी प्रबंधित कर लिया जाय और भविष्य की सुखमयता भी निश्चित कर ली जाय। शिल्पकार अमरदेव को इस परामर्श में कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता था। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी न था, किन्तु उसकी हार्दिक कामना यही थी कि सिंहासन को उपयुक्त स्थल भी प्राप्त हो, उसकी दुर्गत न हो, अथवा वह अप्रसिद्धि के अंधकार में लुप्त होकर न रह जाय। अपने जीवन की इस अमूल्य उपलब्धि से उसका स्नेह का संबंध था। उसकी यह चिन्ता स्वाभाविक ही थी।

निदान, शिल्पी अपनी इस महान् कृति को एक बैलगाड़ी में सुरक्षित रखकर देशाटन पर निकल गया। अन्य गाड़ियों में उसका परिवार और प्रवास हेतु आवश्यक सामग्रियाँ थीं। लक्ष्यहीन-सा यह यात्री-दल आगे से आगे बढ़ता चला गया। एक के पश्चात् एक नये-नये राज्यों को पार करता अमरदेव अपनी खोज-यात्रा पर सतत रूप से अग्रसर होता रहा। उसे कोई उपयुक्त नरेश नहीं मिला। एक दिन उसने मालवाधिपति महाराज विक्रमादित्य की गौरव-गाथा सुनी। वीर विक्रम अपनी प्रजा के प्राणों की रक्षा के लिए अपने जीवन को भी दाँव पर लगाने में नहीं हिचकिचाते। लोकरंजन ही उनका परम लक्ष्य है। वे अत्यन्त शूरवीर, पराक्रमी और दुर्दमनीय साहसी शासक हैं। वे कला-प्रेमी ही नहीं स्वयं भी एक उच्च कोटि के कलाकार हैं। उनकी देवसभा-सम राजसभा में अनेक प्रवुद्ध जन, कलाकार और विद्यावान गुणी जन शोभित होते हैं। दूर-दूर तक वीर विक्रम की यशोगाथा प्रसारित है। अनेक देश मालव-मित्र हैं। उनसे शत्रुता रखने का साहस तो कोई देश कर ही नहीं पाता। उनकी राजधानी अवन्ती देवपुरी के समान

सुरम्य और सुख-वैभव की स्थली है। इस आशय की गाथाएँ सुनकर कलाकार अमरदेव के मन में अवन्ती-गमन की ललक उठी। उसकी अन्तरात्मा में यह विश्वास अंकुरित होने लगा कि अवन्ती की राजसभा में सिंहासन के योग्य स्थल है, वहीं मेरी कृति उचित मान-सम्मान प्राप्त कर सकेगी, सिंहासन भी अवन्ती का गौरव ही बढ़ायेगा। इस निश्चय ने कलाकार के विकल मन को एक स्थिरता और निश्चिन्तता प्रदान की। यात्रा-दल अवन्ती के मार्ग पर आरूढ़ हो गया और अब सलक्ष्य यात्रा का उत्साह और गतिशीलता भी विशेष उल्लेखनीय हो गयी। तीव्रता के साथ आगे बढ़ते शिल्पी के लिए अवन्ती दिन-प्रतिदिन समीपतर होती रही। और उस सायं तो कलाकार के जी की कली ही खिल गयी जब उसे दूर से अवन्ती की उच्च अटारियाँ दृष्टिगत होने लगीं। उत्साह से उसकी आँखें चमक उठीं और अधरों पर मुस्कान थिरकने लगी।

अवन्ती की राजसभा अपने यौवन पर थी। सिंहासनारूढ़ मालवनाथ प्रसन्न मुद्रा में विनोद-वार्त्ताओं का आनन्द ले रहे थे। सभासदगण भी हास्य-विभोर हो अत्यन्त सुखद समय का यापन कर रहे थे। इसी उत्साह-भरे वातावरण में प्रतिहारी ने निवेदन किया—"श्रीमानेश्वर की जय हो ! काश्मीर से आये एक कलाकार दर्शन की अभिलाषा के साथ द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं .... उपस्थिति की अनुमति चाहते हैं।"

महाराजश्री एक क्षण को तो असमंजस में पड़ गये, तुरन्त चिन्तन से उबरकर उन्होंने अनुमति प्रदान करते हुए आदेश दिया—"काश्मीरी कलाकार को ससम्मान ले आया जाय।"

मझौला कद और क्षीण-सी देहयष्टि, पीत शिरस्त्राण, श्वेत अंगरखा और घुटनों से कुछ नीची धोती, कंधों पर पड़ा गुलाबी उत्तरीय, हल्की-सी दाढ़ी-मूँछ और सिर के केश कुछ-कुछ लम्बे ... शिरस्त्राण से बाहर निकले कलाकार के व्यक्तित्व को भव्यता प्रदान कर रहे थे। माथे पर लगी चन्दन की विन्दी गौर मुख-मण्डल की दीप्ति को और अधिक विकसित कर रही थी। धीर-गंभीर कलाकार मंथर गति से, आत्म-विश्वास भरे चरण वढाते हुए करवद्ध नमस्कार मुद्रा में आगे बढ़ता चला आ रहा था। इस समय उसकी दृष्टि अवन्तीपति के भव्य व्यक्तित्व पर टिकी हुई थी। सिंहासन के समीप पहुँचकर शिल्पी ने झुककर प्रणाम करते हुए कहा—"अवन्तीनाथ महाराज विक्रमादित्य देव की जय हो ! .... सदा विजय हो !!" महाराज कलाकार के भव्य व्यक्तित्व से प्रभावित हो आसन से उठ खड़े हुए और आगे वढ़कर कलाकार को कंधों से थामकर ऊपर उठाया और गले से लगा लिया। भाव-विभोर से होकर उन्होंने कहा—"मालव-धरती पर काश्मीरी कलाकार का हम स्वागत करते हैं।" और वे मुस्करा उठे। अपने कंठ से मोतियों की एक मूल्यवान माला उतारकर महाराज ने अपने हाथों से कलाकार को धारण

करायी और अपने समीप ही एक आसन पर आसीन किया। आगंतुक के विषय में सभासदों के मध्य भाँति-भाँति के अनुमान उभरते-मिटते जा रहे थे। उनकी उत्कंठा ने व्यग्रता का रूप ले लिया था—सभी यह जानने को उत्सुक थे कि ये कलाकार सज्जन लगते तो नामवर हैं, इनका कलाक्षेत्र कौन-सा है? ···· क्या है इनका परिचय? ···· तभी महाराज ने कलाकार की ओर उन्मुख होते हुए कहा— "आगंतुक कलाकार ! हम आपका परिचय जानने के अभिलाषी हैं? कृपया अपने आगमन का प्रयोजन भी स्पष्ट करें।"

"करुणावतार राजन् ! क्या मैं और क्या मेरा परिचय ! एक साधारण-सा काष्ठशिल्पी हूँ, महाराज !" अमरदेव ने अतिशय विनयपूर्वक कथनारंभ किया— "काष्ठशिल्प ही हमारा वंशानुगत व्यवसाय रहा है। काश्मीर का निवासी हूँ और काष्ठशिल्प के क्षेत्र में मेरे पूर्वज अत्यन्त यशस्वी रहे हैं। मैंने भी जीवनभर इसी कला की सेवा की है।"

"प्रतीत होता है आप बड़े पहुँचे हुए कलाकार हैं। अपने कतिपय कार्यों के विषय में भी उल्लेख कीजिये ···· अपनी कृतियों का ····।" महामात्य भट्टमात्र ने जिज्ञासावश इतना ही कहा था कि बीच ही में शिल्पकार ने अति उत्साहित होकर अपना कथन आरंभ कर दिया—"श्रीमानेश्वर ! बाल्यकाल से ही अपने पितृश्री के संरक्षण में मैं शिल्पकला की साधना में लग गया था और तब से अब तक अनेक विस्मयकारी सौन्दर्य-सम्पन्न कृतियाँ तैयार की हैं जो देश-देश के राजघरानों और राजसभाओं की शोभा बनी हुई हैं। मैं अपनी एक विशेष साधना का उल्लेख करना चाहूँगा। विगत बारह वर्षों से मैं एक सिंहासन के निर्माण में लगा हुआ हूँ। मैंने अपनी प्रतिभा और क्षमता का समग्रतः सदुपयोग उसके निर्माण में किया है। पूर्वजों का संचित और अपना अर्जित सारा धन मैं इस कार्य में लगा चुका हूँ। राजन् ! अब स्थिति यह है कि तन-मन के साथ सारा धन भी लगा चुकने के कारण अब अभाव-भरा जीवन जीने को विवश हूँ, किन्तु मुझे इसका रंच मात्र भी खेद नहीं है। कला-साधना तो कदाचित् इससे भी अधिक अपेक्षा करती है। मेरी कामना है कि इस सारे उत्सर्ग के पश्चात् भी मेरी इस कृति को उचित सम्मान प्राप्त हो, उसे सक्षम और प्रतिष्ठित राजघराने का आश्रय प्राप्त हो ··· मुझे मात्र इसी से संतोष प्राप्त हो जायेगा।"

"शिल्पी ! तुम्हारी साधना से हम बड़े प्रसन्न हैं।" स्मितिपूर्वक अवन्तीनाथ ने कहा—"अवश्य ही तुम्हारी वह कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगी—हमें उसकी विशेषताएँ तो बताइये।"

"वैसे वह भव्य सिंहासन, महाराज ! बड़ा सुन्दर है भाँति-भाँति के कलात्मक दृश्यों से सज्जित उस सिंहासन की एक विशेषता विशेषतः उल्लेखनीय है। मैं एक

यंत्रशिल्पी हूँ और मैंने सिंहासन में बत्तीस पुतलियाँ निर्मित की हैं जो हिलती-डुलती, विभिन्न आंगिक चेष्टाएँ तो करती ही हैं, वार्त्तालाप भी करती हैं।"

"आश्चर्य .....! महान् आश्चर्य !!" महामात्य ने कहा—"धन्य हो कलाकारवर, धन्य हो ! आपने अपनी कला-साधना से अपनी कृतियों को वास्तव में सजीव कर दिखाया है।"

"कलाकार तुमने तो सारी राजसभा को विस्मय में डाल दिया है।" —बुद्धिसागर ने कहा—"एक अविश्वसनीय-सा चमत्कार तुमने सत्य कर दिखाया है। अब से पूर्व भी कोई कलाकार ऐसा न कर सका होगा और भविष्य में भी किसी से ऐसी आशा नहीं है।"

"वास्तव में यह अत्यन्त रोचक और अविश्वसनीय चमत्कार है, कलाकार शिरोमणि ! क्या हम काश्मीर आकर इस अपूर्व कलाकृति के दर्शन कर सकते हैं?" महाराजश्री ने प्रश्न किया।

"पृथ्वीनाथ ! दर्शन तो आप कर सकते हैं.... अवश्य कर सकते हैं, किन्तु इसके लिये आपश्री को काश्मीर तक जाने का श्रम नहीं करना होगा। सिंहासन तो मैं अपने साथ ही लेकर अवन्ती आया हूँ, महाराज !"—शिल्पी ने कहा।

"कहाँ... कहाँ है वह.... हम अभी ही....।" कहते हुए महाराज आसन से उठने को हुए ही थे कि सहसा शिल्पी ने निषेध करते हुए हाथ के संकेत से उन्हें पुनः आसीन कर दिया—"तनिक धीरज रखना होगा, महाराज ! अभी कुछ कार्य उसमें शेष है। उसे मैं अवन्ती में ही पूर्ण करूँगा। सारा सिंहासन तैयार है, केवल स्वर्ण, रत्नादि से सज्जित करने का कार्य शेष है, उसे मैं अवन्ती में ही सम्पन्न करूँगा। किन्तु.... किन्तु महाराज..... !" अपूर्ण कथन में ही शिल्पी मौन होकर नत-शिर हो गया।

"किन्तु क्या..... शिल्पीवर !....क्या समस्या है?" महाराज ने पूछा।

"राजन् ! कुछ विशेष नहीं। एक अनुरोध था। कृपाकर आप मेरी इस कलाकृति की भेंट को स्वीकार कर लीजिये। मुझे तो कृपानाथ वहुत समय से किसी सुपात्र नरेश की खोज थी। आपके रूप में श्रीमन् ! मुझे उपयुक्त अधिकारी की प्राप्ति हो गयी है उस सिंहासन के लिए। आपश्री की राजसभा ही उसके लिये उपयुक्त स्थल है, महाराज ! आपके यश से जुड़कर उसका गौरव भी वढ़ेगा। इसी में मेरा संतोष निहित है।"

"तुम उचित ही सोचते हो, शिल्पी !"—महाराज ने स्वीकारा—"रचनाकार के लिए अपनी रचना के यशस्वी होने से वढ़कर अन्य कोई कामना हो ही नहीं सकती। यह यश अप्रत्यक्ष रूप में स्वयं रचनाकार का यश भी वन जाता है। हम

सहर्ष तुम्हारी यह भेंट स्वीकार करते हैं और वचन देते हैं कि हम तुम्हारी इस कृति का गौरव बढ़ता ही चला जायेगा—हम स्वयं इस दिशा में सचेष्ट रहेंगे।"

"मैं कृतार्थ हुआ, प्रभु ! अब मैं पूर्णतः आश्वस्त हूँ और निश्चिन्त मन से शेष कार्य कर लूँगा। मुझे पन्द्रह दिन की अवधि प्रदान करें और ····।" संकोचवश शिल्पी मौन हो गया।

"और ···? ····और क्या शिल्पी !" महाराज ने प्रेरित करते हुए कहा—"तुम मौन क्यों हो गये? और क्या अपेक्षा है?"

"श्रीमानेश्वर ! मुझे स्वर्ण, रत्नादि की आवश्यकता है। इन्हीं के अभाव में सिंहासन-कार्य अपूर्ण रह गया था।" संकोच त्यागते हुए शिल्पी ने कहा।

महाराज ने आश्वस्त किया—"चिन्ता न करो शिल्पी ! तुम्हें आवश्यकता की सारी सामग्री प्राप्त हो जायेगी।" और उन्होंने इस हेतु महामात्य को आदेश भी दे दिया। राज-अतिथि के रूप में शिल्पी और उसके परिवार के लिए सारी व्यवस्थाएँ भी हो गयीं। मनोयोगपूर्वक उसने सिंहासन के शेष कार्यों की पूर्ति का उद्यम आरंभ कर दिया।

निश्चित अवधि के समापन पर सोलहवें दिन राजसभा में वह अति भव्य और अत्यन्त मनोरम सिंहासन प्रस्तुत कर दिया गया। मुस्कराते हुए शिल्पी ने महाराज को आसीन होने का अनुरोध किया। ऐसे विशाल और भव्य सिंहासन की कभी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। स्वर्ण का आवरण इस कौशल के साथ चढ़ाया गया था कि काष्ठ में उकेरी गयी सारी आकृतियाँ अपनी समस्त सूक्ष्मताओं के साथ उभर आयीं। इस स्वर्णाभा से सारी राजसभा आलोकित हो उठी। चकित-विस्मित नेत्रों से उपस्थित जन उस विराट् सौन्दर्य को निहारते ही रह गये। अलौकिक-सा प्रतीत होता यह सिंहासन अपने रचनाकार का गौरव-गान कर रहा था। रत्नों, मणियों और हीरकों से मंडित और अलंकृत सिंहासन कलाकार के सौन्दर्य-बोध और सुरुचि का जीवन्त साक्षी हो गया था। अत्यन्त कलात्मक रूप में छत्र का निर्माण भी किया गया था। झूलती झालर भी स्वर्ण, रत्नादि ही से निर्मित थी—यह तथ्य तो और भी विस्मयजनक था।

महाराज विक्रमादित्य ज्यों ही आसनासीन हुए, गद्गद स्वर में शिल्पी अमरदेव ने पुकार लगायी—"महाराज विक्रमादित्य की जय हो !" सभासद दंग रह गये यह देख-सुनकर कि सिंहासन की एक-एक पुतली वारी-वारी से जय-जयकार करने लगी। अन्त में समवेत स्वर मे तीन वार महाराज विक्रमादित्य की जय हो ····हमारे महाराज अमर रहें का घोष हुआ। सभी पुतलियाँ सजीव-सी सक्रिय थीं। सभासद अनियंत्रित-से शिल्पी अमरदेव की जय-जयकार कर उठे।

उस उल्लास भरे वातावरण में महाराज ने घोषित किया कि इस सिंहासन के रूप में शिल्पी अमरदेव ने अवन्ती को एक ऐसी निधि प्रदान की है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व रहेगा। मालव-देश इसके लिये शिल्पी का अत्यन्त कृतज्ञ है।" महाराज विक्रमादित्य ने घोषित किया–"शिल्पकार अमरदेव को ग्यारह लाख स्वर्ण-मुद्राओं का पुरस्कार प्रदान किया जाता है और एक गाँव की जागीर भी। आज से अमरदेव मालव के राज-शिल्पी के गौरव से भी विभूषित रहेंगे।" सारी राजसभा हर्ष-ध्वनि से गूँज उठी। धन्य हो महाराज ! धन्य हो शिल्पी ! की ध्वनियाँ उठने लगीं। शिल्पी को तो आशातीत गौरव और सम्पदा की प्राप्ति हुई। वह कृतज्ञतापूर्वक महाराज के चरणों में नमित हो गया। महाराज ने उसे उठाकर गले से लगा लिया। शिल्पी के नेत्रों में अति हर्ष की आर्द्रता छा गयी। उसका तो जीवन ही सफल हो गया था। महाराज ने प्रसन्नता के साथ कहा–"इस अद्‍भुत सिंहासन के लिए यही राजसभा और इस राजसभा के लिए यही सिंहासन उपयुक्त है। दोनों जैसे एक-दूसरे के लिए ही बने हैं। यह सिंहासन इस राजसभा और राज्य के गौरव को अभिवर्धित करता रहेगा और इतिहास सदा इसके रचनाकार को स्मरण करता रहेगा।" पुनः तीव्र करतल ध्वनि हुई और सभा विसर्जित हो गयी।

× × ×

प्रतिष्ठानपुर में राजकन्या सुकोमला विरह-वेदना से व्यथित थीं। उनके पास कलाकार विजयादित्य की मात्र स्मृतियाँ ही शेष रह गयी थीं। वे नीरहीन मीनवत् दिन-रात तड़पती रहतीं। उन्हें इस बात का भी विश्वास नहीं हो पाता कि उनके कलाकार प्रियतम उनके साथ कोई छल कर सकते हैं और उन्हें कोई उचित कारण भी नहीं सूझ पाता था कि इतना समय व्यतीत हो जाने पर भी वे लौटे क्यों नहीं, यदि कोई कारण भी रहा हो तो संदेशा क्यों नहीं भिजवाया? क्या वास्तव में वे कोई छलिया थे जो उनकी प्रीति-भावना और यौवन के साथ क्रीड़ा कर गये···· उनको इस असहाय अवस्था में छोड़ गये।···· वे आसन्न प्रसवा हैं···· शीघ्र लौट आने का वचन देकर गये थे वे···· लौटे क्यों··· नहीं····। अनेक प्रकार के भाव राजकन्या के मन में उठते जा रहे थे–इतना विशुद्ध प्रेम··· इतना निर्मल स्नेह··· कलाकार स्वामी ऐसा कुछ भी नहीं कर सकते जिससे हमें कोई कष्ट पहुँचे···· किन्तु···· किन्तु फिर वे लौटे क्यों नहीं? अवश्य ही हम उनके हाथों छली गयी हैं···· उनका, प्रवास में किसी परदेसन से स्नेह हो गया हो।···· क्या यह संभव नहीं···· क्यों नहीं?···· पुरुषों के लिये कुछ भी असंभव नहीं··· सुकोमला ! तुम ठगी गयी हो··· फिर तुम एक पुरुष–कोमल पुरुष के हाथों पीड़ित हो गयीं हो····। तुम्हारी नियति ही ऐसी है। पुरुष तुम्हारे जीवन में सदा उत्पीड़क ही बनकर आता रहा है। इस वार सँभलकर तुमने राजघराने से दूर···· साधारण व्यक्ति का चयन किया····कोमल मनस्क कलाकार का चयन किया था····वह भी तुम्हारे दुर्भाग्य से कठोर हो गया···· उसने भी प्रवंचना की···· उसने भी ठगा है, तुम्हें ! राजकुमारी

सुकोमला आँगन में दृष्टि गड़ाए दो क्षणों को सर्वथा शान्त, अचंचल बैठी रह गयीं और फिर सहसा चीख पड़ीं–"नहीं···· नहीं···· नहीं···· ऐसा नहीं हो सकता···· वे आयेंगे···· अवश्य आयेंगे। मौन हमें पथभ्रष्ट कर रहा है भीतर ही भीतर। हमारे स्वामी आ ही रहे होंगे। उनकी पलकें खुली की खुली रह गयीं। उनका मुख भी खुला ही रह गया और दोनों हाथ कानों को कसकर ढके हुए थे–मानो वे कलाकार पति-विरोधी कोई कथन सुनने को तत्पर न हों। उनका असंतुलित मानस कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहा था। वे पुनः जोर से चीखीं–वे आयेंगे··· अवश्य आयेंगे। वे हमें विस्मृत कर नहीं सकते···· वे···· हमारे प्रियतम हैं···· हम उनकी····।"

इसी समय सुकोमला की माता ने कक्ष में प्रवेश किया और पुत्री की यह विचित्र स्थिति देखी तो सन्न रह गयीं। बोलीं–"क्या हुआ मेरी बिटिया? तुम इतनी विकल क्यों हो रही हो? तुम्हारे स्वामी एक सच्चे कलाकार हैं और कलाकार मिथ्याचारी नहीं होते। तुम्हारे स्वामी का हृदय तो स्नेह का उत्स है, वे निर्मल और निःस्वार्थ प्रेमी हृदय के स्वामी हैं। धैर्य रखो, मेरी बेटी !····· धैर्य ही प्रत्येक संकट में मनुष्य का उत्तम सहारा होता है।" पुचकारते हुए माता ने बिटिया को वक्ष से लगा लिया और बड़ी देरी तक प्रबोधन देती रहीं, सान्त्वना देती रहीं –"कलाकार तनिक धुन के पक्के होते हैं। कहीं किसी कला-प्रसंग में व्यस्त हो गये होंगे। कला-साधना में पहुँचे हुए कलाकार तो शेष जगत् को भूल ही जाते हैं। तुम चिन्ता न करो बिटिया।"–माँ स्नेहपूर्वक बिटिया के मस्तक पर हाथ फिराती रहीं। राजकन्या माँ के वक्ष से शीश सटाये रहीं और दृष्टि ऊपर को उठाकर माता का मुख निहारने लगीं–"तो वे आयेंगे। माँ···· वे···· आ जायेंगे न·····।"

"अवश्य आयेंगे, बेटी !···· अवश्य आयेंगे··· हाँ····!" राजकन्या को प्रतीत होने लगा, जैसे उनका मन ही माँ की वाणी में मुखर हो उठा हो। वे आश्वस्त हुईं। गर्भ की पूर्णावस्था में राजकन्या का इस प्रकार मानसिक रूप से पीड़ित और असामान्य रहना हितकर नहीं। माँ इस बात से अपरिचित न थीं। वे प्रयत्न करने लगीं कि राजकन्या प्रसन्नचित्त रहें, उन्हें पति का स्मरण ही न आए तो और भी अच्छा है। वे इस चिन्तन में लगीं और राजकन्या कुछ नीचे खिसककर अपना सिर माँ की गोद में रखकर सो गयीं। रोते-रोते उनकी आँखें सूज आयी थीं–बन्द पलकें भी इसकी साक्षी थीं।

गायक विजयादित्य के विस्तृत परिचय से सभी अनभिज्ञ थे। कलाकार किस परिवार का, किस स्थान के हैं किसी को यह ज्ञात नहीं था। वंग-देश के कौन-से स्थान के लिए उन्होंने प्रस्थान किया था–इसका ज्ञान भी न था। विजयादित्य की खोज करने में अनेक बाधाएँ थी। राजा शालिवाहन ने वंग-देश में अपने दूत भेजे भी थे, किन्तु वे असफल ही लौट आये थे। न किसी संगीत-सम्मेलन का कोई सूत्र मिला, न कलाकार विजयादित्य का कोई अता-पता। प्रस्थान से पूर्व राजकन्या को

विजयादित्य ने एक मंजूषा सुरक्षा के साथ अपने पास रख लेने को दी थी। भाग्य की बात कि राजकन्या को उस मंजूषा की सुधि भी न रही। इधर अवन्ती में महाराज विक्रमादित्य भी अपनी प्रेयसी सुकोमला को विस्मृत कर बैठे थे। सुकोमला के साथ विवाह और उनके माँ बनने की संभावना से भट्टमात्र, कमलावती रानी आदि अनेक जन परिचित थे–प्रारब्धवशात् वे सभी इस सारे प्रकरण को विस्मृत कर बैठे थे–वे भला महाराज को क्या स्मरण दिला पाते।

यथासमय राजकन्या ने प्रतिष्ठानपुर के राजभवन में एक सुन्दर और शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र को जन्म दिया। माँ का हृदयोद्यान सहसा पुष्पित–सुरभित हो उठा। उन्हें जीवन जीने योग्य प्रतीत होने लगा। उनके मन के अंधकार को हटाकर हर्षालोक व्याप्त हो गया। इस एक घटना ने उनके जीवन का मार्ग ही बदल दिया। बड़े दिनों के पश्चात् उनके मुख पर प्रसन्नता दृष्टिगत होने लगी। राजभवन में ही नहीं सारे नगर में उल्लास व्याप्त हो गया–उत्सव मनाये जाने लगे। यथासमय शिशु की कुण्डली बनवायी गयी। पण्डितों ने व्याख्या की कि नवजात शिशु के लिए राजयोग है–बड़े होकर कुँवर जी किसी देश के राजा होंगे। बड़े प्रतापी, शूरवीर और साहसी होंगे। चाँदनी की भाँति सारे जगत् में इनके यश का प्रसार होगा। माता सुकोमला सुखद आश्चर्य के साथ सब सुनती रहीं और विश्वास-अर्द्धविश्वास के साथ उस पर आस्था भी करने लगीं। किसी के प्रारब्ध को कोई कैसे नकार सकता है। जो होनहार होता है, वह होकर ही रहता है और सारी परिस्थितियाँ यथासमय अनुकूल और सहायक होती चलती हैं।

राजकन्या सुकोमला के स्नेहमय हृदय में वात्सल्य का असीम सागर लहराने लगा। पुत्र की मुख-छवि के दरस में वे सभी अभावों–क्लेशों को विस्मृत कर बैठीं। वे अपनी ममता में ऐसी खो गयीं कि बाह्य जगत् का उन्हें कोई भान ही नहीं रहा। पुत्र का आगमन उनके जीवन में महान् वरदान बनकर आया। वे यत्नपूर्वक अपने शिशु का लालन-पालन करने लगीं।

× × ×

अवन्ती की वैभवपूर्ण राजसभा में बत्तीस पुतलियों वाला राज-सिंहासन अद्‌भुत रूप से छविमान हो रहा था। वह स्वर्ण-सिंहासन अगणित रत्नों और हीरकों से जटित होकर ऐसा दीप्तिमान हो रहा था मानो आकाशगंगा धरती पर उतर आयी हो। सिन्धु-देश के नरेश्वर शंखपाद का संदेशवाहक दूत राजसभा में उपस्थित था। महाराज विक्रमादित्य का आगमन अभी शेष था। दूत रिक्त सिंहासन की शोभा को निहारते थकता नहीं था। उसने अनेक राजसभाओं में जाने के अवसर पाये थे–दूत जो था ! कहीं भी उसने ऐसा भव्य, ऐसा विशाल, ऐसा दिव्य राज्यासन नहीं देखा था। वह विस्मय-विमुग्ध होकर इस अद्‌भुत सौन्दर्य को देखता रह गया। जैसा उसने सुना था–उसने पुतलियों को उससे भी अधिक सुन्दर पाया

था। ऐसी सुन्दर, ऐसी सुगढ़, ऐसी आकर्षक पुतलियॉ कि जैसे अभी बोल ही पड़ेंगी। भॉति-भॉति की आकृतियों से अलंकृत इस सिंहासन ने इसके निर्माता कलाकार के प्रति विशिष्ट आदर भाव उसके मन में अंकुरित कर दिया था। इस भव्य शोभा के दर्शन से अभी वह तृप्त हो भी नहीं पाया था कि उच्च्च स्वर में प्रतिहारी की वाणी गूॅज उठी–"मालवाधिराज, राजाधिराज, महापराक्रमी ....।" समस्त सभासद अपने-अपने स्थान पर उठकर खड़े हो गये और महाराज के सम्मान में सभी ने शीश झुका लिये। दूत आश्चर्यचकित सब-कुछ देखता रहा। इतनी विशाल राजसभा .... इतनी वैभव एवं शोभायुक्त राजसभा ! ऐसा अनुशासन और ऐसी श्रद्धा भावना अपने नरेश के प्रति .....! ज्यों ही महाराज ने राजसभा में प्रवेश किया, उनके जय-जयकार से सभा-भवन गुॅजित हो उठा। मुस्कराते हुए महाराज ने हाथ उठाकर सभी का अभिवादन स्वीकार किया और सिंहासनारूढ हो गये। अनुसरण में सभी सभासदों ने अपने-अपने आसन ग्रहण कर लिये। सर्वत्र अपार शान्ति छायी हुई थी। इस शान्ति को भेदते हुए एक स्वर उभरा–"महाराज विक्रमादित्य की जय हो ! सिन्धु-देश का दूत सादर प्रणाम निवेदन करता है, श्रीमान् !"

महाराज ने अपनी शाश्वत प्रसन्नचित्तता के साथ मुस्कराते हुए कहा–"स्वागत है .... सिन्धु-देश के दूत का मालव-देश हार्दिक अभिनन्दन करता है ....। हमे, हमारी राजसभा में मित्र-नरेश राजेश्वर शंखपाद के दूत को पाकर बड़ी प्रसन्नता है। कहो, तुम्हारे आगमन का प्रयोजन क्या है?"

"श्रीमानेश्वर ! आपका और मालव-देश का स्नेह और मैत्री भाव पाकर सारा सिन्धु-देश स्वयं को धन्य अनुभव करता है। अवन्ती के नवीन और चमत्कारपूर्ण सिंहासन की बडी प्रशंसा सुनी थी। जी में ललक उठी थी कि एक वार उस अद्‌भुत सौन्दर्य के दर्शन से अपने नेत्रों को शीतल कर लॅू। और शीघ्र ही वह अवसर भी मिल गया। जिस राज्य का ऐसा अलौकिक सिंहासन हो–वह राज्य भी धन्य है और वहॉ का राजा भी धन्य है। मैं तो दूत हॅू, राजाधिराज ! अपने स्वामी का संदेश लेकर उपस्थित हुआ हूँ मालवाधिपति की सेवा में।" यह कहते हुए दूत ने अपने कटिबंध से पत्र निकाला और वह महाराज की ओर अग्रसर हुआ ही था कि महाराज का संकेत पाकर वह महामात्य भट्टमात्र की ओर मुड़ गया। भट्टमात्र ने पत्र ग्रहण किया और आदेश पाकर उच्च्च स्वर में उसका वाचन आरम्भ किया–

"मालवाधिपति महाराज विक्रमादित्य को सिन्धु-देश के नरेश्वर शंखपाद का प्रणाम स्वीकार हो। हमने सुना है कि आपने एक अद्‌भुत सिंहासन की भेंट एक कलाकार से स्वीकार की है। हमने उस सिंहासन के विषय में वड़ी प्रशंसाएॅ सुनी हैं। आश्चर्य है कि आपने हमारे विद्यमान होते हुए भी यह भेंट स्वीकार कर ली।

सिन्धु-देश की राजसभा के समक्ष अवन्ती की राजसभा की भला गणना ही क्या है। ऐसा सिंहासन तो हमारी राजसभा की शोभा बढ़ाने योग्य है। आपने उस कलाकार को हमारी सेवा में न भेजकर भारी भूल की है। हम आपको अपनी भूल सुधारने का एक अवसर देते हैं। शीघ्र ही वह सिंहासन हमारे पास भिजवा दीजिये–इसी मे मालव-राज्य का भी हित है।'' वाचन करते हुए भट्टमात्र चुनौती की गंध पाकर सहसा रुके और तिरछी दृष्टि से महाराज की भाव-भंगिमा को ताडने का प्रयास करने लगे। महाराज के नेत्र आरक्त हो उठे थे, भौंहें कमान की भॉति वक्र हो उठी थीं। अपमान और अनादर की तीव्र प्रतिक्रिया को मन ही मन दमित करते हुए गम्भीर स्वर में आदेश दिया–''विराम न लो, महामात्य ! निर्भीक होकर आद्योपान्त सारा संदेश सुनाओ ! हम भी तो जानें कि ऊपर से मित्रता का आवरण चढाये नरेश शंखपाद हमारे विषय में वास्तव में क्या भाव रखते हैं। वाचन करो ····।'' महामात्य भट्टमात्र ने पुनः वाचन आरम्भ किया–

''हम यह सिंहासन आपसे निःशुल्क रूप में हथिया लेना नहीं चाहते। आपने जितना धन इसके लिए दिया है, उसका बीस गुना धन हम आपको देंगे। इसके अतिरिक्त तीस हाथी, तीन सौ श्रेष्ठ अश्व और तीन सौ ही सुन्दर दासियों का समूह भी आपको भेजा जायेगा।''

''प्रत्येक स्थिति में वह सिंहासन अब हम अपने अधिकार में करना चाहते हैं। यदि यों आपने सिंहासन नहीं भिजवाया तो हम शक्ति से उसे हस्तगत कर लेंगे। क्षत्रिय अपनी कामना कोई भी अपूर्ण नहीं रखता। उसकी पूर्ति के लिए वह प्रत्येक सम्भव मार्ग अपनाने को तत्पर रहता है। आशा है आप रक्तपात के लिए हमें विवश नही करेंगे और सिंहासन हमें तत्काल भेज देंगे। यही मैत्री-निर्वाह का मार्ग है–इति।

–सिंधुपति शंखपाद''

संदेश का वाचन समाप्त कर महामात्य भट्टमात्र महाराज विक्रमादित्य का मुख निहारने लगे। सभा में सन्नाटा छा गया। शूरवीरों का रक्त खौलने लगा। दूत अवन्तीनाथ की प्रतिक्रिया जान लेने को व्यग्र हो उठा। इन दो ही क्षणों में महाराज ने अपने विचारो को संकलित किया, उत्तेजना को नियंत्रित किया, स्थिरता धारणकर गम्भीर वाणी मे उन्होंने कथन किया–

''सिन्धु-देश के दूत, हमने तुम्हारे स्वामी का संदेश सुना, ध्यान लगाकर सुना और उनकी भावना को भलीभॉति समझ लिया है। तुम्हारे स्वामी कैसे क्षत्रिय हैं ! एं····? वे भूल तो नहीं गये कि क्षत्रियत्व कैसा होना है ! जो भी हो ···· किन्तु हम सच्चे क्षत्रिय हैं। वस्तुओ का क्रय-विक्रय कर लाभ में धनार्जन करना तो वणिको का व्यवसाय होना है। क्षत्रिय ऐसे लोभ में जिस दिन पडेगा, उसकी

मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा, स्वाभिमान–सभी-कुछ संकट से घिर जायेगा। आन-बान ही तो राजपूती शान है। अपने स्वामी सिन्धुपति महाराज से उत्तर मे निवेदन कर देना कि अवन्तीपति क्षत्रिय नरेश हैं, आप-जैसे सौदागर नहीं हैं।" महाराज उत्तेजनावश किंचित् कम्पित हो रहे थे, पर सायास आत्म-नियंत्रण कर रहे थे। दूत अपने स्वामी की निन्दा सुनकर भीतर-ही-भीतर उद्विग्न हो रहा था। महाराज ने दो क्षणो के विराम में अपने को पुनः संतुलित किया और कहा–"दूत ! हमें उनके सौदे का प्रस्ताव स्वीकार नहीं। आश्चर्य है कि हमें अपना मित्र मानते हुए भी उन्होंने ऐसा प्रस्ताव किया। यदि वे इस सिंहासन को अपने लिए चाहते ही थे तो हमसे याचना करते–हम सहर्ष भेंट कर देते। यह अद्भुत सिंहासन न तो क्रय-विक्रय की वस्तु है और न ही इसका मोल आँका जा सकता है। इसमें कलाकार का जो सौन्दर्य भाव और कौशल प्रयुक्त हुआ है–स्वर्ण-खण्डों से क्या उसका मूल्यांकन किया जा सकता है ! कलाकार की बारह वर्षीय साधना जो इसमें लगी है–क्या उसका .... नहीं-नहीं .... सिंहासन उच्च कोटि का एक कलात्मक सौदर्य है। हम भी इसे क्रय नही कर पाये–कर ही नहीं सकते थे। हमारे पास मे यह कलाकृति इसके रचनाकार की भेंट के रूप में धरोहर की भाँति है। इसे भेंट के योग्य समझकर निर्माता ने इसे हमें भेंट किया है। हम इस धरोहर की रक्षा करेंगे–कलाकार के विश्वास पर खरा उतरना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। सिंहासन अवन्ती की राजसभा में ही रहेगा।"

"श्रीमानेश्वर ! सिन्धुपति ने इस सिंहासन को हस्तगत करने की ठान ली है तो वे अपने मन की पूरी करके ही रहेगे। यदि उनका प्रस्ताव आपको अपर्याप्त लगता हो तो, कृपानिधान सकेतित कर दीजिये धनराशि बढा दी जायेगी। और यदि अन्य कोई वैकल्पिक मार्ग अपनाया जा सकता हो तो .... ।" दूत के कथन-मध्य ही महाराज आवेश के आवेग मे बोल उठे–"धन देकर तो कुबेर भी हमसे यह सिंहासन नही ले सकता, दूत ! हाँ .... अन्य विकल्प तो हो सकता है–अवश्य हो सकता है।" महाराज ने शान्त भाव के साथ कहा–"हम प्रातःकाल में प्रतिदिन याचको को दान देते हैं। यदि किसी दिन तुम्हारे महाराज उस समय उपस्थित होकर सिंहासन की याचना करे तो हम सहर्ष उन्हें यह सिंहासन दान में दे देगे। अवश्य ही दे देगे।"

"महाराज ! मै तो एक साधारण दूत हूँ .... क्या निवेदन कर सकता हूँ .... किन्तु सिन्धु-नरेश के लिए आपने जो कथन किया है वह अनादरपूर्ण है .... अपमानजनक है। अपमान करके आपने अच्छा नही किया .... इसका .... ।" दूत का कथन पुनः अपूर्ण रह गया। मालवाधिपति वीर विक्रम ने हस्तक्षेपपूर्वक कहा–

"अपमान तो तुम्हारे स्वामी ने मालव देश का किया है, दूत ! जब उन्होंने यह सोचा कि ऐसे अद्भुत सिंहासन के लिए अवन्ती की राजसभा योग्य-स्थान नहीं है।

हमारी राजसभा को हीन तथा अपनी राजसभा को उच्च और श्रेष्ठ मानकर जो कथन उन्होंने अपने संदेश में किया है उससे उन्होंने महान् मालव-देश की गरिमा और महिमा का ही तिरस्कार नहीं किया, अपितु स्वयं अपनी शालीनता का भी तिरस्कार किया है। मैत्री का मूल मंत्र समस्तरीयता में ही निहित रहता है, उसके अभिनय या कोरे प्रदर्शन में नहीं। कोई पक्ष अन्य की अपेक्षा स्वयं को उच्च स्तरीय या श्रेष्ठ मानकर भी मैत्री-निर्वाह करने का प्रदर्शन करे तो वह मित्रता की लता को उन्मूलित ही करता है—पल्लवित—पुष्पित नहीं।''

महाराज विक्रमादित्य ने अपनी स्पष्टोक्ति के उपरान्त विराम लिया। सारी सभा में अटल शान्ति छा गयी। इस गम्भीर वातावरण को और भी गहराते हुए तब महाराज ने कथन किया—

''प्रतीत होता है, सिन्धु-नरेश को अपनी शक्ति और वैभव का बड़ा दर्प हो गया है। अहंकार अवनति और विनाश का जनक होता है। विनय का मार्ग ही उत्थान के लक्ष्य की ओर मनुष्य को अग्रसर कर पाता है। इस पथ का पथिक ही सफलता के साथ-साथ महिमा की प्राप्ति भी करता है। हम तो मित्रों के हितैषी हैं। हम अब मित्र सिन्धु-नरेश के हित में ही उनके गर्व और अहं को नष्ट करना अनिवार्य मानते हैं। उन्होंने हमें युद्ध की चुनौती दी है—हम इसे स्वीकार करते हैं। शीघ्र ही हम समर भूमि में मिलेंगे और उनके अभिमान को नष्ट करेंगे। जाओ, दूत !··· जाओ और अपने स्वामी को हमारे भावों से अवगत करा दो। सिंहासन-प्राप्ति की लालसा का उत्तर अब हमारी तलवार ही उन्हें देगी।'' महाराज ने अत्यन्त शालीनता के साथ अपना कथन पूर्ण किया। दो राज्यों के मध्य उत्पन्न वैमनस्य ने दूत को विपक्षी तो बना दिया था, किन्तु विरोध पक्ष का होते हुए भी उसका मन महाराज विक्रमादित्य की शालीनता और गरिमा का भक्त हो गया था। दूत ने करबद्ध निवेदन किया— ''करुणावतार ! आपकी विवेकशीलता और प्रबुद्धता सभी के लिए अनुकरणीय होनी चाहिए। तो क्या आपका कथन आपका अपना अन्तिम निश्चय है? सन्देश के उत्तर में यही मैं अपने स्वामी से निवदेन कर दूँ···?''

''यही अन्तिम निश्चय है दूत !···· यही हमारा उत्तर है। तुम अपने स्वामी सिन्धुपति से कह सकते हो कि हमारी भेंट अब रणांगन में होगी ···· वहीं तलवारों की खनखनाहट में उन्हें उनका उचित उत्तर भी मिल जायेगा और सिंहासन कहाँ रहे—इसका निर्णय भी हो जायेगा।'' महाराज आन्तरिक आवेग के वशीभूत उठ खड़े हुए। सभा विसर्जित हो गयी। सर्वत्र अशान्ति और उद्वेग का वातावरण घनीभूत होकर छा गया।

× × ×

सिन्धु-देश की राजसभा में सन्नाटा छा गया। राजा शंखपाद को इतना क्रुद्ध कभी नहीं देखा गया था। अवन्ती से लौटकर दूत ने इस राजसभा में कहा था कि जितना कुछ हमने यहॉ उस अद्भुत सिंहासन के विषय में सुना था, वह तो उससे सहस्र गुना सुन्दर, भव्य और दिव्य है। उसने सभा को यह भी बताया कि स्वर्ण-निर्मित वह सिंहासन बहुमूल्य रत्नों से ऐसा जगमगाता है मानो आकाश में नक्षत्रों का समूह जगर-मगर कर रहा हो। जब अवन्ती-नरेश उस पर आरूढ़ होते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो असंख्य तारों के मध्य पूर्णिमा का चन्द्रमा अपनी समग्र दीप्ति के साथ जगमगा रहा हो। उनके आसीन होते ही सिंहासन में निर्मित वत्तीस पुतलियॉ अपने स्वामी का जय-जयकार कर उठती हैं और नृत्य-गान करने लगती हैं। अद्भुत ही नहीं वह सिंहासन तो अलौकिक और अपूर्व भी है, अनूठा और अविश्वसनीय-सा है। धन्य हैं अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य जो ऐसे दिव्य सिंहासन के स्वामी हैं। वे तो ऐसे प्रतीत होते हैं मानो इन्द्रासन पर स्वयं इन्द्र ही विराजमान हों। दूत के इस कथन में महाराजा विक्रम की प्रशस्ति का जो भाग था उसने राजा शंखपाद के मन में विद्वेष की प्रचण्ड अग्नि भड़का दी। उसी की ज्वालाएँ उसके रक्ताभ हो उठे नेत्रों में झलकने लगीं–"तू हमारा दूत है कि उस दुष्ट विक्रम का चारण है?" महाराज के सकोप वचनों से मात्र दूत ही नहीं समस्त सभा भयातंकित हो उठी–"स्पष्ट रूप में वता कि विक्रमादित्य ने हमारे संदेश का क्या उत्तर दिया? वह हमें वह सिंहासन देने को तत्पर है, या नहीं?" राजा शंखनाद के स्वर में रोष का आवेश अपने भीषण रूप में था।

"नहीं, महाराज ! अवन्तीनाथ अपना सिंहासन सिन्धु-राजसभा में भेजने को तत्पर नहीं हैं?"

"उसका इतना साहस ! क्या कथन है उसका?"

"वे कहते हैं, श्रीमान् ! कि मैं क्षत्रिय हूँ ···· वणिक् नहीं हूँ। लाभ देखकर अपने गौरवपूर्ण पदार्थो का भी विक्रय करना वणिको की वृत्ति होती है। महाराज विक्रमादित्य ने इसमे अपना अपमान भी माना है कि सिन्धु की राजसभा स्वयं को उस महान् सिंहासन के योग्य मानती है और अवन्ती की राजसभा को ऐसी भव्यता से हीन मानती है। उन्हें इस तिरस्कार से वड़ा आक्रोप हुआ और कहा कि हम किसी भी, उच्च से उच्च मूल्य के वदले भी सिंहासन नहीं देंगे।" साहसपूर्वक दूत ने स्पष्टोक्तियाँ कीं।

"हूँ ··· ।" अभिमान और रोष के साथ राजा ने भीपण हुँकार की–"तो वह हमे सिंहासन नहीं देगा ····। हम अवन्ती को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे ···· उसे कहीं का नहीं रखेंगे ····।"

"अवन्ती-नरेश ने यह अनुभव किया है, महाराज ! कि आपको अपनी सम्पदा पर गर्व है, अतः ऐसा प्रस्ताव आपने किया। और आपको अपनी शक्ति का भी अहंकार है, अतः आपने अपने संदेश में युद्ध द्वारा सिंहासन-प्राप्ति का संकेत दिया है। वे नम्रता को उत्थान का तथा अहंकार को पतन और विनाश का कारण मानते हैं और आपको अपना मित्र मानते हुए आपकी इस विनाश व पतन से रक्षा करना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने आपका घमण्ड चूर-चूर करने की ठान ली है।"—दूत ने कहा।

"अच्छा .... । तो वह हमारी कामनाओं का आदर न करके भी हमारा मित्र बने रहना चाहता है। हमारा हिताहित हम स्वयं भलीभाँति जानते हैं। हमारे हित-रक्षण के लिए हम स्वयं सक्षम है .... वह बेचारा ....। किन्तु क्या वह अवन्ती की रक्षा की बात सोचकर भी सिंहासन देने को सहमत न हुआ? क्यो आत्म-विनाश की भूमिका बना रहा है? क्या युद्ध के बिना और किसी प्रकार भी वह सिंहासन नहीं देगा? .... हम चाहते हैं कि अकारण निरीह जनता को राजा की भूलों और दुराग्रहों का दण्ड न भोगना पडे .... रक्तपात से हम बचना चाहते हैं .... यथासम्भव ....।"

"हे महाराज ! एक अन्य विकल्प भी है।"—दूत सहसा त्वरा के साथ बोल पड़ा, जैसे कोई भूली हुई बात प्रसंगवशात् स्मरण हो आयी हो—"अवन्ती-नरेश सिंहासन दे भी सकते हैं, किन्तु इसके लिए .... ।" दूत संकोचवश शीश झुकाकर मौन रह गया।

"किन्तु क्या, दूत ! तुम मौन क्यों हो गये? क्या है वह अन्य विकल्प? निर्भय होकर सारी बात साफ-साफ कहो।" महाराज ने आश्वस्त करते हुए धैर्य के साथ पूछा।

"वात वड़ी अशोभनीय है, महाराज ! अवन्ती-नरेश ने कहा है कि वे नित्य प्रातः याचको को दान दिया करते हैं। किसी प्रात· यदि आप याचकों की पंक्ति मे खडे होकर सिंहासन की याचना करे तो वे आपको अपने द्वार से निराश नहीं लौटने देगे।" इतना कहकर दूत ने अपना शीश ऊपर को उठाया तो पाया कि राजा शंखपाद क्रोध से तमतमा उठा है और रोष के आवेग मे वह थरथरा रहा है—"वस कर, दूत ! .... वस कर ....।" सिन्धु-नरेश अपने इस अपमान मे तिलमिला उठे। उनके नेत्रों से मानो ज्वालाएँ निकलने लगी। गर्जना करते मे वे वोले—"यह अभिमान समग्र मालव-देश को ध्वस्त कर देगा .... एक दिन। सिन्धु-देश अपने स्वामी को याचक वना डालने की कामना करने वाले को कभी क्षमा नहीं करेगा। अव उस देश की अशिष्टता स्वयं उसके विनाश का कारण वनेगी। यह राष्ट्रीय अपमान असह्य है और सिन्धुवासी इसे सहन नहीं करेगा।

प्रतिशोध .... प्रतिशोध .... प्रतिशोध की ज्वालाएँ हमारे भीतर धधक उठी है। महाविनाश की यह जिह्वाएँ मालव-देश को लील जाने को लपलपा रही है। प्रतिकार का एक ही विकल्प शेष रह गया मेरे वीर सामन्तो ! .... एक ही मार्ग शेष रह गया है–युद्ध। आज फिर राष्ट्रीय गौरव की रक्षा के लिए हमे बलिदान का अवसर मिला है। आइये हम प्राण-पण से इसकी रक्षा का उद्यम करे।'' सिन्धुराज के स्वर में ऊर्जस्विता और जोश उत्तरोत्तर अभिवर्धित होता जा रहा था। उनके मन का दर्प वीर विक्रम के प्रहार से आहत सर्प की भाँति बल खाने लगा था। महाराज का क्षण-प्रतिक्षण उन्नत-अवनत होता वक्ष इसका साक्षी था। उनके प्रकम्पित नासापुट एवं वक्र भौहें इसके प्रमाण थे।

इसी समय महामात्य ने बागडोर सँभालते हुए कथन किया–''यथार्थ ही विचार है श्रीमानेश्वर का। हम सभी सभासद आपके विचार का मनसा-वाचा-कर्मणा अनुमोदन करते हैं। सिन्धु की धरती उसके गौरव का आप-जैसा रक्षक पाकर धन्य हो उठी है। मालवराज को उनके इस अभद्र व्यवहार का परिणाम मिलना ही चाहिए, ऐसी सीख मिलनी चाहिए कि भविष्य में वे ऐसी अशिष्टता अन्य किसी राज्य के साथ करने का भी दुस्साहस न कर पायें।'' महाराज शखपाद इस अनुमोदन से तुष्ट प्रतीत होने लगे। वे विमुग्ध भाव से महामात्य का मुख जोहते रह गये। इसी समय प्रधान सेनापति अपने आसन से उठ खड़े हुए और महाराज का ध्यान उनकी ओर लग गया। वे बोले–''पृथ्वीनाथ का निर्णय सर्वमान्य है, देव ! शिरोधार्य है। यदि आप यह निश्चय न भी करते तो सिन्धु का सैन्य आपसे ऐसा करने का अनुरोध करता, श्रीमान् ! हमारा एक-एक महारथी, एक-एक भट्ट प्रतिशोध के लिए कसमसा रहा है। मातृभूमि के मान की, सम्मान की रक्षा के लिए यदि प्राण भी न्योछावर करने पडे तो हममे से कोई पीछे नही रहेगा। आप युद्ध का आदेश करे–आक्रमण का निर्देश प्रदान करे। हम उछलकर अवन्ती पहुँचेंगे और वह राज-सिंहासन हस्तगत कर लेंगे। हमारी शिराओ मे रक्त का प्रवाह तीव्रतर होकर हमे इसके लिए उमंगित करता जा रहा है।'' प्रधान सेनापति ने कथन पूर्ण करते-करते सादर शीश झुका लिया।

राजसभा मे वातावरण अति गम्भीर हो उठा। सर्वत्र एक विचित्र सन्नाटा छा गया जो किसी उत्तेजना की भूमिका प्रतीत होने लगा था। इस अबोध-सी शान्ति को चीरते हुए सभा के पृष्ठ भाग से एक स्वर उभरा–''सिन्धु-देश की .. जय हो .... महाराजश्री की .... जय हो !'' उतावले मे समस्त सभासदो ने समवेत स्वर मे अनुसरण किया और सभा-भवन एक अपूर्व उत्साह से भर उठा। हाथ उठा-उठाकर उच्च स्वरो मे उपस्थित जन यह जयघोष बार-बार करते रहे। इस स्वर-सरिता मे महाराज का हृदय-कमल खिल उठा। अपना हाथ उठाकर उन्होने सभी को शान्त हो जाने का सकेत किया। उस अनुशासित सभाजन ने अपने शासक का संकेत ग्रहण

कर भी लिया, किन्तु अपने उद्दाम उत्साह पर आत्म-नियंत्रण भी इतना सुगम नहीं होता—जैसे द्रुतगामी अश्व वाल्गा का संकेत पाकर भी तत्क्षण ही थम नहीं पाता, दो-चार चरण के उपरान्त ही विराम लेता है और तब भी कुछ क्षण वह आगे बढ़ने को मचलता-सा प्रतीत होता है, अपने सशक्त पैर पटकता रहता है। ऐसे ही अश्वारोही की भाँति महाराज शंखपाद भी सभा को नियंत्रित कर पाये। अपने मन की भावना को राजसभा के दर्पण की इस छवि में साकार पाकर वे अतिशय हर्षित थे। इस हर्ष की हिलोर में चंचल हो उठे। महाराज वेग के साथ अपने आसन से उठ खड़े हुए और अपने वचनों में अतिरिक्त उत्साह घोलते हुए बोले—"सिन्धु-देश के वीर देशभक्तो! हमें आपसे यही आशा थी। इतिहास साक्षी है—इस धरती ने कभी अपनी कामना को अपूर्ण नहीं छोड़ा है। चाहे इसके लिए कितना ही और कैसा भी मूल्य अपेक्षित हो गया हो। अपनी इच्छा की पूर्ति के पश्चात् ही यह देश गौरव के साथ शान्ति की साँस ले सका है। आज की पीढ़ी ने उसी आन को मान दिया है। आप लोगों का यह उत्साह सारे देश का, जन-जन का उत्साह है। बत्तीस पुतलियों वाला वह सिंहासन सिन्धु-देश का होकर ही रहेगा। दानशीलता के अभिमानी मालव-नरेश से हम उसे छीनकर ले आयेंगे। भुज-बल ही स्वामित्व का निर्धारण करता है और हमारा अपार बल उस पर अपना अधिकार स्थापित करके ही रहेगा। मालव-नरेश ने सिन्धुपति की जो अवमानना की है, सिन्धु-देश का जो अपमान किया है, रक्त की एक-एक बूँद अर्पित करके भी हम उसका प्रतिकार करेंगे। प्राण से भी पहले जो मान की रक्षा को महत्त्व देता है, उसी का जीवन सार्थक होता है। गौरवहीन होकर जीना भी कोई जीना है। उठो, मेरे शूरवीरो ! उठो .... अवन्ती चलो .... चलो अवन्ती।"

"अवन्ती चलो .... चलो अवन्ती" के घोष से सभा अनेक क्षणो तक गूँजती रही। उमंग और उत्साह का मानो सरोवर ही हिलोरें लेने लगा था। सभासद चंचल हो उठे थे और बड़ी कठिनाई से अपने को आसनों पर स्थिर कर पा रहे थे। उनके चरणों में अद्भुत वेग मचलने लगा था—अवन्ती को प्रस्थान के लिए।

"हम आपकी वीर भावना और आत्म-गौरव का आदर करते हैं .... आपने आज जो देश-प्रेम दिखाया हम उसके प्रशंसक हैं। आपका यह उत्साह .... अवश्य ही यह भी प्रशंसनीय है। अवन्ती पर आक्रमण अव सर्व निश्चित है किन्तु उसके लिए समुचित योजना और तैयारी भी अपेक्षित है। आतुरता तो शक्ति का ह्रास करती है, विवेक उसे सार्थक भी करता है और अभिवर्धित भी। युक्ति के साथ प्रयुक्त शक्ति ही वांछित रूप में फलदायी होती है। तनिक धैर्य रखिये। उचित समय पर आपकी आकांक्षा पूर्ण होगी, प्रधान सेनापति जी !" महाराज शंखपाद ने आदेश दिया—"चतुरगिणी सेना सज्जित की जाय। आज के एक पखवाड़े पश्चात हम अवन्ती पर आक्रमण हेतु प्रयाण करेंगे।"

इस घोषणा ने राजसभा के उत्साह-सरोवर को पुनः तरंगित कर दिया। करतल ध्वनि और जयघोष के मध्य राजा शंखपाद ने राजसभा से प्रस्थान किया। सभा विसर्जित हो गयी।

अति उत्साहित सभासद राजसभा-भवन से बाहर आने लगे। उनका देश-प्रेम और रणोत्साह अब भी मन्द न हो पाया था। उनके पारस्परिक वार्त्तालाप के विषय इसके परिचायक थे। कोई अवन्ती के महाविनाश के सन्निकट होने की चर्चा करता था तो कोई अन्य सिन्धु-गौरव और शक्ति की उच्चता का बखान। कोई उस अद्‌भुत सिंहासन को सिन्धु आ ही गया मानता था तो कोई महाराज विक्रमादित्य के विचित्र व्यवहार पर टिप्पणी करता था। एक व्यक्ति सभी के पीछे-पीछे सर्वथा शान्त भाव से चलता आ रहा था। वह मौन रूप में सभी के कथनों का श्रमण कर रहा था और अपनी मुखाकृति को शून्य-पत्र की भाँति सर्वथा प्रतिक्रिया-शून्य बनाये हुए था। कोई भाव उसकी मनोदशा का परिचय देने को नहीं था। स्वयं को उसने ऐसा गौण बना लिया था कि किसी का ध्यान उसकी ओर नहीं जा रहा था। बाहर आकर यह व्यक्ति दो क्षणों को शान्त भाव से खड़ा रह गया और बड़ी सतर्कता के साथ चारों ओर निहारकर एक दिशा की ओर धीमे-धीमे बढ़ गया। चलते-चलते उसकी गति में क्रमशः तीव्रता आती रही। वह जनशून्य क्षेत्र में पहुँच गया था जहाँ एक क्षण रुककर उसने तनिक कुछ ताड़ लेने का प्रयत्न किया और आश्वस्त होकर वह तीव्र गति से पुनः आगे बढ़ गया। राजधानी से जुडा यह शून्य-पथ वन की ओर ले जाता था। दोपहर होते-होते वह वन के उस भाग में पहुँच गया जहाँ उसका अश्व उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसने अश्व को बंधन-मुक्त किया, थपकी देकर अश्व को तुष्ट किया। स्नेहपूर्वक उसकी गर्दन पर हाथ फिराया, उसके मुख को सहलाया और वह मूक प्राणी अपने स्वामी का यह स्नेह पाकर जैसे निहाल हो उठा। अपनी पीठ थरथराकर और कनौती फटफटाकर उसने अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की और हल्के-से हिनहिनाकर अश्व ने अपने स्वामी को आरूढ हो जाने का आमंत्रण दिया तथा यात्रा के लिए तत्परता प्रकट की। अनुकूल अवसर देखकर वह व्यक्ति अश्वारूढ हो गया और एड़ लगाकर प्रस्थान का संकेत किया। कृतज्ञ अश्व लपककर आगे वढा और आरम्भ से ही गति में तीव्र हो गया। सबल अश्व अवन्ती के मार्ग पर बढता चला गया अथक रूप में, अविराम रूप में यह यात्रा चलती रही .... चलती रही .... । अवन्ती का यह गुप्तचर सूचनाओं का कोष लिए, अपनी सफलता के संतोष के साथ अवन्ती के समीपतर होता चला जा रहा था।

● ●

अवन्ती के राजभवन का मंत्रणा-कक्ष गम्भीर–अति गम्भीर मुद्रा में महाराज वीर विक्रमादित्य अपने आसन पर विराजित अपलक दृष्टि से दीपक की अकम्प लौ की ओर निहारे जा रहे थे। वे एकाग्र मन से महामात्य भट्टमात्र का कथन सुनते जा रहे थे–"श्रीमानेश्वर ! रणनीति राजनीति से कुछ भिन्न हुआ करती है। शत्रु को उस समय धर दबोचना चाहिए जब वह असावधान हो.... जब.... जब.... उसे आक्रमण की आशंका न हो, अथवा जब वह समझता हो कि आक्रमण का समय तो अभी दूर है।"

"सत्य है, भट्टमात्र !.... सर्वथा सत्य है तुम्हारा कथन।" सहमति सूचक सिर हिलाते हुए वीर विक्रम ने कहा–"अभी तो शंखपाद को यह विश्वास है कि वे हम पर सहसा आक्रमण करेंगे। उनके युद्ध की मंशा को हम जानते हैं–वे तो इससे भी अनभिज्ञ हैं। गुप्तचर के अनुसार तो शंखपाद हम पर एक पखवाड़े में आक्रमण की योजना वना रहे हैं। हमें उससे पूर्व ही....।"

"यही उचित होगा, महाराजश्री ! वे योजना की क्रियान्विति आरम्भ करें, उससे पूर्व ही हमें आक्रमण कर देना होगा। उनकी वह अनवधान स्थिति हमारे लिए अत्यन्त हितकर होगी। वे मालव का शिकार करना चाहते हैं और स्वयं शिकार हो जायेंगे।" भट्टमात्र अति उत्साहित थे। बोले–"जव तक वे अपना सैन्य-संगठन भी पूर्णतः नहीं कर पायेंगे–हम जा धमकेंगे। अचकचाकर ही रह जायेंगे वे।"

"सत्य है, महामात्य !... यही ठीक रहेगा। इससे बढकर विजयप्रदा रणनीति और कोई अन्य हो ही नहीं सकती कि शत्रु को आत्म-रक्षा के लिए विवश कर दिया जाय, वह अपने वचाव में ही इतना संलग्न हो जाये कि घात लगाने का उसे अवसर ही नहीं मिले, उसके सारे दॉव और सारा वल धरा का धरा रह जाये।" महाराज ने अव कुछ सहज होते हुए भट्टमात्र की ओर ताका और सतोष भरी एक दीर्घ श्वास ली। आत्म-आकलन की मुद्रा मे उनके नयन अर्द्ध-निमीलित से हो गये और सहसा उनका चिन्तन मुखर हो उठा–"महामात्य ! इस प्रकार तो हमें अविलम्ब ही सैन्य-सगठन मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए। हम नही सोचते कि इस अभियान में हमें अधिक वल प्रयुक्त करने की आवश्यकता होगी....।"

"नही..... नही.... महाराज ! विजय की आश्वस्तता का आधार यही रहा करता है कि शत्रु को कभी दुर्वल और तुच्छ न समझा जाय और उसी के अनुरूप समर नीति भी गठित की जाय और उपक्रम भी किया जाय। कुशल आखेटक भी

जब हरिण का आखेट करने को भी वन मे जाता है तो अपने संग सिंह के योग्य शस्त्रास्त्र लेकर जाता है।'' रहस्य के उद्‌घाटन की भंगिमा में जब भट्टमात्र ने यह कथन किया तो महाराज ने दो-तीन बार सहमति के आशय मे मस्तक हिलाया और गम्भीर स्वर में बोले–''ऐसा ही .... ऐसा ही होना चाहिए, मित्र ! ऐसा ही किया जाय। भोर में तुम सेनापति को हमारे पास भेज दो।'' महाराज ने इतना कहा और आसन त्यागकर उठ खड़े हुए। भट्टमात्र भी उठे, उन्होंने महाराज से विदा ली और मंथर गति से प्रस्थान कर दिया।

× × ×

अश्वों की टापों से पथ की धूल ऊँचे आकाश में ऐसी भर गयी कि ग्रीष्म की वह तपती दोपहरी भी उषाकाल-सी चम्पई लगने लगी थी। मालव-देश का विशाल सैन्य जब समर-भूमि को प्रयाण करता था तो ऐसा ही होता था। उस विशाल धूलि-आवरण मे प्रचण्ड सूर्य भी हततेज और द्युति मन्द होकर चन्द्र-सम शीतल हो जाया करता था। दुंदुभियो और भेरियों के तुमुल नाद से महाराज विक्रमादित्य की यह विशाल सेना अद्‌भुत उत्साह ग्रहण कर रही थी। तलवारों की चमक उस सघन धूलि की मेघमाला में विद्युत्-सी दिखायी देती थी। वीर सुभटो की हुँकारे पारस्परिक उत्साह को उच्च से उच्चतर करती जा रही थी। वे तत्क्षण ही शत्रु के समीप पहुँच जाने की आकांक्षा मे तीव्रतर होते जा रहे थे। उत्कट लगन थी कि कव विरोधी पक्ष मिले और कब संहार-लीला आरम्भ हो। इसी त्वरा में उनकी आवरण-मुक्त असियाँ हवा में लहरा उठतीं, तीर तरकस मे कसमसाकर रहे थे। अश्वो की हिनहिनाहट और हस्तियों की चिंघाड से सारा वातावरण गुंजायमान हो रहा था। मालव-देश की यह चतुरंगिनी सेना शौर्य और पराक्रम को अपना साथी वनाये सिन्धु-देश के मार्ग पर सोत्साह अग्रसर होती जा रही थी। क्षण-प्रतिक्षण दूरियाँ घटती और विजयोल्लास तथा वलिदान भावना वढती जा रही थी। इस वीर रस के अनुपम प्रवाह के लिए मार्ग की कोई वाधा प्रतिरोध नहीं कर पा रही थी। खाई-खदक, नदी-नाले, चट्टान-पर्वत सभी सहल होकर इसे मार्ग देते जा रहे थे। इस विजय अभियान का नेतृत्व कर रहे थे स्वय महाराज विक्रमादित्य। वे ही अपने चंचल और वलिष्ट अश्व पर अग्रतम थे। उनके पीछे थे मालव-देश के महावलाधिकृत और उनके भी पीछे युद्ध-कला निष्णात चार सेनानायक अश्वारूढ होकर चल रहे थे। लगता था जैसे साक्षात् सूर्यदेव ही वीर विक्रम के रूप मे धरती पर उतर आये हो। उनका प्रचण्ड तेज आज सहस्र गुणा हो गया था। वलिष्ट भुजाओ मे दृढता के साथ थमी उनकी तलवार तो मानो प्रलयकारी हो उठी थी। उनके तमतमाये मुख-मण्डल मे वीर भावना साकार हो उठी थी। उनके दीर्घ नयन पूर्णतः विकसित होकर आत्म-विश्वास की अपूर्व ज्योति प्रसारित कर रहे थे। अपनी असि को आकाश मे ऊपर उठाकर महाराज ने स्वयं जयघोष किया–

"मालव-देश की.... " और प्रत्येक योद्धा पागल-सा चिल्ला उठा—"जय हो.... जय हो।" हाथियों की गति बढ़ गयी, अश्वों की त्वरा में अद्‌भुत ऊर्जस्विता घुल गयी। जयघोष की पुनरावृत्तियाँ चलती रहीं। मनोबल उच्च से उच्चतर होता चला गया, युद्धोन्माद गहराता चला गया और बड़ी देर तक यही क्रम रहा। तुरही और नक्कारों का उत्तेजक निनाद तो धमनियों के भीतर रक्त-प्रवाह को अनियंत्रित-सा बना रहा था। महाराज से यह प्रभार तब महाबलाधिकृत ने ग्रहण किया और उच्च स्वर में घोष किया—"मालव-देश महान् है....।" और एक विराट् गूँज हुई—"विजय हमारी शान है....।"

"मालव-देश महान् है...."

"यही हमारा मान है....."

"मालव-देश की.... "—"जय हो.... जय हो...."

"महाराज वीर विक्रम की.... "—"जय हो.... जय हो...."

यों ही अभिमान बढ़ता रहा—उत्साह की ऊँचाइयाँ चढ़ता रहा—महान् विजय के स्वप्नों को गढ़ता रहा—और मातृभूमि का मुकुट कीर्ति-मणियों से मढ़ता रहा। सहसा ही सैन्य-सरिता के इस प्रवाह में गत्यावरोध आया। महाराज विक्रमादित्य अपना अश्व मोड़कर अपने शूरवीरों के समक्ष हो गये और उच्च स्वर में सम्बोधन प्रदान किया—

"मेरे साहसी सूरमाओ, सुनो !" समस्त कोलाहल थम गया। उद्दाम अश्व भी एक बार को अपने पिछले पैरों पर खड़े होकर रुके और इस अयाचित विराम से कुछ अचकचाये भी, किन्तु आगामी क्षण ही शान्त भाव से स्थिर हो गये। इस विशाल समूह में भी नीरव शान्ति छा गयी। महाराज ने अपना कथन आरम्भ किया—

"अब हम सीमा पर पहुँच गये हैं। यह सन्ध्या वेला दिवस और रात्रि का सीमा-स्थल है। अब हम विराम लेंगे। यहीं रात्रि विश्राम करेंगे। हम एक अन्य सीमा पर भी पहुँच गये हैं।—मालव और सिन्धु-देश की सीमा पर। इस सीमा की रक्षा के लिए मालव-वीरों ने अनेक बार अपने प्राणों की आहुति दी है। इस क्षेत्र को वीरों ने अपने रक्त से सींचा है और यह धरा तृप्त होकर विजय के पुष्पों से खिली रही है, कीर्ति के फलों से लदी रही है। हमारा गौरवपूर्ण इतिहास इसका जीवन्त साक्षी है।"

"आवश्यकता है उन गौरव-गाथाओं को स्मरण करके उनके अनुसरण की। हम शूरवीर हैं, शौर्य हमें उत्तराधिकार में पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त होता भी रहा है और अपने निजी पराक्रम से हर पीढ़ी उस प्राप्त शौर्य को अभिवर्धित करके ही

आगामी पीढ़ी को सौंपती रही है। हमारा साहस उत्कट है, हमारा मनोबल गगनचुम्बी है, हमारा पराक्रम निर्भीक और बलिदान निःस्वार्थ है। आज फिर से हमारे गौरव की रक्षा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। हम संकल्प लें कि प्राण-पण से हम इसकी रक्षा करेंगे। सत्य है कि हमारा शत्रु दुर्विनीत है, अहंकारी है, आत्म-प्रशंसक है, किन्तु हमें उसे इन्हीं स्वरों में उत्तर नहीं देना है। देश का मान तो रखना है, किन्तु मानवता के साथ। सत्य यह भी है कि हमारी शक्ति अत्यन्त बढ़ी-चढ़ी है, किन्तु हमें आवश्यकता से अधिक वल-प्रयोग कर आतंक स्थापित नहीं करना है। हमें ध्यान रहे कि हम देशभक्त वीर हैं, क्रूर आततायी नहीं हैं। हमारा लक्ष्य दर्प-दमन करना मात्र है—अत्याचार करना नहीं। मेरे शूरवीरो ! हमारा वैमनस्य राज्य से है, सिन्धुवासियों से नहीं। निरीह, निर्दोष जनता को उसके शासक के अपराध का दण्ड न भोगना पड़े—हमारा ध्यान इस ओर भी वना रहे, यह अत्यावश्यक है। न हमें सिन्धु-देश का धन चाहिए, न ही उसका कोई क्षेत्र। हम अपनी सीमा का विस्तार करने को नहीं आये हैं। राजा शंखपाद की भूल का उन्हें अहसास कराना, उन्हें सन्मार्ग पर ले आना ही हमारा प्रयोजन है। हमें उनका गर्व गलित करना है, दर्प-दमित करना है, अविनय को दूर करना है। निश्चय ही राजा शंखपाद को अपनी इन विशेषताओं में कोई दोष दृष्टिगत न होता होगा और इस कारण इनके विरोध के लिए वे प्रतिरोध भी करेंगे ही। दोनों सेनाएँ आमने-सामने होंगी। लोहे से लोहा बजेगा, घात-प्रतिघात होंगे। दोनों पक्ष अपनी-अपनी विजय के लिए लालायित भी होंगे। युद्ध में कोई अनीति अनीति नहीं होती, सब-कुछ औचित्य की सीमा में आ जाता है। विजय के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो कुछ भी किया जाय उसे उचित ही माना जाता है, किन्तु नहीं, हमें धर्म-युद्ध में प्रवृत्त होना है। युद्ध अपने पीछे कटुता और वैमनस्य का अजस्र स्रोत छोड़ जाते हैं, महाविनाश कर विकास के मार्गों को अवरुद्ध कर जाते हैं, नैतिकता का ह्रास कर जाते हैं। मानवीय सम्बन्धों और भावों को नष्ट कर जाते हैं, प्रतिशोध के अंगारे विखेर जाते हैं। एक युद्ध आगामी अनेक युद्धों की शृंखला निर्मित कर जाता है। ऐसे युद्ध अमानवीय विरोध मात्र होते हैं। मालव-देश की राजनीति में ऐसी लड़ाइयों के लिए कोई स्थान नहीं है।"

अपने शासक की इन पवित्र धारणाओं से प्रभावित सैनिकों के हृदय उनके भक्त वन गये। वरवस ही उनके मुखों से महाराज का जय-जयकार निकलने लगा। हाथ उठाकर महाराज ने सभी को शान्त करने की चेष्टा की और कुछ क्षणों के विरामोपरान्त वोले—"हमारे लिए युद्ध सत्य और मानवता के लिए किया गया संघर्ष है, आत्म-गौरव की रक्षा का उद्यम है। हमें गर्व है हमारे प्रत्येक सैनिक पर, उसकी उदात्त भावना पर। हमें गर्व है हमारे शौर्य पर, किन्तु अहंकार नहीं। हमें किसी को अकारण नीचा वनाकर स्वयं को उच्च सिद्ध नहीं करना है। हम तो

सभी का उत्थान चाहते हैं। मानवता की ऊँचाइयों से जो गिर गये हैं उन पतितो की उन्नति हमारा लक्ष्य है। वे अबोध यदि इसे अपना विरोध मानकर संघर्ष पर उतारू हो जाते हैं तो हमें उस संघर्ष का उत्तर मात्र देना है और उनकी सुषुप्त चेतना को जाग्रत कर देना है। इसीलिए हम इस नीतिपूर्ण संघर्ष को धर्म-युद्ध कहते हैं। युद्ध का भी अपना आदर्श होता है। हमें आदर्शविहीन नहीं होना है। और शूरो ! अन्तिम विजय शुभ की ही होती है, अन्तिम विजय आदर्श की नीति की, सत्य की ही होगी। विजय निश्चित है—मिलकर ही रहेगी। आत्म-विश्वास और पूर्ण शक्ति के साथ किये गये शुभ उद्यम कभी विफल नहीं होते। आवश्यकता श्रद्धा सहित शुभ प्रयोजनों की सच्ची साध की ही रहती है।''

क्षणिक विराम के पश्चात् महाराज ने घोषणा की—''आज का अभियान यहीं विराम लेगा। अपनी-अपनी तलवारों को उनके कोषों में प्रविष्ट करो। अश्वों, हस्तियों से नीचे उतर आओ। उन्हें भी विश्राम दो, स्वयं भी विश्राम करो और कल प्रातः अरुणोदय के समय सिन्धु की सीमा में प्रवेश के लिए नई ऊर्जा, नयी स्फूर्ति प्राप्त करो। जय मालव !''

मालव-सेना को इस सम्बोधन से नयी स्फूर्ति और चेतना प्राप्त हुई। महाराज की जय-जयकार के साथ उसने महाराज के आदर्शों को अंगीकार किया। पड़ाव लग गया। सारी व्यवस्थाएँ होने लगीं। सभी के मन में आत्म-विश्वास भी था और उल्लास भी। आदर्शों का आभास भी था और विजय की आस भी।

सिन्धु-देश की राजधानी में तो हड़कम्प ही मच गया। राजा शंखपाद ने जब अवन्ती-नरेश का सदल-बल आगमन सुना तो वे हक्के-बक्के रह गये। यह कैसे हुआ? युद्ध की चेतावनी तो हमने दी थी मालव-देश को। हमें आक्रमण करना था, इसके विपरीत हम तो आक्रान्त हो रहे हैं। हमारी तो अभी युद्ध की तैयारी आरम्भ ही हुई है। हम एक लक्ष सैनिकों का संगठन चाहते थे—अभी तो कठिनाई से कोई बीस हजार सैनिक ही जुट पाये होंगे। सहसा यह विपत्ति कैसे आ खड़ी हुई। हमारे सोचे हुए समय के अनुसार तो आक्रमण अभी कई दिनों बाद हमारी ओर से होना था। यह तो पासा ही पलट गया। मुसीबत जब तक न आये, तभी तक उससे डरते रहना, उससे बचाव का उपाय करते रहना चाहिए। जब वह आ ही जाय तो फिर उससे डरना मरने के समान है, फिर तो डटकर उसका सामना करने में ही बुद्धिमानी होती है। राजा शंखपाद ने अपने इस विचार के मर्म को समझा और तुरन्त मंत्रि-परिषद् आहूत किया। सभी पक्षों से गहन विचार-विमर्श के पश्चात् यही निश्चित हुआ कि अब एक क्षण भी व्यर्थ किये बिना सेना के संगठन को तत्काल अन्तिम रूप दे दिया जाय और शीघ्र ही प्रयाण कर मालव-सैन्य को बीच राह में कहीं रोका जाय। युद्ध तो अब अवश्यम्भावी है, युद्ध का सुपरिणाम भी हमारे ही पक्ष में रहेगा, किन्तु राजधानी से दूर ही कहीं युद्ध-स्थल रहे यह भी

आवश्यक है। युद्ध के विनाश की काली छाया से सिन्धु की प्रजा और राजधानी को वचाना अपेक्षित माना गया। तदनुसार ही योजना बनाई गयी। राजा शंखपाद के मन में भी आतुरता का विचलन अवश्य था, किन्तु प्रयत्नपूर्वक उन्होने उसे व्यक्त न होने दिया। वे चाहते थे कि सेनाधिकारियो और सेना का मनोवल गिरे नहीं। एक ही दिन मे सारी तैयारी पूर्ण कर ली गयी और आगामी दिवस ही कूच कर दिया गया। अब मालव और सिन्धु-देश की सेनाएँ एक-दूसरे की ओर वढने लगी थीं। दोनों में उत्साह था, दोनों में विजय की अभिलाषा थी, दोनो के साथ अतीत का गौरव और वर्तमान की आन थी। दोनो के लिए अपने-अपने देश की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। किन्तु एक के साथ मिथ्या दुराग्रह था तो दूसरे के साथ नैतिकता का आचरण। एक के साथ शक्ति का मद था तो दूसरे के साथ मानवीयता के उच्चादर्श। एक के साथ प्रतिपक्ष को नष्ट-भ्रष्ट कर देने की उत्कट कामना थी तो दूसरे के मानस मे आत्म-गौरव के रक्षण की चेतना। एक का संघर्ष हिंसक क्रूर कर्म था तो दूसरे का संघर्ष धर्म-युद्ध था। वास्तव मे यह युद्ध इन दो विपरीत प्रवृत्तियों का संघर्ष था। दोनों एक-दूसरे के विरोध के लिए एक-दूसरे के समीप होते चले जा रहे थे।

महाराज विक्रमादित्य अपनी सेना का नेतृत्व कर रहे थे तो राजा शंखपाद अपनी सेना का। दोनो अपनी-अपनी सेना को उत्साहित करते जा रहे थे। राजा शखपाद के कथन और स्वर मे मिथ्याभिमान भासित था तो वीर विक्रम के स्वर में सदादर्शो की सौरभ थी। दोनो सेनाएँ एक-दूसरे की ओर लपकी चली आ रही थी। आसन्न समर अव कभी भी आरम्भ हो सकता था। तभी राजा शखपाद ने कुछ दूरी पर गगन मे उडती धूलि को देखा और उन्हे आभासित होने लगा कि मालव-सेना अव समीप ही है। उन्होने अपनी सेना को वही थम जाने का आदेश दिया। समर-भूमि के लिए यह स्थल उनकी सेना के पक्ष मे सुविधाजनक था। समतल भूमि आसपास के पर्वतो—उपत्यकाओ से घिरी थी। यहाँ आत्म-रक्षा के लिए भी सुरक्षित स्थल अनुभव किया जा रहा था तो शत्रु-सेना को घाटी मे घेरकर संहार करने की भी सुविधा अनुभव की जा रही थी। कुछ समीप आने पर महाराजा विक्रमादित्य को भी सिन्धु-सैन्य दृष्टिगत हो गया। उन्होंने भी दूरी पर ही अपनी सेना को थाम लिया कि समरारंभ की नीति निर्धारित कर सकें, सन्तुलन स्थिर किया जा सके और सोच-समझकर युद्ध का व्यूह रचा जा सके। शत्रुओं को सामने पाकर दोनो पक्षो के योद्धा अति उत्तेजित होकर प्रहार के लिए उत्तेजित हो उठे थे। रस्से तुड़ाते बैलो की भाँति हो रहे इन योद्धाओं को बड़ी कठिनाई से रोका जा रहा था। तभी युद्ध की विभीषिका से चिन्तित महाराज विक्रमादित्य उदास हो उठे। भीषण नर-संहार और मिथ्या रक्तपात ही युद्ध का भीषण परिणाम होता है। कोई भी समस्या युद्ध से हल नहीं होती। युद्ध का उन्माद उतर जाने पर

बातचीत से ही निदान तक पहुँचा जा सकता है, फिर जब प्रत्येक युद्ध का अन्त किसी समझौते के रूप में ही होना है तो वह पारस्परिक सहमति युद्ध के पूर्व ही क्यों न हो जाये। शान्तिप्रिय वीर विक्रम के इस रचनात्मक दृष्टिकोण ने उन्हें वार्त्ता के लिए प्रेरित किया। युद्ध का विनाशक उपक्रम टल सके तो अति उत्तम है। क्यों व्यर्थ में जन-धन की हानि हो। महाराज वीर विक्रम ने तब स्वयं इस दिशा में पहल की। वे अपना अश्व तेजी से आगे बढ़ाते हुए सिन्धु-नरेश के समक्ष अकेले ही पहुँचे। सविनय प्रणाम करते हुए उन्होंने कहा—"सिन्धु-नरेश ! रणभूमि भी है और दोनों प्रतिपक्ष भी एक-दूसरे के समक्ष युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़े हैं। एक संकेत की प्रतीक्षा है—सिन्धु-देश की यह धरती रक्तस्नाता हो उठेगी। रणचण्डी मदोन्मत्त होकर नाच उठेगी। महाविनाश को दिया जाने वाला एक खुला निमंत्रण ही होता है—युद्ध। इसे आप भी जानते हैं, सभी जानते हैं। किसी भी समाधान का साधन युद्ध न होगा.... समाधान हृदय से ही सम्भव है भुज-बल से नहीं। रोको, नरेश ! इस युद्ध को रोको और... ।"

"अवन्ती-नरेश ! युद्ध में जो होता आया है, वही तो होगा। उससे भिन्न न सम्भव है न वांछित है। तुम भी तो यह सब जान—समझकर सेना लेकर सिन्धु पर चढ़कर आये हो। अब हमारा अतुलित बल देखकर भीत मृग की भाँति काँप क्यों रहे हो। क्यों भीरुता का परिचय दे रहे हो। युद्ध रोकने का अब प्रश्न ही कहाँ शेष रह जाता है। अब इसकी कोई सम्भावना नहीं, अब तो लोहे से लोहा टकराकर ही रहेगा....।" सिन्धुपति राजा शंखपाद ने कहा। उनका कथन अभी समापन पर आया भी न था कि उत्साहित होकर वीर विक्रम बोल उठे—"सम्भव है, नरेश ! सम्भव है। हार्दिक कामना के साथ होने वाली चेष्टा के समक्ष हर असम्भव भी सम्भव हो जाता है। सुनिये, तनिक ध्यान से सुनिये। जनहित में बड़े-बड़े त्याग करने पड़ते हैं। यदि आप बत्तीस पुतलियों वाले सिंहासन का मोह त्यागकर अपना आग्रह छोड़ दें और उसकी प्राप्ति के लिए आपने मालव-देश को युद्ध के लिए ललकारा है, हमारे मान को आहत किया है—उसके लिए क्षमा-याचना कर लें तो युद्ध की भीषण स्थिति अब भी निरस्त हो सकती है।"

त्वरा के साथ उत्तेजित स्वर में राजा शंखपाद ने उत्तर में कहा—"असम्भव है, राजन् !.... यह असम्भव है। इस असम्भव से तुम अन्य असम्भव को सम्भव बनाने की राह दिखा रहे हो। हम शक्तिशाली हैं—हम .... और क्षमा-याचना करें.... सम्भव नहीं यह। हमने सोच-समझकर ही सिंहासन की अपेक्षा की है—वह अब भी बनी हुई है। हम तो सिंहासन लेकर ही रहेंगे। यदि तुममें शक्ति हो तो उसे रोक लो अपने पास ! तुम तो रण-भूमि में आकर भी तलवार के स्थान पर जीभ चला रहे हो। वाचालता छोड़ो और दिखाओ अपना शौर्य, जिसके बल पर सेना लेकर सिन्धु पर चढ़ आये हो।"

"राजन् !.... राजन् !! आप इसे चाहे वाचालता ही कह दें, किन्तु मानवता का मार्ग यही है—रक्तपात और हिंसा नही....।"

"हम न सिंहासन की याचना कर सकते हैं, न क्षमा की। हम वीर हैं, हमारा यही क्षात्रधर्म है कि शत्रु को उसकी ईंट का उत्तर पत्थर से दें।" राजा शंखपाद रोष से भर उठे—हम और भला तुमसे क्षमा माँगें.... !!"

"न सही, क्षमा न सही.... आप राजन् ! अपने उस व्यवहार के लिए खेद ही प्रकट कर दें। हमारा परितोष उसी से हो जायेगा। मालव के तन पर लगा आपकी जीभ का घाव इससे भी कुछ भरने लग जायेगा। रहा प्रश्न शत्रु को उत्तर देने का.... सो नरेश ! आप हमें अपना शत्रु मान सकते हैं, किन्तु हमारे लिए शत्रु कोई नहीं। आप भी नहीं हैं। हम तो आपका.... सिन्धु-देश का शुभ चाहते हैं—भला, फिर हम परस्पर शत्रु कैसे हुए !"

"क्यों खुशामद करने पर तुले हुए हो, अवन्ती-नरेश ! अव मुख बन्द करो और तीर-तलवारों को बोलने दो। तलवारों की झनकार ही जय-विजय का निर्णय करेगी अब तो।"

"वह सिंहासन किसके पास रहे.... इस अधिकार का निर्णय.... आपका अर्थ है कि तलवारें करेंगी? ये निर्जीव लौह-खण्ड इस यथार्थ को स्थापित करेगे और हम सचेतन उसे ही स्वीकार करेंगे। यह तो जिसकी लाठी उसकी भैस वाली वात ही हुई ना ! भला, इसमे क्या औचित्य है? राजन् ! हम मनुष्य हैं, विवेक का वरदान हमे प्राप्त है, हम विचारशील है। हमे मनुष्यता का मार्ग अपनाना चाहिए। अपना दुराग्रह छोडिये। जो कुछ हुआ उस पर अनुताप करना ही श्रेयस्कर है, फिर आप अपनी सेना सहित अपनी राजधानी लौट जाइये और हम भी अवन्ती की ओर मुड जाते हैं। यह भीषण नर-संहार टालिए, व्यर्थ की आन के लिए अकारण रक्तपात के पाप से वचिये, यही परामर्श है हमारा।" राजा वीर विक्रम ने अन्तिम प्रयास किया।

किन्तु राजा शखपाद का दर्प इस मर्म को समझ न पाया। वे वोले—"अव अन्य कोई विकल्प नही, सिहासन हम लेकर रहेगे। तुम्हारी शक्ति हो तो उसे अपने पास वचा लो, राजन् ! आज इस युद्ध में तुम अपना सिंहासन भी खो दोगे और अपना सुनाम भी। यही होना है और होकर रहेगा।" राजा शंखपाद के क्रूर और दीर्घ अट्टहास से दिशाएँ प्रकम्पित हो उठीं।

"फिर जैसी आपकी इच्छा, राजन् ! हमने अपना धर्म निभाया। हमने कहा—"आप हमारे शत्रु हो—ऐसा नहीं मानते हैं हम। आपके हित को हमने सर्वोपरि माना है। आपको पाप से बचाने का हमारा प्रयत्न था, आपके दंभ को दूर करने का हमारा प्रयत्न था। यह शान्तिपूर्ण प्रयत्न सफल होता तो श्रेयस्कर था। आपके अविनय को दूर करना हमारा लक्ष्य है—अन्य प्रकार से ही सही—पान करने को

कामना तो हमारी अभी भी बनी हुई है। और यह कामना पूरी होगी—इसका हमें विश्वास भी पूरा-पूरा है। आप युद्ध ही करना चाहते हैं तो फिर हम निर्विकल्प हैं। युद्ध बुरा ही सही किन्तु अब यह अनिवार्य बुराई होकर रह गयी है हमारे लिए। क्षत्रिय हम भी हैं, शूरवीर भी हैं और साहसी भी। भीरुता का जो आरोप आपने हम पर लगाया, हम उसे मिथ्या सिद्ध कर देंगे। युद्ध हमारे कंधों पर आपने लाद ही दिया है तो हम भी सफलता के साथ उसका वहन करेंगे। मालव-देश की ललकार सुनो, नरेश शंखपाद ! उसके भीषण प्रहारों से आत्म-रक्षा का प्रयत्न करो। वार करना तुम्हारे वश में नहीं रहेगा। तो .... बढ़ो आगे, हम तत्पर हैं।" यह कहते हुए राजा वीर विक्रम ने अश्व को मोड़कर एड़ लगायी। तलवार को ऊपर उठाकर महाराज ने संकेत दिया। मालव-सेना सिन्धु-सैन्य पर लपकी। सिन्धु-देश की सेना भी झपट पड़ी। दोनों परस्पर शत्रु-दल एक-दूसरे की ओर बढ़ते हुए समीपतर होते जा रहे थे। दोनों नरेश अपने-अपने दल के अग्र भाग मे रहकर सिंह की भाँति गर्जना कर रहे थे। मालव-सेना का मनोबल उच्च से उच्चतर होता चला जा रहा था। क्षणों में ही दोनों सैन्य एक-दूसरे के समीप, आमने-सामने हो गये। उनका अति उत्साह प्रतिपक्ष का बल अनुमानित करने के लिए भी अनुमति नहीं दे पाया। दोनों सेनाओं के हरावल (अग्र भाग) एक-दूसरे में प्रविष्ट होकर एकमेक हो गये। भीषण .... घमासान समर आरंभ हो गया। तलवारें चमचमा उठीं, लोहे से लोहे के घर्षण का स्वर रण-भूमि में गूँज उठा। तीर सनसनाने लगे, बरछियाँ प्रहार करने लगीं, भाले उछलने लगे। युद्धोन्मादपूर्ण तीव्र हुँकारें होने लगीं। मालव-सैनिक अपने देश के मान को ऊँचा बनाए रखने को प्राण-पण से जुट गये। विजय के परम लक्ष्य को लालायित प्रत्येक योद्धा शत्रु-संहार को सन्नद्ध अपनी बलिष्ट भुजाओं और तीक्ष्ण तलवार का भरपूर प्रयोग कर रहा था। अश्व हिनहिनाकर अपना जोश दिखा रहे थे तो हाथी चिंघाड़ रहे थे। भीषण घात-प्रतिघातों में योद्धाओं का हस्तलाघव प्रकट हो रहा था। मालव-सैनिकों पर सिंधु-सैनिकों का दबाव भी कम नहीं था। दोनों ओर का शौर्य, साहस और पराक्रम समतुल्य-सा था। वीरों का सामना वीरों से ही था। स्थिति यह हो रही थी कि जो पहले हावी हो जायेगा वही समस्त युद्ध में भारी बना रहेगा। जो दब जायेगा वह दबता ही चला जायेगा। दोनों पक्ष पहली स्थिति पा लेने को उद्यत थे। मालव-सेना का प्रत्येक योद्धा प्राणों की चिन्ता त्यागकर इसी साध में लगा था। महाराज वीर विक्रमादित्य इस समय वीर रस के अवतार ही हो चले थे। वे रण-क्षेत्र की जिस दिशा में मुड़ते शत्रु-पक्ष उस दिशा में आतंकित और भीत होकर निष्क्रिय-सा हो जाता। सैनिकों के हाथों से आयुध छूट जाते। घूम-घूमकर वे शत्रु-संहार भी कर रहे थे और अपनी सेना को भी उत्साहित करते जा रहे थे। आरंभ में तो मात्र हुँकारों का स्वर था, अब आहों—चीत्कारों के स्वर भी गूँजने

लगे। धरती आरक्त हो उठी। क्षत-विक्षत और मृत सैनिकों से रणांगन पटने लगा। युद्ध-लीला अपने चरम पर पहुँचने लगी थी। तभी हाहाकार मच उठा। मालव-सैन्य की शक्ति से आतंकित सिंधु-सैनिकों का एक गुल्म भाग खड़ा हुआ। उसे पलायन करते देखकर अन्य सैनिकों का मनोबल घटने लगा। दल के दल भागने लगे। मालव-सेना ने उनका पीछा किया। अनेक भगोड़े सैनिकों को उन्होंने तीरों के वार से मार गिराया। बचे हुए सैनिक उपत्यकाओं में छिप गये। मालव-सैनिक सिंधु-सेना के पृष्ठ भाग में भारी संख्या में पहुँच गये थे। वे पीछे से ही वार करने लगे। सिंधु-सेना इस प्रकार चारों ओर से मालव-सेना से घिर गयी। हतोत्साहित सिंधु-सैनिक अब भी भागते चले जा रहें थे। जो न भाग सके वे कटते जा रहे थे।

इसी समय राजा शंखपाद ने अपने सैनिकों को उत्साहित किया कि अंतिम विजय हमारी है, प्राण-पण से देश-रक्षा में लग जाओ, शत्रु का वल तुम्हारे समक्ष नगण्य है, लड़ो ... लड़ो ... इनको मार गिराओ। सिंधु को कभी पराजित न होना पडा है, आज भी विजय हमारी होगी। किन्तु भयाक्रान्त सैनिकों को राजा की कोई भी वात आश्वस्त न कर पा रही थी। अपने नेतृत्व मे उन्हें विश्वास नहीं हो पा रहा था। अव भी वे ज्यों ही अवसर मिलता प्राण वचाने को भागते जा रहे थे। राजा शंखपाद हततेज और निराश होने लगे। उनकी समस्त आशाएँ ध्वस्त होने लगीं। हत मनोवल ने भुज-वल को भी शिथिल कर दिया। उनके प्रहारों में भी अव वैसी चपलता न रही। हस्तलाघव लुप्त होने लगा। राजा का मनोवल तो उस समय धराशायी हो ही गया जव महाराज विक्रमादित्य की तलवार उनके सिर पर चमचमा उठी। वलपूर्वक महाराज ने अपने अश्व को थामा। वह तो जैसे थमना ही नही चाहता था और इस विरोध में वह अपने पिछले पैरों पर खडा हो गया। वह तो राजा शंखपाद के अश्व पर आक्रमण कर उसे गिरा देना चाहता था। देशभक्त अश्व भला अपनी भूमिका में पीछे कैसे रहता, किन्तु अपने स्वामी के सकेत का उल्लंघन भी वह कैसे करता। वह राजा शंखपाद के अश्व के समीप ही जाकर थमा। अनायास ही आयी इस परिस्थिति से निराश सिंधु-नरेश असंतुलित होकर किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये। उनके हाथ की तलवार भी भूमि पर गिर पडी।

"नि:शस्त्र पर हम आक्रमण नहीं करते, सिंधुराज !"—महाराज विक्रमादित्य ने कहा—"किन्तु सोचो. आपका शक्ति का अहंकार कितना अर्थहीन, कितना थोथा है। जो तलवार में शक्ति का निवास मानते हैं, वे भ्रम मे हैं। वास्तविक शक्ति तो न्याय और सत्य मे होती है, विनयी और शुद्ध हृदय में होती है।" इसी समय वैमनस्य से उत्तेजित कुछ मालव-सैनिकों ने राजा शंखपाद को घेर लिया। एक सैनिक तलवार उठाकर उन पर झपटा ही था कि महाराज ने उसे वरज दिया। सिंधु-नरेश को वन्दी वना लिया गया।

× × ×

सिंधु-देश की धरती पर मालव-सेना का वह विजय-प्रभात अतिशय उज्ज्वल, अतिशय सुखद और अतिशय उत्साह भरा था। समर-भूमि के समीप ही स्थापित पटगृह में अवन्तीनाथ महाराज विक्रमादित्य एक उच्चासन पर विराजित थे। महाबलाधिकृत एवं अन्य सेनानायकादि भी समीप ही सावधान मुद्रा में खड़े थे। विजयोल्लास से पूरित वीर सैनिकों की उपस्थिति से सारा वातावरण उत्साहवर्धक हो उठा था। मालव-देश और महाराज विक्रमादित्य की जय-जयकार से दिशाएँ गूँज उठती थीं। अवन्तीनाथ रणवेश में अत्यन्त पराक्रमशील दिखायी दे रहे थे। उनके समीप ही दोनों ओर दो आयुधधारी सैनिक सावधान मुद्रा में खड़े थे। समीप ही अन्य आसनों पर महामात्य भट्टमात्र, महाबलाधिकृत, सेनानायकादि भी प्रसन्न मुद्रा में आसीन थे। सभी मातृभूमि के गौरव-वर्धन से तुष्ट थे। इस उपलब्धि से सफल काम और तृप्त प्रत्येक योद्धा को वैसा सुखानुभव हो रहा था जैसा पर्वतारोहियों को खड़ी चढ़ाई वाले कठिन पर्वतों के शिखर पर पहुँचने पर होता है। एक अदृश्य उल्लास शिविर में सर्वत्र जैसे मगन-भाव से नृत्य कर रहा था। मंद पवन जैसे विजय-गान कर रहा था।

महाराजश्री अपने आसन से उठ खड़े हुए महाबलाधिकृत ने विनयपूर्वक निवेदन किया–"मैंने महामात्य जी से अनुरोध किया है कि अवन्ती पहुँचने पर विशाल विजयोत्सव का आयोजन किया जाय।" वे उत्सुकता के साथ महाराज का मुख निहारने लगे।

"आयोजन ....।" महाराज मुस्करा उठे। शून्य में दृष्टि गड़ाये वे एक क्षण कुछ सोचते रह गये और तब सहसा सहज होते हुए बोले–"आयोजन हो भी सकता है ..... किन्तु मालव के महारथियों, शूरवीरों को एक बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वीरता का भूषण, सफलता का शोभन विनय और नम्रता है। सफल होकर तो आम्र-तरु भी झुक जाता है। गर्व से तना हुआ वृक्ष तो वही होता है जो फलों से लदा न हो। विजय का उल्लास आन्तरिक भाव है–उसे सविनय स्वीकार करने में ही विजय की सार्थकता है। उत्सव–महोत्सव से उस आन्तरिक अनुभूति की महत्ता घटती जाती है। दर्प और मिथ्याभिमान की चमक उसे उस गौरव को चाहे कुछ दीप्तिपूर्ण ही क्यों न कर दे, किन्तु वही भीतर से उसे खोखला भी कर देती है। हमारे आमोद-प्रमोद की सार्थकता उसके उसी रूप में निहित रहती है जो किसी के विषाद का कारण न बने। किसी को ठेस न पहुँचे–हमारे आनन्दोत्सव किसी के लिए खेदजनक न बनें–ऐसे आयोजन ही सार्थक होते हैं। हम अपनी महानता का द्योतन इस रूप में करें कि किसी भी हीनत्व का अनुभव न होने दें, किसी का मन न दुखे।" महाराज के इस विवेकयुक्त कथन ने एक बारगी सभी को कुछ क्षणों के लिए चिन्तनशील और अन्तर्मुखी बना दिया। सभी अपने ऐसे ज्ञानी शासक के मानवतापूर्ण व्यवहार पर गर्वानुभव करने लगे थे। तभी सहसा शिविर के एक भाग

से कोलाहल की एक लहर-सी उठी। सभी उत्सुक दृष्टि से उस दिशा की ओर ताकने लगे। कुछ ही क्षणों में मालव-सैनिकों का एक गुल्म महाराज के आसन की ओर अग्रसर होता दिखाई दिया। ये अपने साथ सिंधुराज को बंदी अवस्था में लेकर आये थे। लौह-शृंखलाओं में जकड़े हुए राजा शंखपाद सर्वथा हततेज और शोकमग्न थे। उनका मुकुटरहित शीश झुका हुआ था। अपमान और लज्जा के भाव उनके मुख-मण्डल पर साकार हो उठे थे। अव्यवस्थित केश-राशि भी उलझी हुई लटों के रूप में भाल पर लटक आई थी।

"कल का सिंह आज शृगाल रूप में आपके समक्ष उपस्थित है, महाराज !" महावलाधिकृत ने उच्च्य स्वर मे निवेदन आरंभ किया–"ये सिंधु-देश के राजाधिराज महाराज शंखपाद कल तक अपने वल के मद में मालव-देश को पददलित कर देने की कल्पना मे मगन थे। इन्होंने हमारे गौरव को अपमानित किया है। आज ये अपने अपराधों का दण्ड पाने को आप श्रीमानेश्वर के समक्ष उपस्थित किये गये हैं।"

रोषावेश के अधीन असंख्य कण्ठो से एक ही स्वर निनादित हुआ–"इसे मृत्यु-दण्ड दिया जाय।" फिर तो अनेक कथन गूँज उठे–"जिन ऑखों ने हमारी मातृभूमि पर कुदृष्टि डाली है उन्हे निकालकर पैरों तले रौदा जाय ··· । गर्व से जो शीश उठा रहता था उसे धड से पृथक् कर दिया जाय।" एक सैनिक ने अपनी वात कही–"आज्ञा हो तो इस नराधम को मालव-सेना अवन्ती लेकर जाए और इसी वंदी वेश में इसे नगर के मार्गो पर घुमाया जाय और तव इसे शूली पर चढा दिया जाय कि भविष्य मे कोई मालव-देश के अपमान का दुस्साहस न कर सके।" सैनिक की वाणी में रोष और दृष्टि में ज्वालाएँ धधक रही थी। शिविर में सव ओर से तव तीव्र स्वर उठा–"यही उपयुक्त है–ऐसा ही किया जाय। इस पापी को क्रूरतम दण्ड मिलना चाहिये।"

महाराज विक्रमादित्य ने हाथ उठाकर सभी को शान्त किया। महाराज का संकेत पाकर सैनिकगण वडी कठिनाई से अपने को नियंत्रण मे ला पाए। सव ओर जिज्ञासा-भरी शान्ति छा गयी। तभी महाराज ने घोषणा की–"हम आप सभी की भावना का आदर करते है। राजा शंखपाद को हम आदर के साथ दण्डित करेंगे। ये सिंधु-देश के शासक है। साधारण अपराधी और शासक अपराधी मे कुछ अन्तर तो होना ही चाहिए। हमारा आदेश है सिंधु-नरेश महाराज शंखपाद को वन्धनमुक्त कर दिया जाय।"

एक वार तो सारे शिविर मे इस आदेश से अद्भुत हलचल मच गयी। यह क्या हो रहा है ··· महाराज शंखपाद के साथ कैसा व्यवहार कर रहे हैं, अन्ततः इनकी इच्छा क्या है? इस प्रकार के अनेकानेक भावों का आवागमन उपस्थित

जनों के मुख पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा। महाबलाधिकृत भी सकते में आ गये, पर महाराज का संकेत पाकर वे स्वयं राजा शंखपाद के पास गये और उन्हें बन्धनमुक्त किया। खनखनाती हुई श्रृंखलाएँ भूमि पर गिर पड़ीं। सिंधु-नरेश का हृदय वीर विक्रम के औदार्य से द्रवित हो उठा। बन्धनमुक्त देह सुविधा पाने लगा। सिर को झटकार के उन्होंने अपनी केश-राशि को कुछ व्यवस्थित किया। उन्होंने आभारयुक्त मुस्कान के साथ अवन्ती-नरेश की ओर निहारा ही था कि बॉंहें फैलाकर वीर विक्रम आगे बढ़े और स्नेह के साथ उन्होंने सिंधुराज को अपने आलिंगन में ले लिया। गले मिलकर राजा शंखपाद को अद्‌भुत गौरव और वीर विक्रम के देवत्व का अनुभव होने लगा। उनके मन की सारी मलिनता धुल गयी। उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। इस हृदय-परिवर्तनकारी व्यवहार ने उनके स्वरूप को ही एक नवीनता प्रदान कर दी। उनके अहम् ने हटकर विनय को स्थान दे दिया था। एक विनय व्यक्ति के चरित्र में अनेक सद्‌गुणों का समावेश कर देती है। वह दर्पहीन होकर आत्मालोचन करने लगता है, अपने दोष-दर्शन पर वह संकोच का अनुभव करने लगता है और अपने विकारों की स्वीकारोक्ति के लिये विनय उसे प्रेरित तो करता ही है, उसे उन दोषों को दूर करने के लिए संकल्पबद्ध भी कर देती है।

ऐसा ही सिंधु-नरेश के साथ भी हुआ। वे अपने अतीत जीवन और व्यवहार के प्रति ग्लानि का अनुभव करने लगे थे और अनायास ही वे हीनत्व से घिर गये। अतिशय नम्रता के कारण करबद्ध होकर वे महाराज विक्रमादित्य को नमन करते हुए लगभग दुहरे ही हो गये। इस श्रद्धा भाव से अवन्ती-नरेश भी गद्‌गद हो उठे और अपनी बॉंहों में भरकर उन्होंने राजा शंखपाद को ऊपर उठाया। दोनों के नयन छलछला उठे। कल के परस्पर विरोधी आज मैत्री का अनुभव करने लगे थे। वे परस्पर हितकामी हो उठे थे। इस विचित्र दृश्य को समस्त उपस्थिति बड़े अचरज के साथ निहार रही थी। सर्वत्र एक अडिग सन्नाटा छा गया था। इसी समय अतिशय नम्रता के साथ राजा शंखपाद ने अपना कथन आरंभ किया—"मित्र राजेश्वर ! हम अत्यन्त लज्जित हैं कि हमने आपके प्रति अपने मन में दुर्भावों को पाला। बत्तीस पुतली वाले सिंहासन के लिए हमारी माँग का कोई औचित्य नहीं था। वह हमारी मिथ्या हठधर्मी थी और उसी दोष ने हमें आपको युद्ध के लिए ललकारने का अपराधी भी बना दिया। हमारी सद्‌बुद्धि सो गयी थी। हमारा अपराध तो भीषण और दण्डनीय है, किन्तु हमारा अन्तर हमें हमारे दोषों के लिए क्षमा-याचना के लिए प्रेरित कर रहा है। हमें क्षमा कर दीजिये, राजन् ! हम अन्तस्थल से यह प्रार्थना करते हैं।" यह कहते-कहते राजा शंखपाद पुनः झुक गये। महाराज विक्रमादित्य ने कुछ आगे बढ़कर उन्हें पुनः गले से लगा लिया। आलिंगनबद्ध अवस्था में ही राजा शंखपाद ने निवेदन किया—"हम आपके बड़े

ऋणी हैं, महाराज ! आपने हमारी ऑखें खोल दीं। जिस विनय और मैत्री के मार्ग पर आपके सद्व्यवहार ने हमें आरूढ़ कर दिया—हम आजीवन उसी पर अग्रसर होते रहेगे। हमें अपने अब तक के आचरण और व्यवहार के लिए खेद है।"

"बस ··· बस ··· बस कीजिये, राजन् !" मुस्कराते हुए महाराज ने कहा—"आप आज जिस विनयशील रूप में हमारे समक्ष हैं, उस रूप में तो अव क्षमा किया जाना अपेक्षित ही कहॉ रह गया है, मित्र ! दण्डनीय अपराध तो आपका दंभी व्यक्तित्व कर गया था। वह अव शेष ही नहीं रह गया है तो भला दण्ड दिया किसे जाय? हमें इस बात की भी प्रसन्नता है कि हमारी सेना की अभिलाषा भी पूर्ण हुई। हमारे कुपित योद्धा चाहते थे कि सिंधु-नरेश का वध कर दिया जाय। युद्धपिपासु, शक्ति के मद में चूर, दंभी और लोभी उस सिंधु-नरेश का तो स्वतः ही वध हो गया। आज एक आदर्श और नवीन रूप में उनका पुनर्जन्म हुआ है। इस नव-जीवन के लिए, हे सिंधुपति ! हमारा अभिनन्दन स्वीकार कीजिये।" विनय के साथ महाराज विक्रमादित्य ने अपने दोनों हाथ जोड़ दिये। उत्तर में राजा शंखपाद ने कृतज्ञतापूर्वक पुनः नमन किया।

महाराज विक्रमादित्य ने अल्प से विराम के पश्चात् पुनः अपना कथन आरंभ किया—"सिंधुपति को मालव-देश आज से अपना मित्र मानता है और उनके पूर्व कृत्यों को विस्मृत करता है। हम घोपित करते हैं कि सिंधु-सैन्य के अन्य युद्ध वंदी भी मुक्त किये जाते हैं।" राजा शंखपाद के मुख पर प्रगाढ हास्य फैल गया। उनके वद्ध कर ऊपर उठकर भाल तक पहुँच गये। अवन्तीनाथ ने स्नेहपूर्वक अपनी वॉह राजा शंखपाद की कटि मे डालकर हौले-हौले उन्हे अपने आसन की ओर ले आए। अपने समीप के आसन पर उन्हें आदरपूर्वक विराजित करते हुए महाराज विक्रमादित्य ने उनकी ओर निहारते हुए कहा—"मित्र राजन् ! सिंहासन का प्रश्न तो तव भी गौण था और आज भी साधारण ही है। हमारे युद्ध का प्रयोजन तो आपको आपकी भूल का स्मरण कराना था और प्रसन्नता है कि इस रूप में हमारा अभियान सफल रहा। इस सफलता का श्रेय इस प्रकार आपको ही जाता है। अव आप चाहें तो वत्तीस पुतलियो वाला वह सिंहासन सिंधु की राजसभा को भिजवा दिया जाय।"

एक क्षीण हास के साथ राजा शंखपाद ने कहा—"क्यो लज्जित करते हैं, महाराज ! रचनाकार स्वय ही इसका श्रेष्ठ निर्णायक हो सकता है कि उसकी रचना के योग्य उचित पात्र कौन हो सकता है? कलाकार ने विवेकपूर्वक ही इसका निर्णय आपके पक्ष मे किया है। हम इस योग्य भला कहाँ ····। मिथ्या लोभवृत्ति ने उस दुष्कामना को हमारे मन मे जाग्रत कर दिया था। राजराजेश्वर ! ···· आपने जिस उदारता के साथ हमें क्षमादान किया है—वह सिंधु के इतिहास में अमर रहेगी। निजी रूप में मैं स्वयं भी आपका बड़ा उपकृत हूँ, महाराज ! आपने मेरा अनेकानेक विकारो से उद्धार कर दिया। आप महान् हैं, महाराज ! ··· महान्

हैं।" अति उत्साह से पूरित सिंधु-नरेश ने जय-जयकार किया–"अवन्तीनाथ महाराज विक्रमादित्य की जय !" भावाभिभूत सैन्य ने भी इस जय-जयकार मे अपना योग दिया। भट्टमात्र ने अपने आसन से खड़े होकर इसी समय महाराज शंखपाद की जय का घोष किया और दुगुने उत्साह के साथ राजा शंखपाद का जय-जयकार होने लगा। दोनों देशों की मैत्री की अमरता के नारे लगते रहे। तुमुल निनाद से गगन गूँज उठा।

जब यह उत्साहपूर्ण कोलाहल कुछ थमने लगा तो राजा शंखपाद अपने आसन से उठे और हाथ उठाकर शान्ति का अनुरोध करने लगे। कुछ ही क्षणों में शान्ति स्थापित हो गयी और सभी उत्सुकतापूर्ण सिंधुपति की ओर ताकने लगे। विशेष अनुरोध की मुद्रा में उन्होंने कथन आरंभ किया–

"मालवनाथ के प्रति हम अत्यधिक ऋणी हैं कि हमारा आपने अविनय अहंकार, क्रूरता और दुराग्रह से उद्धार किया, हमें मानवता का मार्ग दिखाया। समग्र सिंधु-देश आभारी है कि उसे एक पापकर्म से आपने थाम लिया। सिंधु-देश और इस जन को क्षमा कर मालव-देश और उसके अधिपति महान् हो गये हैं, अति उदार, अति करुणाशील, मानव मात्र के हितैषी। आज जो मैत्री दोनों राज्यों के मध्य स्थापित हो गयी है, हमारी कामना है कि यह उत्तरोत्तर दृढ़ होती चली जाय। हमारी अभिलाषा है कि दोनों राज्यों के मध्य परिजनोचित स्नेह विकसित हो जाय। अतः हमारा अनुरोध है कि महाराज आप कृपापूर्वक हमारी अनुजा लीलावती को अपनी जीवनसंगिनी स्वीकार कर लें, उसका पाणिग्रहण कर हमें कृतार्थ करें। ऐसे दिव्य और भव्य जामाता को पाकर सिंधु का शीश गर्वोन्नत हो जायेगा। हमें विश्वास है कि हमारा यह अनुरोध अवश्य ही स्वीकृत होगा।" सिंधु-नरेश शंखपाद आशा-भरे नयनों से महाराज विक्रमादित्य का मुख जोहने लगे।

इस शुभ प्रस्ताव ने सारे शिविर को एक मंद–मधुर कोलाहल से परिपूर्ण कर दिया। महाराज विक्रमादित्य को इस प्रस्ताव में सभी दृष्टियों से औचित्य ही प्रतीत हुआ। उन्होंने अपनी सहमति व्यक्त कर दी। सब ओर हर्ष-सरोवर लहरा उठा। यथासमय मालव-सैन्य का रूपान्तरण बारात में हो गया। योग्य और मनोज्ञ मालवाधिराज वर-वेश में शोभित हुए। सिंधु-देश की राजधानी मे पहुँचने पर इस वर-यात्रा का भव्यता के साथ भावभीना स्वागत किया गया। वैभवशाली राजपरिवार ने राजपुत्री लीलावती का परिणय महाराज विक्रमादित्य के संग सम्पन्न कर गौरव का अनुभव किया। स्नेह ने वैर का, पारस्परिक हितैषिता ने प्रतिस्पर्धा का, मैत्री भाव ने प्रतिशोध का स्थान लिया। दोनों पक्षों ने हर्षातिरेक के साथ नवल दम्पति पर पुष्प-वर्षा की। इस प्रगाढ़ और नवीन स्नेह-बन्धन के चिरायु होने, इसके शाश्वत रहने की कामना की। यथासमय नववधू के साथ प्रस्थान करते समय आदर के साथ वर विक्रमादित्य महाराज ने सिंधु-नरेश से अनुमति माँगी।

महामात्य भट्टमात्र भी समीप ही खडे थे। बुद्धि-कौशल के धनी भट्टमात्र ने चुटकी लेते हुए कहा–"सिंधुपति महाराज ! अन्ततः आपने विजय प्राप्त कर ही ली। बत्तीस पुतलियों वाले उस भव्य सिंहासन पर अपने स्वामी के संग सिंधु-देश की राजपुत्री भी आसीन होने का गौरव प्राप्त कर चुकी हैं। सिंहासन पर सिंधु का यह अधिकार होना ही तो है।" राजा शंखपाद किंचित् व्यक्त हास से ठठा उठे। महाराज विक्रमादित्य के अधरों पर भी मुस्कान थिरक उठी। समस्त उपस्थित जन भी इस विनोद से उत्पन्न हास में अपना योगदान करने लगे। मंद हर्ष-ध्वनि गूँज उठी। विदाई की यह गंभीर वेला भी उत्फुल्ल उठी। वर-वधू विशेष रूप से सज्जित रथ में आरूढ़ हुए। वधू लीलावती ने अपने अग्रज राजा शंखपाद की ओर अनुमति की याचना-भरी दृष्टि से निहारा और उनके नयन सजल हो उठे। अग्रज के नयन भी आर्द्र हो उठे। उन्होंने बहन का शीश अपने वक्ष से लगाया और स्निग्ध स्वरों मे बोले–"बहना ! जाओ, अपने निकेत को स्वर्गोपम बनाओ। दोनों राजघरानों की मर्यादाओं का पालन करो और यश-गाथाओं का निर्माण करो। हमारी आशिष सदा तुम्हारे संग रहेगी।" प्रसन्न मनोभाव के साथ उन्होने हाथ उठाकर अपने नव-जामाता को विदा किया। वर विक्रमादित्य ने भी शीश झुकाकर प्रणाम किया। सारथि के संकेत पर अश्व सक्रिय हुए, रथ आगे बढने लगा। मालव-सेनाधिकारियो और सेना ने अनुसरण किया। महाराज नवीन उपलब्धि के साथ सदल-बल अपनी राजधानी की ओर बढने लगे। रह-रहकर उन्हे राजरानी कमलावती और अन्य रानियों का स्मरण हो आता था, किन्तु रानी सुकोमला का दुर्भाग्य था कि वे विस्मृत बनी रही।

दूर देश से अश्व-व्यवसायी आये हुए थे। अवन्ती का सुनाम देश-देश में व्याप्त था ही। वहाँ के पराक्रमी नरेश की, शूरवीर योद्धाओं की, सबल सैन्य की और अतुलित वैभव की गाथाएँ सौरभ बनकर पवन के साथ प्रसारित होती रहती थी। इस ख्याति ने इन व्यवसायियो को भी आकर्षित किया और अपने समूह सहित वे अवन्ती नगर के बाह्य उद्यान मे विश्राम करने लगे। एक से बढ़कर एक श्रेष्ठ कोटि के अश्व इनके पास थे।

नवेली रानी लीलावती के संग महाराज राजोद्यान में विहार कर रहे थे। सर्वत्र मादक-मधुर वातावरण व्याप्त था। नाना भाँति के सुरभित सुमन खिले हुए थे। [illegible] मनोरम वातावरण निर्मित हुआ था। शीतल, मंद पवन

आकर रानी की स्निग्ध अलकों से अठखेलियाँ कर रही थी। भ्रमर गुंजार करते हुए सद्यःविकसित पुष्पों पर मँडराने लगे थे। कलात्मकता के साथ वर्ण-वर्ण से सज्जित तितलियाँ इधर-उधर थिरक रही थीं। एक भ्रमर बार-बार रानी के मुख-मण्डल पर मँडरा जाता था। रानी लीलावती हाथ के झटकारे से उसे दूर करने का विफल प्रयास करती जा रही थीं और वह हठीला भ्रमर हटता न था। महाराज विक्रमादित्य ने मुस्कराते हुए कहा—"प्रियतमे ! इस भ्रमर को भी हमारी भाँति आपमें कमल-पुष्प होने का भ्रम हो गया है। प्रेमवश वह आपके मुख-कमल से दूर होना ही नहीं चाहता।"

प्रियतम अवन्ती-नरेश की इस उक्ति से रानी लजा गयीं और उनके मुख पर व्रीड़ा की लालिमा प्रसारित हो गयी। मुख झुकाकर बोलीं—"स्वामी ! आप तो लज्जित कर रहे हैं हमें।" एक क्षण के विरामोपरान्त वे पुनः मुखरित हुईं—"एक बात है···· हममें चाहे कमल का-सा सौन्दर्य हो—न हो, किन्तु आपके नेत्र अवश्य ही भ्रमरवत् हैं। वैसे ही श्याम, वैसे ही चपल और··· और वैसे ही सौन्दर्य-प्रेमी।"

"कदाचित् आप उचित ही कहती हैं, रानी !" महाराज ने वधू का हाथ हौले-से थामा और प्रीतिपूर्वक हल्का-सा दबाते हुए उन्होंने कहा—"सौन्दर्य के प्रति अनुरागी न होते हमारे नयन, तो आपको सराहते कैसे···· हम आपके दास हो ही कैसे जाते। इन नेत्रों ने तो हमें आपके विशाल नयनों की सुन्दरता से परिचित करा दिया है। ये नेत्र न होते तो आपके प्रीति-बंधन में हम बँधते ही कैसे? ऐं ···· ?"

"मेरे प्राणनाथ ! आप तो इस अकिंचन को महत्ता दे रहे हैं—यह आपकी कृपा ही है, अन्यथा हम तो नगण्य और तुच्छ-सी है। आपके चरण-रज की भी समकक्षता का साहस हमारे वश का नहीं। आपकी प्रीति-पात्र होकर अवश्य हम सद्भाग्य की स्वामिनी····।" कहते-कहते रानी लीलावती नम्रतापूर्वक महाराज के चरणों में झुक गयीं।

प्रेमपूर्वक उन्होंने कहा—"प्रियतमे ! आपका स्थान यहाँ नहीं···· हमारे हृदय में है। सद्भाग्य तो हमारा है कि सिंधु-जैसे गौरवशाली देश के साथ हमारा सम्बन्ध हुआ और सिंधु के श्रेष्ठतम रत्न की हमें प्राप्ति हुई।" रानी कलावती के नेत्र अनुरागातिरेक से आर्द्र हो उठे। उँगलियों के पौरों से वे अपने नयनों की कोर को पोंछने लगीं। सहसा भारी हो आये वातावरण को तनिक हल्का-फुल्का वना देने के प्रयोजन से महाराज ने कहा—"सिंधु-देश की ख्याति एक तो उसकी अनुपम रूपवती राजपुत्री के लिये है, जिन्हें हम ले आये, वहाँ की अन्य कौन वस्तु है जिसके लिए सिंधु का ख्यात नाम माना जाता है?"

भावातिरेक से भर आई साँस को छोड़ते हुए, हाथ फिराकर अपनी केश-राशि को तनिक व्यवस्थित करने का प्रयास करती हुई रानी लीलावती ने संयत स्वर में

कहा–"सिंधु-देश के तुरंग अति प्रसिद्ध हैं। ऐसे ऊर्जस्वित और चपल अश्व अन्यत्र कम ही मिलते हैं, स्वामी !"

"सत्य ही कथन है आपका, प्राणेश्वरी .... हमने भी सिंधु के अश्वों की प्रशंसा बहुत सुनी है।" महाराज ने समर्थन की वाणी में कथन किया और उद्यान के खुले भाग में मन्द-मन्द गति से अपनी जीवन-सहचरी के संग विचरण करने लगे। अश्व की चर्चा की ही थी कि अश्वों का प्रसंग सम्मुख आ गया। एक सेवक ने सूचना प्रेषित की–"अश्व-विक्रय के प्रयोजन से कुछ व्यवसायी आये हैं और आपश्री से भेंट करना चाहते हैं। महावलाधिकृत उन्हें अश्वों सहित उद्यान के द्वार पर खुले प्रांगण में ले आये हैं, श्रीमानेश्वर !" इस अद्भुत संयोग पर महाराज चकित हो उठे। मन ही मन वे चिन्तन करने लगे कि हमारी रानी कहीं 'वाचासिद्ध' तो नहीं हैं। तुरन्त अपने पर नियंत्रण करते हुए उन्होंने सेवक को संकेत किया कि वहीं प्रतीक्षा की जाय।

राजभवन के उस विस्तृत प्रांगण में, उस प्रातः में वडी चहल-पहल और कोलाहल था। महावलाधिकृत और कुछ अन्य सेनाधिकारी प्रांगण के मध्य खड़े थे। उन्ही के संग परदेशी अश्व-व्यवसायी भी खडे थे। एक अत्यन्त वलिष्ट और ऊँचा श्वेत अश्व उनके मध्य खड़ा था और अनियंत्रित-सा ऊधम मचा रहा था। तीन अश्वों पर राज्य के कुशल अश्वारोही आरूढ़ थे और वे इस विशाल प्रांगण की परिधि में परिक्रमा लगा रहे थे। इसी समय महाराज विक्रमादित्य ने उद्यान-द्वार से राजभवन के इस प्रांगण में प्रवेश किया। अश्वों की त्वरा और उनकी चाल देखकर वे बड़े प्रभावित हुए। अत्यन्त स्वस्थ एवं पुष्ट अश्वो को देखकर वे उन्हें मन-ही-मन सराह उठे। जी में एक उत्फुल्लता का अनुभव होने लगा। तभी उनका ध्यान उपस्थित जनों की ओर गया। महावलाधिकृत एवं अन्य सेनाधिकारियों ने नमनपूर्वक प्रणाम किया। हाथ उठाकर महाराज ने यथोचित उत्तर भी दिया। उनका ध्यान इन परदेसियो की ओर केन्द्रित हो गया था जो दुहरे होकर नमन करने और प्रणाम निवेदन करने मे लगे थे। महाराज की दृष्टि मे प्रश्नाकुलता दृष्टिगत हो रही थी। वरिष्ठ व्यवसायी ने करवद्ध निवेदन किया–"हम परदेसी व्यवसायी है, कृपानाथ ! अश्व विक्रय किया करते हैं। हमारे पास कुछ श्रेष्टतम अश्व आये थे। मन मे लालसा उठी कि क्यो न ये अवन्ती की शोभा वढ़ाएँ।" महाराज ने मुस्कराकर आन्तरिक प्रसन्नता व्यक्त की। इससे उत्साहित हुए व्यवसायी ने कहा–"श्रीमानेश्वर ! अश्व तो एक से बढ़कर एक हैं अवन्ती में, किन्तु ये अश्व भी कम नही हैं। इनकी अपनी ही विशेषताएँ हैं, पृथ्वीनाथ !" व्यवसायी की वार्ता-कुशलता से महाराज के अन्तस्थल में एक सुखद अनुभूति होने लगी। उन्होंने पाया कि व्यवसायी के कथन मे यथार्थ है। महाराज स्वयं अश्व-पारखी थे। देखते हुए ही घोड़ो के सद्लक्षणों को उन्होंने पहचान लिया। अश्वारोहियों को उन्होंने

आकर रानी की स्निग्ध अलकों से अठखेलियाँ कर रही थी। भ्रमर गुंजार करते हुए सद्यःविकसित पुष्पों पर मँडराने लगे थे। कलात्मकता के साथ वर्ण-वर्ण से सज्जित तितलियाँ इधर-उधर थिरक रही थीं। एक भ्रमर वार-वार रानी के मुख-मण्डल पर मँडरा जाता था। रानी लीलावती हाथ के झटकारे से उसे दूर करने का विफल प्रयास करती जा रही थीं और वह हठीला भ्रमर हटता न था। महाराज विक्रमादित्य ने मुस्कराते हुए कहा–"प्रियतमे ! इस भ्रमर को भी हमारी भाँति आपमें कमल-पुष्प होने का भ्रम हो गया है। प्रेमवश वह आपके मुख-कमल से दूर होना ही नहीं चाहता।"

प्रियतम अवन्ती-नरेश की इस उक्ति से रानी लजा गयीं और उनके मुख पर व्रीड़ा की लालिमा प्रसारित हो गयी। मुख झुकाकर बोलीं–"स्वामी ! आप तो लज्जित कर रहे हैं हमें।" एक क्षण के विरामोपरान्त वे पुनः मुखरित हुईं–"एक बात है···· हममें चाहे कमल का-सा सौन्दर्य हो–न हो, किन्तु आपके नेत्र अवश्य ही भ्रमरवत् हैं। वैसे ही श्याम, वैसे ही चपल और··· और वैसे ही सौन्दर्य-प्रेमी।"

"कदाचित् आप उचित ही कहती हैं, रानी !" महाराज ने वधू का हाथ हौले-से थामा और प्रीतिपूर्वक हल्का-सा दबाते हुए उन्होंने कहा–"सौन्दर्य के प्रति अनुरागी न होते हमारे नयन, तो आपको सराहते कैसे···· हम आपके दास हो ही कैसे जाते। इन नेत्रों ने तो हमें आपके विशाल नयनों की सुन्दरता से परिचित करा दिया है। ये नेत्र न होते तो आपके प्रीति-बंधन में हम बँधते ही कैसे? ऐं ···· ?"

"मेरे प्राणनाथ ! आप तो इस अकिंचन को महत्ता दे रहे हैं–यह आपकी कृपा ही है, अन्यथा हम तो नगण्य और तुच्छ-सी हैं। आपके चरण-रज की भी समकक्षता का साहस हमारे वश का नहीं। आपकी प्रीति-पात्र होकर अवश्य हम सद्भाग्य की स्वामिनी····।" कहते-कहते रानी लीलावती नम्रतापूर्वक महाराज के चरणों में झुक गयीं।

प्रेमपूर्वक उन्होंने कहा–"प्रियतमे ! आपका स्थान यहाँ नहीं···· हमारे हृदय में है। सद्भाग्य तो हमारा है कि सिंधु-जैसे गौरवशाली देश के साथ हमारा सम्बन्ध हुआ और सिंधु के श्रेष्ठतम रत्न की हमें प्राप्ति हुई।" रानी कलावती के नेत्र अनुरागातिरेक से आर्द्र हो उठे। उँगलियों के पौरों से वे अपने नयनों की कोर को पोंछने लगीं। सहसा भारी हो आये वातावरण को तनिक हल्का-फुल्का वना देने के प्रयोजन से महाराज ने कहा–"सिंधु-देश की ख्याति एक तो उसकी अनुपम रूपवती राजपुत्री के लिये है, जिन्हें हम ले आये, वहाँ की अन्य कौन वस्तु है जिसके लिए सिंधु का ख्यात नाम माना जाता है?"

भावातिरेक से भर आई साँस को छोड़ते हुए, हाथ फिराकर अपनी केश-राशि को तनिक व्यवस्थित करने का प्रयास करती हुई रानी लीलावती ने संयत स्वर में

कहा–"सिंधु-देश के तुरंग अति प्रसिद्ध है। ऐसे ऊर्जस्वित और चपल अश्व अन्यत्र कम ही मिलते है, स्वामी !"

"सत्य ही कथन है आपका, प्राणेश्वरी .... हमने भी सिंधु के अश्वों की प्रशंसा बहुत सुनी है।" महाराज ने समर्थन की वाणी में कथन किया और उद्यान के खुले भाग में मन्द-मन्द गति से अपनी जीवन-सहचरी के संग विचरण करने लगे। अश्व की चर्चा की ही थी कि अश्वों का प्रसंग सम्मुख आ गया। एक सेवक ने सूचना प्रेषित की–"अश्व-विक्रय के प्रयोजन से कुछ व्यवसायी आये हैं और आपश्री से भेंट करना चाहते हैं। महावलाधिकृत उन्हें अश्वों सहित उद्यान के द्वार पर खुले प्रांगण में ले आये हैं, श्रीमानेश्वर !" इस अद्भुत संयोग पर महाराज चकित हो उठे। मन ही मन वे चिन्तन करने लगे कि हमारी रानी कहीं 'वाचासिद्ध' तो नहीं हैं। तुरन्त अपने पर नियंत्रण करते हुए उन्होंने सेवक को संकेत किया कि वहीं प्रतीक्षा की जाय।

राजभवन के उस विस्तृत प्रांगण में, उस प्रातः में बडी चहल-पहल और कोलाहल था। महाबलाधिकृत और कुछ अन्य सेनाधिकारी प्रांगण के मध्य खडे थे। उन्हीं के संग परदेशी अश्व-व्यवसायी भी खडे थे। एक अत्यन्त बलिष्ट और ऊँचा श्वेत अश्व उनके मध्य खड़ा था और अनियंत्रित-सा ऊधम मचा रहा था। तीन अश्वों पर राज्य के कुशल अश्वारोही आरूढ़ थे और वे इस विशाल प्रांगण की परिधि में परिक्रमा लगा रहे थे। इसी समय महाराज विक्रमादित्य ने उद्यान-द्वार से राजभवन के इस प्रांगण में प्रवेश किया। अश्वों की त्वरा और उनकी चाल देखकर वे बड़े प्रभावित हुए। अत्यन्त स्वस्थ एवं पुष्ट अश्वों को देखकर वे उन्हें मन-ही-मन सराह उठे। जी में एक उत्फुल्लता का अनुभव होने लगा। तभी उनका ध्यान उपस्थित जनों की ओर गया। महाबलाधिकृत एवं अन्य सेनाधिकारियों ने नमनपूर्वक प्रणाम किया। हाथ उठाकर महाराज ने यथोचित उत्तर भी दिया। उनका ध्यान इन परदेसियों की ओर केन्द्रित हो गया था जो दुहरे होकर नमन करने और प्रणाम निवेदन करने में लगे थे। महाराज की दृष्टि में प्रश्नाकुलता दृष्टिगत हो रही थी। वरिष्ठ व्यवसायी ने करबद्ध निवेदन किया–"हम परदेसी व्यवसायी हैं, कृपानाथ ! अश्व विक्रय किया करते हैं। हमारे पास कुछ श्रेष्ठतम अश्व आये थे। मन में लालसा उठी कि क्यों न ये अवन्ती की शोभा बढ़ाएँ।" महाराज ने मुस्कराकर आन्तरिक प्रसन्नता व्यक्त की। इससे उत्साहित हुए व्यवसायी ने कहा–"श्रीमानेश्वर ! अश्व तो एक से बढ़कर एक हैं अवन्ती मे, किन्तु ये अश्व भी कम नही हैं। इनकी अपनी ही विशेषताएँ हैं, पृथ्वीनाथ !" व्यवसायी की वार्त्ता-कुशलता से महाराज के अन्तस्थल में एक सुखद अनुभूति होने लगी। उन्होंने पाया कि व्यवसायी के कथन में यथार्थ है। महाराज स्वयं अश्व-पारखी थे। दौड़ते हुए ही घोड़ों के सद्लक्षणों को उन्होंने पहचान लिया। अश्वारोहियों को उन्होंने

संकेत किया और उन्होंने अश्वों को एक पंक्ति में, महाराज के समक्ष खड़ा कर दिया। महाराज ने एक बार पुनः गहन पारखी दृष्टि से उन्हें निहारा और उनके समीप गये। हाथ फिराकर उन्होंने स्नेह जताया। कृतज्ञ अश्व मुख झुकाकर खडे रह गये। प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने व्यवसायियों की ओर ताका और कहा कि निस्सन्देह अश्व तो उत्तम कोटि के हैं। महाराज के अश्व-ज्ञान और गुणग्राह्यता से व्यवसायी तुष्ट हो गये। वे अपनी व्यावसायिक यात्रा को सफल मानने लगे। इसी समय महाराज विक्रमादित्य श्वेत अश्व की ओर बढ़े। प्रमुख व्यवसायी ने उनका अनुगमन करते हुए कहा–"यह अश्व, 'मोती' नाम है इसका, कृपानाथ ! अत्यन्त चंचल, अत्यन्त बलवान और समस्त शुभ लक्षणों से युक्त है यह। इन चारों में यह सर्वश्रेष्ठ है। यह विशेष रूप से आप श्रीमान् के आरोहण हेतु है। अत्यन्त स्वामिभक्त है, महाराज !"

महाराज ने किंचित् पीछे मुड़कर कथनकर्त्ता की ओर झाँका और पुनः अश्व को निहारने लगे। उदित हुए भानु की रश्मियों में स्नान करता यह श्वेत अश्व मोती की भाँति ही दमक रहा था। चार-चार व्यक्ति इसे थामे हुए थे किन्तु मोती किसी के वश में न आता था। उछलकूद करता हुआ अपनी अदम्य चपलता और स्फूर्ति का वह परिचय देने लगा। ज्यों ही महाराज उसके समक्ष पहुँचे, अपनी चपलता पर उसने आत्म-नियंत्रण किया। कनौती जोड़कर उसने शीश झुकाया। प्रणाम मुद्रा में कुछ क्षण शान्त खड़ा रहकर उसने अपनी गर्दन क्रमशः ऊपर को उठायी और अपनी स्वाभाविक सक्रियता दिखाने लगा। महाराज वस्तुतः अतीव प्रसन्न हुए।

"श्रीमानेश्वर ! यह अश्व प्रचण्ड शक्तिमान है और एक सीमा तक उद्दण्ड भी। इसे वश में करना हमारे असाधारण अश्वपालों और आरोहियों के लिये भी संभव नहीं हो पाया है। ये तीनों अश्व तो उपयुक्त हैं, किन्तु मोती ···· !" महावलाधिकृत कथन अभी समापन पर पहुँचा भी न था कि सहसा महाराज ने हस्तक्षेप कर दिया–"यह चौथा अश्व, मोती–चौथा नहीं, यही तो अग्रगण्य है, इन सभी का सिरमौर है, शिरोमणि है यह। जैसा उच्च कोटि का यह अश्व है वैसे ही उच्च कोटि के आरोही की अपेक्षा यह रखता है–यह स्वाभाविक भी है। महावलाधिकृत जी ! ····· स्वाभाविक ही है। इसकी यही प्रवृत्ति कि यह साधारण जन को निकट भी न आने देता–हमें इसकी उद्दण्डता प्रतीत होती है। अन्यथा उत्तम अश्व के सभी लक्षण इसमें विद्यमान हैं। यदि हमें एक ही अश्व भी क्रय करना होता तो हम मोती का चयन करते, किन्तु हम इन चारों का क्रय कर लेंगे। वास्तव में ये चारों अपने-अपने प्रकार के मोती हैं और अवन्ती के वाजिधन के लिये ये अनुपम अलंकरण सिद्ध होंगे। ऐसे श्रेष्ठ अश्व पाकर हम गर्वानुभव करते रहेंगे। अवन्ती आपकी आभारी रहेगी, अश्वपाल जी !"

"कृतार्थ हो गये हम, महाराजश्री !.....यह मान और प्रशस्ति पाकर हमारा जीवन ही सफल हो गया, श्रीमानेश्वर !" सभी व्यवसायियों ने महाराज को झुककर प्रणाम किया और उनके बद्ध कर भाल तक ऊपर उठ गये, नेत्र निमीलित हो गये। तुरन्त ही वे हाथ फैलाकर जय-जयकार कर उठे।

महाराज ने आदेश दिया–"इन्हें चारों अश्वों का याचित मूल्य राजकोष से प्रदान कर दिया जाय।" महाबलाधिकृत ने आदेश ग्रहण करते हुए शीश झुका दिया। इसी समय महाराज मोती के समीपतर हो गये। उसके तन पर कोमलता के साथ स्पर्श करते हुए उन्होंने पाया कि अश्व बड़ा ही संवेदनशील है। जहाँ-जहाँ स्पर्श होता है वहाँ की त्वचा ही सिहर उठती है। एक कम्पन-सा दृष्टिगत होता है– मानो उसे गुदगुदी हो रही हो। आत्म-विश्वासपूर्वक महाराज ने कहा–"मोती हमारे लिए है। हम ही इसके प्रथम आरोही होंगे, एक मात्र आरोही इसके लिए हम ही रहेंगे, महाबलाधिकृत जी ! और प्रथम आरोहण भी हमारा आज ही, इसी समय होगा।" महाराज मोती की आवरणहीन पीठ पर थपकी देने लगे और इस अयाचित स्पर्श से वह उछलने-कूदने लगा।

महाबलाधिकृत ने भी और अन्य उपस्थित जनों ने भी महाराज को बरजा। कहा–"अश्व उच्छृंखल है, किसी के वश में नहीं आता, इसकी उद्दण्डता का कारण अभी इसकी वन्यता है। उचित प्रशिक्षण से ही इसमें संकेत ग्रहण का सामर्थ्य आ सकेगा। वह प्रशिक्षण अभी शेष है। मोती की शक्ति अतुलित है, किन्तु उसका सदुपयोग अभी यह नहीं जानता। इस पर कालान्तर में ही आप आरूढ़ होइये।" इसी आशय की अनेकानेक बातें आती रहीं, किन्तु महाराज ने उन पर कान नहीं दिया। मोती की उछलकूद बढ़ती गयी। उसने उत्पात मचाना आरंभ कर दिया। अनियंत्रित होकर वह अपने अगले पैर उठाकर पिछले पैरों पर खड़ा हो गया और ऐसा हिनहिनाया कि सभी आतंकित-से हो उठे। उसकी गर्दन की केश-राशि इधर-उधर झूलने लगी। वल्गा छुड़ाकर उसने दौड़ लगायी। सभी भयातुर से इधर-उधर दुबकने लगे। महाराज विक्रमादित्य लपककर मोती के पीछे भागे। वे उसकी वल्गा थाम लेना चाहते थे, किन्तु गर्दन घुमाकर वह ऐसा झटका देता था कि वल्गा हाथों से दूर हो जाती। बड़ी देर तक ऐसा ही ऊधम चलता रहा, किन्तु अब मोती को स्वाधीन छोड़ना उपयुक्त भी न था। अवन्ती-नरेश ने अत्यन्त साहस के साथ आगे बढ़कर उसकी गर्दन थाम ली। एक हाथ से वे झूल-से गये और दूसरे हाथ से उन्होंने वल्गा थाम ली। वल्गा के एक ही झटके ने अश्व को स्थिर कर दिया। उपस्थित जनों की तब साँस में साँस आयी। अब भी उसकी उछलकूद चल रही थी। महाराज ने उसका मुख सहलाया, मस्तक को चूमा। गर्दन में बालों को प्रेम से सहलाते हुए वे हाथ फिराने लगे। पीठ पर हाथों का कोमल स्पर्श देकर उन्होंने अश्व को सँभाल लिया और तभी त्वरा के साथ वे मोती पर

आरूढ़ होकर वल्गा को दृढ़ता के साथ थाम लिया। महाराज के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने पाया कि ऐड़ का संकेत पाये बिना ही अश्व सहसा तीव्र गति से आगे बढ़ गया। महाराज को मोती पर आरूढ़ देखकर सभी चिन्तित हो उठे। महाबलाधिकृत महाराज के इस कथन से तो सहमत हो गये कि शक्ति को शक्ति की अपेक्षा स्नेह से अधिक सुगमता के साथ वशीभूत किया जा सकता है। यह शक्तिमान के मन पर विजय का मार्ग है जो तन को तो स्वतः ही प्रभावित कर देती है। किन्तु उन्हें महाराज की सुरक्षा की चिन्ता व्यथित करने लगी। वे तुरन्त अपने कुछ सहयोगियों के साथ अश्वारूढ़ होकर प्रस्थित हो गये और महाराज का अनुसरण करने लगे।

मोती अवन्तीनाथ को लेकर भागा जा रहा था। नगर के राजमार्ग पर वह इतनी तीव्र गति से अग्रसर हो रहा था कि महाराज को आसपास के भवन पीछे भागते-से प्रतीत होने लगे थे। इस प्रचण्ड तुरंग पर आरूढ़ महाराज को देखकर पुरवासी जन आश्चर्य में पड़ गये। वे चिन्तित और दुःखित हो गये और अपने-अपने आराध्य देवों से महाराज की सुरक्षा के लिए प्रार्थना करने लगे। अश्व के गर्दन की केश-राशि वीभत्स रूप में उछल रही थी। उसकी कनौती खड़ी हो गयी और पूँछ ऊपर को उड़ गयी थी। इस भयावह दृश्य को देखकर स्त्रियाँ चीत्कार कर उठीं। हाहाकार के इस वातावरण को पीछे छोड़कर कुछ ही पलों में अश्वारूढ़ महाराज नगर-सीमा को पार कर गये। मोती अब भी तीव्र गति से बढ़े जा रहा था। रुकने-थमने का वह नाम न लेता था। वन-प्रान्त में पहुँचकर तो उसे और भी स्वच्छन्दता का आह्लाद अनुभव होने लगा। शीतल बयार के कोमल स्पर्श ने उसे और भी तीव्रगामी बना दिया था। महाराज भी अश्व के इस असामान्य व्यवहार को देखकर किंचित् चिंतित होने लगे। वे इसे थामने के अनेक उपाय करते जा रहे थे, किन्तु परिणाम में उसकी गति और भी तीव्र होती जा रही थी। ऐसा बलिष्ठ अश्व तो उन्होंने कभी न देखा था। थकान और शैथिल्य का कोई चिह्न उसमें दिखायी नहीं देता था। सरपट दौड़ता चला जा रहा था मोती और मार्ग में आने वाले पशु चौंककर एक ओर को भाग जाते थे। पक्षीगण सहसा इस विद्रूप दृश्य से भीत होकर चहचहाने लगते थे। महावलाधिकृत का अश्वारोही दल भला मोती का पीछा क्या कर पाता। वह पीछे न जाने कहाँ छूट गया था।

दोपहर आयी और वह भी ढल गयी। अव सूर्य पश्चिम की ओर महाराज को अपने समक्ष दिखायी देने लगा। हवा की सनसनाहट उनके कानों में भर गयी थी। रह-रहकर मोती अपनी पूरी शक्ति के साथ हिनहिना उठता था। पसीने से लथपथ होकर भी उसकी सवल देह में तनिक भी शैथिल्य नहीं आ रहा था। सघन वृक्ष-समूहों को पार करता, नदियों को तैरता, नालों को उलाँघता, टेकरियों पर चढता-उतरता मोती अदम्य साहसी की भाँति वढ़ता चला जा रहा था। महाराज

ही अधरों में बुदबुदाये—"हमारा प्यारा अश्व ····।" और जिज्ञासा-भरी दृष्टि से वनवासी की ओर निहारा।

वनवासी ने कहा—"भाई ! तुम्हें तुम्हारे अश्व से बड़ा लगाव है—ऐसा जान पड़ता है, परन्तु अब उसकी चिन्ता व्यर्थ है ··· वह अब इस जगत् में नहीं रहा। किन्तु ···· भाई, आप कौन हैं ? इस वन में आप कैसे पहुँचे ?"

महाराज विक्रमादित्य बैठने की चेष्टा करने लगे। वनवासी भील ने सहायता कर उन्हें बिठा दिया। तनिक स्वस्थता का अनुभव करते हुए उन्होंने कहा—"अभी तो हम इस वन में हैं और तुम्हारे भाई हैं। देवदूत की भाँति तुमने यहाँ हमारी सहायता की है, सेवा और हमारे प्राणों की रक्षा की है। तुम्हारी उदारता हमें सदा स्मरण रहेगी, बन्धु !"

"ओहो ··· ओ ·· इसमें मेरी कौन बड़ाई है, मेरे भाई ! संकट के समय कोई सहायता न दे तो फिर भला वह मनुष्य ही कैसा ! मैंने तो अपना साधारण सधर्म निभाया है पर भैया ! आपने मेरी सेवा को माना यह साधारण बात नहीं है। उपकार मानना और उसे खुले रूप में प्रकट करना—इसमें भी एक उदारता है और जिसमें यह उदारता होती है वह महात्मा की श्रेणी में आ जाता है। सचमुच भैया ! आप तो किसी ऊँचे कुल के लगते हो। आपकी ऐसी उदारता, ऐसा भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व, ऐसी शौर्य की छवि मुख-मण्डल पर—आप तो जैसे किसी देश के राजा हो—ऐसा लगता है।" भील महाराज के प्रशस्त वक्ष और बलिष्ठ भुजाओं को देखता ही रह गया।

"भाई ! पहले हमें यह बताओ तुम इसी वन के वासी हो या नहीं ?"

महाराज के इस सरल से प्रश्न का उत्तर देते हुए आदिवासी ने गौरव के साथ कहा—"जी ···· मेरा जन्म भी इसी वन में हुआ और मेरा सारा जीवन इसी वन में बीता है। भैया ! मौत का कोई ठिकाना नहीं कब आ जाय और कहाँ आ जाय, पर हमारी इच्छा यही है कि चाहे आज ही मौत आ जाय पर हम इसी वन में अपने प्राण छोड़ें।" भावावेश में उसका कंठावरोध-सा होने लगा।

महाराज ने तभी उसे आश्चर्यचकित करते हुए कहा—"भील भैया ! हमें लगता है यह वन मालव-राज्य का है और आज तुमने मालव-नरेश की सेवा-सहायता की है। अपने राजा की रक्षा की है।"

आदिवासी भील अवाक्-सा रह गया—"जय हो महाराज ! आप अमर रहें ! और युग-युग तक मालव-प्रजा को पालते रहें, राजन् ! मेरा ऐसा भाग्य कि जगत्-प्रसिद्ध मालवराज विक्रमादित्य महाराज की सेवा कर सकूँ। मेरी तो सात पीढ़ियाँ तर गयीं, महाराज !" आदिवासी महाराज के चरण थामकर हौले-हौले चम्पी करने लगा। महाराज ने प्रेमपूर्वक उसके हाथ थाम लिये और उसे अपने वक्ष से लगा लिया।

आदिवासी ने सहज होते हुए महाराज से यह प्रसंग सुना कि कैसे वे इस वन में पहुँच गये। उसने आग्रह किया कि महाराज, यह वन हिंस्र पशुओं के लिए दूर-दूर तक जाना जाता है। मैं अपनी भीलनी के साथ यहीं एक गिरि-कन्दरा में रहता हूँ। आप भी यहाँ खुले में रात्रि व्यतीत नहीं कर सकेंगे। आपसे विनती है कि आज आप मेरी कन्दरा में विश्राम करें और मेरी अतिथि-सेवा का स्वीकार करें।"

"भाई ! तुम उपयुक्त ही कहते हो। तुम्हारा तो उपकार हम पर जितना ही अधिक हो—हमें उतनी ही अधिक प्रसन्नता रहेगी। कहाँ है तुम्हारी वो कन्दरा?" महाराजा ने जिज्ञासा व्यक्त की।

"यहाँ, कुछ ही दूर, इस टेकरी के पीछे ही मेरी कन्दरा है, प्रभो ! मैं दीन-हीन भला क्या सत्कार कर पाऊँगा, पर मेरा मान तो बढ जायेगा, महाराज ! कृपा कीजिये।"—निहोरे के स्वर में आदिवासी ने अनुरोध किया।

"तो भाई ! चलो, अब विलम्ब क्यों किया जाय।" महाराज ने यह कहते हुए उठने का उपक्रम किया। आदिवासी ने उनको सहारा दिया। तन में जकड़न थी, जोड़-जोड़ वेदनाग्रस्त था। वे भील के संग हो लिये।

वास्तव में कन्दरा समीप ही थी। कुछ ही समय में वे पहुँच गये। मार्ग में आदिवासी महाराज को बताता चल रहा था कि यह वन बड़ा भयानक है। यहाँ अनेक-अनेक बाघ भ्रमण करते रहते हैं। विशेष रूप से रात्रि का समय बड़ा जोखिम भरा होता है। हम वनवासियों के लिये भी भय बना रहता है। इसी कारण मैं कन्दरा में रहता हूँ। कन्दरा पर पहुँचकर वनवासी भील ने बाहर से ही पुकारा—"अरी भागवान !··· कहाँ है तू··· सुन तो··· देख, आज अवन्ती के नाथ··· मालवा के राजाधिराज तेरे घर पाहुने पधारे हैं।"

भीतर से द्वार पर पहुँचते हुए भीलनी ने कहा—"अरे ! क्या हाँकते जा रहे हो····कहीं से भाँग तो नहीं पी ली तुमने··· कहाँ के राजा··· और वो भी यहाँ कैसे··· बावले तो नहीं··· ।" पति के साथ एक संभ्रान्त व्यक्ति को देख वह ठिठक गयी। उसकी बोली मुँह में ही रह गयी।

सकुचाकर वह खड़ी हुई ही थी कि भील ने पुनः कहा—"अरी बावली तो तू हो रही है। देख, राजाधिराज खुद पधारे हैं। जा, कुछ····।"

अति उत्साहित भीलनी भीतर गयी और मिट्टी के पात्र में जल ले आयी। आदरपूर्वक महाराज के चरण प्रक्षालित कराये और आँचल फैलाकर उसने उनका स्वागत किया—"धन्य भाग्य हमारे कि हमारे द्वार पर मालवा के राजाधिराज के चरण पड़े। पधारो महाराज, भीतर पधारो।" कंदरा का द्वार छोटा-सा था। समीप ही बाहर एक विशाल शिला भी रखी थी। भील ने बताया—"रात को द्वार पर यह शिला अड़ा देते हैं हम, फिर बाघो से सुरक्षा रहती है।" बतियाते हुए महाराज ने

द्वार में प्रवेश किया। आगे बढ़कर भील ने खटिया बिछा दी। खटिया का एक पैर ऊपर को उठ गया। भील को मन ही मन बड़ा संकोच लगा। खटिया भी ठीक नहीं····। भीलनी ने दूसरे कोने के पाए को ज़मीन पर दबाकर रखा। भील ने बल लगाकर ऊँचे वाले कोने को दबाकर ठीक किया। उसने कंधे पर से अपना अँगोछा उतारकर खटिया पर बिछा दिया। महाराज खटिया पर विराजे। तब तक मिट्टी के छोटे पात्र में भीलनी जल ले आयी। प्रेमपूर्वक महाराज ने जल पिया। अब उन्हें अनुभव हुआ कि न जाने कब से उनका कंठ सूख रहा था। मिट्टी के कुल्हड़ में भरा जल आज उन्हें अमृत-तुल्य लगा। प्रेम की महिमा ऐसी ही होती है। ऐसी तृप्ति महाराज को इससे पूर्व कभी न हुई।

महाराज श्रमित–थकित-सा अनुभव कर रहे थे। सारे तन में अकडन की पीडा भरी थी। सिर चकरा रहा था। जी करता था कि विश्राम ही विश्राम करें। वे उस खटिया पर लेट गये। कन्दरा के मन्द अँधियारे को भी टिमटिमाता दीपक बड़ी कठिनाई से कुछ कम कर पा रहा था। बाहर से छोटी-सी लगने वाली यह कन्दरा भीतर से पर्याप्ततः बड़ी थी। छत की ऊँचाई भी कम न थी। लगता था भीलनी गृहणी ने परिश्रमपूर्वक इसके ऑगन को समतल करने का प्रयास किया था। लिपा हुआ स्वच्छ आँगन और भित्तिचित्रामों से सज्जित दीवारों से एक सुरम्य और आकर्षक वातावरण बना हुआ था। महाराज निरुद्देश्य ही छत की ओर ताकते रहे और इस वन्य दम्पति के सुखमय जीवन के विषय में सोचते जा रहे थे। कैसा निरीह और निश्छल जीवन है इनका। बहुत सादगी से भरा यह जीवन बड़ी-वड़ी आकांक्षाओं से हीनता में ही सार्थक और सफल होता जा रहा है। अवन्तीनाथ महाराज विक्रमादित्य आज राजसी सुख-विलासों से दूर इस विपन्न और अभावग्रस्त गृह में एक अद्भुत सुख की अनुभूति कर रहे थे। वे सोचते जा रहे थे कि समय परिवर्तनशील ही नहीं, वह परम बलवान और सर्वनियन्ता भी होता है। हमारे विगत कल और विद्यमान आज की परिस्थितियों में कितना भूतल-गगन का अन्तर है। यही समय की लीला है और यही जीवन का सत्य है। विद्यमान क्षण ही जीवन का यथार्थ होता है। जब तक यह क्षण भवितव्य के गर्भ में होता है– अकल्पनीय होता है, उसके विपय में कोई अनुमान नहीं लग पाता। वह तो आज के रूप में साकार होकर ही स्वयं को स्वतः प्रकट करता चलता है और अपने अस्तित्व को अतीत में विसर्जित कर आगामी क्षण के लिए स्थान वनाता चलता है। यों ही इतिहास का निर्माता वनने वाला वर्तमान प्रवाहित होता चला जा रहा है और··· और यही जीवन है।

कंदरा के एक दूर के कोने में चूल्हा जल रहा था। गृहणी भोजन पकाने में व्यस्त थी। ज्वालाओं के प्रकाश मे उसका उत्साह भलीभाँति दृष्टिगत हो रहा था। उसे अतिथि के आगमन की प्रसन्नता भी थी और अतिथि-सत्कार हेतु उसमें

तत्परता भी स्पष्टतः लक्षित हो रही थी। उसका यह उत्साह और उमंग उसके क्रियाकलापों में उसकी दत्तचित्तता और सक्रियता में भलीभाँति आभासित हो जाती थी। कभी वह मंद होती आँच को बढ़ाने के लिए ईंधन की लकड़ियों को ऊपर-नीचे कर व्यवस्थित करती तो कभी हॉडी में चाटू हिलाती, उसमें पक रहे तरल खाद्य को ऊपर-नीचे करती। चाटू में भरकर उस पदार्थ को बाहर ले आती और उसे ध्यान से देखकर कुछ ऊँचाई से धार बनाकर पुनः हॉडी में डाल देती। तब एक निश्चिन्तता के साथ अन्य प्रकार से व्यस्त हो जाती। कठौती को खिसकाकर अपने सामने कर लिया और उठकर भित्ति के समीप रखे एक बड़े मटके से कुछ निकालने लगी। उसका पति भी अन्य व्यवस्थाओं में व्यस्त हो गया। उसने दूर से ही अपनी पत्नी को सम्बोधित कर कहा–"अरी भागवान ! आज हमारे भाग्य का रुपहला दिन है कि सारे मालवा के राजाधिराज इस कंदरा को पवित्र करने को पधारे हैं। रसोई जरा ढंग से बनाना। क्या बना रही है?"

"हॉ .... हॉ ... मुझे मालूम है ... भगवान की किरपा है। ऐसे पाहुने तो बड़े-बड़े घरों को भी नहीं मिल पाते। अब हम तो तुच्छ पराणी हैं न ! क्या है हमारे पास ! क्या आवभगत करें। पर सुनो–पाहुने की आवभगत में पदारथ की कमी आड़े नहीं आती। सतकार की सच्ची भावना और प्रेम से ही सब-कुछ हो जाता है। हमारे ये अन्नदाता तो सब-कुछ जाने हैं। थोड़े को भी प्रेम से अंगीकार कर लेंगे, हमारा जनम सारथक हो जाएगा।" इतना कहकर उसने हाथ जोड़ दिये। एक स्वच्छ और निरीह मुस्कान उसके अधरों पर फैल गयी। वह स्वच्छ–स्वस्थ नारी और भी सुन्दर हो उठी–"राबड़ी बन रही है और बाजरे की गरम-गरम रोटी उतार दूँगी। सालन कुछ और हो जाता तो ... पर अब तो रात हो गयी। कहीं से ....।"–विवशतापूर्वक उसने यह कहा।

और समर्थन के स्वर में भील बोला–"हाँ, री ... अब तो सालन कहाँ ... सुन तो जरा ....।"

"हॉ ... हाँ ... क्या कहो हो ..... कहो, सुन रही हूँ।"

"अरी बावली ! ..... प्याज तो रखा होगा, वही तैयार कर दे। और हॉ, मिरची ही पीस क्यों नहीं लेती !"

"हॉ ... मैं ये तो भूली ही जा रही थी। अच्छी याद दिलाई तुमने। मैं अभी तैयार किये देती हूँ।" तत्परता के साथ भीलनी ने कहा और काम में लग गयी। भील-दम्पति के इस आदर्श जीवन पर महाराज विचार करते जा रहे थे। रात्रि अच्छी तरह उतर आयी थी। महाराज को यह विश्राम बड़ा सुखद प्रतीत हुआ। वे कुछ स्वस्थता का अनुभव करने लगे। भील भी अपने हाथो का काम सम्पन्न कर महाराज के समीप आ गया और खटिया के पास भूतल पर बैठ गया। महाराज वीर

विक्रम भी उठ बैठे। भील ने आग्रह किया कि वे लेटे रहें, किन्तु यह कहते हुए वे उठ बैठे कि अब वे ठीक अनुभव कर रहे हैं। उन्होंने एक अँगड़ाई ली और भील को बताने लगे कि आज का दिन उनके लिए कैसा आपदापूर्ण रहा—पर उन्होंने संतोष भी प्रकट किया कि यदि यह संकट न आया होता तो भला उन्हें वनवासियों के जीवन की झलक इतने समीप से कैसे मिल पाती। उन्होंने वनवासियों के इस प्रकार के सरल जीवन की, उनकी प्रेम भावना की, उनकी निष्कपटतापूर्ण मानवता की भूरि-भूरि प्रशंसा की और इसी में मानव-जीवन की सफलता को स्वीकार किया। भील अपनी तुच्छता और साधनहीनता का बखान करता रहा। दोनों में काफी समय तक इसी प्रकार वार्त्तालाप चलता रहा। खटिया पर अधलेटे बैठे महाराज को इस वार्त्तालाप में बड़ा रस आ रहा था। बार-बार वे इस भील-दम्पति के पारस्परिक प्रीति भाव का भी बखान और उसकी प्रशंसा करते रहे। उन्हें ज्ञात हुआ कि इस सघन वन-खण्ड में बहुत कम आदिवासियों का वास है। दूर-दूर टेकरियों पर बिखरे-बिखरे परिवार रहते हैं। इसी प्रकार कंदराएँ ही उनके आवास-स्थल हैं। कभी-कभी दिन के समय ये लोग मिलते हैं। रात्रि में सभी अपने-अपने स्थानों पर बन्द हो जाते हैं। हिंसक पशुओं के भय से रात्रि में आवागमन संभव नहीं हो पाता। जीवन यहाँ बड़ा कठिन है। इन कठिन परिस्थितियों ने ही उन्हें आगत अतिथियों की हर संभव सेवा-सहायता के लिये प्रेरित भी किया है। यहॉ किसी का किसी से वैर नहीं, सभी एक-दूसरे के स्नेही बंधु हैं। एक का दुःख सभी का दुःख बन जाता है और विवाहादि उत्सव और त्योहार वे सभी मिलकर बड़े उत्साह और हर्ष के साथ मनाते हैं। भील ने अपनी भीलनी की भी बड़ी प्रशंसा की। उसे लाखों में एक बताया। कहा कि वह उससे अत्यन्त प्रेम करती है, प्राण न्योछावर करती है उस पर, उसके जीवन की एक ही साध है कि उसका पति प्रसन्न रहे, सुखी रहे। अपनी पत्नी को देवी के समान बताते हुए उसने कहा—किसी का भी दुःख वह देख नहीं सकती। जो बन पड़ता है यह करने को सदा तैयार रहती है कि दूसरों का कष्ट दूर हो सके। मेरे लिये तो यह वरदान के समान ही है। छाया की तरह यह सदा मेरे साथ बनी रहना चाहती है। पलभर भी मैं इसकी पलकों की ओट हुआ कि इसका रोम-रोम कम्पित हो जाता है। जिस दिन मैं न रहूँगा ··· इसका जीना भी दुर्लभ हो जायेगा। भील ने कहा कि आसपास के लोग हमें सारस का जोड़ा कहते हैं। वो इसलिए कि सारस नर-मादा सदा एक साथ देखे जाते हैं। यह पक्षी एक-अकेला नहीं रह सकता। यहॉ तक कि अगर एक का मरण हो जाय तो अन्य भी क्रन्दन करते-करते प्राण त्याग देता है। क्षीण-सी हँसी के साथ भील ने यह भी कहा कि उसे लगता है लोगों की यह बात कभी सच ही होकर रहेगी। हमारा जोड़ा सच में सारस का जोडा ही हो जायेगा। भगवान भला करे इस स्त्री का ···· जितना प्रेम भाव इसका मेरे साथ है उसका आधा भी कुछ मैं इसके लिए नहीं कर पाता। भील की

इस स्वीकारोक्ति से महाराज बड़े प्रभावित हुए और उन्हें अपना अनुमान सत्य ही प्रतीत होने लगा कि वस्तुतः भील-दम्पति की पारस्परिक प्रीति बड़ी सुदृढ़, निर्मल और निःस्वार्थ है। भील ने यह भी कहा कि मेरी मनोकामना है कि जनम-जनम में मुझे यही पत्नी रूप में मिले।

इसी समय भीलनी ने बड़ी कोमल वाणी में रसोई तैयार हो जाने की सूचना दी। बतियाते हुए ही भील तुरन्त उठ खड़ा हुआ। उसने काष्ठ का पट्ट कंदरा की दीवार के समीप रखा, उसे अँगोछे से एक बार फिर से झाड़ दिया। एक ऊँचा-सा पत्थर का पाटा उसके सम्मुख रख दिया और उसे भी खूब साफ कर दिया। यह पाटा ही थाली के स्थान पर प्रयुक्त होता था। भीलनी जलपात्र ले आयी थी। भील ने आगे बढ़कर पात्र उसके हाथ से स्वयं थाम लिया और महाराज के हाथ धुलवाये। पोंछने को अँगोछा आगे करते हुए उसने भोजन के लिए बैठने का आग्रह किया। महाराज लकड़े के पट्ट पर आसीन हुए और काष्ठ के एक पात्र में राबड़ी पत्थर के पट्टे पर रखते हुए भीलनी तुरन्त दौड़कर गयी और एक बड़े पत्ते पर बाजरे की गरम-गरम रोटी लेकर आयी। महाराज के समक्ष उसने पलाश के एक पत्र पर लहसुन की चटनी रख दी और तोड़ा हुआ प्याज भी। इस वनवासी परिवार का यही उत्तम कोटि का भोज था। तब भीलनी ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"कहाँ मालवा के राजेश्वर महाराज आप और कहाँ हम वनवासी गरीब लोग। महाराज ! जो भी रूखा-सूखा है उसे स्वीकार कीजिये।"—और वह मुस्करा उठी।

"अरी बावली ! महाराज तो महान् हैं हमारे। वे चीज नहीं, भावना देखते हैं।"

"बहन ! सुनो, अन्न तो देवता है। देवता कोई बड़ा-छोटा या अच्छा-बुरा नहीं होता। देवता तो देवता ही है। हम बड़ी रुचि के साथ भोजन करेंगे। भूख भी खूब लग आयी है। सवेरे से कुछ मिला ही कहाँ है खाने को। डटकर खाएँगे। आहा, कैसी महक आ रही है।" महाराज ने आनन्द-मग्न होते हुए कहा और भोजन आरम्भ किया। वे प्रत्येक भोज्य-वस्तु की प्रशंसा करते रहे और भोजन करते रहे। भीलनी बाजरे की गरम-गरम रोटी उतारती रही, भील परोसता रहा, महाराज आनन्दपूर्वक खाते रहे। अन्त में महाराज ने कहा—"सच मानो भैया ! ऐसा स्वादिष्ट भोजन हमें जीवनभर में कभी न मिला। भला हो उस अश्व—मोती का कि उसने आज यह अवसर सुलभ करा दिया। सचमुच, हमने आज जितना भोजन किया उतना तो कभी भी नहीं किया।"

"हमारा मन रखने को आप ऐसा ....।"

भील की बात अधूरी ही रह गयी और महाराज ने उसे टोकते हुए कहा– "ऐसा नहीं है, भैया !.... ऐसा नहीं है। यह वास्तविकता है। धन्य हो तुम और धन्य है तुम्हारा जीवन। आज तुमने हमारे प्राणों की रक्षा ही नहीं की इस घोर वन में हमें अन्नदान से भी तृप्त किया है। हम तुम्हारे आभारी हैं.... धन्यवाद करते हैं तुम्हारा। अब तुम लोग भी भोजन कर लो.... हमारा पूरा हो गया।"

महाराज हाथ धोकर विश्राम करने लगे। भील-दम्पति ने भोजन किया। महाराज की आँख लग गयी। वे शीघ्र ही गहन निद्रा में खो गये। भोजनोपरान्त भील-दम्पति ने आगे की व्यवस्थाएँ कीं। महाराज की नींद रात्रि में कभी खुले और उन्हें जलादि की आवश्यकता हो, अतः भीलनी का कंदरा में रहना अनिवार्य था। वह चूल्हे के समीप ही लेट गयी। भील ने रात्रिभर जागकर पहरा देने का निश्चय किया। वह लाठी लेकर कंदरा के द्वार पर चला गया। बाहर निकलकर उसने शिला को खिसकाकर द्वार बन्द कर दिया। सावधानी के साथ वह पहरा देने लगा। तीव्र पवन वन में हू-हू कर दौड़ती रही, कभी-कभी वन्य पशुओं का स्वर भी आ जाता। निर्भीक भील चट्टान पर अपनी लाठी पटक-पटककर आवाज कर लेता था। नींद को दूर रखने के लिए लहलहा जाता और गीत गुनगुनाता जा रहा था। अर्द्ध-रात्रि इसी प्रकार व्यतीत हो गयी।

रात्रि का पिछला प्रहर आते-आते सहसा किसी गर्जना से महाराज की नीद टूटी। भीलनी भी सोई न थी, तुरन्त उठ बैठी। बाहर बाघ दहाड़ रहा था। भील को कंदरा में न पाकर उन्होंने भीलनी से उसके विषय में पूछा। ज्ञात हुआ कि वह उनकी सुरक्षा के लिए कंदरा के बाहर पहरा दे रहा है तो वे व्याकुल हो गये। "अरे, उसने ऐसा क्यों किया.... स्वयं को ऐसी जोखिम में डाल लिया।"–महाराज ने कहा और चिन्तित हो उठे। दौड़कर वे द्वार की ओर वढ़े–भीलनी भी उनके साथ गयी। द्वार बाहर से बन्द था। महाराज बाहर निकलने को आतुर हो उठे। वाघ की दहाड़ और भील की ललकार की ध्वनियॉ आती रहीं। सहसा भील की चीत्कार सुनाई दी। भीलनी कॉप उठी। बाघ की गर्जना होती रही, किन्तु भील का स्वर नही आ रहा था। महाराज ने द्वार पर लगी शिला हटाने का प्रयास किया–किन्तु वह भीतर से हट नहीं सकती थी। जव वाहर से वाघ की ध्वनि आनी भी वन्द हो गयी और शान्ति छा गयी तो महाराज ने पूर्ण शक्ति के साथ पदाघात किया। शिला लुढ़क गयी। दोनो कंदरा से वाहर निकले जो दृश्य देखा–उससे महाराज विह्वल हो उठे। वाघ मृत पड़ा था। उसके मुख में लाठी फॅसी हुई थी और ढेर-सा रक्त वाहर निकल आया था। तभी उनकी दृष्टि भील के रक्त-रंजित निर्जीव पड़े शरीर की ओर गयी। मरते-मरते भी उसने महाराज की सुरक्षा का अपना दायित्व पूरी तरह निभाया। वह महाराज के लिए प्राणोत्सर्ग कर अमर हो गया।

भावावेश में इस बलिदान के लिए भील के जीवन को धन्य मानते हुए महाराज ने उसे प्रणाम किया। उनके नेत्र सजल हो गये। भीलनी पर तो जैसे गाज ही गिर गयी। वह क्रन्दन कर उठी। वज्र हृदय को भी विदीर्ण कर देने वाले उसके विलाप से वन की दिशाएँ गूँज उठीं। महाराज किंकर्त्तव्यविमूढ़-से खडे रह गये। वे शोक-संतप्त भीलनी को धैर्य दिलाने का विफल प्रयत्न करते रहे। "....यह तुमने क्या किया, मेरे स्वामी !.... मुझे अकेली छोड़कर क्यों चले गये....तुमने तो जीवनभर साथ निभाने का वादा किया था।....अपना वादा कैसे भूल गये तुम.... पर मैं मरकर साथ निभाऊँगी स्वामी ! न तुमको अकेले जाने दूँगी और न मैं अकेली रहूँगी।.... मैं जीकर भला अब क्या करूँगी.... मैं क्या करूँगी अकेली....।" कहते-कहते भीलनी का स्वर मंद से मंदतर होते हुए लुप्त हो गया। पति के निष्प्राण देह से लिपटी भीलनी ने भी प्राण त्याग दिये। उसका निर्जीव तन एक ओर को लुढक गया। उसकी माँग का सिन्दूर चूड़ियों की अन्तिम खनक के साथ चमक उठा और भाल की बिन्दी मुस्कराने लगी थी।

महाराज इस तीव्र गति घटना-चक्र से व्यग्र हो उठे थे। इस आदर्श-प्रेमी-युगल के ऐसे करुण अन्त के प्रत्यक्ष साक्षी अवन्ती-नरेश कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं जोड़ पा रहे थे। इस पीडादायक अंत की भूमिकास्वरूप इस युग्म का कोई अशुभ आचरण हो ही नहीं सकता। ऐसे सद्व्यवहारी, भावुक, मनुष्यतायुक्त, परोपकारी और सेवाभावी दम्पति को यह दुष्परिणाम भोगना पड़े—आश्चर्य की बात है। इस वनवासी ने संकट में उनकी सहायता की, उनको जीवनदान दिया, अतिथि-सेवा के रूप में उनकी सेवा की। दान की तो महिमा अत्युच्च होती है। इस पुण्य कर्म की ऐसी वीभत्स परिणति हो तो दान में किसकी आस्था स्थिर रहेगी। कौन शुभ कर्मो के संचय का यत्न करेगा।

अवन्तीनाथ इस विचित्र ऊहापोह मे ग्रस्त थे कि तभी सूर्योदय हो गया। पंछी चहचहाकर अनुपम प्रेम का मानो यशोगान करने लगे थे। सूर्य की प्रथम रश्मियाँ भी इस प्रेमी-युगल के शव को अपना कोमल स्पर्श देकर धन्य होने लगीं। भील-दम्पति चिर निद्रा में और महाराज गहन विचारों में निमग्न थे कि उसी समय यह निर्जन वन अनेक अश्वों की टापों से गूँज उठा। महाराज का इससे ध्यान भंग हुआ। वे ध्यान लगाकर सुनने की चेष्टा करने लगे। वास्तव में कोई अश्वारोही दल ही आगे वढ़ता चला आ रहा हो—ऐसा आभास उन्हें होने लगा और वे उत्सुकता से ध्वनि की दिशा में निहारने लगे। कुछ ही पलों में उन्होंने देखा कि एक मालव अश्वारोही वृक्षावली से बाहर निकल आया था और तव तो एक के बाद एक अनेक अश्वारोही दिखायी देने लगे। महाबलाधिकृत भी तव दीख पड़े। अपने स्वामी अवन्तीनाथ की ओर दृष्टि गयी तो उनकी जी की कली ही खिल गयी। प्रसन्न और उत्साहित होकर वे इधर ही वढ़े। दूर से ही प्रणाम कर वे

महाराज की कुशल-क्षेम पूछने लगे। समीप आकर जब यहाँ का वीभत्स दृश्य उन्होंने देखा तो वे भी हतप्रभ हो देखते रह गये। जब महाराज से सारी घटना का ज्ञान हुआ तो महाबलाधिकृत भी भील-दम्पति के प्रति श्रद्धावनत हो गये।

महाराज का संकेत पाकर दिवंगत दम्पति के अन्तिम संस्कार का उपक्रम आरम्भ हुआ। सभी सैनिक जुट गये। तत्काल ही चिता निर्मित की गयी। उस आदर्श युगल के पार्थिव तन चितारूढ़ किये गये। महाराज ने स्वयं मुखाग्नि दी। प्रज्वलित चिता से ऊँची-ऊँची लपटें उठने लगीं मानो इस आदर्श-प्रेमी-युग्म की यशोगाथाओं का स्वर्गलोक तक पहुँचाने का प्रयास कर रही हो। महाराज का मन वितृष्णा से भर गया। संसार की असारता और जीवन की क्षणभंगुरता के विचार उनके मन में विरक्ति उत्पन्न करने लगें। उनके मनःचक्षुओं के समक्ष भील-दम्पति का निष्कपट व्यवहार, उनका सेवाभाव, उनका प्रीतिपूर्ण आचरण, उनकी उत्सर्ग भावना साकार हो उठती। रह-रहकर गत संध्या के सारे दृश्य उभरने लगे। देखते ही देखते भील-दम्पति का समस्त भौतिक अस्तित्व भी भस्मीभूत हो गया, अन्तिम पार्थिव तत्त्व भी विघटित होकर अपने विराट् में विलीन हो गया। शेष रह गयीं- स्मृतियाँ ही स्मृतियाँ। महाराज ने चिता की पुनः परिक्रमा की। उस आदर्श युगल के प्रति नमन किया और भारी मन से वे विदा हो गये। उनके मन में सुकृत्यों, दान और उपकार के प्रति जो आस्था का सुदृढ़ भाव था—वह डगमगाने लगा। उनकी आस्था अनेक प्रश्नों से घिरने लगी।

● ●

महाराज के सकुशल अवन्ती-आगमन से समस्त पुरवासी प्रसन्न हो गये। समस्त राजभवन में अनुपम हर्ष व्याप्त हो गया। महाराज भी अपने परिजनों को इस प्रफुल्लता के केन्द्र में स्वयं को मानकर प्रसन्न थे। सर्वत्र उत्सव का-सा वातावरण छा गया। सत्य ही उनके मन में एक वैचारिक शल्य भी चुभ जाता था और वार-वार वे आहत से अनुभव करने लगते थे। भील-दम्पति की स्मृतियाँ उन्हें विकृत कर देतीं थी। सुकर्मो का जो दारुण परिणाम उन्होंने देखा था—वह उन्हे विचलित करता जाता था। अपने भीतर को भीतर ही लुप्त रखने का प्रयास करते हुए मालव-नरेश प्रसन्न रहने व दिखने का प्रयास करने लगे। उनका जीवन तो वहुआयामी था। कर्मक्षेत्र के अन्यान्य विपयों का चिन्तन और व्यस्तता घनीभूत होकर मन के इन करुण भावों पर हावी होने लगी। राजकाज में सक्रिय होकर वे पुनः अपने सामान्य और सहज स्वरूप को प्राप्त करने लगे। वीर विक्रम पूर्ववत् हो गये। समस्याओं से जूझना और

समाधान तक पहुँचकर ही विराम लेना–यह उनका स्वभाव था। ऐसे चरित का मानसिक विषाद क्षणिक रूप से ही सक्रिय रहता है। वह अल्पजीवी तो नहीं होता, किन्तु वह भीतर ही भीतर लुप्त और सुप्त हो जाता है।

सीमा-पार के पर्वतीय प्रदेश की हलचलों के समाचार अवन्ती में आते रहते थे। यहाँ का राजा स्वच्छन्द प्रकृति का तो आरम्भ से ही था, अब उसकी मनमानी और क्रूरता अत्यधिक बढ गयी थी। उसने राजधर्म की प्रजावत्सलता और जनहित को भी विस्मृत कर दिया था। शासक की निर्दयता और अन्याय, निरीह प्रजा जन पर घोर अत्याचार–यही उस प्रदेश की नियति होकर रह गयी थी। जनता का रक्षक स्वयं ही जब भक्षक बन जाय तो परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम हो जाती है। फिर त्राण पाने के लिए मन अन्य आश्रय की खोज में लग जाता है, नवीन संरक्षण पाने का प्रयास करने लगता है। ऐसी ही आहत, दु:खित, दोहित-शोषित और जघन्य अत्याचारों से पीड़ित जनता का एक विशाल दल अवन्ती पहुँचा और अपनी दीन दशा का बखान कर उसने महाराज विक्रमादित्य से उनकी रक्षा करने की याचना की। मानव मात्र के हितैषी राजा वीर विक्रम तब भला निश्चेष्ट कैसे रह पाते। उन्होंने पर्वतीय राज्य के शासक को चेतावनी भेजी। उसके प्रभावहीन रहने की दशा में दुर्जन-दमन के अभियान का निश्चय कर उन्होंने रण-प्रयाण किया। दुर्जनों के साथ का संघर्ष सीमित नहीं होता। घोर युद्ध चलता रहा। दिन पर दिन व्यतीत होते रहे। शत्रु भी निर्बल न था। दुष्ट जन सशक्त भी होते हैं। शक्ति का दुरुपयोग ही उनकी दुर्जनता बन जाती है। संकटकाल मे सज्जन तो आत्म-रक्षा का उपाय ही कर पाता है, किन्तु दुर्जन प्रत्याक्रमण की नई-नई चाले भी चलता है। पर्वतराज भी इस दिशा में सक्रिय था। महाराज का पराक्रम भी कसौटी पर था। घात-प्रतिघात के इस क्रम में संघर्ष लम्बा हो गया और चार-पाँच माह तक यह रण-प्रक्रिया चलती रही। कभी खुलकर आमने-सामने का युद्ध होता तो कभी छिपकर प्रहार होते। अन्ततः अन्तिम युद्ध बहुत निकट और अति वीभत्स रूप में हुआ। पर्वतीय राज्य के शासक ने अपने पूर्व बल और शौर्य का प्रयोग किया। पराक्रमी वीर विक्रमादित्य तो असीम शक्ति के स्वामी थे ही। दो शक्तियों के इस जुझारू संग्राम में सत्य का पक्ष, न्याय का पक्ष ही विजयी हुआ। अन्याय का अन्त हुआ। अत्याचारी शक्ति का सर्वनाश हो गया। उसका अस्तित्व ही शेष नहीं रहा। न्याय की पुनर्स्थापना और निरीह जनता के रक्षण का अभियान फलीभूत हुआ। मालव-देश की सीमा का विस्तार हो गया। जनाकांक्षा के आधार ने इसे अतिरिक्त औचित्य भी प्रदान कर दिया। इस नव सम्मिलित प्रान्त में शान्ति और न्याय का वातावरण फिर से स्थापित हो गया। महाराज विक्रमादित्य की विपुल सम्पदा मे और भी विस्तार हो गया। उनकी कीर्ति-पताका और भी वेग से फहराने लगी और उनके यशःसिंधु में सत्य और न्याय की ऊँची-ऊँची लहरें उभरकर स्पष्टतः अपने अस्तित्व को प्रकट करने

अपने गौरव का बखान स्वयं करने लगीं। महाराज का पाणिग्रहण पर्वतीय प्रदेश की तीन सुन्दरी राजकन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ। वे अपार वैभव और नव-रानियों के साथ शोभित गौरवपूर्ण विजय को संग लिये अवन्ती लौटे। मालव-देश प्रसन्नता से झूम उठा। बड़े ही उत्साह के साथ विजयोत्सव मनाया गया। रनिवास में नवीन रानियों का भव्य स्वागत-सत्कार हुआ।

महाराज विक्रमादित्य का गौरव उत्कर्ष पर था। वे अतुलित वैभव और अपार शक्ति के स्वामी हो गये थे। विशाल राज्य और ऐतिहासिक अमरता के पात्र गौरव और यश उनके समक्ष मानो करबद्ध अवस्था में खड़े रहते थे। महान् और असंभव-सी प्रतीत होने वाली उपलब्धियॉ उनके व्यक्तित्व में दिव्यता और भव्यता का समावेश कर चुकी थीं। उनका प्रभुत्व चरम पर था। कभी-कभी एकान्त में महाराज अपनी इस भव्यता का स्वाकलन भी करते और पाते कि उनके समकक्ष कोई नरेश इस भूतल पर नहीं है। वे आदर्श नरेश ही नहीं; सर्व शक्तिमान नृपति भी हैं।

अब महाराज के रनिवास में तीस महारानियाँ थीं। एक से बढकर एक रूपवती, गुणवती, बुद्धिमती और शीलवती रानियॉ इस राजघराने की अलौकिक भव्यता की आधार थीं। स्वयं महाराज इससे गौरवान्वित अनुभव करते थे। प्रतिष्ठानपुर की राजकन्या सुकोमला की ओर उनका ध्यान अभी भी नहीं गया। वे अद्भुत विडम्बना के वशीभूत उनको अब भी विस्मृत किये बैठे थे। कुछ योग ही ऐसा था। महाराज को अभाव यदि खलता था तो वह एक यही था कि वे निस्संतान हैं। यह अभाव भी उन्हें इसी कारण अनुभव होता था कि वे रानी सुकोमला का सारा प्रसंग विस्मृत किये हुए थे; अन्यथा प्रतिष्ठानपुर में उनका राजकुमार किलकारियॉ भर रहा था। रानी सुकोमला ने यथासमय एक सुलक्षणयुक्त सुन्दर पुत्र को जन्म दिया था। राजपुत्र का नाम देवकुमार रखा गया। पति-वियोगिनी रानी सुकोमला अत्यन्त व्यथित थीं। पुत्र-रत्न की प्राप्ति पर उनके मन को स्नेह वात्सल्य भाव बनकर उमड़ पड़ा और उनका ममता का केन्द्र यह नवजात शिशु हो गया था।

देवकुमार के पालन-पोषण में वे दत्तचित्तता के साथ ऐसी संलग्न हो गयीं कि शेष जगत् से उनका ध्यान जैसे सिमट ही आया हो। इस मनोयोगता में भी उन्हें एक अद्भुत आनन्दानुभूति होती थी। मातृत्व का यह वरदान उनके लिए निश्चय ही सुखद सिद्ध हुआ। किन्तु .... किन्तु नारी अपने स्वामी को कभी विस्मृत नहीं कर पाती। जब उन्हें कलाकार विजयादित्य की स्मृति हो आती वे भीतर तक विह्वल हो उठतीं, उनके सजल नयन आन्तरिक पीड़ा को व्यक्त करने लगते। उनका अन्तर हाहाकार कर उठता और उनके अधरों पर अस्फुट से स्वर थिरक जाते–"हाय ! मेरे स्वामी .... कहाँ हो .... इस अभागिन को क्यों भुला दिया ....।" अपने स्वामी

ग्यारह नरेशों का अभिमान छिन्न-भिन्न किया, वाईस राजकन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न हुए। उनकी यशोगाथा और लोकप्रियता की कथाएँ दूर-दूर तक व्याप्त हो गयीं। भील-दम्पति के पारस्परिक प्रेम में उन्होंने एक आदर्श को पहचाना और उनकी सेवाशीलता एवं सहज आतिथ्य भाव में उन्होंने उच्च्व कोटि की मानवता के दर्शन किये। ऐसे आदर्श युग्म का जिसने महाराज को जीवनदान किया–ऐसा दारुण अन्त देखकर उनका मन विचलित और व्यथित हो गया था। वे दान की महिमा की असारता पर चिन्तन करने लगे थे। एक मिथ्या अहम् की तुष्टि मात्र के लिए मनुष्य दान-संलग्न रहा करता है इसका कोई औचित्यपूर्ण परिण.न नहीं। यह भी एक साधन मात्र है, प्रशंसा-प्राप्ति का–इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। महाराज का विचार समय के साथ-साथ मन ही मन में परिपक्व होता चला गया और एक दिन महामात्य भट्टमात्र को आदेश दिया कि दान का यह आडम्बर अब बन्द कर दिया जाय। दान और उपकार, परहित और करुणा सब व्यर्थ हैं। महाराज के ऐसे वचनों को सुनकर भट्टमात्र तो बेचारे सकते में आ गये। आज महाराज यह कैसा आदेश दे रहे हैं ! राजघराने की यह एक सुदृढ़ परम्परा रही है, दान भी इस राजवंश के यश:प्रासाद का एक दृढ़ स्तंभ रहा है। आज भी कोई याचक महाराज के द्वार से निराश नहीं जाता। इसे बन्द किये जाने का भला क्या औचित्य ! कुछ ही क्षणों में यह विचार-शृंखला महामात्य के मन में झनझना उठी। वे कुछ भी कहने की स्थिति में न थे। भट्टमात्र की इस असहज स्थिति को देखकर महाराज ने कहा–"मित्र ! हम सोच-समझकर ही इस प्रकार का कथन कर रहे हैं। हमने भील-दम्पति का दान और उपकार भी पाया है और उनका कारुणिक अन्त भी स्वयं देखा है। तभी से हमारे मन में····।"

"किन्तु, श्रीमानेश्वर ! दान तो इस राजघराने की कीर्ति-पताका का दण्ड रहा है। इसी सुदृढ़ नींव पर··· ।" भट्टमात्र का कथन अपूर्ण रह गया। महाराज ने उसे टोकते हुए कहा–"यह सब हम भली प्रकार से जानते है, महामात्य ! हमारे निष्कर्प के पूर्व गहन चिन्तन मे इस परम्परा की भी उपेक्षा नही हुई है। हमने अनुभव किया है कि दान की महिमा का गान मात्र स्वार्थपूर्ति के लिए कुछ लोगो द्वारा किया जाता है। फिर यदि परम्परा से कोई अनावश्यक कार्य चला आ रहा हो तो आज उसकी असारता का विश्वास हो जाने पर भी हम उससे चिपटे रहें–यह तो उपयुक्त नहीं है। किसी समय अवोधतावश ऐसा किया जाता रहा, तो आज सज्ञान होकर भी हम मात्र परम्परा के मोहवश वही करते चले–क्या यह उचित होगा? परम्पराओं को वनते-मिटते देखने वाला इतिहास स्वयं वताता है कि समय परिवर्तनशील रहा है। यदि परम्पराओं से ही लोग चिपके रहते तो यह परिवर्तन कैसे आता भला !"

"किन्तु, महाराज ! इससे वड़ी अपकीर्ति होगी।" परामर्श देते हुए जैमे भट्टमात्र ने महाराज को पुनर्विचारार्थ प्रेरणा दी।

महाराज ने कुछ सोचते हुए गहन–गंभीर मुद्रा में कहा–"लोग कीर्ति का लोभ संवरण नहीं कर पाते–इसी कारण यह मिथ्या परम्परा अब तक बनी हुई है। हमने इसकी अर्थहीनता का प्रत्यक्ष प्रमाण पा लिया है। बेचारे वे भील-दम्पति ····।" महाराज का स्वर आर्द्र हो आया। "क्या मिला उन्हें उपकार करने से? दान महान् कर्म है–इसके सुपरिणाम भी श्रेष्ठ होते हैं–ऐसी थोथी कल्पनाओं को लोगों ने स्वहित में बलवती बना दिया है। ये वस्तुतः कोरी कल्पना है और दान के सुफल की महिमा भी इसी क्रम में मात्र कल्पना है जिसे और भी बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति रही है कि दाता अधिकाधिक प्रेरित हो और लोगों को अधिकाधिक प्राप्ति होती रहे। ये ही लोग तो दान की महिमा का गान करते हैं, ये ही लोग तो दाता की जय-जयकार करते रहते हैं। यह इनकी स्वहित-साधना मात्र है। इस जय-जयकार का लोभी दानदाता भ्रमवश इसे ही कीर्ति मान बैठा है। भट्टमात्र ! इस भ्रम से व्यक्ति जितना ही शीघ्र मुक्त होगा उसका उतना ही कल्याण होगा। इस आडम्बर में हमें कोई अर्थ नहीं लगता।"

"राजन् ! आप तो क्षण मात्र में सारे दर्शन को ही उलट रहे हैं। शब्द-जाल में फॅसकर तो उत्तम आदर्श और धर्माचरण भी बेचारे निस्तेज हो जाते हैं। तर्कों की कमी नहीं, कुतर्क उनसे भी कई गुना अधिक हो सकते हैं, किन्तु इससे धर्म-अधर्म नहीं हो जाता और न ही सुकृत्य त्याज्य सिद्ध हो पाता है। यह आप श्रीमान् का क्षणिक आवेश है, महाराज !···मेरे मत में आपके मन पर अघटनीय घटना का तीव्र प्रभाव है। संभव है कि जो स्थिति भील-दम्पति की हुई, वह किसी अन्य कारण का परिणाम हो। भील-दम्पति की उपकार प्रवृत्ति का परिणाम तो अभी शेष ही हो···· क्या यह संभव नहीं है? ये तो कर्मफल हैं, महाराज ! कब अशुभ कर्म फलीभूत हो जायें, कब शुभ कर्मों के परिणाम सुखद रूप में आ उपस्थित होंगे–कुछ निश्चय नहीं।" महाराज अपने मित्र के बुद्धि-कौशल से आश्वस्त तो पूर्व से ही थे। इस समय भट्टमात्र ने जो विचार-बिन्दु प्रस्तुत किया, महाराज की सोई चेतना को वह झकझोरने लगा। भट्टमात्र ने अपना कथन निरन्तरित रखते हुए कहा–"कार्य-कारण का उपयुक्त संबंधन न होने पर भी निष्कर्षण संदिग्ध रह जाता है, महाराज ! कुछ क्षणों के लिए आपके विचार को स्वीकारते हुए यदि यह मान भी लिया जाय कि दान तो लाभान्वित होने वालों की खड़ी की गयी कल्पनाओं का ही एक रूप है, इनके परिणामों की भी मिथ्या कल्पना उन्होंने की और उनका खूब प्रचार किया कि दाताओं को लालच में लाया जा सके, तव भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि दान मनुष्य के मानवीय व्यवहार का एक अभिन्न अंग है। हम समूह में रहकर सामाजिक जीवन ही व्यतीत करते हैं। समूह में सम्पन्न और विपन्न, सभी प्रकार के लोग रहते हैं। अभावग्रस्त जन सम्पन्न लोगों से सहायता की अपेक्षा रखें और सम्पन्न लोगो के मन में इस वर्ग की सहायता की

सद्भावना जागना भी स्वाभाविक है। यों जिसे आप दान और उपकार की संज्ञा देते हैं वह प्रवृत्ति प्रबल होने लगती है। दान और उपकार का रूप भले ही समय-समय पर परिवर्तित होता रहे, किन्तु जब तक मनुष्यता रहेगी, ये भावनाएँ और इनके अनुरूप कार्य भी बने रहेंगे। कोई चाहे तो इनके अन्य नाम भी रख ले, किन्तु इससे भी मूल रूप में कोई अन्तर नहीं आता। सामाजिक जीवन का मूलाधार लेन-देन की यह प्रवृत्ति ही है। यही सभी को एक संग रखती है और यों समाज-रचना हो जाती है। सत्य है कि दान की याचना करने वालों को दाता की परमावश्यकता रहा करती है, किन्तु दाताओं के लिए भी याचकों की अपेक्षा कम नहीं होती। वे न हों तो दानियों को पुण्य का लाभ हो ही कैसे ! याचकों का लोभ ही दानवृत्ति का एक मात्र आधार नहीं होता, महाराज ! ऐसी रचनात्मक और अनिवार्य-सी दान प्रवृत्ति को यों बन्द कर देना अपयश का कारण तो बनेगा ही– इससे लोक-व्यवहार के समुचित निर्वाह में भी बाधा आएगी, इसके दूरगामी दुष्परिणामों पर भी चिन्तन कर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा, महाराज !" आदरपूर्वक महामात्य भट्टमात्र ने शीश झुकाकर नमन करते हुए अपने कथन को नम्रतापूर्वक इति दी। महाराज विक्रमादित्य अन्तर्मुखी से बैठे भट्टमात्र के कथन पर विचार करने लगे। स्यात् मित्र के कथन में भी औचित्य हो .... सबसे पहले उनके मन में यही दृष्टिकोण विकसित हुआ। इस अनेकान्तता ने उन्हें अपने आग्रह के औचित्य के संग-संग भट्टमात्र के दृष्टिकोण पर भी विचार करने को प्रेरित किया। यह विश्वसनीयता इस प्रेरणा की सबल आधार बनी कि मंत्री की मंत्रणा सन्मार्ग के लिए ही होती है, सच्चा मंत्री राजा को पथभ्रष्ट होने से बचाने के सशक्त प्रयास करता है। सच्चा मित्र हमें हमारे दुर्विचारों और विकारों से मुक्त कर पतन से हमारी रक्षा करता है। भट्टमात्र तो मंत्री भी है, मित्र भी है। इसकी धारणाएँ आधारहीन और मिथ्या नहीं हो सकतीं। अवश्य ही यह हमारे हितों की रक्षा का प्रयास कर रहा है। तो क्या हमारा विचार भ्रामक है ....। कर्म और उसके फल की शृंखला .... विचारणीय है, मित्र की बातें असार तो नहीं हैं .... महाराज वीर विक्रम चिन्तन में लीन हो गये।

× × ×

"महामात्य भट्टमात्र सच ही कहते थे, प्रिये ! कि समय परिवर्तनशील होता है, यह सदा एक-सा नहीं रहता। जो उद्यमी होते हैं उनके जीवन में उत्कर्ष रूप में यह परिवर्तन आता है और जो प्रमादी होते हैं समय का परिवर्तन उनके लिए अवनति और पतन वनकर आता है।" अवन्तीनाथ महाराज विक्रमादित्य शयन-कक्ष में राजरानी कमलावती के संग वार्त्तालाप कर रहे थे। रात्रि के प्रथम प्रहर में महाराज शय्या पर अधलेटे विश्राम कर रहे थे। उनके समीप ही राजरानी बैठी मन्द मुस्कान के साथ वार्त्तालाप में भाग ले रही थीं। "भट्टमात्र तो विद्वान् और

बुद्धिमान् महामात्य हैं, स्वामी ! उनके वचनों में अनुभव सत्य बनकर व्यक्त होता है। हम तो साधारण नारी है, किन्तु सत्य मानिये कि हमने भी यही अनुभव किया है। मनुष्य का साहस और पराक्रम उसे कहाॅ से कहाॅ पहुॅचा देता है।"–राजमहिषी ने अनुमोदन भरे स्वर में कहा–"आज आप अत्यन्त लोकप्रिय हैं, सर्वत्र आपका वर्चस्व व्याप्त है। यह आपकी शक्ति और सद्प्रयासों के परिणामस्वरूप आया हुआ एक शुभ परिवर्तन ही है।"

"उचित ही कथन है राजरानी आपका।"–महाराज ने कहा–"समय ने हमारा अच्छा साथ दिया है और समय बेचारा क्या सामर्थ्य रखता है? यह तो हमारी अपनी समर्थता, शौर्य, शक्ति और साहस है कि इन आयुधों के बल पर हमने अपार-अपार वैभव और कीर्ति को अन्यों से छीनकर अपने अधीन कर लिया है। जो बलवान है उसी की विजय होती है, उपलब्धियाँ उसी के पक्ष में हो जाती हैं, राह के शूल भी फूल बनकर बिछ जाते हैं और भीमकाय पर्वत भी उसे मार्ग दे देते हैं। होगा समय बलवान, हमनें उसे भी अपनी शक्ति के वश में कर लिया है। समय हमारे लिए आज्ञानुवर्ती हो गया है। हम समय से अपना मनोवांछित करवा लेते हैं। सच्चे बलवान तो हम हैं, समय नहीं।"

रानी को कुछ समय से ऐसा आभास होने लगा था कि महाराज में अहम् का भाव तीव्र हो रहा है; आज उन्हें अपनी धारणा पुष्ट होती लगी। वे विस्फारित नयनों से, इस आशय की भावभंगिमा के साथ महाराज का मुख ताकती रह गयीं कि ये यह क्या कह रहे हैं। कब से ऐसे भ्रान्त विचार इनके मानस में आ गये हैं। तभी महाराज की वाणी पुनः मुखर हो उठी–"आप संसार के सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न नरेश की राजरानी हैं। आरम्भ में जब हम मालव राज्य-सिंहासन पर आरूढ हुए राजकोष में साधारण से भी अल्प धन था। आज हमने अपने पराक्रम से मालव-देश का सीमा-विस्तार ही नहीं किया, अधिकतम सम्भव वैभव भी सॅजो लिया है। सुख-समृद्धि की केन्द्र हमारी अवन्ती से देवलोक भी ईर्ष्या करने लगा है। बेचारे इन्द्र का वैभव तो नगण्य होकर रह गया है। अनेक-अनेक प्रतापी नरेशों के शक्ति-मद को चूर कर दिया है हमने। हमने अनेक सिद्धियाॅ प्राप्त कीं, चरण-पुरुष की प्राप्ति हमारी अनुपम उपलब्धि है। शताब्दियों के इतिहास में हमारे समकक्ष कोई अन्य नृपति नहीं। हमें गर्व है हमारे अपार यश पर। यह सब हमने स्वयं अपने बल से अर्जित किया है। हमें गर्व है अपने बल और वैभव पर, चातुर्य और शौर्य पर, साहस और उद्यमशीलता पर। सारा जगत् तो हमारा गौरव-गान कर रहा है। आने वाली पीढ़ियाॅ आश्चर्य करेगी, राजरानी ! कि एक व्यक्ति अपने संक्षिप्त से जीवन में क्या इतना कुछ कर सकता है ! इस विस्मयकारी असाधारण स्थिति से आपको भी गर्व का अनुभव होता होगा, प्रेयसी !" उॅगलियों के कोमल स्पर्श के साथ महाराज ने राजमहिषी की चिबुक सहलाते हुए कहा। अपना मुख

ऊपर को उठाते हुए राजरानी ने तनिक उत्तेजित स्वर में कहा—"हमें गर्व का अनुभव नहीं, खेद हो रहा है, स्वामी !"

"खेद ! हमारे गौरव और साफल्य पर हमारी राजरानी को खेद !!" महाराज ने रोष के साथ कहा। वे अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए से लगे, किन्तु रानी कमलावती के त्वरित हस्तक्षेप से वे मौन होकर अपनी रानी को निहारने लगे।

"क्षमा चाहती हूँ, प्रियतम ! मेरे स्वर में तनिक कटुता आ गयी, किन्तु....।" —राजरानी अपने आगामी कथन को मन ही मन जैसे तोलती हुई क्षणिक रूप से मौन रहकर कहने लगीं—"किन्तु महाराजश्री का ऐसा स्वरूप हमने इसके पूर्व तो कभी नहीं देखा। आपकी इन सफलताओं के प्रति ऐसे विचार अन्य जनों के होने चाहिये—ऐसे कथन अन्य जनों के मुख से सुनकर भी आपके भीतर एक संकोच का भाव उदित होना चाहिये। सज्जनों की यही पहचान है। आप तो स्वयं अत्युक्ति कर रहे हैं—अपनी शक्ति और सामर्थ्य की। यह उचित नहीं है स्वामी ! आप-जैसे व्यक्ति की शालीनता तो उदाहरणीय होनी चाहिये, प्रेरक और अनुकरणीय होनी चाहिये। समय चाहे हो-न हो, व्यक्ति अवश्य परिवर्तनशील रहता है। उसका चरित्र, उसका आचरण—सारा का सारा इस प्रकार परिवर्तित हो सकता है, यह देखकर विस्मय होता है। आप तो कभी ऐसे न थे।.... ऐसा दंभ .... ऐसा अभिमान .... किन्तु ....।"

"जिसे आप अभिमान कहती हैं, राजरानी ! वह मात्र स्व-मूल्यांकन है। व्यक्ति यदि अपना मूल्यांकन घटाकर करेगा तो अन्य जन उसका अवमूल्यन और भी बढ़-चढ़कर करेंगे। हममें लघुता और हीनता का भाव क्यों आए?" महाराज ने तार्किक भाषा में अपनी बात का भार बढ़ाते हुए कहा।

"हीन भावना का आना एक बात है और विनय का निर्वाह करना अन्य वात है, प्रियवर ! क्या विनयी जन हीन भावना से ग्रस्त होते हैं?" राजरानी ने अपने प्रश्न से महाराज के मर्म को स्पर्श कर लिया, किन्तु स्वयं को अप्रभावित प्रदर्शित करने के प्रयास में उन्होंने कहा—"ऐसे विनय का भी क्या मूल्य जो सत्य का प्रतिपादन करने पर भी रोक लगा दे। है कोई ऐसा नरेश जिसकी राजसभा हमारे जैसे बत्तीस पुतलियों वाले सिंहासन से अलंकृत हो। यह हमारे पराक्रम और भुजवल का ही सुपरिणाम है, राजरानी ! कि देश-देश के नृपति श्रद्धापूर्वक हमारा जय-जयकार करते हैं, हमें अपना अधिपति स्वीकार करते हैं। हम सिंह से भिड़ सकते हैं, भयंकर विपधरों से उलझ सकते हैं, पर्वतों से टकरा सकते हैं, झंझाओं से जूझ सकते हैं। हम सर्वजयी हैं, हम अजेय हैं। विश्व-पटल पर हमारे समान कोई भी शक्तिशाली नहीं।" महाराज का वक्ष गर्व से फूल उठा, उनका मस्तक और भी कुछ ऊँचा उठ गया। वे शय्या पर ही उठ बैठे और आवेश के आवेग में उनके नेत्र कुछ अधिक खुल गये।

"मेरा अर्थ यह नही, महाराज !.... यह कदापि नही कि आप अपनी शक्ति का आकलन न करें। विनय किसी को दुर्बल नही बनाती, महाराज ! वह तो शक्ति की भी शक्ति होती है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति नम्रतापूर्वक अपनी शक्ति के मूल्यांकन को सुने और घमंड को अपने चरित्र मे प्रविष्ट न होने दे। आवश्यक नही कि अपने विषय मे वह स्वयं ही वखान करे। ज्यों-ज्यों व्यक्ति अपने विषय में अधिकाधिक बाते करता चलता है–उसके कथनों में मिथ्यात्व और सारहीनता के तत्त्व जुडते और बढ़ते चले जाते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने अन्तर में ऐसे अहंकार को विकसित करने लगते हैं जिनके निरापद होने का मिथ्या विश्वास भी उन्हें घेरे रखता है।" वैचारिक भार से राजरानी का शीश किंचित् झुक गया। महाराज भी इस गहन–गंभीर वाणी को ध्यातव्य मानकर मनोयोगपूर्वक शान्त चित्त के साथ सुनते रहे। वे पुनः विश्राम मुद्रा में पर्यक के पृष्ठोच्च्व भाग का सहारा लेकर अधलेटे से हो गये।

"आप तो, स्वामी ! इस दुर्गुण से सदा दूर रहे है। शक्ति का अभिमान आपने कभी नहीं किया। ऐसे विकारग्रस्त जनों को विकार-मुक्त करना आपने अपना धर्म माना है। सिंधु-नरेश शखपाद महाराज पर आक्रमण इसी नीति के अधीन हुआ था। क्या हो गया है अब आपको ?" अचरज भाव को मुख पर साकार करते हुए राजरानी ने कहा–"इसीलिए आपकी गर्वोक्तियों के विषय मे हमने कहा था कि हमें खेद है। यह नया मार्ग उत्कर्ष का नहीं, महाराज ! यह तो विनाश का, पतन का पथ है, प्राणेश्वर ! त्यागिये यह अहंकार का मार्ग। दर्प के शूलों और घमंड के झाड़-झंखाड़ों को हटाकर अपने मन-उद्यान को विनयादि सद्‌गुणों से पुष्पित–पल्लवित कर लीजिये। यही मनुष्यता का सच्चा स्वरूप है, यही उत्कर्ष का रहस्य है।"

"न जाने किस रहस्य की बात कह रही हैं, हमारी राजरानी ! हमारी [illegible] के परे है–यह सब-कुछ। हम तो एक बात जानते और मानते है कि [illegible] जीवन की सर्वस्व है और हम परम शक्तिशाली हैं। हमारे भुजवल का [illegible] जोड़ नहीं, हमारे अतुलित वैभव का समकक्ष भी अन्य कोई नहीं। [illegible] कोई वैसे महान् और पराक्रमपूर्ण कार्य कर सकेगा जो हमने [illegible] कर लिये। हम ही विश्व के परम वीर हैं, हम ही परम श्रीसम्पन्न और [illegible] यश के स्वामी हैं। हम बेजोड़ हैं.... हम महान् हैं.... हम ही....!" महाराज का कथन मंथर और अस्पष्ट होता चला गया। महाराज पूर्ण [illegible] की मुद्रा में आ गये। उनके अर्द्ध-निमीलित नेत्र अब भिंच गये और वे [illegible]।

अपने स्वामी के इस असाध्य विकार से [illegible] अतिशय [illegible] हो उठीं। प्रारब्ध इसी प्रकार विचार-भ्रष्ट [illegible] का पतन स्वयं [illegible] हाथों करवाता है; अन्यथा ऐसा [illegible] मानस में उठा [illegible] तो मनुष्य के कर्म ही वलवान [illegible]

है। यों एक से वढ़कर एक शक्तिशाली जन पृथ्वीतल पर हैं–उनका समय जव तक वलवान नहीं होता, तव तक वे प्रसिद्धि के प्रकाश से वंचित रहते हैं। आपसे बढकर भी अनेक वलवान हैं। इस आशय का कथन राजरानी के मुख से महाराज ने सुना भी, किन्तु वे बिना कोई प्रतिक्रिया प्रकट किये मात्र मुस्कराकर रह गये। कुछ ही पलों में वे निद्राधीन हो गये।

महाराज तो सो गये, किन्तु राजरानी कमलावती के नयनों की नीद हवा हो गयी। एक आन्तरिक तनाव उन्हें त्रस्त करने लगा। उन्हें ऐसा लग रहा था जैसे उनके स्वामी का कोई अहित होने वाला है। पत्नी तो मंत्री और मित्र की भॉति पति के हितों की रक्षा करने में अग्रणी रहती है। वह चिकित्सक की भॉति अपने स्वामी के रोग–विकारों का अनुसंधान कर उन्हें दूर करने की साधना में जुट जाती है और पुनः आदर्श मार्ग पर उसे आरूढ़ करके ही शान्ति का अनुभव कर पाती है। राजरानी ऐसी ही 'धर्मपत्नी' थीं। उन्होंने दृढ़ संकल्प कर लिया था कि वे स्वामी का शक्ति का अभिमान दूर करने का ही शक्य प्रयास करेंगी। उन्हें इस अमंगल मार्ग पर अग्रसर न होने देंगी।

प्रातःकाल होते-होते ही रानी कमलावती का चिन्तन अपने चरम पर पहुँचा। महाराज के अहम् को दूर करने के लिए हम कुल-देवता की आराधना करेंगी। वे इस निश्चय पर पहुँचीं और इस विश्वसनीय समाधान पर पहुँचकर उनके चित को शान्ति प्राप्त हुई। स्नानादि से निवृत्त होकर वे कुल-देवता के मंदिर में पहुँच गयीं और स्वामी मे जो अहंकार का दूषित भाव आ गया था उसके लिए प्रायश्चित्तस्वरूप तेला व्रत की उपासना भी आरम्भ कर दी। संकल्पबद्ध मन की प्रेरणा ने इस कठोर–त्रिदिवसीय उपवास तप को उनके लिए सहज वना दिया था। पति के हित की कामना के साथ वे आराधना में जुट गयी। महाराज से तो इस हेतु उन्होंने अनुमति प्राप्त की थी, किन्तु उनके अतिरिक्त किसी अन्य को उन्होंने इस आराधना का निमित्त भी ज्ञात न होने दिया। उनके मन में अविचल आस्था के साथ यह विश्वास था कि कुल-देवता ही स्वामी की इस दूषित प्रवृत्ति से उन्हे मुक्त करने का सामर्थ्य रखते हैं और उनकी कृपा हमें अवश्य ही प्राप्त होगी।

अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य ने परिभ्रमण हेतु अश्वारूढ़ होकर राजभवन से प्रस्थान किया। कोई विशेष उद्देश्य, कोई प्रयोजन न था। नगर से वाहर के कृषि क्षेत्र मे वे विचरण करने लगे। चलते-चलते उन्हें सिंह की गर्जना सुनाई दी। वे चकित रह गये–दिन का समय और खेत-खलिहान का क्षेत्र–यहाँ सिंह कैसे ! कदाचित मुझे ही कोई भ्रान्ति हो गयी है। वे ऐसा सोच ही रहे थे कि सहसा दहाड की तीव्र ध्वनि पुनः आयी। इस ध्वनि ने महाराज की वास्तविक भ्रान्ति को दूर कर दिया और उन्हे विश्वास हो गया कि समीप ही कहीं सिंह छिपा हुआ है। तभी उन्हें वाघ की गर्जना भी सुनाई दी। ध्वनि की दिशा में अग्रसर होने

की प्रेरणा दी–जिज्ञासा ने; और कुतूहल ने और भी बलवती बना दिया जिज्ञासा को। टोह लेते-लेते राजन् मंथर गति से, सावधान होकर आगे बढे। अश्व महाराज की संकेत शैली से परिचित था। वह अपने स्वामी के निर्देशों का पालन करते हुए, बिना कोई आहट किये वांछित दिशा में चल पड़ा। सहसा उन्हें एक सशक्त पुरुष-स्वर सुनायी दिया। कोई सिंह-वाघ को अपने नियंत्रण में मानकर उन पर अनुशासन कर रहा था। महाराज के मन में पहेली उलझती जा रही थी, जिज्ञासा बढती जा रही थी। यह कौन वीर पुरुष है जो सिंहों को इस प्रकार डॉट सकता है। साहस के धनी, निर्भीक वीर विक्रम कुछ ही आगे बढ़े होगे कि उन्हें एक अद्भुत दृश्य देखने को मिला। दूर से उन्हें एक खेत में किसान् दिखायी दिया जो हल चला रहा था। विस्मयकारी तत्त्व इस दृश्य मे यह था कि हल में जुते हुए थे सिंह और बाघ। इस विचित्र बलशाली कृषक के हाथों में भयंकर विषधरो की रास थी। सिंहों की दहाड़ से भी तीव्र गर्जना के साथ उन्हे हकाल रहा था। सिंह बेचारे अपना तेज विस्मृत कर इस कृषक के संकेतानुसार आचरण करते चले जा रहे थे। महाराज विक्रमादित्य अपने अन्तस्थल में इस कृषक के प्रति प्रशंसा का भाव विकसित करने लगे। अरे ! यह कृषक यों तो साधारण जन-सा ही प्रतीत होता है, किन्तु इसका आत्म-बल कितना विशाल है। यह कैसा साहसी और निर्भीक है। विचित्र ही भुजवल का स्वामी है यह। हम तो स्वयं को ही अतुलित बलशाली मानते चले आ रहे थे। पृथ्वी पर तो वास्तव में एक से बढ़कर एक वीर–बलवान हैं। क्या हुआ जो इस वीर कृषक की यशोगाथा का प्रचार नहीं हो पाया। इससे इसकी शक्तिमत्ता में कोई कमी आने की संभावना नहीं। वीर को वीर कहे जाने मात्र से ही वह वीर होता हो–ऐसा नहीं है, और न ही वीरोचित गौरव से मंडित कर दिये जाने से कोई कापुरुष वीर हो जाता है। शौर्य तो एक आन्तरिक गुण है, जो जिसमे है वह वीर है····। सायास ही तब महाराज अपने विचार प्रवाह को थाम सके। वाह ! वाह !! करते हुए वे अश्व से अवरोहित हुए और प्रसन्न भाव के साथ कृषक की ओर बढ़े। "वाह, भाई !···· वाह ! हमारा मन तुम्हारे दर्शन मात्र से उत्फुल्ल हो उठा। तुम तो अपार बलशाली, अनुपम वीर हो। हमारा वीर हृदय तुम्हारा भक्त हो गया है। मालवपति नरेश विक्रमादित्य तुम्हें श्रद्धा सहित प्रणाम करते है।" महाराज ने वद्ध करों पर झुका शीश टिकाकर नमन किया। एक साधारण कृषक आज अपनी पराक्रमशीलता के कारण राजाधिराज के लिए भी आदरणीय हो गया था। विश्व में गुण ही आदरणीय होते है, व्यक्ति नही। गुणी जनो के प्रति श्रद्धा वास्तव मे उनके गुणो के प्रति ही व्यक्त आदर भावना होती है।

बेचारा कृषक अपने समक्ष मालवनाथ महाराज विक्रमादित्य को नमन मुद्रा में उपस्थित देखकर अचकचा गया। धरती तक झुककर उसने अपने नरेश को प्रणाम किया। सिह-वाघ अपलक नयनो से यह दृश्य देखते रह गये। जुताई रुक गयी।

हाथ जोड़े, दाँत निपोरते हुए किसान महाराज की ओर दो चरण बढ़ा और निवेदन किया—"पृथ्वीनाथ ! मैं तो एक तुच्छ किसान हूँ, आपकी दीन प्रजा हूँ। आपने तो अपने चरणों की इस धूल को इतना मान दे दिया। आपके समक्ष भला मैं कैसा तो वीर और कैसा बलशाली !"

इस संवाद ने महाराज की सोयी चेतना को जाग्रत कर दिया। वे राजरानी कमलावती के कथन में सार अनुभव करने लगे। विनय ही सचमुच शक्तिमत्ता की प्रतीक होती है। अभिमान तो थोथा प्रदर्शन मात्र है अविद्यमान बल का। यह कृषक कितना तो बलशाली .... और कैसा नम्र। स्वयं को साधारण और तुच्छ मानता है यह तो। कृषक ने कहा—"मैं तो आपका दास हूँ, मेरे स्वामी ! आदेश करें, कैसे कष्ट किया?"

"भाई मेरे ! आदेश तो तब किया जाता है कि जब कोई इच्छा मन में अपूर्ण रूप में रहती है। आज हमारा मन तो तुमसे मिलकर, बन्धु ! आज तृप्त हो गया। ऐसे बलशाली के दर्शन कर हमारे नयन धन्य हो गये जो सिंहो-बाघों को पालतू पशु बनाकर उन पर अनुशासन करता हो, सर्पों को रज्जु के स्थान पर प्रयुक्त करता हो ....।"

"नहीं .... नहीं .... महाराज ! ये सिंह पालतू नहीं हैं। ये तो स्वच्छन्द वन्य-पशु है। इन्हें पालतू बना लूँ तो सारा गाँव ही जनशून्य न हो जाय। सभी का ध्यान रखना होता है न। देखिये दूर-दूर तक के खेत इस समय सूने पडे हैं। जब मै खेत हाँकता हूँ आसपास का कोई किसान भय के मारे अपने खेत मे नहीं आता। मैं तो सवेरे वन मे जाकर सिंहों को पकड़ लाता हूँ, दिनभर काम लेता हूँ और संध्या समय इन्हें पुनः वन में छोड़ आता हूँ।"

किसान के इस विवरण पर महाराज ने साश्चर्य पूछा—"तो सिंहों का एक ही जोडा प्रतिदिन तुम्हारे साथ रहता हो, क्या ऐसा नहीं है?"

"नहीं महाराज ! .... नही, कभी एक पशु हाथ लगता है तो कभी कोई अन्य, किन्तु कोई भी हो, मुझे कोई कठिनाई नही होती।" किसान ने बडे सहज भाव से कहा।

"तुम महान्, निर्भीक और साहसी हो, भाई ! हम परम वीर के रूप में तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं ....।" महाराज ने वीरोचित व्यवहार करते हुए बलशाली कृषक का सम्मान किया।

महाराज का कथन अभी पूर्ण भी न हो पाया था कि कृषक ने इस शब्द-प्रयोग [illegible] प्रतिरोध उपस्थित करते हुए नम्रता के साथ निवेदन किया—"मैं धन्य हो गया महाराज ! आप श्रीमान की यह उदारता ही है कि मुझे आपने 'परम वीर' [illegible] प्रदान किया अन्यथा मैं तो आपका दासानुदास हूँ। आपने अभी [illegible]

पक्ष ही देखा है, महाराज ! वास्तविकता यह है कि सेर को सवा सेर मिलते ही रहते हैं। मैं अपने खेतों में तो बलशाली और शूरवीर किसी सीमा तक हो सकता हूँ किन्तु घर में मैं शृगालवत् हूँ निरीह, निर्बल और कापुरुष ····।''

महाराज ने विनोद करते हुए कहा–''अच्छा ! तो घर पर सिंहनी के शासन में रहना पड़ता होगा तुम्हें ···· क्यों?'' और वे क्षीण-सी हास्य-ध्वनि के साथ मुस्करा उठे।

''नहीं महाराज ! ···· नहीं, ऐसा तो नहीं है। गाय है बेचारी मेरी घर वाली, समस्या कुछ अन्य ही प्रकार की है। उसके समक्ष मैं विवश होकर सब-कुछ सहन करता रहता हूँ, कोई प्रतिकार मुझसे संभव नहीं हो पाता।'' अक्षमता का रंग कृषक के मुख-मण्डल पर गहराने लगा। उसकी इस विरोधाभासपूर्ण गुत्थी को सुलझाने में असमर्थता का अनुभव करते हुए महाराज मौन रह गये और एकटक कृषक का मुख निहारते रह गये।

''इसी से तो निवेदन किया था मैंने, महाराज ! आपने अभी मेरा एक ही पक्ष देखा है। यह सत्य स्वीकार करते हुए मुझे संकोच नहीं है कि जीवन के हर मोर्चे पर मैं ऐसा ही सशक्त रूप नहीं रखता। कोई सिक्का खरा है तो दोनों ओर से वह खरा है। एक पहलू खरा और दूसरा खोटा नहीं हो सकता है–यह सत्य है, किन्तु मानव-चरित्र इस सिद्धान्त का अपवाद है, महाराज ! एक स्थल पर वह यदि खरा है तो अन्यत्र वह खोटा भी हो सकता है। गुणावगुणों के मेल से ही मानव-चरित्र गठित होता है।'' दार्शनिक मुद्रा में जब कृषक ने यह स्वाकारोक्ति की तो महाराज के मन में उसके प्रति श्रद्धा और भी प्रगाढ होने लगी। महाराज ने अनुभव किया और इसे व्यक्त भी किया कि वीरत्व और शक्तिमत्ता का यथार्थ स्वरूप इसी मे निहित है कि बलवान यह माने कि उससे भी अधिक शक्तिमान लोग हो सकते हैं, वह सर्वोच्च बलशाली नहीं है। यह भी एक उदात्तता है कि बलवान अपनी दुर्बलताओं का आभास करे, उन्हें स्वीकार करे और व्यक्त करे, छिपाये नहीं। इतनी तटस्थ बुद्धि के साथ जो बलाबल का आकलन कर सकता है, वही अपनी दुर्बलताओं को दूर करने के प्रयासों में लग सकता है और उसकी सवलता उत्तरोत्तर विकसित होती चली जाती है। इस कृषक को एक आदर्श वीर मानते हुए महाराज के मन में उसके प्रति स्तुतियाँ गूँजने लगीं, किन्तु समस्या अपने स्थान पर यथावत् बनी रही। इसी औत्सुक्य के वशीभूत उन्होने कृषक से जव यह जानना चाहा कि अन्ततः वह मोर्चा है कौन-सा, जहाँ वह स्वयं को अशक्त और विवश अनुभव करता है तो उत्तर में उसने यही निवेदन किया कि आज रात्रि को महाराज मेरे घर पर रहें, सब-कुछ प्रत्यक्ष हो जायेगा, स्पष्ट हो जायेगा।

संध्या बीत जाने पर जब धुँधलका छाने लगा तो किसान ने महाराज के साथ दबे पाँव अपने घर मे प्रवेश किया। किसान की घर वाली भीतर रसोई वना रही

थी। पकवानो की महक बाहर तक आने लगी थी। बाहर का कक्ष काफी वडा था। यही इस समृद्ध किसान का शयन-कक्ष भी था, यहीं अन्न-भण्डारण हेतु मिट्टी की बनी बड़ी-बडी कोठियों की एक पंक्ति सजी थी। दीवार और इस पक्ति के मध्य थोड़ा-सा रिक्त स्थान था। दोनों इसी रिक्त स्थान में छिपकर बैठ गये। कक्ष मे काफी दूरी पर पलॅग लगा था। दो कोठियों के मध्य के संकीर्ण अवकाश से कक्षा का दृश्य लगभग सारा ही दिखायी दे जाता था। कृषक ने फुसफुसाते हुए कहा–"अभी आपको सारी बात विदित हो जायेगी, महाराज ! मेरी घर वाली का एक पुराना प्रेमी है, बड़ा बलवान है वह। यह स्त्री विवाहिता पत्नी तो मेरी है, किन्तु यह प्रेम करती है उस दुष्ट से, यह स्त्री भोग्या है उसके लिए। निर्भीकतापूर्वक वह प्रति रात्रि इस घर में आता है, मेरी उपस्थिति से भी उसे भय नहीं रहता। मेरी पत्नी के साथ रंगरेलियाँ मनाता है। मैं हाथ मलकर रह जाता हूॅ, कुछ कर नहीं पाता। आरम्भ मे मैंने विरोध किया भी, किन्तु इस शक्तिशाली दैत्य ने मेरी दुर्गति कर दी। वैसा बलवान दूर-दूर तक इस क्षेत्र में अन्य कोई नहीं। अभी वह आने वाला ही है।"

इसी समय महाराज ने देखा–स्त्री भीतर से बाहर निकली, ऑगन की ओर झॉककर पुनः भीतर चली गयी। ऐसा जब कुछ-कुछ समय पश्चात् दो-तीन वार और हो गया तो उत्सुकतावश उन्होंने किसान से इसका कारण पूछा। उन्हें वताया गया कि अव वह स्त्री अपने प्रेमी की प्रतीक्षा कर रही है। उसे देखने को ही वह वार-वार वाहर तक जा रही है। अपने प्रेमी के लिए उसने भोजन तैयार किया होगा, मिठाइयॉ बनाई होंगी। इसी समय बाहर ऑगन मे खटका हुआ। मुख्य द्वार खुला। कुछ ही पलों में एक भीमकाय व्यक्ति ने कक्ष में प्रवेश किया। कोठियों के मध्य से महाराज ने झॉककर देखा। दुष्टता और क्रूरता उसके मुख पर विखरी हुई थी। उसकी छोटी-छोटी ऑखें, संकीर्ण भाल, चौड़ा वक्ष और वलिष्ठ भुजदण्ड–स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे थे। उसने कक्ष में प्रवेश कर एक क्रूर हुँकार भरी। सारा वातावरण जैसे सिहर-सा उठा। हुँकार के प्रत्युत्तर में कृपक-स्त्री भीतर से वाहरी कक्ष मे आयी। सोलह शृंगार और अलंकारो से सज्जित इस स्त्री ने अपनी देह पर केवल घघरी-चोली धारण कर रखी थी। उसके हाथ में भोज्य पदार्थो से भरा थाल था। उसे एक ओर रखती हुई वह कहने लगी–"आज वडी देरी कर दी ? मैं कव से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूॅ। इतनी देरी से आए हो। तुमसे मिले विना तो ....।"

"वस .... वस .... अव वातें न वना। अवसर देखकर ही तो आना होता है .... उतावली क्या तुझे ही मची रहती है। ऐं .... किन्तु ....।" कहते-कहते उस पर-पुरुष ने स्त्री को गले से लगा लिया। वडी देर तक आलिंगनवद्ध वने रहे वे। आनन्दातिरेक से स्त्री के नयन खिल उठे और ...। यह सब अनाचार देखते रहने की शक्ति वीर विक्रम में न थी। वे अचकचाकर वाहर निकलने को हुए कि कृषक ने वॉह थामकर उन्हें रोक लिया। अव स्त्री अपने प्रेमी को मिष्टान्न खिलाने लगी।

पुरुष ने आगे बढकर कौर हाथ में लिया और प्रेमिका को अपने हाथों से मिठाई खिलाने लगा। प्रेमिका भी प्रत्युत्तर में ऐसा करने लगी। बात-बात में वे जोर से हँस पड़ते और तुरन्त कुछ सोचकर एकदम रुक जाते और तब धीमे स्वर में वार्त्तालाप करते जाते और क्रीडाएँ करते। अन्ततः महाराज का धैर्य का बाँध टूटने को हुआ। प्रेमी-पुरुष कहने लगा–"अरे, क्यों डरती है उस कापुरुष से .... वह तो मुझे देखकर ही भय से काँपने लगता है। कहने को सिंहों को वह बस में कर लेता है, हमसे भिडे तो जानें। उसका जीवित रहना आवश्यक है, सुन्दरी ! .... इसी से तेरी-मेरी प्रीत की रक्षा हो जाती है, अन्यथा इसे कभी का मच्छर की भाँति मसलकर रख देता मैं। मेरी शक्ति का उसे भी भान हो गया है। वह बेचारा क्या विरोध करेगा। तुझे यदि वह कुछ कहे तो मुझे बताना। उसे छठी का दूध याद आ जायेगा। मैं भी कम नहीं हूँ। मुझे मारने वाले हाथ विधि ने रचे ही नहीं।"

"नराधम, पामर .... क्या बढ-बढ़कर बातें करता है। पापकर्म के विचार से ही सारी शक्ति लुप्त हो जाती है। तू तो पाप के सागर में निमग्न है। सँभल, अब तेरा विनाश समीप ही है।" महाराज ने घोर गर्जन करते हुए उसे ललकारा।

प्रेमी-प्रेमिका भौंचक्के-से रह गये। यह वाणी कैसी ! वह पुरुष सोचने लगा– 'आज यह कौन अपरिचित मुझे ललकारने लगा।' मारे क्रोध के उसका तन थरथराने लगा–"कौन ....? यह छिपकर कौन कायर हमारी प्रेम-क्रीडा में अपनी कर्कश वाणी से बाधा पहुँचाता है। यदि बल हो तो सामने आकर ललकार लगा। क्या स्त्रियों की भाँति छिपकर वचन-प्रहार करता है? आ–सामने आ।" प्रेमी-पुरुष ने कठोर स्वर में दहाड़ लगायी।

अब महाराज कोठी की ओट छोड़कर प्रत्यक्ष हो गये–"पर-स्त्री पर घात लगाने वाले पापी ! तू तो पुरुष जाति पर भारी कलंक है। तूने एक भोलीभाली स्त्री को सतीत्व के मार्ग से भ्रष्ट किया है। एक बलशाली शूरवीर पति का अपमान किया है ....।"

महाराज के इस कथन के साथ ही कृषक भी कक्ष में प्रकट हो गया। प्रार्थना के स्वर में नम्रता के साथ निवेदन किया–"इस दुष्ट ने मेरा जीना दूभर कर रखा है, राजन् ! आप तो धर्मावतार हैं, शक्ति के मद में चूर इस दुर्जन से मेरी रक्षा करें, प्रभो ! इस दुष्ट के समक्ष मेरा सारा बल पराजित हो जाता है। इसमें अपार बल है, किन्तु ....।"

"किन्तु शक्ति का प्रयोग तो धर्म की रक्षा के प्रयोजन से होता है। जो दुष्कर्म और अधर्म में प्रयुक्त हो वह कहाँ की शक्ति है। यह तो पशुता है, पाप है, भुजवल यह नहीं है ....।"

महाराज का कथन पूर्ण होते-न होते वह दुष्ट मध्य में ही व्यंग्य के साथ बोल पड़ा—"अच्छा, तो तुम हो अवन्ती के नाथ ! ···· हॉ? मालवाधिपति वीर विक्रमादित्य तुम ही हो? बड़ा घमंड है न तुमको अपने भुजबल पर। आज मैं ठिकाने लगाता हूँ तुम्हारा भुजबल।" यह कहते-कहते वह झपटकर आगे बढा और अपने सुदृढ़ पंजे में महाराज को उनकी कमर से पकड़कर ऊपर को उठा लिया।

"अरे ···· रे ···· रे ···· क्या करता है? महाराज का अनादर करना ठीक नहीं। इसके परिणाम भयंकर होंगे। छोड पापी ···· इन्हें छोड़।"—कहता हुआ वह कृषक आगे बढ़ा तो उसे भी दूसरे हाथ में इसी प्रकार उठा लिया। वह उन दोनों को हवा में झुलाते हुए द्वार पर आया और एक साथ उन्हें उछालकर दूर-वहुत दूर फेंक दिया। यह सब एक साधारण कंदुक-क्रीड़ा की भॉति बड़ी सहजता और सुगमता के साथ उस दुष्ट ! ने कर दिखाया। हाथ झाड़कर वह अपनी शक्ति की गर्वोक्तियॉ करने लगा।

संयोग से ये दोनों किसान के घर के बाहर, सड़क के किनारे बने वाड़े मे घास की गंजियों पर गिरे। शारीरिक आघात तो किसी को विशेष नहीं पहुँचा, किन्तु किसान इस मानसिक क्लेश से बिलबिला उठा कि अवन्तीनाथ का उसके अपने आवास पर इस प्रकार अपमान हुआ। वह उठा और वहीं से चिल्लाने लगा—"अरे दुष्ट, तूने मालवाधिपति के विरुद्ध अपराध किया है, मालवा की धरती तुझे क्षमा नहीं करेगी, मालव-प्रजा स्वयं तुझे मृत्यु-दण्ड देगी ····।"

एक पथिक उस मार्ग से निकल रहा था। उस परदेसी पथिक ने जव आधी-अधूरी वात कृषक के मुख से सुनी तो वह अपने पर वश न रख सका। क्रोध से भरकर वह उत्तेजित हो उठा—'किसने मेरे स्वामी, अवन्ती के नाथ के साथ दुर्व्यवहार किया। मैं इसका प्रतिशोध लूँगा।' यह सोचकर वह भीतर आया। महाराज को अपने समक्ष पाकर उसने आदरपूर्वक प्रणाम निवेदन किया और किसान से सारा वृत्तान्त सुनकर तो वह आगववूला हो गया—"भुजवल पर कभी किसी एक का आधिपत्य नहीं होता। कौन अपने आप को वलशाली मानकर, शक्ति के अहंकार में चूर होकर यह अनुचित कलाप कर वैठा है। आज उसे अपने अपराध का दण्ड भोगना ही पडेगा। क्या छिपकर वैठ गया है घर के भीतर ···· शक्तिशाली है तो फिर सामने क्यों नहीं आता?" वह साहसी पथिक ऑगन में खडा दुष्ट प्रेमी को ललकारने लगा—"अरे वाहर निकल, आज तेरी शक्ति का घमण्ड ही तेरा सर्वनाश करेगा। आ ··· इस परदेसी से अपनी शक्ति की परीक्षा कर। क्या कायर की तरह छिपा वैठा है ···· ।"

"अब यह कौन मच्छर भनभनाने लगा है ····· हैं? ····· कौन है? तू कहाँ से आया है और ·· और क्या चाहता है?" वडवडाता हुआ दुष्ट प्रेमी द्वार में आकर खड़ा हो गया। वह अत्यन्त उत्तेजित था।

"मैं कोई भी होऊँ और कहीं से भी आया हूँ.... परन्तु चाहता यह हूँ कि तुझे आज यमलोक की यात्रा के लिए प्रस्थान करा दूँ।" अत्यन्त रोषपूर्ण स्वर में परदेसी पथिक ने उत्तर दिया।

"तू परदेसी लगता है...... तू जानता नहीं है मेरी शक्ति को। इस कारण ही तू मृत्यु का ग्रास बनने को यहाँ तक खिंचा चला आया है। जा.... चला जा और अपने प्राणों की रक्षा कर ले।" दुष्ट प्रेमी ने प्रबोधन देते हुए कहा।

किन्तु वह परदेसी पथिक भी पीछे रहने वाला न था। बोला–"बूँद गर्व से स्वयं को समुद्र कहने लगे–इससे वह समुद्र हो नहीं जाती। तूने अनाचार किया है, महाराज वीर विक्रम पर आक्रमण किया है। तू नराधम–नीच है। तुझे तेरे पापों का दण्ड देकर ही मैं यहाँ से जाऊँगा।" और भी अधिक क्रोधित होकर परदेसी ने उस दुष्ट की बाँह पकड़कर बाहर खींच लिया। वह प्रांगण में औंधे मुँह धडाम् से गिर पड़ा। सावधान पथिक ने बड़ी ही त्वरा के साथ उठते हुए दुष्ट प्रेमी की गर्दन पर तीव्र पदाघात किया। वह पुनः भूमि पर गिर पड़ा और उसके मुख से रक्त-स्राव होने लगा। अपना रक्त देखकर दुष्ट प्रेमी उत्तेजित हो उठा, प्रथम वार में ही परदेसी को हावी होते देखकर भी उसे अत्यन्त रोष हुआ। अपनी पूर्ण शक्ति संकलित कर वह सहसा उठ खड़ा हुआ और अपनी बलिष्ठ भुजाओं में परदेसी की कटि को जकड़कर उसे अपनी भुजाओं पर ऊपर उठा लिया। असहाय-सा परदेसी हवा में हाथ-पैर मारने लगा। "अब ललकार अपने बाप को" आदेश के साथ दुष्ट ने हुँकार भरते हुए कहा और परदेसी ने विद्युत् वेग से दुष्ट की भुजा पर अपने द्विहस्त मुष्टिका का एक भारी प्रहार किया कि उसकी पकड़ शिथिल हो गयी। परदेसी जकड़ से मुक्त होकर भूतल पर आ खडा हुआ। अपने मस्तक से दुष्ट प्रेमी के उदर में भेंटी प्रहार करने लगा। आहत प्रेमी चक्कर खाकर धरती पर गिर पड़ा। परदेसी ने उसके वक्ष पर अनेक प्रबल पद प्रहार किये। वेदना के मारे वह दुष्ट प्रेमी कराहने और तड़पने लगा। अन्ततः इस संक्षिप्त किन्तु तीव्र संघर्ष मे वह मरण को प्राप्त हो गया। समीपवर्ती जनों का विशाल समूह वहाँ एकत्र हो गया था। दुष्ट प्रेमी के प्राणान्त हो जाने पर ग्रामवासियों का यह घेरा संकीर्ण होने लगा और इनके मध्य उस घमंडी बलवान का निष्प्राण देह पड़ा था। लोगों का कुतूहल चरम पर था। बलशाली कृषक ने तो संतोष की साँस ली। पर उस भीड मे वह पराक्रमी परदेसी पथिक कहीं दिखायी न दिया। उसने तो अपना कार्य पूर्ण किया और सहज भाव से अपने मार्ग पर आगे बढ़ गया। उस अज्ञात नाम परम बलवान की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी, किन्तु उसे अपने पराक्रम के लिए गौरव-प्राप्ति की लालसा न थी। यही सच्चे वीर और भुजबल के सच्चे धनी का लक्षण होता है– महाराज इसी प्रकार चिन्तन में लीन हो गये। विचित्र प्रसंग था–वास्तव में इस महिमंडल पर एक से बढ़कर एक बलवान हैं। सिंहों पर नियंत्रण करने वाला कृषक परम बलवान प्रतीत होता था, किन्तु वह दुष्ट प्रेमी उससे वढ़कर निकला।

परदेसी पथिक उसका भी सिरमौर निकला, किन्तु इस परम्परा की इति यही हो जाती हो–ऐसा भी नहीं है। न जाने कितने अज्ञात भुजबली इस जगत् मे होगे। महाराज ने सोचा कि ऐसे में हमारा अपने बल पर गर्व करने का अर्थ ही क्या है? इस चिन्तनधारा ने उन्हें अन्तर्मुखी बना दिया और वे आत्मालोचना करने लगे। इसी क्रम में उनके नयन मुँद गये।

महाराज को सदादर्श की प्रेरणा मिली। आत्मतोष के साथ उन्होंने पलके खोलीं तो उन्हें महान् आश्चर्य हुआ। वे तो अश्वारूढ़ एकाकी एक वृक्ष के तले खडे थे। न सिंहों का स्वामी वह कृषक कहीं था, न उसका घर, न परदेसी पथिक की जय-जयकार करती ग्रामवासियों की भीड़ ही थी। वे सोचने लगे–'तो क्या हम दिवा-स्वप्न देख रहे थे।'

"हॉ, राजन् ! तुम दिवा-स्वप्न ही देख रहे थे, किन्तु इस स्वप्न मे जो कुछ तुमने देखा वही सत्य है। इसी सत्य का बोध कराने को हमने यहॉ यह माया रची थी।" महाराज के कानों में यह वाणी गूँजी और एक दिव्य आकृति उनके समक्ष प्रकट हो गयी। हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हुए उस दिव्य विभूति ने कहा–"हम तुम्हारे कुल-देवता हैं।"

वीर विक्रम अश्व से नीचे उतर आये। कुल-देवता के चरणो मे नमन कर उन्होंने उनके मुख पर दृष्टि केन्द्रित करते हुए कहा–"परम सौभाग्य है देवता मेरा कि आज आपके साक्षात् दर्शन हो गये। मैं धन्य हो गया, प्रभो !"

मुस्कराते हुए कुल-देवता ने प्रवोधन दिया–"उठो, राजन् ! उठो। तुम्हारी रानी तेले की तपस्या कर रही है, तुम्हारे दोष का प्रायश्चित्त वह कर रही है। वास्तव में वह तुम्हारी 'धर्मपत्नी' है। यह दोष तुममें कहॉ से आ गया कि तुम स्वयं को जगत का परम वलवान और श्रेष्ठतम पुरुप मानकर अभिमान करने लगे। इस अभिमान की निरर्थकता और इसके दुष्परिणामों से परिचित कराने को ही हमने यह समग्त दृश्यावली तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत की थी। वत्स ! अभिमान मनुष्य के भीतर पलने वाला स्वयं उसी का शत्रु होता है जो घोर पतनकारी होता है सर्वनाश कर देता है। तुम तो इस राजवंश की श्रेष्ठतम आशा हो ..... इस राज्य और राजघराने की श्रीवृद्धि, इसके गौरव के विकास, इसकी कीर्ति के प्रसार मे तुम्हारा निश्चय ही भारी योगदान रहा है, किन्तु अभी तुम्हारे उत्थान की अमित सभावनाएँ है। अभिमान को गले लगाकर तुम संभावनाओं का वह द्वार वन्द मत करो। अपने पूर्वजों की भॉति तुम भी उदार हो, विनयशील हो, गुणवान हो, शूरवीर और वलशाली हो–किन्तु इस गुणो का अहंकार न करो। अपने वंश की यश-पताका को और भी ऊँची उठाना है तुम्हें। अहकार मे किसी का कल्याण नहीं हुआ। महाविनाश का जनक यह दुर्गुण तुमसे दूर रहे–यह प्रयास करते रहो। वात्सल्य भाव से जनता का पालन करो, न्यायी वने रहो, दीन-दुखियो की सेवा करो। यही इस वंश का कुलधर्म है। तुम्हारा कल्याण हो .... मंगल ही मंगल हो ......।"

इस प्रेरक प्रबोधन से महाराज के भीतर आलोक प्रसारित हो गया—उनकी सुप्त आत्मा जाग्रत हो उठी—"कृतार्थ हो गया मैं, देवता ! आपने मुझे सुमार्ग से च्युत होते हुए बचा लिया। अहकार का अंकुरण मेरे मन में होने लगा था। मैं इसे स्वीकार करते हुए वचनबद्ध करता हूँ स्वयं को कि इस अंकुर को भी मैं कुचल दूँगा। सदा ही विनयी बना रहूँगा। राज्य और राजवंश की मर्यादाओ का निर्वाह करूँगा और इनकी सुख-समृद्धि के लिए ही यत्नशील रहूँगा। आपने मेरी आँखें खोल दीं, देवता ! आप महान् है....।" पलकें उघाडकर जो महाराज ने देखा तो पाया कि कुल-देवता अदृश्य हो चुके थे। घुटनों के बल बैठे महाराज विक्रमादित्य उठ खड़े हुए। हथेलियो से पलकें मलते हुए वे अपने अश्व के समीप गये। संध्या होने को थी। अश्वारूढ हो वे राजभवन की ओर बढ़े।

●●

आज एक के पश्चात् एक मनःपरिवर्तनकारी घटनाएँ होती चली जा रही थीं। महाराज अपने विश्राम-कक्ष में पहुँचे ही थे कि श्रेष्ठी धनदत्त ने नमनपूर्वक प्रणाम किया। श्रेष्ठी बड़ी आतुरता के साथ पहले से ही महाराज के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। महाराजश्री ने आदरपूर्वक उन्हें आसन दिया, स्वयं भी आसीन हो गये और बड़ी मृदुलता के साथ संभाषण करने लगे—"कहिये, श्रेष्ठीवर ! आज इस समय कैसे आना हुआ? सब कुशल-मंगल तो है न....!"

"राजराजेश्वर ! आपके सुशासन मे कुशल-मंगल तो सर्वत्र अंसदिग्ध रूप से बना ही रहता है। मैं तो एक विशेष प्रयोजन से उपस्थित हुआ हूँ।" श्रेष्ठी धनदत्त ने नम्रतापूर्वक करबद्ध निवेदन किया।

"हॉ..... हॉ..... कहिये। आप संकोच क्यों कर रहे हैं?" महाराज ने श्रेष्ठी को प्रोत्साहित किया।

"बड़ी ही विचित्र स्थिति है, महाराजश्री ! क्या निवेदन करूँ ! मेरा आपसे अनुरोध है कि कृपया अभी तत्काल ही मेरे आवास पर पधारने का कष्ट करें। हॉ कर दीजिये, प्रभो ! इस अनुनय को अस्वीकार न कीजिये।" याचना-भरे स्वर मे श्रेष्ठी धनदत्त ने निवेदन किया और भावावेश में वे अपने आसन से उठ खड़े हुए।

पूर्वानुमान लगाने की स्थिति के अभाव में महाराज को कुछ असामान्य-सा अनुभव होने लगा। उन्होंने श्रेष्ठी को आश्वस्त करते हुए शान्तिपूर्वक कहा—"अरे, आप चिन्तित क्यों होते हैं? आपका अनुरोध अस्वीकृत तो हो ही नहीं सकता,

किन्तु आप आराम से बैठिये और फिर विस्तार से बताइये कि बात क्या है? प्रतीत होता है कि कोई असाधारण ....।"

"असाधारण तो है ही, श्रीमानेश्वर ! ..... ऐसा कभी न देखा न सुना। इससे बढ़कर और क्या असाधारणता होगी, देव ! पूरे बारह वर्षो की दीर्घकालावधि के पश्चात् आज हमारे घर में एक पुत्र का जन्म हुआ है। बडा सुन्दर और स्वस्थ शिशु है। दिनभर हम सभी हर्ष के सरोवर में हिलोरें लेते रहे। उत्सव का-सा दिवस हो गया ...... आज का, किन्तु ज्यों ही रात्रि आयी बड़ी विचित्र-सी घटना हुई। सभी आश्चर्यचकित रह गये, महाराज !"

"अच्छा ..... ! क्या हो गया?"—महाराज की भी उत्सुकता बढ गयी। वे सावधान होकर अपने आसन पर तनिक आगे को खिसक आये—"क्या शिशु के व्यवहार में सहसा कोई परिवर्तन आ गया?"

"यही, महाराज ! यही।"—थूक सटकते हुए श्रेष्ठी बोले—"रात्रि होते-होते ही एक दिन का वह बालक बोल पड़ा, महाराज ! आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !! वह तो बड़ों की भॉति साफ-साफ बात करता है .....।"

"यदि ऐसा है तो वास्तव में आश्चर्यजनक है, श्रेष्ठीवर ! वह कहता क्या है?" महाराज ने पूछा।

"अभी तो बार-बार वह एक ही बात कहता है कि कोई महाराज विक्रमादित्य को वुला लाओ। मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ। वैसे वह वाल्योचित व्यवहार ही करता है। वीच-बीच में वह वयस्कों की भॉति यह कथन करता है और पुन पूर्ववत् हो जाता है।" श्रेष्ठी ने स्थिति स्पष्ट की।

महाराज ने कहा—"श्रेष्ठीवर ! वास्तव में अचरज-भरा प्रसंग है। आप चलिये, हम भी अभी पहुॅचते हैं। लगता है शिशु के पास हमारे लिए कोई संदेश है।" महाराज ने उठने का उपक्रम किया।

"क्षमा करें, श्रीमानेश्वर ! अनुमान मेरा भी यही वना। इसी कारण मैं तत्काल यहॉ उपस्थित हो गया। शिशु जिस ढंग से यह वात कहता है उससे प्रकट होता है कि वह संदेश है भी महत्त्वपूर्ण और वड़ा आवश्यक है।"

"ठीक है, अभी ज्ञात हो जाता है।" महाराज ने कहा और भीतर चले गये। श्रेष्ठी धनदत्त ने भी प्रस्थान किया।

महाराज जव धनदत्त के आवास पर पहुॅचे तो पाया कि शिशु पालने में झूल रहा है और शान्त भाव से लेटा है। सहसा उसने मुख घुमाकर महाराज की ओर देखा और वोल पडा—"प्रणाम स्वीकार हो, राजन् ! मुझे पहचाना?"

उत्तर के अभाव में महाराज मौन रह गये और आश्चर्यजनक वालक की ओर निहारने लगे तो वालक ने स्वयं ही अपनी वात आगे वढाई—"नहीं पहचाना

न ! क्या आपको स्मरण है घने वन की वह घटना। नौ माह और दस दिन पूर्व आप वन में अचेत पडे थे, एक भील ने आपकी सहायता की थी। साधारण-से उस भील-दम्पति ने अपनी कंदरा में आपका अतिथि-सत्कार किया था। आपने रात्रि-विश्राम भी ····· ।"

"हाँ ····· हॉ ······ स्मरण आया। बड़े प्रेम से उस भील-दम्पति ने हमारी सेवा की थी। उस संकट में उनकी सहायता प्राप्त न होती तो न जाने क्या अनर्थ हो जाता, किन्तु दुःख इस बात का रहा कि उन्हें इस शुभ व्यवहार का परिणाम शुभ रूप में नहीं मिला। कैसा कारुणिक ····।"

"मैं जानता हूँ, महाराज ! मैं सब जानता हूँ।"–बालक के इस कथन पर महाराज चकित रह गये।

उत्सुकता के साथ कहा–"हॉ, भाई ! ······ हॉ, यह सब घटित हुआ तो ···· किन्तु तुम्हें यह सारा वृत्तान्त कैसे ज्ञात हुआ? क्या संबंध है इस घटना से तुम्हारा?"

बालक ने क्षीण हास्यपूर्वक कहा–"मैं जानता था–आपकी ओर से ऐसा प्रश्न कोई होगा अवश्य। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। तो सुनो, राजन् ! मैं ही अपने पूर्वभव में वह भील रहा हूँ। अपने उरा भव के पुण्य कर्मों के फलस्वरूप हमें इस वैभवशाली परिवार के सुखोपभोग का अवसर इस जन्म के रूप में प्राप्त हुआ है। उस भव में हम पति-पत्नी का जो दारुण अन्त आपने देखा वह तो सत्य था, किन्तु वह अतिथि-सेवा या जीवनदान के शुभ कर्मो का प्रतिफल न था। उसका परिणाम तो राजन् ! इस जन्म के रूप में साकार हुआ है। वह कारुणिक अन्त तो किसी अन्य अशुभ कर्म का परिणाम रहा होगा। आपने अपने हितैषियों की जो दुर्दशा देखी उससे आपका मन विचलित हो गया और दान व उपकार जैसे शुभ कर्म भी आपको व्यर्थ जान पड़ने लगे। यह आपका भ्रम है, महाराज ! इस भ्रम को दूर करो और दानशीलता की नीति में अपनी आस्था को डगमगाने न दो।" बालक यह कहते-कहते तनिक गंभीर हो गया।

महाराज के मन में एक नवीन चेतना विकसित होने लगी। उनके भ्रम का तिमिर तिरोहित होने लगा। उन्हें भट्टमात्र की धारणा में औचित्य प्रतीत होने लगा। दान की महिमा पुनर्स्थापना पाने लगी। उन्होंने आदर भाव के साथ कहा–"वड़ा उपकार किया है तुमने भाई मुझ पर ····· तुमने मुझे एक शुभ मार्ग से भटकने से बचा लिया है। मेरी डिगती हुई आस्था सुदृढ़ होने लगी है। तुमने तो अपने पुण्यों का शुभ फल प्राप्त किया है। तुम्हारी पूर्वभव की धर्मपत्नी भी तो पुण्यशील रहीं। उनके साथ क्या घटित हुआ? तनिक यह भी तो वताओ।"

"हॉ, राजन् ! शुभ कर्म व्यर्थ नहीं होते, उसके शुभ फल अवश्य प्राप्त होते हैं। इस नगर के एक अन्य श्रीपति श्रेष्ठी हैं–श्रीदत्त। वह पुण्यकर्मी भीलनी उनकी

पुत्री के रूप में कुछ ही दिनों में जन्म लेगी और अपार वैभव का उपभोग करेगी।'' कुछ पलों के विरामोपरान्त बालक ने पुनः कथन किया–''एक रहस्य की बात बताता हूँ, राजन् ! ये दोनों श्रेष्ठी-परिवार वचनबद्ध हैं कि यदि किसी एक परिवार में पुत्र और अन्य में कन्या का जन्म होगा तो यथासमय इन सततियो का विवाह कर दिया जायेगा। इस प्रकार मेरे पूर्वभव की वह भीलनी पत्नी इस भव मे भी मेरी जीवन-सहचरी होगी।'' यह कहते-कहते बालक तनिक मुस्कराया और अपनी पलकें बन्द कर लीं। कुछ ही पलों में बाल गहरी नींद में सो गया।

महाराज ने राजभवन में लौटकर तत्काल महामात्य भट्टमात्र को बुलवाया और इस अद्‌भुत घटना की चर्चा करते हुए कहा कि उनका भ्रम हट गया है। दानकर्म बन्द करने के अपने आदेश को निरस्त करते हुए उन्होंने भट्टमात्र के विचारो से सहमति व्यक्त की और दान की प्रवृत्ति को और अधिकता के साथ निरतरित रखने का आदेश दिया। यथासमय रानी कमलावती के तेला उपवास के सम्पन्न होने पर महाराज ने उनका अभिनन्दन किया और स्वयं उनका पारणा कराया। प्रसन्नवदन महाराज ने राजकुमारी का उपकार स्वीकार करते हुए उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की–''प्रेयसी ! आप-जैसी जीवन-सहचरी पाकर हम कृतार्थ हो गये। आपने अपना पत्नीधर्म जिस निष्ठा और कौशल के साथ निभाया है, उससे तो आपने हमारी पतन से रक्षा कर ली है। आपकी उपासना, आपका व्रत सफल हो गया। हम इस मर्म को हृदयंगम कर चुके हैं कि जगत् में वीरों और बलवानों का कभी अभाव नहीं रहा। यह पृथ्वी अपने एक से बढ़कर एक वीर पुत्रों से शोभित है। ऐसे में किसी का स्वयं को सर्वोच्च वीर और बलवान मानने का गर्व कितना मिथ्या, कितना अर्थहीन है–हम यह भलीभाँति समझ चुके हैं। शक्ति और वैभव के अहंकार का भाव अंकुरित होते-होते ही उन्मूलित हो गया है। इस उपकार के लिए राजरानी ! हम आपके ऋणी हैं।''

''क्यों लज्जित करते हैं, स्वामी ! हमने तो अपने कर्त्तव्य निभाने का प्रयास मात्र किया है। हर्ष की बात यह है कि उस प्रयास को सफलता मिली। नियति को यही स्वीकार्य है कि आपका उत्तरोत्तर उत्कर्ष हो–कदाचित् इसी कारण आपका मन विकारों से दूषित होते-होते बच गया। हमें तो आपका अनुराग ही सर्वोपरि लगता है–वह निरन्तर मिलता रहे–यही लालसा है, और किसी की कामना नहीं।'' राजरानी यह कहते-कहते भावविभोर हो उठीं और उनके नयन छलछला आये।

● ●
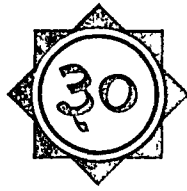
मालव-देश की राजनगरी–अवन्ती देशभर की श्रेष्ठतम नगरियों में अग्रणी थी। अनेकानेक कोट्याधीशो से युक्त नगरी अवन्ती श्रीसम्पन्न और वैभवशालिनी तो थी ही, सुहृदय पुरवासियों की सौन्दर्यपूर्ण अभिरुचियों के कारण यह कलात्मक और सुन्दर भी थी। स्वच्छता इस सौन्दर्य में और भी चार चॉद लगा देती थी। यह नगरी अपने गुणी जनों के कारण भी विख्यात थी। उच्च कोटि के बुद्धिवन्त जन, ज्ञानी-ध्यानी और धर्माचारी जन भी यहॉ निवास करते थे, तो विद्यावानों और कलाकारो का भी आधिक्य था। राजा विक्रमादित्य की उदार नीतियों और प्रोत्साहन की प्रवृत्ति के कारण इनकी संख्या उत्तरोत्तर अभिवर्धित भी होती जा रही थी। कलाओं–विद्याओ का स्तर तो उन्नत था ही उनका प्रस्तुतीकरण और भी प्रभावशाली रहा करता था। प्रजा भी सुखी और संतुष्ट थी। विभिन्न वर्गो और समुदायों के पृथक्-पृथक् आवास-क्षेत्र थे। व्यवसाय भी अच्छी उन्नति पर था। व्यवसायों के आधार पर भी अनेक क्षेत्र बने हुए थे। ऐसा ही एक क्षेत्र तेलीवाड़ा भी था। मालव-देश में अवन्ती का यह तेलीवाड़ा बड़ा प्रसिद्ध हो गया था। एक तो अपने घनीभूत व्यवसाय के ही कारण इस बस्ती को दूर-दूर तक जाना जाता था। बारह सौ कोल्हू यहॉ चलते थे। अपने इस समृद्ध व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य कतिपय विशेषताऍ और भी थीं जो तेलीवाडे की प्रसिद्धि की आधार बनी हुई थी। यही तत्कालीन इतिहास-विश्रुत विद्याधारिणी गंगू वृद्धा का निवास था। लोक-प्रचलन में गांगणी तेलिन के नाम से भी जानी जाने वाली यह वयोवृद्धा नारी मंत्र-विशारदा और निपुण विद्यावती थी। उसकी साधारण प्रक्रियाऍ और उनके परिणाम भी सामान्य जनों को चमत्कृत कर देते थे। दुःखी–कष्टित जन अपनी समस्याओं को लेकर यहॉ आते और समाधान पाकर संतुष्ट मन से लौट जाते थे। सर्वत्र इस विद्यावती की प्रशंसाऍ होती रहती थी। अपनी मंत्र-शक्ति से गगन-विहार करते पक्षियों को धरा पर ले जाने का सामर्थ्य तो उसके लिए गौण-सा था। स्तंभन, उच्चाटन, भारण, रूप-परिवर्तन, आकाश-गमनादि अनेक विद्याओं में वह निष्णात मानी जाती थी। यत्र-मंत्र-तंत्र के ऐसे प्रभावशाली अनेक जन अवन्ती मे निवास करते थे।

अवन्तीपति की शोभा-यात्रा नगर के मुख्य मार्गो पर होकर उत्तरोत्तर आगे वढती जा रही थी। राजसेवकों का एक छोटा-सा दल विधिवत् उनके संग था। गजारूढ महाराज प्रसन्न मुद्रा मे अपनी प्रजा का अभिवादन मुस्कान के साथ हाथ उठाकर स्वीकार करते जा रहे थे। कृतज्ञ जनता के मन में अपने सुशासक के प्रति

अनेकानेक मंगल भावनाएँ उठ रही थीं और वे ही अधरों में जय-जयकार का स्वरूप ग्रहण करती जा रही थीं। सजे-धजे आवासों की पंक्तियों के मध्य स्वच्छ, रिक्त पड़े मार्ग पर महाराज की शोभा-यात्रा अग्रसर होती जा रही थी। इस शोभा-यात्रा में सर्वाग्र रूप में एक नवयुवक अश्वारोही मालव-देश की राज-पताका ऊँची उठाये चल रहा था। उसके पीछे दो राजसेवक स्वर्ण छड़ियाँ उठाये चल रहे थे। पीछे-पीछे महाराज के चौबीस अंग-रक्षक सशस्त्र होकर चल रहे थे। उनके पीछे ही महाराज का गजराज था जिसके साथ-साथ चल रहे थे अश्वारूढ़ महामात्य भट्टमात्र। और राजाधिराज के पीछे अश्वारोहियों का एक दल चल रहा था। इस शोभा-यात्रा की मार्ग-व्यवस्था का निरीक्षण करते एक राजसेवक-दल वहुत आगे-आगे चला जा रहा था। इस अश्वारोही दल का नायक मार्ग की स्वच्छता, मार्ग की रिक्तता का निरीक्षण करता जा रहा था। महाराज की गरिमा के अनुकूल वातावरण बना रहे, शान्ति-व्यवस्था में कोई व्यवधान न हो, अनुशासनहीनता का कोई प्रकरण उठ खड़ा न हो, महाराज को मार्ग की अथवा आसपास की किसी घटना अथवा वातावरण के कारण कोई असुविधा, कष्ट या मानसिक क्लेश न हो—यह देखना इस निरीक्षण-दल का दायित्व था।

यह निरीक्षण-दल बड़ी सतर्कता के साथ अपना कार्य पूर्ण करता हुआ शोभा-यात्रा के आगे-आगे त्वरा के साथ बढ़ा जा रहा था कि सहसा नायक को एक व्यवधान दिखायी दिया। मार्ग के समीप के ही एक आवास के बाहर धूल उड़ती हुई दिखायी दी। नायक ने पीछे मुड़कर देखा और पाया कि शोभा-यात्रा भी समीप ही आ रही है। निरीक्षणकर्त्ता-दल सक्रिय हो गया। उक्त आवास के समीप पहुँचकर नायक ने देखा—एक कन्या अपने द्वार के बाहर का रिक्त पड़ा भू-भाग वुहार रही है। वही धूल ऊपर उठकर मार्ग के मध्य तक आती जा रही थी। "ऐ ! स्त्री, देखती नहीं महाराज की शोभा-यात्रा आ रही है और तुम मार्ग पर धूल उड़ा रही हो ! रुक जाओ ······ महाराज को आगे निकल जाने दो ······।"—नायक ने तनिक रूक्ष वाणी में, आदेशात्मक स्वर में कहा। कन्या ने कथन का जैसे श्रवण ही नहीं किया। वह अपना काम करती रही, धूल उड़ती रही। नायक अपने आदेश की उपेक्षा सहन न कर पा रहा था। शोभा-यात्रा समीपतर होती जा रही थी। इस विकट स्थिति ने उसके मानस को डगमगा दिया। अपने स्वर में तनिक और कठोरता लाते हुए उसने फिर से कहा—"सुना नहीं तुमने? ······ रुको ······ झाड़ू फेंक दो।"

"क्यों? ······ क्यो फेक दें झाड़ू ······?" रोप-भरे स्वर में उसने कहा। उसकी भृकुटि तन गयी, नेत्र और भी विशाल हो गये, वह सुन्दर वाला अब तेजस्विनी भी दिखायी देने लगी थी। उसके गौर मुख पर लालिमा उभर आयी "तेरा राजा तेरा स्वामी होगा—हमें क्या? हम भी हमारे घर के राजा हैं।" वह

तनकर खड़ी हो गयी। झाड़ूयुक्त हाथ कमर पर टिकाते हुए उसने कहा–"अपने राजा से कह दे जाकर.....कह दे अपने राजा से, वह हमें क्या रोकेंगे हम ही चाहें तो उसकी शोभा-यात्रा को रोक सकती है।"

"अरी, जा री जा..... तू क्या रोकेगी। महाराज हमारे राजाओं के राजा है। उनके प्रताप......।" नायक बड़बडाता हुआ बाला के हाथ से झाडू छीनने को हाथ लपकाता हुआ आगे बढ़ा ही था कि उसने झाडू वाला हाथ पीठ पीछे किया और गर्व के साथ बोली–"होंगे प्रतापी..... हम तो उसी राजा को महान् मानती हैं जो पंचदण्डछत्रधारी हो–ऐसे राजा ही हमारे लिए आदरणीय हो सकते हैं। तुम्हारे राजा तो यह जानते भी न होंगे कि पंचदण्डछत्र कहा किसे जाता है, उसको धारण करने का सामर्थ्य इनमें कहॉ....... !" यह कहती हुई वह बाला मार्ग पर आ गयी और अपने झाडू की मूॅठ से पथ पर तीन रेखाऍ बनाकर लौट गयी। महाराज अपने गज पर से ही इस सारे विवाद को देख–सुन रहे थे। भट्टमात्र भी सतर्क हो गये। महाराज के अंगरक्षक लपकर आगे बढने को हुए ही थे कि महाराज ने संकेत से उन्हें वर्जित कर दिया। स्वाभाविक रूप से ही शोभा-यात्रा की गति कुछ मन्द हो गयी। धीमे-धीमे महाराज विवाद-स्थल पर पहुॅचे और देखते ही देखते पथ पर जहॉ रेखाऍ खींची गयी थीं, वहॉ भित्तियॉ खड़ी हो गयी। पथ सर्वथा अवरुद्ध हो गया–शोभा-यात्रा का अग्रसर होना असंभव हो गया। भट्टमात्र ने इस माया को पहचान लिया। रहस्य तक पहॅुचना तो उनके लिए भी कठिन रहा, किन्तु इस निष्कर्ष पर वे तत्काल पहॅुच गये कि बाधा साधारण नहीं है और उत्तम है कि विवाद को तत्काल बढ़ाया न जाय। महामात्य भी विवेकशील थे–उन्होंने तुरन्त निर्णय लिया और शोभा-यात्रा उस स्थल से पीछे मुड़कर लौटने लगी। अन्य मार्ग से राजभवन तक पहॅुचने का विकल्प भी था। उसे ही अपनाया गया और महाराज का गज पीछे को मुड़ा। दर्प के कारण बाला का दमकता मुख-मण्डल महाराज की दृष्टि से छिप न सका। ऐसा सौन्दर्य, ऐसा माधुर्य भी महाराज के लिए अपूर्व था। वे मुड़-मुड़कर बार-बार बाला को निहारते रहे। वे उस अलौकिक रूप-राशि से अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्हें प्रतीत होने लगा कि अनेक दृष्टियों से यह बाला असामान्य है।

राजभवन पहॅुचकर भी वे अशान्त और उद्विग्न बने रहे। वाला के ये शब्द बार-बार उनके कानों में गॅूजते रहे कि तुम्हारे राजा तो यह जानते भी न होंगे कि पंचदण्डछत्र कहा किसे जाता है। वे स्मरण करने लगे कि उसने यह भी कहा था कि पंचदण्डछत्रधारी राजा ही उसके लिए आदरणीय है। महाराज को मन-ही-मन लघुता और संकोच का अनुभव होने लगा। वस्तु-स्थिति यही है कि हम नहीं जानते कि पंचदण्डछत्र क्या होता है? महाराज को मन-ही-मन अपनी इस अल्पज्ञता पर खेद होने लगा। वे पंचदण्डछत्र के विषय मे जान लेने को आतुर हो उठे। उनके मन मे ऐसे छत्र की प्राप्ति की कामना भी अंकुरित हो उठी। हर्म उस वाला के

लिए भी आदरणीय होकर रहेंगे। हमारे पास वैसा छत्र होना चाहिये। उसके अभाव में अब हमारे जीवन में शान्ति संभव नहीं.....। हम पंचदण्डछत्र प्राप्त करके ही रहेंगे। संकल्पबद्धता ने उन्हें स्फूर्त और प्रेरित किया तथा मन उपाय खोजने मे प्रवृत्त हो गया।

प्रातःकाल ही उन्होंने मंत्रि-परिषद् का आह्वान किया। महामात्य भट्टमात्र भी उपस्थित हुए और बुद्धिसागर भी। महाराज ने गत संध्या की घटना को असाधारण बताते हुए यह जानना चाहा कि पंचदण्डछत्र क्या होता है और वह अपूर्व सुन्दरी, वह असाधारण बाला कौन थी?

वरिष्ठवर बुद्धिसागर ने कुछ सोचते हुए निवेदन किया–"श्रीमानेश्वर ! पंचदण्डछत्र के विषय में तो मैं भी ज्ञान नहीं रखता, किन्तु शोभा-यात्रा के मार्ग में आयी बाधा का जो स्थल है उससे मैं बाला के विषय में अवश्य ही निश्चय के साथ निवेदन कर सकता हूँ। वह भवन नागदमनी का होना चाहिये और वह बाला अन्य कोई नहीं, उसकी पुत्री देवदमनी ही है।" आत्म-विश्वास के साथ बुद्धिसागर ने कहा–"राजाधिराज ! अवन्ती में हर युग में तंत्र-मंत्रविदों की अधिकता रही है और इस युग में नागदमनी अनेक विद्याओं के सामर्थ्य के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसके चमत्कार ऐसे अद्भुत और प्रभावशाली हैं कि जनता उसे जादूगरनी ही मानने लगी है। उसकी पुत्री देवदमनी भी ऐसी अनेक विद्याओं में सिद्ध हो चुकी है। देवदमनी तो अपार रूप-राशि की स्वामिनी है, प्रभो ! उसे अपनी विद्याओं के संग-संग अपने रूप पर भी अत्यन्त गर्व है। साक्षात् उर्वशी ही है वह तो। उसके इस रूप पर देवगण भी मुग्ध रहते हैं और उसे प्राप्त करने की लालसा रखते हैं, किन्तु देवदमनी की विद्याओं की शक्ति और उसकी असाधारण साहसिकता के कारण किसी का वश नहीं चलता। सभी देवता उसके समक्ष मस्तक झुकाते हैं। देवताओं की लालसाएँ उनके मन में दमित होकर रह जाती हैं। इसी कारण उसका देवदमनी नाम सार्थक हो गया है।" बुद्धिसागर की उस बात से भट्टमात्र के इस मत की भी पुष्टि हो गयी कि देवदमनी साधारण वाला नहीं, वह तंत्र-मंत्रादि विद्याओं में प्रवीणता रखती है और उनकी कुशल अभ्यासी भी है। महाराज के मन में देवदमनी के रूप के प्रति जो आकर्षण का भाव था, वह भी कुछ प्रवल हुआ, किन्तु पंचदण्डछत्र की समस्या यथावत् वनी रही। अन्ततः यह निश्चित किया गया कि देवदमनी से ही यह ज्ञात कर लिया जाय कि पंचदण्डछत्र क्या है? वही इसका प्रामाणिक परिचय भी दे सकती है और उसी से इस छत्र की प्राप्ति का मार्ग भी मिल सकता है।

आदेशानुसार राज्य-सेवक नागदमनी के आवास पर पहुँचे और महाराज की आज्ञा सुनाते हुए नायक ने पूछा–"कहाँ है, देवदमनी? हम उसे अपने संग ले जाने को आये हैं। अवन्तीनाथ ने उसे तत्काल उपस्थित होने का आदेश दिया है..... है, कहाँ देवदमनी?"

नागदमनी एक क्षण को तो अवाक्-सी रह गयी। उसका चित्त चिन्तित और आतंकित हो उठा। अपनी पुत्री की अबोधता पर उसे मन-ही-मन क्लेश हुआ। भाँति-भाँति की शंका-कुशंकाएँ मन में उदित–तिरोहित होने लगीं, किन्तु तत्काल अपनी मनोदशा पर उस शक्तिमती नारी ने नियंत्रण किया और सहज रूप में आती हुई वह कथन करने लगी–

"नायक जी ! आप मेरे घर आये.... स्वागत है आपका। आज हमारे नरेश को देवदमनी से क्या प्रयोजन हो गया? माना कि देवदमनी अपूर्व सुन्दरी है, किन्तु उसके रूपजाल में आबद्ध होकर इस प्रकार हमारे महान् शासक भी आदर्श-भ्रष्ट हो सकते हैं, मुझे ऐसी आशा तनिक भी नहीं। यों जो सुन्दरी उन्हें भा जाय, उसी को वे अपने अन्तःपुर में डालने लगेंगे तो फिर मर्यादा कहाँ रह जायेगी ! ऐं.... ? यह तो उचित नहीं है, नायक जी ! फिर नगर में रूपवतियों का क्या आत्म-सम्मान तो....।" नागदमनी का कथन भी अपूर्ण रह गया और उसका उत्तरोत्तर अभिवर्धित हो रहे रोष का क्रम भी अवरुद्ध हो गया। नायक ने हस्तक्षेप करते हुए कहा–"नागदमनी ! आप महाराज के आदेश को ठीक-ठीक समझ नहीं पायी हैं। उनका प्रयोजन ऐसा कुछ भी नहीं है। आपका जो कोमल और विनयपूर्ण व्यवहार हमें मिला है–उससे प्रभावित हुए हैं हम लोग। आते ही हमने जैसी कठोर वाणी का प्रयोग किया, हमें उसके लिए खेद है। हमारा कार्य ही ऐसा है और हमारा अभ्यास ही ऐसा हो गया है, किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि आप भ्रम में है। देवदमनी को राजभवन में बुलाया अवश्य गया है, किन्तु इस बुलावे के पीछे कोई कुत्सित भाव नहीं है। हमारे महाराज के लिए ऐसी कल्पना उनके शत्रु भी नहीं कर सकते।" नायक ने तनिक नम्र होते हुए कहा।

"तो.... तो फिर गत संध्या में देवदमनी से जो अशिष्टता हो गयी, महाराज उसी का दण्ड देने को बुला रहे होंगे उसे।" नागदमनी ने तत्काल एक त्वरा के साथ अपनी आशंका व्यक्त की और अनुनय करने लगी–"नायक जी ! हमारे महाराजा तो उदारमना हैं, कोमल हृदय, आदर्श शासक हैं। राजा तो प्रजा के लिए पितातुल्य होते हैं। मेरी यह कन्या अभी अबोध है और उसे जो विद्याओ की प्राप्ति हो गयी है–उसने उसे दर्प से भर दिया है, वह कुछ उच्छृंखल हो गयी है। यही चपलता उसे कभी-कभी उद्दण्डता और अशिष्टता-जैसा व्यवहार बनकर सभी के समक्ष आ जाता है। पिता तो अपनी संतति के दोष–त्रुटियों के लिए उन्हें क्षमा ही करता आया है। महाराज से निवेदन करें–मेरी कन्या को उसकी अबोधता के लिए क्षमा कर दे।" निहोरे लेते-से स्वर में नागदमनी ने कहा और आशा-भरी दृष्टि से नायक के मुख की ओर ताकने लगी।

"आपकी यह धारणा तो सत्य ही है, नागदमनी जी ! कि हमारे राजा आदर्श शासक हैं। अपनी प्रजा के लिए उनके मन में असीम स्नेह और ममता भी है, वे

क्षमाशील भी हैं, फिर अकारण ही आपके मन में यह आशंका क्यों है कि देवदमनी को दण्डित करने के लिए बुलाया जा रहा है। मुझे तो प्रतीत होता है कि महाराज देवदमनी पर प्रसन्न हैं और उसके ज्ञान से प्रभावित हुए हैं। देवदमनी ने जो कुछ भी सन्ध्या को कहा था—महाराज की जिज्ञासा उस विषय में बढ़ गयी है। उस विषय को विस्तृत रूप से वे जानने के इच्छुक हैं। इसी प्रयोजन से उसे बुलाया गया है।"

नायक के कथन से स्थिति पर्याप्ततः स्पष्ट होने लगी तो नागदमनी बोली— "मुझे प्रजावत्सल महाराज से आशा भी ऐसी ही थी, नायक जी ! किन्तु एक बात है ····।" नागदमनी ने रहस्योद्घाटन की मुद्रा में गम्भीरता से कहा—"ज्ञान आदेश से प्राप्त नहीं होता। विनयपूर्ण याचना और नम्र हृदय की श्रद्धापूर्ण तत्परता उसके लिए अपेक्षित रहती है। ज्ञान की सिद्धि के लिए मनोयोग की साधना और आस्था का साधन अनिवार्य होता है।"

"सत्य कथन है आपका, नागदमनी जी ! हमारे महाराज ने देवदमनी को राजभवन भेजने का अनुरोध ही किया है। वे उसके ज्ञान से प्रभावित हुए हैं और उन्होंने इसी प्रयोजन से आमंत्रित किया है कि वे देवदमनी से कुछ ज्ञात कर सकें।" नायक के कथन से नागदमनी मन ही मन संतोष का अनुभव करने लगी और बोली—"तब तो देवदमनी के स्थान पर मैं स्वयं ही महाराज के समक्ष उपस्थित होती हूँ। मैं समझ गयी कि महाराज जानना क्या चाहते हैं? वे पाँच दण्ड वाले छत्र के विषय में ही जानना चाहते हैं और यह बताना देवदमनी के भी सामर्थ्य में तो है, किन्तु मुझे भय है कि वह कुछ उल्टा-सीधा बोल देगी तो महाराज व्यर्थ ही में रुष्ट होंगे। अभी उसमें विवेक की समुचित अवस्था नही आ सकी है।" यह कहती हुई नागदमनी ने उत्तरीय और पदत्राण धारण किये और राजभवन से आये रथ में आरूढ़ हो गयी।

महाराज अपने निजी कक्ष में विराजित प्रतीक्षा ही कर रहे थे कि उनके कानों में एक नारी-स्वर गूँजा—"राजाधिराज की जय हो ! श्रीमानेश्वर के चरणों में नमन करती हूँ।"

महाराज ने देखा उनके कक्ष के द्वार के बाहर खडी एक प्रौढ़ा झुककर प्रणाम कर रही है। इस अभिवादन के उत्तर में हाथ ऊपर उठाते हुए कोमल वाणी में बोले—"आओ ···· आओ ···· ।" और एक मोहक मुस्कान के साथ नागदमनी को एक आसन पर बिठाया। आभार प्रकट करते हुए नागदमनी ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"कृपानाथ ! दासी सेवा में उपस्थित है। आज्ञा प्रदान कीजिए, प्रभो !"

"आज्ञा नहीं ···· आज्ञा नहीं, नागदमनी ! हम तो विद्या का आदर करते हैं, विद्यावानों के प्रति श्रद्धा भाव रखते हैं। आज्ञा कैसी? ···· किन्तु देवदमनी साथ नहीं आयी?" महाराज ने पूछ लिया।

"देवदमनी अभी अबोध है, महाराज ! आयु का चढाव और कतिपय विद्याओं की प्राप्ति ने उसमें एक विचित्र आत्म-विश्वास भर दिया है, पृथ्वीनाथ ! वही अकड़ के रूप में बाहर झलकता है, अन्यथा वह है बडी गुणी और ····।" नागदमनी ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया।

"हम जान गये···· वास्तव में उसमें प्रतिभा है। हम देवदमनी के ज्ञान से ही लाभान्वित होना चाहते हैं।" महाराज इतना कथन कर एकाध क्षण के लिए रुके। उसने कहा था कि वह साधारण राजाओं का नहीं, उन राजाओं का ही आदर करती है जो पंचदण्डछत्र को धारण करते हैं····।"

"यह उसकी अबोधता है, महाराज ! निरी अल्हड़ है वह, वाचा का विवेक नहीं रखती। आप तो हमारे अन्नदाता हैं, प्रभो ! प्रजावत्सल हैं आप, आप महान् हैं। उस क्षुद्र का अपराध क्षमा कर दीजिये।" हाथ जोड़कर नागदमनी ने विनती की।

"अपराध नहीं···· नागदमनी ! उसने हमारा उपकार किया है···· हमें एक नवीन महत्त्वाकांक्षा दी है।" महाराज ने कहा और उनके मुख-मण्डल पर एक अपूर्व तेज छा गया—"देवदमनी ने हमें एक नया मार्ग दिया है जिसे हम पहचानकर उस उपलब्धि को अर्जित कर लेना चाहते हैं। हम साधारण नहीं, असाधारण राजा हो जाना चाहते हैं। पंचदण्डछत्र का रहस्य ज्ञात कर लेने की उत्कट लालसा हमारे मन में समा गयी है और इस उद्देश्य से हमने देवदमनी को आमन्त्रित किया था।" महाराज के कथन में एकदम क्षिप्रता आ गयी।

"तब तो मैंने उचित ही किया महाराज कि उसके स्थान पर मैं स्वयं उपस्थित हो गयी। मैं ही भली प्रकार से उस छत्र का परिचय भी दे सकती हूँ और उसकी प्राप्ति का उपाय भी सुझा सकती हूँ। देवदमनी के वश का यह सब-कुछ नहीं है। यह पंचदण्डछत्र वास्तव में असाधारण नरेशों की शोभा को बढाता है। साधारण नृपति इसके स्वामी हो ही नहीं सकते। यह तो राजा के अपार बल और विक्रम का द्योतक होता है, महाराज ! इसकी प्राप्ति विगत अनेक शताब्दियो मे तो किसी नरेश को हुई नहीं। यह बड़ी कठिन उपलब्धि है। इसकी प्राप्ति का प्रयत्न अत्यन्त विकट और जोखिम भरा है। इसी कारण यह दुर्लभ गौरव की वस्तु है। मेरा मन कहता है, श्रीमानेश्वर ! आप भी इस कामना को त्याग दीजिये। जो पराक्रम और गौरव आपको प्राप्त है, उसे सहेजकर रखिये और निश्चिन्त मन से प्रजा-पालन करते रहिये। इस नवीन बिखेड़े में पड़ना उचित न होगा, महाराज !" परामर्श की मुद्रा में नागदमनी ने निवेदन किया, किन्तु महाराज की लालसाग्नि पर उसके कथन ने घृत का काम किया।

उत्साह के साथ वे बोले—"नागदमनी ! हम क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय कभी दो बार नहीं सोचता। वह भली प्रकार सोच-समझकर लक्ष्य निर्धारित कर लेता है फिर मार्ग की कठिनाइयाँ उसे विचलित नहीं कर पातीं। दुर्गम पर्वतों को लाँघकर

भी वह लक्ष्य को प्राप्त करके ही दम लेता है। लक्ष्य पर जिसकी दृष्टि टिकी रहती है, मन में जिसके लक्ष्य-प्राप्ति की कामना बलवती रहती है, उसे पथ-वाधाएँ रोक नहीं सकतीं। पंचदण्डछत्र यदि लक्ष्य हो सकता है तो वह प्राप्य भी है, चाहे दुर्गम ही क्यों न हो। दुर्गमताएँ हममें भय उत्पन्न नहीं करतीं, साहस को ही वढाती हैं। तुम, नागदमनी हमें मार्ग बताओ, हम लक्ष्य पर पहुँचकर दिखा देगे। हम असाधारण ही बनना चाहेंगे।''

''महाराज के साहस और शूरवीरता से भला कौन अपरिचित है.... आपके हाथों पड़कर तो अनेक असम्भव प्रतीत होने वाले महान् और जटिल कार्य भी सुगम और सम्भव हो गये हैं। तथापि इस नवीन लक्ष्य की विकटता से परिचित कराना मेरा धर्म था। यदि आप दृढ़ संकल्प हैं तो मेरी आशाएँ भी उससे बलवती हो गयी हैं। पंचदण्डछत्र को प्राप्त करने की आपकी उत्कट अभिलाषा का मै आदर करती हूँ। शताब्दियों में ही कोई ऐसा साहसी और पराक्रमी नरेश किसी देश को मिल पाता है, श्रीमानेश्वर ! आप धन्य हैं। किन्तु ....।'' नागदमनी ने अपने कथन के एक महत्त्वपूर्ण मोड़ पर विराम लेकर उसकी महत्ता को सायास वढा दिया।

''किन्तु क्या, नागदमनी !.... किन्तु क्या?'' उत्साह के आवेग मे महाराज ने पूछा।

''किन्तु महाराज ! आपको पंचदण्डछत्र-प्राप्ति का मार्ग जानने से पूर्व कुछ अनिवार्यताएँ पूर्ण करनी होंगी। मुझे भय है कि आप यह सव-कुछ कर न सकेगे।'' चुनौती-भरे स्वर में जव यह कथन नागदमनी ने किया तो महाराज एक दृढ दृष्टि से एकटक, अपलक रूप में उसे निहारने लगे। उनके नेत्र मानो कह रह थे—उस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम वह सव-कुछ तत्परता के साथ करेंगे जो उसके लिए अनिवार्य होगा। महाराज को मौन, किन्तु एकाग्रचित्त पाकर नागदमनी कुछ उत्साहित हुई और अपने ही कथन को अग्रसर करती हुई वोली—''महाराज ! इसके लिए आपको मेरी पुत्री के साथ विवाह करना होगा। एक तो हमारा कुल नीचा है, आपको इस कुल की कन्या रानी रूप में स्वीकार्य हो-न हो, कुछ कहा नही जा सकता। फिर यह विवाह यदि आप स्वीकार कर भी लें, तो भी देवदमनी के साथ आपको चौसर खेलनी होगी और उसे तीन वार पराजित करना होगा। यदि आप ऐसा कर सके तभी यह विवाह सम्भव होगा। मुझे तो यह असम्भव प्रतीत होता है, महाराज ! क्षमा की जाऊँ, किन्तु मुझे यह सत्य प्रकट ही कर देना चाहिए।''

महाराज ने निश्चिन्त मुद्रा धारण करते हुए कहा—''जगत् में असम्भव कुछ भी नही है। जो संभाव्य है उसे उद्यम और कौशल से, लगन और निष्ठापूर्ण प्रयत्नो से सम्भव वना लेना अध्यवसायियो के लिए कठिन नही रह जाता है, नागदमनी ! तुम निश्चिन्त हो जाओ और इस हेतु हमारी स्वीकृति, हमारी तत्परता मानो।''

"उत्तम है, महाराज ! मुझे आपमें आत्म-विश्वास की अधिकता दिखायी दे रही है। आत्म-विश्वास सफलता की पूर्व-भूमिका होती है। उपलब्धियॉ आत्म-विश्वास की अनुगामिनी बनी रहती हैं, फिर भी मैं आपको सचेत करना चाहूँगी, महाराज ! देवदमनी चौसर की कुशल खिलाड़ी है। नव-नवीन युक्तियॉ इस क्रीड़ा के विषय में उसके मन में मौलिक रूप में उपजती रहती हैं। उसकी चतुरता की समकक्षता आज तक कोई कर नहीं सका है। उसे एक बार भी कोई पराजित न कर सका है। आपको तो तीन बार उसे पराजित करना होगा–और वह अजेय है। बात कैसे बनेगी–यही सोचने की बात है।"

"तुम्हारा चिन्तित होना कदाचित् स्वाभाविक ही है, नागदमनी ! उसके क्रीड़ा-कौशल का मान जो तुम्हें है, किन्तु हमारे चातुर्य से तुम अपरिचित भी हो।" महाराज ने फिर जैसे अपनी क्षमताओं को भीतर ही भीतर तोलते हुए कहा–"अधिक से अधिक यही होगा न कि हम देवदमनी के हाथों पराजित हो जाये। यदि ऐसा भी होगा तो एक नवीन अनुभव प्राप्त होगा। ऐसी दक्ष खिलाड़िन से हारना भी एक गौरव होगा और यदि जयश्री की कृपा रही तो देवदमनी-जैसी सुन्दरी विद्यावती को अपने जीवन में सम्मिलित करने का सद्‌भाग्य रहेगा। हम दोनों ओर से निश्चिन्त हैं।"

"जैसी आपकी अभिलाषा, महाराज !"–नागदमनी ने कहा–"फिर तो महाराज राजभवन से मेरे आवास तक एक गुप्त मार्ग बनवा दीजिये। देवदमनी उसी मार्ग से आयेगी और यह क्रीड़ा भी किसी एकान्त स्थल पर होगी जहॉ आप दोनों और मेरे अतिरिक्त और कोई चौथा व्यक्ति नहीं रहेगा। मै स्वयं इस क्रीड़ा का निरीक्षण करूँगी।"

महाराज नागदमनी की बात ध्यान से सुनते रहे। संक्षिप्त से उत्तर में उन्होंने कहा–"यह सारी व्यवस्थाएँ हो जायेंगी। देवदमनी को क्रीड़ार्थ तत्पर रहने को कह दिया जाय।" महाप्रतिहारी इसी समय एक आवृत थाल ले आया। महाराज ने अपने कंठ का मुक्ता-हार नागदमनी को दिया और संकेत से भेंट स्वीकार करने को कहा। नागदमनी ने थाल को मस्तक पर चढ़ाया और कृतज्ञ भाव से महाराज की जय-जयकार करती हुई उठ खड़ी हुई। प्रणाम कर उसने प्रस्थान किया।

इसी समय उत्सुक बुद्धिसागर और भट्टमात्र भी पहुँच गये। महाराज से सारा वृत्तान्त सुनकर बुद्धिसागर गंभीर हो गये। उन्हें आगामी समय कुछ कठिन प्रतीत होने लगा था। उन्होंने हाथ जोड़कर निवेदन किया–"महाराज ! आपने सोच-समझकर ही निर्णय किया होगा, किन्तु मेरा मन कहता है कि यह अच्छा नहीं हुआ। देवदमनी को पराजित करना टेढ़ी खीर है। वड़े-वडे खिलाड़ी भी उससे पार न पा सके। आज तक वह किसी से पराजित न हो सकी है, पृथ्वीनाथ ! यह वड़ी मायावी है और····।"

"जी हॉ, महाराज ! ये माता-पुत्री दोनों ही बड़ी पहुँची हुई विद्या-निपुण हैं। अनेक सिद्धियाँ इन्हें प्राप्त हैं। देवदमनी अवश्य ही अपने कौशल के साथ-साथ क्रीड़ा में अपनी विद्याओं का भी प्रयोग करती होगी और प्रतिपक्षी को अपने वश में कर लेती होगी; अन्यथा खेल में सेर को सवा सेर कभी न कभी तो मिल ही जाता है।"

भट्टमात्र के इस कथन का समर्थन करते हुए महाराज विक्रमादित्य ने बडी तत्परता के साथ कहा–"उचित ही कथन है तुम्हारा, मित्र ! अब समझो इस बार उस सेर को सवा सेर ही मिलने वाला है। उसकी अपराजेयता का गौरव अव सीमा पर आ गया है। हम भी चौसर की क्रीड़ा अनेक चतुर और दक्ष जनों के साथ खेल चुके हैं। अपराजेय हम भी रहे हैं। हमारे मन में पराजय का भय नही, विजय का आत्म-विश्वास है।"

"तो यह समझा जाय, कृपावतार !" भट्टमात्र ने अपने स्वर में तनिक विनोद का रंग घोलते हुए कहा–" .... कि यह दो अपराजेयों की क्रीडा होगी। वाह ! बड़ा अद्भुत वातावरण हो जायेगा। कहीं ऐसा न हो महाराज ! कि आप दो दिग्गज खिलाड़ियों की चौसर क्रीड़ा का कोई परिणाम ही न निकले–न किसी की जय हो, न किसी की पराजय।"

"ऐसा भी संभव है, किन्तु ऐसा कब तक होता रहेगा। आरंभिक स्थिति ऐसी रह सकती है, किन्तु अन्ततः निर्णायक बिन्दु पर भी यह क्रीडा पहुँचेगी–अवश्य ही पहुँचेगी।" महाराज ने विश्वास व्यक्त करते हुए कहा और उनके मुख पर एक आभा प्रसारित हो गयी।

"किन्तु यदि उस निर्णायक स्थिति में आपका पलडा हल्का रह गया, महाराज ! तो वड़ा अनर्थ हो जायेगा। महाराज ! यह अपयश तो मालव-देश के लिए असहनीय हो उठेगा। स्वयं आपकी निर्मल कीर्ति पर अमिट धक्का लग जायेगा।"–बुद्धिसागर चिन्तित हो उठे।

"आप-जैसे विवेकशील और अनुभवी जनों की हित-कामना हमारे साथ रहेगी न ! वह शक्ति हमें कभी पीछे नहीं हटने देगी। निश्चय की दृढता के समक्ष कठिनाई और असंभवता टिक नहीं पाती। वे सरल और संभव होकर रह जाती हैं। हमें विश्वास है, नियति हमारे उन्नयन और उत्कर्ष की भूमिका ही इस क्रीडा के रूप में रची है। आप भी निश्चिन्त हो जाइये और मंगल कामना कीजिये।" अवन्ती-नरेश ने इस प्रकार आश्वस्त करते हुए अपने आन्तरिक विश्वास की झलक दी और भट्टमात्र को आदेश दिया–"राजभवन के आन्तरिक उद्यान में, दक्षिण दिशा में एक भव्य क्रीडा-मण्डप निर्मित कराया जाय और एक अधोभूमि मार्ग भी नागदमनी के आवास तक बनवा दिया जाय।"

आदेश का पालन हुआ। तीव्र गति से निर्माण कार्य हुआ और कुछ दिनों में वह सम्पन्न भी हो गया। नागदमनी को संदेश भेजा गया और सेवक ने लौटकर उत्तर में निवेदन किया—"देवदमनी के साथ नागदमनी आने ही वाली हैं।"

महाराज के उत्साह-सागर में जैसे ज्वार ही आ गया। वे क्रीड़ा-मण्डप में पहुँचे और अपने आसन पर विराजित हो गये। मण्डप बड़ी भव्यता के साथ सजाया गया था। राज-वैभव और कला-सुरुचि की सघनता का परिचायक यह मण्डप अटूट शान्ति का केन्द्र था। मंद-कोमल प्रकाश यहॉ की अन्य विशेषता थी। आत्म-विश्वास से ऊर्जस्वित महाराज की प्रतीक्षा आकुलता में परिणत होने लगी ही थी कि उसी समय गुप्त मार्ग से आकर नागदमनी और देवदमनी ने नमनपूर्वक प्रणाम किया। महाराज ने हाथ उठाकर अभिवादन स्वीकार करते हुए उनका स्वागत-अभिनन्दन किया—"आओ.... आओ, हम तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। हम इस क्रीड़ा-मण्डप मे चौसर की निपुणा, देवदमनी ! तुम्हारा और विद्या-विशारद, नागदमनी ! तुम्हारा हृदय से भाव-भरा स्वागत करते हैं। इस चौसर क्रीड़ा के साथ हमारे जीवन के नये अध्याय का शुभारंभ होने वाला है। आओ, आसन ग्रहण करो !"

इस स्वागत-कथन से दोनों बड़ी तुष्ट और प्रसन्न हो गयीं। देवदमनी महाराज के समक्ष आसीन हो गयी। बीच में चौसर-मंच था। मंच के तीसरे किनारे पर, महाराज के सीधे हाथ की ओर बिछे आसन पर नागदमनी बैठीं। चौसर-क्रीड़ा आरंभ होने को थी। देवदमनी के अलौकिक, दिव्य सौन्दर्य से मण्डप और भी सज्जित हो उठा और आलोक राशि में जैसे देवदमनी की दीप्ति से उल्लेखनीय अभिवर्धन हो गया। अनुपम वस्त्रालंकारों से सज्जित देवदमनी स्वर्गलोक की देवांगना-सी प्रतीत होती थी। वह बात-बात में मधुरता के साथ मुस्करा देती थी और महाराज को प्रतीत होता था मानो पाटल-पुष्पों के मध्य मोतियो की लड़ी अपनी दमक दिखाकर छिप जाती है। महाराज रूप के इस अगाध सागर में निमग्न-से हो गये। तभी नागदमनी के कथन ने उन्हें सचेत कर दिया—"क्रीडा आरंभ की जाय, महाराज !"

और महाराज सावधान होते हुए बोले—"हॉ.... हॉ.... अवश्य ! अवश्य आरंभ की जाय।" निदान, चौसर की क्रीडा आरंभ हुई। पहली चाल ही देवदमनी ने बड़ी बॉकी चली। महाराज दंग रह गये। फिर तो एक के बाद एक अनेक चालों में उसने अपने कौशल की धाक जमा दी। महाराज ने अन्तरमन में सोचा—'निश्चय ही देवदमनी चौसर-निपुणा है और इसके साथ क्रीड़ारत बने रहने के लिए भी असाधारण कौशल की अपेक्षा रहती है।' महाराज ने तव इस क्रीड़ा में अपने समस्त सामर्थ्य को प्रवृत्त कर दिया और समस्त अन्यमनस्कता का परित्याग कर क्रीड़ा को ही सर्वोपरि ध्यातव्य मानते हुए अपनी समग्र मानसिकता को इसी ओर केन्द्रित कर लिया। बड़ी सावधानी और दूरदर्शिता से वे चाल चलते रहे। कभी आत्म-रक्षा का प्रयास होता तो कभी आक्रमण का। यो घात-प्रतिघातों का क्रम

चलता रहा। मौन और एकाग्रचित्तता के साथ क्रीड़ारत देवदमनी भी कभी-कभी महाराज के कौशल की प्रशंसा करते हुए "वाह–वाह !" कर उठती थी। नागदमनी ध्यान से प्रत्येक चाल को देखती जा रही थी। कोई भी पक्ष नियम के विपरीत आचरण नहीं कर रहा था। उसे भी महाराज के कौशल का मन ही मन लोहा मानना पड़ा, तथापि कोई भी पक्ष विजय की ओर अग्रसर होता नहीं जान पड़ रहा था। दिनभर बाजी चलती रही। संध्या होने को आयी। धर्मनिष्ठ महाराज के लिए रात्रि-भोज निषिद्ध था। अतः उन्होंने अनुरोध किया और आज की क्रीडा जय-जयकार की स्थिति पर पहुँचने के पूर्व ही स्थगित कर दी गयी।

रात्रि में महाराज छद्मवेश में नगर-भ्रमण को निकले। पथ तो जन-शून्य होने लगे थे, किन्तु आवासों में अभी भी लोग कहीं-कहीं जाग रहे थे। एक वातायन के समीप से निकलते हुए महाराज ने इस भवन में अपनी चर्चा सुनी तो ठिठककर खडे रह गये। किसी दम्पति के मध्य वार्त्तालाप चल रहा था। महाराज ने पति को कहते सुना–"*भाग्यवान ! हमारे महाराज बड़े दूरद्रष्टा हैं, बुद्धिमान् और नीति-कुशल है,* किन्तु उन्होंने यह निर्णय कैसे कर लिया ? कुछ समझ में नहीं आया।"

– "क्यों ? क्या हुआ ? ऐसा कौन-सा नया निर्णय कर लिया है, महाराज ने ?" पत्नी ने पूछा।

– "यही ···· देवदमनी के साथ चौसर खेलने का ····।"

– "अरे ! ···· इसमें चिन्ता की कौन बात है ? इस क्रीडा में अवन्ती के नाथ भी वडे कुशल हैं। आज तक कभी उन्होंने पराजय का मुख नहीं देखा है। वडे निपुण खिलाडी हैं।"

– "तुम जानती नहीं हो देवदमनी के विपय में–इससे ऐसा कहती हो भागवान ! वह वड़ी पहुँची हुई है। उसका नाम देवदमनी है–देवता भी उसे पराजित नहीं कर सकते। कहते हैं उसे किसी देवी का आशीर्वाद प्राप्त है। जिसके साथ सिद्धियों की शक्ति हो उसे भला कोई पराजित कर सकता है ! इसी से तो कहता हूँ कि महाराज ने देवदमनी की चुनौती मानकर कोई अच्छा काम नहीं किया है।"

– "अरे, हजार शक्तियाँ हों उसके साथ, किन्तु वह अवला भला क्या खाकर हमारे महाराज का सामना करेगी ! ऐं ····? क्या तो वह और क्या उसकी शक्ति !"

– "अव तुमसे तो विवाद करना ही व्यर्थ है ···· तुम किसी की सुनो तव न कुछ ··· ।"

– "विवाद की वात नहीं है, स्वामी ! पर कहा जाता है न कि राजा की, जोगी की, अग्नि की और जल की उलटी गति होती है। ये जो चाहते हैं वही

करके रहते हैं। कोई प्रतिबन्ध इनके लिए नहीं होता। भविष्य को किसने देखा है? कौन जाने देवताओं को भी पराजित करने वाली देवदमनी के प्रारब्ध में अवन्ती-नरेश के हाथों पराजित होना लिखा हो।''

– ''संभव तो नहीं लगता, भागवान !.... ऐसा संभव नहीं लगता, किन्तु भगवान करें.... और तेरे बोल फलें....।''

महाराज ने यह चर्चा सुनी और आगे बढ़ गये। मंथर गति से सोच-विचार में डूबे वे राजभवन पहुँचे। आगामी प्रातः ही फिर क्रीडा आरंभ हुई। फिर वे ही घात-प्रतिघात चलते रहे। संध्या समय तक भी क्रीड़ा अनिर्णीत अवस्था में रही। पराजय तो किसी की भी नहीं हुई; किन्तु इस अवस्था में दोनों के मन में विजय-कामना और भी उत्कट हो गयी। जय-पराजय के अनिर्णय की स्थिति से दुर्बल खिलाड़ी ही प्रसन्न हो पाता है कि मानो उसे जीवनदान मिला हो। विजयोत्सुक सबल खिलाडी तो जय का एक अवसर व्यर्थ चले जाने से कुछ निराश ही होता है, किन्तु उसकी यह निराशा उसे विजय की दिशा में और अधिक सक्रिय हो जाने की प्रेरणा देती है। महाराज की दशा ऐसी ही थी। वे अपनी विजय के लिए सभी संभव शक्तियों व युक्तियों का उपयोग कर लेना चाहते थे।

भोजनादि से निवृत्त होकर महाराज फिर रात्रि में नगर-भ्रमण को निकले और वे अपने विषय में चल रही जन-धारणा को जान लेने का प्रयत्न करने लगे। संयोग से इस बार उन्हे राह चलते दो नागरिको का इसी विषय पर वार्त्तालाप सुनने का अवसर मिल गया। एक की धारणा थी–''अवन्ती-नरेश को अव भी यह चौसर की क्रीडा त्याग देनी चाहिये। अपना विचार उन्हें इस स्थल पर भी निरस्त कर देना चाहिये। यह देवदमनी महाधूर्त्त स्त्री है। अनेक प्रकार के टोने-टोटके किया करती है। यह अवश्य ही महाराज के लिए कोई भयंकर विपत्ति खडी कर देगी। हम तो सामर्थ्य ही क्या रखते हैं, किन्तु उनके सभासदो, मन्त्रियो मे से कोई तो ऐसा होगा कि महाराज को वह इस क्रीडा से विमुख कर सके।''

दूसरे साथी की मान्यता थी–''धनुष से निकले तीर को जैसे लौटाया नही जा सकता; वैसे ही महाराज को भी आरम्भ किये गये किसी कार्य से निष्क्रिय नहीं किया जा सकता। वे दृढमनस्क है और उनको अव किसी भी भॉति चौसर-क्रीड़ा से दूर नहीं किया जा सकता। वे इस क्रीड़ा-क्रम को अन्तिम चरण तक पहुॅचाकर ही विराम लेंगे–परिणाम चाहे कैसा भी क्यों न रहे। यह संकल्पवद्धता और प्राण-पण से कार्य मे जुटे रहने की जो प्रवृत्ति उनमे है–उसी के वल पर असंभव-से प्रतीत होने वाले कठिनतर कामों को भी उन्होंने साधा है। उन्होंने प्रतिष्ठानपुर की नर-द्वेषिणी राजकन्या का हृदय परिवर्तन कर उसकी प्रतिशोध की अग्नि क्रा शमन कर दिया–यह कोई साधारण कार्य न था। जव ऐसे हिमालय को महाराज ने हथेली पर उठा लिया तो देवदमनी को चौसर मे पराजित करना तो

उनके लिए बहुत साधारण है। अवन्ती के अनेक नागरिक व्यर्थ ही में आशंकित और चिन्तित हैं। महाराज के बुद्धि-वैभव और बल-पराक्रम में तनिक-सी आशंका के लिए भी कोई स्थान नहीं है।"

महाराज ने चर्चा सुनी और उनके मन को वेग प्राप्त हुआ। वे आत्मालोचन करते हुए राजभवन को लौट आये। वे सोचते रहे कि हमारी शक्ति कम तो नहीं है, हममें क्रीड़ा-कौशल भी है, हम इस क्रीड़ा में कभी पराजित भी नहीं हुए–यह सत्य है, किन्तु इस बार का प्रसंग असाधारणतः भिन्न प्रकार का है। देवदमनी से टक्कर है। देवताओं का दमन करने वाली साधारण हो भी कैसे सकती है। फिर इस क्रीड़ा की हार-जीत चौसर तक ही सीमित न थी। यह विजय उनकी पंचदण्डछत्र संबंधी महत्त्वाकांक्षा की आधार थी। उस पूर्ति के लिए चौसर में उनकी विजय अत्यन्त अनिवार्य है। उन्हें किसी भी स्थिति में विजयी होना ही होगा।

भोर से कुछ पूर्व ही उन्होंने अपने मित्र शक्तिमान अग्निवेताल का स्मरण किया। वेताल साक्षात् हो गया। उसे सम्पूर्ण वृत्तान्त से अवगत करते हुए महाराज ने कहा था कि इस क्रीड़ा में उनकी विजय अत्यावश्यक हो गयी है, किन्तु वह कठिन भी होती जा रही है। ऐसी स्थिति में वेताल से उन्होंने सहायता की विनय की। अग्निवेताल गहन सोच में पड़ गया। यह पहला अवसर था, जब महाराज के आदेश का पालन उससे संभव नहीं हो पा रहा था। अपनी विवशता प्रकट करते हुए उसने तब निवेदन कर दिया कि उसकी शक्ति यद्यपि प्रचुर है, तथापि उसकी भी सीमाएँ हैं। ऊँट बड़ा विशालकाय प्राणी है यह सत्य है, उसे भी अपनी विशालता का आभास और किसी सीमा तक उसे गर्व भी हो सकता है, किन्तु जब वह पर्वत के समक्ष आ जाता है तो उसकी अपनी विशालता स्वयं उसे ही गौण और तुच्छ प्रतीत होने लगती है। अपनी शक्ति की तुच्छता वेताल को भी अनुभव होने लगी, जब प्रसंग देवदमनी का आया। उसने कहा कि देवदमनी को सिद्धियाँ प्राप्त हैं। उसने देवी को सिद्ध कर रखा है। उसकी शक्तियों की समता मुझमे नहीं है। वह तो देवताओं के लिए भी अपराजेय है। इसी से तो वह देवदमनी कहलाती है। आश्चर्य व्यक्त करते हुए उसने इस विषय में चिन्ता भी व्यक्त की कि महाराज कैसे इन मायाविनी माता-पुत्री के फेर में आ गये।

यह चौसर-क्रीडा का तृतीय दिवस था। पूर्व दिवसो की भाँति यह भी अनिर्णय की अवस्था में ही समाप्त हो गया। महाराज को भी वेताल के कथनों से देवदमनी के सामर्थ्य का प्रमाण मिल जाने से कुछ चिन्ता होने लगी। सच्चे अध्यवसायी जन लक्ष्य की कठिनता का परिचय पाकर हताश नहीं होते, अभियान स्थगित नहीं करते; अपितु उन कठिनाइयों पर पार पाने की युक्ति खोजने लगते हैं, अपना सामर्थ्य बढ़ाने में लग जाते हैं। ऐसे ही लगनशील उद्यमियों को विजयश्री प्राप्त होती है। महाराज विक्रमादित्य भी युक्तियों का चिन्तन करने में तल्लीन हो गये और रात्रि-भ्रमण करते हुए नगर मे बहुत दूर निकल गये। मालवाधिपति पर जो संकट

आ गया था, अवन्ती-निवासी उससे चिन्तित थे। देर रात में एक मालव-नागरिक इसी चिन्तन में विचरण कर रहा था। उसने अपना सारा तन एक काली कम्बल से आवृत कर लिया था। चिन्तन के क्रम में उसे कुछ भान न था कि वह किधर चला जा रहा है। सहसा उसे विचित्र-सी ध्वनियॉ सुनाई देने लगीं। सामने देखा तो उसे स्थान-स्थान पर ज्वालाएँ उठतीं दृष्टिगत हुईं–'अरे ! यह तो 'गंधवाहा' श्मशान भूमि है, किन्तु ये ध्वनियाँ कैसी !'–वह सोचने लगा और मंथर गति से आगे बढ़ने लगा। ध्वनियॉ स्पष्टतर होने लगीं। उसे भली प्रकार से आभास हो गया कि यह अनेक भूत-प्रेतों का सम्मिलित स्वर आ रहा है। उसके मन में किसी प्रकार का भय उदित न हुआ। साहस के साथ वह आगे बढ़ता गया–'यहीं पर कहीं देवकुली का एक मंदिर भी है।'–उसके मन में यह विचार आया और रात्रि के अंधकार में उसे दूर एक मंदिर की छायाकृति अपने अस्पष्ट रूप में दिखाई भी दे गयी। चिताऍ अर्द्ध-प्रज्वलित अवस्था में इधर-उधर धू-धू कर रही थीं। इनको पार करते हुए वह मंदिर की ओर बढ़ने लगा। तभी उसे एक विकराल आकृति दिखायी दी। एक चिता के प्रकाश में उसने देखा कि यह विशालकाय देव अत्यन्त प्रचण्ड और वीभत्स रूप में था। अतिशय श्याम वर्ण का शरीर और इस सघन श्यामलता ने उसके अंगारों-जैसे लाल नेत्रों को और भी भयावह बना दिया था। अत्यन्त वलशाली प्रतीत होने वाले इस देव की मुखाकृति बड़ी ही भयंकर थी। मोटे-मोटे होठ बाहर नीचे को लटके हुए, पैने, लम्बे-लम्बे दॉत, फैली हुई चपटी नासिका और संकीर्ण पट्टी-सा उसका ललाट था। उसके सिर पर उलझे हुए लम्बे-लम्बे केशों की लटें थीं, जो इधर-उधर छितरी हुई थीं और मुख के अधिकांश भाग को भी छिपाये हुए थीं। वह एक विचित्र आत्म-विश्वास के साथ विचरण कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई पर्वत ही गतिशील हो गया हो। अनेक प्रेत–पिशाच उसके आगे-पीछे नाचते–शोर मचाते चल रहे थे।

इस विचित्र दृश्य को देखकर उसके मन मे कुछ ऐसी भावना जागी कि जैसे यह प्रचंड देव उसका हित-साधक होने वाला है–इससे उसे कोई हानि न होगी। इस भाव ने उसे और भी निर्भीक बना दिया। साहस के साथ वह आगे वढ़ता चला गया। कुछ समीप आ जाने पर देव की दृष्टि भी उस पर पड़ी और वह सहसा अपने स्थान पर ही अविचल हो गया। सारा कोलाहल थम गया। जैसे प्रचंड झंझावात अपने चरम वेग पर आकर हठात् गतिहीन हो गया हो।

देव के समक्ष पहुँचकर मालव ने अपनी ग्रीवा उन्नत की, वद्ध कर ऊपर को उठा दिये–"देव की सेवा मे मैं प्रणाम करता हूँ।" देव ने एक क्रूर अट्टहास किया और मालव के इस विनयपूर्ण सम्वोधन–अभिवादन से उसका हृदय तनिक कोमल हो आया। उसने उत्तर मे, आशीर्वाद की मुद्रा में अपना हाथ उठाया और गर्दन झुकाकर भूतल पर खड़े अपेक्षाकृत लघु आकार के प्रतीत होने वाले उस मनुप्य को ध्यान से देखने–पहचानने का प्रयत्न करने लगा था। उस मालव को लगा कि

देव उसके परिचय-संबंधी कोई प्रश्न करने ही वाला है कि देव के मुख से गूँजती हुई-सी वाणी निसृत हुई–"तुम्हारी कामना पूर्ण हो।"

मालव मन ही मन अत्यन्त तुष्ट हुआ। उसे ऐसी ही आशिष की अपेक्षा भी थी। "कृतार्थ हो गया, देव ! आपके इस आशीर्वचन से····।" उसने अपना हर्ष व्यक्त करते हुए कहा–"आभारी हुआ यह अकिंचन्। आपका परिचय पाने की उत्सुकता है मन में। आप कौन हैं और इस घोर अर्द्ध-रात्रि में इस मरघट भूमि में विचरण का क्या प्रयोजन है? कृपापूर्वक मेरी जिज्ञासा को तुष्ट कीजिये।"

"मैं कौन हूँ? अरे ! अबोध, मुझे कौन नहीं जानता ! मैं इस नगर का क्षेत्रपाल देव हूँ। समस्त आधि-व्याधि से मैं ही राजधानी की रक्षा करता हूँ।"

"धन्य हो गया मैं और धन्य हो गया मेरा जीवन, देव !" मालव ने सभक्ति नम्र वाणी में कहा–"आज मुझे आप-जैसे सामर्थ्यवान संरक्षक के दर्शन भी प्राप्त हुए और आशीर्वाद भी।" मालव देव के चरणों में नमन करते हुए बोला–"मैं क्षेत्रपाल देव के चरणों में पुनः प्रणाम करता हूँ।"

"तो तुम भी मालव हो···· अवन्तीवासी····।"

"सत्य है···· यही सत्य है, प्रभो ! और आप हमारे रक्षक क्षेत्रपाल देव हैं–आपके दर्शन से मैं कृतार्थ हो गया। आपसे एक विनती है।"

"कहो···· कहो····· क्या कहना चाहते हो?"

"आप तो अवन्ती के रक्षक–संरक्षक हैं, देव ! अवन्ती-नरेश आजकल विचित्र और घोर संकट में हैं। उनकी रक्षा कीजिये, प्रभो ! आप तो सर्वविधि समर्थ हैं।"

"मालव-नरेश···· संकट में हैं····? विश्वास तो नहीं होता। वे यदि संकट में हैं तो उन्होंने क्यों नहीं उपस्थिति दी···· तुम्हें क्यों भेज दिया?"

"मुझे किसी ने भेजा नहीं, देव ! मैं तो स्वतः आया हूँ। मालवाधिपति का संकट–मेरा ही संकट हुआ न ! मैं उससे चिंतित भी हूँ और उसे दूर करने में प्रयत्नशील भी हूँ। वास्तव में मालव-नरेश महाराज विक्रमादित्य आजकल दो मायावी नारियों के जाल····।"

"तुम शान्त हो जाओ···· हम स्वयं ज्ञात कर लेंगे–सब-कुछ।" हाथ के संकेत से मालव को मौन करते हुए क्षेत्रपाल देव नयन मूँदकर आत्म-लीन हो गया। अवधिज्ञान से सब-कुछ ज्ञात कर उसने पलकें खोल दीं और चिंतित स्वर में वह बोला–

"संकट वास्तव में गहन है, किन्तु राजा विक्रम ने स्वयं संकट की इस चादर को ओढ लिया है। देवदमनी के साथ उनका चौसर खेलना उपयुक्त नहीं। वह सदा

अपराजिता रहने वाली मायावी नारी है। उसने तो सीकोत्तरी देवी को सिद्ध कर रखा है। यही कारण है कि देवताओं के लिए भी वह अपराजेय हो गयी है। बड़ी कठिन स्थिति है। राजा का इससे उबरना सुगम नहीं।"

"संकट तो वास्तव में विषम है, देव ! किन्तु इसका कोई निदान तो होगा अवश्य। और आप परम शक्तिशाली हैं, समर्थ हैं। यह सत्य है कि देवदमनी को पराजित करना कठिन है, किन्तु आपके लिए उसे पराजित करने का उपाय खोजना भी असंभव नहीं है। कृपापूर्वक वह मार्ग बताइये कि राजा····।"

मालव का अनुनय-विनय का क्रम चल ही रहा था कि उसके कथन-मध्य ही क्षेत्रपाल देव मुखर हो उठा—"मालव-नरेश की रक्षा करना मेरा धर्म है और इस संकट से मुक्ति पाने का साधन भी है। राजा के मन में जो महत्त्वाकांक्षा पल रही है उसकी पूर्ति देवदमनी को पराजित किये बिना संभव नहीं है।"

"सत्य है, देव !···· यह भी सत्य है।"—मालव ने निवेदन किया—उनके मान की रक्षा करना जब आपका धर्म ही है तो कृपापूर्वक इसके लिए उपाय सुझाइये, प्रभो ! इस समस्या का समाधान भी कोई होगा अवश्य और वह आपसे छिपा भी न होगा।"

"समाधान क्यों नहीं है···· समाधान तो समस्या के साथ ही आकार ले लेता है, किन्तु····।" क्षेत्रपाल देव ने कहा—"····किन्तु राजा स्वयं आकर पूँछेंगे तो मैं उनको उपाय बता दूँगा। तुम तो मालव-सेवक मात्र हो····तुम्हें बताना तो व्यर्थ है।"

"किसी देश का राजा देश का सच्चा सेवक ही होता है, देव ! मैं स्वयं मालव का नरेश विक्रमादित्य हूँ।" यह कहते हुए मालव ने काली कम्बल उतार दी। महाराज विक्रमादित्य ने साक्षात् होते हुए—"अवन्ती-नरेश अपने क्षेत्रपाल देव को नमन करता है, प्रभो ! रक्षा कीजिये····संकट दूर करने का मार्ग दिखाइये····।"

"राजन् ! मैं आपकी भावनाओं से वहुत प्रभावित हूँ। आप तो नम्रता और विनय के अवतार हैं। आप सर्व भाँति सक्षम हैं और इस संकट से आप स्वयं को मुक्त भी कर लेंगे और पंचदण्डछत्र-प्राप्ति के असाधारण गौरव से भी सम्पन्न होंगे। किन्तु···· किन्तु इसका मार्ग अत्यन्त दुर्गम है। इसका प्रथम सोपान ही देवदमनी को चौसर-क्रीड़ा में पराजित किया जाना है जो आपको कठिनतर लग रहा है। ऐसा लगना स्वाभाविक भी है, राजन् ! मैं आपको इसका मार्ग वताता हूँ, वडी सावधानी से उसे अपनाइये—कल कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी है। कल रात्रि में सिद्ध सीकोत्तरी पर्वत पर देवोत्सव का आयोजन होगा। स्वयं देवराज इन्द्र इस उत्सव में भाग लेंगे और देवदमनी सीकोत्तरी देवी के समक्ष नृत्य करेगी। उस उत्सव में यदि राजन् ! आप पहुँच सकें तो आपको विजय का मंत्र मिल सकता है। क्या यह संभव होगा?"

महाराज को मित्र अग्निवेताल का तत्काल स्मरण हो आया और उन्होंने 'हाँ' में उत्तर दिया–"पहुँच जाऊँगा, देव !.... अवश्य पहुँच जाऊँगा–कोई कठिनाई न होगी। वहाँ पहुँचकर हमें करना क्या होगा?"

प्रसन्नतापूर्वक क्षेत्रपाल देव ने आगे की सारी योजना बता दी और शान्त भाव से ध्यानपूर्वक महाराज ने उसे हृदयंगम कर लिया। कथन-समाप्ति पर महाराज ने मस्तक ऊपर उठाकर पलकें खोलीं तो पाया कि क्षेत्रपाल देव अदृश्य हो गये। उन्होंने मन ही मन देव का ध्यान किया और श्रद्धापूर्वक नमन किया।

× × ×

यथासमय प्रातःकाल ही महाराज क्रीड़ा-मण्डप में पहुँच गये। आज उनके मन में अपार उत्साह था। मन में जब उपलब्धि की संभाव्यता बन जाती है तो यह शक्यता मस्तिष्क को भी सक्रियता प्रदान कर देती है और तन को भी ऊर्जस्वित कर देती है। उत्साह की यही भावना मुख पर अपूर्व दीप्ति बनकर छा जाती है। आज महाराज का मुख-मण्डल खिला-खिला था। अब उन्हें भावी साफल्य का विश्वास हो गया था। अब तो मात्र लीला-ही-लीला शेष रह गयी थी। इस प्रकार का सोच उनके मन को अविचल बना देने को पर्याप्त भी था। वे अव तक की क्रीड़ा में पराजित न हुए–यही उनकी मान-रक्षा के लिए एक शुभ पक्ष था। आगे वे इस यश के निर्वाह में कोई बाधा अब अनुभव नहीं कर रहे थे।

इस क्रीड़ा की व्यवस्था ही इस प्रकार की थी कि देवदमनी और महाराज इन दोनों पक्षों में से जिस किसी भी पक्ष की विजय हो अपनी अन्तिम विजय हेतु उसे आगे पराजित न होते हुए दो बार और विजय प्राप्त करनी थी। यदि एक विजय के पश्चात् पराजय होती है तो पूर्व विजय निरस्त हो जाती है। निरन्तरता के साथ एक पक्ष की तीन विजय अनिवार्य थीं। अव तक के खेलों में महाराज विजयी न हो पाये, परन्तु उनकी पराजय भी नहीं हुई–इससे उनके धवल यश पर अपकीर्ति का कोई छींटा भी नहीं लगा। महाराज अपने आसन पर विराजित सोचने लगे थे कि कुल-देवता और क्षेत्रपाल देव आगे भी हमारी प्रतिष्ठा की रक्षा करेंगे। अन्तिम विजय का लक्ष्य भी अव दुर्लभ प्रतीत नहीं होता। अव पंचदण्डछत्र की प्राप्ति का मार्ग तो खुल ही जायेगा।

महाराज इससे पूर्व कमलावती और कलावती दोनों रानियों से चौसर-क्रीड़ा के सम्वन्ध में चर्चा कर चुके थे। उन्होंने वहाँ भी यही व्यक्त किया कि खेल तो खेल ही है। भावी परिणाम ज्ञात हो जाय तो फिर खेल ही कैसा ! हमारी विजय होगी, अथवा पराजय यह तो भविष्य के गर्भ में लुप्त है। मुख्य जय-पराजय नहीं, मुख्य तो स्वस्थ भावना के साथ, विजय की आस्था के साथ और पूर्ण क्षमता के साथ दत्तचित्त होकर खेल में भाग लेना है। इतना अवश्य है कि मन में न जीत की लालसा में अति उत्साह हो और न ही हार का भय। पराजय में भयभीत खिलाड़ी

की विजय की आशाएँ निरन्तर घटती चली जाती हैं। महाराज इन भावों के उतार-चढ़ाव में खो-से गये थे। इसी समय—"महाराज की जय हो !" सुनकर उनका ध्यान भंग हुआ। देखा अलौकिक रूपवती देवदमनी चली आ रही थी। उसके समीप ही कुछ पीछे-पीछे नागदमनी भी थी। अपनी सहज मुस्कान के साथ नागदमनी ने प्रणाम किया। देवदमनी ने भी नतशिर अवस्था में ही वन्दन किया। "आओ .... आओ ....।" हाथ उठाकर अभिवादन स्वीकारते हुए महाराज ने दोनों का स्वागत किया—"आसन ग्रहण करो।"

आसीन होते-होते देवदमनी ने कहा—"राजन् ! अब तक की क्रीड़ा में जय-पराजय का निर्णय नहीं हो पाया—यह सत्य है, यह भी सत्य है कि क्रीड़ा में आपके घात-प्रतिघात का जो क्रम चला उसने मन को मुग्ध कर दिया, किन्तु महाराज ....!"

"निस्संकोच कहो, देवी ! मौन क्यों हो गयीं? किन्तु क्या?"—महाराज ने उत्साहित किया।

".... किन्तु अनिर्णय का यह क्रम अनन्त नहीं रह सकता। किसी एक की विजय और अन्य की पराजय—क्रीड़ा की यही चरम परिणति होती है और ऐसा ही हमारी इस क्रीड़ा में भी होना है। चौसर की क्रीड़ा है ही ऐसी। कहा नहीं जा सकता कि कौन विजयश्री का वरण करे। चाहे मैं अब तक किसी से भी पराजित नहीं हुई, किन्तु मैं भी क्रीड़ा-काल में निश्चय के साथ यह नहीं मान सकती कि विजय मेरी ही होकर रहेगी ....।"

"देवदमनी ! .... विजय इस बार भी तुम्हारी ही होकर रहेगी।" महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"तुम्हारी विजय हो—इसमें भी हमें आनन्द ही होगा। अपनी प्रजा से हारना—राजा के गौरव को बढ़ाता ही है, घटाता नहीं। ऐसी चतुर, कुशल और विज्ञ प्रजा पर किसी भी नरेश का गर्व करना उचित ही है। हम तुम्हारे क्रीड़ा-कौशल से भलीभाँति परिचित हैं, सुन्दरी ! और सच पूछा जाय तो, हम तो पराजित होने के लिए ही खेल रहे हैं।"

"किन्तु ऐसा क्यों, महाराज !" नागदमनी ने हस्तक्षेपपूर्वक कहा—"पराजय तो निन्दा और अपकीर्ति का कारण होगी। आपकी प्रतिष्ठा को इससे आघात लगेगा, देव ! आपने फिर यह क्रीड़ा आरंभ करने का विचार ही क्यों किया?"

"स्वाभाविक है, नागदमनी ! तुम्हारे मन में ऐसा संशय उठा, तो उसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं।" शान्ति और धैर्य के साथ नरेश ने उत्तर दिया—"पराजय ... हमारे लिए गौरव-हानि की कारण नहीं हो सकती। हमें तो अपराजेय देवदमनी के गौरव को बढ़ाने में इसका सम्मान करने में गर्व होगा।" महाराज के मुख पर वास्तव मे गौरव झलकने लगा। हम तो इस अपूर्व सुन्दरी के सम्पर्क में आने की

कामना रखते थे–जो इस क्रीड़ा के माध्यम से पूर्ण हो रही है। यह सान्निध्य हमारी स्मृतियों की एक अमूल्य निधि बनकर भविष्य को श्रीसम्पन्न करता रहेगा। यह भी जीवन का एक अनुभव है–एक बहुमूल्य अनुभव है। उस संध्या में देवदमनी ने पंचदण्डछत्र का प्रसंग उठाया। वह छत्र-प्राप्ति की कामना ही इस सुयोग की आधार बनी है। बस, इतनी-सी महत्ता है छत्र की। कौन जानता है कि उसकी प्राप्ति होती भी है अथवा····।'' महाराज दार्शनिक मुद्रा में एक क्षण आत्म-लीन से होकर मौन हो गये और तब चिन्तन के अगाध सरोवर से उबरते हुए गंभीर वाणी में कथन करने लगे–''भविष्य तो अदृष्ट होता है। लुप्त रहना ही उसका गुणधर्म होता है। हमारे लक्ष्य-बिन्दु भविष्य के ही विषय हैं। उनकी प्राप्ति में सफलता तो निहित रहती है, किन्तु यह गौरव अनिश्चित रहता है। इस अनिश्चय को निश्चित आकार देने की कामना मनुष्य को उद्यमशील बनाती है। और नागदमनी, हम अभी उसी उद्यम की प्रक्रिया से निकल रहे हैं। हमारा अब तक अपराजित रहना संभव है किसी भावी मंगल का पूर्व संकेत हो, कहा नहीं जा सकता, किन्तु यह सत्य है कि यह क्रीड़ा ही हमारा आज का सुखमय जीवन है। इस सुख की चरम स्थिति के आनन्द से हम वंचित नहीं हो जाना चाहते। परिणाम का भय इस रंग में भंग ही डालेगा। भयमुक्त रहने के लिए हम परिणाम के चिन्तन से दूर रहते हैं। खेल रहे है···· बस, यही इस क्षण का सत्य है और यही यथार्थ है।''

देवदमनी भी महाराज के कथन को हृदयंगम करती चली जा रही थी। हमारे नरेश शूरवीर और पराक्रमी ही नहीं, सुन्दर और आकर्षण ही नहीं, सद्विचारशील भी हैं। जिस नारी को इनके जीवन में स्थान मिले–स्वय उसका जीवन ही धन्य हो उठे–यह स्वाभाविक ही है। महाराज वस्तुतः महान् हैं। उनके जीवन में प्रवेश का सुयोग मुझे भी···· किन्तु यह जय-पराजय का प्रश्न बीच मे····। मैं विजयिनी होती हूँ तो मेरा गौरव और अधिक बढेगा···· किन्तु मेरी पराजय भी कम महत्त्व की नहीं रहेगी। वह पतिरूप में ऐसे अलौकिक पुरुष की प्राप्ति के स्वरूप में एक अन्य प्रकार की विजय ही होगी। अन्तर्द्वन्द्व ने उसे अन्यमनस्क बना दिया, किन्तु इस चांचल्य पर उसने शीघ्र ही नियत्रण पा लिया। वह सहज होती हुई हथेलियों से ऑखें मलने लगी। एक लम्बी सॉस लेकर तुरन्त छोडते हुए उसने कहा–''परिणाम तो वही होगा जिसे हम अपने कर्मों द्वारा आमंत्रित करेंगे। आइये, महाराज ! क्रीड़ा आरंभ करें। अभी तो यही हमारा कर्मक्षेत्र है।'' और वह सावधान मुद्रा में ठीक से बैठ गयी।

इसी समय नागदमनी ने कहा–''जी हॉ, महाराज ! आज हमें देवी-आराधन के लिए सायं का कुछ अधिक ही समय अपेक्षित रहेगा। क्रीडा अधिक समय नहीं चल सकेगी।'' देवदमनी ने भी तनिक स्फूर्ति दिखाते हुए कहा–''खेल आरंभ कर ही दिया जाय।''

महाराज भी कहने लगे-"विचित्र संयोग है। आज हमें भी एक देवी-आराधना मे सम्मिलित होना है। वैसे भी हम रात्रि में आहार नहीं लेते। सूर्यास्त से पूर्व तो हमारी क्रीडा का क्रम विराम पर आ जाय-यह हम नित्य ही चाहते हैं। चलो देवदमनी ! चाल चलो।"

आज की चौसरबाजी आरंभ हुई। दोनों पक्ष अपनी-अपनी निपुणता का परिचय देने लगे। कभी एक का तो कभी दूसरे का पलड़ा भारी प्रतीत होता। मध्यस्थता कर रही निर्णायिका नागदमनी को इस क्रीड़ा का सच्चा आनन्द प्राप्त हो रहा था। शोभा-यात्रा का आनन्द उन्हें नहीं मिल पाता जो उसमें भाग लेते हैं। पथ के किनारे खड़े तटस्थ दर्शक ही आनन्दित होते हैं, उन्हें ही शोभा-यात्रा का समूचा स्वरूप भी ज्ञात हो पाता है। नागदमनी को कहीं हस्तक्षेप करने की आवश्यकता ही नहीं पड रही थी। क्रीडा अपने स्वच्छ रूप में, नियमित रूप में से चलती चली जा रही थी। किसी भी पक्ष की ओर से कोई धाँधली, कोई आपत्तिजनक व्यवहार हो ही नहीं रहा था। हॉ, उसे यह अवश्य अनुभव होने लगा था कि देवदमनी तो चौसर की निष्णात खिलाड़िन है ही, किन्तु अवन्ती-नरेश की दक्षता भी कम प्रशसनीय नही है। वास्तविकता यह थी कि उन्हे भी कभी पराजय का मुख नही देखना पड़ा। इस क्रीडा-क्रम में भी अव तक देवदमनी के साथ उनकी समकक्षता ही रही है। ऐसे में नागदमनी का आत्म-विश्वास किंचित् डगमगाने लगा था। वह भी महाराज के कथन से सहमत होकर सोचने लगी थी कि भविष्य अदृष्ट होता है, कौन जानता है इस क्रीड़ा-क्रम की क्या चरम परिणति रहती है। आज की क्रीडा में महाराज के कौशल का बढ़ा-चढ़ा रूप देखकर वह भी दंग रह गयी थी। वार-वार उनकी चाल देवदमनी को चुनौती-भरी स्थिति में ला देती थी और वडी कठिनाई से वह आत्म-रक्षा कर पा रही थी। कभी-कभी उसकी घात भी ऐसी प्रचंड हो जाती थी कि महाराज हक्के-वक्के रह जाते और सँभलकर वैठ जाते। ऐसे कौशल पर वे देवदमनी की प्रशंसा करते हुए "वाह-वाह !" कर उठते थे। देवदमनी भी उनके चातुर्य की भक्त हो गयी थी। वह आज चंचलमना हो उठी थी। उद्विग्न मन से वह यह सोचने लगी थी कि पराजय भी मेरे लिए शुभ फलदायिनी होगी अवश्य, किन्तु मेरी अपराजेयता का यश....? महाराज आत्म-विश्वास की अधिकता का अनुभव कर रहे थे। इससे वे किंचित् स्फूर्त हो उठे थे। वे आज जैसे पराजय-भय से मुक्त पहले नहीं रह पाये थे।

सॉझ से काफी पूर्व ही आज क्रीड़ा समाप्त कर दी गयी। हार-जीत से दूर-वहुत दूर ही अपूर्व स्थिति मे वाजी स्थगित रही। कल इसी स्थल से पुन· आरंभ करने का निश्चय रहा। देवदमनी ने सतोष की सॉस ली कि आज तो पराजय से वह वाल-वाल ही सही-वच तो गयी। उसे भी और महाराज को भी आज की अन्य व्यस्तताएँ व्यग्र कर रही थीं।

● ●

सीकोत्तरी पर्वत पर आज ही अमावस्या की रात्रि में नृत्योत्सव होने वाला है। देवदमनी नृत्यांगना के रूप में अपने अद्‌भुत कला-कौशल का परिचय प्रस्तुत करने वाली है। स्वयं देवराज इन्द्र इस उत्सव में सम्मिलित होंगे। शची रानी भी उनके संग होंगी, अन्य देवगण भी। यहीं महाराज को अपनी विजय के सूत्र भी मिलेंगे- उन्हें यह भली प्रकार विदित था। आवश्यकता इस बात की थी कि वे स्वयं भी उत्सव में सम्मिलित हों और वहाँ वे कार्य सम्पन्न कर लें जिनका पूर्व संकेत क्षेत्रपाल देव से उन्हें प्राप्त हो गया था। यह विचित्र कार्य भी असाधारण प्रतीत होता था।

महाराज ने आज की क्रीड़ा में ताड़ लिया था कि देवदमनी कुछ अन्यमनस्क है। एकाग्रता के साथ वह भाग नहीं ले पायी। नागदमनी ने भी संकेत किया ही था कि देवदमनी को आज देवी-आराधना करनी है। महाराज के प्रति जो अनुराग और आकर्षण उसके मन में भी जाग्रत हो गया था—वह भी मनोयोग में बाधक था। क्षेत्रपाल देव के इस कथन की पुष्टि हो गयी कि आज देवदमनी सीकोत्तरी देवी के समक्ष नृत्य करने जायेगी। आज की बाजी शीघ्र ही सिमट गयी। संध्या से बहुत पहले ही देवदमनी ने क्रीड़ा-मंडप से प्रस्थान किया। महाराज भी लौट आये। वे भी अन्यमनस्क ही थे। उनकी मुख-मुद्रा इस तथ्य की साक्षी थी कि वे किसी गहन समस्या के समाधान की खोज में हैं। रानी कमलावती, रानी लीलावती ने कारण भी जानना चाहा, किन्तु नरेश ने टाल दिया। रात्रि समीप आती जा रही थी। उन्हें ज्ञात हो गया था कि अवन्ती की दक्षिण दिशा में दो सौ कोस की दूरी पर सीकोत्तरी पर्वत है। आज महाराज नित्य की अपेक्षा शीघ्र ही भोजनादि से निवृत्त हो गये और अपने विश्राम-कक्ष में पहुँच गये।

एकान्त में महाराज ने नयन मूँदकर मित्र अग्निवेताल का स्मरण किया। तत्काल ही वेताल दृश्यमान हो गया। नमन करते हुए महाराज को उसने करबद्ध प्रणाम किया और अधरों पर एक मधुर-सी मुस्कान फैलाकर निवेदन किया-"मैं जानता हूँ, महाराज ! मुझ-जैसे मित्रों को कठिनाई और कष्टों के समय ही स्मरण किया जाता है। क्या आदेश है, श्रीमानेश्वर !.... मेरे लिए ?"

"तुमने उचित ही स्व-मूल्यांकन किया है, अग्निवेताल !"—महाराज ने मधुर के स्वर में कहा—"तुम हमारी सभी समस्याओं के साकार समाधान हो। तुम्हारी क्षमता हमारी शक्ति का एक दृढ़ आधार है। तुम्हारी सहायता का विश्वास है...

हमें निश्चिन्त रखता है। इसी कारण तुम हमारे महान् मित्र हो।" एक क्षण को विराम लेते हुए महाराज विक्रमादित्य ने पूछा–"कहो मित्र ! कुशल से तो हो····? हमारी भाभी कैसी हैं? कैसे चल रहा है तुम्हारा पारस्परिक जीवन?" और उत्तर की प्रतीक्षा में महाराज वेताल का मुख निहारने लगे।

"आनन्द ही आनन्द है, स्वामी !" वेताल ने उत्तर में निवेदन किया–"जिस पर आपका स्नेह और कृपा हो–भला उसे क्या कष्ट हो सकता है?" अपनी वाणी में कृतज्ञता का लेप तनिक गाढ़ा करते हुए उसने कहा–"आपके आश्रय में मैं भी सुखी हूँ···· और···· और वह भी प्रसन्न ही है। समय सुख से ही बीत रहा है, महाराज····! किन्तु···· बस····।" संकोचवश अग्निवेताल मौन रह गया।

"किन्तु क्या····? मित्र !···· तुमने कथन अपूर्ण क्यों छोड़ दिया? कहो··· कहो···· बात क्या है?" महाराज ने उत्साहित किया–"अब तो तुम्हारा जीवन सुन्दर है····सरस है। ऐसी सुन्दर, सुशीला पत्नी को पाकर तो कोई भी····।"

"यह सरसता ही तो सीमा से बढ़कर दुःखद हो गयी है।" सूत्र रूप में अग्निवेताल ने अपनी वात कह दी और महाराज विक्रमादित्य उसकी ओर अचरज से देखते रह गये।

"क्या कह रहा है–यह अग्निवेताल !" कुछ ऐसा आशय उनकी मुख-मुद्रा मे झलक आया।

वेताल भी महाराज का भाव ताड़ गया, बोला–"सत्य कहता हूँ–मेरी धर्मपत्नी वास्तव मे सुन्दर है, सुशील भी है, वह अतिशय अनुराग भी रखती है, मेरे प्रति। और यही अतिशयता समस्या वन गयी है, महाराज !" महाराज मनोयोगपूर्वक वेताल का कथन सुन रहे थे। उसने स्पष्ट करते हुए कहा–"सुरागी मुझे अपनी प्रीति के वन्धन से मुक्त ही नहीं होने देती। पहुँचने में तनिक विलम्व हो जाय तो वह आकाश सिर पर उठा लेती है। रुष्ट हो जाती है और फिर कही जाने नहीं देती। मै ठहरा मुक्त विहारी····।"

"दु.खी क्यों होते हो, मित्र ! भाग्य से ही किसी को ऐसा असीम अनुराग प्राप्त होता है। फिर यह तो प्रेम का वंधन है···· सुखद और कोमल। कमल की पंखुरियो में वंदी होकर भ्रमर पीड़ित नहीं होता। ऐसी अनुरागिनी पत्नी····।"

महाराज का कथन पूर्ण भी नहीं हो पाया था कि कक्ष मे एक नारी-स्वर लहरा गया। "मैं भी आन पहुँची हूँ···।" और कक्ष एक खिलखिलाहट से भर गया।

अग्निवेताल को अचरज हुआ–"यह यहाँ कैसे !" और देखते ही देखते वेताल-पत्नी सुरागी कक्ष मे प्रकट हो गयी। मुस्कराते हुए महाराज को प्रणाम करते हुए वह कुछ आगे वढ आयी। महाराज ने भी 'आओ' कहकर उसका स्वागत करते हुए हाथ उठाकर अभिवादन का उत्तर दिया। महाराज कुछ कहने ही वाले

थे कि सहसा वेताल बोल उठा—"देखिये महाराज ! हमने इसे स्मरण किया और यह साक्षात् हो गयी। मैंने निवेदन किया था न, यह मुझे छोडती ही नही····।"

महाराज तनिक मुस्करा उठे। उनके अन्तस्थल में कही विनोद उभरने ही लगा था कि तभी सुरागी की वाणी ने उनकी दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित किया। उसने कथन आरंभ किया—"महाराज ! विना आपके आदेश के ही यहाँ पहुँच जाने के लिए क्षमा चाहती हूँ, किन्तु मैं यह ज्ञात कर लेना चाहती थी कि मुझे छोडकर मेरे प्रिय जाते हैं तो ···· जाते कहाँ हैं? इसी जिज्ञासा ने आज मुझे इनके पीछे-पीछे आने को प्रेरित किया और····।"

"भाभी ! आपको अनुमति की आवश्यकता नहीं···· इस स्थल को अपने ही गृह के समान समझें। जब इच्छा हो, तभी आप यहाँ आ सकती हैं···· हमें प्रसन्नता ही होगी।" महाराज ने वेताल-पत्नी के संकोच को दूर करने के प्रयोजन से कहा।

"आभारी हूँ, महाराज ! ये यहाँ आते हैं, यह जानकर तो बहुत प्रसन्नता हुई। इन्हें इतना व्यस्त रखिये, महाराज ! कि उस व्यस्तता के मारे ये अन्यत्र का कोई स्मरण ही न कर सकें। मैंने इनकी सारी वाते सुन ली है। इन्हे मै वाँधकर न रख सकती हूँ और न ही रखती हूँ। यह तो इनके भीतर की आसक्ति है कि मुझे एक पल भी ये अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहते। बन्धन का अनुभव तो मैं करती हूँ—ये क्या वन्धन मे रह भी सकते हैं···· किन्तु मुझे तो इस वंधन मे भी सुखानुभव होता है···· किन्तु, प्रभो ! इनकी यह प्रवृत्ति छुडाइये कि अपने किये का दोष ये मुझ पर आरोपित करते रहते हैं।" कनखियों से अपने प्रिय की ओर निहारते हुए सुरागी मुस्करा उठी। माधुर्यपूर्ण आरोप-प्रत्यारोप का यह क्रम ऐसा होने लगा था कि वह तीनों के लिए आनन्दप्रद होता जा रहा था। किसी को भी खिन्नता का अनुभव नही हो रहा था।

इस सुखपूर्ण वातावरण में महाराज ने प्रसन्न मन मे कहा—"मित्र ! इस प्रीति भरे जीवन के लिए तुम दोनो को हमारी वधाई ! ऐसा सुख सौभाग्य से ही किसी को सुलभ होता है। तुम्हारे ऐसे निश्चिन्त जीवन से कभी-कभी तो हमें ईर्ष्या होने लगती है मित्र !" महाराज ने विनोद के स्वर मे कहा और अन्तर्लीन से होकर कुछ क्षणों के लिए वे मौन रह गये और उसी अवस्था मे रहते हुए उन्होंने कथन आरंभ किया "हमारे जीवन को ऐसी निश्चिन्तता का वरदान नहीं मिला है। हमारे सामने तो नित नई चुनौती रहती है। अव क्या किया जाय ! हमारा स्वभाव भी ऐसा ही हो गया है-आपदाओं को आमन्त्रण दिये विना हमें भी चैन कहाँ आता है, पर मित्र ! विना इसके हमारी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति भी कैसे सम्भव है !"

"यह तो सत्य है महाराज ! किन्तु इस समय क्या कठिनाई है?" और वेताल ने उत्सुकतावश प्रश्न कर लिया—"आप कुछ अधिक ही [illegible] हो रहे हैं।"

"हमें तुम-जैसे मित्रों की सहायता का विश्वास वना रहता है—इसी कारण हम नयी-नयी चुनौतियाँ स्वीकार करते रहते हैं। हमारे नगर में एक अति कुशल, अति दक्ष, विद्यावेत्ता है—देवदमनी ! हम आजकल चौसर खेल रहे हैं उसके साथ। उसे पराजित करना कठिन से कठिनतर होता जा रहा है।" महाराज आगे का वृत्तान्त सुनाने को व्यग्र थे, किन्तु इसी मध्य सुरागी बोल पड़ी—"देवदमनी ... ! ओहो .... हो, वह तो बड़ी भारी जादूगरनी है। हमारे समाज में भी उसकी बडी चर्चा रहती है, महाराज !"

"हाँ, महाराज ! .... हाँ .... यह सत्य ही कहती है। आप उसके जाल मे कैसे ....। वह तो अपराजेय है। चौसर में आज तक उसके जितना कौशल कोई दिखा नहीं सका, महाराज ! .... आप तो वास्तव में विकट संकट में ग्रस्त हो गये हैं।" कहते-कहते वेताल चिन्तित हो गया।

"विकटताओं से जूझना ही तो वीरों का काम है। साधारण कार्यो के लिए तो अन्य अनेक होते हैं। हमें उसे पराजित करना ही होगा।" महाराज ने वेताल को समझाया—"तभी उसके साथ विवाह संभव होगा और उसके पश्चात् ही पंचदण्डछत्र की प्राप्ति हो सकेगी।" सारा वृत्तान्त सुनकर वेताल की चिन्ता और भी वढ़ गयी। महाराज की विजय भी अनिवार्य है और वह संभाव्य भी नहीं। तभी महाराज ने विस्तार से क्षेत्रपाल देव के द्वारा सुझाया गया उपाय भी उसे वताया।

वेताल कुछ सहज होने लगा और उसका साहस लौट आने लगा। वह सोचने लगा—'ऐसी स्थिति तो हमारे मार्ग को सुगम कर देगी।' उसने उत्साह से भरकर कहा—"तव तो हम मैदान मार ही लेगे, महाराज ! आप अव निश्चिन्त हो जाइये।"

सुरागी ने भी प्रसन्नता के साथ कहा—"मै भी इस अभियान मे साथ रहूँगी, महाराज ! यथासंभव सहयोग करके मुझे प्रसन्नता ही होगी।"

"अवश्य ....अवश्य ....तुम्हारी सहायता तो वड़ी महत्त्वपूर्ण रहेगी।" महाराज के इस कथन ने वेताल को मौन कर दिया, अन्यथा वह तो कहने ही वाला था कि तू चलकर क्या करेगी। हम अपना काम करेंगे कि तुझे सँभालते रहेंगे। किन्तु अव वह सोचने लगा—'चलो, यह भी अच्छा ही है। अव इसकी अनुमति लेने की समस्या न रहेगी।' महाराज ने वेताल के साथ मिलकर योजना वना ली।

समय का अभाव था। शीघ्र ही सीकोत्तरी पर्वत पर पहुँच जाना था। महाराज ने वनवासी का वेश वनाया और अग्निवेताल ने उन्हे समय-पूर्व ही सीकोत्तरी पर्वत पर पहुँचा दिया। सुरागी भी अदृश्य रूप में उनके साथ ही पहुँच गयी। समीपवर्ती क्षेत्र के वनवासी उत्सव मे सम्मिलित होने को आये थे। महाराज उनके साथ ही वैठ गये। वेताल वडी सावधानी के साथ अदृश्य रूप मे महाराज के साथ रहा। मंदिर और प्रांगण विशेष रूप से सजाया—सँवारा गया था। असंख्य उल्काओं

के आलोक से जैसे सारा वातावरण नहा उठा था। प्रांगण में ही एक मंच पर शृंगारित देवदमनी देवांगना-सी शोभित हो रही थी। उसका अनुपम रूप-सौन्दर्य आज और भी अधिक निखार पर था। अनेक उल्काओं के मध्य उसका दीप्तिमान मुख-मण्डल नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा-सा शोभित हो रहा था। प्रसन्नवदना देवदमनी अत्यन्त शान्त एवं गंभीर मुद्रा में थी, किन्तु उसके अन्तस्थल का उल्लास भी कभी-कभी उसके अधरों पर स्मित बनकर बिखर–निखर जाता था। महाराज उसकी इस अलौकिक रूप छवि को देखकर आश्चर्यान्वित हो उठे थे।

कुछ ही पलों में नभोमंडल गड़गड़ा उठा और प्रांगण में एक देवविमान अवतरित हुआ। देवराज इन्द्र और रानी शची का शुभ आगमन हुआ। देवदमनी ने खड़ी होकर नतशिर प्रणाम निवेदित किया। मन्दिर में पहुँचकर देवेन्द्र ने सीकोत्तरी देवी के दर्शन किये। आरती के पश्चात् इन्द्रदेव व शची रानी ने माल्यार्पण किया। तदनन्तर मंदिर के बाह्य प्रांगण में नृत्योत्सव आरंभ हुआ। अपनी सखियों के साथ बैठी देवदमनी इसी शुभ. घड़ी की प्रतीक्षा में थी कि कब सुरराज का आगमन हो और कब उनकी साक्षी में सीकोत्तरी देवी की सेवा में अपना नृत्य प्रस्तुत करने का सद्भाग्य उदित हो। देवलोक से ही वाद्य-वादक आये हुए थे और उसकी ये सखियाँ भी देवलोक की ही थीं। सुरागी भी एक सखी का रूप धारण कर उनके मध्य बैठी थी। सारी सभा देवदमनी की नृत्यकला का आनन्द प्राप्त करने को उत्सुक हो उठी थी। आतुरता के इसी वातावरण में इन्द्रदेव के संकेत पर नृत्योत्सव आरंभ हो गया। वादकों ने विभिन्न वाद्यों का चमत्कार प्रदर्शित करने का क्रम आरंभ किया। सर्वप्रथम मृदंग की थाप गूँजी और नूपुर खनकाती हुई देवदमनी ने नृत्य की विशिष्ट मुद्रा में एक थिरकन के साथ रंगस्थल में प्रवेश किया। सीकोत्तरी देवी की ओर अभिमुख नर्तकी ने नतशिर करबद्ध वन्दना की और नर्तन करती हुई वह कलात्मक आंगिक चेष्टाओं के साथ देवी-प्रतिमा के समक्ष उपस्थित हुई और भावपूर्ण वन्दना कर पुनः प्रांगण में लौट आयी।

नृत्योत्सव के प्रथम चरण में उसने जो नृत्य प्रस्तुत किया–वह बड़ा ही चित्ताकर्षक था। देवदमनी के हाव-भाव भी मनोमुग्धकारी थे। इस वन्दना-नृत्य के साथ मनोहारी गीत-संगीत गंधर्वलोक से आए उच्च कोटि के कलाकारों द्वारा संयोजित किया जा रहा था। नृत्यांगना देवदमनी के नृत्य-कौशल से देवराज इन्द्र, शची, उनके साथ सुरलोक से आये समस्त देवी-देवता, यहाँ तक कि स्वयं गंधर्वगण भी चमत्कृत हो उठे थे। वनवासी वेशधारी महाराज विक्रमादित्य तो इतने मुग्ध हो गये थे कि वे स्वयं को भी विस्मृत कर चुके थे। सुरलोक से ही कुछ सुन्दरियाँ नृत्यांगना देवदमनी की सखियाँ थीं। वे भी मंत्र-मुग्ध-सी इस नृत्य-कौशल को निहारती रह गयीं। उन्होंने इससे पूर्व भी देवदमनी का नृत्य देखा–सराहा था, किन्तु आज के नृत्य में कुछ और ही आकर्षण था। एक परम सुन्दरी का [illegible]

धारण कर वेताल-पत्नी सुरागी भी इन्हीं के साथ बैठ गयी थी। क्रमशः द्रुत होते-होते नृत्य-गति अपने चरम पर पहुँची। सभी दर्शकों की श्वास थमी की थमी रह गयी। पलकें झपकना ही भूल गयीं। नृत्य अपने समापन पर आया और देवदमनी ने एक पाँव पर खड़े रहकर इन्द्रदेव को करबद्ध नमन किया। सारा वातावरण हर्ष-ध्वनि से गुंजरित हो उठा। देवराज अतिशय प्रसन्न थे। उन्होंने अपने वक्ष पर धारण की गयी सुरकानन के सुन्दर पुष्पों का हार मुस्कराते हुए नर्तकी की ओर कोमलता के साथ उछाल दिया। नृत्य की ही एक विशेष मुद्रा में देवदमनी ने उसे अपने दोनों हाथों में ग्रहण करते हुए शीश झुका लिया। इस कृतज्ञता-ज्ञापन के साथ ही उसने अपनी दोनों बाँहें ऊपर को कर लीं और पुष्पहार को पीछे उछाल दिया कि सखियाँ उस अमूल्य उपहार को सहेजकर रख लें। त्वरा के साथ आगे बढ़कर सुरागी ने उसे ग्रहण कर लिया और उसे अपने मंजूषा में रख लिया। देवलोक से आयी सखियों में कुछ आश्चर्य का भाव भी व्याप्त हुआ, किन्तु इस अनुमान के साथ वे मौन रह गयीं कि यह बाला भी देवदमनी की कोई अंतरंग सखी होगी जो कदाचित् अवन्ती से ही इसके साथ आयी होगी। अदृश्य रूप में वेताल ने मंजूषा से वह उपहार लेकर अपने पास रख लिया। इसी प्रकार उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कोटि के दो नृत्य देवदमनी ने और भी प्रस्तुत किये। देवराज इन्द्र और शची रानी अधिकाधिक प्रसन्न और मुग्ध हो गये। दूसरे नृत्य की समाप्ति पर इन्द्रदेव ने एक रत्नजटित नूपुर उपहार में देवदमनी को प्रदान किया। तृतीय नृत्य के पश्चात् इन्द्रदेव ने एक स्वर्ण-पेटिका में अक्षय यौवनकारी गुटिकायुक्त ताम्बूल उपहार मे दिया जो स्वर्ण मंजूषिका में रखा हुआ था। ये दोनों उपहार भी पुष्पहार की भाँति ही सुरागी ने अपनी मंजूषा मे रख लिये और अग्निवेताल ने मंजूषा को रिक्त भी कर दिया।

नृत्योत्सव हर्ष-ध्वनि के साथ अपने समापन पर पहुँचा। दर्शको के चित्त नृत्यांगना के प्रति प्रशंसा के भावों से पूरित हो उठे। देवराज के मन मे भी देवदमनी के लिए अत्यन्त उच्च्व स्थान वन गया। उर्वशी की अपेक्षा भी उन्हें देवदमनी का नृत्य-कौशल कुछ अधिक ही श्रेष्ठ लगा। महाराज विक्रमादित्य तो स्वयं सगीत-विशारद थे। उन्हें देवदमनी की कला में कही कोई चूक दृष्टिगत न हुई। वे तो नृत्यांगना के रूप-लावण्य पर, उसके कमनीय कटाक्षों और सुमधुर मुद्राओं तथा हाव-भावो से मुग्ध ही नही आहत-मन हो उठे थे। देवदमनी अव तो उनके लिए पूर्व परिचिता थी, सामीप्य-लाभ भी वे उसका कर चुके थे, किन्तु उस देवदमनी और इस देवदमनी मे उन्हे धरा-गगन का अन्तर अनुभव हो रहा था। अभी तो वह उन्हे देवलोक से आयी अप्सरा ही प्रतीत हो रही थी, अलौकिक रूप-सौन्दर्य की स्वामिनी, अद्भुत आकर्षण की निधि। आदिवासी वेशधारी महाराज अवाक्-से उसे निहारते ही रह गये। जब देवराज इन्द्र को देवदमनी ने

भावपूर्ण मुद्रा के साथ नमन किया और समस्त दर्शकगण उठ खड़े हुए तो मानो महाराज की चेतना लौटी और वे इहलोक के प्राणी हुए। उठते-उठते भी उनकी दृष्टि नृत्यांगना के लोच-भरे लावण्य पर ही टिकी रही। जब किसी ने पीछे से उनका कंधा पकड़कर झकझोर दिया तो वे पूर्णतः सचेतन हुए। पीछे घूमकर देखा—पीछे कोई था नहीं। वे सारा रहस्य तत्क्षण ही समझ गये। अपने अदृश्य मित्र का उन्हें स्मरण हो आया। वे देख रहे थे—देवराज ने अभिवादन के उत्तर में हाथ ऊपर उठाया, शची रानी ने मुस्कान बिखेरी और दोनों ने प्रस्थान किया। अन्य देवी-देवताओं ने उनका अनुसरण किया। देवलोक से आई देवदमनी की सखियो ने भी प्रस्थान किया। सुरागी ने अपने हाथों की मंजूषा देवदमनी को थमाई और वह भी सखियों के पीछे हो ली। आदिवासियों के संग-संग महाराज भी प्रांगण से बाहर निकले। वन की एक दिशा में वे अग्रसर होते चले। कुछ ही दूरी पर वेताल उन्हें साकार रूप में प्रतीक्षारत मिला। दोनों ने दूर एक वृक्ष के तले देवदमनी को देखा। इसी समय सुरागी भी वेताल के समीप ही साक्षात् हो गयी। वेताल ने अपनी पत्नी को स्मरण कराया कि अभी उसकी भूमिका शेष है। उसे अपना कर्त्तव्य भलीभाँति ज्ञात था। अदृश्य रूप में वह देवदमनी के पास पहुँची और उस वृक्ष पर चढकर बैठ गयी। देवदमनी मंत्रोच्चारण कर रही थी। मंत्र-साधना पूर्ण हो जाने पर वह भी उसी वृक्ष पर चढ़ गयी और वृक्ष ने धरा का त्याग कर दिया। वृक्ष ऊपर उठा और आकाशमार्ग से अवन्ती की ओर बढने लगा। उसी समय अदृश्य रूप मे ही अग्निवेताल महाराज विक्रमादित्य को कधो पर आसीन कर चल पडा। वेताल आकाशमार्गी वृक्ष के साथ-साथ गमन करने लगा।

तीव्र वेग से यह आकाश-यात्रा हो रही थी। सर्वत्र अमावस्या की रात्रि का अंधकार छाया था। वेग के कारण उत्पन्न पवन की ध्वनि के अतिरिक्त अन्य कोई स्वर ही नहीं था। सीकोत्तरी-स्थल पीछे—बहुत पीछे छूट गया था। वनों, पर्वतो, सरिताओं के ऊपर से ये यात्री उत्तरोत्तर अग्रसर होते चले जा रहे थे। सहसा वातावरण मे एक शीतलता का अनुभव होने लगा। अब देवदमनी का वृक्ष एक सरोवर के ऊपर से निकल रहा था। सुरागी पहचान गयी कि उसका कर्त्तव्य-स्थल आ गया है। अदृश्यावस्था में ही वह देवदमनी के समीप पहुँची। वह मंजूषा अब भी देवदमनी के हाथो में थी। सुरागी ने मंजूषा को एक झटका दिया और वह उसके हाथो से छिटककर नीचे गिरी और सरोवर के जल में मग्न हो गयी। देवदमनी तो अवाक्-सी रह गयी—यह क्या हो गया। देवराज द्वारा प्रदत्त वे अनमोल, अलौकिक उपहार उसके हाथों से निकल गये। वह विचलित होकर अपने आसपास देखने लगी। कहीं कुछ न था। किसी के होने की आशंका भी उसे हो नहीं सकती थी। निराशा-भरी दृष्टि से वह नीचे की ओर ताकने लगी। सरोवर के जल का उसे स्पष्ट अनुमान होने लगा था, जिसने उसकी प्रशंसा के सूचक उपहार

कर उसके उत्तर में उसने और भी टेढ़ी चाल चल दी। नागदमनी ने दोनों के कौशल को भलीभॉति पहचान लिया। उसने महाराजश्री को कुछ पलों के लिए क्रीड़ा से विरत करने के प्रयोजन से प्रश्न किया–"कृपानाथ ! मैं यह तो समझी कि आप तन से कुछ स्वस्थ हैं, किन्तु मन से नहीं। कृपा कर यह भी तो बताइये कि इस मानसिक विचलन का क्या कारण है?"

"कारण .... ? कारण तो कदाचित् साधारण-सा ही है, नागदमनी ! किन्तु उसने विचलित बहुत अधिक कर दिया है हमें।" कुछ क्षणों के विरामोपरान्त महाराजश्री ने कथन को अग्रसर किया–"कारण यह है कि हम गत रात्रि समुचित रूप से निद्रा न ले सके। एक विचित्र से स्वप्न ने हमें उद्विग्न बनाए रखा। अद्भुत .... सर्वथा अद्भुत स्वप्न, देवदमनी !" महाराजश्री एक पल को रुककर देवदमनी की प्रतिक्रिया ताड़ने लगे और फिर बोले–"स्वप्न तो स्वप्न ही होते हैं, किन्तु हम इस स्वप्न को विस्मृत नहीं कर पा रहे हैं। हमें या तो स्वप्न आते ही नहीं या वे निद्रावधि तक ही सीमित रह जाते हैं। जागरण पर तो हमें यह ज्ञान भी नहीं रह पाता कि हमने कोई स्वप्न देखा था। किन्तु ..... कल का स्वप्न तो जैसे चलचित्र बनकर अभी भी हमारे नेत्रों के समक्ष साकार बना हुआ है। हमारे मन पर उसकी एक गहरी छाप ऐसी लग गयी है कि हमारा मन अन्यत्र कहीं सहज नहीं हो पा रहा। नागदमनी ! तुमने उचित ही अनुभव किया ... हम अन्यमनस्क हैं अवश्य, किन्तु क्रीड़ा में हम भाग भी अवश्य ही लेते रहेगे। हमे पराजित होने का भय नहीं .... !"–यह कहते हुए उन्होंने एक चाल और चल दी।

महाराजश्री की चाल के उत्तर में देवदमनी ने ऐसी चाल चल दी कि महाराजश्री हतप्रभ-से रह गये। अपने इस कौशल पर आत्म-गौरव की अनुभूति के साथ देवदमनी के नेत्र तनिक उल्लास से विस्फारित हो गये। उसके वडे-वडे नयन और भी कुछ दीर्घ हो गये। चहकते हुए उसने प्रश्न किया–"देव ! उस स्वप्न मे ऐसी क्या विशेपता थी कि आप अभी तक उसकी स्मृतियों को सॅजोये हुए है? उसकी विचित्रता का रहस्य क्या है, श्रीमानेश्वर !"

अपनी नयी चाल चलते हुए चौसर से दृष्टि हटाकर महाराजश्री ने उत्तर दिया–"देवदमनी ! तुम्हारा प्रश्न, तुम्हारी जिज्ञासा स्वाभाविक ही है। हमे तो अन्य किसी स्वप्न की कोई स्मृति नहीं रही। कह नहीं सकते अन्य कोई स्वप्न देखा भी या नहीं। और ... यह भी सत्य है कि गत रात्रि का स्वप्न अव भी दृष्टि से ओझल नहीं हो रहा। इसका एक प्रमुख कारण तो यही है, देवदमनी ! कि तुम उस स्वप्न-केन्द्र में थीं।"

"मै? .... महाराज .... आपके स्वप्न में मै ... ?"–देवदमनी आश्चर्यचकित रह गयी।

"हाँ, देवदमनी ! तुम ··· । हमारा सौभाग्य है कि तुम-जैसी रूपसी ने हमारे स्वप्न की श्रीशोभा को अतिशय अभिवर्धित कर दिया था। यही नहीं, उस स्वप्न ने हमें तुम्हारी ऐसी प्रतिभा का परिचय भी दिया, जिससे हम तब तक अनभिज्ञ ही थे। हमें प्रसन्नता है, देवदमनी ! कि तुम ऐसी प्रवीण नृत्यांगना भी हो।"

महाराज विक्रमादित्य के इस कथन से देवदमनी पुनः आश्चर्यविमूढ़ हो अवाक्-सी रह गयी–'महाराजश्री को यह कैसे ज्ञात हुआ? कहीं ··· ।'

नागदमनी ने स्थिति को नियंत्रण में ले आने का प्रयास किया। चौसर की बाजी क्रमशः अपनी गति से अग्रसर होती जा रही थी। नागदमनी ने जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा–"कृपानाथ ! आपश्री ने अभी अपने स्वप्न का वृत्तान्त तो बताया ही नहीं। वह अद्‌भुत स्वप्न क्या था और उसमें मेरी पुत्री का क्या प्रसंग आया?"।

महाराज विक्रमादित्य ने मन ही मन इस प्रश्न का स्वागत किया और उनके मन की प्रसन्नता स्मिति-रेखाओं के रूप में उनके अधरों पर व्यक्त हो गयी। सहसा उनके मुख-मण्डल पर उल्लास का तेज व्याप्त हो गया। वे तो स्वयं ही ऐसे आमंत्रण की प्रतीक्षा कर रहे थे। बोले–"तुम चाहती हो तो मैं अपने स्वप्न का सविस्तार वर्णन भी करूँगा, पहले यह चाल तो चल लूँ।" महाराजश्री ने एक चाल ऐसी चली कि उसे देखकर बेचारी देवदमनी तो सन्न ही रह गयी–उसे तुरन्त अपनी वारी पूरी करने में कठिनाई अनुभव होने लगी। वह सोच में पड़ गयी। महाराजश्री तो वड़े निपुण हैं, व्यर्थ ही उसे अपने चौसर-कौशल पर गर्व रहा है। वह अपनी चाल निश्चित करने में लगी ही थी कि महाराज ने स्वप्न-वृत्तान्त आरंभ कर दिया–

"स्वप्न में हमने नित्य-प्रति की घटनाओं का अवलोकन किया। आरंभ तो इसी प्रकार से हुआ कि हम हमारे कतिपय विश्वस्त जनों के संग वन-विहार को गये थे। हमारा अश्व पवन-वेग से आगे-से-आगे वढ़ता चला जा रहा था। जाने कितना उल्लास हमारे अश्व में आ गया था। ज्यों-ज्यों समय-यापन होता गया, उसकी गति तीव्रतर होती चली गयी। अन्ततः जब अश्व हमारे नियंत्रण से वाहर हो गया। तभी हमारा ध्यान इस विषम परिस्थिति की ओर भी गया कि हमारे संगी-साथी पीछे-कहीं वहुत पीछे छूट गये हैं। हम उस निर्जन भयावह वन मे एकाकी रह गये। अश्व था कि थमने का नाम ही नहीं लेता था। हम भी और हमारा अश्व भी, पसीने से लथपथ था। हिनहिनाता तो अश्व वन की समस्त दिशाओं को प्रकम्पित कर देता था। एक बार तो हम स्वयं भी भावी अनिष्ट की आशंका से आतंकित हो गये कि न जाने क्या होने वाला है। हमने अश्व को थामने के लिए ज्यों-ज्यों प्रयत्न किये, उसकी गति त्यों ही त्यों तीव्र होती जा रही थी। हमारा न कोई मार्ग रह गया था, न ही कोई दिशा। स्वच्छन्द अश्व ही जिधर ले जा रहा था वही हमारी दिशा हो गयी थी। अनिश्चित गंतव्य और प्रयोजनहीन, भयावह प्रवास।" महाराजश्री ने अपने स्वप्न-कथन को क्षणिक विराम देते हुए चौसर की एक चाल और चली और पलभर

के लिए देवदमनी की ओर दृष्टि डाली। उसके मुख पर उन्हें एक विचित्र फीकापन और चिन्ता के चिह्न दिखायी देने लगे। महाराजश्री ने वृत्तान्त को अग्रसर किया-
"इसी प्रकार सारा दिवस व्यतीत हो गया। संध्या होने को थी तभी मार्ग मे देवदूत की भाँति कुछ आदिवासी मिल गये। दूर से ही उन्होंने हमारे संकट का आभास पा लिया था। उन्होंने हमारी सहायता की। सभी ने एक साथ घेरकर अश्व को रोक लिया। हम भी कुछ आश्वस्त हुए। एक वनवासी युवक ने बड़े स्नेह से अश्व की वल्गा थामकर उसकी गर्दन थपथपाई। अश्व यह ममता पाकर शान्त होने लगा। हम भी भूमि पर उतर आये। वनवासियों ने हमारी कष्ट-कथा सुनी। वे बडे सहृदय थे। हमें वे अपनी बस्ती में ले गये। विश्राम, भोजनादि की व्यवस्था भी हमारे लिए की गयी। रात्रि में उन्हें सीकोत्तरी पर्वत पर एक समारोह में जाना था। उनके आग्रह पर हम भी पर्वत पर चले गये। आहा ···· हा ! क्या ही भव्य देवालय था। देवी माँ की पूजा--अर्चना हमने भी बड़े भक्तिभाव के साथ की। इस मंदिर के प्रांगण में नृत्य समारोह था। अनेक देवी-देवता भी इस समारोह में सम्मिलित हुए थे। देवांगना-तुल्य रूपवती नर्तकी ने जब अपनी कला का प्रदर्शन आरंभ किया तो हमारे आश्चर्य का पार ही नहीं रहा कि वह नृत्यांगना और कोई नहीं स्वयं देवदमनी थी।" महाराज का उच्च से उच्चतर होता हुआ स्वर थमा। उनका मुख खुला का खुला ही रह गया और अचरज-भरे उनके विशाल नयन अपलक हो गये।

ठठाकर हँस पड़ी नागदमनी और देवदमनी कभी अपनी माता की ओर तो कभी महाराज की ओर निहारती रही। नागदमनी ने कहा--"कृपानाथ ! आजकल आप देवदमनी के सम्पर्क में हैं न, इसी कारण स्वप्न में भी आपको वही दिखायी दे गयी होगी। आपको भ्रम हो गया, महाराज !"

"भ्रम नहीं ···· हमें कोई भ्रम नहीं हुआ।" महाराजश्री ने आत्म-विश्वासपूर्वक कहा--"भला देवदमनी को पहचानने में हम भ्रमित कैसे हो सकते हैं। वह देवदमनी ही थी। हम तो इनकी कला के भक्त ही हो गये। ऐसा सुन्दर और सरस नृत्य कभी नहीं देखा हमने।"

"इस प्रशंसा के लिए कृतज्ञ हूँ, राजेश्वर !" देवदमनी ने विनयपूर्वक निवेदन किया--"किन्तु जिसे आपने स्वप्न मे देखा वह मैं न थी। नृत्यकला की उपासना मैं भी करती हूँ। देवी माँ की भक्त भी हूँ। किन्तु आपको स्वप्न की उस नर्तकी में मेरा रूप जो आभासित हुआ--वह आभास मिथ्या है, राजन् ! सर्वथा मिथ्या ··!"

"स्वप्न तो यथार्थ के पर्याय हो नही सकते, कृपावतार ! मनुष्य अपनी अतृप्त अभिलाषाओं की पूर्ति ही स्वप्न में प्राप्त करते हैं। स्वप्न-सुन्दरियाँ वायवी होती हैं और देवदमनी यथार्थ है जो आपश्री के समक्ष है, प्रभो ! आपको कल्पना में यथार्थ का भ्रम हो गया, महाराजश्री ! अन्यथा उस देवांगना को आप देवदमनी के रूप में नहीं देख पाते। स्वप्नों के मिथ्या जंजाल से मुक्त होइये और यथार्थ में आ जाइये। स्वप्न सत्य नहीं हो सकता। चाल चलिए। देवदमनी ने आपको पुन. पराजय

स्वीकार करें, महाराजश्री !" पराजय की लज्जा के भार से देवदमनी नतग्रीव हो गयी थी। उसके मन से वीभत्स विचारों का तीव्र अंधड़ गुजरने लगा था।

महाराजश्री ने उत्तर में नागदमनी का धन्यवाद किया और सविनय हास से उनका मुख-मण्डल दीप्त हो उठा। मधुर वाणी में वे बोले–"अभी तो कठिन परीक्षा और है तीसरी बाजी जीतने की। हमें प्रतीत होता है कि अब की बार देवदमनी की विजय हमारी अब तक की दो जीतों को हार में परिवर्तित कर देगी। उनका कौशल भस्मावृत चिनगारी हो गया है, बस ! चिनगारी बुझी नहीं है। नवीन उत्साह का पवन भस्म को उड़ा ले जायेगा और चिनगारी दमक उठेगी। चौसर-क्रीड़ा में पुनः देवदमनी का दबदबा स्थापित हो जायेगा और··· ।"

"यह आपकी महानता है, महाराज ! कि अपने प्रतिद्वंद्वी का भी आप मनोबल बढ़ा रहे हैं। क्रीड़ा के पूर्व उसके परिणाम के विषय में कुछ भी कथन करना कठिन कार्य है, श्रीमानेश्वर ! किन्तु····।"–नागदमनी ने अपना कथन पूर्ण करते हुए कहा–"प्रतीत होता है तीसरी बाजी भी आपके ही पक्ष में जायेगी। देवदमनी की पराजय में भी उसे प्रसन्नता ही अनुभव होगी, उसे आपका आश्रय जो प्राप्त होगा।"

"आश्रय··· ! आश्रय नहीं···· सान्निध्य कहो···· स्नेहपूर्ण सान्निध्य। ऐसा हो तो प्रसन्नता हमें भी होगी, किन्तु लगता है क्रीड़ा अभी और चलेगी··· इतना शीघ्र इसका समापन संभव नहीं और यह क्रीड़ा तो देवदमनी के यश से गौरवान्वित है–चौसर देवदमनी के अपयश का कारण कैसे बन सकती है? अन्तिम विजय देवदमनी के ही पक्ष में रहेगी–हमारी अपनी यही भावना है।" महाराज ने एक दीर्घ कथनोपरान्त विराम लिया और आशा-भरी दृष्टि के साथ वे देवदमनी की ओर ताकने लगे। तीसरी वाजी भी आरंभ हुई। घात-प्रतिघात अपनी पूर्ण तीव्रता पर थे। दोनों पक्ष अव परस्पर जोड़ के प्रतीत हो रहे थे। किसी भी क्षण किसी के भी कंठ को विजयश्री जयमाला से शोभित कर सकती है–नागदमनी को ऐसा लगने लगा था। कभी देवदमनी का तेज भारी हो जाता था, तो कभी महाराज वीर विक्रम का पलड़ा भारी हो जाता था। तीसरी वाजी का क्रम किसी निर्णायक विन्दु की ओर अग्रसर ही नहीं हो रहा। नागदमनी एक के पश्चात् एक चली जा रही चालों को देखकर चकित थी। उसे मन ही मन यह प्रतीत होने लगा था कि आज नरेश के क्रीड़ा-कौशल के समक्ष देवदमनी को हत-तेज ही न हो जाना पडे। अनुकूल अवसर पाकर महाराजश्री ने अति संक्षेप में स्वप्न-कथा का शेप भाग भी सुना दिया और नवयौवनकारिणी गुटिका वाले ताम्बूल की स्वर्ण-मंजूपिका देवदमनी को दिखा दी। वोले–"यह भी हमें भोर में हमारी शय्या पर पडी मिली। देवता ने यही उपहार तुम्हें तीसरे नृत्य की समाप्ति पर दिया था।" महाराज के कथन ने देवदमनी को पुनः विचलित कर दिया। उसके भाल पर स्वेद कण छलछला उठे। नमित पलकों को सायास उठाते हुए एक वार उसने स्वर्ण-मंजूपिका को निहारा और तव महाराजश्री के मुख की ओर ताकती रह गयी। उसकी दृष्टि

में तैरता शून्य उसके अन्तरमन की उद्विग्नता की झलक देने लगा था–"अरे ! ये तो स्वप्न की बात है।" महाराजश्री ने कहा–"इसमें विचलित होने की कोई बात नहीं। हमने अपनी चाल चल दी है, अब बारी तुम्हारी है।"

देवदमनी का मन उचाट हो गया था। क्रीड़ा से बार-बार उसका ध्यान हट जाता था। उसने बलपूर्वक अपना ध्यान जमाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता न मिली। महाराज की चाल का वह कोई उत्तर न दे पायी। वह व्याकुल होकर अपना आसन त्यागकर खड़ी हो गयी। हाथ जोड़कर उसने निवेदन किया–"मैं इस तीसरी बाजी में भी अपनी पराजय स्वीकार करती हूँ। मुझे जो गौरव चौसर-क्रीड़ा में निपुणता को प्राप्त था, आज से उस गौरव के स्वामी महाराजश्री आप हो गये हैं। मैं हार्दिक बधाई के साथ आपकी विजय पर प्रसन्नता व्यक्त करती हूँ।" देवदमनी आगे बढ़ी और महाराज के चरणों में झुकी।

महाराज भी अब तक खड़े हो गये थे। उन्होंने स्नेहपूर्वक और कोमलता के साथ उसे थाम लिया। "जय-पराजय तो एक ही मुद्रा के दो पार्श्व हैं। दोनों एक-दूसरे के साथ संयुक्त रहते हैं। अतः न विजय का दंभ उचित है, न ही पराजय से कोई वेदना या ग्लानि होनी चाहिए। यह तो संयोग की बात है कि कभी किसी को मुद्रा का एक भाग दिखाई देता तो किसी को दूसरा। महत्ता जय-पराजय की नहीं होती। महत्त्वपूर्ण तो स्वस्थ भावना के साथ निष्ठापूर्वक संघर्षरत रहना ही है।" महाराज वीर विक्रम के इस प्रवोधन से देवदमनी तनिक स्थिर और आश्वस्त होने लगी।

इसी समय नागदमनी ने निर्णायक घोषणा की–"चौसर-क्रीड़ा में देवताओं के लिए भी अविजेय रहने वाली देवदमनी महाराजश्री ! आज आपसे पराजित हो गयी है। अभिनन्दन के साथ हम आपका जय-जयकार करती हैं। इस क्रीड़ा मे देवदमनी ने आप-जैसे पराक्रमी पुरुष की वररूप में प्राप्ति की, किन्तु उसे अपनी अपराजेयता के गौरव को भी खोना पड़ा है। आप अत्यन्त भाग्यशाली हैं, महाराज ! आपने देवदमनी को पराजित कर अभूतपूर्व यश और गौरव की भी प्राप्ति की है और पत्नीरूप में त्रिलोकसुन्दरी की भी। वधाई हो महाराज !"

महाराजश्री ने नागदमनी के इस अभिनन्दन को स्वीकार करते हुए सविनय करवद्धता के साथ मुस्कराकर मौन आभार व्यक्त किया। आरक्तवदना देवदमनी शीश झुकाए पॉव के अँगूठे से ऑगन कुरेदने लगी। अपनी साटिका का पल्लू अपनी वाँह पर लपेटते-खोलते वह मौन खड़ी रह गयी। इस गंभीर और महत्ताशील प्रसंग के कुछ क्षण यों ही मौन व्यतीत हो गये। साहस जुटाकर जव देवदमनी ने स्नेह-भरे विशाल नयनों से महाराजश्री की ओर निहारा तो पाया कि वे भी उसे निहारने लगे थे। दृष्टि विनिमय से ही पारस्परिक प्रीति का आदान-प्रदान होने लगा। महाराज मुस्करा उठे। देवदमनी कभी अपने होंठ को दाँतों तले हल्का-सा दवाकर मानो अपनी मुस्कान को चंवाने लगी और पुनः

नतग्रीव हो गयी। क्रीड़ा का भाव उसके तन-मन पर छा गया। उसका दर्प-हिमगिरि पिघल गया था। पुरुष नारी के रूप-लावण्य का आराधक होता है और नारी पुरुष के शौर्य एवं पराक्रम की अभिलाषिणी होती है। दोनों को अपना-अपना अभीष्ट प्राप्त हो गया था। महाराज वीर विक्रम और देवदमनी दोनों हर्षित और तुष्ट थे। देवदमनी की तो चाह ही ऐसे पुरुष से परिणय करने की रही थी जो उसे पराजित कर दे। उसकी कामना पूर्ण हुई।

महाराज वीर विक्रम ने कोमल वाणी में कहा–"नागदमनी ! यह सत्य है कि हमारे मन में भी कहीं यह लालसा अंकुरित हो गयी थी कि हमें अलौकिक सुन्दरी देवदमनी का सान्निध्य प्राप्त हो। हमारी यह भी एक महत्त्वपूर्ण कामना है कि हमें पंचदण्डछत्र प्राप्त हो। हम कहेंगे–यही हमारी प्रमुख कामना है। तुम इसके लिए ... ।"

"जानती हूँ, कृपानाथ ! ... मैं आपकी इस अभिलाषा से अनभिज्ञ नहीं हूँ।" –नागदमनी ने धैर्यपूर्वक कहा–"किन्तु पूर्व निश्चय के अनुसार प्रथमतः आपश्री को देवदमनी के संग परिणय-सम्पन्न करना होगा। तभी पंचदण्डछत्र-प्राप्ति हेतु उपक्रम आरंभ हो सकेगा।" कुछ क्षणों के विरामोपरान्त उसने पूछा–"कहिये, महाराजश्री ! आपका क्या विचार है? परिणय कब सम्पन्न कर लिया जाय?"

महाराज वीर विक्रम के लिये यह प्रश्न अप्रत्याशित भी नहीं था। उन्होंने तत्परतापूर्वक उत्तर दिया–"यथाशीघ्र ... नामदमनी ! ... यथाशीघ्र। यह परिणय हमारे लिए मनोवांछित भी है और अत्यन्त शुभ भी। शुभ कार्य शुभ मुहूर्त्त में ही सम्पन्न होने चाहिए।"

"आपका यह विचार तो श्रेयस्कर है, स्वागत योग्य है।"–नागदमनी का यह अनुमोदन पा, तनिक उत्साहपूर्वक उन्होंने कहा–"शुभ मुहूर्त्त की खोज करवाकर हम संदेश भिजवाते हैं।"

"उत्तम विचार है राजराजेश्वर का ..... ।" नागदमनी ने पुनः अनुमोदन की मुद्रा में कहा–"शुभ मुहूर्त्त में ही ऐसे कार्य सम्पन्न होने चाहिए। अब हमें आज्ञा दीजिये। मेरी प्यारी बिटिया को अपना लीजिये देव .... ! स्नेह के साथ .... प्रीति के साथ।" नागदमनी ने विनत हो करबद्ध प्रणाम किया, देवदमनी ने भी कटाक्षपूर्वक महाराजश्री को निहारा।

हाथ उठाकर अभिवादन का सस्नेह उत्तर देते हुए महाराज विक्रम ने किंचित मुस्कान दिया और अपनी कोमल उँगलियों के स्पर्श से भाल पर झूल आयी अलक को पीछे करते हुए बड़े ही कोमल और स्निग्ध स्वर में कहा–"कहने को तो विजय हमारी हुई है, किन्तु यथार्थ में चौसर की क्रीड़ा में देवदमनी, तुमने [illegible], हमारे मन पर अधिकार कर लिया है। हम हार गये हैं [illegible] तुम्हारे ही पक्ष में गयी। [illegible] है कि [illegible]।"

देवदमनी के प्रस्थान के पश्चात् उसकी छवि को मन में सहेजे महाराज राजभवन में पहुँचे। राजरानी कमलावती को सर्वप्रथम उन्होंने अपनी विजय का शुभ समाचार दिया। कलावती रानी भी वहीं उपस्थित थीं। प्रसन्नता से अभिभूत हृदय के साथ दोनों रानियों ने महाराजश्री का अभिनन्दन किया—"बधाई हो महाराज ! शत-शत बधाई !! आज आपने अपने बुद्धि-कौशल को भलीभाँति प्रतिष्ठित कर दिया है। आप शूरवीर तो हैं ही, अपार मनोवल के भी स्वामी हैं। देवता तक जिसे चौसर में पराजित नहीं कर पाये आपने अपने कौशल से उस देवदमनी का भी दर्प दलन कर दिया—"बधाई है, महाराज ! पुनः बधाई !!"

महाराज वीर विक्रम विहँस उठे। कमलावती रानी की इस हार्दिक प्रसन्नता पर वे पुलकित हो गये। सत्य है—सच्चे मित्रों, हितैषियों, प्रिय जनों की पहचान इससे पूरी नहीं हो पाती कि वे हमारे दुःख से कितने दुःखित है। उनकी यथार्थ पहचान तो इससे होती है कि हमारे सुख, वैभव और प्रगति से वे कितना निर्द्वेष सुखानुभव करते हैं। कमलावती रानी ने इस विजय के उपलक्ष में महाराजश्री को सुरभित पुष्पों का हार धारण कराया और महाराज गद्‌गद हो गये, कंठावरोधवश वे अवाक् रह गये, किन्तु उनका आभारपूर्ण प्रसन्न हृदय उनके नेत्रों से अभिव्यक्त होने लगा। सारे रनिवारा के लिए यह अपूर्व प्रसन्नता की संध्या थी। वातायनों से आने वाली शीतल पवन भी अपनी मर्मर ध्वनि में राजराजेश्वर वीर विक्रम को बधाई देती हुई उन्हें आलिंगनबद्ध कर रही थी। रानी कलावती अपने स्वामी के इस गौरव से फूली न समा रही थीं। रानी ने कहा—"हमें तो विश्वास था, स्वामी ! कि अन्तिम विजय आपकी ही होकर रहेगी। हमारे लिये आज का दिवस अत्यन्त सौभाग्यशाली रहा है, महाराज ! आप मंत्र-सिद्धि के गर्व से अभिभूत नारी का दर्प ध्वस्त करने में सफल होकर और अधिक महान् हो गये हैं। इस नवीन रूप में हम आपका मन से स्वागत करते हैं।" रानी कलावती ने पुष्पहार से महाराज का कंठ शोभित कर दिया और नमनपूर्वक प्रणाम किया। रानी के बद्ध करों को महाराज ने प्रीतिपूर्वक थामकर कोमलता के साथ दबाया और रानी कलावती निहाल हो उठीं।

दावानल की गति से महाराज वीर विक्रम की विजय का शुभ समाचार रनिवास से सारे राजभवन में और राजभवन से सारी अवन्ती में प्रसारित हो गया। सर्वत्र एक उत्साह और उत्सव का सघन वातावरण छा गया। नागरिक जन को महान् आश्चर्य अनुभव होने लगा। हमारे महाराज पराक्रम में भी अग्रणी हैं, कलाओ मे निष्णात हैं, विद्याओं में निपुण हैं, भावनाओं से देवत्व के निकट है। उनका बुद्धि-वैभव भी शिखर-स्पर्शी है, अन्यथा देवदमनी-जैसी कभी पराजित न होने वाली मंत्रविद् बाला को पराजित करना कोई साधारण कार्य तो नहीं था। ऐसे शासक की प्रजा होकर हम धन्य हो उठे हैं। नगर में स्थान-स्थान पर एकत्र जन-समुदाय इस विजय के विषय में भाँति-भाँति की चर्चा करने लगे। जितने मुँह उतनी ही बातें, किन्तु सभी के कथनों का मूल आशय किसी न किसी रूप में अवन्ती-नरेश की प्रशंसा का ही रहा।

साँझ ढलते-ढलते महामात्य भट्टमात्र ने उपस्थिति दी। नतशिर प्रणाम कर महामात्य ने भी विजय के उपलक्ष में बधाई प्रेषित करते हुए निवेदन किया—“श्रीमानेश्वर ! आपश्री ने तो चमत्कार ही कर दिखाया। अविश्वसनीय उपलब्धि के धनी हो गये हैं आप। भला देवताओं के गर्व का दमन करने वाली, सर्वदा अपराजेय नारी को इस प्रकार पराभव का मुँह दिखाना आप-जैसे अपूर्व प्रज्ञापुरुष के लिये ही शक्य हो सकता है। इस असाधारण विजय का गौरव इतिहास में सदा अविस्मरणीय रहेगा, राजन् ! मालव-देश ऐसे गौरवशाली नरेश को पाकर धन्य हो गया है।”

भट्टमात्र ने इस स्तुति के उपरान्त मंगल कामनाएँ कीं—“हमारे महाराज अमर रहें, अमर रहे आपका गौरव, आप दिन-प्रतिदिन उत्थान करते रहें, अपार यशस्वी हों।”

आशीर्वाद के रूप में महाराज ने इस शुभ कामना को ग्रहण किया और कृतज्ञता का भाव उनके मुख-मण्डल पर झलक आया। विनय-मिश्रित स्वर मे उन्होंने कहा—“यह चौसर-क्रीड़ा की विजय अभी भी आश्चर्यचकित कर रही है, किन्तु वास्तव में न तो यह हमारा लक्ष्य था और न ही देवदमनी-जैसी अलौकिक रूपसी को प्राप्त करने की कभी हमारी लालसा रही है, महामात्य ! ये तो एक दीर्घ यात्रा के पड़ाव मात्र हैं। हमारा गन्तव्य तो कुछ और ही है। उसे आप भी भलीभाँति जानते हैं। वह गन्तव्य यदि शिखर है तो यह विजय वहाँ तक पहुँचने में सहायक सोपान है।” महाराज ने तनिक विराम के पश्चात् पुन· कथन आरंभ किया—“हाँ, इतना अवश्य है कि इस सोपान पर चढना भी वड़ा दुष्कर रहा। सोपान स्वयं ही बहुत ऊँचा रहा। आप लोगों की जो व्याकुलता रही कि हम कैसे विजय प्राप्त कर सकेंगे—उस चिन्ता में एक अनकही मंगल कामना निहित थी। ऐसी असंख्य-असंख्य मंगल कामनाओं के वल पर हमे यह विजय प्राप्त हुई है। हम आभारी हैं अपने मित्रों—हितैषियों के, आभारी हैं हम प्रजा जन के।”

“यह मानना आपका वड़प्पन है, श्रीमानेश्वर !” महामात्य ने विनयपूर्वक निवेदन किया—“अन्यथा इस दुष्कर विजय के लिए आपके कौशल को ही श्रेय जाता है।”

“जो भी हो.... प्रजा का यह अपार स्नेह पाकर हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचे हैं कि शासक यदि जन-हितकारी हो, जनता के कष्ट को अपना कष्ट मानकर उसका निवारण करता हो, न्यायशील हो तो जनता की अपार-अपार श्रद्धा का पात्र वन जाता है। प्रजा भी शासक के सुख-दु.ख को अपना सुख-दुःख मानने लगती है। इसी मे शासक की सफलता निहित रहती है।”

अवन्तीनाथ के इस कथन का समर्थन करते हुए भट्टमात्र ने कहा—“आपका विचार यथार्थ ही है, राजेश्वर ! प्रजा तो आपके हितार्थ अपना सर्वस्व भी उत्सर्ग करने को तत्पर रहती है। यह आपके प्रारब्ध में ही था कि आपको विजय प्राप्त हो। महापुरुषों का कथन है—

"सा सा संपद्यते बुद्धिः, सा मतिः सा च भावना।
सहायास्तादृशा ज्ञेया, यादृशी भवितव्यता॥"

जैसी होनहार होती है वैसी ही बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसी ही मति और भावना बन जाती है और वैसे ही सहायक मिल जाते हैं, महाराज !"

"तुम कदाचित् उचित ही कह रहे हो। महामात्य !" नरेश ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की और गंभीर मुख-मुद्रा के साथ कहा—"किन्तु महामात्य यह विजय भी अन्य सहायकों की भाँति ही है। इसके माध्यम से हमें अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना है, हमें पंचदण्डछत्र प्राप्त करना है।"

"पंचदंण्डछत्र एक महान् लक्ष्य है, श्रीमानेश्वर ! मेरे ज्ञान में तो उसका अस्तित्व ही शेष नहीं रहा। यदि कहीं होगा भी तो उसकी प्राप्ति शक्य नहीं है।" भट्टमात्र ने अपना मत व्यक्त किया।

महाराज ने त्वरा के साथ कहा—"प्रत्येक अशक्य को शक्य बना देना ही हमारा जीवन-लक्ष्य है। हम उसे प्राप्त करके ही रहेंगे।"

"आप परम शूरवीर, पराक्रमी और साहसी हैं, महाराज ! इस आधार पर किसी को आपकी सफलता में क्या संदेह हो सकता है, किन्तु ....।" भट्टमात्र सहसा अपना कथन मध्य में रोककर महाराजश्री का मुख निहारने लगे।

"किन्तु ... किन्तु क्या, महामात्य ! .... तुम रुक क्यों गये ?"

"किन्तु, राजेश्वर ! उसके पूर्व आपको देवदमनी के साथ विवाह भी तो रचाना होगा ... उसे रानी बनाना होगा और क्या ...।"

"हम तुम्हारा अभिप्राय जान गये, भट्टमात्र ! हम जान गये हैं।" महाराज ने महामात्य का कथन पूर्ण होने से पूर्व ही उत्तर आरंभ कर दिया—"तुम यही कहना चाहते हो ना कि देवदमनी का संबंध एक निम्न कुल से है। हमने इस प्रश्न पर भी पहले ही विचार कर लिया है और पाया है कि देवदमनी के साथ हमारा परिणय भी निरापद ही रहेगा। महात्माओं की मान्यता है कि—

"बालादपि हितं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
नीचादप्युत्तमा विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥"

अवोध बालक के भी मुख से निकली हुई हित की बात स्वीकार्य होनी चाहिए। चाहे वह अपवित्र स्थल पर ही क्यों न पड़ा हो, स्वर्ण को त्याज्य नही माना जाना चाहिए। इसी प्रकार चाहे नीच व्यक्ति से मिले ज्ञान को और चाहे निम्न कुल मे उत्पन्न हुई हो—स्त्री-रत्न को अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए। देवदमनी का अपने जन्म पर तो कोई वश न था कि वह उस कुल में क्यों उत्पन्न हो गयी, पर है वह एक श्रेष्ठ नारी। वह रूपसी ही नहीं, विद्याओं की धारक एवं मंत्रविद् है। नीति की दृष्टि से देवदमनी को स्वीकार करने में उसके कुल की हीनता वाधक नहीं होती।"

"आपका विचार उदारता भरा है, श्रीमानेश्वर !" भट्टमात्र ने कहा–"मेरा उद्देश्य तो आपको स्मरण दिलाकर मात्र पुनर्विचार हेतु प्रेरित करने का ही था। आपने देवदमनी के साथ विवाह को केवल पंचदण्डछत्र की प्राप्ति का साधन नही माना, अपितु विवाह एक स्वतंत्र स्थान देते हुए विचार किया है–यह अति शुभ है। और ऐसी अवस्था में यह विवाह निश्चित रूप से सर्व स्वीकार्य ही रहेगा। एक और निवेदन करना था, श्रीमानेश्वर !"

जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से महाराज ने भट्टमात्र की ओर देखा। उनकी स्वीकृतिसूचक मुद्रा देखकर भट्टमात्र ने प्रश्नात्मक रूप में अपना विचार प्रस्तुत किया–

"इस विकट संघर्ष में प्राप्त आपकी महान् विजय के उपलक्ष में क्या कोई उत्सव मनाना उपयुक्त नहीं होगा?···अवन्ती के नागरिक भी चाहेंगे कि विजयोत्सव मनाया जाय जिसमें वे आपकी विजय की प्रसन्नता प्रकट कर सकें·····।"

"नागरिक जन की ऐसी अभिलाषा का हम आदर ही करेंगे, किन्तु विजयोत्सव-जैसा कोई आयोजन उचित नहीं रहेगा। एक ही विजय की खुशी मनाने का अर्थ किसी अन्य की हार की खुशी मनाना भी है। जव यह हार हमारे ही किसी की हो तो ऐसी खुशी मनाना क्या उचित रहेगा। हमारा हृदय उत्साह से भर जाये और इसी कारण अन्य के मन में हीनता, अपमान और दु:ख का अनुभव हो–यह अच्छा नहीं है, भट्टमात्र ! देवदमनी अव राज-परिवार में सम्मिलित हो गयी हैं।" चिन्तन की मुद्रा में महाराजा वीर विक्रम ने कहा और जिज्ञासापूर्वक वे भट्टमात्र की ओर ताकने लगे।

भट्टमात्र महाराज की विशाल हृदयता से असीम प्रभावित हो उठे थे। समर्थन के स्वर में वे वोले–"[illegible] है, महाराज ! सर्वथा उपयुक्त है। हमे ऐसा नहीं करना चाहिए। वास्तव मे विजय-पर्व का आयोजन ठीक न रहेगा। हमें वार-वार देवदंमनी को उनकी पराजय का स्मरण दिलाकर अपमानित नहीं करना चाहिए। धन्य हैं आप ! आप सव किसी के मन का कितना ध्यान रखते हैं। यदि सभी की ऐसी प्रवृत्ति हो तो स्वर्ग ही धरती पर उतर आए।"

– "हॉं, महामात्य ! हम एक कार्य अवश्य चाहते हैं।"

– "आज्ञा करें, श्रीमानेश्वर !"

– "कल सूर्योदय से सूर्यास्त तक दान का क्रम अजस्र रूप से चलता रहे, यही हम चाहते हैं। किसी भी याचक की कोई याचना अपूर्ण न रह जाय।"

– "जय हो, महाराज !···जय हो !! आज्ञा का पालन किया जायेगा। अपने सुख में और प्रसन्नता में अन्य जनो को भागीदार वनाने की यही सर्वोत्तम विधि है। आप-जैसे त्यागशील नरेश शताब्दियों में ही कभी-कभी इस धरा पर अवतरित होते हैं।"

● ●

देवदमनी तुष्ट और प्रसन्न थी। नागदमनी के मन में सुखानुभूति तो थी, किन्तु एक उद्विग्नता भी इस प्रसंग में थी कि सीकोत्तरी पर्वत वाला रहस्य नरेश कैसे जान गये। दोनों अपने भवन में बैठी बतिया रही थीं। नागदमनी ने अपने मन में घुमड रही चिन्तना को प्रकट करते हुए कहा–"बिटिया ! तू बड़ी सौभाग्यशालिनी है कि तुझे अवन्तीनाथ-जैसे पति मिलने वाले हैं। तू उनकी प्रीतिपात्र हो गयी है। किन्तु मैं यह नहीं जान सकी कि सिद्ध सीकोत्तरी पर्वत के नृत्य-समारोह के विषय में अवन्तीपति को इतनी जानकारी कैसे प्राप्त हो गयी। फिर, इन्द्रदेव द्वारा तुझे प्रदान किये गये उपहार भी इनके पास पहुँच गये–यह सब कैसे हुआ?" विचारमग्ना नागमती की तर्जनी अनायास ही कनपटी खुजलाने लगी।

रूपसी देवदमनी ने संयत स्वर में कहा–"माते ! यों तो मेरी हार अनुपम उपहार लेकर आयी है, मुझे राजराजेश्वर का साहचर्य और मालव-देश की रानी होने का गौरव प्राप्त होने वाला है, किन्तु आश्चर्य मुझे भी है इस विषय में कि यह कैसे हुआ कि चौसर की जगद्-विजेता होकर भी मैं महाराज से पराजित हो गयी ! यदि वे उपहार में प्रदत्त वस्तुएँ न दिखाते तो मुझे विश्वास है कि मुझे पराजित करना उनके लिए कभी भी शक्य नहीं हो पाता। मॉ ! जब उन्होंने ये उपहार दिखाये मेरा मन चंचल और अस्थिर हो उठा। मेरा ध्यान क्रीड़ा से हटकर महाराज के कृत्य पर केन्द्रित हो गया। ये उपहार महाराज को कैसे प्राप्त हुए। क्या ये स्वयं सीकोत्तरी पर्वत पर समारोह में उपस्थित थे। ये वहॉ पहुँच कैसे सकते हैं? मै मंत्र-बल पर वहाँ पहुँची। संध्या से कुछ पूर्व तक महाराज तो चौसर खेलते रहे। यदि ये वहॉ पहुँचे भी हों .... तो यह कैसे सम्भव हो सका। न पहुँचे हों तो वहॉ की सारी घटना का वृत्तान्त इन्हें कैसे ज्ञात हो गया। इन विचारों की उलझन में मेरा मन ग्रस्त हो गया। अन्यमनस्कता की ऐसी ही स्थिति में, मॉ ! मैं एक के पश्चात् एक तीनों बाजियॉ हार गयी। मेरा अविजेयता का गौरव मुझसे छिन गया। मैं कहीं की नहीं रही।" देवदमनी व्यथित और व्याकुल हो गयी, रुऑसी हो गयी।

"तू कहीं की नहीं रही .... ? यह क्या कहती है।" मॉ नागदमनी ने सांत्वना के स्वर में प्रबोधन देते हुए कहा–"बेटी ! तू तो सारे मालव-देश की राजरानी हो रही है। यही तो इस पराजय का उपहार है। इस नवीन आनन्द में समाहित कर दे उस विगत गौरव को। फिर तुझे पराजित करने वाले भी तो तेरे स्वामी, तेरे पतिदेव हैं। पति की अनुगामिनी पत्नी तो सदा ही अपने स्वामी के गौरव की वांछना करती है। तुझे तो प्रसन्न होना चाहिए कि तू अपने पतिदेव के विजय-गौरव

की हेतु बनी है, सन्नारीवत् आचरण किया है तूने। तेरा जीवन लोक में और परलोक में धन्य हो उठा है। हमारी जिज्ञासा ही है कि महाराज को यह सब ज्ञात कैसे हो गया–इसी कारण हम इस विषय की चर्चा कर रही हैं। एक पल को यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि वास्तव में उन्होंने स्वप्न में यह सब-कुछ देखा, तो वे उपहार उनके पास कैसे आ गये ?''

''हॉ, मॉ ! ···· मुझे भी आश्चर्य इसी बात का है।'' देवदमनी ने कहा–''जब मैंने वहॉ से अवन्ती के लिए प्रस्थान किया, ये उपहार मेरे पास थे। जब मेरा तरु-विमान एक सरोवर के ऊपर से निकल रहा था, तभी सहसा वह अघटनीय घटित हो गया। मंजूषा मेरे हाथ से छूट गयी और देखते ही देखते वह जल में समा गयी। वहाँ से उपहारों का महाराज तक पहुॅचना कठिन ही नहीं; असम्भव है। हो-न हो अवन्ती-नरेश ने भीं कोई सिद्धि प्राप्त कर ली हो, कोई माया या विद्या उनकी सहायक रही हो। कोरा पराक्रम इसमें सफल नहीं रह सकता, माँ ! ···· कभी नही रह सकता ····।'' एक लम्बी सॉस छोड़ती हुई देवदमनी ने अपनी आशंका व्यक्त की और वह अपलक नयनों से छत की ओर देखने लगी।

अपनी पुत्री को आश्वस्त करते हुए माता नागदमनी ने कहा–''यदि यह भी सत्य हो कि हमारे महाराजा विद्याओं के स्वामी हैं तो क्या हुआ ! ···· हमारी बिटिया भी तो मंत्रविद् है। हमारी वेटी उनकी अपेक्षा दो चरण आगे ही सिद्ध होगी।''

''ना ···· मॉ ! ···· ना।'' अपना हाथ माता के मुख पर रखती हुई देवदमनी ने कहा–''ऐसा न कहो ···· यह उचित नहीं। मैं उनसे आगे नही, कई-कई चरण पीछे रह जाना चाहती हूॅ। इसी में एक आदर्श पत्नी का गौरव है। मैं तो उनका अनुसरण करने के लिए हूॅ ···· उनसे आगे रहने को नही।''

''धन्य है, वेटी ! ···· तू धन्य है !! तेरे ऐसे सद्विचार ही तेरे भावी, सुखी दाम्पत्य जीवन की आधारशिला वनेगे। तूने अपने विचारों से मुझे आज अपरिमित संतोष दिया है।'' संतुष्ट मॉ ने अपनी वेटी को गले लगा लिया। अनेक क्षणों तक दोनों इसी अवस्था में मौन रह गयीं। मॉ का कोमल हाथ वेटी की पीठ सहलाता रहा और वेटी के मुॅदे नयनो में सुखद स्वप्न तैरने लगे।

मॉ ने अनुकूल अवसर का सदुपयोग करते हुए देवदमनी से कहा–''वेटी ! अव शीघ्र ही तुम्हारा जीवन-रूप परिवर्तित होने वाला है। तुम्हें राजरानी का जो गौरव प्राप्त होने जा रहा है–तुम्हें हर दृष्टि में स्वयं को उसके योग्य सिद्ध करना होगा। चांचल्य त्यागकर गम्भीर वनना होगा। यह महाराज की महानता है कि कुल-भेद का भी ध्यान न करते हुए उन्होंने हमें अपना लिया। अव तुझे उस कुल के योग्य स्वयं को सिद्ध करना है। पति-परायणा होकर जीने मे ही नारीत्व की

सफलता है। फिर तू अकेली उस राज-परिवार में रानी नहीं होगी। महाराज अनेक रानियों के स्वामी हैं। तुझे उनके साथ भी स्नेह–आदर के व्यवहार का निर्वाह करना होगा। अपनी सिद्धियों और शक्तियों के दम्भ में कोई दुर्विनीत आचरण न हो पाये–इसका भी ध्यान रखना आवश्यक रहेगा।" माता ने अपनी पुत्री को स्त्रीधर्म की शिक्षाएँ दीं और उसे सन्नारियोचित मार्ग पर गतिशील रहने को प्रेरित किया। देवदमनी ने कहा–"माँ ! तुम निश्चिन्त रहो। मेरा कोई भी विचार अथवा कृत्य ऐसा न होगा जो राजकुल की मर्यादा के विपरीत हो। मैं दोनों कुलों का गौरव बढाने का ही प्रयत्न करूँगी। शालीनता और गरिमा का निर्वाह करते हुए सभी के साथ कोमलतापूर्ण स्निग्ध व्यवहार मेरी विशेषता रहेगी। माते ! तुम्हारा मार्गदर्शन तो पग-पग पर मिलता ही रहेगा।"

आश्वस्त होकर नागमती ने एक दीर्घ साँस ली और विनोद करती हुई बोली– "अरे ! फिर तो हमारी बिटिया राजरानी होगी। पता नहीं, रानी जी को हम स्मरण भी रहेंगी, अथवा नहीं। साधारण जनों की चिन्ता उन्हें क्यों होने लगी।" और वह क्षीण-सी हँसी अपने अधरों पर ले आयी।

"माँ ! तुम भी बडी वो हो ....।" कहती हुई स्नेहपूर्वक अपने दोनों हाथों से नागदमनी का कधा धकियाती हुई देवदमनी उठ खडी हुई। माँ तब खुलकर हँस पड़ी और कुछ क्षणों तक जाती हुई देवदमनी को पीछे से निहारती रही। उसका मन न जाने किन भावी कल्पनाओं में खो गया।

× × ×

शुभ मुहूर्त्त में देवदमनी और महाराज वीर विक्रम परिणय-सूत्र में आबद्ध हो गये। सारा नगर वधूवत् शृंगारित–सज्जित किया गया था। महोत्सव-सा वातावरण सर्वत्र छा गया–वैसी ही उमंग, वैसा ही उत्साह। अपने नरेश के हर्ष में जन-जन हर्षित था। अन्तःपुर में कुछ अधिक ही हलचल और उल्लास व्याप्त था। देवदमनी अपने मातृ-गृह से विदा होकर पति-गृह जो आयी थी। उसके असीम आकर्षण और अद्भुत रूप सौन्दर्य से अन्तःपुर अभिभूत हो उठा। राजरानी कमलावती ने सर्वप्रथम वधू देवदमनी का स्वागत किया। आरती उतारकर राजरानी ने नव-वधू की बलैयाँ लीं और स्नेहपूर्वक उसके नतमुख को ऊपर उठाने के लिए चिबुक को छुआ ही था कि देवदमनी राजमहिषी के चरण स्पर्श करने को झुक गयी। राजरानी कमलावती ने उसे अपनी कोमल बाँहों में थाम लिया, उसे गले से लगा लिया–"स्वागत है, बहना ! तुम्हारा इस अन्तःपुर में हार्दिक स्वागत है।" राजरानी ने एक बहुमूल्य, सुन्दर मुक्तामाला देवदमनी को धारण करायी और उपस्थित रानियों ने हर्ष-ध्वनि की–"आज से तुम हमारी सखी हो गयी हो। आओ, भीतर चलें।"–राजरानी कमलावती देवदमनी की कटि में बाँह डालकर उसे अग्रसर करने लगीं। देवदमनी इस नवीन राजसी वातावरण में स्वयं को आगंतुक की स्थिति में ही पा रही थी। रानियों का निर्मल स्नेह-भाव और प्रेरक व्यवहार उसका संबल बना हुआ

किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में देवदमनी इस आरम्भिक चरण में अपना व्यवहार निश्चित नहीं कर पा रही थी, किन्तु अपने निर्मल हास से सभी के अभिनन्दन का प्रत्युत्तर देती जा रही थी। कमलावती रानी उसे अपने कक्ष में ले गयीं, जहाँ सारी व्यवस्थाएँ पूर्व में ही कर दी गयी थीं। एक किंचित् उच्च आसन पर देवदमनी को आरूढ़ किया गया। सभी रानियों ने भी अपने-अपने आसन ग्रहण किये। कलावती रानी ने मंद हासपूर्वक कहा–"अन्तःपुर के तारों के मध्य चन्द्रमा तो अब उदित हुआ है। इस अलौकिक-से रूप-लावण्य के लिए नव-वधू तो बधाई की पात्र है।" रानियों के इस समुदाय में फिर से हर्ष-ध्वनि हुई। समवेत स्वर में 'बधाई हो ! .... बधाई हो !!' के शब्द गूँज उठे। राजरानी कमलावती ने एक-एक कर रानियों का परिचय कराया। सभी ने नव-वधू के सुखद जीवन के लिए शुभ कामनाएँ कीं, उपहार दिये। इस परम स्नेह के वातावरण में देवदमनी का संकोच भी अब कुछ हटने लगा। उसे अपने कर्त्तव्य का ध्यान आने लगा। नव-वधू ने अत्यन्त मृदुल और मधुर वाणी में राजरानी कमलावती, रानी कलावती और समस्त रानियों के प्रति आदर भाव प्रकट किया और उनके अपार स्नेह भाव के लिए कृतज्ञता व्यक्त की। उसने स्वयं को इस अन्तःपुर के योग्य बनाये रखने का संकल्प भी प्रकट किया और सभी के स्नेह-सौजन्य की अपेक्षा भी की, निरन्तर मार्गदर्शन देते रहने की विनती भी की। स्वयं को सभी की अनुजा मानते हुए सभी के मंगलाशिष एवं शुभ कामनाओं की याचना की। देवदमनी ने अपने आसन से उठकर सभी को नम्रतापूर्वक प्रणाम किया और अपने वद्ध करों पर मस्तक झुका लिया। नव-वधू तव सभी रानियों के आसनों तक गयी और प्रत्येक के चरण स्पर्श कर आशीर्वाद ग्रहण किये।

रानियों में अद्‌भुत कुतूहल था। देवदमनी के सम्वन्ध में उनकी जैसी भावना और धारणा थी, यह तो उसके विपरीत निकली। रानियो ने सुन रखा था कि देवदमनी अनेक विद्याओ की ज्ञाता और मंत्र-शक्ति से युक्त है, उसे अनेक सिद्धियाँ भी प्राप्त है, अतः वह अवश्य ही विचित्र व्यक्तित्व वाली होगी। उसके स्वभाव में कठोरता और व्यवहार मे रूक्षता होगी। अपनी क्षमताओं के दर्प में वह दुर्विनीत भी होगी। किन्तु अपनी धारणा के विपरीत उसे शिष्ट, कोमल, विनम्र और अतिशय सुन्दर पाकर रानियो को सुखद आश्चर्य होने लगा। अरे ! यह तो कुछ की कुछ निकली। व्यक्ति मे वंशानुगत संस्कारों का होना स्वाभाविक तो होता है, किन्तु अपने व्यक्तिगत गुणों और व्यवहारो द्वारा वह उससे भिन्न, उत्तम व्यक्तित्व का सृजन स्वयं भी कर लेता है और यही उसका निजत्व हुआ करता है, यही उसका यथार्थ स्वरूप हुआ करता है। देवदमनी तन से अतिशय रूपवती, मन से अत्यन्त कोमल और व्यवहार में वड़ी मृदुल थी। उसकी वाणी मे स्नेह झरता था, उसकी दृष्टि से ममत्व वरसता था। उसके हाव-भाव में अद्‌भुत शिष्टता थी।

मधुरिका का यथासमय आगमन हुआ। मिलन-कक्ष मे प्रवेश किया तो महाराज वीर विक्रम ने पाया कि पुष्पाच्छादित शय्या पर विराजित रमणी देवदमनी

प्रतीक्षारत बैठी, सुखद स्वप्नों के जगत् में निमग्न-सी शान्त, अन्तर्मुखी स्थिति में और भी सुन्दर लग रही थी। सारा कक्ष ही मौन–गम्भीर वातावरण से घिरा था। कुछ पलों में जब स्वामी के आगमन का बोध देवदमनी को हुआ तो वह जाग्रत होती-सी उठ खड़ी हुई। उसकी त्वरा और तत्परता में भी एक शालीनता और गम्भीरता थी। त्रिपदी पर स्थित स्वर्ण-थाल से एक सुरभित पुष्पहार अपने कोमल करों में थामकर वह मंथर चरणों से महाराज की ओर अग्रसर हुई। प्रीतिपूर्वक रानी देवदमनी ने महाराज को पुष्पमाला धारण कराई और एक पल को महाराज की मुखश्री का अवलोकन करती रह गयी। तुरन्त ही भावनाओं का ज्वार स्वतः नियंत्रित हुआ। एक मादक मुस्कान के साथ रानी की पलकें व्रीड़ा-भार से नत हो गयीं और वह अपने स्वामी के चरणों में नत हो गयी। पैरों पड़ती नव-रानी को प्रियतम वीर विक्रम ने अपने हाथों से थामकर ऊपर उठा लिया। नव-वधू तो कृतकृत्य हो उठी, गद्गद अवस्था में उसकी वाणी ही मूक होकर रह गयी। महाराज ने भी एक सुन्दर-सी पुष्पमाला से 'उर्वशी'-सम सुन्दर रानी के उर को श्रृंगारित कर दिया। वधू रानी प्रफुल्लित और कृतकृत्य हो उठी। कृतज्ञता की झलक लिए उसके मुख-मण्डल पर हर्ष ही हर्ष व्याप्त हो गया। रानी देवदमनी ने व्रीड़ावश अपना मुख अपने प्राणनाथ के प्रशस्त वक्ष में छिपा लिया। महाराज ने उसे अपने कोमल करों के स्निग्ध स्पर्श से आश्वस्त एवं आनन्दित किया। रानी तो निहाल हो उठी। उसकी पराजय में छिपी विजय आज प्रकट होकर उसका अभिनन्दन कर रही थी।

"प्रिये ! आज के इन प्रेमिल और मादक क्षणों में इतना संकोच ···· इतनी लज्जा क्यों ····?" अवन्तीनाथ ने रानी देवदमनी को तनिक उत्साहित करते हुए कोमल वाणी में कहा–"आज के ये क्षण तो हम दोनों के लिए चिर-प्रतीक्षित रहे हैं। एक स्वप्न था जो बड़ा ही मादक, बड़ा ही कोमल था, किन्तु उसका साकार होना भी उतना ही दुर्लभ प्रतीत हो रहा था। उस स्वप्न के सत्य रूप ग्रहण करने के मार्ग में तो पर्वताकार अवरोध थे। उन सब को पार कर हमारा स्वप्न जब आकार ग्रहण कर चुका तो फिर, अब इतना ····।" महाराज ने अपने कोमल करों से प्रेयसी का मुख हौले-से ऊपर उठाते हुए मन्द मुस्कान के साथ निहारा। ऐसा प्रतीत होता था कि नीलाकाश के सरोवर में चन्द्रमा के समीप दो अरुण कमल खिल उठे हों।

देवदमनी की सीपी-सी पलकें खुलीं, उसकी दृष्टि ऊपर को उठी और वह पुनः महाराज की मुखश्री का दर्शन करती हुई भीत मृगी-सी संकुचित होने लगी। वीणा की झंकार-सी हुई। रानी के कमल-दल से अधर प्रकम्पित हुए–"स्वप्न तो, प्राणनाथ ! मेरा साकार हुआ है। आपके जीवन में स्थान पाकर मैं निहाल हो गयी, स्वामी ! कहाँ आप श्रीमानेश्वर और कहाँ मैं साधारण कुल की एक अति साधारण बाला।"

"ऐसा न सोचो, प्रिये ! ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है।" महाराज ने असाधारण गम्भीरता और शान्ति के साथ कहा–"ऐसा कोई भी विचार मन में न लाओ। हमें ज्ञात है कि तुम कितनी महिमामयी हो। ऐसा रूप, ऐसी कला-निपुणता,

किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में देवदमनी इस आरम्भिक चरण में अपना व्यवहार निश्चित नहीं कर पा रही थी, किन्तु अपने निर्मल हास से सभी के अभिनन्दन का प्रत्युत्तर देती जा रही थी। कमलावती रानी उसे अपने कक्ष में ले गयीं, जहॉ सारी व्यवस्थाएँ पूर्व में ही कर दी गयी थीं। एक किंचित् उच्च्च आसन पर देवदमनी को आरूढ़ किया गया। सभी रानियों ने भी अपने-अपने आसन ग्रहण किये। कलावती रानी ने मंद हासपूर्वक कहा–"अन्त:पुर के तारों के मध्य चन्द्रमा तो अब उदित हुआ है। इस अलौकिक-से रूप-लावण्य के लिए नव-वधू तो बधाई की पात्र है।" रानियों के इस समुदाय में फिर से हर्ष-ध्वनि हुई। समवेत स्वर में 'बधाई हो ! .... बधाई हो !!' के शब्द गूँज उठे। राजरानी कमलावती ने एक-एक कर रानियों का परिचय कराया। सभी ने नव-वधू के सुखद जीवन के लिए शुभ कामनाएँ कीं, उपहार दिये। इस परम स्नेह के वातावरण में देवदमनी का संकोच भी अब कुछ हटने लगा। उसे अपने कर्त्तव्य का ध्यान आने लगा। नव-वधू ने अत्यन्त मृदुल और मधुर वाणी में राजरानी कमलावती, रानी कलावती और समस्त रानियों के प्रति आदर भाव प्रकट किया और उनके अपार स्नेह भाव के लिए कृतज्ञता व्यक्त की। उसने स्वयं को इस अन्त:पुर के योग्य बनाये रखने का संकल्प भी प्रकट किया और सभी के स्नेह-सौजन्य की अपेक्षा भी की, निरन्तर मार्गदर्शन देते रहने की विनती भी की। स्वयं को सभी की अनुजा मानते हुए सभी के मंगलाशिष एवं शुभ कामनाओं की याचना की। देवदमनी ने अपने आसन से उठकर सभी को नम्रतापूर्वक प्रणाम किया और अपने बद्ध करों पर मस्तक झुका लिया। नव-वधू तब सभी रानियों के आसनों तक गयी और प्रत्येक के चरण स्पर्श कर आशीर्वाद ग्रहण किये।

रानियों में अद्‌भुत कुतूहल था। देवदमनी के सम्बन्ध मे उनकी जैसी भावना और धारणा थी, यह तो उसके विपरीत निकली। रानियों ने सुन रखा था कि देवदमनी अनेक विद्याओं की ज्ञाता और मंत्र-शक्ति से युक्त है, उसे अनेक सिद्धियॉ भी प्राप्त हैं; अत: वह अवश्य ही विचित्र व्यक्तित्व वाली होगी। उसके स्वभाव में कठोरता और व्यवहार में रूक्षता होगी। अपनी क्षमताओं के दर्प में वह दुर्विनीत भी होगी। किन्तु अपनी धारणा के विपरीत उसे शिष्ट, कोमल, विनम्र और अतिशय सुन्दर पाकर रानियों को सुखद आश्चर्य होने लगा। अरे ! यह तो कुछ की कुछ निकली। व्यक्ति मे वंशानुगत संस्कारों का होना स्वाभाविक तो होता है, किन्तु अपने व्यक्तिगत गुणों और व्यवहारो द्वारा वह उससे भिन्न, उत्तम व्यक्तित्व का सृजन स्वयं भी कर लेता है और यही उसका निजस्व हुआ करता है, यही उसका यथार्थ स्वरूप हुआ करता है। देवदमनी तन से अतिशय रूपवती, मन से अत्यन्त कोमल और व्यवहार में वड़ी मृदुल थी। उसकी वाणी से स्नेह झरता था, उसकी दृष्टि से ममत्व वरसता था। उसके हाव-भाव मे अद्‌भुत शिष्टता थी।

मधुराका का यथासमय आगमन हुआ। मिलन-कक्ष मे प्रवेश किया तो महाराज वीर विक्रम ने पाया कि पुष्पाच्छादित शय्या पर विराजित रमणी देवदमनी

प्रतीक्षारत बैठी, सुखद स्वप्नों के जगत् में निमग्न-सी शान्त, अन्तर्मुखी स्थिति में और भी सुन्दर लग रही थी। सारा कक्ष ही मौन-गम्भीर वातावरण से घिरा था। कुछ पलों में जब स्वामी के आगमन का बोध देवदमनी को हुआ तो वह जाग्रत होती-सी उठ खड़ी हुई। उसकी त्वरा और तत्परता में भी एक शालीनता और गम्भीरता थी। त्रिपदी पर स्थित स्वर्ण-थाल से एक सुरभित पुष्पहार अपने कोमल करों में थामकर वह मंथर चरणों से महाराज की ओर अग्रसर हुई। प्रीतिपूर्वक रानी देवदमनी ने महाराज को पुष्पमाला धारण कराई और एक पल को महाराज की मुखश्री का अवलोकन करती रह गयी। तुरन्त ही भावनाओं का ज्वार स्वतः नियंत्रित हुआ। एक मादक मुस्कान के साथ रानी की पलकें व्रीड़ा-भार से नत हो गयीं और वह अपने स्वामी के चरणों में नत हो गयी। पैरों पड़ती नव-रानी को प्रियतम वीर विक्रम ने अपने हाथों से थामकर ऊपर उठा लिया। नव-वधू तो कृतकृत्य हो उठी, गद्‌गद अवस्था में उसकी वाणी ही मूक होकर रह गयी। महाराज ने भी एक सुन्दर-सी पुष्पमाला से 'उर्वशी'-सम सुन्दर रानी के उर को शृंगारित कर दिया। वधू रानी प्रफुल्लित और कृतकृत्य हो उठी। कृतज्ञता की झलक लिए उसके मुख-मण्डल पर हर्ष ही हर्ष व्याप्त हो गया। रानी देवदमनी ने व्रीड़ावश अपना मुख अपने प्राणनाथ के प्रशस्त वक्ष में छिपा लिया। महाराज ने उसे अपने कोमल करों के स्निग्ध स्पर्श से आश्वस्त एवं आनन्दित किया। रानी तो निहाल हो उठी। उसकी पराजय में छिपी विजय आज प्रकट होकर उसका अभिनन्दन कर रही थी।

"प्रिये ! आज के इन प्रेमिल और मादक क्षणों में इतना संकोच .... इतनी लज्जा क्यों ....?" अवन्तीनाथ ने रानी देवदमनी को तनिक उत्साहित करते हुए कोमल वाणी में कहा-"आज के ये क्षण तो हम दोनों के लिए चिर-प्रतीक्षित रहे हैं। एक स्वप्न था जो बड़ा ही मादक, बड़ा ही कोमल था, किन्तु उसका साकार होना भी उतना ही दुर्लभ प्रतीत हो रहा था। उस स्वप्न के सत्य रूप ग्रहण करने के मार्ग मे तो पर्वताकार अवरोध थे। उन सब को पार कर हमारा स्वप्न जब आकार ग्रहण कर चुका तो फिर, अब इतना ....।" महाराज ने अपने कोमल करों से प्रेयसी का मुख हौले-से ऊपर उठाते हुए मन्द मुस्कान के साथ निहारा। ऐसा प्रतीत होता था कि नीलाकाश के सरोवर में चन्द्रमा के समीप दो अरुण कमल खिल उठे हों।

देवदमनी की सीपी-सी पलकें खुलीं, उसकी दृष्टि ऊपर को उठी और वह पुनः महाराज की मुखश्री का दर्शन करती हुई भीत मृगी-सी संकुचित होने लगी। वीणा की झंकार-सी हुई। रानी के कमल-दल से अधर प्रकम्पित हुए-"स्वप्न तो, प्राणनाथ ! मेरा साकार हुआ है। आपके जीवन में स्थान पाकर मैं निहाल हो गयी, स्वामी ! कहाँ आप श्रीमानेश्वर और कहाँ मैं साधारण कुल की एक अति साधारण बाला।"

"ऐसा न सोचो, प्रिये ! ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है।" महाराज ने असाधारण गम्भीरता और शान्ति के साथ कहा-"ऐसा कोई भी विचार मन में न लाओ। हमें ज्ञात है कि तुम कितनी महिमामयी हो। ऐसा रूप, ऐसी कला-निपुणता,

ऐसी विद्याशीलता और ऐसा नैपुण्य तो देवलोक की नारियों में भी दुर्लभ है। तुम्हे पाकर हमारा जीवन और भी उत्कृष्ट हो गया है। तुम्हारा संग हमारे जीवन का अलंकार है, प्रिये !" महाराज रानी की कटि में हाथ डाले, उसे सहारा देते हुए आगे बढ़ाने लगे। हौले-हौले चलते हुए इन्द्र-शची-सा यह युग्म शय्या की ओर अग्रसर हुआ।

मिलन-कक्ष में अब भी मंद–कोमल प्रकाश व्याप्त था। ऐसे स्निग्ध वातावरण में स्नेहिल वाणी में ही स्नेह का पारस्परिक आदान-प्रदान का क्रम चलता रहा। महाराज वीर विक्रम ने कहा–"जिस दिन उनकी शोभा-यात्रा में अपने भवन के समीप ही देवदमनी ने अपनी विद्याओं और मंत्र-शक्ति के बल पर व्यवधान उपस्थित किया था और शोभा-यात्रा का मार्ग परिवर्तित करने के लिए उन्हें विवश होना पड़ा था–उसी दिन महाराज की पलकों में एक स्वप्न समा गया था। वही स्वप्न कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल परिस्थितियों से विकसित होते-होते अपनी चरम परिणति पर पहुँचकर आज साकार हुआ है।"

देवदमनी को भीतर ही भीतर अद्भुत संकोच और ग्लानि का अनुभव होने लगा। उसने महाराज से यह अप्रिय प्रंसग स्मरण न करने और न कराने का अनुरोध करते हुए कहा–"इससे उसे दुःख होता है। उसने उस अवसर पर हुई अपनी दुर्विनीतता के लिए खेद भी प्रकट किया, क्षमा-याचना भी की।"

महाराज ने बताया–"इस प्रसंग का तो हमारे जीवन में बड़ा महत्त्व हो गया है। इसमें क्षमा-याचना का कोई कारण ही नहीं है। देवदमनी ने तो न केवल महाराज पर, अपितु सारे मालव-देश पर उपकार किया है। इस प्रसंग ने उन्हें गौरव प्रदान किया है–इसमें कोई संदेह नहीं।"

आश्चर्य के साथ देवदमनी ने पूछा था–"इसमें उपकार कैसा ! क्या उसने अपनी अविनय द्वारा महाराज का अपमान करने की धृष्टता नहीं की थी।"

महाराज ने भी बड़ी सहिष्णुता और धैर्य के साथ स्पष्ट किया–"नहीं, कोई अपमान नहीं। देवदमनी ने तो हमारे समक्ष कुछ चुनौतियाँ प्रस्तुत कर दी थीं। उसने हमारे संघर्षशील जीवन का नया मार्ग खोल दिया है। उसकी चुनौती से महाराज को एक अपराजेय बाला को पराजित करने का गौरव मिला है। यह क्या साधारण उपलब्धि है? सर्वत्र उनका यश प्रसरित हो गया है। यह देवदमनी के उस व्यवहार का ही परिणाम है।" इस उत्साहवर्धन से भी देवदमनी का आत्म-संकोच जव कम न हो पाया तो महाराज ने रहस्योद्घाटन की मुद्रा में यह भी कहा–"वे तो उस प्रथम दर्शन में ही देवदमनी के अनिंद्य सौन्दर्य के भक्त वन गये थे, उनके मन के किसी कोने में देवदमनी के सान्निध्य-लाभ की कामना अंकुरित हो गयी थी। ऐसा रूप तो अवन्ती के अन्तःपुर के ही योग्य वे मानने लगे थे। वही अंकुरित कामना क्रमशः पल्लवित-पुष्पित होकर आज इस परिणय में फलित हुई है।"

महाराज ने देवदमनी के संग परिणय से जब अपने जीवन की धन्यता मानी तो वह पलकें झुकाकर इतना ही व्यक्त कर सकी–"महाराज भी उसके आराध्य हो गये थे, उन्हें पाकर जीवन तो उसका सफल हुआ है।" देवदमनी ने पुनः अपना मस्तक महाराज के वक्ष से सटा लिया और अपलक नयनों से वह कक्ष में तने वितान को ताकती रही। महाराज अपनी कोमल उँगलियों से देवदमनी की अलकें सहलाने लगे। कुछ क्षणों तक कक्ष में मौन व्याप्त रहा। ऐसा सन्नाटा कि सुई के गिरने की ध्वनि भी स्पष्ट सुनाई दे जाती। उस अनुराग-भरे वातावरण में नव-दम्पति का पारस्परिक अनुराग दृष्टि के विनिमय से ही संप्रेषित होता रहा। कभी-कभी मौन भी सार्थक अभिव्यक्ति बन जाता है। दोनों परस्पर प्रीति और निष्ठा की, सुख-दुःख के साथी होने की संकल्पबद्धता व्यक्त करते रहे। अपने कोमल स्पर्श से एक-दूसरे को रोमांचित और आनन्दित करते रहे। अनेक शपथ ग्रहण की गयीं, अनेक वचन लिये गये। मधुराका क्रमशः अपने चरम की ओर अग्रसर होती रही। मधुमय प्रीति-संलाप में समग्र रजनी व्यतीत हो गयी। प्रेमी-युगल के नेत्रों में मानो गुलाब खिल उठे। अरुणोदय वेला की पूर्व दिशा का अनुसरण करते वे भी आरक्त हो उठे। अनिद्रा की स्थिति भी दम्पति को अलस नहीं बना पा रही थी।

इसी समय महाराज वीर विक्रम ने कहा–"रानी देवदमनी ! हमारी प्रियतमे !! तुम्हारा सबसे बड़ा उपकार तो हम पर यह रहा है कि तुमने अपने वचनों से हमारे नेत्र खोल दिये। हम तो स्वयं को परम पराक्रमी शासक मान रहे थे। तुम्हारे कथन ने हमें आभास करा दिया कि हमारी प्रतिष्ठा तब तक अपूर्ण ही है, जब तक हम पंचदण्डछत्र प्राप्त नहीं कर लेते।"

"वह मेरी भूल थी, राजराजेश्वर प्राणनाथ ! मुझे ऐसा नहीं करना था।" –लज्जित होते हुए रानी देवदमनी ने कहा।

किन्तु महाराज ने कहा–"नहीं, प्रियतमे ! उसी कथन ने तो हमारे उत्थान का नवीन द्वार खोल दिया–ऐसा उत्थान जो श्रेष्ठ शासक के लिए अनिवार्य है। हम पंचदण्डछत्र प्राप्त करने के अभिलाषी हैं और इसके लिए हम प्राण-पण से प्रयत्न करेंगे। और ····।" महाराज वीर विक्रम किंचित् चिन्तनग्रस्त होकर मौन हो गये, किन्तु तत्काल ही भीतर से बाहर को लौटते हुए उन्होंने कहा–"और देवदमनी ! तुम भी उसी नरेश का आदर कर सकती हो न, जो पंचदण्डछत्रधारी हो ····।"

महाराज का व्यंग्य समझकर रानी देवदमनी भीतर तक काँप उठी। आत्म-ग्लानि के अनुभव ने उसे नतग्रीव कर दिया। उसके अधर कुछ कहने को थरथराने लगे। बड़ी कठिनाई के साथ वह कहने लगी–"प्राणनाथ ! मेरे जीवनाधार !! मुझे उस कटु प्रसंग का स्मरण दिलाकर अब लज्जित न कीजिये, प्रभो ! वह अपराध मेरे दर्प के कारण हो गया था। अब तो आपने मेरे सारे अहम् को ही नष्ट कर दिया है। क्या अब भी मेरी उस अविनय को आप क्षमा न

कर पायेंगे? आपने तो मुझे परिष्कृत किया है, मेरे भीतर से अहंकार के दानव को बाहर निकालकर कोसों दूर भगा दिया है, मुझे मानवोचित जीवन प्रदान किया है। वह मेरी भयंकर भूल थी स्वामी ! मैं उसके लिए ....।" रानी का कण्ठ भर आया। उसका कथन अपूर्ण ही रह गया और वह अपने पतिदेव के प्रशस्त वक्ष में सिर छिपाकर सुबक उठी।

कोमल मन महाराज भी सहसा द्रवित हो उठे। वे रानी को आश्वस्त करने के प्रयत्न में उसकी पीठ सहलाने लगे–"हमारा कोई विचार व्यंग्य करने का न था, प्रिये ! तुम तो दुःखी हो उठीं। हमें अपने वचनों पर पश्चात्ताप हो रहा है, रानी !" महाराज ने विराम लेकर कहा–"हमें ज्ञात होता कि हमारा कथन तुम्हारे लिए पीड़ाजनक हो जायेगा तो हम कदापि ....।"

रानी देवदमनी ने अपना मुख महाराज के वक्ष से सटाये हुए ही दृष्टि ऊपर की ओर उनके अधरों पर अपने कोमल कर का स्पर्श करते हुए कहा–"मेरे परमेश्वर !..... ऐसा न कहें .... ऐसा न कहें। आपको हर कथन का अधिकार है। मेरा अर्थ तो यह है कि आप भी उस अप्रिय प्रसंग को विस्मृत कर दें, मुझे उस घोर दुर्विनीत व्यवहार, उस अपराध के लिए क्षमा कर दें।"

महाराज ने उसके दोनों कंधे थामकर उसे अपने सम्मुख कर लिया और स्निग्ध दृष्टि से कुछ क्षणों तक वे उसकी मुखश्री को निहारते रह गये। रानी की आँखों में झाँकते हुए महाराज ने धीर-गम्भीर वाणी में कहा–"प्रिये ! तुम जिसे अपना अपराध मानती हो न .... वह तो हमारे जीवन का सबसे बड़ा उपकारक कृत्य हो गया है। तुम्हारे उसी कथन ने हममें एक नवीन महत्त्वाकांक्षा जाग्रत कर दी है। पंचदण्डछत्र को प्राप्त करने की उत्कट कामना तुम्हारे उन वचनों से ही तो उत्पन्न हुई है। हम साधारण शासक नहीं बने रहना चाहते, रानी ! तुमने असाधारण शासक का स्वरूप ही नहीं प्रस्तुत किया कि वह पंचदण्डछत्रधारी होता है; अपितु उस गौरव को प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी है। हम तो तुम्हारे आभारी हैं।"

– "किन्तु महाराज ! पंचदण्डछत्र को प्राप्त करना कोई सहज कार्य नहीं है।"

– "कितना ही विकट, कितना ही दुष्कर क्यों न हो, देवी ! हम उसे प्राप्त करके ही रहेंगे। प्राणों की बाजी भी लगानी पड़े तो हम भयभीत न होंगे।"

– "हाँ, महाराज !..... मैं जानती भी हूँ और .... मानती भी हूँ–आप अपने निश्चय पर सदा अटल रहते हैं। साहस मनुष्य के लिए हर अशक्य को शक्य बना देता है। साहसी व्यक्ति यदि उद्यमी भी हो तो जगत में उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं रह जाता। आपमें ये दोनों गुण प्रचुरता के साथ हैं, फिर .... ।"

महाराज देवदमनी रानी के इस कथन से तुष्ट हुए और संतोष की एक दीर्घ साँस लेकर बोले–"तुम्हारी मंगल कामनाएँ हमारे लिए सम्बल होंगी, रानी ! प्रिय जनों, मित्रों की सदेच्छाएँ उद्यमलता की जड़ों की भाँति चाहे अदृश्य भी बनी रहें, उन्हीं से लता पुष्ट होती है–फलती-फूलती है, सफल हो जाती है।"

"कैसे उत्तम विचार हैं आपके ! सफलता के लिए एक और भी गुण अपेक्षित रहता है, स्वामी !" रानी ने कुछ सोचते हुए कहा–"आत्म-विश्वास की धार तलवाररूपी प्रयत्नों और परिश्रम को सार्थक और सफल बना सकती है। और प्राणेश्वर ! आप तो ···· आप तो आत्म-विश्वास के कोष ही हैं। आपकी सफलता में भला क्या संदेह हो सकता है।"

"तुम कदाचित् उचित ही कहती हो। पंचदण्डछत्र प्राप्त करने के लिए जो आरम्भिक शर्त थी चौसर की ···· उसमें सफलता रही। अब आगे का मार्ग खुल गया। सभी ओर शुभ संकेत ही मिल रहे हैं। अब तुम-जैसी रूपसी प्रेयसी की प्राप्ति भी क्या कम मांगलिक प्रसंग रहा है। वास्तव में इस आरम्भिक सफलता से हमारा मनोबल और आत्म-विश्वास बहुत बढ़ गया है, देवी !" महाराज ने कथन पूर्ण करते हुए कहा–"देवदमनी ! तुम-जैसी अर्द्धांगिनी पाकर हम धन्य हो उठे हैं।"

रानी देवदमनी के अधरों पर एक रहस्यपूर्ण मुस्कान थिरक उठी और उसके नयनों में एक अपूर्व चुलबुलापन तैरने लगा। चहकती हुई-सी वह बोली–"किन्तु एक बात तो बताइये ! चौसर-क्रीड़ा के अन्तिम दिवस को आपने सीकोत्तरी पर्वत की घटना सुनायी ···· उपहार की वस्तुएँ दिखायीं–यह सब कैसे सम्भव हुआ? क्या आप उस नृत्य-समारोह में स्वयं सम्मिलित हुए? आश्चर्य है कि आप कैसे पहुँचे? उपहार ····।"

"तुम्हारा आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक है।"–महाराज ने अपने कथन को व्यवस्था देते हुए कहा–"सुनो ···· हम जानते हैं कि तुम अपनी मंत्र-शक्ति द्वारा तरु-विमान के सहारे देवी-मन्दिर में पहुँचीं, पर तुम यह नहीं जानतीं कि हम वहाँ ···· ।"

"महाराज ! विचित्र बात है !" रानी अवाक् रह गयी। उसका मुख खुला का खुला रह गया। वह सोच में ग्रस्त हो गयी। सायास सँभलकर उसने कुछ ही क्षणों में सहजता अपनाते हुए कहा–"श्रीमानेश्वर ! ये सब तो गुह्य, रहस्य की बातें हैं। आपको यह सब कैसे ज्ञात हो गया?" उसके विशाल नेत्र विस्फारित होकर अपलक रह गये।

"कैसे सब-कुछ ज्ञात हो गया–यह बात पृथक् है, किन्तु जो हमने कहा–वह है सर्वथा सत्य। हमने ····।"

महाराज वीर विक्रम के कथन-मध्य ही तत्परता के साथ देवदमनी रानी कह उठी–"सत्य प्राणेश्वर ! पूर्णतः सत्य, पर क्या मैं यह जान सकती हूँ कि आप दूरस्थ पर्वत पर कैसे पहुँचे, पहुँचे तो थे न?"

"तुम मेरी जीवन-संगिनी हो, देवदमनी ! धर्मपत्नी हो। आदर्श पति पत्नी से कुछ छिपाकर नहीं रखता।" देवदमनी की अलकों से खेलते हुए महाराज ने कहा। आदर्श पति-पत्नी परस्पर सम-रहस्य होते हैं—उनके अपने-अपने स्वतंत्र और अपने तक सीमित कोई रहस्य नहीं होते। वे दो तन और एक मन होते हैं, एक-दूसरे के अर्द्धांग होते हैं।" कुछ क्षण मूक रहकर महाराज ने देवदमनी की प्रतिक्रिया ताडनी चाही। रानी को आश्वस्त और उत्सुक पाकर महाराज ने मित्र अग्निवेताल की अपार शक्ति की सहायता सुलभ रहने की चर्चा की और देवी-मन्दिर तक पहुँचने से लेकर चौसर-क्रीड़ा में विजय-प्राप्ति की सारी कथा सुना दी। और तब उन्होंने कहा—"यह सारा उपक्रम पंचदण्डछत्र के लिए रहा—यह तो एक निर्विवाद तथ्य है। रानी ! तुम सुगमता से यह अनुभव कर सकती हो कि छत्र की हमारे लिए कितनी महत्ता है।"

"पंचदण्डछत्र राजाओं की महत्ता, गौरव और प्रतिष्ठा को सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाता है, स्वामी !" रानी ने कहा—"उसकी प्राप्ति की कामना अनेक नरेशों के मन में रही है, किन्तु शताब्दियाँ व्यतीत हो गयीं कोई उसे प्राप्त न कर सका।"

रानी का कथन महाराज वीर विक्रम को हतोत्साह न कर पाया। वीर पराक्रमियों के उत्साह के अंगारों के लिए बाधाएँ पवन का कार्य करती हैं, पानी का नहीं। प्रतिकूल परिस्थितियाँ उन्हें और भी दृढ़ता के साथ प्रवृत्त होने को प्रेरित करती हैं। अवन्ती-नरेश के मुख-मण्डल पर एक अपूर्व आभा छा गयी—"हमने पंचदण्डछत्र को प्राप्त करने की कामना प्रण के रूप में की है, देवी ! यदि वह जगत् में अस्तित्व रखता है तो निश्चित रूप से हम उस पर अपना अधिकार स्थापित करेंगे।"

"आप प्रणवीर हैं, महाराज ! जो आप ठान लेते हैं, उसे पूर्ण करके ही दम लेते हैं—यह जगद्-विख्यात सत्य है। आपके साहस की कथाएँ इतिहास में गौरव के साथ शाश्वत रहेंगी।" रानी देवदमनी ने गर्वानुभूति के साथ कहा—"इसी महिमा ने तो हमें भी आपके प्रति आकर्षित किया है। पंचदण्डछत्र कभी अपने सम्पूर्ण महत्त्व के साथ था, आज भी वह है अवश्य, प्राणनाथ ! किन्तु अव वह अपने मूल स्वरूप में, छत्ररूप में नहीं रहा है। वह विखरा-विखरा है। उसके विभिन्न भाग भिन्न-भिन्न स्थलों पर पहुँच गये हैं।"

"हम समझे नहीं।"—महाराज ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की—यह पंचदण्डछत्र है क्या? तनिक विस्तार से वताओ और विखरा-विखरा कहने से तुम्हारा क्या अर्थ है?"

"जितना मैं इस छत्र के विपय में जानती हूँ—वह अवश्य निवेदन करूँगी। पाँच स्तम्भों वाला यह छत्र सर्वोच्च गौरव का प्रदाता माना जाता है। जो नरेश इसे

धारण करते हैं, वे पृथ्वी-तल के सर्वश्रेष्ठ राजा स्वीकृत हो जाते हैं; क्योंकि उसकी प्राप्ति में उनकी शक्ति, शौर्य, पराक्रम और साहस की सर्वोच्चता सिद्ध हो जाती है। माँ ने मुझे बताया था कि कभी कुबेर ने इस छत्र का निर्माण करवाया था। उन्होंने किसी विद्याधर पर प्रसन्न होकर एक दिन यह छत्र उसे दे दिया। विद्याधर से यह छत्र दैत्यों के पास आ गया और यहीं इसकी दुर्गति आरम्भ हुई। अन्ततः छत्र छिन्न-भिन्न हो गया और उसके दण्ड आदि सारे भाग पृथक्-पृथक् होकर दूर-दूर अनेक जन तक पहुँच गये हैं।"

"तो .... अब इस छत्र का पुनर्निर्माण होगा?"

"यही .... यही स्वामी ! मेरी माँ इसका पुनर्संगठन कर सकती हैं। वे ही जानती हैं कि छत्र के विभिन्न भाग कहाँ .... किनके पास हैं। इतना अवश्य वे भी कहती हैं कि उन अवयवों को एकत्र करना बड़ा दुष्कर कार्य है।" रानी देवदमनी ने अपनी बात पूर्ण करते हुए महाराज के मुख की ओर निहारा।

"हूँ .... ऊँ .... । यदि ऐसा है, प्रिये ! तो कार्य की दुष्करता तो स्वाभाविक प्रतीत होती है, अवश्य ही समस्त अवयवों की प्राप्ति कोई सुगम कार्य नहीं रहेगा; किन्तु हम प्रयत्न करेंगे। हमारी साहसिक प्रवृत्ति इस दुष्कर को सुकर बना देगी।" आत्म-विश्वास के साथ महाराज ने कहा।

"अवश्य .... अवश्य, महाराज ! आज तो पृथ्वी-तल पर आप ही एक मात्र ऐसे नरेश हैं जो इसमें सफल हो सकते हैं। अन्य कोई तो प्राप्ति के प्रयत्नों की बात तो बहुत दूर की है; इसकी कामना करने का साहस भी नहीं कर सकता। मेरे मन में यह विश्वास है; आप अवश्य इस महान् गौरव के स्वामी बनेंगे। मेरी शुभ कामनाएँ सदा आपके साथ रहेंगी।"

"और तुम्हारी विद्याएँ, तुम्हारी सिद्धियाँ, तुम्हारी मंत्र-शक्ति, तुम्हारी अपार क्षमताओं का बल भी हमारी सहायता करेगा।"

"क्षमा करें, महाराज !" देवदमनी रानी ने अत्यन्त विनय के साथ करबद्ध निवेदन किया—"मैंने अपनी सारी सिद्धियों और शक्तियों का स्वेच्छापूर्वक परित्याग कर दिया है। अब वे मेरे संग नहीं हैं। मैं तो आपके अपार गौरवशाली व्यक्तित्व के साथ एकाकार होकर जीना चाहती हूँ। अपनी स्वतंत्र महत्ता बनाये रखना, गौरव-प्राप्ति की लालसा रखना, उपलब्धियों की कामना करना—किसी आदर्श पत्नी के लिए उपयुक्त भी नहीं। मैं तो आपकी दासी हूँ .... आपकी अनुगामिनी, आपकी काया की छाया मात्र बनी रहूँ—मेरा संतोष इसी में है।"

"ओह, रानी ! तुम सचमुच महान् हो .... पत्नी-धर्म की साक्षात् अवतार हो। तुमने स्वेच्छापूर्वक अपनी कठिन अर्जनाओं—अपनी सिद्धियों का त्याग कर दिया ! नारी जगत् में तुम्हारा नाम सदा सम्मान के साथ स्मरण किया जाता रहेगा,

देवी ! पत्नीरूप में तुम्हें पाकर हमें बड़ा संतोष हुआ।''—महाराज ने इतना कहा और रानी के दोनों हाथ अपने हाथों में थामकर मुस्करा उठे।

''मैं धन्य हो गयी, प्राणेश्वर !'' कृतज्ञता के स्वर में रानी ने कहा—''महान् तो आप हैं, देव ! कि आपने मुझे अपनत्व प्रदान किया। अपने विषय में आपकी यह धारणा जानकर मुझे बड़ा सुख मिला। आप तो विशाल सिंधु हैं.... मैं उसमें समायी हुई एक बिन्दु हूँ। भला सागर से पृथक् बूँद का कोई अस्तित्व सम्भव है। बूँद का अपना कोई रंग-रूप, आकार—आकृति नहीं—वह तो उस विशाल सागर की कृपा से उसी में....।''

''सुन्दर.... अति सुन्दर मान्यता है तुम्हारी।'' प्रशंसा के स्वरों में महाराज वीर विक्रम ने कहा। तुम्हारा प्रारब्ध अपार-अपार सुख-वैभव से परिपूर्ण रहे। हमने जब अकेले दम ही प्रयत्न करके तुम-जैसी रूपसी की प्राप्ति का स्वप्न साकार किया है तो यह दूसरा स्वप्न भी आकार ग्रहण किये बिना न रह सकेगा। हमारे लिए तुम्हारी शुभ कामनाओं का बल ही पर्याप्त रहेगा, देवी !'' महाराज ने कोमलता के साथ नवोढ़ा वधू को अपने वक्ष से लगा लिया। इसी समय मंगल वाद्यों की ध्वनि और प्रभाती गान के स्वर सुनायी देने लगे। वातायन से आ रही पक्षियों की चहचहाने की मधुर ध्वनि ने रानी देवदमनी का ध्यान बाहर की ओर आकर्षित किया। पूर्व दिशा का गगन गुलाबी हो चला था।

कक्ष से प्रस्थान करते-करते अवन्ती-नरेश वीर विक्रम ने कहा—''रानी ! छत्र-प्राप्ति हमारा लक्ष्य अवश्य है, किन्तु उसके लिए हमें करना क्या होगा?''

''माँ आज ही आकर आपसे भेंट करेंगी, महाराज !'' रानी देवदमनी ने उत्तर में निवेदन किया—''वे ही विस्तार से इस विषय में बतायेंगी। वे ही इस अभियान की प्रमुख सूत्रधार रहेंगी।''

× × ×

भोर में ही देवदमनी की माता नागदमनी राजभवन पहुँच गयी। महाराजश्री भी उसकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। अब राज-परिवार के लिए उसका स्थान सम्मानपूर्ण हो गया। अवन्ती-नरेश ने इसी के अनुरूप नागदमनी को स्वयं आगे होकर प्रणाम भी किया। उपयुक्त आवभगत के पश्चात् नागदमनी को एक स्वर्णासन पर आसीन किया गया। नागदमनी ने महाराज को शुभ विवाह की पुनः वधाई दी, अभिनन्दन किया और निवेदन किया—''हे राजराजेश्वर ! आपने मेरी पुत्री को अपनाकर हमारे कुल पर महान् उपकार किया है। हम धन्य हो उठे हैं। देवदमनी तो परम सौभाग्य से विभूषित हो गयी है। उसमें जो अविनय दिखायी देता था वह उसकी आयुगत अल्हडपन का ही एक रूप था, अन्यथा वह बड़ी भावुक और आदर्शवादी वाला है। मेरी विनती है कि उससे कोई चूक हो भी जाय तो अपने विशाल हृदय से कृपया आप उसे क्षमा करें।''

"नहीं.... नहीं.... माते !" महाराज ने स्नेहपूर्वक कहा—"देवदमनी तो एक अनूठी नारी-रत्न है। वह तन से जितनी लावण्यवती है, मन से और भी अधिक सुन्दर है। प्रथम सम्पर्क में ही हम रानी देवदमनी की परम विशेषताओं से परिचित हो गये हैं। वह तो लाखों में एक है। तुम उसकी चिन्ता न करो, माँ !"

"ना.... ना.... करुणानिधान ! आपके संरक्षण में देकर मैं तो उसकी ओर से सर्वथा निश्चिन्त हूँ। मेरा विश्वास है कि आपके जीवन में उसका प्रवेश आपके भाग्योदय का आधार बनेगा, आपकी प्रगति होगी, आपका यश-वर्धन होगा।" नागदमनी ने आशीर्वादात्मक रूप में कहा।

धन्यवाद करते हुए महाराज ने कहा—"नागदमनी माँ ! तुम्हारी दी गयी शर्तों के अनुसार हमने चौसर-क्रीड़ा में विजय भी प्राप्त कर ली, देवदमनी के संग हमारा परिणय भी सम्पन्न हो गया। पंचदण्डछत्र-प्राप्ति के लिए अब इससे आगे और क्या करना होगा हमें?"

"महाराज छोटे मुँह-बड़ी बात होगी यह, किन्तु सत्य यही है कि उस छत्र की प्राप्ति का लक्ष्य बड़ा विकट है। उसके लिए साधारण प्रयत्न तो व्यर्थ सिद्ध होंगे। अपार साहस, विवेक और शक्ति की अपेक्षा रहेगी, जो आपमें विद्यमान है। मेरे पाँच आदेश अब आपको पूर्ण करने होंगे। बड़े विकट हैं ये आदेश, किन्तु यदि आप उनका सफलतापूर्वक पालन कर लेंगे तो छत्र-प्राप्ति फिर अशक्य नहीं रह सकती। मेरी कामना है, राजन् ! कि आप अवश्य उस महान् प्रतिष्ठा के अधिकारी बनें। मेरी आशिष आपके साथ बनी रहेगी।"

"हमारी सफलता तुम्हारी आशिष्य पर ही आधारित रहेगी, माते ! यह सत्य है। हम भी अपने उद्यम में पीछे नहीं रहेगे, प्राणों का मोह त्यागकर हम आदेशों को पूर्ण करेंगे। आदेश क्या हैं?"

"मालवनाथ ! आदेश तो पाँच हैं जिनकी पूर्ति आपके द्वारा होनी है, किन्तु एक आदेश पूरा हो जाने पर ही मैं आगामी आदेश दूँगी। यही विधान है।" —नागदमनी ने बड़ी सहजता के साथ स्पष्ट कर दिया।

"ऐसा ही हो.... उपयुक्त है।" महाराज ने कहा और नागदमनी से उसके प्रथम आदेश की जानकारी चाही। नागदमनी ने कहा—

"राजन् ! अवन्ती से दूर—बहुत दूर, लगभग आठ सौ कोस दूर ताम्रलिप्ति नामक एक नगर है, जहाँ इस समय राजा चन्द्रभूप का शासन है। उसकी एक अत्यन्त रूपवती राजकन्या है—लक्ष्मीवती। उसके पास भव्य रत्नों की एक मंजूषा है। आप सर्वप्रथम वह रत्न-मंजूषा प्राप्त कर यहाँ ले आएँ। वे रत्न छत्र की झालर मे प्रयुक्त होगे। यही मेरा पहला आदेश है।"

आदेश सुनकर महाराज वीर विक्रम उत्साहित हो गये। वे ताम्रलिप्ति नगर के विषय मे सोचने ही लगे थे कि सद्यःस्नाता देवदमनी ने कक्ष में प्रवेश किया। स्फूर्ति

के साथ चरण बढ़ाकर वह अपनी माता के समीप पहुँच गयी और उसके चरणों में झुक गयी। माँ भी उठ खड़ी हुई। उसे उठाकर बाँहों में भर लिया। दोनों एक-दूसरे के गले लग गयीं। कुछ क्षणों तक तो महाराज भी यह भावपूर्ण अभिराम दृश्य देखते ही रह गये। सहज होकर माता-पुत्री ने एक-दूसरे की ओर सजल नयनों से ताका। दोनों के आनन्दाश्रु देखकर नरेश भी भाव-विभोर हो गये।

● ●

कर्मशील व्यक्ति मात्र चिन्तनग्रस्त नहीं रहता—उद्यम को महत्ता देने पर ही चिन्तन साकार हो पाता है, किन्तु अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक और बाधक तत्त्वों का आकलन करतें हुए उचित निदान भी सफलता के लिए अनिवार्य होता है। महाराज विक्रमादित्य के लिए भी नव-प्रयाण का एक नवीन लक्ष्य निर्धारित हो गया था। दृढ़ संकल्प महाराज रत्न-मंजूषा को किसी भी प्रकार से हस्तगत कर लेना चाहते थे। लक्ष्य का मार्ग जितना दुर्गम होता है, अपराजेय पथिक का साहस भी उतना ही अभिवर्धित होता चला जाता है। संकल्प-शक्ति समस्त अवरोधों को ध्वस्त कर देती है। साहसिक वीर विक्रम महाराज का उत्साह भी गगनस्पर्शी हो उठा था, मनोबल की दृढ़ता भी अपूर्व स्थिति में थी। महाराज अवन्ती-नरेश ने सारा आगा-पीछा भली प्रकार से सोचा और इसी समय मन-ही-मन अभियान की योजना बनाने लगे। उन्होंने सोचा कि ताम्रलिप्ति नगर में एक ग्रामीण के वेश में पहुँचना ही उचित होगा। इसी क्रम में उनका सोच अग्रसर होता रहा और वे अन्तर्लीन-से बड़ी देर तक अचंचल अवस्था में बैठे रह गये। उनके अपलक नयन शून्य को ताकते रहे।

संध्या-समय वड़ा सुहाना हो गया था। नील गगन में छितराए श्वेत मेघ-खण्ड सिन्दूरी हो गये और मोतियों की माला-सी एक वंग पंक्ति उत्तर दिशा को शोभित करने लगी। नीड़ों की ओर लौटते पंछी सवाक् हो उठे थे और शीतल—मंद पवन वातायन से आकर महाराज की अलकावली से क्रीड़ा करने लगी। भाल पर झूल आई लटों को उन्होने पीछे की ओर किया और दोनों करतलों से कनपटियों को सहलाते हुए सहज होने का प्रयत्न करने लगे। एक झटके के साथ वे उठ खड़े हुए। वातायन के वाहर वे दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाने लगे। कुछ ही क्षणों में वे जैसे उकता उठे और कक्ष के वाहर निकल आये।

जव महाराज राजरानी कमलावती के कक्ष में पहुँचे तो रानी कलावती भी और रानी देवदमनी भी वहीं वैठी थीं। तीनों मन्द—मधुर हास के साथ धीमे स्वरों

में परस्पर सुखद-संलाप में निरत थीं। कक्ष में ऐसा धुँधलका छाया था कि जैसे चम्पई अँधेरा उतर आया हो, अथवा प्रकाश सुरमयी हो उठा हो। अगरू धूम्र से कक्ष सुवासित हो उठा था। महाराज के कक्ष में आगमन का आभास ही उन्हें नहीं हो पाया। वे अपने सरस वार्त्ता-प्रसंग में ही खोयी हुई थीं। महाराज के कोमल स्नेहपूर्ण वचनों से वे चौंककर उठ खड़ी हुईं—"अरे ! इतनी दत्तचित्तता के साथ क्या विचार-विमर्श चल रहा है, प्रियाओ ! कहीं हमारे पराभव की कोई योजना तो नहीं बन रही है। अर्थात्....।"

"वाह, प्राणेश्वर !..... वाह !!.... आप भी विनोद खूब कर लेते हैं। भला हम.... और आपके पराभव का षड्यंत्र रचेंगी ! ऐं.... !!" राजरानी कमलावती ने मन्द मुस्कान के साथ कहा और आसन की ओर संकेत किया।

आसीन होकर महाराज ने भी कलावती रानी की ओर दृष्टि केन्द्रित करते हुए कहा—"विश्वास तो नहीं होता कि षड्यंत्र.... किन्तु व्यक्ति के अपने स्वार्थ भी तो होते ही हैं। प्रत्येक प्रियतमा की कामना रहती है कि उसका प्रियतम उससे दूर न जाय। यह भी एक स्वार्थ है और इसकी पूर्ति के लिए वह किसी भी कृत्य को अकरणीय नहीं मानती।" महाराज सिर झुकाकर अपने समक्ष रखी त्रिपदी को घूरने लगे, अपनी उँगलियों से उसे ठकठकाने लगे।

"इसका अर्थ यह तो नहीं हुआ, स्वामी ! कि फिर कोई नया अभियान आरंभ होने वाला है ? आप किसी साहसिक प्रवास पर तो जाने वाले नहीं हैं ?"—अपनी समझ के अनुसार अभिप्राय समझते हुए रानी कलावती ने जिज्ञासा के साथ प्रश्न किया।

"इसका उत्तर तो हमें 'हाँ' में ही देना होगा, प्रिये ! वैसे देवदमनी रानी ने इस अभियान की भूमिका निर्मित की है, किन्तु इसके मूल में छिपी तो हमारी महत्त्वाकांक्षा है। हम पंचदण्डछत्रधारी सम्राट् बनना चाहते हैं न....।"

महाराज ने जब उत्तर दिया तो कुछ चिन्तनलीन-सी मुद्रा में राजरानी कमलावती ने धीमे स्वर में प्रश्न किया—"स्वामी ! आप अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए ऐसे जोखिम क्यों लेते हैं ? इस छत्र की प्राप्ति साधारण कार्य तो नहीं है। प्राणों का संकट मोल लेना....।"

राजरानी के कथन-मध्य ही नरेश ने आरंभ किया—"प्रिये ! आप हमारे लिए ऐसा कहे—आश्चर्य की बात है। महत्त्वाकांक्षा ही उत्थान का आधार होती है। महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में जोखिम आएँ, यह तो स्वाभाविक है, किन्तु हर जोखिम साहस के समक्ष पराजित हो जाता है। साहस कठिनतर सफलताओं को भी सुगम बना देता है।"

"सत्य है, महाराज ! सर्वथा सत्य।" रानी कलावती ने अपनी धारणा व्यक्त की—"आप तो साहस की साक्षात् प्रतिमूर्ति ही हैं। अतः हम आश्वस्त हैं कि सफलता स्वयं चलकर आपकी सेवा में उपस्थित होगी। फिर भी....।"

– "हमारी प्रेयसी क्या कहना चाहती हैं····? आप रुक क्यों गयीं?"

– "हम जानना यह चाहती हैं कि इस पंचदण्डछत्र की प्राप्ति के लिए हमारे प्राणनाथ को करना क्या होगा?" रानी कलावती की मुख-मुद्रा में जिज्ञासा झलक आयी।

"आप सभी की यह जानने की उत्सुकता भी अस्वाभाविक नहीं है।"–महाराज वीर विक्रम ने शान्तिपूर्वक कहा–"पंचदण्डछत्र से किसी शासक की प्रतिष्ठा और गौरव में कैसी वृद्धि होती है–यह हमें रानी देवदमनी से ज्ञात हुआ। ये ही प्रेरक रही हैं हमारे लिए। इनकी माता नागदमनी से हमें छत्र प्राप्त करने का मार्गदर्शन मिल रहा है। आरंभिक कार्य देवदमनी के साथ चौसर-क्रीड़ा में विजयी होना और तदनन्तर इनके साथ परिणय का था, जो सानन्द सम्पन्न हो चुका है। अब तो हमें नागदमनी जी के पाँच आदेश पूर्ण करने हैं। एक आदेश की पूर्ति पर ही अगले आदेश के विषय में ज्ञात हो सकेगा।"

"ऐसा प्रतीत होता है, महाराज ! कि बहन नागदमनी का आपके जीवन में प्रवेश एक नवीन उत्कर्ष का जनक बनने वाला है। इस दृष्टि से बहन का हम विशेष रूप से स्वागत करती हैं···· किन्तु प्रथम आदेश क्या है?"

अपने विषय में राजरानी कमलावती की शुभ वार्त्ता से तुष्ट होकर, देवदमनी नतशिर हो, कुछ मुस्करा उठीं और तब कोमल वाणी में कथन किया–"दीदी ! आपके विचार जानकर हमें प्रसन्नता हुई। मॉ ने स्वामी को ताम्रलिप्ति नगर जाकर वह रत्न-मंजूषा ले आने का आदेश दिया है जो वहॉ की राजकुमारी लक्ष्मीवती के पास है।"

"सुना है ताम्रलिप्ति नगर तो बड़ा सुन्दर और वैभवपूर्ण नगर है, किन्तु यहॉ से दूर···· बहुत दूर है।"

रानी कलावती के कथन को आगे बढ़ाते हुए देवदमनी ने कहा–"हॉ···· दूर भी है और राजकुमारी राजभवन के सातवें खण्ड में निवास करती है। बड़ा कठिन कार्य है। बड़ी ही कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था रहती है····। राजकुमारी के पास मूल्यवान रत्न जो हैं।"

"वो तो ठीक है, प्राणनाथ ! किन्तु हमारे पास तो अतुलित वैभव है। उन रत्नों के लिए आप क्यों प्राणों की वाजी लगाऍगे?" राजरानी ने सीधा-सपाट प्रश्न कर दिया।

"वे रत्न साधारण नहीं हैं, राजरानी !····· साधारण नहीं हैं····।" महाराज ने उत्तर दिया–"वे रत्न पंचदण्डछत्र के लिए अपेक्षित हैं। हमें उन्हें प्राप्त करना ही होगा।"

– "किन्तु कैसे, प्राणनाथ !··· कैसे?··· कितनी तो कठिन परिस्थितियॉ हैं।"

– "कठिनाइयो की कोई चिन्ता नहीं। लगन पक्की हो तो मार्ग के शूल भी फूल वन जाते हैं, देवी !"

इसी समय कमलावती रानी उठीं और अपनी सुन्दर-सी मंजूषा से एक ताबीज ले आयीं। ताबीज महाराज की सीधी कलाई में बाँधते हुए उन्होंने कहा–"यह अद्भुत चमत्कारी ताबीज है, प्राणेश्वर ! इस पर आपकी दृष्टि पड़ते रहने से आपकी शक्ति व स्फूर्ति में वृद्धि होगी। कठिन स्थिति आने पर इस ताबीज की डिबिया खोलकर उसमें लिखे मंत्र का पाठ कर लीजिये ....। किन्तु इस अभियान पर प्रस्थान कब करना होगा ?"

"कल। ब्रह्म-मुहूर्त में।" संक्षिप्त-सा उत्तर देते हुए महाराज उठ खड़े हुए–"आप सभी की मंगल कामनाएँ हमारे साथ रहेंगी।" समवेत स्वर में रानियों ने महाराज का जय-जयकार किया।

महामात्य भट्टमात्र को महाराज ने जब अपने आगामी अभियान से अवगत कराया तो वे भी आश्चर्यचकित रह गये। इतना शीघ्र ही नरेश प्रयाण करने वाले हैं, यह उन्हें पूर्व से ज्ञात नहीं था। महाबलाधिकृत ने निवेदन किया कि वे स्वयं सेना के साथ उनके संग जायेंगे। महाराज ने वर्जना करते हुए कहा–"इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस अभियान पर हम एकाकी ही जायेंगे। ताम्रलिप्ति पर आक्रमण करना, उसे अपने अधीन कर लेना–ऐसा कोई भी प्रयोजन नहीं, फिर सैन्य-बल का क्या प्रश्न है !"

सब-कुछ अनिश्चित था कि क्या और कैसे होगा ? निश्चित था मात्र इतना कि महाराज वीर विक्रम ताम्रलिप्ति के लिए आगामी भोर में ही प्रस्थान करेंगे। महाराज नित्य नियमानुसार राजकाज देखते रहे। अत्यन्त सहज और सामान्य रूप में उन्होंने दिन व्यतीत किया। कोई तनाव, कोई व्यग्रता नहीं। शयन के पूर्व उन्होंने अपने मित्र अग्निवेताल का स्मरण किया।

× × ×

मित्र अग्निवेताल ने महाराज वीर विक्रम को रात्रि के पिछले प्रहर में ही एक निर्जन वन-खण्ड में पहुँचा दिया। मित्र ने उन्हें बता दिया कि समीप ही एक सरोवर है। सरोवर से तनिक ही दूरी पर ताम्रलिप्ति नगर है। यह कहकर वह नमन करते हुए अदृश्य हो गया। महाराज एकाकी रह गये। सोचने लगे हमें अकेले दम ही इस छत्र-प्राप्ति का उद्यम करना है, फिर सोच किस बात का। ऊँची सफलता के मार्ग का पथिक एकाकी ही होता है। मानसिक शक्तियाँ और दृढ़ आत्म-विश्वास ही उसके सह-पथिक होते हैं। अभी सूर्योदय में काफी समय शेष अनुभव कर महाराज ने कुछ विश्राम कर लेना उपयुक्त समझा। एक स्वच्छ स्थल पर उन्होंने चादर बिछायी और अपने झोले पर सिर लगाकर सो गये।

जब महाराज की आँख खुली तो सूर्योदय हो चुका था। वे उठ बैठे और अपने करतलों से पलकों को सहलाते हुए अपनी केश-राशि को व्यवस्थित करने का प्रयत्न

करने लगे। अँगड़ाई लेकर वे खड़े हुए। अपना चादर भीतर डालकर झोला कंधे पर लटकाया और सोचने लगे कि किस दिशा में जाना होगा। इसी समय शीतल पवन का झोंका आया और महाराज के मन में उठने वाले प्रश्न का उत्तर दे गया। उन्हें आभास हो गया कि सरोवर उसी दिशा में होगा, जिधर से यह झोंका आया है। वे उसी ओर अग्रसर हो गये। सरोवर उनका तात्कालिक लक्ष्य बन गया था। चलते-चलते वे उसकी खोज में चारों ओर दृष्टि घुमाते जा रहे थे। तभी कुछ दूर चलकर उन्हें हवा में आर्द्रता और शीतलता अनुभव होने लगी। उन्हें विश्वास हो गया कि वे उपयुक्त दिशा में ही चल रहे हैं और सरोवर भी अब अधिक दूर न होगा। कुछ ही दूरी तक और चले होंगे कि उन्हें जलाशय की झलक दिखायी दे गयी। अनायास ही उनके मन में उत्फुल्लता जाग्रत हो गयी। उनकी गति में भी अनायास ही तीव्रता आ गयी। उस सुरम्य वन में यह सरोवर महाराज को ऐसा प्रतीत हुआ मानो हरितवस्त्रधारिणी कन्या आरसी लेकर उदीयमान भास्कर की सेवा में खड़ी हो। सरोवर की लहरें रवि-रश्मियों से दमक उठी थीं। सरोवर के तट पर पहुँचकर उसके मनोमुग्धकारी सौन्दर्य से वे अभिभूत हो उठे। आहा ···· हा ! ···· कितना सुन्दर है ! ···· कितना स्वच्छ है !!

महाराज कुछ क्षणों तक आत्म-लीन-से स्थिर खड़े रह गये। जब कुछ सहज होने लगे तो उनकी दृष्टि क्रमशः उठती हुई आकाश की ओर उठने लगी और बीच में ही अटक गयी। "अरे ···· वाह ! तो यह है ताम्रलिप्ति नगर।"—अनायास ही उनके मुख से निकल गया। दूर ···· कुछ ही दूर उन्हें नगर की उच्च्य अट्टालिकाएँ दिखायी दे गयीं। ऐसा सुन्दर ···· इतना भव्य है यह नगर ····। वे सोचने लगे यह तो ऐतिहासिक नगर है। कथा–कहानियों में भी इसका संदर्भ आता है। स्वच्छता इस नगर की परम विशेषता है। ···· पर ··· पर यह जन-समूह ···· सरोवर के उस पार इतने जन क्यों एकत्र है। कुछ जन सरोवर से जल भरकर ले जा रहे हैं। उस पार कुछ तम्बू भी उन्हें दिखायी दिये। महाराज की जिज्ञासा वढ़ती चली गयी। शौचादि से निवृत्त होकर वे उस पार पहुँचने के लिए किनारे-किनारे चलते हुए आगे बढ़े। सरोवर विशाल था, तट की लम्बाई भी अधिक थी। वे द्रुत गति से वढ़ते चले गये। अन्ततः वे सरोवर के उस पार पहुँच ही गये। उन्होंने देखा कि अनेक लोग भोजन पकाने के कार्यों में लगे हुए थे।

महाराज विक्रम एक सम्पन्न नागरिक के वेश में थे। उन्हें इस विशाल आयोजन पर वड़ा आश्चर्य हो रहा था। चारों ओर चहल-पहल थी। स्थान-स्थान पर पाक-कार्य चल रहा था। उसी समय एक वृद्ध फल-विक्रेता उनके समक्ष आकर खड़ा हो गया। महाराज ने उससे कुछ फल क्रय किये और एक रौप्य मुद्रा उसे थमा दी। "किन्तु ···· श्रीमान् ! मुझे तो पाँच कंदर्पिकाएँ ही चाहिये ···।"

वृद्ध के इस कथन के उत्तर में महाराज ने प्रसन्नता के साथ मुस्कराते हुए

कहा–"रखो.... बाबा.... यह मुद्रा रख लो। तुम्हारे काम आयेगी। इसे मेरी ओर से अपनी वृद्धावस्था की सेवा ही मान लेना।"

वृद्ध चमत्कृत हो गया.... अरे ! ऐसे सज्जन भी होते हैं ! उसने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक तक उठा लिये–"धन्य हो, श्रीमान् ! धन्य हो !! आपकी कामनाएँ पूर्ण हों !"

"परन्तु बाबा ! यह सब क्या हो रहा है? आज क्या वन-भोज का आयोजन है?"–महाराज ने उत्सुकतापूर्वक पूछा।

– "यदि इसे आप वन-भोज मानें, श्रीमान् ! तो ताम्रलिप्ति नगर में प्रतिदिन ही वन-भोज होता है...... आप अवश्य कोई परदेसी ज्ञात होते हैं..... इस कारण....।"

– "हाँ, बाबा ! तुमने ठीक ही सोचा है.... मैं एक परदेसी हूँ।"

– "कहाँ के निवासी हैं, श्रीमान् ! यहाँ आपके आगमन का....।"

– "प्रयोजन तो साधारण है, बाबा ! मैं देश-देश की यात्रा पर निकला हूँ.... अवन्ती का निवासी हूँ।"

– "ओहो ! मालव-देश से पधारे हैं ! आपके दर्शन से ही धन्य हो गया मैं, श्रीमान् जी ! पावन शिप्राजी के तट पर बसी, राजाधिराज विक्रमादित्य महाराज की अवन्ती से पधारे हैं, आप !"–वृद्ध ने हाथ जोड़कर नमनपूर्वक अवन्ती और अवन्ती-नरेश के प्रति अपनी मौन श्रद्धा व्यक्त की।

वे रोमांचित हो उठे। अपनी सहजता को सायास बनाये रखते हुए महाराज ने पूछा–"फिर इस भोज के आयोजन का रहस्य क्या है?"

उन्हें वृद्ध फल-विक्रेता से ज्ञात हुआ–"ताम्रलिप्ति की यह प्राचीन परम्परा रही है। नगर में किसी भी गृह में पाकशाला नहीं होती, चूल्हा जलता ही नहीं। यह निर्धूम्र नगर है। अग्नि से धुआँ और धुएँ से मलिनता की आशंका जो रहती है। यही नगर की स्वच्छता का रहस्य है और इसी कारण नगरवासी अपना भोजन सरोवर-तट पर पकाते हैं। सामान्यतः सभी लोग भोजन भी यहीं करते हैं। राज-परिवार का भोजन भी इसी स्थल पर पकाया जाता है और राजभवन भेज दिया जाता है।"

महाराज को इस विचित्र परम्परा पर और उससे भी अधिक उसके निर्वाह किये जाने की दृढ़ता पर महान् आश्चर्य हुआ। जो नगर के अतिथि होते हैं, यात्री या पथिक होते हैं वे भी यहीं भोजन ग्रहण करते हैं। ऐसे अतिथियों के लिए भोजनशालाएँ हैं जहाँ दाम चुकाकर वे भोजन प्राप्त कर सकते हैं और राजा की ओर से कुछ भोजनशालाएँ ऐसी भी संचालित की जा रही हैं जहाँ प्रेमपूर्वक पथिकों को निःशुल्क रूप में भोजन कराया जाता है। महाराज की इस जिज्ञासा की

भी तुष्टि हो गयी कि पथिक यदि नगर में कुछ दिन रुकना चाहें तो ठहरने की क्या व्यवस्था है। उन्हें वृद्ध से ही यह भी ज्ञात हो गया कि नगर के बाहर ही एक उपवन है जहाँ पथिकों के विश्राम के लिए कुटीर बनी हुई हैं। उपवन का रक्षक पथिकों की सेवा करता है। बड़ी सुन्दर व्यवस्था है।

वृद्ध फल-विक्रेता से विदा होकर वणिक् वेशधारी महाराज उस जन-संकुल सरोवर-तट पर विचरण करने लगे। कहीं पक्की शालाएँ निर्मित थीं तो कहीं छप्परों तले और कहीं वृक्षों की छाँह में पकवान बन रहे थे। कुछ भोजनशालाएँ भी उन्हें दिखायी दीं। एक भोजनशाला में उन्होंने प्रवेश किया। मुख्य सेवक ने झुककर मुस्कराते हुए प्रणाम किया—"पधारिये, अतिथिदेव !.... पधारिये।" महाराज भी अभिवादन का उत्तर देते हुए तनिक मुस्करा दिये। अत्यन्त स्वच्छ भोजनशाला थी। पंक्तिबद्ध पाट बिछे हुए थे। प्रत्येक पाट के समक्ष कुछ ऊँचा पाट स्थापित था। अनेक जन पंक्ति में आसीन भोजन कर रहे थे। सेवकगण दौड़-दौड़कर परोस रहे थे। किसी की कोई आवश्यकता या इच्छा अपूर्ण न रह जाय—उन्हें चिन्ता इसी बात की थी। भोजन की सुगंध ने महाराज को भी अधीर कर दिया। मुख्य सेवक ने विनयपूर्वक परिचय जानना चाहा। महाराज ने 'शाह विक्रमसी—मालव' के रूप में अपना परिचय दिया। 'मालव' सुनकर उसने शाह जी की स्वागत भाव के साथ आवभगत की। प्रसन्नता उसकी मुख-मुद्रा में बिखर गयी। उसने शाह विक्रमसी के हस्त-पाद प्रक्षालित करवाये और आदरपूर्वक एक रिक्त आसन पर बिठाया। सेवकों ने स्नेहपूर्वक भोजन परसा। ताम्रलिप्ति के इस जन-व्यवहार में वहाँ की संस्कृति के सौष्ठव की झलक उन्हें मिलने लगी थी। मुख्य सेवक ने स्वयं दो-तीन बार आकर विभिन्न व्यंजनों के लिए आग्रह किया और अपनी मधुर मुस्कान के साथ विक्रमसी की 'ना-ना' को नकारता रहा। इस स्नेह और सौहार्द्र को पाकर वे तो बहुत प्रभावित हुए। एक अपरिचित के लिए भी इतना स्नेह और वह भी एक व्यवसायी के मन में। विक्रमसी सोचते ही रह गये। भोजनोपरान्त वे पंथशाला के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले उपवन की ओर चले।

उपवन बड़ा सुरम्य था। हरा-भरा, फल-फूलों से लदा, पक्षियों के कलरव से गूँजता, भ्रमरों की गुँजार और तितलियों की थिरकन—योगरूप में वड़ा ही मनोमुग्धकारी। उपवन के मध्य एक विशाल जल-कुण्ड जिसमें अरुण कमलों के समूह खिले हुए। मंद-मंद, शीतल पवन ने आकर विक्रमसी को रोमांचित कर दिया। उन्हें ताम्रलिप्ति की जनता की सौन्दर्यप्रियता का आभास होने लगा। मंथर गति से चलते, वे उद्यान-मध्य एक साधारण कुटिया के समक्ष पहुँच गये। दूर-दूर तक फैली छटा को निहारते हुए उनके नयन अर्द्ध-निमीलित और चित्त पूर्णतः मगन हो गया। उसी समय किसी मानव-स्वर से उनका ध्यान भंग हो गया। देखा—एक प्रौढ़ हाथ जोड़े खड़ा था।

- "अतिथिदेव !" मैंने पूछा—"आपका नाम क्या है? कहाँ से पधारे हैं? और····।"
- "भाई, परदेसी हूँ ! नाम है—शाह विक्रमसी। मालव की राजधानी अवन्ती से आया हूँ।"
- "स्पष्ट है, श्रीमान् ! आप परदेसी तो लग ही रहे हैं, किन्तु आप अवन्ती से आये हैं, यह जानकर तो बड़ी प्रसन्नता हुई। क्या मैं जान सकता हूँ कि ताम्रलिप्ति में किस प्रयोजन से आगमन हुआ है?"
- "मन में इच्छा हुई कि तनिक अन्य देशों की भी यात्रा करूँ और हम अवन्ती से निकल पड़े।···· किन्तु, भाई ! आपने अपना परिचय तो दिया ही नहीं !"
- "श्रीमान् जी ! क्या तो मैं···· और क्या मेरा परिचय ! इस उपवन का एक साधारण-सा रक्षक हूँ। नगर के अतिथियों की सेवा करता हूँ। उनके आवास को सुखद और सुविधाजनक बनाने का प्रयास करता हूँ, श्रेष्ठी जी ! यही मेरा कर्त्तव्य है और यही मेरी आजीविका का साधन है।"
- "बड़ा पुण्य कर्म है तुम्हारा, भाई ! किसी-किसी को ही ऐसा सेवामय रोजगार प्राप्त होता है। क्या हमें भी यहाँ स्थान मिल सकेगा?"
- "अवश्य···· अवश्य ही मिलेगा, श्रीमान् जी ! ···· मिलेगा क्यों नहीं ! कितने समय का प्रवास यहाँ रहेगा?"
- "कोई दो-तीन दिन समझो। फिर तो हम आगामी गंतव्य के लिए चल पड़ेंगे।"
- "उत्तम है···· श्रीमान् जी ! जितने दिन चाहें, आप यहाँ रह सकते हैं। मात्र पाँच कन्दर्पिकाएँ प्रतिदिन की दर से आपको चुकाना होगा। आइये, मैं आपको आपकी विश्राम-कुटीर बता देता हूँ।"

यह कहते हुए रक्षक घूम गया और धीमे-धीमे आगे बढ़ गया। शाह विक्रमसी ने उसका अनुसरण किया। कुटीर पंक्तियाँ दायें-बायें—दोनों ओर थीं। अन्त में एक कुटीर खोलकर रक्षक शाह जी को भीतर ले गया। वास्तव में बड़ा सुन्दर, स्वच्छ और शान्त विश्राम-स्थल था। ऊपर से कुटीर, किन्तु भीतर से पूर्णतः सुखद और सादगी के साथ सज्जित कक्ष····। स्वच्छ शय्या वातायन के समीप स्थित थी। आकर्षक प्राकृतिक दृश्यों के सुरुचिपूर्ण चित्र भित्तियों की शोभा बढ़ा रहे थे। एक सुन्दर-सा आसन भी था और उसके समक्ष एक त्रिपदी रखी थी, जिस पर एक पुष्प-गुच्छ सजा था। बस, और कुछ अधिक नहीं। विक्रमसी आसन पर बैठ गये और संतोष की साँस ली। उपवन-रक्षक उनके चरणों के समीप ही बैठ गया।

विक्रमसी ने बात आरंभ की—"भाई मेरे ! तुम्हारी कुटीर तो बड़ी सुन्दर है। और कौन हैं तुम्हारे परिवार में?"

"शाह जी ! कुल सात प्राणी हैं हम। तीन बच्चे हैं, उनकी माँ और मेरे बूढ़े माँ-बाप। अब आपसे क्या छिपाना, माई-बाप ! अतिथियों की सेवा कर जो कुछ पाता हूँ, उसी से सबका भरण-पोषण करता हूँ।" प्रौढ़ रक्षक मुँह उठाकर आशा-भरी दृष्टि से विक्रमसी का मुख जोहने लगा।

विक्रमसी को लगा—इसे अपना सहयोगी बनाया जा सकता है। सहानुभूतिपूर्ण स्वर में बोले—"हम तुम्हारी कठिनाई को समझ सकते हैं, भाई ! अच्छी तरह समझ सकते हैं····। बड़े भाग्यवान हो तुम कि माता-पिता की सेवा का तुम्हें अवसर मिला। माता-पिता के चरणों में स्वर्ग, उनकी आशिष में सुखमय भविष्य और उनकी सेवा में ही जीवन की सफलता निहित रहती है। लो भाई, लो···· इसे रख लो। विक्रमसी वेशधारी महाराज वीर विक्रम ने अपने झोले में हाथ डाला और एक स्वर्ण-मुद्रा उसकी ओर बढ़ा दी।

स्वर्ण-मुद्रा देखकर उपवन-रक्षक तो हक्का-बक्का ही रह गया—"श्रीमान् जी ! मुझे तो मात्र पाँच कंदर्पिकाएँ ही चाहिए। इतना धन···· इतना धन भला किसलिए ···· मैं···· मैं न रख सकूँगा।" वह बेचारा घबरा गया।

"अरे, रख लो इसे···· तुम्हारे काम ही आयेगा। मेरी ओर से भेंट समझ लो। विचलित क्यों हो रहे हो?"—महाराज ने स्नेहपूर्वक उसका हाथ पकड़ा और हथेली पर मुद्रा रख दी।

"धन्य हो, प्रभो ! आप कितने दयालु हैं।" रक्षक कभी हथेली पर रखी स्वर्ण-मुद्रा को तो कभी शाह विक्रमसी की ओर निहारने लगा। उसके चित्त में हर्ष और मन में संतोष भर गया। स्वर्ण की आभा ने उसके नयनों में स्वप्न अंकुरित कर दिये।

महाराज ने आवश्यक समझा कि दीनता और कृतज्ञता जन्य हीनता का भाव रक्षक के मन से तिरोहित हो जाय। वह दान और सहायता ही क्या हुई, जिससे पाने वाले के मन में छोटेपन की भावना उत्पन्न हो, वह दाता को इतना महान् समझने लगे कि उसके समक्ष स्वयं को तुच्छ और क्षुद्र मानने लगे। महाराज ने इस दृष्टि से बात पलटी। नये प्रसंग पर चर्चा करने के प्रयोजन से उन्होंने अनायास ही पूछ लिया—"इस समय उपवन में कितने अतिथि होंगे?"

"वैसे तो उपवन की कुटीरें प्रायः भरी रहती हैं, श्रेष्ठीवर ! किन्तु इस समय तो एक आप हैं और एक आपके सामने की कुटीर में कोई सम्पन्न यात्री है। दो-एक अतिथि दूर-दूर की कुटीर में और हैं। बस, इतने ही···· हाँ, सामने वाले अतिथि भी कोई कुलीन ज्ञात होते हैं। उनका एक दास भी साथ है। एक बड़ा ही तीव्रगामी ऊँट भी है उनके पास।" उपवन-रक्षक ने अपनी समझ से सारा विवरण दे दिया।

"अच्छा !" एक औपचारिक प्रसन्नता व्यक्त करते हुए विक्रमसी ने कहा– "तब तो कभी अवसर मिला तो हम भी भेंट करेंगे उनसे।"

रक्षक हाथ जोड़कर नमस्कार कर विदा होने लगा। शाह विक्रमसी ने उसे रोककर कहा–"भाई ! एक कष्ट और करना होगा तुम्हें। हम भोजन यहीं करेंगे। तुम इसकी व्यवस्था कर दो।"

"जी···· जी। हो जायेगी जी···· भोजन यहीं मिल जाया करेगा, श्रीमान् ! आप निश्चिन्त रहें। मैं अपने यहाँ बनवाकर ले आऊँगा।"

विक्रमसी ने संतोष व्यक्त करते हुए कहा–"यह उत्तम रहेगा। प्रवासी को घर-जैसा भोजन सौभाग्य से ही सुलभ होता है। हम तुम्हारे कृतज्ञ रहेंगे इस सहायता के लिए।"

"यह आप क्या कह रहे हैं, श्रीमान् जी ! ···· मुझे तो यह सेवा करके प्रसन्नता ही होगी।" दीनता-भरे स्वर में उसने कहा और अनुमति चाहने लगा। विक्रमसी का संकेत पाकर वह चला गया। अपनी कुटिया की ओर बढ़ता रक्षक जैसे चल नहीं रहा था, हरिण की भाँति कुलाँचें भर रहा था। स्वर्ण की प्राप्ति और वह भी अप्रत्याशित हो तो ऐसा ही उल्लास उसका परिणाम होता है। विक्रमसी भी अपने कक्ष में कुछ समय तो मौन, अपने आसन पर बैठे रहे, किन्तु तब उठकर वे शय्या पर लेट गये। तन विश्राम की स्थिति में होता है तो मन अधिक सक्रिय हो उठता है। महाराज वीर विक्रम भी उस परम शान्त वातावरण में चिन्तनलीन हो गये। सोचने लगे–'किसी को अपने अनुकूल और अधीन बनाने में लौह-शृंखलाओं की अपेक्षा स्वर्ण अधिक सफल रहता है। उसके अदृश्य बन्धनों की पकड़ मन तक जो होती है। इस शस्त्र का वार अचूक होता है। हमें इसका सहारा लेना होगा। रत्नपेटिका-प्राप्ति के लिए हमें क्या···· क्या करना होगा। सर्वप्रथम तो हमें राजभवन की अवस्थिति, वहाँ की सुरक्षा-व्यवस्था और राजकन्या के कक्षादि का ज्ञान करना होगा।' इसी विषय में अनेकानेक विचार उनके मानस में आते-जाते रहे। इसी क्रम में उनकी पलक लग गयी और वे मीठी नींद में खो गये।

संध्या-समय में ही भोजन से निवृत्त होकर विक्रमसी उपवन में विचरण करने लगे। अपनी कुटीर के समक्ष वे खड़े थे कि सामने वाली कुटीर-पंक्ति की ओर उनकी दृष्टि गयी। एक वृक्ष-तले ऊँट भी दिखायी दिया। वे उसी ओर अग्रसर हो गये। समीप पहुँचकर देखा कि ऊँट बड़ा ही स्वस्थ और सबल है। अवश्य ही इसका स्वामी किसी देश के शासक से सम्बन्धित होगा; कोई सामन्त हो···· कोई उच्च राजसेवक हो···· अथवा····। साधारण स्थिति का वह हो नहीं सकता है। कुछ समय तक वे उपवन में मंथर-मंथर टहलते रहे और अँधियारा उतरने लगा तो वे भी अपनी कुटीर में आ गये। कुछ ही समय में उपवन-रक्षक जल कलश ले आया और कोने में पहले से रखा कलश हटाकर नया कलश

दिया–"और कोई सेवा, श्रीमान् जी ! मैं बड़ी रात तक अपनी कुटिया के बाहर रहता हूँ, उपवन में भ्रमण करता रहता हूँ। कोई आवश्यकता हो तो आप मुझे पुकार लें। उपस्थित हो जाऊँगा।"

"ठीक है, भैया ! वैसे हमें ऐसी कोई आवश्यकता रहती नहीं है। कल हम नगर-भ्रमण पर जाना चाहेंगे। क्या कोई साधन हो सकेगा ?" विक्रमसी ने हौले-से पूछ लिया।

"हो जायेगा, श्रीमान् जी ! कुछ-न-कुछ व्यवस्था कर दूँगा जी।" उपवन-रक्षक ने तत्परता के साथ उत्तर दिया। विक्रमसी भी कुछ आश्वस्त, कुछ निश्चिन्त हुए। उनके मानस में योजनाएँ उदित और विकसित होती रहीं। मनुष्य का मन-दर्पण कभी भी भाव-छवि से शून्य नहीं रहता। विचारों का रेला ही मन में प्रवाहित होता रहता है। महाराज वीर विक्रम भी आप-आपसे कहते और आप-अपनी ही सुनते जा रहे थे। दीर्घ मनोमंथन के अनन्तर भी अपनी कार्य्र-सिद्धि के लिए कोई सुनिश्चित कार्य-प्रणाली स्थिर नहीं हो पा रही थी। भोर की सुहानी वेला में प्रकृति-प्रिय महाराज का मन पुनः-पुनः अपनी समस्या की गुत्थियों में उलझ जाता था। कुछ ही समय व्यतीत हुआ होगा कि उपवन-रक्षक ने उपस्थित होकर निवेदन किया कि उनके नगर-भ्रमण के साधन की व्यवस्था हो जायेगी। सामने वाली कुटीर के सम्पन्न अतिथि के सेवक का साथ हो सकेगा। ऊँट पर सवार होकर वह कुछ समय बाद ही नगर को जाने वाला है। विक्रमसी ने भी इसे उपयुक्त माना।

सेवक गोधन के साथ ऊँट पर आरूढ़ होकर विक्रमसी जब नगर की ओर चले तो शाह जी को लगा कि ताम्रलिप्ति नगर बहुत समीप भी नहीं है। मार्ग में उन्होंने वार्त्तालाप आरंभ किया।

"भाई, गोधन ! तुम तो बड़े भले मानस हो। एक अपरिचित की भी तुमने बड़ी सहृदयता के साथ सहायता की। हमारे लिए तो ताम्रलिप्ति नगर एक सर्वथा नया स्थान है।" विक्रमसी ने औपचारिकता-भरे स्वर में बड़ी मृदुलता के साथ कहा।

विनयशीलता के उत्तर में दोहरी होकर विनय ही लौटती है और दुर्विनीत व्यवहार की प्रतिक्रिया दुष्टता में व्यक्त होती है–यह एक शाश्वत तथ्य है। गोधन ने उत्तर में कहा–"श्रेष्ठीवर ! यह तो मेरे सौभाग्य का ही विषय है कि आपकी सेवा का मुझे अवसर मिला। मेरे स्वामी को मुखवास के लिए ताम्बूल-सेवन की आदत है। नगर में तो मुझे आना ही था। आपको भी ....।"

"अच्छा ! .... अच्छा !! ऐसा है क्या ? तनिक परिचय तो दो .... कौन हैं तुम्हारे स्वामी ? कहाँ के हैं ?"–विक्रमसी ने जिज्ञासा प्रकट की और तब तनिक खेदयुक्त स्वर में कहा–"हम भी कैसे हैं ! हाँ ....! पहले हमें हमारा परिचय तो

देना ही था न····! तो भाई ! हम तो अवन्ती के एक व्यवसायी हैं। धन कमाते-कमाते उकता गये तो देशाटन को निकल पड़े। हम धन को बढ़ाने मात्र में रस नहीं लेते, भैया ! आनन्द के लिए उसका सदुपयोग भी करना चाहते हैं। बाकी–धन तो आती-जाती माया है। इसके रहते, जितना सुख मिल सके, जितना परहित सध सके–उतना ही अच्छा है न····। हॉ···· अब तुम अपने विषय में, अपने स्वामी के विषय में बताओ।"

"बताऊँगा, शाह जी ! आपसे क्या छिपाना, सब-कुछ बताऊँगा।" सेवक गोधन ने कहा–"राजा–राजकुमारों के संग रहता हूँ तो मुझे भी कुछ पहचान हो गयी है। आपके मुख-मण्डल का तेज तो ऐसा है कि जैसा किसी राजा का हुआ करता है। क्या···· आप····।"

"नहीं भैया गोधन ! भला हम क्या राजा होंगे ! हाँ, इतना अवश्य है कि हमारे पूर्वज कभी नगर-श्रेष्ठी थे। राज-परिवार से महारा घनिष्ठ संबंध तब भी था, अब भी है।"–विक्रमसी ने धैर्य के साथ उत्तर दिया–"उस सम्पर्क का कुछ प्रभाव तो रहता ही है न। कदाचित् इसी कारण तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु तुम्हारा संग किस राज-परिवार से है? तुम्हारा शिष्टाचार तो इसकी झलक देता अवश्य है।"

ऊँट की चाल में एक-सी तीव्रता बनी हुई थी। सामने से आते एक छकड़े को मार्ग देते हुए गोधन ने अपने ऊँट को आगे बढ़ाया और तब निश्चिन्त होकर शान्ति के साथ बोला–"मैं साधारण-सा दास हूँ अपने युवराज का····।"

"युवराज के !···· अर्थात् तुम किसी राजवंश की सेवा में हो !! बड़े सौभाग्यशाली हो, भैया ! ···· बड़े भाग्यवान हो। कहॉ का राजवंश है?" महाराज ने अपनी आश्चर्य-भावना का संवरण करते हुए पूछा।

"अब आप भी परदेसी हैं, शाह जी ! ···· आपसे क्या छिपाऊँ? आप आज यहॉ हैं; कल आगे बढ़ जायेंगे। आपको बताने में कोई हानि नहीं है। मेरे स्वामी चक्रपुर के युवराज हैं और मैं उनका सेवक हूँ–ऊँट-चालक हूँ उनका।" आश्वस्तता के साथ गोधन बोला।

"अच्छा है भाई !···· बहुत अच्छा है, किन्तु तुम्हारे स्वामी तो युवराज हैं, इस साधारण-सी उपवन-कुटीर में क्यों आवास करते हैं? उन्हें तो ताम्रलिप्ति के राजभवन में····।"

महाराज के कथन को पूर्ण न होने देते हुए गोधन बोल पड़ा–"मेरी वात तीसरे कान में न पड़े, श्रेष्ठीवर ! यह एक गोपनीय रहस्य है। हम लोगों को तो यहाँ छद्म रूप में रहना पड़ा है। तीन दिन से हम यहॉ हैं पर कोई जानता नहीं कि हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं?"

"अरे ! ऐसा है क्या !" महाराज ने धीमे से स्वर में कहा और मार्ग पर झुक आई वृक्ष की शाखाओं से स्वयं को वचाने के लिए विक्रमसी कुछ झुक गये।

आगे निकलकर उन्होंने पीछे मुड़कर उन शाखाओं को देख लिया और तब सामान्य होते हुए उन्होंने गोधन से पूछा—"इस छद्म रूप में प्रवास का क्या कारण है, भैया !"

गोधन ने अनुभव किया कि उसने कुछ रहस्य प्रकट कर दिये—यह अच्छा न हुआ। आगे से सतर्क होते हुए उसने कहा—"अब आपकी जिज्ञासा को इतने पर ही संतोष करना होगा, शाह जी ! मैं अन्य गोपनीय बातें बता न सकूँगा। यह सब आपके प्रयोजन का भी न होगा। यह सब जानकर आपको कोई लाभ न होगा।"

"तुम उचित ही कहते हो, गोधन भैया ! सर्वथा उचित ....।" विक्रमसी ने नीति से काम लेना उपयुक्त माना और गोधन का समर्थन किया—"हमारा कोई प्रयोजन इन बातों से हो ही नहीं सकता। हम तो मात्र जिज्ञासावश ही जानना चाहते थे। तुम नहीं बताना चाहते हो तो न बताओ। इसके पीछे भी कोई कारण अवश्य होगा। इस प्रसंग को ही हम छोड़ देते हैं।" विक्रमसी ने यह कहा तो अवश्य, किन्तु उनकी उत्कंठा दोहरी हो गयी थी। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि इस प्रसंग से उनके कार्य की सिद्धि का कोई सूत्र निकल सकता है। किन्तु अब सीधी उँगली से घी निकल नहीं सकेगा। इस टेढ़ी खीर का स्वाद चखने के लिए कोई चाल ही चलनी होगी।

अब तक वे नगर के प्रवेश द्वार पर आ गये थे। उन्हें नगर के बाहर की स्वच्छता और द्वार की शिल्पकला को देखकर सुखानुभूति होने लगी। "वाह ! वाह !! गोधन भैया ! बड़ा ही स्वच्छ और सुन्दर नगर है यह तो .... इसके विषय में जैसा सुना था, नगर को उससे भी बढ़कर पा रहा हूँ।" वार्त्ता की दिशा ही परिवर्तित हो गयी।

"शाह जी ! यहाँ का जन-जन इसके लिए प्रयत्नशील है। नगर की स्वच्छता सभी की साध बन गयी है।"

"उचित है कथन तुम्हारा।"—विक्रमसी ने कहा—"हमें तो आज यह अनुभव हुआ कि स्वच्छता में भी स्वतः एक सौन्दर्य हुआ करता है। वड़ा कलात्मक, वड़ा रमणीक नगर है, भैया ! कहीं कोई कूड़ा-मिट्टी नहीं। भवनों के वाहर के लघु उद्यान भी कैसे सुन्दर हैं।"

ताम्रलिप्ति के वाजार भी बड़े योजनावद्ध ढंग से निर्मित और उनमें क्रेताओं का आवागमन भी स्वानुशासनवद्ध-सा लगता था। क्रेताओं की कहीं भी अनावश्यक भीड़भाड़ नहीं, कोई शोरशरावा नहीं। हँसमुख, मिष्ठभापी विक्रेता और उनकी दुकानें भी विक्रय-सामग्री से सजी हुई। ऊँट साधारण गति से ऐसे शान्त, सुन्दर वाजार में अग्रसर होता चला गया। एक मुखवास केन्द्र पर गोधन रुका, विक्रमसी भी उतर पड़े। ताम्वूल-विक्रेता ने मुस्कराकर उनकी ओर देखा। उसकी आँखें पूछ रही थीं—"क्या चाहिये?"

विक्रमसी ने मुखर उत्तर दिया–"भाई ! हम परदेसी हैं। ताम्बूल-सेवन के रसिक है। नगर की मुखवास की श्रेष्ठता का यश भी हमने सुन रखा है। भैया ! उत्तम ताम्बूल से हमें तृप्त कर दें।"

शाह जी और गोधन ने ताम्बूल सेवन किये और विक्रमसी ने एक स्वर्ण-मुद्रा विक्रेता की हथेली पर रख दी। विक्रेता बेचारा अचकचाकर रह गया। "श्रीमान् जी ! छोटी मुद्रा दीजिये–यह तो एक सहस्र रौप्य हैं मुझे तो एक रौप्य का भी दसवॉ भाग चाहिये।"···· कुछ रुककर उसने बात को आगे बढ़ा दिया–"मैं तो छोटा व्यवसायी हूँ फिर यह मुद्रा भी तो विदेशी है····।"

"भैया ! आपकी यही समस्या है न कि शेष राशि बड़ी भारी है और उसे लौटाना तुम्हारे लिए संभव नहीं है। आप ऐसा कीजिये···· दो ताम्बूल और भी बनाकर सुरक्षित रूप में पत्रबद्ध करके दे दीजिये। और यह सारी राशि आप एक परदेसी की भेंट मानकर रख लीजिये।"

विक्रेता ने ऐसा ही किया–ताम्बूल गोधन को थमाकर वह परदेसी ग्राहक की ओर देखने लगा। आसपास कहीं दृष्टिगत न होने पर उसने दूर बैठे ऊँट की ओर देखा, पाया कि परदेसी ग्राहक वहॉ खड़े हैं। वह उन्हें पुकारने लगा–"सुनिये···· सुनिये···· तनिक····।" दोनों ऊँट पर आरूढ़ होकर प्रस्थान कर गये। विक्रमसिंह ने ताम्बूल विक्रेता की ओर देखकर हाथ हिला दिया।

"शाह जी ! आप तो अत्यन्त उदार हैं। इतनी बड़ी राशि उसे दे दी।"–गोधन ने आश्चर्य के साथ कहा। इसका यह उत्तर पाकर उसका आश्चर्य और भी बढ़ गया कि धन तो हाथों का मैल है, भाई ! इसे झाड़कर हाथ स्वच्छ करते ही रहना चाहिये। धन से मोह अच्छा नहीं।

एक सुन्दर अट्टालिका को देखकर विक्रमसी शाह जी बहुत प्रसन्न हुए। बोले–"आहा ! जब नगर के आवास इतने सुन्दर हैं तो फिर राजभवन की सुन्दरता तो असीम होगी।"

"हॉ···· शाह जी ! बहुत भव्य है···· अत्यन्त सुन्दर है। चलिये, मैं आपको बाहर से तो अभी दिखा ही देता हूँ।" और वह ऊँट को राजमार्ग पर आगे बढ़ा ले गया।

छोटा-सा नगर था। शीघ्र ही वे राजभवन के समक्ष पहुँच गये। बड़ा विशाल एवं मनोहारी भवन था। उसके चारों ओर प्राचीर के भीतर उद्यान था। मुख्य द्वार पर अनेक सतर्क प्रहरी थे। गोधन ने बताया कि राजभवन की सुरक्षा का बड़ा ही सुदृढ़ प्रबन्ध है। उसने राजभवन की बाहर-बाहर से ही परिक्रमा भी की। पीछे की ओर एक स्थल पर रुककर उसने विक्रमसी शाह को बताया–"यह देखो, यहाँ से भवन के सातों भौम स्पष्ट दिखायी देते हैं। कितना सुन्दर लगता है। भवन के सातवे भौम पर वातायन की मुँडेर पर हरित पल्लवों की बन्दनवार सजी है इसी भाग में राजकन्या लक्ष्मीवती का आवास है।"

"अच्छा.... अरे वाह ! राजकन्या का आवास यहाँ है। क्या नाम बताया था उनका ?" कुछ सोचते हुए उन्होंने फिर पूछ लिया–"कमलाकुमारी न ?"

"न.... न.... लक्ष्मीवती नाम है–यहाँ की राजकन्या का शाह जी ! बड़ी रूपवती और गुणवती है।"

विक्रमसी रूपी अवन्ती-नरेश ने पुष्टि कर ली और उनका प्रयोजन पूरा होने लगा। गोधन के साथ इस भ्रमण से वे अपने कार्य-स्थल से संबंधित जानकारी ले लेना चाहते थे, जो उन्हें सहज ही में मिल गयी। उन्हें इतनी सुगमता की आशा न थी। गोधन से उन्हें और भी कुछ ज्ञात हो सकता है–ऐसी आशा उन्हें मन-ही-मन होने लगी। यह भी परदेसी है, इसे तीन ही दिन के प्रवास में इतना ज्ञान कैसे हो गया कि राजकन्या का आवास कौन-सा है....। संभव है, इसका, या इसके स्वामी का कोई प्रयोजन भी राजकुमारी से है ? अन्यथा.... इसे....। यह सब जानने की आवश्यकता ही क्या थी। अपने कार्य में इसकी सहायता की संभावना से प्रेरित होकर उन्होंने फिर पूछ लिया–"भाई गोधन ! तुमको तो अपने लघु प्रवास में ही यहाँ की बहुत सारी बातें ज्ञात हो गयीं। यह सब कैसे हुआ ?"

– "शाह जी ! हम यदि प्रयत्न करें तो क्या नहीं हो सकता ! स्वामी की आज्ञा से हमें यह सब तथ्य जानने ही पड़े।"

– "बड़े स्वामी-भक्त हो तुम। समय आने पर तुम उनकी सेवा के लिए अपने प्राणों को भी न्योछावर कर सकते हो। धन्य हो तुम और तुम्हारी स्वामी-भक्ति !!" महाराज का यह विश्वास पुष्ट होने लगा कि इन लोगों का भी कोई प्रसंग राजकन्या के साथ है, अवश्य। वे यह जान लेने को भी उत्सुक हो उठे कि इनका प्रसंग हमारे कार्य में साधक बन सकता है कि बाधक, किन्तु अपने सारे उत्साह का संवरण करना इस पल का आग्रह मानते हुए उन्होंने एक बारगी मौन साध लिया। बात बिगड़ने न पाये–यही सतर्कता अभी नितान्त अपेक्षित थी। अव तक वे राजमार्ग पर लौट आये। सामान्य से विषयों पर अर्थहीन-सी बातें चलती रहीं। जव ऊँट को गोधन ने राजमार्ग से एक दिशा में मोड़कर सामान्य से पथ पर अग्रसर किया तो शाह विक्रमसी ने अचरज के साथ पूछा–"क्या हुआ, भाई ! हम किधर जा रहे हैं ?"

– "देखते तो रहिये.... हम लोग आनन्दलोक की ओर जा रहे हैं।"

– "भाई ! हमें तो ताम्रलिप्ति नगर सारा ही आनन्दलोक ही लग रहा है।"

– "आप कदाचित् उचित ही कहते हैं. शाह जी ! किन्तु जिस आनन्दलोक को हम जा रहे हैं–उसकी महिमा ही निराली है। वहाँ पहुंचकर लोग इस जगत के दुःखों–चिन्ताओं से मुक्त हो जाते हैं।"

– "विचित्र है, भाई ! यह तुम्हारा आनन्दलोक तो तब वास्तव में सुखों का सागर होगा।"

– "है···· सुखों का ही सागर है। अभी आप स्वयं अनुभव करेंगे।"

– "वाह ! क्या कहने ····!"

ज्यों-ज्यों वे इस मार्ग पर आगे बढ़ रहे थे–बस्ती क्षीण से क्षीणतर होती जा रही थी। अब तो इक्के-दुक्के आवास दिखायी देते थे। तनिक और बढ़े तो सूना स्थल आ गया। सामने एक साधारण-सा भवन आ गया; किन्तु वह भी सुन्दर दिखायी दे रहा था–"ये···· हम कहाँ आ गये, भाई ! क्या यही तुम्हारा आनन्दलोक है?"

शाह जी के इस साधारण से प्रश्न के उत्तर में गोधन ने यही कहा–"जी हाँ···· शाह जी ! इसे ही हम हमारा आनन्दलोक कहते हैं।"

समीप पहुँचकर देखा–भवन के द्वार पर एक अत्यन्त रमणीक प्रस्तर-प्रतिमा थी। सुन्दरी कलश से उँड़ेल रही थी और पुरुष एक चुल्लू से पान करता और दूसरा चुल्लू भरने को आगे बढ़ाये हुए था। "वाह ! यह तो कोई मधुशाला है···· तुमने ठीक ही कहा–हाँ···· आनन्द···· लोक।" विक्रमसी ने गोधन को उसका समर्थन कर प्रसन्न कर दिया।

वह मुस्कराने लगा। बोला–"मेरे स्वामी भीमकुमार को उत्तम कोटि की मदिरा का बडा चाव है। वे इसके बिना रह नहीं सकते। ऐसी मदिरा यहीं मिलती है। मैं प्रतिदिन एक कलश मदिरा उनके लिए ले जाता हूँ।"

"अच्छा है, भाई ! स्वामी के संतोष में ही अपना भी सुख रहता है।" विक्रमसी ने प्रशंसा-भरे स्वर में कहा–"किन्तु गोधन भैया, उस आनन्द का कुछ भाग तुम्हें भी मिलता है कि नहीं।···· ऐं !····?"

"मिलता क्यों नहीं···· हमारे स्वामी बड़े उदार हैं, शाह जी ! छककर पान कर लेने के पश्चात् जो शेष रह जाती है, मुझे दे देते हैं। बड़ा आनन्द आता है। वैसे मैं भी···।" रहस्योद्‌घाटन की मुद्रा में धीमे स्वर में उसने जोड़ा–"एक-दो पानक यहीं से उदरस्थ करके जाता हूँ।"

अब तक वे मदिरालय के भीतर पहुँच गये थे। विक्रेता ने मुस्कराकर स्वागत किया। एक कलश उत्तम मदिरा का गोधन द्वारा चाहा गया था। विक्रेता भण्डार-गृह में लेने को गया। तभी गोधन ने शाह विक्रमसी से कहा–"कैसा मनोरम वातावरण है। मधुशाला में कितने लोग मदिरा-पान कर रहे हैं, किन्तु कोई शोरशरावा नहीं, किसी प्रकार का दंगा–झगड़ा नहीं। पीकर यह देखो–सामने ये दो साथी कैसे प्रेमपूर्वक गले लग रहे हैं। उधर वह प्रौढ दीवार के सहारे वैठा कैसा मस्त हो गया है।"

– "हाँ, भैया ! ···· आनन्दलोक का विहार कर रहा है।"

– "सत्य ही आपके मुख से निकला है, शाह जी ! वास्तव में वह आनन्द-मग्न है इस समय। आपको कोई आपत्ति तो नहीं····!"

– "आपत्ति किस बात की ! तुम हमारे मित्र हो गये हो। अब मित्रता का निर्वाह इसी में होता है कि एक-दूसरे की इच्छा का आदर किया जाय।"

– "आप बड़े ही भले हैं, शाह जी !"

– "किन्तु एक शर्त पर···· मदिरा का मूल्य हम चुकाएँगे।"

– "जैसी आपकी इच्छा है। मुझे भी तो आपकी इच्छा का आदर करना होगा न !"

इसी समय मदिरा-विक्रेता आ पहुँचा। शाह जी ने बड़ी तत्परता के साथ पूछा– "भाई ! उत्तम कोटि की मदिरा है?"

और भी अधिक तत्परता के साथ उत्तर मिला–"मिलेगी जी, अवश्य मिलेगी, पाँच कन्दर्प का एक पानक होगा।"

शाह जी ने फिर पूछा–"क्या इससे भी उत्तम कोटि की होगी?"

विक्रेता ने बताया–"है, एक और भी है जो दस कन्दर्प प्रति पानक की दर की है।" शाह जी ने दो पानक लाने का आदेश दिया।

मधुशाला के एक एकान्त कोने में दोनों मित्र जाकर बैठ गये। दो पानक वहाँ पहुँचा दिये गये। बड़े ही स्नेह के साथ शाह जी ने अपने दोनों हाथों में थामकर पानक गोधन की ओर बढ़ाया। गोधन ने भी शालीनता के साथ उसे ग्रहण किया और आग्रह किया–"आप भी तो लें।"

"क्षमा करना, भाई ! मैं जब प्रवास पर होता हूँ, तो मदिरा-पान कर नहीं सकता। आरंभ से ही मेरा ऐसा व्रत है।" गंभीरता के साथ जब विक्रमसी ने अपनी बात कही तो गोधन को बड़ा आश्चर्य हुआ। घूँट कंठ के नीचे उतारते हुए वह वोला–"भाई शाह जी ! आप भी बड़े विचित्र हैं··· ऐं··! फिर ये दो पानक क्यों?"

"दोनों पानक हमारे प्रिय मित्र के लिए हैं। तुम दूसरा पानक हमारे नाम से लोगे···· हाँ?" अनुरोध झलकाते स्वर में विक्रम शाह के कथन की अवमानना भला गोधन कैसे करता। वह पान करता रहा और मस्त होता रहा। कुछ पलों में तो वह झूमने लगा।

संध्या-समय समीप आने को था। दोनों पानक की मदिरा उदरस्थ कर चुकने पर उसने एक अँगड़ाई ली और वोला–"अव काम हो गया शाह जी ! काम हो गया। चलें···· अव चलना चाहिये। विलम्व अधिक हो गया तो मेरे स्वामी कुपित हो जायेंगे। आप नहीं जानते, वैसे वे मुझे स्नेह से रखते हैं, किन्तु क्रोध आने पर वे क्रूर भी हो जाते हैं।"

"चलो भाई ! चलो···· स्वामी को अप्रसन्न करना अच्छा नहीं। तुम्हारा काम तो हो ही गया···· हमारा शेप काम भी मार्ग में हो जायेगा।" विक्रमसी ने कहा

और वे उठ खड़े हुए। अनुसरण में गोधन भी कुछ शिथिलता से उठा। उसके नेत्रों में लाल डोरे उभर आये थे। जीभ भी लड़खड़ाने लगी थी और पैर भी। जहॉ वह रखना चाहता–पैर वहॉ नहीं पड़ रहे थे। बड़ी कठिनाई से शाह जी ने मदिरा के दाम चुकाए .... गोधन की हठ बीच में आ गयी थी–"श्रेष्ठीवर ! आज आपने आनन्द कर दिया .... आहा ! सभी ओर आनन्द ही आनन्द है। आप कितने भले हैं, शाह जी ! प्रभु ऐसे शाह जी सभी को दे। शाह जी की जय !!" गोधन का आनन्दविभोर चित्त कृतज्ञ हो गया था।

दोनों ऊँट पर आरूढ़ होकर चल पड़े। कुछ ही क्षणों का मौन रहा होगा कि विक्रमसी ने चर्चा आरंभ की–"भाई गोधन ! आनन्द बढ़ रहा है न, अब तो ठंडी हवा की लहरें आने लगी हैं। इसमें तो आनन्दलोक की छटा ही कुछ और हो जाती होगी, भाई !"

गोधन ने समर्थन करते हुए कहा–"ठीक ही कहते हैं आप, शाह जी ! बड़ा सुख मिल रहा है। हमारे भीमकुमार युवराज को न जाने कितना सुख मिलता होगा .... वे तो सारा कलश ही पी जाते हैं।"

"अच्छा ! ऐसे हैं तुम्हारे युवराज !" शाह जी ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए अनुरोध किया–"कभी मिलवाओगे नहीं अपने स्वामी से? लगता है बड़े दर्शनीय पुरुष हैं।"

"वे यों किसी से मिलते नहीं, शाह जी ! उनसे मिलना बड़ा कठिन कार्य है। मैं प्रयत्न करता भी तो अब समय नहीं रहा।" उसके स्वर में विवशता का दुःख झलकने लगा।

– "क्यों .... क्यों ....? समय कैसे नहीं रहा?"

– "वह ऐसे कि आज ही अर्द्ध-रात्रि में हम यहाँ से लौट जायेंगे। आज हमारा काम पूरा होने वाला है।"

– "अच्छा ....! लेकिन काम हो जाने के पश्चात् क्या रुकोगे नहीं एक-आध दिन? रुकते तो अच्छा था। अभी-अभी तो तुमसे परिचय हुआ है।"

– "मेरा भी आपसे स्नेह हो गया है, शाह जी ! पर क्या करे, जाना होगा। यह काम ही ऐसा है .... रुक नहीं सकते।"

– "विचित्र है, भाई ! .... तुमने तो उत्सुकता बढ़ा दी है हमारी। क्या वता न सकोगे .... किस प्रयोजन से आये हैं यहाँ, तुम्हारे स्वामी ! .... न .... न ...... कुछ गोपनीय हो तो रहने दो।"

विक्रमसी ने बड़े कौशल के साथ गोधन को उत्तेजित कर दिया। वह अव तक मदिरा के प्रभाव में पूर्णतः आ गया था। मदिरा-पान व्यक्ति की भावुकता को अभिवर्धित कर देता है। इसी भावावेश में गोधन ने कहा–"अब आपसे क्या

छिपाना। आपको बता देने से गोपनीयता भी कम होने वाली नहीं है।" और गोधन ने पूरा वृत्तान्त सुना दिया। बातों ही बातों में विक्रमसी शाह को ज्ञात हो गया कि भीमकुमार के पिताश्री और ताम्रलिप्ति के नरेश चन्द्रभूप मे विकट वैमनस्य था। दोनों भूपति एक-दूसरे को नीचा दिखाने का कोई अवसर हाथ से जाने नहीं देना चाहते थे। ताम्रलिप्ति की राजकन्या लक्ष्मीवती विवाह-योग्य हो गयी तो उसके लिए उपयुक्त वर की खोज आरंभ हो गयी। देश-देश के राजकुलों को संदेश भेजे गये। अनेक राजा–राजकुमारों के चित्र आ गये। राजकुमारी को इन चित्रों को देखकर स्वयं ही अपने लिए वर का चयन करना था। जान-बूझकर चक्रपुर-नरेश को संदेश नहीं भेजा गया। वह तो शत्रु-राजकुल था। चक्रपुर-नरेश भी भला इस अवसर का लाभ उठाने से चूकते कैसे !

चक्रपुर का राजकुमार भीम काला-कलूटा और एकदमं कुरूप था। नरेश के मन में यह कुत्सित भावना जागी कि रूपवती लक्ष्मीवती तो परियों-जैसी सुन्दरी है। भीमकुमार के साथ उसे जीवनभर के लिए बॉधकर राजा चन्द्रभूप से प्रतिशोध लिया जाय। किन्तु यह कार्य इस कारण सुगम न था कि राजकन्या स्वयं चित्र के आधार पर किसी राजकुमार का वररूप में वरण करने वाली थी और भीमकुमार का चयन होना संभव प्रतीत न होता था। राजा चन्द्रभूप बड़े शक्तिशाली और पराक्रमी शासक थे। उनके सैन्य-बल की तुलना में दूर-दूर के नरेश तो बेचारे नगण्य थे। नरेश चन्द्रभूप से शत्रुता रखने का साहस कोई राज्य नहीं कर पाता था। चक्रपुर का वैर-भाव अवश्य रहा, किन्तु वहॉ के राजा का साहस भी रणभूमि में चन्द्रभूप को ललकारने का कदापि नहीं था। जहॉ बल की न चले, वहॉ छल का सक्रिय हो जाना स्वाभाविक है, किन्तु छल के बल पर कोई उच्च्च उपलब्धि संभव नहीं होती। षड्यंत्र विफल होकर अपयश ही देते हैं। किन्तु चक्रधरपुर-नरेश तो चन्द्रभूप को लज्जित करना अपने जीवन का परम लक्ष्य निर्धारित कर चुके थे। उन्होंने वंचना का ही आश्रय लिया। एक योग्य कलाकार को बुलाकर उन्होंने उसे आदेश दिया कि राजकुमार भीम चाहे कितने ही कुरूप क्यों न हों, उनका एक अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त आकर्षक चित्र तैयार किया जाय। कुछ ही समय में एक सुन्दर चित्र तैयार भी हो गया। नरेश ने देखा तो कलाकार को वधाई दी। प्रशंसा के साथ उसे विपुल धन का पुरस्कार प्रदान किया गया। यथासमय चित्र पूर्ण विवरण के साथ ताम्रलिप्ति के राजकुल को भिजवा दिया गया।

अनेक राजा–राजकुमारों के आगत चित्रों का अम्बार लग गया था। चित्रों के साथ कोई विवरण संयुक्त नहीं था। विवरण पृथक् से सुरक्षित कर रख लिया गया था। राजकुमारी लक्ष्मीवती के पास सारे चित्र भिजवाये गये कि वह अपनी रुचि-अनुसार उनमें से कोई एक चयनित कर ले। वे चाहें तो ऐसा भी कर सकती हैं कि पहले दौर में कुछ उपयुक्त लगने वाले चित्रों को पृथक् कर लें और तव

उनमें से किसी एक का चयन कर लें। इस कार्य के लिए उन्हें सर्वथा स्वतंत्र कर दिया गया था और एकान्तता की भी व्यवस्था कर दी गयी। राजकन्या ने भी वही पद्धति उपयुक्त और सुविधाजनक मानी, जो उन्हें सुझायी गयी थी। उस शान्त सांध्य-वेला में वह अपने कक्ष में बैठी चित्रों को देखने लगीं। कुछ चित्रों को एक-एक कर वे एक ओर रखती चली गयीं। उनके मुख पर कोई भाव उदित ही नहीं हो पाया। एक चित्र को उन्होंने देखा और वे मुग्ध हो गयीं। बड़ी देर तक अर्द्ध-निमीलित नयनों से वे उसे निहारती रहीं। एक मुस्कान उनके मुख पर माधुर्य का लेप कर गयी। राजकन्या ने वह चित्र पृथक् रख लिया। पहला दौर आगे बढ़ा। एक-एक कर वे चित्रों को देखती चली गयीं। अन्तिम चित्र तक पहुँच गयीं, किन्तु कोई अन्य चित्र पृथक् रखने योग्य भी उन्हें न लगा। एक ही चित्र पृथक् रह गया था। वही अन्तिम चयन हो गया।

राजा चन्द्रभूप को ज्ञात हुआ कि पुत्री ने जिस चित्र का चयन किया है, वह तो चक्रपुर के राजकुमार का है, तो उनके वक्ष पर साँप लोटने लगा। वैमनस्य की कटुता से उनका हृदय भर उठा–"यह संबंध नहीं हो सकता। हम हमारी बिटिया को शत्रु-गृह के लिए विदा नहीं कर सकते।"–चन्द्रभूप ने केवल कथन ही नहीं किया, मन में इसे सुस्थापित भी कर लिया। उनकी प्रेरणा से रानी स्वयं राजकन्या के पास गई, उन्हें प्रबोधन दिया, कोई अन्य चित्र चुन लेने का आग्रह किया, किन्तु राजकुमारी इसके लिए तत्पर न हुईं। उनका मानना था कि यह मात्र चित्र का चयन नही है, इस माध्यम से पतिरूप में किसी का वरण है। इतने गंभीर प्रसंग को इतने हल्के-फुल्के ढंग से कैसे लिया जा सकता है? भारतीय बालाएँ जिसका एक बार वरण कर लेती हैं, आजीवन उसी की होकर रह जाती हैं। वरणोपरान्त उस पर पुनर्विचार करना भी पाप है। उन्होंने अपनी जननी को अवगत कराया कि वे अब किसी अन्य पुरुष की कल्पना भी नहीं कर सकती। इस संबंध में किसी का भी कोई प्रयत्न सफल नहीं होगा। बिटिया के स्वभाव से माता-पिता भलीभाँति परिचित थे। राजा के मन में आत्म-सम्मान की रक्षा की चिन्ता प्रबल होती जा रही थी। माँ बेचारी इन दो विपरीत मतों के मध्य संधिविच होकर रह गयी थी। वह दोनों की विजय चाहते हुए भी राजकुल की मर्यादा के अनुरूप पति के पक्ष का कुछ अधिक ही अनुमोदन का भाव रखती थी। राजकुमारी लक्ष्मीवती को विश्वास था कि पिता महाराज उसके निर्णय को स्वीकार कभी न करेंगे। अपने निश्चय के निर्वाह के लिए कटिबद्ध राजकन्या ने स्व-प्रयत्न आरंभ किया। उन्होंने चक्रपुर संदेशवाहक भेजकर भीमकुमार को आमंत्रित किया कि वे अमावस्या की अर्द्ध-रात्रि में आकर उसका अपहरण कर ताम्रलिप्ति से ले जाएँ। परिणय भीमकुमार के साथ ही होगा, किन्तु उसके लिए मात्र यही एक मार्ग है। संदेशानुसार सारी तैयारी के साथ भीमकुमार

ताम्रलिप्ति पहुँच गया। तीव्रगामी ऊँट और ऊँट-चालक गोधन उनके साथ था। आज ही अमावस्या है और आज मध्य-रात्रि में ही राजकुमारी का अपहरण होगा। सारा कार्यक्रम अत्यन्त गोपनीय है। किसी को इसका संकेत भी न है। सारा राजभवन इससे अनभिज्ञ सर्वथा निश्चिन्त है।

यह सारा वृत्तान्त सुनकर विक्रमसी को अद्भुत संयोग की अनुभूति होने लगी। कैसे उपयुक्त समय पर उनका आगमन हुआ। एक दिवस का भी विलम्ब हो गया होता तो अनर्थ हो जाता। विक्रमसी ने संकल्प लिया कि आज ही रात्रि को वह कार्य-सिद्धि के साथ ताम्रलिप्ति से विदा हो जायेगा। बेचारी राजकुमारी कठोर छल की आखेट हो रही हैं। उनका भी इस कुचक्र से उद्धार किया जाना चाहिये। विक्रमसी अपने कक्ष में विश्रामरत थे, किन्तु उनका मान सक्रिय था, उनका चिन्तन जाग्रत था। आगामी कुछ ही प्रहरों में सब-कुछ हो जाना है। वे अपनी योजना बनाने लगे।

महाराज विक्रमादित्य के पास अदृश्यकारिणी गुटिका भी थी। रात्रि के प्रथम प्रहर में ही वे गुटिका के माध्यम से अदृश्य रूप में भीमकुमार के कक्ष में पहुँच गये। कुमार उस समय मदिरा-पान में रत था। एक पानका रिक्त कर उसे पुनः भरने के लिए उसने गोधन को पुकारा। गोधन ने आदर के साथ भीम को सचेत किया कि पहले ही वे पर्याप्त पान कर चुके हैं। आज की रात उन्हें सतर्क भी रहना है और अपना अभियान पूरा करना है। गोधन के कथन में औचित्य प्रकट करते हुए भी बड़ी कठोरता-भरे स्वर में भीम ने कहा–"हम जानते हैं, गोधना ! .... जानते हैं हम कि हमें क्या करना है? राजकुमारी के साथ सब-कुछ निश्चित हो गया है। ऐसे साहसिक कार्यों में मदिरा सहायक ही होती है रे ! ला, थोडी-सी और दे दे। फिर तो निकलना ही है।"

गोधन ने कुमार का मन रखने को उनके पानक में थोड़ी-सी मदिरा डाली। एक मधुर-मादक गंध से कक्ष गमक गया। एक चुस्की लेकर भीम ने कहा– "प्राचीर के बाहर हम हमारा ऊँट तैयार रखेंगे। राजकुमारी का संकेत हमें दीपक से मिल जायेगा। उसी वातायन के नीचे मैं पहुँचकर रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ जाऊँगा।" भीम ने एक साथ दो-तीन घूँट भरे और कठोर स्वर में बोले–"अरे गोधना ! देख क्या रहा है? हमें सब ज्ञात है कि हमें क्या करना है?" उनका मस्तक मदिरा के प्रभाव से नीचे की ओर झुक गया और केश की लटें भाल पर लटक आयीं। उन्हें हाथ से पीछे करते हुए भीम ने प्रयत्नपूर्वक सिर ऊपर को किया और पलकों को बल लगाकर खोलते हुए कहा–"हमें मालूम है .... राजकुमारी अपनी रत्नपेटी पहले मुझे देंगी। उसे ऊँट तक पहुँचाकर फिर स्वयं उनको लाना होगा। हमें सब मालूम है .... सब-कुछ मालूम है रे !"

महाराज वीर विक्रम को बहुत कुछ ज्ञात हो गया। उनका कार्य सुगम होता जा रहा था। प्रारब्ध ही उनके पक्ष में था कि आगे-से-आगे उन्हें सहायक तत्त्व मिलते जा रहे थे। कक्ष के मंद प्रकाश में उन्होंने देखा वास्तव में भीमकुमार बेडौल और थुल-थुल शरीर का, एकदम श्यामवर्णी, कुरूप और भयावह आकृति का है। इसके छल से अनभिज्ञ राजकुमारी बेचारी ने न जाने क्या-क्या स्वप्न सँजो रखे होंगे। यथार्थ से अनभिज्ञ व्यक्ति तो नेत्रहीन के समान होता है। आगत संकट से उसकी रक्षा करना एक सुकर्म है। ऐसी असुन्दर और दुःखद परिस्थितियों में ग्रस्त होने से हमें राजकन्या को बचाना ही चाहिये। फिर 'रत्नपेटी' वाली बात तो सर्वप्रमुख है ही।

समय उत्तरोत्तर कम होता जा रहा था। विषम परिस्थितियों में ही चित्त की अडिगता की पहचान होती है। स्थिरचित्तता के बिना किसी कार्य की सिद्धि असंभव ही रहती है। महाराज वीर विक्रम भी इस कसौटी पर सदा ही खरे उतरते थे। भीमकुमार के कक्ष में जो कुछ देखा–सुना उससे उनके चित्त की स्थिरता को और दृढ़ता मिली। वे लौटकर अपने कक्ष में पहुँच गये। सहसा उनकी दृष्टि अपनी कलाई पर बँधे ताबीज पर पड़ी। ताबीज एक छोटी मंजूषा का रूप था। उसे खोला तो पाया उसमें नमोकार महामंत्र लिखा था। राजरानी कमलावती को इस उपकार के लिए उन्होंने मन ही मन धन्यवाद दिया और महामंत्र का जाप करने लगे। वे आत्म-विश्वास से परिपूर्ण हो गये। तभी उन्होंने अपने वेताल मित्र का स्मरण किया और तत्काल ही वह साक्षात् हो गया। महाराज ने सारी परिस्थिति से अपने मित्र को अवगत करा दिया और उसकी सहायता की याचना की। अग्निवेताल ने आश्वस्त करते हुए, महाराज से आदेश माँगा कि उसे क्या करना है। इतना तो स्पष्ट हो ही गया था कि राजकन्या रत्न-मंजूषा को अपने साथ लेकर जाना चाहती थीं। अब केवल एक कार्य था कि महाराज स्वयं भीम के स्थान पर हो जायें और राजकुमारी का अपहरण कर लें। राजकुमारी का उद्धार भी और रत्न-मंजूषा की प्राप्ति भी–दोनों ही कार्य इससे सध सकते हैं। सुविधा यह है कि राजकुमारी भीम से व्यक्तिगत रूप में अभी तक परिचित नहीं है। अतः महाराज वीर विक्रम का भीम बनकर जाना तो निरापद रहेगा, किन्तु .... भीम के रहते यह संभव कैसे होगा?

"यह तो कोई समस्या नहीं, महाराज ! .... यदि उसे उसके सेवक सहित ही लुप्त कर दिया जाय तो कैसा रहेगा?"–अग्निवेताल ने महाराज की सम्मति चाही।

महाराज भी चिन्तन-सागर से उबरते हुए-से बोले–"मित्र ! हमें भी यही एक मात्र मार्ग दिखायी देता है। फिर तो कार्य की दुर्गमता बहुत कम हो जायेगी, किन्तु उनका लुप्त होना भी तो कठिन है।"

"कोई कठिनाई नहीं, महाराज ! हर कठिनाई आपके आशीर्वाद से सुगमता बन जाती है। मेरे लिए यह कार्य दुष्कर नहीं। मैं दोनों को उठाकर चक्रपुर छोड आऊँगा। केवल ऊँट आपके पास रहेगा।"

"हॉ, उसकी आवश्यकता तो हमे रहेगी।" आश्वस्त होते हुए महाराज ने कहा—"हम तो यह कहने ही वाले थे कि तुम कहीं ऊँट को भी वहॉ न छोड़ आओ; अन्यथा संकट ही हो जायेगा।" महाराज तब खुलकर हॅस पडे। अग्निवेताल ने भी हॅसी में अपना योग दिया। संकट में भी जो व्यक्ति हॅस सकता है—वह आत्म-विश्वास और साहस का धनी सिद्ध होता है। उसके संकट नष्ट हो जाते हैं और सफलता उसकी प्रतीक्षा करती है।

"महाराज ! भूख लग आयी है। कुछ करना होगा।"—अग्निवेताल बोला—"आप तो स्वयं ही यहॉ अतिथि हैं। मुझे ही कुछ करना होगा। मैं उपवन से कुछ फलों का आहार करके लौट आता हूँ। आज्ञा है?"

"अवश्य .... अवश्य, किन्तु मित्र ! विलम्ब न करना ....।" महाराज के कथन-मध्य ही अग्निवेताल अदृश्य हो गया।

× × ×

अमावस्या की घोर अँधियारी रात्रि ... हाथ को हाथ न सुझाई देता था। राजभवन के पिछवाड़े, मध्य-रात्रि के समय चारदीवारी के बाहर एक सुनसान स्थल पर श्याम वस्त्र धारण किये दो व्यक्ति आतुर से खड़े थे। समीप ही एक वृक्ष-तले दौड़ने-भागने को तत्पर ऊँट भी खड़ा था। महाराज वीर विक्रम को सब-कुछ समझ लेने में कोई कठिनाई न हुई। अग्निवेताल उनके साथ अदृश्य रूप में उपस्थित था। एक विशाल वृक्ष की खोह मे छिपकर वैठे महाराज ने कॉधे पर का झोला उतारकर वहीं रखा और अनुकूल समय पाकर स्वयं वाहर निकल आये। इसी क्रम में कुछ खरखराहट की जो ध्वनि हुई तो गोधन चौंका। अनायास उसके मुख से निकला—"कौन ... कौन है उधर।"

भीमकुमार ने त्वरा के साथ अपना हाथ उसके मुख पर दवाते हुए फुसफुसाते हुए कहा—"मूर्ख ... क्या करता है? सव किया-धरा चौपट हो जायेगा। चुप रह।"

महाराज इन दोनों के समीप आकर एक वृक्ष के पीछे छिपकर सतर्क खडे हो गये। वेताल उनके संग था ही। उस अँधेरे में भी समीपता के कारण महाराज वीर विक्रम को भीमकुमार की गतिविधियों का आभास होने लगा था। गर्दन आगे को वढ़ाये वह निस्तव्ध रूप में राजभवन के ऊँचे वातावरण को ताकता जा रहा था। इसी समय वातायन से वाहर निकलकर किसी ने दीपक से संकेत किया। भीमकुमार प्राचीर पर चढने को तत्पर हुआ ही था कि सहसा वह अचेत होकर प्राचीर से ही टिक गया। गोधन ऐन वक्त पर आये इस संकट को देखकर बौखला

उठा। वह लपककर स्वामी के पास जाता, उसके पूर्व ही वह भी अचेत हो गया। महाराज समझ गये कि वेताल ने अपनी भूमिका आरंभ कर दी है। बड़ा ही महत्त्वपूर्ण समय था। एक बार णमोकार का मंत्र उच्चारित किया और वे प्राचीर पर चढकर भीतर उद्यान में उतर गये। सावधानी से उन्होंने उद्यान पार किया और वातायन के नीचे आ गये। रस्सी के सहारे वे ऊपर को चढ़े। दैवयोग से कोई कठिनाई नहीं हुई। सर्वत्र अब भी सन्नाटा था। महाराज वातायन के समीप पहुँचे तो राजकुमारी ने धीमे स्वर में पूछा–"कौन ... ? राजकुमार भीमकुमार?"

"हूँ ...।" महाराज ने केवल यही संकेत दिया।

"नो शीघ्रता करो ... जाग हो जाने का भय है। सावधानी से यह मंजूषा पहले नीचे रखकर आ जाओ ... फिर मुझे ... ।"

"निश्चिन्त रहो, कुमारी ! ... कुछ अनिष्ट न होगा। सावधान हम दोनों को ही होना है।"–महाराज ने यह कहते हुए मंजूषा थाम ली। यही तो उनके इस समस्त अभियान का परम लक्ष्य थी। भावुकता के साथ एक बार उसे चूमकर वक्ष से लगा लिया और स्फूर्तिपूर्वक वे नीचे उतरने लगे। उनमें अद्भुत तेज, विचित्र शक्ति आ गयी थी। कुछ ही क्षणों में वे वृक्ष की खोह में मंजूषा को अपने झोले में रखकर लौट आये। एक विचित्र निश्चिन्तता का आभास उनके साहस को द्विगुणित करने लगा। उच्च मनोबल के साथ उन्होंने पुनः प्रयत्न किया और वातायन तक पहुँचकर राजकुमारी लक्ष्मीवती की ओर हाथ बढ़ाया। राजकुमारी आतुरतापूर्वक प्रतीक्षारत थीं, प्रस्थान के लिए तत्पर थीं। वे वातायन से नीचे की ओर झुकीं और त्वरा के साथ महाराज ने उन्हें अपने कंधे पर बिठा लिया और रस्सी के सहारे-सहारे तेजी से फिसलते हुए अविलम्ब ही भूतल पर आ गये। राजकुमारी ने चारों ओर ताकते हुए एक लम्बी साँस लेकर अपनी हॉफनी पर नियंत्रण पाने का प्रयत्न किया। उस अधकार मे भी महाराज ने राजकन्या के विचलन का आभास पा लिया। कंधा थपथापकर उन्होंने लक्ष्मीवती को मौन रूप में ही आश्वस्त किया। उनके स्पर्श ने अनुभव दिया कि राजकन्या तो पसीने से तर हो रही हैं। इसमें एक स्वाभाविकता का अनुभव करते हुए बहुत धीमे व कोमल स्वरों में बोले–"चलो ... अव समय तनिक भी नहीं है। चलना ही चाहिये।" वे प्राचीर की ओर मुड़ गये और अग्रसर हो गये। राजकन्या ने अनुसरण किया। प्राचीर के वाहर ऊँट प्रतीक्षा कर ही रहा था। वृक्ष की खोह से झोला लिया, राजकन्या को ऊँट पर आरूढ़ किया। स्वयं भी आरूढ हुए और संकेत पाकर प्रशिक्षित ऊँट चल पडा। देखते ही देखते वह तीव्रगामीं ऊँट हवा से बातें करने लगा। महाराज चाहते थे कि यथाशीघ्र ही वे नगर से वार निकलकर दूर–बहुत दूर पहुँच जाएँ।

ऊँट ने भी अपनी क्षमता का अच्छा परिचय दिया। वे नगर की सीमा त्यागकर शीघ्र ही वनमार्ग पर आ गये। ऊँट उन्हें एक ही तीव्र गति से

आगे-से-आगे बढ़ाता रहा। जब घने वन से होकर वे जाने लगे तो राजकन्या के मन में भय व्याप्त हो गया। वे आतंकित-सी दुबककर बैठी थीं। महाराज ने उन्हें आश्वस्त किया—"हमारे रहते तुम्हें भय किस बात का? कोई चिन्ता न करो।"

महाराज के इन शब्दों से उन्हें कुछ सांत्वना भी मिली, तथापि वे अपने अस्पष्ट भविष्य से चिन्तित थीं। उन्हें भय था कि कहीं राजभवन में असमय ही भेद खुल गया तो पिता महाराज के सैनिक हमें पकड़ ही लेंगे। फिर तो बड़ी दुर्गति होगी। पिता महाराज भीमकुमार को तो जीवित ही नहीं छोड़ने वाले हैं। ऐसी ही चिन्ता में खोयी राजकुमारी के मन में अनेक विचार आते जा रहे थे। उनका ध्यान तो भंग तब होता, जब वे कभी किसी वृक्ष की टहनियों से टकरा जातीं। कभी कोई कँटीली झाड़ी उनका तन खरोंच देती, तो कभी उनके वस्त्र उलझ जाते। इस बीहड़ मार्ग से तंग आकर उन्होंने कहा—"यह कैसा रास्ता है? मुख्य मार्ग से क्यों नहीं जा रहे हैं हम?"

"ठीक है, राजकुमारी जी !.... मुख्य मार्ग पर ये कष्ट तो न होंगे, किन्तु पकड़े जाने का अंदेशा तो है।" महाराज ने धैर्य के साथ कहा—"कुछ समय के लिए यह कष्ट सहन कर लो। यही वनमार्ग सुरक्षित भी है और फिर इससे हम कम समय में ही अधिक दूरी तक निकल जायेंगे।"

इस कथन में औचित्य पाकर वे तनिक आश्वस्त हुईं। काफी समय तक यात्रा चलती रही... चलती रही। किसी ने कुछ न कहा। सहसा ही राजकन्या के मन में एक विचित्र-सा प्रश्न उठ खड़ा हुआ—"हम इस दिशा में जा कहाँ रहे हैं? कहीं प्रियतम को दिशा-भ्रम तो नहीं हो गया। या... या... फिर ऐसा तो नहीं कि ये कोई और ही है..... चक्रपुर के राजकुमार नहीं...।" इस वीभत्स कल्पना मात्र से ही वे भीतर तक काँप उठीं। सोचने लगीं—"नहीं... नहीं। ऐसा तो हो नहीं सकता। यह तो मेरा नाहक भ्रम ही है। फिर भी उन्होंने साहस बटोरकर पूछ ही लिया—"प्रियतम ! आप मुझे कहाँ लिये जा रहे हैं? चक्रपुर तो उत्तर दिशा में है न ! हम पूर्व में कहाँ जा रहे हैं... क्यों जा रहे हैं?"

इस प्रश्न का उत्तर जब मौन में मिला तो राजकन्या के मन की आशंका और भी बलवती हो गयी। वह भीतर ही भीतर व्याकुल हो उठीं। कहीं कोई वंचना तो नहीं हो रही उनके साथ... । उद्विग्नता के साथ पूछा—"तुम बोलते क्यों नहीं? कहाँ ले जा रहे हो? क्या तुम भीमकुमार नहीं हो?" वे वेचारी सिसक उठीं।

"तुम्हारा अनुमान सत्य ही है, राजकुमारी ! मैं... मैं राजकुमार भीम नहीं हूँ। भीम तो अब तक न जाने कहाँ पहुँच गया होगा?"

महाराज के इस उत्तर से लक्ष्मीवती चौंक पड़ीं—"तुम... राजकुमार भीम नहीं हो... हाय ! यह क्या हुआ !! मेरे भाग्य में क्या वदा है !... तुम भीम नहीं तो फिर... कौन हो तुम... क्या हो?" राजकुमारी एकदम परेशान हो उठीं, रुआँसी हो गयीं।

"मैं एक जुआरी हूँ। जुआ खेलता हूँ। हार-जीत का क्रम चलता ही रहता है, कुमारी जी ! तुम ···· ।"

"हाय-हाय ! यह तुम क्या कह रहे हो ! तुम जुआरी हो? राजकुमार भीम का क्या हुआ? तुम मुझे ··· कहाँ ···।" राजकुमारी का हृदय ही जैसे विदीर्ण होने लगा।

"यहाँ से कुछ ही दूर भीलों की एक बस्ती है। चार दिन हुए, वहाँ से होकर मैं निकल रहा था कि भील-नायक ने मुझे रोक लिया। जुआ चल रहा था वहाँ। मैने भी दाँव लगाया और बहुत सारा धन हार गया। एक स्त्री भी हार गया। भील-नायक का यह कर्ज मुझ पर बाकी है। एक कर्ज धन का तो उतार दूँ। स्त्री वाला कर्ज फिर कभी देखूँगा। ये रत्न उसे देकर मुक्त हो जाऊँ तो तुम्हें कहीं ले चलूँ।"

राजकुमारी की व्याकुलता बढ़ते-बढ़ते अपने चरम पर पहुँचकर कुछ पल वहीं थमी रही और तब नीचे की ओर उतरने लगी–'हाय ! यही मानना होगा कि मेरे भाग्य में भीमकुमार नहीं, यह जुआरी ही लिखा था। अब क्या किया जाय। मैं ही तो पितृ-गृह के सारे सुख-वैभव को त्यागकर निकली हूँ। किसी अन्य को क्या दोष दूँ। अब किया भी क्या जा सकता है। यह पुरुष अब मेरा जीवन-सर्वस्व होगा। मैं निरुपाय, निस्सहाय हूँ। लौटकर ताम्रलिप्ति जा नहीं सकती ···· अन्यत्र भी कोई आश्रय नहीं। अच्छा है यह भील-नायक को नहीं सौंप रहा है मुझे। किन्तु यह जुआरी ही मेरे भाग्य में था क्या ··· ? मैं भाग्य की ऐसी हेटी हूँ?' प्रश्न भी कभी-कभी मन के भीतर ही उठते हैं और भीतर ही भीतर उनके उत्तर भी अवतरित हो जाते हैं। राजकन्या लक्ष्मीवती सोचने लगीं–यही कदाचित् मेरे संचित कर्मों का फल है। इसे अस्वीकार कर दिया जाय–अब यह भी संभव नहीं। कर्मफल तो भोगने ही पड़ते हैं। अब मेरे लिये अन्य कोई चारा भी तो नहीं। मैंने अपने माता-पिता के साथ छल किया। उत्तर में मुझे यदि अन्य दिशा से कपट ही मिले तो उसमें अस्वाभाविकता ही क्या है?

मन जब समाधान और समझौते की प्रवृत्तियाँ अपनाने लगता है तो व्यक्ति को अवगुणी जन में भी गुण दिखायी पड़ने लगते हैं। राजकुमारी को लगा जुआरी ही सही–पर यह है बड़ा नेक। चरित्र की श्रेष्ठताओं का धनी लगता है यह। इतने समय से यह एकान्त में मेरे साथ है, किन्तु इसने कोई अभद्रता नहीं की। पूरी सावधानी रखता चला आ रहा है कि उसका स्पर्श न हो जाय मुझसे। मनुष्य में भलाइयों का ही समुच्चय होता तो वह देवता नहीं हो जाता ! मनुष्य के लिए भलाइयों के साथ कुछ बुराइयों–अभावों का समन्वय ही अपेक्षित रहता है। जुआ खेलने की आदत तो अनेक सत्पुरुषों में रही है। क्या किया जाय ···· अब यही

मेरा जीवन-साथी हो—यही प्रारब्ध है तो ऐसा होगा। इसे टाला भी तो नहीं जा सकेगा। अब तो ये ही मेरे जीवन-सर्वस्व हैं। तो मुझे प्रकट रूप में इस परिस्थिति को स्वीकार भी कर लेना चाहिए। अन्य कोई विकल्प ही नहीं, इसमें भी कोई विशेष आपत्तिजनक बात नहीं। वे परिस्थितियों के प्रति समर्पित होती जा रही थीं। समय का प्रवाह मन के विचलन को क्रमशः घटाता रहता है और अन्ततः उसे सुस्थिर और सामान्य बना देता है। राजकुमारी की स्थिति भी वही थी।

बड़ी देरी तक मौन-ही-मौन छाया रहा। ऊँट के गद्दीदार पंजों की छप्-छप् ध्वनि ही रात्रि के अँधियारे-भरे सन्नाटे में सुनायी दे रही थी। अनायास ही अपने भवितव्य का संकेत पा लेने को इच्छुक उनका मानस छटपटा उठा। उसी व्यग्रता के आवेश में अनायास ही राजकुमारी के मुख से निकला—"मैंने तुमसे प्रियतम कहा है—वह मेरी भूल थी, युवक ! यह निश्चय तो समय को ही करना होगा, किन्तु तुम मुझे लिये कहाँ जा रहे हो? तुम्हारा निवास-स्थान ····? जुआ में तुम्हारी रुचि का कार्य हो सकता है, किन्तु तुम्हारा अपना मूल व्यवसाय क्या है? यह जान लेने को उत्सुक हूँ मैं।"

"अपनी व्यग्रता को नियंत्रित करें, राजकुमारी जी ! समय आने पर सब-कुछ स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगा, तनिक प्रतीक्षा करनी होगी। अभी मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आपका दुर्भाग्य सौभाग्य में परिवर्तन की राह पर है। भीमकुमार आपके पिताश्री के शत्रु-राजा का पुत्र है, वीभत्स आकृति का कुरूप और क्रूर व्यक्ति है। उसका आपसे नेह का नाता संभव ही नहीं। इस रूप में तो चक्रपुर-नरेश आपके देश और आपके पिता को अपमानित करने और प्रताड़ित करने का कुचक्र ही चला रहे थे। उस कुचक्र को विफल करना मैंने एक पुण्य कर्म मानकर अपने लिए चुना है। एक सुन्दर-सा चित्र बनवाकर भीमकुमार ने आपके साथ छल किया है, राजकुमारी जी ! किन्तु अब आप निश्चिन्त रहें।"

अपने सह-यात्री की इस किंचित् दीर्घ वार्त्ता से राजकुमारी का हृदय झनझना उठा—"क्या कहते हो युवक ! सचमुच क्या भीमकुमार ने हमारा अनर्थ करना चाहा—कुमार ने हमें छलने का प्रयास किया?"

"किया है ···· निश्चित रूप में उन्होंने छल किया। यह तो भला हुआ कि समय रहते हमें यह सब ज्ञात हो गया और हम उस छल को विफल करने में भी समर्थ हो गये।" महाराज ने कहा—"इसका अर्थ यह भी नहीं कि हम तुम पर अपना अधिकार जताएँ। तुम सर्वथा स्वतंत्र हो। तुम जहाँ भी चाहोगी—मैं तुम्हें पहुँचा दूँगा।"

एक क्षीण-सी, विवश-सी हँसी के साथ राजकन्या कहने लगीं—"अब मेरा कौन ठिकाना रह गया है ! सच है अगला कदम ठीक से जमने के पूर्व पिछला चरण

जो उठा लेता है, वह तो कहीं का नहीं रह जाता। पछतावा ही मात्र उसके हाथ लगता है। मुझे अनुभव होने लगा है कि ताम्रलिप्ति का राजभवन त्यागकर मैंने महान् भूल की है।"

"प्रारब्ध ही व्यक्ति से अपना मनचाहा कराता चलता है, राजकन्ये ! उसी से भावी भूमिका भी बनती है और जीवन आकार ग्रहण करता चला जाता है।" महाराज ने प्रबोधन देते हुए कहा—"किये पर पछतावा इस कारण भी व्यर्थ है कि उसे अनकिया नहीं बनाया जा सकता है। मनुष्य के हाथ में यही है कि वर्तमान को सुधारता चले।" कुछ रुककर उन्होंने कहा—"इसी कारण मेरा यह कथन है कि आप अपने लिये भलीभाँति सोच-विचारकर स्वयं निर्णय कर लें।"

"अब सोचने-विचारने का अवसर शेष नहीं रहा है। अब क्या सोचना, जब हम घर से, समाज से बहिष्कृत हो गये हैं।" घोर निराशा के स्वर में राजकुमारी कहती चली गयीं—"अब तो भाग्य जिधर भी ले जाए जाना होगा ··· हमारी इच्छित दिशा का अब कोई मेल नहीं। जो अपनों का त्याग कर देता है उसे फिर किसी का अपनत्व नहीं मिल पाता ··· ।" कुछ पलों में उसकी वाणी तो मौन हो गयी, किन्तु मन भीतर ही भीतर सवाक् हो उठा। उनको अपनी ही प्रताड़ना सहनी पड़ी। वे धिक्कारने लगीं। अपनी दुर्बुद्धि को जिसने यह भयंकर अनर्थ कर दिया।

महाराज ने अपना मौन भंग करते हुए कहा—"राजवाले ! सुनो, अपनी जीवन-नैया को, प्रारब्ध-धारा को सौंपकर निश्चिन्त हो जाना भी अनुपयुक्त तो नहीं, किन्तु स्वविवेकानुसार अपने जीवन को सँवारने का यत्न भी अपेक्षित रहता है। इसके लिए स्थिरचित्तता के साथ चिन्तन भी उतना ही अनिवार्य है। विचलन छोड़ो और ··· ।" महाराज के कथन को राजकुमारी विचारणीय रूप में स्वीकारने लगीं—उन्हें उसमें औचित्य अनुभव होने लगा कि जब पीछे लौटना संभव न हो तो आगे के चरण ही सँभलकर उठाने का एक मात्र क्रम शेष रह जाता है। यह दृष्टि उनमें विकसित होने लगी। कुंठा शिथिल होने लगी। तभी सह-यात्री का सुझाव आया कि अव कुछ विश्राम कर लिया जाय। ताम्रलिप्ति नगर वहुत पीछे छूट गया था। रात्रि भी अभी काफी शेष थी, वे सुरक्षित स्थल पर भी पहुँच गये थे। थकान प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने को उत्साहित कर रही थी। राजकन्या ने केवल इतना कहा कि जैसी तुम्हारी इच्छा। उत्तम स्थल देखकर ऊँट को महाराज ने झुका दिया। दोनों उतर पड़े। वन-प्रदेश का यह स्थल कुछ खुला-खुला और समतल था। महाराज ने चारों ओर दृष्टि घुमाकर इस स्थल का आकलन किया। अँधियारा होते हुए भी उन्हें लगा कि दूर-दूर ही झाड़ियो का एक घेरा है—इसे उन्होंने एक उपयुक्त स्थिति ही मानी। ऊँट पर भीमकुमार का कुछ सामान लदा था। एक चादर राजुकमारी के लिए बिछा दी। अपनी चादर झोले से निकाली और कुछ दूरी पर विछा दी। राजकुमारी अपनी चादर पर लेट गयीं। महाराज ने ऊँट पर लदा धनुप

और तरकस अपने पास रखा, झोले का तकिया बनाया और वे भी लेट गये। दोनों मौन थे। भीतर ही भीतर दोनों का मन चिन्तनग्रस्त था।

तभी महाराज के मन में राजकन्या की एक परीक्षा लेने की बात मचल उठी। वे धीमे से बोले—"मेरा स्वभाव बड़ा विचित्र है, देवी ! जब तक कोई मेरी चरण-चम्पी न करे मुझे निद्रा नहीं आती। उठो, तनिक हमारी यह सेवा कर दो, फिर सो जाना।" राजकन्या तुरन्त उठ बैठीं और समीप आकर बिना किसी आपत्ति के चरण-चम्पी करने लगीं। महाराज की कसौटी पर वे खरी उतरीं। चम्पी करते-करते वे सोचने लगीं—'हाय रे भाग्य ! कहाँ से कहाँ ले आया? कैसी कठिनाइयों में डाल दिया। और वैभवनगरी ताम्रलिप्ति की राजबाला को विवश कर दिया है कि वह एक जुआरी के पैर दबाएँ।' तभी सहसा उनके विचारों ने पलटा खाया—'जुआरी हैं तो क्या हुआ? अब तो ये ही मेरे स्वामी हैं, फिर उनकी सेवा में तो गौरव निहित रहता है। मैं अपने धर्म का ही तो निर्वाह कर रही हूँ।' अन्ततः ऐसे विचार ही हावी हो गये। कुछ ही समय में जब महाराज निद्राधीन हो गये तो वह अपने स्थान पर जाकर सो गयीं।

राजकन्या लक्ष्मीवती की पलकें निद्रालस और भारी होने ही लगी थीं कि सहसा उन्हें घनी झाड़ियों से सिंह की गर्जना सुनाई दी। वे भय के मारे काँप उठीं। आतंकित होकर उन्होंने धीमी आवाज में अपने सह-यात्री को जगाना चाहा। जव इसका प्रभाव न हुआ तो लेटे-लेटे ही वे खिसककर उनके समीप आ गयीं और बाँह पकड़कर झिंझोड़ दिया। उनकी नींद भी तुरन्त खुल गयी और उन्होंने राजकन्या को आश्वस्त करते हुए कहा—"भयभीत न होइये। कोई संकट नहीं। अभी इसका उपाय हो जायेगा।" वे उठ बैठे और धनुष पर बाण साधकर संधान कर दिया। तत्काल ही गर्जना बन्द हो गयी। राजकुमारी की साँस में साँस आयी। सह-यात्री की तो स्थिति यह थी कि वे लेटे और तुरन्त ही पुनः निद्राधीन हो गये। राजकुमारी सहज होकर सोने का प्रयत्न कर ही रही थीं कि पुनः व्यवधान आ गया। अब की बार एक वाघ की दहाड़ आने लगी। दहाड़ इतनी प्रचण्ड थी कि सह-यात्री कच्ची निद्रा से स्वयं ही जाग्रत हो गये। उन्होंने फिर एक वाण छोड़ा और दहाड़ रुक गयी। रात्रि अब कुछ ही शेष रह गयी थी। सह-यात्री ने राजकुमारी को आश्वस्त किया कि वह जागकर पहरा देगा, वे निश्चिन्त होकर सो सकती हैं। महाराज धनुष-वाण लेकर खड़े हो गये। राजकुमारी निर्भीक होकर सो गयीं।

सूर्योदय-पूर्व ही चारों ओर प्रकाश व्याप्त होने लगा। अव कोई भय न था। समीप ही सरिता का प्रवाह था। स्नानादि के लिये वे उधर ही चल दिये। लौटकर आये तो राजवाला जाग्रत हो गयी थीं। सह-यात्री ने देखा कि अव भी वे लेटी हैं। उनकी खुली हुई पलकें अचंचल थीं। स्पष्ट था कि वे विचार-मग्न थीं। महाराज

वीर विक्रम ने उन्हें कहा–"अब सोच-विचार का समय नहीं है। उठो, अभी हमें लम्वी यात्रा पर प्रस्थान करना है।" राजकुमारी भी तुरन्त उठ बैठीं। बोलीं–"आप कदाचित् सत्य ही कहते हैं–अब सोच-विचार का समय वास्तव में नहीं रहा। सोचकर करने वाला सफल रहता है। करके सोचने वाले के हाथ निराशा ही लगती है। सोचना व्यर्थ ही तो है···।"

राजकुमारी लक्ष्मीवती का दर्शन कुछ और आगे बढता, किन्तु महाराज ने मध्य में ही रोक दिया। बोले–"हमारे पास बाण सीमित संख्या में ही हैं। आपको एक कष्ट करना होगा तनिक उन झाड़ियों में चली जायें और रात को छोड़े गये बाण ले आयें। आगे भी उनकी आवश्यकता रह सकती है। बड़ी तत्परता के साथ लक्ष्मीवती उठीं और झाड़ियों की ओर चली गयीं। अधिक भीतर भी न जाना पड़ा कि उन्हें मृत सिंह और बाघ थोड़ी-थोड़ी दूरी पर दिखायी दे गये। दोनों बाणों से बिद्ध थे। राजकन्या ने दोनों बाण खींच लिये और झाड़ियों से बाहर आ गयीं। उनके मन में अपने सह-यात्री के विषय में चिन्तन चलने लगा–'वह अवश्य ही कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता। सिंह की इतनी समीप उपस्थिति से भी वे भयभीत न हुए। विना देखे ही अँधेरे में उन्होंने बाण छोड़ा, केवल दहाड़ से ही उन्हें दिशा का अनुमान हुआ होगा। अवश्य ही ये शब्दभेदी शर-संधानक हैं। इनका बाण भी अचूक रहा। शूरवीर और निर्भीक साहसी तो ये हैं ही। ये साधारण जुआरी नहीं हो सकते। ये भी कहीं के राजा तो नहीं हैं। इतना पराक्रम, ऐसा शौर्य··· वाह ! राजकन्या ने दोनों वाण सह-यात्री को सौंपे और बोलीं–"आपको शर-संधान का अच्छा अभ्यास है। अँधेरे में ही तीर चलाकर आपने हिंस्र पशुओं को ढेर कर दिया।"

"यह तो समय की आवश्यकता व्यक्ति से सव-कुछ करवा लेती है, देवी ! अव आप स्नानादि से निवृत्त हो जाइये, तव तक मै कुछ वन्य-फल एकत्र करता हूँ। हमारे ऊँट की भी कुछ भोजन-व्यवस्था करनी होगी।" राजकन्या नदी-तट की ओर चल दीं।

फलाहार कर दोनों ने एक तृप्ति का अनुभव किया और उनका यात्रा-क्रम आरंभ हो गया। गत मध्य-रात्रि की यात्रा से अव की यात्रा में वहुत अन्तर था। अव राजकुमारी की मनोदशा में वड़ा परिवर्तन आ गया था। अपने को भवितव्य के सहारे छोड़कर उनमें एक निश्चिन्तता आ गयी थी, उद्विग्नता दूर हो गयी थी। फिर भविष्य भी उन्हें उतना अस्पष्ट और भ्रान्त नहीं लग रहा था। सह-यात्री ही उनका एक मात्र अवलम्व हो सकता है–यह भाव भी सुदृढ़ होता जा रहा था और सह-यात्री भी वैसा नहीं है, जैसा आरंभ में उसने उन्हें वताया था। उसके अनेक गुण स्वतः ही स्पष्ट होते जा रहे थे। अव न अतीत की स्मृतियाँ और न ही भविष्य की अपेक्षाएँ उनके मन को संतप्त कर रही थीं। एक सहज और निर्द्वन्द्व स्थिति का सुख उन्हें अनुभव होने लगा था। कोई तनाव नहीं–कोई वेदना

अभी दोनों के मध्य वार्त्तालाप के समान विषयों का अधिक विकास हो नहीं पाया था। कभी मार्ग में आने वाली प्राकृतिक शोभा या ऋतु-सम्बन्धी चर्चा हो जाती, बस ! अधिकांशतः मौन रूप में ही यह यात्रा चलती रही। किसी-किसी समय अनायास ही सह-यात्री के हाथ का स्पर्श हो जाता और राजकन्या की प्रफुल्लता का अनुभव होने लगता। अपने सह-यात्री की शालीनता से वे विशेष प्रभावित थीं। उसे देखकर उन्हें मन ही मन यह विश्वास होने लगा था कि अवश्य ही ये किसी संभ्रान्त कुल के या राजवंश के ही हैं। ये साधारण या तुच्छ हो नहीं सकते।

× × ×

सम्पूर्ण दिवस यात्रा में व्यतीत हो गया। ऊँट भी अद्‌भुत शक्तिशाली था, उसकी गति में तनिक भी अन्तर न आ पा रहा था। प्रवास अविराम चल रहा था। वन की सघनता कम होने लगी थी। तभी पंथ के समीप एक वृक्ष से लिपटी लता को देखकर राजकुमारी लक्ष्मीवती को रोमांच हो आया। भावातिरेक से उसका मन हुआ कि अपने सह-यात्री की पीठ पर निढाल हो जाय, किन्तु इस आवेश को प्रयत्नपूर्वक नियंत्रित करते हुए उन्होंने केवल कंधे को स्पर्श किया और लता की ओर संकेत करते हुए कहा—"प्रियतम ! देखो ··· कितनी सुन्दर लग रही है यह लता, वृक्ष से लिपटकर ··· कितनी प्रसन्न हो रही है। हाँ ··· ! इसके खिले हुए फूलों में उसका मंद हास बिखर रहा है।"

"इसी में लता के जीवन की सार्थकता है, देवी !" महाराज राजकन्या का स्पर्श पाकर रोमांचित भी हो गये और चकित भी। चकित होने का कारण यह कि सहसा राजकुमारी में यह आकर्षण उन्होंने अनुभव किया था। यह हृदय-परिवर्तन क्योंकर हुआ। अपने भावों को गुह्य रखते हुए ही महाराज ने पूछा—"देवी ! यह कैसा सम्बोधन? आपने मुझे प्रियतम कहा ··· ! कहाँ आप राजपुत्री और कहाँ मैं एक साधारण-सा व्यक्ति, जुआरी।"

"हमने गृह-त्याग के समय ही आपको 'प्रियतम' कह दिया था। चाहे किसी और के ही भ्रम में कह दिया था, किन्तु कहा तो आपको ही न !" राजकन्या के अधरों पर एक क्षीण-सी मुस्कान दौड़ गयी। महाराज को अनुभव होने लगा कि किसी सुन्दरी की मुख-शोभा को वढ़ाने वाला सवसे समर्थ अलंकार उसकी मुस्कान ही हो सकती है। राजकन्या ने अपना कथन अग्रसर किया—"स्वामी ! अव तो आप ही मेरे प्राणाधार हैं, मैंने मन से आपका वरण कर लिया है। आप सचमुच में कोई और ही हैं, मेरा मन यही कहता है। जुआरी होते तो मुझे भीलों की उस वस्ती में नहीं ले गये होते ! ऐं ····?" राजकुमारी लक्ष्मीवती ने एक साँस में यह सव कह दिया। क्षणेक विरामोपरान्त वोलीं—"आप जुआरी हो नहीं सकते—कदापि नहीं हो सकते। अव आप जो भी हों मेरा शेप जीवन आपके जीवन से ही जुड़ गया है, स्वामी !"

"अब कोई अपने आप को ही नष्ट करने पर तुल जाय तो कोई क्या करे।"–महाराज वीर विक्रम ने जैसे परहितार्थ दुःखी होते हुए कहा–"हम फिर आपको सचेत करते हैं, देवी ! आपको हमारे संग कोई सुख मिलने का नहीं। हमने तो अपने बारे में आपको सब-कुछ बता दिया। अब आप फिर भी अपना भला-बुरा न सोचें तो आप ही जानें ··· हमें इसमें क्या?" महाराज ने हाथ नचाते हुए अपना कथन पूर्ण कर लिया।

"अजी ! अब क्या भला और क्या बुरा। हमने समझ लिया है कि हमारे सोचने-विचारने से कुछ होगा नहीं। जो कुछ विधि को स्वीकार है वही तो होना है और हमें विश्वास है, जो होगा–अच्छा ही होगा। अब सुख हो या दुःख, हमें तो अव आपके चरणों में ही जीवन बिताना है।" राजकन्या की मुख-मुद्रा में स्नेह और निष्ठा का भाव उतर आया था।

"जैसी इच्छा आपकी !" पराजय के स्वर में महाराज ने कहा और ऊँट की गति तनिक और तीव्र कर दी। आगे बढ़ते-बढ़ते ही उन्होंने पीछे की ओर झाँककर पूछा–"देवी जी ! थकान तो नहीं हुई। अब लगता ऐसा है कि कुछ ही दूरी पर कोई बस्ती अवश्य होगी। दूर-दूर तक गायें जो चर रही हैं।"

– "नहीं ··· ऐसा कुछ भी नहीं। कोई अच्छा स्थान आ जाने पर ही विश्राम करेगे। आप मेरी चिन्ता न करें।"

– "नहीं ···· यों तो हमारी राजकुमारी जी बड़ी वीरांगना हैं। यह अन्य वात है कि सुनसान वनों में भयभीत रहती हैं।"

"जाओ भी ··· आप भी वड़े वो हैं।" राजकन्या ने सह-यात्री की पीठ पर थपकी देते हुए कहा और सकुचाती हुई कुछ मुस्करा दीं। इसी प्रकार प्रवास चलता रहा। वास्तव में ही कोई नगर समीप आ रहा था। एक चरवाहे से ज्ञात हुआ कि लक्ष्मीपुर आने वाला है। इस नगर का नाम भी महाराज ने सुन रखा था। यहाँ के नरेश से कुछ परिचय भी था और इस राज्य के इतिहास का भी उन्हें ज्ञान था। लक्ष्मीपुर सुन्दर, छोटा-सा नगर था। एक किनारे से होकर विरल क्षेत्र में से निकलकर उन्होंने नगर को पार कर लिया। राजकुमारी के साथ नगर के मध्य भाग से निकलना महाराज ने निरापद नहीं समझा था। नगर के उस पार एक सुन्दर सरिता थी। अव तक दोपहरी होने को आयी थी। सरिता-तट पर पहुँचकर दोनो के मन अत्यन्त हर्षित हो उठे। शीतल पवन ने उनका श्रम हर लिया। ऊँट ने भी जी भरकर पानी पीया और तट पर के ऊँचे-नीचे वृक्षों के हरे-हरे पत्तों को देखकर उसे भी प्रसन्नता हुई। उसने पेटभर आहार पाया। एक घाट पर दोनों वैठे वड़ी देरी तक वतियाते रहे। जल का पान करने से उन्हें कुछ संतोष तो हुआ, किन्तु तृप्ति तो भोजन से ही संभव थी। राजकुमारी को भी भूख का अनुभव होने

लगा था। किन्तु ... उनका नगर में जाना निरापद भी न था। संभ्रान्त नागरिक वेशधारी वीर विक्रम ने निश्चय किया कि वे स्वयं बाजार में जाकर कुछ खाद्य-सामग्री लेकर आ जायें। तब तक राजकन्या लक्ष्मीवती यहीं सरिता-तट पर विश्राम करें। राजकन्या भी इससे सहमत हो गयीं। ऊँट को एक वृक्ष से बाँधकर महाराज ने नगर की ओर प्रस्थान किया। शीघ्र लौट आने का अनुरोध करती हुई राजकुमारी किंचित् चिन्तित प्रतीत होने लगीं तो उन्होंने एक बार उन्हें आश्वस्त किया। यहाँ कोई भय नहीं, देवी ! मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा।'' उन्होंने रूपसी लक्ष्मीवती को आश्वस्त तो किया किन्तु स्वयं उनके मन में किसी अनिष्ट की आशंका उमड़ने लगी। उसे सायास नकारते हुए वे तनिक मुस्करा दिये और उत्तर में एक मादक मुस्कान के साथ राजकन्या ने भी शीश झुका दिया। महाराज का हृदय इस मोहक मुद्रा पर न्योछावर हो गया। मार्गभर में उनके मनःचक्षुओं के समक्ष वही छवि आ जाती थी। भावविभोर-से वे मंथर गति से नगर की ओर अग्रसर हुए। जब कभी रूपसी लक्ष्मीवती के नदी-तट पर एकाकीपन का स्मरण आ जाता उनकी गति में सहसा द्रुतता आ जाती।

ऊँट अब भी वृक्ष—तले खड़ा जुगाली कर रहा था। राजकन्या लक्ष्मीवती तो जैसे अन्तर्मुखी ही हो गयीं। उनके मन में अपने जीवन-साथी के प्रति अतिशय प्रीति उमड़ रही थी। अपने प्रियतम के गुणों की अभी उसे मात्र झलक-सी मिली थी, किन्तु वह इतने पर भी मुग्ध थीं और अपने भावी जीवन से अनिभज्ञ होते हुए भी वे उसके विषय में अब निश्चिन्त हो गयी थीं। अब उन्हें सारा जगत् सुरम्य, सरस और सुन्दर लगने लगा था। भवितव्य की मंगलमयता से आश्वस्त राजकुमारी का मन गुनगुना उठा था। नदी-तट का यह एकाकीपन उन्हें खलने लगा। वे व्यग्रता के साथ प्रियतम की प्रतीक्षा करने लगीं।

समय व्यतीत होता रहा, प्रियतमा के हृदय की व्याकुलता बढ़ती रही। उन्हें प्रत्येक आहट पर लगता कि उनके प्रियतम लौट आए हैं। वे उत्साहातिरेक के साथ झाँकतीं और प्रियतम को न पाकर निराश हो जातीं। वे तन्मय होकर जल की तरंगें निहारने लगीं। सोचने लगीं—'जीवन भी इसी प्रकार आगे से आगे सरकता जाता है। ये लहरें भी तो बेचारी अपनी मनचाही दिशा में नहीं बढ़ पातीं, अपना कोई चयनित कुल इनका नहीं होता। जिधर पवन इन्हें प्रवाहित कर दे वही इनकी दिशा हो जाती है, जिस तट को ये स्पर्श कर लें वही इनका गंतव्य हो जाता है। मनुष्य का प्रारब्ध भी उसके जीवन का ऐसा ही नियंता होता है। स्वयं अपने जीवन के विषय में उसे नहीं ज्ञात कि आगामी क्षण ही उसका क्या रूप हो जायेगा।' उनका चिन्तन इसी प्रकार अग्रसर हो रहा था कि सहसा उनके कान में पड़े कोमल स्वरों से वे चौंक उठीं—''अरी बिटिया ! तू यहाँ कहाँ बैठी है और वह भी अकेली ! चल, मेरे साथ चल।'' राजकुमारी ने देखा—एक गत यौवना किन्तु

अब भी पर्याप्त सुन्दर दिखायी देती स्त्री उनके पास खड़ी थी। इसे न पहचानकर उनके मन में न जाने कैसे-कैसे विचार आने लगे। वे तो हक्की-बक्की ही रह गयीं—"अरी तू जिसकी प्रतीक्षा में बैठी है न, वह तो स्वयं मेरे घर पर बैठा है और वहाँ अब तेरी प्रतीक्षा कर रहा है।" स्त्री अब तक राजकुमारी के समीप बैठ गयी थी। उनका कोमल हाथ अपने हाथों में लेकर सहलाने लगी—"अरी, देख क्या रही है—मैं रूपा हूँ, तेरे पतिदेव की बुआ। कैसा मूर्ख है मेरा भतीजा भी। हाँ ... ? मेरा घर इसी नगर में होते हुए भी सीधा वहाँ नहीं आया। तुझे लेकर यहाँ आ पहुँचा और अब बाजार से भोजन लेने को गया है। चल, अब उठ भी ... जल्दी से घर ही चलते हैं। वो तो अच्छा हुआ कि एक भोजनशाला के बाहर उन्होंने उसे देख लिया और पकड़कर घर ले आये।"

रूपा के साथ दो सेवक और एक परिचारिका भी थी। नदी-तट पर के उद्यान में वह अपने कुछ अन्य जनों के साथ मनोविनोद के लिए आई थी। एक सेवक ने जब उसे सूचना दी कि एक परदेसी युगल नदी पर आया है, स्त्री असीम सुन्दर है और उसका पति भी साधारण-सा लगता है तो रूपा का मन मचल उठा। वह स्वयं तट पर आयी और दूर से ही राजकुमारी की छवि देखकर निहाल हो गयी, बलैयाँ लेने लगी। धीमे-धीमे चलकर वह इनके समीप की एक झाड़ी के पीछे छिपकर बैठ गयी और इनकी बातों से सारी स्थिति ताड़ गयी।

"तो अब सोच क्या रही है? चल न जल्दी से ... शीघ्रता कर। तूने तो कछार की बालू पर उँगली से यह 'प्रियतम ...... प्रियतम' लिखकर बिछोह का समय निकाल लिया—मैं देख रही हूँ। वह बेचारा भी तो तेरे बिना छटपटाता होगा। चल ... उठ जा अब।"—रूपा ने कहा और इधर-उधर देखने लगी। उसे चिन्ता थी कि वह परदेसी लौट न आए। "उठ बेटी !"—कहती हुई वह स्वयं खडी हो गई। बेचारी राजकुमारी भी विवश हो गयीं। वे स्वयं कोई निर्णय लें—इसका कोई अवसर ही नहीं था। वे भी उठीं। रूपा की बातों से अविश्वसनीयता की झलक रंच मात्र भी नहीं मिल पा रही थी। वह भी उठ खड़ी हुई और मंजूषा उठाकर ऊँट और अन्य सामान की ओर देखने लगीं। रूपा ने कहा—"तू चिन्ता न कर, बिटिया ! मेरे सेवक पीछे से यह सब ले आएँगे। ला, यह पेटी भी दे दे। ये ले आएँगे।" रूपा ने अपना हाथ आगे बढ़ाया, किन्तु जब लक्ष्मीवती ने उसे अपने से और भी चिपका लिया तो रूपा के मन का सन्देह पुष्ट होने लगा—"अच्छा ... अपने पास ही रख ले ... अब चलना चाहिये।"

राजकुमारी लक्ष्मीवती रूपा के संग वहाँ से चल पड़ीं—"कैसा भाग्यवान है हमारा भतीजा भी कि उसे तेरे-जैसी रूपवती पत्नी मिली है। आहा ... हा ...। चाँद भी शरमाने लगे; ऐसा तो है बिटिया तेरा रूप। अब हमारा घर-आँगन भी इस चाँद के उजाले से सज जायेगा। तू मेरे लिये भी सौभाग्य ही बनकर आयी है।

भाग्य तो लक्ष्मीपुर के नगरवासियों के भी खुल गये। सौन्दर्य की ऐसी राशि, ऐसी मूर्ति उन्होंने पहले कभी देखी भी न होगी···।" अनेक प्रकार की ऐसी बातें करती हुई राजकुमारी को अपने संग लिए रूपा अपने निवास की ओर बढ़ी जा रही थी। राजकुमारी के मन में अब रूपा के हाव-भाव, उसकी भाषा और उसके संकेतित भावार्थ को लेकर शंका उत्पन्न होने लगी। उनका मन इस आशंका से कॉप उठा कि रूपा कहीं कोई नाटक तो नहीं कर रही है–हो-न हो इसके मन्तव्य में कोई नीचता है। क्या रूपा उसे किसी नये संकट में ग्रस्त कर रही है? राजकुमारी मौन, शान्त लग रही थीं, किन्तु केवल ऊपर से ही; भीतर से तो वह बड़ी उद्विग्न और अशान्त थीं। इसी दशा में वे रूपा के निवास तक पहुँच गयीं। भीतर से दो स्त्रियॉ आरती का थाल लेकर द्वार पर आयीं–"बिटिया ! आगे बढ़ो··· द्वाराचार होगा। इधर आ जाओ।" रूपा ने स्नेहपूर्वक आगे बढ़ने का संकेत किया। उत्तर में राजकुमारी और भी दो चरण पीछे हट गयीं और व्याकुल होती हुई पूछने लगीं–"मेरे वो··· वो कहॉ हैं?"

"मेरी पगली बिटिया !" मुस्कराती हुई रूपा ने कहा–"भीतर हैं···· भीतर हैं तेरे वो !" तब कुछ मुखर हास के साथ उसने कहा–"तेरे वो क्या यहाँ द्वार पर मिलेंगे? आ, भीतर चलते हैं।"–यह कहते हुए उसने अपनी दासियों को संकेत किया और वे थाल लिए आगे की ओर बढ़ीं। सोपान पर दासी का पॉव फिसला और थाल झनझनाकर गिर गया और सारी सामग्री इधर-उधर छितरा गयी। यह तो घोर अपशकुन हुआ··· क्या हमारी योजना··· नहीं··· नहीं अव इस रूपसी से हमारे व्यवसाय की बढ़ोतरी अवश्य होगी। रूपा की त्योरियॉ चढ़ गयीं। अपनी वक्र होती भौंहों को सायास सरल किया, क्रोध को दवाकर सहज बनी रही और बोली–"कोई विशेष बात नहीं। कभी ऐसा हो ही जाता है। उठ सरोजा, उठ··· तुझे चोट तो नहीं आयी?" बडे ही मृदुल स्वरों में सहानुभूति के साथ रूपा ने पूछा। दासी सरोजा बेचारी एक हाथ से पाँव सहलाती हुई सलज्ज मुद्रा में जैसे औपचारिकता निभाती-सी ऐसा संकेतित करने लगी कि वह ठीक है। वह अत्यन्त भयभीत थी। रूपा सरोजा के उत्तर की प्रतीक्षा किये विना, उसकी ओर झॉके विना ही राजकुमारी को अपनी एक वॉह से घेरकर स्नेहपूर्वक उसे भीतर ले चली। एक सुन्दर से कक्ष में ले जाकर उसने उन्हें विठाया। इस कक्ष की सज्जा से रूपा के वैभव और सुरुचि का परिचय मिलता था। सभी सुख-साधन उसे वड़े-से कक्ष में विद्यमान थे, किन्तु राजकुमारी का प्रथम अहसास यही रहा कि जैसे वे स्वर्ण-पिंजर में वद्ध सारिका हों। "अव तुम यहॉ कुछ विश्राम करो।"–रूपा के इस कथन का उत्तर त्वरित रूप में उन्होंने यही दिया–"मुझे अपेक्षा नहीं विश्राम की··· वो कहॉ हैं··· उन्हें वुला दो।" उन्हें इस विपरीत वातावरण में अपना दम घुटता-सा अनुभव होने लगा। वे पल्लू से हवा करने लगीं। उनके भाल पर पसीने की वूँदें छलछला आयीं और श्वास-गति में तीव्रता आ गयी।

"अरी बिटिया ! तू इतनी व्याकुल क्यों हो रही है? चम्पा ! राधा !! कहाँ हो तुम सब-की-सब। बिटिया को पंखा झलो। बेटी ! तेरा वो भी अभी आ जायेगा। तू यहाँ आराम से बैठ जा। ला ··· तेरी यह पेटी मुझे दे दे। मैं इसे सुरक्षित स्थान पर रख देती हूँ।" यह कहते हुए रूपा ने राजकुमारी की बगल में दबी मंजूषा एक झटके में ही झपट ली। बेचारी राजकुमारी असहाय-सी देखती रह गयीं। उन्हें इसके विरोध का कोई मार्ग ही नहीं सूझ रहा था कि तत्काल ही रूपा लपकती हुई कक्ष से बाहर हो गयी। राजकुमारी निरुपाय हाथ मलती रह गयीं। वे रुआँसी होकर इधर-उधर ताकने लगीं। अब वे क्या करें ··· ।

इसी समय कुछ सुन्दरियों ने प्रवेश किया और मधुर हास से सारा कक्ष गूँज उठा। परस्पर चुहलबाजी करती ये बालाएँ नवागंतुक रमणी के सौन्दर्य की प्रशंसाएँ करने लगी। एक सुन्दरी ने आगे बढ़कर पूछा-"आहा ··· हा ! यह चाँद का टुकड़ा किस गगन से इस धरती पर उतरा है।" और राजकुमारी की बाँह अपने कोमल हाथ से सखी-भाव के साथ थाम ली।

राजकुमारी ने ग्लानि के साथ उसका हाथ झटकार दिया और बोली-"मुझे कोई रस नहीं है तुम्हारी बातों में, जाओ तुम। मुझे यहाँ का वातावरण अच्छा नहीं लगा। मैं एक पल भी यहाँ ठहर नही सकती।"

"मेरी प्यारी सखी ! पहले हम भी ऐसा ही कहती थीं, किन्तु अब यह स्थान तो स्वर्ग के समान सुखद लगता है। एक बार जो यहाँ आ जाती है-वह फिर यहीं की होकर रह जाती है। वह स्वेच्छापूर्वक भी अन्यत्र नहीं जा पाती।"

"वन्द करो यह व्यर्थ की बातें।"-दोनों कानों में अपनी उँगलियाँ ठूँसती हुई वोलीं-"यह नरक तुम्हे ही अच्छा लगता होगा। मुझे तो ··· यहाँ से तुरन्त जाना है ··· मै नारकीय जीवन जीना नहीं चाहती ··· एक पल भी मुझे यहाँ नही रहना।"

इसी समय रूपा ने कक्ष में प्रवेश करते हुए कहा-"अरी, मेरी पगली विटिया ! इस बात को तू गाँठ बाँध ले-तेरी परछाईं भी अब यहाँ से वाहर न जा सकेगी। तेरा जीवन, तेरी सारी नियति अब इस चारदीवारी की होकर रह गयी है। यह सत्य है कि कोई स्त्री यहाँ स्वेच्छा से नहीं आती, पर उससे भी अधिक सत्य है कि कोई यहाँ आने के पश्चात् अपनी इच्छा से जा नहीं सकती। सौन्दर्य और रूपछटा की उपासना का यह मंदिर बना ही इसीलिए है। यहाँ यौवन की अर्चना होती है, उसे भक्तगण भरपूर चढ़ावा चढाते हैं, रूप का स्तुति-गान करते हैं। तू तो रूप की देवी है, वेटी ! यहीं तेरा उचित मान-सम्मान होगा।"

"मुझे नहीं सुनना तुम्हारा यह सब प्रलाप।"-राजकन्या से झल्लाकर पूछा-"मेरे वो कहाँ हैं? उन्हें वुलातीं क्यों नहीं?"

"मेरी भोलीभाली विटिया ! तू अव तक भी समझ नहीं सकी? अरे तेरा वो चाहे जो भी हो, अव वह तुझसे कभी मिल नहीं सकेगा। वह तुझे खोजने हुए न

जाने कहाँ-कहाँ ठोकरें खाता फिर रहा होगा। तू अब भूल जा उसे और इस नये जीवन को अंगीकार कर ले। इसी में तेरा भी भला है और मेरा भी। तेरे उसके-जैसे तो यहाँ प्रवेश भी नहीं कर सकते। उसकी शक्यता ही क्या है? बड़े-बड़े घरानों के युवा-पुरुष तेरे तलवे सहलायेंगे, बेटी ! ··· तेरा रूप ही ऐसा है। तेरे एक कटाक्ष पर अनेक-अनेक युवराज और श्रेष्ठी-कुमार बलि-बलि जाएँगे। बड़े-बड़े सामन्त तेरी कृपा-दृष्टि पाकर निहाल हो जायेंगे। रत्नों—मणियों के ढेर तेरे पदाघात की प्रतीक्षा करेंगे। स्वर्ण और राशि-राशि धन तरसकर रह जायेगा कि एक दृष्टि तू उस पर डाल दे और तू··· ।''

''यह धन, यह स्वर्ण और रत्न सब मेरे लिए मिट्टी है, कूड़ा-करकट है। मैं तो अपने पतिव्रता धर्म को जीवन-सुख मानती हूँ। मुझे तुम लोभ दिखाकर कुमार्गी बना न सकोगी, माँ ! मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, मुझे यहाँ से जाने दो। मैं अपने स्वामी को स्वयं ही खोज लूँगी।''

''अब हाथ-पैर तो न जोड़ तू···· इससे कुछ सधना नहीं है। रूपा को जो भा जाती है, उसे वह अपने मार्ग पर लगाकर ही छोड़ती है।''—कहते-कहते उसके दाँत भिंच गये और होंठ फैलकर कुछ बाहर को आ गये। अपनी संकल्प-शक्ति की दृढ़ता व्यक्त करने को उसने राजकुमारी की कलाई को बड़ी कठोरता से थामा और ऐसा दबाया कि वे बेचारी चीख उठीं—''मैं सारी कला जानती हूँ—किसे कैसे वश में किया जा सकता है। कोई चिड़िया आज तक तो रूपा के पंजे से छूटकर भाग नहीं पायी है। अब क्या भागेगी कोई।'' रूपा ने उन्हें सावधान किया—''यहाँ सम्मानित अतिथि आते हैं। किसी के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार किया तो खाल उधेड़ दी जायेगी, समझी?''

''सरोजा सुन, इसे ऊपर के कक्ष में ले जा और कुछ खिला-पिला दे। कनाही मोरजी भी आने वाले हैं। इस छोकरी ने उन्हें आनन्दित कर दिया तो फिर इसके वारे-न्यारे ही हैं। जीवन सुधर जायेगा इसका। सोने मे खेलती रहेगी और सुन सरोजा, इसे अच्छी-सी पोशाक पहनाकर सजा देना।'' वह इतना कहकर उठने को ही थी कि एक दासी ने आकर सूचना दी कनाही मोरजी ने संदेशा भेजा कि वे आने वाले ही हैं—''अच्छा, ठीक है, तुम जाओ। और सरोजा तुम भी शीघ्रता करो।'' रूपा त्वरा के साथ चली गयी।

ऊपर के कक्ष में पहुँचकर राजकुमारी को कुछ राहत अनुभव होने लगी। एकान्त था और शान्ति भी। ऊपर अतिथियों के लिए पाँच-छह कक्ष और थे जो इस समय भीतर से वन्द थे। सरोजा ने वताया—''इस समय सत्कारिकाएँ सो रही होंगी। रात्रि का व्यवसाय है न ! इनके विश्राम का यही समय रहता है।'' सरोजा वाहर से कक्ष वन्द कर नीचे को गयी और कुछ ही समय में पुनः भोजन लेकर लौट आयी।

राजकुमारी ने भोजन तो क्या इस घर में जल भी पीने से मना कर दिया। वोलीं—''मैं तो इस पाप के परिसर से छूटकर कहीं दूर—वहुत दूर निकल जाना

चाहती हूँ, प्यारी सरोजा ! तुम मुझ पर दया करो। मुझे कहीं से एक छुरी लाकर दे दो। मैं आत्मघात कर लूँगी। मैं पतिव्रता स्त्री हूँ, संभ्रान्त कुल की हूँ। मैं इस प्रकार का जीवन अपना नहीं सकती हूँ। धिक्कार है उन स्त्रियों को जो ऐसे नरक में चाह से जी रही हैं। वे तो नारी जाति के माथे पर कलंक के समान हैं।"

सरोजा बेचारी इस घर की एक सरल सेविका थी। उसके मन में राजकुमारी के प्रति सहज संवेदना उत्पन्न हो गयी। वह आगंतुक नारी के प्रति करुणा से भर उठी, परन्तु वह किसी प्रकार की सहायता करने की समर्थता नहीं रखती थी। वह बेचारी स्वयं असहाय थी। उसने राजकुमारी को जता दिया कि न तो वह कोई शस्त्र उसे दे सकती है और न ही किसी प्रकार से उसे जाने की सुविधा दे सकती है। वह करे तो क्या करे? उसे ही इनकी देखरेख और सुरक्षा का दायित्व सौंपा गया था। यदि कुछ भी गड़बड़ी हो गयी तो रूपा उसकी जान ही ले लेगी। उसने बताया कि राजकुमारी का भागने का प्रयत्न भी सफल नही हो सकेगा। उसके चर अत्यन्त कुशल हैं, फिर से पकड़ लाएँगे और फिर तो उनकी वो दुर्गति होगी कि जीवनभर ही स्मरण रहेगी। राजकुमारी यह सब सुनकर काँप उठीं। उन्हें आत्म-रक्षा का कोई मार्ग दिखायी नहीं दे रहा था।

उस सजे-सजाए, वैभवपूर्ण कक्ष में भी राजकुमारी की श्वास जैसे रुद्ध होने लगी थी। उसे चारों ओर घोर निराशा छायी दिखायी देने लगी। "तुम एक काम तो कर ही सकती हो, बहन सरोजा !" उन्होंने स्नेहपूर्वक संबोधन देकर कहा– "तुम कक्ष का यह दीपक जला दो और कक्ष से बाहर हो जाओ। मैं आत्म-दाह कर लूँगी। इस दुःखद जीवन का अन्त ही हो जायेगा।"

"दीदी ··· ! यह सब-कुछ संभव नहीं है, कदापि नहीं ··· ।" सरोजा ने राजकुमारी से कहा–"हाँ, एक काम हो सकता है।" और वह गहन विचारों में खो गयी। इन शब्दों की पवन ने तो मानो राजकुमारी के भस्मावृत उत्साह-अंगारे को पुनः सतेज कर दिया।

वे उमंग के साथ सावधान हो गयीं और पूछने लगीं–"क्या ··· क्या हो सकता है भला।"

उन्हें तो मानो डूबती को तिनके का सहारा मिल गया हो–"ऐसा करो, दीदी ! आप मुझे पर्यंक की चादर में गठरी बनाकर किसी कोने में धकेल दो और तकिये की एक खोल मेरे मुँह में ठूँस दो तथा दूसरी खोल को मेरे सिर से उतारकर सारा मुख ढक दो फिर फुर्ती से निकल भागो। अभी अवसर भी उपयुक्त है। सभी सो रहे हैं और रूपा स्वयं तो अभी देर तक कनाही मोरजी से वातें करती रहेगी। वह जानती है कि अभी तुम भोजन करोगी, नये वस्त्र धारण करोगी, सज-सँवरकर तैयार होगी तव कनाही को ऊपर लाने का समय होगा। तव तक वह उसे वातों में उलझाए रखेगी। लेकिन ··· काफी समय पहले ही निकल चुका है, अव शीघ्रता ही करनी होगी। जाते समय कक्ष का द्वार अवश्य खुला रखना होगा।"

जाने कहाँ-कहाँ ठोकरें खाता फिर रहा होगा। तू अब भूल जा उसे और इस नये जीवन को अंगीकार कर ले। इसी में तेरा भी भला है और मेरा भी। तेरे उसके-जैसे तो यहाँ प्रवेश भी नहीं कर सकते। उसकी शक्यता ही क्या है? बड़े-बड़े घरानों के युवा-पुरुष तेरे तलवे सहलायेंगे, बेटी ! ... तेरा रूप ही ऐसा है। तेरे एक कटाक्ष पर अनेक-अनेक युवराज और श्रेष्ठी-कुमार बलि-बलि जाएँगे। बड़े-बड़े सामन्त तेरी कृपा-दृष्टि पाकर निहाल हो जायेंगे। रत्नों—मणियों के ढेर तेरे पदाघात की प्रतीक्षा करेंगे। स्वर्ण और राशि-राशि धन तरसकर रह जायेगा कि एक दृष्टि तू उस पर डाल दे और तू ... ।"

"यह धन, यह स्वर्ण और रत्न सब मेरे लिए मिट्टी है, कूड़ा-करकट है। मैं तो अपने पतिव्रता धर्म को जीवन-सुख मानती हूँ। मुझे तुम लोभ दिखाकर कुमार्गी बना न सकोगी, माँ ! मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, मुझे यहाँ से जाने दो। मैं अपने स्वामी को स्वयं ही खोज लूँगी।"

"अब हाथ-पैर तो न जोड़ तू .... इससे कुछ सधना नहीं है। रूपा को जो भा जाती है, उसे वह अपने मार्ग पर लगाकर ही छोड़ती है।"—कहते-कहते उसके दाँत भिंच गये और होंठ फैलकर कुछ बाहर को आ गये। अपनी संकल्प-शक्ति की दृढ़ता व्यक्त करने को उसने राजकुमारी की कलाई को बड़ी कठोरता से थामा और ऐसा दबाया कि वे बेचारी चीख उठीं—"मैं सारी कला जानती हूँ—किसे कैसे वश में किया जा सकता है। कोई चिड़िया आज तक तो रूपा के पंजे से छूटकर भाग नहीं पायी है। अब क्या भागेगी कोई।" रूपा ने उन्हें सावधान किया—"यहाँ सम्मानित अतिथि आते हैं। किसी के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार किया तो खाल उधेड़ दी जायेगी, समझी?"

"सरोजा सुन, इसे ऊपर के कक्ष में ले जा और कुछ खिला-पिला दे। कनाही मोरजी भी आने वाले हैं। इस छोकरी ने उन्हें आनन्दित कर दिया तो फिर इसके वारे-न्यारे ही हैं। जीवन सुधर जायेगा इसका। सोने में खेलती रहेगी और सुन सरोजा, इसे अच्छी-सी पोशाक पहनाकर सजा देना।" वह इतना कहकर उठने को ही थी कि एक दासी ने आकर सूचना दी कनाही मोरजी ने संदेशा भेजा कि वे आने वाले ही हैं—"अच्छा, ठीक है, तुम जाओ। और सरोजा तुम भी शीघ्रता करो।" रूपा त्वरा के साथ चली गयी।

ऊपर के कक्ष में पहुँचकर राजकुमारी को कुछ राहत अनुभव होने लगी। एकान्त था और शान्ति भी। ऊपर अतिथियों के लिए पाँच-छह कक्ष और थे जो इस समय भीतर से बन्द थे। सरोजा ने वताया—"इस समय सत्कारिकाएँ सो रही होंगी। रात्रि का व्यवसाय है न ! इनके विश्राम का यही समय रहता है।" सरोजा वाहर से कक्ष वन्द कर नीचे को गयी और कुछ ही समय में पुनः भोजन लेकर लौट आयी।

राजकुमारी ने भोजन तो क्या इस घर में जल भी पीने से मना कर दिया। वोलीं—"मैं तो इस पाप के परिसर से छूटकर कहीं दूर—वहुत दूर निकल जाना

चाहती हूँ, प्यारी सरोजा ! तुम मुझ पर दया करो। मुझे कहीं से एक छुरी लाकर दे दो। मैं आत्मघात कर लूँगी। मैं पतिव्रता स्त्री हूँ, संभ्रान्त कुल की हूँ। मैं इस प्रकार का जीवन अपना नहीं सकती हूँ। धिक्कार है उन स्त्रियों को जो ऐसे नरक में चाह से जी रही हैं। वे तो नारी जाति के माथे पर कलंक के समान हैं।''

सरोजा बेचारी इस घर की एक सरल सेविका थी। उसके मन में राजकुमारी के प्रति सहज संवेदना उत्पन्न हो गयी। वह आगंतुक नारी के प्रति करुणा से भर उठी, परन्तु वह किसी प्रकार की सहायता करने की समर्थता नहीं रखती थी। वह बेचारी स्वयं असहाय थी। उसने राजकुमारी को जता दिया कि न तो वह कोई शस्त्र उसे दे सकती है और न ही किसी प्रकार से उसे जाने की सुविधा दे सकती है। वह करे तो क्या करे? उसे ही इनकी देखरेख और सुरक्षा का दायित्व सौंपा गया था। यदि कुछ भी गड़बड़ी हो गयी तो रूपा उसकी जान ही ले लेगी। उसने बताया कि राजकुमारी का भागने का प्रयत्न भी सफल नहीं हो सकेगा। उसके चर अत्यन्त कुशल हैं, फिर से पकड़ लाएँगे और फिर तो उनकी वो दुर्गति होगी कि जीवनभर ही स्मरण रहेगी। राजकुमारी यह सब सुनकर काँप उठीं। उन्हें आत्म-रक्षा का कोई मार्ग दिखायी नहीं दे रहा था।

उस सजे-सजाए, वैभवपूर्ण कक्ष में भी राजकुमारी की श्वास जैसे रुद्ध होने लगी थी। उसे चारों ओर घोर निराशा छायी दिखायी देने लगी। ''तुम एक काम तो कर ही सकती हो, बहन सरोजा !'' उन्होंने स्नेहपूर्वक संबोधन देकर कहा– ''तुम कक्ष का यह दीपक जला दो और कक्ष से बाहर हो जाओ। मैं आत्म-दाह कर लूँगी। इस दुःखद जीवन का अन्त ही हो जायेगा।''

''दीदी ··· ! यह सब-कुछ संभव नहीं है, कदापि नहीं ··· ।'' सरोजा ने राजकुमारी से कहा–''हाँ, एक काम हो सकता है।'' और वह गहन विचारों में खो गयी। इन शब्दों की पवन ने तो मानो राजकुमारी के भस्मावृत उत्साह-अंगारे को पुनः सतेज कर दिया।

वे उमंग के साथ सावधान हो गयीं और पूछने लगीं–''क्या ··· क्या हो सकता है भला।''

उन्हें तो मानो डूबती को तिनके का सहारा मिल गया हो–''ऐसा करो, दीदी ! आप मुझे पर्यंक की चादर में गठरी बनाकर किसी कोने में धकेल दो और तकिये की एक खोल मेरे मुँह में ठूँस दो तथा दूसरी खोल को मेरे सिर से उतारकर सारा मुख ढक दो फिर फुर्ती से निकल भागो। अभी अवसर भी उपयुक्त है। सभी सो रहे हैं और रूपा स्वयं तो अभी देर तक कनाही मोरजी से बातें करती रहेगी। वह जानती है कि अभी तुम भोजन करोगी, नये वस्त्र धारण करोगी, सज-सँवरकर तैयार होगी तब कनाही को ऊपर लाने का समय होगा। तब तक वह उसे बातों में उलझाए रखेगी। लेकिन ··· काफी समय पहले ही निकल चुका है, अब शीघ्रता ही करनी होगी। जाते समय कक्ष का द्वार अवश्य खुला रखना होगा।''

राजकुमारी ने दो क्ष। । इस योजना पर मनन किया और इसकी उपयुक्तता में उन्हें कोई सन्देह नहीं रहा। कुछ ही क्षणों में उन्होंने यह सारा क्रम पूर्ण कर लिया और चलने को हुईं। तभी उन्हें अपने रत्नों का स्मरण हो आया। रत्न-मंजूषा का क्या होगा? अब जो भी हो। अभी तो रत्न मुझे हाथ लग न सकेंगे··· किन्तु ये रत्न और किसी के पास रह भी नहीं सकते। दो बार पहले ऐसा हुआ भी है कि ये मेरे हाथ से निकले और कालान्तर में आये फिर मेरे ही पास। न भी आएँ तो क्या है? सन्नारी सतीत्व-रत्न की रक्षा के लिये ही सदा सचेष्ट रहती है। इसके न रहने पर तो अतुलित धन-सम्पदा भी मृदावत ही हो जाती है। उसका कोई मोल नहीं रह जाता है। क्षण मात्र में ही उन्होंने निर्णय किया और द्वार खुला छोड़कर ही सोपान-श्रेणी से द्रुत गति से नीचे उतरने लगीं। कुछ सोपान उतरकर इस सोपान-श्रेणी में मोड़ था। आगे का भाग ऊपर से दृष्टिगत नहीं हो पाता था। सूना सोपान पाकर राजकुमारी उतरती चली गयीं, किन्तु मोड़ पर पहुँचकर तो उनके हाथों के तोते ही उड़ गये। उन्होंने देखा कि नीचे एक रसिक-सा प्रतीत होता युवक रूपा के साथ ऊपर आने को सोपान पर पाँव बढ़ा रहा था। राजकुमारी के मुख से चीख निकलते-निकलते रह गयी। दोनों हाथों से अपना खुला मुख ढकते हुए राजकुमारी इसी मोड़ पर दीवार की आड़ में सटकर खड़ी हो गयीं। शुभ यही हुआ कि उन दोनों की दृष्टि उन पर नहीं पड़ी। छिपकर खड़ी राजकुमारी बड़ी सतर्क और सावधान थीं। पद-चाप जब समीप अनुभव हुई तो वे सहसा आगे वढ़ आयीं और पूर्ण शक्ति के साथ युवक के भाल पर पदाघात किया। लड़खड़ाकर वह गिरा और सोपानों पर लुढ़कता हुआ नीचे आ रहा। चारों खानों चित हो वह अचेत हो गया।

सब-कुछ इतना सहसा और शीघ्रता से घटित हो गया कि रूपा तो किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी दो क्षणों को अवाक् और अचल खड़ी रह गयी। राजकुमारी को अवसर मिल गया। उनके पैरों में तो जैसे पंख ही लग गये थे। लपककर उन्होंने सारी सोपान-श्रेणी को पार कर लिया और ऑगन में पहुँचकर मुख्य द्वार की ओर दौड़ीं, किन्तु दुर्भाग्य भी बड़ा तीव्रगामी होता है। वह अभागों के आगे-आगे चलकर सभी उद्यमों के द्वार बन्द करता चलता है। राजकुमारी के मुख से भी चीख निकल आयी जव उन्होंने देखा कि विकराल रूपधारिणी रूपा लपककर आगे आयी और द्वार में अपनी दोनों वाहें फैलाकर खड़ी है। उसकी लाल-लाल वड़ी-वड़ी आँखें और तमतमाया हुआ मुख देखकर वे सहम गयीं। विद्युत् वेग के साथ रूपा ने तनिक झुककर राजकुमारी को कॉधे पर लाद लिया और भीतर ले आयी। उसकी वलशीलता भी अद्भुत थी, वह सोपान-श्रेणी पार कर इसी प्रकार ऊपर की कक्ष तक राजकुमारी को एक ही सॉस में ले आयी और उसे शय्या पर पटक दिया। चंडिका-सा रौद्र रूप देखकर वे रूपा से आतंकित हो गयी थीं, किन्तु आत्म-रक्षा का उनका भीतरी भाव अव भी यथावत् वना रहा।

"छोकरी ! क्या समझकर तूने यह सब किया। भागने का प्रयत्न न करना··· हमने तुझे सावधान किया था न ! फिर तूने यह दुस्साहस क्योंकर किया।" कक्ष के एक कोने से किसी के कुनमुनाने की ध्वनि आती सुनकर रूपा ने चौंककर जो उधर देखा तो उसकी तीव्र बुद्धि ने उसे सब-कुछ एक क्षण में भलीभाँति समझा दिया–"अच्छा ! तो यह सब तेरी करतूत है। बेचारी सरोजा····। अरी तू तो बड़ी चलती निकली। क्रोध तो ऐसा आ रहा है कि तेरी हड्डी-पसली एक कर दूँ··· पर एक तो आज तेरा पहला ही दिन है यहाँ पर और ऐसी भूल भी तो तूने पहली बार की है। इस बार इसी कारण तुझे छोड़ देती हूँ। आगे से ध्यान रखना··· हाँ··· आँ··· ।"

कक्ष के बाहर निकलकर उसने द्वार बन्द कर दिया। तनिक ऊँचे स्वर में उसने पुकारा–"अरे कोई है····? बेचारी सरोजा कब से बँधी पड़ी है। कोई तो खोलो उसे।" भागने का प्रयत्न करने वाली किसी सुन्दरी को रूपा ने कभी इस प्रकार क्षमा नहीं किया था। उसका स्वभाव ही ऐसा न था, किन्तु अभी उसे नीति से काम लेना था। रत्न-मंजूषा के रत्न जो उसने देख लिए थे। उनकी चकाचौंध में चुँधियाई आँखों से अब तक वह अपना मार्ग सही-सही कहाँ देख पा रही थी।

अपने कक्ष में जाकर एकान्त में रूपा ने इस सारे प्रसंग पर पुनः गहराई से विचार किया। वह सारे अमूल्य अवसर को अपने दुराग्रह और क्रूरता को भेंट नहीं चढ़ाना चाहती थी। सोचने लगी–'इस छोकरी को तो कभी भी रास्ते पर लगाया जा सकेगा। न भी लगे–अपनी बला से, किन्तु यह अपार धन··· इसे खोना मूर्खता होगी। इतना धन तो ये अपनी सारी जवानी बेचकर भी मुझे नहीं दे सकती। अच्छा हो कुछ ऐसा हो जाय कि लड़की से भी पिंड छूट जाय और रत्नों पर भी मेरा निष्कंटक अधिकार हो जाय। किन्तु···· किन्तु इसके जीवित रहते तो यह आशंका बनी ही रहेगी कि न जाने रत्न हमारे अधिकार से निकल जायें।'

सोचते-सोचते रूपा का मन अशान्त हो उठा। अशान्त मन तन को भी निश्चेष्ट नही रहने देता। उद्विग्नतावश वह उठ खड़ी हुई और मंथर गति से सोपान पार करती हुई ऊपर आ गयी। राजकुमारी बैठी, अपने घुटनों पर चिबुक टिकाये अश्रु प्रवाहित कर रही थीं। दो दासियाँ समीप खड़ी थीं। रूपा ने पुचकारते हुए बड़े स्नेह के साथ कहा–"अरे–रे–रे ! मेरी पागल बिटिया !··· रो क्यों रही है री ! रोने से परिस्थितियाँ बदल जाती हों, मनचाहा समय आ सकता हो तो आधे से अधिक संसार हमें रोता ही दिखायी देता। समय के सत्य से समझौता भी तो सुख का स्रोत सिद्ध हो जाता है। प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति को ऐसा करने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिये। हाँ··· अब बता, बिटिया ! क्या सोचा है तूने? हाँ····? आज तूने कनाही मोरजी का अपमान कर इस घराने की जो हानि की है–वह तो

अविस्मरणीय ही रहेगी, किन्तु आगे की क्या योजना है तेरी?" रूपा ने बड़े ही प्यार के साथ हौले-से अपना हाथ उनके कंधे पर धर दिया।

रूपा का हाथ त्वरा के साथ झटकाते हुए उन्होंने सरोष उत्तर दिया–"नहीं चलना है मुझे तुम्हारे रास्ते पर ... कदापि नहीं चलना। मैं पतिव्रत धर्म का परित्याग नहीं करना चाहती। कर ही नहीं सकूँगी, चाहे मुझे प्राणों का उत्सर्ग ही क्यों न करना पड़े। ऐसे घृणित और अपमानपूर्ण जीवन से तो मौत ही उत्तम है।" राजकुमारी सुबक उठीं और उनका रुदन क्रमशः बढ़ने लगा।

रूपा को तो वार्त्तालाप का मनचाहा मोड़ मिल गया। मौत का प्रसंग स्वतः ही चल पड़ा और वह भी इस सुन्दरी की ओर से। रूपा ने प्रसंग को प्रबल बनाने के प्रयोजन से पूछा–"बिटिया ! तो तू क्या काष्ठ-भक्षण करना चाहती है?"

"हाँ .... हाँ .... मैं काष्ठ-भक्षण करूँगी–अवश्य करूँगी।"

"अरे, सुनो सब लोग ! इधर आओ ... इधर आओ। यह आगंतुक सुन्दरी काष्ठ-भक्षण करना चाहती है।" आसपास के कक्षों से सारी सुन्दरियाँ रूपा के उच्च स्वर को सुनकर वहाँ एकत्र हो गयीं। "यह छोकरी काष्ठ-भक्षण करना चाहती है। इसके इस पुण्य कर्म में हमें बाधक नहीं बनना चाहिए। हमारा स्वार्थ तो कभी पूरा होता ही नहीं। केवल अपने स्वार्थ के लिए किसी की धर्म-हानि करना उचित नहीं। तो क्या करें .... दे दें इसे काष्ठ-भक्षण की अनुमति? ऐं ... ?"

सुन्दरियों ने अपेक्षित औपचारिक सहमति व्यक्त करते हुए समवेत स्वर में 'हाँ' कर दिया। राजकुमारी विचित्र द्वन्द्व में ग्रस्त थीं। वे क्या करें–क्या नहीं। स्वेच्छापूर्वक जब व्यक्ति जीवित ही अग्नि को समर्पित होने को तत्पर हो जाता है तो यही काष्ठ-भक्षण कहाता है। ऐसा निश्चय कर लेने वाला व्यक्ति जनसामान्य के लिए श्रद्धा का पात्र हो जाता है और बड़े महोत्सवपूर्वक उसका दाहकर्म सम्पन्न किया जाता है। सारा आकाश उसके जय-जयकार से गूँज उठता है। रूपा ने आदेश दिया–"इसकी इच्छा धूमधाम से पूर्ण की जाय। खुली पालकी में यह श्मशान भूमि जायेगी। वाद्य-वादकों की व अन्य सारी व्यवस्थाएँ कर ली जायें।"

अभी दोपहरी ढली ही थी। तत्काल सारी व्यवस्था कर ली गयी। कुछ ही समय में राजकुमारी लक्ष्मीवती के प्रस्थान का मुहूर्त्त आ पहुँचा। उन्हें नये वस्त्र पहनने को दिये गये, किन्तु वे अपने उन्हीं वस्त्रों में काष्ठ-भक्षण के लिए हठ पर आ गयीं। सभी ने उनकी बात मान भी ली। अलंकारों से सज्जित वे थीं ही। शृंगार के लिए उनका मन नहीं किया। उनके भाल पर चंदन का लेप और सिंदूर का मोटा-सा तिलक लगाया गया। माँग भर दी गयी और सखियों ने उनसे कहा–"वे एक वार अपना नाम स्वयं जोर से पुकारें।"

राजकुमारी ने तव जोर से वोला–"देवी लक्ष्मीवती।"

और उपस्थित सखियों ने सम्मिलित उच्चतर स्वर में जयघोष किया। उसी समय भवन के छोटे-से उद्यान में वादकों ने तुरही और भेरी का तुमुल नाद गुंजित कर दिया। बड़े-बड़े नक्कारें—ढोल बजे और बताशे झनझना उठे। एक अद्‌भुत अपूर्व वातावरण निर्मित हो गया। जिसने राजकुमारी के मन को सशक्त और सुदृढ़ कर दिया। उनके नेत्रों में असीम तेज आ गया मानो विशाल हो गये नेत्रों से चिनगारियाँ निकल रही हों। सखियों ने बाँह पकड़कर उन्हें खड़ा किया। सुगंधित पुष्पों की मालाएँ उन्हें धारण करायी गयीं और संकेत किया गया कि अब प्रस्थान करें। एक-एक चरण दृढ़ता से जमाती हुई वे आगे बढ़ीं। सखियाँ उनके मार्ग में पुष्प बिछाती रहीं। उद्यान में अनेक जन—स्त्री-पुरुष एकत्र हो गये थे। सभी ने श्रद्धापूर्वक उनके दर्शन किये और वन्दन-नमन किया। आशीर्वाद की मुद्रा में उन्होंने हाथ उठाकर सभी का आदरभाव और अभिवादन स्वीकारा। देवी लक्ष्मीवती के जय-जयकार से पुनः आकाश गूँज उठा। उनके पालकी में आरूढ़ होते ही शोभा-यात्रा चल पड़ी। रूपा सबसे आगे-आगे चल रही थी। ज्यों-ज्यों शोभा-यात्रा अग्रसर होती रही अनेक जन उसमें सम्मिलित होते गये। आबाल-वृद्ध नर-नारियों का एक विशाल संघ बन गया। श्रद्धालु जन पालकी पर पुष्प-वर्षा करते जा रहे थे। उनकी जय-जयकार करते श्रद्धालु जन तृप्त ही नहीं हो रहे थे।

अब शोभा-यात्रा राजमार्ग पर आ गयी थी। संयोग कुछ ऐसा रहा कि सामने से लक्ष्मीपुर-नरेश राजसिंह महाराज का रथ आ रहा था। इस विशाल शोभा-यात्रा को दूर से देखकर ही वे आश्चर्यचकित रह गये। भला ··· यह भीड़भाड़ कैसी ! शोभा-यात्रा का यह कैसा प्रसंग ···। समीप आने पर उन्होंने चर भेजकर सूचना माँगी। रूपा दौड़ी-दौड़ी राजरथ के समीप आयी और सादर नमन करती हुई बोली—"राजन् ! मेरी पुत्री ने काष्ठ-भक्षण का निर्णय किया है। उसी की शोभा-यात्रा है यह।"

महाराज राजसिंह विचार में पड़ गये—'रूपा वेश्या की पुत्री ··· इसकी तो कोई पुत्री भी नहीं। फिर यदि हो तो भी वह काष्ठ-भक्षण क्यों करेगी? उसे क्या कष्ट ······· क्या अभाव हो सकता है।' महाराज के मन में संदेह अंकुरित हो गया। वे स्वयं रथ से नीचे उतरे और पालकी के समीप आये। पालकी में आरूढ़ देवी को उन्होंने भी नमन किया और स्नेहपूर्वक कहा—"बेटी ! धन्य हो कि ऐसा शुभ निर्णय तुमने लिया, किन्तु तनिक यह तो बताओ कि तुम्हें कष्ट क्या है? काष्ठ-भक्षण जैसा निश्चय तुमने क्यों किया?"

"राजन् ! मैं एक विपदाग्रस्त नारी हूँ। मेरे पति से मैं बिछुड़ गयी हूँ और यह विछोह सहना कठिन हो गया है।" राजकुमारी ने बड़ी ही शालीनता के साथ उत्तर दिया।

– "कब और कहाँ यह बिछोह हो गया, बेटी !"

– "आज ही हम यात्रा करते-करते दोनों लक्ष्मीपुर पहुँचे। कुछ ही समय में वे मुझे नदी-तट पर बिठाकर गये कि भोजन का प्रबंध करें और वे लौटकर नहीं आये। न जाने किस संकट में फँस गये।"

– "अरे, इस साधारण-सी समस्या के लिए इतना बड़ा निर्णय तो उचित नहीं। तुम्हारे पति अवश्य तुमसे मिल जायेंगे। इसके लिए प्रयत्न करना भी तो हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। संभव है तुम्हारे पति तुमको खोज रहे हों। तुमने भी तो वह स्थान छोड़ दिया होगा, जहाँ तुम्हें वो बिठाकर गये। हम राज-कर्मचारियों को यह दायित्व सौंपेंगे। इतनी अधीरता भी तो ठीक नहीं।"

× × ×

विक्रम जुआरीरूपी अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य भोजन-सामग्री लेकर जब नदी-तट पर पहुँचे तो वहाँ न राजकुमारी थीं न ऊँट था। वे बड़े चक्कर में पड़ गये। अन्ततः ये सब गये कहाँ ! कुछ ही क्षणों में नाना आशंकाएँ उनके मन में उदित होने लगीं। कहीं ताम्रलिप्ति के सैनिक पीछा करते-करते तो यहाँ तक नहीं आ पहुँचे। यह भी हो सकता है कि किसी छलिया के चक्र में फँस गयी हों। उनके पास रत्न-मंजूषा भी तो थी। सहसा उन्हें ध्यान आया–घाट पर वस्त्र धोते धोबियों का। एक के पास जाकर उन्होंने पूछा तो ज्ञात हुआ कि कोई स्त्री आयी थी, वही उन्हें साथ ले गयी है। अधिक समय भी नहीं हुआ, अभी-अभी गये हैं वे। एक पुरुष भी उनके साथ था जो ऊँट को लेकर गया। उन्होंने समय व्यर्थ करना अनुचित माना। भोजन धोबी को देकर वे पुनः नगर की ओर दौड़े चले गये। वे भूखे-प्यासे नगर में भटकते रहे, स्थान-स्थान पर राजकुमारी को खोजते रहे, किन्तु कहीं भी आशा की कोई किरण नहीं दिखायी दी। अपरिचित नगर था, वे किसे पूछते ··· किस स्थान का अनुमान लगाते। खोजते-खोजते वे राजपथ पर पहुँचे तो वहाँ एकत्र जन-समूह को देखकर वे उसी ओर लपके। दूर से ही देवी लक्ष्मीवती का जय-जयकार सुनकर जैसे उनकी साँस में साँस ही आ गयी। तो राजकुमारी जी का पता चल गया ···· पता चल गया हमारी प्रियतमा का। पर यह जय-जयकार ······ यह शोभा-यात्रा ···· यह सब क्या हो रहा है? पालकी को घेरे सघन जनसमूह खड़ा था। इस बाधा को पार करने का उत्साह जो उनके भीतर उमड़ा तो वे भीड़ में मार्ग बनाते हुए पालकी में वैठी राजकुमारी के पास पहुँच गये–"अरी प्रियतमे ! तुम कहाँ रह गयीं। मैंने कहाँ-कहाँ नहीं खोजा तुम्हें ···· और यह क्या हो रहा है? यह पालकी और यह ···· ।" वे तो प्रेयसी से पुनर्मिलन के हर्ष में इतने खो गये थे कि अपने आसपास का उन्हें कोई ध्यान ही नहीं रहा। महाराजा राजसिंह उन्हें ध्यान से देखे जा रहे थे। राजकुमारी लक्ष्मीवती को तो जैसे हाथ से फिसला स्वर्ग पुनः मिल गया था। वड़ी देर तक तो वे आत्म-विभोर-सी प्रियतम को ही देखती रह गयीं। जव औचित्य का ध्यान आया तो

वे पालकी से नीचे उतर आयीं। आर्द्र-नयनों से महाराज की मुख-छवि निहारकर वे उनके चरणों में झुक गयीं। महाराज ने उन्हें अपनी बॉहों में ऊपर उठा लिया।

तभी राजा राजसिंह प्रसन्नता के साथ अनियंत्रित स्वर में सहसा चिल्ला पड़े– "अरे, महाराज ! आप? राजराजेश्वर अवन्ती-नरेश विक्रमादित्य महाराज .... आप यहाँ कैसे? हमें कोई सूचना भी नहीं।" महाराज को सादर प्रणाम करते हुए वे झुककर दोहरे ही हो गये। अब महाराज का ध्यान लक्ष्मीपुर-नरेश की ओर गया। वे क्षण मात्र में पहचान गये .... कुछ वर्षों पूर्व ये अवन्ती के राज-परिवार में अतिथि रूप में रहे। सहसा प्रसन्नता-भरे स्वर में वे बोले–"अरे ! आप महाराजा राजसिंह जी ! कितने समय बाद भेंट हुई और वह भी ऐसी परिस्थिति में।" वे उत्साह के साथ आगे बढ़े। दोनों नरेश परस्पर गले लग गये। बोलो– "अवन्ती-राजराजेश्वर विक्रमादित्य महाराज की जय !" उपस्थित जनसमूह ने अनुकरण में तुमुल जय-जयकार किया। महाराज राजसिंह अवन्ती-नरेश और राजकुमारी लक्ष्मीवती को अपने रथ में राजभवन ले गये। शोभा-यात्रा यहीं विसर्जित हो गयी। रूपा अपने कुसमय की आशंका से पीपलपात-सी कॉपने लगी।

राजभवन में महाराज और राजकुमारी का भव्य राजसी स्वागत हुआ। राजा राजसिंह तो कृतार्थ ही हो गये। राजकुमारी ने लक्ष्मीपुर में बीते अपने उस एक दिन का वृत्तान्त सुनाया तो नरेश बड़े कुपित हुए। उन्होंने रूपा वेश्या को बन्दी बना लेने की आज्ञा दे दी। राजकुमारी को अपनी रत्न-मंजूषा भी प्राप्त हो गयी। वे अपने भाग्य पर गर्व करने लगीं। वे मालव-देश की रानी होंगी। उनका मन तो पहले ही कहता था कि स्वयं को जुआरी कहने वाले 'उनके वो' साधारण व्यक्ति नहीं हैं। सन्ध्या-समय एकान्त में दोनों के मध्य वार्त्तालाप होता रहा। रूपा आदि का सारा प्रसंग सविस्तार ज्ञात होने पर महाराज के मन में राजकुमारी लक्ष्मीवती के लिए एक प्रशंसनीय स्थान बन गया। महाराज उनके पतिव्रता धर्म की दृढता से, स्वयं के प्रति उनके लगाव और निष्ठा से भी परिचित हो गये और उनको एक आदर्श नारी मानने लगे।

लक्ष्मीवती नगर के राजकुल का आतिथ्य ग्रहण करते दो दिन व्यतीत हो गये। महाराज वीर विक्रम ने अनुमति चाही। अभी एक दीर्घ प्रवास शेष है। राजकुमारी ने लक्ष्मीपुर-नरेश से अनुरोध किया–"रूपा वेश्या का अपराध तो जघन्य है, किन्तु उसे क्षमा कर दिया जाय।"

अपने अहितैषियों के प्रति भी दया और हितैषिता का भाव देखकर नरेश के मन में राजकन्या की विशाल हृदयता और क्षमाशीलता के लिए प्रशंसा का भाव जाग्रत हुआ–"धन्य हैं, आप देवी ! यह व्यवहार आपकी उच्चतम मानवता का ही प्रतीक नहीं, यह तो आपको देवत्व के समीप ला खड़ा करता है। आपका सर्वनाश

जिसने करना चाहा आप उसकी भी हित-कामना कर रही हैं।" महाराज राजसिंह का मस्तक गर्व से उन्नत हो गया और उन्होंने रूपा को क्षमादान करते हुए तत्काल बंधन-मुक्त किये जाने का आदेश दे दिया। अपने अनुरोध की इस स्वीकृति से राजकुमारी को आत्मिक प्रसन्नता और संतोष अनुभव होने लगा।

महाराज वीर विक्रम लक्ष्मीपुर से विदा हुए। ऊँट पर आरूढ़ प्रेमी-युगल की यात्रा का क्रम पुनः आरम्भ हुआ। सन्ध्या-समय एक गॉव तक पहॅुचकर उन्होंने वहीं रात्रि व्यतीत करने का निश्चय किया। एक पंथशाला भी खोज ली गयी जहॉ भोजनादि सारी व्यवस्था थी। सन्ध्या पूर्व ही भोजन कर महाराज और राजकुमारी बतियाते रहे। श्रम के कारण राजकन्या को तो शीघ्र ही निद्रा आ गयी, किन्तु महाराज वीर विक्रम प्रयत्नपूर्वक जागते रहे। अर्द्ध-रात्रि को उन्होंने मित्र अग्निवेताल का स्मरण किया और उसने उन्हें अवन्ती पहॅुचा दिया। नगर-बाह्य उद्यान में ये पिछली रात्रि में ही पहॅुच गये। ताम्रलिप्ति की राजकन्या अब भी गहन निद्रा के अधीन थीं। महाराज ने चादर बिछायी और सो गये।

भोर में अब राजकन्या की पलकें खुलीं तो पंथशाला के बन्द कमरे के स्थान पर स्वयं को इस खुले उपवन में पाकर अचम्भे में पड़ गयीं। ये हम कहॉ आ गये? कौन-सा स्थान है यह? यह तो कोई नगर भी समीप ही दिखायी दे रहा है। उन्होंने पाया कि प्रियतम अभी सो रहे हैं। वे उठीं और उस उपवन में विचरण करने लगीं। ऊँट एक वृक्ष से बँधा अपनी गर्दन उठाकर कोमल हरे-हरे पत्ते चर रहा था। समीप ही एक छोटा-सा सरोवर भी था। प्रातः कार्यों से निवृत्त होकर वे लौटीं तो देखा कि महाराज वीर विक्रम भी जाग गये थे। वे चित लेटे खुली ऑखों से गगन-विहारी पक्षियों को निहार रहे थे। उन्हें ज्ञात हो गया कि उपवन-भ्रमण कर राजकन्या लौट आयी हैं, किन्तु वे अनजान बने रहे।

"सुनिये .... उठिये .... उठिये .... ये हम कहाँ आ गये। हम तो उस ग्रामीण पंथशाला में थे न। यहाँ कैसे आ गये?" राजकन्या ने चकित होते हुए कहा–"यह कैसा चमत्कार कर दिया है आपने?"

"चमत्कार तो यह है, देवी ! किन्तु मेरा नहीं। चमत्कारी कोई अन्य ही है।" महाराज उठ खड़े हुए और जमुहाई लेते हुए वोले–"आपके मन में वार-वार यही वात आ रही थी न कि हम अवन्ती कव पहुँचेंगे, कितनी यात्रा और शेष है– आपकी इच्छा पूरी कर दी गयी है। अव हम अवन्ती पहॅुच गये हैं। शीघ्र ही नगर में प्रवेश भी कर लेंगे।"

ऊँट पर आरूढ़ होकर अवन्ती-नरेश प्रेयसी राजकन्या और रत्नों के साथ जव राजभवन पहुँचे तो इस भव्य सफलता पर प्रसन्न होती हुई राजरानी कमलावती ने दोनों का स्वागत और अभिनन्दन किया। राजभवन उत्साहपूर्ण

वातावरण से भर उठा। यथासमय नागदमनी भी राजभवन पहुँचीं। महाराज ने रत्न-मंजूषा उन्हें सौंपते हुए कहा–"मैंने तुम्हारे प्रथम आदेश को पूर्ण कर दिया है, नागदमनी ! अब पंचदण्डछत्र का निर्माण कर दो।"

एक व्यंग्यपूर्ण क्षीण हास के साथ नागदमनी ने कहा–"आप भी बहुत शीघ्र ही अधीर हो जाते हैं, राजन् ! यह आपकी सफलता निश्चित ही एक महान् उद्यम का परिणाम है। इससे अब यह विश्वास होने लगा कि आपको छत्र की प्राप्ति अवश्य हो जायेगी, किन्तु, राजेश्वर ! ये रत्न तो छत्र की झालर में टाँगे जाने को हैं। अभी पंचदण्ड तो शेष हैं। अपने समय पर ही सब स्वतः ही प्राप्त होता रहता है। उतावली से तो वह समय आगे सरकता है, उद्यम उसे समीप लाता है। अब आपको मेरा दूसरा आदेश पूर्ण करना होगा।"

– "वह.... वह क्या है?"

– "आपको सोपारक नगर जाना होगा जो यहाँ से उत्तर दिशा में तीन सौ कोस की दूरी पर है। वहाँ उमादे नाम की एक स्त्री का निवास है। सोम शर्मा उसके विद्वान् पति हैं। आपको उमादे के चरित्र के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना होगा।"

"हूँ....।" महाराज वीर विक्रम ने चिन्तन की मुद्रा में कहा–"किन्तु.... हमें तो दण्ड-प्राप्ति का उपक्रम करना होगा न ! यह...।"

"आपका आशय मुझे ज्ञात हो गया, राजन् ! किन्तु आरम्भ में यही आपको करना होगा।" नागदमनी ने कठोरता अपनी वाणी में न लाते हुए कहा–"अभी यही अपेक्षित है। यह आपके शौर्य और चातुर्य की कसौटी होगी।"

"अर्थात् इस कसौटी पर खरे उतरने पर ही पंचदण्ड की प्राप्ति-सम्बन्धी हमारी पात्रता और क्षमता सिद्ध होगी?.... यही न....?" महाराज के इस प्रश्न की उपेक्षा करती हुई नागदमनी उठ खड़ी हुई और अनुमति चाहने लगी। सोपारक अभियान अब महाराज के मानस में हलचल मचाने लगा। भीतर से उद्विग्न महाराज ऊपर से शान्त और प्रसन्न बने रहे। सन्ध्या-समय महाराज विक्रमादित्य का परिणय ताम्रलिप्ति नगर की राजकन्या लक्ष्मीवती देवी के संग वड़ी ही भव्यता के साथ सम्पन्न हुआ। निश्चित हुआ कि तीन दिन पश्चात् ही महाराज सोपारक नगर के लिए प्रस्थान करेंगे।

● ●

सूर्योदय के शुभ मुहूर्त्त में महाराज वीर विक्रम ने सोपारक नगर में प्रवेश किया। उनके हृदय में उत्साह, मुख पर आत्म-विश्वास का तेज और अधरों पर नमोकार महामंत्र था। इस बार कोई सीधा लक्ष्य उनके समक्ष न था अतः मानसिक उलझनें ही अधिक थीं। नगर-प्रवेश के समय उन्हें बसावट की विरलता दृष्टिगत हुई किन्तु ज्यों-ज्यों ये अग्रसर होते गये वह सघन से सघनतर होती गयी। और अब तो ये उस छोटे-से सुन्दर नगर के मध्य भाग में भी पहुँच गये। अब तक पथों पर आवागमन भी पर्याप्ततः बढ़ गया था। बाजार जाग्रत होने लगे। व्यवसाय केन्द्र खुलने लगे थे, प्रातःकालीन स्वच्छता का क्रम आरम्भ होने लगा। कहीं दुकानों को विक्रय सामग्रियों से सज्जित करने का कार्य होने लगा था। पूछताछ करने पर उन्हें एक पंथशाला का पता मिल गया। वे पंथशाला पहुँचे तो वहाँ के प्रौढ़ प्रबन्धक ने हँसते हुए उनका स्वागत किया–"आइये .... आइये .... भगवन् ! परदेसी यात्री प्रतीत होते हैं, आप ! .... कहिये, कहाँ से आगमन हो रहा है? कहाँ जाने का प्रयोजन है?"

आरम्भ में ही इतनी छानबीन से महाराज अचकचा गये, किन्तु स्वयं को संयत करते हुए उन्होंने अपना सारा परिचय दिया कि प्रबन्धक को आश्वस्त और संतुष्ट किया जा सके। अपनी वाणी में विनय की झलक लाते हुए बोले–"काका जी ! मैं अवन्ती का एक ब्राह्मण-कुमार हूँ। वहीं से आया हूँ और यह यशस्वी नगर सोपारक ही मेरे प्रवास का गंतव्य है।"

"आहा .... हा ....। तुम अवन्ती से आये हो, महाराज विक्रमादित्य के नगर से। बडे भाग्यशाली हो ब्राह्मण-कुमार कि तुम्हें ऐसे पराक्रमी और न्यायशील नरेश का आश्रय प्राप्त है। धन्य हो गये भैया तुम तो ! अच्छा इस नगर के लिए ही आये हो तो यहाँ क्या प्रयोजन है भला तुम्हारा?" प्रबन्धक की दृष्टि में जिज्ञासा झलकने लगी।

"जी .... हम तो ब्राह्मण हैं, विद्या व्यसनी हैं, ज्ञानाकांक्षी हैं। यही हमारा प्रयोजन है।" कॉंधे पर की यज्ञोपवीत को कुछ व्यवस्थित करते हुए उन्होंने कहा–"विट्ठल विक्रम नाम से हम जाने जाते हैं।"

"अरे वाह ! तुम तो भैया ! वड़े भले हो। किशोरावस्था वीत जाने के वाद भी तुम वटुक हो।"

विट्ठल विक्रम ने प्रवन्धक को प्रवोधन-सा देते हुए कहा–"काका ! विद्या और ज्ञानार्जन के लिए कोई आयु निश्चित नहीं होती। जीवनभर भी ज्ञान-सरोवर में कोई तैरता रहा, फिर भी उसे पार मिलता ही नहीं। इस असीम की आराधना के लिए एक जीवन तो वहुत छोटा प्रतीत होता है।"

– "सत्य ही कहते हो, भैया ! यहाँ तुम्हारे लिए विद्या का क्या स्रोत है?"

– "यही चर्चा मैं आपसे करना चाहता था। आपसे कुछ सहायता चाहते हैं हम, काका !"

– "बोलो भाई ! बोलो .... क्या सहायता कर सकता हूँ मैं तुम्हारी?"

– "इस नगर में पण्डित सोम शर्मा नाम के एक आचार्य हैं। आप जानते हैं उन्हें?"

– "अरे जानता क्यों नहीं .... सोम शर्मा को भला कौन नहीं जानता? उनका बड़ा यश है, भैया ! वैसा ज्ञानी पण्डित तो दूर-दूर तक कोई है नहीं। सच तो यह है कि उनके कारण ही इस नगर को दूर-दूर तक लोग जानते हैं।"

– "ऐसे यशस्वी हैं गुरु जी ! वाह ! तब तो हम धन्य ही हो गये।"

– "भैया, महत्त्व की बात तो एक और भी है।"

– "वह क्या, काका !"

– "पण्डित सोम शर्मा की गृहणी पण्डिताइन उमादे की भी बड़ी कीर्ति है।"

"अच्छा !" आश्चर्य व्यक्त करते हुए विट्ठल विक्रम ने सोचा कि ये तो हमारे अभीष्ट सोम शर्मा ही हैं–इसमें अब कोई संदेह नहीं रह गया है अब। "पण्डिताइन भी ज्ञानवती हैं ऐसी?"–जिज्ञासावश उन्होंने प्रश्न कर दिया।

"ज्ञान-व्यान की बात तो मुझे नहीं ज्ञात, पर उनकी कीर्ति उनके चरित्र के लिए है।"–प्रबन्धक ने कहा–"बड़ी ही सती और पतिव्रता हैं। ऐसी नारी ... ।"

"अच्छा काका ! हमें आप उनका पता बतायेंगे?"

"क्यों नहीं .... अवश्य बतायेंगे। आओ भैया ! पहले तुम्हारे विश्राम की व्यवस्था भी कर दूँ।" वे प्रौढ़ सज्जन घुटने पर हाथ का बल देते हुए उठे, उठकर एक क्षण अपनी कमर को सीधा किया और विट्ठल विक्रम को साथ लेकर भीतर चले गये। एक स्वच्छ, सुविधाजनक कक्ष उनके लिए खोल दिया। महाराज ने अपना झोला भीतर रखा और द्वार पर खड़े होकर आसपास दृष्टि दौड़ाने लगे। पण्डित सोम शर्मा का पता ज्ञात हो ही गया। नागदमनी के कथन से आभास होता था कि उमादे का चरित्र कदाचित् विकारग्रस्त हो, किन्तु यहाँ ज्ञात हुआ कि एक सन्नारी के रूप में उसकी ख्याति समस्त क्षेत्र में व्याप्त है फिर .... रहस्य क्या है? महाराज वीर विक्रम इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयास करने लगे। कक्ष में शय्या पर अधलेटे–बैठे वे विचार-मग्न हो गये। प्रश्न तनिक जटिल प्रतीत हो रहा था। खुले वातायन से उद्यान की सुरभित, शीतल पवन आकर उन्हें सुख पहुँचाने लगी थी। उनकी चिन्तनधारा प्रवाहित होती रही। नागदमनी ने बताया था–सर्वरसदण्ड,

वज्रदण्ड, भूस्फोटकदण्ड, विषनाशकदण्ड और मणिदण्ड—ये पाँच दण्ड हैं जिन्हें मुझे प्राप्त करना होगा। कहती थी ये दुर्लभ हैं. देवताओं के लिए भी इनकी प्राप्ति दुष्कर है, किन्तु हम इन्हें प्राणों का भी भय न मानते हुए प्राप्त करके रहेंगे। हमें नहीं ज्ञात कि इन पाँच में से कौन-से दण्ड की प्राप्ति के लिए हमारा यह अभियान है। हमें तो प्रतीत होता है हमारे इस अभियान का कदाचित् दण्डों की प्राप्ति से कोई सम्बन्ध ही नहीं। उमादे के चरित्र जानने मात्र से भला दण्ड कैसे ···· !" यही सब-कुछ सोचते-सोचते कब उनकी पलकें बन्द हो गयीं—कब वे निद्राधीन हो गये; उन्हें स्वयं भी ज्ञात नहीं।

सन्ध्या-समय ही बटुक वेशधारी महाराज वीर विक्रम पण्डित सोम शर्मा की पाठशाला में पहुँच गये। बड़ा सुरम्य स्थल था। मुख्य द्वार के भीतर प्रवेश करते ही वे एक छोटे-से उपवन में पहुँच गये। ऐसा उपवन जिसकी कदाचित् पर्याप्त देखरेख की जाती हो। सुन्दर-सुन्दर फूल खिल रहे थे। सूरजमुखी के दो पौधे द्वार के भीतर कुछ दूरी पर दोनों ओर ऐसे दिखाई देते थे मानो आगंतुकों का स्वागत करने के लिए उन्हें वहाँ नियुक्त किया गया था। बड़े-बड़े फूल उनमें मुस्करा रहे थे। सीधा जा रहा पथ दोनों ओर के हरे-भरे समतल स्थल को विभाजित करता था। यह पथ सामने के एक बड़े छप्पर में पहुँचाता था। इस बड़े छप्पर के दायें-बायें कुछ छोटे दो छप्पर और थे। सोम शर्मा के इस आश्रम के तीन ओर छोटी-बड़ी पर्व कुटीरें निर्मित थीं। ये ही विद्यार्थियों के आवास थे। गुरु जी भी यहीं रहते थे। ऐसी ही एक बड़ी कुटीर में भोजनशाला भी थी। द्वार से भीतर बटुक विट्ठल विक्रम इधर-उधर देखते हुए कुछ ही दूर चले होंगे कि एक विद्यार्थी मिल गया। स्नेहपूर्वक उन्होंने उसी से पूछ लिया—"भाई ! सुनो। हमें गुरुदेव के दर्शन करने की अभिलाषा है। क्या इस समय सुविधा रहेगी?"

"जी ···· जी ···· अवश्य। सन्ध्या समय में गुरुदेव को किसी से मिलने में आपत्ति नहीं रहती। आइये, मैं आपको पहुँचा देता हूँ।"—विद्यार्थी उसी दिशा में घूम पड़ा, जिधर से वह आ रहा था।

विट्ठल उसका अनुसरण करने लगे—"धन्यवाद, भाई ! तुमने कष्ट किया। तुम तो कदाचित् किसी कार्य से जा रहे थे।"—विट्ठल विक्रम ने बड़ी ही शालीनता के साथ कहा।

दोहरी शालीनता के साथ उन्हें उत्तर मिला—"जी, जा तो रहा था, किन्तु आगंतुक अतिथि को सुविधा देना सबसे बड़ा कार्य होता है न ! पहले इसे तो कर लूँ।" बटुक वेशधारी महाराज वीर विक्रम आश्रम के शिष्टाचार-भरे वातावरण की एक झलक पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। सोचने लगे कि ऐसी पाठशालाओं में ही देश का भविष्य ढलता है। कुछ ही क्षणों में वह विद्यार्थी उन्हें पण्डित सोम शर्मा के समक्ष ले आया। पण्डित जी की दूर से एक झलक पाकर ही वे बड़े प्रभावित हुए। एक

ऊँचे आसन पर वे बैठे थे। तनिक स्थूल-सा तन एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व। मुण्डित शीश और मोटी-सी शिखा–केवल अधोवस्त्र धारण किये हुए और वक्ष पर लहराती यज्ञोपवीत–भाल पर चन्दन का तिलक और ज्ञान से बोझिल पलकें। उस समय अपने कुछ विद्यार्थियों को वे ज्ञान प्रदान कर रहे थे जो भूतल पर बैठे अपना सारा ध्यान गुरु-कथन पर केन्द्रित किये हुए थे। साक्षात् ज्ञानमूर्ति-से प्रतीत होते थे वे। महाराज वीर विक्रम कुछ क्षणों तक तो अविचल, स्तब्ध-से, कुछ दूर खड़े ही रह गये। "जय हो गुरुदेव ! कोई आगंतुक दर्शनाभिलाषी है।"–विद्यार्थी के कथन से सोम शर्मा चौंके नहीं, शान्त बने रहे। उनका झुका शीश कुछ क्षणों में ही ऊपर को उठ पाया। सामने देखा तो एक ब्राह्मण-कुमार को करबद्ध मुद्रा में खड़ा पाया।

"कल्याण हो .... मंगल हो .... वत्स ! समीप आ जाओ।"–सोम शर्मा ने आशीर्वाद देते हुए कहा। विट्ठल का उत्साह बढ़ गया। मंथर गति से वे करबद्ध स्थिति में गुरुदेव की ओर अग्रसर हुए। आदरपूर्वक उन्होंने गुरुदेव का चरण स्पर्श किया। उनके मस्तक पर हाथ रखकर पुनः आशिष देते हुए सोम शर्मा ने उन्हें बैठने का संकेत किया। बटुक रूप में पद्मासन में बैठे विट्ठल विक्रम ने अपनी पीठ सीधी और दृष्टि नीची कर ली। स्वतः ही उनके दोनों हाथ भी जुड़ गये।

"परदेसी लगते हो, वत्स !" सोम शर्मा ने स्नेहभाव के साथ पूछा–"कहाँ से आये हो?"

"आचार्यवर ! अवन्तीवासी मालव ब्राह्मण-कुमार हूँ। विद्याव्यसनी हूँ। सदा ज्ञानमार्ग पर अग्रसर होता रहूँ .... यही एक कामना है, गुरुदेव !" श्रद्धा के साथ विट्ठल ने शीश झुका दिया।"

"शुभ है, वत्स ! अति शुभ !!"–प्रसन्नता व्यक्त करते हुए सोम शर्मा ने पूछा–"इस नगर में आने का प्रयोजन?"

– "पूज्यवर ! आपश्री के चरणों के आश्रम में रहकर विद्यार्जन ही मेरा एक मात्र प्रयोजन है। आपका कृपाकांक्षी हूँ।"

– "अच्छा ..... अच्छा ! .... इसके पूर्व का अध्ययन?"

– "अवन्ती में गुरु भट्टमात्र का शिष्य रहा हूँ। उन्होंने वेदों का ज्ञान कराया। सामवेद का विशिष्ट ज्ञान अर्जित करने की अभिलाषा थी। गुरु भट्टमात्र ने आपश्री के पास भेजा है। आपकी प्रतिभा के आलोक में सामवेद के रहस्यों को हृदयंगम कर लेने को उत्सुक हूँ। कृपा करें और .... ।"

– "अरे, तुमने भट्टमात्र का स्मरण करा दिया ! वाह ! आनन्द आ गया। भट्टमात्र हमारा पट्ट-शिष्य रहा है। बड़ा प्रतिभाशाली है। तुमने भट्टमात्र से ज्ञानार्जन किया–अच्छा है। उसने भेजा है तो वत्स ! हम तुम्हें निराश नहीं करेंगे। कर नहीं सकते।"

– "धन्य हो गया ! कृपावतार, मैं कृतार्थ हो गया।"

– "हम तुम्हें सामवेद का गहन ज्ञान करायेंगे। प्रतीत होता है कि तुम उसकी पात्रता भी रखते हो और क्षमता भी ! विद्याभ्यास तो तुमको करायेंगे हम, किन्तु ····।"

– "किन्तु क्या गुरुदेव ! क्या कोई अभाव ···· कोई दोष मुझमें ····।"

– "नहीं ···· नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं; किन्तु शुभ मुहूर्त्त में ही तुम्हारा शिक्षा-क्रम आरम्भ करना चाहते हैं। कुछ दिनों की प्रतीक्षा करनी होगी। वत्स ! अवन्ती से यहाँ तक की यात्रा भी तो दीर्घ होगी। तब तक तुम्हें विश्राम भी मिल जायेगा। ठहरे कहाँ हो?"

– हाथ जोड़े हुए ही विट्ठल विक्रम ने निवेदन किया–"गुरुवर्य ! यहॉ की एक पंथशाला में आश्रय लिया है।"

– "विद्याध्ययन तो तुम्हें आश्रम में रहकर ही करना होगा, किन्तु उसके पूर्व ही तुम यहॉ आ सकते हो !"

– "वही उत्तम रहेगा, गुरुवर्य ! आश्रम और गुरुदेव की सेवा का सौभाग्य रहेगा। अनुमति हो तो कल प्रातः आश्रम में ही आ जाऊॅ।" विट्ठल विक्रम उत्सुकतापूर्वक सोम शर्मा का मुख निहारते रह गये।

– सोम शर्मा ने 'हॉ' के आशय में शीश डुलाते हुए कहा–"ठीक है ···· यही ठीक रहेगा, वत्स ! सूर्योदय-पश्चात् तुम कल यहीं आ जाओ।"

इसी समय श्वेत साटिकाधारिणी एक महिला वहॉ आ उपस्थित हुई। सावधानीपूर्वक अंग-प्रत्यंग आवृत किया हुआ था। मुख भी किंचित् अवगुंठनयुक्त था। ये ही उमादे होंगी ···· सोम शर्मा की धर्मपत्नी–विट्ठल विक्रम ने अनुमानित किया। बड़ी शालीन और सुसंस्कृत लगती हैं। "स्वामी ! सन्ध्या के भोजन में आपके लिए क्या तैयार करना होगा ! आपकी रुचि ···· ।" उमादे ने अतिशय मृदुल–मधुर वाणी में पूछा।

इस प्रसंग में रस न लेते हुए सोम शर्मा ने कहा–"कोई विशेप नहीं, उमा ! ···· जो भी सुविधा हो।"

"सुविधा-असुविधा का क्या प्रश्न है?" उमादे ने वड़ी तत्परता के साथ कहा और अनुरोध के स्वर में वोली–"आज थोड़ी-सी क्षीर ग्रहण कीजिये ना ! मैं अभी वनाती हॅू।"

"अरे नहीं, उमादे ! ···· नहीं ···· अभी क्षीर रहने दो ····।" सोम शर्मा ने उपेक्षापूर्वक कहा–"क्या करना है अभी क्षीर का !"

किन्तु उमादे ने स्नेहाग्रह के साथ कहा–"प्रभो ! आप आज तो बहुत थक गये होंगे। मैं आपको कुछ विशेष खिलाए-पिलाएँ बिना मानूँगी नहीं। क्षीर में रुचि न हो तो कुछ और····।"

उमादे के मन में अपने प्रति चिन्ता का यह भाव देखकर सोम शर्मा तनिक भावुक हो उठे। आर्द्र कंठ से बोले–"अच्छा···· अच्छा !···· जैसी तुम्हारी इच्छा। तो थोड़ी क्षीर ही ले लूँगा।" पण्डित जी के समक्ष नमन कर ज्यों ही वह जाने को हुई–पण्डित जी ने उसे रोका–"अरे हाँ, उमादे ! अवन्ती से यह एक बटुक और आया है।"–हाथ का संकेत करते हुए उन्होंने कहा–"भट्टमात्र ने सामवेद की शिक्षा के लिए भेजा है यहाँ। कल से यह भी यहीं रहेगा। इसके आवासादि की उचित व्यवस्था कर देना····।"

"तो आ गया···· पैंसठवाँ भी।" उमादे ने अधरों-ही-अधरों में कुछ कहा और तब प्रकट रूप में उत्तर दिया–"हो जायेगी, स्वामी !···· विशेष व्यवस्था भी हो जायेगी।" उमादे ने अपनी मुख-मुद्रा में सहसा सामान्यता लाते हुए अपने कथन के पूर्व भाग में आयी तनिक दृढ़ता और कठोरता के भाव को पोंछ दिया, किन्तु विट्ठल ने ताड़ लिया था। यह···· पैंसठ का क्या प्रसंग है? उमादे के मुख पर ऐसा विचित्र भाव क्योंकर आया। सोम शर्मा भी कुछ स्पष्ट न समझकर पूछ बैठे–"क्या हुआ, उमादे ! तुम्हें प्रसन्नता नहीं हुई !"

"प्रभो ! मुझे प्रसन्नता भला क्यों न होगी ! मैं तो सोच रही थी। वत्स का आगमन ठेठ अवन्ती से हुआ है। मेरे स्वामी की ख्याति कितनी दूर-दूर तक व्याप्त होती जा रही है।"–एक क्षीण-से हास के साथ उन्होंने बात को साधते हुए विट्ठल से पूछा–"हमारे वत्स का नाम क्या है?"

"माँ ! मेरा नाम विट्ठल विक्रम है। सभी मुझे स्नेह से विट्ठल कहकर ही पुकारते हैं। आपका वात्सल्य पाकर कृतार्थ हो गया। आप तो स्नेह की मूर्ति ही हैं।"

"जीते रहो, वत्स ! प्रभु तुम्हारी कामनाएँ पूर्ण करे। तुमने तो मेरी सफलता का बन्द द्वार खोल दिया है।"

रहस्यात्मकता के साथ किये गये इस कथन से विट्ठल को कुछ असामान्य-सा अनुभव हुआ। जिज्ञासावश पूछ बैठे–"वो···· वो कैसे, माँ!"

"अरे वत्स ! तुमने दूर देश से आकर आश्रम में प्रवेश लिया है। तुम्हारी देखरेख और पालन-पोषण में जो मेरी प्रवृत्ति रहेगी···· उसमें जीवन की सफलता ही तो है।" विट्ठल को लगा, दूसरी बार भी उमादे ने वात पलट दी है। इसी समय सोम शर्मा अपना आसन त्यागकर उठ खड़े हुए। उद्यान में आकर वे छोटे पौधों की बढ़वारी का निरीक्षण करने लगे। अनुमति लेकर विट्ठल विक्रम ने भी प्रस्थान किया।

पंथशाला का प्रबन्धक जो कुछ बता रहा था उमादे के विषय में यह सत्य ही है—बड़ी ही सेवाभावी और पति-भक्त नारी है। मार्ग में उनके मन में ऐसे ही अनेक विचार आते रहे। पंथशाला में आकर उन्होंने भोजन किया। तृप्त होकर वे कुछ समय वहाँ के उद्यान में विचरण करते रहे। उमादे के विषय में वे विचार करते रहे। बड़ी ही विशुद्ध आचरण और शीलवती नारी है। पति के प्रति अगाध श्रद्धा का भाव है उसमें। आश्रम के छात्रों के प्रति भी उसके मन में जो ममता और वात्सल्य है—इसमें उसका जननी-रूप साक्षात् होता है। ऐसी देवियाँ आज के युग में कहीं-कहीं ही मिलती हैं। इसकी सती रानी के रूप में जो ख्याति है—वह यथार्थ ही है.... फिर इसके चरित्र की परीक्षा कैसी....? नाना प्रकार के विचार आकर उनके मन में उमादे की एक शुभ मूर्ति प्रतिष्ठित करते रहे।

× × ×

विट्ठल क्या आया; आश्रम की काया ही पलट गयी। ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो उसका तेज बढ़कर दीप्तिमान नक्षत्र हो गया हो। स्वच्छता पहले से अनेक गुनी हो गयी। कुटीरों में कहीं कोई मलिनता नहीं। स्थान-स्थान पर उनमें वातायन बना दिये गये। शुद्ध पवन का आगमन कुटीरों को शीतल करने लगा। आलोक आँगन और भित्तियों को जगमगाने लगा। अध्ययन-स्थल के छप्परों को स्वच्छ तो किया गया, नीति-वाक्यों के पट्टों से भी उन्हें सज्जित कर दिया गया। छप्पर के स्तम्भों के समीप क्यारियाँ बनाकर पुष्पों के पौधे लगा दिये गये। प्रांगण का उद्यान अधिक व्यवस्थित होकर अतिशय सुन्दर हो गया। अनावश्यक स्वतः उग आई वनस्पतियों के हटा दिये जाने से वाटिका की छटा उभर आयी। अब डाल से टूटा एक भी पत्ता भूतल पर दृष्टिगत न होता था। पौधों—लताओं का सिंचन उन्हें सतेज बनाये था। मध्य का हरी-हरी दूब का समतल स्थल तो और भी सुन्दर हो गया मानो कोमल मखमली हरा बिछावन बिछा हो जिसके चारों ओर के किनारे चित्र-विचित्र पुष्पों की आकृतियों से मण्डित हों। आश्रम के इस नवीन परिवेश का श्रेय सोम शर्मा और उमादे विट्ठल को ही देते थे। आश्रम के कोने में स्वच्छ जल का एक कूप था। उसके समीवर्ती झाड़-झंखाड़ उखाड़ फेंके गये। कूप को भी एक स्वच्छ परिवेश दिया गया। परिश्रमपूर्वक कूप पर भी एक छप्पर निर्मित कर दिया। गोशाला अब पहले से अधिक स्वच्छ रहने लगी। गौओं के आहार-पानी की व्यवस्था में भी सुधार आया। उमादे प्रसन्न थी कि अब अधिक दूध मिलता है।

विट्ठल विक्रम देखते-ही-देखते सभी विद्यार्थियों का स्नेहभाजक वन गया। वे तो एक प्रकार से इनके स्वयंभू नायक ही हो गये। छात्रों की कुछ टोलियाँ वनाकर उन्होंने आश्रम-सेवा के विभिन्न कार्यों का दायित्व उनको सौंपा। गुरुजी का कक्ष और भोजनशाला की व्यवस्था का कार्य उन्होंने अपने लिए रखा। नियमित रूप से स्वच्छता और सौन्दर्यीकरण के कार्य होने लगे। आश्रम तो देखते-ही-देखते स्वर्गोपम

सुन्दर हो गया। वही आश्रम अब सभी के लिए अधिक सुख और विद्यार्जन का प्रबल प्रेरक स्थल हो गया। अधिक उत्साह के साथ अध्ययन-अध्यापन होने लगा।

विट्ठल विक्रम की इस आश्रम-सेवा से प्रसन्न सोम शर्मा तो उनकी प्रशंसा करते अघाते ही न थे। भोजनशाला की सारी व्यवस्थाओं को अन्य बटुकों के सहकार से जो नया रूप मिला–उमादे उसे देखकर बहुत प्रसन्न थी। सच्चे अर्थों में आश्रम का रूप ही अब बन पाया था। पण्डित-पण्डिताइन सोचते कि विट्ठल को तो बहुत पहले ही यहाँ आ जाना था। सेवा ही वास्तविक मोहनी मंत्र है, जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य जनों को अपना वशवर्ती बना लेता है। सभी के हृदयों में अपना स्थान बनाकर सर्वप्रिय हो जाता है। सारा वातावरण अपने अनुकूल बनाकर विट्ठल विक्रम भी तुष्ट और प्रसन्न थे। उन्हें तो उमादे के चरित्र की परीक्षा करनी थी। उनके लिए यही ध्यातव्य बना रहा। प्रातःकाल में उमादे आती और अपने पतिदेव की सेवा करती। एक चौड़े पात्र में उनके चरण रखकर झारी के जल से उन्हें प्रक्षालित करती, चरणामृत का पान भी करती और उसे शीश पर भी चढ़ाती। पलकों को चरणोदक से गीला करती, अपने स्वच्छ आँचल से पतिदेव के चरणों को पोंछती और तब आत्म-विभोर-सी बैठी आँखें बन्द किये परमात्मा से पतिदेव के मंगल के लिए विनती करती। उठकर उनके भाल पर चंदन का लेपकर अरुण तिलक सजाती और तब नव-पुष्पों का हार श्रद्धा के साथ धारण कराती और पति-परमेश्वर को भक्तिपूर्वक नमन कर अपना आँचल धरती पर बिछाकर उनकी कृपा की याचना करती और तब दण्डवत् नमन करती और अतीव संतोष का अनुभव करने लगी। यह उनका नित्य का ही क्रम था। विट्ठल तो इस दम्पति के अन्तेवासी हो गये थे। गुरु और गुरु-पत्नी का हृदय जीतकर उन्होंने स्वतः ही यह स्थान प्राप्त कर लिया था। अपने प्रयोजन की पूर्ति हेतु उनके लिए यह आवश्यक भी था। वे उमादे की गतिविधियों के सूक्ष्म निरीक्षण के लिए प्रयत्नशील जो थे। पति-भक्ति की उमादे की गहन भावना ने उन्हें अत्यन्त प्रभावित किया। 'धन्य हो उमादे···· ऐसी शीलवती एवं सती सन्नारी, तुम धन्य हो।' यही विचार उनके मन में प्रबलतर होते गये। विट्ठल विक्रम देखते कि उमादे तेल-मर्दन कर अपने पति को स्नान कराती। प्रेमपूर्वक उन्हें भोजन कराती, बिजुन डुलाती। उनके स्वास्थ्य के लिए चिन्तित और सचेष्ट रहती। उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखती। रात्रि में पतिदेव के सुखद विश्राम के लिए भी वह प्रयत्नशील रहती। समय-पूर्व ही उनकी शय्या को स्वच्छ कर देती। शयन करने पर उनकी चरण-चम्पी करती और जव वे निद्राधीन हो जाते तब ही वह अपने कक्ष में जाकर चटाई पर लेटती।

ऐसी सन्नारी के चरित्र की परीक्षा क्या की जाय···· कैसे की जाय ! क्या इस स्पष्टतः प्रकट शुभ चरित्र का भी कोई अन्य पक्ष सम्भव है जिसकी खोज

अपेक्षित हो। यह दूसरा पक्ष क्या कोई हो भी सकता है ! हो क्यों नहीं सकता ! त्रियाचरित्र की तो यही विशेषता रही है कि जो है वह दिखाई नहीं देता, जो दिखायी देता है वह यथार्थ नहीं होता। उमादे भी तो 'त्रिया' है। विट्ठल विक्रम के मन में संदेह अंकुरित हो गया। संदेह का रज्जु थामकर ही कोई सत्य की ऊँचाइयों तक पहुँच सकता है। सन्देह न करने वाला तो सतही तथाकथित सत्य तक सीमित रह जाता है। उसके लिए यथार्थ तक पहुँचने के प्रयत्न भी असम्भव हो जाते हैं।

उमादे की सारी श्रेष्ठताओं के मध्य छिपे हुए अशुभ पक्ष की खोज के लिए विट्ठल विक्रम कटिबद्ध हो गये। इसके लिए वे गहन चिन्तन-मनन करने लगे। उमादे की दिनभर की गतिविधियों के सूक्ष्म निरीक्षण से भी जब उन्हें उमादे के चरित्र के किसी अन्य पक्ष की झलक नहीं मिल पायी तो एक विचार सहसा उनके मानस में कौंध गया। उमादे का शुभ पक्ष तो दिवसभर दिखायी ही देता है। रात्रि की गतिविधियाँ हमने कहाँ जानी हैं ! सम्भव है उनमें कहीं चरित्र का वह अन्य पक्ष निहित हो। उन्होंने तब निश्चय किया कि वे देर रात्रि तक जागते रहकर परीक्षा करेंगे। सम्भव है कि इसके लिए उन्हें निद्राधीन हो जाने का अभिनय करना पड़े। इस विचार से उनकी चेष्टाओं को एक मार्ग मिला।

गुरुदेव सोम शर्मा की सेवा में रहा करते थे विट्ठल विक्रम। उन्हीं के शयन-कक्ष में वे भूतल पर सोते थे। कुछ अन्य वरिष्ठ विद्यार्थी भी वहीं सोते थे। उस रात्रि में भी आश्रम के नियमानुसार सभी शीघ्र ही सो गये थे। उनको सोना न था, जाग्रत रहकर उमादे की गतिविधियों का निरीक्षण करना था। वे जागते रहें तो इससे दो जनों में व्यवधान ही उत्पन्न होता; अतः निद्रा का अभिनय करते वे भी सोते रहे। बड़ा कठिन होता है ऐसा अभिनय, परन्तु प्रयोजन-सिद्धि के लिए उन्होंने इसे भी सुगम बना लिया था। उनकी अर्द्ध-निमीलित नयनों की दृष्टि द्वार पर लगी रही और कर्णेन्द्रिय लगी रहीं समीप के उमादे के कक्ष पर। उनकी समग्र चेतना ही मानो कर्णेन्द्रिय में केन्द्रित हो गयी। तनिक-सा कोई खटका होता और वे सतर्क हो जाते।

अर्द्ध-रात्रि के पश्चात् एक अद्भुत घटना हुई। कक्ष में अतिक्षीण आलोक था जो द्वार खुला होने के कारण बाहर के किसी दीपक से आ रहा था। उस मद्धिम प्रकाश में विट्ठल विक्रम ने देखा एक नारी-छाया ने कक्ष में प्रवेश किया और उसने अपने हाथ के एक दण्ड से जलपात्र को ध्वनित किया। प्रतिक्रियास्वरूप किसी में जब कोई हलचल न हुई तो उसने सोम शर्मा पर अपना दण्ड सिर से पाँवों तक तीन बार घुमाया और सोये हुए सभी वटुकों की ओर देखकर आश्वस्त हो गयी। विट्ठल विक्रम को जब यह स्पष्ट हो गया कि यह तो अन्य कोई नहीं, स्वयं उमादे है तो उन्हें अपार आश्चर्य हुआ। किन्तु .... किन्तु यह क्या पण्डिताइन तो आकर्षक वस्त्राभूषणों से सज्जित है। सोलह शृंगार किये वह तो सुरसुन्दरी-सी

तड़के ही नित्य की भाँति सोम शर्मा अपनी स्वाभाविक निद्रा से मुक्त होकर उठ बैठे। अन्य बटुक पूर्व में ही जाग्रत हो गये थे और विद्याभ्यास में प्रवृत्त हो गये थे। विठ्ठल विक्रम तो सोये ही न थे। जाग्रत तो वही हो सकता है, जो निद्रालीन रहा हो। निद्रा का अपना सुख होता अवश्य है, किन्तु जागरण का आनन्द कुछ और ही होता है—इस तथ्य का मर्म विठ्ठल विक्रम अब ठीक से समझ सके थे, किन्तु उन्हें लगा कि जागरण यदि सज्ञानता है तो उनका जागरण अभी अपूर्ण अवस्था में ही रह गया था। उमादे के चरित्र के विषय में प्राप्त ज्ञान आधा—अधूरा, अस्पष्ट और उलझन-भरा था। वे निश्चित और वास्तविक स्थिति तक पहुँच जाना चाहते थे। उन्हें विश्वास भी था कि वे शीघ्र ही यथार्थ पर से रहस्य की यवनिका हटाने में सफल हो जायेंगे। उनका वह आगामी सम्पूर्ण दिवस अशान्ति के साथ ही व्यतीत हुआ। गत रात्रि के दृश्य उनके मनःचक्षुओं के समक्ष साकार हो उठते थे।

रात्रि में सभी के सो जाने पर विठ्ठल विक्रम उठे और चुपके से कक्ष से बाहर आ गये। सर्वत्र अटल शान्ति थी। सावधानीपूर्वक बिना कोई खटका किये वे आश्रम से बाहर निकलकर उसी धात्री-वृक्ष की ओर बढ़े। इस प्रौढ़ वृक्ष में एक खोह बनी थी। वे उसी में अपने आप को भली प्रकार से छिपाकर बैठ गये। यथासमय उमादे आयी और दण्ड-प्रक्रिया पूर्ण कर वृक्षारूढ़ हो गयी। वृक्ष उसी भाँति आकाशगामी हो गया। जम्बूद्वीप पहुँचकर धात्री-वृक्ष एक पर्वत पर स्थापित हो गया और दुष्ट उमादे वृक्ष से नीचे उतरकर एक मंदिर की ओर चली। अदृश्यकारिणी गुटिका मुख में रखकर विठ्ठलरूपी महाराज वीर विक्रम ने भी उसका अनुसरण किया। आत्म-विश्वास के साथ वह सीकोत्तरी देवी के मंदिर की ओर बढ़ती चली जा रही थी। विठ्ठल सभी के लिए अदृश्य थे, किन्तु उनके लिए सब-कुछ दृश्यमान था। मंदिर के भीतर पहुँचकर उमादे ने विधि-विधानपूर्वक सीकोत्तरी देवी की पूजा-अर्चना की। बड़ी देर तक पलकें बन्द किये और हाथ जोड़े, वह वन्दना-स्तुति करती रही। तब करतलों से नेत्र मलती हुई वह सहज होने लगी। देवी माँ को पुनः नमन कर वह देव-सभा की ओर आयी। विठ्ठल विक्रम ने देखा, चौंसठ योगिनियों, बावन वीर क्षेत्रपालादि के मध्य स्वयं सीकोत्तरी देवी विराजमान थीं। उमादे ने पहले उन्हें भक्तिपूर्वक नमन किया, फिर सभी को प्रणाम कर एक ओर करबद्ध, अविचल खड़ी रह गयी।

क्षेत्रपाल ने कहा—"क्या वात है? आज उमादे वड़ी चुपचाप है !"

"क्या कहेगी वेचारी?"—एक योगिनी ने कहा—"यह कुछ कहने योग्य भी तो नहीं। वार-वार वचन देकर भी इसने पूर्ति नहीं की।"

इसी समय सीकोत्तरी देवी ने क्रोधावेश में वड़े ही कठोर स्वर के साथ कहा—"उमा ! हमने सर्वरसदण्ड प्रदान कर तेरी मनोकामना पूर्ण कर दी। किन्तु आज

तक तूने नर-बलि देकर हमें प्रसन्न नहीं किया। यह तेरी घोर अवमानना तुझे भयंकर दुष्परिणाम देगी। तू....।"

"क्षमा करें, देवी माँ ! मैं तो आपकी दासी हूँ। अवमानना का दुस्साहस मैं भला कैसे कर सकती हूँ। वचन की पूर्ति वास्तव में अब तक नहीं कर पायी—यह सत्य है, किन्तु इसमें बाधा रही, माँ ! अब गिनती पूरी हुई है। अब तक त्रैसठ ही छात्र थे। एक नये बटुक के आ जाने से अब उनकी संख्या चौंसठ हुई है। पैंसठवें मेरे पति सोम शर्मा हैं। इन सभी की बलि देकर आप सभी देवियों को मैं प्रसन्न करूँगी, माँ ! अवश्य करूँगी।" उमादे ने निवेदन किया।

"हम तुझे एक अवसर और देते हैं। अगली कृष्ण चतुर्दशी को तुझे ये नर-बलियाँ देनी हैं। यदि अब की बार भी चूक हुई तो, उमा ! हम तेरा ही भक्षण कर लेंगी।" देवी माँ ने दृढ़ता के साथ कहा और उठ खड़ी हो गयीं। सभी उनके साथ उठ गये और देव-सभा विसर्जित हो गयी।

इस अनायास विसर्जन पर उमादे बेचारी अचकचाकर रह गयी। देवी माँ के कोप से वह आतंकित थी ही। उसे यह विश्वास तो हो गया था कि अब नर-बलि में कोई बाधा न रहेगी, किन्तु इस अनुष्ठान के विधि-विधान का ज्ञान उसे न था। वह तो हक्की-बक्की-सी रह गयी कि अब क्या करे....। तब उसने बड़ी विनम्रता के साथ क्षेत्रपाल को पुनः प्रणाम किया और उनसे निवेदन किया कि वह तो बड़ी अबोध है, नहीं जानती कि नर-बलि अनुष्ठान की विधि क्या हो? तनिक उसे इसका ज्ञान देकर देव कृतार्थ करें।"

और तब क्षेत्रपाल देव ने उमादे को समझाया—"एक से आकार के चौंसठ मण्डल बनाने होंगे, जिनमें चौंसठ विद्यार्थियों को आसीन करना होगा और एक अधिक भव्य, बड़े मण्डल में सोम शर्मा को विराजित करना होगा। इन सभी की पूजा-अर्चना करनी होगी। इसके पश्चात् पैंसठ आसनों पर बिठाकर इनको उत्तम पकवानों से तृप्त करना होगा। तब तुम जल की कल्पना करते हुए देवियों का स्मरण करना। सभी साक्षात् हो जायेंगी और बलि ग्रहण करते हुए उनका भक्षण कर लेंगी। देवियाँ तुम पर प्रसन्न होकर तुम्हें नयी-नयी सिद्धियाँ प्रदान करेंगी।" यह सब बताकर अविलम्ब ही क्षेत्रपाल अपने स्थान को चल दिये। उमादे भी अपने तरु-विमान पर आरूढ़ हुईं। कुछ पूर्व ही विट्ठल विक्रम कोटर में बैठ चुके थे। अदृश्य रूप होने के कारण उन्हें कोई बाधा नहीं रही। विमान ने दोनों को आश्रम के समीप पहुँचाया। धात्री-वृक्ष तो अपने स्थान पर पुनर्स्थापित हो गया और उमादे आश्रम में पहुँच गयी। इसके पूर्व ही विट्ठल विक्रम अपने स्थान पर सो गये थे। उमादे ने सोम शर्मा के ऊपर अपना दण्ड घुमाया और अपने कक्ष में चली गयी।

अभी रात्रि काफी शेष थी। विट्ठल विक्रम का मन चिन्तन में ग्रस्त हो गया। तो यह है वह सर्वरसदण्ड जिसकी आवश्यकता नागदमनी को छत्र-निर्माण के लिए है।

यही हमें हस्तगत करना है। अब कुछ लक्ष्य की स्पष्टता हुई है, किन्तु किसी को कल्पना भी नहीं हो सकती कि एक परम शीलवती सन्नारी के रूप में जिसका यश व्याप्त है—वह उमादे ऐसी हो सकती है।.... ऐसी दुष्टा .... ऐसी पतिघातिनी। धिक्कार है उसके नारी जीवन को। अब सबसे प्रथम कार्य तो यही होना चाहिये हमारा कि सोम शर्मा को सारी स्थिति से अवगत करा दिया जाय। वे बेचारे तो शर्करा से आवृत विष गुटिका मुख में लिये हैं। शर्करा का आवरण अब शीघ्र ही घुलकर समाप्त होने को है और माधुर्य का आस्वादन करते-करते वे बेचारे विष के घातक वृत्त में आ जायेंगे। सर्वनाश ही हो जायेगा उनका। सर्वरसदण्डधारिणी उमादे को कामना है नई सिद्धियों की, उसके लिए पति की बलि चढ़ाने में भी उसे कोई हिचक नहीं। जगत् का सबसे निरीह प्राणी वह है जो अपने अहित से अनवधान और अनभिज्ञ हो। उसकी रक्षा के लिए सचेष्ट होना ही यथार्थ में करुणा है। ऐसी करुणा से विट्ठल विक्रम का हृदय परिपूर्ण हो गया। उनका आर्द्र अन्तर बार-बार उमादे को धिक्कारने लगा। यथार्थ ही है यह कि त्रिया-चरित्र को समझना देवताओं के लिए भी दुष्कर है। नाना प्रकार के चिन्तन के मध्य वे कब निद्राधीन हो गये—इसका स्वयं उन्हें भी ध्यान न था।

चिन्तित मनस्क की निद्रा भी दीर्घ नहीं होती। यथासमय अन्य विद्यार्थियों के संग ही वे भी जाग्रत हो गये। सोचने लगे—'बेचारे विप्र सोम शर्मा पर कैसे दुर्भाग्य के घने मेघ मँडरा रहे हैं।' किन्तु उमादे की लाख अशुभ कामनाओं के होते हुए भी सोम शर्मा का हिताहित तो स्वयं उनके कर्मबंध पर ही आश्रित रहेगा। उमादे उनके लिए भक्षक और अब हम उनके रक्षक बनना चाहते हैं, किन्तु विजय किसकी होगी—इसका निर्णायक गुरूजी का भवितव्य ही होगा जो कर्माधारित है।

गुरु सोम शर्मा तड़के ही वायु-सेवन के लिए उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण में विचरण के लिए जाते थे। प्रायः वे एकाकी विचरण ही किया करते थे। आज जब वे प्रस्थान करने लगे तो विट्ठल विक्रम ने भी संग चलने की अनुमति चाही। वे सोम शर्मा के स्नेह-भाजक तो हो ही गये थे। वे अपनी जो जिज्ञासाएँ गुरुदेव के समक्ष प्रस्तुत किया करते थे उनसे उन्हें विट्ठल के पूर्व-ज्ञान की स्तरीयता का आभास होता था और वे उनसे प्रसन्न थे। सोचा—'विट्ठल कदाचित् कोई ज्ञान-चर्चा करना चाहता है।' एक सहज मुस्कान के साथ उन्होंने अनुमति प्रदान कर दी। शान्त और एकान्त स्थल पर पहुँचकर विट्ठल विक्रम ने चर्चा आरंभ की—"गुरुदेव ! आप तो परम ज्ञानी हैं। वेदों, पुराणों का गहन अध्ययन किया है। क्या आपको अपनी मृत्यु का भी ज्ञान है.... कब होगी.... कहाँ होगी....?"

"आज वत्स ! यह तुमने कैसा प्रश्न किया? किसी को भी यह ज्ञान नहीं हो सकता कि उसका मरण कब, किन परिस्थितियों में होगा? हाँ, इतना अवश्य सभी

जानते हैं कि जीवन शाश्वत नहीं, तन अक्षर नहीं। मरण अवश्यंभावी है और एक दिन उसको भी मरना होगा, संसार से विदा होना होगा।'' अपनी गुरु-गंभीर वाणी में सोम शर्मा ने विट्ठल को प्रबोधन दिया।

''क्या किसी को अन्य किसी की मृत्यु के विषय में ऐसा ज्ञान हो सकता है, आचार्यश्री ?''

गुरु सोम शर्मा ने अपने शिष्य की इस जिज्ञासा को तुष्ट करते हुए उत्तर दिया–''नहीं, वत्स ! नहीं····। किसी को ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता।''

– ''किन्तु गुरुदेव ! मुझे है। मुझे ज्ञात है कि आपका मरण कब और कैसे होने वाला है?'

– ''परिहास करते हो, वत्स !''

– ''मैं यथार्थ का ही निवेदन कर रहा हूँ, आचार्यश्री ! मुझे ज्ञात है। आगामी कृष्ण चतुर्दशी का दिन इस हेतु निर्धारित है और गुरु-माता ही इस अशुभ की स्वयं निमित्त होंगी।''

''आश्चर्य है, क्या ऐसा भी संभव है !'' कुछ विराम लेकर उन्होंने पूछा– ''किन्तु तुम ऐसा किस आधार पर कह सकते हो?''

विट्ठल ने इसके उत्तर में गत रात्रि की घटना का रोमांचक वृत्तान्त प्रस्तुत कर दिया। अन्त में बोले–''आचार्यश्री ! हमने संघर्ष की ठान ली है। पंडिताइन की यह दुष्कामना हम पूर्ण न होने देंगे। आप भावी परिस्थिति का आकलन स्वयं भी कर लें।'' पण्डित सोम शर्मा तो एकदम गंभीर हो गये। वे अपनी धर्मपत्नी पर सहसा अविश्वास करने को भी तत्पर नहीं हो पा रहे थे और विट्ठल को भी अविश्वसनीय कैसे मानते ! उनके मन में अन्तर्द्वन्द्व तीव्र से तीव्रतर होने लगा। इतनी सेवाभावी, ऐसी शीलवती उमा मेरा अहित क्यों करेगी? किन्तु···· किन्तु···· विट्ठल भी तो मुझे सब-कुछ प्रत्यक्ष दिखा देने को तत्पर है।

संध्या-समय सोम शर्मा ने उमादे को बताया कि उन्हें एक आवश्यक कार्य से पर-गाँव जाना है। कल प्रातः तक ही लौटना होगा। इस समय पंडित जी को वैसा भाव पत्नी के मुख पर दिखायी दिया जैसे उसे कोई सुविधा मिल गयी हो। एक संतोष और प्रसन्नता का भाव सहज रूप में प्रकट होने लगा, किन्तु तुरन्त उसे प्रयत्नपूर्वक दबाते हुए वह बोली–''प्राणनाथ ! आपका मुख-दर्शन मैं प्रतिपल करती रहना चाहती हूँ। इसमें व्यवधान आने पर मेरे प्राण काँप उठते हैं। किन्तु······ जब आपको जाना ही है तो चिन्ता करते-करते ही यह समय भी व्यतीत करना ही होगा।'' उमादे ने भारी निराशा के साथ शीश झुका लिया।

पंडित सोम शर्मा सोचने लगे–'उमा ! मेरे जाने के प्रश्न पर क्यों तो प्रसन्न हुई और क्यों निराश हो गयी।' उसकी प्रसन्नता वास्तविक है या फिर यह निराशा।

उन्होंने उमा को आश्वस्त करते हुए कहा—"चिन्ता न करो, देवी ! मैं शीघ्र लौट आऊँगा। यदि तुम चाहो तो मैं अपनी यात्रा स्थगित ही कर दूँ।"

"न .... न .... स्वामी ! आप जाएँ, अवश्य जाएँ। मैं आपके मार्ग की बाधा नहीं बनना चाहती। बस .... अपना ध्यान रखिये।"—जिस तत्परता के साथ उमादे ने यह कथन किया—पंडित सोम शर्मा को उससे कोई विशेष आश्चर्य नहीं हुआ, अपितु अब तो वे इसी प्रतिक्रिया को स्वाभाविक मानने लगे थे।

रात्रि होते-होते पंडित जी आश्रम से विदा हुए। कुछ समय समीप के देवालय में आयोजित जागरण में व्यतीत किया और तब समय-पूर्व ही वे धात्री-वृक्ष की खोह में छिपकर बैठ गये। यथासमय उमादे आ पहुँची। उसके कार्य-कलापों से विट्ठल के कथन की पुष्टि होती रही। जम्बूद्वीप के पर्वत पर स्थित मंदिर में पहुँचकर सीकोत्तरी देवी की उसने पूजा—आराधना की। पंडित सोम शर्मा छिपकर खड़े उसकी गतिविधियाँ देखते रहे। पूजा पूर्ण होने पर उसने देवी माँ से प्रार्थना की—"माँ ! अपनी दासी से रुष्टता त्यागो। अपनी चूक के लिए मुझे क्षमा करो, माँ ! अपने चरणों की दासी पर दया करो, मातेश्वरी ! अगली चतुर्दशी को आश्रम के चौंसठ बटुकों और अपने पति की बलि देकर आप सभी देवियों को अवश्य प्रसन्न करूँगी। इसमें अब कोई चूक नहीं होगी, माँ ! प्रसन्न हो जाओ।"

इन शब्दों को सुनकर सोम शर्मा के तो कान ही खड़े हो गये। तो विट्ठल विक्रम के कथन में कुछ भी मिथ्या नहीं है। मैं तो आभारी हूँ उसका कि उसने मुझे सचेत कर दिया—भावी अनिष्ट से। अब वही मेरा रक्षक हो सकता है। उमादे ने परिक्रमा आरम्भ की और सोम शर्मा मंदिर से निकल गये। वे उमादे के आने से पूर्व ही खोह में छिप गये। तरु-विमान उन्हें अपने आश्रम के समीप ले आया। उमादे के चली जाने के पश्चात् वे खोह से बाहर निकले और उसी जागरण में सम्मिलित होने को चले गये। भोर होते-होते वे आश्रम लौट आये। उमादे ने मुस्कराते हुए उनका स्वागत किया और उनके चरण स्पर्श कर कुछ क्षणों तक धरती पर अपना आँचल फैलाये एकटक उनकी मुख-छवि जोहती रही। पतिदेव से कृपा की भिक्षा माँगती उमादे को बाँह पकड़कर सोम शर्मा ने स्नेह के साथ उठाया और अपनी आशिष से उसे कृतकृत्य कर दिया—"धन्य हो, देवी ! कैसा आदर्श है तुम्हारा ! संसार में किसी को ऐसी पत्नी न मिले।" सोम शर्मा के इस कथन की गहनता में पहुँचकर एक अयाचित आशंका से उमादे विचलित-सी हो गयी और भयभीत दृष्टि से उनकी ओर ताकने लगी। तभी सोम शर्मा ने अपने कथन को कुछ सँभाला—"अन्यथा तुम्हारी-हमारी विशेषता ही क्या रह जायेगी।" आश्वस्त होकर उमादे की जैसे साँस में साँस आ गयी। वह एक सहजता अनुभव करने लगी। कुचक्रियों को सदा यही चिन्ता सताती रहती है कि उनका भेद कहीं खुल न

जाए। यही उनका सबसे बड़ा दुःख और रहस्य के सुरक्षित रहने का विश्वास उनके लिए सबसे बड़ा सुख होता है। उमादे भी स्वयं को सुखी और सुरक्षित अनुभव करने लगी।

× × ×

कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि। आश्रम के मुख्य छप्पर को वन्दनवारों और पुष्पों से सज्जित किया गया था। धो-पोंछकर स्वच्छ किये गये ऑगन को रोली के किनारों से सुन्दर बना दिया गया। छप्पर के मध्य में एक बड़ा मण्डल बनाया गया था जिसे भाँति-भॉति के रंगों की चित्रकारी से सजाया गया था। उसके चारों ओर चौंसठ कुछ छोटे मण्डल थे। छप्पर की भित्तियॉ तो थी नहीं, सुन्दर-सी यवनिकाऍ उनके स्थान पर लगा दी गयीं। किसी महोत्सव का-सा सरस वातावरण निर्मित हो गया था। उमादे प्रफुल्लित थी, अति उत्साहित ···· । आज उनका देवी-आराधना का विशिष्ट अनुष्ठान जो था। बड़ी उमंग के साथ सभी के लिए उसने स्वयं अनेक व्यंजन बनाए थे। उसने अपने स्वामी और आश्रम के समस्त विद्यार्थियों से नहा-धोकर स्वच्छ वस्त्र पहनने को कहा था। सभी तैयार हो गये थे। यथासमय उसके अनुरोध पर पण्डित सोम शर्मा मध्य के बड़े मण्डल के आसन पर विराजित हो गये। सभी चौंसठ विद्यार्थी भी अपने-अपने स्थान ग्रहण कर चुके तो पूजन-विधि आरंभ हुई। उमादे ने सर्वप्रथम अपने पतिदेव की पूजा की। अरुण उत्तरीय धारण कराकर कलावा उनकी सीधी कलाई में बॉधा गया, जिसमें कौड़ियॉ गुॅथी हुई थीं। भाल पर सिन्दूर का टीका लगाकर करवीर-पुष्पों की माला उन्हें धारण करायी और जल-पात्र से आरती उतारी। इस पूजन के पश्चात् सोम शर्मा का व्यक्तित्व तो बड़ा विचित्र-सा हो गया। अपूर्व तेजस्विता विकीर्ण होने लगी। ऐसा ही पूजन जव वह सभी विद्यार्थियों का भी कर चुकी तो यह स्थल सूर्योदय की घड़ी की पूर्व दिशा-जैसा अरुणिमा से भर उठा। सव ओर लाल ही लाल। अव उमादे को इस पूजा-स्थल में चारों ओर घूम-घूमकर अक्षत्-वर्षा करनी थी। उसे ध्यान आया कि अक्षत् भरा थाल तो भीतर ही रह गया है। वह लपककर भीतर गयी। यही उपयुक्त अवसर था, विट्ठल विक्रम ने इसका भरपूर उपयोग किया। उमादे अपना दण्ड वहीं छोड़ गयी थी। वे त्वरा के साथ उठे और दण्ड उठाकर भागते हुए उन्होंने सभी को कहा—"प्राणों की सुरक्षा चाहते हो तो चलो ···· भागो मेरे साथ और वे दौड़ पड़े।" भयातंकित सभी विद्यार्थी भी दौडने लगे, सोम शर्मा भी पीछे न रहे। आगे-आगे विट्ठल विक्रम दण्ड उठाए दौडे जा रहे थे और पीछे-पीछे यह भीड़ जा रही थी। मरण का भय व्यक्ति को आत्म-रक्षा के लिए सशक्त दना देता है। सभी भागते रहे ···· भागते रहे। सोपारक नगर को पार कर वाहर निकलने में कोई विलम्व ही नहीं लगा। अव भी दौड़ चल रही थी। तत्काल ही उमादे को भी ज्ञात हो गया कि सव-के-सव भाग खड़े हुए हैं। उसे अपने दण्ड की

साथ-साथ अपने भावी अनिष्ट का जो विश्वास हो गया था, उसके कारण वह तो अर्द्ध-मूर्च्छित-सी हो गयी। व्यक्ति प्राप्ति से वंचित रह जाने पर दुःखी होता है और उससे अधिक कष्ट उसे प्राप्ति के हाथ से निकल जाने पर होता है। उमादे के लिए तो दोनों ही स्थितियाँ थीं। ऐसे विषम समय में उसे कुछ न सूझा। वह भी दण्ड के लिए इन लोगों के पीछे भागने लगी। अबला बेचारी कब तक भागती। शीघ्र ही वह थककर हाँफ उठी। गिरती-पड़ती उसने कुछ समय तक और पीछा किया, किन्तु वह जब बहुत पीछे रह गयी तो उसकी निराशा उसके उद्यम पर हावी हो गयी और तब तो वह धम-से धराशायी हो गयी और अचेत हो गयी। मध्य-रात्रि तक ही शीतल पवन के प्राकृतिक उपचार से उसे चेत आया और वह उदास, बुझी-बुझी-सी आश्रम में आकर खुले आँगन में पड़ गयी।

विट्ठल विक्रम अपने आचार्य और सहपाठियों के साथ भागते चले गये। पूरी रात्रि भागते ही व्यतीत हो गयी। जब प्रत्यूष वेला का क्षीण-सा आलोक व्याप्त होने लगा तो उन्हें ज्ञात हुआ, वे तो किसी अन्य नगर के समीप पहुँच गये हैं। इसी नगर में विश्राम करने के विचार से वे सभी थम गये और मंथर गति के साथ उन्होंने नगर में प्रवेश किया। प्रवेश करने पर गुरु सोम शर्मा ने पहचानकर बताया कि यह तो श्रीपुर नगर है। बड़ा वैभवशाली और इतिहास-प्रसिद्ध है यह नगर। विट्ठल विक्रम को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि इतना सुन्दर नगर मृतक-सा लग रहा था। उसमें जीवन का कोई स्पन्दन न था। चारों ओर निर्जनता और अटूट शान्ति ही शान्ति थी। कोई पशु-पक्षी भी नहीं दिखायी देता। केवल तीव्र पवन ही हहराती हुई निकल जाती थी और सूखे पत्तों को खड़खड़ाती हुई वह उन्हें सब ओर बिखेर जाती थी। सभी भवन सूने थे। खुले गवाक्षों से भी कोई बाहर न झाँकता था। किसी घर में कोई भी व्यक्ति न था; कौन झाँकता ! विट्ठल विक्रम ने मुख ऊपर उठाकर तीव्र घोष के साथ पुकारा—"क्या कोई है.... इस नगर में? कोई जीवित है, तो उत्तर दे....।" उन्होंने अनेक बार जोर-जोर से पुकारा; किन्तु उनकी ध्वनि प्रतिध्वनि बनकर लौट आयी। और कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई।

ऐसी असाधारण परिस्थिति में उन्होंने निर्णय किया कि इन सभी को यहाँ विश्राम के लिए छोड़ दें और स्वयं नगर-भ्रमण कर वास्तविकता की खोज करें। सोम शर्मा ने टोकते हुए कहा—"वत्स ! ऐसे अभिशप्त नगर में एकाकी जाना ठीक न होगा। अपने साथ एक-दो युवा छात्रों को क्यों नहीं रखते?" किन्तु उन्होंने कहा—

"नरोत्तमा हि कुत्रापि, व्रजन्तो गिरिगह्वरे।

न बिभ्यन्ति मनाक्, सिंहा इव सारवलोत्कटा॥"

(उत्तम पुरुष सर्वत्र निर्भीक होकर जाते हैं, जैसे किसी भी पर्वत कन्दरा में प्रवेश करते बलशाली सिंह भयभीत नहीं होता।) और वे वास्तव में सिंह की भाँति ही त्वरा के साथ नगर में अग्रसर हो गये।

विट्ठलरूपी महाराज विक्रमादित्य उस शापग्रस्त-से नगर श्रीपुर में ज्यों-ज्यों आगे बढे, उन्हें सर्वत्र इस नगर की जनहीनता का तथ्य पुष्ट होता हुआ मिला। भवनों की भित्तियों पर धूल जमी थी, उद्यानों में घास-फूस बढ़ी हुई थी, सरोवरों का जल मलिन था, राजपथ पर भी कूड़ा-करकट फैला था। महाराज ने देखा कि बाजारों में दुकानें खुली थीं, विक्रय-सामग्री भी व्यवस्थित रूप में थी, किन्तु न तो क्रेता था और न ही कोई विक्रेता। फल कान्तिहीन होकर सूखने लगे थे। इस नगर की इस निर्जीवता की गुत्थी तो उलझती ही चली जा रही थी।

वे चलते-चलते श्रीपुर के राजभवन तक पहुँच गये। अपनी अन्तःप्रेरणा से सशक्त स्वर में अनायास ही पुकार उठे—"अरे है कोई जीवित इस नगर में। हो तो उत्तर दे।" कुछ-कुछ क्षणों में ही वे अपने कथन की पुनरावृत्ति करते रहे। कुछ आगे बढ़ने पर राजभवन के एक ऊपरी तल्ले से खड़खड़ाहट हुई और एक वातायन खुल गया। वीर विक्रम महाराज तो इस अप्रत्याशित ध्वनि से ही चौंक पड़े। दृष्टि उठाकर जो उन्होंने देखा तो आश्चर्यान्वित हो गये। उन्हें कुछ दिखायी दिया, कुछ सुनायी दिया। जीवन की विद्यमानता मात्र से उन्हें आन्तरिक हर्ष हुआ। उन्होंने देखा एक निरीह बाला को, सुनी उसकी कराहें। उन्हें लगा कि बेचारी किसी विषम परिस्थिति में है। बाला ने संकेत से अनुरोध किया कि कृपा करके ऊपर आ जाओ। उसकी लाचारी की मुद्रा सहायता का आग्रह भी करने लगी।

क्षिप्रता के साथ वे राजभवन में प्रविष्ट हो गये और उस तल्ले तक पहुँच गये जिसमें उस अवला की उपस्थिति की संभावना लगी। वे सोच ही रहे थे कि इतने सारे वन्द कक्षों में से वह किसमें हो सकती है। तभी एक कक्ष के भीतर से कुंडी खटखटाने की ध्वनि आयी। अत्यन्त मृदुल स्वर भी भीतर से आया—"मेरे द्वार की कुंडी वाहर से वन्द है। खोलकर भीतर आ जाइये।"

महाराज ने ऐसा ही किया। कुम्हलाए हुए पुष्प की भाँति कान्तिहीन और मलिन वेश कन्या को देखकर वे करुणार्द्र हो उठे। पूछा—"किसने तुम्हें इस कक्ष में वन्द कर रखा है? क्या हम तुम्हारी कोई सहायता कर सकते हैं?"

"अव आप ही तो मेरे एक मात्र रक्षक—उद्धारक हैं। पिछले अनेक दिनों से मेरी कामना थी कि "कोई वीर इस नगर में आए और मुझे उस दुष्ट दैत्य के वन्धन से मुक्त करे। आज मेरा वह स्वप्न आपके आगमन के रूप में साकार हुआ है।"

उस वाला से संकेत पाकर वडी तत्परता के साथ अवन्ती-नरेश ने पूछ लिया—"दैत्य....? कैसा दैत्य? उसका तुम पर वन्धन कैसा....? हॉं.... ऑं?"

"वताती हूँ.... सव-कुछ वताती हूँ, वीर! एक भयंकर दैत्य ने इस नगर को अपने अधिकार मे कर लिया और नगरवासियों तथा नरेश पर अपने आये दिन के अत्याचारों से आतंक जमा लिया। राजा विजय, मेरे पिताश्री ही श्रीपुर के

शक्तिशाली नरेश हैं, किन्तु इस क्रूरकर्मी दुष्टात्मा ने सारे राज-परिवार को नगर त्यागकर चले जाने को विवश कर दिया। उस राक्षस ने मुझे बन्दी बना लिया। मैं एकाकी ही इस विशाल भवन में रह गयी हूँ। वह मेरे साथ विवाह रचाना चाहता है और मेरी सहमति के लिए नाना प्रकार के दबाव डाल रहा है। उसे देखकर ही मेरी आत्मा कॉप जाती है। उस दैत्य के भय से सारे-के-सारे नगरवासी गृह त्यागकर भाग खड़े हुए। एक रात्रि में उसने इतना आतंक मचाया कि जो जिस स्थान पर था, वहीं से भाग खड़ा हुआ। दुकानें खुली छोड़कर व्यापारी भाग गये, घर छोड़कर आबाल-वृद्ध नर-नारी ने अन्यत्र आश्रय ले लिया। नगर सूना और उजाड़ हो गया। मैं चन्द्रावती श्रीपुर की राजकुमारी हूँ और मुझे अपने ही भवन में ये दुर्दिन देखने को मिल रहे हैं। बड़ी अभागी हूँ मैं।"

"राजबाले ! हमने निश्चित कर लिया है कि हम तुमको उस दुराचारी के बन्धन से अवश्य मुक्त करायेंगे।" महाराज ने आत्म-विश्वास के साथ कहा और उनका मुख-मण्डल तेजस्विता से दमक उठा।

"भगवान आपके प्रयत्नों को सफल करें ! किन्तु .... किन्तु वीरवर ! वह दुष्ट जितना क्रूर है उतना ही शक्तिशाली भी है। उससे पार पाना सरल कार्य नहीं।" राजकुमारी चन्द्रावती भय के मारे थरथराने लगी।

"आश्वस्त हो जाओ, राजकुमारी ! सर्वथा निश्चिन्त !" महाराज वीर विक्रम ने धीरज के साथ कहा–"जब हमने बीड़ा उठाया है तो अब सब-कुछ हम पर छोड दो। हमें तनिक यह बताओ कि उस राक्षस का दैनिक कार्य-कलाप क्या रहता है?"

"सवेरे बहुत दिन निकल आने पर वह जागता है और व्यर्थ की बकवास करता रहता है, मुझे प्रताड़ित करता है। मुझे डराते-धमकाते उसे बड़ा आनन्द आता है। रह-रहकर वह एक ही बात कहता रहता है कि मुझसे विवाह कर ले; अन्यथा ....।" राजकन्या उस स्मृति मात्र से दुःखित हो उठीं और सुबकने लगीं। उनकी पलकें आर्द्र हो आयीं। कुछ पलों में सहज होते हुए उन्होंने बताया–"वह दैत्य तब उन्हें कक्ष में बन्द कर विचरण करने चल पड़ता है। मध्याह्न में वह लौटता है और पूजा करता है। इसी पूजा के आधार पर वह इतना शक्तिशाली है। देवों के लिए भी वह अजेय बना हुआ है। वह दैत्य भीम वास्तव में भीमाकार का महाबली और निर्दय है। वह मनुष्य को देखकर तो जीवित ही नहीं छोड़ता। उसके पर-पीड़क रूप को देखकर ही मेरे मन में आपके प्रति सहानुभूति प्रबल होती जा रही है। आप अपने प्राणों को क्यों संकट में डालेंगे। आप यहाँ से शीघ्र ही प्रस्थान करें। वह आने ही वाला होगा। मेरे भाग्य में जो होगा–होता रहेगा। मैं आपका अहित न हो–यही चाहती हूँ। आप अब यहाँ रुकें नहीं। चले जाने में ही आपका भला है।"

"अब आप मेरी चिन्ता न करें। माना कि भीम बड़ा प्रचण्ड होगा, किन्तु हम जब ठान लेते हैं तो फिर उस कार्य की दुर्गमता या प्राणों का मोह भी हमें विचलित नहीं कर पाता। राजकन्ये ! सुनो–जैसे कुत्सित बुद्धि से राजा का विनाश हो जाता है, समय पाकर ही फल पकता है, अग्नि से अन्न पकता है–वैसे ही पापों के परिपक्व हो जाने पर पापी भी नष्ट हो जाता है। उसके विनाश का निमित्त यदि हमें ही बनना है तो उसका मरण हमारे हाथों होकर रहेगा। आप यदि हमारे कार्य को सुगम बना सकें तो उत्तम होगा।" महाराज ने सविस्तार अपनी बात समझाई।

– "कैसी सहायता····? मैं अबला भला क्या कर सकती हूँ····।"

– "क्या तुम उसके किसी रहस्य को जानती हो? वह पूजा किसकी करता है?"

– "यह तो मुझे ज्ञात नहीं कि उसके इष्टदेव कौन हैं? किन्तु वह अपनी बड़ी देर तक चलने वाली पूजा में अपने वज्रदण्ड को भी रखता है। कदाचित् वह इस दण्ड की पूजा ही करता हो।" कुछ स्मरण करते हुए राजकुमारी ने कहा–"···· किन्तु एक···· एक बात है····।"

– "किन्तु क्या, राजकन्ये ! तुम रुक क्यों गयीं?"

– "मुझे भय है कि भीम दैत्य आ गया तो····।"

– "अब समय नहीं है, यह सब सोचने का। शीघ्र बता दो–तुम जो भी कहना चाहती हो। किन्तु क्या?"

– "एक वार उसी ने बताया था कि वज्रदण्ड की पूजा पूरी हो जाने पर कोई उसे उस दिन पराजित नहीं कर सकता। भीषण शत्रु का भी संहार करने का वल उसमें आ जाता है। यदि पूजा अपूर्ण ही रह जाय और कोई संघर्ष हो जाय तभी उसे पराजय का मुख देखना पड़ता है फिर भी उसका मरण तो तब तक नहीं संभव होता, जब तक कि शत्रु उस दण्ड से उसके मस्तक पर वार न करे।"

राजकुमारी का कथन पूर्ण होते-होते ही "हा···· हा–हू···· हू" की घोर ध्वनि वातावरण को प्रकम्पित करने लगी–"लो, वह आ गया···· आ ही गया वह दुष्ट अव, वीरवर ! आप कक्ष के वाहर जाकर द्वार की कुंडी चढ़ा दीजिये और आत्म-रक्षा के लिए स्वयं को कहीं छिपा लीजिये। शीघ्रता कीजिये। अदृश्यकारिणी गुटिका उनके पास थी ही। अतः महाराज कुछ सीमा तक आश्वस्त थे। वाहर निकलकर उन्होने द्वार की कुंडी चढा दी और स्वयं गुटिका के प्रयोग से अदृश्य हो गये। वे इसी अवस्था में यहाँ वने रहे। प्रचंड दैत्य भीम ऊपर आ गया।

उसकी पर्वताकार देह को देखकर महाराज दंग रह गये। उसके बड़े-बड़े और पैने दाँत बड़े भयावह थे।

महाराज उसे देख पा रहे थे, किन्तु वह उन्हें नहीं देख पाता था। भारी डीलडौल के साथ जब वह उछलकूद करने लगा तो वह और भी वीभत्स लगने लगा। अतिशय श्यामवर्णी दैत्य के बाहर निकले लम्बे-लम्बे, पैने और श्वेत दाँत अलग से दमक रह थे और बड़ी-बड़ी लाल आँखें और भयानक लगती थीं। पुष्ट बाहुओं और प्रशस्त वक्ष से उसकी शक्ति की झलक मिलती थी। सारे तन पर घनी रोमावली उसकी पाशविकता की प्रतीक थी तो उसके मुण्डित शीश से वह क्रूरता की मूर्ति प्रतीत होता था। सहसा उसने एक श्वास ली, नासिका ने कुछ पहचानने का प्रयास किया और तब वह तीव्र स्वर में चिल्ला पड़ा—"हा .... हा .... कहाँ छिपा है मनुष्य? कौन है .... कौन है .... किधर छिपा है? तू जहाँ भी कहीं हो—मेरी पकड़ से बच ना सकेगा। आज कई दिनों के पश्चात् मानव-आहार मिलेगा। अरे वाह ! .... आज तो आनन्द ही आ जायेगा।" वह अट्टहास कर उठा और लपककर कक्ष की कुण्डी खोल कपाटों को धकेल दिया। राजकुमारी चन्द्रावती सहमी-सहमी-सी, काँपती-सी खड़ी थी। "अरी ओ छोकरी ! कौन आया है यहाँ? .... मुझे मनुष्य की गंध आ रही है। कहाँ छिपा रखा है उसे?"—कठोरतापूर्वक दैत्य ने राजकन्या से पूछा।

बेचारी घबराती हुई बोली—"मुझे तो तुमने बन्दी बना रखा है। यहाँ कोई आयेगा तो भी मुझे क्या पता चल सकता है। वैसे भी नगर में कोई मनुष्य बचा ही नहीं .... सभी लोग तुमसे भयभीत हैं .... यहाँ कौन आ सकेगा .... हाँ?"

"छोकरी ! तेरी जीभ मिथ्या बकवास कर सकती है, किन्तु मेरी नासिका मुझे मिथ्या सूचना नहीं दे सकती है, मूर्ख ! मुझे बड़ी ही तेज गंध आ रही है। मानव-मानव-मानव .... अवश्य कोई आया है। अब उसका ....।" भीम दैत्य नाक चढ़ाकर जोर-जोर से श्वास खींचने लगा।

आगत वीर की सुरक्षा पर आये संकट की आशंका से विचलित राजबाला ने कहा—"इस सारे भवन में मैं ही एक मात्र मानवी हूँ। तुम्हें मेरी ही गंध आती होगी ....।"

"तेरी गंध का मैं अभ्यस्त हो गया हूँ, सुन्दरी ! उसे तो मैं पृथक् से पहचान गया हूँ। यह तो कोई अन्य ही गंध है। अभी देखता हूँ उसे .... दुष्ट छिपकर जायेगा कहाँ ....? अब वह मेरी पकड़ में है। पूजा का समय हो गया है .... इस कारण उसे जीवन की कुछ घड़ियाँ और मिल गयी हैं। पूजा के पश्चात् छककर प्रसाद पाऊँगा।" हा .... हा .... हा .... करता हुआ वह बाहर निकलकर चारों ओर अपनी दृष्टि फैलाने लगा और कुछ न पाकर समीप वाले पूजा-कक्ष मे चला गया। पूजा-कक्ष को वह बन्द करता .... उसके पूर्व ही अदृश्य रूप में महाराज ने कक्ष में प्रवेश कर लिया था। भीतर जाकर उन्होंने मित्र अग्निवेताल का [illegible]

किया और वह भी अदृश्य रूप में ही वहाँ विद्यमान हो गया। ये दोनों एक-दूसरे को देख-सुन सकते थे। बहुत संक्षेप में महाराज ने वेताल को सारा वृत्तान्त भी बता दिया और आगे का क्रम भी।

दैत्य भीम की पूजा–अर्चना आरम्भ हो गयी थी। अब अवन्ती-नरेश ने गुटिका को अपने मुख से निकाल लिया और वे दृश्यमान हो गये····। वेताल अभी भी अदृश्य रूप में ही उपस्थित बना रहा। काष्ठ प्रज्चलित कर दैत्य ने अग्नि में भरपूर अगरू झोंक दिया। सारा कक्ष धूम्रयुक्त हो गया। चारों ओर से बन्द उस कक्ष का वातावरण दमघोंटू हो उठा। आँखों में काष्ठ-धूम्र जलन मचाने लगा। दैत्य के समक्ष एक दण्ड स्थापित था। भित्ति के सहारे खड़ा यही वज्रदण्ड होना चाहिए–महाराज को सहज ही अनुमान हो गया।

भीम दैत्य अधरों ही अधरों में मंत्र गुनगुनाने लगा और बीच-बीच में अक्षत उछालता रहा। भित्ति पर सिन्दूर की मोटी तह में कुछ आकृतियॉ बनी हुई थीं। उन्हीं पर उसकी दृष्टि केन्द्रित थी। बीच-बीच में जव के दाने दण्ड की ओर उछाल देता था। पूजा की यह न जाने कौन-सी पद्धति है···· इसकी पूर्णता-अपूर्णता का पता करना असम्भव मानकर जो कुछ करना है शीघ्र कर लेना अनिवार्य हो गया था। क्या किया जाना चाहिए, कहॉ से आरम्भ करना उपयुक्त रहेगा–निश्चय नहीं हो पा रहा था। महाराज वीर विक्रमादित्य भीम के पीछे खड़े थे। उनकी ओर उसकी पीठ थी। वे किसी की पीठ पर प्रहार नहीं किया करते थे। वह उनकी ओर अभिमुख हों–यह भी आवश्यक था।

"अरे···· ओ···· अधम राक्षस, दुष्ट होकर पूजा क्या करता है ! उठ··· देख इधर।" महाराज विक्रमादित्य ने राक्षस को ललकारा।

"कौन?···· यह किसकी आवाज···· ! यहॉ कैसे कोई आ गया?" दैत्य की दृष्टि बन्द द्वार पर गयी और कुण्डी को चढी हुई देखकर उसे रोषपूर्ण आश्चर्य हुआ। बोला–"हमारी पूजा में व्यवधान डालने वाला तू बन्द कक्ष में भीतर आया कैसे? है कौन तू?"

"मैं तेरा काल हूँ विकराल···· काल ! अब गिनती की साँसें हैं तेरी। अपने इष्टदेव का स्मरण कर ले।"

"मैं वही तो करता था। यह वज्रदण्ड ही मेरा सर्वस्व है, कभी इस दण्ड की पूजा अधूरी नहीं रही है। आज···· आज····।" वह रोष के वेश में उठ खड़ा हुआ। उपेक्षा के स्वर में बोला–"लगता है तू अवश्य कोई मायावी है। मैं तब तो तेरी माया को और तुझको मिट्टी मे मिलाकर ही रहूँगा।"

"लाख तालों में अपने आप को चाहे बन्द कर ले, पर जिसका काल आ जाता है, उसकी मौत वहाँ भी पहुँच जाती है। बन्द द्वारों से उसकी प्राण-रक्षा नहीं होती। तेरा भी अन्त आ गया है, राक्षस ! अब तू मेरे हाथों से बच नहीं सकेगा।"—महाराज ने रोष के साथ कहा।

इससे भीम दैत्य बिफर पड़ा—मस्तक डुलाते और दाँत पीसते हुए उसने कहा—"अरे वाचाल, दुर्बलता के पुतले ! यह तो समय ही बताएगा कि कौन किसका अन्त करता है। मैं शीघ्रता से पूजा पूर्ण कर लूँ और तब देखता हूँ तुझे भी और तेरी वीरता को भी।"—क्रोध की प्रचण्डता के मारे वह थरथराने लगा और दण्ड-पूजन के लिए वह पीछे की ओर घूमा ही था कि चौंक पड़ा—"यह क्या? वज्रदण्ड कहाँ गया?" प्रचण्ड क्रोधाग्नि में जलता हुआ वह महाराज की ओर मुड़ा—"अरे मायावी ! कहाँ है मेरा वज्रदण्ड, कहाँ लुप्त कर दिया उसे?" और मुष्ठि-प्रहार के लिए वह लपका ही था कि पैंतरा बदलते हुए महाराज एक ओर को हट गये। भीम दैत्य लड़खड़ाकर औंधे मुँह गिर पड़ा। चीत्कार का स्वर सहसा चिंघाड़ में परिवर्तित हो गया और वह शक्ति बटोरकर उठ खड़ा हुआ।

मुस्कराते हुए अवन्ती-नरेश ने ऊपर की ओर संकेत करते हुए कहा—"अरे पापी ! तूने जिस दण्ड की शक्ति पाकर घोर अनाचार किया, नर-संहार किया, इस सारे नगर को ही उजाड़ दिया, यहाँ की राजकन्या को प्रताड़ित किया—तेरा वही दण्ड आज तुझसे छिन गया है। तू उसकी पूजा करना चाहता है न ! देख, वहाँ है तेरा वह दण्ड.... कर ले.... पूजा कर ले।"

जब महाराज के साथ दैत्य विवाद करने लगा तो उसकी दृष्टि दण्ड से हट गयी थी। यह अनुकूल अवसर पाकर अदृश्य अग्निवेताल ने दण्ड को अपने हाथ में उठा लिया था। उस विशालकाय अदृश्य वेताल के हाथ में होने के कारण दण्ड छत के पास हवा में झूलता दिखायी दे रहा था। दण्ड को पुनः प्राप्त करने के लिए उसने खूब उछलकूद की, किन्तु वह उसे छू भी न सका। ज्यों-ज्यों वह उछलता; दण्ड और ऊँचा हो जाता। उसे ललचाने के लिए दण्ड कभी काफी नीचे को आ जाता तो पुनः एकदम दैत्य की पहुँच के बाहर निकल जाता। इसी क्रम में वेताल ने दैत्य को थका दिया। वह बुरी तरह से हाँफने लगा और पसीना-पसीना हो गया। शक्ति-क्षय की इसी अवस्था में वह विवश होकर इधर-उधर ताकने लगा। इसी समय वज्रदण्ड नीचे को हुआ और त्वरा के साथ वीर विक्रम ने उसे हस्तगत कर लिया। अब उनका मनोवल उन्नत और दैत्य भीम का मनोवल दुर्वल होने लगा। प्रहार की नीति छोड़कर वह वेचारा आत्म-रक्षा के उद्यम में जुट गया। पलायन के प्रयत्न में वह कक्ष से वाहर निकलना चाहता था, किन्तु वह भी सम्भव न हो पा रहा था। एक अभेद्य, अदृश्य भित्ति उसका मार्ग रोके खड़ी थी। विचलित और निराश होकर वह कुछ न कर पा रहा था। इसी समय महाराज वीर विक्रम ने

– "नहीं देखना मुझे कुछ.... शूरवीर ! कुछ भी नहीं देखना। पहले आपको तो देखूँ–भली प्रकार से। यों बीते पाप पर भी दृष्टि डालने से मन में पाप ही व्याप्त होता है। उस दुष्ट ने तो मुझे एकाकी बना दिया है। मेरे माता-पिता का कोई ठीक-ठिकाना नहीं। आपने मुझे बचाया, किन्तु में अनाश्रित हूँ। सारा नगर उजाड़ पड़ा है। कहीं भी आशा की कोई किरण नहीं दिखायी देती।"

– "तुम कोई चिन्ता न करो, राजबाले ! भवितव्य के मांगल्य पर विश्वास करने वालों का वर्तमान भी मंगलमय हो जाता है और उसका भविष्य तो स्वर्णिम हो ही जाता है। उठो, अब साहस बटोरो और निराशा त्यागकर उद्यम को अपनाओ। यही स्वर्णिम भवितव्य के निर्माण का मूल मंत्र है। इसमें मैं भी यथासम्भव सहकारी बना रहूँगा। शीघ्र ही श्रीपुर को पूर्ववत् स्वरूप मिले और राजभवन भी वैसा ही प्राणवान हो जाय–मेरा प्रयत्न अब यह रहेगा। तुम्हारी क्लेश-मुक्ति के लिए भी यही आवश्यक है।"

मित्र अग्निवेताल ने महाराज वीर विक्रम के आदेश से अपने सामर्थ्य का चमत्कार दिखाया। राजभवन से भागकर राजा-रानी और सभी कर्मचारी, दास-दासी एक ही स्थल पर किसी वनखण्ड में दुर्दिन व्यतीत कर रहे थे। अग्निवेताल उन सभी को एक साथ ले आया और राजभवन का उजड़ापन तत्काल दूर हो गया। संध्या तक तो वह असंख्य नगरवासियों को भी ले आया। श्रीहीन हो चुके श्रीपुर के नाम की सार्थकता लौटने लगी। अन्य लोगों को भी जब यह सब ज्ञात हुआ तो वे स्वतः ही नगर में लौटने लगे।

श्रीपुर-नरेश को तो दैत्य-संहार की कोई आशा ही नहीं थी। परदेशी शूरवीर की पराक्रम-गाथा सुनी तो वे मन से उसके भक्त हो गये। उसी साहसी ने दैत्य का संहार कर उनकी प्राण-प्रिय पुत्री की रक्षा की है। वे तो उस वीर के चरणों में बिछ जाने को आतुर हो गये। राजरानी के मन में उस अपरिचित वीर के प्रति श्रद्धा जाग्रत हो गयी। राज-दम्पति उस शूरवीर का विस्तृत परिचय पाने को आकुल हो उठा।

राजभवन अपनी पूर्व-स्थिति में आ गया था, नगर भी पुनः वसने लगा था। इस असंभाव्य प्रतीत होने वाले कार्य का कर्त्ता कहीं दिखायी न देता था। राजकन्या ने ही नरेश विजयसेन और विजया रानी को वताया कि वह देवदूत-सा परम सहायक, करुणा का अवतार, वीरवर असाधारण है। पराक्रम तो उनके मुख-मण्डल पर जैसे घनीभूत होकर सर्वदा दृष्टिगत होता रहता है। अवन्ती-नरेश पण्डित सोम शर्मा और आश्रम के विद्यार्थियों की खोज-खवर को निकल गये थे। मार्ग में ही उनकी भेंट इन सभी से हो गयी। सोम शर्मा ने जव लौटती नगर-शोभा

को देखा तो वे मन-ही-मन प्रसन्न होने लगे। इस नगर को अभिशाप-मुक्त करने का यह पुण्य-कर्म किसने सम्पन्न किया। हो-न हो, यह हमारे बटुक विट्ठल विक्रम का ही कार्य है। वही तो सूने और उजाड़ नगर में साहसपूर्वक प्रविष्ट हुआ है, किन्तु ····· किन्तु वह है कहाँ? उसने हम सब के प्राणों की रक्षा की है। कहाँ है हमारा वह जीवनदाता ! कहाँ है हमारा विट्ठल विक्रम ! सोम शर्मा अपने विद्यार्थी-दल के साथ उस पराक्रमी को खोजने को नगर में निकल पड़े। बार-बार वे विट्ठल विक्रम को पुकार उठते थे। तभी उनके सामने वीररसावतार, महापराक्रमी अवन्ती-नरेश आ खड़े हुए। आदरपूर्वक उन्होंने आचार्य को प्रणाम किया और आशीर्वाद की कामना के साथ करबद्ध खड़े रह गये।

"कौन? ···· तुम कौन हो, वत्स ! मेरा शिष्य विट्ठल विक्रम कहाँ है? ···· कहाँ है वह?" पण्डित सोम शर्मा की सूनी दृष्टि इधर-उधर दौड़ने लगी।

विट्ठल विक्रम ने नगर-प्रवेश करते ही अपना बटुक वेश त्यागकर राजा विक्रमादित्य के अपने वास्तविक रूप में आ गये थे। उन्होंने आदरपूर्वक कहा— "गुरुदेव ! आप जिसकी खोज में हैं, मैं आपका वही शिष्य विट्ठल विक्रम हूँ। हम वास्तव में अवन्ती-नरेश विक्रमादित्य हैं। हम ही आपके आश्रम में बटुक वेश में आये थे और हमीं ने उमादे के चरित्र को उद्घाटित भी किया और उसकी कुत्सित योजना को विफल भी कर दिया है। यह नगर भी हमारे ही हाथों अभिशाप-मुक्त होना था। यह भी सम्पन्न हुआ। अब आशीर्वाद दीजिए !"

"दीर्घायु हों, राजन् ! सदा विजयी रहो !" प्रसन्न अन्तर के साथ सोम शर्मा ने शुभ कामनाएँ कीं और हाथ उठा दिया। नतमस्तक हो नरेश ने आशिष ग्रहण की। "अहोभाग्य ! हमारा अहोभाग्य ! मेरे आश्रम का यह सद्भाग्य रहा कि मालवाधिपति अवन्ती-नरेश राजराजेश्वर विक्रमादित्य महाराज का आतिथ्य कर सका।"—सोम शर्मा ने कृतज्ञ भाव से निवेदन किया—"राजन् ! आपके गौरव के विपरीत कोई आचरण हमारा रहा हो तो हम सभी उसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं, प्रभो !" वे एक विवशता का भाव लिए करबद्ध मौन खड़े रह गये।

राजेश्वर विक्रमादित्य ने आगे बढ़कर सोम शर्मा के वद्ध करों का स्पर्श किया और विनयपूर्वक बोले—"आप यह क्या कहते हैं। आप विप्र हैं। विप्र हमारे लिए सदा पूज्य रहे हैं।"

स्नेहाधिक्य के वशीभूत सोम शर्मा ने उन्हें वक्ष से लगाते हुए कहा—"हमें नहीं ज्ञात था कि आप विट्ठल विक्रम नहीं, अवन्तीनाथ महाराज विक्रम हैं।"

"विट्ठल विक्रम के वेश में ही राजा विक्रम आपका सहायक वन पाया, गुरुदेव ! आशीर्वाद दीजिये कि सहायता की यह हमारी प्रवृत्ति शाश्वत रहे।"—महाराज ने याचना की और बोले—"आइये, अव हम राजभवन की ओर **चलते हैं**। आप सभी अब तक निराहार भी तो हैं।"

सभी आगे बढ़े। तभी सोम शर्मा ने उमादे की चर्चा चला दी–"क्या हुआ ···· उमादे का क्या कोई समाचार है?"

"गुरुदेव ! उमादे अपने पापकर्मों के जाल में ग्रस्त होकर नष्ट हो गयी, पूज्य ! जो अन्य जनों के लिए कुआँ खोदता है पहले वही उसमें गिरता है। पापी का हनन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसके पाप ही उसके हन्ता बन जाते हैं, उसका सर्वनाश कर देते हैं। जब पीछा करने पर भी उमादे हम लोगों को पकड़ न पायी तो निराश होकर आश्रम लौट गयी। मानसिक और दैहिक पीड़ा से ग्रस्त वह आश्रम के पूजा-स्थल में आँगन में अविचल पड़ गयी। उसने अपने प्यासे कण्ठ के आग्रह पर जल की पुकार की। उसी समय योगिनियों और क्षेत्रपालों का दल आ पहुँचा। बलि न पाकर उन्होंने उमादे का ही भक्षण कर लिया। उसका अब कहीं कोई चिन्ह भी शेष नहीं रह गया है। यदि कुछ शेष रह गया है तो वह है उसके चारित्रिक दुराव का पाप-वृत्तान्त, उसका अपयश ही हहराता रहेगा।"

एक क्षण को नयन मूँदकर सोम शर्मा ने मन-ही-मन कुछ भावना की और तब मुखरित हुए–"अशुभ कर्मों का परिणाम कभी शुभ तो हो ही नहीं सकता। अच्छा हुआ उस पाप की कँटीली झाड़ी से मुक्ति मिली। दुरात्मा का संसर्ग भी पापजनक ही होता है, किन्तु हमें भी आभास न हुआ कि उसकी पति-भक्ति के पीछे ऐसा कटु, ऐसा कठोर यथार्थ छिपा है।"

यही तो नारी-चरित्र की विशेषता है। त्रिया-चरित्र तो देवों के लिए भी दुर्गम रहा है। उमादे के बाह्य आचरण की पावनता ही उसके आन्तरिक कालुष्य के पल्लवन के लिए आश्रय रही है, गुरुदेव ! कटु और अप्रिय अतीत प्रसंगों को तिलांजलि देकर ही कोई अपने वर्तमान को मधुर बना सकता है। जो अतीत में ही जीने की प्रवृत्ति रखता है उसके लिए भविष्य अंधकारपूर्ण और वर्तमान महत्त्वहीन ही रह जाता है।"

"सत्य ही विचार है, राजन् ! उमादे का प्रकरण तो पठित अध्याय की भाँति हो गया है। आगे अध्यायों की ओर बढ़ना ही श्रेयष्कर है। यही क्रम हमें जीवन-ग्रन्थ के चरम तक पहुँचाने का सामर्थ्य रखता है। अरे ! यह तो राजभवन आ गया। राजन् ! क्या आप हमें ····।"

"हाँ, गुरुदेव ! यहाँ लाने को ही हम आपके पास उपस्थित हुए थे। आइये–भीतर चलिये।" महाराज ने आग्रह किया और उन्हें एक बड़े कक्ष में ले गये। सभी को एक सुखद वातावरण मिला।

"श्रीपुर-नरेश विजयसेन अपनी रानी विजयादेवी के संग अपने उद्धारक परम पुरुषार्थी वीरवर के दर्शनार्थ उपस्थित हैं।"–एक भव्य, गम्भीर वाणी का श्रवण कर महाराज पीछे को मुड़े तो पाया यह स्वर तो स्वयं श्रीपुर-नरेश का ही था। उनके संग उनकी पुत्री चन्द्रावती भी थीं। महाराज ने सादर प्रणाम किया। तत्परता से आगे बढ़कर राजा विजयसेन ने उन्हें गले लगा लिया। बोले–"हे महापराक्रमी !

आपने दैत्य हनन कर हम सभी की, सारे नगर की रक्षा कर ली है। हम तो निराश ही हो चुके थे। आपका यह महान् सुकृत्य सदा अविस्मरणीय रहेगा। श्रीपुर के इतिहास में यह स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जायेगा। इस पावन स्मृति के चिर-स्थायित्व के लिए कृपाकर हमारे कृतज्ञ हृदय की इस साधारण-सी भेंट को स्वीकार कीजिये।" महाराज ने अपनी बाँह फैलायी। और एक दासी अपने दोनों हाथों में थाल लिए आगे बढ़ आयी। राजा विजयसेन ने थाल को अनागत कर एक मुक्ता-माला महाराज के कण्ठ में धारण करायी। सारा कक्ष हर्ष-ध्वनि से गूँज उठा। महाराज ने थाल का किनारा छूकर आगे बढ़ाया। महाराज ने उसे स्पर्श कर भेंट स्वीकार की और करबद्ध नमन किया। इस कृतज्ञतापूर्ण नम्रता के लिए राजा विजयसेन वीरवर से अतिशय प्रभावित हुए। अब तक इसी कक्ष में विशिष्ट आसनों की व्यवस्था भी हो गयी थी। सभी ने यथोचित आसन ग्रहण किये।

"क्या हम हमारे उद्धारक का परिचय भी प्राप्त कर सकेंगे?"—श्रीपुर-नरेश ने मुस्कराते हुए अपनी इच्छा प्रकट की।

इसी समय सोम शर्मा उठ खड़े हुए। करबद्ध निवेदन करते हुए बोले—"कृपावतार ! जिन्हें आप अपना उद्धारक कहते हैं—वे कोई साधारण व्यक्ति नहीं; वे शूरवीरों में श्रेष्ठ तो हैं ही—वे परम तेजस्वी, साहसी नरेश हैं। हम सभी को जिनका सान्निध्य प्राप्त हो रहा है, वे मालवाधिपति, राजराजेश्वर विक्रमादित्य हैं।"

महाराज विजयसेन और उनके उपस्थित परिजनों के नेत्र विस्फारित और मुख अवाक् रूप में खुले-के-खुले रह गये। आश्चर्य की पराकाष्ठा थी। माता के समीप बैठी राजकुमारी चन्द्रावती ने कहा—"मेरा मन तो आरम्भ से ही यही कहता था कि ये कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। अवश्य ही ये किसी देश के महाराजा हैं। इनके मुख-मण्डल का तेज ही इसका अनुमोदक है।"

राजा विजयसेन अपने आसन से उठे और महाराज विक्रमादित्य को सादर नमन करते हुए स्नेहपूर्वक उन्हें अपने स्थान तक ले आये, अपने ही अर्द्धासन पर उन्हें विराजित किया और तीव्र घोष किया—"अवन्ती-नरेश राजाधिराज विक्रमादित्य की जय हो !......" महाराज की जय-जयकार से कक्ष गूँज उठा। अपरिचय के कारण हुई अवमानना की भूल के कारण श्रीपुर-नरेश ने वार-वार क्षमा-याचना की। महाराज वीर विक्रम ने इसकी अनावश्यकता का प्रतिपादन किया। सोम शर्मा ने उनके विट्ठल विक्रम रूप की चर्चा भी की और आश्रम की रक्षा में उनकी सफलता का वृत्तान्त प्रस्तुत किया।

श्रीपुर की राजरानी विजयादेवी ने अपनी हार्दिक श्रद्धा और कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा—"राजराजेश्वर ! आपश्री की महानता और परहितैषिता का जितना भी बखान किया जाय, वह अल्प ही रहेगा। श्रीमानेश्वर ! आपने हमारी प्यारी बिटिया के मान की रक्षा करके हमारी प्रतिष्ठा को नष्ट होने से बचाया है—हम सभी आपके अतिशय अनुगृहीत हुए हैं। अब हमारी एक विनती और स्वीकार

कर लीजिये--राजकुमारी चन्द्रावती को जीवन-संगिनी के रूप में अपना लीजिए। हम सभी धन्य हो जायेंगे, देव !''

''राजा विजयसेन ने निवेदन किया--''राजरानी का अनुरोध यथार्थ ही है, राजेश्वर ! हम तो आपकी सहमति के लिए आतुर हैं।''

''आपका यह अनुरोध तो हमारे लिए अनुल्लंघनीय आदेश है, भूपेश ! हमें आपकी कामना-पूर्ति में सहायक होकर प्रसन्नता ही होगी।'' अवन्ती-नरेश ने संकोचपूर्वक दृष्टि नीचे झुका ली। उत्साह के मारे राजकुमारी का हृदय तो बल्लियों उछलने लगा। संकेत पाकर अन्य दासी थाल सहित आगे बढ़ आयी। राजकन्या ने पुष्पहार थामा और ससंकोच महाराज के कण्ठ में धारण करा दिया। हार के पुष्पों में मानो चन्द्रावती के हृदय की प्रेम-भावना निहित थी। अपने हृदयार्पण के साथ उसकी पलकें व्रीड़ावश नमित हो गयीं। महाराज ने भी अपने कोमल करों से एक पुष्पहार राजकुमारी की ग्रीवा में आरोपित कर दिया। सर्वत्र एक निर्मल सुखानुभूति व्याप्त हो गयी। अद्‌भुत उत्साह वातावरण में छा गया। दोनों ने श्रीपुर के नरेश और राजरानी के चरण स्पर्श किये और राशि-राशि आशिष प्राप्त की। गुरु सोम शर्मा के चरणों में भी वे झुक गये। आचार्यश्री ने उन्हें सुखी और यशस्वी जीवन का आशीर्वाद दिया। यह संक्षिप्त, किन्तु अति गम्भीर क्रम अपने समापन पर पहुँचा। महाराज ने आचार्यश्री से विदा ली और श्रीपुर-नरेश विजयसेन के संग चले गये।

सोम शर्मा और उनके शिष्यों ने छककर भोजन किया और तृप्त हो गये। वे सभी सोपारक के लिए विदा हुए। आगामी दिवस ही बड़ी शालीनता और भव्यता के साथ चन्द्रावती राजकुमारी के संग महाराज विक्रमादित्य का परिणय सम्पन्न हुआ। नव-दम्पति राजकीय रथ में आरूढ़ हुए। अवन्तीनाथ वज्रदण्ड और सर्वरसदण्ड के साथ अपनी नव-वधू को लिए अवन्ती की ओर अग्रसर हुए। रक्षक-दलों का एक रथ आगे चलता रहा और दूसरा अनुगमन करता रहा।

अवन्ती पहुंचने पर नव-दम्पति का भाव-भीना, भव्य स्वागत हुआ। यथासमय नागदमनी भी आ उपस्थित हुई। महाराज ने दोनों दण्ड उसे सौंप दिये। नागदमनी को अतिशय हर्ष अनुभव होने लगा। ''आप सचमुच महापराक्रमी हैं, राजेश्वर !'' --नागदमनी ने कहा--''मुझे आशा न थी कि आपको इन दण्डों की प्राप्ति में सफलता मिल सकेगी। आपने इस असम्भव को भी अपने पराक्रम और बुद्धि-चातुर्य से सम्भव बना दिया है। अव मुझे विश्वास हो गया है--आप सुगमतापूर्वक शेप प्राप्तियाँ भी कर ही लेंगे और पंचदण्डछत्र के देव-दुर्लभ गौरव के अधिकारी हो जायेंगे।''

''अव हमारे लिए, नागदमनी ! आगे क्या आदेश है? क्या करना होगा अव हमें?'' महाराज उत्तर की प्रतीक्षा आतुरता के साथ करने लगे।

– "अब तो आपको एक अन्यायपूर्ण कृत्य करना होगा, राजन् !"

– वह क्या?.... कैसा कृत्य?...."

– "आपको अपने मंत्री मतिसागर को निष्कासन देना होगा, देव !"

– "क्या.... आ....? यह क्यों? उसके-जैसे शुद्धाचरण के देशभक्त लोग तो बहुत कम ही मिलते हैं। उसे.... और निष्कासन.....।"

– "इसी कारण तो मैंने कहा था—एक अन्यायपूर्ण कृत्य !"

– "नहीं.... नहीं.... यह हमसे न हो सकेगा।"

– "तब तो, महाराज ! पंचदण्डछत्र भी प्राप्त न हो सकेगा। आपका अब तक का उद्यम, अब तक की उपलब्धियाँ भी अकारथ हो जायेंगी।"

– "नहीं.... नहीं, नागदमनी ! पंचदण्डछत्र की प्राप्ति के लिए करणीय और अकरणीय—जो भी अनिवार्य होगा—वह हम करेंगे.... अवश्य करेंगे।"

– "आरम्भ में भले ही यह अकरणीय और अन्याय लगे, किन्तु अन्ततः यह कृत्य भी न्याय रूप में परिणत होगा, राजन् ! आप चिन्ता न करें। किन्तु मतिसागर को निष्कासित करना अवश्य होगा।"

नागदमनी के अन्तिम शब्दों से महाराज कुछ आश्वस्त हुए और धैर्यपूर्वक वे उसकी बात सुनते रहे। बड़ी देर तक दोनों के मध्य वार्त्तालाप होता रहा।

● ●

अवन्तीनाथ महाराज विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम, साहस और बुद्धि-वल ने उन्हें अनेक महान् उपलब्धियों का स्वामी बना दिया, अपरिमित गौरव और कीर्ति प्रदान की; किन्तु उपलब्धियों का विस्तार तो अनन्त रहता है। एक उपलब्धि आकर आगामी लक्ष्य का द्वार खोल देती है। इसी क्रम में पंचदण्डछत्र-प्राप्ति की प्रतिष्ठा से विभूषित होने की कामना ने उन्हें उद्यमशील वना रखा था। दो दण्ड और रत्न-मंजूषा उन्हें प्राप्त हो ही गयी थी, किन्तु अभी तीन दण्डों की प्राप्ति शेप थी। यह कैसे होगी—यह तो माँ नागदमनी ही जानती है और उसकी आज्ञाओ—आदेशों का पालन उन्हें इस प्रयोजन से भी करना ही था। यही स्थिति अस्पष्ट हो गयी थी कि भला मतिसागर के निष्कासन से दण्ड-प्राप्ति की संभावना कैसे वन पायेगी? किन्तु यह रहस्य भी नागदमनी माँ के हृदय में लुप्त है। उन्हें तो आदेश का अनुसरण ही करना है—यही उनकी विवशता थी। उन्हें पंचदण्डछत्र प्राप्त करना

है तो अन्य कोई विकल्प ही नहीं था। आदेश चाहे उनके आदर्श और स्वभाव के विपरीत ही क्यों न हो .... उन्हें उसे पूर्ण करना ही होगा। मतिसागर को अकारण दण्डित करने से उनका अपयश होगा–उनकी न्यायशीलता को ठेस पहुँचेगी–पहुँचा करे ....। उन्हें यह करना ही होगा। वे ऐसा करेंगे .... अवश्य करेंगे। उनके मनःचक्षु कान्तिमान पंचदण्डछत्र का अवलोकन करने लगे।

मतिसागर सत्यनिष्ठ और देशभक्त, योग्य मंत्री था और सर्वजनहिताय कार्यों के कारण वह सर्वप्रिय भी था। उसके तीन पुत्र थे–सोम, चन्द्र और धन। तीनों पुत्रवधुएँ भी बड़ी ही गुणवती थीं। सबसे छोटी बहू चम्पकलता अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि की थी, विद्यावती और गुणवती थी। उसके कार्यों से सभी प्रसन्न रहते, उसके व्यवहार से सभी तुष्ट थे। मतिसागर की पत्नी भी सभी से समान स्नेह करती, किन्तु चम्पकलता से कुछ अधिक ही प्रभावित रहा करती थी। एक सन्ध्या को तीनों बहुएँ अपने भवन की छत पर विचरण करती बतियाती जाती थीं। इस आयु में सखियाँ बात कम करती हैं, कारण-अकारण ही हँसती अधिक हैं, हँसती ही रहती हैं। यह उनके उल्लसित हृदय की अभिव्यक्ति समझी जा सकती है। पारस्परिक व्यवहार में सखीवत् ये पुत्रवधुएँ भी हँसते-हँसते दोहरी होती जा रही थीं। सासू माँ की अनुपस्थिति की सुविधा भी थी। एक स्वच्छन्दता का आनन्द अन्य सभी सुखों से आगे निकल जाता है। निर्मल हास का प्रवाह हठात् रुक गया जब समीप के उपवन में से एक शृगाली की हू-हू .... हू-हू ध्वनि आने लगी। आज ये शृगाली इस समय यहाँ कैसे आ गयी–अन्य बहुएँ तो यही चर्चा करने लगीं, किन्तु चम्पकलता ध्यान से इस ध्वनि को सुनने-समझने का प्रयत्न करने लगी।

चम्पकलता पशु-पक्षियों की बोली जानती–समझती थी। उसने सुना; शृगाली कह रही थी–"यदि कोई मेरी बोली समझे तो जान ले कि कुछ ही दिनों में मतिसागर मंत्री और उसके परिवार पर घोर संकट आने वाला है। सारी सम्पदा छीनकर राजा उसको निष्कासित करेगा।" चम्पकलता को सहसा गम्भीर होते देखकर अन्य सखियों ने पूछा भी कि क्या हो गया, तुम व्याकुल क्यों हो गयीं। वह बेचारी क्या कहती ! उसके भीतर उथल-पुथल मच गयी थी। उसे छिपाते हुए उसने कहा–"कुछ नहीं .... मुझे पीहर की स्मृति हो आयी थी। वहाँ भी एक शृगाली प्रायः आकर बोला करती है। स्त्री का जीवन ही ऐसा होता है, दी-दी ! जिस घर में पलकर बड़ी होती है, उसे उस घर का परित्याग कर अन्य घर-परिवार में जाना पड़ता है।"

बड़ी बहू ने चम्पकलता का उत्तर देते हुए विनोद किया–"वह स्त्री ही तो अन्य परिवार और घर-वर के सपने अपने नयनों में सँजोने लगती है। अपने मनोद्यान में अनेकानेक कल्पनाओं के रंग-विरंगे पुष्प खिलाने लगती है। तुम भी इसमें पीछे न रही होगी। फिर इस पर भला क्या परिताप करना .... हाँ ....?"

मझली बहू ने चम्पकलता के अधरों पर मुस्कान के आते-आते उसे गुदगुदा दिया। चम्पक तो अधीर और अति चंचल हो गयी। हँसते-हँसते बेहाल हो गयी तो गुदगुदाहट से बचने के लिए वह एक ओर को हट गयी, किन्तु काफी समय तक तीनों का यह मधुर हास-परिहास चलता ही रहा। हास का भी अपना अद्‌भुत सामर्थ्य रहता है। वह सभी तनावो–चिन्ताओं को अपने में घुलाकर व्यक्ति और परिवेश को सहज-सामान्य बना देता है।

मतिसागर की कनिष्ठ पुत्रवधू–चम्पकलता भी सहज तो हो गयी, किन्तु भावी अनिष्ट का विश्वास जो उसके भीतर छिपा था–वह उसे अन्दर-ही-अन्दर उद्विग्न कर देता था। एक दिन भोर में ही वह गोशाला में गयी और देखा कि घर की दासी उपले थाप रही थी। उसने उसे इस कार्य से मुक्त कर दिया और स्वयं थापने लगी। स्वामिनी को यह हीन कार्य करते देखकर दासी को बड़ा अटपटा लगा। उसने चम्पक को मना किया कि यह कार्य उन्हें शोभा नहीं देता, किन्तु उसने उसकी बात पर कोई ध्यान न दिया। वह थापती ही रही। और फिर तो यह उसका नित्यकर्म ही हो गया। मतिसागर ने भी टोका, सासू माँ ने भी रोका, किन्तु एक सहज मुस्कान के साथ उसने यही तर्क दिया–"माँ जी ! घर के काम में लाज कैसी? कोई भी काम .... काम ही होता है वह कभी छोटा-बड़ा नहीं होता। फिर यह तो गो-सेवा भी है।" सभी परिजन उसकी हठ के आगे पराजित हो गये। चम्पक का यह क्रम चलता रहा।

शृगाली की वाणी एक दिन सत्य घटित हुई। उसने धैर्य न खोया, किन्तु शेष परिजन व्याकुल हो गये। राजसभा में बैठे मंत्री मतिसागर को उवासी आ गयी। उस समय महाराज किसी गम्भीर प्रसंग पर चर्चा कर रहे थे। मंत्री की इस उपेक्षा को महाराज वीर विक्रम ने घोर आपत्तिजनक माना और कुपित होकर उन्होंने मंत्री मतिसागर को राज्य से निष्कासित कर दिया। यह आज्ञा भी दी कि मतिसागर की समस्त सम्पदा राज्याधिकार में ले ली जाय। सहसा सारा वातावरण गम्भीर और बोझिल हो उठा। बुद्धिसागर ने अनुरोध किया, भट्टमात्र ने भी विनय की, किन्तु महाराज ने मतिसागर को क्षमा नहीं किया। चेतावनी के स्वर में उन्होंने कहा– "भविष्य में कोई भी राज-काज की और राज्य-हित की उपेक्षा–अवमानना न करें, चाहे कोई कितने ही उच्च पद पर प्रतिष्ठित क्यो न हो।" तत्काल भी आसन त्यागकर वे अपने विश्राम-कक्ष में चले गये। स्वयं मतिसागर को क्षमा-याचना का अवसर भी नहीं दिया। गम्भीर वातावरण मे सभा विसर्जित हो गयी।

आगामी प्रातः ही कुछ प्रहरी और एक राज्याधिकारी मंत्री मतिसागर के आवास पर उपस्थित हो गये जिनकी देखरेख में इस परिवार को गृह-त्याग करना था। सभी परिवार-जन साधारण वेश में ही गृह से बाहर निकले। इनको खाली हाथ ही राज्य छोड़ देने की आज्ञा थी। अधिकारी को इसका निरीक्षण करना था। स्त्रियों के तन पर कोई आभूषणादि न था। चारों पुरुष आगे-आगे चले। पीछे

परिवार की चारों स्त्रियाँ थीं। चम्पकलता सबसे पीछे चलने लगी थी। उसने अपने शीश पर एक पुराने वस्त्र में बँधा, कुछ भारी पोटला लाद रखा था। अधिकारी ने आपत्ति की। चम्पकलता ने स्पष्ट किया—"महोदय ! इसमें कुछ उपलों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है? आप निरीक्षण कर लें।"

"किन्तु तुम लोग अपने साथ कुछ ले नहीं जा सकते हो। रख दो इसे यहाँ। ऐसी ही राजाज्ञा है।"—कड़ककर अधिकारी ने कहा।

"राजाज्ञा का पालन तो हमें भी करना है, महाशय ! किन्तु यह कोई सम्पदा तो है नहीं, साधन मात्र है। मार्ग में भोजन बनाना होगा ही, उपले साथ होने से ईंधन की चिन्ता से मुक्ति रहेगी—बस, इतना ही है। आपकी आज्ञा न हो तो ....।" चम्पकलता गठरी को शीश से उतारने की चेष्टा करने लगी।

मंत्री-जैसे उच्च पद पर आसीन मतिसागर को जो दण्ड मिला—वह अधिकारी को विचलित किये हुए था। घर की बहू का यह अनुरोध उसके हृदय को द्रवित करने लगा। सदय स्वर में बोला—"ठीक है .... ठीक है। उपले तो साधारण वस्तु है। इसे तुम ले भी जाओ तो यह व्यवस्था-विरुद्ध न होगा। ले जाओ।"

प्रजा जन इस कारुणिक दृश्य से विचलित हो गये। महाराज ने अपनी न्यायशीलता का यह कैसा आदर्श प्रस्तुत किया। साधारण-सी चूक का इतना बड़ा दण्ड ! हमारे नरेश ने कुछ समझकर ही निर्णय लिया होगा .... किन्तु ! अरे कोई किन्तु—परन्तु नहीं भाई, उनकी विवेकशीलता में शंका करना तो सूरज को कलंकयुक्त मानने के समान होगा, हमारी क्षुद्र बुद्धि वहाँ तक न पहुँच सके यह और बात है—इसमें औचित्य तो अनिवार्य रूप से है। जो भी हो, भाई ! बेचारे की दुर्दशा तो हो ही गयी है। सब कर्म के फल हैं, दद्दा ! क्या करेगा कोई ! ये फल भोगने ही पड़ते हैं। कोई छूट नहीं सकता। राजा-महाराजा भी नहीं। हाँ, प्रकट रूप में कोई कारण दिखायी भी देता है, किन्तु वह तो निमित्त मात्र ही होता है। जितने मुँह उतनी ही बातें थीं।

अनिर्दिष्ट, गंतव्यहीन प्रवास पर यह वैभवभोगी परिवार प्रचण्ड धूप और कँकरीले मार्गों पर प्रारब्धवश कष्ट झेलता आगे बढ़ता रहा। कुछ दिनों में ये सब रत्नपुर नगर में पहुँचे। यहाँ पहुँचकर मंत्री मतिसागर की पुत्रवधू चम्पक का चेहरा हर्षित हो गया। यहीं उसका पितृ-गृह था। यहीं उसकी कुछ प्राणप्रिय अन्तरंग सखियाँ थीं। भारतीय महिलाओं की यह मान्यता रही है कि संकटकाल में पितृ-गृह का आश्रय अनुचित है। बड़ी कठिनाइयों को पार करती हुई यह मण्डली यहाँ तक पहुँच पायी। कष्टों की छाया से भी अब तक दूर रहे मतिसागर बेचारे धूप-धूल और आँधी-तूफान में यात्रा करते-करते श्यामवर्णी हो गये। नगर की एक बाहरी बस्ती में एक पुराना-सा घर लेकर वे सभी रहने लगे। गृह-स्वामिनी एकाकी ही रहती थी। उस वृद्धा को भी इन लोगों की संगति की प्रसन्नता थी।

एक दिवस चम्पक ने अपने श्वसुर, पति और दोनों जेठों को एक-एक रत्न दिया और कहा—"आप लोग इससे अपना-अपना व्यवसाय करें। परिवार को आजीविका प्राप्त होने लग जायेगी।" चारों अपने-अपने व्यवसाय के विषय में चिन्तन करने लगे और एक-एक कर रत्नपुर से बाहर चले गये। अव परिवार की चार महिलाएँ अकेली रह गयीं। ऐसी विषम स्थिति में चम्पकलता के मन में एक विचार आया जिसे पूर्ण करते हुए उसने पुरुष-वेश धारण कर लिया और चम्पकलता से उसने अपना नाम भी चम्पककुमार रख लिया। स्वभाव से कोमल और मिलनसार, मृदुभाषी होने के कारण चम्पककुमार ने सहवर्त्तियों को बहुत प्रभावित किया। यह परिवार सभी की सहानुभूति का पात्र हो गया।

परिवार के चारों पुरुषो को प्रवास पर गये एक लम्बी अवधि व्यतीत हो गयी, किन्तु धन भेजना तो दूर उनकी कोई खोज-खबर भी न आयी थी। सभी उनके लिए चिन्तित रहते। अता-पता न होने के कारण चिन्ता के अतिरिक्त अन्य कुछ किया भी नही जा सकता था। अनिश्चय की स्थिति व्याकुलता को चरम तक पहुँचा देती थी। एक भोर मे जव चम्पककुमार नगर में निकला तो उसे एक वृद्ध को देखकर भ्रम हुआ कि जैसे ये तो मतिसागर ही हैं, किन्तु तुरन्त ही उसके मन ने कहा—'यह वो कैसे हो सकते हैं। श्वसुर जी तो व्यवसाय के लिए विदेश गये हैं। मुझे व्यर्थ ही में संदेह हो गया।' उसने अपने विचार को स्वयं ही झुठला दिया था, किन्तु तुरन्त ही उसका मानस उससे पुकार-पुकारकर कहने लगा—'ये वृद्ध तेरे श्वसुर ही भी सकते है, तू वात करके तो देख। चम्पककुमार पीछे—वहुत पीछे चल रहा था। अशक्त वृद्ध वेचारा छोटे-छोटे, धीमे चरणो से ही वढ पा रहा था। चम्पककुमार ने गति तीव्र की और वृद्ध के समीप पहुँचा। मलिन और जीर्ण वस्त्र, दुर्वल देह और वढे हुए अव्यवस्थित केश। कमर कुछ झुकी हुई और निस्तेज नयन देखकर चम्पक को अपना पूर्व विचार ही पुष्ट होता दिखायी दिया—मतिसागर नहीं हो सकते ये। किन्तु उत्तर विचार ने भी उसका पीछा नहीं छोड़ा। उसी की प्रेरणा से उसने वडे स्नेह के साथ पूछा—"वावा ! कौन हैं आप? किसे खोज रहे हैं?"

"दुर्दिन का मारा एक दरिद्र हूँ, वेटे !" अपनी कमर को सीधी कर ठीक से खडे होने का प्रयास करते हुए वृद्ध ने कहा—"आज कोई वात पूछने वाला तो मिला। तुम वडे ही भले लगते हो, वेटे ! मै दूर—वड़ी दूर से आ रहा हूँ। चलते-चलते थक गया हूँ। रत्नपुर जाना चाहता हूँ। यहाँ मे कितना दूर रह गया है अव !"

– "वावा ! यह रत्नपुर ही है ! आपको यहाँ कहाँ जाना है? नाम क्या है आपका?"

– "अभागो का भला क्या नाम … ।" एक विद्रूप-सी क्षीण हँसी के साथ वृद्ध ने कहा—"पहले लोग मुझे कुछ समय पूर्व तक मतिसागर के नाम से जानते थे।

इसी नाम से पुकारते थे मुझे। पिछले कुछ समय से तो कोई मेरा नाम भी नहीं जानता। क्या कहा था तुमने? तो क्या यह रत्नपुर ही है?"

– "हाँ···· हाँ···· यही रत्नपुर है, किन्तु आपने यह क्या दशा बना रखी है? हैं···· ऐं? ये क्या हो गया है आपको?"

– "परन्तु···· तुम यह सब क्यों पूछते हो, बेटे ! तुम कौन हो?"

"पिताजी ! आपने पहचाना नहीं मुझे ! पहचानेंगे भी कैसे?"–चम्पक ने अपनी पगड़ी उतारी और लम्बे बालों को लहराते हुए कहा–"मैं आपकी पुत्र-वधू चम्पकलता !"

वृद्ध बेचारे विस्फारित नेत्रों से साश्चर्य ताकते ही रह गये। कुछ क्षणों में बोले–"बहू···· तो यह तू है ! मैं तो तुझे पहचान ही नहीं पाया।···· तूने यह क्या वेश···· ।"

चम्पक ने पगड़ी ठीक की और बोली–"अब शेष बातें घर पर ही होंगी। चलिए–चलिए···· घर को चलते हैं।" वह सहारा देकर मतिसागर को घर ले आयी।

सास-बहुओं ने मतिसागर की जो दुर्दशा देखी तो वे बड़ी दुःखी हो उठीं। "अहो···· हो। आप तो न जाने कैसे हो गये हैं? यह क्या हो गया···· ।" –सजल-नयना पत्नी ने उन्हें आराम से बिठाते हुए पूछा?

"सब प्रारब्ध की क्रीड़ा है–भागवान ! अब हम क्या बताएँ !"–बेचारे मतिसागर ने दीनता भरे थके-थके स्वर में कहा और एक दीर्घ श्वास खींचते हुए निढाल-से हो गये। कुछ क्षणों में कुछ सहज होते-से उन्होंने कक्ष में चारों ओर दृष्टि घुमाते हुए कहा–"आश्चर्य है, देवी ! यह सब क्या है? क्या है यह सब··· हाँ ! इस घर की तो काया ही पलट गयी है। क्या माया है यह सब?"

पत्नी ने गर्व-भरी दृष्टि से बहू चम्पकलता की ओर निहारते हुए कहा–"यह सब तो आपकी छोटी बहू का चमत्कार है, स्वामी ! वही तो हमारे लिये वरदान बनकर आयी है। चम्पकलता ने तो इस घर को अवन्ती-जैसा ही कर दिया। वैसी ही सुख-सुविधा, वैसा ही विलास। वहाँ से भी बड़ा भवन, उद्यान भी, गोशाला भी, दास-दासियाँ भी। पूरा राजसी ठाट-बाट ! हम तो यहाँ सुख-वैभव का समय व्यतीत करते रहे और आप इतना कष्ट भोगते रहे। हाय··· हाय ! हमें तो कुछ भी ज्ञात न हो पाया।"

"वो तो अपना-अपना प्रारब्ध है, देवी ! किन्तु यह माया क्या है?" मतिसागर के मन में जाग्रत उत्साह ने उनके क्षीण तन में भी बल भर दिया। वे सारा घर घूम-घूमकर देखने लगे। सभी बहुएँ उनके संग थीं। सासू माँ आगे-आगे चलकर सब-कुछ दिखाती जा रही थीं। बोलीं–"यह कोई माया-वाया नहीं, स्वामी ! यह तो बहू के बुद्धि-कौशल का ही चमत्कार है।"

"मेरा क्या चमत्कार है, पिताजी ! चमत्कार तो इन उपलों का है।" अब तक ये गोशाला में पहुँच गये थे।

"उपलों का··· ? वो कैसे ?"

"वो···· ऐसे···· पिताजी !" कहते हुए छोटी वहू ने एक उपला लिया और उसे तोड़ दिया। भीतर से कुछ रत्न निकल आये।

"अरे बेटी ! ये क्या··· ! ये तो रत्न हैं···· हाँ··· ऐसे जगमग करते रत्न ! तू वास्तव में बुद्धिमान ही नहीं विवेकशीला भी है। धन्य है तू और धन्य है तेरा चातुर्य। सच है–"वर्तमान के सुखों में जो खोया रहता है और भविष्य के कष्टों की कल्पना कर उनके निराकरण का आयोजन सुख के काल में जो नहीं करता–दुःख उसी के लिए बना है। प्राप्त सुख-वैभव तो अनन्त काल के लिए होता नहीं, हम विवेकहीनों ने उसे असमाप्य ही मान लिया था और हमें वह वैभव छलकर चला गया। तेरे विवेक ने आज हम सब की रक्षा कर ली, बिटिया ! किन्तु··· किन्तु वहू ! राजाज्ञा तो सहसा हुई थी। उसकी कोई कल्पना ही नहीं थी। फिर तूने उपलों में रत्न रखे कव ?"

"पिताजी ! अंधकार और प्रकाश जैसे क्रम से आते और जाते रहते हैं वैसे ही जीवन में सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के पश्चात् पुनः सुख का क्रम भी वना ही रहता है। आज का सुख कल के दुःख की भूमिका है–यह कल्पना तो सभी को अपने सुख-काल में रहनी चाहिये। मुझे भी थी। इसी कारण आप सभी के मना करते हुए भी उपले थापने का काम अपने हाथ में ले लिया था।"

"अच्छा··· ! तो यह रहस्य था तेरी उस हठ का।" सासू माँ ने संतोष के साथ कहा–"बेटी ! तूने हम सभी को तार दिया है। तू न होती तो आज हम कही के नहीं रहते।" माँ ने चम्पक को अपने गले से लगा लिया। स्नेहपूर्वक वे उसके शीश को सहलाने लगी।

अव सभी गृह-उद्यान मे आ गये। इस सुन्दर-सी विस्तृत वाटिका में पहुँचकर मतिसागर ने संतोष की एक गहरी साँस ली। इसी समय जिज्ञासावश ही चम्पकलता ने पूछा–"आपको तो मैने एक रत्न दिया था–व्यवसाय करने के लिए। भला आपकी ऐसी दुर्दशा कैसे हो गयी ?"

"वहू ! अव क्या वताऊँ !··· सव प्रारव्ध का ही खेल है। सभी का भाग्य एक-सा तो होता नहीं ना ! किसी के हाथ पडकर मिट्टी भी स्वर्ण हो जाती है और किसी का स्पर्श पाकर स्वर्ण भी मिट्टी वन जाता है। तूने तो मुझे रत्न ही दिया–मूल्यवान रत्न ही होगा वह, किन्तु मुझे उसका सुख न मिलना था–न ही मिला। व्यापार के लिए धन चाहिए। धन के लिए मैंने उस रत्न को वेच देना चाहा, किन्तु वह विका नहीं। जिसे देता वही उसे कंकर वताकर लौटा देता। वहुतेरे प्रयत्न किये, परन्तु वह रत्न मेरे लिये धन नहीं वन सका। भूखा-प्यासा, अनाश्रित डोलता

इसी नाम से पुकारते थे मुझे। पिछले कुछ समय से तो कोई मेरा नाम भी नहीं जानता। क्या कहा था तुमने? तो क्या यह रत्नपुर ही है?''

– ''हाँ.... हॉ.... यही रत्नपुर है, किन्तु आपने यह क्या दशा बना रखी है? हैं.... ऐं? ये क्या हो गया है आपको?''

– ''परन्तु.... तुम यह सब क्यों पूछते हो, बेटे ! तुम कौन हो?''

''पिताजी ! आपने पहचाना नहीं मुझे ! पहचानेंगे भी कैसे?''–चम्पक ने अपनी पगड़ी उतारी और लम्बे बालों को लहराते हुए कहा–''मैं आपकी पुत्र-वधू चम्पकलता !''

वृद्ध बेचारे विस्फारित नेत्रों से साश्चर्य ताकते ही रह गये। कुछ क्षणों में बोले–''बहू.... तो यह तू है ! मैं तो तुझे पहचान ही नहीं पाया।.... तूने यह क्या वेश.... ।''

चम्पक ने पगड़ी ठीक की और बोली–''अब शेष बातें घर पर ही होंगी। चलिए–चलिए.... घर को चलते हैं।'' वह सहारा देकर मतिसागर को घर ले आयी।

सास-बहुओं ने मतिसागर की जो दुर्दशा देखी तो वे बड़ी दुःखी हो उठीं। ''अहो.... हो। आप तो न जाने कैसे हो गये हैं? यह क्या हो गया.... ।'' –सजल-नयना पत्नी ने उन्हें आराम से बिठाते हुए पूछा?

''सब प्रारब्ध की क्रीड़ा है–भागवान ! अब हम क्या बताएँ !''–बेचारे मतिसागर ने दीनता भरे थके-थके स्वर में कहा और एक दीर्घ श्वास खींचते हुए निढाल-से हो गये। कुछ क्षणों में कुछ सहज होते-से उन्होंने कक्ष में चारों ओर दृष्टि घुमाते हुए कहा–''आश्चर्य है, देवी ! यह सब क्या है? क्या है यह सब... हॉ ! इस घर की तो काया ही पलट गयी है। क्या माया है यह सब?''

पत्नी ने गर्व-भरी दृष्टि से बहू चम्पकलता की ओर निहारते हुए कहा–''यह सब तो आपकी छोटी बहू का चमत्कार है, स्वामी ! वही तो हमारे लिये वरदान बनकर आयी है। चम्पकलता ने तो इस घर को अवन्ती-जैसा ही कर दिया। वैसी ही सुख-सुविधा, वैसा ही विलास। वहॉ से भी बड़ा भवन, उद्यान भी, गोशाला भी, दास-दासियाँ भी। पूरा राजसी ठाट-बाट ! हम तो यहॉ सुख-वैभव का समय व्यतीत करते रहे और आप इतना कष्ट भोगते रहे। हाय... हाय ! हमें तो कुछ भी ज्ञात न हो पाया।''

''वो तो अपना-अपना प्रारब्ध है, देवी ! किन्तु यह माया क्या है?'' मतिसागर के मन में जाग्रत उत्साह ने उनके क्षीण तन में भी बल भर दिया। वे सारा घर घूम-घूमकर देखने लगे। सभी बहुएँ उनके संग थीं। सासू मॉ आगे-आगे चलकर सब-कुछ दिखाती जा रही थीं। बोलीं–''यह कोई माया-वाया नहीं, स्वामी ! यह तो बहू के बुद्धि-कौशल का ही चमत्कार है।''

"मेरा क्या चमत्कार है, पिताजी ! चमत्कार तो इन उपलों का है।" अब तक ये गोशाला में पहुँच गये थे।

"उपलों का··· ? वो कैसे?"

"वो···· ऐसे···· पिताजी !" कहते हुए छोटी बहू ने एक उपला लिया और उसे तोड़ दिया। भीतर से कुछ रत्न निकल आये।

"अरे बेटी ! ये क्या··· ! ये तो रत्न हैं···· हाँ··· ऐसे जगमग करते रत्न ! तू वास्तव में बुद्धिमान ही नहीं विवेकशीला भी है। धन्य है तू और धन्य है तेरा चातुर्य। सच है–"वर्तमान के सुखों में जो खोया रहता है और भविष्य के कष्टों की कल्पना कर उनके निराकरण का आयोजन सुख के काल में जो नहीं करता–दुःख उसी के लिए बना है। प्राप्त सुख-वैभव तो अनन्त काल के लिए होता नहीं, हम विवेकहीनों ने उसे असमाप्य ही मान लिया था और हमें वह वैभव छलकर चला गया। तेरे विवेक ने आज हम सब की रक्षा कर ली, बिटिया ! किन्तु··· किन्तु बहू ! राजाज्ञा तो सहसा हुई थी। उसकी कोई कल्पना ही नहीं थी। फिर तूने उपलों में रत्न रखे कव?"

"पिताजी ! अंधकार और प्रकाश जैसे क्रम से आते और जाते रहते हैं वैसे ही जीवन में सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के पश्चात् पुनः सुख का क्रम भी वना ही रहता है। आज का सुख कल के दुःख की भूमिका है–यह कल्पना तो सभी को अपने सुख-काल में रहनी चाहिये। मुझे भी थी। इसी कारण आप सभी के मना करते हुए भी उपले थापने का काम अपने हाथ में ले लिया था।"

"अच्छा··· ! तो यह रहस्य था तेरी उस हठ का।" सासू माँ ने संतोष के साथ कहा–"बेटी ! तूने हम सभी को तार दिया है। तू न होती तो आज हम कहीं के नहीं रहते।" माँ ने चम्पक को अपने गले से लगा लिया। स्नेहपूर्वक वे उसके शीश को सहलाने लगीं।

अव सभी गृह-उद्यान में आ गये। इस सुन्दर-सी विस्तृत वाटिका में पहुँचकर मतिसागर ने संतोष की एक गहरी साँस ली। इसी समय जिज्ञासावश ही चम्पकलता ने पूछा–"आपको तो मैंने एक रत्न दिया था–व्यवसाय करने के लिए। भला आपकी ऐसी दुर्दशा कैसे हो गयी?"

"वहू ! अव क्या वताऊँ !··· सव प्रारब्ध का ही खेल है। सभी का भाग्य एक-सा तो होता नहीं ना ! किसी के हाथ पड़कर मिट्टी भी स्वर्ण हो जाती है और किसी का स्पर्श पाकर स्वर्ण भी मिट्टी वन जाता है। तूने तो मुझे रत्न ही दिया–मूल्यवान रत्न ही होगा वह, किन्तु मुझे उसका सुख न मिलना था–न ही मिला। व्यापार के लिए धन चाहिए। धन के लिए मैंने उस रत्न को वेच देना चाहा, किन्तु वह विका नहीं। जिसे देता वही उसे कंकर वताकर लौटा देता। वहुतेरे प्रयत्न किये, परन्तु वह रत्न मेरे लिये धन नही वन सका। भूखा-प्यासा, अनाश्रित डोलता

रहा मैं। स्थान-स्थान पर भटकते-भटकते मेरी यह दशा हो गयी। वे ही रत्न यहाँ भी तो वैभव में परिणत हो गये हैं। पूर्व सचित कर्मो का बंध अपने फल देता ही है। वे शुभाशुभ फल भोगने ही पड़ते हैं–भागने से किसी की रक्षा नहीं होती।"

"वह रत्न अब कहाँ है, पिताजी !"

"है ··· बहू ! ··· मेरे ही पास है। खोटी मुद्रा और खोटा बेटा कहीं नहीं जाता। अपने ही पास रहता है।" मतिसागर ने अपने कटिबंध में से वह रत्न निकाला और चम्पक को दिखाया। वही रत्न था–चकमदार और मूल्यवान।

चम्पकलता ने एक सेवक को बुलवाया और उसे यह रत्न देते हुए कहा–"मुंजाल श्रेष्ठी के यहाँ जाकर रत्न को बेच आओ। उनको यह न बताना कि किसने भिजवाया है।"

मुंजाल के यहाँ से सेवक एक थैली में बहुत-सी स्वर्ण-मुद्राएँ लेकर आ गया। मुद्राएँ मतिसागर को दिखाकर चम्पक बोली–"देखिये, पिताजी ! रत्न तो इतना मूल्यवान था। इस धन को व्यवसाय से बढ़ाया जाय तो क्या कुछ नहीं हो सकता !"

"तू ठीक कहती है, बहू !" सासू माँ ने कहा–"रत्न तो मूल्यवान ही था, किन्तु भाग्य ही खोटा हो पाने वाले का, तो कोई क्या करे। इनके पास यही रत्न कंकर होकर रह गया था न !"

इस सुखमय वातावरण में पहुँचकर मतिसागर ने संतोष की साँस ली। और स्नानादि से निवृत्त होकर जब वे आये तो कुछ और ही दिखायी देने लगे। उनके मुख पर कान्ति लौट आयी। कुलीन जनोचित पोषाक धारण कर लेने से उनकी हीनता भी दूर हो गयी थी। इस सुख की प्रतिछाया उनके व्यक्तित्व को भी निखारने लगी। सारा परिवेश ही परिवर्तित हो गया। क्रमशः उनकी दुर्बलता भी दूर होने लगी। वे पूर्ववत् होने लगे। उनका सबसे छोटा बेटा धन भी कुछ ही दिनों में लौटकर आ गया। उसे व्यवसाय में अच्छी सफलता मिली। उसके दोनों भाई भी लौटे। किसी को कुछ कम तो अन्य को कुछ अधिक उपलब्धि हुई पर प्रसन्न वे सभी थे। उद्यमशीलता की अपनी ही एक सुखद महत्ता होती है और स्वार्जित धन के उपयोग से गौरवपूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है।

× × ×

अवन्ती में महाराज वीर विक्रम ने मतिसागर की सारी संपदा को संरक्षित कर लिया था। राज-काज की व्यस्तता और नित नये प्रसंगों के अमित प्रवाह में मतिसागर के निष्कासन का प्रसंग धूमिल हो चुका था। छह माह व्यतीत होने को आये। एक दिन नागदमनी माँ ने महाराज से कहा–"अव समय आ गया है, जव आपको पुनः अपने उद्यम में जुट जाना होगा। पंचदण्डछत्र-प्राप्ति का योग प्रवलतर होता जा रहा है। इस शुभ कीर्ति की पात्रता आपमें विकसित होती जा रही है। अव आपको रत्नपुर जाना होगा, राजन् !"

– "वो ··· वो किसलिये? रत्नपुर में क्या प्रयोजन है?"

– "प्रयोजन तो मूलतः एक ही है–छत्र की प्राप्ति। रत्नपुर में इसका एक भाग और सम्पूर्ण होने को है। आप जाएँ और निष्कासित मंत्री मतिसागर को वहाँ सपरिवार सादर लौटाकर ले आएँ। उनका छिना हुआ अवन्ती आवास और पद गौरव-प्रतिष्ठा उन्हें फिर लौटानी होगी।"

– "यह क्या? क्यों तो हमने उसे निष्कासित किया और क्यों हम उसे क्षमादान देकर पुनः प्रतिष्ठित करें। दोनों ··· दोनों ही जबकि अकारण हों।"

– "अकारण नहीं, राजन् ! प्रत्येक क्रिया के मूल में कोई कारण अवश्य रहता है। प्रायः हमारी बुद्धि से ओझल रह जाने से हम क्रिया को अकारण मान लेते हैं। पर होती वह सकारण ही है।"

– "तुम्हारा कथन कदाचित् सत्य ही हो, नागदमनी ! किन्तु इन दोनों प्रसंगों में हमें कोई औचित्य दृष्टिगत होता नहीं है।"

– "अवन्तीनाथ ! मैं आपको किसी अनुचित का कर्त्ता कभी नहीं बनाऊँगी। आप राजा भी हैं और मेरे आदरणीय जामाता भी हैं। आपके यशोवर्धन में ही मेरी प्रसन्नता निहित है, अपकीर्ति में नहीं।"

नागदमनी ने धीरज के साथ सुदृढ़ स्वर में कहा और मंत्री मतिसागर को निष्कासित कराने का भेद समझाकर प्रकट किया कि–

मंत्री मतिसागर की पुत्र-वधू चम्पकलता का पितृ-गृह रत्नपुर में है और वह बड़ी विद्यावती और चतुर है। मतिसागर का निष्कासन इस निमित्त हुआ है कि चम्पक रत्नपुर पहुँच जाय। उसकी तीन प्रगाढ सखियाँ और भी हैं रत्नपुर में। वर्षभर से भी कम अवधि हुई कि चम्पकलता तो अवन्ती आ गयी मतिसागर की पुत्र-वधू होकर। और तीनों सखियों को उसका अभाव अखरने लगा। वे इसके वियोग में दुःखित हो गयीं। अब उन्होंने निश्चित किया है कि वे तीनों ही किसी एक ही पुरुष से विवाह करेंगी कि जिससे वे एक संग रह सकें। उनका चतुष्टय तो खंडित हो गया, किन्तु शेष बची तिकड़ी को वे बिखरने नहीं देना चाहतीं। वस्तुतः वे एक प्राण हैं, बस–तन से ही पृथक्-पृथक् हैं। अव आपको रत्नपुर जाने के मेरे आदेश के पीछे भी यही प्रयोजन है कि इन चारों सखियों के माध्यम से आपको अपनी कार्य-सिद्धि का अवसर मिल जाये। इस अभियान में ही आपको शेष तीन दण्डों की प्राप्ति होगी। देवदमनी की अनुजा हरिताली से आपका परिणय तो पूर्व-निश्चित है–वह भी रत्नपुर मे संभव होगा। अन्य सुन्दरियो, नागकन्यादि का प्रवेश भी आपके जीवन में होगा। महाराज के लिए यह रत्नपुर-यात्रा एक और भी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वताते हुए नागदमनी ने कहा–"मंत्री मतिसागर के

निष्कासन से यदि आपको कोई आत्म-ग्लानि हुई हो तो उन्हें सादर लौटा लाने का आपका उद्यम उसे धोकर मन को स्वच्छ कर देगा। जनमानस में आपकी छवि निर्मलता से निखर उठेगी। आपके अपने प्रयोजन से रत्नपुर पहुँचना आवश्यक है। प्रकट रूप में यह इस प्रवास का समुचित और सार्थक उद्देश्य भी रहेगा।"

"हम जाएँगे रत्नपुर ··· अवश्य जाएँगे।" महाराज ने दृढ़ता के साथ कहा—"यह यात्रा हमारे जीवन का अविस्मरणीय प्रसंग बनेगा। हमें मंत्री मतिसागर को सादर लौटा लाने में हर्ष होगा।" उन्होंने नागदमनी को सम्बोधित करते हुए यह भी कहा—"हमें ज्ञात नहीं कि रत्नपुर पहुँचकर हमें दण्ड-प्राप्ति के लिए क्या करना होगा, किसके सहयोग से कार्य-सिद्धि होगी ··· किन्तु इससे हम रंच मात्र भी असमंजस में नहीं हैं। शुभ संकल्प अपनी दृढ़ता से ही पूर्ण होते हैं और साहसपूर्ण उद्यम उन्हें सुगम बनाते चलते हैं। हम तो मानते हैं कि कार्यारंभ की साहसिकता आवश्यक है, मार्ग तो आगे-से-आगे स्वतः बनता चला जाता है। केवल-सोच-ही सोच से व्यक्ति शिथिल और निष्क्रिय रह जाता है।"

निरुद्विग्न मन से महाराज वीर विक्रम ने रत्नपुर प्रवासार्थ निश्चय कर लिया। महाराज और नागदमनी दोनों ही एक-दूसरे के कथनों से परम संतुष्ट थे। महाराज के अन्तःपुर में इतनी रानियाँ थीं किन्तु संगति के नाम पर मात्र दो कन्याएँ ही थीं। वे कभी-कभी राज्य के उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर विचारशील और गंभीर भी हो जाते थे, किन्तु कर्मफल में अडिग विश्वास उन्हें चिन्तामुक्त रखता था। यह भी कर्मफल का ही एक अंग था कि वे एक छह वर्षीय गुणवान पुत्र के पिता भी थे, किन्तु अपने इस गौरव से वे स्वयं भी अनभिज्ञ थे। प्रतिष्ठानपुर की राजकन्या सुकोमला उसकी जननी थी। माता के कर्म-परिणाम रहे हों अथवा पिता के, किन्तु यह सत्य है कि कुमार के अस्तित्व से ही पिता वीर विक्रम अनभिज्ञ रह गये थे और माता उनका अता-पता न होने की विवशता में कुछ भी कर नहीं पा रही थी। महाराज के मन पर तो राजकन्या सुकोमला की विस्मृति का एक अभेद्य, गहन आवरण चढ़ा हुआ था।

रत्नपुर में मतिसागर का परिवार सानन्द समय-यापन कर रहा था। कोई कष्ट नहीं—कोई अभाव नहीं। इसी बात का आन्तरिक कष्ट मतिसागर को कभी-कभी अनुभव होता रहता था कि अवन्तीनाथ ने क्यों यह दण्ड उन्हें दिया। निरपराध के लिए प्रदत्त दण्ड यंत्रणा की अपेक्षा वेदना का ही कारण अधिक होता है। अकारण कलंक से वह स्वयं को अपमानित और लज्जित अनुभव करने लगता है। यही मानसिक पीडा मतिसागर को त्रस्त किये रहती थी। एक रात्रि में सभी अपने-अपने शयन-कक्षों में सोये हुए थे कि सहसा उस सन्नाटे में दूर से—कहीं से शृगाली की ध्वनि आने लगी। चम्पकलता जाग गयी और वातायन को खोलकर शृगाली का कथन सुनने-समझने का प्रयत्न करने लगी। स्पष्टतः कुछ जान लेने की जिज्ञासा ने

उसे दत्तचित्त और एकाग्र बना दिया। श्रृगाली के शान्त हो जाने पर चम्पकलता एकदम उद्विग्न हो गयी। वह सोचने लगी—'यह कैसा संदेश ! असंभव-सा प्रतीत होने वाला। क्या निकट भविष्य में ही संभव होने वाला है। किन्तु ··· किन्तु ऐसा भला होगा क्यों? किन्तु हो भी सकता है—भविष्य का कौन जानता है क्या रहे? समय सदा एक-सा तो रहता नहीं।' उसने वातायन से बाहर झाँककर अनुमान लगाया कि अभी प्रातः होने में कुछ समय शेष है ··· तो श्रृगाली का यह कथन तो पिछली रात का हुआ। ओहो ··· हो। चम्पक शय्या पर जाकर लेट तो गई, किन्तु उसके नयनों में निद्रा न थी। उसके मानस में भारी उथल-पुथल मची रही। मतिसागर शीघ्र सो जाने और तड़के ही उठ जाने के अभ्यासी थे किन्तु तब तक बहू की निद्रालस पलकों में भारीपन आ गया था और वह निद्राधीन हो गयी। अनायास ही जब उसकी पलकें खुलीं तो पाया कि घर में सभी जाग्रत हो गये थे। किंचित् संकोच के साथ वह उठ बैठी। शीघ्रता के साथ नित्य कर्म से निवृत्त होकर वह भी यथासमय ध्यान-कक्ष में पहुँची। ध्यान-साधना से निवृत्त होने के पश्चात् चम्पक ने सभी पूज्य जनों की चरण वन्दना की और बोली—"आज एक शुभ संदेश प्राप्त हुआ है। संदेश विश्वसनीय है और सर्वथा सत्य है। अवन्ती-नरेश आज ही दोपहर को यहाँ सरोवर पर पहुँचने वाले हैं और पिताजी से भेंट करना चाहेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि महाराज को अपनी भूल का आभास होने लगा है, वे पिताजी को दिया गया दण्ड निरस्त करना चाहते हैं।"

सभी महान् आश्चर्य में डूब-से गये। क्या ऐसा भी हो सकता है ! "बहू ! ऐसा संभव तो नहीं लगता।" सासू माँ ने शान्ति के साथ कहा—"किन्तु तुम भी मिथ्या क्यों कहोगी, यह सोचकर अविश्वास भी नहीं किया जा सकता। हमारे लिये यदि महाराज यहाँ तक की यात्रा का कष्ट करें तो हमारा तो यह अहोभाग्य ही होगा, किन्तु वे ऐसा करेंगे क्यों?"

"यदि दंड ही निरस्त करना हो तो ऐसा वे राजसभा में घोषणा द्वारा भी कर सकते है—यहाँ तक आना ····।" एक जिठानी ने इस प्रकार शंका व्यक्त की।

मतिसागर तो मानो हतबुद्धि से हो गये थे। वोले—"किसी की वात का आधार जाने विना उसमें शंका करना उचित न होगा। वेटी ! तुम्हें यह समाचार कहाँ से मिला? क्या कोई स्वप्न देखा तुमने?"

"नहीं, पिताजी ! स्वप्न नहीं देखा है। स्वप्न का अर्थ निकालना भी हम साधारण जनो के लिए सुगम नहीं होता।" वहू चम्पकलता ने आत्म-विश्वास-भरे स्वर में कहा—"मुझे जागते में यह संदेश मिला है। पूरी चेतना के साथ मैंने इसे ग्रहण किया है। विश्वास कीजिये यह सर्वथा सत्य है। महाराज आज अवश्य आएँगे। उनके उद्देश्य के विषय में मेरी कल्पना है किन्तु मेरा विश्वास है कि यह भी सत्य ही होगी।"

"सत्य हो सकती है, बेटी ! तेरी कल्पना भी सत्य हो सकती है, किन्तु क्या हम यह भी जान सकते हैं कि इसका स्रोत क्या है?" मतिसागर ने प्रश्न कर तो दिया, किन्तु इस प्रश्न से वे स्वयं असमंजस में पड़ गये। कहीं बेचारी बहू यह न सोचने लगे कि मेरे कथन को अविश्वसनीय और आधारहीन समझा जा रहा है। अतः बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये ही वे यह स्वयं ही कह उठे–"किन्तु इससे क्या? प्यासे की प्यास तो जल से बुझती है। यह जानने की अनिवार्यता नहीं होती कि जल किस कूप का है। आज दोपहर की ही तो बात है। हम चले जाएँगे सरोवर पर। सब-कुछ पता लग जायेगा। अधिक अधीर होना भी अर्थहीन ही है।" बहू चम्पकलता को अपरिमित संतोष हुआ।

× × ×

अवन्ती से प्रस्थान कर एक अश्व पर आरूढ़ होकर महाराज वीर विक्रम रत्नपुर की सीमा में प्रविष्ट हुए ही थे कि उन्हें एक वृद्ध सज्जन मिल गये। महाबलाधिकृत अजयसेन एक अन्य अश्व पर महाराज के अनुगामी थे। अजयसेन ने वृद्ध से सरोवर के विषय में पूछा और उनके बताये मार्ग पर चलकर दोनो सरोवर पर पहुँच गये। महाराज तो सरोवर की पाल पर एक वृक्ष-तले निर्मित चबूतरी पर बैठे शीतल पवन का आनन्द लेने लगे, किन्तु अजयसेन नगर की ओर चला गया कि मतिसागर की खोज करे।

शान्तैकान्त स्थल पर मनुष्य का मन अधिक सक्रिय हो जाता है। वह अपने आपसे बड़ी वाचालता के साथ बतियाने लगता है। स्वयं ही प्रश्नकर्त्ता हो जाता है, स्वयं ही उत्तरदाता भी। महाराज की भी यही आन्तरिक दशा थी। वे सोचने लगे थे कि अब भूस्फोटक विषापहर और मणिदण्डों की प्राप्ति हमारा मूल मंतव्य है। यह कैसे पूर्ण होने को है? इसके लिए हमें कौन-सी कार्य-प्रणाली अपनानी होगी? हरिताली के संग ··· । न जाने क्या-क्या होने वाला है। वे नाना भाँति के विचारों में ग्रस्त थे। उन्हें आशा थी कि महाबलाधिकृत को लौटने में अभी समय लगेगा तभी सामने से तीन अश्व उनकी ओर आते हुए दिखायी दिये। उन्हें आश्चर्य हुआ कि इतना शीघ्र ही नये स्थल पर मतिसागर को अजयसेन ने खोज निकाला ···· विचित्र है यह तो। देखते-ही-देखते तीन अश्व कुछ और समीप आ गये। पर्याप्त दूरी पर वे रुके और तीनों पुरुष महाराज की ओर बढ़े। अजयसेन के संग मतिसागर और उनका कनिष्ठ पुत्र धनकुमार था। दोनों पिता-पुत्र दूर से ही महाराज की जय-जयकार करने लगे। उनके दोनों हाथ ऊपर को उठे थे। कुछ समीप आकर दोनों ने अवन्तीराज को नमनपूर्वक प्रणाम किया। मुस्कराते हुए दो चरण पीछे को हटकर सर्वप्रथम मतिसागर ने कुशल-क्षेम पूछी–"महाराजश्री प्रसन्न और स्वस्थ तो हैं। अन्तःपुर और राजभवन के सभी लोग कैसे हैं? ··· और ··· और मालव-प्रजा तो सुखी है न, राजेश्वर !"

"मालव-देश में सभी प्रकार से कुशल मंगल है, मंत्रीवर !" प्रसन्नतापूर्वक मालव-नरेश ने अभिवादन के उत्तर में हाथ उठाते हुए कहा–"आश्चर्य है आप तनिक भी न बदले। सभी परिजन कैसे हैं? सुखी तो हैं न सभी?"

"सभी स्वस्थ हैं, कृपावतार ! सभी सुखी और नीरोग हैं। मैं भी सकुशल हूँ, महाराज ! बस, एक ही बात की पीड़ा बनी रहती है। मालव-धरती से दूर यहाँ परदेस में पड़ा हूँ। एक दिन भी ऐसा नहीं व्यतीत हुआ, श्रीमानेश्वर ! जब अवन्ती का स्मरण न आया हो। वह पावन क्षिप्रा मैया का उद्धारक प्रवाह, मन को वहीं ले चला जाता है। यह तन बेचारा असहाय-सा यहॉ पड़ा रहता है।"

"दुःखी न हों, मंत्रीवर ! अब आपकी यह पीड़ा भी न रहेगी। हम आपको आदरपूर्वक सपरिवार अवन्ती ले चलने को ही आये हैं। आपका मान रखने को ही हम स्वयं आये हैं यहॉ। आपको मना न करने देंगे।"

"तो क्या करुणावतार महाराजश्री ने मुझे क्षमा कर दिया मेरा अपराध··· ।" प्रसन्नता के अतिरेक के साथ किया गया मंत्री मतिसागर का कथन पूर्ण भी न हो पाया था कि महाराज ने त्वरा के साथ कहा–"आपका कोई अपराध नहीं रहा, मंत्रीवर ! कोई अपराध यदि रहा है तो वह हमारा है। हम स्वयं आपसे क्षमा-याचना करने आये हैं। ये तो परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी आ गयीं कि निष्कासन की आज्ञा देनी पड़ी, अन्यथा आप-जैसा कर्त्तव्यनिष्ठ, धर्मात्मा और देशभक्त अन्य कौन होगा? धन्य है आपकी राजभक्ति और देश-प्रेम। हमारे अन्याय की प्रतिक्रियास्वरूप भी कोई रोष आपके चित्त में उदित नहीं हुआ। निष्कासन पाकर भी आप मालव को सदा स्मरण करते रहे। ऐसे महात्माओं के बल पर ही कर्त्तव्य और देशभक्ति की भावना अक्षुण्ण बनी हुई है। हम हमारे निर्णय पर लज्जित हैं, किन्तु वह हमें करना पड़ा। अवन्ती चलकर इस पर विस्तार से चर्चा होगी, मंत्रीवर ! किन्तु आपका आवास क्या यहाँ से समीप ही है? अजयसेन तो आपको शीघ्र यहॉ ले आये।"

"इतना समीप भी नहीं है, महाराज ! मैं तो स्वयं ही आपके दर्शनों के लिये चला आ रहा था। महाबलाधिकृत अजयसेन जी मार्ग में ही मिल गये थे।" महाराज को मंत्री की बात पर अचरज हुआ। बोले–"किन्तु हमने तो कोई संदेश भेजा न था। आपको कैसे ज्ञात हुआ?"

"आज प्रातःकाल ही मुझे ज्ञात हुआ कि आपका आगमन दोपहर में यहॉ सरोवर-तट पर होने को है। मैं दर्शनों के लिए लालायित हो उठा, श्रीमानेश्वर ! यह मेरा छोटा पुत्र धन है, महाराज ! इसकी पत्नी चम्पकलता बड़ी ही गुणाढ्य है। पशु-पक्षियो की बोली वह जानती है। पिछली रात ही एक शृगाली ने आपके आगमन की सूचना दे गयी थी।"

महाराज वीर विक्रम ने धन पर दृष्टि डाली। वह प्रणाम-मुद्रा में करबद्ध अवस्था में खड़ा था। "तो यह सब बहू की विद्या का चमत्कार था। हमने सुना है वह बड़ी चतुर नारी है।"–महाराज ने प्रशंसा-भरे स्वर में कहा और स्वयं ही मुस्करा उठे। क्षणेक विराम के पश्चात् महाराज ने पुनः आरंभ किया–

– "तो मंत्रीवर ! कब प्रस्थान करेंगे अवन्ती के लिये ?"

– "यह सेवक आपके आदेश से बाहर कब रहा है, देव ! जैसी आपकी आज्ञा होगी, श्रीमानेश्वर ! एक ही प्रार्थना है मेरी तो···।" दीनता-भरे स्वर में मंत्री मतिसागर ने निवेदन की मुद्रा में करबद्ध रूप में कहा।

– "कहिये··· कहिये, मंत्रीवर !" तनिक उत्साहित करते हुए महाराज बोले– "अपनी इच्छा खुलकर प्रकट करें। आप संकोच में रुक क्यों गये ?"

– "संकोच तो इस बात का है, महाराज ! कि 'छोटे मुँह बड़ी बात।' मैं तो एक दीन-हीन गृहस्थ हूँ। आपकी सेवा का सामर्थ्य मुझमें कहाँ, किन्तु इच्छा यही है, श्रीमानेश्वर ! कि इस दुर्बल परिवार का आतिथ्य ग्रहण करें। कुछ दिन विश्राम करें।"

"आप राज-परिवार के गुरुजनों में से एक हैं, मतिसागर जी ! आपकी भावना का अनादर हम नहीं करेंगे। कर ही नहीं सकेंगे।" महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक कहा और सोचने लगे–'अपने प्रयोजन से हमें इस नगर में रुकना तो है ही। यह सुविधापूर्ण ही रहेगा, फिर एक पंथ दो काज।' अपनी आन्तरिक विचार वीथी से बाहर निकलते हुए उन्होंने महाबलाधिकृत अजय की ओर ताका और पूछा–"आपकी क्या सम्मति है ?"

"करुणानिधान ! आपका विचार उत्तम ही है। मंत्री जी को इतना अवसर तो मिलना ही चाहिये।" अनुमोदित अनुरोध और भी प्रबल हो जाता है।

मंत्री मतिसागर ने तब निवेदन किया–"पधारें, श्रीमान् ! घर पर भी सभी प्रतीक्षारत हैं। अपने दर्शनों से सभी को कृतार्थ कीजिए।"

रत्नपुर के प्रमुख मार्गों पर इन चार अश्वारोहियों को देखकर जनता चमत्कृत रह गयी। राज-कर्मचारी तो महाराज का अपूर्व तेज देखकर अनुमान करने लगे कि ये कहीं के नरेश हैं। पराक्रम तो इनकी मुख-मुद्रा में स्पष्टतः अंकित लगता है। मंत्री जी के आवास पर पहुँचकर तो अवन्ती-नरेश बड़े प्रभावित हुए। 'ऐसा भव्य भवन··· ऐसा उपवन ! मंत्री ने क्या मंत्र चलाया कि निष्कासित होकर भी इतनी समृद्धि प्राप्त कर ली।'–यही सोचते-सोचते वे मुख्य द्वार तक पहुँच गये। मंत्री-पत्नी और पुत्र-वधूओं ने महाराज का स्वागत–अभिनन्दन किया। परस्पर कुशल-क्षेम के पश्चात् सारी व्यवस्थाएँ होने लगीं। स्नानादि के पश्चात् महाराज वीर विक्रम भोजन कर विश्राम करने लगे। वे अपने आगामी कार्यों के लिए सूत्र खोजने लगे। मंत्री की पुत्र-वधू चम्पकलता ही उनके ध्यान में पहला नाम आया। नागदमनी ने

अवन्ती में इसका संकेत किया भी था। इसकी शेष तीन सखियों से ही दण्डत्रय की प्राप्ति होने को है। ऐसे में चम्पक का जो सान्निध्य स्वतः सुलभ हो गया है, उसका बड़ा महत्त्व है। इसी चिन्तन में समय व्यतीत होता रहा।

संध्या-समय महाराज उपवन में विचरण करने लगे। मतिसागर उनके संग थे। सुन्दर और उच्च्य भवन को निहारते हुए नरेश वीर विक्रम ने जिज्ञासा प्रकट की– "हमने तो तुम्हारी समस्त सम्पत्ति राज्याधीन कर तुम्हें रिक्त हस्त ही निष्कासित कर दिया था। ऐसी विपरीत परिस्थिति में और वह भी इतने-से समय में आपने इतनी सम्पन्नता कैसे प्राप्त कर ली? यह क्या चमत्कार है?"

"श्रीमानेश्वर ! मैंने निवेदन किया ही था, मेरी पुत्र-वधू चम्पकलता का बुद्धि-चातुर्य हमारे परिवार के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। उसे कई महीनों पूर्व ही हमारे निष्कासन का निश्चित आभास हो गया था। उस बुद्धिमती ने भावी संकटों की पूर्व कल्पना कर ली और उनके निराकरण की तैयारी भी वह छिपे-छिपे करती रही। उसी का यह सब परिणाम है, राजेश्वर !"

महाराज के मन में इससे चम्पकलता की छवि उज्ज्वलतर हो गयी। उन्होंने उत्साह प्रकट करते हुए कहा–"मंत्री जी ! हम आपकी इस बहू से भेंट करना चाहेंगे।" महाराज ने वार्त्तालाप भी विस्तार के साथ किया, किन्तु चम्पकलता की तीन सखियों के विषय में कोई अतिरिक्त सूचना उन्हें मिल नहीं पायी। केवल इतना ज्ञात हो सका कि वे सखियाँ कौन-कौन हैं?

× × ×

राजा रत्नसेन रत्नपुर के एक वीर शासक थे। अनेक युद्धों में उन्होंने पराक्रम का परिचय देते हुए अपार यशार्जन किया था। वर्तमान में रत्नपुर के समक्ष एक ऐसी जटिल समस्या आ खड़ी हुई थी जिसके समाधान में उनका शौर्य भी अकारथ सिद्ध हो रहा था। जब सभी राजकीय प्रयत्न विफल हो गये तो जनता के सहयोग के लिए पटह बजवाया गया।

प्रातःकाल जब अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज उद्यान में मंत्री मतिसागर से बतिया रहे थे उसी समय इस भवन के बाहर आकर पटह बजा। नक्कारों के तीव्र वादन के पश्चात् राज्य-कर्मचारी ने घोषणा की–

"रत्नपुर के सभी विशिष्ट और सामान्य जन कान लगाकर सुने .... जो कोई रत्नपुर के राजोद्यान के आम्र-कुंज को फलयुक्त कर देगा, सरोवर को निर्मल जल से भर देगा और व्यन्तर की बाधा से नगर को निरापद कर देगा–राजकन्या विश्वलोचना के संग राजा उसका विवाह कर देंगे, अपना आधा राज्य भी उसे दे देंगे। ... सुनो ... सुनो ... सुनो ! कान लगाकर सुनो। जो कोई शूरवीर अपनी

शक्ति का परिचय देना चाहे वह आगे बढ़े और पटह का स्पर्श करे। सुनो ... सुनो ... सुनो ... ।" फिर नक्कारे गूँज उठे।

महाराज वीर विक्रम का शौर्य-प्रधान चित्त कुछ आकर्षित हुआ—"मंत्री जी ! यह व्यन्तर का क्या प्रसंग है ?"

उत्तर में मतिसागर ने सारा वृत्तान्त प्रस्तुत कर दिया। कुछ समय पूर्व एक ऐन्द्रजालिक रत्नपुर की राजसभा में उपस्थित हुए। उसने अपने चेटक के कुछ चमत्कार दिखाकर सारी सभा को मुग्ध कर दिया। नरेश रत्नसेन भी बहुत प्रभावित हुए। उस ऐन्द्रजालिक ने कहा कि यदि राजा का आदेश हो तो वह ऐसे आम्र-वृक्ष उगा सकता है जो तत्काल फल देने लगे और वर्षभर—हर समय देता रहे। उसने कहा कि इन वृक्षों के फल श्रेष्ठ और सुस्वादु भी होंगे। नरेश और भी चमत्कृत हुए और उन्होंने ऐन्द्रजालिक को ऐसा कुंज लगाने का आदेश दिया। ऐन्द्रजालिक ने जैसा कहा था—वैसा ही कर दिखाया। इस आम्र-कुंज के मध्य उसने एक सुन्दर सरोवर भी निर्मित किया जिसमें तत्काल ही निर्मल जल लहराने लगा। सभी यह अनहोनी होते देखकर आश्चर्य-सरोवर में निमग्न हो गये।

लोभ विवेकनाशक होता है और विवेकनाश सर्वनाशक सिद्ध होता है। लोभ को चित्त में आश्रय न देने में ही विवेकशीलता है। किन्तु ... किन्तु विधाता जिसको आपदा देना चाहता है, उसका विवेक हर लेता है। राजा को भी लोभ हुआ। सोचा कि इतने सुन्दर स्वाद वाले आम हमें हर समय मिल जाते हैं, किन्तु इसके लिये हमें उस ऐन्द्रजालिक पर आश्रित रहना पड़ता है। उसके प्रसाद पर्यन्त ही हमारा यह सुख, यह सुविधा रहेगी। वह जब चाहेगा अपनी माया को समेट लेगा। अच्छा हो ऐन्द्रजालिक को ही समाप्त कर दिया जाय। यह माया भी हो तो यथावत् बनी रहेगी। शीघ्र ही राजा ने ऐन्द्रजालिक की हत्या करवा दी। दुष्परिणाम इसका यह हुआ कि आम्र-वृक्ष पर सुन्दर आकर्षक फल तो आते हैं किन्तु निरर्थक। किसी के स्पर्श करते ही वे पाषाण के हो जाते हैं। सरोवर का निर्मल नीर और लहराता दृष्टिगत होता अवश्य है, किन्तु अंजलि भरें तो हाथ में बालू आ जाती है। इतना ही नहीं, मरण को प्राप्त कर वह ऐन्द्रजालिक व्यन्तर हो गया और वह नगर में भीषण उत्पात मचाता रहता है।

सारा इतिवृत्त सुनकर अवन्ती-नरेश ने तत्काल ही निश्चय कर लिया कि वे इस समस्या का समाधान करेंगे। उन्होंने आत्म-विश्वास के साथ मंत्री से कहा—"जाओ और जाकर पटह का स्पर्श कर आओ। हम यह चुनौती स्वीकार करते हैं और इसमें सफल होकर दिखा देंगे।"

विवश वेचारे मतिसागर कुछ निवेदन करने की स्थिति में नहीं थे। उनको सोचने-समझने का अवकाश ही नहीं मिला। "जैसी आज्ञा, श्रीमानेश्वर !"—कहते हुए वे उपवन से वाहर चले गये।

महाराज वीर विक्रम तत्काल ही उपवन के एक एकान्त स्थल पर चले गये और अग्निवेताल का स्मरण किया। वेताल तुरन्त ही आ उपस्थित हुआ। महाराज ने सारा वृत्तान्त संक्षेप मे सुनाते हुए उसके सहकार की कामना व्यक्त की। वेताल तो सदा तत्पर ही रहता था। वेताल ने अपने चातुर्य से संध्या-पूर्व ही सारा कार्य सम्पन्न करा दिया। महाराज वीर विक्रम ने उसके सहयोग और अपनी साहसिकता एवं पराक्रम के योग से व्यन्तर का काम तमाम कर दिया। रत्नपुर के निवासियों ने सुरक्षा पाकर आश्वस्तता की साँस ली। उत्पात सदा-सदा के लिए समाप्त हो गये। आम्र-फल भी यथार्थ रूप में आ गये और सरोवर का जल भी। पुरवासियों में उमंग जागी। वे भारी संख्या में एकत्र हो गये और अपने उद्धारक वीर का अभिनन्दन करने लगे। उन्होंने उन्हें पुष्पमालाओं से लाद ही दिया। एक अश्व पर उन्हें आरूढ़ कर शोभा-यात्रा निकाली गयी। नगर के प्रमुख मार्गों पर होते हुए यह शोभा-यात्रा राजभवन पहुँची। प्रसन्नचित्त राज-दम्पति ने उनका स्वागत किया। वचन-निर्वाह में विलम्ब न करते हुए राजा ने तत्काल ही इस साहसी वीर को अपना जामाता बना लिया। राजकन्या विश्वलोचना ने लजाते-सकुचाते हुए उनके कंठ में वरमाला धारण करा दी। अज्ञात कुलशील के इस युवा का वरण करते हुए भी राजकन्या को जो हार्दिक प्रसन्नता थी, वह इस आधार पर थी कि उसके स्वप्नों का नायक धीर-वीर था और उसके वर ने उसके स्वप्नों को साकार कर दिया था। उनकी पराक्रम गाथा सुन-सुनकर राजकुमारी का प्रफुल्लित हृदय तो जोर-जोर से धड़कने लगा। राजा रत्नसेन ने इसी संध्या में दोनों का परिणय भी सम्पन्न करा दिया। उन्होंने अपने अर्द्धासन पर विराजित कर अपने वीर जामाता को अपने आधे राज्य का अधिकारी भी वना दिया। रत्नपुर-नरेश ने इस प्रकार स्वयं ही जामाता को गरिमा प्रदान कर उन्हें अपने परिवार के योग्य बनाया है उन्हें वस यही संतोष था, अन्यथा वे भी इन्हें साधारण कुलोत्पन्न ही मानकर विशेष उत्साहित न थे।

इसी समय मतिसागर राजसभा में उपस्थित होकर नव-दम्पति को आशीर्वाद देने को आगे वढे—"राजाधिराज अवन्तीराज विक्रमादित्य महाराज को इस नव-विवाह पर मंत्री मतिसागर की वधाई और अभिनन्दन। नव-दम्पति की सुख-समृद्धि और कीर्तिवर्धन के लिए हमारी शुभ कामनाएँ।"

मतिसागर के इस आशीर्वचन ने तो सभी को भौंचक्का कर दिया। राजकन्या विश्वलोचना का तो हृदय वल्लियों उछलने लगा। वह अपने भाग्य पर गर्व का अनुभव करने लगीं। राजा और राज-परिवार का मानसिक संकोच भी दूर हुआ। देवांगनाओं के लिए भी जो दुर्लभ हैं, ऐसे परम वीर, महापुरुष, मालव-सम्राट् के साथ यह संवंध हुआ है, वे पतिरूप में उनके जीवन मे प्रविष्ट हुए हैं और वे एक विशाल साम्राज्य की रानी हो गयी हैं—यह सोचकर राजकन्या की प्रसन्नता का पार ही नहीं था। राज-दम्पति भी निहाल हो गये थे। उन्होंने अपने आसन से उठकर वीर विक्रम को पुनः नमनपूर्वक प्रणाम किया। वोले—"मालवाधिपति की जय हो !

आपने तो हमें कृतार्थ ही कर दिया। आपको जामाता रूप में पाकर हम तो धन्य ही हो गये हैं। अब हम निश्चिन्त हो गये।''

विवाहोपरान्त महाराज को राज-अतिथि के रूप में राजभवन में ही रहना था। निश्चित हुआ कि अभी कुछ दिन वे राजा रत्नसेन का आतिथ्य ग्रहण करते हुए विश्राम करेंगे। विश्राम, किन्तु उनके लिए बना ही कहाँ था। उन्हें तो दण्डत्रय-प्राप्ति की साध लगी हुई थी। आगामी संध्या को वीर विक्रम ने अदृश्यकारी गुटिका का प्रयोग कर लुप्त रूप में मंत्री के घर के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में ही उन्हें चम्पकलता सामने से आती हुई दिखायी दे गयी। प्रयोजन तो चम्पक से सम्पर्क का ही था। उसके पीछे-पीछे एक दासी चल रही थी। महाराज तुरन्त मुड़ गये और अदृश्य रूप में ही चम्पक का अनुसरण करने लगे। कुछ ही समय में वह एक भवन पर जाकर रुकी और भीतर प्रवेश करने के पूर्व एक क्षण कुछ सोचते हुए उसने दासी की ओर उन्मुख होकर कहा–''कला ! तू तनिक गोमती के घर चली जा और उसे सूचना दे आ कि मैं पीहर आई हुई हूँ और आज रात यहीं रहूँगी। दासी कला भवन के बाहर से ही लौट गयी और चम्पक भीतर प्रविष्ट हो गयी।

अब तो महाराज ने अपने उसी अदृश्य रूप में दासी का अनुगमन किया। गोमती के भवन पर पहुँचकर कला ने पाया कि गोमती तो अपने उपवन में खड़ी-खड़ी अपनी दो सखियों से बतिया रही थी। तीनों सखियाँ सोलह वर्ष की आयु के आसपास की ही थीं और अनुपम रूपवती थीं। गोमती को कला ने जब चम्पक का संदेश दिया तो तीनों सखियाँ अत्यधिक हर्षित हो गयीं। अपनी चौथी सखी के साथ स्वच्छन्द संग का यह अवसर बहुत समय बाद संभव हुआ था। वे इसका पूर्ण उपयोग कर लेना चाहती थीं। गोमती ने कला को उत्तर देते हुए कहा–''अपनी स्वामिनी चम्पकलता से कहना हमें उसका संदेश पाकर बड़ा अच्छा लगा है। हम आज रात को तीनों सखियाँ वहीं उसके साथ रहेंगी।'' गोमती ने कुछ क्षणों का विराम लिया और तब हरताली की ओर उन्मुख होकर पूछा–''क्यों सखी ! यह अच्छा रहेगा न?''

तीसरी सखी जितऊ ने बीच में ही हस्तक्षेप किया–''अरी वाह ! गोमती, वाह ! तूने तो मेरे मन की बात चुरा ली और अपनी बनाकर उसे यों कह दिया है। वाह ! वड़ा आनन्द रहेगा।''

हरताली ने भी सहमति व्यक्त की–''चलेंगे–अवश्य चलेंगे। कितना समय तो हो गया है चम्पक से हम मिल ही नहीं पाये।'' वह मुस्करा उठी और उसका सौन्दर्य सहस्र गुना हो उठा। महाराज को लगा–उनकी धर्मपत्नी देवदमनी की यह अनुजा तो जैसे उससे भी कहीं अधिक है।

अव महाराज वीर विक्रम को तनिक आश्वस्तता होने लगी कि कार्य-सिद्धि के लिए जो साधना अपेक्षित है उसके साधन मिलने लगे हैं। घोर अनिश्चय के

अंधकार से निकलकर वे क्षीण ही सही आलोक के दायरे में प्रविष्ट हो गये हैं, जहॉ उन्हे कोई राह दिखायी देने लगी है। इस राह को पकड़ लेने में ही वे सार्थकता अनुभव करने लगे। अब कला का अनुगमन निरर्थक मानकर वे कुछ सोचते हुए वही खड़े रह गये, कला दासी चली गयी। अब महाराज का आगामी कार्य चम्पक के घर सखी-चतुष्टय की गोष्ठी जुड़ने से ही आरंभ होने वाला था। उन्होने गुटिका मुख से निकाली और चल दिये मंत्री मतिसागर के यहॉ। अजय रत्नपुर के राजभवन में ही थां। उसे कुछ भी ज्ञात न था कि मंत्री मतिसागर को अवन्ती लिवा ले जाने के अतिरिक्त और भी कोई मंतव्य है महाराज का। उसे संदेश मिला कि महाराज मतिसागर के यहॉ हैं और उनके लिए चिन्ता न की जाय। रात्रि कुछ ही व्यतीत हुई होगी कि महाराज ने मंत्री मतिसागर से विदा लेकर प्रस्थान किया।

वे सीधे चम्पकलता के पितृ-गृह पहुँचे। अब तक उसकी तीनों सखियाँ पहुॅच चुकी थीं। अदृश्य रूप में वे उस कक्ष में पहुँच गये, जहाँ ये चारों युवा सखियॉ हॅसी-ठिठोली कर रही थी। उनकी उपस्थिति का आभास भी सखियों को नहीं हुआ। समायु लोगों की संगति बड़ी सुखद होती है। आयु यदि युवावस्था की हो तो वह सुख आनन्द से मुक्त हो जाता है और यदि समायु जन सुन्दरियॉ हों तो उसमें अपार सरसता का योग भी हो जाता है। इस सारस्य के सरोवर मे डूबती-उतराती चारों अन्तरंग सखियॉ अठखेलियाँ कर रही थीं। वीर विक्रम कक्ष के एक दूरस्थ, रिक्त आसन पर बैठकर सब-कुछ देखते–सुनते रहे।

"अच्छा, सुन-सुन चम्पक ! तुझसे एक काम की बात भी करनी है।"–गोमती चम्पक का हाथ अपने हाथों में लेती हुई बोली–"कल हम पाताललोक में जाएॅगी। हमारी बहुत इच्छा है कि तू भी हमारे साथ चले।"

"क्यों? पाताल क्यों?··· क्या है भला वहॉ?" चम्पकलता ने गंभीर होते हुए जिज्ञासा व्यक्त की।

"अरी ··· मेरी एक सखी है वहॉ–नागकन्या। उसका विवाह है।" गोमती ने चम्पक की कलाई मे स्वर्ण-कंकण को घुमाते हुए कहा–"चल न, बड़ा ही आनन्द रहेगा।"

"चल-चल चम्पक ··· मुझे भी पुष्पालंकार लेकर जाना है।" जितुई ने आग्रह किया।

"तुम समझा करो, प्यारी सखियो ! अब मैं इतनी स्वाधीन नहीं रही। कितने तो प्रतिबंध रहते हैं।" ना न करते हुए ही चम्पक ने असमर्थता व्यक्त कर दी।

कुछ रुष्ट होती हुई हरताली ने भी अनुनय किया–"अरे ··· यह तो सब चलता ही रहता है। चल··· हम शीघ्र ही लौट आएँगी।"

"इच्छा तो मेरी भी हो रही है, हरताली ! तुम्हारा साथ अब मिलता ही कब-कब है ! पर कठिनाई यह है कि सासू माँ मानेंगी नहीं।" चम्पक ने विवशता प्रकट की।

गोमती ने कहा–"सुन ... सुन, रात्रि के प्रथम प्रहर में हम चलेंगी और भोर होते-होते तो यहाँ लौट भी आएँगी। एक रात्रि का ही तो प्रश्न है।"

हरताली ने कहा–"हम लोग चन्द्र सरोवर के तट पर कल रात्रि में उद्यान में एकत्र होंगी। वहीं से पातालपुरी जाएँगी। तू भी आ जाना।"

महाराज वीर विक्रम को सभी सूचनाएँ एक साथ प्राप्त हो गयीं। यह निश्चित न था कि चम्पक उनके साथ होगी या नहीं; किन्तु शेष तीनों के जाने का तो निश्चय ही है। 'पाताल जाएँगी तो भूस्फोटक दण्ड भी उनके साथ होगा और नागलोक का प्रवास है तो विषपहर दण्ड भी होगा ही। किन्तु ... किन्तु हम इनके साथ कैसे जाएँगे ... ? कोई माया रचनी ही होगी।' यही सोचते-सोचते महाराज राजभवन में अपने कक्ष में पहुँचे।

अपने बंद कक्ष में उन्होंने मित्र वेताल का स्मरण किया और उसके प्रकट होने पर उन्होंने सारी परिस्थिति स्पष्ट कर दी। वेताल ने अपने मानस में सारी योजना बना ली और महाराज के साथ उस पर विचार-विमर्श कर लिया। माली-पुत्री जितुई ने अगले दिन वेणी, गजरे, हार आदि अनेक पुष्पालंकार तैयार किये और एक टोकरे में उन्हें सुरक्षित रख लिया। रात्रि होते-होते उसने टोकरा सिर पर उठाया और गोमती के आवास पर गयी। उसे आश्चर्य था कि आज टोकरा इतना भारी कैसे हो गया। उसे उठाने में माली-कन्या के लिए बड़ी कठिनाई हो रही थी। वेताल के चमत्कार से ही यह सब-कुछ घटित हो गया था। जितुई का सिर भारी हो गया और गर्दन में पीड़ा होने लगी थी। किसी प्रकार टोकरा सिर पर लादे वह गोमती के संग उसके भवन से निकली ही थी कि उसे अनुभव होने लगा कि टोकरे को पाताल तक ले जाना बड़ा दुष्कर रहेगा। पग-पग पर ही उसे समस्या आने लगी। इसी समय उसे एक ग्रामीण किशोर सामने से आता दिखाई दे गया। उसे तो मानो डूबती को नौका ही मिल गयी। गोमती से विचार-विमर्श कर उसने किशोर को पुकारा–"ऐ छोकरे ! कहाँ जा रहा है? नाम क्या है तेरा?"

"नाम तो मेरा विकरा है। मजदूरी की खोज में आया हूँ।" वेताल की सहायता से किशोर रूप धारण किये वीर विक्रम ने सरल-सा उत्तर दिया।

– "अच्छा, तो मजदूरी करेगा?"

– "इसी के वास्ते तो आए हैं हम। क्यों नहीं करेंगे मजूरी !"

– "अच्छा, तो यह टोकरा उठा ले अपने सिर पर, हाँ? और चल हमारे साथ।"

– "दाम तो मिलेगा न ...।" शंकित-से स्वर में किशोर विकरा ने पूछ लिया।

गया। कभी पॉव ऊँचा-नीचा पड़ जाता। संतुलन बिगड़ जाता और टोकरा गिरते-गिरते बच जाता। उसने अपना कौशल तो पर्याप्ततः दिखाया, किन्तु कुछ आगे पहुँचने पर तो बड़ी भयानक अवस्था आ गयी। इधर-उधर दाएँ-बाएँ सभी ओर भयंकर विषधर फुफकारते, आगे की ओर झटपते। भीत विकरा बेचारा कॉप-कॉप जाता, पर विषापहर दण्ड सखियों के पास जो था। उसके प्रभाव से वे प्रचंड नाग भी सरल और सपाट-सी रज्जु के समान धरती पर फैल जाते और टुकुर-टुकुर ताकते रह जाते। "अरे डरना नहीं, विकरा !··· डरना नहीं··· हॉ? ये नाग कितने ही भयानक लगें, हमारे तो ये दास हैं। हमारी कोई हानि इनसे न होगी।"–एक सर्प पर गोमती ने यह कहते हुए दण्ड घुमाया और बेचारा वह मोटा-सा नाग उसके चरणों में लोटने लगा। बड़े स्नेह से उसे अपने हाथों में उठा लिया और वह नाग भी रेशम के लच्छे-सा झूलने लगा। हरताली ने तो ऐसे ही नाग को गले में धारण कर लिया। एक पतले-से चमकीले सर्प को अपनी पहुँची में गजरे की भॉति लपेट लिया। विकरा तो आश्चर्य में खो ही गया। सोचने लगा–'हमारे मन में स्नेह हो तो सर्प भी पुष्पहार हो जाता है और हमारे मन का वैमनस्य और घृणा फूलों को भी कॉटे बना देती है।' महाराज दो दण्डों का प्रभाव प्रत्यक्ष देख चुके थे। तृतीय दण्ड का अभी कोई अता-पता न था–यह अन्य बात है।

कुछ ही और चले होंगे कि मार्ग में हल्का-हल्का आलोक बिखरा-सा दिखायी देने लगा और ज्यों-ज्यों ये अग्रसर होते गये–आलोक भी बढ़ने लगा। वह स्थल भी आ गया जहॉ यह मार्ग समाप्त हो गया और एक खुले वातावरण में वे पहुँच गये।

– "ले गोमती ! नागलोक आ गया।" जितुई ने प्रसन्नतापूर्वक कहा।

– "हाँ, नागलोक तो आ गया, परन्तु अब करना क्या है?"

– "अरे जो करना है, वह तो स्पष्ट ही है, प्यारी सखी ! हमें नागकन्या के विवाह-समारोह में सम्मिलित होना है··· और क्या !"

– "वह तो बाद की बात है री, जितऊ ! यहीं-कहीं समीप ही एक उपवन भी तो है, नगर के बाहर। वहीं एक सरोवर भी है। क्या यह ठीक न होगा कि समारोह में पहुँचने से पहले हम सरोवर में स्नान ही कर लें।"

"विचार बुरा नहीं है।"–विकरा के मुख से अनायास ही निकले इस कथन पर तीनों सखियॉ चौक पड़ीं। वे उसे घूरकर देखने लगीं। दण्ड हथियाने की उतावली के वशीभूत होने से यह त्रुटि अति उत्साह में हो गयी। इसे सुधारते हुए उसने त्वरा के साथ कहा–"मेरा कहना था कि इतनी लम्वी यात्रा से आप थक गयी होंगी, पसीना-पसीना हो रही हैं। स्नान से अच्छा ही रहेगा।"

गोमती ने इसका पक्ष लिया। बोली–"उचित ही तो कहता है, बेचारा ! कुपित क्यों होती हैं हम-सब इस पर। आओ, वह उपवन भी आ गया।" सखियो ने उपवन में प्रवेश किया और सरोवर के तट पर पहुँचकर वे स्नान का उपक्रम करने लगीं। विकरा को दूर कहीं आड़ में बिठा दिया गया। सखियो ने दोनो दण्ड भी उसके पास छोड़ दिये थे। ऐसा सुविधापूर्ण अवसर सद्भाग्य से ही सुलभ होता है। इसका पूर्ण सदुपयोग कर लेने की विकरारूपी महाराज अवन्ती-नरेश ने ठान ली। एकान्त पाकर अदृश्यमान वेताल भी मुखर हो उठा। उसने भी प्रेरित किया और विकरा दोनों दण्ड लेकर उठ खड़ा हुआ। वेताल की सहायता से टोकरा भी उसने सिर पर उठा लिया और चल पड़ा। उसे सखियों के वार्त्तालाप से ज्ञात हो ही चुका था कि 'नाग-श्रेष्ठी श्रीद की पुत्री का विवाह हो रहा है। विवाह का घर छिपता भी नहीं। खोजने में कठिनाई न होगी।'–यह सोचकर वेताल के संग विकरा चल पड़ा।

मार्ग में ही उन्हें नागराज का भव्य भवन मिल गया। सब चिन्ता त्यागकर वे भीतर प्रविष्ट हुए। नाग-श्रेष्ठी श्रीद के भवन को पहुँचने के लिए वर-यात्रा के प्रस्थान का क्रम चल रहा था। विकरा के मन में एक नयी वात आयी। उसने एकान्त स्थल पर जाकर अदृश्यमान वेताल मित्र से चर्चा की और तुरन्त दोनों लौट आए। अब तो अपनी माया से वेताल ने वर नागकुमार को लुप्त कर दिया और विकरारूपधारी महाराज को वर के स्थान पर शोभित कर दिया। यथासमय वर-यात्रा श्रीद-भवन पहुँची। भव्य स्वागत-सत्कार हुआ। द्वाराचारादि के साथ वर-वेशधारी विकरा को आदरपूर्वक विवाह-मंडप में लाया गया और श्रीद-कन्या नागकुमारी के संग उसका परिणय सम्पन्न हो गया।

वडी देर तक तीनों सखियॉ जल-क्रीडा का सुख लेती रहीं। सुख के क्षण समस्त करणीय को विस्मृत कर देते हैं और जब संयोग से करणीय कर्म की स्मृति हो आती है तो वह सुखद वातावरण क्षण मात्र में तिरोहित हो जाता है। कर्त्तव्य और आमोद-प्रमोद संग-संग नहीं रहते, किन्तु जो प्रमोद के साथ कर्त्तव्य-निर्वाह करता है उसके लिए करणीय भी सुखद हो जाता है। सखियों को जव नागलोक आने के प्रयोजन की स्मृति हुई तो वे हड़वड़ाकर जल से वाहर आईं और वस्त्रादि से सज्जित होकर उस वृक्ष-तले पहुँचीं तो किशोर को न पाकर व्याकुल हो गयी। न तो टोकरा था, न ही दण्ड थे। उन्होंने भाग-भागकर उपवन मे चारो ओर खोज कर ली, पर विकरा को कहीं न पाकर वे तो हतोत्साह हो गयीं। निराशा से घिरी वे नगर को चल दीं कि वहॉ खोज की जाय। उन्हें चिन्ता थी कि इतने वडे नागलोक मे उसे वे कहाँ खोजेगी। वे तो मूल रूप मे अपने दण्डों के लिये ही चिंतित थीं। उनकी पुनर्प्राप्ति अत्यावश्यक थी, अन्यथा…।

सब ओर से हताश होकर सखियाँ श्रीद-भवन पर आयीं, तब तक नागकन्या का परिणय सम्पन्न हो चुका था। भवन के एक सुसज्जित कक्ष में नागकन्या की सखियाँ वर-वधू को घेरकर बैठी हँसी-ठिठोली कर रही थीं। ये सखियाँ वहीं पहुँच गयीं। जितऊ ने भीतर से तनावग्रस्त होकर भी मुख पर हास लाते हुए अपनी नागकन्या सहेली को बधाई दी, उसे बाँहों में भर लिया। उसी समय उसकी दृष्टि वधू की वेणी पर पड़ी। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। तत्काल उसने वधू के गजरे देखे और सोचने लगी–'अरे ! ये तो मेरे बनाए हुए हैं।' उसने तत्काल ही सारा अनुमान लगा लिया–'तो फूलों का टोकरा यहाँ पहुँचा दिया गया है। वह छोकरा भी तो तब यहीं पर कहीं हो सकता है। हमें तो अपने दण्डों से प्रयोजन है। बस, वे प्राप्त हो जायें।' उसके समान ही उसकी दोनों सखियाँ भी उद्वेलित थीं। भाँति-भाँति के शुभाशुभ विचार उनके मन में आने लगे। तभी वेणी-गजरों की बात जितुई मालिन ने अपनी सखियों गोमती और हरताली को बतायी तो उनकी भी साँस में साँस आयी। हरताली के मन में यों ही एक विचार आ गया कि नागकुमार की माला कैसी है तनिक यह भी तो देखा जाय। ज्यों ही उसकी दृष्टि वर की ओर गयी, वह तो चौंक ही पड़ी। उसके विस्फारित नयन खुले-के-खुले रह गये और मुख खुलकर भी अवाक् रह गया–"अरे यह तो······।" वह इतना ही कह पाई थी।

हठात् ही तब जितुई की दृष्टि उधर गयी वह भी अचकचाकर दबे स्वर में बोली–"अरे··· रे··· रे··· यह तो वही छोकरा है··· विकरा है यह तो।"

सखी गोमती ने भी उसका अनुमोदन किया। गोमती को अपने दण्ड की चिन्ता थी। उसने आव देखा न ताव और तीव्र स्वर में बोली–"अरे ओ छोकरे ! तू तो बड़ा छलिया निकला रे ! तुझे हम भार उठाने के लिये यहाँ लाईं और तू तो नागकुमार बन बैठा और नागकन्या से विवाह भी कर लिया। ला, हमारे दोनों दण्ड हमें सौंप दे। अन्यथा, अब मैं तुझे छोड़ने वाली नहीं। कहाँ छिपा दिये तूने हमारे दण्ड।"

जितुई भी उसे कोसने लगी। उसको ही अधिक अपराध-बोध हो रहा था। उसी ने तो अपना टोकरा उठाकर लाने का काम विकरा को दिया था। वह न लाती उसे तो दण्ड सुरिक्षत ही रहते। मालिन जितुई ने कहा–"अरे विकरा ! तू तो वडा भोलाभाला लगता था रे··· ऐसा निकला तू··· हैं? कहाँ तूने छिपा दिये हैं वे दण्ड? तेरे किसी काम के नहीं, लौटा दे हमें··· अन्यथा हमारी हाय लगेगी तुझे।"

नागकन्या की उपस्थित सखियों में तो खलवली मच गयी। अरे··· यह क्या हुआ ! तो क्या यह नागकुमार नहीं है ! विकरा के समक्ष तो एक अकल्पित संकट ही आ गया। अव क्या होगा? वह मन में चिन्ता करने लगा। तभी उसे अपने भीतर ही वेताल की वाणी सुनाई देने लगी–"वुरे फँसे मित्र ! अव तो एक ही उपाय है। मैं आपको अपने वास्तविक रूप में ले आता हूँ। दण्डों की चिन्ता न कीजिये। वे मेरे पास सुरक्षित हैं।"

अपनी सखियों की बातें सुनकर हरताली तो संशय में पड़ गयी। "अरे ! ये वर को विकरा क्यों कहती है? ये भला विकरा कहाँ है !"–उसने वर की ओर देखते हुए कहा–"अरी ओ गोमती !··· ए जितुई ! देखकर तो बात किया करो। वर तुम्हें क्या विकरा दिखायी दे रहा है··· ऐं··· ?··· अरे, ये तो मेरे जीजाश्री हैं, दीदी देवदमनी के स्वामी ! ···· अवन्तीनाथ राजेश्वर विक्रमादित्य महाराज हैं।"

जब सखियों ने पुनः देखा तो वे चकित रह गयीं। वास्तव में वर तो दिव्यरूपधारी नरेशवत् ही था–"तो क्या हमें दृष्टि-भ्रम हो गया था ! विकरा न था यहाँ ! पर ऐसा भी क्या संभव है? हमने अपनी आँखों से देखा था। पर हाँ, बिल्ली को स्वप्न में भी छिछड़े ही दिखायी देते हैं न। दण्डों की चिन्ता में हमें ऐसा ही आभास हो गया हो कदाचित् !"

इसी समय नागलोक के अनेक लोग एकत्र हो गये। नागराज भी और श्रीद-श्रेष्ठी भी आ पहुँचे। श्रीद तो अपना अहोभाग्य मानने लगा कि युगपुरुष अवन्तीनाथ उसे जामाता के रूप में प्राप्त हुए। कहने लगा–"राजराजेश्वर ! आपने तो अतिशय कृपा कर हम पिता-पुत्री दोनों का ही कल्याण कर दिया है।"

महाराज विक्रमादित्य का शुभागमन नागलोक में हुआ है–यंह समाचार फैलते ही सारे नगर में आनन्द छा गया। एक अपूर्व उत्साह के साथ नाग जनों के समुदाय के समुदाय महाराज के दर्शनों के लिये उपस्थित होने लगे। नागराज ने करबद्ध निवेदन किया–"आपके नागलोक में पदार्पण से हम सभी धन्य हो गये हैं, महाराज ! हमारी परम्परा है कि विवाह-मंडप में जिसका स्वागत होता है, कन्या का परिणय उसी के संग होता है। इस विवाह से हम सभी तुष्ट और प्रसन्न हैं, देव ! कन्या के पिता श्रीद-श्रेष्ठी तो अतिशय गौरव अनुभव कर रहे हैं। हमने आपकी कीर्ति-गाथाएँ सुन रखी हैं। ऐसे परम प्रतापी, यशस्वी नरेश को जामाता बनाकर समस्त नागलोक धन्य हो गया है, किन्तु मेरा कुमार कहाँ अदृश्य हो गया, महाराज ! उसका अता-पता मिल जाता तो हम···· ।"

इसी समय द्वार पर महाराज का जय-जयकार हुआ। एक युवा नाग करबद्ध अवस्था में तीव्र गति से अग्रसर होता दृष्टिगत हुआ–"जय हो···· अवन्ती-नरेश विक्रमादित्य महाराज की जय हो।"

"ये लो नागराज ! आपका कुमार उपस्थित हो गया। बड़ा होनहार युवक है। विवाह तो नागकुमार का होना था···· अब इसका··· ।" महाराज कुछ रुके ही थे कि उनकी चिन्ता का समाधान करते हुए श्रेष्ठी श्रीद ने निवेदन किया–"जामाताश्री ! आप निश्चिन्त रहें। नागकुमार भी इस द्वार से अविवाहित न लौटेंगे। मैं अपनी छोटी पुत्री रत्नसुन्दरी के संग इनका परिणय सम्पन्न कर दूँगा।" समस्या का बड़ी ही सुगमता के साथ समाधान हो गया। नागकन्या श्रीद-पुत्री सुरसुन्दरी का

चित्त तो अतिशय हर्षित था। उसे जगद्विख्यात शूरवीर, साहसी और परम वैभवशाली नरेश विक्रमादित्य की अर्द्धांगिनी होने का गौरव जो प्राप्त हो गया था।

नागराज अवन्ती राजकुल से पारिवारिक संबंध स्थापित करने को लालायित हो उठा। उसने अपनी पुत्री कमलसुन्दरी का विवाह महाराज के साथ कर दिया और मणिदण्ड भी भेंट किया। महाराज वीर विक्रम के रूप और पराक्रम से दमकते दीप्तिमान मुख-मण्डल से कोई भी प्रभावित हुए बिना न रहता है। उनका भव्य और दिव्य व्यक्तित्व कामिनियों को आकर्षित कर लेता था। गोमती, जितुई और हरताली के मन में भी उनके प्रति अनुराग भाव उदित हो गया। उन्होने महाराज से निवेदन किया–"रत्नपुर में प्रथम दर्शन पाकर वे महाराज के प्रति रागग्रस्त हो गयी थीं। उन तीनों ने एक ही पुरुष से विवाह करने का संकल्प कर रखा है। अब वे महाराज की जीवन-संगिनियाँ बनने की अपनी कामना पर नियंत्रण नहीं कर पा रही हैं। महाराजश्री उन्हें भी कृतार्थ करें, उनका जीवन सफल करें।" एक ही क्षण में महाराज वीर विक्रम को नागदमनी का कथन स्मरण हो आया कि इस अभियान में उन्हें पत्नीरूप में हरताली मिलेगी। महाराज ने तीनो सखियों की मनोकामना को भी पूर्ण किया। महाराज वीर विक्रम का परिणय उनके साथ सम्पन्न हो गया। तभी एक अन्य समृद्ध नाग ने अपनी कन्या गुणावली का हाथ थामकर उसके जीवन को भी धन्य करने का अनुरोध महाराज से किया। महाराज ने गुणावली के संग भी विवाह कर लिया। यथासमय ही महाराज वीर विक्रम अपनी नव-विवाहित रानियों और तीनों दण्डों को साथ लेकर रत्नपुर आ गये। अब रत्नपुर में भी अधिक रुकने का अवकाश अनुभव न हो रहा था।

अजयसेन ने सारी तैयारियाँ कर लीं। अग्निवेताल तो वही से विदा हो गया। राजा रत्नसेन ने अपने रथ दिये। महाराज वीर विक्रम अपनी सातो रानियों को लेकर रत्नपुर से विदा हुए। तीनों दण्डों की सुरक्षा की व्यवस्था की गयी। मंत्री मतिसागर को सपरिवार अपने साथ लिया और सभी अवन्ती की ओर चल दिये।

अवन्ती पहुँचने पर सभी रानियों ने नव-विवाहित रानियों का स्वागत किया। रानी देवदमनी ने बहन हरताली को गले से लगा लिया। सभी के मन प्रफुल्लित थे। महाराज द्वारा दण्डत्रय की प्राप्ति से रानी देवदमनी विशेष रूप से उल्लसित थीं।

राजसभा में महाराज वीर विक्रम ने मतिसागर को पुनः मंत्री पद पर प्रतिष्ठित किया और उनकी राजसेवा, आज्ञाकारिता और सत्यनिष्ठा के लिये सराहना की। मुक्ता-हार धारण कराते हुए महाराज ने उनका स्वागत भी किया और राज्य द्वारा अधिगृहीत मंत्री मतिसागर की सारी सम्पदा उन्हें पुनः प्रदान कर दी। राजसभा में सहसा उल्लास का वातावरण छा गया। अवन्तीनाथ के जय-जयकार से राजसभा का विशाल आगार गूँजता रहा।

●●

नागदमनी अतिशय प्रसन्न थी। उसके जामाताश्री ने विश्व के नरेश-श्रेष्ठ का गौरव प्राप्त करने की पात्रता सिद्ध कर दिखायी थी। नर-पुंगव और परम पराक्रमियॉ ही नहीं; देवताओं के लिए भी जो सहस्राब्दियों से अशक्य बना रहा– उसे इन्होंने शक्य ही नहीं कर दिखाया, उस पर अपना अधिकार भी अंगद के पॉव की भॉति अटल और अडिग बना लिया है। अब इन्हें पंचदण्डछत्र की प्राप्ति से कोई रोक नहीं सकता। नागदमनी अवन्ती-नरेश की प्रतीक्षा में बैठी अपनी बिटिया देवदमनी से बतिया रही थी–"पॉचों दण्डों को यों प्राप्त करना और उन विशिष्ट रत्नों पर अपना अधिकार कर लेना साधारण पराक्रम और साहसिकता का कार्य नहीं, पुत्री !"

"मॉ ! स्वामी को सफलताएँ मिली हैं उसके लिए वे मुझे श्रेय देते हैं।" –देवदमनी ने स्त्री-सुलभ सलज्जता के साथ कहा–"वे तों मानते हैं कि पंचदण्ड-प्राप्ति की प्रेरणा ही उन्हें मुझसे मिली है।"

"उनके कथन से, बिटिया ! उनकी उदारता ही प्रकट होती है। परावगुणों के पर्वत को भी राई बताकर स्वयं उनसे सतर्क रहना और पर-गुणों का वढा-चढाकर वखान करते हुए उन्हें अपने जीवन में उतारना–सज्जनों का यही काम होता है। गुणी जनों से ईर्ष्या दुर्जनता का प्रथम सोपान होता है।" चिन्तन करती स्थिर दृष्टि से नागदमनी ऑगन को निहारती रह गयी। उसकी एक भौह सीधी तो अन्य धनुषाकार हो गयी।

"जव हमने अन्तिम सोपान भी पार कर लिया, नागदमनी ! तव तुम किस प्रथम सोपान की चर्चा करती हो···· हैं?"–महाराज ने प्रवेश कर मुस्कराते हुए कहा और सुखासन पर विराजित हो गये। वोले–"नागदमनी ! हमने तुम्हारे सारे आदेश पूरे किये हैं। विशिष्ट रत्नों को प्राप्त कर तुम्हें सौंप दिये हैं हमने। तुम्हारी मॉग पर हमने सर्वरस, वज्र, भूमि-विस्फोटक, विपनाशक और मणिदण्ड–पॉचों दण्ड भी ला दिये हैं। अव क्या विलम्व है? कव तैयार होने को है वह छत्र? हम उसकी प्राप्ति के लिए अधीर हैं····· अशान्त हैं। क्या अविलम्व ही·····।"

"अविलम्व ही होगा, राजन् ! शीघ्र ही पंचदण्डछत्र का निर्माण होने में अव कठिनाई ही क्या रह गयी है, किन्तु एक वात है····।" सहसा ही कथन-प्रवाह में अवरोध आ गया और नागदमनी कुछ सोचती रह गयी।

"एक बात ...... ? कौन-सी बात है? तुम चुप क्यों हो गयीं, नागदमनी !" जिज्ञासायुक्त स्वर में महाराज ने प्रश्न किया—"क्या अभी भी कुछ किया जाना शेष रह गया है?"

"जामाताश्री ! आपमें जो अपार शक्ति और साहस है, उन्हीं साधनों के बल पर आपने ये सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। हम दोनों अभी-अभी यही चर्चा कर रही थीं। पीढ़ियों से हम पंचदण्डछत्र का रहस्य जानती हैं—कई एक शूरवीरों ने इस गौरव की आकांक्षा तो की, किन्तु किसी एक में भी ऐसा पराक्रम नहीं था। आपने अपनी जो शक्तिमत्ता सिद्ध कर दिखायी है, राजेश्वर ! उसके लिए पराक्रम की परम्परा में आपको सर्वाग्र और शाश्वत स्थान प्राप्त हो गया है। इतिहास में युग-युग तक आप अविस्मरणीय बने रहेंगे। जिन प्राप्तियों के लिए मैं स्वयं भी आपके विषय में आशावती न थी—वे आपने कर दिखायी हैं। यह इस भावी शुभ का संकेत है कि उस सौभाग्य के आप स्वामी हैं जो पंचदण्डछत्र प्रदान करेगा—अवश्य करेगा, किन्तु इन प्राप्तियों से आपको मात्र सम्पदा मिली है। पंचदण्डछत्र तो वास्तव में सर्वोच्च पराक्रम और कीर्ति के गौरव का पर्याय है। यह गौरव .... आपको पराक्रम के बल पर नहीं पुण्य के बल पर भी सुलभ होगा, श्रीमानेश्वर !"

"हम कुछ समझे नहीं, नागदमनी !"—महाराज की अपनी मुख-मुद्रा में अगणित प्रश्नों का जाल बिछ गया—"क्या हमें अभी और भी कुछ करना है?"

"जी, श्रीमान् ! आपको पुण्यार्जन करना है। सुपात्रदान आपको करना है। दान-प्राप्ति के योग्य और उपयुक्त व्यक्ति ही सुपात्र है और उन्हें किया गया दान ही 'सुपात्रदान' होता है। यह दान ही असीम पुण्यों का दाता है। साधु-श्रमण आदि त्यागी जन ही सुपात्र होते हैं यह भी ध्यातव्य तथ्य है, राजन् ! सुपात्रदान के शुभ कर्म से प्राप्त पुण्य ही आपको उस गौरव का पात्र और अधिकारी बना सकेगा। आपकी यह पात्रता ही मुझे सामर्थ्य प्रदान करेगी, राजाधिराज ! कि मैं छत्र का निर्माण कर सकूँ। इसके अभाव में वे राज और दण्ड राजकोष की शोभा और समृद्धि के ही उपकरण बनकर रह जाएँगे। आपको सुपात्रदान करना है, राजन् !"

महाराज वीर विक्रम ने सुपात्रदान करने का निश्चय कर लिया। व्राह्मणों में से कोई सुपात्र मिल सकेगा—ऐसी मान्यता के साथ उन्होंने भारी संख्या में व्राह्मणों को आमंत्रित किया। उन्होंने सभी का स्वागत-सत्कार किया और सभा आरंभ हुई। महाराज ने सभा को सादर संवोधित करते हुए कहा—"विप्रजनो ! व्रह्मवेत्ताओ !! हम क्षमा-प्रार्थी हैं कि आप सभी को कष्ट दिया। हमारी एक समस्या है, जिसका समाधान हम आपसे चाहते हैं। हम 'सुपात्रदान' करना चाहते हैं। व्राह्मण जन तो आदि वर्ण के हैं, सर्वाग्र पूज्य हैं। अतः वे ही दान-प्राप्ति की पात्रता रखते हैं। आप कृपापूर्वक हमें अवगत करें कि आपमें से सर्वाधिक सुपात्र कौन है? किसे दान किया जाये?"

'विद्वज्जनो ! हम निपुण शास्त्रज्ञ तो नहीं हैं; किन्तु हमें इतना ज्ञान अवश्य है कि प्रत्येक वह व्यक्ति जो ब्राह्मण रूप में जाना जाता है—वह वास्तव में ब्राह्मण है ही नहीं। सच्चे अर्थों में ब्राह्मण होना कुछ अन्य ही बात है। ब्राह्मण वंशोत्पन्न प्रत्येक व्यक्ति भले ही ब्राह्मण माना और जाना जाता हो, किन्तु हमें हमारे ज्ञान ने यह बताया है कि वास्तविक ब्राह्मण होने के लिए मात्र इतना ही पर्याप्त नहीं होता है। इसके लिए इससे अधिक, बहुत अधिक अपेक्षित रहता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक ब्राह्मण को सुपात्र मानना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। आधारभूत रूप में उसका ब्राह्मणत्व ही संदिग्ध है। जो ब्रह्म की साधना में लीन रहे, जो प्रचण्ड तप से ब्रह्मान्वेषण में प्रवृत्त रहे, जो ब्रह्मचर्य का निर्वाह करे—वही ब्राह्मण है। इसके लिए वंश या कुल की भी कोई मर्यादा नहीं। आप स्वयं मनन करके देखिये- इस आधार पर आपमें से कितने सच्चे अर्थों में ब्राह्मणत्व के उचित अधिकारी हैं। जो इस कसौटी पर खरे उतरेंगे, उन्हीं में से कुछ सुपात्र कहे जा सकेंगे और उनमें से ही सर्वश्रेष्ठ सुपात्र हो सकता है। हमारे कथन में अविनय अनुभव किया जाय तो हम क्षमा-याचना करते है, भूदेवो ! किन्तु यथार्थ तो यही है।" महाराज ने अपनी इस किंचित् दीर्घ अभिव्यक्ति के अन्त में कुछ विराम लिया, दृष्टि घुमाकर ब्राह्मणों में अपने कथन की प्रतिक्रिया का आकलन किया और तब करबद्ध मुद्रा में पुनर्निवेदन किया—"इस दृष्टि से कृपया पुनर्विचार करें और सर्वश्रेष्ठ सुपात्र का निर्णय आप स्वतः ही कर लें। हम पर आपका यह बड़ा भारी उपकार होगा।"

ब्राह्मण जन तो "क्षणेरुष्टे—क्षणेतुष्टे" वाले स्वभाव के होते हैं। अपनी अवमानना से पूर्ण अभिव्यक्ति सुनकर उनके मन में रोष जागृत हो गया। अनेक तो अतिशय कुपित हो उठे। एक महापंडित तो अपने आन्तरिक [illegible]

करने के लिए इतने प्रेरित हो गये कि उनका कोप मर्यादा पर भी हावी हो गया। सभी सीमाओं का उल्लंघन करते हुए वे कह उठे–"राजन् ! तुम्हें अपने वंश और वर्ण पर जो गर्व है, अहंकार है–वही तुम्हें प्रेरित कर रहा है पृथ्वी पर वास करने वाले हम देवताओं का अपमान करने को। यह अहंकार तुम्हारे लिए हितकारी न होगा, नरेश ! हितकारी न होगा।" धनुषाकार हो उठी भौंहों-तले उनके नेत्र रक्ताभ हो उठे, क्रोधावेश में उनका तन थरथराने लगा। बोले–"हमारी यह यज्ञोपवीत हमारे ब्राह्मणत्व का प्रतीक है। हमारी यह रुद्राक्ष माला, यह तिलक–क्या तुम्हें हमारे ब्राह्मणत्व का परिचय नहीं देता? राजन् ! नागदमनी के संसर्ग ने तुम्हारी बुद्धि को भी मलिन कर दिया है। तुम्हारा पतित मन हमारे तेज का भी दर्शन नहीं कर पा रहा है। राजन् ! *शास्त्रों में कहा गया है*–'*पूजिय विप्र सकल गुण हीना*।'–तुम कैसे शास्त्रों के ज्ञाता हो? क्षत्रियों के इस दर्प ने तो बार-बार उनका सर्वनाश किया है।" पंडित जी तनिक कॉपते हुए अपने आसन पर बैठे और हॉफते रहे। कुछ क्षणों तक उनके मुख से अस्फुट स्वर निःसृत होते रहे और आसपास के पंडित जन उन्हें प्रशंसा-भरी दृष्टि से देखने लगे।

"हम इसे विवाद का विषय नहीं बनाना चाहते, महाशयो ! हमने पूर्व में ही निवेदन किया था कि यह कटु और अप्रिय हो सकता है, किन्तु यथार्थ में ब्राह्मणत्व के लक्षण तो यही हैं। जिन शास्त्रों की दुहाई दी जा रही है–उन्हीं शास्त्रों में यह भी तो कहा गया है–

"ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पिनः।
अन्यथा नाममात्रं, स्यादिन्द्रगोपक कीटवत्॥"

अर्थात् हे पंडित जनो ! जैसे शिल्पकला का धारक ही शिल्पी होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य को अपनाने वाला ही ब्राह्मण हो सकता है। नाम चाहे 'गोकुल गाय' हो, किन्तु वह एक कीड़ा ही है, केवल नाम से वह गाय नहीं हो जाता। तनिक विचार कर देखिय, विशारदो ! धतूरे को 'कनक' नाम से पुकारा जाता है, किन्तु केवल इसी कारण यह स्वर्ण तो नहीं हो जाता–उसके आभूषण निर्मित नहीं किये जा सकते। आक को भी 'अर्क' नाम से पुकारा जाता है, किन्तु क्या इसी कारण वह सूर्य की भाँति उदित होकर पृथ्वी-तल के अन्धकार का विनाश भी कर सकता है? नाम ही नाम होना निरर्थक रहता है, भूदेवो ! अनुकूल गुणों से ही सार्थकता होती है। आप सभी तो विद्याविद् हैं–आपके समक्ष ज्ञान-चर्चा करना तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा, किन्तु हमें सच्चे अर्थों में जो ब्राह्मणत्व का धारक है, ऐसे सुपात्र की खोज है और हमें विश्वास है कि यह सभा इसमें हमारे लिए सहायक ही रहेगी।"

महाराज विक्रमादित्य के कथन से सभा में एक वार तो सन्नाटा छा गया। उपस्थित ब्राह्मण जन नरेश के तर्कों के समक्ष निस्तेज होने लगे। महाराज की यह

एक प्रकार से विजय ही थी, किन्तु इस आदरणीय समाज को लज्जित करना उनका प्रयोजन हो ही नहीं सकता था। अतः अपने विचारों की श्रेष्ठता और मान्यता जो सिद्ध हो गयी थी उसको धूमिल ही रखना उन्हें श्रेयस्कर लगा। अत्यन्त विनय के साथ उन्होंने कहा—"महाशयो ! आपने अपनी उपस्थिति से हमारे भवन को पावन और हमें कृतार्थ किया है। आपकी अतिशय कृपा से हम कृतज्ञता का अनुभव करते हैं। अब एक कृपा और कीजिये। आप सभी हमारी तुच्छ भेंट स्वीकार करें और हमें अपना मंगलमय आशीर्वाद प्रदान करें।" महाराज ने स्वर्ण, मुक्ता, रत्नों का प्रचुर दान किया। पंडितगण प्रसन्नचित्तता के साथ विदा हुए। अपनी विवेकशीलता से नरेश ने एक अनपेक्षित कटु वातावरण को टाल दिया। सर्वत्र एक मनोरमता और माधुर्य छा गया। सत्यान्वेषण और सत्य-स्थापना का न उद्देश्य था और न ही उसकी कोई आवश्यकता थी। ब्राह्मणों से विवादग्रस्त होने में कोई अर्थ न था। बडी सुन्दरता के साथ उन्होंने इस अप्रिय प्रकटरण को मधुर समापन दे दिया।

महाराज की सफलता तो इसमें निहित थी कि ब्राह्मणों ने अपने मानस को टटोलकर यह आत्मानुभूति कर ली कि वे नामकरण, विवाहादि संस्कारों को सम्पन्न कराने वाले कर्मकांडी पंडित ही हैं। संसार से निरपेक्ष, त्यागी, महाव्रतों के पालनकर्त्ता ब्राह्मण का स्वरूप उनमें कहॉ है? ब्राह्मण तो वास्तव में वही है जो साधना द्वारा आत्मोद्धार का प्रयत्न करे और अन्य जनों को भी इस सन्मार्ग को अपनाने की प्रेरणा दे। महाराज को इसी पर संतोष था। सॉप मरना चाहिये—लाठी का टूटना विजय के लिए अनिवार्य नहीं होता।

सुपात्र की खोज का क्रम अभी ज्यों का त्यो शेष था। महाराज ने एक और प्रयत्न किया। उन्होने साधुओं—श्रमणों को सादर आमंत्रित किया। उनके समक्ष अपनी समस्या प्रस्तुत करने पर अवन्ती-नरेश को यह ज्ञान हो गया कि साधुत्व तो जगत्-विमुखता का लक्षण रखता है और स्व एवं पर-कल्याण की साध ही किसी को साधु होने का गौरव प्रदान कर सकती है। उपस्थित साधु-श्रमण जनों से उन्हें यह भी ज्ञान हुआ कि साधु स्वभाव से कपास के सदृश होता है। वैसा ही नीरस होता है। उसे जागतिक विषयो में रस नहीं आता, विरक्त होता है। और वैसा ही गुणमय होता है। कपास मे भी गुण—अर्थात् तंतु होते हैं और साधु में भी ब्रह्मचर्य, तप, अपरिग्रह, अहिसादि अनेक गुण होते हैं। साधु और असाधु—सभी होते मनुष्य ही हैं, किन्तु दोनो अपने-अपने गुणावगुण के कारण पृथक्-पृथक् पहचान रखते हैं। जैसे—सुधा भी और विष भी—दोनों ही सिंधुजन्य हैं, किन्तु सुधा-सुधा ही है और विष-विष ही होता है। साधु और असाधु सभी मनुष्य जाति के होते हुए भी शुभ और अशुभ प्रकृति के होते हैं। ये सुधा और सुरा के ही समान होते हैं।

साधु और असाधु की श्रेणी प्राप्त करने के लिए किसी वर्ण-विशेष की अनिवार्यता नहीं होती। किसी भी वर्ण में जन्म लेने वाला साधु भी हो सकता है और असाधु भी। ऐसा नहीं होता कि निम्न वर्ग में उत्पन्न होने वालों में कोई साधु नहीं हो सकता या उच्च वंशोत्पन्न सभी साधु ही हों।

साधु जनों की इस युक्तियुक्त वार्त्ता से महाराज वीर विक्रम अतिशय प्रसन्न और तुष्ट हो गये। उनके मुख-मण्डल की आभा से यह स्पष्ट आभासित होने लगा। अन्त में साधु जनों ने निष्कर्षतः यह प्रतिपादन कर दिया–

"हे राजन् ! किसी भी वर्ण-वंश में उत्पन्न कोई व्यक्ति यदि शील, सत्यादि से युक्त हो, जो मोक्षाभिलाषी हो और मोक्ष-प्राप्ति के लिए उचित रूप में प्रयत्नशील हो, वह दान के लिए सुपात्र माना जाता है।"

इस स्पष्ट स्थापना से नरेश वीर विक्रम भी अपनी सहमति रखते थे और अब अधिकृत रूप में जब यह तथ्य सुनिश्चित हो गया तो वे गद्गद हो गये। उनका रोम-रोम पुलकायमान हो गया। उन्होंने सभी साधु जनों के समक्ष खड़े होकर वन्दन किया और इस ज्ञानदान के लिए सबका उपकार माना। महाराज ने सभी साधुओं को विनयपूर्वक दान दिया और इस प्रकार 'सुपात्रदान' सम्पन्न किया। साधु जनों की उदारता का समादर करते हुए उनकी भावनानुसार नरेश ने दीन याचकों को भी दान किया। सभी हर्षित और तुष्ट होकर आशीर्वाद देकर विदा हुए।

अब अवन्तीराज विक्रमादित्य महाराज को पंचदण्डछत्र के अनुकूल गरिमा की प्राप्ति की पात्रता सुलभ हो गयी। नागदमनी ने बत्तीस पुतलियों वाले सिंहासन पर, पंचदण्डछत्र स्थापित कर अत्यन्त भव्य छत्र का निर्माण कर दिया। इन्द्रासन-जैसा दिव्य और वैभवयुक्त राजा विक्रमादित्य का सिंहासन प्रतीत होने लगा था। अत्यन्त शुभ मुहूर्त्त में अनुष्ठानपूर्वक राजाधिराज विक्रमादित्य महाराज को पंचदण्डछत्र-तले उस भव्य सिंहासन पर विराजित किया गया। साक्षात् इन्द्र की-सी शोभा हो गयी। अत्यन्त उत्साह के साथ समारोह मनाया गया। सारे देश में महाराज का जय-जयकार होने लगा। छत्र और दण्डों के प्रभाव से राज्य में समृद्धि का विस्तार हुआ। राजा के यश में वृद्धि हुई। सर्वत्र सुखों का साम्राज्य हो गया। सिंहासन की तो महिमा ही न्यारी थी। उस पर बैठते ही नरेश के मुख से न्याय की ही वाणी निःसृत होती थी। न्याय-नीति से राज-काज चलता रहा और सर्वत्र राजा विक्रमादित्य का स्तुति-गान होने लगा। शासक की प्रगति और उत्थान से, उसके यशोवर्धन से प्रजा सुखानुभव करने लगे–वही सच्चा और आदर्श शासक है। यदि जनता में इससे कोई दुर्भाव उत्पन्न होने लगे तो समझिये कि शासक का पतन समीप ही है।

● ●

महाराज विक्रमादित्य सर्वधर्म समादर की प्रवृत्ति में अग्रणी थे। अन्य धर्मों के तत्त्वों की ज्ञान-प्राप्ति में भी वे रस लिया करते थे। एक प्रातः जब वे अश्वारूढ़ होकर अवन्ती के बाह्य क्षेत्र में विचरण कर रहे थे, उन्हें उद्यान में एक तेजस्वी जैन सन्त के दर्शन दूर से ही हो गये। स्वभावतः उनके हृदय में सन्त के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गयी और उन्होंने अश्वारूढ़ अवस्था में ही, मन-ही-मन प्रणाम किया। उनके आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रहा जब उनके इस भाववन्दन के उत्तर में सन्तवर ने हाथ उठाकर धर्म-लाभ कहा। महाराज का आश्चर्य जिज्ञासा में परिणत हो गया—मैंने न तो कायिक रूप में नमन किया था और न ही वाचिक रूप में—फिर भी मुनिराज को मेरे भाववन्दन का आभास कैसे हो गया ! जिज्ञासा ने उन्हें प्रेरित किया और वे मुनिराज के समक्ष जा पहुँचे और अपनी जिज्ञासा व्यक्त की—"धर्म-लाभ तो उसे दिया जाता है जो वन्दन करे। मुझे आपने यह आशीर्वाद क्योंकर दिया, प्रभो !"

शान्त और गंभीर मुद्रा में भी सन्त के अधरों पर एक क्षीण-सी मुस्कराहट आ गयी, बोले—"राजन् ! यही सत्य है कि वन्दनकर्त्ता को धर्म-लाभ दिया जाता है और इसीलिए हमने तुम्हें भी दिया है। तुमने व्यक्त रूप में, दृष्टिगत होने वाला नमनयुक्त और मुखर वन्दन किया हो—ऐसा नहीं हुआ; किन्तु मानसिक नमन तो किया ही, इस भाववन्दन का आभास हमें हुआ और तुम्हें आशिष मिली।" इस उत्तर से महाराज अत्यन्त प्रभावित हुए। अरे ! सन्त तो पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं। ये तो अन्तरवेत्ता हैं। विना व्यक्त किये ही, ये तो अन्यों के अन्तस्थल की भावनाओं को भलीभाँति ज्ञात कर लेते हैं। धन्य हो ! धन्य हो !! उनका हृदय सन्तवर का भक्त ही हो गया। वे अश्व से तत्काल ही भूमि पर आ गये और उन्होंने सन्त के चरणों में बैठकर उपदेश लाभ लिया। पावन और शान्त मन के साथ वे राजभवन लौटे।

समस्त उत्तरी भारत मे अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों व प्रभावयुक्त वाणी के लिए यश प्राप्त गुरु वृद्धवादि के शिष्यो में अग्रगण्य थे—सिद्धसेन सूरि। ये उद्भट विद्वान् और संस्कृत के कुशल पंडित थे। साहित्य मर्मज्ञ तो थे ही, वे स्वयं उच्च कोटि के काव्यकार भी थे। अपने इस व्यक्तित्व के साथ वे दूर-दूर तक जनसामान्य और विद्वानों के लिए चर्चा के विषय रहा करते थे। ये ही सिद्धसेन सूरि विहार करते-करते अवन्ती पधारे थे। सन्तवर के इस परिचय ने महाराज को आन्तरिक प्रसन्नता प्रदान की।

महाराज वीर विक्रम की राजसभा जुड़ी थी। दूर-दूर से कवि-कलाकार आए थे। उनकी कृतियों, कलाओं के प्रदर्शन से वातावरण सरस और रंगीला हो गया था। उपस्थित सभासदों के चित्त आह्लादित हो गये थे। ऐसी उत्फुल्लता की बेला में प्रतिहारी ने एक ताड़पत्र राजराजेश्वर को प्रेषित किया। दो पंक्तियाँ उस पर अंकित थीं। देववाणी में (संस्कृत भाषा में) एक श्लोक लिखा था जिसका भावार्थ था–

हाथ में चार श्लोक लेकर एक भिक्षुक आपसे मिलने को आया है। क्या वह आए, या लौट जाए?[1]

नरेश संस्कृत वाङ्मय के निष्णात और ममर्ज्ञ थे, स्वयं काव्यकार थे और रसिक-श्रोता भी। उन्होंने द्वार से आये संदेश के मर्म को भी भलीभाँति हृदयंगम कर लिया और प्रेषक के कौशल के भी वे हृदय से प्रशंसक हो गये। उन्होंने तत्काल संस्कृत श्लोक के रूप में ही उस संदेश का उत्तर रचा और द्वार पर भिजवा दिया–

इस विद्वान् को दस लाख मुद्राएँ और चौदह नगरों का शासन दो। इसके पश्चात् यदि वह चाहे तो हमसे मिलने को राजसभा में आ जाय और जाना चाहे तो लौट जाय।[2]

द्वार पर खड़ा संदेश-प्रेषक कौन है, इस सम्बन्ध में अनभिज्ञ नरेश ने केवल काव्य रचना के सौष्ठव से प्रभावित होकर उसका जो सम्मान किया, उसे पुरस्कृत किया–प्रतीक्षारत कवि इससे बड़ा प्रभावित हुआ। उत्तर में नरेश ने जो श्लोक लिखकर भेजा, उससे उसे नरेश की काव्य प्रतिभा का परिचय भी मिला। काव्यकार ने सोचा कि अवन्ती-नरेश कवियों का तो आदर करते ही हैं, वे काव्य तत्त्वों के भी ज्ञाता हैं और श्रेष्ठ काव्य से आनन्दित होने एवं प्रेरणा लेने की भी अपरिमित क्षमता रखते हैं। वे ऐसे रसज्ञ हैं जो मेरी रचना के सक्षम श्रोता सिद्ध होंगे। यह सोचकर काव्यकार ने अपनी काव्यकृतियाँ राजसभा में करने के पक्ष में निश्चय किया और मंथर गति से भवन में प्रवेश किया।

सारी राजसभा में सन्नाटा छा गया। अन्तःप्रेरणा से ही सभी अभ्यागत के सम्मान में सहसा उठ खड़े हुए। श्रद्धेयवर सिद्धसेन सूरि जी को राजसभा में अग्रसर होते देखकर राजा वीर विक्रम के नेत्र मारे प्रसन्नता के विस्फारित हो गये। उनकी पलकें मानो मुस्कराने लगीं। हाथ जोड़कर उन्होंने आचार्यश्री का नमनपूर्वक वन्दन किया और स्वागत भाव के साथ कई चरण आगे बढ़ आये। सिद्धसेन सूरि

१. भिक्षुर्दिदृक्षुरायातस्तिष्ठति द्वारि वारितः।
हस्तन्यस्त चतु. श्लोकः कि वाऽऽगच्छतु गच्छतु॥
२. दीयन्तां दश लक्षाणि शासनानि चतुर्दशः।
हस्तन्यस्त चतुः श्लोको यद्वाऽऽगच्छतु गच्छतु॥

जी ने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। समस्त सभासद चकित मुद्रा में यह अपूर्व दृश्य देखते रह गये—"धन्य भाग्य ! आज हमारी राजसभा आपके आगमन से पावन हो गयी है। अब इस गुरु आसन को पवित्र कीजिये, पूज्यवर !" नरेश के विनयपूर्ण सत्कार से प्रसन्न होते हुए आचार्य ने आसन ग्रहण किया और समस्त सभा को आशीर्वाद प्रदान किया। कृतज्ञ सभासदों ने अपने आसन ग्रहण किये और सिद्धसेन की प्रसन्न मुख-मुद्रा के दर्शन करते रहे। सभी उनकी अमृतवाणी का पान करने को समुत्सुक हो उठे थे। उनके हाथ में कुछ ताड़पत्र-खंड लहरा रहे थे।

"आज्ञा करें, गुरुदेव ! अपने अविनय के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। आपकी द्वार पर उपस्थिति से अनभिज्ञ रह जाने के कारण ही यह त्रुटि हो गयी। हमें द्वार पर आपश्री की अगवानी करनी थी। अपनी इस भूल के लिए हमारे मन में बड़ा परिताप है।" राजा वीर विक्रम ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया।

"परिताप शान्त हो, राजन् ! आपका .... आप शान्ति-लाभ करें !" घनघोष-सी गंभीर वाणी में गुरुदेव ने कहा—"मनःशुद्धि के लिए अनुताप अनुपम उपचार है, किन्तु इसी में ग्रस्त होकर विगत अशुभ कर्मो या भूलों में ही उलझने मात्र से कोई लाभ नहीं। वर्तमान में शुभ कर्मो में प्रवृत्ति विगत अशुभ कर्मो को दुर्वल बनाने और भवितव्य को पावन और उन्नत करने का समर्थ साधन है।"

नमन कर नरेश वीर विक्रम ने यह सारगर्भित उपदेश श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया—"श्रद्धेयवर ! आपश्री के काव्य-कौशल की प्रशंसाओं से तो दिग्दिगंत गुंजायमान हैं। आपके काव्य मे अध्यात्म और अध्यात्म में काव्य का निवास रहता है। अध्यात्म-जैसे गूढ़ और गंभीर विषय को रसात्मक और काव्यात्मक स्वरूप प्रदान करने का अपूर्व श्रेय आपश्री को प्राप्त है। क्या आपश्री अपनी मधुर काव्य वाणी से इस राजसभा को अनुगृहीत करने की कृपा करेगे?"

"राजन् ! हमारे आगमन का प्रयोजन ही यही है। हमने आपके यश, पराक्रम और गौरव को भी अपना काव्य-विषय बनाया है। वे ही चार श्लोक हम लेकर आये हैं।" सिद्धसेन सूरि ने एक ताड़पत्र-खंड उठाया और उच्च स्वर मे पाठ किया—

"सर्वदा सर्वदोऽसीति, मिथ्या संस्तूयसे बुधैः।
नाऽरयो लेभिरे पृष्ठं, न वक्षः परयोषितः॥"

अर्थात् बड़े-बड़े कविगण आपके विषय में वर्णन करते हैं कि आप सभी वस्तुओं का मुक्तहस्त दान करते हैं—किन्तु उनका यह कथन सर्वथा मिथ्या है। सभी को सब-कुछ देने की बात पूर्णतः सत्य नहीं है, अन्यथा शत्रु को आप पीठ देते और पर-स्त्रियों को भी आपका वक्षस्थल मिलता। सभी वस्तुओं के दाता होने का आपका गर्व आधारहीन है, मिथ्या है।

काव्य-मर्मज्ञ नरेश ने इस निन्दा में छिपी प्रशंसा और स्तुति का संकेतित मूल भाव तुरन्त ही ग्रहण कर लिया। इस व्याज-स्तुति में ध्वनित भावार्थ को राजसभा के उपस्थित विद्वान् और ज्ञानवान महानुभावों ने भी हृदयंगम कर लिया कि महाराजा वीर विक्रम ऐसे शूरवीर और पराक्रमी हैं कि युद्ध-भूमि में वे शत्रु को कभी पीठ नहीं दिखाते। वे ऐसे पावन चरित्र के हैं कि किसी भी पर-स्त्री को वे अपना वक्ष नहीं देते, अर्थात्—वे पर-स्त्री में अनुरक्ति नहीं रखते। यथार्थ कथन की वक्रता और चमत्कारपूर्णता से महाराज अतीव प्रसन्न हुए। कवि-कौशल के इस उत्कर्ष का बड़ा चमत्कारी प्रभाव उन पर हुआ और पूर्वाभिमुख बैठे हुए नरेश ने अपने सिंहासन पर ही पूर्व दिशा का त्याग कर दिया। वे दक्षिण दिशा में घूम गये। इस क्रिया से उन्होंने यह संकेतित कर दिया कि पूर्व दिशा का अपना राज्य वे कवि को दे चुके।

तदनन्तर श्री सिद्धसेन सूरि ने द्वितीय श्लोक का वाचन भी ऊर्ध्व स्वरों में किया—

"अपूर्वेयं धनुर्विद्या, भवता शिक्षिता कुतः।
मार्गणौघः समभ्येति, गुणोयाति दिगन्तरम्॥"

भावार्थ यह है कि हे राजा, आपकी धनुर्विद्या बड़ी अलौकिक और विचित्र है। धनुष पर बाण चलाते समय उसकी गुण, अर्थात् प्रत्यंचा (डोरी) तो स्वयं अपने पास आती है और बाण दूर चला जाता है, किन्तु आपकी विलक्षण धनुर्विद्या ऐसी है कि बाण आपके पास आता है और गुण दूर—बहुत दूर—दिगंत में चला जाता है। दान के क्रम में भाव यह है कि याचक समूहरूपी बाण आपके पास—और पास आता है तथा गुण, अर्थात् आपकी कीर्ति दूर-दूर तक व्याप्त हो जाती है। इस संक्षिप्तकाय श्लोक में भरे अपार भाव से नरेश कवि के कौशल के दास ही हो गये। वे दक्षिण दिशा का त्याग कर पश्चिम दिशा में घूम गये। अर्थात् उन्होंने कवि को दक्षिण का राज्य भी दे दिया।

तब कवि सिद्धसेन सूरि ने अपना तृतीय श्लोक प्रस्तुत किया—

"त्वकीर्तिर्जाति जाड्येव , तुराम्भोधिमज्जनात्।
आतपाय महीनाथ ! गता मार्तंड मण्डलम्॥"

श्लोक पाठ के अनन्तर श्री सिद्धसेन सूरि ने स्वयं इसका भाव भी स्पष्ट किया—हे राजन् ! समुद्र में स्नान करके शीतल हो गयी अव आपकी कीर्ति आतप (धूप) सेंकने की इच्छा से सूर्य-मण्डल में चली गयी है। भाव वड़ा गरिमापूर्ण और अतिशय सुन्दर था। महाराज विक्रमादित्य की निर्मल कीर्ति की व्यापकता वर्णित की गयी है कि वह समुद्र तो लाँघ ही चुकी थी, अव सूर्य की रश्मियों की भाँति

दसों दिशाओं में व्याप्त होने लग गयी है। प्रसन्नचित्त नरेश ने पुनः घूमकर अपना मुख उत्तर दिशा में कर लिया अर्थात् पश्चिम का राज्य भी निपुण कवि को भेंट कर दिया।

इसके पश्चात् महाकवि सिद्धसेन सूरि ने चतुर्थ श्लोक का वाचन इस प्रकार किया–

"आहवे तव निःस्वाने, स्फुटितं रिपु हृद्घटैः।
गलिते तत्प्रियानेव, राजन् ! चित्रामदं महत्॥"

अर्थात् हे राजन्, युद्ध-भूमि में आपकी गर्जना से शत्रु रूप घड़े फूट जाते हैं और उनका पानी उनकी गृहणियों की आँखों से वहता है। आपके हाथों समर-भूमि में शत्रुओं का विनाश होता है और उनकी पत्नियाँ रुदन-क्रन्दन करती रहती हैं। इस भाव को कवि-श्रेष्ठ ने जिस चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त कर सरस वना दिया, उसे देखते हुए राजा विक्रमादित्य अत्यन्त प्रसन्न हो गये और वे हर्षातिरेक से तनिक असहज होने लगे। तभी श्री सिद्धसेन सूरि की वाणी पुनः गूँज उठी। उन्होंने राजा के गौरव और सम्मान में एक और श्लोक का पाठ किया, जिसका भाव था–

हे राजन् ! आपके मुख में सरस्वती का वास है और चंचला लक्ष्मी आपके हाथ में है। फिर भी न जाने क्यों आपसे कुपित होकर आपकी कीर्ति आपसे दूर– देश-देशान्तर को चली गयी है। प्रस्तुत श्लोक में भी वाक्चातुर्य और वाणी-विदग्धता की सुन्दर झलक पाकर महाराज चमत्कृत हो उठे। वड़ी कुशलता के साथ नरेश को प्राप्त लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की कृपा का वर्णन हो गया था जो एक साथ किसी व्यक्ति को सुलभ नहीं हो पाती है। साथ ही वड़े चातुर्य के साथ अवन्ती-नरेश की कीर्ति की व्यापकता भी वर्णित हो गयी।

भाव-विभोर से महाराज अपने सिंहासन से उठे और सुकवि सिद्धसेन सूरि की ओर वे श्रद्धा से गद्गद होकर ऐसे आगे वढ़े, मानो सुख के समुद्र में आनन्द की लहरों पर अग्रसर हो रहे हो। महापण्डित कविरत्न श्री सिद्धसेन सूरि के समक्ष उपस्थित होकर करवद्ध निवेदन किया कि आपके चारों श्लोकों के लिए हमने चारों दिशाओं का अर्थात् समस्त राज्य आपके श्रीचरणों में सादर समर्पित कर दिया है। अव आप ही इसके स्वामी हैं। आप पर सरस्वती माँ की कृपा तो है ही; अव राजलक्ष्मी भी कृपालु हो गयी है। स्वीकार कीजिये, प्रभो ! यह राज्य सँभालिये।"

इस असीम कलाप्रियता और उत्सर्ग की भावना को देखकर श्री सिद्धसेन पर नरेश का गहन प्रभाव अंकित हुआ। हृदय से वे उनके प्रशंसक हो गये। बोले– "धन्य है, राजन् ! आपका असीम काव्य-प्रेम और धन्य है आपकी गुण-ग्राहकता। ऐसे रसिक और गुणी जन बड़ी कठिनाई से ही मिलते हैं। हमने आपको काव्यरस

से प्रसन्न किया, किन्तु अब हमें ही आपको निराश भी करना होगा। खेद तो हमें भी इसका होगा, किन्तु राजन् ! राज्यत्व हमारा ध्येय नहीं। उत्तराधिकार में प्राप्त पिता का राज्य-वैभव और अतुलित सम्पदा को तृणवत् त्यागकर हम विरक्ति के मार्ग पर आरूढ़ हुए हैं। हमारे लिए क्या रत्न और क्या बालू, क्या मणियाँ और क्या मिट्टी—सब समान हैं। किसी की भी आकांक्षा नहीं, कोई माया-ममता नही। हमारे लिए न कोई शत्रु है ना ही कोई मित्र—किसी से न राग है; न ही किसी से द्वेष। यह राज्य तो आपका है—आपका ही रहेगा। इसमें हमारा क्या प्रयोजन। हमें तो आपके कुछ मूल्यवान क्षण चाहिये थे और वो हमने आपसे ले ही लिये। प्रसन्न रहो ! उत्थान करो ! जन-जन को सुखदान करो !" सिद्धसेन जी हाथ उठाकर प्रस्थान कर गये। इस विकट निस्पृहता और इस अलौकिक त्याग व विरक्ति के समक्ष जगतिक वैभव और सम्पदा का इस प्रकार निस्तेज होना महाराज के अनुभव-क्षेत्र में पहली बार ही घटित हुआ। मन द्वारा की गयी धन की ऐसी अवहेलना एवं अवज्ञा की क्रीड़ा से वे अचकचाकर रह गये और एकटक, अवाक्-से वे सन्त के श्रीमुख को निहारते ही रह गये। वे अपनी प्रतिक्रिया निश्चित ही नहीं कर पा रहे थे। तभी सन्त द्वार की ओर बढ़ गये और महाराज ने सभासदों के संग सूरि जी के जय-जयकार के साथ अनुकरण किया। सभी को सुख और शान्ति का आशीर्वाद देकर सन्त उद्यान की ओर अग्रसर हो गये।

काव्य-मर्मज्ञ और रसिक-नरेश के चित्त में सिद्धसेन सूरि के श्लोक शाश्वत महत्ता के साथ अंकित हो गये थे। यदा-कदा वे अपने निजी समय में उन्हें गुनगुनाया भी करते थे। ऐसा कवि-कौशल उन्हें सामान्यतः कहीं अन्यत्र नहीं मिला, जैसा उन्होंने श्री सिद्धसेन में पाया। वे उनके भक्त ही हो गये। देशभर में उनकी सुकवि और काव्य-तत्त्ववेत्ता के रूप में अपार ख्याति थी। अपनी बढ़ी-चढी कवित्व-शक्ति और संस्कृत के भाषा ज्ञान का आभास स्वयं श्री सिद्धसेन को भली प्रकार से था। अपनी इस प्रतिभा के धर्मक्षेत्र में उपयोग में वे इसकी उपादेयता मानने लगे। प्राकृत के नमोकार मंत्र का उन्होंने बड़ा सुन्दर संस्कृत में भाषान्तर किया। मूल पाठ से इस संस्कृत रूपान्तर का लालित्य और नाद सौन्दर्य कुछ अधिक ही प्रत्यक्ष हुआ। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में प्रचलित एवं महत्त्वपूर्ण साहित्य संस्कृत में रूपान्तरित किया जाय तो वह बिखर उठेगा—सिद्धसेन को इसमें कोई संदेह नहीं रहा। वे मानते थे कि आगम प्राकृत में हैं, प्राकृत भाषा मूर्खों की भाषा है। जिनेश्वर भगवान द्वारा प्रदत्त ज्ञान के ये अक्षय कोष इसी कारण उन विद्वानों को लाभान्वित नहीं कर पाता जो प्राकृत भाषी न होकर संस्कृतज्ञ हैं। विद्वत्समाज मैं जैन साहित्य को संस्कृत के माध्यम से ही समादृत स्थान प्राप्त हो सकता है। सिद्धसेन सूरि की ऐसी मान्यताएँ समय-यापन के संग-संग दृढ़तर होती रहीं। उनका यह विचार भी था कि इस प्रयास से जैन साहित्य प्राकृत के अनगढ़

और खुरदरे, रूक्ष और ऊवड़खावड़पन से मुक्त होकर रमणीक, सुकोमल और सरस हो उठेगा। यह परम्परा आरंभ होने की ही देरी है, फिर तो जैन-सिद्धान्तों और विचारों को, साहित्य और आदर्शो को प्रचुर प्रचार मिलेगा। वह लोकप्रिय और सर्वग्राह्य हो जायेगा।

कुछ काल तक अपनी समझ से यह उत्तम विचार श्री सिद्धसेन सूरि के मन में परिपक्व होता रहा और उनका यह विश्वास भी विकसित होता रहा कि उनके इस विचार का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायेगा और वे जैन साहित्य की अपूर्व सेवा कर सकेंगे। यही नही, परिवर्तीकाल में भी इस परम्परा को वड़ी समृद्धि मिल सकती है।

अपने इस विचार पर साधुवाद प्राप्त करने की आशा के साथ एक प्रातः सिद्धसेन नमोकार महामंत्र का अपना संस्कृत रूपान्तर लेकर अपने गुरु वृद्धवादी के पास पहुँचे। संस्कृत में जैनागम एवं अन्य ग्रंथों के अनुवाद किये जाने से होने वाले लाभों का संक्षेप में विवेचन करते हुए उन्होंने अपनी यह भावना व्यक्त की कि वे स्वयं यह भाषान्तरण का कार्य आरंभ करना चाहते हैं। गुरुदेव कृपया इस मंगल उपक्रम को अपना आशीर्वचन दें।

गुरु वृद्धवादी अपने सुशिष्य सिद्धसेन के आरंभिक वचनों से ही उनका मंतव्य समझ गये और उनके मन मे साधुवाद के स्थान पर भर्त्सना का भाव उदित हो गया। उन्होंने अपने क्रोधावेश को सायास नियंत्रित करते हुए कहा–"वत्स ! यह कुभाव तुम्हारे मन में क्यों आया? तुमने प्राकृत की अवमानना करके घोर अपकर्म किया है। इस विचार मात्र से पातक का वंध हो गया है। तुम्हारी विद्वत्ता के दम्भ ने तुमसे यह सव-कुछ करवाया है। क्या तुमसे पूर्व कोई संस्कृतज्ञ नहीं हुए हैं, सिद्धसेन ! चाहते तो वे भी प्राकृत साहित्य का भाषान्तरण कर सकते थे, किन्तु न यह अभीष्ट रहा और न ही समीचीन। तुमको न जाने क्यों यह भूत सवार हो गया है। धर्मोपदेश की भाषा यदि ऊवड़खावड़ भी है, ललित और रमणीय नहीं है तो उससे उसकी महत्ता कम नहीं हो जाती। ऐसा साहित्य लोक-प्रचलन की वोली मे ही होना चाहिये। उसका वोलचाल का रूप भी सरल और सुवोध होना चाहिये। तभी उसकी सार्थकता है। जिन लोगो के लाभार्थ उपदेशक और सन्मार्ग-प्रेरक वार्त्ताएँ हो, उन्हें वे ही लोग केवल इस कारण समझ ही न सकें कि भाषा उनकी नहीं है, कठिन है तो उस साहित्य की सार्थकता ही क्या रह जायेगी। जन सामान्य में कितने लोग भाषा-निष्णात और कितने संस्कृतज्ञ हैं.... हैं?"

गुरुवर के विचारो में निहित तर्क सशक्त थे। उनका कोई काट सिद्धसेन के पास न था। उन्हें अपने विचारों की भूल अनुभव होने लगी। वे लज्जित और मन ही मन अनुतापग्रस्त थे। नम्रता और दीनता के साथ वे कहने लगे–"पूज्यवर ! मुझे अपना दोष भलीभाँति दिखायी देने लगा है। यह जघन्य अपकर्म है जो दर्प के

वशीभूत मुझसे हो गया है। सत्य है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान ने प्राकृत की उपादेयता और व्यापक प्रचलन के कारण ही इसे चुना है। संस्कृत के माध्यम से प्रसारित धर्मोपदेश कतिपय संभ्रान्त कुलों तक ही सीमित रह जायेगा–यह भी युक्तियुक्त सत्य है। क्या हो गया है मुझे। मुझे क्षमा करें, गुरुदेव ! .... मुझे क्षमा करें।"

गुरुदेव वृद्धवादी अपने प्रिय शिष्य की इस दीनतापूर्ण क्षमा-याचना से करुणार्द्र हो उठे थे। उनके हृदय के साथ मस्तिष्क का संघर्ष आरंभ हुआ। उनकी बुद्धि ने भावुकता पर विजय प्राप्त की और हावी होकर विवेक ने जो उनसे कहा उन्होंने वही सिद्धसेन सूरि के समक्ष दोहरा दिया। बोले–"वत्स ! तुम्हें क्षमा करने का अधिकार मुझे नहीं है। क्षमादान वही कर सकता है जिसका अपराध याचक ने किया हो, अन्यथा किसी को भी यह पुण्य-लाभ नहीं हो सकता और न ही अपराधी को राहत संभव होती है। तुमने अवज्ञा की है–धर्म की, तुमने अवमानना की है–तीर्थंकर व गणधरों की जिन्होंने सूत्र रचना के लिए माध्यम स्वरूप संस्कृत का आश्रय लेना अनुपयुक्त मानकर प्राकृत को अपनाया। तुमने अपने इस अपकर्म से घोर अशुभ बंध किया है। दुष्परिणामस्वरूप तुम विभिन्न भवों में भटकते रहोगे–तुम्हें शान्ति-लाभ का सुयोग सुलभ न होगा।" अपने अन्तिम शब्दों के कथन के दौरान गुरुवर स्वयं असहाय स्थिति का अनुभव करने लगे, वे दुःखित प्रतीत होने लगे।

विचलित होकर श्री सिद्धसेन ने गिड़गिड़ाते हुए निवेदन किया–"आपका कथन तो यथार्थ ही है, गुरुवर्य ! किन्तु इस पापबन्ध के लिए कोई प्रायश्चित्त विधि भी होगी ही। मैं आत्मालोचनापूर्वक प्रायश्चित्त करूँगा, प्रभो ! .... प्रायश्चित्त करूँगा मैं। मुझ दीन पर कृपा कीजिये, करुणानिधान !" घुटनों के बल बैठा शिष्य मुख ऊपर कर गुरुवर के आनन को आशा-भरी दृष्टि से ताकने लगे, जैसे दुर्भिक्षग्रस्त कृषक घटाओं को निहारता है।

"हे वत्स ! प्रायश्चित्त भी इसका है अवश्य, किन्तु .....।"–गुरुदेव ने दृढ़तापूर्वक कहा–"..... किन्तु उसका विधान बड़ा दुष्कर है। मुझे भय है कि तुम उसका निर्वाह न कर सकोगे।"

"मैं अक्षरशः प्रायश्चित्त विधान को पूर्ण करूँगा, प्रभो ! ..... चाहे कितना ही कठोर और विषम क्यों न हो। अपने पुत्र-तुल्य शिष्य पर आप पूर्णतः विश्वास कर सकते हैं। मेरा इस कर्म-व्यूह से उद्धार कीजिये, तात ! मुझे उपकृत कीजिये, भवसागर में निमग्न होने से मेरी रक्षा कीजिये। मैं आपके शिष्यत्व को खरा सिद्ध करके रहूँगा।"

अपने प्रिय शिष्य से अपराध तो हो गया, किन्तु उसका बोध उसे किस गहराई तक हो रहा है, यह ज्ञान गुरु वृद्धवादी को भीतर तक हिला गया। उन्होंने कहा–"सुनो, सिद्धसेन ! सुनो। यदि तुम अपने किये को अनकिया करना ही

चाहते हो, फिर से निष्पाप हो जाना चाहते हो तो तुम्हें प्रायश्चित्त स्वरूप अवधूत-वेश में गुप्त रूप में बारह वर्षों तक तप करना होगा। और तब तुम्हें किसी राजा को प्रतिबोध प्रदान करना होगा। तभी जिनवाणी की अवज्ञा से उत्पन्न पाप का शमन संभव होगा, उसका दुष्परिणाम निरस्त होगा, वत्स !''

''मैं अपनाऊँगा, गुरुदेव ! अवश्य अपनाऊँगा–यह प्रायश्चित्त विधि।..... मैं प्रायश्चित्त करूँगा.... मैं प्रायश्चित्त करूँगा।'' पाप-मोचन का साधन मिल जाने से पवित्रता का भी हृदय अति उत्साहित हो उठा और एक क्षण का भी विलम्ब करना अनुचित समझकर सिद्धसेन सूरि तत्काल ही वन-गमन कर गये। निर्देशानुसार सन्त सिद्धसेन परिव्रजनशील रहकर घोर तप करने लगे। उनकी पावनता की पुनर्प्राप्ति की साध उनकी एकाग्रता को सुदृढ़ बनाती रही और वे अवधूत-वेश में आज यहाँ तो कल कहीं और.... इसी प्रकार विचरण करते रहे। बारह वर्षीय अवधि समापन तक उनका अवधूत-वेश इतना पक्का हो गया कि कोई उन्हें देखकर यह कल्पना ही नहीं कर सकता था कि ये तो सिद्धसेन सूरि हैं। कठोर तप-साधना से शरीर कृष हो गया था। दाढ़ी-मूँछ और शीश की केश-राशि भी बढ़ गयी थी और अव्यवस्थित हो गयी थी। उनकी वड़ी-वड़ी आँखें अवश्य ही यथावत् तेजोमय थीं और काया के क्षीण होने के कारण उनकी दीप्ति कुछ असामान्य-सी प्रतीत होती थी। विधानानुसार अब उन्हें किसी नरेश को प्रतिवोधित करना था।

× × ×

अवन्ती की प्रसिद्धि का आधार महाकाल शिवालय और पावन सरिता क्षिप्रा का निर्मल प्रवाह रहा है। द्वादश ज्योतिर्लिंगों की शृंखला में अवन्ती का महिमामय स्थान रहा है। यह शिवधाम सदा से ही शैवों, भक्त जनो और साधु-सन्तों का अत्यन्त आदरणीय तीर्थ-स्थल रहा है। शिवालय का विशाल परिसर सदा साधु जनों से भरा रहता था। ऐसे तीर्थार्थियों के लिए यह आश्रय-स्थल ही वन गया था। राजकीय-व्यवस्था भी यहाँ साधु-संतों के लिए भोजनादि की रहा करती थी। अनेक सन्त शिवाराधना का सुविधाजनक अवसर प्राप्त कर राजा को अपनी आशिष से अनुगृहीत किया करते थे। ऐसे कुछ अवधूत सन्तो ने तो अपना स्थायी आश्रय-स्थल ही इस परिसर को वना लिया और अपनी-अपनी धूणियाँ स्थापित कर लीं। और श्रद्धालु जनो के लिए ऐसी धूणियाँ भी पवित्र स्थलों के रूप में मान्य हो गयी थीं। शिवालय के प्रबंधको–पुजारियों के लिए व्यवस्था की देखरेख का कार्य बडा श्रमसाध्य हो गया था। कभी-कभी विचित्र-सी समस्याएँ उठ खड़ी होती थीं। कोई साधु अमुक स्थल पर हठपूर्वक जम जाता और हजार अनुरोध पर भी हटने का नाम नहीं लेता–सामान्य भक्त जनों और दर्शनार्थियो को इससे व्यवधान और असुविधाएँ अनुभव होती। इन अनुरोधो पर साधुओं का दुराग्रह ही प्रायः हावी रहता।

एक दिन तो महाकाल के इस शिवालय में वड़ी ही विचित्र, वड़ी ही विषम स्थिति उत्पन्न हो गयी। एक ऐसा ही अवधूत संत शिवालय के गर्भ-गृह में न जाने कब आकर सो गया और शिवजी की पावन प्रतिमा की ओर वड़ी ही अशिष्टता और अनादर भाव के साथ अपने पैर फैलाये रहा। समाधि की-सी आत्मलीनता की अवस्था में अवधूत अचल और शान्त मुद्रा में शववत् पड़ा रहा। किसी के अनुनय-विनय पर उसका कोई प्रभाव न होता था—"अरे .... बावा ! उठो—कहीं अन्य स्थल पर सो जाओ। यह भक्त जनों के, दर्शनार्थियों के आने का समय है, वे यहीं खड़े रहकर तो दर्शन-लाभ करते हैं। उठो .... वावा !" पर बाबा पर कोई प्रभाव नहीं। वह धीरे-धीरे अशान्ति का कारण बन गया। अपने पैर शिवलिंग की ओर कर सोने वाला साधु भगवान शिव का अपराधी है। इसके इस दुस्साहस के लिए दण्डित किया जाना है। यह कैसा साधु है जो भगवान की ऐसी घोर अवमानना करता है। पुजारियों और भक्त जनों के आस्थापूर्ण हृदयों को इससे ठेस पहुँच रही थी। अपने इष्टदेव के प्रति ऐसी अश्रद्धा का भाव सहृदय भक्त जन भला सहन करते भी कैसे ! उनमें भीतर-ही-भीतर कसमसाहट होने लगी। अनेक साधु-संतों के आस्तिक मर्म को भी आघात पहुँचा। यह माँग क्रमशः प्रबलतर होती जा रही है कि उस दुष्ट और आडम्बरी साधु को निकाल बाहर किया जाय। सारे परिसर में एक विद्रूप कोलाहल मच गया है। स्थिति प्रबन्धकों के हाथ से निकलती जा रही थी। पुजारी असहाय अनुभव कर रहे थे। 'शिव-शिव' की रट लगाते वे इधर-उधर उद्विग्नता के साथ दौड़-भाग करने लगे थे।

मुख्य पुजारी ने प्रयत्न किया। वे सोये हुए उस अवधूत के पास पहुँचे, नीचे बैठकर उसके कानों के पास मुख रखकर तीव्र स्वर में बोले—"बाबा ! आपको कदाचित् ज्ञात नहीं कि आपसे कैसी भीषण भूल हो गयी है। आपने तो भगवान शिवशंभू—भोलेनाथ की अर्चना से प्रयोजन से शिवालय में प्रवेश किया होगा, किन्तु आपसे अंधेरे में यह भूल हो गयी। आप जहाँ लेटे हैं वहीं भगवान समीप ही विराजमान हैं और वह भी आपके पाँवों की ओर। यह उचित नहीं है, वावा ! उठो और अन्यत्र जाकर विश्राम कर लो। अपने पैर तो तत्काल ही अन्य दिशा में कर लो।" मुख्य पुजारी के इस शालीनता और शिष्टतापूर्ण कथन पर भी अवधूत ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की तो वह भी बेबस हो गये। झल्लाकर उन्होंने बाबा के दोनों कंधों को दृढता से थामकर उसे झकझोर दिया। अवधूत ने अपनी भारी-भारी पलकें खोलीं। उसके अरुण नेत्रों में शून्य ही तैरने लगा था। उसके नेत्र तो खुले रह गये, किन्तु वह यथावत् निश्चेष्ट ही पड़ा रहा। एक क्षण मुख्य पुजारी की ओर ताककर वह समीपवर्ती भीड़ को देखते हुए ऊपर को दृष्टि करके छत को निहारने लगा। अपनी असफलता पर हुई निराशा को छिपाने के लिए मुख्य पुजारी

अब चिल्लाने लगे। हटाओ इस नास्तिक और ढोंगी को यहाँ से। यों न हटे तो इसे बलपूर्वक उठाकर बाहर फेंक दो।"

एक पुजारी ने कहा-"अजी उठकर चला ही जाएगा। क्यों किसी को ‥‥। कब तक सोया रहेगा ! कौन जाने कौन तो है यह ‥‥ कहीं ऐसा-वैसा हुआ तो।"

अन्य पुजारी ने कहा-"ये भी कहते तो ठीक ही हैं। ऐसा क्यों न करें कि हम इनके पैरों को उठाकर अन्य दिशा में कर दें। यह दोष तो दूर हो।" यह कहते हुए पुजारी ने विना किसी की सम्मति के लिए प्रतीक्षा किये, स्वयं ही अवधूत के चरणों को धकेलने का प्रयत्न किया। उसे लगा कि जैसे भूमि में गड़ा कोई खूँटा हिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। अपनी इस विफलता से उत्तेजित होकर पुजारी ने पुनः पूरी शक्ति के साथ प्रयत्न किया, बड़ी देर तक वह शक्ति लगाने से उसकी कनपटी की शिराएँ उभर आईं। भाल पर स्वेद-कण छलछला आये और मुख-मण्डल तमतमा गया। निराश होकर पुजारी पीछे हट गया और हॉफने लगा। उसका वलिष्ठ शरीर भी जब अवधूत के पैरों को एक ओर को नही कर पाया तो कुछ नवयुवकों ने प्रयत्न करने की ठानी। हॉफते हुए पुजारी को अपने स्पर्श से पीछे हट जाने का संकेत करते हुए एक युवक आगे बढ़ा। दूसरी ओर से कुछ अन्य युवजन आये और सम्मिलित शक्ति के साथ प्रयत्न करने लगे। इन्हें सफल होता न पाया तो कुछ अन्य जन भी सम्मिलित हो गये, किन्तु व्यर्थ। जव सव थक-हारकर दूर हो गये तो अवधूत ने करवट वदली। अरे, इसके पैर तो भूमि से पृथक् ही है। अवश्य यह कोई मायावी और मलिन विद्याओं का अभ्यासी है। अन्यथा यह दुर्वल गात्र सन्त इतना शक्तिशाली हो नहीं सकता है-लोग मन-ही-मन विचार करने लगे।

प्रवन्धकों ने महाराज को संदेश भेज दिया था और इस विचित्र अवधूत के अशिष्ट आचरण का पूरा विवरण भी। वह किस प्रकार से भगवान शिव की मर्यादा की अवहेलना करते हुए भक्त जनों की भावना को आघात पहुँचा रहा है और शिवालय की शान्ति-व्यवस्था भारी संकट में है। यह संदेश पहुँचते ही राजभवन मे आक्रोशपूर्ण वातावरण छा गया। सवके आराध्य भगवान शिव की अवमानना किसी के लिए भी सह्य नहीं हो सकती। "वह साधु जो भी कोई हो, उसे तुरन्त निकाल बाहर किया जाना चाहिए। जनाक्रोश हो अथवा न भी हो-यह हमारी-हम सभी की भावनाओं का अनादर है जो सहन नहीं किया जायेगा। इस नास्तिकता की भी कोई सीमा है ! जाओ आरक्षी-दल पर्याप्ततः साथ लो और तत्काल पहुँचो।" महाराज ने आरक्षी नायक को आदेश दिया।

"जो आज्ञा देव !" नमनपूर्वक नायक ने प्रस्थान किया। तभी महाराज ने उसे सतर्क किया-"जाओ, और शीघ्र लौटकर अपनी सफलता का समाचार दो। अपने साथ योद्धा भी ले जाओ। यो न माने तो कोड़े के प्रहारों से उसकी सारी अकड़ निकाल दो।"

नायक आरक्षियों के संग महाकालेश्वर शिवालय पहुँचा तो पाया कि अवधूत भूत की भाँति शिवजी की ओर पाँव पसारे यथावत् पड़ा था। नायक ने भी आरम्भ में प्रेम और आदर के साथ उसे समझाने का प्रयत्न किया पर उस पर कोई प्रभाव न हुआ। अन्तर इतना-सा आया कि अवधूत ने अब करवट बदलकर नायक की ओर देखना आरम्भ कर दिया। अन्वेषण की मुद्रा में जो घूरकर नायक ने अवधूत के नेत्रों को देखा तो उनकी विशालता और दमक का उसके मन पर विचित्र-सा प्रभाव होने लगा। आशंका होने लगी कि कहीं ये अपनी किसी वशीकरण-शक्ति का प्रयोग न कर दे। और हठात् उसने अपनी दृष्टि लौटा ली। हड़बड़ी में नायक मात्र इतना कह पाया कि जवानो, ये भूत लातों का है–बातों से न मानेगा। इसे बलपूर्वक उठाकर बाहर कर दो। आठ आरक्षियों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के प्रयोग से उसे उठाना चाहा किन्तु न उसके पैर पकड़ में आते थे न हाथ। आँगन से ऐसे सटे थे जैसे चिपके हों। सारा बल लगाकर भी वे उसे धरती से ऊपर न कर सके। धरती छुड़ा भी न सके।

सभी को इस विचित्रता पर महान् आश्चर्य हुआ। सामान्यत: तो ऐसा हो नहीं सकता। ये बाबा कोई असाधारण चमत्कारी योगी ही हैं। शक्ति के समक्ष विवेक अधिक समय तक टिकता नहीं, लुप्त हो जाता है, विशेष रूप से तब, जब शक्ति का गर्व हो। अतिशय शक्तिमत्ता बुद्धि-चक्षुओं के लिए अंधता का अभिशाप होती है। नायक के मन में भी बाबा के असाधारणत्व का विचार आया अवश्य, किन्तु वह कपूरवत् विलीन हो गया। नायक ने अपनी भूमिका को क्रूरतम रूप देने की ठान ली और उसने एक आरक्षी की ओर अपना हाथ फैलाया। आरक्षी ने उसे कोड़ा थमा दिया। रोषावेग में उसके नेत्र अरुण और भौंहें धनुषाकार हो गयीं। उसने वेग के साथ चर्म के उस कोड़े को लहराया। हवा में एक भयावह हहराहट हुई और ज्यों ही उसने भूमि पर उसे फटकारा हृदय हिला देने वाली ध्वनि के साथ वह भूमि पर भयंकर विषधर की भाँति फैल गया। बाबा अपनी अधखुली आँखों से देखते रहे, किन्तु उनके तन ने कोई प्रतिक्रिया न दी। मन भी सर्वथा शान्त और अविचल लगता था। उनके जटाजूट और अव्यवस्थित-सी दाढ़ी-मूँछों में उनके मुख-मण्डल का सब-कुछ लुप्त हो रहा था, नेत्रों के अतिरिक्त जिनसे निर्भीकता और अचंचलता भासित हो रही थी। अपने भयभीत कराने-के प्रयासों की विफलता से नायक बौखला गया–"ऐ पाखण्डी योगी ! उठ और चाहे तो उठकर यहाँ से बाहर चला जा, अन्यथा ····अन्यथा ये कोड़ा तेरा काल बनकर बरसने वाला है। मैं तीन बार भूमि पर कोड़ा फटकारूँगा। यदि इस बीच तू उठकर चला गया तो तुझे जीवनदान मिल गया समझो, नहीं तो चौथा कोड़ा तेरे शरीर पर ही पड़ेगा और फिर तो प्रहारों की झड़ी ही लग जायेगी।"

"वावा ! क्यों अपने ही प्राणों के ग्राहक बने हुए हो। उठ जाओ और वाहर निकल जाओ।"—अन्य आरक्षी ने समझाने की चेष्टा भी की, किन्तु बाबा तो निश्चेष्ट पड़े रहे। तभी नायक ने भूमि पर कोड़े की फटकार लगायी। स्निग्ध प्रस्तरों के ऑगन में कोड़े ने अपनी छाप छोड़ दी। दूसरी फटकार भी हुई—अवधूत ने एक ओर करवट बदल ली। तीसरे कोड़े पर योगी पट हो गया। उसका चोला भी इधर-उधर हटकर पीठ को कुछ अनावृत कर गया था मानो चौथे कोड़े का स्वागत करने को पीठ ने अपना द्वार खोल दिया हो। वास्तव में चौथा कोड़ा योगी की दुर्वल पीठ पर ही पड़ा। सटा .... आक्-सी तीव्र ध्वनि हुई। योगी होठों-ही-होठों मे कुछ बुदबुदाता हुआ नयन निमीलित, शान्त भाव से पड़ा रहा। और तव तो कोड़ों की झड़ी ही लग गयी। सब ओर त्राहि-त्राहि मच गयी। योगी के विरोधियों के मन में भी करुणा जाग्रत हुई—"अरे छोड़ो .... छोड़ो, वेचारा मर गया तो इस पावन स्थल को .... । नायक जी अव इसके हठ के आगे क्यों तुम दुराग्रह पर अड़े हो। वहुत हो गया .... भाई ! .... वहुत हो गया। अव वन्द भी करो। हॉ .... हॉ .... छोड़ो इसे .... इसकी जर्जर देह में प्राणों का पंछी वन्दी कैसे है—यही अचरज की वात है, जाने कव मुक्त हो जाये—कहा नहीं जा सकता भाई ! तुम क्यों इसकी हत्या का पाप अपने सिर लेते हो .... छोड़ो इसे—इसी के भाग्य पर छोड दो।"—जितने मुँह—उतनी ही वातें थीं। सवका सार करुणा पर आधारित था, सवका प्रयोजन योगी को कोड़ों की मार से मुक्ति दिलाना था। क्रूरता की अग्नि आसपास से करुणा की पवन पाकर और भी प्रचण्ड हो जाती है। नायक दुगुने वेग से प्रहार करने लगा। और योगी अनेक गुनी सहिष्णुता के साथ इस मार को जैसे पीता जा रहा था। वडा ही विचित्र प्रसंग था।

प्रसंग तो इससे भी अधिक विचित्र राजभवन में घटित होने लगा। महामंत्री के सग वैठे महाराज अपने विश्राम-कक्ष मे इस योगी की विचित्रता पर ही चर्चा कर रहे थे। उसका अद्भुत आचरण महामंत्री को विचारशील वना गया था। महाराज ने भक्ति के आवेश मे कहा—"भट्टमात्र ! उस अशिष्ट योगी की अभद्रता तो देखो—हमारे आराध्यदेव भगवान शिव की ऐसी निपट अवमानना का साहस कर रहा है। उसे हमारे महाकोप का भय भी त्रास न दे सका।"

"महाराज की सदा विजय हो !" मंगल कामनाओं के साथ महामात्य ने निवेदन किया—"वह अवधूत योगी है तो भला, भगवान की अवमानना वह क्यों करेगा। इसमें उसकी किस साध की पूर्ति सम्भव है। वात तो इसके पीछे कुछ और ही होनी चाहिए, महाराज ! भगवान भोलेनाथ महाकाल के अनादर का भाव तो हमें लक्षित हो रहा है—इस प्रवृत्ति के लिए वह अपना कोई अन्य प्रयोजन, आपको, सभी को उत्तेजित करके सिद्ध करना चाहता है।"

नायक आरक्षियों के संग महाकालेश्वर शिवालय पहुँचा तो पाया कि अवधूत भूत की भाँति शिवजी की ओर पाँव पसारे यथावत् पडा था। नायक ने भी आरम्भ में प्रेम और आदर के साथ उसे समझाने का प्रयत्न किया पर उस पर कोई प्रभाव न हुआ। अन्तर इतना-सा आया कि अवधूत ने अब करवट बदलकर नायक की ओर देखना आरम्भ कर दिया। अन्वेषण की मुद्रा में जो घूरकर नायक ने अवधूत के नेत्रों को देखा तो उनकी विशालता और दमक का उसके मन पर विचित्र-सा प्रभाव होने लगा। आशंका होने लगी कि कहीं ये अपनी किसी वशीकरण-शक्ति का प्रयोग न कर दे। और हठात् उसने अपनी दृष्टि लौटा ली। हड़बड़ी में नायक मात्र इतना कह पाया कि जवानो, ये भूत लातों का है–बातों से न मानेगा। इसे बलपूर्वक उठाकर बाहर कर दो। आठ आरक्षियों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के प्रयोग से उसे उठाना चाहा किन्तु न उसके पैर पकड़ में आते थे न हाथ। आँगन से ऐसे सटे थे जैसे चिपके हों। सारा बल लगाकर भी वे उसे धरती से ऊपर न कर सके। धरती छुड़ा भी न सके।

सभी को इस विचित्रता पर महान् आश्चर्य हुआ। सामान्यतः तो ऐसा हो नहीं सकता। ये बाबा कोई असाधारण चमत्कारी योगी ही हैं। शक्ति के समक्ष विवेक अधिक समय तक टिकता नहीं, लुप्त हो जाता है, विशेष रूप से तब, जब शक्ति का गर्व हो। अतिशय शक्तिमत्ता बुद्धि-चक्षुओं के लिए अंधता का अभिशाप होती है। नायक के मन में भी बाबा के असाधारणत्व का विचार आया अवश्य, किन्तु वह कपूरवत् विलीन हो गया। नायक ने अपनी भूमिका को क्रूरतम रूप देने की ठान ली और उसने एक आरक्षी की ओर अपना हाथ फैलाया। आरक्षी ने उसे कोड़ा थमा दिया। रोषावेग में उसके नेत्र अरुण और भौंहें धनुषाकार हो गयीं। उसने वेग के साथ चर्म के उस कोड़े को लहराया। हवा में एक भयावह हहराहट हुई और ज्यों ही उसने भूमि पर उसे फटकारा हृदय हिला देने वाली ध्वनि के साथ वह भूमि पर भयंकर विषधर की भाँति फैल गया। बाबा अपनी अधखुली आँखों से देखते रहे, किन्तु उनके तन ने कोई प्रतिक्रिया न दी। मन भी सर्वथा शान्त और अविचल लगता था। उनके जटाजूट और अव्यवस्थित-सी दाढ़ी-मूँछों में उनके मुख-मण्डल का सब-कुछ लुप्त हो रहा था, नेत्रों के अतिरिक्त जिनसे निर्भीकता और अचंचलता भासित हो रही थी। अपने भयभीत कराने के प्रयासों की विफलता से नायक बौखला गया–"ऐ पाखण्डी योगी ! उठ और चाहे तो उठकर यहाँ से बाहर चला जा, अन्यथा .... अन्यथा ये कोड़ा तेरा काल वनकर बरसने वाला है। मैं तीन बार भूमि पर कोड़ा फटकारूँगा। यदि इस वीच तू उठकर चला गया तो तुझे जीवनदान मिल गया समझो, नहीं तो चौथा कोड़ा तेरे शरीर पर ही पड़ेगा और फिर तो प्रहारों की झड़ी ही लग जायेगी।"

"बाबा ! क्यों अपने ही प्राणों के ग्राहक बने हुए हो। उठ जाओ और बाहर निकल जाओ।"—अन्य आरक्षी ने समझाने की चेष्टा भी की, किन्तु बाबा तो निश्चेष्ट पड़े रहे। तभी नायक ने भूमि पर कोड़े की फटकार लगायी। स्निग्ध प्रस्तरों के ऑगन में कोड़े ने अपनी छाप छोड़ दी। दूसरी फटकार भी हुई—अवधूत ने एक ओर करवट बदल ली। तीसरे कोड़े पर योगी पट हो गया। उसका चोला भी इधर-उधर हटकर पीठ को कुछ अनावृत कर गया था मानो चौथे कोड़े का स्वागत करने को पीठ ने अपना द्वार खोल दिया हो। वास्तव में चौथा कोड़ा योगी की दुर्बल पीठ पर ही पड़ा। सटा .... आक्-सी तीव्र ध्वनि हुई। योगी होठों-ही-होठों में कुछ बुदबुदाता हुआ नयन निमीलित, शान्त भाव से पड़ा रहा। और तब तो कोड़ों की झड़ी ही लग गयी। सब ओर त्राहि-त्राहि मच गयी। योगी के विरोधियों के मन में भी करुणा जाग्रत हुई—"अरे छोड़ो .... छोड़ो, बेचारा मर गया तो इस पावन स्थल को .... । नायक जी अब इसके हठ के आगे क्यों तुम दुराग्रह पर अड़े हो। बहुत हो गया .... भाई ! .... बहुत हो गया। अब बन्द भी करो। हॉ .... हाँ .... छोड़ो इसे .... इसकी जर्जर देह में प्राणों का पंछी बन्दी कैसे है—यही अचरज की बात है, जाने कब मुक्त हो जाये—कहा नहीं जा सकता भाई ! तुम क्यों इसकी हत्या का पाप अपने सिर लेते हो .... छोड़ो इसे—इसी के भाग्य पर छोड़ दो।"—जितने मुँह—उतनी ही बातें थीं। सबका सार करुणा पर आधारित था, सबका प्रयोजन योगी को कोड़ों की मार से मुक्ति दिलाना था। क्रूरता की अग्नि आसपास से करुणा की पवन पाकर और भी प्रचण्ड हो जाती है। नायक दुगुने वेग से प्रहार करने लगा। और योगी अनेक गुनी सहिष्णुता के साथ इस मार को जैसे पीता जा रहा था। बड़ा ही विचित्र प्रसंग था।

प्रसंग तो इससे भी अधिक विचित्र राजभवन में घटित होने लगा। महामंत्री के संग बैठे महाराज अपने विश्राम-कक्ष में इस योगी की विचित्रता पर ही चर्चा कर रहे थे। उसका अद्भुत आचरण महामंत्री को विचारशील वना गया था। महाराज ने भक्ति के आवेश में कहा—"भट्टमात्र ! उस अशिष्ट योगी की अभद्रता तो देखो—हमारे आराध्यदेव भगवान शिव की ऐसी निपट अवमानना का साहस कर रहा है। उसे हमारे महाकोप का भय भी त्रास न दे सका।"

"महाराज की सदा विजय हो !" मंगल कामनाओं के साथ महामात्य ने निवेदन किया—"वह अवधूत योगी है तो भला, भगवान की अवमानना वह क्यों करेगा। इससे उसकी किस साध की पूर्ति सम्भव है। वात तो इसके पीछे कुछ और ही होनी चाहिए, महाराज ! भगवान भोलेनाथ महाकाल के अनादर का भाव तो हमें लक्षित हो रहा है—इस प्रवृत्ति के मिस वह अपना कोई अन्य प्रयोजन, आपको, सभी को उत्तेजित करके सिद्ध करना चाहता है।"

"किन्तु भट्टमात्र ! योगी का ऐसा प्रयोजन हो कौन-सा सकता है।.... उसका क्या लक्ष्य हो सकता है....?"

महाराज के इस प्रश्न का भट्टमात्र क्या उत्तर देते ! यही कह सके– "महाराजेश्वर ! इसका रहस्य तो उचित समय आने पर स्वतः भी उद्घाटित हो जायेगा। इस समय कदाचित् कोई कल्पना भी सम्भव न होगी।"

यह गम्भीर चर्चा चल ही रही थी, ऊपर राजरानी कमलावती और रानी कलावती के कक्षों से हृदय विदारक चीखें सुनायी देनी लगीं। यह क्या हुआ? महाराज कुछ सोच भी न पा रहे थे कि तभी परिचारिका ने निवेदन किया– "महादेवी कमलावती और कलावती पर भारी संकट आ गया है, देव ! रक्षा करें.... महाराजश्री !...... उनकी रक्षा करें।"

भट्टमात्र ने पूछा–"बात क्या है, लीला ! तू घबराई हुई क्यों हैं? पूरी बात स्पष्ट करके बता। हुआ क्या है?"

दासी ने भय-कम्पित स्वरों में कहा–"कुछ ज्ञात नहीं होता, स्वामी ! किन्तु किसी अज्ञात कारण से दोनों महादेवियाँ अत्यन्त पीड़ित हैं। बार-बार कराह उठती हैं और रुदन कर रही हैं। अब तो वे अपनी पीठ सहलाने की स्थिति में भी नहीं रही हैं। बार-बार वे अपने हाथ पीछे को ले जाती हैं और....।"

"अच्छा.... अच्छा, तुम चलो, हम आ रहे हैं।"–महाराज ने कहा और पाँवों से ही टटोलकर पदत्राण धारण करते हुए वे उठ खड़े हुए। भट्टमात्र के साथ वे राजरानी के आवास में पहुँचे तो देखकर दंग रह गये कि वे तो प्रचण्ड आघातों की पीड़ा से जैसे तड़फ रही हैं। उनकी पीठ पर का वस्त्र स्वतः ही फट गया है और अनावृत पीठ पर नीले चिन्ह बन रहे हैं। कलावती रानी की दशा भी यही थी।

राजरानी ने रुदन-भरे स्वर में विनती की–"योगी पर होने वाले कोड़ों के प्रहारों को तुरन्त रुकवाइये, महाराज ! हम मर जायेंगी।"

स्थिति की कोमलता और गम्भीरता का आभास महाराज को तत्काल ही हो गया। वे रहस्य-भरी दृष्टि से महामात्य की ओर निहारने लगे। विलम्ब करने का अवसर न था। दोनों तुरन्त रथारूढ़ होकर शिवालय पहुँचे। वहाँ का दृश्य देखकर वे भी दंग रह गये। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची थी। क्रोधावेश में नायक कोड़े बरसाता जा रहा था और अवधूत पीठ ऊपर किये सर्वथा पीड़ा-निरपेक्ष भाव से शान्त-अचंचल बना उस मार को सहता जा रहा था। थककर चूर हो गया था नायक। क्षणेक विराम लेते हुए उसने तर्जनी से भाल पर छलछला आये स्वेद-कणों को एकत्र कर आँगन में एक ओर टपकाया और अपने तर-वतर अंगरखे की बाँह ऊपर करते हुए उसने कोड़ा उठाया ही था कि महाराज को सामने से आते देखकर रुक गया।

"ठहरो, नायक !······ ठहरो। अब हम योगी जी से बात करते हैं। महाराज संलाप के प्रयोजन से नीचे बैठे तो सहसा उनकी दृष्टि अवधूत की वस्त्रहीन पीठ पर पड़ी। इतने कोड़े सहने के पश्चात् भी उस पर कोई चिह्न नहीं था। इसका अर्थ यह है कि कोड़े योगी की पीठ पर पड़ अवश्य रहे हैं, किन्तु इनकी पीड़ा इसे नहीं; रानियों को हो रही है। नील भी इसी कारण उनकी पीठ पर जम रही है। यह अनुभव महाराज को चमत्कृत कर गया और योगी के पहुँचेपन का स्पष्ट आभास उन्हें होने लगा। सोचा–'यह साधारण संन्यासी नहीं; कोई सिद्ध योगी है। इसकी इस लीला का उद्देश्य भी कदाचित् कुछ ऐसा है कि हम स्वयं इनके समक्ष उपस्थित हों। कदाचित् ये कोई उपदेश हमें देना चाहते हों।' इस विचार ने महाराज का हृदय परिवर्तन कर दिया। उनके मन में योगी के प्रति सहज आदर उत्पन्न हो गया। विनीत स्वरों में उन्होंने वाचिक रूप में जब योगी को प्रणाम किया तो योगी ने पलकें खोलीं और शान्त भाव से, ममता के साथ वे महाराज को निहारते रह गये। कुछ क्षणोपरान्त बोले–"तो तुम आ गये, राजन् ! यह अच्छा ही हुआ। तुम्हें बुलाना हमारा ध्येय भी था।"

"आज्ञा देते, प्रभो ! मैं तो तुरन्त ही उपस्थित हो गया होता। आपने क्यों इतना····।"

"महाराज ! जगत् तो चमत्कार को ही नमस्कार करता है न ! सीधीसादी महिमा को मान्यता मिलती नहीं है।" व्यंग्य के साथ योगी ने सहज होते हुए कहा और उठ बैठे। उनके पॉव अब शिव-प्रतिमा की ओर नहीं रहे। बोले–"इसी कारण हमें यह सारा प्रपंच करना पड़ा। अव हमारा अभीष्ट पूर्ण होने में संदेह नहीं।"

"आपका अभीष्ट चाहे जो भी रहा हो, प्रभो ! किन्तु आप तो अवधूत योगी हैं–शिवशंकर भगवान आपके भी आराध्य हैं। फिर आपके द्वारा उनकी स्तुति ही आपसे अपेक्षित है। अपने भक्तों के लिए भगवान शंकर इहलोक में समस्त भौतिक सुखों के और परलोक में मोक्ष के दाता हैं। ऐसे देवों में महान् महादेव की अवज्ञा आपके द्वारा हो–यह आश्चर्यजनक है।"

"यही तुम्हारी भ्रान्ति है, राजन् ! भक्ति की भावना का आवेश तुम पर आच्छादित है। भावना पर विवेक का अंकुश भी अनिवार्य होता है। तभी मन यथार्थ के गंतव्य तक पहुँच पाता है। कोरी भावना तो नशे के समान है जो अयथार्थ में भी यथार्थ का ही आभास कराती रहती है। सत्याभास के घेरे से वाहर निकलकर सत्यान्वेषण के मार्ग पर चलोगे, तो राजन् ! तुम्हें ज्ञात होगा कि मनुष्य ही स्वयं अपने लिए मोक्षदाता हो सकता है। देवता तो स्वयं विकारों के अधीन रहते हैं। किसी से प्रेम तो किसी से वे घृणा करते हैं, किसी को वे करुणा का पात्र मानते हैं तो किसी अन्य को उनका कोपभाजन वनना पड़ता है। उनकी अपनी ईहाएँ-अपेक्षाएँ

"किन्तु भट्टमात्र ! योगी का ऐसा प्रयोजन हो कौन-सा सकता है।.... उसका क्या लक्ष्य हो सकता है....?"

महाराज के इस प्रश्न का भट्टमात्र क्या उत्तर देते ! यही कह सके– "महाराजेश्वर ! इसका रहस्य तो उचित समय आने पर स्वतः भी उद्घाटित हो जायेगा। इस समय कदाचित् कोई कल्पना भी सम्भव न होगी।"

यह गम्भीर चर्चा चल ही रही थी, ऊपर राजरानी कमलावती और रानी कलावती के कक्षों से हृदय विदारक चीखें सुनायी देनी लगीं। यह क्या हुआ? महाराज कुछ सोच भी न पा रहे थे कि तभी परिचारिका ने निवेदन किया– "महादेवी कमलावती और कलावती पर भारी संकट आ गया है, देव ! रक्षा करें.... महाराजश्री !...... उनकी रक्षा करें।"

भट्टमात्र ने पूछा–"बात क्या है, लीला ! तू घबराई हुई क्यों हैं? पूरी बात स्पष्ट करके बता। हुआ क्या है?"

दासी ने भय-कम्पित स्वरों में कहा–"कुछ ज्ञात नहीं होता, स्वामी ! किन्तु किसी अज्ञात कारण से दोनों महादेवियाँ अत्यन्त पीड़ित हैं। बार-बार कराह उठती हैं और रुदन कर रही हैं। अब तो वे अपनी पीठ सहलाने की स्थिति में भी नहीं रही हैं। बार-बार वे अपने हाथ पीछे को ले जाती हैं और....।"

"अच्छा.... अच्छा, तुम चलो, हम आ रहे हैं।"–महाराज ने कहा और पाँवों से ही टटोलकर पदत्राण धारण करते हुए वे उठ खड़े हुए। भट्टमात्र के साथ वे राजरानी के आवास में पहुँचे तो देखकर दंग रह गये कि वे तो प्रचण्ड आघातों की पीड़ा से जैसे तड़फ रही हैं। उनकी पीठ पर का वस्त्र स्वतः ही फट गया है और अनावृत पीठ पर नीले चिन्ह बन रहे हैं। कलावती रानी की दशा भी यही थी।

राजरानी ने रुदन-भरे स्वर में विनती की–"योगी पर होने वाले कोड़ों के प्रहारों को तुरन्त रुकवाइये, महाराज ! हम मर जायेंगी।"

स्थिति की कोमलता और गम्भीरता का आभास महाराज को तत्काल ही हो गया। वे रहस्य-भरी दृष्टि से महामात्य की ओर निहारने लगे। विलम्ब करने का अवसर न था। दोनों तुरन्त रथारूढ़ होकर शिवालय पहुँचे। वहाँ का दृश्य देखकर वे भी दंग रह गये। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची थी। क्रोधावेश में नायक कोड़े बरसाता जा रहा था और अवधूत पीठ ऊपर किये सर्वथा पीड़ा-निरपेक्ष भाव से शान्त-अचंचल बना उस मार को सहता जा रहा था। थककर चूर हो गया था नायक। क्षणेक विराम लेते हुए उसने तर्जनी से भाल पर छलछला आये स्वेद-कणों को एकत्र कर आँगन में एक ओर टपकाया और अपने तर-बतर अंगरखे की बाँह ऊपर करते हुए उसने कोड़ा उठाया ही था कि महाराज को सामने से आते देखकर रुक गया।

"ठहरो, नायक !...... ठहरो। अब हम योगी जी से बात करते हैं। महाराज संलाप के प्रयोजन से नीचे बैठे तो सहसा उनकी दृष्टि अवधूत की वस्त्रहीन पीठ पर पड़ी। इतने कोड़े सहने के पश्चात् भी उस पर कोई चिह्न नहीं था। इसका अर्थ यह है कि कोड़े योगी की पीठ पर पड़ अवश्य रहे हैं, किन्तु इनकी पीड़ा इसे नहीं; रानियों को हो रही है। नील भी इसी कारण उनकी पीठ पर जम रही है। यह अनुभव महाराज को चमत्कृत कर गया और योगी के पहुँचेपन का स्पष्ट आभास उन्हें होने लगा। सोचा–'यह साधारण संन्यासी नहीं; कोई सिद्ध योगी है। इसकी इस लीला का उद्देश्य भी कदाचित् कुछ ऐसा है कि हम स्वयं इनके समक्ष उपस्थित हों। कदाचित् ये कोई उपदेश हमें देना चाहते हों।' इस विचार ने महाराज का हृदय परिवर्तन कर दिया। उनके मन में योगी के प्रति सहज आदर उत्पन्न हो गया। विनीत स्वरों में उन्होंने वाचिक रूप में जब योगी को प्रणाम किया तो योगी ने पलकें खोलीं और शान्त भाव से, ममता के साथ वे महाराज को निहारते रह गये। कुछ क्षणोपरान्त बोले–"तो तुम आ गये, राजन् ! यह अच्छा ही हुआ। तुम्हें बुलाना हमारा ध्येय भी था।"

"आज्ञा देते, प्रभो ! मैं तो तुरन्त ही उपस्थित हो गया होता। आपने क्यों इतना....।"

"महाराज ! जगत् तो चमत्कार को ही नमस्कार करता है न ! सीधीसादी महिमा को मान्यता मिलती नहीं है।" व्यंग्य के साथ योगी ने सहज होते हुए कहा और उठ बैठे। उनके पॉव अब शिव-प्रतिमा की ओर नहीं रहे। बोले–"इसी कारण हमें यह सारा प्रपंच करना पड़ा। अब हमारा अभीष्ट पूर्ण होने में संदेह नहीं।"

"आपका अभीष्ट चाहे जो भी रहा हो, प्रभो ! किन्तु आप तो अवधूत योगी हैं–शिवशंकर भगवान आपके भी आराध्य हैं। फिर आपके द्वारा उनकी स्तुति ही आपसे अपेक्षित है। अपने भक्तों के लिए भगवान शंकर इहलोक में समस्त भौतिक सुखों के और परलोक में मोक्ष के दाता हैं। ऐसे देवों में महान् महादेव की अवज्ञा आपके द्वारा हो–यह आश्चर्यजनक है।"

"यही तुम्हारी भ्रान्ति है, राजन् ! भक्ति की भावना का आवेश तुम पर आच्छादित है। भावना पर विवेक का अंकुश भी अनिवार्य होता है। तभी मन यथार्थ के गंतव्य तक पहुँच पाता है। कोरी भावना तो नशे के समान है जो अयथार्थ में भी यथार्थ का ही आभास कराती रहती है। सत्याभास के घेरे से बाहर निकलकर सत्यान्वेषण के मार्ग पर चलोगे, तो राजन् ! तुम्हें ज्ञात होगा कि मनुष्य ही स्वयं अपने लिए मोक्षदाता हो सकता है। देवता तो स्वयं विकारों के अधीन रहते हैं। किसी से प्रेम तो किसी से वे घृणा करते हैं, किसी को वे करुणा का पात्र मानते हैं तो किसी अन्य को उनका कोपभाजन बनना पड़ता है। उनकी अपनी ईहाएँ-अपेक्षाएँ

भी होती हैं तो वे निर्विकार कैसे हो सकते हैं। मनुष्य की सुख-प्राप्ति उसके भाग्य पर निर्भर करती है। यही भाग्य कर्म का पर्याय है, राजा ! इसे भलीभाँति समझ लो। देवता तो निमित्त मात्र हो जाते हैं। जहाँ तक मोक्ष का सम्बन्ध है–वह व्यक्ति की परम पुरुषार्थ की साधना का प्रतिफल ही है। किसी भी अन्य के बस में उसका मोक्ष करना नहीं होता; चाहे कितना ही महान् वह क्यों न हो।"

योगी के इस मर्मस्पर्शी कथन ने महाराज के अन्तःचक्षुओं को खोल दिया। उन्हें एक नवालोक की अनुभूति होने लगी, किन्तु संस्कार-पुष्ट उनकी शिव-भक्ति यों सहसा तिरोहित हो जाय–सहज सम्भव नहीं था यह। इसी आवेश में उन्होंने प्रश्न किया–"शिव का अर्थ ही कल्याण है। भगवान शंकर मोक्ष-प्रदाता नहीं हैं–ऐसा योगीवर ! आप कैसे सिद्ध कर सकते हैं?"

"राजन्.... राजन् ! मैं भगवान शिवशंकर की ही बात नहीं करता। संसार की कोई भी सत्ता मनुष्य के मोक्षदाता होने का गौरव प्राप्त नहीं कर सकती। यह तो स्वयं मनुष्य ही है जो अपने अध्यवसाय से उत्थान करते-करते परमात्म पद की प्राप्ति कर लेता है और मोक्ष-लाभ का भागी हो जाता है। मनुष्य इस सृष्टि की श्रेष्ठतम् विभूति है, राजन् ! सर्वोत्कृष्ट और सर्वोच्च। रहा प्रश्न स्तुति का–सो स्तुति तो हम भी कर सकते हैं, करते हैं। देखो राजा, हमारी स्तुति-गान का प्रभाव, सावधान होकर देखो।" अब तक कमलावती और कलावती अन्य रानियों के संग वहाँ उपस्थित हो गयी थीं। कतिपय अन्य मंत्रीगण भी एकत्र हो गये थे। अवधूत योगी ने गम्भीर उच्च स्वरों में स्तुति-गान आरम्भ किया। वे अब करबद्ध मुद्रा में नयन मूँदकर खड़े हो गये। मन-ही-मन नमस्कार महामंत्र की तीन आवृत्तियों के पश्चात् वीतरागी जिनेश्वर की स्तुति का प्रथम छन्द उच्चारित किया।"कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि, भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रि पद्मम्....।"

समस्त महाकाल शिवालय परिसर में अद्भुत शान्ति व्याप्त हो गयी। योगी के स्तुति-गान का क्रम अग्रसर होता रहा और सातवें श्लोक के दौरान तक अनुभव होने लगा जैसे धरती कँपकँपा उठी है। आठवें श्लोक में शिव-प्रतिमा ही प्रकम्पित हो उठी। एकादश श्लोक पूर्ण हुए तो एक अद्भुत घटना हुई। शिवलिंग से धुआँ निकलने लगा और प्रतिमा उस धूम्र से आच्छादित हो गयी। स्तुति-गान अग्रसर होता रहा। कुछ ही क्षणों में धूम्र-आच्छादन विरल होने लगा और साथ ही शिव-प्रतिमा लुप्त हो गयी। सबके देखते-देखते भूगर्भ से पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा ऊपर को उठने लगी और वही शिव-स्थान पर स्थापित हो गयी। श्याम प्रस्तर की इस भव्य प्रतिमा के दर्शनों से सभी के मन में निर्विकारता और तज्जन्य गहन शान्ति व्याप्त होने लगी। आश्चर्य भाव के साथ सभी अपलक नयनों से यह अपूर्व दृश्य देखते रह गये। स्तुति का तेवीसवाँ श्लोक चल रहा था। अड़तालीस छंदों के पूर्ण होते-होते योगी ने अपनी पलकें उघाड़ीं। पार्श्वनाथ भगवान के पावन दर्शन से नयन शीतलता

का सुखानुभव करने लगे। शिवालय के पुजारी चिन्तित, आतंकित और विचलित हो गये। रानियों की पीठ में अब न कोई पीड़ा शेष रही थी और न ही कोई चिह्न। महाराज वीर विक्रम तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ से ताकते ही रह गये।

तभी योगी का सम्बोधन पाकर महाराज जैसे सोते-से सहसा जाग्रत हुए और उन्होंने करबद्ध रूप में प्रणाम किया। योगी ने कहा–"हमारे लिए तो वीतराग परमात्मा ही उपास्य हैं वह चाहे पार्श्वनाथ हों और चाहे शिव–हमारे लिए तो एक ही हैं। वैसे ये दोनों अभेद रूप में हैं। जो शिव हैं वे ही पार्श्वनाथ हैं। पार्श्वनाथ भगवान कल्याणकारी हैं–वे इस कारण शिव भी हैं। दोनों ही एकत्व के धारक हैं। इसी का प्रमाण है यह कि शिव-प्रतिमा में से पार्श्वनाथ प्रतिमा उदित हुई है। एक और भी अर्थ-भरी बात समझ लो, राजन् ! किसी भी प्रतिमा की पूजा, अर्चना, उपासना की कोई सार्थकता नहीं है। उससे मोक्ष सुलभ नहीं होता। मोक्ष का तो स्वयं मनुष्य की सुकर्म-शृंखला ही है। इस छलावे से मुक्त होकर आत्म-कल्याणोचित कर्म में जो प्रवृत्त हो गया तो उसकी लगन एक दिन अवश्य ही उसे मोक्ष-लाभ भी करा देगी। स्वयं भगवान पार्श्वनाथ ने भी साधारण जन की स्थिति से उठकर अपने उद्यम से परमात्म पद प्राप्त किया था। कभी तुम्हारे लाभार्थ इस प्रसंग की भी सविस्तार चर्चा करेंगे।"

महाराज विक्रमादित्य तो मंत्रमुग्ध-से यह सब-कुछ देखते-सुनते रह गये। उनके भीतर एक नयी चेतना विकसित होने लगी थी। वे कृतार्थ भाव से निवेदन करने लगे–"योगिराज ! यह मेरे शुभ कर्मों का उदय ही है कि आपका सान्निध्य लाभ हुआ और हमें सुज्ञान सुलभ हुआ। अब हम इस नव प्राप्त चेतना को विकसित करने में ही प्रवृत्त रहेंगे। हम तो इस सन्मार्ग दर्शन के लिए आपके अत्यन्त ऋणी हैं। आपश्री की वाणी भी अत्यन्त प्रभावशाली है। इस वाणी से हमें आभास होता है कि पूर्व में भी आपके दर्शन कहीं हो चुके हैं। क्या आत्म-परिचय प्रदान कर हमें अनुगृहीत नहीं करेंगे, देव !"

"अवश्य ...... अवश्य, राजन् ! साधु अपना कुछ भी गुप्त नहीं रखता। तुम्हारा अनुमान सत्य ही है कि पूर्व में भी हमारा सम्पर्क हुआ है। बारह वर्षों से भी अधिक का समय तब से अब तक व्यतीत हो गया .... हम चार श्लोक लेकर तुम्हारी सभा में आये थे। हमने ....।"

"ओ हो .... हो .... करुणानिधान ! आपने ही हमें पुनः कृतार्थ किया है। हम धन्य हो गये, गुरुवर्य ! आपने हमें नये मार्ग पर आरूढ़ कर उस पर गतिशील रहने की क्षमता और प्रेरणा प्रदान की है। यह अनुग्रह शाश्वत रूप में हमें सदा स्मरण रहेगा–आपके हम सदैव ऋणी रहेंगे, प्रभो ! किन्तु आपके व्यक्तित्व मे यह भारी अन्तर कैसे आ गया ?"

"राजन् ! आत्म-कल्याण की साधना के लिए यही लगन सर्वाधिक अपेक्षित रहती है। हमारा आशीर्वाद तुम्हारे साथ रहेगा। राजन् ! हम तो वे ही गुरुदेव वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन सूरि हैं। कठोरतम तप ने हमारे व्यक्तित्व को यह परिवर्तन अवश्य दे दिया है।" सिद्धसेन सूरि का कथन चल ही रहा था कि सहसा परिसर में आचार्य वृद्धवादी का जय-जयकार गूँज उठा। आचार्यश्री का भी सुयोगवश अवन्ती में पदार्पण हुआ था। गुरु-शिष्य का दीर्घ अन्तराल के अनन्तर यह मिलन बड़ा आनन्ददायी रहा। शिष्य के हृदय में तो उत्साह लहरा उठा। श्री सिद्धसेन दिवाकर श्रद्धाभिभूत होकर शिवालय से बाहर आये। गुरुदेव के दर्शनों से उनके नयन निहाल हो उठे। नरेश और अन्य जन भी अनुसरण करते परिसर में पहुँच गये थे। गुरुवर्य्र के चरण स्पर्श कर सिद्धसेन शान्त भाव से करबद्ध रूप में खड़े हो गये। प्रसन्नचित्त गुरुदेव ने उस विशाल जनसमूह की साक्षी में सिद्धसेन को अपने पट्ट-शिष्य रूप में पुनः स्वीकार किया और अपना आशीर्वाद देते हुए प्रशंसा की कि उन्होंने बड़ी निष्ठा और सफलता के साथ कठिन प्रायश्चित्त पूर्ण कर लिया है। अब वे पुनः पावन और निर्दोष हो गये हैं। यथासमय ही गुरुदेव ने अवन्ती से विहार किया। सिद्धसेन दिवाकर जी का प्रवास अवन्ती में अभी शेष था। वे अवन्तीवासियों के लिए असीम श्रद्धा के पात्र हो गये थे। पार्श्वनाथ भगवान की जय-जयकार होने लगी।

●●

श्री सिद्धसेन सूरि ने प्रायश्चित्तस्वरूप बारह वर्षों का तप गुप्तवास में रहकर सम्पन्न किया। उन्हें आत्मिक तेज की अनुभूति होने लगी थी। उनका तन तो कृश हो गया, किन्तु मन निर्मल–उज्ज्वल हो गया। वचन की अब बारी आ गयी थी। तपश्चर्या के अनन्तर उन्हें नरेश को प्रबोधित करना था। महाकाल शिवालय में अवन्ती-नरेश को उन्होंने भगवान शिव और भगवान पार्श्वनाथ की अभेद स्थिति का ज्ञान कराया और जैनधर्म में मनुष्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा-सम्वन्धी प्रवोधन दिया। यही क्रम आगे वढ़ता रहा।

महाकाल शिवालय के परिसर में ही विशाल धर्मसभा जुड़ी। एक उच्चासन पर विराजित सन्त के चरणों में नरेश वीर विक्रम, राजरानी कमलावती, रानी कलावती, देवदमनी, लीलावती आदि अन्य रानियाँ और राज-परिवार के अन्य स्वजन-परिजन, अमात्यगण, सामन्त जन, श्रेष्ठी जन और नगरवासियों का उत्सुक जन-समूह एकत्र था। सारे वातावरण में पुष्प-सौरभ की भाँति एक पावनता व्याप्त

थी। नयन मूँदे सन्त महामंत्र का जाप करते हुए अत्यन्त सौम्य–शान्त, देवदूत-से प्रतीत होते थे। जाप-समापन पर हौले-से उन्होंने पलकें खोलीं और उनके अधरों पर एक मोहिनी मुस्कान फैल गयी। तभी गुरुदेव के जय-जयकार से सारा उद्यान गुंजित हो उठा। गुरुदेव ने हाथ उठाकर, मुख सभी ओर घुमाकर सभी श्रद्धालुओं को आशीर्वाद प्रदान किया। "सभी का कल्याण हो.... सभी धर्म-लाभ करें.... सर्व मंगल-मांगल्य हो.... !!"

उपस्थित जन-समुदाय ने शीश झुकाकर वन्दन किया। सारी सभी में सहसा अटल शान्ति छा गयी। श्री सिद्धसेन सूरि जी ने प्रवचन आरम्भ किया–

अवन्ती-नरेश ! आपकी इस राजधानी का नाम अतीत में कभी उज्जयिनी भी था। इसके अवन्ती नामकरण के पीछे भी एक कथा है। आज मैं उसी कथा पर चर्चा करूँगा। ध्यान से श्रवण करें–

राजन् ! आपके पिताश्री महाराज गन्धर्वसेन ने उज्जयिनी की राजकुल-परम्परा में अतीव यशार्जन किया। अपने वंशोचित प्रजावत्सलता और न्यायशीलता के साथ शासन किया और अपार-अपार यशार्जन किया। आरम्भ से ही यह नगर अपने धर्मात्मा निवासियों के लिए विख्यात रहा है। महाराज गंधर्वसेन के राज्यत्व काल से बहुत पूर्व का प्रसंग है–उज्जयिनी में एक धर्मचेता श्रमणोपासिका रहा करती थी–भद्रा नाम था उसका। साधु-सन्तों की सेवा में उसे बड़ा सुख अनुभव हुआ करता था। अपार-अपार धन-वैभव भद्रा के चरणों में समर्पित रहता था। पति की अकाल मृत्यु ही उसके जीवन में एक अत्यन्त दुःखद घटना रही। इसके अतिरिक्त अन्य कोई वेदना, कोई समस्या कभी न रही। सुख-सुविधाओं की बहुलता से घिरी रहने वाली इस समृद्ध महिला में कभी व्यर्थ का दंभ न आया। उसके जीवन का एक मात्र आधार उसका इकलौता पुत्र अवन्ती सुकुमाल ही था। उस पर माता भद्रा के मन का सम्पूर्ण ममता और वात्सल्य भाव न्योछावर रहता था। उसकी मुख-छवि का दर्शन कर उसके चित्त में अगाध शान्ति व्याप्त रहती। उसका मुखचन्द्र तो जननी के हृदय-सरोवर में स्नेह-ज्वार उमड़ाता रहता था। माँ तो एक क्षण का विछोह भी सहन नहीं कर पाती थी। अवन्ती सुकुमाल अत्यन्त कमनीय और सुकुमार था। स्निग्ध ऐसा कि जैसे स्फटिक प्रतिमा हो और कोमल ऐसा कि जैसे नव-विकसित अरविन्द हो। सूती वस्त्रों से तन के छिल जाने के भय से उसे सदा रेशमी सच्चिकन वस्त्र पहनाये जाते। सीपियों की-सी पलको के नीचे वड़े-वड़े भावपूर्ण नेत्र उसकी समस्त सुन्दरता के जैसे केन्द्र ही वने रहते थे। पलकें जव त्वरा के साथ झपकतीं तो लगता कि मानो भ्रमर अपनी काली पॉखें फड़फड़ाकर उड़ने का उपक्रम कर रहे हों। भवन की सारी वीथियाँ और सोपान तक मखमल से आवृत रहते थे कि अवन्ती सुकुमाल के

कोमल चरणों को कठोर भू-स्पर्श से कष्ट न हो। पाटल-पुष्पों की माला भी उसे धारण कराने में माँ भद्रा को संकोच रहता था कि कहीं उसके भार से पुत्र की ग्रीवा में पीड़ा न हो। अगरू-धूम्र से उसके नेत्रों में पीड़ा होने लगती थी तो इत्र की मनमोहक गंध उसे जुकाम कर देती थी। ऐसे सुकुमार पुत्र पर माँ सौ-सौ प्राणों से न्योछावर जाती थी। उसे तनिक-सी खाँसी भी आ जाती तो माँ का समग्र अन्तर दुःखित–चिन्तित हो उठता और वह वैद्यों की पंक्ति ही लगा देती।

धर्माराधना और धर्म-सेवा में माँ भद्रा की बड़ी ही लगन रहा करती थी। साधु-सेवा का कोई अवसर वह अकारथ न जाने देती थी। साधु-दर्शन उसके जीवन में सबसे बड़ा सुख ले आता था। स्व-श्रम सहित वह श्रमणों की सेवा करती और इसमें अपने जीवन की सार्थकता मानती थी। भवन के दूसरे तल्ले के वातायन में खड़ी वह मुनि जनों के पवित्र एवं कष्टपूर्ण जीवनचर्या का चिन्तन कर ही रही थी कि उसे नीचे उद्यान में दो साधुओं के दर्शन हुए। अपने भाग्य को मन-ही-मन सराहते हुए उत्साहपूर्वक नीचे उतरी और मुख्य द्वार पर आ गयी। तब तक साधु भी द्वार तक पहुँच गये। श्रद्धा भाव से मुनि जन का वन्दन–अभिनन्दन कर भद्रा ने आहार ग्रहण कर उपकृत करने को निवेदन किया। वह तत्परता के साथ भवन के भीतर जाने को हुई ही थी कि मुनियों ने हाथ हिलाते हुए निषेध किया। "महाराज ! क्या मैं इतनी हतभागिनी हूँ कि यह सेवा भी आप स्वीकार न करेंगे?"–भद्रा रुआँसी हो उठी।

"शान्त हो.... शान्त हो, शुभे ! ऐसा कुछ भी नहीं है। तुम व्यर्थ में ही दुःखी हो रही हो।"–एक मुनि ने शान्ति के साथ कहा। तभी अन्य मुनि मुखरित हुए– "हमारा प्रयोजन कुछ अन्य ही है–इस समय। हम गोचरी के लिए नहीं आये हैं। हमारा प्रयोजन तो किसी शान्त और निरापद स्थल की खोज का है।"

भद्रा कुछ समझ न सकी। वह कुछ पूछने को हुई और मुख जो खुला तो खुला ही रह गया। उसके नयनों में अनेक प्रश्न आने-जाने लगे। इस मानसिक विभ्रम की स्थिति का अनुमान कर एक मुनि जी ने कुछ विस्तार से समझाना आवश्यक समझकर कहा–"कल्याणी ! तनिक सुनो। तुम तो श्रद्धालु श्राविका हो। तुमने भगवान महावीर स्वामी के दसवें पट्टधर आचार्य सुहस्ति की कीर्ति तो अवश्य सुनी होगी। हम उन्हीं आचार्यश्री के शिष्य हैं। शत-शत साधुजन आचार्यश्री के मार्गदर्शन मे धर्म-साधना करते हैं। आचार्य श्री सुहस्ति महाराज का उज्जयिनी में पदार्पण हुआ है। तात्कालिक रूप में तो नगर-वाह्य उद्यान में विश्राम कर रहे हैं, किन्तु किसी समुचित स्थल की अपेक्षा है। आचार्यश्री ने ऐसे उपयुक्त स्थल की खोज में ही हमें नगर-भ्रमण का आदेश दिया है। हमने प्रयत्न तो किये हैं, किन्तु अभी तक सफलता हाथ नहीं लगी है।"

"भगवन् ! इस सेविका को आदेश प्रदान करें। मैं यह सेवा करने को उत्सुक हूँ। अहोभाग्य मेरा कि···· ।" अति उत्साहित भद्रा ने सविनय निवेदन किया।

"भद्रे ! हमें स्वच्छ और शान्त स्थल की आवश्यकता है जो तनिक एकान्त में भी हो और जिसका परिवेश भी अनुकूल हो।"

"भगवन् ! ऐसा ही स्थल है। मैं परिचित भी हूँ कि इस प्रयोजन से किस प्रकार का स्थान उपयुक्त रहता है। मेरा नव-निर्मित अतिथि-गृह प्रस्तुत है, महाराज ! मुझे कृतार्थ कीजिये। मैं आचार्यश्री की इस सेवा से धन्य हो जाऊँगी। मैं आपको 'ना' नहीं करने दूँगी।"–स्नेहमयी अधिकारपूर्णता के साथ भद्रा ने कहा–"सन्त-महन्तों के चरणों से मेरा भवन पवित्र हो जाय–यह कम सौभाग्य की बात तो नहीं है। आचार्यश्री की सेवा का सुयोग भला कोई यों हाथों से जाने देगा। महाराज ! आपको मेरा अतिथि-गृह ही चुनना होगा। बड़ा निर्बाध स्थान है। आप तो सभी को लेकर आ पहुँचें। मैं शीघ्रता से स्वच्छता आदि की व्यवस्था करवा देती हूँ।" सद्भाग्य के उत्साह में भद्रा बोलती चली जा रही थी। उसे विराम देना भी अपेक्षित था और प्रत्यक्ष देखे बिना स्थल को स्वीकृत करना भी उपयुक्त न था।

मुनि जी ने सहज मुद्रा में ही कहा–"किन्तु भद्रे ! हम तुम्हारी अतिथिशाला से परिचित नही हैं न····।"

"निरीक्षण करें, भगवन् ! स्वयं देखकर संतुष्ट हो लें।" भद्रा ने साड़ी के पल्लू से बँधे कुंजियों के छल्ले को झनझनाया और एक ओर को चली। मुनि जन ने अनुसरण किया। स्थल तो अपेक्षाओं से कई गुना अधिक उपयुक्त निकला। न कोई प्रश्न ही शेष रहा। आचार्यश्री अपने संघ सहित भद्रा के अतिथि-गृह में आ गये। श्रमणोचित साधनाएँ उस शान्तैकान्त स्थल में सुचारु रूप से आरम्भ हो गयीं। एक पावन वातावरण निर्मित हो गया।

अतिथि-गृह से सटे भद्रा के भव्य भवन के एक ऊपरी तल्ले पर अवन्ती सुकुमाल का आवास था। अपनी युवा, सुन्दरी बत्तीस पत्नियों के संग उसका अनुरागमय जीवन चल रहा था। पिता के व्यवसाय को भी वह बड़े कौशल के साथ विस्तृत–विकसित करता जा रहा था। धन से धन बढ़ता जा रहा था। माँ अपने पुत्र के सुखमय जीवन से बड़ी संतुष्ट थी। पत्नियों के हर्ष की तो कोई सीमा ही नही थी। वे अपने भाग्य पर इठलाती रहती थीं। सुकुमाल की भोग्या होने में उन्हे गर्व था। विकारहीन और सर्वथा पावन प्रीति के बन्धन में ये पति-पत्नियाँ आबद्ध थीं। अभी तक तो अवन्ती सुकुमाल प्रेम-यौवन और सौन्दर्य के सिन्धु में ही सुखद निमग्नता में खोया था, किन्तु जब से श्रमण-संघ अतिथि-गृह में आया था उसके मन के तट को अध्यात्म की लहरियाँ भी आकर स्पर्श करने लगीं। ७५८ ⁓ की वाणी ऊपर तक आ जाया करती थी, आचार्यश्री के प्रवचनों पर वह

देने लगा। उसका चित्त एक नवीन मोड़ पर आ गया था। श्री सिद्धसेन सूरि का कथा-प्रवाह एक क्षण को विराम लेकर श्रोताओं को आगामी क्रम का अनुमान कराने लगा। समस्त उपस्थिति की एकाग्रता और बढ़ गयी।

सूरि जी ने अपनी कथा को पुनः आरम्भ किया—और हाँ, एक दिन ऐसा ही हुआ। अपनी कुछ प्रियाओं के संग अवन्ती सुकुमाल प्रेमालाप कर रहा था। कोमल शय्या पर वह अर्द्ध-शयनावस्था में विश्राम ही कर रहा था कि वातायन से एक स्पष्ट और ऊर्ध्व स्वर आने लगा। कुछ ही क्षणों में कथन की सामग्री भी उसे समझ आने लगी और वह तुरन्त उठ बैठा। ध्यान से सुनने का प्रयत्न करते हुए सुकुमाल ने अपनी हथेली फैलाकर पंजा कान के पीछे खड़ा कर लिया कि स्वर-तरंगें पूरी-की-पूरी उसके कानों में प्रवेश कर जायें। कोई शब्द अनसुना न रह जाय। प्रेयसियों को सुकुमाल के इस प्रकार रस लेने में आशंकाएँ त्रस्त करने लगीं। कहीं ···· ये ···· । उन्होंने अपने पतिदेव का ध्यान बँटाने के प्रयोजन से उसे बातों में लगाना चाहा, किन्तु सुकुमाल ने हाथ से संकेत कर मौन रह जाने का निर्देश दिया। जब व्यवधान न हटता दिखायी दिया तो दोनों पंजों को हवा में लहराते हुए उसने पत्नियों को वहाँ से चले जाने को कहा। अब तो सुकुमाल का कक्ष रिक्त हो गया। वह था और आचार्यश्री की वाणी ···· बस।

उसे अनुभव होने लगा कि आचार्यश्री तो नलिनीगुल्म विमान का वर्णन कर रहे हैं। जिन सुखों का विवेचन किया जा रहा है, वह तो स्वयं उनका प्रत्यक्ष उपभोग कर चुका है। अवन्ती सुकुमाल को तो आचार्यश्री के इस पाठ में बड़ा ही आनन्द आ रहा था और इसके अतिरेक में वह झूम-झूम उठा। पाठ-समापन पर आचार्यश्री सुहस्ति महाराज ने विराम लिया और तत्काल ही सुकुमाल तो उठ बैठा और सोपान-श्रेणियों पार करता हुआ नीचे आकर सीधा आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित हुआ। वन्दन-नमन कर उसने सादर निवेदन किया—

"आचार्यश्री ! आपश्री के ऊर्ध्व स्वर में किये गये नलिनीगुल्म विमान विषयक पाठ का श्रवण किया और मेरा तो जैसे आन्तरिक तृतीय नेत्र ही खुल गया। मुझे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, प्रभो ! पाठ में वर्णित सभी दुर्लभ सुखों की प्राप्ति मैं नलिनीगुल्म विमान में स्वयं कर चुका हूँ—यह आभास मुझे अभी-अभी पाठ को सुनते-सुनते हो गया। मैं अपने इस भव में उसी विमान से अवतिरत हुआ हूँ, गुरुवर्य !" आचार्य सुहस्ति महाराज चकित मुद्रा में सुकुमाल का कथन सुनते रहे। गुरुदेव के कुछ और समीप खिसकते हुए उसने कहा—"प्रभो ! मेरी कामना है कि मैं पुनः उन सुखों को प्राप्त करूँ। आपका आशीर्वाद—आपके पथ-प्रदर्शन के लिए मेरी विनय है। करुणा कीजिये, दया-सागर ! आपश्री के आश्रय के अतिरिक्त मेरे लिए अन्य कोई ठौर नहीं।" सुकुमाल ने आचार्यश्री के पावन श्रीचरणों में मस्तक टिका दिया।

"मंगल हो, वत्स ! कल्याण हो तुम्हारा ! हम तुम्हारी इस कामना से प्रसन्न हैं। प्रसन्न है हम यह जानकर कि तुमने आत्मिक उत्थान का निश्चय किया है। किन्तु.... किन्तु भद्रा-सुवन ! सुनो....।" आचार्य सुहस्ति महाराज ने गम्भीरता-पूर्वक कहा—"किन्तु इसके लिए तुम्हें संयम ग्रहण करना होगा और....।"

– "मुझे स्वीकार है, प्रभो ! स्वीकार है—मैं संयम ग्रहण करूँगा।"

– "यही तो जटिलता है। हमें लगता नहीं कि तुम संयम के कठिन पथ के पथिक हो सकोगे। अपार सुख-वैभव में उत्पन्न और पले-बढ़े हो। घोर तप तुम्हारे वश का न होगा, पुत्र ! इतनी कोमल देह और ऐसा कठोर मार्ग....। बीच राह में यात्रा स्थगित करने से उत्तम तो यही है कि यात्रा का समारंभ ही न किया जाये।"

"गुरुवर्य ! आपने मेरा कोमल गात्र ही देखा है। इसमें बसे सुदृढ़ मन की झलक न पाकर ही आपकी मान्यता इस प्रकार की हो गयी है, प्रभो ! संकल्प की अडिगता का विश्वासी आपका यह वत्स चरम और परम लक्ष्य का आराधक अपने पूर्वभव में भी रह चुका है। प्रभाव यह कि मैंने नलिनीगुल्म में देवभव की उपलब्धि की है। मेरे भीतर, सुकुमाल के अन्तर में वही सुदृढ़ता है—वही संकल्प-समृद्ध आत्मा है, प्रभो ! मुझ पर विश्वास कीजिए, करुणावतार !.... मुझे अपने आश्रय में ले लीजिये, प्रभु !.... मेरा कल्याण आपश्री के लिए परम संभाव्य है—आपके अपार सामर्थ्य का रंच मात्र-सा अंश मेरे लिए भी रख लीजिए। मुझे दीक्षा प्रदान कीजिए.... मुझे दीक्षा....।" अवन्ती सुकुमाल अपने कथन की सम्पूर्ति करते-करते भाव-विभोर हो उठा और उसके नयन आर्द्र हो गये, कण्ठावरोध भी होने लगा। निश्चय ही सुकुमाल की सुदृढ़ मनोबलता का परिचय मिलने लगा था, किन्तु यह लक्ष्य की लालसा का परिणाम भी हो सकता है। सुदृढता तो साधना के प्रति होनी चाहिए।

आचार्यश्री को इसमें आशंका रही। उन्होंने सतर्क किया—"अवन्ती सुकुमाल ! अच्छी प्रकार से समझ लो। साधना तो अंगारों पर की यात्रा हुआ करती है। तुम चल सकोगे शोलों पर? कठोर तप के दौरान अनेक़ परीषहों को सहना होगा। तुम्हारा प्रसूनवत् तन कुम्हला तो न जायेगा? शीत, आतप, वर्षा की झड़ी, आँधी-तूफान तुम्हारे धैर्य और साहस के, सहिष्णुता के परीक्षक होंगे। डगमगाकर तुम्हारा व्रत कही तुम्हारा सग तो न छोड़ देगा? साधना मधुर कौर नही होती जो रसदात्री हो। यह तो भूख-प्यास का अनन्त प्रतीत होने वाला क्रम है। इसका अन्त जितना मधुर फलदायी होता है उतना ही कंटकाकीर्ण इसका मार्ग है। इसी से हम कहते हैं, वत्स ! तुम इस मार्ग के लिए नहीं बने हो और न ही यह मार्ग तुम-जैसे

सुकुमारों के लिए है। पुनः हम कहते हैं—यात्रारंभ के पूर्व स्वयं अपने को टटोल लो। क्या इस दुस्तर मार्ग की यात्रा की क्षमताएँ हैं तुममें····? पंछी भी उड़ने से पूर्व अपने पंखों को तोल लेता है न !"

आचार्य श्री सुंहस्ति महाराज ने बार-बार सुकुमाल को सचेत किया और सुकुमाल का निश्चय भी दृढ़ से दृढ़तर होता चला गया। उसने निवेदन किया—"गुरुवर्य ! मेरे अनुरोध को स्वीकारिये। मुझे मार्ग बताइये, मुझे अपनी शरण की शक्ति प्रदान कीजिये। मैं यात्रारंभ करने का अभिलाषी हूँ और गंतव्य तक पहुँचने पर ही दम लूँगा—मार्ग में भटकना मेरा स्वभाव नहीं। बाधाओं को पराजित करना मेरा चरित्र और सहिष्णुता मेरा धर्म है। इसीलिए साधना मेरे लिए उचित कर्म है। मुझे प्रव्रज्या प्रदान कीजिए, प्रभो !"

आचार्य सुहस्ति महाराज सुकुमाल के उच्च्य मनोबल और सांकल्पिक दृढता से आश्वस्त हुए। बोले—"वत्स सुकुमाल ! तुम साधना-पथ के पथिक बनना ही चाहते हो तो अवश्य बनो। मेरी आशिष तुम्हारे संग रहेगी, किन्तु दीक्षा-प्राप्ति के लिए कतिपय अनिवार्यताएँ भी हैं। तुम्हें पहले अपनी माता एवं पत्नियों से इस हेतु अनुमति प्राप्त करनी होगी। उसके पश्चात् ही आगामी क्रम संभव होगा।"

सुकुमाल अपने भवन में गया। अपनी माता के सम्मुख पहुँचकर एक बार तो वह मौन ही रह गया। फिर माँ की सारी ममता को एक ओर रखकर उसने दृढ़तापूर्वक कहा—"माँ !···· मैं प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ···· मैं संयम ग्रहण करूँगा। आशीर्वाद दो, माँ !···· मैं इस आध्यात्मिक यात्रा में सफल रहूँ।" माँ तो उसके मात्र आरम्भिक शब्दों को सुनकर ही अचेत हो गयी। उसकी ममता पर आघात हुआ और वह मर्माहत हो उठी थी। माँ की अनुमति अधर में ही रह गयी।

तब सुकुमाल अपनी पत्नियों के पास गया। सुन्दरी प्रेयसियो ने पति की वाते सुनीं और कड़वी ककड़ी की भाँति इस अप्रिय प्रसंग को अग्राह्य मान लिया। अनुमति देने के स्थान पर वे तो तर्क करने लगीं। उन्होंने सुकुमाल के इस विचार को ही व्यर्थ और मिथ्या सिद्ध करने का जी-तोड़ प्रयत्न किया—"यह यौवन अनुरक्ति के लिए··· विरक्ति के लिए वार्धक्य तो दूर भविष्य में कहीं होगा। जगत् मे आये हैं तो आओ संग-संग जगत् का आनन्द लें। फिर तो यह सव है ही। असमय में तो शुभ और मंगलमय भी अमांगलिक हो जाता है।" प्रेयसी पत्नियाँ उसे अपना विचार त्याग देने को प्रेरित करने लगीं। इन विपरीत परिस्थितियों से भी सुकुमाल विचलित न हुआ। अपने तर्कों से भी उसने पत्नियों को सहमत करने का पर्याप्त प्रयत्न किया, किन्तु जो जागते हुए भी हठपूर्वक सोये होने का वहाना करे, उसे जगाना कठिन है। उनके दुराग्रह को अपराजेय मानकर अवन्ती सुकुमाल ने पत्थर को सींचना छोडने में ही सार्थकता अनुभव की और वहाँ से चला आया।

अनुमति का अभाव भी उसे निराश न कर पाया। उसने स्वतः ही केशलुंचन कर लिया और श्रमणोचित श्वेत वस्त्रों में आवृत होकर पुनः आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित हो गया।

सुकुमाल के बार-बार के अनुरोध पर आचार्य सुहस्ति महाराज ने उसे भागवती दीक्षा प्रदान कर दी। उसे अपने आशीर्वचनों से भी उपकृत किया–"तेरी साधना सफल हो। तेरी दृढता कभी तेरा संग न त्यागे।"

साधना का लम्बा और अपेक्षाकृत सुगम मार्ग सुकुमाल मुनि को संभव न लगा–अपने लिए, तो उन्होंने अधिक प्रचण्ड और कठिन मार्ग को अपनाने का निश्चय किया जो इतना दीर्घ न होकर छोटा हो। उन्होंने आमरण अनशनपूर्वक ध्यानलीन रहने का निश्चय कर तदर्थ गुरुदेव से अनुमति चाही। गुरुदेव ने सहर्ष अपनी अनुमति प्रदान भी कर दी। वे शुभ कर्म को आरम्भ करने में विलम्ब करने के अभ्यासी न थे। तत्काल उन्होंने अन्न-जल को तिलांजलि दे दी और उज्जयिनी त्यागकर दूर घने वनों में पहुँचे और एक उपयुक्त स्थल का चयन कर ध्यान-साधना आरम्भ कर दी।

मुनि सुकुमाल दैहिक कोमलता को भी नकार तो न सकते थे। वनमार्ग में उन्हें अनेक कष्ट हुए, जिन्हें उन्होंने बिना किसी मानसिक प्रभाव के सह लिया। पाँवों में काँटों का जाल बन गया। गड़-गड़कर टूटते गये काँटे भीतर-ही-भीतर सालते। पैने पत्थरों से कट-छिलकर लहूलुहान हो गये उनके पैर, किन्तु वे रुके नहीं, थकान का भाव उन्होंने मन में न आने दिया। प्रचण्ड ग्रीष्म में वे पसीना-पसीना हो गये। वे फिर भी बढ़ते रहे। आहत चरणों से रक्त-स्राव होने लगा। उन्हें इसका आभास भी नहीं हुआ। पगडण्डियों पर उनके पीछे-पीछे रक्त बिन्दुओं की एक मोटी रेखा-सी बन गयी। ऊर्ध्व लक्ष्य का साधक छोटी-छोटी कठिनाइयों पर ध्यान भी नहीं दे पाता है। उसका सारा ध्यान तो लक्ष्य पर ही केन्द्रित रहता है। उस हरित वृक्ष के तले पहुँचकर जो वे ध्यान-मग्न हुए तो बाह्य जगत् से उनका नाता ही जैसे विच्छिन्न हो गया था। वे तो आन्तरिक जगत् के विहारी हो गये। ध्यान में अचल और अडिग रूप में वे प्रतिमावत् खड़े थे।

वनखण्ड में एक शृगाली अपने शावकों के साथ आहार की खोज में भटक रही थी। स्वयं भी वह भूखी थी और उसे तो अपने शावकों की भूख की पीड़ा अधिक त्रस्त कर रही थी। शावक भी उछलते-कूदते उसके संग-संग चले आ रहे थे। कोई शावक पीछे-से दौड़कर आगे बढ जाता तो कोई माँ की परिक्रमा कर लेता। कोई अन्य शावक से क्रीड़ा करते-करते ही आगे वढ़ता तो कोई वीच-वीच में माँ शृगाली से लिपटने का असफल प्रयास करता हुआ अपनी भूख का आभास कराने की चेष्टा करता। तभी शृगाली को सहसा पंथ मे रक्त की गंध आयी। नासिका के विशेष योग से वह भूतल पर खोज करने लगी। शावकों ने भी उसका

अनुसरण किया। आगे निकल गया एक शावक जब मिट्टी चाटता दिखायी दिया तो अपनी गति को सहसा तीव्र कर श्रृगाली वहाँ पहुँची। पाया कि रक्त की बूँदों की पंक्ति आगे चली जा रही है। मन में आशा का एक भाव उदित हुआ। वह उस पंक्ति का अनुसरण करती हुई शावकों को साथ लिए आगे बढ़ती रही। खाद्य की उपलब्धि का विश्वास उसके लिए प्रेरक हो गया था। सारा श्रम ही आहार-प्राप्ति के लिए ही होता है पशुओं का। उदर-पूर्ति पर तो वे निश्चेष्ट होकर सो जाते हैं।

मुनि सुकुमाल तो अब तक गहन ध्यान में लीन हो गये थे। तीव्र पवन वृक्ष की कँटीली शाखाओं को आन्दोलित करता रहा। शाखाएँ मुनि जी के कोमल गात से टकराकर उसे रक्तरंजित करती रहीं। बाहर की इन घटनाओं का वोध भी उन्हें न था। आत्म-रक्षा के प्रयत्न का तो कोई प्रश्न ही न था। श्रृगाली अपने अनुमान का सत्य पाकर प्रसन्न हो गयी। कुछ दूरी से ही मुनि जी को देखकर वह ठिठककर खडी हो गयी और हूकू.... हूकू.... की ध्वनि करने लगी। मुनि जी की ओर से कोई प्रतिक्रिया न पाकर वह निरापदता से आश्वस्त हो गयी। एक बार अपने शावकों पर स्नेह-भरी दृष्टि डालकर वह लपककर आगे बढ़ी, शावक भी उछले। सभी के मन में उत्साह लहराने लगा। ये भूखे पशु मुनि सुकुमाल के रक्तरंजित पैरों को अपनी जीभ निकालकर चाटने लगे और यह आस्वादन उन्हें बड़ा तृप्तिकर और आनन्दप्रद प्रतीत होने लगा। कुछ ही क्षणों में अपने शावकों को सुविधा देती हुई श्रृगाली पीछे हट गयी और अपनी जीभ होठों पर फिराने लगी। पूँछ हिला-हिलाकर वह मन की उमंग और पेट की भूख को व्यक्त करने लगी। शावकगण तो मुनि जी के पैरों को चाटते-चाटते कभी एड़ियों में दाँत गड़ाकर नवीन खाद्य प्राप्त करने लगे। भारी मात्रा में रक्तस्राव होने लगा। पीड़ाजनक तो यह था ही, निश्चित रूप से था, किन्तु पीड़ा उन्हें होती है, जिन्हें प्रहार का भान हो। वे तो इससे अवोध, अनभिज्ञ वने हुए थे। मुनि जी की साधना में कोई व्यवधान न आया। उनके शान्त मनःसरोवर में कोई तरंग भी न उठी। भूखी श्रृगाली ने उछलकर उनकी पिंडली को पकड लिया। देखते-ही-देखते उसने मुनि सुकुमाल की दोनों पिंडलियाँ माँसरहित कर दी। शावक भी उछल-उछलकर अपना कद वढ़ाने का प्रयत्न करते और खाद्य-प्राप्ति की चेष्टा में सफल होकर उत्साहित होने लगे। पैरों के दोनो पंजे जव क्षत-विक्षत होकर कोरी हड्डियों के ढाँचे रह गये तो देह के भार को सँभाल न सके और सहसा मुनि जी धरती पर आ रहे। अव तो शावकों को भी सुविधा होने लगी। सभी ने भोज का आनन्द लिया। श्रृगाली तो खींच-खींचकर माँस नोचने लगी। कायोत्सर्ग में लीन मुनि सुकुमाल का ध्यान यथावत् अविचल रहा। उस वन-खण्ड के एकान्त मे मानव उपलव्धि का नवीन इतिहास रचा जा रहा था। साधना प्रसंग के नायक मुनि सुकुमाल धीर-प्रशान्त मुद्रा में अपना नायकत्व सिद्ध करते रहे। उपलव्ध खाद्य मे तृप्त होकर जव श्रृगाली और शावक संतुष्ट होकर खडे रह गये और अपने इम श्रम को निरस्त करने के लिए ऊपर को मुख कर जमुहाई लेने की मुद्रा में चेष्टा

करने लगे तो लगता था, मानो वे इस खाद्य-प्राप्ति के लिए ऊपर वाले का धन्यवाद कर रहे हों। शृगाली ने एक बार मुनिराज के विक्षत तन की ओर निहारा जो अस्थि की ठठरी ही शेष रह गया था और तब वह वहाँ से लौट गयी। शावकों ने भी उसका अनुगमन किया। उस वन-प्रान्त में पुनः पूर्ववत् घोर शान्ति व्याप्त हो गयी। ज्यों-ज्यों शृगाली उनके कोमल तन का माँस नोचती जाती, मुनि जी का मन उसके उपकार से भरता जा रहा था। साधना में प्राप्त इस सहकार के लिए उनका मन शृगाली का ऋणी हो गया था। शृगाली के प्रत्येक प्रहार के साथ वे आध्यात्मिक उत्थान की नव-नवीन ऊँचाइयाँ प्राप्त करते रहे। परीषहकारी तत्त्वों के प्रति भी समता का भाव रहे तो इससे साधक के लिए सफलता के सोपान सुलभ होते ही चले जाते हैं। वे एक के अनन्तर एक सोपान को पदगत करते हुए सोपान-श्रेणी के शीर्ष को स्पर्श कर गये।

यह मनुष्य के परम उत्थान की अवस्था थी, जिसे मुनि सुकुमाल ने स्वयं ही अपने लिए, अपने अध्यवसाय से सुलभ कर लिया था। मुनि ने इस [illegible] देह का त्याग किया और वे नलिनीगुल्म-विमान में देव बने।

मुनि सिद्धसेन सूरि सुकुमाल-साधना की गाथा का गान करते रहे और [illegible] श्रोताजन भाव-विभोर होकर इस महान् कारुणिक प्रसंग और [illegible] के [illegible] पराक्रम का दृष्टान्त सुनकर अश्रुपात करते रहे–ये आनन्दानुभूति के [illegible] थे। मुनि सुकुमाल के जय-जयकार के अनन्तर उन्होंने [illegible] को [illegible]–

निवास था। उसकी इसी स्थिरचित्तता ने उसे गौरव प्रदान किया है। पुत्र की यह महान् सफलता माता के शीश को उन्नत करने वाली है। धन्य है वह माँ, जिसने ऐसे महान् पुत्र को जन्म दिया। उसका मरण उत्थान के लिए है। यह शोक करने का प्रसंग नहीं है। गर्वानुभूति के लिए सुकुमाल का आचरण उचित और उपयुक्त कारण है। गौरव का अनुभव करो कि ऐसी महान् आत्मा का संसर्ग और सान्निध्य तुम्हें सुलभ रहा। मृत्यु तो तन की होती है, यह विघटन तो अवश्यंभावी है। यदि इस विघटन के पूर्व जीवन के परम लक्ष्य–मोक्ष की प्राप्ति हो जाय तो जीवन सार्थक और धन्य हो उठता है। तुम्हारे पुत्र ने अपना जीवन धन्य कर लिया और अन्य जनों को भी जीवन के सदुपयोग का स्वरूप वह समझा गया है। उसका मरण शोक नहीं, प्रेरणा ग्रहण करने का सुअवसर है। उठो, मन में शान्ति धारण करो और अपने महान् परिजन का अन्तिम दर्शन करो। इसके जीवन से नवीन सीख लो। उठो···· उठो····।"

मॉ लड़खड़ाती-सी उठी, किन्तु तत्काल ही उसके तन में एक शक्ति का संचार हुआ। उसके मुख पर तेज व्याप्त हुआ और वह चिता की ओर बढी। वधुओ ने भी आकर चिता के चहुँ ओर एक वृत्त बना लिया। तभी आचार्यश्री पुनः मुखरित हुए–"मुनि सुकुमाल ने एक आदर्श की स्थापना की है···· एक अनुकरणीय आदर्श की। जो सुकुमाल था, वह उसका यह तन नहीं है। व्यक्ति जो कुछ है वह तो उसकी आत्मा है। शरीर अवश्य ही नश्वर होता है, किन्तु आत्मा अजर-अमर है, शाश्वत होती है। तो व्यक्ति को मरण नष्ट करता कहॉ है; कर ही नहीं सकता। एक तन के विघटन पर आत्मा का आश्रय अन्यत्र हो जाता है। यह अन्य स्वरूप विगत से उत्तम हो–उन्नत हो, उच्चतर और शुभ हो–इसी में जीवन का साफल्य है। यही जीवन का परम प्रयोजन है। सुकुमाल ने अपने जीवन का पूर्ण सदुपयोग किया है। उसने अपने कुल को गौरव दिया है। उसने हमारे आचार्यत्व को भी अपने सुशिष्यत्व से धन्य कर दिया है। सभी का मंगल हो ! सभी का कल्याण हो ! सभी की धर्म भावना प्रबल हो !"

आचार्यश्री के सदुपदेशों ने मॉ और पत्नियों के हृदय में अपूर्व शक्ति और गरिमा का संचार कर दिया। माता भद्रा ने उच्च स्वर में कहा–"वेटा ! मै तेरी जननी होकर तेरी जय-जयकार करती हूँ। तूने अपने महान् सत्कर्मो से अपने कुल का, अपनी मॉ का गौरव वढाया है। धन्य है तू, वेटे ! धन्य है तेरी साधना !!" और माता भद्रा का शीश वास्तव में ऊँचा उठ गया, उसकी ग्रीवा तन गयी। पत्नियों की ऑखों के ऑसू सूख गये।

राजन् ! सुकुमाल मुनि की साधना की सफलता और आचार्य सुहस्ति के सदुपदेशों से प्रेरित होकर जागतिक सुख-वैभव को त्यागकर माता भद्रा ने और उसकी इकत्तीस पुत्र-वधुओं ने दीक्षा ग्रहण कर ली। गर्भवती होने के कारण वत्तीसवीं वहू तत्काल संयम ग्रहण न कर सकी। यथासमय उसने एक पुत्र को जन्म

दिया। आयु प्राप्त कर जब वह वयस्क हुआ तो अपने पिता के गौरवपूर्ण जीवनकाल से वह परिचित हुआ। जिस स्थल पर मुनि सुकुमाल ने देह त्यागी, वहाँ उसने एक स्मारक निर्मित करवाया। वहीं कालान्तर में महाकाल महालय विकसित हो गया। उज्जयिनी के नरेश ने मुनि अवन्ती सुकुमाल की महान् उपलब्धि को अमरत्व देने के लिए उज्जयिनी नगर का नवीन नामकरण 'अवन्ती' के रूप में कर दिया। तब से नगर के लिए यही नाम प्रचलित हो गया है।

मुनि सुकुमाल की विरक्तिजनक कथा समाप्त करते हुए मुनि सिद्धसेन सूरि ने कहा—"राजन् ! अब यह जान लेना भी आवश्यक है कि वह शृगाली कौन थी, क्यों उसने मुनि-देह का माँस-भक्षण किया? वह शृगाली किसी पूर्वभव में अवन्ती सुकुमाल की पत्नी रही थी। उसी जन्म के बैर को उसने इस भव में पूर्ण किया। शुभ कर्मों के प्राबल्य से जहाँ सुकुमाल को नलिनीगुल्म-विमान में देवभव की प्राप्ति हुई तो आगामी किसी जन्म में शुभ कर्मों के प्रभाव के क्षीण होने पर अशुभ फल भी भोगने पड़े। यह सत्य है, किन्तु यह भी सत्य है कि उसी सुकुमाल ने, अशुभ परिणामों से घिरे सुकुमाल ने आत्म-शुद्धि और आत्मोत्थान की साधना द्वारा ऐसी महान् उपलब्धि कर ली। कर्मों का चक्र इसी प्रकार संचालित होता रहता है। मनुष्य भी अपने अध्यवसाय से, हे राजन् ! अपने लिए स्वयं ही मोक्ष सुलभ कर लेता है। मोक्ष उसके लिए वरदानस्वरूप वस्तु नहीं हो सकती। अपने लिए मनुष्य स्वयं ही उद्धारक होता है, अन्य कोई हो नहीं सकता। इस तथ्य को गाँठ बाँध लो, राजन् !"

× × ×

सिद्धसेन सूरि जी ने एक कथा समाप्त की। उपस्थित जनों के मानस में एक नवीन आलोक जगमगाने लगा। कर्म शृंखला और उसके परिणामों में ही सुख-दुःख की अवस्थाओं का निर्भर होना, मनुष्य का उद्धारक स्वयं मनुष्य ही हो सकता है—यह तथ्य श्रोताओं के मन में स्थापित होने लगा। अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज के मन में जिज्ञासाएँ उठने लगीं। उन्होंने करबद्ध सादर निवेदन किया—"मुनिराज ! इस महान् धर्म के तत्त्वों को समझने की हम सभी की तीव्र अभिलाषा है। इसका स्वरूप समझाकर हम अवन्तीवासियों को कृतार्थ—उपकृत कीजिये न प्रभो !"

राजन् ! आपने उपयुक्त अवसर पर ही यह जिज्ञासा प्रकट की है। भगवान महावीर स्वामी के महान् आदर्शों की व्याख्या से इस धर्म का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जायेगा। हे अवन्तीराज ! सुनिये, जैनधर्म का स्वरूप उसके सिद्धान्तों और उन सिद्धान्तों के परिपालन में निहित है। जैनधर्म तो सर्वसाधारण को अपने इस स्वरूप से परमात्म पद तक पहुँचाने में समर्थ है। आवश्यकता शुद्ध और निष्ठापूर्ण हृदय के साथ इसके परिपालन की है। फिर तो मनुष्य देवत्व को ही धारण कर लेता है। वह जहाँ होता है, कल्याण को धर्म वहीं ले आता है। अब मैं कुछ ऐसे प्रसंग सुनाता हूँ जिनसे जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन होगा। जैनधर्म अहिंसा आदि

महाव्रतों को अपनाने की प्रेरणा देता है और इनका परिपालन मनुष्य को शुभ परिणाम देता है।

अति प्राचीनकाल में शंखपुर नामक एक राज्य था। राजा शंख का शासनकाल था जो बड़ा न्यायशील और कर्त्तव्य-परायण शासक था। अपनी प्रजा को वह सन्ततिवत् मानकर वात्सल्य भाव के साथ उसका पालन करता था। राजमहिषी रूपवती भी एक नारी-रत्न ही थी। उसके रूप की ही नहीं, अपितु गुणों और चारित्रिक शील की भी महिमा दूर-दूर तक गायी जाती थी। यह आदर्श राज-दम्पति प्रजा के लिए गर्व के पात्र थे। प्रजा जिस शासक का गौरवगान करती हो उसका शासनकाल दीर्घ भी होता है और राजा-प्रजा दोनों के लिए सुख-शान्तिपूर्ण भी रहता है। राज्य में सर्वत्र प्रजा सुखी थी। रूपवती के साथ-साथ राजा शंख की छह अन्य रानियाँ भी थीं।

राजधानी में एक चोर का बड़ा उत्पात था। प्रत्येक रात्रि में नगर के कई-कई घरों में चोरियाँ हो जातीं। इसके चलते जनता असुरक्षित अनुभव करती थी और शंख-नरेश को इसकी बड़ी पीड़ा थी। राज्य-कर्मचारी अपने सम्पूर्ण कौशल और शक्ति का प्रयोग करके भी चोर को पकड़ने में समर्थ न हो पा रहे थे। नरेश स्वयं जब इस दिशा में सक्रिय हुए तो उन्हें चौंकाने के लिए चोर ने एक अति साहसिक कार्य करने की ठान ली। अपनी चौर्यकला की चतुराई दिखाने के लिए उसने एक रात्रि में राजभवन में ही चोरी की। साहस देखिये उसका कि प्रासाद में घुसकर उसने स्वयं घंटी ध्वनित करके जगा दिया और सबके सजग रहते वह मूल्यवान रत्नों की भारी पेटी उठाकर चल दिया। लोग उसे प्रासाद में यत्र-तत्र खोजते रह गये और तब तक वह भवन से बाहर निकल गया। चोरी यदि कला है तो वह इसका एक निपुण कलाकार था। राजा शंख बड़े चिन्तित हुए। धन-हानि के अतिरिक्त आत्म-ग्लानि भी अनुभव होने लगी। लोग अब यदि यह सोचें कि जो राजा आत्म-रक्षा भी नहीं कर सकता, वह लोक-रक्षा क्या करेगा—तो इसमें कोई अनौचित्य न होगा। वे मन-ही-मन लज्जित अनुभव करने लगे थे। उनका कद उनकी ही दृष्टि में कुछ छोटा हो गया था। वे जनता की रक्षा के लिए मन-ही-मन सोच-विचार करने लगे थे कि उसी समय दो प्रहरी एक दुर्वल-से व्यक्ति को पकड़कर ले आए जो ग्रामीणों-जैसी वेश-भूषा में था और जिसके सिर पर रत्नों की वह चुरायी गयी पेटी लदी थी।

"जय हो, देव ! यह चोर राजप्रासाद से चोरी कर भाग रहा था। प्रासाद की वाहर वाली त्रिपोलिया पर हमारा एक प्रहरी तनिक तन्द्रा का अनुभव कर रहा था। अपने पाँव से इस चोर ने सुप्त प्रहरी को टक्कर लगाकर जगाया और तव यह भागने ही वाला था कि अपने दुर्भाग्य का शिकार हो गया। प्रहरी के पाँवों में उलझकर यह गिर पड़ा। पेटी के गिरने से जो ध्वनि हुई तो अन्य प्रहरी भी एकत्र हो गये और यह पकड़ लिया गया।" नायक ने सविस्तार समस्त इतिवृत्त प्रस्तुत

कर दिया और कहा–"आपका अपराधी चोरी के माल सहित आपके समक्ष है। आज्ञा प्रदान करें, भूपेश्वर !"

राजा ने आदेश दिया–"चोर को बंदीगृह में रखा जाय। कल इसके दण्ड पर विचार किया जायेगा।" नरेश शंख की साँस में साँस आयी। आवश्यकता से अधिक चातुर्य प्रदर्शित करने वाले कौशल-सम्पन्न लोग भी किसी दिन अपने कौशल-प्रदर्शन की मिथ्या प्रवृत्ति में फँसकर दुर्गति को प्राप्त होते हैं। यह चोर इसका स्पष्ट उद्धरण है। राजा ने इस प्रकार सोचा और रत्नों की पेटी को यथास्थान रखवा दिया। एक आँधी आयी और सबको झकझोरकर निकल गयी। फिर से पूर्ववत् शान्ति छा गयी। अभी रात्रि बहुत सारी शेष थी। सभी पुनः निद्राधीन हो गये। सुरक्षा की व्यवस्था और भी सुदृढ़ कर दी गयी। भोर होने पर सभी को अचंभित कर देने वाली एक घटना फिर सामने आयी। वह चोर बन्दीगृह से निकल भागने में सफल हो गया। नरेश को जब यह सूचना दी गयी तो वे बड़े रुष्ट हुए। एक दासी ने यह सूचना दी कि रत्न-पेटी भी उसके स्थान पर नहीं है तो सारा प्रकरण स्पष्ट हो गया। बन्दी बनाये गये चोर ने अन्ततः अपना कार्य सिद्ध कर ही लिया था। वह पेटी चुरा ले जाने में सफल हो गया। राजा शंख को यह समझने में विलम्ब न हुआ कि चोर न केवल अपने कार्य में कुशल ही है, वह अपने कौशल से हमें चमत्कृत भी करना चाहता है। उन्होंने ऐसे साहसपूर्ण चोरी का कोई प्रसंग अब तक देखा-सुना न था। वास्तव में चौर्य निष्णात है यह चोर। सबकी आँखों में धूल झोंककर वह अपना काम कर ही गया। महाराज को धन-हानि की उतनी चिन्ता न थी, जितनी अपने मान-हनन का दुःख और लज्जा का अनुभव था।

दुर्भाग्य ही था उस चोर का कि उसी रात्रि में अन्यत्र किसी घर में चोरी करते हुए वह पकड़ लिया गया। सैकड़ों नगरवासियों से घिरा वह बेवस हो गया। राजभवन की पेटी जब लोगों ने उसके पास देखी तो वे चोर को पेटी सहित राजभवन ले आए। तव तक दिन चढ़ आया था। राजा ने न्याय बुद्धि के साथ विचारकर उसे मृत्युदण्ड दिया। उचित न्याय कर लेने के पश्चात् राजा का मन स्वस्थ एवं शान्त हो गया।

मृत्युदण्ड की चर्चा सुनकर रानी रूपवती के मन में एक उद्विग्नता जाग उठी। उनकी अपार करुणा भावना से उत्पन्न यह प्रतिक्रिया थी। अहिंसा की सुदृढ़ आराधिका राजमहिषी रूपवती इस प्रत्यक्ष और दुर्धर्ष हिंसा प्रवृत्ति से विचलित हो गयी। तटस्थ धर्म बुद्धि से विचारकर उन्होंने देखा कि चोर यदि अस्तेय को न अपनाने का दोषी है तो क्या हमारे प्राणेश्वर शंखपुर-नरेश अहिंसा के दोषी नहीं हैं? हमे प्रयत्न करना चाहिये कि पतिदेव को इस दोष से रक्षित करें। क्षण-प्रतिक्षण उनका यह निश्चय दृढतर होता चला गया। प्रहरी जव चोर को वध-स्थल की ओर ले जा रहे थे, उस पर राजरानी रूपवती की दृष्टि पड़ी और वे करुणा से आर्द्र हो गयीं। वेचारा चोर .... कुछ ही पलों में इसकी देह निर्जीव होकर लुढक

जायेगी। उन्होंने देखा कि मरण-भय से उसका मुख पीला पड़ गया है, ऑखे डबडबा आयी हैं, उसका सारा तन थरथरा रहा है और बार-बार वह गिर पडता है। प्रहरी उसे थामकर ही आगे बढ़ा पा रहे हैं। इस कारुणिक दशा से रानी रूपवती के हृदय में दया का ज्वार ही उठ आया था। वे इसकी प्राण-रक्षा के लिए सचेष्ट हो गयीं। इस क्रम में उन्होंने सर्वप्रथम महाराज से अनुरोध किया–"इस चोर को कुछ समय के लिए मेरे संरक्षण में कर दीजिये। तब तक के लिये इसका दण्ड आगे बढ़ा दीजिये। तब तक यह मानसिक रूप से तैयार भी हो जायेगा।" महाराज को इसमें कुछ भी आपत्तिजनक प्रतीत न हुआ और उन्होंने अनुमति प्रदान कर दी। अब चोर को रानी के प्रासाद में ले आया गया। स्नानादि कराकर उसे उत्तम पोषाक पहनाई गयी। उत्तमोत्तम व्यंजनों का आहार दिया गया। उसके लिए कोई अभाव नहीं रहा, उसकी कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहती। उसकी खूब आवभगत होने लगी।

दिन-पर-दिन व्यतीत होते रहे। सभी सुख-सुविधाओं के होते हुए भी चोर दिनोंदिन दुर्बल और निस्तेज होता रहा। पूछे जाने पर उसने कारणस्वरूप स्पष्ट किया–"जिसके सिर पर आसन्न मरण के काले मेघ मँडरा रहे हों उसे उपलब्ध सुख-सुविधाएँ भला कैसे लाभ पहुँचा सकती हैं। मैं तो प्रतिपल ही मरण के भय से भीत रहता हूँ। यह आतंक मुझे जीने नहीं देता, स्वामिनी ! मैं तो प्रतिपल मर रहा हूँ। मेरा यह जीवन भी भला कोई जीवन है ! कभी भी मृत्यु मेरे जीवन को लील सकती है। अब तो यह निश्चय भी नहीं रहा कि यह जीवन कब तक चल सकेगा।" ऐसे अनिश्चय में तो प्राप्त जीवनावधि भी व्यर्थ ही होकर रह जाती है और चोर को ऐसा अनुभव होने लगा, जैसे मृत्यु उसके समक्ष खड़ी हो और वह कँपकँपा उठा।

चोर की ऐसी दीन दशा देखी तो रानी के मन की करुणा और भी प्रवल हो उठी।

"यस्य चित्तं द्रवीभूतं, कृपया सर्वजंतुषु।
तस्य ज्ञानं च मोक्षश्च, किं जटा भस्मचीवरैः॥"

अर्थात् जिसका चित्त सभी प्राणियों पर दया से द्रवित होता है, उसे ज्ञान और मोक्ष मिलता है। दया से रहित हो तो जटा भस्म और गैरिक वस्त्र धारण करने मात्र से किसी संन्यासी को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भी कहा था–एक प्राणी को जीवनदान देना–मेरु पर्वत से भी अधिक स्वर्ण का दान करने, अथवा सम्पूर्ण पृथ्वी का दान करने से भी वढकर होता है। स्वर्ण, गो, पृथ्वी का दान करने वाले तो अनेक हैं, पर किसी को अभयदान करने वाले विरले दानी ही मिलते हैं। राजरानी रूपवती के मन में ऐसे-ऐसे अनेक शुभ विचार आने लगे और मरण-भय-विकम्पित

इस चोर को अभयदान करने का उन्होंने संकल्प धारण कर लिया। राजरानी ने सधीर स्वर में चोर को प्रबोधित किया—"तुमने जीवनभर चोरियाँ की होंगी, किन्तु क्या तुम्हें इससे कभी सुख मिला। चोरी के धन का खुला उपयोग न कर सकने के कारण वह सुख का साधन हो ही नहीं सकता। अन्त में तो इस दुष्कर्म के दुष्परिणामस्वरूप तुम्हें बंधन में पड़ना पड़ा। अकाल मृत्यु तुम्हारे समक्ष खड़ी है। क्या तुम्हें अनुभव नहीं होता कि बुरे का परिणाम बुरा ही होता है।" रानी के विचारों में औचित्य स्वीकार करते हुए चोर ने अपना शीश सकारात्मक रूप में हिला दिया। इससे प्रेरित होकर रानी ने अपने कथन को अग्रसर किया—"सुनो, पापकर्म के कुफल इस लोक तक ही सीमित नहीं रहते। तुमने चौर्यकर्म से जो पाप-बंध कर लिया है—उससे तुम्हारा परलोक भी नष्ट हो जायेगा। मरणोपरान्त भी इसका फल तुम्हे नरक में भोगना पड़ेगा। सहस्र-सहस्र उत्पीड़न का कष्ट तुम्हें भोगना पड़ेगा। तुम वेदना से कराहते रहोगे और कोई तुम्हारी रक्षा करने वाला न होगा।" इस भयानक पीड़ाजनक परिस्थिति की कल्पना मात्र से चोर तो भीतर तक काँप उठा। "तुम्हारा तो इहलोक और परलोक दोनों का सर्वनाश हो रहा है।"—रानी ने पूछा—"क्या तुम इस स्थिति को टालना नहीं चाहते?"

"चाहता हूँ, माते ! क्यों न चाहूँगा कि मैं नरकलोक की यातनाओं से बच जाऊँ, इस भव में भी मुझे इस अकाल मृत्यु से रक्षा मिले—किन्तु यह संभव नहीं लगता मुझे। पापी को सुख कैसे मिलेगा?"

"मनुष्य अपना भाग्य-विधाता स्वयं ही होता है। भयंकर दुष्कर्म कर चुका पापी भी सजग होकर यदि अपने पापों की आलोचना करे और भविष्य में शुभ कर्मों का संकल्प करे तो उसके लिए यह शुभकर सिद्ध हो सकता है। शुभ परिणामों की प्राप्ति शुभ कर्मो से संभव ही नहीं, अवश्यंभावी हो जाती है। सुनो.... यदि तुम चोरी का पापकर्म त्यागने को तत्पर हो जाओ और अस्तेय व्रत का दृढ़ता के साथ पालन करने का संकल्प लो तो तुम्हारा मृत्युदण्ड निरस्त करवाकर मैं तुम्हें अभयदान दे सकती हूँ।"

उसे तो इस कथन से मानो डूबते को 'नौका' का सहारा मिल गया। अति उत्साहित होकर चोर ने कहा—"महादेवी ! मैं प्रण करता हूँ कि भविष्य में कभी भी चोरी नहीं करूँगा, सदा अस्तेय व्रत का पालन करता रहूँगा। मैं भलीभाँति जान ही नही, मान भी चुका हूँ कि चोरी भयानक अपराध और ऐसा कुकर्म है जिसकी दारुण परिणति मृत्युदण्ड में भी होती है और जो भयावह नरकलोक में भेजकर मारक यंत्रणा दिलाने की भूमिका भी वनाती है। मैं इस कुमार्ग पर अव कभी गतिशील नहीं रहूँगा। भले और बुरे का भेद समझ लेने पर अव मैं कभी भी सन्मार्ग का त्याग नहीं करूँगा, महादेवी ! मुझे क्षमादान दिलवाकर आत्म-सुधार का अवसर प्रदान करो।"

रानी रूपवती अविश्वासी न थीं। भले-बुरे की बड़ी गहरी पहचान उन्हें थी। चोर के इस कथन के माध्यम से उन्होंने उसके हृदय में झाँक लिया और वहाँ निर्मलता का आभास पाकर राजमहिषी बड़ी प्रसन्न हुईं। उसके हृदय-परिवर्तन ने उन्हें अत्यन्त प्रभावित किया। एक दिन जब शंख-नरेश प्रसन्न-मुद्रा में थे, राजरानी ने चोर के विषय में चर्चा आरंभ की। नरेश ने कुछ स्मरण करते हुए कहा–

– "कौन? वही चोर ना, जिसे हमने मृत्युदण्ड दे रखा है !"

– "जी, जिसके दण्ड को आपने निरस्त कर दिया है।"

– "निरस्त? हमने तो उसका मृत्युदण्ड कुछ समय के लिए स्थगित कर रखा है, निरस्त तो नहीं किया। दण्ड तो उसे भोगना होगा, राजरानी !"

"नहीं किया तो अब कर दीजिये। अब उसे क्षमादान कर दें। वह जीवनदान पाकर शेष जीवन में सदा अस्तेय व्रत का पालन करेगा, स्वामी ! उसने स्वेच्छा से यह प्रण किया है, प्राणनाथ ! उसे गहन अनुताप हो रहा है, उसके दुष्कर्म पर। वह दण्ड ही क्या जो पाप को नहीं, पापी को ही नष्ट कर दे। दण्ड तो दुष्कर्मों के त्याग और दुराचरण के सुधार हेतु हुआ करता है। यह दण्ड तो उसका प्राणान्त ही कर देगा, प्रभो ! उसे सुधार हेतु प्रेरित तो न कर पायेगा। वह चोररूप में जन्मा चाहे न भी हो, पर चोररूप में ही उसका मरण निश्चित हो जायेगा। एक बात और भी है करुणावतार ····!" रानी ने सहसा विराम लेते हुए आशा-भरी दृष्टि से महाराज का मुख ताकते हुए उनकी प्रतिक्रिया ताड़ लेने का प्रयास किया। उनके मुख की कठोरता लुप्त हो गयी थी और एक स्निग्ध मृदुलता ने उसका स्थान ले लिया था। ऐसी अनुकूल स्थिति का सदुपयोग कर लेने की धुन में चतुर राजरानी ने कहा–"और फिर पृथ्वीनाथ ! दण्ड तो अपराधी को ही दिया जाता है न ! यह व्यक्ति अब चोर नहीं रह गया। इसके प्रायश्चित्त की अग्नि में इसकी अपराध वृत्ति भस्म हो गयी है और उसका चित्त कुन्दन-सा दमक उठा है। जव यह अपराधी ही नहीं है तो फिर भला दण्ड कैसा !"

क्षीण-सी मुस्कान के साथ राजा शंख ने कहा–"तुम वड़ी चतुर हो, राजरानी ! तुम्हारे तर्कों से तो हम निरुत्तर ही हो गये। तुम जव कहती हो तो अवश्य ही वह चोर अव चोर नहीं रह गया होगा। यदि उसने अचौर्य व्रत के पालन का वचन दिया है तो अव किसी दण्ड का क्या प्रयोजन ! हाँ, तुम ठीक ही कहती हो प्रिये–दण्ड का मूल उद्देश्य तो चारित्रिक सुधार ही हुआ करता है। अच्छा है कि उसके सुधार मे तुम्हारी प्रेरणा रही। अव तुम पर अविश्वास किया भी कैसे जाय। हाँ····?"

"तो···· तो फिर आपने क्या निश्चय किया, प्राणनाथ !"

"यही···· यही कि हम उसे दण्डमुक्त करते हैं। अव वह स्वाधीन है। उसे कुछ धन राजकोष से दे दो और उसे कह दो कि सचाई के साथ व्यवसाय करे

और अपनी आजीविका अर्जित करे। अपने अस्तेय व्रत पर वह अडिग रहा तो अवश्य ही वह सुखी रहेगा।"

ऐसा ही हुआ, राजन् ! चोर सज्जन बन गया। प्राणदान ने उसे सर्वथा नवजीवन प्रदान किया। प्राण-हिंसा टालने में राजरानी रूपवती ने प्रभावी भूमिका निभायी। राज-दम्पति ने अहिंसा व्रत के पालन की दिशा में एक अगला नया चरण उठाया।"–सूरीश्वर जी अपंनी कथा के मार्मिक स्थल पर पहुँचकर विशिष्ट आनन्दानुभूति से प्रफुल्लित थे। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कथा को और आगे बढ़ाया–

वह चोर अब सज्जन हो गया था, सन्मार्गी और सद्विचारी। अस्तेय व्रत के पालन में वह दृढ़तापूर्वक प्रवृत्त हुआ। अचौर्य के निर्वाह में वह तन-मन से लगा रहा। अपने ऐसे पावन जीवन के अन्त पर उसे देवभव की प्राप्ति हुई। वह स्वर्गलोक के स्वर्णिम सुखों का सानन्द उपभोग करता रहा। अवधिज्ञान के माध्यम से देव ने एक दिन अपने पूर्वभव में झाँकने का प्रयास किया। उसे अपना चोर वाला जीवन स्पष्टता के साथ दिखायी दे गया। उसे स्मरण हो आया कि किस प्रकार राज-दम्पत्ति की दया ने उसके जीवन को परिवर्तित कर दिया। कैसे उन्होंने उसे धर्माचरण से परिपूर्ण कर दिया। उनकी प्रेरणा से ही उसने अस्तेय व्रत को अपनाया और आज इस सुखद स्थिति को उसने प्राप्त किया है। उसका चित्त अपने उपकारकों के प्रति श्रद्धा भाव से भर गया और इस उपकार के उत्तर में राज-दम्पत्ति की सेवा के लिए उसका कृतज्ञ मन सक्रिय हो उठा।

इसी भावना के वशीभूत एक दिन देव इस मृत्युलोक में आया और उसने अत्यन्त मूल्यवान कुंडल और एक दिव्य कंठहार राजरानी रूपवती को और एक भव्य सिंहासन राजा शंख को भेंट किया। शेष छह रानियों के लिए भी कुंडल के उपहार थे। आदरपूर्वक अन्य रानियों को भी देव ने उपहार भेंट किये। राज-दम्पति ने जव यह देखा कि एक भ्रष्ट आचरण वाले दुरात्मा को महाव्रत के पालन से ऐसी सद्गति प्राप्त हुई, उसे देवयोनि मिली, तो व्रतों के परिपालनस्वरूप उन्हें भी ऐसे सुफल मिले हैं। उन सभी का धर्माचार और गहन हो गया। इन आठो आत्माओं को मरणोपरान्त स्वर्ग-लाभ हुआ। देवभव की अवधि-समापन पर इन्होंने पुनः मानवभव प्राप्त किया और कालान्तर में उन्होंने पुनः महाव्रतों की आराधना कर मोक्ष प्राप्त किया।

"राजन् ! सुनो ····।" सूरीश्वर जी ने अन्त में कहा–"ध्यान से सुनो ···· देखो, मोक्ष के लिए किसी देवता की आराधना आवश्यक नहीं रही, किसी उपास्य की भक्ति उन्हें नहीं करनी पडी। ये सव मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से निरर्थक हैं। मनुष्य तो स्वयं ही अपने सत्कर्मों से आत्मोत्थान और सुगति प्राप्त कर लेता है। सभी को यह समझ हो जानी चाहिये। तभी मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य–मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसी रूप में मनुष्य के जीवन को सार्थकता मिल

पाती है। सत्कर्मों में लगो—महाव्रतों का पालन करो, अपने जीवन को सफल करो, मंगलमय करो।

× × ×

राजेश्वर वीर विक्रम के मन में इस सत्य के प्रति एक गहन सहमति विकसित होने लगी थी कि मनुष्य का मंगल स्वयं उसी के वश में है। अपने प्रभावित हृदय और विश्वासी मन के साथ वे सूरीश्वर जी के प्रवचन हृदयंगम करते चल रहे थे। राजन् ! अब हम आपको एक और धर्मचेता राज-दम्पति की कथा के पावन प्रसंग सुनाते हैं—

अत्यन्त प्राचीनकाल में लक्ष्मीपुर नामक एक धार्मिक राज्य था। राजा-प्रजा सभी न्याय-नीति का अनुसरण करते, धर्माचरण द्वारा आत्म-शुद्धि और उत्थान के उद्यम में प्रवृत्त रहते थे। उन दिनों लक्ष्मीपुर में एक आदर्श शासक महाराज धीर का शासन था। राजमहिषी हेमवती भी गुणशीला और शीलवती महिला थीं, जिनकी शुभ गाथाओं से चारों दिशाएँ गूँजती रहती थीं। श्रमणोपासिका और पति-भक्ति के लिए यशस्विनी महारानी तन और मन से अत्यन्त रूपवती भी थीं। मन का सौन्दर्य ही उनके तन पर प्रतिच्छाया रूप में छाया रहता था और यही सौन्दर्य का सहज स्वरूप होता है।

एक समय का प्रसंग है। राज-दम्पति वन-विहार कर रहे थे। अपने पराक्रमी और धर्मात्मा पतिदेव के प्रति अगाध श्रद्धा से आप्लावित राजरानी हेमवती के हृदय में पातिव्रत्य का ज्वार उमड़ रहा था। रानी के लिए महाराज तो देवतुल्य थे। वे अपने स्वामी को इस संसार-सागर का जहाज मानती थीं और स्वयं को उस जहाज का पंछी। प्रतिपल उनका मन पतिदेव की गहन प्रशंसा के भावों से भरा रहता था। प्रशंसात्मक भाव ही सघनतर होकर भक्तिरूप में परिणत होते हैं। दोनों परस्पर प्रीति के सुखद सरोवर में निमग्न रहा करते थे। उन्मुक्त वातावरण पाकर वन-विहार के इस मनोरम क्रम में उनकी अनुरक्ति और अधिक विकसित हो चली थी। उन्हें प्रतीत होने लगा जैसे दोनों का जन्म ही एक-दूसरे के लिए हुआ है। भावुक रानी का विहार तो मानो आन्तरिक यात्रा हो गयी थी। वे अपने अनुराग भाव को आसक्ति की श्रेणी में देखकर अपने को धन्य मानने लगी थीं। इस अनन्य प्रीति के निर्वाह के लिए वे अपने पतिदेव पर सौ-सौ प्राणो से न्योछावर थीं।

इसी समय एक विचित्र घटना हो गयी। उसी वन-खण्ड मे एक विद्याधर का विमान उतरा। विद्याधर रानी हेमवती के रूप-सौन्दर्य पर काफी समय से आसक्त था। उसने अवसर पाकर रानी का अपहरण कर लिया और उन्हें विमानारूढ़ कर ले उडा। विद्याधर भी अत्यन्त वैभवशाली था। अपने सुन्दर-से प्रासाद में रानी हेमवती को वह ले आया और बोला—"प्रिये ! यह हमारा प्यारा-सा राजभवन है। इसकी शोभा और सुख-सुविधाएँ ही तुम्हें हमारे वर्चस्व और सामर्थ्य का परिचय

करा देंगी। हम विद्याधरों के राजा हैं। ये वैताढ्य गिरि सात समृद्ध नगरों का एक समुच्चय है और हम उसके शासक हैं। अपार धन-वैभव हमारे चरणाश्रय में लोट रहा है। अनेकानेक विद्याओं के धारक असंख्य विद्याधर हमारी प्रजा है। अपने जीवन के इस नव-प्रभात का स्वागत करो, प्रिये ! अपने सद्भाग्य पर तुम्हें गौरव का अनुभव होना चाहिये कि हम-जैसे विद्याधराधीश का हृदय तुम पर अनुरक्त है। अव तक तुम किसी की भक्त थीं, अब तुम साध्या हो, उपास्या हो—हम उपासक हैं। कब से हमारा हृदय तुम्हारे अनुराग जल के लिए तृषित रहा है। आज इसे तृप्त कर दो, देवी ! घटा बनकर इस तप्त हृदय की उष्ण भूमि पर बरसो, प्रिये ! इसे शीतल कर दो।"

इन अप्रिय, अवांछित शब्दों को सुनकर रानी हेमवती को सघन मानसिक वेदना होने लगी। वह सहसा किस विद्रूप कुचक्र में ग्रस्त हो गयीं ! विकट वितृष्णा से भरकर रानी ने कहा—"हे दुरात्मा ! अमंगल वचनों पर रोक लगा। वल्गा दे अपनी अशुभ जिह्वा को। तेरा विनाश बीज तो उसी दिन अंकुरित हो गया जिस दिन तूने एक शीलवती सती नारी के प्रति कुभावना को मन में आश्रय दिया। अपहरण कर तू मुझे यहाँ ले आया—इससे तेरा सर्वनाश सुनिश्चित हो गया है। अपने कुवचनों की रज्जु से बाँधकर तू अपने उस सर्वनाश को अपने समीप खींचता चला जा रहा है। तेरी इस पाप-भरी वाणी के श्रवण से ही मुझे पातक लग रहा है। तेरा आग्रह तो भयंकर दुराग्रह है जो तेरा सवंश नाश करने के लिए सर्वथा पर्याप्त है।"

"अव हमें डराओ तो नहीं, रूपसी ! हम यों भीत होने वाले होते तो तुम-जैसी सुन्दरी पर कदाचित् आसक्त होने का साहस ही नही कर पाते। लक्ष्मीपुर मे धरा ही क्या है? देखो, यह अपार-अपार, असमाप्य वैभव। तुम्हारी एक हॉ पर यह तुम्हारे चरणों में लोट-लोटकर स्वयं धन्य हो उठेगा। क्या तो लक्ष्मीपुर है, क्या वहॉ का वह तुच्छ-सा राजा धीर ! उसे अव अधीर हो जाने दो। हमारा मंगल प्रस्ताव स्वीकार करो। हमारी रानी वनो और अपने सौभाग्य पर इठलाओ।"—विद्याधर ने स्पष्टोक्ति के साथ अपना मन खोलकर रख दिया।

रानी को तो लगा; जैसे किसी ने उसकी कर्णेन्द्रिय मे तप्त शीशा ही डाल दिया। इन वीभत्स और कुत्सित विचारो ने उसे वुरी तरह संतप्त कर दिया—"अपने स्वामी धीर महाराज से विमुक्त होकर, हे पापात्मा ! 'अधीर' तो मै हो गयी हूँ, किन्तु 'सधीर' होना भी मै खूव जानती हूँ। तेरा यह पापी मन कभी सफल न हो सकेगा। उसकी कामना-वल्लरी पल्लवित होने के पूर्व ही छिन्न-भिन्न होकर रह जायेगी।"

"आरंभ में तो हर रूपसी ऐसा ही व्यवहार करती है—हम जानते है —विद्याधर ने आत्म-विश्वासपूर्वक कहा—"किन्तु .... हम यह भी जानते है

समय-यापन के साथ-साथ परिवर्तन भी सहज स्वाभाविक रहता है। ऐसा विपुल वैभव किस नारी को प्रभावित नहीं कर सकेगा, हाँ····? हमारी तो यही कामना है कि तुम्हारी कृपा के पात्र हम शीघ्रातिशीघ्र हो जायें। कृपा करो, देवी !"

"हे दुष्टात्मा ! तुझे बड़ा अहं है अपने वैभव, अपने धन पर। अपने पतिव्रता धर्म के समक्ष मैं इस धन को मिट्टी मानती हूँ। यह तेरे लिए भी मिट्टी हो जाने वाला है। रावण की स्वर्ण-लंका जलकर नष्ट हो गयी थी। उसके पापी हृदय ने ही यह विनाश-लीला की थी। तेरा पाप भी वैसा ही है और तेरा भी अन्त समीप ही है। अपना हित चाहता है तो अपने मन से पाप निकाल दे और अपनी कुभावना की कारा से मुझे मुक्त कर, अन्यथा····।"

"अन्यथा····? अन्यथा क्या, नारी ! तुम कहना क्या चाहती हो?" विद्याधर राजा ने तनिक आवेश में कहा।

"अन्यथा ···· अन्यथा एक शीलवती नारी की दृष्टि की ज्वालाएँ तुझ पापात्मा को भस्म कर देंगी।"—रोषपूर्वक रानी हेमवती ने कहा।

प्रतिक्रियास्वरूप विद्याधर ने अट्टहास किया जो उत्तरोत्तर क्रूरतर होता चला गया—"अरे स्त्री ! हमें तुम्हारे नेत्रों की ज्वाला नहीं, उनके कटाक्ष चाहिये। हम तो उन्हीं से आहत हो जाएँगे, प्रिये ! और यदि तुमने स्वेच्छा से अपना हृदय हमें न दिया तो हम बलपूर्वक छीन लेना भी जानते हैं।"

रानी हेमवती धैर्यशीला थीं। उन्हें अपने शील की दृढ़ता का पूर्ण विश्वास था। उन्होंने दुरात्मा विद्याधर को प्रतिबोधित किया, किन्तु दुराग्रह के वशीभूत जनों पर प्रबोधन का प्रभाव शून्य ही रह जाता है। विद्याधर भी काम-वासना की परिधि में जकड़ा हुआ था। उसे अन्य कोई प्रसंग ध्यातव्य ही नहीं लग रहा था। उसका मनोभाव अपनी समूची कुत्सितता के साथ उसके अरुण हो चले नेत्रों में तैरने लगा। अपनी सतीत्व की रक्षा के लिए रानी ने तब अपने कंठ में फाँसी का फन्दा डाल लिया। भवितव्य को उसका अन्त इस रूप में स्वीकार्य न था। शील की भी रक्षा हो और शीलवती की भी—इसी में शुभ की विजय निहित थी। आत्मघात के रानी के प्रयास से विचलित विद्याधर ने आश्चर्यचकित होकर देखा कि वह फन्दा तो पुष्पों की माला वन गया था। सतीत्व के इस चमत्कार को भी नकारते हुए उसका हठ यथावत् दृढ वना रहा तो स्वयं चक्रेश्वरी देवी साक्षात् हुईं। देवी माँ ने इस कुत्सित विद्याधर की भर्त्सना की। उसे पर्याप्ततः प्रताड़ित किया और उसे सावधान किया—"यदि तू इस सती नारी के कोप से अपनी रक्षा चाहता है, तो उठकर अपने अपराध के लिए इससे क्षमा-याचना कर। अपनी अनुजा के रूप में इसका सत्कार कर; अन्यथा इसके हाथों तेरा····।"

"जो आज्ञा, माँ····।" आर्त्त स्वर में विद्याधर ने विनयपूर्वक कहा—"···· मैं ऐसा ही करूँगा, माँ !···· ऐसा ही करूँगा। मेरे पापी मन ने मुझ पर हावी होकर

कुमार्ग पर लगा दिया था मुझे। अब मैं मन को अपने अधीन करूँगा—मन के अधीन मै नहीं रहूँगा। मैं अपने किये पर लज्जित हूँ और अनुताप से मेरा रोम-रोम भर गया है। बहन ! मुझे क्षमा कर दो .... मैं दीन, क्षमा-प्रार्थी हूँ तुम्हारा।" हाथ जोड़कर अपने युगल करों पर अपना शीश झुका लिया। रानी हेमवती ने स्मितपूर्वक उसे क्षमादान किया और चेतावनी दी कि भविष्य में वह कभी ऐसी भूल न करे। पर-स्त्रियों को सहोदरा ही मानकर चले। श्रद्धापूर्वक विद्याधर ने माँ चक्रेश्वरी देवी की ओर देखा। वे तब तक लुप्त हो चुकी थीं। विद्याधर ने अपने बद्ध कर ऊपर उठाकर देवी माँ के अमूर्त्त स्वरूप को प्रणाम किया। वह तत्काल रानी हेमवती को लेकर लक्ष्मीपुर पहुँचा। राजा धीर को बड़ी प्रसन्नता हुई। अपने कुत्सित विचारों की आत्मालोचना कर विद्याधर ने राजा से भी क्षमा-याचना की। कालान्तर में रानी हेमवती ने दीक्षा ग्रहण कर महाव्रतों का पालन किया और मोक्ष प्राप्त किया।

कथा समाप्त करते हुए महाराज वीर विक्रम को सम्बोधित करते हुए सूरीश्वर जी ने कहा—"शील और ब्रह्मचर्य की बड़ी महिमा है। उन श्रावक-श्राविकाओं के लिए सद्गति सर्व सुलभ रहती है जो परदार-प्रिय न हों, जो पतिव्रता धर्म का दृढ़ता से पालन करें। देवी शक्तियाँ भी उनकी सहायता करती हैं जो धर्माचरण के लिए स्वयं उद्यमशील रहते हैं।" अवन्ती-नरेश इस प्रबोधन से धन्य हो उठे। करबद्ध कृतज्ञता-ज्ञापन के साथ उन्होंने सिद्धसेन सूरि महाराज का जय-जयकार किया। उपस्थित जन-समुदाय ने उसमें श्रद्धापूर्वक योगदान किया।

× × ×

राजन् ! तप की भी महिमा बड़ी ऊँची है। तप के शुभ फल रूप में वैभव, सत्ता, सुख और समृद्धि में वृद्धि होती है। प्राचीनकाल में कभी चन्द्रपुर नामक एक राज्य था, जहाँ चन्द्रसेन राजा का शासन रहा और उनकी रानी चन्द्रावती बड़ी गुणवती और धर्मशीला नारी थीं। राजा चन्द्रसेन स्वयं भी धर्माचारी और न्यायशील नरेश थे। राज-दम्पति को एक अत्यन्त गुणवान पुत्र की प्राप्ति हुई जो माता-पिता का आज्ञाकारी और सेवाशील, सदाचारी और विनयी था। नाम था—तेजपुँज। बड़े होकर युवराज तेजपुँज अपने कुल के पूर्वजों के समान पराक्रमी और शूरवीर निकले। समुचित अवस्था प्राप्त करने पर राजा चन्द्रसेन ने राजकुमार का शुभ विवाह नरेश जितशत्रु की राजकन्या रूपमती के संग सम्पन्न कर दिया। तदनन्तर ही युवराज तेजपुँज का राज्याभिषेक कर चन्द्रपुर के राजा-रानी विरक्त हो गये। तेजपुँज नरेश चन्द्रपुर की प्रजा का सस्नेह पालन करने लगे। न्याय और विवेक-बुद्धि से वे शासन करते रहे। अपार-अपार वैभव और सम्पदा के स्वामी भूप तेजपुँज की गहन रुचि रहा करती थी। धर्माचार और तप उनको बड़ा प्रिय करता था। सुयोग कुछ ऐसा रहा कि आचार्य धर्मघोष का प्रेरक सान्निध्य भ।

हुआ। चन्द्रपुरवासियों की विशाल धर्मसभा को आचार्यश्री ने उद्‌बोधन-प्रबोधन प्रदान किया। नरेश तेजपुँज भी लाभान्वितों की अग्रणी पंक्ति में विराजित थे। राजकुल के अन्य परिजन, अमात्यादि भी उपस्थित हुए। आचार्यश्री ने अपने प्रवचन में संसार की असारता और धर्म की अक्षुण्णता प्रतिपादित की और धर्माचार के लिए प्रेरित करते हुए कहा कि मानव-भव बड़ा दुर्लभ अवसर है। आध्यात्मिक उत्थान में इसकी सदुपयोगिता निहित रहती है। इसको अकारथ कर देने मे विवेकशीलता नहीं है। धर्म-पालन न करने वाले मनुष्यों का मानव-भव निरर्थक रह जाता है। आचार्यश्री ने उद्‌बोधित किया–भव्य जीवो ! करोड़ों जन्मों में दुर्लभ मानव-भव प्राप्त करके इस संसाररूपी सागर में धर्मरूपी नौका पर चढकर (भवसागर पार करने के लिए) सदैव तैयार रहना चाहिये।[१]

"धर्माचरण से शुभ कर्मबन्ध होता है; यह सत्य है, प्रभो !"–राजा तेजपुँज ने निवेदन किया–"इसके शुभ फल आगामी भव में प्राप्त होते हैं। मुझे इस जीवन मे जो सुख-सम्पदा और राज्य-सत्ता की प्राप्ति हुई है–निश्चय ही यह परिणाम भी मेरे किसी पूर्व कर्मों का ही है। मैं यह जानने का अभिलाषी हूँ कि मेरे ऐसे पूर्वकृत कर्म कौन-से हैं? कृपया मुझे अवगत कीजिये।"

आचार्य धर्मघोष ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया–"राजन् ! तुमने बड़े कौशल के साथ अपने पूर्वभव के विषय में ही प्रश्न कर दिया है। अपने पूर्वभव में तुमने अमित तप किया था और उसी के परिणामस्वरूप तुमको यह अपार ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है। तप वैभवप्रद ही रहता है। कहा गया है कि–

"तपः सकललक्ष्मीणां, नियंत्रणं शृंखलम्।
दुरित प्रेतभूतानां, रक्षामंत्रो निरक्षरः॥"

अर्थात् तप सकल लक्ष्मी का बिना शृंखला का नियंत्रण है। पाप, प्रेत और भूतों को हटाने में वह सदा बिना अक्षरों का मंत्र है। आचार्य धर्मघोष ने तब एक कथा कही। कभी किसी समय में श्रीपुर में कमल नाम का एक साधारण वित्तीय स्थिति का वैश्य रहता था। निर्धनता के कारण उसके परिवार का जीवन-यापन भी वड़ा कठिन हो गया था। इस पर भी उसके तीन पुत्रियाँ थीं। धन के अभाव में कैसे इनके विवाह होंगे–वह इस चिन्ता से त्रस्त रहा करता था। लक्ष्मीवान चतुर हो जाता है, तो यौवन व्यक्ति को विलासी वना देता है वैसे ही दारिद्रय दासत्व का जनक होता है। विवश कमल भी सेवा-कार्य करने लगा था और उसे जो आय होती, परिवार के भरण-पोपण में ही वह पर्याप्त नहीं हो पाती थी। मनुष्य का जीवन नरकतुल्य दुःखमय करने वाली चीजें हैं–कुत्सित राजा की सेवा, निन्दित

---

१. भवकोटि दुःप्राप्यमवाप्य नृभवादि-सकल सामग्रीम्।
भवजलधियानपात्रे धर्मे यत्नैः सदा कार्यः॥

भोजन, सतत रूप से क्रुद्ध रहने वाली पत्नी, कन्याओं का आधिक्य और दरिद्रता। कन्याधिक्य और दारिद्र्य कमल के जीवन में भी थे, पर सेवाशील वह था ही। ऐसे मे उसका दुःखी होना स्वाभाविक भी था। किन्हीं मुनिराज के प्रवचनों में उसने सुना था कि सुपात्र को दान, विशुद्ध शील, नाना प्रकार के धर्म की भावना धर्म के ये रूप संसार-सागर पार करने हेतु सेतुरूप होते हैं। कमल तो निर्धन था वह दान कैसे दे? यह समस्या उसके समक्ष थी। उसने अपना प्रश्न मुनिराज के समक्ष रख दिया। बड़ी ही सहृदयता के साथ मुनिश्री ने समाधान किया–"तप करो। तप में धन की अपेक्षा नहीं रहती। तप के प्रभाव से अशुभ कर्मों का क्षय होता है और जो साधक गंठ सहित गंठबंधन करते हैं उनकी गॉठ स्वर्ग और मोक्ष से बँध जाती है।" मुनिराज के इस समाधान से कमल बड़ा आश्वस्त हुआ। उसने अपना निश्चय व्यक्त करते हुए कहा–"आज से मैं एकान्तर उपवास करूँगा और नवकारसी आदि सहित पच्चक्खाण भी करूँगा।"

कमल ने अपने इस निश्चय के अनुसार आजीवन तप किया और शरीर त्यागकर उसकी आत्मा को स्वर्ग की प्राप्ति हुई। इस लोक में जो सुख दुर्लभ है, उनका छककर उपभोग उसने देवयोनि में किया। दुःख-पीडा का नाम भी न था। देवलोक की अवधि किसी जीव के लिए अनन्त नही होती, अतः कमल के जीव का भी देवायुष्य समाप्त हुआ। उसने पुनः इस लोक में अवतरण किया। उसने एक राजकुल में युवराज रूप में जन्म लिया और उसका नाम रहा–तेजपुँज।

हे राजन् ! अब आपको स्पष्ट हो गया होगा कि आपके इस ऐश्वर्य के जनक पूर्वकृत कर्म क्या रहे। इस बात पर ध्यान दीजिये कि आप पूर्वभव में दुःखी और दरिद्र कमल वैश्य थे। उस भव में आपके जीव ने जो तप कमलरूप में किया था उसके शुभ परिणामस्वरूप आपको चन्द्रपुर के युवराज का जीवन प्राप्त हुआ है। तप की और उसके सुखमय परिणामों की बड़ी महिमा है।

अपने पूर्वभव का परिचय पाकर राजा तेजपुँज के मन में एक नवीन आलोक प्रसारित हो गया। एक नया उत्साह, नयी प्रेरणा जगमगा उठी। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि वे इस भव में भी उतनी दृढतापूर्वक तप को अपनाएँगे और आत्मा का उत्थान करेंगे। धर्म के प्रति उनका हृदय आकर्षणग्रस्त हो गया, उनको यह जगत् और इसके विषय नीरस और असार लगे। वे राजभवन लौटे तो मार्ग में ही उनके मन में एक शुभ संकल्प उदित होकर परिपुष्ट होने लगा। अपने पुत्र सुन्दर को राज्य सौपकर तेजपुँज विरक्त हो गये। दीक्षा प्राप्त कर वे मुनि-जीवन व्यतीत करने लगे। सतत कठोर तपश्चर्या कर अन्ततः उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया। तेजपुँज की प्रेरक कथा प्रस्तुत कर सिद्धसेन सूरि ने कुछ क्षणों का विराम लिया। तदनन्तर स्वतः ही वोल पडे–अवन्तीराज ! आपने हृदयंगम कर लिया होगा कि तप इस लोक में ऐश्वर्य और परलोक में सुख तो प्रदान करता ही है, तप मोक्षप्रद भी होता है। तप का प्रभाव अवश्यंभावी होता है, राजन् ! यह कभी

निष्फल नहीं जाता। अब तनिक अपनी स्थिति पर भी विचार कर देखो। आपका यह विपुल ऐश्वर्य क्या शिव-भक्ति का परिणाम ही है। शिव-भक्त तो अन्य भी अनेक हैं। शिवालय के पुजारी ही क्यों न ऐश्वर्यवान हो गये जो सदा शिवाराधन में मगन रहते हैं? इस भ्रान्ति से बाहर निकलो और यह सत्य गॉठ बॉध लो कि पूर्वजन्मों के आपके पुण्य ही फले हैं कि जो इस भव में सुख-समृद्धि बनकर आये हैं। आपकी उपलब्धियॉ, आपकी शक्ति सब-कुछ तो पूर्व पुण्यों के ही परिणाम हैं। किसी पुण्य का इस जीवन में उदय अग्निवेताल की मैत्रीरूप में हुआ है और अब मैं आपको एक दृष्टान्त और सुनाऊॅगा, जिसका संबंध शुद्धचेता राजा शिवि से है।

× × ×

राजन् ! राजा शिवि का जीवन श्वेत-श्याम पक्षों से युक्त रहा है। वैसे भले और धर्म-प्राण व्यक्ति अत्यल्प ही मिलते हैं, जैसे राजा शिवि रहे और वे ही भारी पातकी भी हो गये। प्रेरणा का विषय यही है कि उस घोर पतन से उन्होंने चरम उत्कर्ष कर एक उदाहरण स्थापित किया है। इस ऊॅच-नीच के कारण ही मनुष्य-मनुष्य कहलाता है। यदि अच्छाइयॉ न होतीं तो वह पशुवत् या असुर होता और बुराइयाँ न होतीं तो वह देवत्व को प्राप्त कर लेता। किन्तु .... सच्ची मनुष्यता का लक्षण इसमें निहित है कि गिरकर वह सॅभले और सँभलकर फिर ऊपर उठ जाय। यही राजा शिवि का चरित्र है।

राजा शिवि किसी समय श्रीवर्धनपुर के शासक रहे। महाराज शूर और रानी पद्मा की सन्तति युवराज शिवि अत्यन्त सौम्य स्वभाव के, अत्यन्त गुणशील और उदार युवक थे। अनेक विद्याओं-कलाओं में दक्षता अर्जित कर कुमार शिवि ने पर्याप्त कीर्ति अर्जित कर ली थी। शक्ति और शौर्य में भी वे अग्रणी थे और रूप माधुरी में भी वे कम न थे। बड़े सुदर्शन व्यक्तित्व के धनी थे कुमार। यथासमय उनका विवाह श्रीपुर की राजकन्या—श्रीमती के साथ कर दिया गया। अपने जागतिक दायित्वों से निवृत्ति पाकर राज-दम्पति महाराज शूर और रानी पद्मा को यह संसार असार अनुभव होने लगा। मन में आत्म-कल्याण की साध जागी तो विरक्ति का उदय भी हुआ और यह वीतराग भाव वड़ी तीव्रता के साथ परिपुष्ट हो गया। एक दिन राज-पाट युवराज शिवि को सौंपकर पिता और माता ने विरक्ति ग्रहण कर ली। दीक्षा प्राप्त कर दोनों धर्माराधना में लीन हो गये। नरेश शिवि के समक्ष अपने पूर्वाधिकारी नरेश का उत्तम आदर्श था। वे व्यापक स्तर पर जनहित के कार्य करने लगे। प्रजा-सेवा को ही वे राजा का धर्म मानते थे। प्रजा जन की तनिक-सी पीड़ा से उनका रोम-रोम कॉप उठता था और वे तुरन्त कष्टित को पीड़ा-मुक्त करने के प्रयत्न में जुट जाते थे। प्रजावत्सल नरेश शिवि का सर्वत्र गुणगान होता। वे जनप्रिय हो गये। राज-दम्पति मे धर्मोपासना का तत्त्व भी वहुत वढ़ा-चढ़ा था। धर्माचरण को ये मानव मात्र के लिए अनिवार्य मानते थे। धर्माचारियों और श्रमण जनों की सेवा भी वे मनोयोगपूर्वक किया करते थे।

सज्जनों के मित्र अधिक होते हैं, किन्तु शत्रु भी होते अवश्य हैं–चाहे वह वैमनस्य काल्पनिक या मिथ्या कारणों से हो अथवा ईर्ष्यादि कारणों से हो। ऐसा ही राजा शिवि का भी एक शत्रु राजा था। नाम था उसका राजा धीर। धीर न अधिक शक्तिशाली था और न ही साहसी वीर। उसने राजधानी पर तो ऑख उठाकर भी नहीं देखा। इस राज्य में एक अन्य समृद्ध नगर था–हीरपुर। राजा धीर ने हीरपुर पर आक्रमण कर दिया। राजा शिवि को जब समाचार मिला तो वे सदल-बल हीरपुर पहुँचे। तब तक नगर की जो दुर्दशा हो गयी थी–उसे देखकर नरेश को बड़ा दुःख हुआ। सारा नगर छिन्न-भिन्न कर दिया गया था। उद्यानों को मसल–कुचल दिया गया। नगर-तोरणों के स्वर्ण-कलश उठा लिये गये और कलात्मक द्वारों, वास्तुकला की अन्य श्रेष्ठतम कृतियों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। घर और बाजार उजाड़ दिये गये। आबाल-वृद्ध नर-नारी आर्त्त और हताहत अवस्था में थे। सारा नगर शोक और हाहाकार में डूब गया था। घरों–प्रतिष्ठानों से धन-सम्पदा लूटी गयी थी। यह सब देखा तो राजा शिवि का दुःख तत्काल क्रोध में परिणत हो गया और उनके रोम-रोम में प्रतिशोध की अग्नि धधक ही उठी। धीर अपने सैन्य के साथ लूट का धन लेकर भाग खड़ा हुआ था। रोष से भरे साहसी शूरवीर नरेश शिवि ने अपनी सेना को गर्जना के साथ आदेश दिया–"पीछा करो .... भागने न पाये। उस आततायी को उसकी दुष्टता का दंड हम देकर रहेंगे।"

त्वरा के साथ उन्होने अपने अश्व को एड़ लगायी। अश्व हवा से बाते करने लगा। सेना ने अनुकरण किया। सैनिकों की उत्साहपूर्ण हुँकारों और भेरी के जोशीले स्वरों से गगन-मण्डल गूँजने लगा। कुछ ही देरी में शिवि नरेश को कुछ दूरी पर आकाश में धूल का गुबार दिखायी दे गया। भागती शत्रु-सेना की समीपता की सूचना मिल गयी। अब तो वीरों का जोश कई गुना बढ गया। राजा शिवि ने उन्हें और भी उत्तेजित कर दिया। अपनी शक्ति से भी परे अश्व दौड़ने लगे। सैनिकों के मुख क्रोधावेश में तमतमा उठे। पसीने से लथपथ अश्वों ने राजा शिवि और उसकी सेना को धीर के दल तक पहुँचा दिया। राजा ने ललकारा–"अरे ! भगोडो, भागते कहॉ हो? तुम सब का काल आ पहुँचा है। यदि तनिक भी साहस हो तो रुको, कायरो ! रुको, और हमारी प्यासी तलवारों की प्यास वुझा दो।"

धीर के तो प्राणो के ही लाले पड गये। उसे तो आत्म-रक्षा का ही प्रयत्न पूर्ण शक्ति से करना था। उसकी सेना और वेग से भागने लगी। राजा शिवि ने नीति से काम लिया। शत्रु-सेना के दोनो ओर से उसने अपने सैनिकों को आगे वढ़ाया। ये दोनों दल असीम वेग से दौडे और शत्रु-सेना से आगे निकलकर आपस में मिल गये। अव तो धीर सव ओर से घिर गया। घमासान युद्ध हुआ। धीर तो स्वयं थरथर कॉपने लगा था। उसके सैनिक वेचारे क्या खाकर इन प्रवल योद्धाओं का सामना करते। धरती रक्त-रंजित होने लगी। तभी राजा शिवि के मन में इस व्यर्थ रक्तपात के प्रति भयंकर वितृष्णा उत्पन्न हो गयी। उन्होंने ही इन कायरों की प्राण-हानि की कोई सार्थकता व अनिवार्यता अनुभव न करते हुए अपने सैन्य को

विराम लेने का आदेश दिया। तलवारें तुरन्त म्यानों में चली गयीं। तभी राजा शिवि ने धीर को ललकारा—"तुमने जो अपराध श्री वर्धनपुर के विरुद्ध किया है, उसके दण्डस्वरूप तो तुम्हारा सर्वनाश भी कोई अर्थ नहीं रखता, किन्तु हमारा वैमनस्य तुम्हारे सैनिकों से नहीं है। इनके रक्तपात से हमारा कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा। वैमनस्य तो तुम्हारे-हमारे मध्य है। आओ हम संघर्ष करें। द्वन्द्व-युद्ध के लिये तैयार हो जाओ। हार-जीत का निर्णय हमारा यह संघर्ष करेगा।" राजा शिवि ने तुरन्त अश्व त्याग दिया और वे भूतल पर तनकर खड़े हो गये। ऐसे में धीर का ताब नहीं था कि अश्वारूढ़ रह पाता। बड़े ही शैथिल्य के साथ वह भी उतरा, किन्तु द्वन्द्व-युद्ध के लिए उसके पास न शक्ति रही, न साहस। धरती पर उसके चरण ही जम नहीं पा रहे थे। वह लड़खड़ाता हुआ राजा शिवि की ओर बढा और करबद्ध मुद्रा में खड़ा हो गया। गिड़गिड़ाते हुए उसने क्षमा-याचना की और द्वन्द्व से असमर्थता व्यक्त की। उसने अपने अपराध के लिए लज्जित होना भी स्वीकारा। ऐसी स्थिति में राजा शिवि ने सोचा—'जो चुनौती को स्वीकार करने की भी शक्ति नहीं रखता, उस शत्रु से संघर्ष नीतियुक्त नहीं रहेगा।' "तुमने जो जघन्य अपराध किया, वह क्षम्य नहीं है, राजन् ! किन्तु जब तुम द्वन्द्व-युद्ध के लिए तत्पर नहीं हो तो उसे हम स्थगित रखेंगे।"—इतना कहकर उन्होंने राजा धीर को बन्दी बना लिया और उसे अपने साथ लेकर श्रीवर्धनपुर लौट आये। सारे नगर में राजा शिवि की विजय के उत्सव मनाये गये।

बन्दी को उसकी गरिमा के अनुकूल ही रखा गया। राजबन्दी जो था। उसके लिए एकान्त में एक छोटे-से भवन में आवास की व्यवस्था की गयी। राजा शिवि ने धीर को लौह-शृंखलाओं में जकड़कर नहीं रखा। यही प्रतिबन्ध था कि उससे किसी को मिलने नहीं दिया जाता और वह भी इस भवन से बाहर न आ सके। सारी सुविधाएँ उसे उपलब्ध करायी गयीं। कई दिन बीत गये। राजा शिवि ने भी उससे कोई वार्त्तालाप नहीं किया। इस एकाकीपन से धीर विकल हो गया, उसका जीवन सर्वथा नीरस होकर रह गया। उकताहट ही उसके जीवन में शेष रह गयी थी। अनिश्चित भविष्य तनाव का बहुत बड़ा कारण था। उसके मुख पर इस तनाव के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे थे। उसकी आँखों की पुतलियाँ वक्र होने लगीं। भाल पर सिलवटें उभर आयीं। पराधीनता का अपमान किसी भी सुख-सुविधा को विषाक्त बनाने के लिए पर्याप्त रहता है। विशाल हृदय और मानवतावादी राजा शिवि ने राजा धीर की ऐसी दशा के विषय में सुना तो उनका हृदय करुणार्द्र हो उठा। वे उनका कुशल-क्षेम पूछने के लिए भी गये। राजा शिवि से धीर ने कहा—"मैंने अपराध का पर्याप्त दण्ड प्राप्त कर लिया है। अब मुझे क्षमा कीजिये और इस कारा से मुक्त कीजिए। राजा धीर ने यह अनुरोध भी किया कि हमारे राज्य को आप अपने मित्र राज्यों में सम्मिलित कर लीजिये। इस मैत्री को प्रगाढ़ करने के लिए मेरी अभिलाषा है कि आप मेरी कन्या सुन्दरी का हाथ स्वीकार कर लीजिये।" उत्तम व्यक्तियों का क्रोध सीमित समय तक ही रहता है। राजा शिवि

ने प्रसन्नतापूर्वक राजा धीर को स्वतंत्र कर दिया और राजकन्या सुन्दरी के संग परिणय भी यथासमय सम्पन्न हो गया। दोनों राज्यों में अच्छे संबंध स्थिर हो गये। दोनों राज्यों में शान्ति हो गयी। राजा शिवि अपनी रानियों श्रीमती और सुन्दरी के साथ प्रेमपूर्ण जीवन बिताने लगे–न्याय-नीति से प्रजा-पालन करने लगे। कहा जाता है कि दुर्बल, अनाथ, बाल, वृद्ध तपस्वी और अन्याय-पीडितों का एक मात्र अवलम्ब राजा ही होता है। ऐसे सभी प्राणी भी श्रीवर्धनपुर में संरक्षित रूप में जीवन-यापन कर रहे थे। कुछ कालोपरान्त रानी श्रीमती ने एक सुन्दर से कुमार को जन्म दिया और धर्मध्यान में लीन होकर स्वयं रानी ने देह त्याग दिया। धर्माचरणशीला, सती रानी को परलोक में देवी का भव प्राप्त हुआ। कुमार का नाम वीरकुमार रखा गया और बड़े यत्न से उसका पालन-पोषण किया जाने लगा। अपनी प्रिय रानी श्रीमती की मृत्यु का शोक भुलाकर राजा शिवि नयी रानी सुन्दरी के प्रेम में ऐसा ग्रस्त हुआ कि राज-काज भी उपेक्षित रहने लगा और जन-संरक्षण की ओर से भी उनका ध्यान हटता चला गया। उनके धर्माचरण क्रमशः लुप्त होते गये और पतनकारी तत्त्व उनके चरित्र में प्रविष्ट होने लगे। सुरा-सुन्दरी, द्यूत आदि सातों व्यसनों के वे भक्त हो गये और अशुभ परिणामकारी कर्मबंध करने लगे। राजा शिवि के चरित्र का यह श्याम पक्ष ही उनका सर्वस्व हो गया था।

देवभव में श्रीमती (रानी) ने अपने पूर्वभव के पति राजा शिवि की यह दशा देखी तो अपना कर्त्तव्य-बोध हो आया और वह उनके शुभ और मंगल के लिए सचेष्ट हो गयी। एक आदर्श है कि समर्थ होकर भी कोई (धर्मात्मा) यदि अपने मित्र-स्वजन को पापकर्म से रोकता नहीं है तो ऐसा व्यक्ति स्वयं भी पाप से लिप्त हो जाता है। उसे भी पापी माना जाता है।[1] इस सिद्धान्त की महत्ता स्वीकार करते हुए रानी श्रीमती ने राजा शिवि को पाप-पंक से मुक्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। देवी अपना देवलोक त्यागकर श्रीवर्धनपुर आयी और चाण्डालिनी के वेश में नगर मे विचरण करने लगी। अत्यन्त प्रचण्ड और भयावह वेश उसने धारण किया। लोग उससे आतंकित रहने लगे। सार्वजनिक रूप से वह मार्गो पर मद्यपान करती रहती। खप्पर से निकालकर मॉस-भक्षण करती और तीव्र गति से चलती रहती। उसके विषय में राजा ने भी सुना तो उन्हें विचित्र लगा। उसे एक दिन राजसभा में भी उपस्थित किया गया। वह उसी प्रकार मॉस-मदिरा का उपभोग करती ही राजसभा में आगे वढ़ने लगी। उसके एक कार्य को देखकर सभी को अटपटा लगा कि ऐसी नीचकर्मी वह चाण्डालिनी अपना पथ जल से पवित्र करके ही आगे वढ रही थी। उसने आसन को भी जल से स्वच्छ किया और तव उस पर वैठी। ऐसा वह नगर-विचरण के समय भी करती रहती थी। स्वयं इतनी घोर

---

१. सामर्थ्ये सति यो मित्रं, न निषेधति पापतः।
तस्यात्मा तस्या पापेन, लिप्यते वज्रलेपवत्॥

अपवित्र और ऐसी ही अपावन उसकी प्रवृत्तियाँ और इस प्रकार का मार्ग पवित्र करके चलने का उद्यम। इसमें जो विकट विसंगति राजा को प्रतीत हुई, उससे तो वे अचरज में पड़ गये और चाण्डाली से पूछा–"यह जल-प्रक्षालन का कोरा दिखावा क्यों करती है तू ! स्वयं तो तू इतनी मलिन है। सौ-सौ चूहे खाकर बिल्ली तीर्थ को चली !"

चाण्डाली ने तनिक उग्र होते हुए कहा–"राजन् ! ऐसा तो कोई भी किसी के विषय में कह सकता है। मैं कह सकती हूँ आपके लिए कि हजार-हजार चूहे खाकर···· !"

"तुम अपनी बात तो पहले कर लो, चाण्डाली ! तुम ऐसा क्यों करती हो? ढोंग और दिखावे से लोगों को भ्रमित क्यों करती हो?" राजा ने उत्तर चाहने की मुद्रा में प्रश्न कर दिया।

"राजन् ! सभी को चाहिये कि अन्य जनों पर आक्षेप करने से पूर्व स्वयं भी दर्पण में झाँक ले और दर्पण जिस सत्य को प्रकट करे, उसे वह स्वीकार भी करे। जिस दोष के लिए वह अन्य की निन्दा कर रहा है–कहीं वह स्वयं भी उसी का दोषी तो नहीं है। आपने पूछा राजन् ! कि मैं मार्ग को धोकर क्यों चलती हूँ? सुनो, राजा !··· ध्यान से सुनो। इन मार्गों पर अनेक दुराचारी चलते हैं। इस राजसभा में भी अनेक जुआरी, मद्यप, परस्त्रीगामी आदि आते रहते हैं, फिर मैं प्रक्षालन करके मार्गों और स्थलों का उपयोग न करूँ तो और क्या करूँ !"

"किन्तु यह तो वही बात हुई कि अरहर की टट्टी पर गुजराती ताला। इस प्रकार जल छिड़ककर तुम अपनी किस पवित्रता की रक्षा करना चाहती हो? तुम स्वयं तो मलिन हो, माँस-मदिरा के सेवन का पापकर्म करती हो, स्वयं पतिता हो फिर···· फिर यह ढोंग क्यों?"–राजा शिवि ने कुछ सोचकर कहा–"तुम्हारे इस प्रयत्न से तुम्हारी अपावनता दूर होने की नहीं। मदिरा-पात्र को गंगा जल में धोने से भी वह अपावन ही रहेगा न !"

"उपदेश बड़ा सुन्दर है, राजा !··· क्या कहने ! पर यह विचार करके देखो कि क्या ऐसा उपदेश तुम्हारे मुख से शोभा भी देता है? पंक में आकंठ डूबकर तुम उन लोगों की निन्दा कर रहे हो जो कीचड़ की ओर बढ़ रहे हैं। तुमसे आशा न थी राजा ! कि तुम ऐसी निर्लज्जता भी कर सकते हो। पहले स्वयं को सुधार लो तो अन्य बिगड़ों की ओर संकेत करना।"

चाण्डाली के इस स्पष्ट कथन से राजा शिवि की सारी अन्तःचेतना ही तड़प उठी। अपने दोषों के लिए वे स्वयं मन-ही-मन लज्जा का अनुभव करने लगे। अप्रत्यक्ष कथनों द्वारा चाण्डाली ने उनकी विकृतियों को संकेतित किया–'यह अवश्य हमारा भेद जानने वाली है। बात तो इसकी सत्य और सटीक है। किन्तु इस प्रकार की चर्चा करने वाली यह कौन?' राजा शिवि का राजमद जाग्रत हो गया। रोषपूर्वक

तुम्हारी है, कल किसी अन्य की हो जायेगी। जिन-जिन वस्तुओं–व्यक्तियों को आप अपना-अपना मान रहे हैं, कोई संग नहीं आने वाले। सबको यहीं त्यागकर तुम्हें एकाकी जाना होगा। यदि कुछ साथ रहेगा तो वह आपके धर्माचरण का प्रभाव और शुभ कर्म ही होंगे। ये ही आपकी सद्‌गति के आधार बनेंगे। पाप-क्षेत्र छोड़कर पुण्य कर्मों को अपनाओ, राजन् ! यही विवेक का मार्ग है।"

इस प्रबोधन ने राजा शिवि के मर्म को प्रभावित कर दिया। उनकी सुप्त आत्मा जाग्रत हो उठी। उन्हें अब तक के नष्ट जीवन के लिए पछतावा होने लगा। इस अनुताप ने सन्मार्ग अपनाने की प्रेरणा दी। एक अद्‌भुत आत्म-विश्वास की दीप्ति से उनका मुख-मण्डल दमक उठा।

"देवी ! मैं उपकृत हुआ। आपने मेरे अज्ञान को दूर कर ज्ञान का जो आलोक दिया है–उसमें मुझे करणीय कर्म और अपनाने योग्य शुभ मार्ग–सब-कुछ स्पष्ट दिखायी देने लगे हैं। मैं अपनी आत्मा की साक्षी में वचन देता हूं, देवी ! भविष्य में मैं शुभ कर्मों और धर्माचरण के पथ पर ही अग्रसर होता रहूँगा। पाप मार्ग को मैं सर्वथा त्याग चुका हूँ। मुड़कर उस ओर झाँकूँगा भी नहीं।"

देवी अपनी कर्त्तव्य-भूमिका में सफल हो गयीं। वे संतुष्ट होकर, राजा को शुभ कामनाएँ देकर अपने स्थान को लौट गयीं। राजा शिवि ने अपना राज्य कुँवर वीरकुमार को सौंपकर मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली और तप करने लगे। उनकी साधना अत्युच्च होती चली गयी। उन्हें 'केवलज्ञान' की प्राप्ति हो गयी। अन्य सांसारिकों को भी उन्होंने सन्मार्ग का दर्शन कराया और अन्ततः अनशनपूर्वक देह त्यागकर मुनि शिवि ने मोक्ष-लाभ कर लिया। ऐसा मंगल, ऐसा शुभ सभी को प्राप्त हो। राजा शिवि की यह प्रेरक कथा समाप्त कर मुनि सिद्धसेन सूरि ने कहा–"राजन् ! धर्म से प्राप्त लक्ष्मी को धर्म में ही लगाना चाहिए। धर्म लक्ष्मी को बढ़ाता है और लक्ष्मी से धर्म-वृद्धि होती है।" कहा गया है–

"धर्मादभ्यागतां लक्ष्मीं, धर्म एव नियोजयेत्।
यतो धर्मस्य लक्ष्म्याश्च, दत्ते बुद्धिं द्वयोरपि॥"

इस प्रकार तापानन्तर राजा को प्रबोधित करने का क्रम भी सूरीश्वर जी ने पूर्ण कर लिया। अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य ने इन कथा-प्रसंगों से अद्‌भुत प्रेरणाएँ प्राप्त कीं। अपने उपकृत होने की चर्चा करते हुए महाराज ने मुनिराज को शत-शत नमन किया और निवेदन किया–"गुरुदेव ! मेरे मन में इस सिद्धान्त के प्रति दृढ आस्था थी कि देव-प्रतिमा की आराधना–अर्चना से मुक्ति सुलभ हो जाती है, किन्तु अव यह भावना ध्वस्त हो गयी है। अव तो यह भाव सुस्थापित हो गया है कि धर्म ही मोक्षदाता है और धर्म का मर्म ही शुभ कर्म है। मैं शुभ कर्मों का ही आश्रय ग्रहण करूँगा और मदा धर्माचरण में लीन रहूँगा।"

धर्मसभा विसर्जित हो गयी। सिद्धसेन सूरि जी ने विहार किया। अवन्ती में जैसे सूरीश्वर जी की वाणी ही प्रतिध्वनित होती रही। उनके कथन चर्चा के विषय बने रहे। मुनिराज के सद्प्रयासों से नगर में जैनाजैन धर्मावलम्बियों में समन्वय हो गया। दोनों वर्गों में पारस्परिक स्नेह बढ़ता चला गया। राजा स्वयं तो दृढ़तापूर्वक जैन-सिद्धान्तों का अनुसरण कर ही रहे थे। उन्होंने इस निमित्त अन्यान्य वर्गों को भी प्रेरित किया और नगरवासियों में जैन-धर्मानुराग व्यापक और गहन होता चला गया। विक्रम वीर महाराज के अनुसरण में लाखों जन श्रावकोचित व्रतों का पालन करने लगे। राज्य का स्वरूप ही सत्य, अहिंसा आदि का प्रतिरूप होता चला गया।

● ●

कालान्तर में सूरीश्वर जी का अवन्ती में पुनः पदार्पण हुआ। वे बड़े तुष्ट और हर्षित हुए कि इस नगर की तो काया ही पलट गयी। सर्वत्र एक सात्विक वातावरण दृष्टिगत हुआ। जैनधर्म के प्रति अनुराग का भाव उन्हें जन-जन में लगा। वर्षो का अन्तराल पाकर महाराज के मन का भाव भी अधिक स्पष्ट, अधिक प्रबल हो गया था। वे महाव्रतों के पालन में अधिक सक्रिय हो गये।

महाराज अपनी रानियों, मंत्रियों और अन्य जनों के संग धर्मसभा में सम्मिलित हुए। मुनिराज का प्रवचन श्रद्धापूर्वक सभी ने श्रवण किया। अन्त में अवन्ती-नरेश ने निवेदन किया–

"पूज्य गुरुदेव ! आपश्री की प्रेरणा से मैंने धर्म-सिद्धान्तों का चिन्तन-मनन किया और यह अनुभव किया कि कर्म-सिद्धान्तों की बड़ी महिमा है। हम यह भलीभाँति समझ गये हैं कि आज का सुख अथवा दुःख मनुष्य के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मो का ही परिणाम है। इससे यह भी प्रतिपादित हो गया कि अपने भविष्य को सुखमय बनाने के लिए मनुष्य को वर्तमान में शुभ कर्मों की ओर ही प्रवृत्ति रखनी चाहिए। इस समझ ने मुझे यह ज्ञात करने के लिए जिज्ञासु बना दिया है कि मेरे पूर्वकृत कर्म कैसे-कैसे रहे हैं ··· क्या रहे हैं?" महाराज विक्रमादित्य ने अपने प्रश्न को और भी स्पष्टता देते हुए कहा–

"अब तक हम यही मानते थे कि ईश कृपा से हमें यह धन-सम्पदा, यह राज्यसत्ता, यह गौरव और यश प्राप्त हुआ है। अब इस धारणा का मिथ्यात्व हमारी समझ मे आ गया। यह तो वस्तुतः हमारे कर्मों का ही परिणाम है। हमें भट्टमात्र-जैसा सहायक मंत्री मिला, अग्निवेताल-जैसा मित्र मिला, खर्परक चोर के हन्ता का गौरव भी हमे प्राप्त हुआ। ये प्राप्तियाँ न तो संयोग से हुई हैं, न ही

देव-कृपा की परिणाम हैं। तब यही प्रश्न बार-बार मन में गूँजता है कि हमारे कौन-से कर्म अतीत में ऐसे रहे, जिनका शुभ परिणाम इन रूपों में उदित हुआ है? भगवन् ! कृपापूर्वक हमारी इस जिज्ञासा को तुष्ट कीजिए।"

क्षणिक गंभीर मौन के अनन्तर सूरीश्वर जी मुखरित हुए-"राजन् ! आपकी ओर से ऐसा कोई प्रश्न आए-यह स्वाभाविक ही है। हमें तो यह जानकर प्रसन्नता है, भूपेश ! कि आपने जैन-सिद्धान्तों को इतनी महत्ता दी। उन्हें अपने जीवन में भी उतारा। उन पर अपने स्तर पर ही सही, चिन्तन तो किया ही। कर्म-सिद्धान्तों के प्रति आपने एक स्वस्थ और स्पष्ट दृष्टि विकसित कर ली है। तब ही आपके मन में अपने पूर्वभव के कर्मों को ज्ञात कर लेने की अभिलाषा जाग्रत हुई है। हम आपको आपके उन कर्मों का स्पष्ट परिचय करा देंगे। हम आपको एक कथा के माध्यम से उस सत्य-तथ्य का संदर्शन कराते हैं।"

यह घटना भी आघटक नगर की है। किसी समय इस नगर में एक साधारण वित्त वणिक् रहा करता था। उसका नाम चन्द्र वणिक् था। उसके दो मित्र भी थे-राम और भीम। तीनों की एक-सी साधारण स्थिति थी। आजीविका समस्या में तीनों को ग्रस्त रहना पड़ता था। एक-दूसरे की सहायता ही इनका सम्बल था। द्रारिद्र्य प्रारब्ध का क्रूरतम अभिशाप होता है जो अनेक संकटों को अपने साथ लेकर आता है। राजन् ! यह सत्य ही कहा जाता है कि दरिद्र से तो मृतक भी अच्छा है। दरिद्र को कोई पानी के लिए भी नहीं पूछता। मृतक के वंशज तर्पण कर उसे जल तो दे ही देते हैं। ऋण, दुर्भाग्य, आलस्य, भूख और संतानाधिक्य-ये द्रारिद्र्य परिवार के परिजन हैं। रोग बड़ा दुःखदायी होता है, राजन् ! किन्तु ऋण उससे भी अधिक प्रचण्ड होता है। रोग तो इस लोक में ही त्रस्त कर पाता है, किन्तु ऋण लोक और परलोक दोनों में प्राणी का पीछा नहीं छोड़ता। ऐसे भीषण द्रारिद्र्य से ग्रस्त इन तीनों मित्रों ने निश्चित किया कि धनार्जन के लिए परदेश में चला जाय।

तीनों मित्र अपने साथ एकाध दिन का भोजन अपने घर से साथ लेकर चल पड़े। अनिश्चित और अनिर्दिष्ट यात्रा पर निकले ये सहयात्री चलते-चलते थक भी गये, धूप भी बढ़ गयी और भूख भी लग आयी थी। अतः एक सघन वृक्ष-तले वे रुक गये। यहीं एक सूना खेत उन्हें दिखायी दिया जिसमें कुछ वकरियाँ चर रही थीं। गड़रिया दूर एक वृक्ष के नीचे सो गया था। वकरियों के इस समूह में एक वकरा भी था जो इन मित्रों को अपने वड़े आकार के कारण स्पष्ट दिखायी दे रहा था। सहसा ही इन वकरियों ने वकरे पर आक्रमण कर दिया। वकरा वडा सशक्त था, किन्तु इस अचानक आक्रमण से वह विचलित हो गया। सभी वकरियों की संगठित शक्ति के समक्ष वह स्वयं को दुर्वल ही पा रहा था। एक साथ जो अनेक भेटियाँ लगीं तो लड़खड़ाकर वह वेचारा गिर पडा। अव तो वकरियाँ उसे सींग मारने लगीं। वेचारा लहूलुहान हो गया। दूर से यह दृश्य देखा तो चन्द्र वणिक् के

मन में करुणा जाग उठी। वह दौड़कर खेत में गया और हिंसक बकरियों को भगाकर उसने बकरे की प्राण-रक्षा की। वेचारा हॉफता हुआ अधमरा बकरा अपने रक्षक को टुकुर-टुकुर ताकने लगा, मानो कृतज्ञता प्रकट कर रहा हो। चन्द्र को हार्दिक संतोष हुआ। वह लौटकर अपने मित्रों के पास आ गया। समीप के कूप से मित्रों ने पानी ले लिया था।

मित्रगण भोजन की पोटलियाँ खोलकर बैठे ही थे कि सामने से आते हुए दो मुनि दिखायी दिये। चन्द्र को तो अपने इस अहोभाग्य पर अपार हर्ष अनुभव होने लगा। उसका मन आनन्द से झूम उठा। वह वोला–

"मित्रो ! हमारे भाग्य से मुनिजनों का पदार्पण हुआ है। क्या भोजन करने से पूर्व हमें इन्हें आहार नहीं देना चाहिये ! हॉ ....? अरे ! भाई, दान की तो बड़ी महिमा है। मनुष्य ज्ञानदान से ज्ञानी, अभयदान से निर्भय, औषधिदान से नीरोग हो जाता है, किन्तु आहारदान से उसके सर्व कष्ट दूर हो जाते हैं। वह सदा सुखी रहता है। यदि सामर्थ्यवान होकर भी कोई व्यक्ति दान न करे तो आगामी भव में उसे दरिद्र रहना पड़ता है। दरिद्रता के कारण वह अनेक पापकर्म करता है और नरक में जाकर पुनः दारिद्र्य प्राप्त करता है। दान न करने वाला बार-बार दरिद्रता की चक्की में पिसता रहता है।"[1]

"किसी के पास धन है, किन्तु उदार हृदय नहीं होता, किसी के पास ये दोनों ही होते हैं। धन, मन और सुपात्रदान की प्रवृत्ति का संयोग सौभाग्य से ही किसी को मिलता है वही पुण्यात्मा हो जाता है।"[2]

चन्द्र के प्रेरक और ज्ञानवर्धक कथन का सुप्रभाव दोनों मित्रों के हृदय में अंकित हो गया। तीनों ने मुनियों की वन्दना की। श्रद्धा सहित चन्द्र वणिक् ने मुनियों को आहार वहराया। मुनि जन ने तीनों को सदुपदेशों से कृतार्थ किया और आशीर्वाद देकर आगे वढ़ गये। तीनों मित्र भी भोजन कर कुछ विश्राम के उपरान्त आगे प्रस्थान कर गये। यात्रा के इसी क्रम में वे एक नगर में पहुँचे। एक व्यापारी जिसका नाम वीर था, उसी नगर में रहता था। चन्द्र वणिक् का वीर से किसी वात को लेकर कलह हो गया। परिणामतः वीर के आघात से चन्द्र का देहान्त हो गया।"

कथा के चरम पर पहुँचकर सूरीश्वर जी ने कुछ विराम लिया। महाराज वीर विक्रम उत्सुक हो उठे। वे अधिक जिज्ञासु भाव से सतर्क हो गये। सूरीश्वर जी ने महाराज का भाव ताड़ लिया और पूछा–"राजन् ! आप यही सोच रहे हैं न कि मैंने यह कथा क्यो कही? तो सुनो राजन् ! आरंभ में आपने जो प्रश्न किये थे,

---

१. अदत्तादानाच्च भवेद् दरिद्रो, दरिद्रभावाद् वितनोति पापम्।
पापं कृत्वा नरक प्रयाति, पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी॥

२. केसिं चि होई वित्त, चित्तमन्नेसि उभयमन्नेसिं।
चित्तं वित्तं पत्तं तिन्नि, वि केसिं च धन्नाणं॥

उनके उत्तर इस कथा में निहित हैं। चन्द्र को जीव ने ही अपने आगामी भव में अवन्ती-नरेश के कनिष्ठ पुत्र, भर्तृहरि के अनुज के रूप में जन्म लिया और उसी का नाम विक्रमादित्य है। चन्द्र के सुख-दुःख के संगी राम और भीम भी मरण को प्राप्त कर आपके मित्ररूप में भट्टमात्र और अग्निवेताल के रूप में इस भव में आपके जीवन में आये। वे इस जीवन में भी तुम्हारे सहायक और हितैषी हैं। तुमने अपने पूर्वभव में बकरियों से उस बकरे के प्राणों की रक्षा की थी उस पुण्य के फलस्वरूप ही तुम्हें सौ वर्षों का आयुष्य प्राप्त हुआ है। तुम्हारा उस भव का प्राणघातक वीर ही इस भव में खर्परक या खप्पर चोर बना। उसे अपने अशुभ कर्मबंधों के दुष्परिणामस्वरूप ही आपके हाथों मरना पड़ा।

राजन् ! यही आपके पूर्वभव का स्वरूप रहा और इस प्रकार उस भव के कर्मों का प्रभाव इस भव में बना और बनता चला जा रहा है। जीव को अपने शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्यंभावी रूप से भोगना ही पड़ता है। भोगे बिना किसी का छुटकारा संभव ही नहीं है। आपके पूर्वकृत कर्म शुभ थे, तो उनके परिणाम भी शुभ रहे। इस भव में जितने शुभ कर्म रहेंगे, आपका भावी भव उतना ही उज्ज्वल रहेगा, उतना ही सुखमय और उत्कर्षपूर्ण रहेगा।"

अपने पूर्वभव का वृत्तान्त ज्ञात कर और कर्मों के प्रतिफलों का सिद्धान्त समझकर धर्म के प्रति महाराज की आस्था और भी सुदृढ़ हो गयी और धर्माचरण की प्रवृत्ति और भी प्रबल हो गयी। वे अधिक निष्ठा के साथ धर्म-पालन करने लगे। यथा राजा तथा प्रजा–सिद्धान्त तो शाश्वत है। शासन के अनुरूप ही प्रजा में भी धर्म के प्रति आस्था का भाव प्रबल हो गया। सर्वत्र एक सुखद और पावन वातावरण निर्मित हो गया।

● ●

अवन्ती का सारा स्वरूप क्रमशः सात्विक होता चला जा रहा था। मद्यपान का राजकीय आदेश से निषेध था। सामिश भोजन भी निषिद्ध था। आखेट, द्यूत आदि का कहीं व्यवहार न था। पर-स्त्रीगमन का विकार घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। धर्म भावना के प्रभावस्वरूप शुद्धाचरण और चारित्रिक उत्कर्ष भी सर्वत्र द्रष्टव्य था। समाज में भी शान्ति थी और कुरीतियाँ स्वतः समाप्त होती चल रही थीं। जीवदया और परहितैपिता का वोलवाला था। प्रजा जन दैहिक, दैविक और भौतिक–तापत्रय से मुक्त सर्वथा सुखी थे। साधन-सुविधाओं का प्राचुर्य था और कहीं भी किसी को कोई अभाव अनुभव नहीं होता था। शान्ति एवं समृद्धि के काल में ही कलाओं का श्री पल्लवन होता काव्य, गायन-नर्तन का समुचित वातावरण उस युग को रंगीन

स्वरूप दे रहा था। कलाओं को, कलाकारों को राजकीय संरक्षण और प्रोत्साह भी पर्याप्ततः प्राप्त हो रहा था। महाराज वीर विक्रम की राजसभा तो निपुण कलाकारों से अलंकृत रहती ही थी, दूर-दूर से शिखरस्थ कलाकार भी आते, अपनी कला का प्रदर्शन करते और पुरस्कारों से सम्मानित होते थे। ऐसे सरस युग में कला-प्रेमी रसज्ञों और रसिकों की भी खूब तृप्ति होती रहती।

अवन्ती की राजसभा में एक दिन श्वेत वस्त्रधारी एक प्रौढ़ व्यक्ति पहुँचा। प्रतीत होता था राजसभा के योग्य वस्त्र भी उसने कठिनाई से व्यवस्थित किये होंगे। उसके दारिद्रय के साथ-साथ उसकी सुरुचि सम्पन्नता और सत्संस्कारों की झलक भी मिल रही थी। आकृति में सौम्य और नयनों में विनय छलक रहा था। मंथर गति के साथ बढ़ते हुए महाराज के समक्ष उपस्थित होकर उसने तीन बार नमन किया और पीछे चरण बढ़ाते हुए सभा में करबद्ध दशा में खड़ा रह गया। कई क्षणों की प्रतीक्षा के पश्चात् भी जव आगंतुक ने मुँह न खोला तो महामात्य भट्टमात्र ने पूछा—"बंधु ! परदेसी जान पड़ते हो। क्या अभिलाषा है?"

अव भी आगंतुक ने अपने अधरों को सक्रिय नहीं होने दिया। उसकी दृष्टि और मुखाकृति के हाव-भावों से दीनता प्रकट हो रही थी। महाराज ने आशय समझकर मंत्री को संकेत किया और एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राओं की एक थैली उसे थमा दी। हाथों में थैली को तोलते हुए आगंतुक कुछ अनुमान लगाने का प्रयास करने लगा और तब पुनः अपनी पूर्व मुद्रा में आ गया। उसके हाव-भाव से प्रकट होन लगा था जैसे वह धन की उपेक्षा कर रहा हो भट्टमात्र ने अनुमान लगाने का प्रयत्न किया कि उसकी क्या कामना है? इसी मध्य महाराज ने स्वयं प्रयत्न किया—"तुम जो भी हो और जहाँ कहीं से आये हों, किन्तु तुम्हारे मुख से यह ज्ञात हो रहा है कि तुम्हारे मन में कोई याचना अवश्य है। हमारे द्वारा प्रदत्त धन तुम्हे संतुष्ट न कर सका, तो फिर तुम्हारी कामना क्या है? क्या तुम परदेस मे किसी संकट में ग्रस्त हो गये और हमारी सहायता चाहते हो?" आगतुक तव भी यथावत् मूक—मौन बना रहा। प्राप्त धन से उस पर कोई प्रभाव हुआ हो ऐसी प्रतिक्रिया तो थी ही नहीं।

चतुर भट्टमात्र ने अपनी तीव्र बुद्धि से ताड़ लिया कि इसे धन की ही कामना है, और कुछ न चाहिए, किन्तु और अधिक धन की इसे अभिलाषा है। महाराज समझ तो गये इस तथ्य को, किन्तु वे भी चाहते यही थे कि आगंतुक स्वयं अपने मुख से व्यक्त करे। याचक होकर याचना से संकोच क्यों कर रहा है? यही प्रश्न महाराज ने जव उससे कर दिया तो वह वेचारा हीनता का अनुभव करने लगा और इस आशय का दोहा सुनाया कि निर्धनता माँगने को कहती है और लज्जा वोलने से रोकती है—मैं कैसे वोलूँ? इस काव्यात्मक स्वीकारोक्ति से महाराज प्रसन्न हुए और उसे दस सहस्र मुद्राएँ दीं। अव तो उसकी वाँछें ही खिल गयीं। कामना

उनके उत्तर इस कथा में निहित हैं। चन्द्र को जीव ने ही अपने आगामी भव में अवन्ती-नरेश के कनिष्ठ पुत्र, भर्तृहरि के अनुज के रूप में जन्म लिया और उसी का नाम विक्रमादित्य है। चन्द्र के सुख-दुःख के संगी राम और भीम भी मरण को प्राप्त कर आपके मित्ररूप में भट्टमात्र और अग्निवेताल के रूप में इस भव में आपके जीवन में आये। वे इस जीवन में भी तुम्हारे सहायक और हितैषी हैं। तुमने अपने पूर्वभव में बकरियों से उस बकरे के प्राणों की रक्षा की थी उस पुण्य के फलस्वरूप ही तुम्हें सौ वर्षों का आयुष्य प्राप्त हुआ है। तुम्हारा उस भव का प्राणघातक वीर ही इस भव में खर्परक या खप्पर चोर बना। उसे अपने अशुभ कर्मबंधों के दुष्परिणामस्वरूप ही आपके हाथों मरना पड़ा।

राजन् ! यही आपके पूर्वभव का स्वरूप रहा और इस प्रकार उस भव के कर्मों का प्रभाव इस भव में बना और बनता चला जा रहा है। जीव को अपने शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्यंभावी रूप से भोगना ही पड़ता है। भोगे बिना किसी का छुटकारा संभव ही नहीं है। आपके पूर्वकृत कर्म शुभ थे, तो उनके परिणाम भी शुभ रहे। इस भव में जितने शुभ कर्म रहेंगे, आपका भावी भव उतना ही उज्ज्वल रहेगा, उतना ही सुखमय और उत्कर्षपूर्ण रहेगा।"

अपने पूर्वभव का वृत्तान्त ज्ञात कर और कर्मों के प्रतिफलों का सिद्धान्त समझकर धर्म के प्रति महाराज की आस्था और भी सुदृढ़ हो गयी और धर्माचरण की प्रवृत्ति और भी प्रबल हो गयी। वे अधिक निष्ठा के साथ धर्म-पालन करने लगे। यथा राजा तथा प्रजा–सिद्धान्त तो शाश्वत है। शासन के अनुरूप ही प्रजा में भी धर्म के प्रति आस्था का भाव प्रबल हो गया। सर्वत्र एक सुखद और पावन वातावरण निर्मित हो गया।

● ●

अवन्ती का सारा स्वरूप क्रमशः सात्विक होता चला जा रहा था। मद्यपान का राजकीय आदेश से निषेध था। सामिश भोजन भी निषिद्ध था। आखेट, द्यूत आदि का कहीं व्यवहार न था। पर-स्त्रीगमन का विकार घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। धर्म भावना के प्रभावस्वरूप शुद्धाचरण और चारित्रिक उत्कर्ष भी सर्वत्र द्रष्टव्य था। समाज में भी शान्ति थी और कुरीतियाँ स्वतः समाप्त होती चल रही थीं। जीवदया और परहितैपिता का वोलवाला था। प्रजा जन दैहिक, दैविक और भौतिक–तापत्रय से मुक्त सर्वथा सुखी थे। साधन-सुविधाओं का प्राचुर्य था और कहीं भी किसी को कोई अभाव अनुभव नहीं होता था। शान्ति एवं समृद्धि के काल में ही कलाओं का श्री पल्लवन होता काव्य, गायन-नर्तन का समुचित वातावरण उस युग को रंगीन

स्वरूप दे रहा था। कलाओं को, कलाकारों को राजकीय संरक्षण और प्रोत्साह भी पर्याप्ततः प्राप्त हो रहा था। महाराज वीर विक्रम की राजसभा तो निपुण कलाकारों से अलंकृत रहती ही थी, दूर-दूर से शिखरस्थ कलाकार भी आते, अपनी कला का प्रदर्शन करते और पुरस्कारों से सम्मानित होते थे। ऐसे सरस युग में कला-प्रेमी रसज्ञों और रसिकों की भी खूब तृप्ति होती रहती।

अवन्ती की राजसभा में एक दिन श्वेत वस्त्रधारी एक प्रौढ़ व्यक्ति पहुँचा। प्रतीत होता था राजसभा के योग्य वस्त्र भी उसने कठिनाई से व्यवस्थित किये होंगे। उसके दारिद्र्य के साथ-साथ उसकी सुरुचि सम्पन्नता और सत्संस्कारों की झलक भी मिल रही थी। आकृति में सौम्य और नयनों में विनय छलक रहा था। मंथर गति के साथ बढ़ते हुए महाराज के समक्ष उपस्थित होकर उसने तीन बार नमन किया और पीछे चरण बढ़ाते हुए सभा में करबद्ध दशा में खड़ा रह गया। कई क्षणों की प्रतीक्षा के पश्चात् भी जब आगंतुक ने मुँह न खोला तो महामात्य भट्टमात्र ने पूछा–"बंधु ! परदेसी जान पड़ते हो। क्या अभिलाषा है?"

अव भी आगंतुक ने अपने अधरों को सक्रिय नहीं होने दिया। उसकी दृष्टि और मुखाकृति के हाव-भावों से दीनता प्रकट हो रही थी। महाराज ने आशय समझकर मंत्री को संकेत किया और एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राओं की एक थैली उसे थमा दी। हाथों में थैली को तोलते हुए आगंतुक कुछ अनुमान लगाने का प्रयास करने लगा और तव पुनः अपनी पूर्व मुद्रा में आ गया। उसके हाव-भाव से प्रकट होन लगा था जैसे वह धन की उपेक्षा कर रहा हो भट्टमात्र ने अनुमान लगाने का प्रयत्न किया कि उसकी क्या कामना है? इसी मध्य महाराज ने स्वयं प्रयत्न किया–"तुम जो भी हो और जहॉ कहीं से आये हों, किन्तु तुम्हारे मुख से यह ज्ञात हो रहा है कि तुम्हारे मन में कोई याचना अवश्य है। हमारे द्वारा प्रदत्त धन तुम्हें संतुष्ट न कर सका, तो फिर तुम्हारी कामना क्या है? क्या तुम परदेस मे किसी संकट में ग्रस्त हो गये और हमारी सहायता चाहते हो?" आगंतुक तव भी यथावत् मूक–मौन बना रहा। प्राप्त धन से उस पर कोई प्रभाव हुआ हो ऐसी प्रतिक्रिया तो थी ही नहीं।

चतुर भट्टमात्र ने अपनी तीव्र वुद्धि से ताड़ लिया कि इसे धन की ही कामना है, और कुछ न चाहिए, किन्तु और अधिक धन की इसे अभिलाषा है। महाराज समझ तो गये इस तथ्य को, किन्तु वे भी चाहते यही थे कि आगंतुक स्वयं अपने मुख से व्यक्त करे। याचक होकर याचना से संकोच क्यों कर रहा है? यही प्रश्न महाराज ने जव उससे कर दिया तो वह वेचारा हीनता का अनुभव करने लगा और इस आशय का दोहा सुनाया कि निर्धनता मॉगने को कहती है और लज्जा वोलने से रोकती है–मैं कैसे वोलूँ? इस काव्यात्मक स्वीकारोक्ति से महाराज प्रसन्न हुए और उसे दस सहस्र मुद्राएँ दीं। अव तो उसकी वाँछें ही खिल गयीं। कामना

की पूर्ति अपेक्षा से भी अधिक हो गयी तो उसे अपार हर्ष हुआ। उल्लास के साथ उसने अपनी कुछ काव्य पंक्तियाँ सुनायीं–

"अनिस्सरन्तीमपि देहगर्भा, कीर्ति परेषां च सती वदन्ति।
स्वैरं भ्रमन्ति मपि च त्रिलोक्यां, त्वत्कीर्तिमाहुः कवयः सतीत्वं॥"

हे राजन् ! शरीर से बाहर निकलने वाली तुम्हारे शत्रुओं की कीर्ति व्यभिचारिणी कहलाती है और चारों ओर घूमने वाली तुम्हारी कीर्ति सती कहलाती है–सर्वत्र विहारी कीर्ति तुम्हारी ही बनी रहती है। वह किसी अन्य की नहीं हो जाती, अतः वह सती के समान है।

आगंतुक कवि की इस अतिशय सुन्दर काव्योक्ति से राजा बड़े प्रसन्न हुए और एक लाख स्वर्ण-मुद्राओं से पुरस्कृत कर उसे सम्मानित किया। काव्य मर्मज्ञ और निपुण पारखी महाराज विक्रमादित्य ने इस कवि में अनुपम प्रतिमा पाकर उससे आग्रह किया कि वह ऐसी ही चमत्कारपूर्ण और आनन्ददायी कोई कथा सुनाकर सभी को हर्षित करे। कवि ने सहर्ष इस आदेश को स्वीकार किया और एक कथा सुनाने लगा–

विशालपुरी राज्य के नरेश नन्द और राजरानी भानुमती में अतिशय प्रीति थी। रानी भानुमती जैसी सुन्दर और शीलवती थीं, वैसी ही मिठबोली भी थीं। रानी की मधुर वाणी के आगे कोकिल की कूक भी फीकी लगती थी। विशाल वंकिम नेत्र और गजगमन-सी चाल पर राजा मुग्ध रहते। इससे भी बढ़कर रानी का हृदय सुन्दर भावनाओं का कोष था जो उनकी बाह्य सुरूपता को चार चाँद लगा देता था। फिर भला भूप नन्द उनके प्रति आकर्षित और मोहित क्यों न रहते? वे प्रतिक्षण उनकी मुख-छवि का रसपान करते रहना चाहते थे। एक पल की भी पृथकता उन्हें उद्विग्न कर देती थी। ऐसी स्थिति थी कि राजसभा में भी वे अपना अर्धासन रानी को देते थे।

प्रत्येक भली वस्तु के साथ कोई निन्दनीय तत्त्व भी जुड़ जाता है। नरेश की इस प्रीतिपूर्ण प्रवृत्ति की भी आलोचना होने लगी कि राजा का अनुराग तो दासत्व की सीमा का स्पर्श करने लगा है। यह शोभा नहीं देता कि इस प्रकार वे राजसभा में भी सदा रानी को संग लिये रखें। उनकी ऐसी प्रवल अनुरक्ति राज-काज में वाधक भी होती है और गंभीर प्रसंग भी उपेक्षित रह जाते हैं। इस आशय का निवेदन करते हुए एक दिन राजहितैपी मंत्री वहुश्रुत ने सुझाव प्रस्तुत किया कि राजरानी जी का एक वहुत सुन्दर यथार्थ चित्र वनवाकर उसे अपने समीप रखा जा सकता है। मंत्री ने स्पष्ट निवेदन किया कि मैं आपके अतिशय प्रेम की विवशता को समझ सकता हूँ किन्तु क्षमा करें, स्वामी ! कुशल नरेश को जनमत का सम्मान भी करना चाहिए। हजारों नेकियों पर कभी भी राजा का एक विकार ही पानी फेर देने के लिए पर्याप्त हो जाता है। ऐसी सतर्कता नरेश की यश-वृद्धि में सक्रिय योगदान करती है। इस

विवेकपूर्ण परामर्श से राजा प्रसन्न हुए। यह मात्र दोष-खोज की प्रवृत्ति ही नहीं, अपितु सुधार के लिए व्यावहारिक सुझाव से युक्त परामर्श भी था। राजा ने स्वयं विचार कर देखा कि सुझाव उत्तम है। उन्होंने मंत्री का धन्यवाद किया और कहा–"बहुश्रुत जी ! कुछ समय से हम स्वयं भी यह सोच रहे थे कि हमारी अनुरक्ति विकृति न वन जाय। लोग हमें स्त्रैण न मानने लग जायें। पर हमारा मोह हमें कुछ करने नहीं दे रहा था। हम हृदय के हाथों विवश हैं, मंत्री जी ! हम कुछ कर न पाये। प्रतिदिन हम सोचते कि कल हम अकेले राजसभा में जायेंगे, किन्तु उस कल के आते-आते भानुमती के रूप की धूप हमारे निश्चय के हिम को द्रवित कर देती। आज आपने एक उपयोगी सुझाव दिया है। हम ऐसा ही करेंगे।"

एक कुशल चित्रकार से रानी भानुमती का चित्र तैयार कराया गया। अद्‌भुत साम्य था–बिम्ब और प्रतिबिम्ब वाला साम्य लगता था जैसे चित्र न हो उसकी चौखट में दर्पण कसा हुआ हो और राजरानी की प्रतिच्छाया ही उस दर्पण में अंकित हो रही हो। रानी की मुद्रा जो चुनी गयी वह ऐसी थी कि जिसमें रानी स्वयं प्रायः रहा करती थीं। इससे रूप-यथार्थ के संग-संग चित्र में एक सहज स्वाभाविकता आ गयी थी। वैसे ही बंकिम और विशाल नयन, वैसी ही घुँघराली अलकें, वही चिवुक का नतोदर आकार और वैसी ही मादक मुस्कान-भरे अधर। राजा ने चित्र देखा तो भ्रमित हो गये। ये तो किसी वातायन से जैसे प्रियतमा स्वयं ही झाँक रही हैं।

मनुष्य का यह सहज स्वभाव होता है कि वह अपनी धारणा का अनुमोदन अन्य जनों से भी प्राप्त करने की चेष्टा करे। और यदि अपनी धारणा का समर्थक कोई अधिकारी विद्वान् हो तो उसे अपनी बुद्धि पर गर्वानुभव होने लगता है। कुछ ऐसी ही लालसा के साथ राजा ने यह चित्र प्रशंसा करते हुए गुरु शारदानन्द को भी दिखाया। वोले–"गुरुदेव ! देखिये, कैसा रमणीक और कैसी वास्तविक छवि की अनुकृति वाला चित्र तैयार किया है कलाकार ने, वाह ! धन्य है वह और धन्य है उसकी महान् कला !!"

गुरु शारदानन्द ने चित्र को ध्यान से देखा और मौन रह गये। राजा नन्द ने आश्चर्य के साथ पूछा–"गुरुदेव ! आप तो मौन हो गये? कैसा लगा चित्र आपको?"

"राजन् ! आप इस चित्र को सुन्दर मानें यहाँ तक तो उपयुक्त है, किन्तु इसे यथार्थ कहना ठीक नही।" गुरु ने स्पष्टोक्ति की।

"क्यो ···· क्यो गुरुदेव? यह यथार्थ क्यों नहीं? कोई अभाव रह गया इसमे?" आतुरता के साथ उद्विग्न नरेश ने अनेक प्रश्न एक ही साथ कर दिये।

गुरु शारदानन्द ने चिन्तन की मुद्रा में कहा–"राजन् ! अभाव तो अभाव ही होता है–चाहे वह तिल मात्र का ही क्यों न हो। छोटा-सा अभाव भी कृति को यथार्थता की अवस्था से नीचे खींच लेने में पर्याप्त होता है।"

राजा नन्द ने समझ लिया कि तिल मात्र से आशय किसी छोटे-मोटे अभाव से ही है, तथापि विनोद के रूप में उन्होंने कह दिया–"किन्तु .... गुरुदेव ! रानी के मुख पर तो वास्तव में कोई तिल है ही नहीं। चित्र में क्योंकर आता !"

त्वरा के साथ गुरु शारदानन्द ने टिप्पणी की–"न हो मुख पर कोई तिल, रानी की जंघा पर तो है।"

'इस अप्रत्याशित कथन पर राजा एकदम-से चौंक पड़े। यह क्या कह दिया गया ! रानी की जंघा पर एक तिल है, किन्तु इस तथ्य को या तो स्वयं रानी जानती हैं, या फिर मैं। इन्हें कैसे ज्ञात हुआ। क्या रानी ....!'–राजा के मन में संदेह अंकुरित होने ही लगा था कि लोक-निन्दा के भय ने उन्हें उससे भी पहले त्रस्त कर दिया। पूर्व इसके कि गुरु शारदानन्द इसकी अन्यत्र चर्चा करे–इसका कोई न कोई उपचार करना होगा। अन्यथा .... अन्यथा हम किसी को मुख दिखाने के योग्य भी न रहेंगे, कदाचित्।

आगंतुक कवि कथा कहता चल रहा था। एक विचित्र मोड़ पर आकर कथाक्रम कुछ थमा। राजा विक्रमादित्य और समस्त राजसभा के साथ इस कथा का उत्साहपूर्वक श्रवण करते जा रहे थे। इस मार्मिक स्थल पर आकर सभी की जिज्ञासा बढ़ने लगी। कथावाचक का मौन उन्हें भारी लगने लगा। तभी कवि ने कथानक को अग्रसर कर दिया–

आपत्काल में बुद्धि भी आत्म-रक्षा के प्रयत्नों में तीव्रता दिखाने लगती है। राजा ने तत्काल एक क्रूर निर्णय ले लिया। अपने कुछ विश्वस्त सेवकों को आदेश दिया–"अन्य कक्ष में बैठे गुरु शारदानन्द को कहीं एकान्त स्थल पर ले जाओ और उनका वध कर दो। इतने कौशल से यह सारा कार्य होना चाहिए कि कार्य से पूर्व स्वयं गुरु को भी इसका कोई ज्ञान न हो पाए और कार्य के पश्चात् किसी को भी नहीं।" इन सेवकों में से एक फूट गया और उसने मंत्री वहुश्रुत के समक्ष इस गोपनीय षड्यंत्र की चर्चा कर दी। मंत्री ने इन सभी सेवकों को पर्याप्त धन देकर उनकी निष्ठा को राजविमुख कर दिया और शारदानन्द को अपने भवन में पहुँचा दिया। मंत्री के यहाँ एक अधोभूमि कक्ष में शारदानन्द गुप्तवास करने लगे। किसी को कानोंकान जानकारी न हो सकी। अपनी समझ में गुरु शारदानन्द को मृत मानकर राजा नन्द ने घोषित कर दिया–"गुरुदेव श्री शारदानन्द तपस्या के प्रयोजन से वनों में चले गये हैं।" कुछ ही दिनों में वात आयी-गयी हो गयी–आँधी के निकल जाने पर जैसे शान्ति छा गयी हो।

× × ×

आगंतुक अपनी कथा को अग्रसर करता जा रहा था और इस विचित्र मोड़ पर पहुँचकर कथा सभी श्रोताओं के लिए असाधारण-सी जिज्ञासावर्धक हो गयी थी। कवि–कथावाचक ने यह प्रतिक्रिया ताड ली और अधिक उत्साह के साथ उसने शेष भाग आरम्भ किया–

विशालपुरी के राजपुत्र विजय से राजा नन्द को विशेष संतोष न था। कारण यह रहा कि राजपुत्र का चरित्र और आचरण विशुद्ध और सात्विक न था। उसे आखेट बड़ा प्रिय था। राजरानी के चित्र का प्रसंग अभी राजा के मानस में उत्पात मचा ही रहा था कि एक अन्य विचित्र घटना ने उन्हें झकझोर दिया। पुत्र जैसा भी हो, पिता के लिए वह सदा वात्सल्य का पात्र ही होता है। पुत्र की दुःखपूर्ण अवस्था से वह विचलित हुए बिना रह नहीं सकता। हुआ यों कि एक दिन कुँवर विजय आखेट के लिए गया तो वह सर्वथा सामान्य और सहज था, किन्तु जब लौटा तो असाधारण अवस्था में था। सभी ने देखा कि विजयकुमार तो विक्षिप्त हो गया है। उसके हाव-भावों से, उसकी आंगिक चेष्टाओं से, उसकी आँखों की पुतलियों से उसकी विक्षिप्तता प्रकट होती थी। वह तो बस 'विसेमिरा .... विसेमिरा' के अर्थहीन अक्षर-समूह का जैसे जाप ही करता रहता था। किसी को उसकी इस रट का न कोई कारण ज्ञात हो पा रहा था और न ही इस जाप का कोई प्रयोजन अनुमानित किया जाना सम्भव था। वह तो 'विसेमिरा .... विसेमिरा' कहते हुए अपने वस्त्रों को फाड़ देता, अपने अंगों को अपने ही दाँतों से काट-काटकर रक्त-रंजित कर देता। कभी चुपचाप बैठा भूमि को घूरता रहता, तो कभी इतनी उछल-कूद मचाता कि दस-दस बलवान पुरुष भी उसे नियंत्रित नहीं कर पाते थे। कुमार की इस दशा से राजा बहुत ही चिन्तित रहा करता। उन्होंने अनेक चिकित्सकों को बुलवाया कि कुमार को स्वस्थ कर दे, किन्तु चिकित्सा की कोई भी पद्धति प्रभावी नहीं हो पा रही थी।

हुआ ऐसे .... कि अपनी परम साहसिकता का परिचय देते हुए कुमार एकाकी ही अश्वारूढ़ होकर आखेटार्थ वन को गया था। उसके मित्रों–सेवकों ने संग जाना भी चाहा, किन्तु उसने बरज दिया। दुर्योग ही कुछ ऐसा था कि एक घने वन-खण्ड में पहुँचने पर एक बाघ उसे दूर से आता दिखायी दे गया। वह अकेला, साधारण-से अस्त्र-शस्त्र से यह आखेट कर न सकता था। परिणाम भी स्पष्ट लक्षित था। कुमार स्वयं ही बाघ का आखेट हो जाने वाला था। मरण-संकट सर्वथा समक्ष देखकर व्यक्ति यदि अपना मनोबल कम न होने दे तो वह आत्म-रक्षा का उद्यम तो कर ही सकता है। उसने भी साहस से काम लिया और एक ऊँचे वृक्ष के तले पहुँचकर, लपककर वृक्ष पर चढ़ गया। उछलते समय उसने एड लगाकर अश्व को भाग जाने का संकेत कर दिया था। परिणामतः वह एक दिशा मे दौड़ गया। कुमार के समीप पहुँचते-पहुँचते ही जव वह वाघ की पकड़ से वाहर हो गया तो वाघ वड़ा निराश हुआ, किन्तु उसकी लगन बुझी न थी। वह तो इस आशा में भूतल पर वैठ गया कि कभी तो उसका आखेट पेड से उतरेगा। वह वार-वार ऊपर झाँक लेता और अपने आखेट को यथावत् पाकर कुछ संतुष्ट हो जाता।

उसी वृक्ष की अन्य शाखा पर एक वानर भी आश्रित था। मनुष्य के प्रति उसके मन में सहज सहानुभूति भी उत्पन्न हुई और वह कुमार की शाखा पर

आकर बैठ गया, उसे आश्वस्त किया और वचन दिया कि वह सहायता करेगा, किसी भी प्रकार की चिन्ता न करे। इस संकट की घड़ी में ऐसा सहयोगी पाकर कुमार को कुछ संतोष हुआ। साँझ ढल गयी। रात्रि आयी तो वानर ने कुमार से कहा–"तुमको मैंने अपना मित्र बनाया है, मानव ! तो मैं अपने मैत्री-धर्म का पालन भी करूँगा। तुम तो मनुष्य हो। तुम्हारी बात तुम ही जान सकते हो। किसी मनुष्य के विषय में निश्चय के साथ भला कैसे कहा जा सकता है।"

खिसियानी-सी हँसी हँसते हुए कुमार विजय ने कहा–"मित्र ! विश्वास करो मुझ पर–मैं भी कृतघ्न नहीं हूँ। मुझे तो गर्व है कि तुम्हारी मित्रता मुझे मिली। मै कुछ भी ऐसा न करूँगा जो तुम्हारे हित में न हो।" वानर के पास इस मानव के कथन को सत्य मानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी न था–किन्तु उसे इस मनुष्य के कथन में असहजता का आभास अवश्य हो गया। कुछ और रात्रि व्यतीत हो जाने पर वानर ने अपनी गोद में मित्र का सिर रखकर सुला दिया। अब तो उसका जीवन सम्पूर्णतः वानर के अधीन हो गया था। वानर की कर्त्तव्य-बुद्धि और अधिक सजग हो गयी। उसने प्राण-पण से उसकी प्राण-रक्षा का दायित्व स्वेच्छा से, स्वतः ही अंगीकार किया था। उसका निर्वाह तो उसके लिए अनिवार्य था ही।

नीचे भूतल पर आशा लगाये बाघ अब भी बैठा था। ऊपर की गतिविधियों की ओर उसकी दृष्टि लगी हुई थी। जब यह विश्वास हो गया कि मनुष्य सो गया है तो बाघ ने बड़े प्यार से पुकारा–"अरे ओ बन्दर भैया ! मेरी सहायता करो। तुमने तो इस अविश्वसनीय और क्षण-क्षण में रंग परिवर्तित होने वाले, निष्ठाहीन मनुष्य से मैत्री कर ली। क्या मुझे भूखों ही मार दोगे। हम स्वजाति वन्धु हैं। तुम भी पशु, मैं भी पशु–ऐसे में तुमको तो भैया ! मेरा पक्षधर होना चाहिए। इस मनुष्य नामक जीव का क्या परतीत ! यह तो अपने स्वजाति वन्धु का भी नही होता, तुम्हारा क्या होगा ! हाँ····? यह तो मात्र स्वार्थ का ही सगा होता है।"

वानर को इस दीर्घ कथन से कुछ अरुचि उत्पन्न हो गयी। वाघ के इस कौशलपूर्ण प्रवोधन में (वाघ के) निहित स्वार्थ की गंध आने लगी। चातुर्य-शिरोमणि वानर ने अपने स्वर मे कुछ रुखाई लाते हुए पूछा–"दद्दा ! यह तो वताओ, मुझसे तुम चाहते क्या हो? मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ?"

भूखा शेर अति प्रचण्ड हो जाता है, किन्तु यह वाघ तो चतुर भी था। अपनी प्रचण्डता को विवशता का आवरण देते हुए विनय के साथ वोला–"भैया मेरे ! तुम चाहो तो भूख दूर करने में तुम सहायता कर सकते हो मेरी। इस मनुष्य को नीचे धकेल दो तो इसका भक्षण कर तृप्त हो जाऊँ मैं और तुम्हारे लिए शुभ कामनाएँ करूँ।"

वानर का चातुर्य उसे सव-कुछ समझा देने में समर्थ था। उसने भी सद्व्यवहार का आवरण ओढ़ते हुए कहा–"वाघ दद्दा ! मैंने इस प्राणी के साथ मित्रता की है। इसे मैं धोखा देकर पाप नहीं कर सकता हूँ। मैंने इसे निश्चिन्त और आश्वस्त

किया है। मुझ पर विश्वास करके ही यह मेरी गोद में सोया है। क्या सोते में इसे मै नीचे गिराकर तुम्हारा आहार बना दूँ—यह विश्वासघात न होगा ! मैं भला यह पाप कैसे कर सकता हूँ। क्षमा करो, दद्दा ! मुझे क्षमा करो .... ऐसा-वैसा मैं कुछ भी न कर सकूँगा। तुम भूखे हो तो जाओ, वन की अन्य दिशा में शिकार खोजो। क्यों यहाँ समय नष्ट कर रहे हो?"

"सुनो, भाई ! .... सुनो ! इस प्राणी से अपनी निष्ठा भावना निभाकर भी तुम्हे क्या मिलने को है। यह तो कभी अपने भाइयों का भी नहीं हो सका, तो भला तुम्हारा क्या होगा ! तुम तो फल-फूल खाते हो—तुम्हारे तो किसी अर्थ का यह है ही नहीं .... अब मेरी भूख ही इससे मिटे तो तुमको तो प्रसन्नता ही नहीं, अपने कार्य पर गर्व भी होना चाहिए ना ! जिसकी रक्षा के लिए तुम इतने चिन्तित हो, भैया ! उस मनुष्य की कृतघ्नता को देखकर तो धरती माता ने भी इसे केवल दो पैरों से ही अपने को छूने की अनुमति दी है। हमारी भाँति चारों पैरों से इसे माँ स्पर्श नही करने देती। इसके पापकर्मी हाथों से दूर ही रहना चाहती है। इसलिए इसकी चिन्ता छोडो, भैया ! और इसे मुझको सौंपकर पुण्य अर्जित करो। इन थोथे विचारों से मुक्त होकर अपने समाज की सेवा करो, भाई ! तुम्हारे गुण गाता रहूँगा ....।" वानर बाघ की बातों में न आया तो बाघ ने नये सिरे से प्रयत्न करने का अन्य ही मंसूबा बनाया और वह शान्त होकर उचित समय के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। समय की उपयुक्तता ही कार्यसिद्धि में साधक होती है, असमय के कार्य असफल ही रह जाते हैं। धैर्य के साथ सुसमय की प्रतीक्षा में भी एक विवेकशीलंता है।

यथासमय ही कुमार निद्रा त्यागकर सजग हो गया। उसने पाया कि वाघ अव भी वृक्ष-तले बैठा प्रतीक्षा कर रहा है। उसने वानर को धन्यवाद दिया कि उसने जागते रहकर उसको विश्राम दिया। अब वानर उसकी गोद में सो जाये, वह जागेगा और वानर शेष रात्रि में विश्राम कर ले। एक कृतज्ञहीन पर अविश्वास करने का कोई कारण भी न था। वह कुमार की गोद में सिर रखकर निश्चिन्त मन से सो गया। सारा वन उस रात्रि में सॉय-सॉय कर रहा था। कुमार के लिए ऐसे भयावह वन में रात्रि व्यतीत करने का यह प्रथम अवसर था और वह भी ऐसी विकट परिस्थितियों से घिरा था। उसे सम्वल प्राप्त था तो वस इस वानर की मैत्री का। जव वानर की सॉस ध्वनित होने लगी तो वाघ सतर्क हो गया। उसने कुमार को पुकारकर कहा—"हे मानव ! मेरी वात ध्यान से सुन। जव तू सोया था तो इस वानर ने वड़ी अनुचित वात की। यह मुझे कहने लगा कि वह तुझे नीचे गिराकर मुझे आहार देने को तैयार है। कहा कि मैं तो पशु हूँ—पशु की सहायता करने का मेरा धर्म है. इस विश्वासघाती जीव से मेरा क्या नाता ! मैंने तो इसीलिए इसे सुलाया है कि नींद में इसे गिराकर तुम्हारी भूख मिटाने का प्रवन्ध कर दूँ। ऐसा नीच है, तुम्हारा यह मित्र। यह तो मैंने उसे कहा कि जिसने तुम पर

विश्वास किया—उसे धोखा देकर तुम कौन-सा पुण्य कर लोगे। यदि तुमने इस मनुष्य को धकेल भी दिया, तो भी मैं उसका भक्षण नहीं करने वाला। जीता-जागता वह बेचारा जब सारी वास्तविकता जान लेगा तो तुम्हारी वंचनापूर्ण करतूत के लिए उसके मन में घृणा का भाव जागेगा। तुम्हारा शत्रु हो जायेगा वह—मुझे ऐसा पाप का आहार नहीं चाहिए। वह तो अच्छा हुआ कि मेरी इस बात से वह डर गया। प्राणी पाप से कम डरता है और पापकर्म के उजागर हो जाने से अधिक आतंकित रहता है। मैंने तुम्हारे प्राणों की रक्षा की है, मनुष्य ! तू इसकी मीठी-मीठी बातों में आ गया और इसकी भीतरी भावना का कसैलापन न पहचान सका पर तुझे सचेत करना भी तो मेरा धर्म है। मेरा परामर्श माने तो तू ऐसे अविश्वस्त वानर से मित्रता तोड़ दे। यह जागकर फिर कोई करतूत करेगा। इस चालाक प्राणी का क्या भरोसा ! अभी यह तो गहरी नींद में सो ही रहा है। इससे अपना पिण्ड छुड़ा। इसे नीचे धकेल दे। मैं इसे मारकर अपनी उदर-पूर्ति कर लूँगा और यहाँ से चला जाऊँगा। तू भी अपने घर चला जाना। इस वानर के लिए तो वृक्ष ही घर है पर तू कब तक इस वृक्ष पर रहेगा। जरा सोच और कोई उपाय कर। मेरा भी क्या है !.... यह वन ही मेरा घर है। बैठा रहूँगा यहीं।"

बाघ ने कुमार के निश्चिन्त और शान्त मानसरोवर में कंकड़ी उछालकर लहरियाँ उत्पन्न कर दीं। 'इस वानर पर विश्वास कर क्या मूर्खता की है मैंने। यह ऊपर से कुछ और भीतर से कुछ अन्य ही है। इसकी मीठी-मीठी बातों में आकर तो मैं मरण के समीप ही पहुँच गया था। नाश हो इस वानर का। इसके मधुर शब्दों मे विष भरा है। अब इससे पिण्ड छुड़ा लेने में ही हित है; अन्यथा .... यह अन्य कोई संकट उत्पन्न कर देगा।'—ऐसे-ऐसे अनेक विचार राजकुमार के मन में आने लगे। उसने वानर को एक झटके के साथ नीचे धकेल दिया। वाघ ने मुँह खोला और वानर को पीठ से अपने पैने दाँतों में जकड़ लिया। वाघ की पकड़ वड़ी सुदृढ थी। जब वानर को विश्वास हो गया कि वह यों मुक्त न हो सकेगा तो वह अट्टहासपूर्वक जोर-जोर से हँसने लगा। कुमार तो समझ गया कि यह आत्म-रक्षा के लिए कोई नवीन चाल चल रहा है, किन्तु वाघ वेचारा कुछ समझ न सका। आश्चर्य में पड़कर वह सोचता रहा। उसने असंख्य प्राणियों का आखेट किया—कोई भी इस प्रकार आसन्नमरण अवस्था में हँसा ही नहीं। यह वानर क्यों अद्भुत व्यवहार कर रहा है? जिज्ञासा तो वड़े-वड़े सुधीरों को अधीर कर देती है और यह अधैर्य तात्कालिक रूप से करणीय-अकरणीय का विवेक कुछ शिथिल कर देता है। जव वाघ का कुतूहल चरम पर पहुँच गया तो उसने वानर से पूछा—"जव तू मृत्यु के समीप है, काल के जवड़े में फँसा हुआ है—हे वानर ! तू हँस क्यों रहा है? हँसना तेरे लिए शक्य ही कैसे हो रहा है? इस हास्य का कारण क्या है?"

जिज्ञासा ने वाघ को प्रश्नाकुल कर दिया और इस आकुलता ने उसे मुख खोलने को प्रेरित किया। दाँतों की जकड शिथिल होते ही वानर त्वरा के साथ वाघ

से मुक्त होकर लपका और पुनः वृक्ष पर जा चढ़ा। वहाँ सुरक्षित होकर वह बैठा और जोर-जोर से रोने लगा। इस असंगति को देखकर बाघ बड़ा चकित रह गया– "संकट की अवस्था में, हे वानर ! जब तुझे रोना चाहिये था, तू हँसता रहा। अब तेरे प्राणों की रक्षा हो गयी तो तू रो रहा है, तुझे तो प्रसन्न होना चाहिये। कारण–कार्य की इन असंगतियों से मेरा मन तो अचंभित है। इसका क्या कारण है? वानर भैया ! तनिक समझाकर बताओ न !"

वानर ने भी इस अनहोनी प्रतीत होने वाली गतिविधि को स्पष्ट करने में कोई संकोच न दिखाया। उसने कहा–"बाघ दद्दा ! सुनो। तुमने जब मुझको अपने दॉतों में पकड़ लिया तो मेरा मरण निश्चित हो गया था। उससे रक्षा पाने के लिए कोई असाधारण हरकत करना अनिवार्य हो गया था कि जिससे आश्चर्य में पड़कर तुम अपना मुख खोल दो और मैं पुनः स्वाधीन हो सकूँ। जब मैं यहाँ आकर शाखा पर बैठ गया तो मेरी सुरक्षित अवस्था भी निश्चित हो गयी, किन्तु यह सोचकर मुझे रोना आ गया कि जिसे मैंने अपना मित्र बनाया उस मनुष्य ने विश्वासघात करके जो मित्र-द्रोह किया है, उससे अपने लिए कठोर पापबंध कर लिया है। इसे नरक-यातना भोगनी पड़ेगी। अपने मित्र की ऐसी दुर्गति के लिए मेरा चित्त कष्टित हो उठा।" वानर के आचरण और मैत्री-व्यवहार से अपने व्यवहार की तुलना कर कुमार मन-ही-मन लज्जित होने लगा। तभी वानर उसके कान में 'विसेमिरा' शब्द का उच्चारण कर एक से दूसरे वृक्ष पर फाँदता हुआ वन में कहीं लुप्त हो गया। वाघ भी अपने रास्ते कहीं चला गया। उसी क्षण से कुमार विजय 'विसेमिरा' निरर्थक शब्द को रटने लगा था। विक्षिप्तावस्था में उसे स्वयं भी ज्ञात न रहता था कि वह क्या कर रहा है और यह भी वह विस्मृत कर गया कि उसके साथ क्या बीती? प्रातः होने पर कुमार भी नीचे उतर आया किन्तु उसी वृक्ष-तले वैठकर 'विसेमरा' की रट लगाता रहा। राज-कर्मचारी कुमार की खोज करते-करते कुछ समय में वहॉ आ पहुॅचे। कुमार को इस दशा में देखा तो वे भी अचरज करने लगे। वे उसे राजभवन ले गये।

राजभवन में सभी अपने प्रिय कुॅवर की इस कारुणिक स्थिति से दुःखित–चिन्तित थे। सभी उसकी चिकित्सा के लिए प्रयत्नशील भी थे। जव कोई चिकित्सा सफल न हुई तो राजा नन्द उदास रहने लगे। अपने एक मात्र पुत्र, उत्तराधिकारी विजयकुमार की इस विचित्र स्थिति से उनका दुःखित रहना स्वाभाविक भी था। वे इसे कभी अपने पूर्वकृत अपकर्मों का दुष्परिणाम मानते तो कभी युवराज का प्रारब्ध, किन्तु उनकी चेष्टाओं में कोई कमी नहीं आ पायी। एक उपाय के निष्फल सिद्ध होते-होते अन्य चार उपाय आ उपस्थित होते। सभी की एक ही कामना थी कि युवराज शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ करें। जिसे जो उपाय सूझता उसका निवेदन राजा के समक्ष कर आता। पिता का मन पुत्र की हितकामना में इतना लीन हो गया था कि हर उपाय को अपनाने को आतुर हो उठता। वेचारा मरता–क्या नहीं करता।

निराशा के सिंधु में डूबते राजा नन्द बेचारे हर तृण को नौका समझकर उसका आश्रय लेने को तत्पर हो जाता। पिता का हृदय होता ही ऐसा है। शक्याशक्य का विवेक त्यागकर वह जो मार्ग बताया जाता है, उस पर दौड़ पड़ता है। विकल, असाध्य रोगग्रस्त पुत्र के माता-पिता के समान दीन प्राणी अन्य कोई नहीं। यही स्थिति राजा नन्द और रानी भानुमती की हो गयी थी। एक दिन इसी निराशा में घिरे नरेश ने अपने सहायकों के मध्य कहा–"यदि आज गुरुवर्य शारदानन्द जी होते तो कोई समस्या ही नहीं रहती। वे परम ज्ञानी हैं, किन्तु वे भी तो····।"

इसी समय एक अद्‌भुत विचार से मंत्री बहुश्रुत मन-ही-मन चमत्कृत हो उठा। एक क्षण में ही उनका विचार परिपक्व हो उठा और उन्होंने निवेदन किया– "राजराजेश्वर ! गुरु शारदानन्द की शिष्या रही है मेरी पुत्रवधू। वह भी बड़ी मंत्रविद् है और अनेक संकटों को अपनी मंत्र-विद्या से दूर करने में वह सफल रही है। आज्ञा हो तो पुत्रवधू को भी प्रयत्न कर लेने दिया जाय। आज जब गुरु जी की चर्चा चली तो मुझे उसका स्मरण हो आया, दीनानाथ ! मुझे विश्वास है कि वह अवश्य ही सफल रहेगी।"

राजा को भला क्या आपत्ति होती? उन्होंने तत्काल ही अपनी अनुमति प्रदान कर दी। दूसरे दिन मंत्री अपनी पुत्रवधू को लेकर राजभवन में पहुँच गये। एक यवनिका के पीछे पुत्रवधू के आसीन होने की व्यवस्था कर दी गयी। यवनिका के बाहर युवराज, राज-दम्पति, राजकुल के कुछ अन्य परिजन, मंत्री बहुश्रुत कतिपय अन्य अमात्य जनों के संग बैठे थे। राजा नन्द के मन में उत्साह बढ़ता जा रहा था कि क्या···· कैसे घटित होने वाला है? राजकुमार विजय विचित्र मुद्राओ के साथ 'विसेमिरा···· विसेमिरा' उच्चरित करता जा रहा था। इसी समय यवनिका की उस ओर से स्तुतिगान का स्वर आने लगा। मंत्री ने राजा को अवगत किया कि पुत्रवधू इस इष्टदेव की आराधना के पश्चात् 'विसेमिरा' शब्द के प्रत्येक अक्षर से आरंभ होने वाले एक-एक मंत्र का पाठ करेगी और हमारे युवराज समस्त वाधाओं से मुक्त हो जायेंगे। वे स्वस्थ और नीरोग होकर पूर्ववत् हो जायेंगे। राजा की प्रफुल्लता उनके अधरों पर मुस्कान वनकर थिरक उठी। इसी समय पुत्रवधू की स्तुति समाप्त हुई और कुछ क्षणों के विराम के पश्चात् उसने एक मंत्र का पाठ किया जो 'विसेमिरा' के प्रथमाक्षर से आरंभ होता था–

"विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता।
अंकमारुह्य सुप्तं हि हन्तुं किं नाम पौरुषम्॥"

–विश्वासघात करने में भी भला क्या कोई वहुत वडी चतुराई रहती है। गोद में सोये वानर को फेंककर पाप ही अर्जित किया है।

इस पाठ को सुनकर कुमार को कुछ शान्ति का अनुभव होने लगा। उसने 'वि' का परित्याग कर शेप तीन अक्षरों का जाप आरंभ कर दिया–'सेमिरा····· सेमिरा।'

अब तो पुत्रवधू ने यवनिका के पीछे से ही दूसरे मंत्र का पाठ किया जो 'से' से आरंभ होता था–

"सेतुं गत्वा समुद्रस्य गंगासागरसंगमे।
ब्रह्महा मुच्यते पापैर्मित्रद्रोही न मुच्यते॥"

अर्थात्–

"सेतु-जलधि गंगा सागर पर, मुक्त पाप से होते।
मित्र-द्रोह से सारा जीवन, रोते-रोते बीते॥"

अब तो कुमार ने द्वितीयाक्षर 'से' का भी त्याग कर दिया और केवल 'मिरा.... मिरा' की रट लगाने लगा। और तब तीसरे मंत्र का पाठ आरंभ हो गया जिसका प्रथमाक्षर था 'मि'–

"मित्रद्रोही कृतघ्नश्च स्तेयी विश्वासघातकः।
चत्वारो नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥"

अर्थात्–

"मित्र-द्रोह विश्वासघात संग, कृतघ्नता अरु चोरी।
इन चारों का करने वाला, रहे नरक की मोरी॥"

अब तो 'विसेमिरा' का केवल अन्तिम अक्षर 'रा' ही शेष रह गया। राजकुमार विजय केवल 'रा.... रा' करने लगा। और तभी मंत्री की पुत्रवधू ने 'रा' अक्षर से आरंभ होने वाला चौथा मंत्र पढ दिया–

"राजस्त्वं राजपुत्रस्य यदि कल्याणमिच्छसि।
देहि दानं सुपात्रेभ्यो गृही दानेन शुद्ध्यति॥"

अर्थात्–

"राजन् ! चाहो भला पुत्र का, तो सन्तों को दान करो।
दानधर्म करके निज सुत का, निज का भी कल्याण करो॥"

चतुर्थ मंत्र के पाठ पर कुमार ने 'रा.... रा' करना भी छोड़ दिया। वह शान्त होने लगा और पूर्व स्थिति की ओर वढ़ने लगा। अव उसकी स्मृति भी लौट आयी। उसे मन-ही-मन वह सारी घटना स्मरण आने लगी जो आखेट के समय वन में घटित होने लगी। मित्र वानर के साथ किये गये उसके विश्वासघात पर कुमार के मन में पछतावा होने लगा। उसने सारे उपस्थित जनों को यह आप-वीती सुनायी।

राजा नन्द को आश्चर्य हुआ कि हममें से किसी को भी ज्ञात न हो सका था कि कुमार की ऐसी दशा क्यों हो गयी? वह 'विसेमिरा.... विसेमिरा' क्यों चिल्लाता है? फिर मंत्री की पुत्रवधू को 'विसेमिरा' का रहस्य कैसे ज्ञात हो गया। ऐसा गुरु शारदानन्द जी के लिए तो संभव था, किन्तु यह नारी कैसे....? तभी मुखर होते हुए राजा ने यवनिका की ओर ताकते हुए पूछा–"वेटी ! यह

बताओ.... तुम्हें इस घटना का रहस्य किस विद्या द्वारा ज्ञात हो गया। तुम्हारी शक्तियाँ तो आश्चर्यजनक हैं।"

"राजा ! सुनो !" यवनिका के पीछे से वाणी गूँज उठी—"कुछ समय पूर्व ही गुरु शारदानन्द जी को बिना कुछ देखे ही चित्र की यथार्थता में अभाव अनुभव हो गया, वैसे ही बिना कुछ देखे-सुने इस प्रसंग में भी विद्या-बल पर हमें सब-कुछ ज्ञात हो गया। हमें प्रत्यक्षतः कुछ देखने-सुनने की आवश्यकता नहीं रहती।" इस बात ने तो राजा नन्द के कान ही खड़े कर दिये—'तो गुरुजी पर मेरा संदेह आधारहीन ही है। उन्होंने प्रत्यक्ष देखे बिना ही, अपनी विद्या के आधार पर रानी के तिल होने और उसका अभाव चित्र में होने की बात कही। हमने तो व्यर्थ ही उन पर शंका की और उनके जीवन....। आहा.... हा.... कितना अच्छा होता कि ऐसे गुणी जन आज भी हमारे साथ होते। हमने नाहक ही उनका....। यह तो हमसे बड़ा पाप हो गया।' वे ऐसा सोचते ही चले जा रहे थे कि सहसा यवनिका के भीतर से पुनः ध्वनि आयी—"राजन् ! चिन्ता न करो.... आप क्या सोच रहे हैं, हमें सब-कुछ तत्काल ज्ञात होता जा रहा है। आप तो दुष्कर्म पर तुल गये, किन्तु हमने वह पापकर्म आपसे होने न दिया। तनिक यवनिका हटाकर तो देखें, राजन् !"

राजा ने उठकर शीघ्रता के साथ यवनिका हटाई तो उन्हें तो जैसे काठ ही मार गया। वे अवाक्-से, हक्के-बक्के होकर देखते रह गये। भीतर तो मंत्री की पुत्रवधू के स्थान पर स्वयं गुरु शारदानन्द जी बैठे थे। एक ओर लाल साटिका पड़ी हुई थी। स्वयं को सहज और सामान्य बनाते हुए राजा नन्द पछतावे के अश्रु प्रवाहित करने लगे। बोले—"त्राहिमाम्.... गुरुवर्य ! त्राहिमाम्.... अपयश के भय से आपके इस अज्ञानी शिष्य ने जो पाप किया है आपसे उसके लिए वह क्षमा-प्रार्थी है, गुरुदेव ! क्षमा कर दें, हमारे पाप का भार कुछ कम कर दीजिये। हम पापी हैं.... नरक में भी हमें स्थान....।"

"शान्त हो जाओ, नरेश ! शान्त हो जाओ। संदेह की अग्नि तो बड़े-बड़े विनाश कर देती है। पुण्यों के प्रासादों को भस्म कर देती है, राजन् ! किन्तु आपके विज्ञ मंत्री बहुश्रुत ने आपको पाप-सरिता में प्रवाहित होने से बचा लिया। बाँह पकड़कर आपको बाहर खींच लिया है। तब गुरुवर ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा का मन फूल की भाँति खिल उठा। मंत्री बहुश्रुत का घना उपकार मानते हुए उन्होंने मंत्री से कहा—"उनकी दूरदर्शिता से उनका यह संकट तो दूर हुआ ही है, वे स्वयं भी एक जघन्य पाप से रक्षित हो गये हैं। सात-सात जन्मों तक भी वे इस उपकार से उऋण न हो सकेंगे।" राजा ने गुरुवर्य शारदानन्द और मंत्री बहुश्रुत का राजसभा में सार्वजनिक रूप से सम्मान किया और अपनी भूल के लिए अनुताप किया।

कथा समाप्त करते हुए कथावाचक ने कहा—"ऐसे गुरु सभी नरेशों को मिलें। सभी राज्यों को ऐसे नरेश.... ऐसे मंत्री मिलें।" राजा विक्रमादित्य इस कथा में

बड़े प्रभावित हुए। एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं के पुरस्कार से उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ आगंतुक कवि-कथावाचक को सम्मानित किया और इस पर स्वयं भी गर्वानुभव करने लगे। आगंतुक आशीर्वाद देकर विदा हो गया और राजसभा विसर्जित हो गयी।

● ●

अवन्ती-नरेश वीर विक्रमादित्य महाराज वीरों का आदर करते थे। मानवोचित सद्गुणों के प्रशंसक महाराज स्वामी-भक्ति और त्याग-बलिदान जैसी भावनाओं के पुजारी थे। दुर्भाग्य का मारा एक परदेसी गुणवान दैवयोग से उनके सम्पर्क में आ गया और उसके दुर्दिन का समय वैभव और सुखद समय में परिवर्तित हो गया। पराक्रमी नरेश भीम अपने राज्य वीरपुर का शासन न्याय-नीति के संग करते थे। उनका पुत्र युवराज रूपचन्द्र भी बड़ा ही पराक्रमी और साहसी पुरुष था। दूर-दूर तक युवराज रूपचन्द्र की चर्चा से लोगों के अधरों पर वीरपुर का नाम आ जाता था—वीरपुरवासियों को इस पर गर्व का अनुभव हो जाता। अत्यन्त नम्र और स्नेहशील युवराज रूपचन्द्र सभी का प्रिय हो गया था।

वीरपुर का पट्टहस्ति वड़ा सुदर्शन गजराज था। राजा भीम को यह अत्यन्त प्रिय था और जन-जन को उसके साथ स्नेह था। ऐसा हस्ति दूर-दूर के राज्यों में भी अन्यत्र कहीं नहीं था। एक वार यह गजराज मदोन्मत्त हो गया और सर्वत्र विनाश करने लगा। गजपालकों ने स्नेह के व्यवहार से, शक्ति के प्रयोग से—नानाविध प्रयत्न किये कि उस पर नियंत्रण कर लें, किन्तु वह अधिक-से-अधिक विफरता ही चला गया। राजा भीम अत्यन्त चिन्तित हो गये। कोई युक्ति उन्हें भी नहीं सूझ रही थी कि इस विक्षिप्त हस्ति से राज्य में जन-धन की हानि कैसे रोकी जाय। हस्ति ने अनेक पुराने और विशाल वृक्षों को उखाड़ दिया, उपवनों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वाजारों को छिन्न-भिन्न कर दिया। अनेक गृह-द्वार तोड़ दिये, आतंकित जनता प्राण-रक्षा के लिए नगर के वाहर भाग चली। वृद्ध जन वेचारे छतों पर चढ़ गये। सर्वत्र महाविनाश से भरे वातावरण मे हाहाकार मचा हुआ था। राजपुत्र रूपचन्द्र इस विनाश-लीला से वड़ा चिन्तित हो गया। वह गजराज को वश में करने की कोई युक्ति सोच ही रहा था कि उस विक्षिप्त हस्ति ने एक ब्राह्मणी को शुंड में थामकर उसे घर से वाहर खींच लिया। उसका पति वेचारा निरुपाय असहाय-सा त्राहि-त्राहि करने लगा। ब्राह्मणी मृत्यु को समक्ष पाकर क्रन्दन करने लगी। संवेदनशील कुमार से यह दृश्य देखा न गया। उसका हृदय करुणा से भर उठा। पर-दुःख में दुःखी होकर जिनका हृदय द्रवित हो जाये, वह मात्र दयालु

कहला सकता है। करुणा तो ऐसे दयालु को कष्टित जन का दुःख दूर करने के लिए सचेष्ट हो जाने की प्रेरणा देती है। रूपचन्द्र भी परिस्थिति की गंभीरता और आसन्न संकट को ताड़कर सक्रिय हो गया। हस्ति ने जब ब्राह्मणी को थामी हुई अपनी शुंड को झटकारना आरंभ किया तो कुमार ने अपनी चेष्टा निश्चित कर ली। इसी मध्य उसने शुंड को ऊपर उठाया और ब्राह्मणी को पछाड़ने का उपक्रम करने लगा तो कुमार ने अपना पैंतरा साधा। हस्ति ने अपने पिछले पैरों को झुकाकर जब मस्तक को ऊँचा किया तो कुमार को अनुकूल अवसर मिल गया। उसने निशाना साधकर हस्ति के मस्तक पर पूर्ण शक्ति के साथ भाले का प्रहार किया। तत्काल ही विशाल काय हाथी अन्तिम चिंघाड़ के साथ भूलुंठित हो गया। त्वरा के साथ आगे बढ़कर कुमार ने ब्राह्मणी को थाम लिया। वह बेचारी तो मृत्यु के मुख से निकलकर आयी थी। थरथर काँपती हुई वह कुमार के चरणों में हाथ जोड़कर बैठ गयी। अपने उपकारक के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए ब्राह्मण के पास भी शब्द न थे। आर्द्र नेत्रों से कुमार की ओर निहारता हुआ वह भी हाथ जोड़े, समीप आकर खड़ा हो गया। कुमार ने कोमलता के साथ ब्राह्मणी को भी उठाया। पीठ सहलाकर ब्राह्मण को भी आश्वस्त किया और बोला–"निर्भीक और निश्चिन्त हो जाओ द्विज-दम्पति। तुम्हारी रक्षा करने का मेरा क्षत्रियोचित कर्त्तव्य ही मैंने निभाया है। अब कोई सकट नहीं। जाओ.... विश्राम करो।"

ब्राह्मणी कहती रह गयी–"आप महान् हैं, कुमार !.... आपने....।" और कुमार राजभवन को चल दिये। सच्चा उपकारक उपकृत द्वारा कृतज्ञता ज्ञापन और गुणगान की लालसा नहीं रखता। उपकृत को यह आभास भी वह नहीं कराना चाहता कि उसने कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। राजपथ पर असंख्य जनों की भीड़ कुमार का जय-जयकार करती हुई उसका अनुसरण करने लगी। आगे-आगे वीर रसावतार-से कुमार रूपचन्द्र और पीछे-पीछे उपकृत जनता का उल्लास वातायन से देखकर राजा भीम तो चकित रह गये। क्या युवराज ने हाथी को वश में कर लिया? नगर में अव हाहाकार की ध्वनियाँ भी शेष नहीं रहीं। वे स्वयं सव-कुछ जान लेने को आतुर-से नीचे उतर आये। जव उन्हें अपने पुत्र के साहसपूर्ण पराक्रम की कथा ज्ञात हुई तो कुमार के करतव पर वे फूले न समाये। वॉहें फैलाकर उन्होंने पुत्र को गले लगा लिया। "साधुवाद करते हैं, वत्स ! हम तुम्हारा। तुमने अपने शौर्य से हमारा मस्तक ऊँचा कर दिया है। धन्य हो तुम और धन्य है वह वीरांगना जननी जिसने तुम-जैसे वीर को जन्म दिया है।" राजा भीम ने अपने शूरवीर वेटे की पीठ थपथपायी और कुमार का शीश विनय के साथ झुक गया। उसने पिताश्री को प्रणाम कर चरण स्पर्श किया और पिता का हृदय वात्सल्य भाव के ज्वार से भर उठा। सारा नगर आनन्द में झूम उठा।

कई दिनों तक वीरपुर में उत्सव होते रहे। कुमार रूपचन्द्र का प्रशस्ति-गान होता रहा। जय-जयकार से गगन गूँजता रहा। राज्य की ओर से अति भव्य

महोत्सव आयोजित किया गया। दूर-दूर से अनेक राजकुलों को निमंत्रित किया गया। सारे वीरपुर की जनता समारोह में सम्मिलित हुई। राजा भीम ने दृष्टि दौड़ाकर देखा मंत्री–अमात्य जन भी उपस्थित हुए थे। उन्हें यह देखकर बड़ा असामान्य-सा लगा कि महामंत्री सुमति समारोह में नही थे। आमंत्रित शासकों–युवराजों ने कुमार को वधाइयॉ दीं, उनका अभिनन्दन किया। कवियों ने उनका प्रशस्ति-गान किया। नृत्य-सगीत के मनोरम, सरस दौर चले। समारोह क्या था? उत्ताल तरंगों से भरा उत्साह-समुद्र का ही प्रतिरूप निर्मित हो गया था। राजा भीम ने उच्च स्वर में घोषित किया–"युवराज रूपचन्द्र ने अपने पराक्रम से जो श्रेष्ठ क्षत्रियोचित उदाहरण स्थापित किया है–वीरपुर को उस पर गर्व है। हमने पाया है कि उन्होने एक अघटनीय घटना को घटित करके दिखा दिया है–आज से वे अघटकुमार के सम्मान सम्बोधन के स्वामी हो गये हैं। हम 'अघटकुमार' के राजकीय सम्मान से उन्हें विभूषित करते हैं और कामना करते हैं कि इनका पराक्रम दिन-दूना रात-चौगुना अभिवर्धित होता रहे। वोलिये–अघटकुमार की जय !!" उपस्थित जन-समुदाय के जय-जयकार से नभोमंडल कई क्षणों तक गॅूजता रहा। इसी विपुल जय-जयकार के मध्य राजा ने कुमार को मोतियों की वहुमूल्य माला धारण करायी। श्रद्धावनत् कुमार भीम ने इसे स्वीकार किया और पितृश्री के चरणों में नमन किया। उठा तो कुमार ने सभी दिशाओं मे उन्मुख होते हुए विनयपूर्वक सभी से प्रणाम किया, आभार प्रकट किया।

अपने पुत्र के कृतित्व पर राजा भीम को स्वाभिमान का अनुभव हो रहा था, भव्य समारोह पर संतोष था, किन्तु महामंत्री सुमति द्वारा की गयी उपेक्षा से उनके मन में रोष भी कम न था। आगामी दिवस ही उन्होने महामंत्री को बुलाया। अपनी रुष्टता को पूर्ण उग्रता के साथ व्यक्त करते हुए उन्होंने रूक्षतापूर्वक उनसे कहा–"तुम्हें वडा दर्प आ गया है, सुमति ! सभी ने समारोह में उपस्थित होकर युवराज का सम्मान किया, उन्हें वधाइयॉ दीं। तुम सम्मिलित नहीं हुए। तुम्हें कुमार से क्या ईर्ष्या है? तुमने उपेक्षा करने का साहस कैसे किया?"

"शान्त हो, राजेश्वर ! आपके इस सेवक को न कोई दर्प है, न ही कुमार से कोई ईर्ष्या है? समारोह की उपेक्षा करना भी मेरा मंतव्य नहीं रहा, स्वामी !" म[illegible]ी ने [illegible]तापूर्वक [illegible] कि[illegible]।

"तो···· तो फिर तुम्हारी अनुपस्थिति क्यों रही? क्या तुम इस समारोह को अनुचित मानते हो····?"

"जी महाराज !" उत्तेजित स्वर को नियंत्रित करते हुए, विनय का वाना ओढ़ते हुए सुमति ने कहा–"मैंने पूर्व में भी निवेदन किया था, आज भी मेरा यही मत है, महाराज ! किसी भी राज्य के लिए ऐसा आयोजन अनुपयुक्त है। मुझे कुमारश्री के प्रति कोई ईर्ष्या नहीं, किन्तु क्षमा किया जाऊँ तो निवेदन करूँ कि

पट्टहस्ति का मरण स्वयं में अशुभ है, श्रीमानेश्वर ! मैं उस अनीतिकारक उत्सव मे सम्मिलित होकर वही दोष करता जो आपने किया है, श्रीमान् !"

"अर्थात् हमने यह उत्सव मनाकर दोष किया? अनुपम शौर्य के लिए हमने युवराज का सम्मान करके त्रुटि की है?" राजा भीम रोष से भर उठे।

"जी, श्रीमान् ! यही मेरा भाव है। कुमार का शौर्य तो तब होता, जब वे पट्टहस्ति को अपने बल और चातुर्य से अपने वश में कर लेते।" महामंत्री ने स्पष्टोक्ति की–"राजहस्ति अवध्य होता है। शास्त्रों में भी वर्णित है कि गाय, विप्र, स्त्री, पुत्र और हाथी का मरण शोक का ही कारण है–किसी भी अवस्था में हर्ष का नहीं। पट्टहस्ति के मरण से सैन्य-शक्ति का पतन माना जाता है, राजेश्वर ! इस घटना से समारोह मनाने, प्रसन्न होने का कोई आधार नहीं बनता, महाराज ! हर्ष तो इस घटना से शत्रुओं को हुआ होगा। उन्होंने घी के दीपक जलाए होंगे। पट्टहस्ति के मरण से मुझे तो शोक हुआ और यही मेरी अनुपस्थिति का कारण था। जिस कारण से आपने हर्षसूचक समारोह मनाया–वह तो शोक का कारण था। इससे वीरपुर की दुर्भाग्यपूर्ण हानि हुई है।"

महामंत्री के अंतिम कथनांश को सुनते-सुनते राजा भीम मौन–गंभीर हो गये। उनका तत्त्वान्वेषक चित्त चिन्तनग्रस्त हो गया। आरंभिक स्तर पर उन्हें सुमति के विचारों में औचित्य की झलक मिलने लगी। तटस्थ और उदार चिन्तन दुराग्रह-समापन के लिए एक अमोघ औषधि है। इससे व्यक्ति की सत्य के साथ समीपता बढ़ती चली जाती है। राजा भीम भी उदार चिन्तक थे। उन्हें अपने महामंत्री के विचारों ने दूर तक प्रभावित किया। उन्हें अनुभव होने लगा कि उनसे वस्तुतः एक दोष हो गया है। उन्होंने भूल करने वाले को सम्मानित कर स्वयं एक भूल की है। शोक के कारण को भी अविचारपूर्वक उन्होंने हर्ष का विषय माना है। गजराज का मरण अशुभ ही होता है और उसका यों भी स्वाभाविक मरण नहीं रहा–राजकुमार द्वारा उसकी हत्या हुई है। यह तो दुर्भाग्य को आमंत्रण देना ही हुआ। फिर भला कुमार प्रशंसा और अभिनन्दन का पात्र कैसे हो सकता है? चिन्तन की गहराइयों में पहुँचकर राजा का मन कुमार का निन्दक हो उठा।

राजा भीम ने एक दिन युवराज रूपचन्द्र को बुलाया और उसकी भर्त्सना की। बोले–"कुमार ! तुम्हें अपनी शक्ति पर इतना ही गर्व है तो तुमको उसका प्रदर्शन समर-भूमि में करना चाहिये। एक निरीह मूक पशु हस्ति की हत्या करना तुम्हें शोभा नहीं देता। यह अमंगल तुमने स्वयं ही वीरपुर के लिए निर्मित कर दिया। हमने तुम्हारी प्रशंसा की, तुम्हारे कृत्य को शौर्य और साहस का प्रतीक माना–यह भूल की हमने। हम घोषित करवा रहे हैं, कुमार ! कि तुम्हें अघटकुमार की जो संज्ञा प्रदान की गयी थी, हमने उसे निरस्त कर दिया है। तुमने अपने कुकृत्य से हमारा मस्तक अवनत कर दिया है। अब अवनत होगी वीरपुर की समृद्धि। तुम्हारा

यह अविवेकपूर्ण कार्य इतिहास में अवमानना के साथ वर्णित किया जायेगा जो वीरपुर के पतन का कारण होने वाला है। प्रारब्ध को न जाने क्या स्वीकार्य है ! हमें तुम्हारे मुख-दर्शन से भी घृणा हो गयी। जाओ .... हमें अपना यह 'सुन्दर' मुखड़ा नहीं दिखाना।"

इस फटकार से कुमार का मन वितृष्णा से भर उठा। वह चुपचाप उठकर चल दिया। एक भी शब्द प्रतिक्रियास्वरूप कुमार नहीं बोला। बोलना सार्थक भी नहीं था। 'अघटकुमार' जैसा संबोधन उन्हें मिला भी और प्रदान करने वाले द्वारा ही वह छीन लिया जा रहा था–इस अपमानपूर्ण स्थिति ने उसे विचलित कर दिया और उसने तत्काल निर्णय लिया–'मैं वीरपुर में अब महाराजा तो क्या, किसी को भी अपना मुख नहीं दिखाऊँगा। क्षत्रिय हूँ, अपने बाहुबल से स्वयं कुछ बनकर दिखाऊँगा। आगामी सूर्योदय अव मैं वीरपुर में नहीं देखूँगा।' यह निश्चय कर अर्द्ध-रात्रि में कुमार रूपचन्द्र अपनी गर्भवती पत्नी को लेकर वीरपुर का त्याग कर अलक्ष्य यात्रा का पथिक हो गया। आत्म-विश्वास उसका सहचर था और आत्म-सम्मान उसका संवल; साहस उसका पाथेय था और निर्भीकता उसकी गति। यह एक सुयोग ही था कि अनिश्चयपूर्वक भी जो दिशा उसने चुनी वह अवन्ती की ओर ले जाती थी। अवन्ती वहाँ से दूरस्थ नगर था, किन्तु सतत यात्रा इस दूरी को समेटती चली गयी। मार्ग में ही एक स्थल पर उसकी पत्नी पद्मिनी ने एक पुत्र को जन्म दिया। कुछ काल के विश्रामोपरान्त वे पुनः प्रवास संलग्न हुए। अनेक दिनो की लम्बी और कष्टपूर्ण यात्रा के पश्चात् अन्ततः वे एक दिन अवन्ती पहुँच ही गये। अवन्ती उनके लिए सर्वथा अपरिचित नगर था। यहाँ कुमार रूपचन्द्र का कोई पूर्व-कल्पित या सुनिश्चित भविष्य तो नहीं था, किन्तु रूपचन्द्र हताश भी न था। उसे विश्वास था कि आजीविका का कोई साधन तो यहाँ निकल ही आयेगा। हाँ, उपयुक्त साधन के लिए खोज अवश्य करनी पड़ेगी। वह स्वस्थ एवं सवल युवक था। उसे कोई सेवा-कार्य तो मिल ही जायेगा–ऐसा सोचकर एक दुकान पर उसने अपनी पत्नी को विठाया और स्वयं रोजगार की खोज मे नगर-भ्रमण पर निकल गया।

होनहार ही ऐसी थी कि पद्मिनी जिस दुकान पर वैठी थी, वहाँ का व्यवसाय सहसा चमक उठा। जितनी आय दिनभर मे होती थी, उतनी तो एक घटिका में ही हो गयी। यही क्रम आगे भी निरन्तरित था। श्रेष्ठी तुष्ट और प्रसन्न था। इस नारी की उपस्थिति को अपने लिए शुभ मानते हुए उसके प्रति उसके मन में सहानुभूति के भाव जाग्रत हो गये। दिनभर व्यवसाय चलता रहा। पद्मिनी अपने पति के आगमन की प्रतीक्षा में अपने शिशु के साथ वैठी रही। श्रेष्ठी ने स्नेहपूर्वक पूछ लिया–"बहन ! तुम लोग कहाँ से आ रहे हो? कुछ खा-पी तो लिया कि अभी शेष है?" कुछ औपचारिकताओं के पश्चात् वह यह जानने का प्रयत्न भी करने लगा कि इस महिला की गोद में जो शिशु है–वह पुत्र है या पुत्री? ज्ञात हो जाने

पर वह कहने लगा—"बहन ! तुम दोनों माता-पुत्र बड़े भाग्यशाली हो। तुम्हारा पुत्र तो सबका प्रिय और परोपकारी होगा। बड़ा ही पराक्रमी और परोपकारी होगा। तुम दोनों की उपस्थिति इतनी शुभ रही है, मेरे व्यवसाय के लिए कि मैं क्या कहूँ।" कुछ उपकृत होने का भाव उसकी मुख-मुद्रा में आ गया।

पद्मिनी ने सहजता के साथ उत्तर में कहा—"श्रेष्ठीवर ! यह तो आपके प्रारब्ध का बल ही है जो इस रूप में प्रकट हो गया है। हाँ, प्रत्येक परिवर्तन के लिए कोई दृश्यमान निमित्त भी अवश्य ही रहता है। और उसे शुभ के लिए गौरव और अशुभ के लिए भर्त्सना भी मिलती है।"

"कुछ भी कहें, बहन ! मेरे लिए तो तुम लक्ष्मी जी की ही अवतार सिद्ध हुई हो आज। मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ। तुम्हारे पतिदेव नगर में गये थे, अभी लौटे नहीं ....? लो वो भी आ गये।" एक ओर देखते हुए श्रेष्ठी ने कहा और हाथ उठाकर 'आओकार' के साथ ही बोले—"भाई, बड़ी दीर्घ आयु होगी तुम्हारी। स्मरण किया ही था तुम्हारा कि तुम आ पहुँचे। बड़े भाग्यवान हो तुम लोग, किन्तु क्या बात है? तुम इतने हताश क्यों दिखायी देते हो? क्या काम बना नहीं?"

"नहीं, श्रेष्ठी जी ! इस नगर में तो मुझे कोई काम-काज मिला नहीं। लगता है अब किसी अन्य नगर में ही भाग्य की परीक्षा करनी होगी। क्षमा चाहता हूँ आपको भी कष्ट दिया।"—यह कहते हुए रूपचन्द्र ने शिशु को अपनी गोद में उठा लिया और चलने को उद्यत हुआ।

तभी श्रेष्ठी ने उसे रोकते हुए कहा—"ऐसा नहीं हो सकता, भाई ! ऐसा नहीं हो सकता। उद्यम करना मनुष्य का कर्त्तव्य होता है, फल देना 'उसके' हाथ की बात है। उसके घर में भी देर भले ही हो अंधेर नहीं है। आज न मिला तो कल अवश्य तुम्हें कोई काम भी मिल ही जायेगा। जो भी हो, तुम्हारा आगमन मेरे व्यापार के लिए बड़ा मांगलिक रहा। आज एक ही दिन में मेरा लाभ उतना हो गया है कि जितना एक माह में रहा करता है। तुम्हारी गृहिणी तो देवी है—देवी। सुनो .... आज तुम लोग मेरे अतिथि हो। कुछ विश्राम करो। सोच-विचार भी कर लो। फिर यदि चाहो तो कल आगे प्रस्थान कर लेना। मैं तुम्हें रोकूँगा नहीं .... किन्तु आज तो तुम्हें मेरा आतिथ्य स्वीकार करना ही होगा।" विनय के साथ कृतज्ञ श्रेष्ठी करबद्ध मुद्रा में आशा-भरी दृष्टि से रूपचन्द्र का मुख निहारने लगा। रूपचन्द्र भी ना न कर सका। बोला—"जैसी आपकी इच्छा श्रेष्ठीवर !"

श्रेष्ठी इन लोगों को साथ लेकर अपने आवास पर आया। बड़ी प्रसन्न मुद्रा में उसने स्वयं इनका स्वागत किया और आदर व स्नेहपूर्वक उन्हें बिठाया। दास-दासियाँ इनकी सेवा में जुट गयीं। श्रेष्ठी-पत्नी पद्मिनी के साथ बड़ी देर तक हँस-हँसकर बातें करती रही। यथासमय भोजन हुआ। विश्राम के क्षणों में ये परस्पर बतियाते रहे। संध्या ढलने को थी। श्रेष्ठी व्यवहार-कुशल था। परदेसी अतिथियों के स्वागत-सत्कार में पीछे नहीं रहा, किन्तु असावधान रहना भी उसके

स्वभाव में न था। उसने अपने सेवक को एक ओर बुलाकर धीमे स्वर मे कहा– "रात्रि में सतर्क रहना। परदेसी और साधनहीन लोग हैं। कहीं कोई वस्तु ही दबा ले जाएँ, या धन चुराकर रात में ही ....।"

श्रेष्ठी का कथन रूपचन्द्र की पत्नी पद्मिनी ने सुन लिया। उसने तपाक से कहा–"मेरे स्वामी इस धन से लाखों गुने वैभव को स्वेच्छा से त्यागकर आये हैं। हम क्षत्रिय हैं। वाहुवल ही हमारा वास्तविक धन है। हम निर्धन नहीं हैं। अपने उद्यम से आजीविका अर्जित करेंगे। पराये धन को हड़पना हमारा काम नहीं। सिंह भूखा भी हो तो घास नहीं चरने लग जाता। आपने मेरे स्वामी के विषय में ऐसा अनुमान क्योंकर कर लिया?"

श्रेष्ठी वड़ा लज्जित–संकुचित हुआ। उसने अपने विचारों की हीनता के लिए क्षमा-याचना की। उत्तम जनों का रोष क्षणिक होता है। पद्मिनी ने उदारतापूर्वक इस कटु प्रसंग को छोड़ दिया। श्रेष्ठ कुलों में जन्मे लोगों के लिए यही शोभादायक प्रवृत्ति होती है। कुछ ही क्षणों में वात आयी-गयी हो गयी। वातावरण को शीघ्र ही सामान्य वना लेने के लिए श्रेष्ठी अतिरिक्त स्नेह के साथ व्यवहार करने लगा। मधुर सलाप विगडते संवंधों को सुधारने में सहायक होता है। श्रेष्ठी रूपचन्द्र के साथ वैठा वडी देरी तक प्रियकर वार्त्तालाप करता रहा। रूपचन्द्र जानना चाहता था कि महाराज विक्रमादित्य से भेंट करने का क्या साधन हो सकता है? श्रेष्ठी से ज्ञात हुआ कि भट्टमात्र महामंत्री भी है और महाराज का मंत्री भी। छह माह उसकी सेवा करके जो उसे प्रसन्न कर देता है, नरेश से उसकी भेंट वह करवा देता है। इतनी प्रतीक्षा का धैर्य रूपचन्द्र मे न था। आगामी दिवस श्रेष्ठी-भवन से निकलकर वह वाहर आया। कुछ सोचकर उसने कुछ फल और एक सुन्दर-सा पुष्प-गुच्छ खरीदा और राजसभा की ओर चल दिया।

राजसभा का द्वारपाल वडा तत्पर था। क्षत्रियोचित तेज से दीप्त मुख-मण्डल और ऊर्जस्वित चाल-ढाल को देखकर वह आदरपूर्वक प्रणाम कर दो चरण पीछे हट गया। अवाध रूप मे रूपचन्द्र ने राजसभा में प्रवेश कर लिया। राजसी चाल और वैसा ही सुसंस्कृत हाव-भाव देखकर सभी रूपचन्द्र के विपय मे उत्तम अनुमान ही लगा रहे थे कि वह महाराज के समक्ष जा पहुँचा। उसके नमन-प्रणाम की राजसी शैली से महाराज वीर विक्रम अतिशय प्रभावित हो गये। उसके व्यक्तित्व से पराक्रमशीलता और सौम्य छलक रहा था। उसने वडे ही विनयपूर्ण ढंग से फल-फूल भेंट किये। स्पर्श कर महाराज ने भेंट स्वीकार कर ली। उसे सभा मे आसन दिया। धन्यवाद करते हुए रूपचन्द्र ने महाराज के साथ वार्त्तालाप आरम्भ किया। वार्त्तालाप के विषयों और शैली से महाराज का यह अनुमान पुष्ट होने लगा कि यह अवश्य ही किसी राजकुल का सम्मानित सदस्य है। परिस्थितिवश वह भटक रहा है। दस हजार स्वर्ण-मुद्राओं के साथ महाराज ने उसे सम्मानित किया। वार्त्तालाप के दौरान यह भी स्पष्ट हो गया कि यह वीरपुर का युवराज रूपचन्द्र है

और महामात्य को आदेश दिया—"रूपचन्द्र हमारी राजसभा के सदस्य नियुक्त किये जाते हैं, इनके आवास की समुचित व्यवस्था कर दी जाय। हम वीरपुर के युवराज का अवन्ती में भावपूर्ण स्वागत करते हैं।"

रूपचन्द्र के इस मान-सम्मान से अनेक सभासद हर्षित थे और मनुष्य को भलीभाँति पहचानने की अद्भुत क्षमता के लिए वे महाराज की प्रशंसा करने लगे। अन्य कुछ ऐसे भी थे जो प्रथम दिवस में ही इतना मान प्राप्त कर लेने के कारण रूपचन्द्र से ईर्ष्या करने लगे थे। ऐसे ही एक अधिकारी को महामात्य भट्टमात्र ने रूपचन्द्र के आवास की व्यवस्था का दायित्व सौंपा। इस अधिकारी की तो बाँछें ही खिल गयीं। रूपचन्द्र से अकारण विरोध मानने वाले इस अधिकारी को प्रतिशोध का अवसर मिल गया। उसने अपने एक साथी की ओर ऐसी दृष्टि से देखा, जिसका आशय था—मैं भी इसे ऐसा आवास देता हूँ कि बच्चू को छठी का दूध याद आ जायेगा। राज्य की ओर से एक छोटा-सा, बड़ा सुन्दर प्रासाद हाल ही में निर्मित कराया गया था जो रिक्त पड़ा हुआ था, रूपचन्द्र को दे दिया गया। रूपचन्द्र श्रेष्ठी के आवांस पर पत्नी-पुत्र को लेने पहुँचा। श्रेष्ठी को यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि उसके अतिथि को अवन्ती की राजसभा में एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त हो गया। रूपचन्द्र ने जब अपने लिए प्रदत्त आवास के विषय में चर्चा की तो श्रेष्ठी सहसा चौंक पड़ा। बोला—"नहीं, भाई ! नहीं.... उस प्रासाद में नहीं रहना। वह प्रासाद तो भूतिहा है। उसमें वेताल का निवास है। वहाँ तुम्हारा जीवन सुरक्षित नहीं है। इसी कारण वह रिक्त पड़ा रहता है। मेरी यह बात मान लो, भाई ! तुम अपने लिए कोई अन्य आवास माँग लो।"

आसन्न संकट से जो विचलित न हो, विचारपूर्वक उस संकट का सामना करने को जो तत्पर हो जाता है—वही बाधाओं पर विजयी होकर सफलता अर्जित कर सकता है। प्रेत-बाधा से अवगत होकर भी रूपचन्द्र अडिग बना रहा। उसने इस चुनौती को स्वीकार करने का मन-ही-मन निश्चय कर लिया। प्रकट रूप में उसने यही कहा कि सावधानी से हम रहेंगे, यदि आवश्यक हुआ तो अन्य आवास भी ले लेंगे। देखते हैं क्या होता है? यदि मन न हारे तो बाहर की शक्ति कभी किसी को पराजित नहीं कर सकती। हम विजय का आह्वान ही न करें तो उसकी उपेक्षा ही तो हमें मिलेगी। वह अतिथि नहीं, जो हमारा द्वार कभी भी खटखटा सकती हो। इस सिद्धान्त को मानने वाला कुमार रूपचन्द्र बाधाओं को स्वयं पर कभी हावी न होने देता था। वह निर्भीक रूप में अपनी पत्नी के साथ जा पहुँचा प्रासाद में, जहाँ के लिए यह प्रचलित था कि यह प्रेतग्रस्त है। वहाँ पहुँचकर उसने इस बात की पुष्टि कर ली कि वास्तव में विगत दीर्घकाल से यह मानवीय आवास नहीं रहा। सब ओर कूड़ा-करकट था। द्वारों—वातायनों पर मकड़ी के जालों से यवनिकाएँ बन गयी थीं। एक कक्ष को तो चिमगादड़ों ने अपना आवास बना लिया था। सूने घर में पक्षियो ने अपने घोंसले बना लिये थे। तावदानों में घास-फूस भरा था। उद्यान के

नाम पर भवन के चारों ओर जो उन्मुक्त क्षेत्र था वहाँ भी झाड़-झंखाड़ भरे थे। पद्मिनी ने घर को देखा तो दंग रह गयी। यह कैसा आवास दिया गया है हमें ! इसे स्वच्छ करने का काम भी बड़ा ही भारी है। कुछ श्रमिकों को रखकर यह कार्य तत्काल कराना होगा। यही सोचकर कुमार नगर में कुछ श्रमिकों को ले आने को गया। कुछ स्थल एक कक्ष में स्वच्छ कर पद्मिनी ने चादर तहाकर बिछा दी और शिशु को सुला दिया। लेटते ही वह जोर-जोर से रोने लगा।

इस भवन में राजा विक्रमादित्य के मित्र अग्निवेताल ने अपना आवास बना लिया था। इस भवन में रहने का दुस्साहस करने वाले दो-एक लोगों को मजा चखाने की दृष्टि से उसने खूब त्रस्त किया और उनकी मृत्यु ही हो गयी। फिर तो किसी ने इसे आवास न बनाया। दीर्घ कालोपरान्त कुमार यहाँ रहने को आया था। जब वह वहाँ पहुँचा तो अग्निवेताल बाहर निकला हुआ था। वह लौटा तब तक कुमार बाहर निकल चुका था। वृक्ष-तले अश्व को बँधा देखा तो वेताल बड़ा प्रसन्न हुआ। 'वाह ! क्या ही भारी और स्वस्थ पशु है। फिर जब बाहर अश्व है तो भीतर भी कम-से-कम एक व्यक्ति–अश्वारोही तो होगा ही। इतना भोजन तो मेरी तृप्ति के लिए पर्याप्त ही होगा।'–ऐसा सोचकर वह अश्व से दृष्टि हटाकर प्रासाद के द्वार तक आया। वह भीतर प्रवेश करने वाला ही था कि उसके कानों में एक नारी-स्वर पडा–"रो नहीं मेरे लाल, चुप हो जा। तेरे पिताजी तेरे लिए 'अग्निक' (खिलौना) लेने गये हैं। अभी आते ही होंगे। तू अग्निक से खूब खेलना।" शिशु का थमा हुआ रुदन सहसा तीव्र हो गया। उसे शान्त करने को पुचकारती हुई माँ ने कहा–"मेरा लल्ला अग्निक (अग्निवेताल–दूसरे अर्थ में) से खेलेगा, अवश्य खेलेगा। तेरे पिता अभी आकर अपने झोले से निकालकर तुझे अग्निक सौंप देंगे।" इतना सुनना था कि वेताल तो विचलित हो गया–'यह तो कोई महान् वीर पुरुष की गृहिणी है। इसका पुत्र तो मुझसे खेलने के लिए मचल रहा है। अग्निवेताल को इसका पिता अपने झोले में रख लेता हो ऐसा पराक्रमी है। अच्छा हुआ कि मैं उसे नगर में मिला नहीं; यहाँ पहुँच गया। मैं तो स्वयं अपने को बहुत बलवान मानता रहा, किन्तु अब आया है ऊँट पहाड के नीचे। यह महान् वीर तो मुझे परास्त करके ही छोडेगा। लगता है मेरा ऐसा भवितव्य ही इसे खींचकर यहाँ लाया है, अन्यथा सुना तो इसने भी होगा कि यह प्रासाद कैसा भयानक है। उसका साहस तो महाराज वीर विक्रम के समान चढ़ा-बढ़ा है। अब मेरी सुरक्षा संकट में है। मैं क्या करूँ·····।' वह चिन्तित हो गया और आकुलतावश उसे चक्कर आ गया और वह धम्म से भूमि पर सिर पकड़कर बैठ गया। कुमार का अश्व भी समीप ही बँधा था। उसने पदाघात किया। उसकी प्रचंडता ऐसी थी कि वेताल बेचारा आकाश में काफी ऊँचाई तक उछलकर दूर जा गिरा। कुछ ही क्षणों में वह सँभलकर उठा और भीतर प्रवेश करने लगा कि उस देवी से अभय प्राप्त कर सके। भीत–आतंकित वेताल बेचारा असहायावस्था में करबद्ध खड़ा रह गया।

पद्मिनी अपने शिशु से बतिया रही थी–"डर नहीं, तू तनिक भी न डर, निर्भीक हो जा। तू चिरंजीवी हो–मेरी आशिष है।" वेताल ने यह अभय, यह आशिष अपने लिए मान ली और दीनता-भरे शब्दों में बोला–"माँ ! तुमसे अभय पाकर मैं कृतार्थ हो गया, माँ ! मैं तुम्हारा दास हूँ, सेवक हूँ तुम्हारा, मेरी रक्षा करो, माँ !"

इन कोमल वचनों को वंचना मानकर पद्मिनी ने सकोप कहा–"कौन है रे तू ! यहाँ क्यों आ गया है मरने को। ऐं....?"

"माँ, तुम तो दया की सागर हो। मैं अग्निवेताल असुर हूँ।"

"और तू जानता नहीं कि मैं कौन हूँ? मैं भैरवी हूँ.... भैरवी। असुर ही मेरा आहार होते हैं। अब मेरे हाथों तेरा मरण सर्व निश्चित है।"

"माँ, तुम असुर-विनाशिनी हो....! अवश्य हो, किन्तु मेरी रक्षा तो अब तुम्हारा दायित्व हो गया है न ! अभी-अभी तुमने अभय दिया है, चिंरजीवी होने की आशिष दी है। मैं स्वयं तुम्हारे चरणों में आश्रय पाने को आया हूँ। शरणागत तो वैसे भी अवध्य हो जाता है, माँ !"

पद्मिनी ने धैर्य के साथ कहा–"वेताल ! मैं तुझे न भी मारूँ तो क्या....! इस बालक के वीर शिरोमणि, महाप्रतापी पिता तुझे छोड़ने वाले नहीं। वो लौटने ही वाले हैं, असुर ! वे तुझे खोजने को ही गये हैं। तुझे यहाँ पाकर तो वे वीरोचित उत्साह से भर उठेंगे और तब तेरा सर्वनाश निश्चित ही है।"

"त्राहिमाम्.... जननी !.... त्राहिमाम्। अब मेरी रक्षा का भार तुम पर ही है, माँ ! अपना वत्स मानकर शरण में लो इस अकिंचन को।" घिघियाते हुए असुर वेताल पद्मिनी के चरणों में लोटने लगा।

पद्मिनी ने दयालुतावश वेताल को आश्वस्त किया और उसे भवन के बाहर कहीं छिप जाने को कहा। वह पिछले वातायन के नीचे छिपकर खड़ा हो गया। कुछ ही पलों में कुमार रूपचन्द्र भी आ गया। बहुत धीमे स्वर में पत्नी ने अब तक का वृत्तान्त संक्षेप में बताया और तब स्वर को तनिक उदीप्त करते हुए बोली–"क्या हुआ, स्वामी ! क्या अग्निवेताल आपको मिला नहीं?"

रूपचन्द्र ने उत्तर दिया–"नगर तो मैंने सारा खोज लिया। वहाँ वह कहीं भी न मिला। संभव है वह इधर ही आकर कहीं मृत्यु-भय से छिप गया हो। अन्यथा भी वह जायेगा कहाँ। आना उसे पडेगा ही। मेरे हाथों उसे मरना ही होगा, प्रिये ! यह बीस विस्वा खरा सत्य है।"

भयातुर, कँपकँपाता हुआ अग्निवेताल इसी समय प्रविष्ट हुआ और गिड़गिडाने लगा–"हे, परम वीर ! मुझे मारिये नहीं.... नहीं मारिये मुझे। आप तो मेरे पिता समान हैं। मेरी रक्षा करो। माँ तो मुझे अभयदान कर ही चुकी है।"

रूपचन्द्र ने पद्मिनी की ओर निहारा। वह बोली–"हाँ, प्रियतम ! यह सत्य है मैंने इसे अभयदान किया अवश्य है। इसे छोड दिया जाय, स्वामी !"

"अब तुम इसे अभय कर चुकी हो तो हमें कुछ सोचना ही पड़ेगा।" रूपचन्द्र ने वेताल को सम्बोधित करते हुए कहा–"असुर ! हम तुझे एक शर्त पर ही छोड़ सकते हैं कि तुम वचन दो कि तुम सदा मेरे अधीन रहकर मेरे आदेशों का पालन करोगे।"

"अवश्य, स्वामी !.... अवश्य। अपने प्राण-रक्षक की सेवा करना मेरा प्रथम कर्त्तव्य रहेगा। मैं आपका दासत्व स्वीकार करता हूँ।" मस्तक झुकाकर अग्निवेताल ने करबद्ध निवेदन किया।

कुमार ने उसकी नाक में कौड़ी डालकर उसे अपना दास बना लिया। "वेताल ! यदि तू हमारा दास हो ही गया है तो हमारा आदेश भी सुन ले।" कुमार रूपचन्द्र ने गरिमा के साथ कहा–"हमारा आदेश है कि तू हमें अपने कंधे पर बिठाकर इसी समय राजसभा में पहुँचा दे।"

"जो आज्ञा, मेरे स्वामी !" अग्निवेताल ने कुमार को अपने कंधों पर आरूढ़ किया और चल दिया। नगरवासियों ने देखा कि विशालकाय वेताल को इस आगंतुक ने अपने वश में कर लिया तो कुमार के प्रति उनके मन में प्रशंसा का भाव भर गया। 'वाह ! बड़ा शक्तिशाली पुरुष है। इसकी वीरता का क्या कहना। इस पराक्रमशील वीर को तो पुरस्कार मिलना चाहिये। इसका साहस अपार है, भाई–इसे तो राज्य में ऊँचा पद दिया जाना चाहिए। हमारे राजराजेश्वर वड़े पारखी हैं। आश्चर्य नहीं, इस नवयुक को वे सेनापति ही वना दें। हॉ.... इसका शौर्य–पराक्रम तो इसी प्रकार का रहा है। भला इस शक्तिशाली असुर को अपना दास वना लेना कोई साधारण कार्य है !'–जितने मुँह उतनी ही वातें थीं। अग्निवेताल को अपना वाहन बनाए राजमार्ग पर होकर कुमार जा रहा था और पीछे-पीछे उसके श्रद्धालु जनों की भीड़ चली जा रही थी। ज्यों-ज्यों वह आगे वढ़ता गया–यह जन-समूह भी सघनतर होता गया। राजकुमार का जय-जयकार भी वढ़ने लगा।

अवन्तीनाथ महाराज विक्रमादित्य तो इस विचित्र दृश्य को देखकर चकित ही रह गये–"तुम सचमुच महान् पराक्रमी हो, कुमार ! तुम-जैसे वीर का सान्निध्य पाकर हमारी राजसभा धन्य हो उठी है। हमें गर्व है–तुम-जैसे वीर पर और तुम्हारी साहसपूर्ण शक्ति पर। जिस अग्निवेताल को हमने अपना दास वनाया, उसे तुमने भी अपने वश में कर लिया–यह असाधारण वात है। हम तुम्हारी इस पराक्रमशीलता की प्रशंसा किये विना रह नहीं सकते। तुम तो शौर्य और शक्ति के अद्भुत पर्तीक हो गये हो। हमे गर्व है कुमार तुम पर।" भरी राजसभा में महाराज ने कुमार को गले से लगा लिया। सभा मे हर्ष-ध्वनि गूँज उठी।

कुमार का वक्ष कुछ अधिक चौड़ा हो गया, किन्तु आदर भाव के साथ उसका मस्तक झुक गया। निवेदन किया–"मेरे स्वामी !.... मेरे तात ! मैं आभागी हूँ

श्रीमानेश्वर का, आपके हृदय में ऐसा स्थान पाकर आपका यह सेवक तो धन्य ही हो उठा है। मैं तो कुछ भी नहीं हूँ, प्रभो ! केवल आपश्री की कृपा का आकांक्षी ही हूँ।'' आदरपूर्वक कुमार महाराज के चरणों में झुक गया और स्नेहपूर्वक महाराज ने उसे ऊपर उठा लिया।

अपनी दायीं बॉह में कुमार के पुष्ट स्कंधों को घेरकर खड़े राजा वीर विक्रम ने सगर्व घोषित किया–''कुमार रूपचन्द्र ने अद्भुत शक्ति–शौर्य का प्रदर्शन करते हुए जिस अघटनीय को घटित कर दिखाया है उस पर सारी अवन्ती को गर्व है। हम कुमार को 'अघटकुमार' के सम्मान से विभूषित करते हैं। आज से ये इसी नाम से सम्बोधित किये जायेंगे।'' महाराज का मुख-मण्डल प्रसन्नता से दीप्त हो उठा। उन्होंने अपने कंठ से मुक्तामाला निकालकर मुस्कराते हुए अघटकुमार को धारण करा दी और प्रशंसा-भरी दृष्टि से वे उसे नीचे से ऊपर तक देखने लगे।

''मैं धन्य हुआ, राजराजेश्वर ! बहुत-बहुत आभारी हूँ, श्रीमानेश्वर ! इस सम्मान को पाकर। धरती पर जब तक आपश्री-जैसे वीरता का मोल समझने वाले, आदर करने वाले रहेंगे तब तक जगत् में वीरता बनी रहेगी, विकसित होती रहेगी। यह आपका जन कहीं का कुमार होगा तो होता रहे–आपका तो एक विनीत सेवक होकर वह अपने को धन्य मानता है। जैसे वह असुर मेरा दास है, वैसे ही मैं आपका दास हूँ।'' कुमार ने जब मुख ऊपर को किया तो उसके साश्रु नयन देखकर महाराज चकित रह गये। उनके नेत्रों में अनेक प्रश्न तैरने लगे।

कुमार की पीठ थपथपाते हुए महाराज ने उसे किंचित् आश्वस्त किया और कोमलता के साथ पूछा–''वीरवर ! तुम्हारे नेत्र में···· ये ऑसू कैसे····?''

''महाराज ! आज मेरे लिए बड़े आनन्द का दिवस है। ये हर्ष का ही नयन-जल है। कभी मेरे पितृश्री राजा भीम ने भी मेरे पराक्रम के लिए यही 'अघटकुमार' का सम्मान मुझे प्रदान किया था और पिताश्री ने स्वयं ही इसे छीन भी लिया। आज मुझे वही छिना हुआ सम्मान आपश्री के हाथों प्राप्त हुआ तो मेरा हृदय भर आया और नयन-घट छलक पड़े।'' कुमार ने विनयपूर्वक निवेदन किया।

महाराज ने इस अवसर को उपयुक्त नहीं पाया कि राजा भीम ने अघटकुमार का सम्मान क्यों वापस ले लिया–इस विषय की चर्चा हो। वे बोले–''अघटकुमार ! तुम और तुम्हारा कृत्य दोनों ही सम्मान के उचित पात्र हो। तुम्हारा सम्मान करने वाला तो एक प्रकार से स्वयं भी सम्मानित ही हो जाता है। प्रारब्ध तुम्हारे पक्ष में रहे और तुम्हें सदा विजय ही प्राप्त होती रहे।''

महाराज विक्रमादित्य ने अघटकुमार को अपना अंगरक्षक नियुक्त कर दिया और स्वयं निश्चिन्त हो गये। अघटकुमार ने भी बड़ी सजगता के साथ अपने दायित्व का निर्वाह आरंभ कर दिया। पत्नी-पुत्र के साथ सुख-वैभवपूर्वक का उसका जीवन व्यतीत होने लगा। आशावादी उद्यमी का सुख सर्व निश्चित रहता

है। उसका लोप भी होता है तो क्षणिक ही होता है और उद्यमशील व्यक्ति उसकी पुनर्प्राप्ति कर लेता है। अपने गुणों से, हँसमुख व्यवहार से, कर्त्तव्य-परायणता से कुमार ने अवन्ती के राजा-प्रजा के मन में अच्छा प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया और दिनोदिन उसकी लोकप्रियता अभिवर्धित होती चली गयी।

× × ×

रात्रि में अंगरक्षक के रूप में विशेष सक्रियता के साथ अघटकुमार महाराज की सेवा में सन्नद्ध रहा करता था। महाराज का वह ऐसा विश्वासपात्र सेवक हो गया था कि उसके उपस्थित रहने पर महाराज निश्चिन्त निद्रा का सुख प्राप्त करते थे। महाराज के शयन-कक्ष के बाहर उनके दो निजी सेवक बारी-बारी से रात्रिभर रहा करते थे। इससे भी बाहर वाले मुख्य द्वार पर चार सशस्त्र अंगरक्षक रहा करते थे और प्रधान अंगरक्षक के रूप मे अघटकुमार प्रत्येक रात्रि में–रात्रिभर सेवा में रहता था। महाराज की सारी सुरक्षा व्यवस्था का संचालन वह स्वयं करता था।

अमावस्या की अंधकारपूर्ण अर्द्ध-रात्रि में सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था। रह-रहकर तीव्र पवन के झौके आ जाते थे। दूर कहीं से शृगालों की ध्वनियॉ भी मन्द होते-होते यहॉ तक पहुॅच जाती थीं। राजभवन के भीतर-वाहर सव ओर बड़ी सुरक्षा व्यवस्था थी। प्राचीर पर उल्काधारी प्रहरी सावधान स्थिति में चक्कर लगा रहे थे। महाराज शय्या पर गहन निद्रा में मग्न थे। खुले वातायन से किसी दीन स्त्री के करुण क्रन्दन की ध्वनि ने आकर सहसा उन्हें जाग्रत कर दिया। वे हड़वड़ाकर शय्या पर उठ बैठे। वे कान लगाकर सुनने का प्रयास करने लगे। किसी नारी के करुण विलाप का स्वर उन्हें सुनायी देने लगा। प्रजा के कष्ट से पीड़ित हो जाने वाले अवन्ती-नरेश दुःखित हो उठे–'वेचारी कौन स्त्री इस समय रुदन कर रही है? उसे क्या कष्ट हो सकता है? हमारी प्रजा में ऐसी कौन दुर्भाग्य की मारी है यह वेचारी?' करुणार्द्र होकर महाराज ने घंटिका ध्वनित कर दी और तत्क्षण ही सेवक उपस्थित हो गया। उसे महाराज ने अघटकुमार को उपस्थित करने का आदेश दिया और पुनः ध्यानपूर्वक उस नारी-स्वर को समझने का प्रयत्न करने लगे। मात्र अस्पष्ट शोर-सा सुनायी दे रहा था। कथन का कोई रूप ही नहीं बन पा रहा था। महाराज किसी प्रकार की अनुमानित स्थिति की भी कल्पना नहीं कर पा रहे थे। इसी समय अघटकुमार ने शयन-कक्ष में प्रवेश कर नमन किया। हाथ उठाकर उसके अभिवादन को उत्तरित करते हुए महाराज ने कहा–"सुन रहे हो यह नारी-स्वर ! कोई दुःखिता वेचारी विलाप कर रही है। हमारे राज्य में कौन नारी ऐसी कष्टित है और किस कारण से वह यों आधी रात में विलाप कर रही है। सारी स्थिति की खोज करो और हमें यथाशीघ्र ही सूचना दो।"

अघटकुमार रूपचन्द्र ने भी ध्यान से सुनने का प्रयास किया और दिशा का अनुमान लगाने लगा। "जैसा आदेश करुणावतार ! मैं स्वयं तत्काल सारी जानकारी प्राप्त करने जाता हूँ और शीघ्र ही सारा विवरण लेकर आता हूँ।"–ऐसा

कह उसने पुनः प्रणाम किया और विदा हो गया। उसकी अनुमानित दिशा ठीक ही निकली। शीघ्र ही वह उस स्थल पर पहुँच गया, जहाँ यह स्त्री एक पल्लवहीन वृक्ष के नीचे बैठी थी। निकट ही एक उल्का प्रज्वलित थी और उस शोकमग्ना के मुख के चारों ओर एक आभा-मण्डल निर्मित था। मुख-दीप्ति से तो वह कोई देवी प्रतीत होती थी, किन्तु उसकी रुदनशीलता ने अघटकुमार के मानस में संशय की एक स्थिति उत्पन्न कर दी। अपना अश्व दूरी पर ही छोड़कर अघटकुमार ने एक क्षण मन-ही-मन कुछ चिन्तन किया और तब एक झटके के साथ आगे बढ़कर स्त्री के पास पहुँच गया। बड़ी ही कोमल वाणी में उसने प्रश्न किया–"अबला ! तुम कौन हो और इस अर्द्ध-रात्रि में यहाँ एकाकी बैठी रो क्यों रही हो?"

रुदन भरे स्वर में ही उस स्त्री ने सरल-सा उत्तर दे दिया–"भाई मेरे ! तुम कोई पथिक ज्ञात होते हो.... जाओ अपने मार्ग पर। क्यों पराये प्रसंगों में पड़कर दुःखी होते हो। मेरे कष्ट की कोई औषधि तुम न कर पाओगे। जाओ.... भाई ! जाओ।" और वह सुबक उठी–अपने आँचल से आँसू पोंछने लगी।

"तुमने मुझे 'भाई' कहा है तो बहन ! अब तुम मुझसे अपना कष्ट छिपा नहीं सकोगी।" अघटकुमार ने अधिकार भी कोमलता के साथ जताया जिसमें सहानुभूति की सौरभ गमकने लगी थी।

स्त्री इससे कुछ प्रभावित हुई। बोली–"भैया ! मेरे दुःख का कारण इतना बड़ा है कि तुम जानकर करोगे क्या ! तुम स्वयं को असहाय पाकर निराश और दुःखी होने के अतिरिक्त कुछ अन्य कर ही नहीं पाओगे। अच्छा है, भाई ! कि तुम इस बात को छोड़ ही दो।" हिचकी लेती हुई थूक सटककर स्त्री अपनी अंगुलियों की पोरों से आँख की कोर पोंछने लगी।

"कदाचित् मैं असहाय ही रहूँ, बहन ! किन्तु हमारे नरेश वीर विक्रम महाराज सर्व सामर्थ्यवान हैं। वे प्रजा जन को कष्ट में पाकर तब तक कल अनुभव नहीं कर पाते, जब तक कष्ट को वे दूर न कर दें। उन्होंने तुम्हारा क्रन्दन सुना तो मुझे यह ज्ञात करने भेज दिया कि किसको क्या दुःख है? उनसे किसी का दुःख देखा नहीं जाता।"

विस्तार से अघटकुमार ने जो बात बतायी तो स्त्री चौंक पडी–"अच्छा ! तो तुम राजा विक्रमादित्य के भेजे हुए हो ! तब तो मैं तुम्हे सारी बात बता देती हूँ। मैं वास्तव में राजा के कारण ही दुःखित हूँ, भाई ! अब तुम्हें क्या बताऊँ? मैं विक्रमादित्य की ही राजलक्ष्मी हूँ। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि कल ही तुम्हारे राजा की मृत्यु होने वाली है। निश्चित ही वे कल इस जगत् में नहीं रहेंगे। मैं तो उनकी हितैषिणी हूँ। मैं उनका अहित भला कैसे सह सकती हूँ। इसी कारण शोकग्रस्त होकर विलाप कर रही हूँ।" राजलक्ष्मी की वाणी में तरलता और पलकों में आर्द्रता आ गयी।

"क्षमा करें, देवी ! अविनय के लिए मैं क्षमा-याचक हूँ। आप तो पूज्या देवी हैं; मै साधारण व्यवहार ही आपके संग करता रहा। यह अपराध अवश्य है, किन्तु अपरिचयवश ऐसा हो गया। मुझे अभय प्रदान करें। मैं तो आपका दास हूँ, देवी !" अघटकुमार ने दण्डवत् प्रणाम किया। राजलक्ष्मी मुस्करा उठीं और उन्नत करके साथ आशिष प्रदान की। आश्वस्त होकर अघटकुमार ने निवेदन के स्वर में कहा—"देवी—महादेवी ! आपने जो अमंगल तथ्य से मुझे परिचित कराया है, माँ ! वह सत्य होने के साथ-साथ बड़ा दुःख है—बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण भी है। मेरा तो अन्तरमन ही काँप उठा है। मैं अपना सब-कुछ खोकर भी यदि अवन्तीनाथ के प्राणों की रक्षा कर सकूँ तो मुझे वह भी स्वीकार्य होगा। मैं क्षत्रिय हूँ, स्वामी-भक्ति के लिए प्राणों की बाजी लगाने को भी तत्पर हूँ, देवी माँ ! बस, मेरे स्वामी के जीवन को आँच न पहुँचे।" बड़ी दयनीय मुख-मुद्रा के साथ वह टकटकी लगाकर राजलक्ष्मी का मुखारविन्द ताकता रह गया।

"मेरे भोले भक्त ! तुम तो मुझसे भी अधिक हितैषी निकले राजा विक्रमादित्य के....। मैं इस दुर्भाग्य पर रो रही हूँ, कर कुछ न पा रही हूँ और तुम कितना त्याग करने पर तुले हुए हो। धन्य हो तुम और धन्य है तुम्हारे स्वामी जिन्होंने तुम्हारे लिए ऐसा प्रेरक व्यवहार किया, जिन्होंने तुमको इतनी गहराई के साथ प्रभावित किया।"

"सत्य है, देवी माँ !... सर्वथा सत्य है। महाराज की प्राण-रक्षा के लिए मैं प्राणोत्सर्ग के लिए भी तैयार हूँ.... मैं....।"

अघटकुमार के कथन को हठात् विराम देती हुई राजलक्ष्मी ने हस्तक्षेप किया। बोली—"वत्स ! तुम्हारी उत्सर्ग भावना के लिए तो मैं तुम्हारी सराहना करती हूँ, किन्तु ऐसे उत्सर्ग का कोई प्रयोजन नहीं। एक ही अवस्था मे राजा की रक्षा संभव है। छोडो भी.... तुम वह उपाय कर न पाओगे।"

"मै करूँगा, माँ !.... अवश्य कर लूँगा। यदि समुद्र छलांगना हो तो भी मैं तैयार हूँ, हिमगिरि को भी हिलाना हो तो मैं पीछे न रहूँगा।"

"ऐसा कुछ भी करने की अपेक्षा नहीं.... कुछ भी नहीं। यदि तुम मुझे सूर्योदय से पूर्व एक शिशु की बलि दे सको तो कार्य सिद्ध हो सकता है; अन्यथा तुम्हारे स्वामी कल का सूर्योदय भी न देख सकेंगे।" राजलक्ष्मी ने अपनी बात कहकर अघटकुमार की समर्थता पडतालने के लिए पूछा—"कर सकोगे तुम यह उपाय?" राजलक्ष्मी की भृकुटी सहसा तन गयीं और नयन रक्ताभ हो गये। खुली केश-राशि को लहराते हुए राजलक्ष्मी उत्तर की प्रतीक्षा करने लगीं।

दृढ़ निश्चयी स्वामी-भक्त अघटकुमार ने अविलम्ब कथन किया—"करूँगा, माँ ! अवश्य कर लूँगा। स्वामी-भक्ति से बढ़कर मेरे लिए इस जगत् में कुछ भी तो नहीं है। यही मेरा मन्तव्य है, माँ ! आप प्रतीक्षा करें, मैं आपकी कामना-पूर्ति के लिए

कह उसने पुनः प्रणाम किया और विदा हो गया। उसकी अनुमानित दिशा ठीक ही निकली। शीघ्र ही वह उस स्थल पर पहुँच गया, जहाँ यह स्त्री एक पल्लवहीन वृक्ष के नीचे बैठी थी। निकट ही एक उल्का प्रज्वलित थी और उस शोकमग्ना के मुख के चारों ओर एक आभा-मण्डल निर्मित था। मुख-दीप्ति से तो वह कोई देवी प्रतीत होती थी, किन्तु उसकी रुदनशीलता ने अघटकुमार के मानस में संशय की एक स्थिति उत्पन्न कर दी। अपना अश्व दूरी पर ही छोड़कर अघटकुमार ने एक क्षण मन-ही-मन कुछ चिन्तन किया और तब एक झटके के साथ आगे बढ़कर स्त्री के पास पहुँच गया। बड़ी ही कोमल वाणी में उसने प्रश्न किया—"अबला ! तुम कौन हो और इस अर्द्ध-रात्रि में यहाँ एकाकी बैठी रो क्यों रही हो?"

रुदन भरे स्वर में ही उस स्त्री ने सरल-सा उत्तर दे दिया—"भाई मेरे ! तुम कोई पथिक ज्ञात होते हो.... जाओ अपने मार्ग पर। क्यों पराये प्रसंगों में पड़कर दुःखी होते हो। मेरे कष्ट की कोई औषधि तुम न कर पाओगे। जाओ.... भाई ! जाओ।" और वह सुबक उठी—अपने आँचल से आँसू पोंछने लगी।

"तुमने मुझे 'भाई' कहा है तो बहन ! अब तुम मुझसे अपना कष्ट छिपा नहीं सकोगी।" अघटकुमार ने अधिकार भी कोमलता के साथ जताया जिसमें सहानुभूति की सौरभ गमकने लगी थी।

स्त्री इससे कुछ प्रभावित हुई। बोली—"भैया ! मेरे दुःख का कारण इतना बड़ा है कि तुम जानकर करोगे क्या ! तुम स्वयं को असहाय पाकर निराश और दुःखी होने के अतिरिक्त कुछ अन्य कर ही नहीं पाओगे। अच्छा है, भाई ! कि तुम इस बात को छोड़ ही दो।" हिचकी लेती हुई थूक सटककर स्त्री अपनी अंगुलियों की पोरों से आँख की कोर पोंछने लगी।

"कदाचित् मैं असहाय ही रहूँ, बहन ! किन्तु हमारे नरेश वीर विक्रम महाराज सर्व सामर्थ्यवान हैं। वे प्रजा जन को कष्ट में पाकर तब तक कल अनुभव नहीं कर पाते, जब तक कष्ट को वे दूर न कर दें। उन्होंने तुम्हारा क्रन्दन सुना तो मुझे यह ज्ञात करने भेज दिया कि किसको क्या दुःख है? उनसे किसी का दुःख देखा नहीं जाता।"

विस्तार से अघटकुमार ने जो बात बतायी तो स्त्री चौंक पडी—"अच्छा ! तो तुम राजा विक्रमादित्य के भेजे हुए हो ! तब तो मैं तुम्हे सारी बात बता देती हूँ। मैं वास्तव मे राजा के कारण ही दुःखित हूँ, भाई ! अब तुम्हें क्या बताऊँ? मैं विक्रमादित्य की ही राजलक्ष्मी हूँ। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि कल ही तुम्हारे राजा की मृत्यु होने वाली है। निश्चित ही वे कल इस जगत् में नहीं रहेंगे। मै तो उनकी हितैषिणी हूँ। मैं उनका अहित भला कैसे सह सकती हूँ। इसी कारण शोकग्रस्त होकर विलाप कर रही हूँ।" राजलक्ष्मी की वाणी में तरलता और पलकों में आर्द्रता आ गयी।

"क्षमा करे, देवी ! अविनय के लिए मैं क्षमा-याचक हूँ। आप तो पूज्या देवी हैं; मैं साधारण व्यवहार ही आपके संग करता रहा। यह अपराध अवश्य है, किन्तु अपरिचयवश ऐसा हो गया। मुझे अभय प्रदान करें। मैं तो आपका दास हूँ, देवी !" अघटकुमार ने दण्डवत् प्रणाम किया। राजलक्ष्मी मुस्करा उठीं और उन्नत करके साथ आशिष प्रदान की। आश्वस्त होकर अघटकुमार ने निवेदन के स्वर में कहा–"देवी–महादेवी ! आपने जो अमंगल तथ्य से मुझे परिचित कराया है, माँ ! वह सत्य होने के साथ-साथ बड़ा दुःख है–बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण भी है। मेरा तो अन्तरमन ही काँप उठा है। मैं अपना सब-कुछ खोकर भी यदि अवन्तीनाथ के प्राणों की रक्षा कर सकूँ तो मुझे वह भी स्वीकार्य होगा। मैं क्षत्रिय हूँ, स्वामी-भक्ति के लिए प्राणों की बाजी लगाने को भी तत्पर हूँ, देवी माँ ! बस, मेरे स्वामी के जीवन को आँच न पहुँचे।" बड़ी दयनीय मुख-मुद्रा के साथ वह टकटकी लगाकर राजलक्ष्मी का मुखारविन्द ताकता रह गया।

"मेरे भोले भक्त ! तुम तो मुझसे भी अधिक हितैषी निकले राजा विक्रमादित्य के····। मैं इस दुर्भाग्य पर रो रही हूँ, कर कुछ न पा रही हूँ और तुम कितना त्याग करने पर तुले हुए हो। धन्य हो तुम और धन्य है तुम्हारे स्वामी जिन्होंने तुम्हारे लिए ऐसा प्रेरक व्यवहार किया, जिन्होंने तुमको इतनी गहराई के साथ प्रभावित किया।"

"सत्य है, देवी माँ !··· सर्वथा सत्य है। महाराज की प्राण-रक्षा के लिए मैं प्राणोत्सर्ग के लिए भी तैयार हूँ···· मैं····।"

अघटकुमार के कथन को हठात् विराम देती हुई राजलक्ष्मी ने हस्तक्षेप किया। बोलीं–"वत्स ! तुम्हारी उत्सर्ग भावना के लिए तो मैं तुम्हारी सराहना करती हूँ, किन्तु ऐसे उत्सर्ग का कोई प्रयोजन नहीं। एक ही अवस्था में राजा की रक्षा संभव है। छोड़ो भी···· तुम वह उपाय कर न पाओगे।"

"मैं करूँगा, माँ !···· अवश्य कर लूँगा। यदि समुद्र छलाँगना हो तो भी मैं तैयार हूँ, हिमगिरि को भी हिलाना हो तो मैं पीछे न रहूँगा।"

"ऐसा कुछ भी करने की अपेक्षा नहीं···· कुछ भी नहीं। यदि तुम मुझे सूर्योदय से पूर्व एक शिशु की बलि दे सको तो कार्य सिद्ध हो सकता है; अन्यथा तुम्हारे स्वामी कल का सूर्योदय भी न देख सकेंगे।" राजलक्ष्मी ने अपनी बात कहकर अघटकुमार की समर्थता पड़तालने के लिए पूछा–"कर सकोगे तुम यह उपाय?" राजलक्ष्मी की भृकुटी सहसा तन गयीं और नयन रक्ताभ हो गये। खुली केश-राशि को लहराते हुए राजलक्ष्मी उत्तर की प्रतीक्षा करने लगीं।

दृढ निश्चयी स्वामी-भक्त अघटकुमार ने अविलम्ब कथन किया–"करूँगा, माँ ! अवश्य कर लूँगा। स्वामी-भक्ति से बढकर मेरे लिए इस जगत् में कुछ भी तो नहीं है। यही मेरा सर्वस्व है, माँ ! आप प्रतीक्षा करें, मैं आपकी कामना-पूर्ति के लिए

शिशु का बलिदान करने को तत्पर हूँ। मुझे जाना तो अवश्य पड़ेगा, किन्तु ···· किन्तु मैं पवन वेग के साथ लौटता हूँ।''

'धन्य हो अघटकुमार ! मुझे तुम पर गर्व है।'–राजलक्ष्मी ने अपने मन में यह विचार किया और ऐसा ही विचार स्वयं महाराज वीर विक्रम के मन में भी उदित हुआ जो समीप के ही एक अन्य वृक्ष के पीछे छिपकर खड़े थे। उन्होंने सारा संलाप सुना था। उन्हें अपने प्राणों का भय रंच मात्र भी न था। विश्वास जो था अघटकुमार की स्वामी-भक्ति में। उसकी प्रतीक्षा में थीं राजलक्ष्मी भी और राजा वीर विक्रम महाराज भी। किन्तु इन्हें अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। कुछ ही समय में दूर से अश्व की टापों की ध्वनि आने लगी। दोनों की जिज्ञासा बढ़ने लगी।

जब अघटकुमार अपने आवास पर पहुँचा, माता-पुत्र दोनों ही गहन निद्रा में मग्न थे। असमय द्वार खटखटाने की ध्वनि से पद्मिनी चौंककर जाग उठी। द्वार पर पतिदेव ही हैं–यह सुनिश्चित हो जाने पर उसने द्वार खोला और आश्चर्यचकित-सी खड़ी रह गयी। ''अचंभित न हो, देवी ! एक विपदा के कारण अभी आना पड़ा है।''

अघटकुमार के ऐसे वचन सुनकर पद्मिनी तो सहसा विकल हो उठी–''क्या बात है, स्वामी ! विपदा कैसी ?''–प्रश्न कर वह उत्तर के लिए व्यग्र हो गयी। संक्षेप में अघटकुमार से सारा वृत्तान्त जानकर हड़बड़ा उठी–''तो आप अपने एक मात्र पुत्र, प्यारे बेटे की बलि चढ़ा देना चाहते हैं। आप कैसे पिता हैं ?'' यह उक्ति पद्मिनी के मुख से निकली अवश्य, किन्तु आगामी ही क्षण वह अन्तर्लीन-सी हो गयी। गहन चिन्तन में अघटकुमार तो पहले ही डूबा हुआ था। समय की सीमा एक अन्य संकट था। उसका मन अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त था। पुत्र की बलि देने को वह तो कटिबद्ध ही था। करूँ या न करूँ जैसे प्रश्नों का अस्तित्व ही न था। प्रश्न था तो केवल यही कि पत्नी को कैसे मनाया जाय। किन्तु यह समस्या भी स्वतः ही विलीन हो गयी। चिन्तन से उबरती हुई पद्मिनी ने पलकें पोंछ लीं और बोली–''स्वामी ! अपने विचारों के लिए में लज्जित हूँ जो मैंने भावावेश में प्रकट कर दिये थे। मैंने अव अपना चित्त अचंचल कर लिया है। माँ के हृदय को प्रस्तर बना लिया है मैंने। क्षत्राणियों का धर्म उन्हें कर्त्तव्य हेतु ममता का गला घोंट देना खूव अच्छी तरह सिखाता है। पत्नी का प्रथम धर्म होता है कि वह पतिदेव के धर्म-निर्वाह में सहायक वने, वाधक नहीं। पति को कर्त्तव्य-मार्ग पर आरूढ़ ही नहीं, अपितु उस पर गतिशील रहने की शक्ति भी दे। यह भी पातिव्रत्य का एक अनिवार्य अंग है। मेरी आत्मा जाग उठी है, नाथ ! भूल के भँवर से मुक्त होकर अव मेरा मन शान्त और शुद्ध हो गया है। आप ले जाएँ हमारे लाल को।'' एक आर्द्र-सी मुस्कान अधरों पर लाते हुए उसने सुप्त शिशु को गोद में उठा लिया। वह कुनमुनाने लगा तो माँ ने उसे थपकी दी और उठ खड़ी हो गयी। अघटकुमार के अश्वारूढ़ हो जाने पर पद्मिनी ने अपने प्यारे-से शिशु को जी-भरकर निहारा, उसका भाल चुम्वित कर उसे अपने पतिदेव की गोद में दे दिया। अघटकुमार ने एड़ लगायी और अश्व हवा हो गया। सुवकती हुई वह

गरिमामयी जननी अश्व की टापें सुनती खड़ी रह गयी। मेरा पूत पलना त्यागने से पूर्व ही राज-भक्ति के मार्ग में न्योछावर होने जा रहा है। धन्य हो गया तेरा क्षत्रिय-कुल में जन्म लेना मेरे बेटे ! धन्य हो गया।

समीप से समीपतर होती लग रही अश्व-टापों को सुनते राजलक्ष्मी देवी को अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पडी। उल्का के आलोक-वृत्त में प्रविष्ट होते ही देवी ने अघटकुमार की गोद में शिशु को भी देख लिया। अश्वावरोहित होकर पुत्र को गोद में लिये अघटकुमार देवी राजलक्ष्मी के समक्ष आ खड़ा हुआ और बोला–"देवी माँ ! मैं बलि देने को तत्पर हूँ। आज्ञा करें, देवी माँ !" देवी ने अपना सीधा हाथ ऊपर को उठा दिया। तत्काल ही अघटकुमार ने तलवार खींच ली और शिशु का शिरोच्छेदन कर दिया। उष्ण रक्त का ऊर्ध्व प्रवाह हुआ और तत्काल ही शिशु का विच्छिन्न मुंड रक्त-रंजित अवस्था में राजलक्ष्मी के चरणों में अर्पित कर दिया। देवी मॉ प्रसन्न होकर अट्टहास करने लगी। वृक्ष के पीछे छिपे महाराज यह सारी घटना देखकर असहज हो उठे। उनका हृदय भावुक हो उठा। उनकी दृष्टि में अघटकुमार का कद बहुत ऊँचा हो गया था। उनका जी किया कि वे दृश्यमान होकर अघट को अपने वक्ष से लगा लें, किन्तु परिस्थितियों की विवशताएँ उन्हें मर्यादित करने लगीं। उनके मन में एक इस एक कुमार रूपचन्द्र में कितने अघटकुमार छिपे हैं।

"प्रसन्न हों, राजलक्ष्मी देवी ! बलि लेकर तुष्ट हो जाओ और महाराजा विक्रमादित्य को दीर्घायु करो, मॉ ! उनके प्राणों का संकट विमोचित कर दो, देवी मॉ !.... विमोचित कर दो।"–गिड़गिड़ाते-से स्वर में अघट ने अनुनय की।

"तथास्तु.... मैं प्रसन्न हूँ। अब तुम जा सकते हो, वत्स ! धन्य हो तुम और धन्य है तुम्हारी स्वामी-भक्ति !"

अघटकुमार के प्रस्थान करते ही महाराज विक्रमादित्य राजलक्ष्मी के समक्ष उपस्थित हो गये। "अवन्ती-नरेश विक्रमादित्य मॉ के चरणों में प्रणाम निवेदित करता है।"–महाराज ने यह कहते हुए देवी मॉ के चरणों में नमन किया।

"चिरायु हो, वत्स ! तुम्हारे सेवक ने अपने पुत्र की बलि देकर तुम्हारा प्राण-संकट दूर कर दिया है, राजन् ! अब क्या प्रयोजन शेष रह गया?" –राजलक्ष्मी ने स्नेहपूर्वक कहा।

"मुझे विदित है, मातेश्वरी ! यह बलिदान वास्तव में अघटकुमार का अपना वलिदान है। उसने, उसकी पत्नी ने जो त्याग किया है–वह स्वामी-भक्ति के उच्चादर्श के लिए इतिहासों में अमर रहेगा, मॉ ! मैं तो स्वयं अपने मरण की भीख मॉगने को उपस्थित हुआ हूँ। एक शिशु का जीवन छीनकर मै दीर्घायु नहीं होना चाहता।"

महाराज के कथन के उत्तर में राजलक्ष्मी ने केवल यही कहा–"अव तो सब-कुछ हो चुका है, राजन् ! किये का अनकिया भी वनाया नहीं ज़ा सकता। अव तो एक दीर्घ आयुष्य का उपभोग करो और सुखी रहो।"

महाराज विक्रमादित्य ने पुनः दृढ़ता के साथ कहा–"किन्तु, माँ ! मैं जीना नहीं चाहता। मुझे मृत्यु चाहिये .... मैं मर जाना चाहता हूँ।"

"किन्तु तुम्हारा आयुष्य और भी अभिवर्धित हो गया है, अवन्ती-नरेश। अब किसी भी अवस्था में तुम्हारी आयु कम नहीं हो सकती। मेरा वचन मिथ्या नहीं हो सकता।"

"माँ राजलक्ष्मी ! आपका यह वचन तो मिथ्या ही होने वाला है।" महाराज ने दृढ़तापूर्वक कहा–"अघटकुमार ने आपके चरणों में अपने पुत्र का मस्तक अर्पित किया और मेरा जीवन माँगा। अब मैं अपना मस्तक अर्पित कर अपने मरण की याचना करूँगा।"–यह कहते हुए महाराज वीर विक्रम ने खड्ग उठा लिया।

राजलक्ष्मी ने वर्जित करते हुए अवन्तीनाथ का खड्ग थाम लिया और बोलीं–"तुम ऐसा न करो, राजन् ! अपने स्वामी-भक्त सेवक के बलिदान को अकारथ न जाने दो। मेरे वचनों की लाज भी रहने दो।"

"ऐसा भी हो सकता है, माँ !" महाराज तनिक विनम्र होते हुए बोले–"ऐसा एक ही अवस्था में संभव होगा।"

"वह क्या, राजन् ! अपने जीवन का श्रेष्ठतम उपहार पा जाने के पश्चात् भी तुम्हारी और कौन-सी कामना शेष रह गयी है?" औत्सुक्य के साथ राजलक्ष्मी ने प्रश्न किया।

"अघट के पुत्र के बलिदान का परिणाम तो आ ही गया। मेरी मृत्यु टालकर आपने दीर्घायु प्रदान कर दी। अब जीवित मैं तभी रहना चाहूँगा, जब मृत शिशु को आप पुनः जीवन दे दें। मैं शिशु के स्थान पर नहीं; शिशु के साथ-साथ जीवित रहूँगा।" महाराज ने सुदृढ़ आग्रह प्रस्तुत कर दिया।

अपने वचन की अटलता और अमोघता को प्रतिष्ठित रखने की विवशता से आवद्ध राजलक्ष्मी ने शिशु को पुनर्जीवित कर दिया। हँसते-खेलते शिशु को नरेश ने गोद में उठा लिया और उसे अपने हृदय का स्नेह देने लगे, तभी राजलक्ष्मी विलुप्त हो गयीं। शिशु को साथ लिये महाराज राजभवन लौट आये। अन्तःपुर मे कमलावती को शिशु को सौंपकर वे अपने शयन-कक्ष में आकर बैठ गये।

पद्मिनी को सान्त्वना देकर अघटकुमार लौट आया। शयन-कक्ष मे आकर उसने सूचना दी–"करुणावतार ! एक माँ अपने एक मात्र पुत्र के निधन से शोकाकुल थी। वही रुदन-क्रन्दन कर रही थी। उसे अभी-अभी सान्त्वना देकर आया हूँ। मेरे प्रयत्न से उसे शान्ति-लाभ हुआ है।" महाराज ने उसे संतुष्ट होकर विदा किया। वे सोचने लगे–'एक माँ ने अपना पुत्र खोया अवश्य, किन्तु वह माँ कौन-सी है।'–अघट के छिपाये रखने पर भी वे अनुमानपूर्वक सत्य के निकट पहुँच गये। अघटकुमार की महानता की छवि महाराज के मन में अंकित हो गयी। कैसा

आदर्श उपकारक है अघटकुमार। सच्चा उपकारक अपने प्रियतरों की भेंट चढ़ाकर भी परहित करता है और उपकृत को अपने उपकारक होने का आभास भी नहीं होने देता, कि उसके मन में लघुता का भाव पल्लवित न हो। वह कृतज्ञता की अपेक्षा नहीं करता है। उसका एक हाथ किसी की सहायता करता है तो उसका दूसरा हाथ भी उससे अनभिज्ञ रह जाता है।

सघन प्रभावशीलता के साथ दो-तीन दिन बीते होंगे कि एक दिन महाराज ने स्नेह के साथ अघटकुमार को सम्बोधित करते हुए कहा–"आज हम भोजन एक साथ करेंगे। दोपहर में तुम अपने परिवार के साथ आ जाना। अघटकुमार का क्या परिवार ! बड़ा सीमित, बहुत छोटा-सा–यही दम्पति.... बस। इनका पुत्र तो बलि हो गया था। पति-पत्नी एक साथ पहुँच गये। महाराज और महारानी कमलावती ने मधुर मुस्कान के साथ इनका स्वागत किया। आगत दम्पति तो राजकुल में ऐसा सम्मान और स्नेह पाकर कृतार्थ ही हो गया।

राजरानी कमलावती ने कोमलता के साथ पद्मिनी से पूछा–"बस, तुम दोनों ही....। हाँ....? तुम्हारे यहाँ एक प्यारा-सा शिशु भी तो है न?"

"था, राजरानी.... एक शिशु....।"

पद्मिनी ने ज्यों ही ये शब्द कहे, राजरानी असहज-सी होती हुई पूछ बैठीं–"था....? अर्थात्....?"

तभी अघटकुमार ने बात सँभाली–"था, स्वामिनी ! हमारे साथ ही था। दो-तीन दिन हुए कि वह अपने ननिहाल गया हुआ है।"

"अच्छा.... अच्छा ! हम तो एकदम दुःखी हो उठीं। पर.... इतना छोटा शिशु और अकेला ननिहाल....।"

राजरानी कमलावती आश्चर्यचकित रह गयीं तो त्वरित बुद्धि अघट ने इसका समाधान भी किया–"क्या किया जाय.... उसकी नानी का बड़ा गहरा स्नेह जो है। अब कदाचित् उसे वहीं रखा जाय....।"

महाराज अघटकुमार के कथनों का निहितार्थ हृदयंगम करते जा रहे थे। अपने स्वामी के हितार्थ इतना बड़ा त्याग करके भी यह उसे प्रकट नहीं होने दे रहा था। सचमुच अघट महान् है। अपने विचार-क्रम को वल्गा देते हुए उन्होंने सहसा कह दिया–"अघट ! किन्तु तुमको हमारे यहाँ तो अपने शिशु को साथ ही लेकर आना था। अभी भी तुम यह अभाव पूरा कर सकते हो। पद्मिनी का पितृ-गृह भी तो कुछ अधिक दूर नहीं है। जाओ भाई, उसे आज के लिए ले आओ।"

बेचारा अघट अब तो अपने ही बुने जाल में बुरी तरह से फँस गया। उसने फिर भी प्रयत्न किया, बोला–"श्रीमानेश्वर ! उसकी नानी उसे आने न देगी। उसे छोड़ना उसके लिए संभव न होगा। हाँ.... पद्मिनी यदि प्रयत्न करे तो....।"

"अब कहाँ पद्मिनी जायेगी .... छोड़ो .... फिर अगली बार देखेंगे" –राजा-रानी ने बात कहकर अघट की ओर ताका। उसके मुख पर तनाव की रेखाएँ शिथिल होने लगीं–"ऐसा करते हैं .... हम अपनी एक चतुर सेविका को भेजती हैं। वह कदाचित् ले ही आए।" राजरानी ने एक युक्ति रखी और एक दासी को प्रस्थान करने की आज्ञा दे दी।

दोनों दम्पति प्रसन्नतापूर्वक वार्त्तालाप करने लगे। एक दम्पति परीक्षक बना हुआ जिज्ञासु हो गया था और अन्य दम्पति रहस्य खुलने के भय से भीतर ही भीतर आतंकित था। दासी के लौटने पर तो सब-कुछ जग-जाहिर हो ही जायेगा और तब ....। सचमुच कुछ ही समय में दासी लौट भी आयी और उसकी गोदी में एक शिशु भी था। अघट और पद्मिनी तो सहसा साँस थामकर देखते ही रह गये–'यह कौन-सा शिशु है?' दासी ने जब लाकर शिशु को पद्मिनी की गोद में दिया तो उसने पाया यह तो सचमुच उनका ही पुत्र है। माँ के पास आकर किलकारियाँ लगा रहा है, असीम प्रसन्नता उसके मुख पर और उसके हाथ-पैरों की सक्रियता में प्रकट होने लगी। विकल माँ ने अपने शिशु को वक्ष से लगा लिया और नयन मूँदकर कहीं खो-सी गयी। अघट कुछ समझ नहीं पा रहा था कि यह क्या हो गया .... कैसे हो गया ! यह कैसा चमत्कार !! बलिदान-कथा के जिस उत्तर भाग से अघट अनभिज्ञ था–उसका वृत्तान्त महाराज ने दिया तो वह बेचारा स्वामी की अतिशय दयालुता से द्रवित-सा होकर उनके चरणों में ढुलक गया। महाराज ने प्रेमपूर्वक उसे उठाया और आसन पर बिठाया। महाराज ने अघट की कर्त्तव्य-परायणता, स्वामी-भक्ति, उत्सर्ग की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अघट बेचारा तो कृतार्थ ही हो गया।

महाराज ने कहा–"परोपकारी का त्याग और उत्सर्ग कभी अकारथ नहीं जाता। जो दूसरों को सुखी करता है प्रारब्ध उसके लिए भी सुखों की रचना कर देता है।" महाराज ने अघटकुमार को एक बड़ी जागीर, प्रासाद, विपुल धन, हाथी, घोड़े, रथादि सहित प्रचुर राज-वैभव से विभूषित कर दिया। अब तो राजकुमार रूपचन्द्र की अत्यन्त सम्मान्य स्थिति हो गयी थी। इस वैभव और मान-सम्मान का जीवन जीते हुए वह अवन्ती की गण्यमान्य विभूतियों में माना जाने लगा। कालान्तर में युवराज रूपचन्द्र अपने मातृ-राज्य वीरपुर आया। ऐसा प्रभुत्व, ऐसा ऐश्वर्य देखकर राजा भीम तो चकित ही रह गये। यह सब कुमार ने अपने भुज-बल एवं सद्गुणों से अर्जित किया है, अवन्ती में इसने खोया हुआ अघटकुमार का गौरव भी पुनः प्राप्त कर लिया है और अग्निवेताल-जैसा बलिष्ठ असुर भी उसका दासत्व स्वीकार कर चुका है–यह ज्ञात होने पर तो राजा भीम और वीरपुर की जनता की दृष्टि में कुमार का गौरव अत्युच्च हो गया। राजा को अपने व्यवहार पर घोर पछतावा होने लगा। उन्होंने अपने अनुचित व्यवहार के लिए खेद भी प्रकट किया।

विनयशील पुत्र पिता की इस स्थिति से प्रसन्न न था। उनके गौरव की रक्षा, उनकी गरिमा का निर्वाह उसके लिए प्रथम कर्त्तव्य था। वह नम्रता के साथ बोला–

"पूज्य पिता महाराज ! आप अपने किये पर दुःखी न हों। उस समय की माँग के अनुरूप आपको वही करना उपयुक्त था। वह व्यवहार तो मेरे लिए उत्थानकारी आशीर्वाद बन गया। उसी के बल पर मैं आज इस स्थिति को प्राप्त कर सका हूँ।"

कुमार-दम्पति के स्वागत में भव्य समारोह आयोजित किया गया। महामंत्री सुमति ने कुमार के शौर्य, साहस, उद्यमशीलता और विवेक बुद्धि का प्रशंसात्मक बखान किया। इसी समारोह में राजा भीम ने वीरपुर का राज्यासन अघटकुमार रूपचन्द्र को सौंपा दिया। राजा भीम ने आत्मोत्थान की कामना से दीक्षा ग्रहण कर तप-साधना का मार्ग अपना लिया। प्रति युग में कोई हँसता है तो कोई रोता है। व्यक्ति आज हर्षित है, सुखी है तो कल उसका समय परिवर्तित भी हो सकता है। कर्मफल अपनी क्रीड़ा करते रहते हैं। यह प्रारब्ध भी है तो वह कर्माधीन ही है।

● ●

अरे वाह ! धन्य श्रेष्ठी की भी कोई तुलना नहीं। पुण्यों का कैसा उजला उदय उनके जीवन में हुआ है। ऐसी शीलवती पत्नी की प्राप्ति कोई साधारग बात तो नहीं और वह भी इस अवस्था में। ऐसा प्रारब्ध सभी का हो। रत्नमंजरी-जैसी पतिव्रता नारी आज के युग में कोई-कोई ही कहीं मिलती है। अपने वृद्ध पति की मनोयोगपूर्वक सेवा करती है। धर्माराधना में तो वह अग्रगामी ही बनी रहती है। ऐसी अडिग धर्म भावना भी आज के युग में दुर्लभ ही है। यह चर्चा महाराज विक्रमादित्य ने छद्मवेश में रात्रिकालीन नगरचर्या के दौरान सुनी। कुछ व्यक्ति परस्पर बतियाते हुए रत्नमंजरी और उसके पति धन्य श्रेष्ठी के सद्गुणों का, उनकी पुण्यवानी का बखान कर रहे थे। महाराज के मन में सहज जिज्ञासा जाग्रत हुई रत्नमंजरी के विषय में कुछ अधिक वात करने की। व्यक्तियों का संलाप और आगे बढ़ रहा था। नरेश कान लगाकर सुनते रहे। इस लोक की तो चर्चा ही छोड़ो। परलोक में भी उसकी समकक्षता कोई देवी भी नहीं कर सकती। यही कारण है कि अपने शील और धर्म भावना के प्रभाव से वह स्वयं इस लोक में देवी के तुल्य मानी जाती है। तभी किसी ने कहा कि रत्नमंजरी को ऐसी पूज्य माना जाता है कि लोग देवियों की आराधना को भी भूल गये हैं। सच कहते हो, भाई ! ऐसा ही प्रभाव रत्नमंजरी का है। देवी-आराधना से प्राप्य सभी सुख रत्नमंजरी सभी को सुलभ कराती है। उसके चरणोदक से जीर्ण और असाध्य रोगों से भी मुक्ति मिल जाती है, मातृत्व शक्ति से विहीन स्त्रियों को संतति-लाभ हो जाता है। जन्मभर के दुःखियारे लोग उसका आशीर्वाद पाकर सुखी हो जाते हैं। देवगण भी ऐसी विभूति को नमन करते हैं। यह विचित्र सत्य महाराज को चमत्कृत

कर गया। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि वे भी ऐसी पुण्यशीला नारी के दर्शन अवश्य करेंगे और वे राजभवन को लौट आए।

आगामी प्रातः ही मंत्रिपरिषद् जुड़ा। महाराज ने ज्ञात करना चाहा कि धन्य श्रेष्ठी कौन है? रत्नमंजरी के संदर्भ से शीघ्र ही धन्य श्रेष्ठी का पता लग भी गया। रत्नमंजरी के यश से उसके पति का नाम भी सहजतः उजागर हो गया था। यों धन्य नाम के श्रेष्ठी अवन्ती में एकाधिक थे, किन्तु इस धन्य श्रेष्ठी की पहचान पृथक् से बनी हुई थी। "क्या बात है? इस श्रेष्ठी-दम्पति की अनेक चर्चाएँ हैं। लोग इनकी प्रशंसा करते थकते ही नहीं? ऐसी क्या विशेषता है इनमें?"—महाराज के इस सरल से प्रश्न का उत्तर एक मंत्री ने दिया और कहा कि श्रीमानेश्वर, आप धन्य श्रेष्ठी के विषय में जानना चाहते हैं तो मैं उसका विस्तार से परिचय दे सकता हूँ।

धन्य श्रेष्ठी के पूर्वज अवन्ती के ही मूल निवासी रहे हैं। विपुल सम्पदा और प्रतिष्ठा वाले आदरणीय कुल में उसका जन्म हुआ। यथासमय ही उसका विवाह भी गुणाढ्या गुणसुन्दरी के साथ सम्पन्न हो गया। गुणसुन्दरी तो साक्षात् लक्ष्मी ही थी। आचार-व्यवहार में भी और धर्मध्यान में भी; दान-पुण्य में भी और पति-भक्ति में भी उसकी श्रेणी अत्युच्च थी। वह धन्य श्रेष्ठी के घर में थी तो वह घर स्वाभाविक रूप से ही लक्ष्मी का निवास हो गया था। हाँ, एक अभाव अवश्य उसके जीवन में था—वह निस्संतान था। पूर्वकृत कतिपय अपकर्मों का ही प्रतिबिम्ब इस रूप में साकार हुआ; अन्यथा सर्व भाँति सुख-वैभव का सुन्दर साम्राज्य था, धर्म भावना का सुदृढ़ आधार भी था। यह भी कर्मों का ही विपाक रहा कि जीवन के अन्तिम समय में धन्य श्रेष्ठी एकाकी रह गया। धर्मपत्नी गुणसुन्दरी का सहसा निधन हो गया, तब धन्य श्रेष्ठी की आयु अस्सी वर्ष हो चुकी थी। अत्यधिक स्नेह का संग गुणसुन्दरी के साथ रहा। इस चिर वियोग के काल में वे सुख-स्मृतियाँ उसे कष्टित करतीं। उसका अधिकाधिक समय धर्मध्यान में जाता—यह तो सत्य है, किन्तु यह भी तथ्य था कि उसका अकेलापन उसे मर्मांतक पीड़ा पहुँचाता था। सारा सुख-वैभव उसे मानो काटने को दौड़ता था। यह जनसंकुल जगत् उसके लिए वीरान और सूना हो गया था। श्रेष्ठी के जीवन का सारा सुख और सौन्दर्य, सारस्य और माधुर्य गुणसुन्दरी की चिता में भस्म हो गया। कदाचित् आयु का ऐसा ही अन्तिम भाग अन्तरंग सहचर की सर्वाधिक अपेक्षा रखता है और उसका अभाव ही सर्वाधिक खलने वाला होता है। किसी अन्य सहचरी के उसके जीवन में आगमन की तो कल्पना ही न थी।

श्रेष्ठी धन्य के समीप ही एक अन्य श्रेष्ठी-परिवार का आवास भी था। श्रीपति श्रेष्ठी का भी समृद्धि के क्षेत्र में अवन्ती में अच्छा नाम था। सुन्दर-सा इसका परिवार था। श्रेष्ठिनी श्रीमती और एक सुशीला कन्या रत्नमंजरी। इनके अतिरिक्त तीन पुत्र थे—सोमदत्त, श्रीदत्त और भीम। तीनों रत्नमंजरी के अग्रज थे। तीन पुत्रों

के पश्चात् कन्या की जो प्राप्ति हुई तो सारा परिवार मानो हर्ष की हिलोरों में नहा गया। बड़े लाड़-प्यार से उसका पालन-पोषण हुआ। माँ श्रीमती स्वयं धार्मिक सद्विचारों की थी। उसका प्रभाव पुत्री के मन को संस्कारित करता रहा। परिणामतः उसमें नारियोचित शालीनता और सद्गुण विकसित हो गये। अनेक कलाओं और विद्याओं का चूड़ान्त अध्ययन भी किया, उन पर अभ्यास भी किया और रत्नमंजरी विदुषी हो गयी। उसे नीतिशास्त्र का अच्छा ज्ञान था और मानवीय व्यवहार की वह ज्ञाता ही नहीं, प्रबल पक्षधर भी हो गयी। नारी के विभिन्न स्वरूपों पर उसका निजी चिन्तन भी था और परम्परागत आदर्शों का ज्ञान भी उसे समुचित रूप में था। आदर्श माता, आदर्श पुत्री, आदर्श पत्नी के रूप में नारी का चरित्र और आचरण क्या हो—इससे वह भलीभाँति भिज्ञ थी। विशेषता यह कि उन गुणों और आदर्शों को वह अपने जीवन में साकार भी करती थी।

रत्नमंजरी का व्यक्तित्व दिव्य और भव्य था। शान्त और गंभीर रहना उसका स्वभाव था। उसके मन का भेद पा जाना सुगम नहीं होता था। धर्माभिरुचि की सघनता एवं सुदृढता को देखते हुए उसके मन की निर्मलता और खरापन भी असंदिग्ध ही था। ऐसे में उसका प्रशंसित होते रहना भी स्वाभाविक ही था। सभी उसे चाहते और स्नेह देते थे। लोकप्रियता का एक मापदण्ड ही वह स्वयं हो गयी थी। समय-यापन के संग-संग उसकी विवाह-योग्य आयु भी हो गयी। माता श्रीमती अधिक चिन्तित रहने लगी। ऐसी बिटिया के लिए वर भी विशेष कोटि का ही होना चाहिए। साधारण-सा आचार-विचार और सामान्य स्तरीय बुद्धि का युवा, चाहे अमित सम्पत्ति का स्वामी भी वह क्यों न हो—कदाचित् इसकी युग्मता के लिए उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सकता था। फिर उसके योग्य और मनोज्ञ वर की खोज कैसे और कहाँ की जाय? पर बड़ा जटिल प्रश्न था। बिटिया के मन की थाह लेने को एक दिन माता ने कहा—"बेटी, अब हम तुम्हारा विवाह सम्पन्न कर अपना दायित्व पूर्ण कर लेना चाहते हैं। तेरे लिए वर कैसा हो—यही हम अभी निश्चित नहीं कर पा रहे हैं। वर तुम्हारे योग्य और तुम्हारी रुच्यानुरूप ही हो—हम तो यही चाहते हैं। यदि ऐसा कोई वर तेरे ध्यान में हो तो···।"

उतावली-सी होकर रत्नमंजरी ने उत्तर में कहा—"माँ ! मैं विवाह नहीं करूँगी। तुम्हारा स्नेह छोड़कर मैं कहीं अन्यत्र जा ही नहीं सकती। मुझे तो अपने आँचल की शीतल छाँह में ही रहने दो, माँ !"

"बेटी !" मुस्कराते हुए माता ने कहा—"मेरा आँचल अब तेरे लिये छोटा पड़ गया है। वेटियाँ तो होती ही अन्य घरों के लिए हैं। और तू अब भी विवाह न करना चाहती है तो फिर कब करेगी?"

"बात अभी की नहीं, माँ ! मैं तो विवाह ही नहीं करना चाहती। धर्माराधना में ही लीन रहना चाहती हूँ।"

पुत्री के कथन से माता तो सहसा चौंक पड़ी—'यह क्या कह दिया रत्नमंजरी ने। ऐसी अनहोनी इसके मानस में आयी ही क्यों?' असाधारण कोमलता के साथ माँ ने कहा—"तेरी धर्म प्रवृत्ति तो हम सभी को प्रिय है, बेटी ! किन्तु नारी के लिए पतिव्रता धर्म ही तो महान् है। विवाह के अभाव में कैसे इसका निर्वाह संभव होगा। नारी का कोई भी धर्म कौमार्य-त्याग से ही संभव हो पाता है। भूल से भी कभी अविवाहित करने का विचार अपने मन में न लाना।"

कौमार्य-त्याग का बिन्दु रत्नमंजरी के मानस में गहरा गड़ चुका था। कौमार्य के त्यागार्थ ही विवाह अनिवार्य है तो उसने सोचा—'विवाह नाम मात्र का भी तो हो सकता है। कामावेश तो उसके चित्त में दूर-दूर तक भी कहीं था नहीं। लोक-परम्परा का ही निर्वाह होना है तो किसी वृद्ध, अशक्त वर को भी चुना जा सकता है। मेरे जीवन की धर्मप्रियता भी इससे निरापद बनी रहेगी। धर्ममार्ग का बन्द द्वार खुल जाय—बस, यही तो अभीष्ट है और पातिव्रत्य तथा पति-सेवा के लिए तो किसी भी आयु का वर क्यों न हो—अवसर बना ही रहता है।' चिन्तन-अनुचिन्तन से रत्नमंजरी के मानस में यह भाव परिपक्व ही होता चला गया, पुष्ट होता गया। एक दिन साहस करके रत्नमंजरी ने धन्य श्रेष्ठी से भेट करने का विचार किया। वह जानती थी—'श्रेष्ठी की पत्नी की मृत्यु से अब वे अकेले ही रह गये हैं। वृद्ध हैं, अशक्त हैं, बाहर-भीतर से सर्वथा एकाकी हैं। सहचरी की आवश्यकता का वे अनुभव भी इस आयु में कुछ अधिक ही करते होंगे। हाय ! बेचारे श्रेष्ठी का जीवन कैसा सूना—कितना एकाकी रह गया है।'—यह सोचकर उसका उदार हृदय करुणार्द्र हो गया। उसके अन्तर्मन में कहीं एक स्वर गूँज उठा कि क्या मैं उन बेचारे वृद्ध की सहचरी—जीवन-संगिनी नहीं वन सकती।

जब रत्नमंजरी पहुँची तो वृद्ध श्रेष्ठी अपनी स्वर्ण-शय्या पर एकाकी अधलेटे बैठे खाँसी के दौर के बाद उखड़े श्वास-क्रम को सहे जाने का प्रयास कर रहे थे। उसंने उस बड़े-से कक्ष के वाहर से ही जब प्रणाम किया तो मंद-मधुर नारी-स्वर सुनकर वह वृद्ध मन भी कुछ खिल आया। धन्य श्रेष्ठी ने आँखों पर हथेली की छाँह बनाते हुए, पलकों को सिकोड़कर दृष्टि जमाते हुए अनुमान का प्रयत्न किया कि कौन हो सकता है? असफल रहने पर श्रेष्ठी ने थर्राते कंठ-स्वर के साथ प्रश्न कर दिया—"कौन?··· कौन है····?"

युवती ने स्वर को तनिक उच्चतर करते हुए उत्तर दिया—"ये तो मैं हूँ रत्नमंजरी !" वूढा अपनी हथेली कान के पीछे खड़ी कर एक-एक ध्वनि-तरंग को कानों में उतार लेने का प्रयत्न कर रहा था पर अस्पष्ट ही रह गया उसके लिए, रत्नमंजरी का स्वर। धन्य श्रेष्ठी ने पूरक रूप में प्रश्न कर दिया—"कौन जंगली?"

– "जंगली नहीं, श्रेष्ठी जी !····· रत्नमंजरी···· रत्नमंजरी।"

– "अरे रत्नमंजरी है तो वावा, चीखती क्यों है? मैं कोई कम तो सुनता नहीं····। हाँ, आँखें कुछ···। कोई वात नहीं····आ वैठ। पडोस वालों की

रत्नमंजरी ही है न?"–ग्रीवा को कुछ आगे बढ़ाकर ध्यान से देखते हुए वृद्ध ने पूछा।

मंत्री प्रसंग वर्णित करते जा रहे थे और महाराज वीर विक्रम ध्यान से श्रवण करते जा रहे थे। उक्त वर्णन से तो उनके अधरों पर भी मुस्कान आ गयी।

"आ··· आ···· रतन !····· आ जा। बैठ जा यहाँ।" शय्या पर पास रखे एक छोटे वस्त्र को एक ओर करते हुए श्रेष्ठी ने कहा। नारी-मर्यादा का रत्नमंजरी को ध्यान रहता था।

"मैं यहाँ बैठती हूँ आपके सामने।"–कहती हुई वह समीप के एक रिक्त आसन पर बैठ गयी।

वृद्ध बोला–"हाँ बता, आज इधर कैसे आना हुआ? उस श्रीपति को तेरे ब्याह-श्याह की कुछ चिन्ता भी है कि तू ऐसे ही घूमती रहेगी, तितली की तरह ! हाँ····?"

– "वही बात तो लेकर आयी हूँ।"

– "अरी बावली, यहाँ किसके लिए···· अब विनोद तो छोड़, कहीं वर-घर देखा है तेरे पिता ने !"

– "देखा है, देखा। स्वयं मैंने ही देखा है।"

– "तूने अपने लिए स्वयं वर देखा··· ? बता कैसा है, वर तेरा?"

– "बस वर है···· आयु कुछ अधिक है, किन्तु मन का बड़ा भला है। कमर कुछ झुकी है विनम्र लोगों की भाँति। देखता-सुनता भी कम है। खाँसता रहता है। धनवान तो उच्च्व श्रेणी का है, किन्तु विधुर भी है और निस्संतान भी है। कोई तो उसकी सेवा करने वाला चाहिये ना ! मुझे उस पर दया आ गयी। बस···।"

– "अच्छा ! तो तुझे ऐसी दया करना भी आता है? है कहाँ, वह वर तेरा?"

– "अभी तो वे मेरे सामने ही बैठे हैं।"

– "अरे ! तेरा विनोद करने का स्वभाव अभी गया नहीं। तुझे और कोई नहीं मिला। इस आमोद-प्रमोद के लिए ! ऐं··· ?" धन श्रेष्ठी ने अपना हास्य दबाते हुए कहा।

रत्नमंजरी ने गंभीरता के साथ ही कहा–"न तो यह विषय ही विनोद के योग्य है और न ही मैं कोई विनोद कर रही हूँ। सचमुच मैंने यह संकल्प कर लिया है। मैं आपसे ही विवाह करूँगी; अवश्य करूँगी। मैंने मन, वचन, कर्म से आपको पतिरूप में स्वीकार कर लिया है।"

"अरी रतन ! अब मेरी आयु देख, दशा देख। मेरा ब्याह तो मृत्यु से होना ही शेष रह गया है। मैं अब ब्याह करते क्या अच्छा लगूँगा। छोड़ ये बातें। मेरा

क्या भरोसा.... आज हूँ... कल न जाने क्या हो। तू क्यों अपना जीवन नष्ट करेगी... हाँ ऑ... ? मेरे से विवाह करके रोगी पति की सेवा के अतिरिक्त तुझे क्या प्राप्ति होने को है?"

तपाक से रत्नमंजरी ने कहा—"यही—बस यही तो मेरा ध्येय है। पति-सेवा का सबसे अच्छा अवसर तुमसे विवाह करके ही मिल सकता है। इसके अतिरिक्त मुझे अन्य कुछ काम्य नहीं है। मेरा ध्रुव निश्चय है यह। शीलवती नारी को ऐसे निश्चय से कोई डिगा भी नहीं सकता।"

"रतन-रतन ! तुम यह क्या सोच रही हो? मेरी तो समझ कुछ काम नहीं करती। सारे जगत् में मैं उपहास का पात्र हो जाऊँगा। ये आयु भी भला कोई शादी-ब्याह की है। अपने विचार का परित्याग कर दे... ना सोच इस प्रकार से। मैं तो पीपल का पीला पात हूँ। अभी डाल पर लगा हुआ अवश्य हूँ, पर कब डाल छोड़ दूँ... कुछ ठीक नहीं। मैं अस्सी से ऊपर, तू बीस से भी नीचे। ऐसे बेमेल विवाह का भला लाभ ही क्या है?"

"लाभ है, श्रेष्ठी जी !.... लाभ है। कन्यावस्था का त्याग मुझे करना है और इस प्रकार नारीधर्म को अपनाना है। ब्याह से यह कार्य-सिद्धि तो होगी। यही मेरे लिये अभीष्ट है। आप कहते हैं कि मुझे दाम्पत्य सुख कौन-सा मिलने वाला है—सो सुनो, श्रेष्ठी जी ! मुझे नहीं कामना ऐसे किसी सुख की। मुझे तो धर्म-सुख ही काम्य है और यही उस सुख का मार्ग है। यही मेरे जीवन की सफलता का मर्म है, यही मेरा करणीय कर्म है, यही मेरा लोक-परलोक का धर्म भी है। मैने वहुत सोच-समझकर निर्णय लिया है यह। आपसे विनती यही है कि इस प्रस्ताव को ठुकरा न दीजिये। मेरे लिये जीवन एक वोझ बनकर रह जायेगा।"—रत्नमंजरी का यह दीर्घ कथन सुनकर बेचारा धन्य श्रेष्ठी तो असमंजस मे पड़ गया और ऐसी किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति में उलझकर वह मौन हो गया। तभी उसने देवदुंदुभी का निनाद सुना। देवताओं ने रत्नमंजरी पर पुष्पों की वर्षा की। आकाशवाणी हुई—"उत्तम है रत्नमंजरी का विचार। नारी-रत्न रत्नमंजरी की जय हो !"

अव तो धन्य श्रेष्ठी के मन का संशय दूर हो गया; कोई तनाव, कोई असमंजस नहीं रहा। देवताओं द्वारा जिसका जयकार हो, उस नारी की महिमा तो सर्वमान्य ही होगी। धन्य श्रेष्ठी के मानस मे भी रत्नमंजरी का स्थान कुछ और ऊँचा हो गया। वे रतन की ओर कुछ श्रद्धा और कुछ स्नेह-भरी दृष्टि से देखने लगे। रत्नमंजरी ने उनके कंठ में वरमाला धारण करा दी और नमनपूर्वक प्रणाम कर मौन खड़ी रह गयी। पहले तो माता-पिता ने, अग्रज वंधुओं ने उसे लोक-व्यवहार की वातें समझाईं। कहा—"उन्नीस-वीस का अन्तर ही चलता है। यहाँ तो तुम यौवन में प्रवेश कर रही हो और वह वार्धक्य से भी वाहर निकल रहा है। तुम्हारा चयन उपयुक्त नहीं है। तुम्हारे समक्ष तो आयु का लम्वा मार्ग पड़ा है। तुमने जीवन-यात्रा आरंभ ही की है, धन्य श्रेष्ठी की यात्रा समापन पर है। उसमें विवाह

का विचार त्याग दो।" किन्तु जब रत्नमंजरी ने अपने निश्चय पर अडिगता दिखायी तो सभी विवश हो गये थे। अब जब उसने धन्य श्रेष्ठी को वरमाला पहनाकर उसका पतिरूप में वरण ही कर लिया तो कुछ भी शेष न रह गया। माता-पिता ने यह विवाह सम्पन्न करा दिया।

विवाहोपरान्त मन लगाकर वह पति-सेवा करने लगी। यहाँ सेवा का अवसर भी उसे अच्छा मिला। पति की अशक्तता और रोग के कारण, वृद्धावस्था के कारण पग-पग पर उसे सहायता की अपेक्षा रहती। वृद्धावस्था तो एक प्रकार से लौटकर आयी बाल्यावस्था ही होती है। बाल्योचित देखरेख और साल-सँभाल पुनः आवश्यक हो जाती है। वही हाथ पकड़कर चलाना, वही अपने हाथ से उसे भोजन कराना, उसी प्रकार से नहलाना-धुलाना, उसके उपयोग की वस्तुओं को सँभालना, उसे प्रत्येक खतरे से बचाये रखना। जैसे माँ शिशु का लालन-पालन करती है, वैसे ही यत्नपूर्वक रत्नमंजरी ने वृद्ध पति की सेवा आरंभ की। इसी उद्देश्य से रत्नमंजरी ने विवाह किया है—यह जानकर तो सभी के मन में उसके प्रति श्रद्धा का भाव प्रबलतर हो गया। उसकी सेवा तो भक्ति की श्रेणी में पहुँच चुकी है। इस अनमेल विवाह की स्थिति में भी वह एक आदर्श पत्नी की भूमिका का निर्वाह करती है। पति को स्नान कराकर भोजन कराती है और तब उसी जूठी थाली में आप भोजन करती है। उसकी चरण-चम्पी करती है। जब पति को निद्रा-सुख प्राप्त होने लग जाता है, तभी धीमे से उठकर अपनी शय्या पर जाती है। पति की प्रत्येक आवश्यकता का यह ध्यान रखती है। पति ही उसके लिए इस लोक का देवता हो गया है और वह उसकी आराधिका है।

मंत्री द्वारा वर्णित रत्नमंजरी की कथा सुनकर महाराज विक्रमादित्य के मन में ऐसी शीलवती सती नारी के दर्शन की लालसा दृढ़ हो गयी। वे एक दिन इसी इच्छा के अधीन रत्नमंजरी के द्वार पर पहुँच गये। वह संध्या ढले का समय था और महाराज एक परिव्राजक योगी के रूप में थे। एक तेजस्वी योगी को द्वार पर खडा देखकर सत्कार भावना के साथ रत्नमंजरी द्वार पर पहुँची। करवद्ध वन्दना कर उसने योगी महाराज से निवेदन किया—"धन्य भाग मेरे कि आपके पावन चरणों से मेरा घर-आँगन पावन हो गया, कृपानाथ ! मुझे सेवा का अवसर प्रदान कीजिए। हम तो गृहस्थी हैं। गृहस्थ धर्म का एक महत्त्वपूर्ण भाग अतिथि-सेवा भी है। पधारिये, मुझे कृतार्थ कीजिये। सेवा का सुयोग तो सौभाग्य से ही प्राप्त होता है। इसे मैं अकारथ न जाने दूँगी। पधारिये.... भीतर पधारिये। मनोनुकूल भोजन ग्रहण कर लीजिये।"

"नारी ! हम परिव्राजक हैं। तीर्थ भ्रमण कर रहे हैं। रात्रि में भोजन हम नहीं करते। हमें तो रात्रि-विश्राम के लिए आश्रय मात्र की अपेक्षा है। मिलेगा... देवी ?" योगी जी अपने विशाल नेत्रों को अपलक किये गृह-स्वामिनी की ओर आशा-भरी दृष्टि से निहारने लगे। ऐसा रूपवान, ऐसा प्रभाव प्रवल, ऐसा स्वस्थ और सवल

योगी रत्नमंजरी ने पूर्व में कभी देखा न था। वह तो भावाभिभूत हो एकटक ताकती ही रह गयी–"क्या सोच रही हो, नारी !.... मिलेगा आश्रय इस योगी को....?"

इस प्रश्न से रत्नमंजरी अपनी चेतना में ऐसी लौटकर आ गयी, जैसे नींद से जागी हो। तत्परता के साथ बोली–"अवश्य.... अवश्य महाराज ! मिलेगा क्यों नहीं। इस सेविका का तो भाग्योदय ही हो गया। ऐसे दिव्य अतिथियों की सेवा का योग तो बड़ी ही कठिनाई से मिल पाता है। पधारिये... भीतर पधार जाइये।"

आग्रह–अनुरोध के साथ योगी ने भवन में प्रवेश किया। प्रशस्त दालान मे अपना आसन डालकर वे बैठ गये। वहीं रम गये वे तो। रत्नमंजरी ने बहुत आग्रह किया उच्चासन के लिए, सुखद कक्ष और शय्या के लिए। योगिराज ने तो केवल एक 'ना' का ही आश्रय पकड़ लिया था–"हम योगी जन तो भूमि का ही आश्रय लेते हैं, माई ! हमारी सुखद विश्राम की कामना नहीं रहती। जीवन तो साधना का ही अपर नाम है। विश्राम... चिर विश्राम तो इस साधना के दीर्घ क्रम के परिणाम में हमें मिलता है, जिसके अनन्तर जन्म–पुनर्जन्म का चक्र स्थगित हो जाता है। यात्रा के मध्य जो विश्राम की लालसा रखता वह यात्री न तो ठीक से अग्रसर हो पाता है और न ही लक्ष्य उसके लिए सुगम रहता है। योगी हैं–भोगी नहीं हैं। किसी सुविधा की कामना हमें नहीं रहती। माई, हम तो बहते नीर हैं–आज यहाँ तो कल वहाँ, हमें क्या सुविधा और क्या असुविधा। हमारी चिन्ता न करो। अपने कार्य पूर्ण करती जाओ। भोर होने पर हम निकल ही जाएँगे। रात्रि में भी हम ध्यान-मग्न बैठे रहते हैं। हमें किसी भी वस्तु की चिन्ता नहीं रहती।"

– "जल तो ले आऊँ, योगी जी !"

– "है, जल हमारे कमंडल में है। वैसे इसकी भी हमें अपेक्षा होगी नही। तुम हमारी ओर से निश्चिन्त हो जाओ... हाँ... ? तुमने यह निरापद स्थल देकर हमारे लिए साधना की जो सुविधा कर दी है–वही क्या कम है !"

योगी ने जाप के लिए सुमरनी निकाल ली।

"फिर भी महाराज, कोई आवश्यकता हो तो संकेत कर दीजिए। धन्य हो गये हम तो आपका सान्निध्य पाकर।" रत्नमंजरी ने भूतल का स्पर्श कर योगी को प्रणाम किया और चली गयी।

योगिराजरूपी महाराज को निद्रा तो लेनी न थी। ध्यान-मग्न ही उन्होंने नयन मूँदकर रत्नमंजरी को ऐसी स्वच्छन्दता दे दी, जैसे घर में कोई अन्य हो ही नहीं। पलकों की संधि से वे सारी गतिविधियाँ देखते रहे। सेवक-सेविकाओं के होते भी पतिदेव के लिए रत्नमंजरी ने स्वयं भोजन तैयार किया था। अपने हाथो से पति को स्नेहपूर्वक भोजन कराया। तव उसके चरण पखारे और चरणोदक को अपने तन पर छिडककर पति को प्रणाम किया। उन्हें उसने सहारा देकर शय्या पर आराम से लिटा दिया। धर्मग्रंथ मे पाठ सुनाया और तव वह पति के चरण दवाने

लगी। धन श्रेष्ठी को जब निद्रा आ गयी तो उनकी चरण-वन्दना कर धर्मध्यानपूर्वक स्वयं भी सो गयी।

महाराजा वीर विक्रम का अब तक जो कर्णेन्द्रिय अनुभव था वह प्रत्यक्ष नेत्रेन्द्रिय अनुभव हो गया। वे मान गये कि वास्तव में रत्नमंजरी पति-भक्त नारी है। शीलवती यह नारी वास्तव में नारी-रत्न ही है। ऐसी पतिव्रता नारी का प्रभाव चमत्कारपूर्ण भला क्यों न हो। उसकी वाणी का प्रभाव उसके शील और सतीत्व पर ही तो आधारित है। वह वाचा-सिद्ध हो गयी है तो इसी कारण हुई है। उसके आशीर्वादों में शक्ति आ गयी है, वे फलते हैं। तभी महाराज के मन में एक विचित्र प्रश्न उठा–पति-भक्ति और सतीत्व क्या एक ही गुण के दो पर्यायवाची नाम हैं। कदाचित् ऐसा नहीं है। पति-भक्ति बाह्य आचरण है। वह दर्शनीय कार्यकलापों का एक समुच्चय है, जबकि शील और सतीत्व आन्तरिक गुण है। इस अन्तस्थलीय चरित्र के अभाव में भी तो पति-भक्ति का आडम्बर हो सकता है। कभी शील रहा भी हो और कभी ऐसा भी संभव है कि वही शील दुर्बल हो जाय–तिरोहित ही हो जाय। मानव-मन की कोई परतीत नहीं। क्षण में यह और क्षण में वह हो जाना उसका स्वभाव है। विशेषकर नारी-चरित्र में तो यह स्वाभाविकता और भी बढ़ी-चढ़ी होती है। कौन जाने, रत्नमंजरी जैसी दिखायी दे रही है न–वैसी वह वास्तव में न भी हो।

महाराज के मन में यह विचार-क्रम की ऑधी तीव्र गति से चल ही रही थी कि वे एक ध्वनि से चौंक उठे। उन्हें रह-रहकर एक मंद ध्वनि सुनायी दे रही थी–लोहे और पत्थर के टकराने की। उन्हें आशंका हुई, जैसे कोई चोर सेंध लगा रहा हो और कुछ ही क्षणों में उनका यह अनुमान प्रमाण सहित सत्य सिद्ध हो गया जब एक पुरुष को उन्होने भवन में चलते-फिरते देखा तो रुक-रुककर टोह लेता और तब सावधानी से आगे बढ़ रहा था। योगिराज के सब ओर तो अंधकार था; अतः उन पर उस चोर की दृष्टि पड़ी ही नहीं। उसे लगा होगा कि घर में कोई भी जाग्रत नहीं है। उसका मुख एक वस्त्र से लिपटा था और कॉधे पर एक बड़ा-सा खाली झोला था। चोर का स्वरूप स्पष्ट हो गया था–कोई संदेह नहीं रहा। वह निश्शंक होकर विचरण करने ही लगा था कि उसके पैर से टकराकर एक ताम्र-प्रतिमा ऑगन में गिरकर झनझना उठी। उस शान्त निस्तब्ध रात्रि में इस ध्वनि-आंदोलन ने सहसा ही रत्नमंजरी की निद्रा भंग कर दी और वह हड़वड़ाकर उठ बैठी। वह ध्यान से टोह लेने का प्रयत्न कर ही रही थी कि कहीं कोई चोर तो घर में नहीं घुस आया ! उसे एक छाया-सी अपने ही कक्ष में दिखायी दी। "कौन···कौन है यहॉ···?" कहते हुए उसने दीपक को उद्दीप्त किया। प्रकाश बढा तो उसने देखा उसके सामने एक हृष्ट-पुष्ट नवयुवक खडा है। ऊर्जस्वित व्यक्तित्व के धनी इस पुरुष को देखकर उसके मन में कुछ उथल-पुथल मची। उस पर वश पाने का विफल प्रयास करती वह पूछ बैठी–"कौन हो तुम?···इस रात्रि में यहॉ आने का तुम्हारा प्रयोजन क्या है?"

"झूठ ना बोलूँगा मैं, रत्नमंजरी ! मैं एक चोर हूँ और चोरी से धन-प्राप्ति ही मेरा प्रयोजन है।"-अत्यन्त धीमे स्वर में उसने स्पष्ट उत्तर दिया।

रत्नमंजरी तनिक भी भयभीत नहीं हुई। बोली-"चोर हो? किन्तु तुम्हें चोरी करने की आवश्यकता नहीं है। मेरा धन तुम्हारा ही है-यह समझ लो। तुमको चोरी करनी ही नहीं तो भला तुम चोर रहे कहाँ ! मुख से यह पट्टिका उतार फेंको और झोला भी हटाओ।" चोर कुछ समझ न पा रहा था, किन्तु वह तो सम्मोहित-सा हो गया और रत्नमंजरी के कथन का अनुसरण करता रहा। उसने अपने मुख पर से वस्त्रावरण हटाया और रत्नमंजरी ने पाया कि यह चोर स्वस्थ, सबल और यौवन-सम्पन्न ही नहीं, अपार-अपार रूपवान भी है। वह उस पर मुग्ध हो गयी। अपने स्वयं के वश में भी नहीं रह पायी। उसके मनःसरोवर में काम का ज्वार उद्वेलित हो उठा-"अरे वाह ! ऐसी सलोनी रात्रि में तुम तो साक्षात् कामदेव से प्रतीत हो रहे हो। मैं तो तुम्हारे अनुराग-तड़ाग में डूब गयी हूँ, मेरे प्रियतम ! अब तुम ··· तुम ही मेरे स्वामी हो। ऐसे रूप, इतने यौवन के धनी होकर भी तुम्हें चोरी करनी पड़े-आश्चर्य ··· महान् आश्चर्य है।"

भाव-विह्वल रत्नमंजरी ने व्यग्रता के साथ जो यह कथन किया तो चोर अचंभित रह गया। रत्नमंजरी का कैसा तो नाम है और यह कैसा ···। वह बोला-"देवी ! चोरी करना अच्छा नहीं-मैं मानता हूँ; किन्तु मैं इसके लिए विवश हूँ ··· विवश कर दिया गया हूँ। मेरे पिता ने निष्ठुरता के साथ परिवार से पृथक् कर दिया। अब मैं चोरी न करता तो क्या करता। अब तो यही मेरा आसरा रह गया है। मैंने तो विवशता से अपना पतन होने दिया, किन्तु तुम देवी ! यह क्या आचरण कर रही हो। तुम्हारी कीर्ति तो अपने पातिव्रत्य, अपने शील के कारण दूर-दूर तक व्याप्त है। तुम आदर्श नारी ही नहीं, रत्नमंजरी ! तुम तो देवियों की श्रेणी में मानी जाती हो। नारियाँ तुम्हारा नाम लेकर व्रत करती हैं और तुम्हारा ध्यान लगाकर व्रत खोलती हैं। तुम ऐसे चरित्र को क्यों अपना रही हो? आदर्श नारी के लिए तो पर-पुरुष का चिन्तन भी पाप होता है।"

"पाप ··· ? कैसा पाप ··· ? जिसे तुम पाप कहते हो, हे चोर ! वह आचरण भी तो नारी सुलभ स्वाभाविकता का एक अंग है। नारी को पेट की भूख ही नहीं सताती, मन और तन की भूख भी तो उसे त्रस्त करती है। और यदि यह पाप ही है तो इस पाप के लिए मैं भी विवश हूँ। कहाँ मेरा भरपूर यौवन और कहाँ मेरे पति कहलाने वाले प्राणी का अशक्त और अक्षम वूढ़ापन ! क्या मुझे किसी युवती का-सा जीवन जीने का अधिकार नहीं है?"

"रत्नमंजरी ! तनिक सोचकर तो देखो कि क्या तो तुम रही हो और क्या होने जा रही हो ! उत्थान में समय लगता है, कठिनाई भी आती है, किन्तु पतन में ··· ? पतन तो वड़ा द्रुतगामी होता है। शिखर से जव अधोगति आरंभ हो ही जाती है तो फिर विराम भूतल पर पहुँचकर ही मिलता है। शिला को शिखर पर स्थापित करना

कठिन नहीं होता। कठिन तो उसे नीचे की ओर लुढ़काना भी उतना आसान नहीं होता। कठिन होता है लुढ़कना आरंभ हो जाने के पश्चात् उसे बीच मार्ग में रोक लेना। और यदि यह चट्टान चरित्र की हो तो स्थिति और भी अधिक संवेदनशील, और अधिक विषम रहती है। अपने को सँभालो, सँभालो अपने चरित्र को। मन के बहकावे में न आओ, विवेक को उस पर हावी बना रहने दो।''

''अब तुम भी उपदेश देने लगे।'' पीड़ित स्वर में रत्नमंजरी ने कहा–''तुम अपने रूप और यौवन के कामबाण चलाकर अब क्यों पीछे हटते हो? मेरे चित्त में अग्नि प्रज्वलित करके फूँक से बुझाने का प्रयत्न न करो–अग्नि और प्रचण्ड होती जा रही है तुम्हारी इस फूँक से। काम कृपाण की नोंक मेरे हृदय को साल रही है, युवक ! मेरी कामेच्छा को तुष्ट करो। हे घनश्याम मेघ, इस धरती की तृषा मिटाकर तृप्त करो। बरसो घनघोर मेघ···· मूसलाधार बरसो !''

''धीरज धरो, देवी ! अधीरता छोड़ो और विवेक का सहारा लो। तुम इन विचारों से स्वयं ही अपना सर्वनाश तो कर ही रही हो, मेरा भी पतन करना चाह रही हो। मैं चोर तो हूँ–मैं स्वयं मानता हूँ, किन्तु परस्त्रीगामी मैं नहीं हूँ। क्यों मेरा चरित्र हनन करने पर तुली हो। मुझे तो क्षमा ही करो।''–चोरी का दुष्कर्मी होते हुए भी अन्य प्रकार से चरित्रवान उस युवक ने फिर उस गिरती हुई नारी को प्रबोधन दिया। कैसा विचित्र परिवर्तन इस नारी के चरित्र में क्षण मात्र में हो गया कि जो कल्पनातीत था।

योगीवेशधारी महाराज वीर विक्रम यह सब-कुछ देखते जा रहे थे और मन-ही-मन विश्लेषण भी करते जा रहे थे। केवल उन्नत स्थिति–केवल देवताओं के लिये होती है जो अधोगति को प्राप्त नहीं होते। केवल पतन–केवल असुरों की गति रहती है जो ऊर्ध्वगति से परिचित ही नहीं होते है। यह तो मानव ही है जो कभी आकाश की ऊँचाइयों में विहार करता है तो कभी पाताल के पंक में गड़ जाता है। अच्छाइयों की पराकाष्ठा उसे देवश्रेणी में भी आसीन कर देती है और कुमार्गगामी होकर वह असुर भी बन सकता है।

''नहीं-नहीं, प्रियतम ! मैं तुम्हें पर-स्त्रीगामी नहीं वनाना चाहती। तुम्हारी दृष्टि में मैं पतिता हो सकती हूँ, किन्तु मेरी दृष्टि में तुम पावन बने रहोगे। अपनी स्त्री के साथ रमण करने में कोई पुरुष पर-स्त्रीगामी नहीं हो सकता। मैंने अपना तन, मन, धन, अपना सर्वस्व तुम्हें सौप दिया है। मैं समर्पित हो गयी हूँ, तुम्हारी दासी हूँ।''

''तुम्हारे पति के रहते यह कैसे संभव है, मैं तो तुम्हारे लिए पर-पुरुष ही हूँ न !'' चोर ने समझाकर अपनी बात कहने का प्रयत्न किया–''काम-विह्वलता में कोई निर्णय करना उचित नहीं होता। शान्ति से सोचकर देखोगी तो तुम्हें स्वतः ही अपना अनौचित्य समझ में आ जायेगा।''

''प्रियतम मेरे ! मेरे पति वृद्ध थे, रोगी थे। आज रात ही उनका देहान्त हो गया। वे अन्य कक्ष में मृत पड़े हैं। समर्पण कर चुकने पर अव मैं तुम्हारे लिए

पर-स्त्री कहाँ रह गयी हूँ। इसी से कहती हूँ मुझे अपना लो और मेरी प्यास··· युग-युगों की प्यास को··· ।"

"पाप शान्त हो····! पाप शान्त हो··· !! अपनी काम-पिपासा के अधीन होकर तुम कहीं मिथ्या-कथन तो नहीं कर रही हो। क्या सचमुच ही तुम्हारे पति नहीं रहे।" गहरी दृष्टि से चोर ने रत्नमंजरी को पाँवों से सिर तक देखा और वास्तविकता परखने का प्रयत्न करने लगा।

"मैं मिथ्या-कथन नहीं करूँगी, मेरे प्रियवर ! सत्य ही मेरे पति का निधन हो गया है। तुम यहाँ बैठो। मैं उनके भू-शयन की तैयारी करके आती हूँ फिर उनके शव को शय्या से उतारने में मेरी सहायता कर देना।"—यह कहते हुए रत्नमंजरी पति के कक्ष में चली गयी। योगिराज की उत्कंठा चरम पर पहुँच गयी। इस स्त्री ने यह कौन-सी नयी माया फैला दी। उन्होंने दबे पाँव रत्नमंजरी का अनुगमन किया। धन श्रेष्ठी के कक्ष में जो उन्होंने देखा, उससे तो त्रिया-चरित्र की नयी-नयी पर्तें खुलने लगीं। श्रेष्ठी बेचारा तो गहन निद्रा में निमग्न था। उसकी साँस बोल रही थी। फिर इसने शव नीचे उतारने की बात कैसे कही? योगिराज ने छिपकर उस स्त्री की करतूत देखी। पति के मुख पर चादर डालकर उसने बड़ी ही शीघ्रता के साथ उसके कंठ की किसी नस को जोर से दबा दिया। हल्की-सी कराह के साथ वह वृद्ध कुछ क्षणों तक तड़पकर सदा के लिए शान्त हो गया। तब लपककर वह चोर के पास आ गयी और उसे श्रेष्ठी के कक्ष में ले गयी। श्रेष्ठी की शीतल निष्प्राण देह देखकर चोर को रत्नमंजरी के कथन में विश्वास आ गया। योगिराज ने देखा कि चोर की सहायता से रत्नमंजरी ने वृद्ध पति के शव को भू-शयन कराया और तब वह गलबहियाँ डालकर चोर के निहोरे लेने लगी। "अव तो तुम्हें विश्वास हो गया न कि मैं तुम्हारे लिए पर-स्त्री नहीं हूँ। लो, मैं विधिवत् तुम्हें अपना पति स्वीकार कर लेती हूँ।"—यह कहते हुए उसने अपने कंठ से मोतियों की माला उतारकर चोर के कंठ में धारण करायी। वोली—"इसी क्षण से तुम मेरे तन-मन के स्वामी हो। यह अतुलित धन-वैभव सब तुम्हारा है। मुझे अंगीकार करो, कृतार्थ करो, मेरे साथ रमण करो, मेरे स्वामी !" रत्नमंजरी ने अपना मस्तक चोर के वक्ष से सटा लिया।

"अभी तो तुम्हारे पूर्व-पति का अन्तिम संस्कार भी शेष है। आज मैं तुम्हारी अभिलाषा को तुष्ट न कर सकूँगा। मैं कल से सदा के लिए यहीं आ जाऊँगा।" —चोर यह कहता हुआ उस ओर वढा जहाँ उसने सेंध लगायी थी।

वर्जना करते हुए रत्नमंजरी ने कहा—"अव तुम्हें भित्ति-छिद्र से निकलने की आवश्यकता नहीं। तुम तो इस गृह के स्वामी हो गये हो। अव तुम चोर नहीं रहे हो। अधिकारपूर्वक भवन के मुख्य द्वार से जाओ।" चोर ने भी ऐसा ही किया। रत्नमंजरी द्वार तक उसे पहुँचाने को पीछे-पीछे चली। कर्म-संयोग ही कुछ विपरीत था कि मुख्य द्वार को खोलते ही भारी-सा कपाट चोर पर आ गिरा। क्षण मात्र में

चोर का प्राणान्त हो गया। एक क्षण में सहसा जो अप्रिय घटित हो गया था। उसने रत्नमंजरी के प्रिय को अघटित कर दिया, विघटित कर दिया। रिक्त पिंजरा पड़ा रह गया और पंछी मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरने लगा। चोर के शव को देखकर बेचारी रत्नमंजरी हाहाकार कर उठी। अपने को हतभाग्य मानती हुई स्वयं को धिक्कारने लगी–"उसकी अपूरणीय कामना ने इस रूपवान, ऊर्जस्वित नवयुवक की जीवन-लीला ही समाप्त कर दी। हाय ! यदि मेरे भाग्य में स्नेह सुख नहीं बदा था तो हे प्रियतम ! तुम मेरे जीवन में प्रविष्ट ही क्यों हुए, या तुम मेरी प्रीति को ठुकरा ही देते। तुम्हारा करुण अन्त तो न होता। किस अशुभ समय में मेरे मन में लालसाओं ने करवट बदली, हाय ! वह तो मेरे प्रियतम के प्राणों को ही ले उड़ी। दैव ! ऐसा कुफल ही मिलना था तो तुमने मेरे मन में वह भाव ही क्यों आने दिया, भाव को आना ही था तो मेरी जीभ अकड़कर क्रियाशून्य ही हो गयी होती !!" रत्नमंजरी प्रियतम के शव पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी और विलाप करने लगी।

अब इस घर में दो-दो शव पड़े थे। 'रत्नमंजरी ने अपने एक पति को स्वयं अपने से पृथक् कर दिया, दूसरे को विधि ने उससे छीन लिया। एक को उसके पापकर्म ने विदा कर दिया था। दूसरा उसके अधर्म के कारण चला गया। धर्मच्युत होकर रत्नमंजरी अतिशय दुःखी और पतिता हो गयी थी। महाराज का सक्रिय मन उनसे कहता था। विधि को इस स्त्री की पावनता की ही रक्षा करनी हो, कदाचित् इसी कारण चोर का प्राणान्त हुआ'–यही सोचते-सोचते भारी मन के साथ रत्नमंजरी के भवन से बाहर आ गये। पिछली रजनी में ही वे राजभवन लौट आये। पाप का भावी फल कर्मफल के रूप में बड़ा दुःखद होता है, किन्तु उसका वर्तमान फल बड़ा सुखद प्रतीत होता है। यह उसका छद्म रूप ही क्यों न हो, पर बड़ा सरस और आकर्षक लगता है वह। इसी से तो सरल बुद्धि मनुष्य उसमें ग्रस्त हो जाता है। दंडनीय पापकर्म तो रत्नमंजरी ने अपने लिए बाँध लिया, किन्तु उस अभागी को तात्कालिक सुखाभास भी नहीं मिला। यही तो विधि की विडम्बना है। कोई भी इसके आगे कुछ करने की समर्थता नहीं रख पाता। वह अवश्यंभावी ही होकर आता है। महाराज के राजभवन में पहुँच जाने पर भी विचारों ने उनका पीछा न छोड़ा और मानसिक रूप से जैसे वे अभी भी रत्नमंजरी के भवन में ही थे।

अब अपने दोनों मृत पतियों के मध्य बैठी रत्नमंजरी गहन चिन्तन में लीन हो गयी। मैंने तो अपना इहलोक और परलोक दोनों ही नष्ट कर लिये। किन्तु क्या वास्तव में यह लोक भी ··· । यदि अब भी चाहूँ तो इस लोक की मेरी गरिमा की रक्षा तो की ही जा सकती है। मैं अब इतनी प्रतिष्ठा भोगकर जगत् की अवमानना नहीं सह सकूँगी। मैं अपने मन मे तो गिर ही गयी हूँ। किन्तु लोगो की दृष्टि में गिरना बड़ा वीभत्स होगा। जो कुछ इस रात्रि में मेरा पतन हुआ है उसकी अवगति मेरे अतिरिक्त किसी को नहीं है। प्रत्यक्ष साक्षी जो एक प्राणी और था, वह अब रहा

नहीं। योगी जी तो अपने ध्यान में मग्न थे। ऐसी स्थिति में उस सारे प्रसंग को आया-गया करने में ही विवेकशीलता रहेगी। मैं तो अब तक भी जगत् की दृष्टि में वही पावन, शीलवती, देवीवत् हूँ जैसी कल तक थी। लोगों के उस स्वप्न को भंग करने से कोई प्रयोजन न रहेगा। उसका विचार-क्रम यों अग्रसर होता ही चल रहा था कि भोर में आसपास की अनेक महिलाएँ एकत्र हो गयीं। अपनी आराध्या रत्नमंजरी की इस दीन दशा पर सभी शोकित–दुःखित थीं। समूह-के-समूह बनाकर महिलाएँ आती जा रही थीं। हाय ! कर्मफल ने ऐसी धर्मात्मा नारी को ··· इस देवी को भी नहीं छोड़ा। आग-पानी से भागा जा सकता है, बहन ! भाग्य से भागकर कोई कहाँ छिपेगा। ठीक कहती हो, बहन जी ! किन्तु यह भविष्य तो जगजाहिर ही था। अस्सी साल के वृद्ध से परिणय रचाने वाली युवती का सुहाग कब तक सुरक्षित रहेगा। उसका आसन्न वैधव्य तो विवाह-मंडप में ही झलक जाता है। जो हो ··· बहन ! शीलव्रत और धर्माचरण ने इस महान् नारी को अपूर्व सिद्धियाँ तो दे दी थीं। कैसा-कैसा चमत्कार दिखाया, दीन-दुःखियों के लिए कैसी कल्याणकारिणी यह देवी है। भगवन् ! इसे दीर्घायु देकर जगत् का कल्याण करना। एकत्र महिलाएँ भाँति-भाँति की चर्चा करती जा रही थीं। सहसा ध्यानमग्ना रत्नमंजरी ने धीमे-धीमे पलकें खोलना आरंभ किया। सब ओर अटल शान्ति छा गयी। नेत्र सामान्य रूप मे खुल जाने के पश्चात् भी रत्नमंजरी की पलकें विकसित होती जा रही थीं। उसके नेत्र अति विशाल होकर दमकने लगे। आशीर्वाद प्रदान करती हुई रत्नमंजरी ने अपना हाथ ऊपर को उठा लिया और उच्च स्वर में बोली–"मैं काष्ठभक्षण करूँगी। अपने पति के साथ-साथ ही मैं भी चितारोहण करूँगी। मैं अपने शीलधर्म का पालन करूँगी ··· अपने पतिदेव के साथ मैंने जीवन-संगिनी के रूप में साथ निभाया, अव परलोक में भी हम संग-संग ही प्रवेश करेंगे।"

श्रद्धाभिभूत विशाल नारी-समूह ने "शीलवती महादेवी रत्नमंजरी की जय !!" के नाद से आकाश गुँजा दिया। सहस्रों कण्ठों से निसृत जय-जयकार वड़ी देर तक अवन्ती ने सुनी और सुख का अनुभव करने लगी–गौरव का अनुभव करने लगी। इसी मध्य रत्नमंजरी के मानस में यह विचार सुदृढ़ हो गया कि वह अपने दोनों पतियों के साथ काष्ठभक्षण करेगी। वह चोर की भी वैसी ही पत्नी रही है, जैसी वृद्ध धन्य श्रेष्ठी की। तभी उसके मन में विचार आया। चोर को पति वताकर उसके साथ सती होना ··· क्या उपयुक्त रहेगा? नहीं ··· नहीं ··· यह करना भी होगा और किया भी नहीं जा सकता। उसकी पतिव्रता, शीलवती महान् नारी की छवि नष्ट हो जायेगी। उस छवि की रक्षा भी तो करनी होगी। तभी एक युक्ति उसके मानस को जगमगा गयी। एक प्रौढ़ महिला ने प्रश्न किया–"देवी ! हम सभी के मन में यह जिज्ञासा प्रवल हो गयी है कि ये दो शव किन-किन के हैं। आपके पतिदेव का एक शव है–यह अनुमान तो हम कर चुकी हैं, किन्तु उनकी मृत्यु कैसे हुई और दूसरा शव? ··· यह दूसरा शव किसका है?"

"मैं समझ गयी... तुम्हारा प्रश्न .... मैं समझ गयी।" रत्नमंजरी ने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया–"अच्छा हुआ कि तुमने प्रश्न कर लिया। अन्यथा भी मैं स्वयं ही अपनी ओर से सारा वृत्तान्त प्रस्तुत करने को थी। कल रात्रि में हमारे यहाँ एक अतिथि आये। अर्द्ध-रात्रि में एक चोर भी घर में घुस आया। उसने मेरे स्वामी श्रेष्ठी जी का कंठ दबा दिया। अतिथि श्रेष्ठी जी के प्राणों की रक्षा के लिए बीच में आ गये। चोर क्रुद्ध हो उठा और अतिथि पर झपट पड़ा। अतिथि ने अपनी प्राण-रक्षा के लिए घर से बाहर भागने का प्रयत्न किया और दौड़कर चोर ने द्वार पर उनको धर दबोचा। अतिथि जब भूमि पर गिर पड़ा तो चोर ने द्वार का कपाट उखाड़कर उन पर दे मारा। बेचारे अतिथि ने अन्तिम साँस ले ली। मेरे पति और इन अतिथि ने एक साथ दम तोड़ा। एक ही हत्यारा इन दोनों के मरण का कारण बना। मेरी कामना है कि इन दोनों का अन्तिम संस्कार भी एक ही चिता में किया जाय। यही ... यही मेरी अन्तिम इच्छा है। मेरी कामना है कि इस इच्छा की पूर्ति निरापद रहे, कोई बाधा न आ सके।" इतना कहकर रत्नमंजरी की पलकें क्रमशः झुकने लगीं और उसके नेत्र मुकुलित होने लगे। उसके मुख पर छायी शान्ति उसे सम्यक्त्व की प्रतीक बनाने लगी थी। इसी समय कुछ प्रौढ़ नागरिक भी आ उपस्थित हुए थे। उन्होंने रत्नमंजरी को आश्वस्त किया कि उसकी इच्छा अवश्य पूर्ण की जायेगी। काष्ठभक्षण और रत्नमंजरी–सती शिरोमणि रत्नमंजरी की भव्य शोभा-यात्रा की तैयारियाँ भी तत्काल ही आरंभ कर दी गयीं।

अवन्ती-नरेश के पास भी सूचना पहुँची कि महान् शीलवती महासती रत्नमंजरी काष्ठभक्षण कर रही हैं। वे व्यंग्य के साथ मन-ही-मन सोचते रहे–'वाह रे वाह ! महान् शीलवती सती रत्नमंजरी। उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि एक ही चिता पर जीवित सती रत्नमंजरी के संग दो शव चढ़ेंगे। एक शव तो उसके पति धन्य श्रेष्ठी का है ... किन्तु ... किन्तु दूसरा शव उसके अतिथि का होगा जो उसके पति की रक्षा करने के प्रयास में चोर के हाथों मारा गया था।' महाराज सोचने लगे–'उस धूर्त्त नारी ने सब-कुछ उलट-पलट कर दिया है। उसका अतिथि योगिराज–मैं तो जीवित हूँ और वह दूसरा शव उस चोर का है।' रत्नमंजरी ने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये यह सब हेर-फेर कर दिया। महाराज ने केवल इतना कहा कि हम भी काष्ठभक्षण के साक्षात् साक्षी रहेंगे। हमें राज्य और जन-कल्याण के विषय में महासती से आशिष प्राप्त करनी है। शृंगारसुन्दरी ने भी उस समय संग रहने की अनुमति चाही कि वह महासती का चरणोदक प्राप्त कर पुत्रवती हो सके, उसका वंध्यापन दूर हो सके, परन्तु नरेश ने अपने प्रयोजन में शृंगारसुन्दरी की उपस्थिति को बाधक मानते हुए कोमलता के साथ उसे हतोत्साहित कर दिया। उन्होंने कहा–"इस समय रानी का श्मशान भूमि मे जाना उपयुक्त न होगा। चरणोदक हम ले आयेंगे।"

नदी-तट पर एक विशाल चिता निर्मित कर ली गयी थी। दोपहर तक रत्नमंजरी की शोभा-यात्रा भी पहुँच गयी। रत्नमंजरी के जय-जयकार और विविध वाद्यों की ध्वनि से वह शान्तैकान्त स्थल सहसा सप्राण हो उठा। असंख्य नर-नारियों की उपस्थिति में यहीं वह काष्ठभक्षण करने वाली थी। दोनों पुरुष-शव चितारूढ़ कर दिये गये थे। रत्नमंजरी एक ऊँचे स्थल पर खड़ी थी। सब ओर दूर-दूर तक जन-संकुलता का दृश्य था। उसके समीप कोई न था। सभी दूर-दूर एक बड़े वृत्त में खड़े थे। चिता की ओर दृष्टि किये वह किसी विचार में खोयी थी कि उसी समय महाराज वीर विक्रम भी वहाँ पहुँच गये। प्रणाम के उत्तर में नरेश को शुभाशिष देती हुई रत्नमंजरी ने राजा और राज्य की सुख-शान्ति और समृद्धि के लिये,, गौरव-वृद्धि के लिए मंगल कामनाएँ कीं। नरेश ने स्पष्ट कथन किया–"हे स्त्री ! तुमने प्रचारित किया कि तुम्हारे पति के साथ जो अन्य शव है, वह तुम्हारे किसी अतिथि का है जो कल रात ही तुम्हारे घर पहुँचा था। अतिथि तो तुम्हारे घर आया था और वह योगी था, यह शव तो एक चोर का है। वह योगी अन्य कोई नहीं, स्वयं हम ही थे। हम कल की सारी घटना के प्रत्यक्षदर्शी हैं, रत्नमंजरी–हम स्वयं। हमसे कोई भेद छिपा नहीं है। चोर ने अतिथि को नहीं मारा। चोर ने किसी की हत्या नहीं की–वह अतिथि तो अभी भी जीवित है। हत्यारिन तो तुम स्वयं हो। तुमने कंठ दबाकर अपने वृद्ध और अशक्त पति की हत्या इस लालसा से की कि तुम उस रूपवान चोर के संग अपनी कामेच्छा पूर्ण कर सको। तुम्हारे रोम-रोम में भोग की कामना मचल रही थी। पति की हत्यारिन होकर तुम क्यों पतिव्रता का ढोंग कर रही हो, क्यों अतृप्त तन-मन के साथ भस्म होकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करना चाह रही हो। इस छद्म धर्म-पालन से, इस प्रवंचना से तुम्हें कोई सुपरिणाम तो प्राप्त होने वाला नहीं। उत्तम तो यही रहेगा कि अपना शेष आयुष्य भी तुम जगत् में विषय-वासना-सेवनपूर्वक सम्पन्न करो। किसी को अपने तृतीय पति के रूप में अपना लो और सामान्य जीवन जीने लगो। आश्चर्य है कि तुमने त्रिकालज्ञ के रूप में, शीलवती संती महान् नारी के रूप में, धर्मोपासिका के रूप में ऐसे छल-छद्म से ख्याति प्राप्त कर ली। सभी तुमको देवी मानने लगे और उन सभी के अमित विश्वास और श्रद्धा को तुमने छला। क्या इस प्रवंचना का तुम्हें कोई दण्ड न मिलेगा? छोड़ो यह सव सतीत्व का दिखावा और काष्ठभक्षण का विचार ही निरस्त कर दो।"

"राजन् ! मैं आपकी स्पष्टवादिता और सत्य-कथन की इस प्रवृत्ति का आदर करती हूँ ··· प्रणाम करती हूँ। यह भी मेरा सौभाग्य है कि आप-जैसे नीति पुरुष मेरे चरित्र-पतन के क्षणों के प्रत्यक्षदर्शी रहे। मैं किसी भी प्रकार के भय के अधीन होकर भी उन तथ्यों से मुकर नहीं सकती कि जो मेरे जीवन में, चाहे क्षणिक रूप में ही हों, पर आये अवश्य हैं यह सत्य है, राजन् ! कि मैं उस चोर के रूप–यौवन पर तन-मन से आसक्त हो गयी थी। मुझे यह स्वीकारोक्ति करने मे भी कोई

संकोच नहीं कि विषय-वासना के अधीन होकर, कामांध होकर मैंने करणीय-अकरणीय का सारा भेद ही भुला दिया था और मैं आत्म-विनाश के पथ पर आरूढ़ हो गयी थी। मुझे यह स्वीकार करने में भी कोई हिचक नहीं कि मैंने ही स्वयं अपने पति की हत्या की है। मैं पापिन हूँ··· मैं पतिता हूँ··· ।" इस दीर्घ कथन के अन्त में उमड़ आए आवेश को वश में करने के प्रयोजन से रत्नमंजरी ने क्षणिक मौन साध लिया और उसके अनन्तर पुनर्कथन आरंभ किया–शान्ति के साथ, उद्वेगहीनता के साथ बोली–

"राजन् ! प्रत्यक्षदर्शी के रूप में आपने मेरे चरित्र का जो विद्रूप और पतित रूप देखा–वह सर्वथा सत्य है, किन्तु यह भी सत्य है कि मेरे जीवन में मात्र वही क्षण मेरे पतन का क्षण रहा है। इसके पूर्व भी मैं शीलवती सती नारी ही थी और उसके पश्चात् भी मैं वैसी ही हूँ। पतन का वह क्षण तो मेरे मानवीय स्वरूप का लक्षण है। देवता सदा उन्नत और पावन रहते हैं, दनुज सदा पतित और अपावन ही रहते है। मनुष्य ही तो कभी पवित्राचरण के आधिक्य से सुरत्व को धारण कर लेता है और कभी पापाचार के कारण असुर श्रेणी में आ खड़ा होता है। मनुष्य का सुरत्व पतित होकर कभी असुरत्व के समीप नहीं आ सकता–यह मान्यता मिथ्या होगी। मेरा प्रत्यक्ष उद्धरण आपके समक्ष है।··· किन्तु एक बार पतनग्रस्त होकर कभी उत्थान-मार्ग पर मनुष्य आरूढ़ हो ही नहीं सकता ऐसी धारणा भी भ्रान्त होगी, राजन् ! यदि पतन के दलदल से निकलकर उत्थान की सुरभित वाटिका मे प्रवेश की क्षमता से विहीन हो तो फिर मनुष्य का मानवीय रूप ही अपूर्ण रह जायेगा। अतः हे राजन् ! जो आपने प्रत्यक्षतः देखा वह भी सत्य है और जो कुछ भी गरिमा इसके पूर्व मे मेरी रही है, न तो वह मिथ्या थी और न ही अब जो कुछ आचरण है वह कृत्रिम है। सुनो, राजन् ! मानव जीवन तो समतल भूमि की यात्रावत् न होकर उतार-चढाव से भरा रहता है, वह उत्थान-पतन का सम्मिश्रण है। इस यात्रा में मनुष्य कभी चढ़ता हुआ शिखर तक पहुँच जाता है तो कभी अधोगति अपना लेता है और फिर कभी ऊर्ध्वगामी हो जाता है।"

"ये उत्थान-पतन भी कर्माधीन ही होते हैं। पूर्वकृत कर्मो के फलरूप में ही ये प्रकट होते है। जिस पतन के आप प्रत्यक्षदर्शी रहे हैं–वह मेरे किसी पूर्वकृत अशुभ कर्म का ही वह व्यक्त दुष्परिणाम था। पूर्व निश्चित क्रम का एक भाग था वह। उसका घटित होना भी अवश्यंभावी था, अटल था। यही विधि या प्रारब्ध है। मै जब विधि-अधीन थी तो आप सोच सकते हैं कि उस पतन के मूल में मेरी स्वेच्छा की भूमिका नगण्य ही रही है। मैं तो किसी आचरण के लिए स्वच्छन्द थी ही नहीं। ऐसी स्थिति मे आप समझ सकते हैं कि मेरा दोष कितना और किस कोटि का है? और न उसके पूर्व किसी को भ्रमित किया है और न ही छद्म आचरण किया है और न ही अव कोई आडम्बर रचा रही हूँ। मैने तो पतन के उन क्षणों में जिस पर-पुरुष को भावना रूप मे पति स्वीकार कर लिया था उसके संग भी अपना धर्म

निभा रही हूँ। मेरा काष्ठभक्षण उसके संग भी है। हॉ, यह अन्य बात है कि जनमानस को किसी आघात से रक्षित रखने के प्रयत्न में मुझे उसे अपना अतिथि मानना पड़ रहा है। यदि मेरे पतन की कथा यथावत् प्रचारित हो जाये तो कोई भी इसकी स्वाभाविकता, इसकी अनिवार्य घटनीयता पर विचार न करेगा–मेरा पतन ही उनका मुख्य द्रष्टव्य होकर रह जायेगा और तब आदर्शों के प्रति आस्थाविहीन होकर जन-सामान्य भ्रान्त ॲधियारों में भ्रमित होने लगेंगे। व्यापक जनहितार्थ ही मुझे इतना-सा छद्म ग्रहण करना पड़ा, राजन् ! मुझे विश्वास है; मैंने अपनी सारी स्थिति को बिना किसी दुराव के स्पष्ट कर दिया है और उसके औचित्य-प्रतिपादन में भी अभाव नहीं रहा है। आपकी धारणा इससे संशोधित हुई होगी।"

"तुमने तो मेरी आँखें ही खोल दीं, देवी !" महाराज ने स्वीकार किया–"उस समय खुली ऑखों से भी जो कुछ हम नहीं देख–समझ पाये वह तुमने आज समझा दिया। हम अपने अविवेक के कारण क्षमा-प्रार्थी हैं, देवी ! हमारे मन में आपकी एक कुत्सित छवि उभर आयी, वह हमारे भ्रम के कारण ही थी और उस पर हमें खेद भी अतिशय रूप में है। आप तो पूज्या हैं, आराध्या हैं। आपका आदर्श युग-युगों तक सन्नारियों के लिए अनुकूल और अनुकरणीय रहेगा। इस रूप में आपका गौरव शाश्वत रहेगा। आपका नाम अमर रहेगा। यशःशरीर में आप सदा शाश्वत रहेंगी।"–अन्तःप्रेरणा के साथ महाराज ने कहा–"सतीत्व और शीलव्रत के प्रसंग तो बड़े ही जटिल होते हैं, जिस पर संदेह किया जाय वह स्त्री निष्कंलक होती है और जो कदाचारिणी नारी है उस पर रंच मात्र भी संदेह नहीं हो पाता। त्रिया बाहर से कुछ और दिखायी देती है और भीतर से वह होती कुछ अन्य ही है। इस त्रिया-चरित्र का पार पाना तो देवों के लिए भी संभव नहीं रहता।"

"राजन् ! मेरा प्रसंग तो त्रिया-चरित्र का न होकर मानव मात्र की नियति का है। नियति जो कर्माधारित रहती है। कर्मफल तो क्या पुरुष और क्या स्त्री–किसी को भी नहीं छोड़ते। त्रिया-चरित्र तो वस्तु ही कुछ अन्य है। त्रिया-चरित्र जानना चाहते हो तो, हे राजन् ! कभी कोची हलवाइन के यहाँ चले जाना। वह इस मायाजाल की झॉकी आपको दिखा देगी। कल्याण हो, राजन् ! मालव-जन सुखी रहें, समृद्ध रहें ! मंगल हो.... सभी का मंगल हो !"–रत्नमंजरी ने आशीर्वाद दिया और आगे वढ़ने को तत्पर होती दिखायी देने लगी। तभी आत्म-भावना से प्रेरित महाराज वीर विक्रम ने महासती रत्नमंजरी का जय-जयकार उच्च स्वर में कर दिया। उपस्थित जन-समूह भी आत्म-विभोर होकर जय-जयकार करने लगा। महासती रत्नमंजरी ने चिता की दिशा में गमन आरंभ किया। क्रमशः उसकी गति में तीव्रता वढती गयी। वह अक्षत वर्षा करती जा रही थी। जिसे अक्षत-कण स्पर्श भी कर जाता वह अपना जीवन धन्य समझने लगा। लोग भूतल पर विखरे अक्षत-कण वटोरने लगे–वे वड़े चाव से संग्रह करते जा रहे थे। सारे वातावरण में एक पावनता वर्सी हुई थी। वह उत्तरोत्तर चिता के समीप होती जा रही थी और श्रद्धालु

जनो का वृत्त सिकुडता जा रहा था और जय-जयकार का घोष व्यापक से व्यापकतर होता जा रहा था। वाद्य-वादन के स्वर भी उच्च्य से उच्चतर होते जा रहे थे।

महाराज अपने मंत्री और कुछ अन्य कर्मचारियों के संग राजभवन लौट गये। मार्ग में वे मन-ही-मन में इस सारे प्रकरण की समीक्षा करने लगे थे। वे सोच रहे थे कि रत्नमंजरी ने कितना सत्य कहा था कि गुरु, गाय, सेना, पानी, स्त्री और पृथ्वी—इन छह की निन्दा करना नीति-अनुकूल नहीं होता है। हमने तो प्रत्यक्ष रूप से नारी के समक्ष ही उसी नारी की निन्दा की। यह भर्त्सना अविचारित और निर्मूल भी तो थी। क्या हमारा यह कर्म समीचीन था? फिर जो उसने यह कहा कि मनुष्य अपनी विकृतियों को नहीं देखता, दूसरों के दोष-दर्शन में ही रुचि लेता है। इतना ही नहीं, जानकर भी अपने पर्वताकार दोषों को रजवत् समझने लगता है और रजकण-सा, नगण्य-सा, पर-दोष भी उसे सुमेरुवत् लगता है और उससे भी विशाल आकार में उसका वह अतिरंजना के साथ बखान करता है। क्या हमने ऐसा नही किया? किया—इतना तो किया ही है कि रत्नमंजरी के क्षणिक दोष को .... किन्तु फिर यह क्या कि अपना दोष, अभाव, दुर्गुण या विकार विशालकाय होते हुए भी हमें सूक्ष्म-सा प्रतीत हो रहा है। क्या विकार हो सकता है ऐसा? उसने यह भी तो कहा था कि हमें हमारे विकार ज्ञात नहीं होते। तो चाहे हमें दिखाई नही दे रहे हों पर हममें दोष हैं और वो भी प्रचंड दोष हैं। महाराज व्यग्रतापूर्वक उन दोषों की खोज की दिशा में चिन्तन करने लगे। तो क्या कोई भी सूत्र नहीं कि हमें ज्ञात हो सके कि ....। यह कोची हलवाइन का क्या प्रसंग है? वह त्रियाचरित्र का ज्ञान करा देगी .... यही तो सती रत्नमंजरी ने कहा था। कहीं वह कोची हमारे घर का ही त्रिया-चरित्र .... याकि हमारे अन्त:पुर का ही कोई रहस्य तो सामने आने वाला नहीं .... यह क्या हो रहा है—हो क्या रहा है यह? अव तो हमें कोची हलवाइन से भेंट करनी ही होगी। ऐसा ही सव-कुछ सोचते हुए महाराज राजभवन को लौट आये।

● ●

राजाधिराज विक्रमादित्य महाराज ने उसी दिन कोची हलवाइन के विषय मे विस्तार से परिचय प्राप्त कर लिया। उन्हें ज्ञात हुआ कि कोची इसी नगर अवन्ती में निवास करती है और पहुँची हुई मंत्रविद् और विद्याधारिणी है। मंत्री ज्ञानचन्द्र ने उन्हे वताया कि कोची हलवाइन दानशील महिला के रूप मे भी विख्यात है। उसके मिष्टान्न-गृह मे भाँति-भाँति के स्वादिष्ट मिष्ट व्यंजन सदैव उपलव्ध रहते हैं। इसके अतिरिक्त सुस्वाद भोजन भी वहाँ परोसा जाता है। परदेसी पथिक तृप्त हो

जाते हैं और उनके मान के लिए ही नाम मात्र का मूल्य लिया जाता है। उन्हें ऐसा अनुभव नहीं करने देती है कोची कि उन्हें निःशुल्क भोजन कराया गया और इस प्रकार उनके आत्म-गौरव को ठेस नहीं पहुॅचने देती है। विप्रों और निर्धनों के लिए तो मूल्यविहीन भोजन-व्यवस्था है। वे तृप्त होकर आशीर्वाद देते हैं। इन्हें वह वस्त्र, दक्षिणा आदि भी देती है। सेवा और दान में उसे अति आनन्द का अनुभव होता है। उसके यहॉ अभ्यागत एकत्र ही रहते हैं। अपनी असीम उदारता के कारण वह सर्वप्रिय हो गयी हैं। वैभव में वह साक्षात् लक्ष्मी के समान है तो कमनीयता में रंभा से कई चरण आगे है। उसकी मधुर मुस्कान में कुछ ऐसां प्रभाव रहता है कि दुःखित जन भी अपना सारा कष्ट विस्मृत कर देते हैं। सहानुभूति की देवी कोची सबकी दुःखहारिणी और सुखकारिणी है। उसके घर से कोई भी निराश नहीं लौटता। भूखों को षट्रस भोजन तो मिलता है अपनी विद्याओं के प्रभाव से वह पुत्रैच्छा वालों को पुत्र भी देती है और कंचन की अभिलाषा रखने वालों को उसके घर से कंचन की, कामिनी के अभिलाषियों को कामिनी की प्राप्ति हो जाती है। कोची तो उच्च कोटि की प्रदाता है। मंत्री ने यह भी बताया कि प्रसन्न होकर तो वह वरदान है, किन्तु रुष्ट हो जाने पर वह चण्डिका की प्रतिरूप बन जाती है। उसकी अपार शक्ति किसी के भी विनाश के लिए अपर्याप्त नहीं रहती। बड़ा ही वैभवशाली जीवन है कोची का। उसका प्रासाद भी स्वर्गिक सुखों का सदन है। मणि-कंचन से निर्मित स्तंभों और छतों की तो शोभा ही निराली है। एक दीप प्रज्वलित हो और सहस्रों प्रतिबिम्बों से जगमगा उठता है–सारा कक्ष। सुन्दर कलात्मक गवाक्षों का तो कहना ही क्या है। भवन की साज-सज्जा भी एकदम निराली, एकदम अनूठी है। प्रासाद का चप्पा-चप्पा वैभव, सौन्दर्य और कलात्मक सुरुचि का प्रतीक है। भवन के मध्य एक अति सुन्दर, कमनीय वाटिका तो नन्दनवन को भी लज्जित करती है।

कोची का परिचय प्राप्त कर महाराज वीर विक्रम का मनोवल तनिक और भी उन्नत हो गया। उन्होंने उसी रात्रि में कोची के यहॉ जाने का निश्चय कर लिया। रात्रि की द्वितीय घटिका में ही वे कोची के प्रासाद में पहुॅच गये। इस वार वे परदेसी पथिक के वेश में थे। श्वेत शिरस्त्राण और अन्य वस्त्र, कंधे पर झोला-जैसा एक गट्ठर लटकाये थे जिसमें से लोटा-डोर झॉक रहा, ग्रामीण शैली के पदत्राण–एक हाथ में लकुटी लिए वे कोची के प्रासाद पर पहुॅच गये। द्वारपाल ने स्वागत-सत्कार करते हुए प्रणाम किया और भोजनशाला की ओर संकेत करते हुए बोला–"महोदय ! उधर जाकर भोजन कर लीजिये।"

"नहीं .... भैया ! भोजन तो हम संध्या-पूर्व ही कर लेते हैं। मनुहार के लिए धन्यवाद ! हमारी अभिलाषा तो कुछ और ही है।" महाराज ने अत्यन्त विनय के साथ कहा।

"आज्ञा करें, अतिथि देवता ! क्या अभिलाषा है?"

"भैया ! हम तो देवी के दर्शन की अभिलाषा लिये बड़ी दूर से आये हैं। क्या हमारी यह साध पूरी होगी?" दैन्य का लेप अपनी मुख-मुद्रा पर करते हुए परदेसी ने निवेदन किया।

"हमारी स्वामिनी बड़ी दयालु और उदार हैं, परदेसी ! वे किसी का मन नहीं दुखातीं। किन्तु अपना प्रयोजन तो बताइये। किस हेतु भेंट करना चाहते हैं? मैं स्वामिनी के पास संदेशा भेजकर अनुमति मँगा लेता हूँ। भेंट आपकी अवश्य हो जायेगी।" द्वारपाल ने आश्वस्त किया।

"भैया ! ऐसा कोई विशेष प्रयोजन तो कुछ है नहीं। देवी की बड़ी प्रशंसा सुनी तो हम भी दर्शनार्थ चले आये हैं। क्या हमें दर्शन नहीं देंगी वे?"

"अवश्य देंगी, भैया !.... देंगी क्यों नहीं। इस द्वार से कभी कोई निराश नहीं लौटता, फिर आपकी तो कोई याचना भी नहीं है। कुछ प्रतीक्षा कीजिये, मैं व्यवस्था करता हूँ।" इसी समय कुछ अन्य जन आ गये और द्वारपाल उनमें व्यस्त हो गया। महाराज कुछ हटकर खड़े हो गये। तभी एक सुन्दरी सेविका आयी और नमस्कार कर परदेसी को ऊपर के तल्ले में ले गयी। अतिथि-कक्ष में परदेसी को एक रिक्त आसन पर आसीन कर दिया और तब आवभगत के क्रम में एक अन्य दासी जल ले आयी। परदेसी ने रात्रि में कुछ ग्रहण न करने की अपनी नियमितता बताते हुए जल भी ग्रहण नहीं किया और आगामी क्रम को भी निरस्त कर दिया। कुछ ही क्षणों में कोचीदेवी ने सामने के द्वार से अतिथि-कक्ष में प्रवेश किया। अनन्य रूपसी कोची के लावण्य को देखकर तो वास्तव में परदेसी विस्मित ही हो गया। अवाक्-सा ताकता रह गया। यह तो कोई देवांगना प्रतीत होती है। दो-एक क्षणो में सहज होते हुए परदेसी सम्मान प्रकट करते हुए उठ खडे हुए ही थे कि कोची ने तो सम्मानपूर्वक झुककर प्रणाम किया—"अवन्तीनाथ राजाधिराज को दासी कोची हलवाइन का नमन-वन्दन स्वीकार हो।" कुछ रुककर उसने कथन को अग्रसर किया—"यह क्या, राजन् ! आपने क्यों कष्ट किया। मुझे आदेश भेजा होता, उपस्थित हो जाती।"

महाराज तो अचकचाकर रह गये। इसने मेरे इस वेश के पार की हमारी वास्तविक पहचान कैसे कर ली ! तभी वह आग्रहपूर्वक महाराज को अपने निजी कक्ष मे ले गयी। आपने जो यह अतिशय कृपा की महाराज ! मैं अत्यन्त आभारी हूँ....। महाराज को अपने कक्ष में एक ऊँचा आसन दिया और स्वयं एक साधारण-सा आसन विछाकर महाराज के चरणों में वैठ गयी। नम्रतापूर्वक कुशल-क्षेम पूछा—"आप सभी स्वजन-परिजन स्वस्थ एवं प्रसन्न तो हैं न.... और.... और हमारी विटिया.... वो देवदमनी कुशल से तो हैं न....!"

महाराज ने मुस्कराते हुए सकारात्मक आशय के साथ मस्तक डुला दिये—"आश्चर्य है.... कोची ! तुमने तो हमारे सारे श्रम पर ही पानी फिरा दिया।

हमारा यह वेश-परिवर्तन ही व्यर्थ कर दिया।" महाराज अपनी ओर ही गर्दन झुकाकर झाँकने लगे।

"कृपानाथ ! पीपल के पत्तों की आड़ में सूरज भला कितना छिपेगा !" कोची ने अपनी इस कला को साधारण .... अति साधारण-सी जताया और कहा– "राजन् ! आपके मन में सती रत्नमंजरी के विषय में जो संशय है–वह सर्वथा निर्मूल है। वह आजीवन शीलव्रतधारिणी रही है। उसने सतीत्व का अमरण रक्षण किया–यह ध्रुव सत्य है। यह गौरव के प्रतीक सद्लक्षण उसके पुण्यों के प्रतिफल रूप में ही उदित हुए; अन्यथा यह असाधारण उपलब्धि सहज सुलभ तो प्रत्येक नारी के लिए हो नहीं सकती और श्रीमानेश्वर ! आपश्री उसके जिस पतन के प्रत्यक्षदर्शी रहे हैं–वह भी एक कटु और अत्यन्त अप्रिय सत्य है। किन्तु .... महाराज ! उसके अशुभ कर्मों का ही वह भी एक कलंकित दुष्परिणाम था। उस बेचारी का उसमें दोष ही क्या था? कर्माधीन 'होनी' ही उसकी ऐसी थी। यह सव उसने स्वेच्छा से, सुचिन्त्य रूप में, आनन्द-प्राप्ति के प्रयोजन से तो किया ही नहीं था। उसका यह आचरण नियति के झोंके में घटित हो गया। उसने पर-पुरुष से कामेच्छा की तृप्ति की अभिलाषा की, अपने पति का स्वयं ही वध भी कर दिया। यह उसके पावन जीवन-क्रम पर एक भीषण प्रहार था, एक बडा भारी कलंक था। हाय ! बेचारी रत्नमंजरी .... तेरी ऐसी क्रूर नियति ....।" कोची का कण्ठ भर आया और उसकी पलकें आर्द्र हो गयीं।

महाराज वीर विक्रम सारे तथ्यों को इस आश्चर्य के साथ हृदयंगम करते चले जा रहे थे कि कोची की करामात तो वास्तव में प्रशंसनीय है। हमने कोई संकेत भी नहीं दिया और यह सब-कुछ जान गयी कि हमारा मन किस संशय मे ग्रस्त है। रुऑसी वाणी में ही कोची ने अपना कथन पुन· अग्रसर किया–"वेचारी उस रत्नमंजरी के चारित्रिक पतन पर न जाइये। द्रष्टव्य तो उसका वह आचरण है जिसे उसने उस पतन के उपरान्त अपनाया। उसने अपने निन्दनीय कर्म की स्वयं घोर निन्दा की, आत्मालोचना द्वारा स्व-भर्त्सना की, प्रायश्चित्त किया, अपने मानस को उस अनाचार के धव्वे प्रक्षालित कर पुनः निर्मल और पावन कर लिया। साधारण स्त्रियों के वस का यह आचरण नहीं। वह नियति के अधीन मानकर उस पतित जीवन को अपनी विवशता नहीं मान सकी। जैसा वह रखेगा–वैसा ही रहना होगा .... हम कर ही क्या सकते हैं–ऐसा सोचकर रत्नमंजरी ने पतन के साथ समझौता नहीं किया। परिस्थितियों से संघर्ष कर उसने अपने वरेण्य पक्ष को ही विजयी वनाया। उसने आपसे यह यथार्थ ही कहा था कि उस पतन के क्षणों के पूर्व भी पावन और शीलवती रही है और उस काली अवधि के पश्चात् भी वह पुनः पवित्राचरण की नारी रही है। इसमें रंच मात्र भी अतिरंजना नहीं है। वह तो दयनीय पात्र हो गयी वेचारी।"

कोची से पुष्टि पाकर रत्नमंजरी का कथन महाराज के मानस में सुस्थापित सत्य का रूप लेने लगा था। उन्होंने कोची से कहा—"तुम कदाचित् उचित ही कथन कर रही हो। हमें ही व्यर्थ का भ्रम हो गया। हमने तो उस शीलवती नारी की पवित्रता में सन्देह किया था। उसका चरित्र देखकर हमें लगा कि त्रिया-चरित्र को समझना टेढ़ी खीर है, कोची ! एक ही रात्रि में हमने पाया कि पतिव्रता नारी के रूप में दासीवत् वह अपने अशक्त वृद्ध पति की सेवा कर रही है, उसके चरणोदक से अपने तन को शुद्ध कर रही है। जो पति उसके लिए ऐसा पूज्य रहा, उसी रात्रि में उसने अपने क्रूर करों से उसका वध कर दिया। तन-मन से वह जिसके प्रति समर्पित रही—उसी पति को प्रवंचित कर उसने चोर-जैसे पर-पुरुष से काम-तृप्ति की याचना की। उसी नारी ने फिर जिस पति का वध स्वयं किया था, उसी के साथ काष्ठभक्षण भी कर लिया। नारी के चरित्र की इस विचित्रता ने तो हमें स्तब्ध ही कर दिया, कोचीदेवी ! हमारे मन में नारी-चरित्र को समझने की इच्छा जाग्रत कर दी है उस नारी ने और हमारी इस जिज्ञासा की तुष्टि के लिए हमे उसी रत्नमंजरी ने तुम्हारी सहायता लेने का परामर्श भी दिया था। हम तो मूलतः इसी प्रयोजन से तुम्हारे पास आये हैं।"

"मैं जानती थी, महाराज ! आप त्रिया-चरित्र की समझ पाने को ही पधारे हैं, किन्तु मेरी मान्यता है कि नारी-चरित्र को समझना कुछ सुगम कार्य भी नहीं है। क्षण-क्षण में परिवर्तन पा लेने वाला चरित्र है नारी का—छिन में तोला—छिन में माशा। उसके एक रूप को समझने का प्रयत्न कीजिये, इसी बीच उसका रूप उससे भिन्न ही नहीं, सर्वथा विपरीत हो जाता है। पीपल-पात के समान नारी हृदय चंचल और अस्थिर होता है। सभी नारियाँ तो रत्नमंजरी हो नहीं सकतीं। शिखरस्थ नारी का ऐसा पतन होता है कि वह रसातल में पहुँचकर ही विराम लेती है और फिर वही उसका स्थायी स्थल होकर रह जाता है। उत्थान के लिए पुनः प्रयत्नशील होने के स्थान पर वह उसी अवस्था में रस लेने लगती है, या उसी को अपनी नियति मानने लगती है। यह नारी और भी जटिल तब हो जाती है, जब वह अपने मन में आये दुराचार के परिवर्तन को गुह्य रखकर ऊपर से यथावत् सती सावित्री ही होने का स्वांग रचती रहती है। अपने हाव-भाव और प्रीति के मिथ्या दिखावों से पुरुष को भ्रमित करती रहती है। नारी को इस कला में प्रवीणता प्राप्त है। वह सुगमता से प्रभावशाली रूप में यह अभिनय कर लेती है और अभागा पुरुष वेचारा उसके कौशल के जाल से मुक्त हो, तभी तो शंका की परिधि में प्रवेश करे ना ! वह वास्तविकता से दूर ही दूर रखा जाता है। नारी मन तो वानर की भाँति चंचल रहता है। कभी प्रेम, अनुराग, निष्ठा, पति-भक्ति-जैसी ऊँची-ऊँची डालों पर चढ जाता है और कभी वंचना, पर-पुरुष के प्रति आसक्ति, निष्ठाहीनता-जैसी निचली शाखाओं पर उतर आता है। कब वानर किस डाल को छोड़ देगा—कोई ठिकाना नहीं। वानर की यह उछलकूद तो स्पष्ट दृष्टिगोचर भी हो जाती है—पर स्त्री अपनी करतूतों को गोपनीय बनाये रखने में सफल हो जाती है। समुद्र का पार तो कठिनाई के साथ ही

सही, परन्तु पाया जा सकता है, किन्तु स्त्री के मन का पार पाना तो असंभव ही है। कोची ने शास्त्रों का संदर्भ देते हुए कहा कि सदैव निश्चल बुद्धि से शास्त्र-चिन्तन करते रहना चाहिये। और आराधित राजा की ओर से भी निश्शंक नहीं रहना चाहिये। अपनी गोद में बैठी हुई स्त्री पर भी सावधानी के साथ निगाह रखना आवश्यक होता है। राजा और युवती कभी भी वश में नहीं रहते।"

महाराज तो स्त्री-चरित्र-निष्णात कोची से नारी-चरित्र का विश्लेषण जानकर तो और भी विकटता अनुभव करने लगे। बड़े ही धैर्य के साथ उन्होंने कोची से अनुरोध किया कि वह उन्हें नारी को समझने में सहायता दे। इस पर कोची ने पूछा कि वह किसी पर-नारी का चरित्र-भेद पाना चाहते हैं, अथवा अपने ही घर की दशा देखना चाहते हैं। वह बोली–"राजन् ! पर्वत पर प्रज्वलित अग्नि तो सभी को दिखायी दे जाती है, किन्तु पैरों जलती आग कोई नहीं देख पाता।"

"कोची !····कोची !! तुम कहना क्या चाहती हो?"

"मेरा अभिप्राय तो स्पष्ट है, महाराज ! इसे घर-घर की कहानी तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु किस-किस घर में यह स्थिति है और कहाँ-कहाँ नही–यह भी नहीं कहा जा सकता। लोग पर-घर की तो हँसी कर लेते हैं, पर स्व-जनों की ऐसी ही करतूतों से अनभिज्ञ रह जाते हैं। आप क्या जानना चाहते हैं?" कोची ने महाराज से सपाट प्रश्न कर दिया।

"जानना ही है तो हमें पहले अपने घर से ही आरंभ करना चाहिए न ! अपना घर सुधारने से पूर्व किसी को पर-निन्दा का अधिकार नही मिलता।" महाराज ने कहा और प्रतीक्षापूर्ण दृष्टि से वे कोची को निहारने लगे।

"विचार तो उत्तम है, कृपानिधान ! किन्तु अपने घर का ही स्त्री-चरित्र देखकर आपको बड़ा मानसिक क्लेश होगा, महाराज ! अच्छा है कि आप इस मार्ग पर बढ़ें ही नहीं, जो अन्ततः पछतावे पर पहुँचाकर समाप्त हो जाता है, जो····।" प्रबोधन के स्वर में कोची ने कहा अवश्य, किन्तु महाराज इसे स्वीकार कर लेंगे–स्वयं उसे भी ऐसी आशा न थी।

उत्तर में महाराज ने कहा–"कोचीदेवी ! सत्यान्वेपण का मार्ग ऐसा होता ही है। मैं अपने जी को दृढ़ कर सव-कुछ सह लूँगा। मैं तो इस तथ्य से ही चौक गया हूँ कि हमारे अन्तःपुर में भी स्त्री-चरित्र है। फिर सोचता हूँ कि हमारा अन्तःपुर भी तो इस जगत् का ही एक भाग है। वहाँ की स्त्रियाँ भी तो जगत् की अन्य स्त्रियों जैसी ही हैं। उनमें सामान्य आचरण का होना अचरज का विपय नहीं हो सकता। तुमने मेरी जिज्ञासा को प्रवलतर कर दिया है। अव तुम्हीं उसको तुप्ट भी करो और मुझे कुछ विस्तार से जताओ।"

"तो आइये, महाराज !···· मेरे साथ पधारिये।"–कोची उन्हें एक अन्य कक्ष में ले गयी जिसमें वडे-वडे वातायन थे–"महाराज ! आप इस दृष्टि से तो सर्वथा

उपयुक्त समय पर मेरे यहाँ पधारें। आज ही आपको अपने नेत्रों से सब-कुछ देख लेने का अवसर प्राप्त हो जायेगा।"

महाराज का हृदय कुछ तीव्र गति से धड़कने लगा। कोची हलवाइन ने एक बहुत बड़े आकार की पेटी महाराज को दिखायी और बोली–"राजन् ! इस मानव-परिमाण पेटी को देखिये। आपको इसमें अपने को गुप्त रखकर बैठना होगा। इसका आकार ऐसा है कि चाहें तो आप लेट भी सकेंगे। इस पेटी में ऐसे छिद्र हैं कि आपको बाहर का सारा दृश्य स्पष्ट देखने को मिलेगा। बस, आपको अपना अस्तित्व ओझल रखना होगा। कोई ध्वनि आपकी ओर से न हो। अप्रिय और उत्तेजक घटना को घटित होते देखकर भी आपको आत्म-नियंत्रण करना होगा। कोई प्रतिक्रिया नहीं देनी होगी। पेटी के भीतर कोई है–इसका आभास भी नहीं होना चाहिये।"

"ऐसा ही होगा, देवी ! मैं ऐसा कर लूँगा, किन्तु मुझे अब भी रह-रहकर अचरज हो रहा है। हमारी रानियाँ तो परम शीलवती और पति-परायणा हैं। हमारे अन्तःपुर में स्त्री-चरित्र हो सकता है–यह अविश्वसनीय तथ्य ही होगा।"

महाराज के इस कथन के उत्तर में कोची ने टिप्पणी की–"दयानिधान ! ऐसे तथ्य स्वयं अविश्वसनीयता का कवच पहनकर ही आत्म-सुरक्षा करते हैं। अब तो आप यथार्थ के समीप ही आ पहुँचे हैं। व्यग्र क्यों होते हैं? कुछ ही पलों में सब-कुछ प्रत्यक्ष देखेंगे आप।" कोची ने यह कहते हुए उस बड़ी-सी पेटी को खोल दिया और महाराज को उसमें प्रविष्ट करा दिया। तब बोली–"श्रीमानेश्वर ! मैंने आपको इस पेटी में प्रवेश कराया है। मैं ही आपको जब बाहर आ जाने को कहूँ, तभी आप बाहर आएँ.... किसी भी अन्य स्थिति में नहीं।" कोची ने पेटी का ढक्कन बन्द कर ताला लगा दिया और चाबी सँभालकर रख ली अपने पास। महाराज तो एक प्रकार से बन्दी बन गये। कोची नीचे चली गयी और महाराज के एकाकी चिन्तन के लिए अन्तर्द्वन्द्व से पूर्ण एक व्यापक विषय छोड़ गयी। इतनी कड़ी सुरक्षा व्यवस्था में भी हमारे अन्तःपुर में स्त्री-चरित्र ! विचित्र बात है। पेटी में बन्द महाराज का चिन्तन-प्रवाह तीव्रतर होता जा रहा था। हमारी सारी रानियाँ प्रसन्न हैं, संतुष्ट हैं, फिर ऐसा कुत्सित प्रसंग कैसे उठ खड़ा हुआ। कोई बाहरी व्यक्ति न भीतर प्रवेश पा सकता है न ही कोई रानी बाहर स्वच्छन्द विचरण करती है। आश्चर्य है कि फिर भी....। अन्ततः यदि ऐसा है भी तो हमारी कौन-सी रानी ऐसी होगी! .... हम तो किसी पर कोई आधारहीन आरोप लगा नहीं सकते, किन्तु कोई अनुमान भी तो नहीं किया जा सकता। किसी का भी आचरण सन्देह के घेरे मे नहीं आता....। यही तो विशेषता है नारी-चरित्र की। जैसी कोई स्त्री है, वैसी ही वह दिखाई भी देती हो तो त्रिया-चरित्र हुआ ही क्या?

अर्द्ध-रात्रि हो गयी तभी किसी पुरुष से बतियाती हुई कोची पुनः ऊपर आ गयी। साँस थामे महाराज दुबके रहे, कुछ अतिरिक्त रूप में ही संकुचित हो वे। कोची कह रही थी–"मंत्रीश्वर ! आज तो बहुत समय बाद ही

आगमन हो पाया। क्यों बेचारी रानी को तरसाते हो। वे तो प्रतीक्षा करती-करती अर्द्ध-मृत ही हो जाती होंगी।"

"क्या करूँ, कोचीदेवी ! मैं भी तो विवश हूँ। मन तो करता है वहीं रह जाऊँ, लौटूँ ही नहीं। बेचारी प्रेयसी रानी मुझ पर अपने प्राण न्योछावर करती हैं, किन्तु अन्तःपुर में जाना भी तो यों सुरक्षित नहीं। रानी के कई संदेश आ गये तो आज का निश्चय करना पड़ा और तुमको मैंने संदेश भिजवा दिया।"

"मंत्री जी ! आपका संदेश यथासमय आ गया था और मैंने भी पहले से तैयारी कर ली थी। अब आप इस पेटी पर विराज जाइये और यह आकाश-मार्ग से होकर आपको रानी के प्रासाद पर पहुँचा देगी। आप तो सारी विधि जानते ही हैं। लीजिये यह मयूर-पिच्छी हाथ में थाम लीजिये।"

"कोची ! तुम्हारा मैं ही नहीं, रानी भी बड़ा उपकार मानती हैं। तुम न होतीं तो हम दोनों प्रेमी-प्रेयसी मछली की भाँति तड़पते रह जाते मिलन-जल के अभाव में। तुम्हारी कृपा ने हमें तुम्हारा दास ही बना लिया है।"

"अब छोड़िये भी, इन सब बातों को। ऐसा मूल्यवान समय इन बातों में लगाने का नहीं है। मिलन-सुख की घड़ियाँ आप स्वतः ही कम न करें। बैठिये इस पेटी पर और ....।"—कोची ने कहा।

और मंत्री भी शीघ्रता से पेटी पर बैठ गया—"उचित ही कथन है तुम्हारा, कोची ! अभी तो चलता हूँ। ये बातें तो फिर कभी होती रहेंगी।" उस कामातुर मंत्री ने पेटी पर पिच्छी घुमायी और पेटी धरातल से ऊपर उठकर उड़ चली, वातायन से पार होकर वह गगन-विहार करने लगी। तो यह मंत्री ज्ञानचन्द्र इतना नीच है। महाराज सोचने लगे। इसी ने हमें कोची हलवाइन का परिचय उस दिन दिया था। इस सम्पर्क के आधार पर ही कोची के विषय में यह सब-कुछ जानता है। किन्तु हमारी किस रानी से इसका प्रेम है? तनिक पता तो चले .... हम दोनों का शिरोच्छेदन करवा देंगे। रानी चाहे हमारी कितनी ही प्यारी क्यों न हो वह क्षमा की पात्र नहीं हो सकेगी। पेटी में बन्द महाराज संकल्प-विकल्पों में, नाना विचारों में ग्रस्त थे कि उन्हें प्रहरियों की वाणी का हल्का-सा आभास होने लगा— सब-कुछ ठीक है .... सब-कुछ ठीक है। यह अनुमान तो उन्हें हो गया कि अब वे राजभवन पर आ गये हैं, किन्तु—क्या सब-कुछ ठीक है प्रहरियो?—सर्वनाश होने वाला है, तुम्हारी सतर्कता धरी रह जायेगी एक ओर—और ....।

पेटी मंत्री को लेकर राजभवन के एक वातायन में प्रविष्ट हो गयी और धीमी गति से कक्ष की भित्ति से सटकर भूतल पर टिक गयी। मंत्री पेटी से नीचे उतरा और लपककर रानी मदनमंजरी आयी। दोनों आलिंगनबद्ध हो गये। महाराज पेटी के छिद्रों से सारा दृश्य देखते रहे। उन्होंने देखा रानी के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे और मंत्री ने पीठ थपथपाकर उसे आश्वस्त किया। पूछा—"अरी पगली !

रोती क्यों है? अब तो मैं आ गया हूँ।'' रानी ने उलाहने के कठोर स्वर में कहा-''प्रियतम मेरे, कितने-कितने दिनों से वियोगाग्नि में तड़पती रही हूँ। इतना सताकर जब तुम आये हो तो मैं सहसा प्रफुल्लित हो उठी हूँ। ये हर्ष के ही आँसू हैं।'' दोनों मंथर गति से आकर स्वर्ण-पर्यंक पर बैठे। प्रेमालाप चलता रहा। ''अब तुमको कैसे समझाऊँ, प्रियतम ! तुम्हारे बिना मेरा जीवन ही नरक होकर रह जाता है।''-रानी मदनमंजरी कहने लगी-''तुम यदि जल्दी-जल्दी न आने लगोगे तो मैं तुम्हें जाने ही न दूँगी। अपने कक्ष में ही छिपाकर रख लूँगी।''

''ना-ना.... ना, ऐसा भी ना करना, रानी ! तू नहीं जानती हमारे राजा बड़े कुशल हैं। उनकी दृष्टि से बचे रहना असंभव है। फिर तो यदि पकड़े गये तो हमारी कुशल नहीं है।'' भयातुर-सा मंत्री बोला।

''प्यार करने वाले भला किसी से डरते हैं। हम तो एक-दूसरे के लिए ही जन्मे हैं। प्यार करेंगे। प्यार भी क्या कोई अपराध है कि डरा जाय। प्रिये ! डरो नहीं, और मुझे भी भयातुर न बनाओ।''

''अभय रहने का अर्थ असावधान होना भी नहीं होता, प्रिये ! निर्भीक तो मैं भी हूँ। तेरी प्रीति का आकर्षण मुझे खींच लाता है यहाँ, किन्तु मैं प्राण हथेली पर ही लेकर आता हूँ। किसी भी पल हमारा भेद खुल सकता है और तब फिर सर्वनाश होगा। हम कहीं के न रह जायेंगे। मैं तो प्राणों से ही हाथ धो बैठूँगा, किन्तु तुम्हारी प्रतिष्ठा डूब जायेगी। इस जगत् के व्यवहार से पृथक् तो हम रह न सकेंगे न ! इस राजभवन में कितनी तो कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था है और तुम हो कि....।''

''छोड़ो.... राजभवन की कठिनाइयों से दूर-कहीं दूर उन्मुक्त वातावरण में चले जाएँ हम। सदा-सदा के लिए एक-दूसरे के होकर रहेंगे, जी भरकर प्यार करेगे। कोई भय जहाँ न हो, जहाँ कोई बाधा न रहे-क्या ऐसे देश में हम यहाँ से भागकर नहीं जा सकते ! मुझे ले चलो, राजा ! निकालो यहाँ से।'' रानी ने अनुनयपूर्वक कहा।

''प्रेम में पागल हो गयी हो तुम तो।''-सतर्क करते हुए मंत्री ने कहा-''महाराज विक्रमादित्य वड़े सामर्थ्यवान हैं। वे तुझे और मुझे पकड़ मँगवाएँगे और तब तू जान ही सकती....।''

''फिर डराने लगे तुम मुझे। ये मूल्यवान क्षण बड़े सौभाग्य से मिले हैं, मेरे प्रियतम ! इस समय को व्यर्थ क्यो करें हम। उठो, मैं पहले तुम्हें स्नान कराऊँगी, फिर हम एक साथ भोजन करेंगे। उठो.... उठो....!'' रानी एक प्रकार से खीचती हुई-सी मंत्री को स्नानागार में ले गयी। महाराज छिद्रों से देखते रहे। वड़ी देरी मे वे दोनो स्नानागार से वाहर आये। सारा कक्ष सुगंधित द्रवों से गमक उठा। रानी अब भी मात्र एक गीली साटिका में थी।

कुछ ही देर बाद वह अनुपम वस्त्रालंकारों से सज्जित शृंगारित वह शीघ्र ही लौट भी आयी। उसके हाथों में भोजन का थाल भी था।

"अरे, तुमने अब तक भोजन नहीं किया?" मंत्री ने कहा।

"कैसे कर पाती मैं भोजन? तुम्हारा संदेश संध्या में ही मिल गया था। फिर तो मैं पागल-सी हो गयी। नाचती-गाती रही। भोजन तो हम साथ-साथ ही करेंगे-यही पक्का कर लिया था।" दोनों भोजन करने लगे। भोजन के पश्चात् वे शय्या पर आ गये।

दोनों मदोन्मत्त होकर रति-सुख में निमग्न हो गये। अपनी पत्नी को इस अवस्था में देखकर नृपति क्रुद्ध हो उठे। जी आया कि इसी समय ये दोनों को मौत के घाट उतार दें, किन्तु वे अपने वचनों से विवश थे। उन्हें पेटी में अपना अस्तित्व गोपनीय बनाये रखना था। विवेक आवेश पर हावी हुआ। वे शान्त होकर अकुलाते रहे।

रात्रि को निहाल करते हुए यह प्रेमी-युगल रति-सुख का भोग करता रहा। नरेश भी विवेकाधीन होकर सोचने लगे। इनकी हत्या का दोष हम अपने ऊपर लें भी क्यों ये तो स्वयं ही मारे जायेंगे अपने कुकर्म से। सवेरा समीप अनुभव होने लगा तो मंत्री हड़बड़ाकर उठा और मयूर-पिच्छी लेकर पेटी पर बैठ गया। रानी भी उसे रोक नहीं सकती थी। अतृप्ति के अधीन उदास रानी भी पेटी के समीप आकर खड़ी हो गयी। पापिन के सामीप्य के आभास से महाराज सिकुड़कर रह गये। "तुम जा रहे हो, प्रियतम ! अब कब तक मुझे वियोग सहना होगा तुम्हारा? कब आओगे, राजा मेरे !"—रानी ने विकल स्वर में कहा।

"शीघ्र प्रिये.... अति शीघ्र आऊँगा। तुम चिन्ता न करो। तब तक प्रतीक्षा का सुखोपभोग करती रहो।

"अगला मिलन शीघ्र हो, मेरे प्रियतम ! और वह मिलन और अधिक भव्य आनन्द के साथ आए।" रानी ने कहा—"प्रियतम ! मेरे कंठ का यह हीरक हार तुमको मैं धारण कराती हूँ। यह तुम्हें सतर्क करता रहेगा कि तुम्हें शीघ्र ही यहाँ आना है।"—यह कहते हुए रानी ने अपना कंठहार मंत्री को पहना दिया और उसका भाल चूमकर उसे विदा किया। पेटी पर मंत्री ने पिच्छी घुमायी और पेटी वातायन के मार्ग से गगन में चढ़ गयी। शीघ्र ही वह मंत्री और महाराज को लेकर कोची के भवन में पहुँच गयी।

मंत्री ने कोची का वहुत-वहुत धन्यवाद किया और कहा—"तुम्हारा वड़ा उपकार है मुझ पर। तुम्हारी कृपा न होती तो हमारा ऐसा मिलन तो संभव ही न था। वड़ा आभारी हूँ मैं तुम्हारा और यह हीरक हार तुम्हें भेंट करता हूँ।" मंत्री ने रानी से प्राप्त हार कोची को दिया। कोची भी वेचारी उस भेंट को अस्वीकार नहीं

कर सकती थी। उसने हाथ में लेकर माथे से लगा लिया और बोली–"क्या कहूँ मंत्री जी ! यह तो मेरी निःस्वार्थ सेवा है। यदि मेरी विद्या प्रेमी-प्रेमिका को सुखी कर सके तो इससे मुझे भी संतोष ही मिलता है।"

"अच्छा, अब मैं चलूँगा–भोर समीप है। इससे पूर्व ही मुझे अपने आवास पर पहुँच जाना चाहिये। मैं फिर आऊँगा।" मंत्री विदा होकर चला गया और पेटी खोलकर कोची ने महाराज को बाहर निकाला।

महाराज ने उपकृत से स्वर में कहा–"हम तुम्हारे बड़े आभारी हैं, कोचीदेवी ! तुमने हमारी आँखें खोल दीं। सच है, मनुष्य को दूसरों के दोष ही दिखायी देते हैं, अपने विकारों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। हमने त्रिया-चरित्र के प्रश्न पर रत्नमंजरी को लेकर तो इतना विचार किया और हमारी रानी मदनमंजरी कैसी वीभत्स क्रीड़ा कर रही है, त्रिया-चरित्र की–इससे हम अनभिज्ञ ही रहे। आज से हमारे जीवन-ग्रंथ में एक नवीन अध्याय जुड़ गया है। मनुष्य को अपनी, अपने घर-परिवार की भी समालोचना कर लेनी चाहिये और समय-समय पर सार्थक उपाय करते रहना चाहिये। मदनमंजरी इतनी निरीह, इतनी समर्पिता लगती है–यदि हम प्रत्यक्षतः उसकी करतूतें देख न लेते तो उस पर यों तो अविश्वास का कोई कारण ही न था।"

कोची ने कहा–"राजन् ! यह जगत् व्यवहार ऐसा ही चलता रहता है। किस पर विश्वास किया जाय। दुश्चरित्रा स्त्री का तो भेद पाना अत्यन्त कठिन है। नारी को नारायण भी समझ नहीं पाते, मनुष्य का तो भला सामर्थ्य ही क्या है ! किन्तु एक बात गाँठ बाँध लीजिये, महाराज ! त्रिया-चरित्र की खिलाड़िन एक यही मदनमंजरी आपके सारे रनिवास में रही है। आप किसी भी अन्य रानी के विषय में मिथ्या आशंका न रखें। शेष सभी रानियाँ जैसी बाहर से दिखायी देती हैं वैसी ही भीतर से भी हैं।"

"यह तुमने अच्छा किया कोचीदेवी ! कि मुझे अवगत करा दिया, अन्यथा आशंका की अग्नि किसी निर्दोष रानी के लिए भी ताप-संताप की कारण बन जाती। एक बात बताओ, देवी ! मंत्री तो बड़ा साधारण-सा है। उसके पास न तो रूप सौन्दर्य है, न ही आयुगत यौवन, सत्ता भी कोई विशेष नहीं, न ही वैभव है। फिर मदनमंजरी उसके प्रति आकर्षित क्यों है?"

"बड़ा अच्छा प्रश्न किया है आपने, राजन् !" कोची ने उत्तर दिया–"यह आसक्ति वास्तव में काम-तृप्ति के लिए है। इस तृप्ति के लिए नारी कामांध हो जाती है फिर उसे सुरूप-कुरूप, वैभव-रंकता, यौवन-वार्धक्य आदि का कोई भेद दृष्टिगोचर होता ही नहीं है। उसके लिए तो तृप्ति का स्रोत ही अभीष्ट रह जाता है। उसके गुणावगुण पर कामातुर की दृष्टि नहीं रहती है।"

"उचित ही कथन है तुम्हारा, देवी !"–महाराज ने कहा–"नारी सृष्टिकर्त्ता की विचित्र ही रचना है–अबूझ और अज्ञेय। इसके निर्माण में सर्पदंत, विषम ज्वाला, यमराज की जिह्वा और विषांकुर का योग रहा होगा। मेघों में तड़ित एक बार अविचल रह जाय पर नारी-मन अचंचल नहीं हो सकता।"

"प्रत्यक्ष दर्शन ने नारी की असंगतियों से आपको परिचित करा दिया है, महाराज !"–कोची ने कहा–"इसी कारण मैंने आपको मदनमंजरी रानी का भेद समझने का अवसर उपलब्ध कराया।" मंत्री द्वारा प्रदत्त हीरक हार अभी भी कोची के हाथों में था। महाराज ने अनुरोध किया कि वह हार कुछ समय के लिए उन्हें दे दिया जाय। वे प्रयोजन पूर्ण हो जाने पर उसे कोची को लौटा देंगे। कोची ने प्रसन्नतापूर्वक हीरक हार महाराज को सौंप दिया। महाराज भी हार लेकर राजभवन लौट आये। भोर होने में अब तनिक-सा विलम्ब ही शेष रह गया था।

सूर्योदय-पूर्व आकाश में लालिमा छा गयी। नरेश को लगा कि रात्रि का दृश्य देखकर उनके हृदय में जो अनल भड़क उठा है आकाश के दर्पण में यह उसी की प्रति छवि है। वे मदनमंजरी से अधिक मंत्री पर क्रुद्ध थे और मंत्री से अधिक मदनमंजरी पर। रानी ने कुल-गौरव और मर्यादा को तिलांजलि दे दी और मंत्री ने समस्त भय को त्यागकर निर्लज्जता का व्यवहार किया है। महाराज की दृष्टि में दोनों ही अपराधी थे, दोनों ही दण्ड के पात्र थे–कठोर दण्ड के। वे तो इतने क्रुद्ध हो गये थे कि पेटी से निकलकर तत्काल दोनों के टुकड़े-टुकड़े कर देते। कोई भी पुरुष अपनी स्त्री का ऐसा कदाचार सहन नहीं कर सकता, किन्तु महाराज ने आत्म-नियंत्रण किया। कोई महापुरुष ही ऐसा कर सकता है। फिर वे वचनवद्ध थे कि कोची से निर्देश पाने पर ही वे पेटी से बाहर निकलेंगे। पेटी पर ताला लगा था। इसका तो उन्हें ज्ञान ही न था। उनके बाहुबल पर तो वचन का ताला लगा था। नित्य कर्म से निवृत्त होकर महाराज ने राजरानी कमलावती और रानी कलावती को बुलाकर रात्रि की सारी घटना बतायी तो रानियाँ दाँतों तले उँगली दबाकर रह गयीं। मदनमंजरी ऐसी भोली सूरत और काली करतूत वाली निकली। उन्होंने भी स्वयं नारी होते हुए त्रिया-चरित्र की अज्ञेयता का वखान करते हुए भर्त्सना की–"किस पर भरोसा किया जाय ! जव एक हाथ ही दूसरे हाथ को काटने लगे तो कुल की मान-मर्यादा का रक्षक कौन?"

महाराज ने तत्काल मंत्री को बुलाया। उसे विगत रात्रि की घटना की गोपनीयता का तो पूर्णतः विश्वास था, अतः ऐसे किसी भय से वह सर्वथा मुक्त था। महाराज ने मंत्री से कहा–"हम गत रात्रि को नगरचर्या पर निकले थे। एक स्थल पर व्यभिचार की घटना देखकर हमें वड़ा आघात पहुँचा। एक कुलीन महिला के साथ किसी पर-पुरुष का यह अनाचार मालव-मर्यादा के विपरीत है। ऐसी

घटनाएँ अवन्ती के पतन की प्रतीक हैं। तुम पर तो नगर-रक्षा का दायित्व भी है। तुम्हीं बताओ राज्य को उन स्त्री-पुरुष के साथ क्या करना चाहिए?"

मंत्री ज्ञानचन्द्र ने करबद्ध निवेदन किया–"पृथ्वीनाथ ! न्याय और नीति का आग्रह तो यही है कि ऐसे व्यभिचारी नर-नारी को मृत्युदण्ड दिया जाय।"

"ठीक है.... ठीक कहते हो तुम। फिर तो तुम भी दण्ड के भागी हो।"

"अन्नदाता ! मैं .... मैं तो....।"

"सुनो मंत्री ! हमने जिस व्यभिचारी को अपनी आँखों से देखा वह कोई अन्य नहीं, स्वयं तुम थे.... तुम।" महाराज ने अब स्पष्ट आरोप लगाते हुए कहा। तुम कल अर्द्ध-रात्रि में कोची हलवाइन की मायावी पेटी पर बैठकर मदनमंजरी के प्रासाद में गये। हम उसी पेटी के भीतर थे और हमने प्रत्यक्ष देखा है–तुम दोनों का व्यभिचार। धिक्कार है तुम्हें ! जिस थाली में तुमने खाया उसी में छेद कर दिया। अरे एक घर तो डायन भी छोड़ देती है। तुमने पुरस्कारस्वरूप जो हीरक हार कोची को दिया था, वह यही है न?" महाराज ने उँगली और अँगूठे की कड़ी मे हार को झुलाया और मंत्री को दिखाया।

मंत्री का तो शीश लज्जा के भार से झुक गया। वह भय के मारे थरथर काँप रहा था। चोर दृष्टि से ही हार उसने देखा और दृष्टि नीचे कर ली। आतंक के मारे उसका मुख विवर्ण हो गया था। काँपते स्वर में निवेदन किया– "करुणावतार ! मेरी आत्मा मर गयी थी। मैंने अपराध तो बड़ा भारी किया है, किन्तु आप तो अत्यन्त दयालु हैं। क्षमा करें पृथ्वीनाथ !'.... मैं अत्यन्त लज्जित हूँ। मैं तो अपने दुष्कर्मों से स्वयं ही प्राणहीन हो गया हूँ, प्रभो ! दया करो.... प्रभो !"

अर्द्ध-मृत-सा मंत्री ज्ञानचन्द्र अवन्ती-नरेश के चरणों में लोटने लगा। महाप्रतिहारी को सम्बोधित कर महाराज ने कहा–"इस पापी कदाचारी का मालव की धरती पर रहना असंभव है। हम इसके कलुषित रक्त से पवित्र धरती को अपावन नहीं करना चाहेंगे। इसे वन्दीगृह में डाल दो और रात्रि में इसे ले जाकर मालव-सीमा से वाहर धकेल दो।"

"और सुन, हे नराधम ! नीच !"–महाराज ने मंत्री को घृणापूर्वक सम्वोधित करते हुए कहा–"इसके पश्चात् यदि तूने हमारे राज्य में प्रवेश किया तो तेरा शरीर मालव-जनता ही छिन्न-भिन्न कर देगी। तुमने देश के गौरव के विरुद्ध घोर अपराध किया है। मालव-धरा को स्पर्श करने का कभी दुस्साहस न करना। जा.... दूर हो जा हमारी दृष्टि से।" महाराज के संकेत पर महाप्रतिहारी उसे कारागृह की ओर ले चला।

संध्या-समय महाराज ने मदनमंजरी को उपस्थित होने का आदेश भेजा। रानी प्रयोजन की भी कल्पना नहीं कर पायी। वह तुरन्त ही महाराज के समक्ष उपस्थित हो गयी। पापी को अपने पाप के गोपनीय रहने का जितना विश्वास रहता है, वह उसी के बल पर निर्भय रहता है और पाप में उसकी प्रवृत्ति अधिकाधिक होती रहती है। ऐसे ही सुदृढ़ मनोबल के साथ रानी मदनमंजरी महाराज के समक्ष उपस्थित होकर प्रणाम कर मौन खड़ी रह गयी। "आज्ञा स्वामी?"–अकम्प वाणी में उसने कहा।

महाराज ने तर्जनी में हीरक हार लटकाकर मदनमंजरी को दिखाया और बोले–"महारानी जी ! यह वही मूल्यवान हार है न जो हमने कभी तुमको उपहार में दिया था?"

"जी ···· जी, स्वामी ! किन्तु ···· यह हार तो वही है, किन्तु आपके पास यह आया कैसे ···· मैं यह नहीं जानती। यह तो हमारे महल से चोरी हो गया था।"–आत्म-विश्वास का प्रदर्शन करते हुए रानी ने दृढ़तापूर्वक कहा।

"अब यही कहोगी तुम ····। चोरी हो गया? और चोर को भी तुम जानती हो। मंत्री ज्ञानचन्द्र ही है न वह चोर ! अरी नीच स्त्री, कुछ तो लज्जा रख। हमारे प्रेमोपहार को भी तूने अपने जारज प्रेमी को दे दिया। तुझे तनिक भी संकोच नहीं हुआ। कब से उसके साथ तेरी प्रेम-लीलाएँ चल रही हैं? तुझे अपने पद-गरिमा का ध्यान भी न आया। तेरे साथ हमारा जो नाम जुड़ा है, क्या तुझे उस संबंध ने भी नहीं रोका और हमारे राजकुल के गौरव ने तो तुझे नीच कर्मों के लिए रोका ही होगा, जिस पर तूने कलंक लगाया है। गत रात्रि भी एक पेटी ने आकाश-मार्ग से आकर वातायन के मार्ग से तेरे कक्ष में प्रवेश किया और पेटी पर वैठा था हमारा वह राजद्रोही मंत्री ज्ञानचन्द्र। बोल, तुझे अब क्या कहना है पतित स्त्री? तूने उसके साथ उन्मुक्त व्यभिचार किया–जिसके लिए हमें किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। तेरे उस पापाचार के हम स्वयं प्रत्यक्षदर्शी रहे हैं। हम तो उसी पेटी के भीतर थे। तूने जिस निर्भीकता के साथ काम-सुख का भोग किया; अव उसी निर्भयता के साथ अपने उसी पाप को स्वीकार क्यों नहीं करती? नीच स्त्री, तूने इस अन्तःपुर पर वह गाढ़ी कालिमा पोत दी है कि सहस्रों रानियाँ अपने सतीत्व के पावन जल से भी पीढ़ियों तक उसे प्रक्षालित न कर पाएँगी।"

अपना पाप प्रकट हो जाने पर मदनमंजरी टूट गयी। उसका कृत्रिम साहस चरमरा गया और दिखावे का मनोवल ध्वस्त हो गया। उसकी सारी पोल जव खुल गयी तो वह सुवक उठी, उसके नेत्र अविरल अश्रुधारा प्रवाहित करने लगे। वह रुदनशीला नारी अपने सारे कुकृत्यों के वावजूद भी राजरानी कमलावती और रानी कलावती के लिए करुणा की पात्र हो गयी। मदनमंजरी विलखती हुई पतिदेव

के चरणों में गिर पड़ी और गिड़गिड़ाने लगी—"मैं पापिन हूँ, मेरे स्वामी ! मैंने घोर निर्लज्जतापूर्ण अपराध किया है—मैं स्वीकार करती हूँ। यह भूल से हो गया हो, सो भी नहीं है। मैं मानती हूँ कि यह दुष्कर्म मैंने जान-बूझकर किया है, ऐन्द्रिक सुखोपभोग की लालसा ने ही मुझे सतीत्व के राजपथ से खींचकर दलदली पगडंडियों पर डाल दिया था। अपराधी के पाप का मोचन तो उपयुक्त दण्ड से ही संभव होता है, प्राणनाथ ! निकालिये अपना खड्ग और पृथक् कर दीजिये मेरे उस शीश को धड़ से जिसमें यह कुबुद्धि जाग्रत हुई। मेरे उष्ण रक्त से धो लीजिये कुल पर लगे इस कलंक को। मुझे दण्ड दीजिये, प्रभो ! यही मेरी नियति है—यही मेरा प्रायश्चित्त है।" और मदनमंजरी फफककर रो पड़ी, अपनी गर्दन महाराज के समक्ष उसने प्रस्तुत कर दी।

"तुम्हारा अपराध तो मृत्युदण्ड के योग्य ही है, किन्तु हम हमारे खड्ग को एक पामर स्त्री के मलिन रक्त से अपावन नहीं करना चाहते। कोई अन्य····।"

"राजाधिराज ! हमारी प्रार्थना है कि इसका प्राण-हरण न किया जाय। जीवित रहकर अपने कुकर्मों की दुःखद स्मृतियों के मध्य जीना भी इसके लिए एक बड़ा दण्ड होगा। इसे प्रायश्चित्त कर अपनी आत्मा को निर्मल करने का अवसर देना भी उपयुक्त होगा, श्रीमानेश्वर !"

राजरानी कमलावती के इस अनुनय पर उदारतापूर्वक महाराज ने विचार किया और तुरन्त निर्णय लिया। वे बोले—"तो सुन, मदनमंजरी ! तेरी दीदी ने तेरी प्राण-रक्षा तो कर ली है, किन्तु तू भी उस बीच मंत्री की भाँति मालव-धरती को अपने स्पर्श से अपावन नहीं कर पायेगी। मंत्री को तो हमने निष्कासित कर ही दिया है। तू चाहे तो तुझे भी हमारे राज-कर्मचारी मालव-सीमा के उस पार छोड़ आएँगे। तुम दोनों पाप-पंक मे पड़े, कीड़ों की भाँति कुलबुलाते रहना और तू यदि चाहे तो हम तुझे तेरे पितृ-गृह भिजवा देंगे। सदा-सदा के लिए वहीं रहना।"

इसी समय रानी कलावती ने अनुशंसा कर दी—"प्राणेश्वर ! इसको इसके माता-पिता के घर भिजवा दीजिये—यही उत्तम रहेगा। इसे इसके दुष्कर्मो पर आन्तरिक दाह का प्रचण्ड अनुभव करने दीजिये, स्वामी !"

जब कमलावती ने भी इसका अनुमोदन कर दिया तो इसी निर्णय को अन्तिम रूप देते हुए महाराज ने अजय को आदेश दिया—"मदनमंजरी को आज रात्रि में ही उसके पीहर पहुँचाने के लिए प्रस्थान करा दो। इसके रथ में दस सहस्र मुद्राएँ और कुछ वस्त्रालंकार भी रखवा दो और यह हीरक हार भी, जो इसकी पाप-कथा इसे सुनाता रहेगा।"

राजाज्ञा उसी रात्रि में यात्रारंभ करने की थी। तुरन्त ही सारा उपक्रम कर लिया गया। चार रथों ने प्रस्थान किया। एक में मदनमंजरी बैठी थी। आगे वाले रथ में स्वयं अजय अपने कुछ चयनित राजसेवकों के साथ था। तीसरे रथ में कुछ सेविकाएँ और चौथे में रक्षक-दल था। मदनमंजरी स्वर्णगढ़ की राजकन्या थी। स्वर्णगढ़ अवन्ती से कोई एक सौ कोस दूर था और इस यात्रा में तीन-चार दिनों का समय लगना संभावित था। रथ तीव्र गति से बढ़े चले जा रहे थे। मदनमंजरी अपने ही विचारों के चक्रव्यूह में ऐसी घिर गयी थी कि अधिक-से-अधिक उलझती चली जा रही थी। कल तक का आनन्ददायी कार्यकलाप आज पापकर्म बनकर उसे त्रस्त कर रहा था। उसकी सुप्त आत्मा यह आभास ही न पा सकी कि जो कुछ वह कर रही है वह उसके योग्य नहीं है। इस महापाप ने उसे माता-पिता की ओर उन्मुख तो कर दिया है, किन्तु वह उन्हें क्या मुख दिखाएगी। बड़ा नाम कमाकर आयी है न कि गर्व से ग्रीवा उन्नत कर उनके समक्ष वह खड़ी रह जायेगी। पूछेंगे कि बिना किसी सूचना के वह सहसा कैसे आ गयी तो वह क्या उत्तर दे पायेगी। वहाँ तेरा क्या चल रहा है.... तेरा मान-सम्मान-प्रतिष्ठा तो अच्छी है न? इसके उत्तर में वह यह कैसे कह सकेगी कि मेरी सारी प्रतिष्ठा नष्ट हो गयी है। माँ ने विदा करते समय पति-सेवा और शीलधर्म की कितनी सीखें दी थीं। क्या मैं माँ के समक्ष खड़ी भी रह सकूँगी। कैसे कहूँगी कि मैंने उस कुल के गौरव को नष्ट कर दिया है। मेरे प्रभु, मुझे शक्ति दो कि स्वर्णगढ़ पहुँचने से पूर्व ही मैं अपने पापी जीवन का अन्त कर सकूँ। पर अभागों के लिए मृत्यु भी तो सहज नहीं होती। बडी ही कारुणिक स्थिति में उसने प्राण-विसर्जन का निश्चय किया, किन्तु इस हेतु भी उसे कोई युक्ति न सूझ रही थी। अपने पापों की स्मृति निरन्तर बनी रहे, इस निमित्त उसने वह हीरक हार रथ की छत से टाँग रखा था। प्रत्येक हिचकोले पर वह हार आन्दोलित हो उठता था और रानी की दृष्टि उस ओर आकर्षित हो जाती थी। इसी हार ने उसके पतिताचरण का भेद उजागर किया था और अव यह उसके पापमय जीवन के अन्त का स्रोत भी वन सकता है। वज्र रत्न तो विषसिक्त होते हैं। यह विष मेरा उद्धारक वन सकता है। तड़ित वेग से उसके मानस में यह विचार कौंध गया और चट-पट ही पल्लवित होकर सुदृढ़ हो गया। अन्य कोई विचार आकर उसके मानस को दुर्वल वनाता इसके पूर्व ही उसने एक रत्न मुख में लेकर चूस लिया। विष ने अपना प्रभाव दिखाया। आगामी ही क्षण वह शिथिल होकर लुढ़क गयी और कुछ ही पलों में उसका देहान्त हो गया।

एक उपयुक्त स्थल पर रथों ने विराम लिया। जल लेकर एक परिचारिका रानी के पास गयी और चीखती हुई लौट आयी। "रानी कुछ वोलती नहीं, हिलाने पर लुढ़क गयीं। क्या हो गया है रानी जी को, कोई देखे तो उन्हें।" अजय स्वयं आगे वढ़ा और रथ पर चढ़ा। पाया कि रानी का देह शीतल हो चुका था। पंछी

उड़ गया था, पिंजरा खाली पड़ा था। अजय ने कुछ ही क्षणों के चिन्तन के बाद विवेक का मार्ग अपनाया। ये अवन्ती से कोई बीस कोस ही दूर थे। उसने यात्रा की दिशा उलट दी। रथ अवन्ती की ओर बढ़ने लगे। सभी सहभागी शोक-मग्न और उदास थे।

सूर्योदय होते-होते ही रथ अवन्ती के राजभवन में पहुँच गये। महाराज ने सूचना पाकर विचित्र-सा अनुभव किया। प्रभाति-गान स्थगित हो गये। मंगल वाद्य स्वरहीन पड़े रह गये। सारा राजभवन उदासी के गहन कोहरे से ढक गया। शान्त और निश्चल मन के साथ महाराज ने विचार कर निर्णय लिया और महामंत्री को आदेश दिया–"रानी मदनमंजरी के आकस्मिक स्वर्गवास की सूचना नगर में प्रसारित कर दी जाय। राजकीय सम्मान के साथ रानी की अन्त्येष्टि की जाय और सारा क्रियाकर्म विधिवत् एवं राजसी ढंग से सम्पन्न कराया जाय।" महाराज ने स्वयं सारी व्यवस्थाओं की देखरेख की। राजरानी कमलावती और रानी कलावती की दृष्टि में उनका स्थान ऊँचा .... और भी ऊँचा हो गया।

महाराज वीर विक्रम सच्चे अर्थों में एक सुशासक थे। प्रजावत्सल नरेशों में इतिहास उन्हें विशिष्ट स्थान देता है। जनता के लिए सभी सुख-सुविधाओं की व्यवस्था तो राज्य की ओर से थीं ही, राजा स्वयं उनके दुःखों–अभावों की खोज करते और उन्हें दूर कर देते थे। इसी क्रम में वे रात्रि में वेश परिवर्तित कर जब विचरण कर रहे थे तो उन्हें एक अद्भुत अनुभव प्राप्त हुआ। चलते-चलते वे सम्पन्न परिवारों की एक छोटी-सी बस्ती में पहुँच गये थे। एक भवन के उद्यान में दो किशोर वय की कन्याएँ सहज संलाप में व्यस्त थीं। रात्रि का वह प्रथम प्रहर ही था, अतः वे निर्भीकता एवं स्वच्छन्दता के साथ हँस-खेल रही थीं। उनमें परस्पर जो स्नेह-संवाद अग्रसर होते-होते सहसा सरसता के एक विचित्र मोड़ पर पहुँच गया और दोनों सखियाँ खिलखिला पड़ीं। उनके उस निर्मल हास ने रच दिया था, एक ऐसा कमनीय और आनन्दपूर्ण वातावरण कि वार्त्ता-विषय से अनभिज्ञ जन भी रस-निमग्न हो उठें। महाराज इन्हीं क्षणो मे वहाँ पहुँचे और एक स्निग्ध हास उनके मन मे भी उदित हो गये। जिज्ञासावश वे भी एक अंधकारपूर्ण स्थल पर दीवार से सटकर खड़े रह गये और वार्त्तालाप सुनने लगे।

– "अरी सखी सोमा, यह तो बता कि अब तेरा भी विवाह होगा ही। तू अपना विवाहित जीवन कैसे व्यतीत करेगी?"

– "सुहागसुन्दरी ! तूने भी विवाह की खूब चलायी। जब होगा विवाह, तब देखा जायेगा, अभी से क्यों····?"

– "फिर भी···· तूने कुछ सोच रखा है? कैसा रहेगा तेरा व्यवहार अपने पति के साथ।"

– "इसमें सोचना क्या है ! जैसा माँ का जीवन है, जैसा दादी माँ का रहा है··· वैसा ही रहेगा मेरा भी।"

– "अर्थात्?···· कैसा? ····।"

– "अरी, तू तो एक बात लेकर पीछे ही पड़ जाती है। नारी-चरित्र की विशेषताएँ रही हैं–पतिव्रता रहना, शीलधर्म का पालन करना, पर-पुरुष की कल्पना भी मन में न आने देना, सास-श्वसुर को माता-पिता का स्थान देकर पूज्य मानना, उनकी सेवा करना। पति को परमेश्वर····।"

– "जाने कितने पिछड़े हुए विचार हैं तेरे। यह भी भला कोई जीवन हुआ। न जाने कौन-सी शताब्दी में जी रही है तू !"

– "इसमें पिछड़ापन कौन-सा हो गया भला। हमारी दादी-नानी ने हमें यही मार्ग तो बताया है। माँ ने घुट्टी में घोलकर ऐसी ही सीख तो दी है। हमारे शास्त्रकारों ने भी नारी के समक्ष ही आदर्श प्रस्तुत किये हैं। हम इसके विपरीत सोच ही कैसे सकती हैं। इस राजपथ से भटककर भूलभुलैयों मे अपने आप को डाल देना भी भला कोई बुद्धिमानी की बात है?"

– "सोमा !··· सोमा !! इसी से तो कहती हूँ तू निपट बुद्धू है। यों जीवन को अकारथ करने में भला कौन-सी बुद्धिमानी है। यह जीवन हमें मिला है तो इसका आनन्द उठाना चाहिये, हीरा है तो उसे कंठ में सजाना चाहिए, तुम तो उसे पत्थर से फोड़ने वाली बात कहती हो। मूर्ख हो तुम तो परले सिरे की।"

– "अगर यह मूर्खता भी है, तो यही मूर्खता मेरे लिये पालनीय रहेगी, सुहागी ! तेरी बुद्धिमानी तेरे ही पास रख। तेरे घर आयी हुई हूँ, सखी ! अधिक क्या कहूँ··· पर स्त्री को ऐसी मर्यादा में रहना ही चाहिए। इसी से उसकी गरिमा वनती है।"

– "आग लगे तेरी ऐसी गरिमा को। अरे, मानव जीवन भी कोई एक खूँटे से बँधकर विता देने के लिये मिलता है। फिर यौवन का अर्थ ही क्या रह जाता है। हरा-हरा चरते रहने के आनन्द की कोई सीमा ही नहीं। इसी में जीवन की सार्थकता निहित रहती है।"

– "ये हरा-हरा चरने से तेरा तात्पर्य क्या है री, सुहागसुन्दरी ! तनिक मैं भी तो जानूँ ! अच्छा, तू ही बता विवाह के पश्चात् तू कैसे जीवन व्यतीत करेगी। तेरा पति के साथ कैसा ... ।"

– "मेरा मत तो दर्पण के समान स्पष्ट और स्वच्छ है, सोमा ! यौवन मिला है तो इसका भरपूर सुख उठाना चाहिये। विवाह तो मेरा भी होगा। पति भी होगा, किन्तु वह तो मात्र एक सुरक्षा-कवच ही रहेगा। उसकी आड़ में मैं तो मनमाने यौनाचार का सुखोपभोग करूँगी। एक ही खाद्य पदार्थ थाली में रहे तो भोजन का स्वाद ही क्या? भाँति-भाँति के खट्टे, मीठे, चटपटे व्यंजन रहें। कभी इसे चखा तो कभी उसे। कभी इस पुरुष के प्रति आकर्षित तो कभी उसका संग। उस आनन्द का कोई पार ही नहीं।"

– "तू गणिका-सा जीवन पसंद करती है क्या?"

– "क्या बुराई है, सोमा ! गणिका के जीवन में क्या बुराई है? ऐन्द्रिक सुखोपभोग की पराकाष्ठा उसमें है। मैं तो बहुपुरुषीय जीवन की सार्थकता ही मानती हूँ। अन्तर यह रहेगा कि गणिका का बहुपुरुष जीवन रूप खुलकर सामने आ जाता है। मेरा वह जीवन रूप गुह्य रहेगा। कोई जान न पाएगा, सखी ! इसी में तो कौशल है। इस कौशल से युक्त नारी ही परम सुखोपभोग भी करती है और जगत् की दृष्टि में सती-सावित्री भी बनी रहती है। वाह ! कैसी आनन्द की वर्षा प्रति पल होती रहेगी। कभी एक मेघ तो कभी दूसरा। यही सोच-सोचकर मेरा मन तो आज से ही तृप्ति का आभास पाने लगा है। तू भी छोड़ यह सारा पोंगापंथ और मानव देह पाया है तो इसका पूर्ण उपभोग कर, छककर तृप्त होकर तुष्ट कर इसे।"

– "सुहागी ! तू अपनी सीख अपने ही पास रख। मैं न आने वाली तेरे भुलावे मे। तू चाहे तो इस व्यवहार को अपना। मै भी देखूँगी तेरा कैसा भयावह पतन होता है !"

– "पतन की तूने खूब चलायी री ! सुख भी भला कभी पतनकारी हुआ है !"

– "अच्छा ! अच्छा !! तू उत्थान करती रहना। मै तो चली। घर पर माँ मेरी प्रतीक्षा करती होगी। मुझे जाना चाहिए।"

सखी सोमा तो अपने घर चली गयी, किन्तु इन सखियों ने अपनी वार्त्ता में महाराज के मन में जो एक हलचल मचा दी, वह शान्त न हुई। नारी के दो रूप एक साथ सामने आ गये थे। सोमा का शीलवती रूप वाहर-भीतर से एक-सा रहने वाला था—पतिव्रता का जीवन, पवित्र जीवन; तो सुहागसुन्दरी का वाहर-भीतर परस्पर भिन्न रूपों का था। यही तो नारी-चरित्र है। इसे ही देवता भी समझ नहीं पाये हैं। किसी-किसी स्त्री का ऐसा चरित्र सारी नारी जाति को संदेह के घेरे में ला

खड़ा करती है। किसी का भी बाह्य रूप विश्वसनीय नहीं रहता। उसे, चाहे वह कितना ही पवित्र हो—त्रिया-चरित्र का अंग ही रह जाता है और उसके भीतरी सद्गुणों का अस्तित्व ही अविश्वसनीय होकर रह जाता है। सभी स्त्रियाँ सुहागसुन्दरी की प्रतिच्छाया बनकर रह जाती हैं। महाराज के चित्त में सहसा रत्नमंजरी का चित्र उभर आया और नारी जीवन के प्रति एक घोर वितृष्णा से भर उठा। सहसा उनके मानस में एक भयावह और जोखिम-भरा विचार उठा और एक पुनर्बलन के साथ, महाराज ने सुदृढ़ चिन्तन के साथ वहाँ से प्रस्थान किया। सहसा उनकी गति में वेग आ गया। नगर के शेष भाग का भ्रमण स्थगित करके वे राजभवन लौट आये। उनकी आत्मा को सुहागसुन्दरी के दृष्टिकोण ने आन्दोलित कर दिया था।

शय्या पर भी महाराज को सुख नहीं मिल पा रहा था। शरीर-सुख तो मानसिक सुख-शान्ति का ही प्रतिरूप होता है। मन उद्विग्न हो, अशान्त हो, तो तन भी करवटें बदलता रह जाता है।

सुहागसुन्दरी तो साधारण-से मध्यमवर्गीय परिवार की थी। महाराज ने आगामी दिवस ही उसके पिता को राजभवन में बुलाया। पिता रत्नसेन ने उपस्थिति देते हुए महाराज का नमन-वन्दन किया और शान्त भाव से, एक ओर हटकर, करबद्ध अवस्था में खड़ा रह गया। उसके मुख पर भय और अनिश्चितता के चिह्न प्रकट हो रहे थे। वह अनुमान ही नहीं कर पा रहा था कि उसे किस प्रयोजन से बुलाया गया होगा। उससे कौन-सा अपराध हो गया ··· । तभी महाराज ने कथन आरंभ कर दिया।

"तो तुम हो रत्नसेन ··· !"

"जी हाँ, महाराजाधिराज ! आपके इस सेवक को ही रत्नसेन कहा जाता है। साधारण—अति साधारण नागरिक हूँ, प्रभो ! यदि कोई चूक हो गयी हो, करुणावतार ! तो मैं पहले ही क्षमा-याचना करता हूँ।" हाथ जोड़कर रत्नसेन ने उन पर अपना भाल टिका दिया।

"नहीं ··· नहीं, रत्नसेन ! आप निश्चिन्त हो जाएँ। कोई अपराध आपसे नहीं हुआ। बैठिये ···।"—एक आसन की ओर महाराज ने संकेत कर दिया। "बैठिये भी ··· संकोच न कीजिए।"

रत्नसेन इस सम्मानपूर्ण असाधारण व्यवहार का कोई अर्थ न समझ पा रहा था। आदेश के अनुरूप वह आसन तक पहुँचा और सिकुड़कर बैठ गया। उसकी दृष्टि नीचे झुकी रह गयी।

"सुनिए, रत्नसेन ! पहले आराम से बैठ जाइये, संकोच त्याग दीजिए। हम आपको अपने लिए एक आदरणीय स्थान देना चाहते हैं।" यह विचित्र अबूझ बात

सुनकर वह चंचल हो उठा। उसने दृष्टि उठाकर महाराज की ओर प्रश्नाकुल मुद्रा में निहारा। महाराज ने आश्वस्त करते हुए कहा–"चौंकिये नहीं ··· चौंकिये नहीं। हम सत्य ही कह रहे हैं। इसमें न कोई व्यंग्य है और न ही कोई विनोद। हम आपकी कन्या को रानी बनाना चाहते हैं, सुहागसुन्दरी से विवाह करना चाहते हैं हम। क्या आप भी हमें अपना जामाता बनाना चाहेंगे?"

रत्नसेन तो अवाक् रह गया। अपने सौभाग्य के द्वार का इस प्रकार अयाचित और अकल्पित रूप में खुल जाना उसके लिए तो एक अचम्भे का विषय हो गया। अपलक दृष्टि से रत्नसेन बेचारा हक्का-बक्का-सा ही देखता रह गया।

"अरे, आप तो संशय में पड़ गये ··· ! आपको आपत्ति हो तो रहने दीजिए। हमें इसका कोई खेद भी न होगा। चिन्ता न कीजिए।"

"नहीं ··· नहीं, महाराज ! मैं तो आपकी इस अनुपम कृपा से कृतार्थ हो गया हूँ। असहमति कैसी ··· ? मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो तिलक के सामने से अपना भाल हटा लेते हैं। मैं तो आपके इस प्रस्ताव से अनुगृहीत हो गया हूँ, राजेश्वर ! आपकी इस अतिशय कृपा से तो मेरी पीढ़ियाँ तर गयी हैं। आप-जैसे महान् जामाता मेरे भाग्य में हैं–इसका पूर्वाभास भी न होने से मैं तनिक असहज हो गया, अन्यथा मै बड़ा प्रसन्न हूँ, श्रीमानेश्वर ! मेरी कन्या तो सुहागसुन्दरी के साथ-साथ सौभाग्यसुन्दरी भी हो गयी है, आज से।" रत्नसेन ने महाराज का उपकार मानने की मुद्रा में हाथ जोड़ दिये। उसके नेत्रों में असाधारण चमक आ गयी थी।

"हमें आशा भी ऐसी ही थी आपसे।"–महाराज ने गंभीर होते हुए कहा। शीघ्र ही विवाह सम्पन्न होगा। आप उपक्रम में लग जाइये।"–इन शब्दों के साथ महाराज आसन त्यागकर उठ खड़े हुए। रत्नसेन भी उठ खड़ा हुआ। प्रणाम कर वह अपने आवास को चला गया। उसके तो पैर ही जैसे धरती पर नहीं पड़ रहे थे। उसे यह जगत् किसी उत्सव-मण्डप-जैसा प्रतीत होने लगा।

यथासमय भव्यता के साथ विवाह सम्पन्न हो गया। महाराज के अन्तःपुर में सुहागसुन्दरी का प्रवेश हुआ। राजरानी कमलावती और अन्य रानियों ने उसका विधिवत् स्वागत किया। महाराज तो उसके अन्तरमन की झलक पा चुके थे। पूर्व मे ही वे राजरानी को इन दोनों सखियों के वार्त्तालाप से परिचित करा चुके थे और ···· और वे सुहागसुन्दरी की सतीत्व-परीक्षा भी करना चाहते थे। वे जान लेना चाहते थे कि यह बाला किस प्रकार अपने अभीष्ट जीवन को आकार देती है। पति को रक्षा-कवच बनाकर यह कैसे अपने कौशल से पर-पुरुषगामिनी बनती है। महाराज ने अन्तःपुर से बाहर एक स्तम्भ वाले प्रासाद में रानी सुहागसुन्दरी के लिये आवास-व्यवस्था की। अनेक दास-दासियो को उसकी सेवा में नियुक्त कर दिया गया। कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था कर दी गयी। इस प्रासाद में पंछी भी पंख नहीं

मार सकता था। प्रासाद के निकट बाहर की ओर गुप्तचरों का एक जाल-सा बिछा दिया गया था। महाराज के निर्मल प्रेम को पाकर सुहागसुन्दरी कृतार्थ हो गयी थी। अपने गुह्य प्रयोजन की झलक भी उनके व्यवहार में नहीं आयी। एक लम्बे समय तक स्नेहमय परिवेश इसी प्रकार रानी के जीवन को सुखानुभूति कराता रहा। राजसी सुख-वैभव के बीच उसका समय सानन्द व्यतीत होता रहा। कभी-कभी अवकाश के क्षणों में वह चिन्तन करने लगती थी कि उसके पास ऐसी क्या विशेषता है कि महाराज ने उसका चयन कर लिया? इस प्रश्न का कोई उत्तर उसके मन में उदित न हो पाया, किन्तु यह प्रश्न अनुत्तरित रहकर निर्मूल भी नहीं हो गया। उसे लगा कि इसके पीछे कोई प्रयोजन, कोई कारण तो अवश्य है, चाहे वह रहस्य में हो।

ऐसे ही एक संध्या में जब महाराज मंथर गति से रानी सुहागसुन्दरी के साथ एक स्तम्भ वाले प्रासाद की खुली छत पर विचरण कर रहे थे तो उनके मन में दो सखियों का वह संलाप ताजा हो गया। उनका मन प्रश्नाकुल हो उठा। भावपूर्ण मुद्रा में उन्होंने निरभ्र गगन की ओर निहारते हुए कहा–"रानी ! देखो यह कपोती अभी उस कपोत के संग उड़ रही थी, अब इस दूसरे कपोत की सहचरी हो गयी और इसका संग छोड़कर भी यह अन्य ही सह-विहारी किस क्षण हो जायेगी–कुछ कह नहीं सकते। कितना सुखद स्वच्छन्द जीवन है पंछियों का भी। नारी-जीवन भी काश ! कपोतीवत् होता, तो उसकी ऊबाऊ एकरसता तो समाप्त होती। नित नया संगी, नया सुख-परिवर्तन तो जीवन का सहज गुणधर्म है न !" बेचारी रानी तो ऐसी हतप्रभ हो गयी थी कि मानो वह चोरी करते रंजित हस्त ही पकड़ ली गयी हो। एक क्षण को तो वह अवाक् रह गयी। महाराज को मेरे मनोभावों का आभास कैसे हो गया। अपनी मानसिक ऊहापोह की स्थिति पर अपनी मादक मुस्कान का आवरण डालती हुई रानी सुहागसुन्दरी अविलम्ब ही सहज होकर बोली– "पशु-पक्षियों और मनुष्यों के आचरण में कुछ तो अन्तर होना ही चाहिये न, स्वामी ! हमने बुद्धिजीवी होकर अपने लिए कुछ जीवन-मूल्य निर्मित कर लिये हैं, कुछ नीति-अनीतियाँ हैं।"

"उचित ही कथन है रानी तुम्हारा। यह तुम्हारी वाणी तो है, किन्तु मन तो सर्वथा विपरीत है इसके। तुम तो नारी-जीवन के उस रूप की पक्षधर हो न, जो कपोती के इस व्यवहार से मेल खाता है?"

इस सीधे-सपाट प्रश्न ने तो रानी को और भी अचकचा दिया। अब मिथ्या का आश्रय लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न था। सहजता के साथ बोलीं–"नहीं··· महाराज !··· नहीं····। भला मैं प्रेम की एकनिष्ठता और पातिव्रत्य की महत्ता को कैसे विस्मृत कर सकती हूँ। शीलधर्म ही नारी का मूल धर्म है। पर-पुरुष की परछाईं से भी भीत रहती हैं, सन्नारियाँ और पति-चरणों में समर्पित रहने वाली नारियाँ ही आदर्श स्थापित कर पाती हैं।"

"ऐसा विचार तो तुम्हारी सखी सोमा का अवश्य था और तुमने उसे पिछड़ी बुद्धि की माना था।"—महाराज ने स्पष्टोक्ति की—"सोमा को तुमने पोंग पंथी बताते हुए कहा था कि किसी एक व्यक्ति के साथ जीवन-निर्वाह करना तो एक खूँटे से बँध जाना है। जीवन का आनन्द तो स्थान-स्थान को हरा-हरा चरने में है। तुम्हारा विचार था कि विवाह तुम भी करोगी पर तुम्हारा पति तो एक रक्षा-कवच होगा। उसकी आड़ में नित नये पुरुषों के संग····।"

महाराज के कथन से सुहागसुन्दरी भीतर तक अचकचा गयी। वह भीत हिरनी-जैसी ऊबबाई ऑखों से महाराज का मुख ताकती रह गयी। तुरन्त ही सहजता का बाना धारण करती हुई रानी ने अति सामान्य रूप में एक कृत्रिम ठहाका लगाते हुए कहा—"अरे, उस दिन की हमारी बातें आपने कहॉ से सुन लीं।···· ऐं··· ?" एक क्षण के विराम के पश्चात् वह बोली—"आपने क्या उसे गंभीर कथन मान लिया था मेरा। वह तो मैं विनोद कर रही थी अपनी सखी के संग, मेरे प्रियेश ! उसका मन जॉचने का प्रयत्न था मेरा। शीलधर्म में वह अडिग भी है, या नहीं—यह पता कर रही थी मैं।"

"अच्छा !··· अच्छा !! कुछ ऐसा था क्या? ऐसा न भी हो तो हम तुम्हारे रक्षा-कवच बनने को तैयार हैं। सौभाग्य से कैसा सुदृढ़ कवच मिला है तुम्हें। तुम स्वच्छन्द जीवन जीने को स्वतंत्र हो। यह भी हमारा एक नवीन अनुभव होगा।" महाराज ने कथन समाप्त करते-करते एक ठहाका लगाया और रानी ने भी भरपूर योग उसमें दिया।

कुछ क्षणों के उन्मुक्त हास के उपरान्त उसने जोड़ा—"आप भी क्या बात करते हैं, प्रभो !" और फिर वह क्षीण-सी हॅसी के साथ एक लम्वी साँस लेने लगी। दोनों के मन में अपने-अपने कथन के विपरीत ही स्थितियॉ थीं। राजा वीर विक्रम वास्तव में कवच का रूप लेना नहीं चाहते थे और रानी स्वच्छन्द आचरण के लिए कटिवद्ध थी। वह सोचने लगी थी कि अव तो वह अपने स्वामी को अपने कौशल से प्रवंचित करके ही रहेगी और नरेश उसे इस हेतु अवसर ही नहीं देना चाहते थे। दोनो एक-दूसरे के परीक्षक वन वैठे थे। वास्तव में ऐसी सुरक्षा-व्यवस्था थी कि रानी का कोई वाह्य सम्पर्क संभव ही न था। वह तो स्वर्ण पिंजरे में आवद्ध सारिका हो गयी थी। उसके पर फडफड़ाने पर ही वीसयों नेत्र उधर उठ जाते थे। उसे पतिदेव का प्यार भरपूर प्राप्त हो रहा था, समस्त सुख-साधन उपलव्ध थे, दास-दासियों की सम्मानपूर्ण सेवा में भी कोई अभाव न था। महाराज भी स्वयं प्रायः प्रतिदिन ही आ जाया करते थे, किन्तु राज-काज में व्यस्ततावश क्रमशः उनकी अनुपस्थिति वाला अन्तराल अभिवर्धित होने लगा। वे रानी को उसकी इच्छा-पूर्ति का अनुकूल अवसर भी अपनी ओर से देना ठीक समझ रहे थे। चतुर परीक्षक जो थे। कठोर चौकसी की व्यवस्थाओं में से भी कहाँ उसे मार्ग मिल सकता है—रानी भी इस अन्वेषण में लगी हुई थी। शीघ्रता या आतुरता दोनों में से

किसी भी पक्ष को नहीं थी। नरेश को यह विश्वास था कि रानी अपने विचारों को आकार देने में पीछे नहीं रहेगी। और रानी ने भी ठान लिया था कि मैं भी इनको दिखाकर ही छोड़ूँगी कि त्रिया-चरित्र होता क्या है? कौशल फिर भी मेरा यही रहेगा कि किसी की पकड़ में नहीं आऊँगी, अन्यथा तो फिर मैं सुहागसुन्दरी हुई ही क्या !!

उस पर लगे हुए कड़े प्रतिबंधों और प्रहरों से रानी भी अनभिज्ञ न थी और उन्हें अकारथ कर देने की युक्तियाँ भी उसके पास कम न थीं। अपनी विजय के लिए वह किसी स्रोत की खोज में रहने लगी। अवन्ती में एक अत्यन्त धनाढ्य परदेसी व्यवसायी कुछ महीनों से आया हुआ था। नाम था उसका—गगनधूलि। परम रूपवान, युवा, स्वस्थ एवं ऊर्जस्वित था। उसके व्यक्तित्व में अद्भुत कान्ति और आकर्षण था। उसकी वेश-भूषा और आभूषणों से उसकी सम्पन्नता ही नहीं, उसकी सुरुचि का परिचय भी मिलता था। रसिकता उसके नेत्रों से छलकी पड़ती थी। वह एक खुली पालकी में बैठकर अवन्ती के मार्गों पर निकला करता था। श्वेत पुष्पों की एक माला सदा उसके वक्ष पर झूलती रहती थी। वह कभी मालाविहीन नहीं दिखायी देता और माला का रंग-रूप, आकार-आकृति भी सदैव एक-सी होती। लोगों की धारणा थी कि गगनधूलि सदा ही उस एक माला को धारण किये रहता है। आश्चर्य है कि इसके पुष्प कभी मुर्झाते नहीं। अधिकांश जन इसे दंत कथा मानकर इस पर ध्यान नहीं देते थे। उसकी पालकी एक स्तम्भ वाले प्रासाद के नीचे से होकर प्रतिदिन निकला करती थी। सुहागसुन्दरी की दृष्टि जो उस पर एक दिन पड़ी तो जैसे उसके मानस में दीपावली जगमगा उठी। आशा की ज्योति में उसे अपनी सफलता झलकती मिल गयी। अगले दिवस पहले से ही उसने प्रीति की एक संक्षिप्त पाती लिखी, पान के बीड़े में लपेटकर उसे अपने पास रख लिया और गवाक्ष में आ बैठी। गगनधूलि की पालकी ज्यों ही गवाक्ष के नीचे पहुँची रानी ने बीड़ा नीचे टपका दिया। गगनधूलि सहसा चौंक उठा और उसने दृष्टि ऊपर उठायी तो गवाक्ष में एक नवयौवना सुन्दरी को मुस्कराते पाया। प्रत्युत्तर में स्वतः ही गगनधूलि के अधरों पर भी मुस्कान आ गयी। वह कुछ आगे वढ़ा और पत्र खोलकर पढ़ने लगा—

"हे कामदेव-से रूपवान कुमार ! जब से तुम्हें देखा है, मैं सौ-सौ प्राणों से तुम पर न्योछावर जा रही हूँ। मेरे मन में अनुराग पिपासा अतृप्त रहती हुई अतिशय प्रचंड होकर काम-ज्वाला वन गयी है और मैं उसमें दग्ध होती जा रही हूँ। मेघ बनकर तुम वरसो और मेरे इस दाह को शान्त करो, मेरे प्रियतम ! यदि और निराशा मिली तो मैं अपने प्राण ही त्याग दूँगी। विरह-ताप से तप्त मेरे मन की धरती को शीत करने आओगे न, मेरे घनश्याम ! प्रतीक्षा करूँगी।"

रसिक गगनधूलि का चित्त तो सहसा रससिक्त हो उठा। उसके मन में जैसे सौ-सौ उत्स फूट उठे। अति उमंग के साथ उसका मन-मयूर नर्तन करने लगा।

उसने तत्परता के साथ सारा उपक्रम कर लिया और रात्रि के द्वितीय प्रहर में ही वह एक स्तम्भ वाले प्रासाद के उस गवाक्ष के नीचे पहुँच गया। तीजे तल्ले में वह गवाक्ष था। उसने झोले में से रेशम की लम्बी रज्जु निकाली और उसके एक सिरे से बँधे लोहे के ऑकड़े को भरपूर शक्ति से ऊपर उछाला। ऑकड़ा गवाक्ष में अटक गया। नीचे से ही रज्जु को खींच-हिलाकर वह जब संतुष्ट हो गया तो उसके सहारे ऊपर चढ़ गया। संयोग ही था कि उस रात्रि में नगरचर्या को निकले महाराज भी विचरण करते-करते इसी ओर निकल आये। उन्होंने रानी सुहागसुन्दरी के गवाक्ष से रज्जु लटका हुआ पाया तो सोचने लगे कि रानी ने जीवन को सार्थक बनाने का क्रम आरम्भ कर दिया है, कदाचित्।

महाराज ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। चुपचाप आगे बढ़ गये। इस प्रासाद के समीप ही कोई प्राचीन खण्डहर था। नगर यहाँ से कुछ पूर्व ही समाप्त हो जाता था और खण्डहर नगर के बाहर-जैसा प्रतीत होता था। महाराज वीर विक्रम उस उजाड़–सुनसान खण्डहर में चले गये। आशा के विपरीत उन्हें उस सूने स्थल पर ध्वनि आने लगी। जिस ओर से ध्वनि आने वाली थी जिज्ञासावश महाराज उसी दिशा मे बढ़ गये। कुछ चलने पर उन्हें एक धूणी के समीप एक अवधूत योगी बैठा दिखायी दिया। महाराज की उपस्थिति से योगी अनभिज्ञ ही था। कुछ ही समय के अनन्तर उन्हें एक विचित्र दृश्य देखने को मिला। उस अवधूत योगी ने अपनी जटा से एक बाल तोड़ा और उसमें से एक ललना को प्रकट किया। योगी ने निरापद रूप में ललना के संग रमण किया और तुष्ट एवं शिथिल होकर वहीं सो गया। महाराज ने स्वयं को एक शिला की ओट मे छिपा लिया और सारी लीलाएँ देखने लगे। इसी समय जब योगी निद्राधीन हो गया तो ललना ने अपने जूड़े मे से एक छोटी-सी मंजूषा निकाली और मंजूषा में से उसने एक पुरुष को निकाला और उसके साथ छककर रमण किया।

तत्पश्चात् पुरुष को पुनः मंजूषा मे वन्द किया और ललना ने उसे अपने जूड़े में छिपा लिया। जब योगी जाग्रत हुआ तो उसने ललना को अपनी जटा में लुप्त कर लिया। इस सारे दृश्य को देखकर महाराज के तो रोंगटे ही खड़े हो गये। इस संसार की विचित्र माया है और इस माया में स्त्री-चरित्र और भी अद्भुत है, अज्ञेय है। नारी के मन का भेद पाना अत्यन्त कठिन है। उसके प्रति कोई आसक्त है और उसकी आसक्ति किसी अन्य के प्रति है। पति-सेवा और प्रेम की लीला रचाकर सती होने का स्वांग भी कर लेती है और वह इच्छित स्वच्छन्द जीवन का आनन्द भी उठाती रहती है। उसका यह भेद कभी-कभी तो आजीवन खुल नहीं पाता और संसार की दृष्टि में वह एक सन्नारी वनी रहती है। महाराज यही सब-कुछ सोचते-सोचते खण्डहर से वाहर निकल आये। रात्रि अभी भी शेष थी। वे नगर के अन्य क्षेत्रों का भ्रमण स्थगित कर राजभवन लौट आये।

सुहागसुन्दरी के कपट व्यवहार का संकेत उन्हें मिल गया था और इस संकेत ने

उन्हें उद्विग्न कर दिया था। वे अपनी कोमल शय्या पर भी करवटें बदलते रहे, आँखों में निद्रा का कोई चिह्न न था। उनके नेत्रों में तो रानी की प्रेम-लीला के काल्पनिक दृश्य बसे थे। महाराज रानी सुहागसुन्दरी के गुह्य प्रेम को उजागर करने की चेष्टा-दिशा का चिन्तन करने लगे थे। एक के अनन्तर एक विचार उनके मानस में आता रहा। अनुचित के विरुद्ध सद्प्रयासों को अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। यथाशीघ्र अनुकूल अवसर भी सुलभ हो जाता है और सद्प्रयासी भी उसका तत्काल उपयोग कर लेता है। एक दिन पूर्वाह्न में ही अपने विश्वसनीय गुप्तचर से महाराज को सूचना मिली कि जारज-प्रेमी इस समय रानी सुहागसुन्दरी के प्रासाद में है। महाराज ने एक क्षण का विलम्ब किये बिना ही तत्काल एक स्तम्भ वाले प्रासाद में पहुँचे। कुछ क्षणों के पूर्व ही रानी को महाराज के आगमन की सूचना उसकी विश्वस्त दासी से मिल गयी थी। यही उसके लिए पर्याप्त था। रानी अपने कक्ष के द्वार पर, हाथों में पुष्पहार लिए आ खड़ी हुई। महाराज का कुछ दूरी से दर्शन पाकर सुहागसुन्दरी ऐसी मुस्करा उठी मानो उसका आन्तरिक हर्ष ही उसके अधरों पर झलक उठा हो। आगे बढ़कर उसने स्वागत किया और पुष्पहार उसने महाराज को धारण करा दिया और नमनपूर्वक करबद्ध प्रणाम कर चरण-स्पर्श हेतु नीचे झुक गयी। महाराज ने कोमलता के साथ रानी को ऊपर उठा लिया और वे सहज रूप से मुस्करा उठे। प्रसन्नवदना रानी ने कोमलता के साथ मधुर वाणी में कहा–"आज तो इस दासी का भाग्योदय ही हो गया–इस पूर्वाह्न में। बड़े दिनों के पश्चात् आज श्रीमानेश्वर ने कृपा की। मैं तो कृतार्थ हो गयी, देव ! मैं अतिशय हर्षित हूँ।"

महाराज ने भी रानी की भावना का स्वागत ही किया और मंथर गति से प्रसन्नचित्तता के साथ कक्ष में प्रवेश किया। वे इस सारी सहजता और सहृदयता के साथ-साथ पूर्णतः सतर्क भी थे। उड़ती दृष्टि से ही उन्होंने रानी के सारे कक्ष का निरीक्षण कर लिया। उन्हें रानी के प्रेमी की उपस्थिति या आगमन का कोई प्रत्यक्ष चिह्न दिखायी तो नहीं दिया, किन्तु उन्होंने प्राप्त सूचना को अविश्वसनीय मानने की भूल भी नहीं की। संभव है रानी ने अपना कोई कौशल प्रयुक्त किया हो। यह भी संभव है कि तथाकथित जारज-प्रेमी भी बड़ा चतुर हो। महाराज इस चिन्तन से शीघ्र ही उबर आये और स्वाभाविक रूप में वे स्नेह-संलाप में सक्रिय भागीदार हो गये।

महाराज ने वार्त्तालाप के प्रवाह को सहसा एक रोक देते हुए रानी से कहा– "आज तुमसे हमारा एक विशेष अनुरोध है, प्रिये !"

"आदेश करें, महाराज ! क्या सेवा कर सकती हूँ।" रानी ने अतिशय नम्रता के साथ पूछा।

नरेश ने भी धीरज के साथ कहा–"रानी ! हमारे चार-पाँच अतिथि आने वाले हैं। हम चाहते हैं तुम स्वयं उनके लिये भोजन तैयार करो और स्वयं ही उनका आतिथ्य भी करो। उनको अपने हाथों से स्वयं भोजन परोसो।" महाराज ने कुछ विराम लेकर कहा–"क्या यह संभव हो जायेगा, प्रिये !"

"क्यों नही, महाराज !.... क्यों नहीं ! असंभवता इसमें भला क्या होगी। कुछ ही समय में सारा कार्य हो जायेगा। आप अतिथियों को बुलवा लीजिये।"

रानी के इस कथन पर महाराज ने भी प्रसन्नता व्यक्त की और बोले-"प्रिये ! हमें तुमसे आशा भी ऐसी ही थी।" महाराज ने सेविका से कहा-"किसी चर को भेजकर समीप के खण्डहर वाले योगिराज को भोजन पर आमंत्रित कराओ और उससे कहो कि स्वामी जी को अपने संग ही ले आएँ।

"जो आज्ञा प्रभो !"-कहकर दासी ने प्रस्थान किया।

महाराज आसन पर बैठे अपनी सुविचारित योजना पर भी पुनर्विचार कर उसे अन्तिम रूप देने लगे। एक निश्चित रूपरेखा के आकार ग्रहण कर लेने पर उन्हें एक गहन संतोष का अनुभव होने लगा। कुछ ही समय में खण्डहर वाले योगी बाबा भी आ पहुँचे। पृथक् से एक उच्च आसन पर विराजित कर महाराज ने उनकी चरण-वन्दना की। योगी जी ने प्रसन्न भाव से आशीर्वाद दिये। इसी समय रानी सुहागसुन्दरी ने प्रवेश किया-"भोजन तैयार है, प्रियेश ! आपके अतिथि अभी तक पहुँचे नहीं।" अपनी ही धुन में रानी बोलती चली जा रही थी। योगिराज ने अपनी उपस्थिति आभासित करने के क्रम में खखारा और सचमुच ही रानी का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो गया। "प्रणाम करती हूँ, महाराज ! क्षमा करे मुझे अविनय के लिए। मुझे ध्यान ही न था कि आप विराजमान हैं।"-रानी ने विनीत वाणी में निवेदन किया।

योगिराज ने रानी को भी हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया-"सदा सुखी रहो। सफल काम रहो।"

रानी ने पुनः नमन कर आभार व्यक्त किया और अवन्तीनाथ की ओर उन्मुख होती हुई बोली-"शेप अतिथि....?"

"वे भी अभी आये जाते है तुम चिन्ता न करो।"-महाराज ने कहा-"समझो कि सभी पहुँचे हैं। अपने-अपने समय पर सभी...। तुम तो यदि भोजन तैयार है तो पाँच आसन लगा दो।" दास-दासियों के होते हुए भी रानी ही सारी अतिथि-सेवा स्वयं कर रही थी। कोई सेविका-दासी इस खण्ड में नहीं थी। भोजन भी स्वय रानी ने ही अकेले तैयार किया। तुरन्त पाँच आसन लगा दिये गये। प्रत्येक आसन के समक्ष सुन्दर, कलात्मक, सज्जायुक्त रत्नजटित स्वर्ण-पाट स्थापित कर दिये गये। रजत-थाल व अन्य पात्र भी इसी क्रम में सज्जित कर दिये गये। तभी महाराज ने योगिराज से निवेदन किया-"आप अकेले ही भोजन कैसे करेंगे? अपनी योगिनी को भी तो प्रकट कीजिये।" राजा के इस ज्ञान पर चकित होते हुए संकोच के साथ योगी जी ने अपनी जटा में से योगिनी को प्रकट किया। एक आसन योगिनी ने ग्रहण कर लिया। तीन आसनों की इस प्रकार पूर्ति हो गयी। किन्तु दो अभी भी रिक्त पड़े थे। रानी आश्चर्यचकित होकर यह सारी माया देखती रह गयी। महाराज ने तब योगिनी की ओर उन्मुख होते हुए कहा-"आपको अपने

योगी जी ने इस भोज में सम्मिलित कर लिया अब आप भी अकेली भोजन कैसे कर पाएँगी। अपने प्रियतम को प्रकट कीजिये और उन्हें भी सम्मिलित कीजिये।" योगिनी आश्चर्यचकित हो महाराज को ताकती रह गयी और निरुपाय-सी अनुभव करती हुई उसने अपने जूड़े से एक छोटी-सी मंजूषा निकाली और उसमें से अपने प्रेमी को प्रकट किया। इस पुरुष ने भी एक आसन ग्रहण कर लिया तो अब एक ही आसन रिक्त रह गया। अब बारी थी रानी सुहागसुन्दरी की। राजा ने रानी को सम्बोधित करते हुए कहा—"रानी ! अब तुम अपने प्रिय अतिथि को भी तो बुला लो, कब तक वे बेचारे इस प्रासाद में छिपे रहेंगे। आज तो वे भी हमारे अतिथि हैं। अतिथि को भूखा छोड़कर गृह-स्वामी भला भोजन कैसे कर सकता है?"

"राजन् ! आप यह क्या कह रहे हैं? मेरा कोई ··· मेरे प्रियतम तो आप ही हैं और साक्षात् यहाँ आप विराजमान हैं।"

"अरे हम तो नाम मात्र के पति हैं तुम्हारे। हमारी तो ओट ही रहती है जिसके पीछे तुम्हारे प्रेमी जन तो पर-पुरुष रहते हैं। शीघ्रता करो। उनको अब तुम प्रकट करो और भोज में सम्मिलित करो। विलम्ब करने में कोई सार नहीं है।"

महाराज की इस विलक्षण जानकारी से रानी तो सहसा हतप्रभ हो गयी। पानी-पानी होती हुई अपने गुह्य प्रसंग को छिपाने का प्रयास करती हुई वह बोली—"आपको भ्रम है श्रीमानेश्वर ! यहाँ कोई ऐसा पर-पुरुष नहीं। आप निश्चिन्त होकर भोजन करें। मैं परोसती हूँ।"

"आ जायेगा ··· आ जायेगा, भोजन भी आ जायेगा। पहले मैं अपने अतिथि को तो बुला लूँ। एक आसन तो अभी रिक्त ही पड़ा है।"—यह कहते हुए महाराज स्वयं उठे और एक बड़ी-सी सन्दूक खोलकर उसमें से रानी के जारज-प्रेमी गोधूलि को निकाल लाए। बोले—"प्रियजनों को छिपाने की क्या आवश्यकता है, उनका परिचय कराने में संकोच कैसा?" महाराज ने गोधूलि को रिक्त आसन पर बिठाया और रानी को भोजन परोसने को कहा।

भोजनोरान्त योगिनी ने पुरुष को अपनी डिबिया में बंदकर डिविया को जूड़े में रख लिया। योगिनी को योगी जी ने अपनी जटा में समाहित कर लिया और वे तृप्त होकर आशिष देते हुए प्रस्थित हो गये। गोधूलि को महाराज ने रोक लिया और बतियाने लगे। उसका परिचय पा लेने के पश्चात् महाराज ने गोधूलि के पुष्पहार की चर्चा चला दी—"सुना है तुम्हारा यह हार वड़ा विचित्र और चमत्कारी है। इसके पुष्पों के यथावत् रहने का रहस्य क्या है?"

"सत्य है, महाराज ! मेरा यह पुष्पहार विलक्षण ही है। वारह वर्षों से मैं नित्य इसे ही धारण करता हूँ। आज भी यह प्रथम दिवस-जैसा ही नवीन वना हुआ है। इसके किसी पुष्प की एक पंखुरी भी नहीं मुर्झाई, कान्तिहीन नहीं हुई है। आप इसके रहस्य को जानना चाहते हैं तो मैं भी इसे आप पर अवश्य ही प्रकट करूँगा। मैं तो परदेस में रहकर व्यवसाय करता हूँ। मेरी पत्नी मेरे माता-पिता के

पास रहती है। उसी ने यह हार मुझे पहनाया और कहा था–जिस दिन मेरे मन में किसी प्रकार का विचलन आएगा, मैं सतीत्व से डिगने लगूँगी, किसी पर-पुरुष की कल्पना भी मेरे मन में उदित होगी तो यह हार मुर्झा जायेगा।"

"धन्य है तुम्हारी सती पत्नी !" महाराज ने कहा–"आज भी यह हार यथावत् है। किन्तु ··· क्या ऐसे दो हार नहीं हो सकते थे? दूसरा तुम्हारी पत्नी के कंठ में होता। जिस दिन तुम एक पत्नीव्रत से डिगते–वह हार मुर्झा जाता। किन्तु पुरुष के लिए यह कहाँ संभव है, आवश्यक भी कदाचित् नहीं है। सारे बंधन तो नारी के लिए ही हैं न। नारी भी इन बंधनों को उतार फेंकने पर तुली हुई है।"

महाराज के इस विनोद से रानी तो लज्जित होकर पलकें झुका धरातल को निहारने लग गयी। रहस्य-भेदन से उसका तो पानी ही उतर गया। उसमें महाराज से दृष्टि मिलाने की ताब ही शेष नहीं रह गयी। दो हार वाले प्रसंग के गूढार्थ को हृदयंगम करके गोधूलि को भी कुछ संकोच हुआ और उसे निष्प्रभ करने के उद्देश्य से उसने महाराज से कहा–"राजराजेश्वर ! इस पुष्पहार का सारा वृत्तान्त समझाने के लिए मैं आपको एक कथा-प्रसंग सुना रहा हूँ–

चम्पानगरी के एक श्रेष्ठी-परिवार में धनकेलि नामक एक सद्‌गुणी बालक का जन्म हुआ। कोट्यधिपति धनश्रेष्ठी उसके पिता का और धन्या उसकी माता का नाम था। माता-पिता का अतुलित स्नेह-वात्सल्य भी धनकेलि को प्राप्त हुआ और उससे भी अधिक उसके जीवन को सँवारने वाला ध्यान। परिणामतः जब बालक बडा हुआ तो एक योग्य और गुणवान, चतुर और बुद्धिमान युवा के रूप में उसका भव्य व्यक्तित्व निखर उठा। वाणिज्य-व्यवसाय के पैतृक कार्यो में तो वह विशेष दक्ष हो गया। उसके मानस में नवनवीन युक्तियाँ, नयी-नयी प्रवृत्तियाँ और प्रयोग आते और उन्हें प्रयुक्त कर उसने अपने धन की असाधारण वृद्धि का क्रम ऐसा आरंभ किया कि देखते-ही-देखते परिवार की समृद्धि गगनचुम्बी होने लगी। पिता अपने पुत्र की योग्यता से आश्वस्त हो जाता है तो क्रमशः काम-काज से अपना हाथ खींचने लग जाता है। और एक दिन ऐसा आया कि धनश्रेष्ठी ने व्यवसाय से स्वयं को तटस्थ कर लिया और सारा काम-काज धनकेलि के हाथों ही संचालित होने लगा। धनकेलि ने अपने पारिवारिक व्यवसाय को एक नवीन शैली दी। उसने विक्रय की चल इकाइयाँ गठित कीं। विक्रय सामग्रियाँ छकड़ों–गाड़ियों में लादकर देश-देशान्तरो में भेजी जाती। व्यवसाय-क्षेत्र के इस विस्तार के कारण अधिक विक्रय और परिणामतः अधिकाधिक लाभार्जन होता। जब ऐसे छकड़ों–गाड़ियो की कोई इकाई मार्गो से निकलती तो भूमि की धूलि ऊपर आकाश में ऊँची–बहुत ऊँची उठ जाती थी।

व्यवसाय में प्रचुर धन सक्रिय था ही। उससे भी अधिक धन तो एक प्रकार से अचल सम्पत्ति होकर धनश्रेष्ठी के पास पडा था। स्वयं श्रेष्ठी को ज्ञान न था कि उनके पास धन की विपुलता तो है, परन्तु वह कितनी है। इस उलझन को

निरंतरित रखना उन्होंने उपयुक्त न मानकर एक दिन उन्होंने धन-सम्पदा का विवरण तैयार किया। दानादि और गृह-संचालन हेतु कुछ धन पृथक् करते हुए उन्होंने शेष धन को अपने भवन में ही पृथक्-पृथक् स्थलों पर गाड़ दिया और उसकी संकेत-सूची तैयार कर उसे एक स्वर्ण के ताबीज में मढ़वाकर कंठ में धारण कर लिया। इतना सब करके श्रेष्ठी जी ने एक सुरक्षित निश्चिन्तता की साँस ली और अपने अपार-अपार वैभव पर उन्हें भीतर-ही-भीतर एक विनयपूर्ण गर्व की अनुभूति होने लगी और धनकेलि की आत्म-निर्भरता और स्वच्छन्द व्यापार-विकास से तुष्ट होकर उन्होंने यह निश्चय भी कर लिया कि पुत्र को अब दाम्पत्य-सूत्र में आबद्ध कर ही दिया जाना चाहिए। सद्विचारों की पूर्ति में कोई अकारण विलम्ब नहीं होता। दुष्ट विचारों की क्रियान्विति ही बाधित भी होती है और दीर्घावधि भी उसके लिए अपेक्षित रहती है। यथाशीघ्र ही श्रेष्ठीवर का यह स्वप्न भी साकार हो गया और धनकेलि का विवाह कौशाम्बी के श्रेष्ठी चन्द्र की गुणवती कन्या रुक्मिणी के साथ सम्पन्न हो गया।

सहसा ही धनकेलि का सम्पन्न जीवन सरस भी हो उठा। सौंदर्यप्रिय युवक को पुष्पों–लताओं से आच्छादित वाटिका मिल गयी। स्वर्ण-भवन की कारा से बाहर निकलकर वह इस वाटिका में उन्मुक्त विहार करने लगा। एक विशेष कोटि का तोष उसे अनुभव होने लगा। वह परम सुखी हो गया। रुक्मिणी-जैसी सुन्दर, सुशील पत्नी पाकर वह तो धन्य ही हो उठा। रूपासक्त धनकेलि एक क्षण भी अपनी प्रियतमा से वियुक्त नहीं रह पाता था। धन की कारा से निकला तो इस रमणीक बंधन में वह ऐसा स्वेच्छापूर्वक बँध गया कि जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों से वह कटकर ही रह गया। इस एकान्त सेवन ने उसे अपने व्यवसाय से भी दूर कर दिया। वह चौपट होने लगा। पुरुष का मन तो भ्रमरवत् चंचल रहता है। एक ही पुष्प का रसपान करते-करते वह अघा जाता है और अन्य सौन्दर्य की खोज में लग जाता है। उसकी एकनिष्ठता चाहे बनी भी रहे, किन्तु इस प्रवृत्ति के विषय, एक के पश्चात् एक बदलते ही रहते हैं। आज इसके प्रति एकनिष्ठता का भाव है तो कल किसी अन्य के प्रति और आने वाले कल में उसका पात्र फिर कोई अन्य हो जायेगा। रुक्मिणी के ऐसे ही एकरस प्रेम से धनकेलि भी शीघ्र ही ऊब उठा और उसका मन-भ्रमर भटकने लगा–किसी अन्य कुसुम की खोज में। उसकी चक्रित दृष्टि सहसा कामलता पर जाकर ऐसी अटकी कि यहाँ से हटना ही उसके लिए कठिन हो गया।

कामलता चम्पानगरी की एक कमनीय गणिका थी। उसके नयनों की विशालता, पलकों की चपलता और भावभंगिमा की मादकता ने धनकेलि को अपना दास ही वना लिया था। स्फटिक शिला पर रश्मियो में दमकती ओस-बूँद की भाँति सुन्दरी कामलता के सौन्दर्य के धागों से रसिक धनकेलि मन में अनेकानेक स्वप्न बुनने लगा। प्रथम सम्पर्क में ही उसने धनकेलि को भलीभाँति पहचान लिया था। वह उसके लिए अपार समृद्धि का स्रोत हो गया। आरंभ में वह तीन-तीन चार-चार दिन

में कामलता के आवास पर जाता था। नृत्य-संगीत का आनन्द लेता और चला आता। पुरस्कार में वह गणिका को प्रचुर धन भेंट करता और कामलता की अपेक्षा भी धनकेलि को अधिक प्रसन्नता होती। अभिनय-निपुण गणिका ने तब तो अपने जाल को और भी स्निग्ध, किन्तु पूर्वापेक्षा और भी सुदृढ कर लिया। उसके हाव-भाव में और भी अधिक आकर्षण, वाणी में माधुर्य और व्यवहार मे सरसता और भी अधिक वढ़ गयी। निरीह धनकेलि उसका आखेट बनता ही चला गया। उसने ऐसा प्रदर्शन आरभ कर दिया मानो धनकेलि-चन्द्र की वह चकोरी हो। उसका मनरूपी कमल धनकेलिरूपी भास्कर की उपस्थिति में ही खिला-खिला रहता है और वियोगावधि में तो मुर्झाया रहता है। उसने अनेक प्रकार से यह व्यक्त भी किया कि वह तो धनकेलि की प्रियतमा तन-मन से हो गयी है—वह भी तो अपने आप को उसका प्रियतम वनाए। वह उसके वियोग में एक क्षण भी कल नहीं पाती है। किन्तु यह सव कलात्मक व्यवहार धनार्जन के लिए था। इस मर्म को धनकेलि समझ नहीं पाता था। वह तो उसके प्रेमपाश में अपने को अधिकाधिक ग्रस्त करता चला गया और अपना धन लुटाता रहा। फिर तो वह अहर्निश कामलता के आवास पर ही रहने लगा। अपने विश्वस्त सेवकों से अपने घर से धन मँगाता रहा और नष्ट करता रहा। मनुष्य यदि धन का नाश करने लगे तो स्वर्ण की दीवारें भी एक दिन अदृश्य हो जाती है। उसका धन छीलर के जल-सा अल्प से अल्पतर होता गया। परिवार मे अनेक भले-वुरे अवसर आये—पर वह घर न गया। उसकी माता का निधन हो गया, किन्तु वह प्रेयसी की स्नेह-कारा में स्वतः वद्ध रहा। और एक दिन पिता का भी स्वर्गवास हो गया। उसके पास शोक-संदेश भेजा गया, किन्तु वह फिर भी घर न गया। घर का सर्वस्व ही लुट जाने को उसके पास आता रहा। उसका घर रिक्त होता रहा और वेश्या सम्पन्न होती रही। वेचारी रुक्मिणी दयनीय अवस्था से घिर गयी। वह सर्वथा अभागिन और अनाश्रित थी। धनश्रेष्ठी के निधन हो जाने पर उसने जव देखा कि काले धागे में वँधा स्वर्ण का एक तावीज उनके कंठ में है तो उसने तावीज उतारकर अपनी पहुँची में वॉध लिया। एक दिन ऐसा भी आ गया जव इस तावीज के अतिरिक्त घर में कुछ भी शेष नहीं वचा। अन्न के भी लाले पडने लगे। वेचारी रुक्मिणी को तो अपने श्वसुर द्वारा छिपाये गये धन का भी ज्ञान न था। दास-दासियों भी कव तक ऐसे अभावग्रस्त घर की सेवा में रहते। वे भी जहॉ अवसर मिला, चले गये। विवश होकर रुक्मिणी भी अपने पितृ-गृह चली गयी। घर सूना हो गया, सर्वथा वीरान। घर के युवाओं के आचरण के आधार पर ही घर की दशा वनती-विगड़ती चलती है। युव जन कुमार्गी हो जावें, फिर भला घर-वार की कुशल कैसे रहे। जव वेश्या कामलता को धन की प्राप्ति न होने लगी तो उसने धनकेलि की ओर से ऑखें फिरा ली। वेश्या का तो धन ही धर्म होता है, धन ही कर्म और मर्म होता है। उसने एक दिन धनकेलि को घर से निकाल वाहर किया। अपने कुकर्मों का आभास उसे किसी मे आश्रय भी नहीं मॉगने देता था। वह द्वार-द्वार का भिखारी हो गया।

अब वह नाम मात्र का ही धनकेलि रह गया था। वह अब घर भी जाता तो किस मुँह से जाता। घर में अब था ही क्या और था ही कौन? उसकी दीन-हीन दशा तो उसके दुःखों का कारण थी ही, उसका अन्तर उसे और अधिक प्रताडित करता था। पर-स्त्रीगमन का विकार उसके पतन का कारण बना। वेश्या का तो काम ही प्रवंचित करते रहना होता है, उसकी बुद्धि ही विकारग्रस्त हो गयी। उसने अपने माता-पिता की अन्तिम सेवा भी नहीं की, अपनी प्रिय गुणवती पत्नी को भी उसने बहुत दुःख पहुँचाया। उसे तो नरक की यातना भी मिले तो उसके पापों का यह परिणाम अत्यल्प होगा। यमराज उसके टुकड़े-टुकड़े भी कर दे तो कम है। उसका दुष्कर्म है ही ऐसा वीभत्स।

चम्पानगरी की राहों में ठोकरें खाता धनकेलि घर-घर की दुत्कारें पाता रहा। कभी कोई दया कर एक-आध रोटी दे देता तो उसके सहारे वह अपने पापी जीवन को घसीटता चलता। अपने दुर्दिन उसे कटते भी प्रतीत नहीं होते और मृत्यु भी कहीं दूर-दूर तक दिखायी नहीं देती थी। अपनी समस्त दयनीयता के बावजूद भी वह किसी की सहानुभूति का पात्र नहीं बन सका, सभी को उससे घृणा और वितृष्णा हो गयी थी। क्षीण काय धनकेलि के वस्त्र मैले-कुचैले, स्थान-स्थान से फट गये थे। दाढ़ी बढ़ गयी और केश भी जटाजूट से हो गये। वह विक्षिप्त-सा चम्पा की वीथियों में डबडबाई आँखें लिए भटकने लगा। मक्खियों के समूह-के-समूह भिनभिनाते रहते। कुत्ते उसे देखकर भौंकते और अपने आतंक से उसे भाग खड़ा होने के लिए विवश कर देते। इस श्रम से वह हॉफ–कॉप उठता। धीरे-धीरे वह सबसे विस्मृत हो गया। लोग पगला भिखारी के नाम से ही उसकी चर्चा किया करते थे। कुछ दिनों बाद तो वह पगला भिखारी चम्पानगरी में अदृश्य ही हो गया। वह नगर छोड़कर चला गया। वह दुःखी था, किन्तु उसने मानसिक संतुलन खोया नहीं था, यद्यपि वह देखने-सुनने में अवश्य विक्षिप्त-जैसा लगने लगा था। उसने एक के पश्चात् एक अनेक ग्राम पार कर लिये और अन्ततः वह कौशाम्वीपुरी पहुँच गया। कुछ दिन वह इस नगर में भी भटकता रहा।

एक दिन वह तनिक से खुले स्थल पर पहुँचा और वहाँ का शान्त वातावरण उसे भा गया। एक वृक्ष-तले पत्थरों से निर्मित एक चवूतरा भी उसे दिखायी दे गया। उसने उसी को अपना आश्रय-स्थल वना लिया था। समीप के एक कुएँ से वह एक हँड़िया में जल भर लाता और वृक्ष-तले पड़ा रहता। उसे इस दुर्गति के कारण ही कहीं कोई श्रम-कार्य भी नहीं मिल पाता था। भिक्षा में जव कभी कुछ मिल जाता–वह खा लेता, अन्यथा पानी पीकर रह जाता। इस वृक्ष से कुछ हटकर सामने की ओर एक वड़ी हवेली थी। एक महिला कभी-कभी हवेली से आकर उसे कुछ खाने को दे जाती थी। अनायास ही पगले भिखारी के लिए उसके मन में दया का भाव जाग्रत हो गया था। धनकेलि को आवश्यकता ही नहीं लगी कि उस स्त्री का परिचय जाने।

एक वार वहुत रात गये हवेली के मुख्य द्वार पर कुछ हलचल देखकर वह पगला भिखारी चौंक पड़ा। उत्सुकतावश वह छिपते-छिपाते ही द्वार तक जा पहुँचा। वही स्त्री द्वारपाल से कह रही थी–ले एक मोदक तू भी ले ले और मुझे कुछ समय के लिए वाहर जाने दे, शीघ्र लौट आऊँगी, चिन्ता न कर, तुझ पर कोई संकट नहीं आयेगा। द्वारपाल निष्ठावान था। कर्त्तव्य-पालन की दुहाई देते हुए उसने द्वार न खोला, सो नही खोला। विवश हो वेचारी वह स्त्री भीतर ही लौट गयी। कर्त्तव्य-पालन भी एक साधना है और उच्च्य कोटि की साधना है। ऐसे साधकों को इसके सुपरिणामों का लोभ होना तो दूर की वात है, दुष्परिणामों का भय भी नहीं होता। वेचारे इस द्वारपाल ने अपने स्वामी की आज्ञा का पालन किया था–दृढ़ता के साथ पालन किया था, इस निर्दोष को उसका दण्ड ही मिला। उस रात्रि मे जिस स्त्री ने द्वार खोल देने का अनुरोध किया था, वह गृह-स्वामी की पुत्री ही थी। उसकी स्वच्छन्दता मे वाधा जो आ गयी थी, वह उसे असहनीय प्रतीत हुई।

प्रात.काल ही समीप के वृक्ष के नीचे पड़े उस पगले भिखारी को उसने वुलवाया, उसे भोजन करवाया, पहनने को वस्त्र दिये। वह तो निहाल ही हो गया। स्त्री ने उससे पूछा–"तुम भीख क्यों माँगते हो? कोई काम क्यों नहीं खोज लेते !"

"मै भी अच्छे परिवार का हूँ, देवी ! यह तो कुसमय ने दुर्गति कर दी है मेरी ···· ।" धनकेलि ने कहा–"भीख माँगना मुझे भी अच्छा नहीं लगता। काम की खोज भी की, किन्तु किसी ने भी काम नही दिया। भूख वड़ी दुष्टा होती है। सन्मार्ग से घसीटकर यह मनुष्य को कुमार्ग पर ले आती है। उसके समस्त आत्म-गौरव को नष्ट कर देती है, उसकी आत्मा को ही शिथिल कर देती है। भूखा तो वेचारा नीति-अनीति के भेद को भी विस्मृत कर देता है।"

"अच्छा ···· अच्छा, धीरज रखो ····।" श्रेष्ठी-कन्या ने कहा–"दिन तो किसी के भी एक से नही रहते। पृथ्वी पर अंधकार भी छाता अवश्य है, किन्तु पुनः सूर्योदय भी होता है। तुम्हारा यह समय भी नहीं रहेगा ····।"

"क्या कहा, देवी ! क्या यह समय भी नहीं रहेगा? ···· माँगे से भीख भी नही मिलेगी ····?" पगला भिखारी सहसा रुआँसा हो उठा।

"नही जी ···· नहीं ! मेरा अर्थ तो यह है कि दीनता और भूख का यह समय भी अनन्त नहीं है। यह दुर्भाग्य की रात्रि भी वीतेगी और सुख का सवेरा तुम्हारे जीवन में आयेगा अवश्य?" श्रेष्ठी-कन्या ने प्रवोधन की मुद्रा में जव अपनी वात समझाई और कहा–"तुम निराशावादी हो गये हो न ···· इसी कारण तुमने मेरी वात का यह अर्थ ग्रहण कर लिया। अच्छा यह वताओ–यदि तुम्हें कोई नौकरी मिले तो क्या तुम करोगे?"

"अवश्य ···· अवश्य करूँगा, देवी ! क्यो न करूँगा ! उद्यम तो दुर्भाग्य से संघर्ष करने का अमोघ आयुध है।" "प्रसन्नता के साथ उसने कहा और उसका मुख-कमल मानो सूर्य की ज्योति पाकर खिल उठा।

"ठीक ही है, युवक ! तो तुम आज और इसी समय से हमारे भवन पर द्वारपाल का काम आरम्भ कर दो। और सुनो, तुम ....।" श्रेष्ठी-कन्या ने पूर्व द्वारपाल को अपदस्थ करते हुए कहा-"तुम आज से स्वतंत्र हो। जाओ .... अन्यत्र कहीं कार्य खोज लो।" उस पर गाज ही गिर गयी। बेचारे को उसकी निष्ठापूर्ण सेवा का दण्ड मिल गया। उसने कुंजियों का गुच्छा नये द्वारपाल को थमाया और चला गया। वह जानता था कि श्रेष्ठी-कन्या अपने पिता की इतनी लाड़ली है कि इसके किये को वे अन-किया कभी नहीं करेंगे, अतः उनसे निवेदन का भी कोई सार नहीं आयेगा। हुआ भी यही। कन्या ने अपने पिता को मात्र यही सूचित कर दिया था कि द्वारपाल नया रख लिया गया है। पिता ने भी कोई महत्ता इस विषय को नहीं दी। द्वारपाल बनकर धनकेलि तो बड़ी ही चुस्ती-स्फूर्ति से अपना कार्य दिनभर करता रहा। उसे अब आभास हुआ कि जिस भवन का वह द्वारपाल है-वही तो उसका ससुराल है। यह श्रेष्ठी-कन्या ही उसकी पत्नी रुक्मिणी है, किन्तु धनकेलि की दुर्दशावश रुक्मिणी उसे पहचान नहीं सकी।

गगनधूलि धनकेलि की कथा वर्णित करता जा रहा था और महाराज वीर विक्रम रस लेकर श्रवण करते जा रहे थे। रानी सुहागसुन्दरी यह समझ नही पा रही थी कि गगनधूलि यह कथा क्यों सुना रहा है। गगनधूलि ने अपनी कथा को अग्रसर करते हुए कहा-

हे राजन् ! वह प्रथम रात्रि आधी ही बीती होगी कि श्रेष्ठी-कन्या रुक्मिणी द्वार पर पहुँची। उसके हाथ में वही मोदक का थाल था। उसने द्वारपाल को एक मोदक दिया और द्वार खोल देने को कहा। द्वारपाल ने मोदक ले लिया और वैसा ही किया, जैसा करने को उसे कहा गया था। बड़ी नम्रता के साथ सिर झुकाकर आज्ञाकारिता का परिचय देते हुए उसने बिना कोई ध्वनि किये द्वार को किंचित् खोल दिया। रुक्मिणी बाहर निकल आयी और उसने तुरन्त ही मुस्तैदी के साथ द्वार पुनः बन्द कर दिया। विगत रात्रि से ही द्वारपाल के साथ जब रुक्मिणी का विवाद उसने सुना, धनकेलि के मन में एक तीव्र प्रश्न मचल रहा था कि यह इतनी रात गये जाना कहाँ चाहती है? यह अभिसार का विचार तो नहीं रखती है कहीं? और इसी कारण उसने उस रात्रि मे बिना किसी विवाद के द्वार खोल दिया था। उसके मन की जिज्ञासा ने उसके चरणों को प्रेरित किया और वह दबे पैरों श्रेष्ठी-कन्या का अनुगमन करने लगा। इस नगर में भी यह भटकता रहा था, गली-बाजारों से यह परिचित हो गया था। कुछ दूरी पर जाकर रुक्मिणी रुकी और सावधानी के साथ इधर-उधर झाँकने लगी। पीछे मुड़कर वह देखने को हुई और धनकेलि शीघ्रता के साथ एक भवन की ओट में छिप गया। त्वरा के साथ रुक्मिणी एक गली में मुड़ी और दौडती हुई-सी गति के साथ बढ़ गयी। उसकी आहट से आसपास की छोटी-मोटी गलियों से कुत्ते निकलने लगे। उनका मुँह बन्द करने को मोदक खिलाती वह आगे के एक चौराहे पर पहुँच गयी। द्वारपाल ने

देखा तो दंग रह गया–इस स्त्री के चरित्र और इसकी चालाकी पर। क्या इसी उद्देश्य से इसने मुझे भी मोदक दिया था। इस विचार ने एक क्षण को उसे विचलित कर दिया। उसने स्व-नियंत्रित और सहज होते हुए जो आगे देखा तो पाया आगे के कुछ खुले-खुले स्थल पर रुक्मिणी पहुँच गयी थी और बीचोबीच के वृक्ष के नीचे पहुँचकर वह इधर-उधर उद्विग्नता से ताकने लगी। तभी समीप के एक अन्य वृक्ष की ओर से निकलकर एक युवक आया। इस नगर से बाहर के सूने स्थल से वह कामाधीर युवक निश्शंक था। वह आवेश में लपककर आया और रुक्मिणी को एक भरपूर शक्ति का थप्पड़ जड दिया–"कल कहाँ रह गयी थी, कुलटा ! मैं तेरा इन्तजार ही करता रहा पिछली रात तक। वोल ···· ।" उसने फिर हाथ उठा लिया।

स्व-रक्षा के लिए अपने दोनों हाथों की ओट बनाते हुए वह बेचारी बोली– "क्षमा करें, प्राणनाथ ! द्वारपाल ने द्वार ही नहीं खोला कल ···· आज नया द्वारपाल था, सो ···· ।"

"चुपकर ···· चुपकर निर्लज्ज, वहाने मत बना।" क्रोधपूर्वक उस जारज-प्रेमी ने डपटते हुए कहा–"तेरा द्वारपाल और तेरे ही लिए उसने द्वार न खोला ····? हें ···· ऐं ····? कल किसी अन्य यार के साथ गुलछर्रे उडाती रही होगी।"–क्रोध में पागल प्रेमी ने फिर एक थप्पड़ लगा दिया तो चक्कर खाकर वह भूमि पर गिर पडी और उसकी पहुँची से खुलकर स्वर्ण-तावीज दूर जा गिरा। इसी वृक्ष की आड़ में छिपा खडा द्वारपाल धनकेलि यह सारी लीलाएँ देख रहा था।

रुदनशीला रुक्मिणी ने भर्राये-से स्वर में कहा–"मेरे प्राणेश्वर ! मेरा विश्वास क्यो नही करते तुम। अव द्वारपाल की वाधा नहीं रह गयी है। मै नित्य आऊँगी। अव रुष्ट न वनो।" यह कहती हुई वह उठी और अपने प्रिय की कटि मे वॉह डालकर वह हौले-हौले समीप की झाड़ियों की ओर वढ गयी। जो उसकी पत्नी है, उसे पर-पुरुप के साथ रंगरेलियाँ मनाते हुए देखकर वह कैसे सहन कर सकता था, किन्तु परिस्थितियों की विवशता से वह शान्त वना रहा। अन्य कोई मार्ग ही न था। चुपचाप वह वृक्ष की ओट से निकला और भूमि पर पडा तावीज उठाकर वह हवेली की ओर चल दिया।

जव कोई एक घटिका के पश्चात् रुक्मिणी अपने आवास पर पहुँची तो पाया कि द्वारपाल अपने कर्त्तव्य पर सजगता के साथ उपस्थित है। त्वरा के साथ वह भवन में प्रविष्ट हो गयी। भोर होते-होते उसने रात वाला तावीज जो निकाला तो निकलते-निकलते वह मंजूपिका-सा तावीज खुल-सा गया। उसके भीतर से एक पत्र-खण्ड झाँकने लगा। उसकी जिज्ञासा अभिवर्धित हो गयी। पत्र निकालकर देखा तो यह अनुभव होने लगा। धनकेलि को कि यह तावीज नहीं; उसका भाग्य ही खुल गया है। वह तो मारे प्रसन्नता के अब पागल-सा हो उठा। उसे ज्ञान जो हो गया कि

चम्पानगरी में उसके पैतृक आवास में अमुक स्थलों पर चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ भूमिगत रूप में सुरिक्षत रखी हैं। धनाभाव व्यक्ति को जितना शिथिल कर देता है, धन उपस्थित होकर उसे अनेक गुणा सक्रिय कर देता है। उसकी चेतना, उमंग और उत्साह लौट आते हैं और वह कुछ करने को छटपटाने लगता है। इसी स्थिति में धनकेलि तत्काल ही चन्द्रपुर से प्रस्थान कर चम्पानगरी की ओर बढ़ गया। यही ताबीज कभी से रुक्मिणी के पास था, किन्तु उसे कोई फल न मिला और धनकेलि के पास आकर उसने सूर्योदय रूप में मानो भाग्योदय ही कर दिया। उसकी रंकता का ॲधियारा छॅट गया। यह धनकेलि के अशुभ कर्मो के अभावों की इति और शुभ कर्मों के पुण्यों के प्रभावों का पुनर्श्रीगणेश था। रुक्मिणी को कभी ताबीज के रहस्य को ज्ञात कर लेने की जिज्ञासा ही नहीं हुई। यह भी कर्म-प्रभाव था और धनकेलि को ताबीज खुली पुस्तक-सा ही मिला—यह सुयोग भी कर्माधीन ही था।

धनकेलि के तो विगत सुख के सुदिन लौट आये। उसने गुप्त धन हस्तगत कर भवन को पुनर्सज्जित कराया, व्यवसाय को संगठित कर लिया। लाभ भी पूर्वापेक्षा अधिक रहने लगा। उसकी विदेश व्यापार की पूर्व चल इकाइयॉ भी पुनः सक्रिय हो गयीं। दूर-दूर तक उसकी सामग्रियों का क्रय-विक्रय होता। धनकेलि ने कुछ ही समय में अपनी पूर्व प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर लिया और उसका जीवन सुखमय हो गया, वैभवपूर्ण हो गया।

इसे सारे अनुकूल परिवर्तन के पश्चात् धनकेलि कौशाम्बीपुर आया। रुक्मिणी के पिता ने अपने जामाता का भव्य स्वागत किया। चन्द्रश्रेष्ठी भी उल्लसित था और धनकेलि भी प्रसन्न था। इन दोनो से ही अधिक उमंगित थी रुक्मिणी। उसका तो सोया सौभाग्य ही जाग्रत हो गया था। किन्तु अपने पतिदेव की उपेक्षा पाकर वह बुझ-सी गयी। उसकी ओर धनकेलि ने दृष्टि भी नहीं की। धनकेलि ने श्रेष्ठी-भवन के अतिथि-कक्ष में ही विश्राम किया। शयन के समय रुक्मिणी भी वहाँ पहुॅच गयी। उसने पाया कि उसके पति को निद्रा आ रही है। वह शय्या पर धनकेलि के 'पगाड़ी' बैठकर चरणचम्पी करने लगी। उसका स्पर्श पाते ही धनकेलि चौंककर उठ बैठा।

"क्या हुआ, स्वामी ! आप तो व्याकुल हो उठे। क्या कोई ····? आप क्या ····?"

"हॉ ···· तुमने मुझे जगाकर अच्छा नहीं किया। मेरा स्वप्न भंग कर दिया।"

धनकेलि के इस कथन पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए रुक्मिणी ने पूछा—"मेरे प्राणेश्वर ने ऐसा कौन-सा स्वप्न देखा, जिसके अपूर्ण रह जाने पर इतने विचलित हो गये? हॉ ····?"

– "स्वप्न तो स्वप्न ही होता है, रुक्मिणी ! किन्तु यह स्वप्न मेरे जीवन से सम्वन्धित रहा और वह साकार हो गया ····।"

– "ऐसा साकार हो जाने वाला कौन-सा स्वप्न था, तनिक मैं भी तो सुनूँ। तब तो उस स्वप्न में मैं भी रही अवश्य हूँगी.... थी न मैं उसमें?"

"कह नही सकता, किन्तु कदाचित् तुम ही उस स्वप्न में नायिका रही हो।.... मै तुम्हे वह स्वप्न-कथा सुनाता हूँ।" एक-दो क्षणों का विराम लेकर कुछ स्मरण करने की मुद्रा में उसने कथनारंभ किया—मुझे एक श्रेष्ठी-कन्या ने अपने यहाँ द्वारपाल रख लिया था। पहली रात्रि में ही कन्या द्वार पर आयी और मुझे एक मोदक देकर उसने द्वार खुलवा लिया और बाहर चली गयी। मैं भी जिज्ञासावश उसके पीछे हो लिया। वह तो बड़ी साहसिक स्त्री निकली। अर्द्ध-रात्रि को वह अपने जारज-प्रेमी से भेट करने गयी थी। क्या तुम ऐसी स्त्री को कुलटा नहीं मानोगी? कुपित प्रेमी ने स्त्री को एक थप्पड़ मार दिया और बोला कि तू कल क्यों नहीं आयी? मैं रातभर प्रतीक्षा करता रहा। थप्पड़ खाकर स्त्री तो भूमि पर गिर पड़ी और स्वर्ण-निर्मित एक तावीज छिटककर दूर जा गिरा। मैं वृक्ष की ओट से निकला और चुपके से मैंने तावीज उठा लिया। यह स्वप्न-कथा सुनते-सुनते रुक्मिणी तो कॉपने लग गयी, पसीना-पसीना हो गयी। जब वह तावीज दिखाते हुए धनकेलि ने कहा—"मैने तो स्वप्न मे इसे उठाया था, महान् आश्चर्य है कि यह तो वास्तव में अभी भी मेरी मुट्ठी में दवा हुआ था। यह .... यह क्या हुआ? मैं कुछ समझ नही पा रहा। इसी से तो कह रहा हूँ यह स्वप्न साकार हो गया।"

धनकेलि को उसका सारा चरित्र-पतन ज्ञात हो गया है—रुक्मिणी को यह विश्वास हो गया और वह चिन्तित—आतंकित हो उठी। भविष्य का अंधकार उसके नेत्रो के समक्ष गहनतर होने लगा और वह मूर्च्छित हो गयी। उसके हृदय पर भारी आघात लगा। वह कुछ क्षणो में विकलता के साथ तडपने लगी और उसके पतित प्राण उसकी अपावन देह को त्यागकर चले गये। इस घटना ने तो धनकेलि को भीतर तक विचलित कर दिया। उसे तुरन्त ही एक युक्ति सूझी। वह उठा और रुक्मिणी की मृत देह को कधे पर लादकर उस स्थल पर रख आया जहॉ वह अपने जारज-प्रेमी से मिला करती थी। धनकेलि एक वृक्ष की ओट मे छिपा था। कुछ ही समय मे उसका प्रेमी आया और वड़वडाने लगा—"वेश्या कहीं की। आज आई भी है तो आकर यहॉ सो गयी है। अकड तो देखो इसकी।" क्रुद्ध होकर उसने एक तीव्र पदाघात किया। रुक्मिणी का मृत शरीर लुढ़क गया—"अरे ! यह क्या हुआ? यह तो मर गयी। एक ही लात मे इसके तो प्राण-पखेरू उड़ गये। अव मैं क्या करूँ।" उसने कुछ सोचा और नव मृतक तन को कॉधे पर लादकर एक गड्ढे मे फेक दिया। एक दुष्टात्मा का इस प्रकार अन्त हो गया। धनकेलि लौटकर अपने कक्ष मे सो गया।

प्रातः जव रुक्मिणी की खोज होने लगी तो धनकेलि ने सभी को गत रात्रि का वृत्तान्त कह सुनाया। दुष्टो का मरण सज्जनों को शोभित नहीं करता। रुक्मिणी की

अनुजा थी सुरूपा। सुरूपा श्वेत पुष्पो का एक हार लेकर आ उपस्थित हुई। उसने अपनी अभिलाषा प्रकट की कि धनकेलि उसे अपनी जीवन-संगिनी बना ले।

चन्द्रश्रेष्ठी भी उस समय वहीं उपस्थित थे। उन्होंने इस सम्बन्ध के लिए अपनी सहमति व्यक्त करते हुए धनकेलि से ही इसे स्वीकार कर लेने का अनुरोध किया। धनकेलि को असमंजस की स्थिति में देखकर श्रेष्ठी ने कहा–"सत्य है कि रुक्मिणी और सुरूपा दोनों सहोदरा हैं, किन्तु दोनों के गुण-लक्षणों में भारी अन्तर है। ऐसा न माना जाय कि सुरूपा भी अपनी अग्रजा-जैसी निकलेगी। सहोदराओं के भी भाग्य और कर्मविधान तो भिन्न-भिन्न होते हैं।" कोई शंका न रखकर सुरूपा को स्वीकार करने का अनुरोध जब श्रेष्ठी ने किया तो उनके तर्क से धनकेलि भी संतुष्ट हुआ और उसने अपनी स्वीकृति दे दी। यथासमय यह परिणय सम्पन्न भी हो गया और नव-दम्पति का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा।

एक दिन सुरूपा ने अपने पतिदेव से कहा–"देखिये यह श्वेत पुष्पों की वरमाला, कितना समय हो गया कि जब मैंने आपको धारण करायी थी। आज भी इसके सारे पुष्प अपने प्रथम दिवस जैसे ही ताजा बने हुए हैं। किसी भी पुष्प का मुर्झाना तो दूर रहा, उसकी कान्ति भी मलिन नहीं हो पायी है।"

धनकेलि ने खूँटी पर लटकते हार को देखा और पाया कि सुरूपा का कथन तो सर्वथा सत्य है। इससे पूर्व इस आश्चर्यजनक तथ्य की ओर उसका कभी ध्यान ही नहीं गया–"सचमुच ये तो मुर्झाये नहीं, सुरूपा ऐसे विचित्र पुष्प तुम्हें मिले कहाँ से? ये कब तक यथावत् बने रहेंगे, प्रिये !"

"विचित्रता ! फूलों की नहीं है, स्वामी ! ये तो मेरे सतीत्व के बल पर तरोताजा हैं। आप कल व्यापारिक प्रवास पर जा रहे हैं न···· ! मैं आज आपको वही पुष्पहार पुनः धारण कराती हूँ। इसे सदा ही धारण किये रहिये। जिस दिन मेरा शील विचलित होगा इसके पुष्प मुर्झा जायेंगे। यह हार मेरे पातिव्रत्य का प्रतीक है, मेरे देवता ! इसकी सूचना के बिना मुझ पर वृथा आशंका कर आप मेरा भी और स्वयं अपना भी जीवन दुःखमय मत बना लेना।"

"ओह ! तो यह रहस्य है इस माला का कि इसके पुष्प बारह वर्षो में भी यथावत् बने हुए हैं?" महाराज ने असमंजस व्यक्त करते हुए कहा–"तो तुम ही हो रुक्मिणी के पति धनकेलि ! फिर ये गगनधूलि !"

"जी, मैं ही धनकेलि हूँ···· मैं ही गगनधूलि हूँ···· मैं ही सती शीलवती सुरूपा का जीवन-संगी हूँ। जब आरम्भ में मैं धनकेलि अपने अनेक छकड़ों आदि में व्यवसाय सामग्री लादकर प्रवास पर रहता था तो मेरे वाहनों–अश्वों से धूलि का अम्बर आकाश में ऊपर–बहुत ऊपर तक उठ जाता था। लोक प्रचलन में इसी कारण मेरा एक और नाम गगनधूलि भी हो गया। यही नाम इतना अधिक लोकप्रिय हो गया कि मेरा वास्तविक नाम लोगों द्वारा विस्मृत ही कर दिया गया और मैं केवल गगनधूलि ही रह गया, राजन् ! यही इस विचित्र पुष्पहार की कथा है।"

महाराजा वीर विक्रम को यह कथा सुनकर कुछ विचित्र, कुछ असामान्य-सा प्रतीत हुआ। एक असाधारण विचार उनके मन में उठा और वे असंयत से सहसा बोल उठे—"आहा ···· हा ····· ! बड़ी ही उपयोगी माला है। क्या ही अच्छा होता यदि ऐसा ही एक पुष्पहार तुम्हारी पत्नी सती सुरूपा के कण्ठ में तुम्हारे द्वारा धारण कराया गया होता। उसके पुष्प भी तभी तक तरोताजा रहते जब तक तुम्हारी प्रीति सुरूपा में एकनिष्ठ रूप में रहती। ज्यों ही तुम एक पत्नीव्रत से विचलित होते—उसके हार के पुष्प मुर्झा जाते।" महाराज एक क्षीण-से हास के साथ फिर वोल उठे—"यदि ऐसा होता तो सुरूपा का हार आज मुर्झा गया होता।"

गगनधूलि का शीश लज्जावनत् हो गया। उसके मुख पर अपने किये पर पश्चात्ताप पुत गया। सुहागसुन्दरी को तो काटो तो खून नहीं। वह तो जैसे प्रस्तर की मूर्ति हो गयी और उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधाराएँ प्रवाहित होने लगीं। "गगनधूलि ! यदि हमारे कंठ में ऐसा हार रानी ने पहनाया होता तो तुम जानते हो उस हार की क्या स्थिति हो गयी होती।"—महाराज वीर विक्रम ने शान्ति और धैर्य के साथ कहा—"हे गगनधूलि ! हमें अभी तुम्हारी इस माला की प्रतीकात्मकता पर अर्द्ध-विश्वास ही है। सुरूपा की सतीधर्म की ही सत्य-सत्य सूचना इससे मिल भी रही है या नहीं? क्या उसका शील वास्तव में अविचल वना हुआ है? त्रिया-चरित्र का पार पाना अत्यन्त कठिन है। हम-जैसे सहज विश्वासी प्रवंचित होते ही रहते हैं। हम देखना चाहते हैं कि तुम्हारे हार के पुष्प मुर्झा जाएँ और उस अवस्था मे हम उन्हे देख सकें।"

"यह असभव है, महाराज ! सर्वथा असंभव है। वारह वर्षो में जो अब तक घटित न हुआ, वह आगे भी असंभव ही रहेगा।"

गगनधूलि के इस कथन के उत्तर में महाराज ने कहा—"युद्ध के पूर्व ही पराजय स्वीकार कर लेने मे कोई विवेकशीलता नहीं। सचाई को भी परख करके ही मानना चाहिए। हम सुहागसुन्दरी के शील की परीक्षा कर चुके हैं। त्रिया-चरित्र की भूमिका सदा उलझन-भरी ही रहती है। एक ही पत्थर से दुवारा ठोकर खाने वाले विवेक-शील नही कहे जा सकते, गगनधूलि ! सुहागसुन्दरी के विपय में तो हमें निर्णय करना ही है। हम सुरूपा के शीलव्रत की दृढ़ता की भी परीक्षा कर लेना चाहेंगे।"

"अवश्य करें, महाराज ! मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि वह सुदृढ़ शीलवती स्त्री है और उसे अपने शीलव्रत से विचलित नही किया जा सक्ता।"

× × ×

महाराज ने उसी संध्या को मूलदेव और शशीभृत को अपने पास वुलवाया। ये दोनो सहोदर वंधु वडी तीव्र वुद्धि के, वडे ही चतुर और युक्तिपूर्ण और महाराज के अत्यन्त विश्वस्त सेवक थे। अनेक जटिल समस्याओं के समाधान में इनकी कौशलपूर्ण भूमिका का महत्त्वपूर्ण योगदान सभी जानते-मानते थे। जिस काम का वीड़ा वे उठाते, उसे सफलतापूर्वक सम्पन्न करके ही दम लेते थे।

महाराज ने उनके उपस्थित हो जाने पर गगनधूलि और सुरूपा का सविस्तार परिचय दिया और उन्हें आभास करा दिया कि श्रेष्ठी-पत्नी सुरूपा का विचलित करना साधारण कार्य नहीं है और तब मूलदेव से प्रश्न किया—"क्या तुम सुरूपा को उसके शीलव्रत से डिगा सकोगे?"

इस सीधे-सीधे प्रश्न का सपाट-सा उत्तर देते हुए मूलदेव ने कहा—"अपने सेवक के चातुर्य पर विश्वास कीजिये, प्रभो ! आपके आशीर्वाद से आज तक तो कहीं मैंने मुँह की खायी ही नहीं है, यह कार्य सिद्ध कर देने में भी मुझे कोई संदेह नहीं है। मैं अवश्य सफल रहूँगा, श्रीमानेश्वर !"

"फिर सोच लो, मूलदेव ! तुम समझो कि यह कार्य सुगम है तो यह तुम्हारी भूल होगी। पर्वत तो आँधियों में भी अविचल रहते हैं। फूँक से हथेली पर धरी राई भी कठिनाई से उड़ पाती है, पर्वत के तो झाड़ियों के पात भी न हिल पाएँगे, मूलदेव !"

"आपका कथन सत्य ही है, महाराज ! किन्तु यदि उसका शील पर्वत है तो मेरे प्रयत्न भी ज्वालामुखी हैं। पर्वत को कण-कण करके बिखेर देंगे।" आत्म-विश्वास के साथ मूलदेव ने कहा—"आपका चाकर हूँ, स्वामी ! इतनी विशेषता तो होनी ही चाहिये।"

"आत्म-विश्वास सफलता की कुंजी है, किन्तु तभी—जब वह निर्मूल न होकर सत्याधारित हो, वास्तविक हो—मात्र वाचिक ही न हो।" महाराज ने प्रबोधन के स्वर में कहा—"मूलदेव, हमारा प्रयोजन तुम्हें भीत या आतंकित करना नहीं है। हम तो तुम्हें इस कार्य की गुरुता और दुरूहता से परिचित करा देना मात्र चाहते हैं। जाओ और सफल होकर ही लौटो यह आवश्यक है, तभी उसके हार के पुष्प मुर्झाएँगे।"

"श्रीमानेश्वर ! किन पुष्पों की चर्चा है?"

"तुम न समझोगे अभी, मूलदेव ! तुम न समझ सकोगे अभी। समय आने पर तुम्हें स्वतः सब ज्ञात हो जायेगा। अभी तो तुम्हें यही परीक्षा करनी है कि उसका शील अविचल है या नहीं? यह वस्तुतः सुरूपा की परीक्षा है। तुम्हारे प्रयत्न कसौटी होंगे इसमें। जाओ राजकोष से अपेक्षित धन भी ले जाओ।"—महाराज ने अनुमति प्रदान कर दी और "जैसा आदेश राजेश्वर का"—कहते हुए मूलदेव ने नमन कर प्रस्थान किया। शशिभृत भी उसी के साथ विदा हो गये।

शीघ्र ही मूलदेव चम्पानगरी में पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर उसे गगनधूलि की हवेली खोजने में भी कुछ कठिनाई नहीं हुई। उसने पाया कि उस भव्य हवेली के द्वार से निकलकर एक वृद्धा कुछ ही दूरी पर अपने घर में प्रविष्ट हुई। उस चतुर व्यक्ति को स्रोत मिल गया। इस वृद्धा को माध्यम वनाया जा सकता है—सुरूपा तक अपनी पहुँच का। ऐसा सोचते हुए समीप ही के एक मंदिर में वह चला गया और

वृद्धा के द्वार पर दृष्टि रखने लगा। मूलदेव ने संभ्रान्त जनोचित वस्त्र धारण कर रखे थे। वह चाहता था कि किसी प्रकार उसे वृद्धा के घर में आश्रय मिल जाय। वह यह भी भलीभाँति जानता था कि व्यक्ति को वश में करने की एक सफल युक्ति उसके लोभ की प्रवृत्ति को तुष्ट करना है। चातुर्य यह रहे कि जितनी प्राप्ति उसे हो जाय, उससे कहीं अधिक भावी प्राप्ति की आशा वनी रहे। फिर तो वह क्रीत दास-सा वना रहेगा। अन्ततः मूलदेव की प्रतीक्षा सफल हुई। संध्या समय वृद्धा अपने घर से निकलकर मंदिर की ओर बढ़ी ही थी कि तत्परता के साथ मूलदेव मंदिर की सीढियाँ उतरकर आँगन में आ खडा हुआ। वृद्धा भी समीप ही पहुँच गयी थी। मूलदेव ने आगे वढ़कर कहा–"पाँव लागूँ माँ !" और झुककर उसके चरण छू लिये।

"जीते रहो वेटे ! जीते रहो !!" वृद्धा ने आशीर्वाद देते हुए उसे गहरी दृष्टि से देखा, पूछा–"कौन हो वेटे तुम, मैंने पहचाना नहीं तुम्हें ?"

"कैसे पहचानोगी, माँ ! मैं तो एक परदेसी हूँ पर तुमने वेटा कह दिया है तो मुझे अपनी माँ ही मिल गयी। तुमको दूर से आते देखकर ही मुझे मेरे मन में लगा कि तुमसे ही मुझे माँ का स्नेह मिल सकता है। वाल्यावस्था में ही मैंने अपनी जननी को खो दिया था। तव से ही माँ का प्यार पाने को तरस रहा हूँ। मुझे अपना पुत्र ही समझो, माँ ! स्वीकार करो अपने वेटे की यह भेंट।" और उसने अपने कटिवंध से स्वर्ण-मुद्राओं की एक थैली निकालकर वृद्धा के हाथों में थमा दी। वृद्धा के अनुभवी हाथों ने पर्याप्त धन होने का अनुमान दिया और वह प्रसन्न हो गयी। उसके निस्तेज नेत्रों में एक नवीन चमक आ गयी।

वृद्धा ने प्रेम जताते हुए उससे कहा–"वेटे ! इसकी क्या आवश्यकता थी? पर मैं तुम्हारा मन नहीं दुःखाना चाहती।" पल्लू में थैली को लपेटती हुई वह वोली–"यहाँ नगर में रुके कहाँ हो, वेटे ?"

"रुकता कहाँ, माँ !.... परदेसी हूँ। इस नगर में मेरा कोई परिचय भी तो नही।.... किन्तु अव माँ ही मिल गयी है तो मुझे क्या चिन्ता !"

"ठीक कहता है, वेटे !.... तू ठीक ही कहता है। तू अव मेरे घर ही रहेगा। अन्यत्र नही जायेगा कही। चल, मेरे साथ चल।" लोलुप वृद्धा घर की ओर लौट चली और मूलदेव ने उसका अनुसरण किया। वृद्धा के मन में लोभ और मूलदेव के मन में प्रथम सफलता का हर्ष था। वृद्धा का छोटा-सा, किन्तु स्वच्छ घर था। अत्यल्प सामान इस वात का सूचक था कि वृद्धा धनहीन भी है और एकाकी भी। मूलदेव उसके घर मे रहने लग गया और प्रत्येक प्रातः वह वृद्धा को एक स्वर्ण-मुद्रा भें[illegible] करने लगा। वह तुष्ट और प्रसन्न हो गयी और उसकी अधिकाधिक आवभगत [illegible] लगी। मूलदेव ने वृद्धा का विश्वास जीत लिया। अव वह अपनी युक्तियों [illegible] करने लगा। एक दिन मूलदेव घर के आँगन में चुपचाप एकदम उदास-निराश [illegible] था। माँ जब वाहर से आयी तो उसकी यह मुद्रा देखकर वह

भी असामान्य हो उठी–"बेटे ! क्या बात है? तू आज इस प्रकार उदास क्यों हो गया? क्या कोई कष्ट है तुझे?" वृद्धा ने सहानुभूति दिखायी।

"माँ ! .... मेरी मॉ !! .... कष्ट तो बस एक ही है। ऊपर वाले ने सारे सुख दे रखे हैं, पर अब इस कष्ट का क्या करूँ? मैं तो ....।"

मूलदेव के इस कथन पर द्रवित होती-सी वृद्धा बोली–"मेरे प्यारे बेटे ! .... मुझे भी तो बता .... बात क्या है .... कदाचित् मैं भी तेरी कोई सहायता कर सकूँ।"

"माँ ! तेरी सहायता तो मेरे जीवन का आधार ही है। तेरे भरोसे ही तो मैं यहाँ निश्चिन्त हूँ। पर माँ ! कितनी सहायता कर सकेगी मेरी इस प्रसंग में .... मैं नहीं जानता।"

"तू बता तो सही। बिना कुछ जाने तो कोई क्या कर लेगा !"

"माँ ! मैंने अपने घर पर एक स्वप्न देखा था। एक देवी स्वप्न में प्रत्यक्ष हुई और उसने मुझे आदेश दिया कि चम्पापुर की सुन्दरी सुरूपा के पास जा और उसका एकाकीपन दूर कर। यह पुण्य तूने नहीं प्राप्त किया तो तुझे अपने सारे धन-वैभव से हाथ धोना पड़ जायेगा। अब मैं चिन्तित हूँ कि चम्पापुरी में कैसे तो सुरूपा को खोजूँ और कैसे उसके पास पहुँचूँ?" मूलदेव के इस कथन के अनन्तर उसका मुख पुनः लटक गया।

"बेटे ! जानती हूँ मैं उस सुरूपा को। पास ही की बड़ी हवेली उसी की है। तू तो ठीक स्थान पर ही पहुँचा है।"

वृद्धा के इस कथन से उत्साहित-सा होता हुआ वह तनकर बैठ गया। अपने नेत्रों को सायास फैलाते हुए बोला–"माँ, तब तो उसके पति का नाम गगनधूलि होगा। क्या वह अधिकतर प्रवास पर ही रहता है।"

"हाँ .... बेटे ! .... तुम ठीक ही कह रहे हो, किन्तु तुम्हें यह सब ज्ञात कैसे हुआ? परदेसी हो न तुम तो !"

वृद्धा ने जिज्ञासा व्यक्त की तो मूलदेव ने उसे शान्त करते हुए वोला–"स्वप्न से माँ ! स्वप्न में ही मुझे यह सब-कुछ ज्ञात हुआ है।"

मूलदेव के इस कथन से तो वृद्धा का विश्वास जम गया, मूलदेव के स्वप्न मे उसकी आस्था बन गयी। बोली–"बेटे ! तुम्हारा सपना तो सत्य ही है, किन्तु उस सुरूपा के पास जाना तुम्हारे लिए संभव न होगा।"

"क्यों .... क्यों .... मॉ ! ऐसा क्यों कहती है तू? तू तो अपने वेटे की सफलता के लिए सव-कुछ कर सकती है? क्या इतना-सा नहीं करेगी मॉ !"

निहोरे लेते हुए मूलचन्द ने कहा तो वेचारी वृद्धा द्रवित हो गयी। उसके नयनों के समक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ नाचने लगीं और उसके मुख से निकला–"करूँगी, वेटा ! ... मैं तेरी सहायता अवश्य करूँगी।"

"वस, स्वप्न की देवी के आदेश का पालन कर लूँ.... बस, मुझे और कुछ न चाहिये, माँ !" वड़ी अधीरता के साथ मूलदेव ने कहा और आदर व स्नेह के साथ उसने वृद्धा को वॉहों में भरते हुए, दीनता का लेप अपनी वाणी पर चढ़ाते हुए वोला–"माँ !.... मेरी अच्छी माँ !.... मेरी सहायता करो, माँ ! तुम मुझे अवश्य सफलता दिला दोगी, माँ ! मुझे विश्वास है।" यह कहते हुए उसने एक भारी-सी थैली वृद्धा को थमा दी।

– "अरे वेटा ! तू तो.... अव इसकी भला क्या आवश्यकता थी !"

– "नहीं, माँ ! हर काम में कुछ व्यय तो हो ही जाता है न ! और माँ ! काम हो जाने पर तो मै तुम्हें धन के ढेर पर ही आसीन कर दूँगा। बस.... मेरा....।"

वृद्धा तो धन के स्वप्नो में ही खो गयी। मूलदेव ने उसे अपनी कार्य-सिद्धि के प्रयोजन में अपनी सहकर्मी वना लिया। धन की लालसा ने उसे सक्रिय बना दिया।

सुरूपा के यहाँ इस वृद्धा का प्रायः आना-जाना बना ही रहता था। एक दिन उसने प्रासंगिक रूप में ही चर्चा चला दी। कहने लगी–"वेटी सुरूपा ! मैं तुम्हारे कष्ट को जान–समझ सकती हूँ। इतना अपार वैभव भी भला तुम्हारे क्या काम का? जव मन ही तृप्त और सुखी न हो।"

"नहीं, मौसी ! ऐसा कुछ भी नहीं है। तुम तो व्यर्थ ही चिन्ता कर रही हो। मुझे कोई दुःख नहीं है।" सुरूपा ने संतोष के साथ कहा।

"चिन्तित क्यों न होऊॅ?" मौसी वोली–"तू मेरी पुत्रीवत् है। पुत्री के दुःख से चिन्तित न होऊँ–ऐसी प्रस्तर-प्रतिमा भी तो नहीं हूँ मैं। तेरे पतिदेव दीर्घकाल तक परदेस मे वने रहें और तू यहाँ एकाकी जीवन व्यतीत करे, यह कोई कम संताप तो नही है।"

"वही तो कहती हूँ, मौसी ! कि मेरी चिन्ता करना छोड़ ही दो। मेरे प्रियतम सौ कोस पर भी रहें–मै उनसे पृथक् नहीं हूँ। उन्हें अपने हृदय में वसाकर रखती हूँ। मै एकाकी कहाँ हूँ।" कुछ क्षणों के विरामोपरान्त वह वोली–"मौसी ! व्यवसाय के कार्यो से प्रवास पर रहना तो सहज स्वाभाविक है, उनके लिए। उन्हें परदेस में जाना ही पडेगा–इतना मैं समझ सकती हूँ। फिर संताप किस वात का?"

"मेरी सुरूपा वेटी ! तू भी वड़ी निरीह.... वड़ी भोली है। भोजन के थाल का चित्र देखकर भी कहीं तृप्ति होती है। तेरे प्रियतम का निवास तेरे अन्तःस्थल मे रहे–यह तो कुछ ऐसा ही है। उससे अकेलापन तो और तीव्र हो जाता है।" प्रवोधन की मुद्रा में सुरूपा को समझाते हुए वह वोली। वृद्धा ने अनुकूल अवसर पाकर तुरन्त अपनी वात भी रख दी–"मेरे यहाँ एक अत्यन्त सज्जन युवक आया है। अत्यन्त गुणी और संभ्रान्त कुल का है। मैं उसे भेज देती हूँ तेरे पास। कुछ मन तो वहल जायेगा।" यह कहकर वृद्धा विना ही उत्तर की प्रतीक्षा किये उठ गयी और चल दी। वह 'ना' सुनना नहीं चाहती थी।

भी असामान्य हो उठी–"बेटे ! क्या बात है? तू आज इस प्रकार उदास क्यो हो गया? क्या कोई कष्ट है तुझे?" वृद्धा ने सहानुभूति दिखायी।

"मॉ ! .... मेरी माँ !! .... कष्ट तो बस एक ही है। ऊपर वाले ने सारे सुख दे रखे हैं, पर अब इस कष्ट का क्या करूँ? मैं तो ....।"

मूलदेव के इस कथन पर द्रवित होती-सी वृद्धा बोली–"मेरे प्यारे बेटे ! .... मुझे भी तो बता .... बात क्या है .... कदाचित् मैं भी तेरी कोई सहायता कर सकूँ।"

"माँ ! तेरी सहायता तो मेरे जीवन का आधार ही है। तेरे भरोसे ही तो मैं यहाँ निश्चिन्त हूँ। पर माँ ! कितनी सहायता कर सकेगी मेरी इस प्रसंग में .... मैं नहीं जानता।"

"तू बता तो सही। बिना कुछ जाने तो कोई क्या कर लेगा !"

"मॉ ! मैंने अपने घर पर एक स्वप्न देखा था। एक देवी स्वप्न में प्रत्यक्ष हुई और उसने मुझे आदेश दिया कि चम्पापुर की सुन्दरी सुरूपा के पास जा और उसका एकाकीपन दूर कर। यह पुण्य तूने नहीं प्राप्त किया तो तुझे अपने सारे धन-वैभव से हाथ धोना पड़ जायेगा। अब मैं चिन्तित हूँ कि चम्पापुरी में कैसे तो सुरूपा को खोजूँ और कैसे उसके पास पहुँचूँ?" मूलदेव के इस कथन के अनन्तर उसका मुख पुनः लटक गया।

"बेटे ! जानती हूँ मैं उस सुरूपा को। पास ही की बड़ी हवेली उसी की है। तू तो ठीक स्थान पर ही पहुँचा है।"

वृद्धा के इस कथन से उत्साहित-सा होता हुआ वह तनकर बैठ गया। अपने नेत्रों को सायास फैलाते हुए बोला–"माँ, तब तो उसके पति का नाम गगनधूलि होगा। क्या वह अधिकतर प्रवास पर ही रहता है।"

"हाँ .... बेटे ! .... तुम ठीक ही कह रहे हो, किन्तु तुम्हें यह सब ज्ञात कैसे हुआ? परदेसी हो न तुम तो !"

वृद्धा ने जिज्ञासा व्यक्त की तो मूलदेव ने उसे शान्त करते हुए बोला–"स्वप्न से माँ ! स्वप्न में ही मुझे यह सब-कुछ ज्ञात हुआ है।"

मूलदेव के इस कथन से तो वृद्धा का विश्वास जम गया, मूलदेव के स्वप्न में उसकी आस्था बन गयी। बोली–"बेटे ! तुम्हारा सपना तो सत्य ही है, किन्तु उस सुरूपा के पास जाना तुम्हारे लिए संभव न होगा।"

"क्यों .... क्यों .... माँ ! ऐसा क्यों कहती है तू? तू तो अपने बेटे की सफलता के लिए सब-कुछ कर सकती है? क्या इतना-सा नहीं करेगी मॉ !"

निहोरे लेते हुए मूलचन्द ने कहा तो बेचारी वृद्धा द्रवित हो गयी। उसके नयनों के समक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ नाचने लगीं और उसके मुख से निकला–"करूँगी, बेटा ! .... मैं तेरी सहायता अवश्य करूँगी।"

"बस, स्वप्न की देवी के आदेश का पालन कर लूँ.... बस, मुझे और कुछ न चाहिये, माँ !" बड़ी अधीरता के साथ मूलदेव ने कहा और आदर व स्नेह के साथ उसने वृद्धा को बाँहों में भरते हुए, दीनता का लेप अपनी वाणी पर चढ़ाते हुए बोला–"माँ !.... मेरी अच्छी माँ !.... मेरी सहायता करो, माँ ! तुम मुझे अवश्य सफलता दिला दोगी, माँ ! मुझे विश्वास है।" यह कहते हुए उसने एक भारी-सी थैली वृद्धा को थमा दी।

– "अरे बेटा ! तू तो.... अब इसकी भला क्या आवश्यकता थी !"

– "नहीं, माँ ! हर काम में कुछ व्यय तो हो ही जाता है न ! और माँ ! काम हो जाने पर तो मैं तुम्हें धन के ढेर पर ही आसीन कर दूँगा। बस.... मेरा....।"

वृद्धा तो धन के स्वप्नों में ही खो गयी। मूलदेव ने उसे अपनी कार्य-सिद्धि के प्रयोजन में अपनी सहकर्मी बना लिया। धन की लालसा ने उसे सक्रिय बना दिया।

सुरूपा के यहाँ इस वृद्धा का प्रायः आना-जाना बना ही रहता था। एक दिन उसने प्रासंगिक रूप में ही चर्चा चला दी। कहने लगी–"बेटी सुरूपा ! मैं तुम्हारे कष्ट को जान–समझ सकती हूँ। इतना अपार वैभव भी भला तुम्हारे क्या काम का? जब मन ही तृप्त और सुखी न हो।"

"नहीं, मौसी ! ऐसा कुछ भी नहीं है। तुम तो व्यर्थ ही चिन्ता कर रही हो। मुझे कोई दुःख नहीं है।" सुरूपा ने संतोष के साथ कहा।

"चिन्तित क्यों न होऊँ?" मौसी बोली–"तू मेरी पुत्रीवत् है। पुत्री के दुःख से चिन्तित न होऊँ–ऐसी प्रस्तर-प्रतिमा भी तो नहीं हूँ मैं। तेरे पतिदेव दीर्घकाल तक परदेस में बने रहें और तू यहाँ एकाकी जीवन व्यतीत करे, यह कोई कम संताप तो नहीं है।"

"वही तो कहती हूँ, मौसी ! कि मेरी चिन्ता करना छोड़ ही दो। मेरे प्रियतम सौ कोस पर भी रहे–मैं उनसे पृथक् नही हूँ। उन्हें अपने हृदय में बसाकर रखती हूँ। मैं एकाकी कहाँ हूँ।" कुछ क्षणों के विरामोपरान्त वह वोली–"मौसी ! व्यवसाय के कार्यो से प्रवास पर रहना तो सहज स्वाभाविक है, उनके लिए। उन्हें परदेस में जाना ही पड़ेगा–इतना मैं समझ सकती हूँ। फिर संताप किस बात का?"

"मेरी सुरूपा वेटी ! तू भी बड़ी निरीह.... वड़ी भोली है। भोजन के थाल का चित्र देखकर भी कहीं तृप्ति होती है। तेरे प्रियतम का निवास तेरे अन्तःस्थल में रहे–यह तो कुछ ऐसा ही है। उससे अकेलापन तो और तीव्र हो जाता है।" प्रवोधन की मुद्रा में सुरूपा को समझाते हुए वह बोली। वृद्धा ने अनुकूल अवसर पाकर तुरन्त अपनी वात भी रख दी–"मेरे यहाँ एक अत्यन्त सज्जन युवक आया है। अत्यन्त गुणी और संभ्रान्त कुल का है। मैं उसे भेज देती हूँ तेरे पास। कुछ मन तो बहल जायेगा।" यह कहकर वृद्धा विना ही उत्तर की प्रतीक्षा किये उठ गयी और चल दी। वह 'ना' सुनना नहीं चाहती थी।

तभी उसे रोकते हुए सुरूपा ने कहा–"मौसी ! मैं तो तुम्हें बड़ी भली मानती थी। तुम ऐसा प्रस्ताव कर सकती हो–यह स्वप्न में भी मैं नहीं सोच सकती। तुम किस सज्जन पुरुष की बातें करती हो ! पुरुष तो मेरे लिए जगत् भर में बस एक ही–मेरे पतिदेव हैं। शेष समस्त तो स्त्रीवत् हैं। मैं शीलव्रत की पुजारिन नहीं, इसकी रक्षिका हूँ। शीलत्व ही मेरा जीवन है, यही मेरा सर्वस्व है। भूलकर भी कभी ऐसी चर्चा मेरे समक्ष न करना, समझीं ?"

मौसी बेचारी तो सुरूपा का तेवर देखकर अपना मुँह लिए लौट गयीं। उसका साहस कई दिनों तक पुनः यह चर्चा आरंभ करने का नहीं हुआ। उसने सुरूपा के अचल सतीत्व और दृढ़ मनस्कता का संदर्भ देते हुए मूलदेव को भी बोध कराया कि उसके प्रयत्नों में उसे विफलता ही हाथ लगेगी। मूलदेव फिर भी वृद्धा को उत्साहित करता रहता था–"माँ ! प्रयत्न करने से तो असंभव कार्य भी संभव हो जाते हैं, यह कार्य तो मात्र कठिन ही है। तू इतना शीघ्र हथियार डालने वाली तो है नहीं। प्रयत्न करती रहेगी तो तुझे सफलता और मुझे सुख एक-न-एक दिन तो मिलकर ही रहेगा।"

अवन्ती में महाराज विक्रमादित्य भी कभी-कभी गगनधूलि से भेंट कर लिया करते थे। उसके हार पर ही उनकी दृष्टि सर्वप्रथम पड़ती और उसके पुष्पों की दीप्ति मूलदेव की असफलता के रूप में उन्हें कुछ हतोत्साहित कर देती, किन्तु उन्हें आन्तरिक विश्वास था कि किसी दिन तो ये पुष्प कान्तिहीन हो ही जायेंगे। मूलदेव भी तो मूलदेव है। धन का लोभ और मूलदेव की प्रेरणा वृद्धा को भी शिथिल नहीं होने देती थी। यदा-कदा वह सुरूपा के समक्ष यही प्रसंग छेड़ ही देती थी। उसने अनुभव किया कि जो भी हो, परन्तु सुरूपा की प्रतिक्रिया भी दुर्बल से दुर्वलतर होती जा रही है। उसी गति से, उसी अनुपात में वृद्धा का उत्साह बढ़ता जा रहा था। अब तो वह प्रायः प्रतिदिन ही यह चर्चा करने लगी। नित्य-प्रति की इस अप्रिय चर्चा को एक समापन देना सुरूपा के लिए अनिवार्य हो गया था। उसके तो कान पक गये यह सब बार-बार सुनते हुए। एक दिन जब मौसी ने यह बात आरंभ की तो सुरूपा ने बात काटते हुए बोल ही दिया–"क्या मौसी .... तुम भी केवल बात-ही-बात करती रहती हो। ऐसा ही है तो उसे भेज क्यों नहीं देतीं ?"

मौसी के मन में तो जैसे मोदक फूटने लगे। उसके मनोमस्तिष्क में एक उमंग लहरा गयी। "अरी बिटिया ! यही तो भूल रह गयी मेरी। मैं संध्या को ही उसे भेजती हूँ ....। बड़ा अच्छा है। तुम्हें भी अच्छा लगेगा।"–यह कहती हुई वृद्धा उठ खड़ी हुई और अपने घर आकर मूलदेव को यह शुभ समाचार दिया तो उसकी बॉछें ही खिल गयीं। अव तो मैदान मार लेना उसके लिए सुगम हो गया।

संध्या समय मूलदेव सजधजकर तैयार हो गया। दर्पण में देखकर एक वार तो उसे भी स्वयं की छवि पर गर्व हुआ। अपनी सुन्दर-सी छोटी-छोटी मूँछों को एक वार सहलाकर वह सुगंधित द्रव से स्वयं को सुरभित करने लगा। इष्टदेव का

स्मरण करते हुए वह घर से निकला और शीघ्र ही सुरूपा की हवेली पर पहुँच गया। सुरूपा भी वहाँ स्वागत के लिए द्वार पर खड़ी होगी—मूलदेव की यह कल्पना साकार न हो सकी। द्वार पर एक दासी खड़ी मिली। उसने सादा-सा स्वागत किया और उसे भीतर आने को कहा। दासी उसे लेकर एक कक्ष के बाहर तक गयी। बन्द द्वार खोलकर उसने उसे इस कक्ष में प्रतीक्षा करने को कहा और बताया कि उसकी स्वामिनी अभी आती ही हैं। मूलदेव यवनिका को एक ओर धकेलकर भीतर चला गया। बहुत सादगी के साथ सजा हुआ यह अति स्वच्छ कक्ष था। एक स्वच्छ चादर वाली शय्या ही इस कक्ष में थी, कोई अन्य आसनादि न थे। कुछ क्षणों तक तो मूलदेव कक्ष का निरीक्षण करता रहा और तब प्रतीक्षा करने के लिए वह शय्या पर बैठा। बैठा भी कहाँ, वह बेचारा टिकने को हुआ ही था कि चादर सहित वह नीचे धँस गया और उसे प्रतीत होने लगा, जैसे वह रसातल में जा रहा है। धम्म से जब वह भूतल पर गिरा तो उसे ज्ञात हुआ कि उसे तो किसी तलघर में बन्दी बना लिया गया है। वह बहुत छटपटाया, किन्तु सब व्यर्थ रहा। दासी ने आकर कक्ष के आँगन में बने तलघर की छत के मार्ग को भी आवृत कर दिया। अरे···· यह स्त्री तो बड़ी घाघ निकली। किस जन्म का बैर निकाल रही है मुझसे। बड़ी दुर्गति कर दी उसने तो मेरी। अब क्या मुँह लेकर महाराज की सेवा में जाऊँगा। जा भी पाऊँगा, अथवा नहीं ! नाना भाँति के विचार उसके मन में उठकर उसे दुःखित करने लगे।

एक के पश्चात् एक जब कई दिन व्यतीत हो गये तो वृद्धा का ध्यान इस ओर गया, किन्तु वह यह सोचकर शान्त रह गयी कि सुरूपा के प्रेमजाल में आबद्ध होगा बेचारा···· कैसे आ सकेगा। अभी तो दोनों रस-सरोवर में निमग्न होंगे।

मूलदेव बेचारा अपने कर्मों का फल भोग रहा था। एकाकी एक संकीर्ण स्थल में बन्दी था। बाहरी जगत् से सर्वथा असम्बद्ध और संवादहीनता की ऊबाऊ परिस्थिति में वह बड़ा दुःखी था। उदर-पोषण के लिए आवश्यकता से भी अल्प मात्रा में, थोड़ा-सा भोजन ऊपर से उतार दिया जाता था। वह क्षीणकाय और सर्वथा कान्तिहीन हो गया था। भूख से मारना उसके लिए कदाचित् सुगम मृत्यु होती, जो सुरूपा को स्वीकार्य न थी। घुटन-भरे वातावरण में मूलदेव अर्द्ध-जीवित रहने को विवश हो गया था। जब वह लौटकर अवन्ती नहीं पहुँचा तो महाराज को चिन्ता हो गयी। उसी क्रम में वे गगनधूलि के पुष्पहार का समाचार भी लेते रहते थे। किसी भी परिस्थिति की कल्पना कर पाना कठिन था। अन्ततः उन्होंने मूलदेव के अनुज शशीभृत को भेजा। उसे वृद्धा वाला सारा प्रसंग मूलदेव के पत्रों से ज्ञात था। वह भी उसी वृद्धा के पास पहुँचा। पुरस्कार में प्रचुर धन प्राप्त कर बुढ़िया ने उसे हवेली में और हवेली की दासी ने उसे तलघर में उसके भाई मूलदेव के पास पहुँचा दिया। जव शशीभृत की भी कोई खोज-खबर नहीं मिली तो विवश होकर महाराज स्वयं चम्पापुरी के लिए प्रस्थान को तत्पर हुए। आगे वढ़कर उन्होंने

गगनधूलि से भी इस विषय में चर्चा की। गगनधूलि का कार्य भी अवन्ती में अब समाप्ति पर ही था। वह भी चम्पापुरी लौटने वाला था। निदान दोनों ही एक साथ अवन्ती से निकले। महाराज के साथ अश्व, रथादि का पूरा संघ था। गगनधूलि का भी अपना एक बड़ा दल विविध वाहनों के साथ था। यथासमय ये लोग चम्पापुरी में पहुँच गये। महाराज वहाँ गगनधूलि की हवेली में ही अतिथि बनकर रहे। सारी व्यवस्थाएँ भी अविलम्ब ही हो गयीं। सुरूपा अत्यन्त प्रसन्न थी। प्रियतम का आगमन भी हुआ और उसकी वरमाला के पुष्प भी यथावत् थे।

ये अवन्ती से यहाँ पहुँचे उसके दो-एक दिन पूर्व वृद्धा मौसी भी सुरूपा से मिली थी। उसने पूछा था—"मूलदेव कहाँ है? सुना है अब तो गगनधूलि श्रेष्ठी भी आने वाला है। अब तो उन दोनों भाइयों को यहाँ से जाना ही होगा न ! जाने से पहले मेरा उनसे मिलना भी आवश्यक है, बेटी सुरूपा ! कहीं ऐसा न हो कि वे चुपचाप ही खिसक जाएँ।" सुरूपा समझ गयी थी कि मौसी मिलना क्यों चाहती थी। बुढ़िया को उन नीचों से धन लेना होगा—और क्या ! व्यंग्य के साथ उसने कहा—"क्यों मौसी ! उन्हें कुछ देना है क्या? लाओ मुझे दो, उन तक पहुँचा दूँगी।"

"नहीं बेटी !.... जो देना होगा मैं स्वयं ही दूँगी उनको।"

"अच्छा मौसी ! आओ, यह दासी तुम्हें उनके पास पहुँचा देगी।" और वास्तव में दासी ने मौसी को भी तलघर में पहुँचा दिया था।

जब गगनधूलि ने पत्नी सुरूपा से पूछा—"अवन्ती से यहाँ मूलदेव और शशीभृत भी तो आये होंगे; क्या हुआ उनका !" सुरूपा अपने पति को तलघर की ओर ले गयी और आवरण हटाकर उसे उन तीनों को दिखा दिया और संक्षेप में सारा वृत्तान्त कह सुनाया। गगनधूलि उसकी बुद्धिमत्ता से असीम प्रसन्न हुआ।

जब महाराज ने उससे पूछा कि मूलदेव और शशीभृत का क्या हुआ? तो गगनधूलि ने बताया कि वे यहाँ आये अवश्य थे, किन्तु सुरूपा से प्रताड़ित होकर चले गये। महाराज असमंजस में पड़ गये। इसी समय तलघर में एक अन्य ही गतिविधि चल रही थी। सुरूपा ने तलघर का आवरण खुलवाकर भीतर झाँका तो बहुत नीचे पड़े तीनों प्राणी गिरते-पड़ते उठ खड़े हुए और क्षमा-याचना करते हुए त्राहि-त्राहि करने लगे—"हमें मुक्त कर दो, देवी !.... मुक्त करो हमें। तुम्हारी यह दया हम आजीवन स्मरण रखेंगे। तुम तो महान् सती हो—हमारे अपराध क्षमा करो .... हमें मुक्ति दो, देवी ! हमारा इस नरक से उद्धार करो ....।"

– "तुम लोग मुक्त होना चाहते हो तो एक काम करो।" सुरूपा ने कहा—"मैं यह पेटी नीचे उतार रही हूँ। तुम तीनों इसमें बैठ जाओ और पेटी के साथ तुम बाहर निकल आओगे।"

– "हम ऐसा ही करेंगे, देवी !.... ऐसा ही करेंगे।"

– "तो ध्यान से सुनो, तुम्हे इस पेटी में निश्शब्द, एकदम शान्त होकर बैठना होगा। यदि तनिक भी ध्वनि की तो पेटी फिर से इस गड्ढे में उतर जायेगी। समझ गये ना····?"

– "समझ गये, देवी ! हम शान्त रहेंगे।"

– "तब तो यह पेटी तुम्हें एक वन में ले जाकर मुक्त कर देगी।"

कुछ श्रमिको ने पेटी नीचे उतारी और तीनो उसमें बैठ गये। पेटी को तब ऊपर खीच लिया गया। उसमें अनेक लोगों के लिए पर्याप्त भोजन भी रख दिया गया और पेटी को बन्द कर एक ओर खिसका दिया गया।

सुरूपा ने महाराज और अन्य अतिथियों को स्नेहपूर्वक भोजन कराया। इतना स्वादिष्ट भोजन इतनी शीघ्रता से तैयार हो जाने पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए पूछा–"इसका रहस्य क्या है?"

सुरूपा ने उत्तर में वताया–"उनके पास एक अभिमंत्रित पेटी है जिसका बड़ा प्रभाव है। मॉगने पर पेटी आवश्यकतानुरूप भोजन देती है।"

"अरे वाह ! ऐसी अद्‌भुत पेटी !! हमने तो कभी ऐसी पेटी की चर्चा भी नहीं सुनी, वहन ! क्या तुम कुछ दिनों के लिए हमें अवन्ती नहीं ले जाने दे सकोगी ! वहॉ हम सभी को इस पेटी से चमत्कृत कर देना चाहते हैं।"

"काश ! ऐसा हो सकता, राजराजेश्वर ! किन्तु इस पेटी का प्रभाव आठ-दस कोस के वृत्त में ही रहता है। अवन्ती तो बहुत-बहुत दूर है। क्षमा चाहती हूँ, प्रभो ! आपके आदेश को मैं पूरा नहीं कर पाऊँगी।" महाराज कुछ सोचते बैठे रह गये।

आगामी भोर ही महाराज का दल अवन्ती के लिए प्रस्थानार्थ तैयार हो गया। महाराज को विदा करने को श्रेष्ठी-दम्पति भी तत्पर था। महाराज ने गगनधूलि के कंठ के पुष्पहार की ओर दृष्टि जमाते हुए कहा–"धन्य हो, सुरूपा ! तुम-जैसी नारियों से स्त्री जाति का मस्तक गर्व से उन्नत है। तुम्हारे सतीत्व की आभारी वरमाला का एक-एक पुष्प कान्तिमान है, खिलखिला रहा है। तुम्हारे दरस से ही हमारा जीवन पावन और सार्थक हो गया है।" महाराज ने हाथ जोड़कर सती को नमन किया।

"राजन् ! मैं तो एक अति साधारण स्त्री हूँ और मेरा विश्वास है कि प्रत्येक साधारण नारी शीलवती हो सकती है। आवश्यकता है संयत और सुदृढ़ मन की, एकनिष्ठता की, इस गौरव-प्राप्ति की गहन कामना की। फिर कोई शक्ति उसे इस गौरव से वंचित नहीं कर सकती, उसे कुमार्गी नहीं वना सकती। सतीत्व सभी स्त्रियों के लिए सुगम है, किसी-किसी नारी के लिए ही यह नहीं वना है।"

"अवन्ती-नरेश के रूप में सारा मालव-देश तुम्हें प्रणाम करता है, देवी !" महाराज ने पुनः श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और रथ की ओर वढ गये।

चलते-चलते गगनधूलि ने महाराज से निवेदन किया—"एक रथ पर वह अभिमंत्रित पेटी चढ़ा दी गयी है। आठ-दस कोस के आसपास ही इसका परीक्षण कर लीजिये। भोजन की आवश्यकता भी रहेगी ही।" श्रेष्ठी-दम्पति ने महाराज को सादर विदा किया और महाराज का रथ अग्रसर होने लगा।

कोई आठ कोस की यात्रा पूर्ण होते-होते वन का एक सुरम्य स्थल आया और समीप ही एक जलाशय भी था। इस स्थल को भोजन के लिए उपयुक्त मानते हुए यात्रा स्थगित कर दी गयी। महाराज ने पेटी के पास आकर कहा—"हे पेटी ! हमारी प्रार्थना सुनो। हमें भूख लग आयी है—भोजन दो।"

तभी पेटी के भीतर से घुटी-घुटी-सी ध्वनि आयी—"भोजन तो यह पेटी देगी—अवश्य देगी, किन्तु पेटी खुलवाकर पहले हमें तो मुक्त कराओ, महाराज !"

अवन्ती-नृपति तो आश्चर्य में पड़ गये। शीघ्रता से उन्होंने पेटी खुलवायी तो उछलकर मूलदेव और शशीभृत तथा वृद्धा बाहर निकल आये—"अरे मूलदेव ! तुम्हारी यह क्या दशा हो गयी? और शशीभृत के साथ ये वृद्धा माँ कौन हैं?"

दुःखी मूलदेव ने रुआँसे स्वर में सारा वृत्तान्त महाराज को कह सुनाया। सुनते-सुनते महाराज गंभीर हो गये। कुछ क्षणों के मौन के पश्चात् वे बोले—"सती सुरूपा के सतीत्व की श्रेष्ठता तो इतनी ऊँची है कि वह परीक्षा का विषय ही नहीं है। उस महान् सती के लिए सन्देह करके हम भी पाप के भागी हैं। हमारा यह अपराध बोध हमें उद्विग्न रखेगा—यही हमारा प्रायश्चित्त भी होगा।" पेटी ने पर्याप्त भोजन दिया। भोजनोपरान्त एक रथ पेटी और वृद्धा को लेकर चम्पापुरी लौट गया और महाराज का दल अवन्ती के मार्ग पर अग्रसर हो गया।

● ●

प्रियंगुमंजरी मालव-इतिहास का एक अविस्मरणीय नाम है। अवन्ती की यह राजकन्या अपने पिता राजेश्वर वीर विक्रम की अत्यधिक प्रिय पुत्री थी। नरेश की यह इकलौती पुत्री देवी-प्रतिमा से स्निग्ध और सुगढ़ थी। सौन्दर्य की आभा से प्रियंगुमंजरी के आसपास एक अद्‌भुत कांति और शान्ति प्रसारित रहती थी जैसे चन्द्रमा की चाँदनी। वर्ण में गुलाव-जैसी, वाणी-माधुर्य में कोकिला-जैसी, गति में गजराज-जैसी राजकन्या विशालाक्षी थी। उसकी चंचल पलकें तो उड़ते भ्रमर का भ्रम करा देती थीं। सर्वत्र उसके रूप की चर्चा होती रहती और उससे भी अधिक तो उसकी विद्वत्ता और ज्ञान की प्रशंसा होती थी। शास्त्रों, विद्याओं और कलाओं का चूडांत ज्ञान उसे प्राप्त था। तन और मन की यह सौन्दर्य-स्वामिनी भी गर्वित न

थी। उसमें किसी प्रकार का दर्प या दंभ समाहित न था। इसी कारण वह सर्वप्रिय भी हो गयी थी। पट्टमहिषी राजरानी कमलावती की कन्या प्रियंगुमंजरी शैशव से ही सभी की स्नेहभाजक बनी हुई थी।

अध्ययन-योग्य आयु-प्राप्ति पर माता-पिता ने प्रियंगुमंजरी के ज्ञान-प्राप्ति और शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध किया। राज्यभर में अपनी विद्वत्ता हेतु विख्यात महापंडित वेदगर्भ को उसके गुरु रूप में नियुक्त किया गया। राजकन्या की जन्मजात प्रतिभा गुरु वेदगर्भ का सान्निध्य पाकर और अधिक तीक्ष्ण और कान्तिपूर्ण होती चली गयी। गुरुदेव के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति का भाव राजकन्या की प्राप्तियों को और अधिक विकसित और सुगम कर देती थी। गुरु का स्नेह-भाव उसकी प्रगति के मार्ग को और भी प्रशस्त करता गया और उनके आशीर्वाद से वह तीव्र गति से प्रगति करने लगी। गुरु को अपनी इस असाधारण शिष्या पर अमित गर्व भी था। अल्पावधि में ही उस राजकन्या ने ज्ञान के क्षेत्र में परिपक्वता भी ग्रहण कर ली और शास्त्र-विवेचिका के रूप में उसकी दूर-दूर तक ख्याति फैल गयी। शास्त्रार्थ में तो वह विदुषी इतनी कीर्ति-सम्पन्न हो गयी थी कि अनुभवी व ज्ञानी पंडित भी इससे अपनी प्रतिष्ठा को रक्षित रखने में ही विवेकशीलता माना करते थे। चौंसठ कलाओं में पारंगत राजकुमारी प्रियंगुमंजरी के व्यक्तित्व में कमनीयता भी आ गयी थी। वह वाचा कुशल भी थी और विनोदिनी भी उच्च श्रेणी की थी।

प्रियंगुमंजरी एक दिवस अपने कक्ष के गवाक्ष में बैठी पके, रसीले, मीठे आम चूस रही थी। एक पात्र में अनेक आम समीप ही धरे थे। इसी समय गुरु देवगर्भ का गवाक्ष के नीचे से होकर निकलने का संयोग हो गया। राजकुमारी ने अपने स्थान पर खड़ी होकर श्रद्धा के साथ प्रणाम किया। गुरुदेव ने भी आशीर्वाद प्रदान किया। प्रियंगुमंजरी ने अपने गुरु को सादर आमंत्रित किया—"गुरुवर्य ! मेरे पास बहुत मीठे और स्वादिष्ट आम हैं। इनका आनन्द आप भी लीजिये, ऊपर आ जाइये।"

गुरुजी ने अपनी चादर फैलाते हुए कहा—"मंजरी ! तू एक आम मुझे यहीं क्यों नहीं दे देती। अब मैं ऊपर कहाँ चढ़ूँगा।"

"अच्छा, गुरुजी ! आप कष्ट न कीजिये। आम को मैं नीचे ही भेज देती हूँ।" प्रियंगुमंजरी ने पूछा—" .... किन्तु यह तो वताइये कि तपता आम भेजूँ, याकि शीतल आम? आपकी रुचि किसके लिए है?"

वेदगर्भ गुरुजी ने उत्तर में कहा—"वेटी ! यदि चाहती ही है तो एक तप्त आम ही टपका दे। मुझे यही भला लगता है।"

राजकन्या ने पात्र में से एक आम उठाया और जानकर इस कौशल के साथ उसे नीचे गिराया कि गुरुजी की झोली से स्पर्श करते हुए वह भूमि पर गिर पड़ा। "ओहो .... हो।"—कहते हुए गुरुजी ने झुककर आम उठाया और फूँक-फूँककर उस पर लगी धूल को उड़ाने लगे।

राजकन्या को विनोद सूझ गया। वह जोर से हँस पड़ी और बोली–"क्यों गुरुजी ! आम इतना गर्म है कि फूँक-फूँककर उसे शीतल करना पड़ रहा है....? अरी ओ कनकप्रभा ! सुन्दरी.... शालिनी.... देखो तो तुम.... किंचित् हमारे गुरुजी को तो देखो, आम को फूँक-फूँककर चूसना चाहते हैं।" कथन समाप्त होते-होते राजकन्या का हास आरंभ हुआ तो वह हास तीव्र से तीव्रतर होता चला गया और सखियों का योग पाकर उपहास हो गया.... गुरुजी का उपहास !

महापंडित वेदगर्भ इस उपहास से उत्पीड़ित हो गये। वे क्रोध में बोले–"हे ज्ञानगर्वित राजकन्ये ! तुझे दंभ हो गया है अपनी विद्वत्ता का और उसी मद में तू अपने उन गुरु का अनादर कर रही है जिन्होंने तुझे यह गौरव प्रदान किया है। गुरु.... जो इस धरती पर ज्ञान के अवतार हैं, तू उन्हीं की.... हमारी इस प्रकार निर्लज्जता के साथ अवमान कर रही है। इस निर्लज्ज व्यवहार का फल यह होगा कि तुझे जीवनभर लज्जा से नतमस्तक होकर ही रहना पड़ेगा। हम शाप देते हैं तुझे.... शाप देते हैं कि तुझे ऐसा महामूर्ख पति मिलेगा कि उसके कारण तेरा सारा गर्व नष्ट हो जायेगा।"

गुरुदेव का यह क्षोभ, यह कोप देखकर प्रियंगुमंजरी तो भीतर-ही-भीतर काँप उठी। प्रार्थना के स्वर में गिड़गिड़ाती हुई वह बोली–"परम पूज्य गुरुदेव ! आपकी पुत्री प्रियंगु से असावधानीवश घोर अपराध हो गया है। क्षमा करें, गुरुदेव !.... इस अज्ञानी को क्षमा का दान करें। आप तो करुणानिधान हैं, शिष्य-वत्सल है, महान् और उदाराशय हैं। क्षमा कर दीजिये, प्रभो ! आप अपना शाप स्थगित कर दीजिये। ऐसे जीवन-साथी के स्थान पर तो मरण का वरण ही मेरे लिए श्रेयस्कर होगा, गुरुदेव !" अपने अपराध की गुरुता का ध्यान कर वह अविरल अश्रु-प्रवाह करने लगी और तीव्र श्वासोच्छ्वास के साथ वह विकल हो गयी। कुपित गुरु वेदगर्भ जब इस विनय से भी शान्त न हुए तो राजकन्या उनके चरणों में लिपट जाने को त्वरा के साथ प्रासाद से नीचे उतर आयी, किन्तु तब तक गुरुदेव प्रस्थान कर गये थे। वह असहाय.... निरुपाय रह गयी और भविष्य की अमंगलता के आतंक से वह पीपल-पातवत् थरथरा उठी। सोचने लगी वह कि गुरुदेव के विप्र-वचन मिथ्या और अकारथ नहीं हो सकते। गुरु-कृपा से ही ये निरस्त हो सकते हैं.... किन्तु उसकी संभावना भी अब क्षीण हो गयी थी। यदि.... यदि किसी जड़-वुद्धि को ही जीवन-साथी के रूप में प्राप्त करना है तो मैं काष्ठ-भक्षण कर इस जीवन-लीला की इति कर लूँगी–न रहेगा बाँस, न वजेगी बाँसुरी। दुःखी जीवन का अथ ही न हो पायेगा। निराश–उदास प्रियंगु अपने प्रासाद को लौट गयी। अनुताप के प्रचण्ड अनल में वह भस्मीभूत होती जा रही थी।

गुरु वेदगर्भ ने भी कहीं इस प्रसंग की चर्चा न की और काल-प्रवाह के साथ राजकन्या के मानस से भी वह प्रसंग क्रमशः विलीन होता गया। एक दिन जब आशिष देने के प्रयोजन से गुरु वेदगर्भ महाराज वीर विक्रम के पास गये तो पाया कि महाराज तो अन्तर्लीन-से, अन्तर्मुखी होकर चिन्तनलीन बैठे हैं। पंडित जी ने

स्नेहपूर्वक पूछा—"राजन् ! किस चिन्ता में खोये हैं आप? आपके लिए भला चिन्ता का क्या प्रश्न हो सकता है?"

"विप्रवर !"—महाराज ने मौन प्रणाम कर गुरुजी को आसन देकर कहा—"कन्या का पिता यदि चिन्तित न रहे तो उसका दुःखद भवितव्य अधिक दूर नहीं रह जाता। वह दुर्भाग्य के चक्र में ग्रस्त हो जाता है। हम भी अपनी विवाह-योग्य कन्या प्रियंगुमंजरी के लिए चिन्तित हैं। हम चाहते हैं कि उसके लिए कोई योग्य, ज्ञानवान वर मिले; अन्यथा अनमेल दाम्पत्य उसके लिए दुःख का कारण हो जायेगा। हमने बहुतेरे प्रयत्न किये हैं, किन्तु ऐसे किसी वर की प्राप्ति अब तक तो संभव नहीं हो पायी है।"

"आपकी चिन्ता उचित ही है, राजन् !" प्रबोधन शैली में गुरुजी ने कहा—"प्राणी के सुख-दुःख तो पूर्व निर्धारित होते हैं। उसका भवितव्य कर्माधीन ही रहता है; तथापि पिता का धर्म यही है कि कन्या के सुखी जीवन के अनुकूल वह उसके परिणय का निश्चय करे, योग्य और अनुरूप वर खोजे.... किन्तु महाराज ! मैं आपका संकेत समझ गया हूँ। अब आप यह कार्य मुझे सौंपकर स्वयं निश्चिन्त हो जायें। विद्वज्जनों से मेरा समीप सम्पर्क रहता है। मैं राजजामाता की गरिमा के योग्य कोई परम विद्वान् अवश्य खोज सकूँगा।"

"भू-देव ! आपने तो हमारे मुँह की बात ही छीन ली। यह यथार्थ है कि यह दायित्व हम आपको ही सौंप देना चाहते हैं। आप तो प्रियंगु के आचार्य हैं, पिता-तुल्य ही हैं। मेरे दायित्व मे जब आप स्वेच्छा से भागीदार बनने को तत्पर हैं तो यह मेरे लिए सौभाग्य का विषय है। कृपा कीजिये, विप्रवर ! राजकन्या के लिए उपयुक्त विद्वान् वर ले आइये।"

गुरु वेदगर्भ को तो मनोवांछित अवसर मिल गया था। वे अपनी शाप को सत्य घटित करने के लिए समुचित रूप में अधिकृत हो गये थे। वे किसी महामूर्ख की खोज मे रहने लगे जिसे साधारण-सा सिखा-पढाकर विद्वान् के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। बुद्धिमानों की अपेक्षा मूर्ख की खोज करना अधिक कठिन होता है। मूर्ख भी तो बुद्धिमानों का छद्म आवरण ओढ लिया करते हैं। वेदगर्भ को तो विशुद्ध मूर्ख की खोज थी। ऐसी खोज में वे ग्रामीण अंचलों में भी प्रवास पर रहने लगे। इसी क्रम में एक समय जब वे एक ग्राम से प्रस्थान कर बाहर निकले तो ग्राम से कुछ दूरी पर एक चरवाहा उन्हे दिखायी दे गया जो गायें चरा रहा था। उसके पशु हरे-भरे मैदान में दूर-दूर तक बिखरे हुए थे। वह कभी इस बछड़े के पीछे भागता तो कभी उस गाय को बीच में लाने का प्रयत्न करता। 'ओ.... ओ.... ओ.... उई' की विचित्र-सी ध्वनि कर वह गायों को अपने स्थान से भी नियंत्रित करता जा रहा था। ठेठ ग्रामीण यह चरवाहा वेदगर्भ को उपयुक्त लगने लगा था। आगे बढ़कर उन्होने उस ग्वाले से कहा—"भाई ! हमें प्यास ने बहुत तंग कर दिया है। थोड़ा-सा जल मिल जायेगा पीने को?"

ग्वाला बड़ी सरलता के साथ बोला–"भैया ! हमारे पास पानी नाहीं है। तुम्हार इच्छा हो तो किसी गैया का दूध निकार देवे। पियास बुझाय लेओ अपनी।"

"ऐसा ही कर लो भैया !"–विप्र ने कहा–"ऐसा ही कर लो। हमारी तृषा भी शान्त होगी और पेट को भी कुछ सहारा हो जायेगा।"

ग्वाले ने एक गाय को खड़ा किया और विप्र से बोला–"बैठो, तनिक नीचे को बैठि जाव···· गैया के नीयरे···· और मुँह को लगाय लेव करचंडी। हम दूध दूहि लेत हैं। पिय लाव जी भर के····।"

'करचंडी लगाना' पंडित जी जान न पाये। प्रश्न-भरी दृष्टि से ग्वाले की ओर ताकने लगे। दुःखी होकर ग्वाले ने सिर पर ऐसे आशय से हाथ घुमाया कि किस मूर्ख से पाला पड़ गया है–करचंडी भी नहीं जानता। "अरे, ऐसे लगत है करचंडी····।" उसने दोनों हाथों की उँगलियों को परस्पर फँसाकर, हथेलियों के किनारे मिलाकर एक पात्र-सा बना लिया और अपने मुँह से लगा लिया। बोला–"ईह है करचंडी···· समझत नाहीं का। देखन में तो बड़े····। हाँ ऐसे।"–ग्वाले ने अपने हाथों से छूकर विप्र की करचंडी को ठीक किया और कहा–"हाँ···· अब ईहॉ बैठि जाव, गैया तरे।"

वेदगर्भ ने वैसा ही किया। तृप्त होकर उन्होंने ग्वाले को आशीर्वाद दिया। जो विद्वानों को मूर्ख समझे उसके समान महामूर्ख अन्य कोई क्या होगा? मुझे ऐसे ही मूर्ख की खोज तो थी। राजकुमारी के लिए यही उपयुक्त वर रहेगा। यही सब सोचकर वेदगर्भ ने ग्वाले से कहा–"भैया ! तुमने बड़ा उपकार किया है। संकट में सहारा दिया है मुझे। मेरे साथ अवन्ती चलोगे?"

– "अवन्ती····! नाहीं···· महाराज ! नाहीं···· हम उहॉ का करै।"
– "अरे भैया ! तुम्हारा तो भाग्य ही खुल गया है। अवन्ती के राजा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, भैया ! चलो–हमारे साथ ही चलो।"
– "काहे····? हमरी परतीक्सा काहे कर रहे हैं? हम का हैं उनका?"
– "तुम कुछ भी नहीं हो उनके, सत्य है यह; किन्तु वे तुमको अपना सब-कुछ बना लेना चाहते हैं।"
– "हम कुछु समझे नाहिन !"
– "तुम चलो तो····। सब-कुछ समझ जाओगे। वे अपनी राजकुमारी का हाथ तुम्हारे हाथ में देना चाहते हैं। इसीलिए तो बुलाया है तुम्हें।"
– "काहे···· हमारे संग वियाह करना चाहेंगे। तुम भी हँसी करत हो, भैया ! ···· हमका कहीं के राजकुमार हैं का?"
– "महाराज अच्छी तरह जानते हैं कि तुम राजकुमार नहीं हो, परन्तु उनको तुम्हारे-जैसा ही जामाता चाहिये। फिर तो तुम भी किसी राजकुमार से कम नहीं रह जाओगे। चलो, हमारे संग चलो।"

– "तो का राजा हमार को राजकुमार बनाई देव?"

– "हॉ···· हाँ···· राजकुमार से भी ऊँचा।"

– "तब तो हम अबहिन चलत है तोहार संग।"

ग्वाले ने 'ओ···· ओ···· ओ···· उई' की ध्वनि लगातार की। सारी गायें एकत्र हो गयीं। वह उन्हें हॉकते हुए गॉव की ओर ले चला। गॉव की सीमा पर पहुँचकर उसने वेदगर्भ को बताया कि गायें अब स्वतः ही घर चली जायेंगी। वह उनके साथ चलने को तैयार है। वेदगर्भ उसे लेकर प्रस्थान कर गये।

अवन्ती पहुँचकर वेदगर्भ ने ग्वाले गोपाल को अपने निवास पर ही रखा और महाराज को अवगत करा दिया कि शीघ्र ही अभीष्ट वर उपस्थित हो जायेंगे। गोपाल को वेदगर्भ ने सभ्य समाज में विचरण की शैली का अभ्यास कराया। वेश-भूषा से भी उसे सभ्य बनाया और नमन-वन्दन के तौर-तरीकों का ज्ञान भी कराया। उसे एक शिष्ट नागर का भी नहीं, अपितु एक विद्वान् पंडित के बाह्य व्यक्तित्व की सज्जा से भी सम्पन्न कर देने के पश्चात् जब वेदगर्भ स्वयं संतुष्ट हो गये तो लगभग तीन माह के पश्चात् उन्होंने राजदरबार में उसे उपस्थित करने का निश्चय किया। महाराज वीर विक्रमादित्य से उन्होंने निवेदन किया कि जिनकी चर्चा उन्होंने पूर्व में की थी वे शास्त्र-पारंगत उद्‌भट विद्वान् पंडितों में पंडित आ गये हैं और मेरे आवास पर ही रुके हैं। निश्चित हो गया कि कल ही उन्हें सभा में आने का आमंत्रण दे दिया जाय। प्रचुर प्रशंसा करके वेदगर्भ ने उन्हें महापंडित सिद्ध किया और महाराज उनसे प्रथम भेंट के पूर्व ही अत्यन्त प्रभावित हो गये।

आगामी दिवस यथासमय ही राजसभा जुड़ी। महाराज सहित सभी सभासद उत्सुकता के साथ महापंडित के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। स्वयं महाराज की राजसभा मे अधिकारी पंडितों का एक समृद्ध दल था जो विशेष रूप से जिज्ञासु हो उठा था। महाराज की दृष्टि सभागार के द्वार की ओर लगी रही। तभी सहसा वेदगर्भ ने सभा में प्रवेश किया। उनके समानान्तर ही चलते महापंडित दिखायी दिये। श्वेत वस्त्रधारी नवीन पंडित अत्यन्त आकर्षक व्यक्तित्व के धनी प्रतीत हो रहे थे। ज्यों ही पंडित-द्वय कुछ समीप आए महाराज ने सिंहासन से उठकर दोनों को सादर प्रणाम किया। प्रसन्नवदन वेदगर्भ ने स्वस्ति-उच्चारण के साथ दायॉ हाथ उठाकर राजा को आशीर्वाद प्रदान किया। उजड्डु गोपाल ग्वाले को कुछ सुझाई न दिया। महापंडित-वेशधारी वह गोपाल वोल उठा–"उशरट···· उशरट" और आशिष-दान की मुद्रा में हाथ ऊपर को उठा दिया। सभी सभासद, पंडितगण एवं स्वयं महाराज भी इस अद्‌भुत आशिष से भ्रमित हो गये–'यह क्या हुआ···· यह कैसा आशीर्वचन है। ऐसा अर्थरहित शव्द भला क्यों और किस अर्थ में प्रयुक्त किया इन्होने। कहीं ये पंडित का वेश वनाकर आया कोई ठग तो नहीं है। कोई पंडित भला ऐसा····।' सभी लोग अपने-अपने मन में न जाने कैसे-कैसे विचारों से जूझ रहे थे; तभी वेदगर्भ भी अपने छल-छद्म के खुल जाने के भय से विकल

हो उठे, किन्तु वे वाग्चतुर पंडित थे। उन्होंने तपाक से वात को सँभालकर कहा– " 'उशरट' शब्द में महापंडित जी का वड़ा गूढ़ार्थ निहित है। इसे व्यर्थ न समझा जाय, राजन् ! हमारे पंडित जी मौनव्रतधारी हैं। हमने इन्हें वड़ी कठिनाई से अल्प-भाषण के लिए तत्पर किया है। इसी कारण एक व्यापक और विस्तृत आशीर्वचन का संक्षिप्त रूप आपने प्रयुक्त किया है। 'उ' से अर्थ है–'उमा', 'श' से अर्थ है–'शंकर', 'र' से अर्थ है–'रक्षतु' और 'ट' का अर्थ है–'टंकार'। इस प्रकार जिस विस्तृत आशिष का यह संक्षिप्त प्रयोग हमारे पंडितराज ने किया है, राजन् ! उसका पूर्ण रूप इस प्रकार है–

"उमया सहितो रुद्रः, शंकरः शूलपाणियुक्।
रक्षतु तव राजेन्द्र ! टणत्कारकरं यशः॥"

अर्थात् हे राजेन्द्र ! उमापति त्रिशूलधारी शंकर तुम्हारी रक्षा करें और तुम्हारी टंकार अर्थात् कीर्ति चारों ओर फैले।"

इस व्याख्या को सुनकर नरेश तो गद्‌गद हो उठे। सभा में सहसा हर्ष-ध्वनि हुई और उत्साह में भरकर सभी पंडितराज की जय-जयकार कर उठे। पंडितराज हाथ उठाकर सबको आशीर्वाद देने लगे और वेदगर्भ का शीश अपने पंडितराज के पांडित्य पर गर्वोन्नत हो गया। उन्होंने पंडितराज को नमन किया और पंडितराज ने शीश छूकर उनको आशिष प्रदान की। दोनों ही हासवदन, प्रसन्नचित्त हो उठे। सभासद आगत पंडितराज का लोहा मान गये और नरेश वीर विक्रम महाराज वेदगर्भ गुरु की इस अनुपम खोज पर अति प्रसन्न थे। उन्हे अनुभव होने लगा कि राजकन्या के लिए यह सर्वथा उपयुक्त वर सिद्ध होगा–इसमें कोई संदेह शेष ही नहीं रहा। उन्होंने वेदगर्भ को सम्बोधित करते हुए कहा–"गुरुजी ! आपका श्रम और हमारी प्रतीक्षा–दोनों ही सफल रहे हैं। हमें राजकन्या प्रियंगुमंजरी के लिए ऐसे विद्वान् महापंडित की ही आवश्यकता थी। हम आपके वड़े कृतज्ञ हैं।"

"राजन् ! ये तो साक्षात् सरस्वती-पुत्र ही हैं। इनकी रसना पर वाग्देवी आसीन रहती है। अभी मौन व्रत धारण कर लिया है इन्होंने। जव ये मुखर हो जायेंगे तो आपको चमत्कृत कर देंगे, राजराजेश्वर ! पंडितराज की समकक्षता कोई कर ही नहीं सकता।" वेदगर्भ ने उत्साहपूर्वक निवेदन किया।

महाराज ने यह कहकर उन्हें संतुष्ट कर दिया कि हम तो इस संक्षिप्त आशिष से ही चमत्कृत हो गये हैं, गुरुदेव ! हम तो पडितराज की विद्वत्ता को मन-वचन से श्रेष्ठ कोटि का मान चुके हैं। हम राजकुमारी और पंडितराज की जोडी स्वीकार करते हैं और इनके परिणय की घोपणा करते हैं। यथाशीघ्र यह परिणय सम्पन्न कर दिया जायेगा।" राजसभा एक वार पुनः हर्प-ध्वनि से गूँज उठी।

"महाराज ! पंडितराज की साधना का समय हो गया है। अव वे एकान्त चाहेंगे। अनुमति प्रदान करें।" वेदगर्भ ने निवेदन किया और महाराज ने राजसभा का ही समापन घोपित कर दिया। सभी तत्काल ही विसर्जित हो गये।

राजकन्या ने राजसभा का समाचार सुना तो उसके नयनों का सपना हृदय में आकार ग्रहण करने लगा। 'क्या सचमुच ही मुझे ऐसे विद्वान् जीवन-साथी की प्राप्ति हो रही है जो मुझसे दो चरण आगे हैं। आहा.... हा.... ऊपर वाले ने अन्ततः मेरी सुन ही ली। तेरा लाख-लाख धन्यवाद है। हे ऊपर वाले ! तू बड़ा दयालु है, बड़ा कृपालु है।' यही सब-कुछ सोचती राजकन्या सारे राजभवन में फुदकती रही। उसके पैरों में तो जैसे पंख लग गये। उसका मन करने लगा कि सौ-सौ बधाइयाँ दें राजभवन के सभी लोग। उसके हर्ष में सभी भागीदार होकर हर्षित हों। रात्रि में राजभवन दीपावली-सा सज्जित हो उठा। सारे नगर में उत्सव मनाये जाने लगे। सभी प्रसन्न थे और सर्वाधिक प्रसन्न तो गुरु वेदगर्भ थे। उनका प्रतिशोध जो पूर्ण हो रहा था। 'कहती थी आम को फूँक रहा है। और जोर-जोर से हँस दी। अरी छोकरी ! अब जीवनभर फूँकते रहने में ही तुम्हारा सारा जीवन बीत जायेगा, अपने तप्त दुर्भाग्य को और वह शीतल होने का नाम भी न लेगा। सारा संसार हँसे तुझ पर प्रियंगु.... सारा संसार।' मन-ही-मन यह सब-कुछ सोचते हुए गुरु एक क्षीण-सी मुस्कान के साथ मुखर हास कर उठे।

यथासमय पंडितराज के साथ प्रियंगुमंजरी का विवाह भी सम्पन्न हो गया और सुखी जीवन के सपने अपनी पलकों में सँजोये राजकन्या ने दाम्पत्य-जीवन में प्रवेश किया। सहस्र-सहस्र निर्धूम दीपक उसके मानस में जगमगा उठे। पंडितराजरूपी गोपाल ग्वाला को आज इस कथन की सार्थकता समझ आयी कि "बँधी मुट्ठी लाख की और खुल गयी तो खाक की।" उसका मौन व्रत उसकी ढाल बनकर रक्षा कर रहा था। मुखर हो जाने पर तो उसकी सुख-शान्ति सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जायेगी। उसने मौन बने रहने में ही अपनी कुशलता मानी। अपने विद्वान् पति के साथ शास्त्र-चर्चा की कामना कई बार राजकन्या के मन में उदित हुई भी, किन्तु अपने स्वामी के मौन व्रत के समक्ष वह बेचारी विवश थी। वह तो सज्ञान थी। रीते मेघ ही गर्जना करते हैं। बरसने वाले भला गरजते कहाँ हैं, मौन वर्षण करते रहते हैं। विद्वज्जन भी मितभाषी ही होते हैं। थोथे चने ही तो ध्वनित होते रहते हैं। अल्पज्ञ ही अपने मौर्ख्य को आवृत करते रहते हैं अपनी वाचालता से।

यह बन्द मुट्ठी भी कब तक बँधी रहती। उँगलियाँ शिथिल होने लगीं और मुट्ठी ढीली। एक दिन प्रियंगुमंजरी के मन में एक आकांक्षा मचल उठी। इनकी विद्वत्ता की धाक तो सब ओर जम गयी, मैं भी इनके चातुर्य से चमत्कृत हो गयी, किन्तु इन्हें मेरी गहन सज्ञाता का तो आभास ही नहीं है। इन्हें भी तो ज्ञात हो कि इनकी जीवन-संगिनी भी विदुषी है, शास्त्रों की ज्ञाता है और ज्ञानियों में शिरोमणि है। और इस अभिलाषा के अधीन प्रियंगुमंजरी ने अपना एक स्वरचित ग्रंथ अपने स्वामी को देते हुए कहा—"मेरे प्राणप्रिय देवता ! एक तुच्छ-सी रचना है मेरी। इसे देखिये और जहाँ आवश्यक हो इसमें संशोधन कर दीजिये। आपका पारस स्पर्श इस लौह-खंड को कुन्दन बनाकर चमचमा देगा, प्रभो ! तनिक कृपा कीजिये इस दासी पर।" पंडितराज तनिक मुस्करा दिये और सकारात्मक संकेत के साथ मस्तक डुला दिया। निरीह, अबोध राजकन्या मन-ही-मन धन्य हो उठी।

बड़े उत्साह के साथ राजकन्या ने संध्या में अपना ग्रंथ खोलकर रखा। उसके तो हाथों के तोते ही उड़ गये। यह···· यह क्या हो गया। उसने अपने पति को जो लेखनी दी थी वह तो टूटी पड़ी थी और ग्रंथ की बड़ी दुर्दशा हो रही थी। स्थान-स्थान पर उसके पृष्ठ कट-फट गये थे। कुछ पृष्ठों पर कोरी लेखनी के चलाये जाने की आड़ी-तिरछी रेखाएँ थीं। अरे···· क्या ये लेखनी और मसि का प्रयोग नहीं जानता–यह तो सर्वथा निरक्षर ही निकला। अपने मौन की प्रगाढ़ यवनिका के पीछे यह अपने मौर्ख्य को ही छिपा रहा है। तो···· तो सचमुच गुरुजी का अभिशाप ही सत्य सिद्ध हो गया–मेरा विवाह इस मूर्ख ग्वाले से हो गया है। यह तो अत्यन्त शोचनीय स्थिति है। मेरा तो भाग्य ही उजड़ गया। किस उजड्ड–गँवार से पाला पड़ गया। गुरुदेव अपने शाप की क्रियान्विति में स्वयं ही इतनी सक्रिय भूमिका में रहे हैं–यह जानकर तो और भी आश्चर्य होता है। अपने तथाकथित अपमान का प्रतिशोध उन्होंने खूब लिया। वे ही तो खोजकर लाए हैं इस ग्वाले को–मेरे लिए। पर दोष उनका भी क्या है ! वे तो मात्र निमित्त हो गये–यह परिणाम तो मुझे भोगना ही था। कर्मफल ने भला किसी का पीछा छोड़ा है !

रात्रि के प्रथम प्रहर में प्रियंगुमंजरी तथाकथित पंडितराज को अपनी चित्रसारी में ले गयी। भित्तियों पर जीवन-जगत् से संबंधित अनेक दृश्य और भाव बड़ी सुन्दरता के साथ चित्रित थे। पंडितराज इन चित्रों को देखने लगे और राजकन्या बाहर निकल आयी; बाहर बरामदे में चित्रसारी के एक वातायन से सटकर खड़ी हो गयी। अनेक चित्रों के सामने से वे शीघ्रता से निकल गये। एक चित्र को देखकर वे ठिठककर खड़े हो गये और ध्यान से उसे देखने लगे। चित्र में उनके ही जीवन को चित्रित पाया तो वे कुछ क्षणों के लिए उसी जीवन में लौट गये। अनेक गायों–बछड़ों का एक बड़ा समूह चरता हुआ दिखाया गया था इस चित्र में। वह ग्वाला तो अपने चरवाहेपन पर उतर आया। सब-कुछ विस्मृत कर अन्तःप्रेरणा के वशीभूत सहसा चिल्ला पड़ा–"ओ···· ओ···· ओ···· उई,···· ओ···· ओ···· ओ···· उई।" अब···· अब तो स्पष्ट हो गया कि यह तथाकथित पंडित वास्तव में देहाती, गँवार ग्वाला ही है। एक क्षण में ही राजकन्या ने अपना निश्चय सुदृढ़ कर लिया। गुरुजी ने चाहे अपने कथन को सत्य घटित कर भी लिया हो, किन्तु मैं अपने जीवन की स्वामिनी स्वयं हूँ और स्वयं ही रहूँगी। मैं इस मूर्ख के साथ अपने जीवन को बाँधूँगी नहीं। इससे तो एकाकी जीवन ही उत्तम है। मैं समझूँगी–मेरा विवाह हुआ ही नहीं, किन्तु इस मूर्ख को सहयात्री बनाकर मैं जीवन-यात्रा में अग्रसर नहीं हो सकूँगी।

राजकन्या तुरन्त ही चित्रसारी में आयी और रोषपूर्वक बोली–"अरे ओ वन्य, असभ्य ग्वाले ! तूने पंडित का वेश बनाकर मेरे साथ छल किया है। तेरा यह जघन्य पाप जन्म-जन्मान्तर तक भी तेरा पीछा नहीं छोड़ेगा। तुझे पलभर भी शान्ति सुलभ न होगी। मैं अभी, इसी क्षण तेरा परित्याग करती हूँ। जा, दूर हो जा मेरी दृष्टि से और भविष्य में कभी राजभवन की ओर मुँह भी न करना।"

घोर अपमान के साथ दुःखियारा ग्वाला मुख नीचे किये राजभवन से निकल आया। अन्य कोई मार्ग ही न था। मौनव्रतधारी वह ग्वाला अब भी मौन–मूक बना रहा। इस अपमान के आघात ने झिंझोड़कर उसकी सुप्त आत्मा को जाग्रत कर दिया था। वह जो भी रहा हो, किन्तु महाराज की राजसभा ने उसे महापंडित माना है, अवन्ती की प्रजा ने उसे विद्वान् समझा है–तो वह भी उनकी इस भ्रान्त धारणा को सत्य रूप देकर छोड़ेगा। वह प्राणपण से, परिश्रमपूर्वक विद्वान् और पंडित होकर पुनः अवन्ती लौटेगा। एक दिन राजकन्या को भी चकित कर छोड़ेगा। दृढ़ निश्चय हो तो मनुष्य क्या नहीं कर सकता। मन-ही-मन ऐसा संकल्प धारण कर ग्वाला उस शान्त रात्रि में अनिर्दिष्ट में आगे बढ़ गया और अग्रसर होता चला गया।

× × ×

दृढ़ इच्छा-शक्ति के समक्ष सारी बाधाओं को ध्वस्त कर साफल्य स्वतः साक्षात् हो जाता है। मनःशक्ति की ऐसी ही प्रबलता के साथ वह ग्वाला भी मौर्ख्य-त्याग और बुद्धि-वैभव के वरण हेतु संकल्पबद्ध था। उसे एक ही साध थी कि वह स्वयं को वैसा वास्तव में बना लें–जैसी धारणा और अपनी छवि लोगों के मानस में अंकित हो चुकी है। वह प्रतिमा अखंडित रहे। वह ज्ञानवान और कला-सम्पन्न हो जाय। इसी लगन नें मग्न वह अभिलषित की प्राप्ति का स्रोत खोज रहा था। नगर के बाहर आने पर उसे उद्यान-स्थित मंदिर दिखायी दे गया। उसके मन में सर्वप्रथम विचार यही उदित हुआ कि कालीमाई की उपासना से मुझे अपने कार्यों की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। ग्वाला श्रद्धा-भक्तिपूर्वक काली-मंदिर में प्रविष्ट हो गया। भव्य और तेजोमय देवी प्रतिमा के दर्शन से ग्वाले के मन में विश्वास का आलोक संचरित होने लगा। उसे अपनी अभीष्ट-सिद्धि संभव प्रतीत होने लगी।

ग्वाला देवी माँ के समक्ष खड़ा होकर हाथ जोड़े, भक्ति भाव से सिक्त हृदय के साथ मनोयोगपूर्वक कालीमाई के दर्शन करने लगा। उसके चित्त का श्रद्धा भाव उसके नयनों में स्पष्ट झलकने लगा। वह इसी मुद्रा में खड़ा ही रह गया। अन्तःप्रेरणा से उसके अधरों पर ये वोल फूट पड़े–"हे माँ ! अपने इस मूर्ख पुत्र को विद्या का दान करो। मुझे वही कर दो माँ, जैसा मैं समझा जा रहा हूँ।" ये ही वचन पुनः-पुनः उच्चरित होने लगे। यही उस निर्मल मनस्क, निरीह का जाप हो गया। अन्न-जल का परित्याग कर वह निश्चल रूप से इसी जाप में लीन हो गया। सारा दिन यों ही व्यतीत हो गया। उसमें तनिक शैथिल्य आने लगा, किन्तु यह मात्र शारीरिक ही था उसका जाप तो द्रुत से द्रुततर होता गया। एक ही लगन, एक ही साध, एक ही अभीष्ट था उसका कि वह जिस प्रतिष्ठा के योग्य समझा गया, उसी के अनुरूप वह वस्तुतः हो जाय। उसका छल यथार्थ में परिणत हो जाय। अन्य कोई विचार उसके मन को स्पर्श ही नहीं कर रहा था। आत्म-केन्द्रित, अन्तर्मुखी होकर वह ग्वाला तो परम साधक का स्वरूप ग्रहण करता जा रहा था। उसे उत्कट विश्वास रहा कि माँ उसकी विनती अवश्य सुनेगी, उसकी यह एक

मात्र कामना वह अवश्य पूर्ण करेगी। यह आस्था उसकी साधना को दृढतर करती जा रही थी। रात्रि आयी और चली भी गयी। उसका जाप निरन्तरित हो गया। वह थकित और श्रमित था, किन्तु उसकी चेतना इस ओर थी ही नहीं। शिथिल और श्लथ होकर भोर होते-होते पीछे की ओर गिर पड़ा पर उसे पीछे के एक स्तंभ का सहारा प्राप्त हो गया। स्तंभ से टिका-टिका वह अब भी जाप में लीन था। बाह्य जगत् से उसका सारा नाता विच्छिन्न हो गया। उसकी बन्द पलकें भारी हो गयीं। उसके रूक्ष अधर पपड़ाने लगे, पर उसके बोल यथावत् ही थे। अशक्ति की स्थिति के कारण उसका स्वर अब सुनायी देता न था, पर अधरों का कम्प उसके जाप की निरन्तरता का साक्षी था।

महाराज को जब यह ज्ञात हुआ कि महापंडित तो वास्तव में ज्ञानी और विद्वान् न था, उनके साथ छल किया गया है तो उनके मन को बड़ा आघात लगा। इसके पीछे वेदगर्भ का प्रतिशोध रहा है–इस तथ्य की सूचना पाकर तो वे अपनी प्रिय पुत्री के दुःखाभास से पीड़ित हो उठे और वेदगर्भ के प्रति उनके मन में कटुता व्याप्त होने लगी। वे सहसा आ गयी इस वीभत्स परिस्थिति से आकुल-व्याकुल हो उठे। महाराज तो धीर-गंभीर प्रकृति के थे। यह विचलन क्षणिक ही रहा। उन्होंने अपने अस्थैर्य को सायास, शीघ्र ही वश में कर लिया और स्थिर मति से समस्या का मन-ही-मन विवेचन किया। उनका मनोमंथन चलता रहा। मनन ही मनुष्य के लिए परिस्थितियों को पारदर्शी बना देता है और यही शुद्ध समझ उसे समस्या के समाधान का दर्शन करा देती है। आवश्यकता तटस्थ बुद्धि से परिस्थितियों के विश्लेषण की ही रहती है। महाराज के मनन ने इस निष्कर्ष पर उन्हें पहुँचाया कि प्रियंगुमंजरी का पति जैसा भी है–वही उसका जीवन-साथी रहेगा–आजीवन रहेगा। कर्म-संयोग जैसा है, वह अटल रहेगा। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से उसे मनोवांछित परिवर्तन दे नहीं सकता। उसे उसी के अनुरूप जीवन-यापन करना होता है। प्रियंगुमंजरी भी इसकी अपवाद तो हो नहीं सकती। कर्म-विधान उसके लिए भी अनिवार्य है। जैसा प्रारब्ध है, वह स्वीकार्य ही होना चाहिये, अन्य कोई मार्ग भी नहीं। प्रियंगुमंजरी ने प्रताड़ित कर अपने मूर्ख पति को गृह-निष्कासित कर दिया–यह उचित नहीं है। कोई अपने अर्द्धांग को कैसे स्वयं से विलग कर सकता है। यह क्षणिक रोष शान्त होगा–हमें इसे शान्त करना ही होगा। उनका पुनर्संयोग अटलनीय है।

यही सब सोचकर महाराज ने बड़ी तत्परता के साथ उस ग्वाले की खोज करायी। दूर-दूर तक खोज करने वाले चर निराश होकर लौट आये, किन्तु नगर-क्षेत्र में खोज करने वालों से महाराज को शुभ संदेश प्राप्त हुआ। राजजामाता तो नगर-बाह्य उद्यान के कालीमाई के मंदिर में उपासना कर रहे हैं–यह समाचार पाकर महाराज स्वयं मंदिर पहुँचे। अपने जामाता का आस्थापूर्ण अटूट भाव देखकर महाराज अत्यन्त प्रभावित हुए। न हो विद्वान्, इनका यह भक्ति-दृढ़ता का

गुण ही क्या कम है। यदि बिटिया के प्रारब्ध में विद्वान् पति का योग होगा तो यह अपनी ऐसी लगन से क्या ज्ञानी नहीं बन सकते ! महाराज साधनारत जामाता की शिथिल दशा देखकर चिन्तित हो उठे। उन्हें तो अमंगल भावों ने भी घेर लिया। कहीं ऐसा न हो जाय कि ......। सबसे पहला करणीय तो यही है कि प्रियंगु के सुहाग की रक्षा की जाय। ग्वाले के अशक्त शरीर में सामर्थ्य चुकता जा रहा था। उसके घुटनों में झुकाव आने लगा था। किसी भी समय उसका शिथिल तन भूलुंठित हो सकता था। महाराज को एक युक्ति सूझी। अन्तःपुर में 'काली' नाम की एक दासी थी। उसे बुलवाकर महाराज ने उसे अपनी योजना समझायी और उसे देवी-प्रतिमा के पीछे छिपाकर खड़ा कर दिया। महाराज स्वयं भी तब मन्दिर से बाहर निकल गये।

कुछ ही क्षणों में मंदिर में कालीमाई का तीव्र स्वर गूँज उठा–"पुत्र ! अपनी ऑखें खोल। मैं तेरे अविचल भक्ति भाव से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तेरी मनोकामना पूर्ण होगी। तू बड़ा विद्वान् कवि होगा–कवि-शिरोमणि के रूप में तू सदा अविस्मरणीय बना रहेगा। जा, काव्याभ्यास कर !"

"मॉ ! काली मैया !! तेरा अनुग्रह मेरे जीवन का सर्वस्व है और सदा रहेगा। तू बड़ी कृपालु है, बड़ी भक्तवत्सला है। मेरे तुच्छ जीवन को माई ! तूने स्वर्ण बना दिया है। आगे भी अपने इस शरणागत पर दया–ममता बनाये रख, माई ! तू तो भक्तवत्सला है, दीन-प्रतिपाल है।" ग्वाले ने मंथर गति से आगे बढ़ते हुए देवी के पाट पर माथा झुका दिया। उठा तो उसके नयन-जल से उसका मुख प्रक्षालित हो रहा था। उसके अधरों की मुस्कान साक्षी थी इसकी कि ये हर्ष के अश्रु थे। केवल महाराज और दासी काली ही इस रहस्य की ज्ञाता थी। ग्वाले को तो माता का आशीर्वाद साक्षात् मिल गया था। वह आनन्द-विभोर अवस्था में मंदिर से बाहर आया। उसके मन के विश्वास ने दैहिक दौर्वल्य को प्रभावशून्य कर दिया था। वह प्रसन्न भाव से राजसभा की ओर चल दिया।

कालीमाई ने इस विचित्र परिस्थिति का आकलन किया। मैंने भक्त को कोई आशीर्वाद दिया नहीं और वह मेरे आशीर्वाद के विश्वास के साथ गया है। उसकी आस्था की रक्षा की ही जानी चाहिये। वह सच्चा भक्त तो है ही–इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। वह उपयुक्त पात्रता रखता है। उसके जीवन में वह तथःकथित आशीर्वचन फलना ही चाहिये। अन्यथा जगत् में मेरे प्रति आस्था को आघात लगेगा। मेरे आशीर्वचन अकारथ हो गये–यह मानकर मेरे भक्तों में अविश्वास का भाव प्रवल हो जायेगा। यही सब सोचकर देवी मॉ ने ग्वाले को विद्वान् वनने का वरदान देना अनिवार्य माना और उसे अनेक विद्याएँ प्रदान कीं।

राजसभा के मार्ग में गतिशील ग्वाले के मन में जैसे सहसा ही उजाला फैल गया। उसके मुख-मण्डल पर सहसा एक अद्भुत आत्म-विश्वास भासमान हो उठा।

उसके मानस में काव्यात्मक उर्मियाँ लहराने लगीं। ललित कल्पनाएँ मन में उठकर उसके अधरों पर थिरकने लगीं। इस विचित्र परिवर्तन से वह स्वयं अचंभित रह गया। वह निर्बाध रूप में राजसभा में पहुँचा और इस समय उसे आन्तरिक विश्वास था कि वह सुकवि हो गया है। उसने महाराज को प्रणाम निवेदन किया और महाराज ने भी व्यंग्यपूर्वक अपने जामाता का स्वागत किया–"आओ.... आओ.... काली दासी-पुत्र, आओ.....!"

"काली दासी का पुत्र नहीं हूँ, महाराज ! मैं सरस्वती-पुत्र हूँ। मैं अब वह मूर्ख भी नहीं रहा–जैसा पहले कभी था। मैं अब कोमल भावनाओं का सुकवि हूँ, महाराज ! मुझ पर विश्वास करें।"

"विश्वास ! विश्वास तो हमने पहले भी तुम पर किया था। हमारे पैर में कोई काँटा दूसरी बार नहीं गड़ सकता, जामाता। अब अपना नया जाल बिछाना छोडो। तुम जामाता हो गये हो तो रहोगे भी, चाहे जैसे भी हो–किन्तु.... किन्तु तुम यह सुकवि होने का मिथ्या दिखावा तो न करो।" महाराज तो इस ग्वाले के विश्वास का आधार जानते थे। कालीमाई का आशीर्वाद मानकर जिन वचनों से यह उत्साहित है–वे किसके थे–महाराज इस वास्तविकता से भलीभाँति परिचित थे। जामाता जिस भ्रम में ग्रस्त है उसके कारण महाराज के लिए वह दया का पात्र हो गया था। उन्होंने अपने जामाता को सम्बोधित करते हुए कहा–"सुनो, तुम अपने आप को सरस्वती-पुत्र मान तो रहे हो, किन्तु यह भ्रम है तुम्हारा–निरा भ्रम।"

"भ्रम नहीं, राजन् !.... भ्रम नहीं, यही यथार्थ है।"–राजजामाता ने उत्साहपूर्वक कहा–"मैं काली मैया का भक्त हूँ। उन्हीं की कृपा से मैं सुकवि हुआ हूँ। आज से मैं अब 'कालिदास' हूँ, महाराज ! यही मेरा नाम हो गया है।"

महाराज ने सोचा इस मूर्ख को इसकी मूर्खता का आभास करा देना ही उपयुक्त रहेगा और तब विनोद की मुद्रा में बोले–"अच्छा-अच्छा ! हम मान लेते हैं कि तुम सुकवि हो गये हो। आओ, कुछ काव्य-विनोद ही हो जाये। हम एक काव्यांश चुनते हैं–

"वाहनोपरि तरंति समुद्राः।"

"तुम स्व-रचित काव्य-पंक्तियों में ज्ञात अंश का सार्थक उपयोग करके समस्या-पूर्ति तो कर दो ! तुम तो सुकवि हो, तुम्हारे लिए यह कार्य सुगम ही होना चाहिये।"

काव्य-वैभव में समृद्ध हो चुके कालिदास ने तत्काल ही काव्य-रचना कर यह श्लोक प्रस्तुत कर दिया–

"मेदनी धरशिरस्सु पयोदान्, वर्षतो जलभृतश्चरतोऽलम्।
वीक्ष्य पंडितजना जुगरेवं, वाहनोपरि तरंति समुद्राः॥"

(जल से सम्पृक्त मेघों को पर्वतों पर वर्णन करते देख पंडित जन कहने लगे कि पर्वतरूपी वाहनों पर समुद्र तैरते हैं।)

इस आशु काव्य-रचना से नव-कवि कालिदास ने अपनी प्रतिभा का ऐसा प्रदर्शन कर दिया था कि राजसभा के पंडितगण तो चमत्कृत हो उठे। महाराज तो मंत्र-मुग्ध से मौन ही बैठे रह गये। यह कालिदास तो सचमुच ही सुकवि हो गया है। दासी काली के वचनों में ऐसी सार्थकता कैसे आ गयी। कही उन क्षणों में प्रत्यक्ष कालीमाई ही तो उस दासी में अवतरित नहीं हो गयीं। जो भी हो हमारा जामाता तो अव विद्वान् हो गया है। प्रकट रूप में वे बोले–"धन्य हो, जामाताराज ! धन्य हो !! तुमने तो जिस अद्‌भुत काव्य-कौशल का परिचय दिया, वह सचमुच तुम्हें कवि-शिरोमणि की प्रतिष्ठा दिलाने के लिए पर्याप्त से भी अधिक है। तुम अवश्य ही देववाणी को अपनी रचनाओं से कृतार्थ करोगे। हमारा सौभाग्य है कि आप-जैसा जामाता हमे प्राप्त हुआ।" बड़ी देर तक राजसभा में हर्ष-ध्वनि होती रही।

राजकन्या प्रियंगुमंजरी ने संवाद सुना तो उसकी तो बॉछे ही खिल गयीं। उसका हृदय मानो वल्लियों उछलने लगा–"वाह ! वाह !! मेरे प्रियतम ! आपने तो अद्‌भुत चमत्कार कर दिखाया। अपनी मौलिक और आशु काव्य-रचना से आपने पंडितों पर अपनी धाक जमा दी। वाह ! यह मेरे जीवन का सर्वाधिक प्रसन्नता का दिन है। मुझे ऐसे ही जीवन-साथी की अपेक्षा थी।"

प्रसन्नता के साथ कालिदास .... सुकवि कालिदास प्रियंगु मंजरी के प्रासाद में गये और पाया कि वहॉ तो उनकी प्रियतमा पलक-पॉवड़े विछाये बैठी थी। अपने स्वामी का आगमन देखकर प्रफुल्लित राजकन्या दौडकर आगे आयी–स्वागत के साथ उसे कक्ष में ले आई। कालिदास भी कृतार्थ हो उठा–"मैं बड़ी हर्षित हूॅ, प्रियतम ! आज ही मेरे सद्‌भाग्य का द्वार खुला। आज राजसभा मे आपने अपने कवित्व का जो परिचय दिया–उससे मैं तो गद्‌गद हो उठी हूँ। मैने आपके साथ जो कठोर व्यवहार किया–मुझे उसके लिए अव लज्जा का अनुभव कर रही हूॅ। क्षमा कर दीजिये .... मुझे क्षमा कर दीजिये, नाथ !"

"प्रियतमे ! ..... प्रियतमे !! ऐसा न कहो।"–प्रेयसी के नमित शीश को अपने कोमल स्पर्श से ऊपर को उठाते हुए, उसके आवद्ध करों को अपने हाथो में लेते हुए कहा–"तुम्हारी उस फटकार ने ही मेरी सुप्त प्रतिभा को जाग्रत कर दिया। तुम्हारा उपकार भी भला कोई विस्मृति-योग्य वस्तु है। .... किन्तु इस विषय की चर्चा ही अव व्यर्थ है। अतीत के कटु–अप्रिय प्रसंगों को विस्मृत करने की अनिवार्य अपेक्षा रहती है–वर्तमान सुखोपभोग के लिए। आओ, कुछ अन्य प्रसंग चुने।" कालिदास के मुख पर एक सौम्य मुस्कान की कान्ति व्याप्त हो गयी।

रुआँसी हो आयी राजकन्या के अधरो पर भी एक फीकी-सी मुस्कराहट आ गयी। उत्साहित होती हुई वह वोली–

"अस्ति कश्चिद् वाग्विलासो भवतो रुचिरः पते।"

"हे पतिदेव ! क्या आप मेरे संग वाणी-विलास करना चाहते हैं?"

कालिदास ने सहर्ष अपनी सहमति व्यक्त की और तुरन्त गूढ़ार्थ श्लोक की रचना की। श्लोक देववाणी में ही था जिसका भाव था—"हे प्रिये ! भारत देश के उत्तर में पर्वतराज हिमालय है जो विशालकाय है। पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ यह पर्वत समुद्र को स्पर्श करता हुआ ऐसा प्रतीत होता है, मानो पृथ्वी को मापने के लिए यह मापदंड लगाया गया हो।"

श्लोक सुनकर तो विदुषी राजकन्या चमत्कृत हो उठी—"वाह स्वामी !..... वाह ! क्या शब्द-चयन है, क्या कल्पना है। जी करता है आपसे काव्य-पाठ सुनती ही रहूँ। जगत् का कोई अन्य व्यवहार इसके समक्ष महत्त्व पा ही नहीं सकता। सब-कुछ भूलकर काव्य-चर्चा में ही खो जाने को मन करता है।" दोनों के मध्य ऐसे ही सरस वार्त्तालाप का क्रम चलता रहा।

अन्त में कवि कालिदास ने कहा—"प्रिये ! तुमने, मेरे यहाँ आगमन पर जो श्लोक सुनाया उसी से हमारी यह दीर्घ काव्य-चर्चा चली है। मैं तुम्हारी उस पंक्ति के आरम्भिक तीन शब्दों पर आधारित तीन काव्यों की रचना करूँगा।" ये तीन शब्द थे—'अस्ति', 'कश्चिद्' और 'वाग्विलास'। कालान्तर में महाकवि कालिदास ने 'अस्ति' पर मेघदूत, 'कश्चिद्' पर कुमारसंभव और 'वाग्विलास' पर रघुवंश काव्य की अमर रचना की। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' जैसे शाश्वत महत्त्व के नाटक के रचनाकार के रूप में उन्हें अपार ख्याति प्राप्त हुई। रसज्ञ काव्य-मर्मज्ञ महाराज विक्रमादित्य ने अवन्ती की राजसभा के नवरत्नों में कवि कालिदास को ससम्मान प्रतिष्ठित किया। कालिदास के माध्यम से राजराजेश्वर विक्रमादित्य का नाम और विक्रमादित्य के माध्यम से महाकवि कालिदास का पुष्प स्मरण आज भी किया जाता है। ये दोनों भारत की अमर विभूतियाँ हो गयी हैं।

● ●

प्रजा-हितैषी शासकों में खोज-खोजकर जनता के अभाव-पीड़ाओं को ज्ञात कर लेने की प्रवृत्ति रहती है। ज्ञात हो जाने पर वे उपयुक्त समाधान करते हैं और ऐसे शासक जनता के हृदय-सम्राट् बन जाते हैं। अवन्ती-नरेश भी इसी कोटि के थे। वे तो प्रजा के हितों की इतनी महत्ता स्वीकार करते थे कि उनकी मान्यता ही हो गयी थी कि जिस राजा की प्रजा दुःखी रहती हो, उस राजा को नरक की गति प्राप्त होती है। वे अपने राजसी वेश में ही यदि जन-सम्पर्क करेंगे तो पीडित जन राज्य के दोष वताने में संकोच करेंगे—यह मर्म समझकर वे प्रायः अपनी पहचान गुप्त रखते हुए अन्य-अन्य वेश धारण कर लिया करते थे। इसी क्रम में एक वार

वे वेश परिवर्तित कर एक खेत पर पहुँचे। हरी-भरी गन्ने की फसल लहलहा रही थी। कृषक रखवाली कर रहा था। यात्री-वेश में एक परदेसी को अपने खेत पर आया देख कृषक ने आवभगत की। 'आओकार' के साथ उसने कहा–"परदेसी ज्ञात होते हो, भाई ! कहाँ से आ रहे हो?"

"भैया ! पथिक हूँ, बड़ी दूर से आ रहा हूँ। तुम्हारे सारे क्षेत्र में इतनी अच्छी कृषि है कि देखकर जी प्रसन्न हो गया।"

"सब ऊपर वाले की माया है, भाई ! उसी का दिया खाते हैं। वह जिस हाल में रखे .... रहना ही पड़ता है। तुम तो अतिथि हो हमारे .... और अतिथि भगवान के समान होते हैं। क्या सेवा करूँ, भगवन् ! कृषक ने जब ऐसी विनय के साथ पूछा तो अपनी जनता की ऐसी सहृदयता पर बड़ी प्रसन्नता परदेसी पथिकरूपी नरेश को हुई। कभी-कभी राजसी वैभव से ऊबकर राज-परिवार के सदस्य साधारण सुखों के लिए लालायित हो उठते हैं। महाराज के मन में भी ताजा गन्ने के रस का आनन्द लेने की अभिलाषा जागी; पर वे संकोच कर गये। उत्तर में यही कहा–"भैया ! प्यास लग आयी है। यदि कुछ जल मिल जाता .....।"

"अरे ! तुम परदेसी हो न .... इस कारण राजा 'विक्रम वीर' के राज्य की रीति नहीं जानते और पानी माँग रहे हो। भाई मेरे ! यहाँ प्यासे अतिथियों की सेवा दूध-दधि से की जाती है। लो, भगवन् ! मैं तुमको गन्ने का रस पिलाता हूँ।"–यह कहकर कृषक ने खेत से एक गन्ना उखाड़ा और कोल्हू में पेरकर रस निकाला। यह ताजा रस कुल्हड़ में भरकर प्रसन्न होता हुआ कृषक ले आया और परदेसी पथिक को पीने को दिया।

तृप्त होकर परदेसी ने कृपक को धन्यवाद दिया और पूछा–"भाई ! तुमने अपने लिए गन्ने का रस रखा ही नहीं, सव मुझे पिला दिया .... !"

'नही भाई ! पूरे एक गन्ने का रस निकाला है। अभी तो दो जन और पी लें इतना इस धरा है।" कृषक ने अपनी सरलता का परिचय दिया।

"ईश्वर तुम्हारा उत्पादन वढाए, और भी समृद्धि दे। अव मैं चलता हूँ।" महाराज प्रसन्न मन लौट आए। मार्ग में वे सोचते जा रहे थे–'गन्ने की खेती में तो अच्छी खासी आय है। एक गन्ने से ही जव इतना रस निकल आया तो इतने वड़े खेत से इस कृषक को तो वड़ा ही लाभ होता होगा। इतना धन यह अर्जित करता है और राज्य को कर तो यह अत्यल्प ही देता है। यह तो उचित नहीं है। हमें इसका कर वढा देना चाहिये। सम्पन्न लोगों से समस्त जन के कल्याणार्थ यदि कुछ अधिक सहकार प्राप्त किया जाय तो इसमें हानि ही क्या है? सम्पन्न और विपन्न में तो अग्रज-अनुज-जैसा संवंध रहना चाहिये। इस कृषक का कर हम वढा देंगे।' सव-कुछ सोचते हुए महाराज राजभवन की ओर अग्रसर होते रहे।

महाराज उसी वेश में, उसी खेत पर अगले दिन भी पहुँचे। वह उपस्थित था। महाराज बोले–"भैया ! अव घर को लौट रहा हूँ।

रस पिलाया था उससे बड़ी तृप्ति रही। वडा ही मीठा गन्ना है तुम्हारे खेत मे। यह खेत देखा तो जी में आया .... कुछ देर यहॉ विश्राम ही कर लिया जाय और मै तुम्हारे पास आ गया।"

"अच्छा किया, भाई ! कि तुम स्वयं ही आ गये। मुझे दिखायी दे जाते तो मै ही तुम्हें पुकार लेता। हमारे खेत से होकर निकलो और प्यासे रह जाओ—ऐसा कैसे हो सकता है? रुको, मैं तुम्हें रस पिलाता हूॅ।" कृषक ने कहा और कल की भॉति ही खेत से एक मोटा-सा स्वस्थ गन्ना तोड़ लाया। कोल्हू में पेरने लगा तो रस तो निकल आया, किन्तु अत्यल्प मात्रा में। 'यह क्या हुआ? .... वही खेत, वैसा ही गन्ना ....। रस क्यों नहीं मिला उतना ....।'—महाराज सोचने लगे। बोले—"क्या बात हो गयी, भैया ! .... आज गन्ने में उतना रस नहीं रहा। कल तो इतना निकला कि तीन व्यक्ति तृप्त हो जायें और ..... आज दो-तीन घूॅट भी कठिनाई से होगा। कोई दूसरा—अच्छा-सा गन्ना क्यों नहीं ले आते हो। हॉ .....?"

"भाई मेरे ! .....कोई-सा गन्ना हो, कोई अन्तर नहीं रहेगा। आज तो सभी गन्ने इतना-इतना-सा ही रस देंगे। कल की बात अन्य थी ... आज वह नहीं रही।"

महाराज को बड़ा आश्चर्य हुआ ... यह सब-कुछ सुनकर। उन्हें बडा असामान्य-सा अनुभव होने लगा। बोले—"भैया ! कल और आज में ऐसा क्या अन्तर आ गया कि गन्नों का रस भीतर-ही-भीतर घट गया? ऐसा क्यों हो गया?"

"स्पष्ट बात यही है, भाई मेरे ! .... कि परिवर्तन गन्ने में भला क्या आयेगा, परिवर्तन तो मनुष्य की भावनाओं में आता है। बाहर की इन वस्तुओं में तो उन भावनाओं का प्रभाव मात्र झलकता है। जैसा जिसका मनोभाव होता है—वैसी ही श्री समृद्धि हो जाती है। कल तक हमारे राजा के विचारों में शुभता थी तो उसके राज्य की समृद्धि भी वैसी ही वढी-चढी थी। अव जो थोडा अशुभ विचार उसके मन में आ गया तो गन्नों का रस सिमटने लगा है। राजा की समृद्धि तो उसके राज्य में होने वाले उत्पादन पर ही तो निर्भर करेगी।"

कृषक का कथन सुनकर महाराज तो विचार-चक्र में ग्रस्त हो गये। कहता तो यह सत्य ही है। इसके विषय में हमारे मन में कर वढ़ा देने का विचार आया अवश्य था। क्या उसका, उस विचार मात्र का इतना प्रभाव और इस शीघ्रता के साथ हो गया? और इस कृषक को राजा की अशुभ भावना का ज्ञान कैसे हो गया .... ? हमने तो यह विचार किसी के आगे अव तक व्यक्त ही नहीं किया है। रसाभाव का कारण हमारे अमंगल विचार रहे भी हों तो हमने क्या विचार किया—उस सव की अनुभूति इसे हो गयी ... यह आश्चर्यजनक ही है।

आगामी प्रातः ही उन्होंने अपने वुद्धिमान प्रधानामात्य भट्टमात्र को वुलाया और यह विचित्र वृत्तान्त उसे सविस्तार सुनाया। तव उससे पूछा भी कि ऐसा

क्योंकर संभव हुआ? भट्टमात्र तो तनिक भी सोच-विचार में न पड़ा। वह क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त का ज्ञाता था। उसने बड़ी तत्परता के साथ कहा–"महाराज ! ऐसा होना स्वाभाविक ही है। व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य आत्माओं का एक अगोचर संबंध होता है। हम किसी अन्य के विषय में क्या विचार रखते हैं, इसी संबंध के माध्यम से उसका ज्ञान उस अन्य को हो जाता है, हमारे विचारों की प्रतिक्रियास्वरूप लगभग वैसे ही विचार उसके मन में भी हमारे प्रति उदित हो जाते हैं। जैसी क्रिया ··· वैसी ही प्रतिक्रिया। जैसी ध्वनि होगी ··· पवर्तो से लौटकर वैसी ही प्रतिध्वनि आती है।"

"कदाचित् तुम सत्य ही कहते हो, भट्टमात्र ! किन्तु तुम्हारी बातें इतना गहन और जटिल हैं कि एक बार तो वे अविश्वसनीय ही लगने लगती हैं। क्या पता? कदाचित् ऐसा होता ही हो। क्या कहा जा सकता है···· ?"

"होता है, महाराज ! अवश्य ऐसा ही होता है। विश्वसनीय भी इसे बनाकर दिखा दूँगा। आज हम दोनों एक साथ नगरचर्या को निकलेंगे और आपको मैं इस सब का प्रत्यक्ष अनुभव करा दूँगा।"–भट्टमात्र ने पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ कहा।

दोपहर ढलने पर महाराज और भट्टमात्र–दोनों ही साधारण से वेश में क्षिप्रा-तट के वनों में आ पहुँचे। बड़ा सुरम्य वन था। चारों ओर हरियाली ही हरियाली थी। भाँति-भाँति के पंछी अपनी मधुर वाणी से वातावरण को सरस बना रहे थे। कभी कोई चपल खरगोश उनका मार्ग काटकर निकल जाता तो कहीं कुछ दूरी पर कोई मृग कुलाँचे लगाता दिखायी दे जाता। इस मनोरम वातावरण में महाराज खो-से गये थे कि इसी समय उन्हे दूरी पर कुछ लकड़हारे दिखायी दे गये जिनके सिर पर लकड़ियों के भारी-भारी गट्ठर थे। पीछे-पीछे कुछ स्त्रियाँ चल रही थी जो घास के गट्ठर लादे थी। वन्य जीवन की ये सामान्य गतिविधियाँ थीं, किन्तु महाराज के मन में इसी को लेकर असामान्य-से विचार उठने लगे। विचार जितने अच्छे थे–वे उतने ही अव्यावहारिक भी थे। कुछ बुराइयाँ अनिवार्य भी तो हो जाती है। उन्हें इसी दृष्टि से अनौचित्य की सीमा से बाहर मानने में विवेकशीलता रहती है। महाराज ने भट्टमात्र से कहा–"ये लोग क्या करते हैं? वनस्पति का ह्रास इस प्रकार होता रहा तो एक दिन कमनीय कानन इस धरा पर दृष्टिगत ही नहीं होंगे। प्रकृति के एक अनुपम वरदान से हम स्वयं को वंचित कर देंगे ये, प्रधानामात्य ! ये निरीह पशु-पक्षी बेचारे कहाँ आश्रय लेंगे?"

"यही इन वनवासियों की आजीविका है, राजन् ! इनके पास अन्य कोई स्रोत ही नही और शताब्दियों से ऐसा ही चल रहा है। बेचारे ये परिवार कहाँ जायेंगे?" भट्टमात्र के इस कथन पर अधिक विचार किये बिना ही महाराज ने त्वरा से कहा–"खोजे ···· ये कोई अन्य साधन खोजे–अपनी आजीविका प्राकृतिक सौन्दर्य को यो नष्ट नहीं करने दिया जा सकता। हम प्रतिबंध लगा देगे ···· हमे लगाना ही पड़ेगा।"

अब तक लकड़हारे भी समीप आ गये। आज दो नये व्यक्तियों को इस वन मे देखकर वे कुछ विचार में पड़ गये और उनकी गति सहसा तीव्र हो गयी कि शीघ्रता के साथ वे इनकी समीपता को पार कर जायें। तभी भट्टमात्र ने इन्हें रोकने की दृष्टि से पूछ लिया–"किस गाँव के हो भाई ! क्या करोगे इन गट्ठरों का? इस घास का?"

"माई-बाप ! पास के खेड़ा में रहते हैं हम। ये घास-लकड़ी नगर में ले जाकर बेच देंगे और जो कुछ मिलेगा उससे बाल-बच्चों का पेट भरेंगे। हमसे कोई चूक हो गयी, बापा?" एक लकड़हारे ने कहा।

"नहीं ···· नहीं ··· भाई ! तुमसे क्या चूक होगी भला ! पर क्या तुमने सुना नहीं ···· तुम्हारे-हमारे राजा की मृत्यु हो गयी है आज?" भट्टमात्र ने साधारण रूप में बात कह दी।

"मर गया क्या ····!" उत्साह के साथ अन्य लकड़हारे ने पूछा। "अच्छा ही हुआ कि ऐसा राजा नहीं रहा। वह तो हमारा बुरा सोचने लगा था।"–एक अन्य ने कहा–"जब राजा ही हमारा बुरा सोचे तो फिर हमारा पालक कौन होगा, माई-बाप ! भगवान तो सब देखता है। उसका भरोसा भारी ! उसने ऐसे राजा को उठा लिया–अच्छा ही किया।"

"किसी का बुरा न सोचो। तुम्हारे लिए बुरा सोचने वाले के लिए भी भला सोचो। एक दिन वह भी तुम्हारे लिए भला ही हो जायेगा।"–भट्टमात्र ने कहा और महाराज के साथ आगे बढ़ गया। कुछ क्षणों के मौन-उपरान्त भट्टमात्र ने मुखर होते हुए चर्या आरंभ की–"राजन् ! आपने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया होगा। हमारी अन्यों के प्रति जो कामनाएँ रहती हैं, वे ही हमारे पास लौट आती हैं–अन्यों की हमारे प्रति कामनाएँ बनकर। वैमनस्य एवं मैत्री अधिक समय तक एकपक्षीय नहीं बनी रह सकती है।"

"तुम्हारे कथन में सत्य का आभास होता अवश्य है, किन्तु मित्र ! क्या ऐसा नहीं होता कि हम किसी के लिए मंगल भावना रखते रहें और वह हमारे लिए दुष्कामना ही करता चले?"

महाराज के प्रश्न को महत्ता देते हुए भट्टमात्र ने कहा–"श्रीमानेश्वर ! आपका चिन्तन उपयुक्त ही है, किन्तु जगत् का अनुभव यही रहा है कि कर भला तो हो भला। इसके विपरीत परिणाम कभी आ नहीं सकता। यदि हमारी भलाई के प्रत्युत्तर में बुराई मिले तो परिणाम में सन्देह करना व्यर्थ है कि हमारे शुभ उत्तर में भी यह अशुभ है। फिर हमारे चिन्तन की दिशा तो यही होनी चाहिये कि हम कहीं अपनी भलाई को भ्रमवश ही तो भलाई नहीं मानते आ रहे हैं? या उसमें वास्तव में बुराई के लक्षण तो नहीं हैं? अवश्य ही तव हमारी भलाई में कोई अभाव है। उसकी खोज कर संशोधन और पूर्ति करनी चाहिये। हम चाहे आम मानकर पौधे को सींचते रहें, किन्तु वह यदि ववूल है तो उसके परिपक्व हो जाने पर हमें मीठे आम नहीं, ववूल के काँटे ही मिलेंगे। कभी-कभी कर्त्ता ही स्वयं को

प्रवंचित करता रहता है। यह ध्रुव-सत्य है, महाराज ! कि हमारे शुभ चिन्तन का परिणाम कभी कष्टकर नहीं होता, अशुभ नहीं होता।"

यों चर्चा करते-करते दोनों वन के एक छोर को पार कर बाहर निकल गये। कुछ दूरी पर एक गॉव दिखायी देने लगा था। दोनों ही उस ग्राम की ओर अग्रसर हुए। ग्राम के बाहर तक वे पहुँचे और देखा कि एक वृद्धा ग्वालिन आ रही है। दूध-दही की दो मटकियॉ उसके शीश पर थीं। इस भार से उसकी ग्रीवा टेढ़ी हो रही थी। साधनहीनता और विपन्नता उसके वस्त्रों से झॉकती थी। अति साधारण धातुओं की चूड़ियॉ और कुछ अन्य अनिवार्य आभूषण थे। दुर्बल और अशक्त तन और चिन्तित मन उसके ये ही साथी लगते थे। महाराज का हृदय दयार्द्र हो उठा। उनके मुख पर करुणा का भाव व्याप्त हो गया–"भट्टमात्र ! यह ग्वालिन बेचारी कितनी दुर्बल और वृद्धा है। इतने-से दुग्ध व्यवसाय से कैसे भरण-पोषण होता होगा। क्या राज्य को ऐसी असहाय जनों की सहायता के लिए सक्रिय नहीं रहना चाहिये ! हमने निश्चय किया है कि राज्य की ओर से ऐसी सभी ग्वालिनों को कुछ गायें भेट की जायें और अन्य आवश्यक सहायताएँ भी उनके लिए सुलभ करायी जायें।" महाराज यह चर्चा कर ही रहे थे कि ग्वालिन समीप आ गयी।

भट्टमात्र ने कहा–"मॉ ! हम लोग अवन्ती से आ रहे हैं। एक अशुभ समाचार लाये हैं। आज ही राजा विक्रमादित्य मर गया।"

"हैं ...... क्या कहता है, वेटा ! शुभ-शुभ बोल। ऐसा अच्छा राजा .... अपनी जनता को अनाथ कर चला जाय–इससे बुरा और क्या हो सकता है ! ऐसा विनोद करना अच्छा नहीं।" अर्द्ध-विश्वास के साथ ग्वालिन बोली–"भगवान करे तेरी वात असत्य निकले।"

"कितना अच्छा होता कि यह समाचार मिथ्या ही होता, किन्तु यह सत्य है। राजा की मौत की भला कभी विनोद की वात वनायी जा सकती है।" दृढ़ता अपने स्वर मे लाकर भट्टमात्र ने कहा।

"अरे वेटा ! प्रजा पर जाने क्या संकट आने वाला है। हाय-हाय ! भगवान, तूने यह क्या किया ! मुझ वूढी को उठा लेता उस भले मानुस राजा को तो छोड़ देता प्रजा की भलाई के लिए। अव दीन-दुःखियों का सहायक कौन होगा !" वृद्धा के नेत्रो से अश्रुधाराऍ प्रवाहित होने लगीं और वह रुदन-क्रन्दन करने लगी। करुण विलाप करने लगी।

महाराज को शुभाशुभ के परिणामों का ज्ञान भली प्रकार हो गया। "शान्त हो, माई ! .... शान्त हो।"–महाराज ने प्रवोधन दिया–"मृत्यु यदि किसी सज्जन की हो तो अवश्य सभी उससे शोकाकुल हो उठते हैं। यह सच है, पर तू जिसके लिए विलाप कर रही है वह मरा नहीं है, माई ! वह तो जीता-जागता तेरे सामने खड़ा है। हम ही राजा विक्रमादित्य हैं। अव शोक को त्याग दे।"

अब तक लकड़हारे भी समीप आ गये। आज दो नये व्यक्तियों को इस वन मे देखकर वे कुछ विचार में पड़ गये और उनकी गति सहसा तीव्र हो गयी कि शीघ्रता के साथ वे इनकी समीपता को पार कर जायें। तभी भट्टमात्र ने इन्हें रोकने की दृष्टि से पूछ लिया—"किस गॉव के हो भाई ! क्या करोगे इन गट्ठरों का? इस घास का?"

"माई-बाप ! पास के खेड़ा में रहते हैं हम। ये घास-लकड़ी नगर में ले जाकर बेच देंगे और जो कुछ मिलेगा उससे बाल-बच्चों का पेट भरेंगे। हमसे कोई चूक हो गयी, बापा?" एक लकड़हारे ने कहा।

"नहीं ···· नहीं ··· भाई ! तुमसे क्या चूक होगी भला ! पर क्या तुमने सुना नहीं ···· तुम्हारे-हमारे राजा की मृत्यु हो गयी है आज?" भट्टमात्र ने साधारण रूप में बात कह दी।

"मर गया क्या ····!" उत्साह के साथ अन्य लकड़हारे ने पूछा। "अच्छा ही हुआ कि ऐसा राजा नहीं रहा। वह तो हमारा बुरा सोचने लगा था।"—एक अन्य ने कहा—"जब राजा ही हमारा बुरा सोचे तो फिर हमारा पालक कौन होगा, माई-बाप ! भगवान तो सब देखता है। उसका भरोसा भारी ! उसने ऐसे राजा को उठा लिया—अच्छा ही किया।"

"किसी का बुरा न सोचो। तुम्हारे लिए बुरा सोचने वाले के लिए भी भला सोचो। एक दिन वह भी तुम्हारे लिए भला ही हो जायेगा।"—भट्टमात्र ने कहा और महाराज के साथ आगे बढ़ गया। कुछ क्षणों के मौन-उपरान्त भट्टमात्र ने मुखर होते हुए चर्या आरंभ की—"राजन् ! आपने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया होगा। हमारी अन्यों के प्रति जो कामनाएँ रहती हैं, वे ही हमारे पास लौट आती हैं-अन्यों की हमारे प्रति कामनाएँ बनकर। वैमनस्य एवं मैत्री अधिक समय तक एकपक्षीय नहीं बनी रह सकती है।"

"तुम्हारे कथन में सत्य का आभास होता अवश्य है, किन्तु मित्र ! क्या ऐसा नहीं होता कि हम किसी के लिए मंगल भावना रखते रहें और वह हमारे लिए दुष्कामना ही करता चले?"

महाराज के प्रश्न को महत्ता देते हुए भट्टमात्र ने कहा—"श्रीमानेश्वर ! आपका चिन्तन उपयुक्त ही है, किन्तु जगत् का अनुभव यही रहा है कि कर भला तो हो भला। इसके विपरीत परिणाम कभी आ नहीं सकता। यदि हमारी भलाई के प्रत्युत्तर में बुराई मिले तो परिणाम में सन्देह करना व्यर्थ है कि हमारे शुभ उत्तर में भी यह अशुभ है। फिर हमारे चिन्तन की दिशा तो यही होनी चाहिये कि हम कहीं अपनी भलाई को भ्रमवश ही तो भलाई नहीं मानते आ रहे हैं? या उसमें वास्तव में बुराई के लक्षण तो नहीं हैं? अवश्य ही तब हमारी भलाई में कोई अभाव है। उसकी खोज कर संशोधन और पूर्ति करनी चाहिये। हम चाहे आम मानकर पौधे को सींचते रहें, किन्तु वह यदि बबूल है तो उसके परिपक्व हो जाने पर हमें मीठे आम नहीं, बबूल के कॉटे ही मिलेंगे। कभी-कभी कर्त्ता ही स्वयं को

प्रवंचित करता रहता है। यह ध्रुव-सत्य है, महाराज ! कि हमारे शुभ चिन्तन का परिणाम कभी कष्टकर नही होता, अशुभ नहीं होता।''

यों चर्चा करते-करते दोनों वन के एक छोर को पार कर वाहर निकल गये। कुछ दूरी पर एक गॉव दिखायी देने लगा था। दोनों ही उस ग्राम की ओर अग्रसर हुए। ग्राम के बाहर तक वे पहुँचे और देखा कि एक वृद्धा ग्वालिन आ रही है। दूध-दही की दो मटकियॉ उसके शीश पर थीं। इस भार से उसकी ग्रीवा टेढ़ी हो रही थी। साधनहीनता और विपन्नता उसके वस्त्रों से झॉकती थी। अति साधारण धातुओं की चूड़ियॉ और कुछ अन्य अनिवार्य आभूषण थे। दुर्बल और अशक्त तन और चिन्तित मन उसके ये ही साथी लगते थे। महाराज का हृदय दयार्द्र हो उठा। उनके मुख पर करुणा का भाव व्याप्त हो गया—''भट्टमात्र ! यह ग्वालिन बेचारी कितनी दुर्बल और वृद्धा है। इतने-से दुग्ध व्यवसाय से कैसे भरण-पोषण होता होगा। क्या राज्य को ऐसी असहाय जनों की सहायता के लिए सक्रिय नहीं रहना चाहिये ! हमने निश्चय किया है कि राज्य की ओर से ऐसी सभी ग्वालिनों को कुछ गायें भेंट की जायें और अन्य आवश्यक सहायताएँ भी उनके लिए सुलभ करायी जायें।'' महाराज यह चर्चा कर ही रहे थे कि ग्वालिन समीप आ गयी।

भट्टमात्र ने कहा—''मॉ ! हम लोग अवन्ती से आ रहे हैं। एक अशुभ समाचार लाये हैं। आज ही राजा विक्रमादित्य मर गया।''

''हैं ..... क्या कहता है, बेटा ! शुभ-शुभ बोल। ऐसा अच्छा राजा .... अपनी जनता को अनाथ कर चला जाय—इससे बुरा और क्या हो सकता है ! ऐसा विनोद करना अच्छा नहीं।'' अर्द्ध-विश्वास के साथ ग्वालिन बोली—''भगवान करे तेरी बात असत्य निकले।''

''कितना अच्छा होता कि यह समाचार मिथ्या ही होता, किन्तु यह सत्य है। राजा की मौत की भला कभी विनोद की बात बनायी जा सकती है।'' दृढ़ता अपने स्वर में लाकर भट्टमात्र ने कहा।

''अरे बेटा ! प्रजा पर जाने क्या संकट आने वाला है। हाय-हाय ! भगवान, तूने यह क्या किया ! मुझ बूढ़ी को उठा लेता उस भले मानुस राजा को तो छोड़ देता प्रजा की भलाई के लिए। अब दीन-दुःखियों का सहायक कौन होगा !'' वृद्धा के नेत्रों से अश्रुधाराएँ प्रवाहित होने लगीं और वह रुदन-क्रन्दन करने लगी। करुण विलाप करने लगी।

महाराज को शुभाशुभ के परिणामों का ज्ञान भली प्रकार हो गया। ''शान्त हो, माई ! .... शान्त हो।''—महाराज ने प्रबोधन दिया—''मृत्यु यदि किसी सज्जन की हो तो अवश्य सभी उससे शोकाकुल हो उठते हैं। यह सच है, पर तू जिसके लिए विलाप कर रही है वह मरा नहीं है, माई ! वह तो जीता-जागता तेरे सामने खड़ा है। हम ही राजा विक्रमादित्य हैं। अब शोक को त्याग दे।''

बूढ़ी ग्वालिन तो सहसा खिल उठी। उसकी आँखों में आँसू और होठों पर मुस्कराहट थी। अपने नयनों को पल्लू से पोंछते हुए दुःखी स्वर में भट्टमात्र से पूछा—"फिर तूने यह दुःखद विनोद क्यों किया, बेटे ! मेरा तो दिल ही बैठ गया।"

उत्तर महाराज ने स्वयं दिया—"माई ! हम आज यह जानने को निकले थे कि अपने राजा के विषय में प्रजा की भावना कैसी है ?"

"अरे ! तो महाराज, इसके लिए ऐसी कड़ी परीक्षा कहाँ आवश्यक थी। आपको तो यह विश्वास होना ही चाहिये न कि स्वयं भले तो जग भला। आप सबका हित ही करते हैं। तन-मन-धन से तो फिर कोई आपका अहितैषी होगा ही क्यों ? आप तो धरती के आदर्श राजा हैं, कृपानिधान ! मालव तो धन्य हो उठा है आप-जैसे सुशासक को पाकर।"

महाराज ने स्वर्ण-मुद्राओं की थैली वृद्धा ग्वालिन को भेंटकर कहा—"माई ! यह कुछ धन रख लो और इससे अपने यहाँ कुछ गायें और बढ़ा लो.... सुख से रहो।"

राजभवन आकर महाराज ने राजाज्ञाएँ प्रसारित कीं। कृषि को कर-मुक्त कर दिया जाय। वनवासियों को कुछ उद्योग लगाने को धन दिये जाने का प्रबंध किया जाय। वृद्धा ग्वालिनों को गायें भेंट की जायें। इसके अतिरिक्त राज्यभर में जुआ, मदिरापान, सामिष भोजन, आखेट, वेश्यागमन, चोरी आदि पर प्रतिबंध लगा दिया गया। प्रजा पूर्व से भी अधिक सुखी हो गयी।

● ●

अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज अपनी न्यायशील मनोवृत्ति और प्रवृत्ति के कारण सर्वत्र विख्यात थे। उनके राज्य में कोई पीड़ित–शोषित, अन्यायग्रस्त न था। राज्य द्वारा जनता पर कोई अन्याय हो, इसकी तो कोई स्थिति ही शेष नहीं रह गयी थी, किन्तु व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्ति पर भी कोई अन्याय नहीं होता था। यदि ऐसा कोई प्रसंग प्रकाश में आता तो महाराज उचित निर्णय कर पीडित को पीड़ा-मुक्त करने में कोई आगा-पीछा नहीं करते थे। उनकी न्याय-पद्धति की एक विशेषता यह भी रहा करती थी कि न्याय तत्काल होता था, विलम्वित न्याय को वे सम्पूर्ण न्याय नहीं मानते थे।

एक सुन्दर प्रातः में श्रेष्ठी वरदत्त महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ और प्रणाम-वन्दन कर, मौन होकर एक ओर खड़ा हो गया। वरदत्त अवन्ती का लब्ध-प्रतिष्ठित, अत्यन्त धनाढ्य श्रेष्ठी था। महाराज ने उसकी ओर निहारा और

पाया कि वह अपना कुछ मनोभाव व्यक्त करने को आकुल है। बिना भूमिका के किसी प्रकार का सीधा प्रश्न पूछ लेना ऐसे प्रतिष्ठित श्रेष्ठी के लिए अनुपयुक्त मानते हुए महाराज ने यों ही प्रसंग चला दिया–"कभी तो आप श्रेष्ठी श्रीदत्त के साथ आ जाया करते थे। वडी प्रगाढ़ मैत्री थी आप दोनों में। लोग सच्ची मित्रता के लिए आपका उदाहरण दिया करते थे। श्रेष्ठीवर ! स्वार्थ सच्ची मित्रता के दुग्ध के लिए अम्लवत् है। थोडा-सा स्वार्थ या तो मैत्री को नष्ट ही कर देता है या फिर वह ऊपर-ऊपर का दिखावा मात्र रह जाती है। आप दोनों के मध्य की मित्रता के मूल में कोई स्वार्थ न था तो उसका अटूट होना भी स्वाभाविक ही था। हमने अपनी मित्रता की अनेक कथाएँ सुनी हैं और हम तो अन्य जनों को आपकी जोड़ी से प्रेरित भी किया करते थे। दुर्दैव ने असमय ही श्रेष्ठी सुदत्त को उठा लिया। आप एकाकी ही रह गये। तब से आपने भेंट करना भी कम कर दिया। कहिये ... आपको भी उनका अभाव खलता तो होगा !"

"मेरा तो जीवन ही सूना-सूना हो गया, महाराज ! कोई सरसता, कोई रोचकता शेष ही नहीं रह गयी, महाराज ! अब जीवन में। मात्र दायित्व-पूर्ति के रूप में जी रहा हूँ। परमात्मा श्रीदत्त की आत्मा को शान्ति प्रदान करें। वैसा मित्र किसी-किसी को सौभाग्य से ही मिलता है। श्रीदत्त की भी और मेरी भी कामना और प्रयत्न यही रहा कि हमारी मित्रता उत्तरोत्तर सुदृढ़ होती रहे। हमने कोई भूल भी ऐसी न होने दी कि हमारी मित्रता को उससे कोई आघात पहुँचे। अब विधि का विधान ही ऐसा था तो कोई क्या कर सकता था।"

"उचित ही है आपका कथन, श्रेष्ठीवर !"–महाराज ने समर्थन करते हुए प्रश्न किया–"किन्तु आजकल श्रीदत्त के परिवार की क्या स्थिति है। इस अभाव के अतिरिक्त तो सब-कुछ कुशल मंगल है न ?"

"कहाँ की कुशल और कहाँ का मंगल, प्रभो ! श्रीदत्त के आँख मींचते ही सारी माया सिमट गयी। श्री अपने संगी-साथियों सहित विदा हो गयी। उनकी मृत्यु के समय उनका पुत्र सुनन्दन तो अल्पायु था। शोकग्रस्त श्रेष्ठिनी पद्मा इतने विपुल वैभव और व्यवसाय को सँभाल भी नहीं सकती थी। मुनीमों और कर्मचारियों के भरोसे ही चलता रहा। वे व्यापार में हानि बताते रहे और धन हड़पते रहे। परिणाम यह हुआ कि सारा घराना खोखला हो गया। सभी कर्मचारी ऐसे छोड़कर चले गये, जैसे–अतिथि भोजन कर रिक्त थाल छोड़ जाते हैं। ऋण चुकाने में घर की सम्पत्ति स्वाहा हो गयी, श्रीदत्त का प्रासाद बिक गया। अब तो स्थिति यह है कि एक साधारण से मकान में दोनों माता-पुत्र रहते हैं। सुनन्दन कहीं छोटा-मोटा व्यापार करता है और किसी प्रकार जीवन-यापन हो रहा है उनका–बस यही समझिये।"

"कभी उत्थान-कभी पतन–जीवन का यही स्वरूप है, श्रेष्ठीवर ! वड़ा दुःख हुआ यह कहानी सुनकर ! क्या नाम बताया आपने श्रेष्ठी श्रीदत्त के पुत्र का ?"

"जी, सुनन्दन नाम है उसका, श्रीमानेश्वर !"

"हॉ··· हॉ··· सुनन्दन···। है कैसा यह सुनन्दन? सुना है कि योग्य और गुणवान तो है वह !"

"कोई सन्देह नहीं, राजन् ! गुणवान तो है वह, किन्तु सर्वोपरि गुण तो धन है न। धन की कान्ति के अभाव में सभी गुण फीके रह जाते हैं।"–वरदत्त ने अपनी धारणा व्यक्त की और महाराज भी उसकी मान्यता पर विचार करने लगे थे।

सहसा विषय को परिवर्तन देते हुए वे पूछ बैठे–आपकी कितनी संतति हैं, श्रेष्ठी जी !"

"एक मात्र पुत्री है, राजन् ! वाग्दत्ता नाम है उसका।"–उत्तर देते हुए वरदत्त कुछ ऐसा प्रसन्न था कि मानो सघन वन में भटके हुए को अभीष्ट मार्ग मिल गया हो। उत्साहपूर्वक बोला–"सच पूछिये, महाराज ! तो मैं उसी के विषय में अभी उपस्थित हुआ हूँ।"

"अपनी पुत्री···· वाग्दत्ता के विषय में कुछ कहना चाहते हैं, श्रेष्ठीवर !··· क्या···· क्या कहना चाहते हैं आप उसके विषय में? हम क्या कर सकते हैं··· उसके लिए?"

"आप तो राजराजेश्वर हैं। आप चाहें तो उसकी जीवन-नौका को पार लगा सकते हैं।" श्रेष्ठी ने अत्यन्त दीनतापूर्वक निवेदन किया।

"क्या अर्थ है आपका?··· हम कुछ समझ नहीं पाये।" महाराज ने असमंजस की स्थिति से उबरते हुए पूछा। उनकी दृष्टि में प्रश्न-ही-प्रश्न तैरने लगे।

"महाराज ! छोटे मुँह बड़ी बात होगी, किन्तु पुत्री के कल्याण के लिए पिता का प्रयत्नशील रहना अनिवार्य भी तो है।" श्रेष्ठी ने अपने झोले में से एक नारियल निकाला। स्वर्ण और रत्नों की सज्जा से वह श्रीफल जगमगा रहा था। महाराज बड़े कौतुक से उसे निहारने लगे।

"यह क्या···· श्रेष्ठीवर ! यह श्रीफल कैसा···? हैं····?" महाराज ने बड़े अचरज के साथ पूछा।

"मेरी गुणवती, कलावन्ती पुत्री वाग्दत्ता पर कृपा कीजिए, महाराज ! उसका पाणिग्रहण कर उसका उद्धार और मुझ दयनीय पर उपकार कीजिए, महाराज ! यह श्रीफल ही तो मेरी विनती का प्रतीक है। इसे स्वीकार कर लीजिये, श्रीमानेश्वर !" श्रेष्ठी वरदत्त विनयपूर्वक नमित रूप में ही कुछ अग्रसर हो आया और श्रीफलयुक्त हाथों को तनिक और भी आगे को कर दिया। उसके मुख पर दीन-याचना का रंग और भी गाढ़ा हो गया था।

महाराज एक क्षण मौन चिन्तन में डूब-से गये। यही उनके निर्णय का क्षण था। तत्काल ही वे चिन्तन की गहनता से उबरे और धीर-गंभीर वाणी में बोले–

चाहते हैं, उसकी चेष्टा भी करते हैं, किन्तु इस महत्त्वाकांक्षा की भी कोई सीमा होती ही है। धर्म और नीति उसके लिए ऐसी सीमा वनाती है। जो महत्त्वाकांक्षा इन सीमाओं को लाँघ जाती है उसका परिणाम अमंगल और त्रासदी वनकर रह जाता है, स्वामी ! अपने वचन से मुख फेर लेना सवसे वड़ा अधर्म है, सवसे वडी अनीति है। वचन का निर्वाह कीजिये, स्वामी ! धन-सम्पदा की मायावी भूलभुलैया में ग्रस्त होकर हम किसी गंतव्य तक नहीं पहुँचेंगे। वाग्दत्ता का भवितव्य उसके कर्मों पर आधारित है, आपके उद्यम पर नहीं। वचन-पालन हमारे लिये, हमारी प्रिय वाग्दत्ता के लिये, सभी के लिए धर्म की राह है और यह मंगलदात्री ही होगी, हम सभी के लिए।"

"तुम भी कहाँ की बात ले बैठी हो ··· छोडो इस सब को।" प्रबोधन के स्वर में वरदत्त ने कहा—"भावी मंगल की मिथ्या आशा के लिए विद्यमान प्रत्यक्ष सुख-वैभव का परित्याग करना कहाँ भी विवेकशीलता है ! फिर कैसा वचन ! श्रीदत्त के जाने के साथ वह वचन भी समाप्त हो गया। फिर उस वचन की वात तुम-हम और श्रीदत्त की विधवा पत्नी पद्मा ही तो जानती है। उस समझौते के जो पात्र हैं—सुनन्दन और वाग्दत्ता वे स्वयं भी उससे अनभिज्ञ हैं तो फिर गडे मुर्दे उखाड़ने से लाभ ही क्या है?"

"अब तुम्हें कोई क्या समझाए ! परन्तु इसमें मेरी सहमति नहीं मान लेना।" स्पष्टोक्ति के साथ शीतल उच्छ्वास छोड़ती हुई श्रेष्ठिनी भीतर चली गयी। उसकी उक्तियों से वरदत्त के हर्ष-चन्द्र को भी ग्रहण लग गया। उसकी ज्योति किंचित् फीकी हो गयी, किन्तु वह स्वयं को हठात् प्रसन्नचित्त ही प्रदर्शित करता रहा। अन्तर्द्वन्द्व का एक भीषण अंधड़ उसके भीतर भी उथल-पुथल मचाने लगा था, किन्तु बाह्य रूप से वह सर्वथा शान्त और निश्चल बना रहा।

अवन्ती के ये दोनों श्रेष्ठी—श्रीदत्त और वरदत्त प्रगाढ़ मित्र थे। मैत्री-लता की मूल निःस्वार्थता और समकक्षता ही होती है और परस्पर हित-चिन्तन का जल उसे पल्लवित-पुष्पित करता रहता था। ऐसी ही सस्नेह मैत्री का भाव श्रेष्ठी-द्वय के मध्य था। दोनों कोट्यधिपति थे, दोनों समान रूप से प्रसन्नचित्त और हँस-मुख स्वभाव के थे, दोनों ही धर्म-प्रेमी थे और दोनों उदारता की प्रतिमूर्ति, मृदुल व्यवहारी थे। यह समानधर्मिता उनकी मित्रता को सुदृढ़ बनाये रखने में पर्याप्त थी। व्यवसाय अपना-अपना, लाभ-हानि भी अपनी-अपनी, किन्तु एक की वढ़ती से दूसरे की आनन्दानुभूति, एक के अपकर्ष से दूसरे का खेद एक अनिवार्य स्वाभाविकता थी। इन दोनों श्रेष्ठी-परिवारों में भी स्नेह-सम्वन्ध स्थापित हो गया था।

अपने-अपने व्यवसाय-कार्य से अवकाश पाकर दोनों मित्र वडी देर तक मनोविनोद के क्षण संग-संग व्यतीत किया करते थे। धर्मचर्चा प्रायः उनके वार्त्तालाप की विषय रहा करती थी। एक दिवस वरदत्त जव श्रीदत्त के भवन पर पहुँचा तो उसे ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे श्रीदत्त कुछ चिंतित और विचलित है।

श्रीदत्त ने नित्य की भाँति वरदत्त का स्वागत तो किया, किन्तु उसमें नित्यवत् उत्साहपूर्णता नहीं थी। वरदत्त ने इसका कारण चिंचित मुद्रा में पूछा तो उदास श्रीदत्त ने बताया कि अब कुछ दिनों के लिए उनकी यह प्रतिदिन की भेंट संभव नहीं हो पाएगी। वह कल ही श्रेष्ठिनी पद्मा के साथ तीर्थाटन के लिए जा रहा है। यह सुनकर तो सचमुच वरदत्त भी हताश हो गया। ये दोनों एकाकी मित्र थे। एक के लिए केवल दूसरा और दूसरे के लिए केवल पहला ही मित्र था। दोनों की अपनी-अपनी मित्र-मंडलियाँ भी हो–ऐसा था ही नही। ऐसी स्थिति में एक-दूसरे के प्रति एकनिष्ठ मैत्री भाव से युक्त दोनों श्रेष्ठियों का समान रूप से उदास हो जाना स्वाभाविक भी था। कुछ सहज होते हुए वरदत्त न कहा–"भैया ! यह तुम्हें क्या सूझी? सहसा ही तीर्थयात्रा का मन कैसे बना लिया?"

"क्या बताऊँ, भाई ! तुम्हारी भाभी इन दिनों गर्भवती है। उन्हें दोहद हो आया है तीर्थाटन का। तो उसकी पूर्ति तो करनी ही होगी न '! अधिक विलम्ब करने से तो यात्रा संभव ही नहीं रहेगी।" श्रीदत्त ने कहा और वरदत्त भी इससे कुछ संतुष्ट हुआ।

श्रीदत्त की पत्नी पद्मा के गर्भवती होने की बात जानकर उसे कुछ विचित्र- सा अनुभव हुआ। बोला–"भाई मेरे ! इच्छा तो मेरी भी हो आयी थी। तीर्थयात्रा को मैं भी तुम्हारे संग चलता, परन्तु इतनी शीघ्रता से मेरा जाना संभव नहीं होगा। न सही···, किन्तु एक विचित्र संयोग की बात है····।"

"वह क्या·····?···· कैसा संयोग····?" श्रीदत्त ने कुछ समझ न पाने के कारण अचकचाते हुए पूछ लिया।

"संयोग की बात यह है कि इधर तो मेरी भाभी गर्भवती है और उधर तुम्हारी भाभी भी गर्भवती है।" वरदत्त सीधा-सपाट उत्तर देकर मौन हो गया।

"ऐसा है क्या? तब तो यह संयोग बड़ा सुखद है, भाई ! हम दोनों एक साथ ही चाचा भी हो जाएँगे।"–श्रीदत्त ने विनोद के स्वर में कहा और दोनों मित्रों ने ठहाका लगाया।

हँसते-हँसते ही वरदत्त ने भी बात को आगे बढ़ाया–"अब देखना यह है कि हममें से कौन पहले चाचा बनने की होड़ में बाजी मारता है?" और उसने अपना हाथ आगे बढा दिया। श्रीदत्त ने और जोर का ठहाका लगाते हुए उसके खुले हाथ पर अपने हाथ को यों दे मारा कि एक जोर की ताली बज उठी। दोनों बड़ी देर तक हँसते रहे। इसी समय सेवक शीतल पेय ले आया। दोनों के उन्मुक्त हास्य-विनोद पर अंकुश लग गया। वरदत्त ने पेय का घूँट भरते हुए कहा–"मित्र ! एक बात मुझे सूझी है।" वह कुछ सोचते हुए मौन हो गया और श्रीदत्त की आँखों में ताकने लगा, जिसकी दृष्टि में कुतूहल-भरी जिज्ञासा छलक आयी थी। वह स्वयं तो मौन-गंभीर बना रहा, किन्तु उसकी दृष्टि प्रश्नसूचक हो उठी थी। मित्र को जिज्ञासु पाकर वरदत्त प्रेरित हुआ और कहने लगा–"मैंने सोचा है कि यदि तुम्हें स्वीकार हो तो हम एक भावी संबंध आज ही स्थिर कर लें····?"

"वह क्या, मित्र ! मैं कुछ समझ नहीं पाया हूँ? कुछ स्पष्ट बात कहो?" श्रीदत्त के आग्रह पर मित्र वरदत्त ने बताया—"यदि मेरे घर पुत्र उत्पन्न हो और तुम्हारे यहाँ पुत्री तो हम उन दोनों का विवाह कर दें और इस प्रकार अपनी मित्रता को पीढ़ियों तक शाश्वत बना दें।"

"इससे अच्छा अन्य कोई प्रस्ताव हो ही नहीं सकता, बन्धु वरदत्त ! मुझे यह स्वीकार है, पूर्णतः स्वीकार है, भाई ! और मैं तो कहता हूँ यदि हमारे-तुम्हारे यहाँ पुत्र-पुत्री का यह क्रम न होकर इसके विपरीत भी हो जाये तब भी हम हमारी संततियों का विवाह कर दें—बोलो .... क्या बोलते हो?"

"तपाक से उत्तर देते हुए वरदत्त ने कहा—"मित्र श्रीदत्त ! तुमने मेरे मन की बात कह दी। कहना तो मैं यही चाह रहा था, किन्तु मेरी बात अपूर्ण-सी रह गयी। तुमने पूर्ण कर दी। तो रही न यह पक्की .... ?"

"पक्की .... बीस बिस्वा पक्की।" श्रीदत्त ने कहा और दो जोड़ी नेत्र हृदय की दृढ़ता से दमक उठे।

इसी समय पद्मा भी वहाँ आ गयी। श्रेष्ठिनी ने आश्चर्य के साथ पूछ लिया—"यह कौन-सी बात पक्की की जा रही है?" श्रीदत्त ने विस्तार से सारी बात समझायी तो पद्मा सहसा जोर से हँस पड़ी—"अरे वाह ! तुम पुरुषों की जाति भी कितनी कल्पनाशील होती है ! अभी कपास का पौधा भी अंकुरित नहीं हुआ और थानों के सौदे पक्के होने लगे।" उसकी हँसी फिर फूट पड़ी और वह साड़ी का पल्लू मुँह में ठूँसकर उसे रोकने का प्रयत्न करने लगी।

"भाभी ! आपको तो विनोद सूझ रहा है ... इसमें बुराई ही क्या है? ... इससे दो परिवारों के मध्य स्नेह-संबंध और सुदृढ़ ही तो होंगे। क्या आपको यह रुचिकर नहीं ....?" वरदत्त गंभीर हो गया।

"भैया जी ! मुझे तो रुचिकर क्यों न होगा यह ... किन्तु ऊपर वाले को भी तो यह स्वीकार हो तब न ... ।" भाभी की यह अटपटी बात सुनकर वरदत्त तो बेचारा सन्न ही रह गया। कुछ क्षणों तक वह अवाक् रह गया, भाभी के कथन का अर्थ ही नहीं समझ पाया।

श्रीदत्त ने इसी समय हस्तक्षेप किया—"भैया वरदत्त ! सुनो ... इन नारियों की तो ऐसी ही प्रवृत्ति रहती है। कोई बात गंभीरता से लेती ही नहीं। तुम कहाँ इनकी बातों में आ रहे हो !"

"नहीं ... नहीं ... भाई ! ... संभव है कि भाभी की बात में भी कोई सार हो। हाँ, भाभी ! समझाकर बताओ तनिक। ऊपर वाले की स्वीकृति से क्या तात्पर्य है तुम्हारा?"

वरदत्त के प्रश्न का उत्तर देते हुए सहजता के साथ पद्मा ने कहा—"तात्पर्य तो सीधा-सादा है। ऊपर वाले को यदि स्वीकार न हो तो हमारा सोचा सब धरा ही

प्रातःकाल ही श्रेष्ठी वरदत्त उत्साह के साथ तैयार होकर राजभवन पहुँचा। वाग्दत्ता का तो कल. कदाचित् श्रेष्ठी-दम्पति का ही सौभाग्य अधिक था कि महाराज ने श्रेष्ठ जानकर वरदत्त की प्रार्थना स्वीकार कर ली। कन्या का नाम… वाग्दत्ता… यह कैसा नाम? इस नामकरण का क्या कोई अभिप्राय भी है? वाग्दत्ता तो वह अब हुई है। जन्म से ही ऐसा नाम श्रेष्ठी ने अपनी कन्या का क्यों रख दिया भला! महाराज कुछ पलों तक ऐसे ही विचारों में मग्न हो गये और सहसा इस विषय को अधिक विचारणीय न मानते हुए उठ खड़े हुए।

× × ×

उस साँझ में सारी अवन्ती नगरी दुल्हन-सी सज-सँवर उठी थी। श्रेष्ठी वरदत्त के मंगल वाद्यों की तरंगों में डूबे भवन में भी एक दुल्हन रति-सी शृंगारित वाग्दत्ता अपने कामदेव के आगमन की प्रतीक्षा बड़ी ही अधीरता से कर रही थी। राजपथ भाँति-भाँति के तोरणद्वारों, पताकाओं और वन्दनवारों से सज्जित किया गया था। यह अवन्ती जनता के हृदय की अपने प्रिय नरेश के मंगल परिणय पर हो रही हर्षानुभूति की मुस्कराती हुई अभिव्यक्ति थी। महाराज वीर विक्रम वर-वेश में गजारूढ़ थे। उनका अनुपम सौन्दर्य तो मदन को भी लज्जित करता था। उनके उन्नत भाल पर राजमुकुट के साथ-साथ वर-किरीट भी जगमगा रहा था। विशेष रूप से सज्जित विशेष हस्ति मंथर गति से ठुमक-ठुमककर राजपथ पर अग्रसर हो रहा था। वर-यात्रा की तो शोभा ही अद्‌भुत थी। राजा वीर विक्रम का ऐश्वर्य देवराज के ऐश्वर्य को भी परास्त किये दे रहा था। मंद-मंद स्मिति के साथ हाथ उठाकर महाराज प्रजा का अभिवादन स्वीकार कर रहे थे। महाराज वीर विक्रम के जय-जयकार से गगन गुंजायमान हो उठा था। भाँति-भाँति के वाद्यों की सरगमी ध्वनियाँ दूर-दूर तक फैल रही थीं। उच्च भवनों के खुले गवाक्षों से नारियाँ पुष्प-वर्षा कर रही थीं और वाग्दत्ता के सद्‌भाग्य को सराह रही थीं। वर-यात्रा क्रमशः श्रेष्ठी वरदत्त के द्वार की ओर बढ़ी चली जा रही थी।

राजपथ के समीप ही श्रेष्ठिनी पद्मा का भवन भी था। उसे विदित था कि वाग्दत्ता के साथ आज परिणय सम्पन्न होने जा रहा…. उस वाग्दत्ता का जिसका……। वह वर-यात्रा के वाद्यों से विकल हो उठी। वह स्वतः ही वाणीविहीन संभाषण करने लगी। उसकी इस बड़बड़ाहट से उसके चित्त का अधैर्य और अस्थैर्य प्रकट हो रहा था। उसके दुःखी मन ने पलकों को सजल कर दिया और वह अपने भाल पर हाथ रखकर ठंडी साँस लेती दीवार के सहारे पीठ टिकाए बैठ गयी। इसी समय सुनन्दन बाहर से घर में आया–बहुत प्रसन्न… बहुत ही हर्षित। उत्साह के साथ वह बोला–"माँ…. आज सारी प्रजा आनन्दमग्न है, हमारे राजा का विवाह जो है। मैं… मैं भी बड़ा प्रसन्न हूँ। तुम भी…. तुम… भी।" अब दृष्टि माँ की ओर गयी और वह सहसा असहज हो गया। पूछा–"माँ ! तुम

और दुःखी क्यों हो उठीं, माँ ! ····· क्या बात है? तुम तो माँ रो रही हो··· ऐसा क्यों है, माँ !''

''बेटा, सारी अवन्ती आज प्रसन्न हो तो हो, किन्तु यह तेरे लिये प्रसन्नता का दिन नहीं है। तू जानता नहीं, वत्स ! यह··· ।'' माँ ने एकदम बुझे-बुझे से स्वर में कहा।

''क्यों प्रसन्नता का दिन नहीं है मेरे लिये, माँ ! ··· मैं क्या नहीं जानता? तुम मुझसे कुछ छिपा रही हो, माँ ! मुझे बताओ तो कि बात क्या है?'' सुनन्दन व्यग्र हो उठा।

माँ को कोई उत्तर सुझाई नहीं दे रहा था। अब कोई उपचार भी नहीं था। आज ही वाग्दत्ता परायी हो जाने वाली थी। क्यों व्यर्थ का बिखेड़ा खडा किया जाय। हमें हमारे भाग्य पर संतोष ही करना होगा। यही सब सोचकर पद्मा ने बात को अन्यथा करने के प्रयोजन से कहा—''अरे बेटे ! मैं तो दुःखी हो रही हूँ अपने दुर्भाग्य पर··· तू भी तो विवाह-योग्य हो गया है न ! किन्तु हमारा दुर्दिन पीछा ही नहीं छोड़ता। कहाँ तेरा सम्बन्ध स्थिर करूँ?''

''माँ !··· माँ !··· क्यों बनाकर बात कहती हो··· ?'' सुनन्दन ने वास्तविकता ज्ञात कर लेने की जिज्ञासावश बल दिया—''माँ ! मुझे सारी बात साफ-साफ बता दो··· बता दो, माँ !··· राजा के विवाह से मुझे क्यों प्रसन्न नहीं होना चाहिए··· क्यों, माँ !···· क्यों प्रसन्न होना ठीक नहीं है मेरा?''

''इसलिए वत्स ! कि आज राजा वरदत्त की पुत्री की माँग में सिन्दूर भरेगा, यह अधिकार तो तेरा है। वाग्दत्ता को तेरे नाम का काजल अपनी आँखों मे रमाना था, राजा विक्रम के नाम का नहीं। वह तुम्हारी वाग्दत्ता है, बेटे ! उसके सुहाग का आधार तुम्हें होना था··· इस राजा को नहीं।''

''क्या कहती हो, माँ !··· ऐसा हो कैसे सकता है?'' सुनन्दन चकित होकर सहसा पूछ बैठा।

''होना तो ऐसा ही था मेरे वत्स ! इसके अतिरिक्त अन्य कुछ हो ही नहीं सकता, किन्तु वह वरदत्त वचन देकर भी अब पीछे हट गया है।''—यह कहते हुए माँ ने दोनों मित्रों के बीच हुए समझौते की सारी वात वता दी। उसने वेटे को वह वचन-पत्र भी दिखाया।

वचन-पत्र पढ़कर तो सुनन्दन को लगा कि उसके साथ यह तो अन्याय हो रहा है। उसने माँ से पूछा—''इसके पूर्व तुमने मुझे यह सव-कुछ वताया क्यों नहीं, माँ !''

''क्या वताती, वेटे ! वताने से लाभ भी क्या था? इधर हमारी दीन दशा मैं देख ही रही थी और उधर वरदत्त का भ्रष्ट मंतव्य भी मुझसे छिपा नहीं था। फिर तुझे क्यों दुःखी करती !'' माँ एक दीर्घ साँस लेकर मौन हो गयी। सुनन्दन को समझने में विलम्व न हुआ। उसका परिचय श्रेष्ठी वरदत्त और उसकी कन्या

वाग्दत्ता के साथ अति अल्प-सा ही था। श्रीदत्त के देहावसान के पश्चात् इस परिवार के साथ वरदत्त ने अपना सम्पर्क कम–बहुत कम कर दिया था और विगत अनेक वर्षों से तो कोई सम्पर्क रह ही नहीं गया था। वह इस विपदाग्रस्त परिवार का संग टूटी नौका में आरूढ़ होने के समान मानता था, फिर वचन-पत्र से मुकर जाने के लिए सम्बन्धहीनता की सहायता अपेक्षित भी थी। सुनन्दन वाग्दत्ता के विषय में भी अधिक कुछ जानता न था और वह उसकी वाग्दत्ता है–इसका तो उसे रंच मात्र भी ज्ञान न था। आज जब उसे ज्ञात हो गया तो उसके मन में एक जागृति, एक चेतना अँगड़ाई लेने लगी। वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो गया। माँ की उदासीनता और हताशा से भी उसे आश्चर्य न था। यह परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम जो था। माँ इसके आगे भला कर भी क्या सकती है, किन्तु अधिकार-रक्षण के लिए संघर्ष के पूर्व ही पराजय स्वीकार कर बैठ रहना कायरता नहीं, तो पलायन तो अवश्य है। यह उचित नहीं है। हमें प्रयत्नशील तो होना ही चाहिये। यही कर्मशीलता है, यही अपेक्षित है। प्रारब्ध की अशुभ कल्पना मात्र से निष्क्रिय हो जाना तो उस अशुभ को प्रबल और सुनिश्चित कर देने जैसा है। इस क्षणिक चिन्तन ने ही उसे साहस और मनोबल से भर दिया। बोला–"माँ !···· मैं अपना अधिकार प्राप्त करके रहूँगा। महाराज के साथ वाग्दत्ता का विवाह अवैध है–मैं उसे होने न दूँगा। वाग्दत्ता मेरी है तो फिर वह इसी घर की शोभा बनेगी, माँ ! मुझे सफलता के लिए आशीर्वाद दो।"

"बेटे ! मेरा आशीर्वाद तो सदा ही साथ है तेरे··· तेरे इस दृढ़ निश्चय से तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है, किन्तु अब बहुत··· बहुत विलम्ब हो चुका है। अब क्या होगा···· ?" माँ ने हताशा के साथ कहा।

"मिथ्या और असत्य, अन्याय और अनीति तो अन्तिम क्षणों में भी [illegible] होकर सत्य और न्याय के लिए स्थान रिक्त कर देते हैं। आवश्यकता दृढ़ [illegible] के साथ उचित के लिए माँग करने और उसे पूर्ण करा लेने के [illegible] है।" सुनन्दन ने उत्साहपूर्वक कहा और वचन-पत्र को अपने पास [illegible] रख लिया।

"बेटे ! किन्तु महाराज स्वयं वर हैं–वाग्दत्ता के··· तेरा [illegible] उनके विरुद्ध न होगा ! न्याय कौन करेगा?" माँ ने एक मौलिक [illegible] कठिनाई को संकेतित करते हुए कहा–"कौन सुनेगा तेरी? [illegible] दोषी मानकर, अपनी प्रतिष्ठा को हानि पहुँचाकर भी [illegible] इस वर-यात्रा को क्या वधू-प्राप्ति के पूर्व ही राजभवन [illegible]

"ऐसा होगा, माँ !···· ऐसा ही होगा··· [illegible] विक्रमादित्य अनौचित्य के विरोधी और नीति के ही [illegible] पर्याप्त समय है अनीति की सीमा-रेखा में उन्होने [illegible]

समय उन्हें यदि मैं अपनी सारी बात का विश्वास करा दूँगा तो वे अपनी महानता और न्यायशीलता का ही परिचय देंगे। मुझे ऐसा ही विश्वास है, फिर जैसा दैव को स्वीकार्य हो !"—वह यह कहकर चल दिया। माँ पद्मा उसे पुकारती रह गयी और वह अग्रसर होता गया।

महाराज की वर-यात्रा अब और भी अधिक जन-संकुल हो गयी थी। असंख्य प्रजा जन महाराज की प्रसन्नता में सम्मिलित हो जाने के प्रयोजन से पीछे हो लिये थे। इतनी विशाल, इतनी भव्य वर-यात्रा तो स्वयं अवन्ती-नरेश की भी अन्य किसी परिणय-प्रसंग में नहीं रही! सब उसे उल्लास और उमंग का पारावार विलोडित था। महाराज की जय-जयकार का तुमुलनाद रह-रहकर गगनस्पर्शी हो जाता था। इसी समय महाराज के सज्जित हस्ति से कुछ ही दूरी पर जनसमूह में कोलाहल मच गया। महाराज की दृष्टि भी बरबस उस ओर मुड़ी। इस सहसा उठ खड़ी हुई अशान्ति से वे कुछ उद्विग्न हो उठे। बड़ी ही त्वरा के साथ सुरक्षाकर्मियों ने तत्काल शान्ति स्थापित कर दी। उस स्थान का जनसमूह जब विरल और स्थिति सामान्य होने लगी तो महाराज को एक नवयुवक दिखायी दिया जो चिल्ला-चिल्लाकर कुछ कहे जा रहा था। वह उच्च्य वाणी के साथ महाराज की ओर बढ़ना चाहता था, किन्तु कुछ आरक्षी उसे थामे हुए थे। वे कदाचित् उसे इस जनसमूह से बाहर कर देने का प्रयत्न कर रहे थे। महाराज ने देखा अब तक नवयुवक कर्मचारियों से जूझता हुआ बहुत समीप आ गया। भट्टमात्र ने उसके समीप जाकर सारा प्रसंग जानने का प्रयत्न किया। उन्होंने उसे कुछ समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसकी वाणी विराम न लेती थी। महाराज ने आदेश दिया कि नवयुवक को आने दिया जाय। गजराज के समीप आकर युवक ने उच्च्य स्वर में कहा—"रोकिये ··· महाराज ! यह वर-यात्रा रोक दीजिये। आप नहीं जानते, महाराज ! आप अनजाने में स्वयं एक अपराध कर रहे हैं।"

"यह विक्षिप्त युवक है, महाराज ! इसकी बातें ध्यातव्य नहीं हैं। इसे बाहर निकाल देने की अनुमति प्रदान करें, श्रीमानेश्वर !" प्रधानामात्य ने अनुरोध किया था कि रंग में भंग होने से बचा जा सके।

"नहीं, महामात्य ! नहीं ··· युवक विक्षिप्त नहीं दिखायी देता। इसका कथन हम सुनना चाहेंगे।" महाराज ने युवक की ओर उन्मुख होते हुए पूछा—"कौन हो युवक तुम ··· ? क्या चाहते हो ?"

"मेरा नाम सुनन्दन है, राजन् ! स्वर्गीय श्रेष्ठी श्रीदत्त का पुत्र सुनन्दन ! चाहता मैं यह हूँ कि आप इस विवाह-अभियान को रोक दीजिये ··· प्रथमतः मेरा न्याय कीजिए।"

"क्या अन्याय हुआ है तुम्हारे साथ ! स्पष्ट करो। कौन है अन्यायी ?" —महाराज ने सधैर्य पूछा।

रह जायेगा। यदि दोनों घरो में बेटे, अथवा दोनों घरों में बेटियाँ हो गयीं तो यह ऊपर वाले की इच्छा ही तो होगी जो हमारी इच्छा पर पानी फेर देगी।''

''भाभी ! उस ऊपर वाले पर भरोसा रखो। वह भली बातों में मॉचा नहीं डालता। वह हमारा भी सहायक होगा।'' वरदत्त ने श्रद्धालु मन की दृढ़ता के साथ कहा।

श्रीदत्त ने भी उसका समर्थन किया और श्रेष्ठिनी पद्मा ने उपसंहार करते हुए कहा–''कामना तो हम सभी की ऐसी ही है। अब इससे कोई अन्तर नहीं आता कि तुममें से कौन पुत्र का और कौन पुत्री का चाचा बनता है? अच्छा है.... विचार तुम्हारा बहुत अच्छा है। मैं इसकी साक्षी रहूँगी।... किन्तु एक बात अवश्य है।''

श्रीदत्त ने पत्नी को गंभीर होते देखकर पूछ लिया–''अब फिर कौन-सी बात रह गयी, पद्मा ! बताओ... क्या कहना चाहती हो?''

''स्वामी ! यदि कोई निश्चय हम करें तो उसके पूर्ण हो जाने की स्थिति को भी सुनिश्चित कर लेना चाहिए। कहीं कोई बाधा तो उसकी क्रियान्विति में नहीं आ जायेगी–इसका सूक्ष्म निरीक्षण किया जाना भी उतना ही अनिवार्य है और आशंकित बाधाओं के निराकरण का आयोजन भी महत्त्वपूर्ण है।'' इस कथन द्वारा श्रेष्ठिनी पद्मा ने दूरदृष्टिपूर्ण बुद्धिमत्ता का परिचय दिया और श्रेष्ठी वरदत्त इस सूझबूझ से चमत्कृत रह गया।

समर्थन की मुद्रा में वह बोला–''भाई श्रीदत्त ! भाभी के कथन में बड़ा सार है। हमें सोचना चाहिए इस दिशा में।''

''मित्र !..... होगा... सार अवश्य ही होगा, किन्तु हमारे निश्चय में कोई दुर्बलता नहीं, उसकी क्रियान्विति में हमारी पूरी श्रद्धा है, क्रियान्वित करने वाले हम स्वयं ही हैं, जिन्होंने निश्चय किया है, स्वेच्छापूर्वक किया है... फिर भला बाधा क्या हो सकती है।''–श्रीदत्त श्रेष्ठी ने आत्म-विश्वास के साथ अपना मत प्रस्तुत कर दिया।

किन्तु वरदत्त को पूर्ण संतोष नहीं हुआ। वह बोला–''भाई ! सच कहते हो तुम। हमें परस्पर कोई अविश्वास नहीं, किन्तु बाधा तो तब आ सकती है, जब हमारी संतति विवाह योग्य हो, उसके पूर्व, दैव न करे यदि हममें से कोई जगत् का ही परित्याग कर दे, तो उसके शेष परिजनों पर एक नैतिक दबाव बना रहे–ऐसा कोई उपाय भी हमें अभी कर लेना चाहिए जिससे क्रियान्विति को निरापद बनाया जा सके।''

मर्म को हृदयंगम करते हुए श्रेष्ठी श्रीदत्त ने भी ऐसे किसी उपाय को अपेक्षित माना और जिज्ञासावश यह जान लेना चाहा कि ऐसा उपाय हो क्या सकता है? क्या किया जाना चाहिए? और दोनों मित्र श्रेष्ठिनी पद्मा की ओर आशा-भरी दृष्टि के साथ ताकने लगे। आशय समझकर पद्मा ने कहा–''मेरी समझ में तो एक कार्य कर लिया जाना चाहिए। आप दोनों मित्रों ने जो निश्चय किया है उसे लिखित रूप दे दिया जाय। ऐसे दो पत्र तैयार कर आप दोनों उन पर हस्ताक्षर कर दें और

समय उन्हें यदि मैं अपनी सारी बात का विश्वास करा दूँगा तो वे अपनी महानता और न्यायशीलता का ही परिचय देंगे। मुझे ऐसा ही विश्वास है, फिर जैसा दैव को स्वीकार्य हो !"—वह यह कहकर चल दिया। माँ पद्मा उसे पुकारती रह गयी और वह अग्रसर होता गया।

महाराज की वर-यात्रा अब और भी अधिक जन-संकुल हो गयी थी। असंख्य प्रजा जन महाराज की प्रसन्नता में सम्मिलित हो जाने के प्रयोजन से पीछे हो लिये थे। इतनी विशाल, इतनी भव्य वर-यात्रा तो स्वयं अवन्ती-नरेश की भी अन्य किसी परिणय-प्रसंग में नहीं रही! सब उसे उल्लास और उमंग का पारावार विलोडित था। महाराज की जय-जयकार का तुमुलनाद रह-रहकर गगनस्पर्शी हो जाता था। इसी समय महाराज के सज्जित हस्ति से कुछ ही दूरी पर जनसमूह में कोलाहल मच गया। महाराज की दृष्टि भी बरबस उस ओर मुड़ी। इस सहसा उठ खड़ी हुई अशान्ति से वे कुछ उद्विग्न हो उठे। बड़ी ही त्वरा के साथ सुरक्षाकर्मियों ने तत्काल शान्ति स्थापित कर दी। उस स्थान का जनसमूह जब विरल और स्थिति सामान्य होने लगी तो महाराज को एक नवयुवक दिखायी दिया जो चिल्ला-चिल्लाकर कुछ कहे जा रहा था। वह उच्च वाणी के साथ महाराज की ओर बढ़ना चाहता था, किन्तु कुछ आरक्षी उसे थामे हुए थे। वे कदाचित् उसे इस जनसमूह से बाहर कर देने का प्रयत्न कर रहे थे। महाराज ने देखा अव तक नवयुवक कर्मचारियों से जूझता हुआ बहुत समीप आ गया। भट्टमात्र ने उसके समीप जाकर सारा प्रसंग जानने का प्रयत्न किया। उन्होंने उसे कुछ समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसकी वाणी विराम न लेती थी। महाराज ने आदेश दिया कि नवयुवक को आने दिया जाय। गजराज के समीप आकर युवक ने उच्च स्वर में कहा—"रोकिये ... महाराज ! यह वर-यात्रा रोक दीजिये। आप नहीं जानते, महाराज ! आप अनजाने में स्वयं एक अपराध कर रहे हैं।"

"यह विक्षिप्त युवक है, महाराज ! इसकी वातें ध्यातव्य नहीं हैं। इसे वाहर निकाल देने की अनुमति प्रदान करें, श्रीमानेश्वर !" प्रधानामात्य ने अनुरोध किया था कि रंग में भंग होने से वचा जा सके।

"नहीं, महामात्य ! नहीं ... युवक विक्षिप्त नहीं दिखायी देता। इसका कथन हम सुनना चाहेंगे।" महाराज ने युवक की ओर उन्मुख होते हुए पूछा—"कौन हो युवक तुम ... ? क्या चाहते हो ?"

"मेरा नाम सुनन्दन है, राजन् ! स्वर्गीय श्रेष्ठी श्रीदत्त का पुत्र सुनन्दन ! चाहता मैं यह हूँ कि आप इस विवाह-अभियान को रोक दीजिये ... प्रथमतः मेरा न्याय कीजिए।"

"क्या अन्याय हुआ है तुम्हारे साथ ! स्पष्ट करो। कौन है अन्यायी ?" —महाराज ने सधैर्य पूछा।

रह जायेगा। यदि दोनों घरों में बेटे, अथवा दोनों घरों में बेटियाँ हो गयीं तो यह ऊपर वाले की इच्छा ही तो होगी जो हमारी इच्छा पर पानी फेर देगी।"

"भाभी ! उस ऊपर वाले पर भरोसा रखो। वह भली बातों में मॉचा नहीं डालता। वह हमारा भी सहायक होगा।" वरदत्त ने श्रद्धालु मन की दृढ़ता के साथ कहा।

श्रीदत्त ने भी उसका समर्थन किया और श्रेष्ठिनी पद्मा ने उपसंहार करते हुए कहा—"कामना तो हम सभी की ऐसी ही है। अब इससे कोई अन्तर नहीं आता कि तुममें से कौन पुत्र का और कौन पुत्री का चाचा बनता है? अच्छा है.... विचार तुम्हारा बहुत अच्छा है। मैं इसकी साक्षी रहूँगी।... किन्तु एक बात अवश्य है।"

श्रीदत्त ने पत्नी को गंभीर होते देखकर पूछ लिया—"अब फिर कौन-सी बात रह गयी, पद्मा ! बताओ... क्या कहना चाहती हो?"

"स्वामी ! यदि कोई निश्चय हम करें तो उसके पूर्ण हो जाने की स्थिति को भी सुनिश्चित कर लेना चाहिए। कहीं कोई बाधा तो उसकी क्रियान्विति में नहीं आ जायेगी—इसका सूक्ष्म निरीक्षण किया जाना भी उतना ही अनिवार्य है और आशंकित बाधाओं के निराकरण का आयोजन भी महत्त्वपूर्ण है।" इस कथन द्वारा श्रेष्ठिनी पद्मा ने दूरदृष्टिपूर्ण बुद्धिमत्ता का परिचय दिया और श्रेष्ठी वरदत्त इस सूझबूझ से चमत्कृत रह गया।

समर्थन की मुद्रा में वह बोला—"भाई श्रीदत्त ! भाभी के कथन में बड़ा सार है। हमें सोचना चाहिए इस दिशा में।"

"मित्र !..... होगा... सार अवश्य ही होगा, किन्तु हमारे निश्चय में कोई दुर्बलता नहीं, उसकी क्रियान्विति में हमारी पूरी श्रद्धा है, क्रियान्वित करने वाले हम स्वयं ही हैं, जिन्होंने निश्चय किया है, स्वेच्छापूर्वक किया है... फिर भला बाधा क्या हो सकती है।"—श्रीदत्त श्रेष्ठी ने आत्म-विश्वास के साथ अपना मत प्रस्तुत कर दिया।

किन्तु वरदत्त को पूर्ण संतोष नहीं हुआ। वह बोला—"भाई ! सच कहते हो तुम। हमें परस्पर कोई अविश्वास नहीं, किन्तु बाधा तो तब आ सकती है, जब हमारी संतति विवाह योग्य हो, उसके पूर्व, दैव न करे यदि हममें से कोई जगत् का ही परित्याग कर दे, तो उसके शेष परिजनों पर एक नैतिक दबाव बना रहे—ऐसा कोई उपाय भी हमें अभी कर लेना चाहिए जिससे क्रियान्विति को निरापद बनाया जा सके।"

मर्म को हृदयंगम करते हुए श्रेष्ठी श्रीदत्त ने भी ऐसे किसी उपाय को अपेक्षित माना और जिज्ञासावश यह जान लेना चाहा कि ऐसा उपाय हो क्या सकता है? क्या किया जाना चाहिए? और दोनों मित्र श्रेष्ठिनी पद्मा की ओर आशा-भरी दृष्टि के साथ ताकने लगे। आशय समझकर पद्मा ने कहा—"मेरी समझ में तो एक कार्य कर लिया जाना चाहिए। आप दोनों मित्रों ने जो निश्चय किया है उसे लिखित रूप दे दिया जाय। ऐसे दो पत्र तैयार कर आप दोनों उन पर हस्ताक्षर कर दें और

एक-एक पत्र दोनों परिवारों में सुरक्षित रख लिया जाय। आवश्यकता के समय यह पत्र प्रयोग में लाया जा सकता है।"

श्रेष्ठिनी पद्मा का सुझाव बड़ा सटीक है—अपनाने योग्य है—दोनों मित्रों ने इस महत्ता को स्वीकार कर लिया। तदनुसार एक-जैसे पत्र तैयार कर लिये गये। एक पत्र पद्मा ने अपने पास सहेजकर रख लिया और दूसरा पत्र वरदत्त की श्रेष्ठिनी ने अपने पास सुरक्षित कर लिया।

दूसरे दिन ही श्रेष्ठी श्रीदत्त ने अपनी श्रेष्ठिनी पद्मा के साथ तीर्थयात्रा पर प्रस्थान किया। यथासमय ही श्रेष्ठी-दम्पति का सकुशल लौटना भी हो गया और दोनों मित्रों का स्नेह और भी प्रगाढ़ हो गया। कालान्तर में श्रेष्ठिनी पद्मा ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। माता-पिता के हृदयों में प्रसन्नता का ज्वार उठ आया। बड़े प्यार के साथ उन्होंने उस प्यारे-सलोने से बेटे का नाम 'सुनन्दन' रखा। श्रेष्ठी सपत्नीक उपस्थित हुआ और अपना हर्ष व्यक्त करते हुए सुनन्दन को अपनी आशिष और उसके माता-पिता को बधाई दी। दोनों श्रेष्ठी-दम्पतियों को अपना निश्चय स्मरण हो आया। दैव करे ··· और वरदत्त के यहाँ कन्या का ही जन्म हो—यह कामना न केवल श्रीदत्त और पद्मा के मन में, अपितु स्वयं वरदत्त और उसकी पत्नी के मन में भी प्रबलतर होने लगी। दोनों दम्पतियों का एक ही मंतव्य, एक ही लक्ष्य, एक ही चाह जो थी। सदोद्देश्य से की गयी कामनाएँ फलीभूत होती भी हैं। कालान्तर में श्रेष्ठी वरदत्त के यहाँ कन्या-रत्न ने जन्म लिया। दोनों दम्पतियों की मनोकामना पूर्ण हुई। सुनन्दन के जन्म का हर्ष तो अब अतीत का विषय होकर गौण हो गया। वरदत्त ने एक के पश्चात् एक अनेक समारोहों का आयोजन किया। दोनों मित्र मानने लगे कि प्रारब्ध को उनकी मैत्री-प्रगाढ़ता स्वीकार्य है। इसी कारण दैव की सहायता सुलभ हुई है। वरदत्त ने अपनी कन्या का नाम 'वाग्दत्ता' रखा। इस नामकरण की असामान्यता में भी एक सार्थकता थी। ··· कन्या का वाग्दान श्रीदत्त-पुत्र सुनन्दन के लिए जो कर दिया गया था। किन्तु यह रहस्य अभी भी दोनों श्रेष्ठी-दम्पतियों तक ही सीमित रहा।

समय अपनी गति से अग्रसर होता रहा। श्रीदत्त और वरदत्त की आकुलता तीव्रतर होती रही कि कब उनकी संतति अनुकूल आयु प्राप्त करे और कब उनका परिणय सम्पन्न हो। दोनों परिवारों के संस्कारशील वातावरण में अत्यन्त वैभव और ऐश्वर्य के मध्य शिशुओं का पोषण होने लगा। सुनन्दन की शिक्षा के लिये योग्य आचार्यों की नियुक्ति की गयी। अल्पायु में ही उसने अपनी प्रतिभा का परिचय देना आरंभ कर दिया। यौवन में पदार्पण करते-करते तो वह अनेक विद्याओं—कलाओं में पारंगत हो गया। वह सुन्दर, आकर्षक युवक अपने समाज में आकर्षण का केन्द्र हो गया था। वरदत्त को भी अपने भावी जामाता पर मन-ही-मन गर्वानुभव होता था। उसके यहाँ भी सुनन्दन की समवयस्क, पुत्री वाग्दत्ता एक रूपवती, गुणवती, बुद्धिमती कन्या के रूप में विकास प्राप्त करती चली जा रही थी। सर्वत्र उसके रूप-गुण की चर्चा चलने लगी थी। वह चन्द्रमुखी थी, कोकिलवयनी थी, मृगनयनी

और गजगामिनी थी। कभी-कभार सुनन्दन और वाग्दत्ता की भेंट भी हो जाती थी। उनके परिवारों के प्रभावस्वरूप उनके व्यक्तित्व में जो सुशीलता और संस्कारशीलता आ गयी थी, दोनों उसका परिचय देते हुए अपनी भेंट को बहुत सुन्दर बना देते थे। उनके मध्य एक पावन सामीप्य विकसित होने लगा था, किन्तु वे स्वयं भी अपने पिताओं के मध्य वर्षो पूर्व हुए निश्चय से अनभिज्ञ थे।

सुनन्दन अपने पैतृक व्यवसाय के सम्बन्ध में भी अनभिज्ञ था। पिता सुदत्त उस पर इतना शीघ्र व्यावसायिक दायित्व का भार डालना भी नहीं चाहता था। सोचता था उपयुक्त वय होने पर यह स्वतः ही सारा काम-काज करने लगेगा। ये तो इसके हँसने-खेलने के दिन हैं। दोनों श्रेष्ठी एक-दूसरे की संतान की योग्यता, गुणशीलता से संतुष्ट ही थे।

सुनन्दन का पिता श्रेष्ठी श्रीदत्त उस दिन की प्रतीक्षा में था जब वाग्दत्ता को वधू बनाकर वह अपने घर ले आये, किन्तु विधि को अन्यथा ही स्वीकार्य था। श्रीदत्त का एक रात्रि में आकस्मिक निधन हो गया। दोनों परिवारों में शोक छा गया। श्रीदत्त अपूर्व साध लिये ही चल बसा। मृत्यु ऐसी आकस्मिक थी कि श्रेष्ठी अपनी पत्नी-पुत्र को भी अपने धन-सम्पदा, व्यवसायादि के विषय में कुछ जता नहीं पाया। उसके ऑख मूँदते ही सारी माया सिमटने लगी। कर्मचारियों की बन आयी थी। सुनन्दन अभी अबोध ही था। पद्मा में इतना विवेक न था। झूठे-सच्चे प्रसंग बनाकर कर्मचारियों ने सारी सम्पदा को हथिया लिया। कुछ ही दिनों में श्रीदत्त का परिवार रंक हो गया और स्थिति यह हो गयी कि आजीविका के लिये भी सुनन्दन को किसी अन्य प्रतिष्ठान में सेवा-कार्य करने को विवश हो जाना पड़ा। यह बात अन्य है कि वह अपनी प्रतिभा और सूझबूझ के बल पर अल्प समय में ही अनेक पक्षों में कुशल हो गया। अपनी सत्यनिष्ठा के आधार पर वह अपने स्वामी का विश्वस्त भी हो गया और प्रतिष्ठान के व्यवसाय में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहने लगी।.... तथापि सेवक सेवक ही रहता है। वह श्रेष्ठी का स्थान तो ले नहीं सकता।

ऐसी विषम परिस्थिति में श्रेष्ठी वरदत्त के लिए समस्या उठ खड़ी हो गयी। वह क्या करे... क्या न करे। वह ऐसे तिराहे पर पहुँच गया था, जहाँ उसके समक्ष दो मार्ग थे। एक मार्ग वचन-पालन का था तो दूसरा मार्ग अपनी पुत्री के हित-रक्षण का था। दोनों में से किसी एक ही मार्ग का अनुसरण किया जा सकता था। वह वचन-पालन करने की ठानता है तो वाग्दत्ता का जीवन दारिद्र्य से घिर जाता है, दुःख ही उसकी नियति बन जाता है और पुत्री के सुखमय भविष्य का आयोजन करता है तो वचन-निर्वाह संभव नहीं हो पाता। यह वचन-पत्र तो श्रेष्ठी वरदत्त के लिए एक ऐसा 'तप्त ग्रास' हो गया था कि जिसे न निगलते बनता था और न ही उगलते। कई दिनों तक वह अन्तर्द्वन्द्व में ही ग्रस्त रहा। अपने स्वर्गीय

मित्र को दिये गये वचन का उल्लंघन भी उसे अप्रिय लग रहा था और सुनन्दन की दीन दशा देखते हुए वाग्दत्ता को उसकी जीवन-सहचरी बनाना भी उसे प्रियकर न था। आँखों देखते भला जीवित मक्खी कौन निगलता है ! मस्तिष्क अर्थात् बुद्धि का आग्रह था कि वाग्दत्ता का सम्बन्ध अन्यत्र किसी सम्पन्न घराने में किया जाय और मन अर्थात् भावना का अनुरोध था कि अब जैसा भी पुत्री का प्रारब्ध है-सो है। वचन का पालन तो किया ही जाना चाहिए। श्रेष्ठिनी भी ऐसे ही मनोमंथन में ग्रस्त थी। उसका भावना-पक्ष प्रबल था, किन्तु वरदत्त चाह कर भी व्यावहारिक दृष्टिकोण को त्यागकर उसका समर्थक नहीं हो पा रहा था। उसे विश्वास था कि एक बार ज्यों ही वचन से अन्यथा कार्य करने की चेष्टा आरंभ की, सुनन्दन और पद्मा की ओर से विरोध भी होगा। वाग्दत्ता के लिए तो वे वचन-पत्र के आधार पर माँग कर सकते हैं, किन्तु अन्य किसी श्रेष्ठी-परिवार में तो उनका प्रवेश ही संभव नहीं है। ऐसे में वे इस अवसर को क्यों छोड़ेंगे। यदि उस विरोध की भी अपेक्षा कर हमने वाग्दत्ता का संबंध कहीं अन्यत्र स्थिर कर भी दिया तो आशंका यह है कि सुनन्दन राजसभा में अपना परिवाद प्रस्तुत कर सकता है। यदि ऐसा हुआ तो .... तो महान् न्यायशील वीर विक्रम महाराज हमें वचन-पत्र कार्यान्वित करने को विवश कर देंगे। हमारी बेटी को सुखी बनाने की हमारी चेष्टा तो विफल होगी ही, भारी अपयश भी होगा। तो ... तो ... क्या किया जाय–क्या किया जा सकता है ... हमें क्या करना चाहिए !

विचार-मंथन के इन क्षणों में सहसा एक तीक्ष्ण और क्रान्तिकारी विचार वरदत्त के हृदय में कौंध गया। वह एक झटके के साथ उठ बैठा। पत्नी को पास बुलाकर बोला–"एक रास्ता सूझा है, भाग्यवान ! हम ऐसा क्यों न करें कि बिटिया का विवाह अवन्ती-नरेश के संग ही कर दें। फिर तो सुनन्दन असहाय हो जायेगा। वह कुछ भी न कर सकेगा।" वरदत्त के नेत्र विशाल होकर दमक उठे।

"फिर तो .... हमारी प्यारी बिटिया का भाग्य ही खुल जायेगा, स्वामी !... आपको यह विचार आया कैसे ! हाँ ....?" श्रेष्ठिनी ने कहा–"यह तो बड़ा उत्तम मार्ग है। वाग्दत्ता के विवाह को इस प्रकार निरापद किया जा सकता है। आपको यह विचार पहले क्यों नहीं आया .... व्यर्थ ही हम अब तक चिन्तित और दुःखी होते रहे।"

"तो तुम्हारा समर्थन तो है न?" वरदत्त ने पूछा और वह पत्नी के मुख की ओर ताकने लगा। पत्नी अपने चिबुक का भार अपने ही वद्ध हस्त पर डालते हुए अधखुले नयनों से अपने स्वामी को एक मंद मुस्कान के साथ स्नेहपूर्वक निहारने लगी। पत्नी का यह मौन समर्थन पाकर श्रेष्ठी वरदत्त उत्साहित हो उठा। उसे अपने चारों ओर सुख-संतोष और शान्ति का परिवेश अनुभव होने लगा। उस रात्रि पति-पत्नी अपनी विटिया के सुखद सौभाग्य की चर्चा करते रहे। श्रेष्ठिनी मनौतियाँ मनाती रहीं कि महाराज इस संवंध को स्वीकार कर लें।

वरदत्त के इस शोभित परिसर में हर्ष-ध्वनि भर गयी। इस सुखमय वातावरण में पद्मा श्रेष्ठिनी अपने पुत्र और पुत्र-वधू को डोली में बिठाकर अपने भवन को चली गयी। वाग्दत्ता के माता-पिता और महाराज वीर विक्रम ने डोली पर पुष्प-वर्षा कर शुभ कामनाएँ कीं। वाद्यों ने गंभीर विदाई गीतों की धुनों से वातावरण को कारुणिक कर दिया और सब ओर एक मौन छा गया। सभी की वाणी शान्त किन्तु मन चंचल हो उठे थे। वरदत्त के द्वार पर विशाल जनसमूह एकत्र हो गया। सभी स्थिर दृष्टि से डोली को निहार रहे थे जो अग्रसर होते-होते धूमिल होती जा रही थी। भोर के तारे की भाँति सहसा सभी की दृष्टि से ओझल हो गयी।

● ●

मद तो ऐसा विकार है कि मनुष्य इसके अहं में घिरकर स्वतः ही सत्ता और पद की कल्पना कर उन्मत्त हो जाता है—वह पदविहीन व्यक्ति भी अपने को सर्वस्व मानने लग जाता है। फिर पदधारी का मदधारी हो जाना तो बहुत स्वाभाविक है। सत्ताधीशों के मन में कभी ऐसा भाव आ ही जाता है कि यह सर्वोच्च है, वह सर्वोत्तम है, वह सर्वशक्तिमान है, या वह सर्वगुण सम्पन्न आदर्श शासक है और जगत् उसका इसी रूप में सम्मान करे। उसकी लालसा रहती है कि उसे ऐसे गौरवपूर्ण स्वरूप में स्वीकार किया जाय और इसी रूप में उसकी कीर्ति रहे, इतिहास में स्मरण किया जाय। आदर्श, विनयी शासकों के जीवन में भी ऐसा एकाध अवसर आ जाना अस्वाभाविक नहीं, विशेष रूप से तब, जब वे वास्तव में श्रेष्ठ शासक हों। अवन्तीनाथ वीर विक्रम महाराज के हृदय में भी एक समय ऐसा ही भाव उदित हो गया।

महाराज ने अपने मंत्रिपरिषद् की एक विशेष बैठक में व्यक्त किया कि हम विश्व के आदर्श शासकों में अग्रगण्य हो गये हैं। हमारी समता का कोई अन्य शासक नहीं है। हम राजाधिराज, शिरोमणि सम्राट् हैं। हम प्रजावत्सल, न्यायशील, जागरूक नरेन्द्र हैं। हमारी प्रजा वैसी ही सुखी और संतुष्ट है जैसी रामराज्य में थी। हमारी प्रजा हमसे वैसा ही स्नेह रखती है जैसा राजा राम से उनकी प्रजा रखा करती थी। हम इस युग के राम हैं .... हम 'अभिनव राम' के गौरव से सम्पन्न होना चाहते हैं, इस पद से विभूषित होना चाहते हैं।

अपने स्वामी की ऐसी उक्तियों से मंत्रीगण, अमात्य जन अचंभित हो गये। यह क्या .....! आज हमारे श्रीमानेश्वर कैसी बातें कर रहे हैं। ये तो अत्यन्त

विनयशील और दंभहीन रहे हैं। आज यह गर्वांकुर इनके मानस में कैसे फूट पड़ा। उपस्थित जन मन-ही-मन यह विचार कर ही रहे थे कि महाराज ने गर्व के साथ कहा–"हम अभिनव राम सम्राट् विक्रमादित्य के नाम से सम्बोधित किये जायें–ऐसी हमारी कामना ही नहीं, हमारी क्षमता भी है, पात्रता भी है। हम इसी अलंकरण के साथ अपने नाम के प्रयोग की अभिलाषा रखते हैं।"

भट्टमात्र ने सविनय निवेदन किया–"श्रीमानेश्वर ! कदाचित् आपका विचार अपनी दृष्टि में उचित ही हो, किन्तु जब तक जन-सामान्य की दृष्टि में इसका औचित्य स्थिर नहीं हो जाता–इसे यथार्थता का स्वरूप नहीं मिल सकेगा। आप स्वयं को अभिनव राम मानें, हम भी उसे स्वीकार कर लें यह तो तत्काल संभव है। इसमें संदेह के लिए कोई अवकाश ही नहीं है, ... किन्तु .....।"

"किन्तु .... किन्तु क्या, महामात्य ! आप मौन क्यों हो गये? आप कहना क्या चाहते हैं?"–महाराज ने जिज्ञासावश अनेक प्रश्न कर दिये।

"किन्तु .... यह महाराज कि ....." भट्टमात्र ने सहमते हुए कहा–"स्वीकृति तो जगत् की चाहिये। सर्वसामान्य की मान्यता ही तो आपश्री को 'अभिनव राम' के रूप में विभूषित कर सकेगी।"

भट्टमात्र के कथन पर महाराज कुछ सहज और सामान्य होने लगे। वे कथित शब्दों पर विचार करने लगे। कुछ क्षणों के इस आन्तरिक अवगाहन के पश्चात् उन्होंने प्रश्न किया–"हमें सार्वजनिक अनुमोदन ही चाहिये, महामात्य ! सब-कोई मन से ऐसा ही स्वीकार करने लगें–इसी में अभिनव राम की सार्थकता है। अन्यथा .... अन्यथा तो सब व्यर्थ है। किन्तु इसमें संदेह क्यों हो रहा है .... हममें अभाव क्या है ... हम श्री राम से किस पक्ष में उन्नीस हैं?"

"हमारा स्वभाव अपनी ही दृष्टि से स्वयं को देखने का रहता है, अतः हमारे दोष, हमारे विकार हमारे समक्ष उजागर नहीं हो पाते। अन्य जन ही हमारा वास्तविक मूल्यांकन करते हैं।" भट्टमात्र ने कहा–"और तब ही हमें भी हमारे दोषों–अभावों का आभास होता है। राम के विषय में सभी प्रजा विस्तार से ज्ञान रखती है। वह उनकी तुलना आपके संग करे और आपका व्यक्तित्व अपेक्षाकृत फीका अनुभव होने लगे–तो फिर कैसे उनकी सहज स्वीकृति सुलभ हो सकती है?"

"तुम कदाचित् उचित ही कहते हो, भट्टमात्र ! ... उचित ही कथन है तुम्हारा। .... किन्तु .... किन्तु फिर क्या मार्ग अपनाया जाय कि हमारा जो विद्यमान वर्चस्व है उसे अभिवर्धित होने के स्थान पर क्षीण होने से बचाया जा सके। यदि घोषित हो जाने के पश्चात् भी हम राम-तुल्य स्वीकृत न हुए तो हमारा वर्तमान गौरव भी ध्वस्त होगा–यह निश्चित है। किन्तु .... किन्तु राम की अपेक्षा हम कम भी तो नहीं ... हैं। क्या अभाव है हममें कोई बताए तो ....।" महाराज कुछ व्यग्र हो उठे।

"शान्त .... ! शान्त होइये, श्रीमानेश्वर !" मंत्री बुद्धिसागर ने उनका ध्यानाकर्षण अपनी ओर करते हुए कहा–"किसी अन्य की ओर से संकेत किये जाने पर संकेतित अभावों के लिए आपकी सहमति होना संभव नहीं होगा, आप प्रतिक्रियाशील हो उठें, यह भी संभव है। अतः अपेक्षित यही है कि आप स्वयं मननपूर्वक ऐसे निष्कर्ष निकालें। यही रचनात्मक प्रक्रिया भी होगी।"

"आप भी कदाचित् उपयुक्त ही हैं, मंत्रीवर !" महाराज ने स्थिरचित्तता के साथ कहा–"हम अपना भी सब-कुछ कदाचित् मूल्यांकित नहीं कर सकते और श्री राम के विषय में भी हमारा ज्ञान अपरिपक्व हो–यह भी संभव है। किन्तु हम 'अभिनव राम' होने की अपनी अभिलाषा को अपूर्ण नहीं रख सकते हैं .... हम बनकर रहेंगे।"

महाराज की इस दृढ़ मनस्कता से समस्त मंत्रीगण चिन्तित हो उठे। यह अनायास ही उठ खड़ा हुआ अहं महाराज की समस्त अर्जनाओं और कीर्ति को विनष्ट न कर दे ! भट्टमात्र ने तब स्थिति को सँभालने का प्रयत्न किया– "श्रीमानेश्वर ! मेरा परामर्श है कि किसी विद्वान् पंडित से आप एक बार पुनः रामचरित की व्याख्या सुनें, उसके गंभीर पक्षों पर मनन भी करें और अपने आचरण तथा कृतित्व से राम की विशेषताओं का मिलान करके देखें। यदि आप स्वयं कोई अभाव अनुभव करें स्वयं में–तो उसकी पूर्ति कर लें और तब निस्सन्देह अभिनव राम हो जायें। ऐसा गौरव ही निरापद होगा, अबाध और निष्कंटक रहेगा।"

उपर्युक्त परामर्श है ! हम महामात्य के कथन को स्वीकार करते हैं। शीघ्र ही हमारे लिए किन्हीं विद्वान् आचार्य का प्रबंध कर लिया जाय जो हमें श्री राम के जीवन के प्रत्येक प्रकरण से परिचित करा सकें और श्री राम की विशेषताओं का विवेचन कर सकें।" महाराज तो इतना कहकर आसन से उठ खड़े हुए और मंत्रणा-कक्ष से बाहर निकल गये। समस्त उपस्थित जनों ने अपने-अपने स्थान पर खड़े होकर आदर भाव व्यक्त किया। मंत्रीगण परस्पर वार्त्तालाप करने लगे। वे चिन्तित थे अपने नरेश की इस नवजात अभिलाषा पर। महत्त्वाकांक्षाएँ मनुष्य की उन्नति में सहायक होती हैं, उसकी प्रगति क्रम का नेतृत्व करती हैं, प्रेरक रहती हैं किन्तु अनपेक्षित और अव्यावहारिक महत्त्वाकांक्षाओं का परिणाम विलोम रूप में ही प्राप्त होता है। उनसे ध्वंस, पतन, हतोत्साह और अपयश की ही प्राप्ति होती है। अभिनव राम हो जाने की यह उच्चाभिलाषा भी महाराज के लिए कहीं ऐसी ही अहितकर न सिद्ध हो। स्वामी के हित में ही हमारा और समस्त राज्य का हित है। यह निर्विवाद है कि महाराज परम गुणवान, श्रेष्ठ शासक हैं, किन्तु राम तो राम हैं। श्री राम की समकक्षता करना अनुचित है। समकक्ष सिद्ध हो नहीं सकते ... और तब निराशा और निन्दा-जैसी उपलब्धियाँ ही रहेंगी। एक अकेला दंभ ही

सहस्रों शत्रुओं के समान होता है जो व्यक्ति के भीतर ही रहकर भीतर से वार करता है। वह तो आस्तीन का साँप है। मधुर और प्रियतर रूप धारण कर वह अपने आश्रय का ही विनाश कर देता है।.... अहंकार किसका हित कर पाया है। यह तो पतन का बीज है और सर्वनाश में फलित होता है। हम राजा के हितैषी हैं .... हमें राजा को उनकी इस आत्मघाती दुष्प्रवृत्ति से मुक्त करना चाहिये। ऐसे में मूक दर्शक बने रहना मंत्रि-परिषद् के लिए उपयुक्त नहीं होगा। उसे राजहित-रक्षणार्थ सचेष्ट हो जाना चाहिये। निदान–किसी विद्वान् और चतुर पंडित की खोज करने का निश्चय कर लिया गया।

श्री राम की नगरी अवधपुरी में ऐसे ही एक रामचरित-मर्मज्ञ विद्वान् मिल गये। उन्हें राम-जीवन के अनेक ऐसे प्रंसग ज्ञात थे जो सामान्यतः कथा–पुराणों में चर्चित न थे, किन्तु श्री राम के चरित्र की भव्यता और दिव्यता के परिचायक थे। वे ही मंत्रीगण की अभीष्ट पूर्ति में सहायक हो सकते हैं। पंडित जी अत्यन्त वृद्ध थे। अवधपुरी से बाहर प्रवास उनके लिए संभव न था। महाराजश्री की अनुमति से पंडित जी के प्रवचनों से लाभान्वित होने के प्रयोजन से अवधपुरी की यात्रा का उपक्रम होने लगा। महाराज भी उत्साहित थे रामचरित का अतिरिक्त ज्ञान प्राप्त करने के लिए। महाराज वीर विक्रम अपनी सेना की एक टुकड़ी कतिपय मंत्रियों, कर्मचारियों को संग लिए अवधपुरी पहुँचे। अति साधारण वेशभूषा धारण किये, श्वेत केशी वयोवृद्ध पंडित अपनी कुटिया के बाहर एक वृक्ष-तले निर्मित चबूतरे पर आसन जमाए बैठे थे। अवन्ती-नरेश के आगमन की पूर्व सूचना उन्हें प्राप्त थी। उनके समक्ष एक रिक्त आसन बिछा था। महाराज दूरी पर ही रथ त्यागकर श्रद्धालु मुद्रा में, करबद्ध रूप में मंथर गति से आगे बढ़े। अन्य विशिष्ट जनों ने उनका अनुसरण किया। भट्टमात्र इस दल में अग्रगामी थे। पंडित जी के समक्ष उपस्थित होकर महाराज ने श्रद्धापूर्वक कहा–"अवन्ती-नरेश विक्रमादित्य परम श्रद्धेय आचार्यप्रवर के श्रीचरणों में भक्तिपूर्वक प्रणाम निवेदन करता है–चरण वन्दना करता है।" महाराज ने पंडित जी के चरण स्पर्श किये।

"आयुष्मान् भव !"–पंडित जी ने हाथ उठाकर आशिष दी–"कल्याण हो, राजन् ! विकार दूर हों, सद्गुण-वृद्धि हो ! मंगल ही मंगल हो !! आसन ग्रहण करें, रामानुज !" आचार्य ने रिक्तासन की ओर संकेत कर दिया। विराजमान होते हुए नरेश का मन तनिक चंचल हो उठा। सोचने लगे–'हम तो राम-पद प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं, आचार्यश्री ने हमें रामानुज क्यों कह दिया। यह कैसा सम्बोधन !' महाराज आसीन होकर हाथ जोड़े ऐसी दृष्टि से आचार्य का मुख निहारने लगे कि उनके नयनों में यह प्रश्न आकारहीन होकर भी अपनी झलक दिखाने लगा। विद्वान् आचार्य को महाराज की संशयावस्था को समझने में कठिनाई नहीं हुई। समाधान की मुद्रा में बोले–"राजन् ! मेरे संबोधन से किसी संशय में न पड़िये। मैंने 'रामानुज' का सम्बोधन सत्य ही सोच-समझकर किया है। राम तो

उनके संकेत पर हस्तिचालक ने गजराज को थामा और नीचे झुका दिया—"महाराज ! मैं अपना कथन सार्वजनिक रूप से नहीं करना चाहता।··· कर नहीं सकता। आपसे अकेले मे निवेदन करना ही उपयुक्त रहेगा।"

महाराज कुछ प्रतिक्रिया दे पाते, उसके पूर्व ही प्रधानामात्य ने हस्तक्षेप किया—"बन्धु ! तुम्हारा न्याय कल की राजसभा में हो जायेगा। अभी अपने घर जाओ।"

"कल तक तो बहुत विलम्ब हो चुकेगा, श्रीमान् ! अन्याय तो आज ही होने जा रहा है—उसे रोककर ही न्याय को स्थापित किया जा सकेगा। एक बार हो चुका अन्याय कभी न्याय में परिणत नहीं हो सकता, कोई भी नहीं कर सकता, अन्यायी का अनुताप भी नहीं। अन्याय से बचाना ही तो सच्चा न्याय है। अपराधी को दंड देना भी घटित अन्याय को निरस्त करने का स्रोत नहीं हो सकता।"

कुछ विरामोपरान्त सुनन्दन ने महाराज से निवेदन किया—"इस कारण मेरा न्याय आज ही हो, राजेश्वर ! विलम्बित न्याय तो न्याय होता ही नहीं है, वह एक प्रकार का पंगु निर्णय होकर ही रह जाता है, राजन् !"

"तुमने तो हमारे ही विचारों को अपनी वाणी दे दी है, युवक ! आओ हमारे साथ बैठो और विस्तार से अपनी बात··· अपना परिवाद स्पष्ट करो।" महाराज ने गजराज पर अपना अर्द्धासन देकर युवक सुनन्दन को बिठाया। वर-यात्रा का क्रम पुनः आरंभ हो गया। गजराज मंथर गति से ही वरदत्त के भवन की ओर बढ़ता रहा। "तुम तो श्रेष्ठीवर वरदत्त के मित्र श्रीदत्त के ही पुत्र हो न?" —महाराज ने पूछा।

सुनन्दन ने उत्तर में करबद्ध निवेदन किया—"श्रीमानेश्वर ! हूँ तो मैं श्रीदत्त-पुत्र ही, किन्तु वरदत्त को उनका मित्र कहा जाय, या नहीं इसका निर्णय तो आपको ही करना है, राजन् !"

"ऐसा क्यों कहते हो, नवयुवक ! क्या तुम्हें अपने पिता के मित्र पर विश्वास नहीं?" मुस्कराते हुए अवन्ती-नरेश ने पूछा।

"राजराजेश्वर ! उस पर क्या विश्वास किया जाय जो मेरे पिता को वचन देकर उसके विपरीत आचरण करने तो उद्यत हो गया है। वह तो छलिया है··· प्रवंचक है··· श्रीमान् !····· उसने अपने इस प्रपंच में आपका सहारा लिया है।"

"कैसा छल··· कैसी प्रवंचना··· ? हम कुछ समझे नहीं।"

"उसकी कन्या का नाम वाग्दत्ता है, महाराज ! जिसके पाणिग्रहण के लिए वर-वेश धारण कर आप पधार रहे हैं। उसने यह न बताया होगा कि कन्या का नाम 'वाग्दत्ता' क्यों है। मेरी और उस कन्या की सगाई तो एक प्रकार से हम दोनों के जन्म से पूर्व ही हो गयी थी। इस वाग्दान के कारण ही कन्या का यह नाम रहा है—'वाग्दत्ता'। दुर्भाग्य से मैं पितृहीन ही नहीं, ऐश्वर्यहीन भी हो गया तो उसकी सारी मैत्री समाप्त हो गयी, वचन-पालन का धर्म भी समाप्त

राजन् ! उसने छलपूर्वक आपको इस स्थिति से अनभिज्ञ रखकर उसका परिणय-महाराज !—आपके साथ कर रहा है। मेरे निर्धन हो जाने से वह वचन-पत्र अप्रासंगिक नहीं हो जाता। यदि उसकी कन्या के प्रारब्ध में सुख है तो मेरे घर मे सारे साधन जुट जायेंगे और सुख नहीं है तो उसका दुर्भाग्य उसके करोड़पति वर को भी रंक बना सकता है। अपनी पुत्री के सुख का लोभ ऐसा तीव्र हो गया वरदत्त को कि उसने सारी नीति-अनीति का विवेक ही भुला दिया, महाराज !"

"यदि ऐसा है तो वरदत्त ने घोर अपराध किया है, सुनन्दन !" महाराज ने चिन्तनशीलता के साथ कहा—"तुम्हारी धारणा हमारे विचारों से मेल खाती है, किन्तु ···· किन्तु क्या इसका भी कोई प्रमाण है कि श्रीदत्त और वरदत्त के मध्य ऐसा कोई निश्चय हुआ था।"

"है महाराज ! है क्यों नहीं !! यह वचन-पत्र आपको संतुष्ट कर सकेगा, श्रीमान् ! जो मेरे और वाग्दत्ता के पिता के मध्य हुए हमारी सगाई के निश्चय का प्रमाण है। जिसे मंगलसूत्र पहनाने का अधिकार मेरा है, उस कन्या को आपकी जीवन-संगिनी बनाने का प्रपंच रचकर वरदत्त ने आपको भी पाप के मार्ग पर आरूढ़ करने का दुष्प्रयत्न किया है, महाराज !"—यह कहते हुए अपने कटिवंध से निकालकर सुनन्दन ने पत्र महाराज को प्रस्तुत कर दिया।

महाराज ने पत्र को पढ़ा और उन्हें सुनन्दन की सत्यता पर विश्वास हो गया। शान्त मन से बोले—"सुनन्दन ! तुमने बहुत अच्छा किया कि समय रहते हमें सचेत कर दिया। वरदत्त की कन्या वास्तव में तुम्हारी ही वाग्दत्ता है। हमें तो भ्रम में रखा गया, किन्तु हम सुध आ जाने पर भी अनुचित मार्ग पर अग्रसर होते नही जायेंगे। हम तुम्हें तुम्हारा अधिकार दिलायेंगे। तुम निश्चिन्त रहो।" महाराज ने अपने शीश से उतारकर वर-किरीट सुनन्दन को धारण करा दिया। अपने सारे मूल्यवान अलंकार भी एक-एक करके सुनन्दन को धारण करा दिये। महाराज के स्थान पर सुनन्दन का वेश वर-योग्य हो गया। वर-यात्रा भी तव तक श्रेष्ठी वरदत्त के भवन तक पहुँच गयी थी। वरदत्त ने सुनन्दन को महाराज के संग गजारूढ़ देखा तो उसके मन में खटका हुआ—'यह यहाँ कैसे !! ··· अरे ··· यह तो वर-वेश मे है। प्रभो ! क्या होने वाला है ··· ? यह हो क्या रहा है?' चंचल तन और व्याकुल मन के साथ वह महाराज के समक्ष आ उपस्थित हुआ। फटी-फटी आँखों से वह निरीह-सा ताकता रह गया। कंठावरोधवश कोई शब्द मुख से फूट नही रहा था। पसीना-पसीना हो रहा वरदत्त थरथर काँपने लगा।

"श्रेष्ठीवर ! घवराओ नहीं, सव उचित ही हो जायेगा। यही सुनन्दन है—तुम्हारी कन्या का मंगेतर। चलो भीतर चलते हैं।" यह कह, भीतर की ओर चल पडे महाराज। आँगन में मंडप सजा था। उसके समीप पहुँचकर महाराज कुछ क्षण मौन, शान्त खड़े रह गये। इसी अवधि में एक चलचित्र की भाँति वरदत्त के मनःचक्षुओं के समक्ष श्रीदत्त की मैत्री, वचन-पत्र आदि के समग्त अतीत की

पुनरावृत्ति हो गयी। वह तो आतंकित हो उठा कि महाराज को सारी वास्तविकता का भान हो गया है–अब इस प्रवंचना का न जाने कैसा भयानक दुष्परिणाम हो। उसके मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। उसकी पलकें नमित होकर अधखुली रह गयीं। अधर पपड़ा गये। प्रवंचक जितना उद्विग्न और अशान्त बना रहता है कि कहीं उसका षड्यंत्र उद्घाटित न हो जाय, वैसा बेचैन तो कोई भयंकर अभावग्रस्त और दु:खित व्यक्ति भी नहीं रहता। उसका भेद खुल जाने पर तो वह पानी-पानी ही हो जाता है। यही स्थिति इस समय श्रेष्ठी वरदत्त की थी। "क्या सोच रहे हो, श्रेष्ठीवर ! यह सोचने-विचारने का समय नहीं, अपनी भूल को सुधार लेने का अवसर है। सबेरे का भूला, संध्या को भी घर लौट आये तो वह भूला नहीं कहाता है। अब सुनन्दन ही तुम्हारा जामाता होगा। अब शीघ्रता करो ··· चिन्ता करना व्यर्थ है। तुम्हारी कन्या के प्रारब्ध का निर्माण तो वर्षों पूर्व तभी हो गया था, जब तुमने अपने मित्र श्रीदत्त के संग वचन-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये थे। अपनी बात के धनी होना भी भले मनुष्य के लिए आवश्यक होता है।"–महाराज ने प्रबोधन की मुद्रा में कहा–"सम्पदा का धनी होना मात्र ही पर्याप्त नही होता। सुनन्दन को पितृहीन भी न समझना। हम उसके पिता के स्थान पर हैं और हम अपने पुत्र की वर-यात्रा लेकर तुम्हारे द्वारे आये हैं। शुभ मुहूर्त्त समीप आता जा रहा है–लग्न का। शीघ्रता से, उत्साह और उल्लास के साथ विवाह-कार्य सम्पन्न कराओ।"

महाराज की इस भाव-भंगिमा ने वरदत्त को आश्वस्त किया। वह सहज और सामान्य होने लगा। विधि-विधानपूर्वक वाग्दत्ता और सुनन्दन का पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न हो गया। आशीर्वादों और बधाइयों की वर्षा होने लगी। नव-दम्पति अग्रजों और गुरुजनों के चरण स्पर्श करने लगे। महाराज ने प्रीतिपूर्वक नमित नव-दम्पति को सुखी जीवन की शुभ कामनाएँ दीं और गंभीर वाणी में कहा–"आज हमने यह विवाह सम्पन्न कराकर न केवल सुनन्दन के लिये वरन् वाग्दत्ता के लिये भी न्याय किया है। आज के दिन इसी युग्म को दाम्पत्य बंधन में बँधना था। समय रहते हमारी आँखें सुनन्दन ने खोल दीं। हम आभारी हैं इसके। यदि यह सचेष्ट न हुआ होता तो हमारी न्यायशीलता के शुभ्र और पावन आँचल में अपयश की कालिमा लग जाती।"

महाराज ने तब वरदत्त को सम्बोधित करते हुए कहा–"श्रेष्ठीवर ! हम आपको भी दोषी नहीं मानते। पिता का दायित्व ऐसे वर-घर की खोजकर सम्बन्ध बनाने का रहता ही है जहाँ उसकी पुत्री के भावी जीवन के सुखमय बने रहने का विश्वास हो। वरदत्त का यह विश्वास इस समय सुनन्दन के संदर्भ में आहत हो गया था। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इसी कारण वचन को महत्ता न देकर पुत्री-हित की रक्षा को तुमने प्राथमिकता दी। वचन भंग कर तुमने यदि सुनन्दन के साथ वाग्दत्ता का विवाह नहीं कराते तो तुम पर एक पाप-भार चढ गया होता। हमारे न्याय ने सुनन्दन के अधिकार की भी रक्षा की है और श्रेष्ठीवर आपको भी

एक अपकर्म से बचा लिया है। यदि हम इतना करके ही न्याय की इति मान लें तो हमारा न्याय लँगड़ा कहलायेगा। हम ऐसा एकपक्षीय न्याय उपयुक्त नहीं मानते। जहाँ सुनन्दन के अधिकार की रक्षा हमारे न्याय से हुई, वहाँ इससे श्रेष्ठीवर आपके दायित्व की भी रक्षा होनी चाहिए कि अपनी बेटी का ब्याह सुखी घर में करो। हमने न्याय की इस परिपूर्णता के लिये सुनन्दन को अपार ऐश्वर्य का स्वामी बना दिया है। अपने धर्म-पुत्र सुनन्दन को आज से ही हम श्रेष्ठीराज का सम्मान प्रदान करते हैं। अब हमारा न्याय लँगड़ा नहीं रहा।''

महाराज वीर विक्रम के जय-जयकार से सारा परिसर गूँज उठा–''मैं कृतार्थ हो गया, राजेश्वर ! आपने बेटी का भविष्य सुधार कर मेरा यह लोक और वचन-निर्वाह कराकर उस लोक–दोनों ही लोक सुधार दिये। अद्‌भुत है आपकी न्याय नीति, राजन् ! आप धन्य हैं।'' वरदत्त तो सचमुच निहाल हो उठा। मारे प्रसन्नता के उसके नेत्र सजल हो उठे। हार्दिक प्रसन्नता उसके अधरों पर मुस्कान का आलोक विकीर्ण करने लगी। आनन्द के ये क्षण ऐसे लगते थे मानो चाँदनी रात में वर्षा की फुहार होने लगी हो। ऐसी ही परस्पर विरोधी दो अवस्थाएँ संभव हो गयी थीं।

सुनन्दन के तो सुदिन ही लौट आए थे। उसे वही सम्मान और प्रतिष्ठा, वही सुख और वैभव पुनः प्राप्त हो गया। कृतकृत्य भाव से वह महाराज के चरणों में झुक गया, वाग्दत्ता ने भी अनुसरण किया। महाराज ने दोनों के शीश स्पर्श कर आशिष प्रदान की। इसी समय श्रेष्ठिनी पद्मा आ उपस्थित हुई–''महाराज की जय हो ··· ! राजराजेश्वर के न्याय की जय हो !! आप श्रीमानेश्वर से ऐसे ही न्याय की आशा थी। आपने समय रहते सुनन्दन के कर्त्तव्य की, उसके अधिकारों की रक्षा तो की ही है, वाग्दत्ता के धर्म को भी संरक्षित कर दिया। भैया वरदत्त वचन-पालन के अपने धर्म से च्युत हो रहे थे। आपने अपने न्याय द्वारा उन्हें भी धर्म में स्थिर किया है और सुनन्दन को सम्पदा दान कर आपश्री ने हम सभी को, वाग्दत्ता को भी एक सुखद भविष्य प्रदान किया है। मैं परम अनुगृहीत हुई, राजन् ! और आपको आशिष देती हूँ। संतुष्ट मन के साथ दी गयी आशिष में बड़ी शक्ति होती है, महाराज ! आपका और उत्थान हो। आपकी कीर्ति दशों दिशाओं में व्याप्त हो। इस यशोवर्धन में आने वाली बाधाएँ स्वतः पराभूत होती चली जायें।''

महाराज ने विनयपूर्वक, मुस्कराते हुए आशिष ग्रहण की। करबद्ध स्थिति में कुछ क्षणों तक शीश को किंचित् झुकाकर खड़े रह गये। सर्वत्र एक मौन स्थापित हो गया। इस निश्शब्दता को भंग करते हुए गंभीर किन्तु हर्षित होते हुए उन्होंने कहा–''हमें प्रजा की ऐसी ही शुभाकांक्षाओं की कामना है। ये शुभ कामनाएँ ही हमारी शक्ति और संबल हैं। हमारी परमात्मा से प्रार्थना है कि हमें न्यायशील बने रहने और प्रजा को सुखी बनाने की क्षमता देते रहें।''

'राम' ही थे। अन्य कोई महानतम व्यक्ति भी राम नहीं हो सकता है। श्री राम के आचरण, आदर्श, प्रवृत्तियॉं सभी कुछ महान् थे। रामचरित से प्रेरित विभूतियॉं उनका अनुसरण नहीं कर सकतीं--ऐसा मैं नहीं कहता, किन्तु परम शुद्धात्माएँ भी श्री रामचरित के कुछ अंशों को ही अपने जीवन में उतार सकते हैं। बड़ी गहनता के साथ वे इस भाग को भले ही वे अपना लें पर शेष भाग उनके आचरण में अनुपस्थित ही रह जाते हैं। समग्र रामचरित को यथावत् ग्रहण करना किसी के लिए भी सुगम नहीं। आप न्यायशील हैं, राजन् ! प्रजावत्सल भी हैं, प्रजा के सुख-दुःख के लिए सदा सतर्क रहने वाले सर्वजन सुखकामी आप हैं--इसमें संदेह नहीं, किन्तु आप इससे 'राम' तो नहीं हो जाते। राम की समीपता के अधिकारी आप हैं। राम तो नहीं, राम के अनुजवत् आपको मैं इसी कारण मानता हूँ। मेरे इस सम्बोधन का यही रहस्य है। राम-पद पर पहुँचना तो दुष्कर है, किन्तु रामानुज-पद का अधिकारी होना भी सुगम नहीं है। इसके लिए, राजन् ! आपने जो नैष्ठिक तपस्या की है, वह आपको महान् बनाने में अपर्याप्त नहीं है। आप श्रेष्ठ कोटि के नरेशों में अग्रगण्य हैं। आप राम बनने के गर्व का त्याग करें--इसी में आपका, मालव राज्य का--सभी का मंगल है। रामचरित को लक्ष्य बनाए रखना आपको उत्तम शासकीय पथ पर बनाए रखेगा। यही आपका उन्नयन रहेगा। रामानुज-पद--राम-पद के समीप का ही है। आप रामाचरण को अनुकरणीय आदर्श मानकर चलें--और भी समीपता संभव हो जायेगी। आप राम-समीप हैं, रामानुज हैं। आपकी प्रजा बड़ी सुखी है, समृद्ध है। किसी नरेश की श्रेष्ठता का यह एक उत्तम लक्षण है। अब तनिक स्वयं....।" यह कहते-कहते आचार्य ने बात बदल दी। एक ओर तनिक दूर के एक टीले की ओर संकेत करते हुए बोले--"राजन् ! वहाँ.... वह टीला देख रहे हैं न आप... । वहाँ खुदवाई कराइये।"

"जैसा आदेश, आचार्यश्री ! आपने तो हमारे सुषुप्त मन को झकझोर दिया। ऐसा खरा सत्य किसी ने भी अब तक हमें....। किन्तु एक बात है... हम राम.... इस युग के राम.... अभिनव राम बन तो सकते हैं। रामानुज तो आप भी स्वीकार कर ही रहे हैं। क्या हम और आगे नहीं बढ़ सकते हैं?"

आचार्यश्री कुछ क्षण मौन रह गये और गहरी दृष्टि से नरेश के मुख को देखते रहे। तब शान्त भाव से उत्तर दिया--"राजन् ! आप उस टीले की खुदाई कराएँ। उत्तर आपको स्वतः ही मिल जायेगा।"

महाराज वीर विक्रम ने आदेश दिया और सेना ने तत्काल ही टीला खोदना आरंभ कर दिया। इतने हाथ लगे तो वह छोटा-सा टीला तो देखते-देखते अदृश्य हो गया। भूमि जब समतल निकल आयी तो आचार्यश्री ने कतिपय लक्षण पाकर उत्साहपूर्वक कहा--"उपयुक्त है... भाई ! यही स्थल है। वास्तविक खुदाई तो अब आरंभ होगी। तनिक सावधानी से कुदाल लगाएँ। हाँ.... ? कुछ गहराई पर तो और भी सतर्कता से कार्य करना होगा। अपने प्रहार से केवल ऊपर से जमी हुई

मिट्टी को ही हटाएँ, उसमें दवी किसी वस्तु को आघात न पहुँचे।" दो ही तीन दिन के श्रम ने अधोभूमिगत एक सुन्दर भवन को दृश्यमान कर दिया। आचार्य ने महाराज वीर विक्रम को इस भवन का अवलोकन करवाया। बड़ा भव्य भवन था। बड़े-बड़े कक्ष, रत्नों से जडित विविध चित्रकारियों से सज्जित भित्तियाँ, कंगूरेदार द्वार, मणिमय आँगन। अब भी कुछ पात्रों के अवशेष यत्र-तत्र पड़े मिले जो स्वर्ण और रजत के थे। एक कक्ष में एक भारी-सी मंजूषा देखकर जिज्ञासा हुई। सेवकों ने उसे खोला तो सारा कक्ष अपूर्व आलोक से जगमगा उठा। रत्नों-मणियों से जटित आभूषणों की चकाचौंध से महाराज तो विस्मित रह गये। इस कक्ष से बाहर निकलने पर एक दालान में आसन के पास ही एक जूती भी दिखायी दी। कहने को तो वह जूती ही थी पर किसी आभूषण से कम न थी वह। रत्नों-मोतियों-मणियों की कलापूर्ण सज्जा से अलंकृत इस जूती को हाथ में उठाकर महाराज बड़ी देरी तक उसे उलट-पलटकर निहारते ही रहे। उनका मन विस्मय से भर उठा। जूती भी ऐसी-वैभव की प्रतीक हो सकती है ! उन्होंने आचार्यश्री को सम्बोधित करते हुए पूछा–"यह भगवान श्री राम का निजी भवन ही रहा होगा। कैसा वैभवशाली और कलात्मक, सुन्दर और सुरुचिपूर्ण तो उसके अवशेष आज भी लग रहे हैं ! और .... और .... यह जूती? यह क्या जानकी जी की रही होगी?"

"आपको ऐसा प्रतीत होता है न !" आचार्य ने कहा–"किन्तु यह राजभवन का भाग नहीं है। रामकाल में यह क्षेत्र चमारों की बस्ती का था। यह भवन भी श्री राम का नहीं, एक चमार का था।"

"इतना वैभव, इतनी सम्पदा ... एक चमार के घर ! क्या कह रहे हैं आचार्यश्री?" महाराज के नेत्र तो कपाल पर चढ़ गये।

"मैं उचित ही निवेदन कर रहा हूँ, राजन् ! यह तो चमारों का टोला था। ऐसे-ऐसे अनेक घर इस क्षेत्र में थे ... अब भी मिल जाएँगे।"

"आश्चर्य है ! .... यदि यहाँ ऐसा ऐश्वर्य है तो सवर्णों के यहाँ ... श्रेष्ठी जनों के यहाँ तो अतुलित धन रहा होगा।"

"सत्य ही विचार है, राजन् ! आपका। रामराज्य में कोई भी निर्धन न था। अपने-अपने वर्गानुसार सभी के पास धन-सम्पदा का प्राचुर्य था। सभी सुखी थे, हर्षित और प्रगतिशील थे, उद्यमी थे। सभी स्वस्थ और नीरोग थे, सभी भाग्यशाली थे। अकाल मरण का कोई उदाहरण भी खोजे से नहीं मिलता था, राजन् !" सभी के मन परहित से, सर्वकल्याण की कामना से पूरित रहते थे। सर्वत्र मांगल्य-वर्षण होता था।

अवन्ती-नरेश के हृदय के द्वार पर सत्य और यथार्थ दस्तक देने लगे थे। अवन्ती और अवध, अवध और अवन्ती की स्थितियों का सापेक्ष चित्र उनके

उदार मानस में उभरने लगा। वह रत्नालंकृत जूती अब भी महाराज के हाथ में थी। उनका ध्यान उस ओर गया तो सहसा पूछ बैठे–"...... किन्तु आचार्यश्री ! यह जूती फिर किसकी रही होगी?.... इसका रहस्य क्या है?"

"इसका रहस्य भी हमसे छिपा नहीं है, राजन् ! इसके पीछे भी एक कहानी है। इस भवन में यह एक ही जूती कैसे रह गयी? दूसरी जूती–इसकी जोड़ी की.... कहाँ रह गयी? यह भी एक प्रश्न है। सुनिये, राजन् ! मैं इसका वृत्तान्त सुनाता हूँ।" वृद्ध आचार्य ने कथा आरंभ की–

राजा श्री राम के राज्यत्व काल में इस भवन में भीम नामक एक चमार रहा करता था। वह बड़ा सदाशय और गुणवान नवयुवक था। अपने माता-पिता के प्रति उसके मन में अगाध भक्तिभाव था। माता-पिता भी अत्यन्त कोमल हृदय के थे। अपने पुत्र भीम से उन्हें बड़ी ममता थी। भीम का विवाह उन्होंने समीप के एक अन्य ग्राम के चमार-परिवार में करा दिया। वह परिवार भी बड़ा सम्पन्न था। पद्मा अपने ससुराल में आयी तो यहाँ का वैभव उसे बड़ा ही फीका-फीका लगा। वह बड़े घर की बेटी-जैसा व्यवहार करने लगी। पद्मा बाल्यकाल से ही बड़ी नकचढ़ी थी। उसे अपनी उच्चता का बड़ा अभिमान था। एक अभिनय ही मनुष्य में सहस्रों दोष और विकार विकसित कर देता है। ऐसा ही पद्मा के साथ भी हुआ। अपनी उच्चता के दंभ में वह अपने पति, सास-ससुर को कुछ मानती ही नहीं थी। वह बड़ी कठोर और अशिष्ट हो गयी थी। बात-बेबात की कलह करते रहना उसका स्वभाव हो गया था। शान्तिप्रिय भीम और उसके माता-पिता बेचारे दुःखी हो गये। पद्मा के स्वभाव के आगे वे विवश थे। कोई क्षण ऐसा न था कि जो इस परिवार के लिए शान्तिपूर्ण कहा जा सके। या तो कोई कलह चल रहा होता था, या किसी भी क्षण विवाद उठ खड़ा हो सकता है–इसका आतंक बना रहता था। एक दिन तो वह इतनी रुष्ट हो गयी कि पति-गृह त्यागकर वह पितृ-गृह चली गयी।

सहसा पुत्री पद्मा को आयी देखकर उसके माता-पिता को भी बड़ा असामान्य-सा लगा। पद्मा की रुष्ट मुद्रा देखकर तो वे अनिष्ट की आशंका से विचलित ही हो गये। वे मुस्कराते हुए आगे आये, किन्तु पद्मा का रोष घटा नहीं। माता-पिता बेचारे सोच ही रहे थे कि बात किस प्रकार से आरंभ की जाय कि इसी मध्य स्वयं पद्मा ही सकोप वचनों के साथ मुखरित हो गयी–"अब मैं उस घर में कभी नहीं जाऊँगी... वह घर मैं सदा-सदा के लिए त्यागकर चली आयी हूँ।"

"ऐसा..... ऐसा नहीं कहते, बेटी !" अत्यन्त स्नेहपूर्वक प्रथम प्रबोधन देती हुए माँ उसे अपनी बाँह में घेरकर भवन के भीतर ले आयी। उसे सुखपूर्वक बिठाकर माँ भीतर गयी और जल ले आयी।

जल पीकर पद्मा ने फिर कथन आरंभ किया–"माँ ! मुझे अपने पास ही नहीं रखतीं, तुम ! मैं यहीं रहूँगी।"

"बेटी, तू तो बड़ी ज्ञानी और विवेकवती है। नारी-धर्म से अपरिचित भी नहीं है। अब तेरी ससुराल ही तेरा घर है। उस घर की शोभा तुझसे है और तेरी शोभा भी उसी घर में है। यों तू जितने दिन यहाँ रहना चाहे, सुखपूर्वक रह सकती है।"

"तो पिताजी ! क्या यह घर अब मेरा घर नहीं रहा?" रोषपूर्वक पद्मा ने प्रश्न किया।

"तेरा ही अपना घर है यह, बिटिया ! तेरा घर यह न हो, हो नहीं सकता ऐसा, किन्तु ..... किन्तु तेरा एक अन्य घर और भी हो गया है न। उस घर की भी तू अधिकारिणी हो गयी है। उस घर में तेरी बड़ी उत्तरदायित्वपूर्ण भूमिका है। वह घर तुझे ही चलाना होगा।" पिता ने प्रतिक्रियाहीनता की आशा के साथ अपने ढंग से पद्मा के प्रश्न का उत्तर दे दिया।

माता ने भी योग दिया–"बेटी तो हर घर में पराये धन की भाँति ही होती है। किसी अन्य घर के लिए वह अपने माता-पिता के यहाँ जन्म लेती, पलती-पोषित होती है, बड़ी होती है। उस अन्य घर की धरोहर ही होती है वह माता-पिता के घर में। हमने भी, बिटिया ! तू जिस घर की धरोहर थी उसे सौंप दिया। कन्यादान कर दिया, बेटी !"

"अच्छा किया, माँ ! ..... तुमने अपने दायित्व को पूरा कर दिया, कन्यादान कर दिया, किन्तु दान की गयी गाय अब लौटकर दाता के घर लौट आयी है।" पद्मा के स्वर में अभी भी रोष शेष था–"मैं तो अब इसी घर में रहूँगी।"

अभी कोई तर्क, कोई प्रबोधन प्रभावकारी न होगा, बेटी का चित्त सामान्य जो नहीं है। यह सोचकर माता-पिता ने इस प्रसंग का त्याग करने का ही निश्चय किया। सोचा जब इसका मन शान्त हो जायेगा, स्वतः ही यह सब-कुछ समझ लेगी। पिता ने कहा–"यह घर तेरा ही है, बिटिया ! सुख के साथ तू जब तक इच्छा हो यहीं रह। तुझे कोई बाधा न आने दी जायेगी ..... हाँ .....?" पद्मा प्रसन्नता से खिल उठी। उसके कोमल अधरों पर शुभ्र हास बिखर गया। एक-आध दिन में ही घर में सब-कुछ सामान्य-सा हो गया। बीच-बीच में कभी माता तो कभी पिता पद्मा को सन्मार्ग की प्रेरणा देते रहे। सास-ससुर को माता-पिता के समान आदर देने, पति की भी सेवा करने, उसे आदरणीय मानने का आदर्श समझाते। पति-गृह को ही अपना घर मानकर उसके हिताहित का ध्यान रखने के सन्नारी के कर्त्तव्य का स्मरण कराया। पद्मा ने कभी भी इन बातों में रस नहीं लिया।

एक दिन जामाता भीम स्वयं पहुँचा तो पद्मा के माता-पिता को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने आदरपूर्वक भीम की अगवानी की। भीम भी ऐसे व्यवहार से संतुष्ट था। उसने अपने श्वसुर से क्षमा-याचना की मुद्रा में हाथ जोड़े, निवेदन किया कि उसे दुःख है कि उसके कारण अनावश्यक रूप से उन लोगों को परेशान होना पड़ा। पद्मा विना कुछ सोचे-समझे ही यहाँ आ गयी, किन्तु .... विश्वास किया जाय कि इस सब में उसका या उसके माता-पिता का कोई दोप नहीं है।

पद्मा ने हस्तक्षेप करते हुए कहा–"बेटे ! हम भी यही मानते हैं। तुम्हारे माता-पिता तो देवी-देवता समान हैं। हम यह नहीं जानते हैं क्या? हम यह भी जानते हैं कि पद्मा का स्वभाव कैसा है? सब हमारे ही भाग्य का दोष है। कोई करे··· तो क्या करे। तुम लोगों को व्यर्थ दोष देकर हम पाप के भागी नहीं बनना चाहते।"

"आश्चर्य है !····· आश्चर्य है कि आप-जैसे भले माता-पिता की बेटी पद्मा इतनी हठी और दुराग्रही क्यों हो गयी? वह तो किसी की सुनती ही नहीं।"

भीम ने स्पष्टोक्ति की तो पद्मा के पिता ने भी स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा– "बेटे ! कहते तो ठीक ही हो, किन्तु कुछ दिनों में सब ठीक हो जायेगा। तुम तो भैया, समझा-बुझाकर पद्मा को अपने संग ले जाओ।"

त्वरा के साथ भीम ने कहा–"पिताजी ! ···· सच पूछिये तो मेरा यहाँ आने का प्रयोजन ही यही है। आप भिजवा दें तो आपकी बड़ी कृपा होगी। वहाँ भी इस प्रसंग में नाना प्रकार की बातें करने लगे हैं।"

"कृपा काहे की भैया ! उसे जाना तो वहीं है। वही अब उसका घर है, वे ही उसके माता-पिता भी हैं। अच्छा ही किया कि तुम उसे ले जाने को आ गये। आज नहीं तो कल यहाँ भी लोग न जाने क्या-क्या बातें करने लगे। बेटी पीहर में तो चार दिन ही भली लगती है न !"

पद्मा ने सुना, तो वह भड़क उठी। भीम का आना ही उसे अच्छा नहीं लगा। वह उसे ससुराल ले जाने को आया है–यह जानकर तो वह आगवबूला हो उठी। उसने ऐसा उग्ररूप धारण किया कि माता-पिता बेचारे सहमकर रह गये। हे राम ! इस कन्या का क्या होगा ! क्या होने वाला है इसके संग। वे बड़ी देर तक पद्मा को समझाते रहे, परन्तु सब व्यर्थ। उसकी ऐंठ के आगे उनकी एक न चली। वेचारा भीम तो दुःखी और हताश होकर घर लौट गया, किन्तु पद्मा के माता-पिता भी कम दुःखी और चिन्तित न थे। तत्काल ही पद्मा से की जाने वाली बातचीत को वे निरर्थक ही मान रहे थे। माता बेचारी अपने घर में इधर-उधर घूमती रही और बड़बड़ाती रही–"बेचारा जामाता आया–उससे दो वोल तक नहीं वोली। न जाने क्या समझती है अपने आप को। अब क्या राम-लक्ष्मण-जानकी इसे लेने को आएँगे तव जाएगी अपने ससुराल?"

"हाँ, माँ ! ····· हाँ···· ।" माता का अन्तिम वाक्य सुनकर पद्मा क्रोध मे भरकर वोली–"अव मैं तभी ससुराल जाऊँगी जव राम-लक्ष्मण-जानकी मुझे ले जाने को आएँगे। कह दिया है मैंने····· अव यह लोहे की लकीर है, माँ ! मैं वैसे वहाँ जाने की नहीं।" पद्मा मन-ही-मन सोचने लगी–'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी। राम-लक्ष्मण-जानकी तो आने से रहे और तव मुझे वहाँ जाना ही नहीं पड़ेगा।'

अवध-नरेश श्री राम ने भी यह सारी चर्चा सुनी। श्री राम ने अपना कर्त्तव्य-पथ भी निश्चित किया। अपनी प्रजा के हित के लिए, सुख के लिए भगवान राम तो सब-कुछ करने को सदा ही तत्पर रहते थे। भीम और उसके माता-पिता की समस्या का मन-ही-मन विवेचन किया और पाया कि वे लोग बेचारे अकारण दुःखी हैं और उनकी समस्या का समाधान अब उनके ही हाथ में आ गया है। भगवान ने अनुभव किया कि भीम चमार का परिवार उनके किये ही सुखी हो सकता है, अतः उन्हें संकोच नहीं करना चाहिये। श्री राम ने अनुज लक्ष्मण और पत्नी सियारानी को सारी बात बतायी और पद्मा के पितृ-गृह चलने को कहा। अनुज लक्ष्मण तो अपने अग्रज भ्राता के आज्ञाकारी थे। वे भला ना तो कैसे करते, किन्तु उन्हें यह अनुचित लगा कि राजा राम किसी चमार के घर जाएँ। लक्ष्मण ने अपना विचार भगवान के समक्ष व्यक्त भी किया, किन्तु भगवान श्री राम तो बड़े उदारचेता थे। मधुर मुस्कान के साथ बोले–"प्रजा के सुख के लिए हमें सब-कुछ करने को तत्पर रहना होगा, प्रिय लक्ष्मण ! प्रजा के घर जाने से हमारे मान में वृद्धि ही होगी, कोई लॉछन लगने की आशंका निर्मूल है। हम आज ही वहॉ जाऍगे।" अनुज लक्ष्मण के मन की शंका भी दूर हो गयी।

पद्मा के माता-पिता ने सुना कि राजा श्री राम, लक्ष्मण और सीता रानी के संग उसके घर आ रहे हैं तो वे प्रसन्नता से फूले न समाये। श्री राम के आगमन पर उन्होंने आरती उतारकर उनका स्वागत किया। घर में उत्सव का-सा वातावरण छा गया। राजराजेश्वर श्री राम के आगमन से तो इस ग्राम के भाग्य ही जाग उठे। कृतकृत्य भाव से समस्त ग्रामवासी पद्मा के घर के आसपास एकत्र हो गये। दूर-दूर तक विशाल जन-समूह व्याप्त हो गया। राजा रामचन्द्र के जय-जयकार से धरा-गगन एक हो गया। श्री राम, लखन और जानकी के दर्शनार्थ सभी व्यग्र हो रहे थे। सभी घर आयी गंगा में अवगाहन कर लेना चाहते थे। जव अयोध्या से आया रथ द्वार पर रुका तो जन-समुद्र में ज्वार ही आ गया। श्री राम-जानकी की एक झलक पा जाने को विकल जनों की समग्र चेतना जैसे नयनों में आ वसी थी। कुछ पीछे खड़े लोगों का पंजों के वल उचकना तो स्वाभाविक ही था। जो आगे खड़े थे उनकी पलकें झपकना ही भूल गयीं। एक क्षणांश भी वे रामदरस से वंचित जो नहीं रहना चाहते थे। और वह क्षण भी आ ही गया, जव दरसाकुल जनों को रथ से वाहर निकली विभूतित्रय के दर्शन हुए। असंख्य-असंख्य नयन शीतलता का सुखानुभव करने लगे। सहसा नयनों ने वाणी को प्रेरित किया और भगवान श्री राम की जय-जयकार का तुमुल निनाद पुनः-पुनः गूँज उठा। कोई नरेश अपनी प्रजा की इतनी श्रद्धा का पात्र भी हो सकता है–यह वातावरण एक अविश्वसनीय तथ्य को सत्य घटित कर रहा था। राजा राम अपनी गृहिणी और अनुज के साथ द्वार के वाहर खड़े कुछ क्षणों तक दर्शनार्थियों के तृषित नयनों को तृप्त करते रहे। हाथ उठाकर मुस्कराते हुए उन्होंने अपनी श्रद्धालु प्रजा का स्नेहपूर्ण अभिवादन

स्वीकार किया, अपनी मौन आशिषें दीं। किसी सुशासक की लोकप्रियता की कोई सीमा नहीं होती, किन्तु यह श्रद्धा तो उन सारी सीमाओं को पार कर गयी थी। अयोध्या के एक चमार-परिवार की सुख-शान्ति के लिए भगवान राम इस ग्राम के अन्य चमार-परिवार के यहाँ पधारे हैं। चमार-कन्या पद्मा को सन्मार्ग दिखाने को राजा राम रानी जानकी के संग स्वयं आये हैं–चमार के घर। अपनी इस चेष्टा से राजा राम अपनी प्रजा की दृष्टि में और भी उत्तम प्रजावत्सल हो गये हैं, वे और भी सर्वजन सुखकामी हो गये हैं, वे दीनबंधु हो गये हैं, छोटे के घर आकर वे और भी महान् हो गये हैं। अयोध्या से प्रस्थान के समय लक्ष्मण जी के मन में जो संशय था कि नरेश होकर एक चमार के घर जाना तो औचित्यहीन ही रहेगा–वह संशय स्वयं श्री लक्ष्मण जी के मन में मिथ्या होकर रह गया। उन्हें अपने विचार पर पछतावा होने लगा। एक विचित्र लघुता के घेरे में वे लज्जित से सिमटने लगे।

आचार्य ने इतनी कथा सुनाने के पश्चात् कुछ क्षणों तक विराम लिया और अवन्ती-नरेश की प्रतिक्रिया ताड़ने को उनका मुख निहारने लगे। उनके श्रद्धाभिभूत हृदय की साक्षी होकर एक मौन–अटल मौन के रूप में भासमान गंभीरता उनके मुख-मण्डल पर प्रसर गयी थी। "सचमुच श्री राम साधारण नहीं, महान् नरेश थे, असाधारण शासक थे, अद्वितीय राजा थे, आचार्यश्री ! उनकी महिमा का कोई पार नहीं।"–महाराज के मुख से उनका अन्तरतम व्यक्त हो गया। आचार्य को अपने उद्यम की सफलता समीप ही दिखायी देने लगी थी। उन्होंने एक नवीन उत्साह के साथ कथा अग्रसर कर दी।

राजन् ! पद्मा की माता ने आरती उतारकर द्वार पर स्वागत किया। आदरपूर्वक पद्मा का पिता अतिथियों को घर के भीतर ले गया और कोमल मखमल-मढ़े, रत्नजड़ित स्वर्णासनों पर उन्हें विराजित किया। रजत झारी के जल से भगवान के चरणों को प्रक्षालित कर स्वर्ण निर्मित कठौती के जल को उसने शीश पर चढ़ाया। अपने कोमल आँचल से पद्मा की माता ने चरणों को पोंछा और अपने सौभाग्य पर वह गर्वित होने लगी।

भगवान ने सहज रूप में ही पूछ लिया–"तुम्हारी बिटिया पद्मा कहीं दिखायी नहीं देती। वह अपने पति-गृह चली गई है क्या?"

"नहीं, राजन् ! वह पक्की हठी है। वह यों कहाँ जाने वाली। आप श्रीमान् के पदार्पण से अब वह लज्जित हो रही है अपने किये पर, सकुचा रही है। अपने कक्ष से बाहर निकलने का साहस भी उसे नहीं हो रहा है।"

पद्मा के वचन सुनकर श्री राम को भला अनुभव होने लगा। मुस्कान के साथ पुष्प-वर्षा-सी करते हुए कोमल वचनों में बोले–"यह एक शुभ लक्षण है। व्यक्ति अपने अपकर्म पर जब लज्जानुभव करने लगे तो समझो उसके सुधार का द्वार खुल गया है। फिर उसे प्रेरणा का साधारण-सा सहारा मिला नहीं कि वह सन्मार्ग पर गति पकड़ लेता है। यह संकोच उसकी आत्म-ग्लानि का ही एक रूप होता है।"

महाराज श्री राम का संकेत पाकर जानकी जी स्वयं उठकर पद्मा के कक्ष मे गयीं और पाया कि पद्मा तो दु:खित अवस्था में अपने आसन पर बैठी सिर पकड़कर मौन क्रन्दन कर रही है। उसके नयन मुँदे थे। जानकी जी के आगमन का भान भी नहीं हुआ। बड़े स्नेह से उन्होंने पुकारा–"बिटिया पद्मा ! ···पद्मा रानी !"

पद्मा तो चौंक पड़ी–जैसे गहरी नींद से जागी हो। वह अपने अहो-भाग्य पर अति प्रसन्न हुई, उठकर उल्लास के साथ आगे बढ़ी–"ओह ! प्रणाम, रानी माँ !··· प्रणाम करती हूँ।" दोनों हाथ जोड़े एक क्षण को खड़ी रह गयी और तब वह सिया रानी के चरणों में लोट गयी। अनेक क्षणों तक वह सुबकती रही और नयन-जल से रानी माँ के पद प्रक्षालित करती रही। इस भावुकतापूर्ण व्यवहार से सीता मैया का हृदय भी भर आया। अपने कोमल स्पर्श से पद्मा को उठने का संकेत करते हुए वे बोलीं–"उठो, पद्मा !···· उठो। देखो तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण करने को तुम्हारे घर स्वयं राजा राम अयोध्या से चलकर आये हैं। उन्हें नमन न करोगी?"

"मेरे तो भाग्य ही जाग गये, रानी माँ !···· भगवान स्वयं जो पधारे हैं मेरा मान रखने। ऐसे राजा बिरले ही होते हैं जो अपनी प्रजा का मन रखने के निमित्त कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं। धन्य हैं राजा राम जो मुझ चमारिन की पीड़ा को समझकर उसकी मर्यादा रखने मेरे घर पधारे।" पद्मा आँगन में बैठी मुख ऊपर उठाए रानी जानकी की ओर अपने आरक्त हो आए नयनों से ताकती रही। उसके अश्रु अब सूख गये थे–"आपके, भगवान राम के पधारते ही मेरे मन के सारे विकार तिरोहित हो गये। मुझे मेरी भूलें ज्ञात हो गयीं। कहाँ आप ! कि मेरा मान रखने को पतिदेव के निर्देश पर उनके संग यहाँ पधारीं और कहाँ मैं पापिन, कि पति मुझे ससुराल ले जाने को आये, स्नेहाग्रह किया और मैं ऐंठी रही, आज्ञा का पालन नहीं किया। किन्तु···· किन्तु अब मैं अबोध नहीं रही। अब मैं एक सन्नारी बनकर रहूँगी, तदनुकूल ही आचरण करूँगी। यह मैंने ठान ली है।"

"यह तुम्हारा हृदय-परिवर्तन है, पद्मा बिटिया ! शुभ है। और हमें तुमसे ऐसी ही आशा थी। यही कल्याण का मार्ग है।"

जानकी जी के इन शब्दों से उत्साहित होकर पद्मा उठी और बड़े भक्तिभाव से वह रानी माँ को अपने आसन पर बिठाकर स्वयं उनके चरणों में बैठ गयी– "आप कितनी अच्छी हैं, रानी माँ ! सभी आप-जैसी क्यों नहीं हो जातीं?"

"हो सकती हैं···· तुम भी हो सकती हो हमारी-जैसी। बस, मन में ऐसी होने की लगन चाहिये। सवेरे का भूला यदि संध्या को घर लौट आए तो वह भूला नहीं कहाता। तुम भी अब सारी भटकन त्यागकर घर आ गयी हो। अपने पति को देवता के समान पूज्य और सर्वस्व मानो। सास-ससुर की माता-पिता के समान सेवा करो।" सिया रानी ने संक्षिप्त मार्गदर्शन किया।

"ऐसा ही करूँगी, रानी माँ !.... अब सदा ऐसा ही किया करूँगी।" रानी माँ के आँचल से क्रीड़ा करती हुई वह बोली और सहसा चौंककर वह आँचल को ध्यान से देखते हुए कहने लगी—"आँचल में यह धब्बा कैसा? क्या आपके घर तैल का दीपक जलता है? हमारे यहाँ तो मणि-दीपों का प्रकाश रहता है।"

"हमारे यहाँ तो 'स्नेह' का दीपक जलता है, बेटी ! तुम्हारे घर के मणि-दीपों पर भी हमें गर्व है। राजरानी के लिए प्रजा तो सन्तानवत् होती है न। संतति की समृद्धि और सम्पन्नता पर अभिभावकों को प्रसन्नता ही होती है। चलो, अब राजराजेश्वर श्री राम को भी प्रणाम कर लो.... चलो।"

सीता मैया पद्मा को लेकर श्री राम के पास गयीं। पद्मा ने राजा राम के चरण स्पर्श किये और वहीं चरणों के समीप बैठ गयी। भगवान राम ने आशीर्वाद दिया—"सदा सुखी रहो।" दो क्षण मौन रहकर उन्होंने कहा—"बिटिया ! तुम तो बडी बुद्धिमती और विवेकवती हो। भीम—तुम्हारा पति भी बड़ा भला व्यक्ति है। नारियाँ तो कुमार्गी पतियों को भी सुमार्गी बना देती हैं। भीम तो स्वयं ही सन्मार्गी है। उससे अनबन रखना, दुराग्रह पालना, हठ करना तुम्हारे अपने लिए ही शुभ नहीं है। पतिदेव के चरणों में तो सती नारी का स्वर्ग होता है। चलो, हम तुम्हें वहाँ तक पहुँचा देंगे। हम आए ही इसी निमित्त हैं।"

"अब बिटिया पद्मा का हृदय परिवर्तन हो गया है, स्वामी ! उसे अपने किये पर जो अनुताप हुआ—उससे उसका हृदय निर्मल हो गया है।"

जानकी जी के इन शब्दों से भगवान राम को बड़ा संतोष मिला। वे बोले—"यह जानकर तो हमें बडी प्रसन्नता हुई। ऐसा ही होना चाहिये।"

"भगवन् ! अब मैं कभी भी सन्मार्ग से विचलित न होऊँगी। अव मेरी ससुराल ही मेरा घर है। मैं सदा पतिदेव की आज्ञा का पालन करूँगी। मेरे सास-ससुर मेरे माता-पिता-जैसे हैं। उनकी सेवा में ही मैं अपने जीवन की सार्थकता मानती रहूँगी।"

पद्मा के ये उद्‌गार सुनकर सभी को हार्दिक प्रसन्नता हुई। श्री राम-लखन-जानकी ने पद्मा को लेकर अयोध्या के लिए प्रस्थान किया। माता-पिता ने पद्मा को सहर्ष विदा किया। भगवान के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए पिता ने कहा—"आप राजा होकर चमार के घर पधारने मे भी आपने कोई संकोच नही किया और हमारा मंगल किया है। आप महान् हैं।"

प्रभु ने कहा—"सारी प्रजा हमारी सन्तान के समान है। पुत्र के घर आने मे पिता को भला क्या संकोच हो सकता है। हमें तो संतोष इस वात का है कि दो परिवारों को सुखी वनाने में हमारा योगदान सफल रहा। प्रजा का सुख ही तो राजा की साध होनी चाहिये।"

"धन्य हो, प्रभो ! धन्य है आपकी प्रजावत्सलता।" भीम के ससुर ने हाथ जोड़कर भाल तक उठा लिये। रथ अयोध्या की ओर चल पड़ा। पद्मा चमारिन तो कुछ-से-कुछ हो गयी थी। उसने अयोध्या में अपने घर जाकर सास-ससुर से क्षमा-याचना की और आदरपूर्वक चरण स्पर्श किया। पति भीम से भी क्षमा माँगते हुए उसने अपने पूर्व दुर्व्यवहारों के लिए दुःख भी प्रकट किया। इस परिवार ने सहृदयतापूर्वक पद्मा को पुनः अपना लिया। एक अपूर्व शान्ति इस घर में व्याप्त हो गयी। सुख वैभव में नहीं रहता, वह तो शान्ति के मार्ग से ही आता है। वाहर की वातावरण संबंधी शान्ति से भी मन की आन्तरिक शान्ति अधिक अपेक्षित रहती है।

"राजन् ! ऐसे थे राम और ऐसा था उनका शासन, ऐसी थी उनकी नीति।" अवन्ती-नरेश विक्रम वीर महाराज को सम्बोधित करते हुए आचार्य ने कहा- "आप क्यों ऐसे श्री राम से अपनी समतुल्यता स्थिर करना चाहते हैं। यथार्थ तो यह है कि राम तो राम ही थे। वे अनुपम भी थे और वे युग-युगान्तर तक किसी के लिए उपमान भी नहीं हो सकते। राम श्रेष्ठ थे। आप भी अपने स्थान पर श्रेष्ठ हैं, किन्तु रामत्व से आप दूर—बहुत दूर हैं और सदा दूर ही रहेंगे। अभिनव राम वनने की इच्छा तो क्या, उसकी कल्पना से भी दूर रहिये, राजन् ! इस कामना का परित्याग कर दीजिये।"

"इस कामना का परित्याग तो हमने, आचार्यश्री ! तभी कर दिया था, जव हमने यह रत्नजडित जूती देखी। राम के राज्य की एक चमारिन की जूती ऐसी... ऐसा वैभव उनकी प्रजा का था। हमारी प्रजा तो वेचारी है ही क्या? हमारा गर्व गलित हो गया, आचार्यश्री !"

"धन्य हैं आप, राजन् ! धन्य है आपकी विवेक-वुद्धि ! आपने एक उपयुक्त दिशा का ही चयन किया है। श्री राम की समता करने का कोई अर्थ नहीं। यह कथा तो मैंने एक ऐसे उदाहरण के रूप में सुनायी है जो राम के कृतित्वों में अति साधारण रूप रखती है। उनकी महानता, उदारता और सद्गुणशीलता का कोई पार ही नहीं है। छोटे के लिए महान् होना साधारण वात है, राजन् ! विशेपता तो इसमें है कि वड़ों के लिए भी, छोटे होते हुए भी महान स्वीकार किया जाय। ऐसी विशेपता श्री राम में थी। ऐसी पितृ-भक्ति, ऐसी आज्ञाकारिता, ऐसी मोहहीनता कि पिताश्री के आदेश पर राज्य को तृण-तुल्य मानकर त्याग देने वाले श्री राम ही हुए हैं। विमाता के प्रति भी कैसा भक्तिभाव। सभी को स्वजन मानने वाले श्री राम के लिए कोई भी पर नही था।" आचार्यश्री ने श्री राम की अनेक विशेपताओं को संकेतित कर दिया।

"आचार्यश्री ! आपने हमारी मद से मुँदी आँखें खोल दी हैं। आपका वड़ा उपकार है हम पर कि आपने हमें दर्पण दिखा दिया। हम कितने तुच्छ हैं, हम इसे भलीभाँति समझ गये हैं। हमारा मिथ्या अभिमान का हिम आपके उपदेश आतप से

पिघलकर बह गया, प्रभो ! अब एक नयी दिशा मिली है हमें, श्री राम के आदर्श अपनाने की। हम इस दिशा में अपनी शक्तिभर अग्रसर होते रहेंगे। श्री राम की समता करने का प्रयत्न तो हमारे लिए ऐसा ही है, आचार्यश्री ! जैसे कोई बौना रवि-स्पर्श करने की क्षमता का दंभ करे। हमारे अभिनय के लिए कृपया हमें क्षमादान करें। आपके माध्यम से ही श्री राम की क्षमा हमें प्राप्त होगी, प्रभो !" महाराज का हृदय जाग्रत हो गया। उन्हें उचित-अनुचित का भेद ज्ञात हो गया।

"मेरा उद्योग सफल हुआ, श्रीमान् ! मैं आपको आपकी वस्तु-स्थिति से भिज्ञ कर देना चाहता था–वह आपके सहयोग से संभव हो गया। श्री राम आपका कल्याण करें।" आचार्य जी ने आशिष दी–"श्री राम के मार्ग पर आगे बढ़ते रहें।"

भावपूर्ण मुद्रा में महाराज ने आचार्यश्री को नमन किया, उनका उपकार स्वीकार किया और उपकृत हृदय के साथ उन्होंने आचार्यश्री के प्रति आभार प्रकट किया और दक्षिणास्वरूप धन अर्पित किया। आचार्यश्री ने पुनः आशिष दी–"हे प्रजाहितकामी नरेश ! आपकी प्रजा सदा सुखी रहे।"

● ●

अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज प्रजा-रक्षक थे, राज्य-रक्षक थे। वे तो अजातशत्रु हो गये थे। किस अन्य नरेश में इतना साहस हो सकता था कि महाराज से वैमनस्य लेता। वे तो अघोषित चक्रवर्ती सम्राट् थे। दूर-दूर तक के शासकों के हृदयों में निवास था उनका। ऐसे पराक्रमी सम्राट् के लिए भी राजभवन में बडी भारी सुरक्षा-व्यवस्था थी। जाग्रत व्यक्ति ही तो स्व-पर रक्षा का प्रयत्न कर सकता है। निद्राधीन होने पर तो उसे अपना ही भान नहीं रहता। उसकी रक्षा भी अन्य जनों का दायित्व हो जाता है। महाराज की सुरक्षा के लिए भी रात्रिकाल के लिए चार अंग-रक्षक नियुक्त थे–शूरवीर, बलशाली और विवेकवान। उनके नाम थे–शतमति, सहस्रमति, लक्षमति और कोटिमति। इनके रक्षण में महाराज निश्चिन्त होकर निद्रा-सुख का उपभोग किया करते थे। बारी-बारी से ये अंग-रक्षक पहरा देते थे।

रात्रि का आरम्भिक प्रहर था। अंग-रक्षक शतमति रक्षा-कर्त्तव्य पर सन्नद्ध था। महाराज अपनी शय्या पर तन्द्रावस्था में थे। समीप की एक अन्य शय्या पर रानी शयन कर रही थीं। महाराज को वातायन से कोई अस्पष्ट-सी ध्वनि आयी। वे ऑखें खोले ध्यान से ध्वनि को सुनने-समझने का प्रयास करने लगे, किन्तु उन्हें

इससे अधिक कुछ भी ज्ञात न हो पाया कि कोई दुःखिया स्त्री दूर-कहीं रुदन-क्रन्दन कर रही है-विलाप कर रही है। महाराज का तो रोम-रोम विचलित हो गया। हमारे राज्य में कोई दुःखी हो और हम सुख से सोए रहें-ऐसा अनुपयुक्त है। उसके कष्टों का निवारण हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। यह सोचकर वे शय्या पर उठ बैठे और शतमति को आदेश दिया कि वह जाकर ज्ञात करे कि इस रात्रि में यह कौन स्त्री रुदन कर रही है? क्या कष्ट है उसको?

शतमति के समक्ष तो एक विषम स्थिति आ उपस्थित हुई। वह क्या करे? स्वामी का आदेश स्त्री के कष्टों की जानकारी लाने का है और उसका कर्त्तव्य महाराज की सुरक्षा का भी है। दोनों का निर्वाह एक साथ कैसे हो? वह महाराज को अरक्षित अवस्था में छोड़कर जाये तो कैसे जाये ! उसने महाराज से सविनय निवेदन किया-"महाराज ! इस समय आपकी सुरक्षा करना मेरा दायित्व है। आदेश हो तो आगामी प्रहर में जब सहस्रमति कर्त्तव्य पर उपस्थित हो जायेगा-मै आप श्रीमान् की आज्ञा का पालन कर लूँ। अनेक दुष्ट जन ऐसे ही अवसर की ताक में रहते हैं। राजा के मित्र-हितैषी तो असंख्य होते हैं, किन्तु अशुभ चाहने वाले कुचक्री भी कम नहीं होते।"

महाराज के मन में शतमति की कर्त्तव्य-भावना के लिए प्रशंसा का भाव आया। उसे आश्वस्त करते हुए बोले-"शतमति ! तुम हमारी चिन्ता न करो। हम जाग रहे हैं और तुम्हारे लौटने तक जागते ही रहेंगे। हमें तब तुम्हारी आवश्यकता न होगी। निश्चिन्त होकर जाओ और पता करके आओ-यह बेचारी पीड़िता कौन है और उसकी पीड़ा क्या है? हमारे राज्य में कोई पीड़ित न रहे-यही कामना है हमारी।"

अंग-रक्षक शतमति बेचारा विवश हो गया। अपना कर्त्तव्य-स्थल त्यागकर वह आदेशाधीन निकल पड़ा पीड़िता की खोज में। शब्दभेदी वाण की भाँति ध्वनि की दिशा में बढता हुआ वह अल्प ही समय में वहाँ पहुँच गया, जहाँ खुले आकाश-तले भूतल पर बैठी एक रुदनशीला नारी अत्यन्त दुःखित हो रही थी। दूरी पर ही अपना अश्व त्यागकर शतमति मंथर गति से उसकी ओर अग्रसर हुआ। समीप पहुँचकर कोमल वाणी में पुकारा-"देवी ! .... देवी ! आप कौन है? आपकी दुःखित अवस्था तो स्पष्ट दिखाई देती है, किन्तु आपके कष्ट का कारण क्या है?"

शतमति के शब्दों को स्त्री ने सुना भी, समझा भी; किन्तु वह पूर्ववत ही अपने दोनों घुटनों के मध्य शीश दिये, मुख छिपाये बैठी रही। उसका क्रन्दन द्रुततर हो गया। वह वेचारी एकदम असहाय प्रतीत होने लगी। करुणार्द्र कंठ के साथ शतमति ने पुनः-पुनः प्रश्न किये तो उसने अपना मुख ऊपर उठाया। शीश झटकाकर अपने उन्मुक्त केश-राशि को पीछे किया। मुख अनावृत हुआ, तो रुदनवश अरुण नेत्र और फीका-फीका-सा सौन्दर्य दिखायी दिया। अत्यन्त दीन

वाणी में स्त्री ने कहा–"मैं कौन.... मेरी कष्ट-कथा क्या....? छोडो, पथिक ! इस सब को। तुम मेरी भला क्या सहायता कर सकोगे ! जाओ, अपनी राह पकड़ो।"

"मैं पथिक नहीं, देवी ! इस राज्य का कर्मचारी हूँ ! पृथ्वीनाथ महाराज वीर विक्रम का अंग-रंक्षक हूँ। उन्हीं के आदेश से इस समय मैं यहाँ....।"

शतमति का कथन अभी अपूर्ण ही था कि सहसा उस स्त्री के मन में उत्साह करवट बदलने लगा। वह कुछ सावधान हो उठी। उसकी भारी पलकें भी खुल गयीं–"तब तो मैं तुम्हें अपनी वेदना अवश्य बताऊँगी। तुम राजसेवक हो.... तुम अवश्य ही मेरी पीड़ा जानने के उचित पात्र हो। पर हाय !.... हाय !.... सहायता तुमसे भी कुछ बन न पड़ेगी।" वह सिसककर मौन रह गयी।

"आप बतायें तो कि आप क्यों दुःखी हैं, देवी ! हमारे राजराजेश्वर सर्व शक्तिमान हैं। वे आपका कष्ट निर्मूल करने को सामर्थ्यवान हैं। आप कृपा कर अपना परिचय दें, अपना कष्ट बतायें !" शतमति ने स्त्री को पुनः उत्साहित किया।

"मैं मालव-देश की राजलक्ष्मी हूँ, राजसेवक ! तुम कदाचित् जानते हो कि मैं इस राज्य और इसके राजा की हित-चिन्तक हूँ। इसी कारण मैं आज दुःखी हूँ। राजा विक्रमादित्य पर आज की रात्रि में घोर संकट है। यह उनके लिए काल-रात्रि है। भोर से पूर्व उनकी मृत्यु निश्चित हो गयी है। यही ज्ञात होने पर मैं दुःखित हूँ। पृथ्वी का श्रेष्ठ शासक इस प्रकार सहसा पृथ्वी से उठ जाने को हो तो उससे बढ़कर अन्य कोई दुःखद प्रसंग हो ही नहीं सकता। राजा के इस संकट को दूर करना मेरे वश में भी नहीं है। यही मेरा कष्ट है।" राजलक्ष्मी ने संक्षेप में अपनी सारी बात कह दी।

शतमति अपने स्वामी के भावी अनिष्ट के ज्ञान से काँप उठा। स्वामी-भक्त सेवक जो था। "यह.... यह क्या कह रही हैं, देवी ! आपका अर्थ किस संकट से है? मैं महाराज का अंग-रक्षक हूँ। उनकी सुरक्षा का दायित्व मुझ पर है। मुझे बताइये.... राजा के मरण का कारण क्या होगा? कौन आक्रमण करने वाला है? प्राण-पण से प्रयत्न करूँगा और राजा की रक्षा करूँगा। मुझे [illegible].... [illegible] वाला क्या है?"

"अंग-रक्षक !" शतमति को सम्बोधित कर [illegible] कोई प्रकट शत्रु है भी नहीं, उस पर कोई आक्रमण [illegible] यदि तुमने साहस दिखाया.... तो कदाचित् तुम्हारे [illegible] हो जाय। राजा की शय्या के ठीक ऊपर [illegible] वाला है जो राजा को डस लेगा।" यह [illegible] सघन वन की एक दिशा की ओर [illegible] दिखाई दे रही थी।

उच्च स्वर में शतमति बोला—"आप चिन्ता न करें, देवी ! मैं उस विषधर को अवश्य ही मार दूँगा और स्वामी की रक्षा करूँगा। मैं आपका आभारी हूँ, देवी ! आपने पूर्व संकेत कर मेरे कर्त्तव्य के प्रति मुझे जगा दिया। आप महान् हैं, देवी ! आपकी जय हो।"

राजलक्ष्मी तो देखते-देखते ही तिरोहित हो गयीं। अश्वारूढ़ हो शतमति भी तत्काल राजभवन पहुँचा। अपने स्थल पर वह पहुँचा और नरेश को अवगत कराने को भीतर गया तो पाया कि महाराज तो निद्राधीन थे। वह सतर्क होकर उसी कक्ष में सन्नद्ध हो गया। उसने अपनी चमचमाती तलवार भी निकाल ली और सतर्क—सावधान, चौकन्ना होकर कर्त्तव्य में लग गया। बार-बार उसकी दृष्टि छत की ओर चली जाती थी।

शतमति के देखते-देखते ही एकदम श्यामवर्णी भारी भुजंग शयन-कक्ष की छत पर प्रकट हुआ। रेंगता हुआ वह छत पर चक्कर लगाने लगा। उसने अपना कर्त्तव्य तत्काल निश्चित कर लिया। उसने अपनी तलवार उठा ली किन्तु प्रहार की सुविधा न पाकर वह चिन्तित हो गया। छत पर उल्टा वार करना भी कठिन था। छत की ऊँचाई भी बाधक थी। वह सोच ही रहा था कि नाग कहीं ऊपर से शय्या पर टपक न पड़े कि सहसा वह भित्ति पर आकर धीरे-धीरे नीचे उतरने लगा। शतमति को अवसर मिल गया। उसने अपनी तीक्ष्ण तलवार के वार से सर्प पर हस्तलाघवपूर्वक अनेक प्रहार कर दिये। नाग के तो चार टुकड़े हो गये। शतमति की पूर्व तैयारी थी ही। मृत सर्प को उसने एक घड़े में डाल दिया। इसी समय उसकी दृष्टि रानी पर पड़ी जो समीप की शय्या पर निद्रा-मग्न थी। उसने देखा कि रानी जी के वक्ष पर सर्प-रक्त के कुछ छींटे लग गये हैं। वह विषाक्त-प्रभाव से चिन्तित हो गया। उसने तो आब देखा न ताव और अपने कटि-वस्त्र के उन्मुक्त भाग से उस रक्त को पोंछने का प्रयत्न किया। संयोग से महाराज की निद्रा भी उसी समय खुल गयी। वे तो शतमति को रानी के वक्ष का स्पर्श करते देखकर सन्न रह गये। विवेकशील थे नरेश .... उन्होंने तत्काल कोई प्रतिक्रिया दिखाना उचित न समझा। उनके मन में तो आया कि रानी पर झुके हुए शतमति का वे खड्ग से वध ही कर दें, किन्तु लोक-निन्दा के भय ने उन्हें रोक लिया। जव कुछ ही क्षणों में शतमति कक्ष से वाहर जाने को द्वार पर पहुँचा, महाराज ने अँगड़ाई लेते हुए प्रश्न किया—"तुम कव आये, शतमति? हमें तो गहन निद्रा ने घेर लिया। उस स्त्री का क्या समाचार लाये हो?"

शतमति ने यथार्थ को प्रकट करना उचित न समझा। यो ही कल्पना से उसने एक प्रसंग गढ़ लिया—"श्रीमानेश्वर ! एक स्त्री वेचारी भूख से पीडित थी। मैंने उसके भोजन की व्यवस्था करा दी। वह संतुष्ट हो गयी।"

"अच्छा किया, शतमति ! तुम वड़े वुद्धिमान हो !" महाराज ने प्रशंसा के स्वर में कहा—"हे चतुर अंग-रक्षक ! अव तो तुम्हारा समय पूर्ण हुआ। जाओ, घर जाकर विश्राम करो। सहस्रमति आता ही होगा।"

रात्रि के द्वितीय प्रहर में सहस्रमति राजा के सुरक्षा-[illegible] पर [illegible] [illegible] महाराज ने उसे आदेश दिया—"जाओ, शतमति के घर तत्काल पहुँचो और उसका वध करके आओ।" 'यह कैसा आदेश!' सहस्रमति तो सन्न रह गया। 'ऐसे कर्तव्यनिष्ठ, बुद्धिमान [illegible] को महाराज मरवाना क्यों चाहते हैं? अवश्य ही शतमति के विषय में इन्हें कोई भ्रान्ति है। उसे इस आतुरता में मरवाकर सम्भव है [illegible] के बाद में पछताना पड़े। यथार्थ तो प्रकट होकर ही रहता है। और तब [illegible] का [illegible] न किया जा सकेगा।' इस विचार से प्रेरित होकर सहस्रमति ने [illegible] का आश्रय लिया। निवेदन किया—"राजराजेश्वर ! आपकी आज्ञा का पालन होगा .... अवश्य होगा। अभी मैं आपकी सुरक्षा के दायित्व पर हूँ। आपको अरक्षित छोड़कर जाना उपयुक्त नहीं रहेगा। शतमति का वध तो भोर के अनन्तर भी हो जायेगा, महाराज !"

"तुम सर्वप्रथम मेरी अभिलाषा को पूर्ण करो, सहस्रमति ! मेरी सुरक्षा की चिन्ता त्यागो। तुम्हारे लौटने तक मैं जाग्रत रहूँगा। निद्रित तन को ही तो सुरक्षा की अपेक्षा रहती है। जाग्रत तो आत्म-रक्षा स्वयं कर लेता है।" महाराज ने सहस्रमति को बोध दिया—"जैसे स्वाध्याय से अज्ञान का, मौन से कलह का अन्त हो जाता है; वैसे ही जागृति से भय का नाश हो जाता है। तुम निश्चिन्त मन से जाओ और हमारे अपराधी शतमति का वध करो—हमें शान्ति दो।" विवश होकर सहस्रमति को शतमति के यहाँ जाना पड़ा। उसके घर तो राग-रंग चल रहा था। अपने स्वामी की रक्षा के कार्य में सफल रहने के उपलक्ष में प्रसन्न मन शतमति ने अपने मित्रों-सम्बन्धियों को एकत्र किया और नाच-गान का आयोजन किया था।

शतमति ने सहस्रमति को अपने यहाँ आया देखा तो प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत किया। गले मिलकर उसको आसन दिया गया। सहसा चिन्तित स्वर में शतमति पूछ बैठा—"भाई ! आपका तो प्रहरा होगा। आप राजा को अरक्षित छोड़कर कैसे आ गये ! मेरे समय मे भी महाराज पर प्राणघातक संकट आ गया था। मैंने बड़ी कठिनाई से उसका निराकरण किया। आज की रात्रि महाराज के लिए असुरक्षा-भरी है। हमें सावधान रहना होगा।"

"भाई, शतमति ! सच्ची मित्रता का चिह्न यही नहीं होता कि मित्र-संकट - समय एक-दूसरे से सहानुभूति रखें, सहायक बनें। सच्चा मित्र, मित्र के दुःख

दुःखी होता है तो वह उसके सुख में सुखी भी होता है। अपने प्रहरे पर जाते समय मैंने तुम्हारे घर से संगीत की ध्वनि सुनी तो वहाँ पहुँचकर तुम्हारी प्रसन्नता में सम्मिलित होने को लौट आया। अभी ही कर्त्तव्य पर पुनः पहुँच जाऊँगा।"

शतमति ने हँसकर बात को इति दी।.... किन्तु उसने सहस्रमति के मानस को विलोडित कर दिया। वह सोचने लगा–'शतमति में कोई विकार दिखायी नहीं देता। राज-भक्ति में वह सर्वाग्र है। राजा की रक्षा में अपने योगदान से वह प्रसन्न है–राग-रंग का आयोजन कर रहा है। भला इस पर संदेह करना कहाँ तक उचित होगा। कर्त्तव्य निवृत्त होकर अपने आनन्द के क्षणों में भी महाराज की सुरक्षा को लेकर इतना चिन्तित है। इसका वध करना उपयुक्त न होगा। महाराज को भ्रम ही हो गया है। उन्हें निष्फल पछतावे से बचाना भी तो हमारा ही कार्य है। यह आतुरता में किया गया निर्णय है महाराज का। इसकी क्रियान्विति में क्यों आतुरता रखी जाय !' यह सोचकर सहस्रमति बिना वध किये ही राजभवन लौट गया। महाराज सहस्रमति पर बड़े रुष्ट हुए। उन्हें आशंका हो गयी कि सहस्रमति भी शतमति से मिला हुआ है। इसी कारण इसने उसका वध नहीं किया। सहस्रमति ने बड़ी देर तक अपनी बात का औचित्य प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया।

रात्रि के तृतीय प्रहर में लक्षमति का प्रहरा आ गया। महाराज ने इसे भी शतमति के वध का आदेश दिया। लक्षमति भी संशय में पड़ा। यह कैसी आज्ञा ! ऐसे कुशल, राजभक्त अंग-रक्षक से भला मृत्यु–दण्डनीय अपराध हो कैसे सकता है। "राजन् ! आपको अवश्य ही कोई भ्रम हुआ है। शतमति से कोई भी ऐसे किसी अपराध की आशा नहीं कर सकता। विचारपूर्वक ही ऐसे निर्णय हों तो उत्तम है। शीघ्रता करने से विचारहीनता का दुष्परिणाम स्थायी बनकर अटल हो जाता है और दुःखद रूप में सदा ही बना रह जाता है।"–लक्षमति ने कहा–"ऐसे प्रसंग की एक कथा सुनाता हूँ। इसके पश्चात् भी यदि आपका आदेश यथावत् बना रहेगा तो मैं उसका निर्विवाद रूप में पालन करूँगा, राजन् !" लक्षमति ने कथा सुनायी–

लक्ष्मीपुर के निवासी श्रेष्ठी भीम का पुत्र था सुन्दर, जो निपुण व्यवसायी था। व्यवसाय-विस्तार के प्रयोजन से धन श्रेष्ठी के साथ प्रवास पर गया। दोनों व्यवसायियों ने प्रचुर व्यवसाय किया। रामपुर नगर में इनका व्यवसाय खूब चला, विपुल धन-लाभ भी हुआ। जव श्रेष्ठी धन लक्ष्मीपुर लौटा तो सुन्दर ने करोड़ों के मोल का रत्न उसके साथ अपने पिता–भीम के लिए भेजा। इस रत्न की वहुमूल्यता ने धन का हृदय विचलित कर दिया और उसके मन में खोट आ गयी। लक्ष्मीपुर आकर सुन्दर के पिता श्रेष्ठी भीम से धन ने भेंट की। सुन्दर की कुशलक्षेम के समाचार दिये, व्यापार का वृत्तान्त भी सुनाया। पिता वहुत प्रसन्न हुए। धन ने वह वहुमूल्य रत्न अपने पास ही रख लिया, श्रेप्ठी भीम को नहीं दिया। इस चातुर्य पर उसे वडा सुख अनुभव हुआ। वह अपने मन में स्वयं को सुरक्षित भी अनुभव कर

रहा था। इस अपकर्म का भेद भी तब खुला, जब सुन्दर लौटकर लक्ष्मीपुर आया। धन श्रेष्ठी की इस बेईमानी पर सुन्दर का आक्रोश भी स्वाभाविक ही था। उसने धन से पूछताछ की। एक बार असत्य के मार्ग पर आरूढ़ हो जाने पर मनुष्य को उसी पर स्थिर रहने को विवश होकर आगे से आगे अनेक असत्यों का आश्रय लेना पड़ता है। धन ने भी अपने असत्य को सशक्त रूप में सत्य स्वरूप में प्रस्तुत कर दिया कि उसने रत्न यथासमय ही श्रेष्ठी भीम को पहुँचा दिया था। लक्ष्मीपुर-नरेश के समक्ष यह प्रकरण जब पहुँचा तो धन ने बहुत-सा धन देकर श्रीधर ब्राह्मण को साक्षी बना लिया। राजसभा में जब राजा ने धन से पूछा– "तुमने सुन्दर का वह रत्न श्रेष्ठी भीम को दिया क्यों नहीं?" तो उसने निवेदन किया–"श्रीमन् ! मैंने तो रामपुर से लौटते ही रत्न भीम श्रेष्ठी को दे दिया था।"

राजा ने प्रश्न किया–"इसका कोई साक्षी है?"

– "है, श्रीमान् ! साक्षी भी है। मैंने श्रीधर के समक्ष रत्न भीम श्रेष्ठी को दिया था। उससे पूछा जा सकता है।"

– "ब्राह्मण, श्रीधर ! क्या वास्तव में तुम उस समय उपस्थित थे जब धन ने भीम श्रेष्ठी को रत्न दिया था।"

– "जी, श्रीमान् ! मैं उपस्थित था। मेरे समक्ष ही धन श्रेष्ठी ने वह मूल्यवान रत्न भीम श्रेष्ठी को दिया था।"

– "क्या तुमने रत्न देखा?"

– "जी.... जी, श्रीमान् ! बड़ा चमकीला रत्न था।"

– "तब तो तुम यह भी जानते होगे कि रत्न बड़ा कितना था?"

"क्यों नहीं, श्रीमान् ! मैंने जब देखा ही था तो यह भी ज्ञात है कि उसका आकार कैसा था?"–उसने सोचा–'लाखों का रत्न भी बड़ा होता है तो वह तो करोड़ों का था। अवश्य ही वह बहुत बड़ा होगा.... बहुत ही बड़ा।'

"तो बताओ, कितना बड़ा था–वह रत्न?" राजा ने पूछा।

आत्म-विश्वास के साथ श्रीधर ने उत्तर दिया–"एक बड़े कलश-जैसा बड़ा था वह रत्न, महाराज !"

मूर्खतापूर्ण इस उत्तर ने सारा भेद खोल दिया कि न तो श्रीधर साक्षी रहा, न ही रत्न भीम श्रेष्ठी को दिया गया है। राजा ने उचित न्याय किया। भीम श्रेष्ठी को रत्न मिला, पर सम्पत्ति को हड़पने के अपराध में धन को दण्ड मिला और मिथ्या साक्षी देने के अपराध में श्रीधर ब्राह्मण को भी दण्ड मिला।

कथा-समापन पर लक्ष्मति ने कहा–"श्रीमानेश्वर ! सत्य अधिक समय छिपाया नहीं जा सकता। वह तो रुई लपेटी आग की भाँति स्वतः प्रकट हो जाता

है। अविवेक और अविचारपूर्वक उठाये गये भ्रान्त चरण भी कर्त्ता के लिए अन्ततः कष्टकर ही सिद्ध होते हैं। भ्रान्ति छँट जाने पर यथार्थ प्रकाशित हो ही जाता है और तब श्रेष्ठी धन की भाँति पछताने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही शेष नहीं रह जाता, श्रीमानेश्वर !"

महाराज ने लक्षमति का सारा कथन ध्यानपूर्वक सुना और मौन चिन्तन करने लगे। कहता तो यह सत्य है, किन्तु हमने तो अपराध स्वयं अपने नेत्रों से देखा है। भ्रम है ही कहाँ। लक्षमति का समय भी समाप्त हो गया। उसके स्थान पर कोटिमति आ गया।

महाराज ने कोटिमति को भी वही आज्ञा दी—"जाओ और शतमति का वध कर दो।"

कोटिमति के मन में भी वैसा ही द्वन्द्व उठा जैसा सहस्रमति और लक्षमति के मन में उठा था। वह भी उसी प्रकार अपने स्वामी के निर्णय में अपरिपक्वता का संशय करने लगा। उसने भी इस आदेश के पालन में औचित्य का अनुभव नही किया। तब उसने निवेदन किया—"राजराजेश्वर ! शतमति का अपराध आपकी दृष्टि में प्राथमिक अवस्था में है। मेरी तुच्छ सम्मति में इस पर पुनर्विचार किया जाना अपेक्षित है। समय-यापन भी स्वतः अनेक वस्तु-स्थितियों को उद्घाटित कर देता है। मुझे प्रासंगिक रूप से एक कथा स्मरण आ रही है। कृपा कर, स्वामी ! आप पहले वह कथा सुन लीजिये। तदन्तर यदि आपकी आज्ञा यथावत् रही तो मैं उसका पालन भी करूँगा। यह रात्रि का चतुर्थ प्रहर था। कोटिमति ने कथा-कथन आरम्भ किया—

प्राचीनकाल में केशव नाम का एक ब्राह्मण लक्ष्मीपुर नगर में निवास करता था। ब्राह्मण अत्यन्त दरिद्र था। आय का कोई विशेष स्रोत था नहीं। खाने को अन्न जुटाना भी कठिन हो गया था। पण्डिताइन ने अनेक वार उसे प्रेरित किया कि वह प्रवास पर जाये और धनार्जन करे। केशव का साहस ही नहीं होता था। भाग्यवादी वह पक्का था। वह मानता था कि स्थान-परिवर्तन से भाग्य-परिवर्तन तो सम्भव है ही नहीं। किन्तु जव स्थानीय स्रोतों से वह सर्वथा निराश हो गया तो परदेस जाने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही शेष नहीं रहा। वह परदेस गया भी, प्रयत्न भी अथक रूप में किये, किन्तु प्रारव्ध ही उसके पक्ष में न था तो कोई उपलब्धि हुई नहीं। वह वहाँ सर्वथा अपरिचित था। कोई भी सहायक नहीं था।

सभी ओर से निराश होकर वह देवी के मन्दिर में गया और धन-प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ करने लगा। निरन्तर तीन दिन, तीन रात्रि उसने भक्ति और तपस्या में व्यतीत कर दीं। देवी की कोई प्रतिक्रिया न होने पर वह क्रोधित हो उठा—"देवी माँ ! मैं तेरी अचल भक्ति में लीन रहा हूँ। तू है कि निष्ठुर वनी वैठी है। अब भी यदि तेरी कृपा न हुई तो माँ .... स्पष्ट कहता हूँ, मैं तेरी प्रतिमा को खण्ड-खण्ड कर दूँगा।" यह कहते हुए भारी-सा पत्थर उठाकर प्रहार के लिए रोषपूर्वक वह

अग्रसर हुआ। देवी ने प्रतिमा-खण्डन के दुष्परिणामों की कल्पना की और इस कटु प्रसंग को टालने के लिए वह साक्षात् हो गयीं।

"भक्ति तूने की है, वत्स ! किन्तु तेरे भाग्य की रेखाएँ दुर्बल हैं। धन तेरे प्रारब्ध में नहीं है। यदि मैं तुझे धन दे भी दूँ तो वह धन तेरे पास रहेगा नहीं।.... तथापि ले, तुझे मैं अत्यन्त मूल्यवान एक रत्न देती हूँ, दो करोड़ से भी अधिक इसका मूल्य है।"

रत्न-प्राप्ति से प्रसन्न केशव अपनी नियति से अनभिज्ञ हो गया था। क्षणिक सुख उसके जीवन का सर्वस्व हो गया था और विस्मृत हो गया था अभावों का अटलनीय यथार्थ। सम्पदा के मादक माधुर्य ने उसे अभिभूत कर दिया था। उत्फुल्ल मन से वह लक्ष्मीपुर लौटने के लिए जलयान पर चढा। जलधि की अपारता, जल की विपुलता भी उसे अपनी सम्पदा के समक्ष क्षुद्र लगने लगी। पूर्णिमा का कान्तिमान चन्द्रमा उसे अपने रत्न की आभा के समक्ष धूमिल लगा। बड़ा गर्व है इस चॉद को अपनी चॉदनी पर .... मूर्ख है यह। कुएँ के मेंढक की तरह मिथ्या गर्व है इसे अपनी सम्पदा पर। इसे क्या मालूम कि देवी-प्रदत्त मेरा रत्न उसे लज्जित करने का सामर्थ्य रखता है। देख गर्वीले चॉद .... देख .... मेरा कान्तिमान रत्न देख और फिर गर्व करना। चॉद के साथ रत्न की तुलना करने को उसने मंजूषा से रत्न निकाला और उँगलियों के मध्य वह उसे घुमाने लगा। स्निग्ध रत्न फिसल गया और जलधि के गर्भ में समा गया। जलराशि पर वर्त्तुल उठे और क्षणभर में ही विलीन भी हो गये। इस अनायास ही आगत क्षण ने केशव के सारे स्वप्नों को छिन्न-भिन्न कर दिया। समृद्धि की सारी कल्पनाएँ ध्वस्त हो गयीं और वह पूर्ववत् दीन-हीन, अभावग्रस्त हो गया। तब उसे देवी मॉ का कथन सत्य लगा। दैवी-कृपा और उदारता भी मनुष्य को उसके सद्भाग्य से ही मिलती है, उसी से फलती है। पूर्वकृत कर्मों का फल ही उसे प्राप्त होगा—यह परिणाम किसी भी शक्ति के समक्ष अपरिवर्तनीय ही बना रहता है। जैसा किया—वैसा ही भरना भी होगा।

कथा समाप्त होते-होते भोर हो गयी। कोटिमति का कर्त्तव्य-समय समाप्त हो गया। वह अपने घर चला गया। जाते-जाते वह सतर्क कर गया—"मित्रों—मंत्रियों से परामर्श लीजिये। पुनर्विचार कर देखिए कि क्या वस्तुतः शतमति दण्ड का पात्र है भी, अथवा ....।"

महाराज का पुनर्पुनर्विचार यही निष्कर्ष देता रहा कि शतमति तो दुष्कर्मी है ही—शेष तीनों अंगर-रक्षक भी उससे मिले हुए हैं। गेहूँ के साथ घुन भी पिस जायेंगे। हम चारों को यथोचित दण्ड देंगे। सर्वप्रथम मूल अपराधी शतमति को दण्डित करना होगा। वह वच नहीं सकता। वचेंगे तो शेष अंग-रक्षक भी नहीं। महाराज ने मुख्य आरक्षी को बुलाकर शतमति को मृत्युदण्ड देने का आदेश दिया।

आज्ञाकारी आरक्षी अधिकारी ने आदेश दिया और शतमती को वन्दी वनाकर उसके समक्ष प्रस्तुत कर दिया गया। फॉसी पर चढाने की सारी तैयारी कर ली गयी

थी। मुख्य आरक्षी ने जब उसे मृत्युदण्ड दिये जाने की बात बतायी तो वह बौखला गया। पुरस्कार-योग्य राजसेवा के बदले उसे मृत्युदण्ड दिया जा रहा है–यह उसे समझने में कठिनाई हुई। उसने अपना अपराध जानना चाहा–किन्तु आरक्षी-प्रमुख स्वयं उससे अनभिज्ञ था। उसने कहा–"मुझे दण्डित करने का आदेश प्राप्त हुआ है, वही पूर्ण कर रहा हूँ। तुम्हारा अपराध महाराज को ही ज्ञात है।"

शतमति ने आग्रह किया–"फिर उसे ज्ञाता के पास ही ले जाया जाय। वह अपने अपराध से परिचित होना चाहता है।"

निदान, उसे महाराज के समक्ष प्रस्तुत किया गया। महाराज की तो आँखों में रक्त उतर आया। रोष के साथ उन्होंने कहा–"यह हमारे विरुद्ध घोर अपराध करने वाला नराधम अभी भी जीवित है? इसका प्राण-हरण क्यों नहीं कर लिया गया अब तक?"

आरक्षी अधिकारी ने नत-शिर निवेदन किया–"श्रीमानेश्वर ! यह अपना अपराध जान लेने का इच्छुक है। इसका कथन है कि·····।"

कथन-समाप्ति के पूर्व ही महाराज त्वरा के साथ बोल पड़े–"इस दुष्ट को सब ज्ञात है कि इसने क्या अपराध किया है। फिर भी···· यदि यह हमारे मुख से सुनना चाहता है तो हम इसे अवश्य बतायेंगे। इसे हम एकान्त में ही इसके अपराध से अवगत करायेंगे।"

संकेत पाकर सभी विसर्जित हो गये। महाराज और शतमति–बस ये ही दो रह गये। शतमति ने कहा–"श्रीमानेश्वर ! आपके आदेश से मैं फाँसी पर भी सहर्ष चढ़ जाऊँगा, किन्तु यदि ऐसा हुआ तो जगत् से निष्ठापूर्ण सेवा, कर्त्तव्य-परायणता और निर्भीकतापूर्वक परोपकार की प्रवृत्ति ही उठ जायेगी। जिसने आपके प्राणों की रक्षा की आपने उसी के प्राण हरण कर लिये–यह तथ्य भी आपके यश को ध्वस्त कर देने को पर्याप्त रहेगा, राजेश्वर !"

"क्या कहता है, शतमति ! अब तेरा कोई अभिनय तुझे मृत्यु से बचा नहीं सकता····।"

"आपकी दृष्टि से गिरकर तो मैं भी प्राणों को बचाकर क्या करूँगा, राजन् ! किन्तु···· एक बार मैं सारी स्थिति को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। मुझे अपने शयन-कक्ष में ले चलिए, स्वामी।" महाराज उसे अपने संग शयन-कक्ष में ले आये। शतमति ने कलश खोलकर मृत सर्प दिखाया। भित्ति पर रक्त के धब्बे दिखाये और रानी की शय्या पर पड़े सर्प-रक्त के छींटे भी दिखाये। तब मालव राजलक्ष्मी की भविष्यवाणी और राजा की प्राण-रक्षा का प्रयत्न और रानी जी की प्राण-रक्षा के लिए उनके वक्ष पर पड़े सर्प के विषाक्त रक्त को पोंछने का सारा वृत्तान्त उसने कह सुनाया।

महाराज को अपने सोच पर घोर अनुताप होने लगा। वे बोले–"शतमति ! तुमने हमें घोर पाप से बचा लिया। तुम्हारे उपकार के उत्तर में हम तो तुम्हारा

सर्वनाश ही करने चले थे। बहुत अच्छा किया तुमने कि अपना अपराध जानने का प्रयत्न किया, अन्यथा हम तो भ्रान्ति के वशीभूत अनर्थ कर बैठते। शेष तीनों अंग-रक्षकों ने कौशल से हमारी आज्ञा को टालकर भी हमारे साथ उपकार ही किया है। हम अपने चारों अंग-रक्षकों के कृतज्ञ हैं, शतमति !" महाराज ने अपने हाथों से उसे बंधन-मुक्त कर प्रेमपूर्वक वक्ष से लगा लिया। "तुम वास्तव में दण्ड के पात्र नहीं, पुरस्कार के पात्र हो, शतमति ! हम तुम्हें अनेक गाँवों की जागीर देते हैं। हम तुम्हारी स्वामी-भक्ति पर प्रसन्न भी हैं, अतिशय प्रसन्न हैं।"—महाराज ने कहा और उनकी पलकें आनन्दाश्रुओं से आर्द्र हो गयीं। महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक सहस्रमति, लक्षमति और कोटिमति को भी प्रचुर पुरस्कार प्रदान किये।

● ●

भ्रमण करते-करते महाराज विक्रमादित्य सघन वन, दुर्गम पर्वत क्षेत्र में पहुँच गये। सौन्दर्य प्रियजनों को शान्तैकान्त प्राकृतिक वातावरण में अद्‌भुत रमणीयता का अनुभव होने लगता है। ऐसी मानसिक तृप्ति के साथ महाराज वन-प्रान्तर में अग्रसर होते चले जा रहे थे। उस दोपहरी की वेला में सूर्य से प्रचण्ड तप्त रश्मियाँ बरस रही थीं। वन्य-कुसुमों से सज्जित धरा और पंछियों के कलरव से गुंजित वातावरण का आनन्द लेते हुए वे ग्रीष्म-कष्ट को विस्मृत किये बढ़ते चले जा रहे थे। सहसा जब तरु पुंजों के बाहर निकलकर एक खुले स्थल पर पहुँचे तो उनका मन 'धन्य-धन्य' कह उठा। एक स्वच्छ शिला पर कोई मुनिश्री कायोत्सर्ग में निमग्न थे। कराल आतप का परीषह भी निष्फल हो रहा था। मुनिराज ने उसका कोई कष्टकर प्रभाव ग्रहण ही नहीं किया था। शिला तप्त तवे-सी दाहक हो उठी थी। उसी पर खड़े मुनिराज स्वेद-स्नान कर रहे थे। प्रतीत होता था मानो मुनि-काया को उस प्रखर आतप ने द्रवित कर दिया हो। जो काया का उत्सर्ग करने में सफल हो गयी हो—उस आत्मा को भला कायिक यातनाओं का उत्पीड़न अनुभव हो ही कैसे सकता है। महाराज वीर विक्रम ने मन-ही-मन मुनिश्री का वन्दन किया और उनके चरणो में ही बैठ गये।

कालान्तर में कायोत्सर्ग तप अपने स्वाभाविक समापन पर आया। मुनिराज ने पलकें खोलीं। अपूर्व हो जो भय नयनों से उन्होंने राजा विक्रमादित्य की ओर स्नेहपूर्वक निहारा—"आयुष्मान् हो राजा वीर विक्रम ! धर्म-लाभ !!"—हाथ उठाकर मुनिराज ने आशिष दी। महाराज ने करवद्ध नमन किया, मुनिराज चरणों का शीश से स्पर्श करते हुए आश्चर्य सहित सोचा कि मुनिराज को

पहचान क्योंकर हो गयी। जिज्ञासु मन ने स्वतः ही निदान भी पा लिया–मुनिराज परम ज्ञानी हैं और ज्ञानालोक के समक्ष तो कुछ भी गुह्य और गोपनीय रह ही नहीं पाता। सब-कुछ विदित हो जाता है–ज्ञानवान को। श्रद्धाभिभूत हृदय के साथ महाराज ने निवेदन किया–"धन्य हुआ श्रमण श्रेष्ठ ! मैं धन्य हो गया। यह मेरे जीवन का कोई पुण्योदय का ही क्षण है कि आपश्री के पावन दर्शनों का लाभ हुआ।"

मुनिश्री के धर्मोपदेश से महाराज को धर्म-प्रेरणा और शान्ति की प्राप्ति हुई। महाराज किसी महत्त्वपूर्ण विद्या के लिए लालायित हो उठे और मुनिश्री ने तदर्थ अनुरोध किया। मुनिराज ने महाराज की इस अभिलाषा की पूर्ति की और दोनो को इससे हर्षानुभव हुआ। दोनों अपने-अपने मार्गो पर अग्रसर हो गये।

नारी-चरित्र अब भी महाराज के चित्त में एक अबूझ पहेली बना हुआ था। इसका स्वरूप ही ऐसा जटिल है कि जो दृश्यमान है, वह वस्तुतः है नही और जैसा यथार्थ है, वह वैसा द्रष्टव्य नहीं। उसका क्षण-क्षण परिवर्तित रूप और भी संशय में डाल देता है। नारी-चरित्र के वस्तुरूप को ज्ञात करना, उसका पार पाना बड़ा कठिन है। जीवन में अनेक-अनेक अवसर ऐसे आये थे, जब महाराज ने इस विषय पर गहन–गहनतर चिन्तन किया, किन्तु किसी निष्कर्ष तक पहुँच ही नहीं पाये थे। सतत रूप से अग्रसर होते-होते महाराज एक ग्राम में पहुँच गये। संयोग ही कुछ ऐसा था कि वे एक द्यूत के घर पहुँच गये। गृह-स्वामी एक कुशल जुआरी था और उसके घर जुए का एक बड़ा अड्डा था। दूर-दूर से जुआरी वहाँ आते और अपनी चालबाजियों से अपना भाग्य निर्मित करने का प्रयत्न करते रहते थे। महाराज जब पहुँचे, वहाँ जुए का बाजार गर्म था। जुआरी गृह-स्वामी ने अतिथि का स्वागत किया। घर के भीतर अतिथि आगमन का संदेश भिजवाया और तत्काल ही वह क्रीड़ा-मग्न हो गया। खो गया वह जुए की चालों में। उसे ध्यान ही नहीं रहा कि कोई अतिथि उसके यहाँ आया हुआ है। वड़ी देरी वाद महाराज ने जव जुआरी की एक चाल पर प्रसन्न होकर उसके कौशल की प्रशंसा की तो उसका ध्यान इस ओर गया। धन्यवाद करते हुए जुआरी ने क्षमा-याचनापूर्वक कहा–"वन्धु ! मैं तो खेल में ऐसा खो गया कि आपकी वात भूल ही गया। अव आप भीतर जायें और भोजन कर लें। वहुत समय हो गया है। मैं तो क्रीड़ा को वीच में छोड़कर आ नहीं पाऊँगा। मैं वाद में भोजन कर लूँगा। आप कृपया भीतर जायें।"

महाराज उठे और भीतर गये। चारदीवारी से घिरे एक छोटे-से स्थल में एक कुटियावत् घर था जिसके वाहर छप्पर वाला ही एक दालान था। महाराज ने दालान में प्रवेश किया ही था कि गृह-स्वामिनी भीतर से निकल आयी। उसने प्रणाम कर अतिथि का स्वागत किया। प्रथम दृष्टि में ही वह महाराज के रूप-यौवन पर, उनके आकर्षक तेज पर मुग्ध हो गयी। महाराज ने भी उसकी इस मोहावस्था को पहचान

बुझाने लगे। इसी समय जुआरी ने प्रवेश किया—"क्या हुआ? .... क्या हुआ?" छप्पर जला हुआ देखकर वह आतंकित हो उठा—"यह .... यह आग कैसे लगी?"

"आग कैसे लगी .... यह तो मैं जानती नहीं, किन्तु हमारे अतिथि ने आज मेरी प्राण-रक्षा की है। ये न होते तो आज अनर्थ हो जाता। देखो .... देखो इन्होंने क्या कर लिया। हाथों के जलने की चिन्ता न करते हुए भी इन्होंने अग्नि को बुझा दिया। ये मनुष्य नहीं देवता हैं .... देवता।"

"तुम सच ही कहती हो, भाग्यवान ! हम इनके बड़े उपकृत हैं।" उसने अतिथि के जले हाथों की ओर दृष्टि डाली, अपने घर की और पत्नी की अस्त-व्यस्त दशा देखी! वह स्नेहपूर्वक बाँह पकड़कर अतिथि को बाहर ले आया। कृतज्ञतापूर्वक जुआरी ने बार-बार अतिथि का धन्यवाद किया और हाथ जोड़कर मौन हो गया।

"भाई ! अग्नि भी तो नारी-चरित्र की है। इसका चरित्र ही विचित्र है। यही शीत से रक्षा करती है, मानव-जीवन की अनेकानेक सेवाएँ करती है और यही जब विपरीत हो जाती है तो महाविनाशक भी बन जाती है।"

"आप सत्य ही कहते हैं, भाई मेरे ! नारी और अग्नि दोनों से ही सावधान रहना चाहिए। महाराज के कथन को पूर्ण करते हुए जुआरी ने कहा।

"अग्नि तो विनाशक बनने के पश्चात् उस प्रसंग में शुभ कर्म नहीं कर पाती, किन्तु नारी शुभ से अशुभ भी हो जाती है और पुनः शुभ होने में भी उसे विलम्व नहीं लगता। नारी तो .... नारी ही है, बन्धु ! अच्छा, अब मैं चलता हूँ।" —महाराज यह कहकर विदा हो गये। जुआरी ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। उसकी पत्नी दालान में खड़ी अपने अतिथि को जाते हुए देखती रही .... वडी दूर तक देखती रही।

महाराज चले जा रहे थे। जुआरी-पत्नी के आचरण पर उनका चिन्तन चलता रहा—चलता रहा—'क्यों तो उसने प्रणय-प्रदर्शन किया। विफल होकर वह प्रतिशोध की अग्नि में धधक भी उठी, हमारे लिए संकट खड़ा कर दिया। और फिर क्यों उसने हम पर दयार्द्र होकर ऐसा नाटक खड़ा किया कि हम प्रशंसा के पात्र वना दिये गये। ऐसे दो विपरीत रूपों की धारिणी क्यों है नारी?'

× × ×

अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य की अनेक रानियाँ थीं। सभी सद्गुणों में एक से वढ़कर एक थीं। परम शीलवती, वुद्धिमती, विद्यावती एवं कला-सम्पन्न इन रानियों का महाराज के प्रति अनुराग भाव अगाध, अतिशय गम्भीर और अत्यन्त पावन था। सभी राजहितैपिणी थीं। प्राणों से भी अधिक प्रिय थे उन्हें अपने पति महाराज। प्रेम स्वयं में ही वड़ा गरिमापूर्ण भाव होता है। आदर भाव का अपना ही महत्त्व है। जव इन दोनों की समानान्तर रूप में उपस्थिति हो तो मणिकांचन योग हो जाता है। एक-दूसरे के योग से दोनों भावों का गौरव अभिवर्धित हो जाता है।

प्रेम उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विपुल हो, निर्मल हो, यथार्थ हो, गहन हो, किन्तु उसकी ये विशेषताएँ प्रच्छन्न हों। प्रेम तो मानस का आन्तरिक तत्त्व है, भासित होकर तो वह फीका पड़ जाता है।''

रानी देवदमनी की इन सतर्क उक्तियों से महाराज भी एक बार तो गम्भीर हो गये। रानी का आक्षेप पद्मावती के प्रेम पर प्रहार तो नहीं करता–वे इस बिन्दु को विचारणीय मानकर चिन्तन की ओर झुके। तुरन्त ही सहज मुस्कान अधरों पर लाते हुए महाराज ने कहा–''तुम्हारा अर्थ यह तो नहीं कि प्रेयसी के प्रेम में कितना यथार्थ और कितना छद्म है, कितनी वास्तविकता और कितना मात्र अभिनय है–इसकी पहचान करना कठिन है?''

''यही, प्राणेश्वर ! यही मेरा अभिप्राय है। केवल प्रदर्शन के आधार पर प्रेम का मूल्यांकन करना–स्वयं को छलने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। ऐसी-ऐसी नारियाँ भी रही हैं जो जगत् भर के लिए पति-परायणा, शीलवती, समर्पित प्रेयसी वनी रहीं और इस आडम्बर के आवरण में सुरक्षित रूप में पर-पुरुषों से प्रेम-निर्वाह करती रहीं। उनके प्रकटतः विपुल प्रेम का क्या मोल रह गया। क्या वह प्रवंचना नहीं। ऐसी प्रेयसी तो कहती क्या है, दिखाती क्या है और करती कुछ और ही है। यह अभिनय तो प्रेम नहीं। यथार्थ यह है कि अभिनीत प्रेम ही अधिक आकर्षक, अधिक चमक-दमक वाला, अधिक भव्य लगता है। यथार्थ प्रेम तो वेचारा पिछड़ जाता है।''

''तुम कदाचित् उपयुक्त ही कहती हो, देवदमनी ! किन्तु क्या तुम ऐसी प्रवंचनापूर्ण प्रेयसी का उद्धरण भी दे सकती हो?''–महाराज ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की।

''जी हॉ, स्वामी ! हमारा इतिहास ऐसे वृत्तान्तों से पटा पडा है। आज्ञा हो तो ऐसी ही एक रानी का वृत्तान्त प्रस्तुत करूँ जो लगती वडी पति-समर्पिता थी और जिसकी निष्ठाहीनता का रहस्य भी अधिक काल तक रहस्य नहीं वना रह सका।''

''हम सुनना चाहेंगे, देवदमनी ! तुम हमें वह वृत्तान्त सुनाओ।''

देवदमनी ने मनोयोगपूर्वक कथा आरम्भ की–

किसी समय एक देश में कोई राजा राज्य करता था। उसकी रानी उससे अतिशय प्रेम करती थी। उसका एकनिष्ठ प्रेम पाकर राजा भी स्वयं को धन्य मानता था। उसकी सेवा, उसके शील, उसके सद्गुणों से राजा वड़ा प्रभावित था और वह मन-प्राण से उसे चाहता था। रानी स्नेह के साथ स्वयं थाल परोसकर राजा को भोजन कराती थी। राजा के भोजनोपरान्त थाल में जो अन्न अवशिष्ट रह जाता श्रद्धापूर्वक रानी उसे पहले ग्रहण करती और तव उसी थाल में अपने लिए अन्य भोज्य-सामग्री लेकर भोजन करती। यही उसका नित्य का नियम रहा

करता था। एक दिन थाल में शेष बचे अन्न ग्रहण करने के लिए रानी ने थाल को अपनी ओर खींचा और नयन मूँदकर हाथ जोड़े इष्ट-स्मरण किया। उसके मुख-मण्डल पर असीम शान्ति का भाव प्रकट होने लगा। तब वह अपने पतिदेव को प्रणाम कर भोजन करने को तत्पर हुई। उसने ज्यों ही अपना हाथ थाल में बढ़ाया, वह तो चौंककर पीछे हो गयी। बड़ी त्वरा के साथ वह उठ खड़ी हुई। राजा को रानी के इस असामान्य आचरण पर बड़ा आश्चर्य हुआ। चिन्तित स्वर में उसने पूछा–"क्या हो गया? तुम तो प्रतिदिन ही उच्छिष्ट अन्न ग्रहण करती हो। आज सहसा चौंक उठने का क्या कारण है? क्या कोई बाधा है?"

"आज तो घोर अनर्थ हो गया होता, स्वामी !"–रानी ने उत्तर में कहा–"आज मेरी प्रतिज्ञा ही भंग हो गयी होती।"

"वह कैसे?" राजा ने प्रश्न किया–"ऐसी कौन-सी प्रतिज्ञा है जो भंग हो जाती? तुम तो सदा ही मेरे थाल का शेष अन्न ग्रहण करती रही हो।"

रानी ने सोचते हुए उत्तर दिया–"मेरी प्रतिज्ञा किसी पर-पुरुष को स्पर्श न करने की है। इस 'थाली' में नर-मत्स्य (मछली) का चित्र अंकित है, महाराज ! अभी भूल से ही सही–उसका स्पर्श हो गया होता। मैं तो अतिशय पाप की भागी बन गयी होती। दैव ने ही मेरी रक्षा की है कि मेरी दृष्टि उस चित्र पर पड़ गयी और मैने अपना हाथ खीच लिया। मै तो पुल्लिंग शब्दों के प्रयोग से भी यथासम्भव बचती रहती हूँ–थाली, छुरी, पहाड़ी, डिबिया-जैसे शब्दों का प्रयोग करती हूँ। आज तो यह नर-मत्स्य मेरा धर्म ही विनष्ट कर देता।"

रानी ने अपनी बात कही और थाल में से एक अट्टहास की ध्वनि निकली। उपहासपूर्ण हास था वह। राजा यह हँसी सुनकर दंग रह गया। अवश्य ही यह उस मत्स्य का अट्टहास था। किन्तु यह हँसा क्यों? राजा के मन में कुतूहल जाग्रत हो गया। राजा ने रानी से मत्स्य-हास्य का कारण पूछा–"बताओ, रानी ! तुम यह तो बताओ कि यह मत्स्य हँसा क्यों?"

रानी ने बात टाल दी, यह कहकर कि "मत्स्य क्यों हँसा–वह नहीं जानती। मत्स्य बोलकर बता सकता तो मैं उसे पूछकर ही बता देती। मैं तो अपने मन की ही बात जानती हूँ।"

राजा ने सोचा–'मत्स्य ने रानी के कथन पर ही अट्टहास किया था। उसके हास्य का सम्बन्ध उसी कथन पर टिप्पणी हो सकती है।' विनोदपूर्वक राजा ने कहा–"तुम तो अपने शील, अपनी पति-परायणता की चर्चा कर रही थीं न ! मत्स्य-हास्य का अभिप्राय कहीं यह तो न था कि 'सौ-सौ चूहे खाकर बिल्ली हज को चली'।" और राजा स्वयं ही अपनी बात को हँसी में उड़ाने के निमित्त जोर से हँस पड़ा।

रानी के तो मुख की कान्ति ही फीकी पड़ गयी–वह रुष्टतापूर्ण स्वर में बोली–"स्वामी ! ऐसे गम्भीर प्रसंगों में जिनका सम्बन्ध मेरे चरित्र और शील से हो, विनोद शोभा नहीं देता।"

राजा भी सोचने लगा–'एक भूल उससे हो गयी। यह विषय वास्तव मे विनोद-योग्य न था।' बोला–"अरे ! तुम्हें तो बुरा लग गया–मैं तो यों ही कह रहा था। किन्तु .... किन्तु मुझे ऐसा कहना नहीं चाहिए था। छोड़ो अब इस सब को, तुम अन्य थाली में भोजन करो।" रानी अनमनी-सी भीतर चली गयी। बात आई-गई हो गयी, किन्तु मत्स्य-हास्य का कारण जानने की अभिलाषा राजा के मन में बलवती होती रही। उसने अनेक विद्वानों–पण्डितों से पूछा भी, किन्तु किसी भी दिशा से समाधान न मिला। तब उसने अपने राजपुरोहित को बुलाकर अपनी समस्या उनके समक्ष रखी। गहरे सोच-विचार के पश्चात् भी वे किसी परिणाम पर न पहुँच पाये तो दुःखी होकर उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। राजा इस पर अप्रसन्न हो गया। बोला–"राजगुरु हैं, आप ! आपका धर्म है कि हमारी समस्याओं का समाधान करो। हमें तुम्हारी असमर्थता की आशा न थी। मैं आपको तीन दिन का समय देता हूँ। मुझे समाधान चाहिए। यदि इस अवधि में भी आप सफल न हुए तो आपका राज्य-निष्कासन कर दिया जायेगा।"

राजगुरु बेचारे आतंकित हो गये। अपने परिवार में उन्होंने यह चर्चा की तो सभी परिजन दुःखी हो गये, किन्तु उनकी पुत्री बाला विदुषी से उन्हें आशा की एक किरण दिखायी दी। पुत्री ने कहा–"निश्चिन्त हो जाइये, पिताजी ! आप तो राजा से कह दीजिये कि मेरी पुत्री इस प्रश्न का समाधान करेगी। मैं प्रयत्न करूँगी और मुझे विश्वास है कि सफलता भी अवश्य मिलेगी मुझे।"

राजगुरु ने राजा से यही निवेदन कर दिया। निदान, वाला विदुषी को राजभवन में आमंत्रित किया गया। एक यवनिका के बाहर राज-दम्पति अमात्यगण आदि की सभा जुड़ी। भीतर राजगुरु की पुत्री वाला विदुषी वैठी थी। सभी मत्स्य-हास्य का कारण जान लेने को उत्सुक हो उठे। यवनिका के पीछे से वाला विदुषी ने कहा–

राजन् ! आप मत्स्य-हास्य का कारण जानने के अभिलाषी तो हैं किन्तु आपके हित में यही है कि आप इस अभिलाषा का त्याग कर दें। अशुभ और अमंगल को आवृत ही रहना चाहिये। शरीर और घर का यथार्थ रहस्यमय रहे, आवृत रहे–यही उत्तम है। मानव-देह चाहे कितना ही सुगढ़, सुन्दर और आकर्षक क्यों न हो–उसकी आन्तरिक संरचना रक्त, माँस, मज्जा-जैसे पदार्थों से हुई है। मल-मूत्रादि घृण्य पदार्थ इसके भीतर हैं। इस यथार्थ को सुन्दर कलेवर का आवरण दिया गया है। तन का रहस्य, आन्तरिक यथार्थ रहस्य ही वना रहे, घर-परिवार की भीतरी दशा भी प्रकट न हो, उस पर रहस्य की यवनिका पड़ी रही–यही श्रेयस्कर है, महाराज ! मत्स्य-हास्य का रहस्य भी यथावत् रखना उचित होगा, श्रीमानेश्वर ! अन्यथा भय है कि कहीं आपको भी मंडक लकड़हारे की भाँति दुःखी न हो जाना पडे। उसकी पत्नी भी रहस्य ज्ञान कर लेने को आतुर थी, किन्तु ज्ञात हो जाने पर

उसे पछताना पड़ा। कहीं आप भी यह न अनुभव करने लगें कि यह रहस्य रहस्य ही रह जाता तो भला था।

महाराज की उत्सुकता बढ़ गयी, बोले–"हे बाला विदुषी ! यह मंडक लकड़हारा कौन था? क्यों उसकी पत्नी को पछतावा हुआ? प्रथमतः तो तुम यही हमें बताओ।"

उत्तर में राजगुरु-पुत्री ने वर्णन आरंभ किया–

राजन् ! किसी समय श्रीपुर नगर में कमल लकड़हारा रहा करता था। वह अभागा दरिद्रतावश बड़ा दु:खमय जीवन व्यतीत कर रहा था। वनों से ईंधन लाकर नगर में विक्रय करने से जो कुछ आय होती थी, वह उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए अत्यल्प सिद्ध हो रही थी। अन्य कोई आजीविका-साधन सुलभ था नहीं। निर्धनता ऐसा अभिशाप है जो बुद्धि को भी विकृत कर देता है और उचित-अनुचित कर्मो का भेद भी मिटा देता है। कमल की भी यही दशा थी। नगर के समीप ही एक मंदिर था जिसमें गणेश जी की विशाल काष्ठ-प्रतिमा थी। यह दुर्विचार उसके मन में आया कि क्यों न वह इस प्रतिमा को कुल्हाड़े से खण्ड-खण्ड कर दे। इससे प्राप्त काष्ठ उसकी काफी आय का स्रोत हो जायेगा। सद्विचारों की अपेक्षा दुर्विचारों की क्रियान्विति में मनुष्य की अधिक तत्परता रहती है उसी में अधिक रस भी उसे मिलता है। कमल लकड़हारे ने कुल्हाड़ी उठायी और गणेश-प्रतिमा पर प्रहार करने ही वाला था कि सहसा मंदिर में एक ध्वनि गूँज उठी। कमल को अनुभव होने लगा कि गणेश जी स्वयं ही उससे कुछ कह रहे हैं। उसे सुनाई दिया–"कमल ! मैं तेरी दरिद्रता से परिचित हूँ और तेरी सहायता करना चाहता हूँ। तू मेरी प्रतिमा भंग करने का पाप न कर। तू नित्य प्रातःकाल मेरे पास आया कर। मैं तुझे मंडक (मालपुए) और पाँच मुद्राएँ प्रतिदिन दूँगा। मंडक से परिजनो की उदरपूर्ति होगी और मुद्राओं से अन्य आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाया करेंगी।"

मंदिर में वह उस समय एकाकी ही था। उसने कुल्हाड़ा एक ओर डाला और वह नयन मूँदकर गणपति-वन्दना करने लगा। जब आँखें खुलीं तो उसे गणेश-प्रतिमा के चरणों के समीप मंडक और मुद्राएँ मिलीं। भगवान का उपकार स्वीकारते हुए वह उन्हें लेकर प्रसन्नचित्त घर लौट आया।

गणपति जी की कृपा से उसके तो दिन ही फिर गये थे। सारा परिवार सुखी और प्रसन्न था। उसे एक सावधानी बरतनी थी। गणेश जी ने कहा था कि यह मंडक और धन तुम्हें मैं देता हूँ यह तथ्य तुझे रहस्य में ही रखना होगा। जिस दिन तू यह भेद खोल देगा–उसी दिन से मेरी सहायता बन्द हो जायेगी। आरंभ में तो कमल लकड़हारे ने इसमें कोई कठिनाई अनुभव नहीं की। आनन्द के साथ जीवन व्यतीत हो रहा था। कमल की पत्नी भी अब बड़ी प्रसन्न थी। कमल नित्य ही गणेश जी से मंडक व मुद्राएँ ले आता था। उसकी पत्नी के मन मे एक प्रश्न बार-बार उठकर भीतर-ही-भीतर बवंडर हो जाता था–'अन्ततः ये मंडक और धन लाते

कहॉ से हैं? काम-धाम तो ये कुछ करते नहीं। कई बार मैं उनसे पूछ भी चुकी हूँ, किन्तु ये टाल देते हैं। कोई उत्तर ही नहीं देते।'

एक दिन पत्नी ने पूछा—"कहॉ से लाते हो यह सब? कहीं चोरी तो नहीं करते हो? हैं ····?" बेचारा क्या उत्तर देता ! चुप रह गया। उसकी चुप्पी से पत्नी का संदेह पुष्ट होने लगा। रुष्ट होकर पत्नी ने कहा—"न बताओ ···· मैं भी ये मंडक नहीं खाऊँगी। चोरी–अन्यायी का अन्न मुझे नहीं फलता।" और वह मुँह फुलाकर एक ओर बैठ गयी। संध्या को जब कमल को पता लगा कि पत्नी ने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया तो वह दुःखित हो गया। उससे मंडक खाने को कहता रहा ···· वह थी कि रूठकर बैठी थी। बोल भी उसके मुँह से नहीं निकल रहे थे। वह बार-बार मनुहार करता रहा तो वह बोली—"मेरे कंठ से पानी भी तब नीचे उतरेगा जब तुम यह बताओगे कि यह सब लाते कहाँ से हो?"

"प्रिये ! बस, यही बात तो मैं तुझे बता न सकूँगा। मैं विवश हूँ। पर इतना मान ले कि यह चोरी–अन्याय का नहीं है। अब कुछ खा भी ले।"—मनाते हुए कमल बोला।

पत्नी को उत्तर से संतोष नहीं हुआ। "रखो तुम अपने चोरी के मंडक अपने पास। मुझे नहीं खाना।"—हाथ नचाते हुए वह बोली।

"मैंने कहा न कि ये चोरी के नहीं हैं। मानती क्यों नहीं?"

"चोरी के नहीं, तो बताते क्यों नहीं कि यह सब लाते कहॉ से हो?" पत्नी रूठी रही। कमल बेचारा उठकर चल दिया। दूसरे दिन भी वह अपनी हठ पर अडी रही। न कुछ खाया और न कुछ पीया। त्रिया-हठ बड़ी दृढ़ होती है। मनाने के सारे प्रयत्नों में कमल विफल रहा। तीसरे दिन भी यही चलता रहा। संध्या तक तो कमल द्रवित हो गया। त्रिया-हठ के समक्ष उसे झुकना ही पडा। उसने सारा भेद खोल दिया। दुष्परिणाम भी इसका घटित होना ही था। आगामी दिवस से ही मंडक और मुद्राएँ मिलना बन्द हो गयीं। अब तो यह परिवार पुनः कष्टों–अभावों से घिर गया। खाने को अन्न भी सुलभ न होता था। अव तो कमल की पत्नी भी वड़ी पछताती थी कि क्यों उसने रहस्य खोलने के लिए पति को विवश किया। न मेरी वह हठ होती और न आज यह दुर्दशा होती। पर अव पछताने से भी होना कुछ न था।

"सो राजन् !" कथा समाप्त कर वाल-विदुपी ने कहा—"रहस्य ज्ञात करने का हठ कभी शुभ फल नहीं देता। भला इसी में है कि आप भी मत्स्य-हास्य को रहस्य ही रहने दें।"

राजा वेचारा अव क्या कहता ! चुप रह गया—निराश, उदास। सभा विसर्जित हो गयी। राजा भी ठंडी उच्छ्वास छोडते हुए उठ गया। राजगुरु तो अपने घर चले गये, किन्तु राजा के अनुरोध पर वाला विदुपी राजभवन में ही अतिथि-कक्ष में रुकी रही।

आगामी प्रातः होने तक राजा का मन द्वन्द्वग्रस्त-सा रहा। सारी रात्रि उद्विग्नता के साथ ही व्यतीत हुई। मत्स्य-हास्य का रानी के चरित्र से संबंध होने की आशंका ने राजा को सोने ही नहीं दिया। आशंका और तथ्य में एक केश के बराबर ही अन्तर रहता है। जब यह अन्तर समाप्त हो जाता है दोनों एकाकार होकर अमंगलकारी हो जाते हैं। बाला यह केश बराबर अन्तर बनाये रखना चाहती है, किन्तु हम इस केश को निकाल बाहर करना चाहते हैं। यह अब मेरी मानसिक शान्ति के लिए अनिवार्य है। राजा ने ऐसा निश्चय कर बाला से भोर में ही अनुरोध किया कि वह मत्स्य-हास्य के रहस्य से अवगत करे.... यह उस पर बड़ा भारी उपकार होगा।

बाला विदुषी ने पुनः प्रतिबोध दिया—"राजन् ! आपका आग्रह तो है, किन्तु मुझे भय है कि कहीं आपको सिन्दूर पद्म किसान की भाँति दुःखित न होना पड़ जाय !"

राजा ने उत्कंठापूर्वक पूछा—"यह सिन्दूर पद्म किसान का क्या प्रसंग है, बाला ! हमें तनिक विस्तार से बताओ।"

यवनिका के पीछे से ही बाला विदुषी ने कथन आरंभ किया—

राजन् ! किसी समय एक ग्राम में पद्म नामक किसान रहता था। जन्म से ही दरिद्र तो यह कृषक न था, किन्तु अब वह अत्यन्त दुःखी था। कभी इसके घर में भी धन-धान्य की प्रचुरता थी। उसकी धरती हीरे-पन्ने उगलती थी। देव की कृपा थी। खेती-बारी बहुत अच्छी हो जाती थी। किन्तु.... समय एक-सा कहॉं बना रहता है। इस परिवार पर भी ऐसे दुर्दिन आये कि चंचला लक्ष्मी तो नर्तन करती-करती घर के मुख्य द्वार से भी बाहर हो गयी और दारिद्र्य मानो पॉव तोड़कर घर में पसर गया। कभी दुर्भिक्ष हो जाता, तो कभी जल-प्लावन से कृषि चौपट हो जाती। छाती-फाड परिश्रम का फल हाथों से फिसल जाता और रिक्त हस्त कपाल पर पहुॅच जाते। परिवार का भरण-पोषण भी एक कठिन समस्या हो गयी। धनार्जन के लिए तब पद्म किसान गृह त्यागकर प्रवास पर निकला। एक वन से निकल रहा था कि सौभाग्य से उसे एक सिद्ध योगी के दर्शन हो गये। भाव सहित उसने योगिराज की वन्दना की। प्रसन्न होकर योगी जी ने उसे सिन्दूर की एक मंजूषा दी। बताया कि इसे सॅभालकर रखना। यह सिन्दूर-मंजूषा तुम्हें नित्य-प्रति पॉच सौ मुद्राऍं देगी। किन्तु... सावधान ! सिन्दूर-मंजूषा का रहस्य रहस्य ही बनाए रखना। जिस दिन तुम इस रहस्य को खोल दोगे—यह सिन्दूर-मंजूषा लौटकर मेरे पास आ जायेगी। फिर कभी तुम्हें इसकी प्राप्ति न हो सकेगी। पद्म किसान के तो भाग्य ही खुल गये। उसने सिन्दूर-मंजूषा ग्रहण किया, श्रद्धा सहित योगिराज को नमन कर वह समीप के नगर मे चला आया। उसे पॉच सौ स्वर्ण-मुद्राऍं प्रतिदिन मिलने लगीं। वह पुनः धनाढ्य हो गया। किन्तु श्रम और अधिकार के विना प्राप्त धन वड़ा उत्पात करता है। यह अभिशाप की भाँति व्यक्ति को कुमार्गी वनाकर उसका सर्वनाश ही करता है। पद्म

भी कुप्रवृत्तियों में संलग्न हो गया। वैश्यागमन-जैसे दुर्व्यसन में ग्रस्त होकर वह सिन्दूर से प्राप्त धन को स्वाहा करने लगा। वह एक वैश्या के प्रेमाभिनय को यथार्थ मानकर अपना सर्वस्व उस पर न्योछावर करने लगा। वैश्या तो पर-धन से ही प्रीति रखती है। उस धन को ही अपना बनाने का कौशल उसमें होता है, वह किसी की अपनी नहीं बनती। इतनी धन-प्राप्ति प्रतिदिन पद्म से होने लगी तो उसने उसकी होने का नाटक बड़े कौशल से किया। पद्म तो मुग्ध ही हो गया था। वह स्वयं को लुटाकर भी प्रेयसी को प्रसन्न देखना चाहता था। उसे अपनी प्रीति के प्रत्युत्तर में प्रेयसी की गलबहियाँ मिलतीं, उसकी अधखुली आँखों की चितवन मिलती–उसका दरस-परस पाकर वह निहाल हो उठता।

वैश्या ने सोचा जहाँ से यह किसान धन प्राप्त करता है उस स्रोत को हथिया लूँ तो ही उत्तम है। यह धन मिलता ही रहेगा और इसे निकाल बाहर कर किसी अन्य ग्राहक को अपनाया जा सकता है। वह अतिरिक्त आय होगी। मदिरा और अपनी नृत्य-संगीत कला से उन्मत्त कर पद्म किसान को एक सलोनी रात्रि में वैश्या ने अपने वशीभूत कर लिया। चिकनी-चुपड़ी बातें कर वह किसान से सिन्दूर-मंजूषा का रहस्य ज्ञात करने में सफल हो ही गयी। "तनिक मैं भी तो देखूँ कि ऐसी चमत्कारी सिन्दूर-मंजूषा कैसी है? लाओ प्रिय ! मुझे भी दिखाओ।"–वैश्या ने अनुरोध किया।

उत्साह के साथ पद्म बोला–"देखो .... देखो .... अवश्य देखो।" और वह अपने कटिबंध में सिन्दूर की मंजूषा टटोलने लगा। अब वह मंजूषा वहाँ कहाँ थी। उसे योगिराज के शब्द अब स्मरण आये–"यदि इसका भेद खोला तो सिन्दूर-मंजूषा तुम्हारे पास से मेरे पास लौट आयेगी और तब फिर ....।" वह तो अपनी भूल पर पछतावे की ज्वालाओं में धधकने लगा। क्षणिक सुख-स्वप्न विलीन हो गया और दुःखियारा पुनः अभागा दुःखियारा हो गया। पद्म के दरिद्र हो जाने का दुष्परिणाम वैश्या को भी भोगना पड़ा। उसकी आय का मार्ग ही ध्वस्त हो गया था। उसने धनागमन का रहस्य ज्ञात करने का प्रयत्न न किया होता तो उसे निरन्तर धन प्राप्त होता रहता। वह भी अपने लोभवश रहस्य को ज्ञात कर लेने की अपनी दुष्प्रवृत्ति पर पछताने लगी।

राजन् ! इसी प्रकार रहस्योद्घाटन हानिकारक सिद्ध होता रहा है। आप भी अपनी जिज्ञासा को संयत कर लें। यही आपके लिए हितकर होगा। फिर जैसी आपकी इच्छा, अन्यथा मैं आपको मत्स्य-हास्य का भेद खोलकर जता अवश्य सकती हूँ। अपना भला-बुरा सोचने का अधिकार तो स्वयं आपका ही है। राजा का मन अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त हो गया। वह अपनी जिज्ञासा तुष्ट करने को रानी की चारित्रिक रहस्यमयता से यवनिका हटवा दे, या बाला विदुषी का परामर्श मान ले? वह क्या करे? कभी वह एक पक्ष का अनुमोदन करता तो तुरन्त ही अन्य पक्ष हावी हो जाता। भय और जिज्ञासा के मध्य संघर्ष होता रहा। अन्ततः जिज्ञासा भय पर हावी हो गयी और उसने आगामी प्रातः भी मत्स्य-हास्य का कारण जानने

की अभिलाषा प्रकट की। बाला इस बार पुनः प्रयत्न करते हुए रानी रमा की प्रेमकथा वर्णित करने लगी–

राजन् ! लक्ष्मीपुर राज्य पर कभी राजा मुकुन्द का शासन था। रमा नाम की रानी उसकी एक मात्र पत्नी थी। रमा से राजा को अतिशय प्रेम था। राजा मानता था कि मेरा प्रेम अविचल है, निश्छल है, गहन है, पावन है। इसी कारण रानी भी मुझसे इतना प्रेम करती है। वह तो मेरी प्रसन्नता के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर रहती है। ऐसी धर्मपत्नी पाकर तो किसी को भी अपने सौभाग्य पर उचित ही गर्व हो सकता है। ऐसी रूपसी ······ और तनिक भी गर्व नहीं। रूप के गर्व में नारियाँ तो पर-पुरुषों पर जाल फैलाती रहती हैं, किन्तु रानी रमा तो किसी अन्य पुरुष के विषय में कोई कल्पना भी नहीं करती। ऐसी शीलवती स्त्रियाँ तो जगत् की भूषण होती हैं। राज-दम्पति का एक ही पक्ष ऐसा सोचता था– अन्तर्मन की भावना ऐसी थी। दूसरा पक्ष इस योग्य था नहीं। उसका प्रेमाभिनय मात्र ही था। रानी रमा वास्तव में राजा मुकुन्द से प्रेम ही नहीं करती थी– एकनिष्ठता का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। किन्तु राजा उसके छद्म प्रेम को पहचान नहीं सका। उसका मन निर्मल प्रेम में निमग्न था। वह रमा रानी का भक्त जो हो गया था। वह प्रेमांध यथार्थ को देख नहीं पाया।

बाला विदुषी कथा कहती जा रही थी। राजा सुनता जा रहा था। वह भीतर-ही-भीतर स्वयं को राजा मुकुन्द के स्थान पर अनुभव करने लगा–'कहीं मेरी रानी का प्रेम भी तो रमा रानी-जैसे ····।'

बाला ने अपनी कहानी अग्रसर करते हुए कहा–"राजा मुकुन्द का भ्रम तब टूटा, जब एक मित्र नरेश अतिथि होकर उसके पास आया। अतिथि राजा चन्द्र चन्द्रवत् ही कान्तिमान, सौम्य और सुन्दर था। उसकी मुस्कान की माधुरी बड़ी मनमोहक थी। नयन आकर्षक, तेजोमय और विशाल तथा देह भरी-भरी। गौर वर्ण राजा चन्द्र तो कामदेव का अवतार प्रतीत होता था। उसके आगमन पर राजा मुकुन्द और रानी रमा ने उसका स्वागत किया। रमा तो मौन–मूक चन्द्र को निहारती रह गयी, अपलक नयनों से। वह कोई भी औपचारिकता पूर्ण न कर सकी। वह तो चन्द्र के आकर्षण में ग्रस्त थी। उसका प्रशंसक होकर रमा का मन-मयूर नृत्य करने लगा था। रानी ने स्वयं व्यंजन वनाकर अतिथि-सत्कार किया। भोजनोपरान्त, कुछ समय पश्चात् चन्द्र तो लौट गया, किन्तु रमा वियोग-खिन्न हताश, निराश हो गयी। मानसिक पीड़ा की रेखाएँ उसके मुख-मण्डल पर खिंच आयीं। वह वियोग-विदग्धा चुप-चुप रहने लगी। एकान्त में वैठी चन्द्र की स्मृतियों की जुगाली करती रहती।

राजा मुकुन्द ने प्रेयसी रमा की यह दशा देखी तो चिन्तित हो उठा। सामान्य वनाना उसने अपना कर्त्तव्य मानते हुए राजा ने रानी से

कारण जानना चाहा, किन्तु लज्जावश वह कुछ कह न सकी। राजा अनभिज्ञ था कि रानी तो चन्द्र राजा के प्रेम में ग्रस्त हो गयी है और अब उसी के वियोग में वह दुःखी है। रानी भी मन-ही-मन पछताने लगी थी कि राजा ने जब कारण पूछा तो उसने बता क्यों न दिया कि वह राजा चन्द्र की हो गयी है—तन-मन से और अब वह उससे पृथक् रहकर जी नहीं सकती। यह उसकी भूल ही हो गयी .... किन्तु वह शीघ्र ही इस भूल को सुधार भी लेगी—उसने मन-ही-मन निश्चय किया। इस निश्चय ने उसके मन को सुदृढ़ बना दिया। उसके व्यवहार में अद्भुत परिवर्तन आ गया। वह राजा मुकुन्द से तटस्थ ही नहीं हो गयी—उससे घृणा भी करने लगी। बात-बात में कलह करने लगी। राजा मुकुन्द तो बेचारा रमा पर जान छिड़कता था। उसने रमा के कटु व्यवहार का तनिक भी बुरा न माना। कोई प्रतिक्रिया न देते हुए वह रमा को मनाने का प्रयास ही करता रहा। सोचता था—'कोई मानसिक ग्रंथि होगी .... समस्या स्वतः ही यथासमय सुलझ जायेगी। इसे और उलझाने में बुद्धिमानी न होगी।' जब राजा की ओर से कोई कलहपूर्ण व्यवहार प्रत्युत्तर में भी न मिला तो विच्छेद का वातावरण न बन पाया। रमा कुंठित हो गयी। चन्द्र राजा के प्रति प्रेम से सिक्त उसका हृदय तो इससे उद्विग्न हो उठा। एक दिन रमा को स्वतः ही राजा मुकुन्द से जब यह प्रस्ताव करना पड़ा कि वह राजा चन्द्र से तन-मन से प्रेम करती है—अगाध प्रेम, तो मुकुन्द राजा सन्न रह गया। रमा ने कहा—"वह अब लक्ष्मीपुर की रानी नहीं, राजा चन्द्र की रानी बनकर ही जीना चाहती है। भला इसी में है कि हमारा दाम्पत्य-सम्वन्ध विधिवत् रूप में विछिन्न हो जाय। आप मेरे परित्याग का आलेख मुझे दे दें। अब अन्य कोई मार्ग शेष ही नहीं रह गया है।"

राजा मुकुन्द ने उसे प्रतिबोध भी दिया—"रानी रमा ! मेरी प्रियतमा ! तुम अभी झंझावातों से ग्रस्त हो। तनिक शान्ति धारण कर स्थिर मन से सोचो। तुम्हें स्वयं अनुभव होगा कि ऐसे आकर्षण के ज्वार तो अपने समय पर उतर भी जाते हैं और पीछे छोड़ जाते हैं मलिनताओं के ढेर। अविचारपूर्ण निर्णय भी पछतावे, अपयश और गौरव-हनन के कारण ही वनते हैं। सुनो, रानी ! तुम तो स्वयं जानती हो—आर्य वालाएँ तो जिसका हाथ एक वार थामती हैं, उसका संग जीवनभर निभाती हैं। अन्य पुरुष का भाव भी मन में नहीं लातीं। तुम चन्द्र के प्रेम में पड़कर जिस यौवन सुख के उपभोग की लालसा में हो—वह सुख न तो सच्चा सुख है और न ही स्थायी। यौवन स्वयं ही चार दिन का होता है, अस्थिर और अस्थायी है। इसके लिए नारी जीवन की अमोल सम्पदा—शील को खोना अनुपयुक्त है, अनीति है।" राजा मुकुन्द ने कहा—

"ऐश्वर्यस्य विभूपणं मधुरता, शौरस्य वाक्संयमो।
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो, वित्तस्यपात्रे व्ययः॥

अक्रोधस्तपसः क्षमाप्रभावतो. धर्मस्य निर्व्याजता।
सर्वेषामपि सर्वकामगुणितं. शीलं परम् भूषणम्॥"

अर्थात् जैसे ऐश्वर्य की शोभा मधुरता. शौर्य की शोभा संयम. ज्ञान का भूषण शान्ति. शास्त्रज्ञान की शोभा विनय, धन का भूषण उसका सदुपयोग–पात्रदान में उसका व्यय, तप का भूषण अक्रोध, अधिकार की शोभा क्षमा और धर्म का भूषण दंभहीन होना है–उसी प्रकार सर्वोत्तम और सब गुणों का आश्रय नारी का भूषण उसका शील है।

"हे रानी ! शास्त्र-वचनों पर ध्यान दो, लोक-व्यवहारों पर विचार करो। क्या तुम्हारा यह निर्णय स्वयं तुम्हारे लिए और राजा मुकुन्द के लिए निन्दा का धारण न होगा। क्या ऐसा अपयश वरेण्य है।" राजा ने रमा को बार-बार बोध दिया. किन्तु रमा अपने दुराग्रह पर अटल बनी रही तो राजा ने विवश होकर अपने दाम्पत्य-विच्छिन्नता का प्रमाण-पत्र दे दिया। रानी बड़ी प्रसन्न हुई, उसके उत्साह का कोई पार ही न था, जैसे नेत्रहीन को दृष्टि मिल गयी हो।

उल्लसित मन और स्फूर्त तन रानी रमा राजा चन्द्र के यहाँ जाने को तत्पर हुई। उसे लगा–जैसे वह खंडहरों से निकलकर शोभित प्रासाद में, अंधकार से निकलकर चाँदनी में, कँटीली झाड़ियों से निकलकर पुष्पित उद्यान में जा रही हो। चन्द्र की राजधानी में जब रमा पहुँची तो उसने अपनी कंचुकी को स्पर्श कर टटोला। संबंध-विच्छेद प्रमाण-पत्र सुरक्षित है–यह आभास पाकर वह आश्वस्त हो गयी। जव रानी का रथ नगर के मुख्य द्वार में प्रविष्ट हुआ तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सर्वत्र शोक और दुःख का साम्राज्य था। चर के पूछने से ज्ञात हुआ कि उस नगर के राजा चन्द्र का आकस्मिक निधन हो गया है। रानी रमा के पुष्पित मनोद्यान पर तुषारापात हो गया। वह हतोत्साह और निराश हो गयी। किंकर्तव्यविमूढ हो वह सोचती ही रह गयी कि अब क्या किया जाय। वह अपनी उतावली पर पछताने लगी। नारी-वैभव शील भी खोया और मनोवांछित भी हाथ न लगा। अन्य शाखा को पकड़ में लाने से पूर्व ही हस्तगत शाखा को छोड़ने वाले कपि का पतन सर्व निश्चित ही रहता है। ऐसी ही दशा रानी रमा की हो गयी। आगे के चरण के ठोस धरती पर जमने के पूर्व ही उसके पिछले पैर ने धरती छोड़ दी थी। अब अधर में निरऽवलम्ब, वह अनिश्चित दशा में ऐसी ग्रस्त हो गयी कि न उधर की रही और न इधर की हो सकी।

रमा के पास अन्य कोई विकल्प शेष ही न था। वह पछताती हुई लक्ष्मीपुर की ओर लौट पड़ी। क्या करती–यही एक मात्र मार्ग था जिस पर उसका रथ गतिशील हो सकता था। वह अनुताप की विकट यातना भोगती हुई किसी प्रकार लक्ष्मीपुर लौट आयी और रोती-कलपती राजा मुकुन्द के चरणों में गिर पड़ी– "प्रभो ! रक्षा करो ! रक्षा करो !! मैं अवला आपका चरणाश्रय त्यागकर कहीं

सुख-शांति नहीं पा सकती। मेरा स्वर्ग तो आपके चरणों में ही है। चन्द्र के प्रति आकर्षण मेरी भूल थी, मैं पथभ्रष्ट हो गयी थी। मैं उस भूल के लिए लज्जित हूँ.... स्वामी ! मैं अनुताप में दग्ध हो रही हूँ। क्षमा करो, देव ! और मुझे पुनः अपनी जीवन-सहचरी स्वीकार करो !"

राजा ने अपना मौन भंग करते हुए गंभीर वाणी में कहा–"रमा ! तुम इस राज्य और राजकुल में प्राप्त अपनी सारी गरिमा खो चुकी हो। तुमने स्वयं वह सब-कुछ नष्ट कर दिया। उसी की पुनर्प्राप्ति की कामना न करो। यह तो काष्ठ-प्रतिमा है। इसे अग्नि को समर्पित कर देने के पश्चात् उसे पुनः प्राप्त कैसे किया जा सकता है। अविवेकपूर्वक, अविचारपूर्वक कृत कर्मों का फल दुःखद ही होता है और कितना ही अनुताप हो–वह उसे निरस्त नहीं कर सकता। अब इस दुराशा को त्यागो कि मैं तुम्हें फिर से अपने जीवन में स्वीकार कर लूँगा। तुमने चन्द्र का वरण कर एक भूल की–यह शील भंग था। अब उसे त्यागकर मेरी कामना करना तुम्हारी महाभूल होगी। मर्यादा तो यही कहती है कि चन्द्र के साथ तुम्हें चितारोहण कर सती हो जाना था। यहाँ क्यों लौट आयीं।" राजा मुकुन्द को न रोष था, न विरोध। वह सहज-सामान्य, तटस्थ और निरपेक्ष था। वह चुपचाप उठकर मंथर गति से अपने भीतरी कक्ष में चला गया। रमा रोती-बिलखती रह गयी। यही उसके शेष जीवन की नियति रह गयी थी।

बाला विदुषी ने राजा को राजा मुकुन्द और रानी रमा की यह कहानी सुनाकर कहा–"राजन् ! इस प्रकार अविचारपूर्वक दुराग्रह पर अड़े रहने का दुष्परिणाम ही प्राप्त होता है। मेरा परामर्श है कि आप भी मत्स्य-हास्य का रहस्य ज्ञात कर लेने की मनोकामना का निग्रह कर लीजिये। यही सर्वहितार्थ अपेक्षित है।" राजा ने बाला के परामर्श को अनसुना तो नहीं किया, किन्तु वह अपने आग्रह का त्याग भी न कर सका। उसके मन में रानी के प्रति जो एक संदेह अंकुरित हो गया था–वह उसके सत्यासत्य की पुष्टि कर लेना चाहता था। उसके विना उसकी मानसिक उद्विग्नता शान्त होनी ही नहीं थी। निदान, राजा रहस्य-ज्ञान के लिए उत्कंठित ही वना रहा। तव वाला विदुषी ने कहा–"राजन् ! प्रतीत ऐसा होता है कि आप समस्त दुष्परिणामों के मोल पर भी मत्स्य-हास्य का रहस्य ज्ञात कर लेना अनिवार्य मानते हैं। मैं आपकी कामना को पूर्ण करूँगी। आपको सव-कुछ ज्ञात हो जायेगा। आपके वन्दीगृह में आपका ही मंत्री पुष्पहास दण्ड भोग रहा है, उसे वुला दीजिये। मैं उसके माध्यम से रहस्योद्‌घाटन कराऊँगी।"

तुरन्त पुष्पहास को वुलाया गया। वह जव हँसता था तो वातावरण में माधुर्य घुल जाता था। सभा-मध्य उपस्थित होकर उसने पुष्प-वर्षा करता हास विखेर दिया। सभी को स्वतः ही आनन्दानुभव होने लगा। करवद्ध निवेदन करते हुए उसने सस्मित से पूछा–"क्या आज्ञा है, देव ! दास को कैसे स्मरण किया है?"

राजा पुष्पहास की विनयशीलता से बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"आज से तुम कारा-मुक्त हो, पुष्पहास ! तुम्हारा अपराध हम क्षमा करते हैं। तुम पूर्ववत् मंत्री-पद पर भी पुनः प्रतिष्ठित कर दिये गये हो। राजगुरु की पुत्री बाला विदुषी ने इस सभा में तुम्हें बुलाया है। वे ही अपना प्रयोजन भी बतायेंगी।"

बाला ने तब मत्स्य-हास्य का प्रसंग संक्षेप में वर्णित किया और पुष्पहास से आग्रह किया कि वह इस हास्य का कारण बताते हुए रहस्य को उद्घाटित करे। पुष्पहास ने कथन पर मनन किया और तब राजा ने निवेदन किया कि मुझ पर एक देव का आरोहण है। वह देव अवधिज्ञानी है। उसने मुझे मत्स्य-हास्य का रहस्य बता भी दिया है। लोकहित में यही उपयुक्त है कि वाचिक रूप से उसका कथन न किया जाय। ताड़-पत्र और लेखनी की व्यवस्था करा दीजिये। देव स्वयं लिखकर प्रकट कर देगा। तुरन्त ही लेखनी व पत्र मँगा लिया गया। पुष्पहास मौन—अचंचल बैठा रहा। लेखनी स्वतः ही पत्र पर चलती रही। अदृश्य देव ने लेख कर दिया। पुष्पहास ने ताड़-पत्र राजा को दिया। राजा ने मन-ही-मन लेख पढ लिया। अन्य किसी को इसका ज्ञान न हुआ कि लिखा क्या गया था। राजा ने पढ़ा—"हे राजा ! मत्स्य आपकी रानी की कथनी और करनी के अन्तर पर, उसके आडंबरपूर्ण शील के दिखावे पर ही व्यंग्य करने को हँसा था। कहने को तो वह पर-पुरुष को स्पर्श नहीं करने वाली नारी है और इसीलिए उसने नर-मत्स्य के चित्र के स्पर्श से स्वयं को बचाने के लिए अपना हाथ थाल से खींच लिया था और करने को वह पर-पुरुष के साथ प्रेम-लीलाएँ ही नहीं, काम-क्रीड़ाएँ भी करती है। उसका प्रेम आपके ही हस्तिचालक से है। प्रायः प्रति रात्रि इनकी लीलाएँ चलती हैं। कामातुर रानी स्वयं को रोक नहीं पाती। जब कभी रानी से विलंब हो जाता है तो कामांध हस्तिचालक प्रेमी रानी की पीठ पर कोड़े भी बरसाता है। कोड़ों के चिह्न रानी की पीठ पर अंकित भी हैं। उन्हें देखकर पुष्टि की जा सकती है।"

रानी की करतूत पर राजा को बड़ा खेद हुआ। रानी देवदमनी मूल कथा वीर विक्रम महाराज को सुना रही थी। देवदमनी ने कहा उस राजा को मत्स्य-हास्य के रहस्य में असत्य का रंच मात्र भी संशय न हुआ। उसे तो अपने मन के संदेह की ही पुष्टि हुई थी। नारी प्रेम और शील का भी ऐसा छद्मपूर्ण अभिनय कर सकती है—इस पर राजा को आश्चर्य ही नहीं खेद भी हुआ और इससे भी अधिक अचरज तो प्रेमी पुरुषों के प्रति राजा को होने लगा कि वे बेचारे कितने निरीह हैं कि इस दिखावे में मिथ्यात्व का संदेह भी नहीं कर पाते। अभिनय को ही यथार्थ मानकर रमणियो के प्रति समर्पित बने रहते हैं।

रानी देवदमनी ने महाराज से निवेदन किया—"मत्स्य-हास्य की इस कथा से नारी-चरित्र की अबूझता प्रतिपादित हो जाती है। आप भी पुरुष हैं। कथानायक राजा का-सा स्वभाव और आचरण आपके लिए भी सहज स्वाभाविक है। मेरा परामर्श है, स्वामी ! कि नारी के व्यवहार, बाह्य क्रिया-कलापों और कथनों से

आधार पर ही यह निर्णय न कर लीजिये कि कौन आपसे कितना प्रेम करती है? ऐसा निर्णय भ्रान्त ही होगा। प्रेम तो प्रदर्शन-प्रिय होता ही नहीं। सच्ची प्रेमिका को प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं होती। गहनतर प्रेम भी बाह्य रूप में अल्प-सा व्यक्त हो और छिछला प्रेम भी प्रदर्शन द्वारा अधिक विशाल दिखायी दे—ये दोनों ही सत्य होते हैं। अपनी रानियों के विषय में यह निर्णय करना आत्म-वंचना होगा, राजराजेश्वर ! कि अमुक अधिक और अमुक कम प्रेम करती है और इस आधार पर यह व्यवहार तो अन्याय हो जायेगा कि अमुक रानी से आप भी अधिक प्रेम रखें और अमुक से कम।"

देवदमनी रानी से यह विचित्र मनोवैज्ञानिक मत्स्य-हास्य कथा सुनकर महाराज का मन विशिष्ट प्रकार के चैतन्य से भर उठा। उन्होंने रानी देवदमनी के प्रति आभार व्यक्त किया कि उसने उनकी ऑखें खोल दीं। उन्होंने स्वीकारा कि यह उनका भ्रम ही था कि पद्मावती रानी उनसे अन्य रानियों की अपेक्षा अधिक प्रेम करती है। अन्य रानियाँ अपने गहन प्रेम को आडम्बरों से व्यक्त करना आवश्यक न मानती हों—यह भी संभव तो है। और तब से महाराज विक्रमादित्य अपनी समस्त रानियों के साथ समान भाव से प्रीति रखने लगे।

●●

प्रतिष्ठानपुर की राजकन्या सुकोमला पति-वियोग की व्यथा में अत्यन्त दुःखित थीं। एक-एक पल प्रतीक्षा करते हुए उन्होंने सोलह वर्ष व्यतीत किये थे। महाराज विक्रमादित्य तो अपने इस परिणय प्रसंग को विस्मृत ही कर चुके थे। समय के संग-संग उनके मानस पर विस्मृति की धूल की पर्ते ऐसी गहराती चली गयी कि इस मध्य स्मृति-पवन का एक झोंका भी उसे कम न कर सका और सारा प्रसंग ओझल वना रहा। यह सब राजकन्या के कर्मयोग का ही प्रतिफल था। उन्हें अपने कर्मफल इसी रूप में भोगने थे और इसी के अनुरूप सारी अन्य परिस्थितियाँ वनती रहीं।

अवन्ती-नरेश ने विक्रमा और अन्यान्य वेशों में अपने नाना प्रकार के प्रयत्नों के माध्यम से सुकोमला का नर-द्वेष किसी प्रकार समाप्त किया और अन्ततः विक्रम विजय के संगीतज्ञ रूप में राजकन्या के साथ विवाह रचाया था। सुकोमला जव गर्भ धारण कर संतुष्ट और प्रसन्न थीं तभी वंग-देश के संगीत-सम्मेलन में भाग लेने को गये उनके गायक पति लौटकर नहीं आये। सूर्य की-सी अपूर्व आभा से युक्त पुत्र की प्राप्ति ने राजकन्या सुकोमला को कुछ सहज किया, नवीन कर्त्तव्य-दिशा भी प्राप्त हुई। अपने नवजात पुत्र के प्रति आत्मिक स्नेह में ही वे

निमग्न रहने लगीं। वे बड़े जतन से पुत्र का पालन-पोषण करने लगीं। राजकुल में पाँच-पाँच धायें इस कर्त्तव्य पर नियुक्त थीं, किन्तु माता का मन स्वयं ही शिशु की सँभाल रखने में संतुष्ट रहने लगा था। ये परिचारिकाएँ तो एक प्रकार से माता की सहायिकाएँ हो गयीं। शिशु भी सर्व सुलक्षण-सम्पन्न था। अपने पुत्र की मुख-छवि में माता को पति की छवि का दर्शन होता था—वही नाक-नक्श, वैसी ही मुस्कान, वैसे ही हाव-भाव। आयुवर्धन के साथ-साथ यह साम्य और भी गहराता जा रहा था, स्पष्ट होता जा रहा था। माता को अन्तर में एक सुखानुभव होने लगा। वह पुत्र का मुख देखकर ही अब किसी प्रकार जी लेगी—उसे ऐसा अनुभव भी होने लगा।

उपयुक्त आयु प्राप्त कर बालक ने विद्याभ्यास आरंभ किया। उसकी ग्रहण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। सहज बुद्धि का स्तर भी पर्याप्ततः ऊँचा था। संस्कारजन्य मानसिक क्षमताओं में वह अग्रगण्य था। वह शीघ्र ही हृदयंगम कर लेता था और उन विषयों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति में भी वह कुशल हो गया था। शीघ्र ही वह विद्याओं—कलाओं के गर्भ तक पहुँच गया। अल्पायु में ही शास्त्रों में ऐसी गति पाकर भी उसे अहम् न था। गर्व का अनुभव तो उसके आचार्य को था। अपनी आश्चर्यजनक प्रगति द्वारा देवकुमार ने सभी को चकित और प्रसन्न कर दिया था। प्रसन्नचित्तता, हँसमुख स्वभाव, विनयशीलता, कोमल वाणी, संस्कारशीलता आदि अपनी नाना विशेषताओं के कारण वह सभी का स्नेह-पात्र हो गया था। आयु के साथ-साथ उसकी तेजस्विता में भी क्रमशः अभिवृद्धि हो रही थी। शास्त्र-क्षेत्र में अद्वितीय क्षमता अर्जित कर उसने सभी बटुकों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया तो माता, नाना-नानी—समस्त राजकुल को उसका अत्यन्त हर्ष था। आचार्य का मनोनिष्कर्ष यही था कि देवकुमार असाधारण पिता का पुत्र है। रक्त-संस्कार में समुन्नत हुए बिना देवकुमार का इस प्रकार का कौशल और दक्षता संभव ही नहीं। आचार्य ने अपना मंतव्य भी एकाधिक बार राज-परिवार के सम्मुख व्यक्त किया था और माता सुकोमला तो सहमत थीं ही। उनके तो अपने मंतव्य की पुष्टि हो रही थी। अपने पतिदेव के असाधारण व्यक्तित्व, सहज सदाशयता से प्रभावित सुकोमला तो उनमें देव की कल्पना किया करती थी। उनकी न जाने क्यों यह धारणा बन गयी थी कि हो न हो ये कोई देव ही हैं। पति के चले जाने के पश्चात् भी जब वे लौटकर न आये तो सुकोमला सोचा करती थीं कि वे तो देव थे। देवधाम में ही पहुँचकर रम गये।

प्रतिष्ठानपुर-नरेश शालिवाहन के प्रयत्न रहे अवश्य कि वे जामाता की खोज कराएँ—बहुत प्रयत्न रहे, किन्तु बाधा यह थी कि जामाता के नाम के अतिरिक्त अन्य कुछ भी विवरण न था। उनका देश, कुल, निवास-स्थल आदि के संबंध में कुछ भी परिचय किसी को भी न था। पता लगाना इस कारण कठिन हो गया था। माता को यह विश्वास था—बिटिया सुकोमला का उसके प्रियतम के संग एक दिन पुनर्मिलन

होगा—अवश्य होगा। राजमहिषी विजयादेवी उसे सांत्वना भी देती थी और कहती थीं कि बेटी, तेरे अशुभ कर्मों का फल ही तेरे वियोग के दुर्दिनों मे प्रकट हुआ है। यह क्रम कभी तो सम्पूर्णता पर पहुँचेगा—और यह वियोग भी समाप्त होगा। जामाताराज आयेंगे और तुझे अपने संग ले जायेंगे। तू चिन्ता छोड़ और धर्म-चिन्तन कर। यही तेरे जीवन को सुखमय बनायेगा। हमारे जामाता असाधारण मानव हैं, संस्कारशील हैं। उनमें कोई संदेह करना भी उचित न होगा। जननी की सद्प्रेरणा से वह जिनेश्वर भगवान की भक्ति में लीन रहने लगी। उसे दृढ़ आस्था थी कि यह भक्ति सभी प्रकार के दुःख-दैन्यों का, बाधाओं का निराकरण करने की शक्ति रखती है। इससे मानसिक व्यथाएँ एवं विघ्न-वल्लरी नष्ट हो जाती है—

"उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः।

मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे॥"

धर्म-भावना के अनुसरण से माता सुकोमला की अस्थिरता क्रमशः घटती चली गयी। उनके व्यक्तित्व में बाह्य रूप से भी शान्ति और अचंचलता दृष्टिगत होने लगी थी। उन्होंने समझ लिया था कि कर्मफल तो भोगने से छूटेंगे। अकारण व्यग्र रहने से कोई प्रयोजन भी सिद्ध न होगा। शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहने, धार्मिक वृत्ति को अपनाने से ही सहाय संभव है। यही शान्ति का मार्ग है।

देवकुमार की बाल-सुलभ क्रीड़ाओं में भी माता सुकोमला को उसके भावी शौर्य और शक्तिमत्ता की झलक मिलने लगी थी। यह अनुभव उन्हें असीम आनन्द और संतोष भी देता और अपने पतिदेव की पुनीत स्मृति भी। अब ऐसी स्मृति से वे विकल नहीं, रोमांचित होने लगी थीं। वे सोचतीं—'काश ! देवकुमार के पिता भी अपनी संतति का यह गौरव देख पाते, हर्षित होते !'

देवकुमार ने शस्त्र-विद्या में भी अपने कौशल का जो परिचय दिया—उसके आचार्य उससे अतिशय प्रसन्न हुए। प्रतिस्पर्धा में उसने अस्त्र-शस्त्र-संचालन में अद्भुत कौशल दिखाया। असि-संचालन में महावलाधिकृत के पुत्र को पराजित कर जन-जन को हर्षित कर देवकुमार ने सभी के आशीर्वाद लिये। राज-दम्पति और माता को तो विशेष ही प्रसन्नता रही। धनुर्विद्या में भी उसे शिरोमणि स्थान प्राप्त हुआ। मल्ल-युद्ध में वह सर्वजेता रहा। आचार्य ने शस्त्र और शास्त्र-विद्या में देवकुमार को सर्वश्रेष्ठ शिष्य घोपित किया। राजकुल भी इस आयोजन में आमंत्रित था। आचार्य को अपने शिष्य देवकुमार की प्रतिभा और दक्षता पर गर्वानुभव होने लगा। उसकी यथोचित प्रशस्ति के साथ आचार्य जी ने स्वीकारोक्ति की कि युग-युगों में ऐसे किसी प्रतिभाशाली छात्र के रूप में आश्रम को यशस्वी सौभाग्य प्राप्त होता है। आयुष्मान् देवकुमार उत्तरोत्तर प्रगति करे, उत्थान को प्राप्त हो और देश व समाज के लिए समर्पित रहे—जन-कल्याण में देवकुमार की प्रवृत्ति रहे—हम यही कामना करते हैं।

आचार्यश्री की मांगलिक आशिष से देवकुमार तो कृतार्थ ही हो गया। वह श्रद्धाभिभूत हो वल्लरी की भाँति गुरु-चरणों में लिपट गया। स्नेहपूर्वक आचार्यश्री ने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिये–"दीर्घायु हो, यशस्वी हो !" उन्होंने स्नेहपूर्वक देवकुमार को उठाया और पीठ थपथपाकर उसका साधुवाद किया। मंच पर जाकर देवकुमार ने राज-दम्पति के चरण स्पर्श किये और नाना-नानी से आशिष ग्रहण की। तब वह माता के चरणों में नमित हुआ। कदाचित् सारी उपस्थिति में देवकुमार की उपलब्धियों से उसकी माता ही सर्वाधिक आनन्दित थीं। उसे स्वयं देवकुमार से भी अधिक हर्ष और गौरव का अनुभव होने लगा। यही आनन्द अश्रु बनकर उसके नयनों से उमड़ पड़ा। अत्यन्त स्नेह और वात्सल्य भाव के साथ माता ने पुत्र को वक्ष से लगा लिया और उसका मस्तक सूँघकर आशिष दी। सारा समारोह इस भावभीने दृश्य का साक्षी बना, उत्फुल्ल हो उठा। समारोह-स्थल हर्ष-ध्वनि से गूँज उठा और 'देवकुमार की जय !', 'राजकुमारी सुकोमला की जय !!' के साथ समारोह विसर्जित हुआ।

देवकुमार गुरुकुल से अब पुनः राजकुल में लौट आया था। राजभवन में उसका यथोचित स्वागत-सत्कार हुआ। देवकुमार अत्यन्त प्रसन्न था। अपने कक्ष में जाकर वह विश्राम करने लगा। संध्या व्यतीत हो गयी थी। कोमल अँधियारे में ही दीप प्रज्वलित कर दिये गये थे। भोजनादि से निवृत्त हो, देवकुमार अपनी शय्या पर लेटा ही था। सहज ही उसे अपनी उपलब्धियों का स्मरण आने लगा। सुखानुभव के चरम पर पहुँचने के क्षणों में ही मनुष्य को अपने अभावों की स्मृति हो आती है। देवकुमार को भी सहसा अपने पिता की अनुपस्थिति खलने लगी। सोचने लगा–'आज पिताश्री होते तो···· किन्तु मेरे भाग्य में पिता को सुखी बनाने का लेख ही नहीं है। मैं कैसा अभागा पुत्र हूँ कि पिता का दर्शन करने से भी जन्म से ही वंचित रह गया हूँ। किशोरावस्था भी पार करने को हूँ और एक झलक भी मुझे मेरे पिता की नहीं मिली। माँ से चर्चा भी करता हूँ तो वे अपनी अनभिज्ञता जताती है। यह सब कैसे संभव है। किन्तु···· किन्तु···· गुरुदेवश्री की मान्यता है कि मेरे पिता असाधारण हैं। उसी के परिणामस्वरूप मुझमें कुछ विशेषताएँ हैं। अवश्य ही मेरे पिता असामान्य हैं···· मैं उनकी खोज करूँगा···· अवश्य ही करूँगा।' उसके मुख पर मानसिक दृढ़ता की झलक स्पष्टतः झलक उठी।

इसी समय माता-पिता को प्रणाम कर राजकन्या सुकोमला अपने कक्ष में आयीं। उनका कक्ष अत्यन्त सादगीपूर्वक सज्जित था। अलंकरणों में उनकी रुचि रह ही नहीं गयी थी। वे ज्यों ही कक्ष में प्रविष्ट हुईं एक उत्साह के साथ देवकुमार लपककर आया और माँ से लिपट-सा गया–"माँ !···· माँ !···· गुरुदेव ने कहा था मेरे पिता अवश्य ही असाधारण योग्यता-सम्पन्न प्रतिष्ठित पुरुष हैं। तुम···· माँ ! पिताजी के विषय में मुझे क्यों कुछ बताना नहीं चाहतीं?"–देवकुमार ने बाल-हठ-सी दृढ़ता के साथ कहा–"आज मैं जानकर ही रहूँगा–मेरे पिता कौन है···· कहाँ हैं? मैं उन्हें यहाँ ले आऊँगा।"

"बेटा ! भगवान करे और ऐसा ही हो.... तुझे ऐसी क्षमता मिले कि अपने पितृश्री को ले आए।" माता-पुत्र दोनों आसीन हो गये। माता ने शान्त मुद्रा मे बताया–"वत्स ! ऐसा नहीं है कि मैं तुझे बताना नहीं चाहती हूँ। मेरे पास अपना कोई रहस्य नहीं है, वत्स ! मुझे खेद है कि मैं अपने स्वामी के विषय में और कुछ भी नहीं जानती–यही मेरा दुर्भाग्य है। जो जानती हूँ वह मैंने तुमसे भी गुप्त नही रखा है। मैं तो बाल्यावस्था से ही पुरुष-द्वेषिणी रही। नरों से मुझे घृणा थी। पूर्वभवो के संस्कार ही कुछ ऐसे थे। मुझमें पुरुषों के प्रति घोर प्रति-हिंसा का भाव था। प्रतिशोधात्मक प्रतिक्रियाओं में मैं प्रवृत्त थी। पिता महाराज ने इस नगर के बाहर एकान्त में मेरे लिए एक प्रासाद निर्मित करवाकर मुझे उसमें रखा कि मुझे पुरुष दृष्टिगत ही न हो सके। कुछ शुभ कर्मों के प्रतिफलस्वरूप ही अनेक पक्षों द्वारा ऐसा उद्यम हुआ कि मेरा नर-द्वेष शमित हुआ। मैंने श्रेष्ठ कोटि के संगीतज्ञ का पतिरूप में वरण करने का निश्चय किया और मेरा विवाह उनके साथ हुआ। तेरे पिताश्री बड़े कोमल स्वभाव के, कला-प्रेमी, मानवीय दृष्टिकोण के धनी हैं। भाग्य ही मेरा ऐसा था कि उनके साथ मेरा वैवाहिक जीवन, मेरा दाम्पत्य-संबंध कोई छह माह तक ही सीमित रह गया। वे कला के बुलावे पर बंग-देश गये थे तो अब तक लौटकर नहीं आये।"–राजकन्या सुकोमला ने संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत कर दिया।

"माँ ! क्या तुम्हें उनके जन्म-प्रदेश का या निवास-स्थान का भी ज्ञान नहीं है?" पुत्र ने जिज्ञासावश प्रश्न कर दिया।

"नहीं, वत्स ! यदि यह ज्ञात होता तो फिर अभाव ही क्या था ! उनका पता करना कठिन न होता न....!" माता ने कहा–"किन्तु मेरा हृदय कहता है–वे सकुशल हैं–जहाँ भी हों और उनसे हमारा पुनर्मिलन भी एक दिन होगा अवश्य।" उनके नेत्र आत्म-विश्वास की ज्योति से दमक उठे।

"होगा, माँ ! .... अवश्य ही होगा।" पुत्र ने सहमति भाव के साथ कहा और पूछा–"माँ ! क्या तुम्हारे पास पिताश्री द्वारा प्रदत्त कोई वस्तु भी नही है। कोई मुद्रिका अथवा अन्य अलंकार अथवा कोई....?"

पुत्र का यह प्रश्न तो माता को झकझोर उठा–"अरे हाँ..... हाँ, वत्स !... है.... मेरे पास एक मंजूषा है जो उन्होंने विदा लेते समय दी थी। मैंने उसे सुरक्षित रख रखा है। आश्चर्य है मैं तो उसे विस्मृत ही कर बैठी थी। वियोग की व्यथा ने ऐसा चेतना-हरण कर लिया था, बेटा ! कि उस मंजूषा की ओर मेरा ध्यान ही नहीं गया।"

"अवश्य ही, माँ !.... उस मंजूषा में कुछ ऐसी वस्तुएँ होंगी जिनसे उनका परिचय मिल सके।"

देवकुमार ने उत्साहित होकर कहा तो माता ने भी उसका समर्थन किया–"संभव है, वत्स ! ऐसा हो ही सकता है।"

"माँ, माँ ! ···· कहाँ है वह मंजूषा? हम उसे खोलकर देखते हैं।" पुत्र देवकुमार अति उत्साह से पूरित था। माता ने उसे समझाया कि वह मंजूषा सुरक्षित है, किन्तु है वह नगर से बाहर वाले प्रासाद में। तेरे पिता के चले जाने के पश्चात् मैं तो तुरन्त राजभवन में रहने लगी और वह प्रासाद तब से ही बन्द पड़ा है। मैं तो एक बार भी वहाँ गयी नहीं; अन्यथा कदाचित् मंजूषा का भी स्मरण हो ही आता।"

अगले प्रभात ही में उस सूने प्रासाद में जाकर उक्त मंजूषा देख लेने का निश्चय कर माता-पुत्र एक अपूर्व आशा के साथ सो गये। राज-दम्पति ने सुना तो उन्हें भी बड़ी प्रसन्नता हुई। बिटिया सुकोमता के अशुभ कर्मों की गति ही ऐसी रही कि जामाता की पहचान का यह स्रोत विस्मृत पड़ा रहा। राजकुमारी को कष्ट भोगने का ही प्रारब्ध जो था। अब उसके दिन फिरने लगे हैं। राज-दम्पति और सुकोमता व देवकुमार उस सूने प्रासाद में पहुँचे। देवकुमार प्रासाद को देखता रह गया। यहाँ कभी उसकी जननी रहा करती थी। इसी में उनका हृदय-परिवर्तन हुआ। यहीं से उन्होंने अपना विवाहित जीवन आरंभ किया और यहीं से उनकी वियोग-कथा आरंभ हुई। सुकोमता ने त्वरा के साथ एक कक्ष का द्वार खोला और अपने माता-पिता के साथ भीतर गयी। कलात्मक सज्जायुक्त द्वार धूलधूसरित होकर भी नूत आकर्षण से अब भी भरा था। देवकुमार की दृष्टि पड़ी तो वह द्वार को देखता रह गया। द्वार पर ही कुछ अंकित है ऐसा आभास पाकर देवकुमार की जिज्ञासा गहराई। उसने फूँक से धूल उडाकर देखा कोई श्लोक अंकित था। कर-चीर से उसने धूल को झाड़ा तो पाया कि वास्तव में एक संस्कृत श्लोक था—वह तो।

"अवन्तीनगरे गोपः परिणीय नृपांगजाम्।
गां पातुं दण्डभृत् पद्मोत्कर कीडापरो ययौ॥
दृष्टे च पुरुषे द्वेष्टां कुर्वन्ती काष्ठभक्षणम्।
अहमेकोऽधुनावीरः परिणीय वयादगाम्॥"

श्लोक पढा तो अपने पिता की खोज का एक मार्ग देवकुमार को सुझायी दे गया। वह अत्यन्त उत्फुल्ल हो उठा। उमंगित अवस्था मे वह कक्ष में चला—लपकता हुआ—"माँ ! ···· माँ ! ···· देखो द्वार पर क्या लिखा है। मैने पढ़ा है। अवश्य ही पिताश्री ने यहाँ से विदा होते समय यह लिखा होगा—माँ यह उन्होंने ही अंकित कर दिया है।"

"क्या वात है, देवकुमार बेटे ! क्या लिखा है द्वार पर?" राजमहिषी विजयादेवी ने वड़े अचरज के साथ पूछा—"ऐसा हर्षित किस कारण हो रहा है, भई ! लिखा क्या है?"

"लिखा है, नानी माँ ! ····· कमल समूह में क्रीड़ारत राजा ने, पुरुष को देखकर उससे द्वेष करने वाली नर-द्वेषिणी और द्वेष से काष्ठ-भक्षण करने वाली राजकुमारी के साथ विवाह कर मैं दण्ड धारण करने वाला एक वीर इस पृथ्वी की रक्षा के लिए अवन्ती-नगर को शीघ्र जा रहा हूँ।"

"राजरानी ! इस लेख से तो लगता है इसके लेखक और कोई नहीं, हमारे जामाताराज ही हैं।"

प्रसन्नता से महाराज शालिवाहन ने कहा तो बात अग्रसर करती हुई राजमहिषी ने भी कहा—"ऐसा ही है, स्वामी ! ····· ऐसा ही है और यह श्लोक यदि राजजामाता का ही है तो निश्चय ही वे असाधारण वीरवर ही हैं—इसमें कोई संदेह नहीं।" निरीह-सी सुकोमला कथनकर्त्ताओं का मुख देखती रह गयीं। "यही नही, नाना महाराज ! वे अवन्ती के नृपति भी हैं, मुझे तो यह विश्वास है।"

"तेरा विश्वास सत्य निकले, बेटे ! ···· तेरा विश्वास सत्य निकले !!" —महाराज शालिवाहन के प्रसन्न हृदय का भाव मुखरित हो गया—"मेरा मन तो कहता था कि हमारे जामाता कोई साधारण पुरुष नहीं हैं।"

राजकन्या सुकोमला का हृदय खिल उठा—कमल की भॉति और नाना आशाओं के भ्रमर मँडराने लगे। अवन्ती के नृपति होने की आशा का आभास पाकर तो वे अवाक् ही रह गयीं। उनका मुख खुला सो कुछ क्षण को खुला ही रह गया। अब तक वह मंजूषा भी मिल गयी थी—"हॉ ···· हॉ ···· यही वह मंजूषा है जो उन्होंने विदा देते समय मुझे दी थी। यही है ····।" राजकन्या के मुख से ये शब्द निकले। उसने अपने ऑचल से मंजूषा को झाड़कर धूलि-मुक्त किया और धीरे से उसे अपने पिता महाराज की ओर खिसका दिया।

"न ···· न ···· बेटी ! इसे खोलने का अधिकार तुम्हारा है। तुम ही खोलकर देखो ···· क्या है इसमें ? किन्तु ···· आश्चर्य है, बिटिया ! तुमने अब तक कभी इसे खोलकर नहीं देखा ···· अकारण ही वियोग का कष्ट भोगती रही।" महाराज ने सहानुभूतिपूर्वक कहा।

"यह सब भाग्य का दोष है ···· इसकी नियति थी कष्ट भोगने की तो इसे मंजूषा का विस्मरण हो गया। अब दिन फिरे हैं। अच्छा समय लौटने को है।" —महारानी विजयादेवी ने संतोष के साथ कहा।

मंजूषा खोलने पर ज्ञात हुआ कि उसमें एक ताड़-पत्र है, अत्यन्त मूल्यवान पॉच अलंकार हैं और एक राज-मुद्रिका भी है। अलंकार पति की ओर से पत्नी के निमित्त उपहार थे, राज-मुद्रिका अभिज्ञान स्रोत थी और ताड-पत्र उनका आत्म-परिचायक साधन था। आतुरता के साथ राजकन्या ने ताड-पत्र पढ़ा। पंद्रह वर्षों के अन्तराल ने लेख को कुछ धूमिल भी कर दिया था, किन्तु अब भी वह सुपाठ्य था। राजकन्या सुकोमला आत्मलीन-सी पढ़ने लगीं तो सभी की दृष्टि उनके हाव-भावों पर लग गयी। उनके मुख पर सहसा एक स्निग्धता का लेप-सा हो गया। उनके नेत्रों में अपूर्व ज्योति की दमक और अधरों पर मधुर मुस्कान की चमक आ गयी। वे तो रोमांचित हो उठीं और सहसा उनके नयन सजल हो गये और अश्रु-विन्दु ढलकाने लगे। ये आनन्द के अश्रु थे जो हृदय की हर्षाभिव्यक्ति कर रहे थे।

[illegible] ...ार भी मुखरित हो उठा—"आपका [illegible] ...ी
एक [illegible] यथार्थ ही है, नाना महाराज ! कि मुझे एक प्रतापी महापुरुष के पुत्र का गौरव प्राप्त है···· किन्तु···· किन्तु उन महापुरुष ने इस डेढ़ दशक तक अपनी पत्नी, अपने पुत्र की सुधि क्यों न ली? क्यों वे ऐसे तटस्थ और निरपेक्ष हो गये? क्या एक आदर्श पति का धर्म यही है। उन्होंने मेरी माता को अकारण ही जो पीड़ा पहुँचायी है, मुझे भी पितृ-विहीनता का जो मानसिक संताप दिया है—यह यों विस्मृत कर देने योग्य भी नहीं है। माँ !···· मैं अवन्ती जाऊँगा···· शीघ्र ही जाऊँगा और उन्हें उनके पाप का बोध कराऊँगा। मेरे पिता महाराज ने मेरी माता के साथ जो छल किया है उसकी गंभीरता से उन्हें परिचित कराऊँगा। यह निश्चित है कि उन्होंने यह अच्छा नहीं किया।"

"चलेंगे, वत्स ! हम अवन्ती चलेंगे। मैं भी साथ चलूँगी तेरे, किन्तु गंभीर और मार्मिक विषयों में ऐसे त्वरित निर्णय उपयुक्त नहीं रहते। न ही ऐसे भ्रान्त निष्कर्षों का कोई लाभ रहता है। रोष मानसिक शक्तियों का ह्रास कर देता है और तब हमारे विचार स्वस्थ नहीं रहते। ठंडे दिमाग से सोच-विचारकर ही कार्य करने में विवेकशीलता है और विवेक-सम्मत आचरण कभी पछतावे का कारण नहीं बनता।"

"माँ ! ···· तुम तो माना कि मंजूषा को विस्मृत कर गयीं···· यह नारी के लिए स्वाभाविक भी है कि उसे किसी वस्तु का स्मरण न रहे, किन्तु क्या इन पन्द्रह वर्षों मे एक पति को अपनी पत्नी की भी स्मृति नहीं आयी? एक पिता क्या अपने पुत्र का मुख-दर्शन किये बिना ही इतनी दीर्घ अवधि तक रह सकता है? उनका प्रेम, उनका वात्सल्य···· सब क्या हो गया, माँ ! मेरे पिताश्री ने तुम्हारे साथ छल किया है। ऐसा छल जिसने एक निरीह, निरपराध नारी को अकारण वियोगानल में धधकते रहने को छोड दिया।"

"शान्त हो, वत्स ! ···· शान्त हो !" राजमहिषी ने देवकुमार को समझाया "यह तो सभी नियति की बाते हैं। वही जैसा परिणाम चाहती है, वैसे ही कार[illegible] वैसी ही परिस्थितियाँ निमित्तस्वरूप रच देती है। सुकोमला को कष्ट भोगना [illegible] प्रारब्ध ही ऐसा था, तो सारी परिस्थितियाँ इसके अनुरूप बननी ही थीं। तेरी [illegible]

ठीक ही कहती है, रोष करना व्यर्थ है। शान्ति से मार्ग निकालेंगे। अब जब गंतव्य ज्ञात हो गया है तो चिन्ता किस बात की ! तेरी माँ तेरे साथ अवन्ती चलेंगी।"

"नहीं, नानी माँ ! .... यह उचित नहीं रहेगा कि माँ इस प्रकार अपने सारे आत्म-सम्मान, अपने गौरव-गरिमा को एक ओर रखकर उनके चरणों में जा गिरें। यदि इसके पीछे दंभ रहा है, तो यह भी पिताश्री का दोष है और यदि कोई भूल रही है तो वह सहजतः क्षम्य तो नहीं है। उन्हें उनका अपराध-बोध कराने से पूर्व इनका वहाँ जाना मान-सम्मत नहीं रहेगा। उन्होंने छलपूर्वक अपना परिचय छिपाया है तो हम भी छलपूर्वक ही उन्हें अपना परिचय देंगे।"

"अच्छा-अच्छा ! देख लेंगे कि क्या करना है—यह स्थल इस प्रकार के सोच-विचार के लिए उपयुक्त नहीं है।" महाराज ने कहा—"पहले राजभवन चलते हैं, वहीं विचार करेंगे।" और सभी राजभवन में आ गये।

× × ×

अभी गंतव्य तक पहुँचने का मार्ग बड़ा लम्बा और वक्र था, सुगमता यही हो गयी थी कि गंतव्य निश्चित हो गया था। अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज देवकुमार के पिताश्री हैं, सुकोमला के पतिदेव हैं—यह निश्चय हो जाने के पश्चात् भी पुनर्मिलन गरिमापूर्वक हो, यह भी अपेक्षित था, अनिवार्य था। देवकुमार तो इसी पक्ष का प्रबल समर्थक रहा। वह यों साधारण ढंग से पहुँच जाना उपयुक्त नहीं मान पा रहा था। वह यह परीक्षा भी कर लेना चाहता था कि किस कारण पिताश्री ने हमारी उपेक्षा की और हमारा पुनर्मिलन किसी कारण बाधित तो नहीं है। इसी कारण उसने प्रथमतः अकेले ही अवन्ती जाने का निश्चय किया था।

राजकन्या का हृदय तो अपार प्रफुल्लता का कोष हो गया था। उसका दीर्घकालीन संयोग-सुख का स्वप्न अब साकार होने को जो था ! एक-एक पल उन्होंने प्रतीक्षा में व्यतीत किया था, हर आहट पर उन्हें आभासित होता कि प्रियागमन हो गया। उनके दिन ताप में बीतते और रात्रियाँ अश्रुओं से भीगी रहतीं। जिसका द्वार पवन ही खड़खड़ाती हो, प्रियतम नहीं—उसकी वियोग-वेदना का अनुमान सहज ही नहीं लगाया जा सकता। साज-शृंगार में उनकी रुचि नहीं रही, आहार भी प्रतीक्षार्थ जीव को वनाए रखने का आधार मात्र था। वे कृपकाय हो गयीं, हततेज हो गयी थीं, किन्तु संयोग-संभाव्य इन कुछ पलों में ही उनका मन उत्साह से भर उठा था। इस आशा की पवन ने उनके मन के अंगारे पर जमी उदासी की भस्म को उड़ा दिया और मन उल्लास से दमक उठा। उनमें एक अपूर्व उमंग जाग्रत हो गयी।

वह पल भी आ गया, जव देवकुमार ने अवन्ती-यात्रा के लिए माता से अनुमति चाही—"माते ! मुझे आज्ञा दो। मैं अवन्ती जाकर पहले पिताश्री की खोज कर लूँ तो आकर तुम्हें भी उनके पास ले जाऊँगा।"

"मुझे विश्वास नहीं, वत्स ! कि तू पिताश्री के पास पहुँच भी पायेगा, किन्तु यदि पहुँच भी गया, तो उन्हें विश्वास कैसे दिलाएगा कि तू उनका पुत्र है। क्या वे यह नहीं सोचेंगे कि कोई प्रवंचक उन्हें छलने को उनके पुत्र का छद्म रूप धरकर आ गया है?" माता ने अपनी आशंका प्रस्तुत की।

पुत्र ने पुनः माता को आश्वस्त करते हुए कहा–"माँ ! अपने पुत्र के पराक्रम में आस्था रखो। मैं अपने असाधारण कार्यों से असीम पराक्रम का परिचय दूँगा और उन्हें विश्वास दिला दूँगा कि मैं पराक्रमशील पिता का ही पुत्र हूँ, उनका ही पुत्र हूँ। मैं गिड़गिड़ाते हुए, दीनतापूर्वक अपना परिचय उनके पुत्र के रूप में देने वाला नहीं हूँ जिसे वे आशंकावश अस्वीकार कर दें। मेरे पराक्रम को देखकर पहले सारा जग स्वीकार करेगा और फिर उन्हें भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मैं उनका पुत्र हूँ, माँ ! मैं भी तुम्हारी संतान जो हूँ।" देवकुमार का मुख-मण्डल अजेय आत्म-विश्वास से आभायित हो गया–"माते ! उन्होंने तुमसे छल किया है, मैं भी छलपूर्वक ही उन पर अपना प्रभाव अंकित करूँगा। हाँ, पुत्र की मर्यादा का उल्लंघन न करूँगा, पिता के सम्मान को भी आघात नहीं पहुँचने दूँगा। इस ओर से निश्चिन्त रहो।"

अपने पुत्र के आत्म-विश्वास और उसके सुविचारों पर माता सुकोमला को एक स्वाभाविक गर्व का अनुभव होने लगा, किन्तु उसे विदा करने के प्रसंग में उनका मन पुनः कोमल हो उठा। वे चिन्तित और आतंकित हो उठीं। एक तनाव का जाल उनकी मुख-मुद्रा पर छा गया। वे पुत्र को अवन्ती जाने की अनुमति दें तो कैसे दें, न दें तो क्योकर न दें। एक विचित्र-सी उलझन, एक अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त माता सुकोमला सोचने लगी कि यदि पुत्र के आग्रह के उत्तर में मैं 'ना' कहती हूँ तो एक शुभ कर्म में वाधा-सूचक अमंगल हो जाता है। 'हाँ ···· जाओ'–कहती हूँ तो ऐसी कठोर हृदया भला कैसे हो जाऊँ? क्या मैं स्नेहशून्य माता न कहलाऊँगी? यदि कहती हूँ कि 'रह जाओ'–तो स्वामी के कठोर अनुशासन का ही आभास होगा, ममतामयी माँ की हितकामना भी उतनी व्यक्त नहीं हो पाती इससे तटस्थ हो जाऊँ न 'ना' और न ही 'हाँ' कहती हूँ, कहती हूँ कि 'तुम जैसा वैसा ही करो'–तो इससे प्रियतम के प्रति उदासीनता प्रकट होती है, जो

है नहीं। सारे संभावित उत्तरों के जंजाल से स्वयं को मुक्त करती हुई सुकोमला ने तब यही कहा–

"प्राणी मात्र को अपनी संतति के प्रति स्नेह–असीम स्नेह होता है, उसके सुख और हित की चेष्टा करता है। मानव-जीवन पाकर प्राणी की ये विशेषताएँ और भी सघन होती हैं। तुम भी इस यथार्थ को तब पहचान पाओगे जब स्वयं पिता बनोगे। और मैं तो ममतामयी माता हूँ। हे पुत्र ! जब तक तुम सकुशल लौटकर मुझे अपना दरस न दो तब तक मुझे स्मरण करते रहना। विस्मृत न करना अपनी माता को। तुम ... मुझ दुःखिया के तुम ही अवलम्ब हो। अपना कार्य सिद्ध कर शीघ्र ही दरस दो और मुझे निश्चिन्त करो। कोई बाधा तुम्हारे मार्ग में दुर्जेय न हो, साफल्य तुम्हें सुलभ हो, वत्स !" माता ने जी कड़ा करते हुए, प्रकारान्तर से प्रस्थान की अनुमति दे दी। वह अपने दोनों हाथों से मुख ढाँपकर सुबक उठीं। नाना महाराज से और नानी माँ से देवकुमार पूर्व में ही अनुमति और आशिष प्राप्त कर चुका था।

अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य के व्यक्तित्व की अनुकृति-सा देवकुमार साहसी और निर्भीक सिंह की भाँति प्रतिष्ठानपुर त्यागकर अवन्ती की दिशा मे अग्रसर हो गया। यों वह एकाकी ही प्रवास पर था, किन्तु एकाकी भी कहाँ था। उसका खड्ग उसके साथ था। धैर्य, साहस-जैसे सहयोगी उसके अन्तरंग साथी थे। सुदीर्घ प्रवास था, किन्तु उससे भी अधिक दीर्घ था उसका आत्म-विश्वास।

× × ×

कुछ दिनों की निरन्तर यात्रा सम्पन्न कर देवकुमार अवन्ती पहुँच गया। क्षिप्रा नदी को पार कर अवन्ती के मुख्य घाट पर उतरते-उतरते ही उसने निश्चित कर लिया था कि वह नगर-भ्रमण कर पहले सारी स्थिति का आकलन करेगा। पराक्रम दिखाकर नरेश को प्रभावित करने का तो सुनिश्चय था ही, यह निर्णय करना था कि इसके लिये कौन-सा कार्य अपनाया जाय। इस हेतु नगर का, जनजीवन का, राज्य-व्यवस्थादि का ज्ञान कर लेना आवश्यक था। वह शान्त भाव से भ्रमण करने लगा। उसे नगर में समृद्धि और सम्पन्नता दृष्टिगत हुई! सभी सुखी थे। किसी व्यसन का विकार भी दिखायी नहीं दिया। कोई कलह-विग्रह नहीं, सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य था। जनता में उसे पारस्परिक स्नेह, सौहार्द्र और सौजन्य का वातावरण भी अनुभव हुआ। राजा के प्रति सद्भाव था। राज्य-कर्मचारियों में निष्ठापूर्ण सेवाभावना भी दिखायी दी। कहीं कोई अन्याय और अनीति नहीं। दुराचार या दुर्जनता का नाम भी न था। देवकुमार का हृदय ऐसा सुशासन पाकर महाराज विक्रमादित्य का भक्त हो गया। वाह ! राज्य हो तो ऐसा और राज्य हो तो महाराज विक्रमादित्य जैसा। कुछ दिनों तक उसका यही क्रम चलता रहा। उसने जन-जीवन और राज्य-व्यवस्थाओं का गहनता के साथ अध्ययन किया किन्तु उसे कोई अभाव, कोई विकार, कोई समस्या ऐसी दिखायी ही न दी कि जिसे वह संघर्ष का आधार

बना पाता। देवकुमार ने राज्य-कर्मचारियों, अधिकारियों, मंत्रियों और अमात्यों से भी सम्पर्क किया। उसे सभी सेवाभावी और कर्त्तव्य-परायण लगे। अधिकारियों को इस बात का गर्व था कि अवन्ती में चोरी का अपराध सर्वथा उन्मूलित हो गया है। वर्षों से चोरी की एक भी घटना नहीं हुई। यह गर्व उच्च से उच्चतर होते हुए दर्प की सीमा तक पहुँच गया। इस अहंकार ने देवकुमार को दिशा प्रदान की, उसके पराक्रम व साहसिकता के प्रदर्शन को एक मार्ग दिया। देवकुमार ने अपना कार्यक्षेत्र निश्चित कर लिया। अद्‌भुत और असाधारण चोरियों द्वारा नगर में मैं आतंक मचा दूँगा। राजा और राज्य-अधिकारियों के लिए मैं एक विकट समस्या खड़ी कर दूँगा। राज्य का गर्व खण्डन करूँगा। सारी शक्ति-प्रयोग द्वारा भी मैं उनकी पकड़ में न आऊँगा। इस शौर्य और साहसिकता, इस पराक्रम के साथ नाटकीय ढंग से प्रकट होकर एक दिन मैं पिता महाराज के समक्ष उपस्थित हो जाऊँगा। पिता महाराज से प्रथम साक्षात्कार इस प्रकार प्रभावशाली हो जायेगा। मेरी खोज में लगाऊँगा मैं उन्हें, मुझे पाने की उत्कट अभिलाषा जाग्रत कर उन्हें उत्कंठित कर दूँगा–तब भेंट करने से भेंट का महत्त्व ही कुछ का कुछ हो जाता है। प्यास जब उत्तरोत्तर तीव्र होती हुई अपने चरण पर पहुँच जाती है, तब जल का स्वाद, जल-प्राप्ति का आनन्द ही कुछ और होता है। मैं स्वयं को पिता महाराज के लिए पहले ध्यातव्य बनाऊँगा। चौर्यकला के विचित्र प्रसंग जब उनके समक्ष एक के पश्चात् एक आते जायेंगे तो वे चमत्कृत हुए बिना रह ही नहीं सकेंगे।

अवन्ती में देवकुमार ने आरंभ से ही ब्राह्मण नवयुवक का वेश धारण कर रखा था। उसे यह भी ज्ञात हो गया था उसके पिता महाराज और राज्य-अधिकारियों को माँ हरसिद्धि देवी की कृपा का परिणाम ही यह मानते हैं कि राज्य में कहीं चोरी का अपराध नहीं होता। इससे देवकुमार को भी एक विशिष्ट अवलम्ब मिला और उसने हरसिद्धि देवी माँ की कृपा प्राप्त करने का निश्चय कर लिया।

देवकुमार देवी माँ के मंदिर में गया। भक्तिभावपूर्वक माँ के दर्शन किये। उसको एक अपूर्व मनःशान्ति का, स्थैर्य का अनुभव हुआ। इसी शान्त मुद्रा में उसने देवी माँ के मुख्य पुजारी से भेंट की। निवेदन के स्वर में उसने व्यक्त किया–"मेरे पिताजी दृष्टिहीन हो गये हैं, उनके रोग से स्वजन-परिजन भी बड़े कष्टित और चिन्तित हैं। उन्हें फिर से दृष्टि प्राप्त हो–इस कामना के साथ मैं देवी माँ की आराधना करना चाहता हूँ। तीन दिवस निराहार ध्यान-साधना का संकल्प है मेरा। यदि आपकी अनुमति प्राप्त हो जाये तो बड़ी कृपा होगी।" मुख्य पुजारी जी ने प्रसन्नतापूर्वक अनुमति प्रदान कर दी। प्रफुल्लित मन से देवकुमार ने आभार-ज्ञापन-सूचक करबद्ध प्रणाम कर नमन किया।

मुख्य पुजारी ने हाथ उठाकर आशिष दी–"तुम्हारी मनोकामना सफल हो।"

आशीर्वाद से प्रेरित हो उत्साहपूर्वक देवकुमार मंदिर के गर्भगृह में पहुँचा और एक ओर पद्मासन लगाकर बैठ गया। नयन मूँदकर, हाथ जोड़कर अविचल

है नहीं। सारे संभावित उत्तरों के जंजाल से स्वयं को मुक्त करती हुई सुकोमला ने तब यही कहा–

"प्राणी मात्र को अपनी संतति के प्रति स्नेह–असीम स्नेह होता है, उसके सुख और हित की चेष्टा करता है। मानव-जीवन पाकर प्राणी की ये विशेषताएँ और भी सघन होती हैं। तुम भी इस यथार्थ को तब पहचान पाओगे जब स्वयं पिता बनोगे। और मैं तो ममतामयी माता हूँ। हे पुत्र ! जब तक तुम सकुशल लौटकर मुझे अपना दरस न दो तब तक मुझे स्मरण करते रहना। विस्मृत न करना अपनी माता को। तुम ... मुझ दुःखिया के तुम ही अवलम्ब हो। अपना कार्य सिद्ध कर शीघ्र ही दरस दो और मुझे निश्चिन्त करो। कोई बाधा तुम्हारे मार्ग में दुर्जेय न हो, साफल्य तुम्हें सुलभ हो, वत्स !" माता ने जी कड़ा करते हुए, प्रकारान्तर से प्रस्थान की अनुमति दे दी। वह अपने दोनों हाथों से मुख ढाँपकर सुबक उठी। नाना महाराज से और नानी माँ से देवकुमार पूर्व में ही अनुमति और आशिष प्राप्त कर चुका था।

अवन्ती-नरेश महाराज विक्रमादित्य के व्यक्तित्व की अनुकृति-सा देवकुमार साहसी और निर्भीक सिंह की भाँति प्रतिष्ठानपुर त्यागकर अवन्ती की दिशा में अग्रसर हो गया। यों वह एकाकी ही प्रवास पर था, किन्तु एकाकी भी कहाँ था। उसका खड्ग उसके साथ था। धैर्य, साहस-जैसे सहयोगी उसके अन्तरंग साथी थे। सुदीर्घ प्रवास था, किन्तु उससे भी अधिक दीर्घ था उसका आत्म-विश्वास।

× × ×

कुछ दिनों की निरन्तर यात्रा सम्पन्न कर देवकुमार अवन्ती पहुँच गया। क्षिप्रा नदी को पार कर अवन्ती के मुख्य घाट पर उतरते-उतरते ही उसने निश्चित कर लिया था कि वह नगर-भ्रमण कर पहले सारी स्थिति का आकलन करेगा। पराक्रम दिखाकर नरेश को प्रभावित करने का तो सुनिश्चय था ही, यह निर्णय करना था कि इसके लिये कौन-सा कार्य अपनाया जाय। इस हेतु नगर का, जनजीवन का, राज्य-व्यवस्थादि का ज्ञान कर लेना आवश्यक था। वह शान्त भाव से भ्रमण करने लगा। उसे नगर में समृद्धि और सम्पन्नता दृष्टिगत हुई! सभी सुखी थे। किसी व्यसन का विकार भी दिखायी नहीं दिया। कोई कलह-विग्रह नहीं, सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य था। जनता में उसे पारस्परिक स्नेह, सौहार्द्र और सौजन्य का वातावरण भी अनुभव हुआ। राजा के प्रति सद्भाव था। राज्य-कर्मचारियों में निष्ठापूर्ण सेवाभावना भी दिखायी दी। कहीं कोई अन्याय और अनीति नहीं। दुराचार या दुर्जनता का नाम भी न था। देवकुमार का हृदय ऐसा सुशासन पाकर महाराज विक्रमादित्य का भक्त हो गया। वाह ! राज्य हो तो ऐसा और राज्य हो तो महाराज विक्रमादित्य जैसा। कुछ दिनों तक उसका यही क्रम चलता रहा। उसने जन-जीवन और राज्य-व्यवस्थाओं का गहनता के साथ अध्ययन किया किन्तु उसे कोई अभाव, कोई विकार, कोई समस्या ऐसी दिखायी ही न दी कि जिसे वह संघर्ष का आधार

बना पाता। देवकुमार ने राज्य-कर्मचारियों, अधिकारियों, मंत्रियों और अमात्यों से भी सम्पर्क किया। उसे सभी सेवाभावी और कर्त्तव्य-परायण लगे। अधिकारियों को इस बात का गर्व था कि अवन्ती में चोरी का अपराध सर्वथा उन्मूलित हो गया है। वर्षों से चोरी की एक भी घटना नहीं हुई। यह गर्व उच्च्य से उच्चतर होते हुए दर्प की सीमा तक पहुँच गया। इस अहंकार ने देवकुमार को दिशा प्रदान की, उसके पराक्रम व साहसिकता के प्रदर्शन को एक मार्ग दिया। देवकुमार ने अपना कार्यक्षेत्र निश्चित कर लिया। अद्भुत और असाधारण चोरियों द्वारा नगर में मैं आतंक मचा दूँगा। राजा और राज्य-अधिकारियों के लिए मैं एक विकट समस्या खड़ी कर दूँगा। राज्य का गर्व खण्डन करूँगा। सारी शक्ति-प्रयोग द्वारा भी मैं उनकी पकड़ में न आऊँगा। इस शौर्य और साहसिकता, इस पराक्रम के साथ नाटकीय ढंग से प्रकट होकर एक दिन मैं पिता महाराज के समक्ष उपस्थित हो जाऊँगा। पिता महाराज से प्रथम साक्षात्कार इस प्रकार प्रभावशाली हो जायेगा। मेरी खोज में लगाऊँगा मैं उन्हें, मुझे पाने की उत्कट अभिलाषा जाग्रत कर उन्हें उत्कंठित कर दूँगा—तब भेंट करने से भेंट का महत्त्व ही कुछ का कुछ हो जाता है। प्यास जब उत्तरोत्तर तीव्र होती हुई अपने चरण पर पहुँच जाती है, तब जल का स्वाद, जल-प्राप्ति का आनन्द ही कुछ और होता है। मैं स्वयं को पिता महाराज के लिए पहले ध्यातव्य बनाऊँगा। चौर्यकला के विचित्र प्रसंग जब उनके समक्ष एक के पश्चात् एक आते जायेंगे तो वे चमत्कृत हुए बिना रह ही नहीं सकेंगे।

अवन्ती में देवकुमार ने आरंभ से ही ब्राह्मण नवयुवक का वेश धारण कर रखा था। उसे यह भी ज्ञात हो गया था उसके पिता महाराज और राज्य-अधिकारियों को माँ हरसिद्धि देवी की कृपा का परिणाम ही यह मानते हैं कि राज्य में कहीं चोरी का अपराध नहीं होता। इससे देवकुमार को भी एक विशिष्ट अवलम्ब मिला और उसने हरसिद्धि देवी माँ की कृपा प्राप्त करने का निश्चय कर लिया।

देवकुमार देवी माँ के मंदिर में गया। भक्तिभावपूर्वक माँ के दर्शन किये। उसको एक अपूर्व मनःशान्ति का, स्थैर्य का अनुभव हुआ। इसी शान्त मुद्रा में उसने देवी माँ के मुख्य पुजारी से भेंट की। निवेदन के स्वर में उसने व्यक्त किया—"मेरे पिताजी दृष्टिहीन हो गये हैं, उनके रोग से स्वजन-परिजन भी बड़े कष्टित और चिन्तित हैं। उन्हें फिर से दृष्टि प्राप्त हो—इस कामना के साथ मैं देवी माँ की आराधना करना चाहता हूँ। तीन दिवस निराहार ध्यान-साधना का संकल्प है मेरा। यदि आपकी अनुमति प्राप्त हो जाये तो बड़ी कृपा होगी।" मुख्य पुजारी जी ने प्रसन्नतापूर्वक अनुमति प्रदान कर दी। प्रफुल्लित मन से देवकुमार ने आभार-ज्ञापन-सूचक करबद्ध प्रणाम कर नमन किया।

मुख्य पुजारी ने हाथ उठाकर आशिष दी—"तुम्हारी मनोकामना सफल हो।"

आशीर्वाद से प्रेरित हो उत्साहपूर्वक देवकुमार मंदिर के गर्भगृह में पहुँचा और एक ओर पद्मासन लगाकर बैठ गया। नयन मूँदकर, हाथ जोड़कर अविचल

ध्यानलीन हो देवकुमार शान्त भाव से मनःचक्षुओं द्वारा माता की प्रतिमा का साक्षात् करते हुए आराधना करने लगा। एक दिन व्यतीत हुआ भोर हो गयी, दूसरा दिवस-रात्रि भी इसी प्रकार व्यतीत हो गयी। निराहार–निर्जल ही ध्यानाराधना का तृतीय दिवस व्यतीत हुआ तो अपनी अचल साधना पर प्रसन्न देवकुमार को विश्वास होने लगा कि आज की रात्रि अवश्य ही मेरी आराधना की सफलता की रात्रि होगी। वह आराधना में और अधिक सुदृढ़ हो गया। अर्द्ध-रात्रि तक भी देवी माँ की प्रसन्नता के कोई लक्षण दिखायी न दिये तो वह कुछ चिन्तित हुआ। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया वह व्यग्र ही होता चला गया। रात्रि के अन्तिम प्रहर में तो उसकी चिन्ता निराशा में परिणत होने लगी। हताश होकर वह पुकार उठा–"मैं तुम्हारा श्रद्धालु भक्त हूँ, माँ ! मैंने कठोर साधना की किन्तु अपने दास पर तुम्हारा हृदय द्रवित न हुआ। निष्ठुरता का त्याग करो, देवी माँ ! भक्त पर कृपा करो। यदि अब भी तुमने अपनी उदारता का दान न किया तो तुम्हारे चरणों में ही सिर पटक-पटककर अपना प्राणान्त कर लूँगा।" देवकुमार उठा और माँ के चरणों की ओर वह बढ़ा ही था कि सहसा गर्भगृह तीव्र आलोक से जगमगा उठा। ऐसा तीव्र कि देवकुमार की आँखों की ज्योति पराजित-सी होने लगी। यह आलोक-पुँज देवी प्रतिमा को ही विशाल दीपशिखा का रूप दे रहा था।

कुछ ही पलों में यह शिखा विघटित हुई और आलोक के अन्तर से साक्षात् देवी माँ ही प्रकट हो गयी। मधुर वाणी में माँ ने कहा–"वत्स ! तेरी भक्ति से मैं प्रसन्न हुई। तेरी मनोकामना को मैं अवश्य पूर्ण करूँगी। अपनी अभिलाषा प्रकट कर, वत्स !"

"माँ !··· आपके दर्शन पाकर मैं कृतार्थ हो गया। मेरा जीवन ही सफल हो गया, माँ ! आप महान् हैं। मैं अवन्ती-नरेश की आँखें खोल देना चाहता हूँ, मातेश्वरी ! मुझे ऐसा वरदान दें कि मैं चोरी करने में सफल भी रहूँ और पकड़ा भी न जाऊँ।"

"वत्स ! तो चौर्यकर्म में तेरी सहायता···· ।"

"माँ ! मेरा कर्म वस्तुतः चोरी का रहेगा नहीं। समय आने पर चोरी की सम्पत्ति पुनः संवंधित स्वामियों को मैं लौटा दूँगा। तव तक उनका धन मेरे पास धरोहर ही रहेगा। मैं तो इस कर्म से नगर में एक तहलका मचा देना चाहता हूँ। वस··· धनापहरण करना मेरा उद्देश्य नहीं··· माँ ! दया करो।"

माँ सहसा प्रसन्न हो उठीं और एक पंचधातु कड़ा देते हुए उन्होंने देवकुमार से कहा–"वत्स ! तुम जव सात्विक भाव के साथ ही चौर्यकर्म करना चाहते हो तो मैं तुम्हारी सहायता करूँगी। यह कड़ा अपनी वायीं भुजा में पहन ले। तुझे कोई पकड़ न पाएगा। मैं तुझे विजय और अदृश्यकारिणी विद्याएँ भी देती हूँ। तेरी मनोकामना पूर्ण हो।"

प्रसन्न और तुष्ट देवकुमार ने कड़ा धारण किया और माँ के चरणों में शीश झुकाकर प्रणाम करने लगा। उठा तो पाया कि देवी माँ अदृश्य हो गयी हैं, उनकी प्रतिमा यथास्थान खड़ी थी। भोर हो गयी थी। मंथर गति से वह गर्भगृह से बाहर निकला ही था कि मुख्य पुजारी जी से भेंट की। प्रणाम करते हुए देवकुमार ने उनसे कहा–"गुरुजी ! आपकी कृपा से मैं देवी माँ की प्रसन्नता का पात्र हो गया हूँ। मेरी साधना सफल रही। मुझे देवी माँ की आशिष मिली है, महाराज !"

"धन्य हो, वत्स ! धन्य हो !! सुखी रहो··· सफल काम हो।"–पुजारी जी ने आशीर्वाद दिया और मुस्करा उठे। देवकुमार पुनः प्रणाम कर अग्रसर हो गया। अब उसे शीघ्रता के साथ अपना कार्यारंभ करना था। वह स्वयं को पराक्रम की भूमिका के साथ ही अपने पिता के समक्ष प्रकट करने का अभिलाषी था। पराक्रम के लिये उसने कार्य भी चुन लिया था, किन्तु आवश्यक यह था कि वह नगर में तब तक स्वयं को गुप्त रखे। अवन्ती-नरेश ने मेरी माता के साथ छल किया, उसके लिये वेदना और पीड़ा का संसार छोड़कर स्वयं यहाँ सुख-वैभव का उपभोग कर रहे हैं। वीर वेश में ही मेरा उनसे मिलना उचित रहेगा। तभी मैं उनको प्रसन्न भी कर सकूँगा और उन्हें उनके अतीत की स्मृति भी करा सकूँगा। पिता को प्रसन्नता देना पुत्र का प्रथम धर्म है। इस पूर्ति के अभाव में पुत्र का जन्म लेना ही निरर्थक रह जाता है। मैं अपने जीवन को सार्थक करूँगा। वह सोचता चल रहा था कि अब उसे सर्वप्रथम इस नगर में एक आश्रय की आवश्यकता है, जहाँ उसका निवास सुरक्षित भी रहे और प्रच्छन्न या गुप्त भी। सहसा उसे विचार आया कि किसी गणिका का आवास ही इस निमित्त सर्वथा उपयुक्त स्थल रहेगा। सत्य ही है कि विनयशीलता राजपुत्रों से सीखी जाती है, वाक्पटुता पंडितों से और चातुर्य गणिकाओं से सीखना चाहिये। निर्भीकता, छलछद्मपूर्ण व्यवहार और वाणी के कौशल में वेश्या की समकक्षता कोई अन्य कर ही नहीं सकता।

यही सोचकर देवकुमार अवन्ती की एक प्रसिद्ध वेश्या के यहाँ पहुँचा। गणिका अपने यहाँ एक ब्राह्मण युवक को आया देख चकित रह गयी। उसने पूछा–"तुम कौन हो?··· क्या चाहते हो?"

"हे सुमुखी ! एक परदेसी हूँ। मेरा नाम तनिक ध्यान से सुनो–मुझे 'सर्वहर' कहते हैं। चोर हूँ··· चोरी ही मेरा काम है, सुन्दरी ! मैं राजघरानों में चोरी करता हूँ, धनाढ्यों का धन हरण करता हूँ। अनेक नगरों में धूम मचाकर अब मैं अवन्ती में अपना करतब दिखाने आया हूँ।" एक ही क्रम में देवकुमार ने कहा। और प्रतिक्रिया ताड़ने को वह गणिका का मुख निहारने लगा।

"सो··· यह सब तुम हमें क्यों बताना चाहते हो?" गणिका ने पूछा।

"चाहते तो हम यह हैं कि तुम्हारे यहाँ हमें कुछ दिनों के लिए आश्रय मिल जाता··· हमारा काम बन जाता।" उसने अनुनय की।

"नहीं ··· कदापि नहीं। यहाँ तुम्हारी दाल गलेगी तो क्या, भीग भी न सकेगी। कोई अन्य द्वार खटखटाओ।" गणिका के इस सपाट उत्तर से वह हताश तो नही हुआ, हाँ इस उत्तर से वह सजग अवश्य हो गया। उसने सोचा–भला ही हुआ कि गणिका ने मुझे आश्रय न दिया। यहाँ तो अनेक लोग आते रहते हैं। मेरी गोपनीयता यहाँ कठिन ही रहती। उसने तत्काल उत्तर दिया–कोई बात नही सुमुखी ! ···· कोई बात नहीं। मुझे तुम्हारी अस्वीकृति का कोई बुरा न लगा। अच्छा ··· नमस्कार !" हाथ जोड़कर वह उठ खड़ा हुआ और चल दिया।

इस गणिका ने उसकी सहायता तो नहीं की, किन्तु वह निराश भी नहीं किया। एक अन्य प्रसिद्ध वेश्या के यहाँ पहुँचा तो वहाँ उसे एक मोहक मुस्कान के साथ स्वागत मिला तो उसका उत्साह पुनः उद्दीप्त हो गया। देवकुमार का प्रयोजन जानकर गणिका बुझ-सी गयी और छत की ओर उठकर उसकी पलकें सहसा झुक गयीं। सोच में डूबी-सी गणिका ने गंभीरता के साथ कहा–"अतिथि देव ! क्षमा करें। मैं आपका सहयोग न कर सकूँगी। मैं तो पहले से ही पाप-पंक में ग्रस्त हूँ। मेरी वेश्यावृत्ति क्या पहले से कम अशुभ है कि अब और भी चौर्यकर्म में सहायक बनूँ। मैं तो परामर्श दूँगी–युवक ! तुम्हें भी अपना यह मलिन विचार और पापकर्म का परित्याग ही कर देना चाहिये। मैं तो कम-से-कम इस पाप की भागी बनूँगी नही।"

"चौर्यकर्म तो एक कला है, देवी ! पाप नहीं।" देवकुमार ने कहा–"यदि तुम इसे पाप भी मानती हो तो मानो, किन्तु इस पाप के भागी तुम्हें बनना नहीं है। पाप ही है तो यह पापकर्त्ता तो मैं रहूँगा। तुमसे तो मेरी विनय यही है कि अपने यहाँ मुझे आश्रय दे दो ··· बस, इसके अतिरिक्त मैं कुछ भी अपेक्षा नहीं रखता। कृपा करो, देवी !"

"सर्वहर ! चोर केवल वही नहीं होता जो पर-धनापहरण करे।"–गणिका ने शान्त मनस्कतापूर्वक कहा–"चोरों के सात प्रकार बताये गये हैं। चोरी करने वाला, चोरी कराने वाला, चोरी की प्रेरणा देने वाला, चोरी का धन खरीदने वाला, चोरी का माल बेचने वाला, चोर को आश्रय देने वाला, चोर को भोजनादि देने वाला–ये सभी चोरवत् ही माने जाते हैं। इन सभी का पाप समान भार का माना जाता है, सर्वहर ! मैं तुम्हें आश्रय देकर पाप की भागी नहीं बनना चाहती हूँ। अज्ञानवश दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाने वालों के लिए प्रायश्चित्त का विधान तो है–पाप को जानबूझकर अपनाने वालों के लिए भला क्या मार्ग है–निस्तार का। मुझे क्षमा करो, सर्वहर ! कोई अन्य द्वार खटखटाओ।"

देवकुमार गणिका-भवन से बाहर निकल आया। सोचने लगा–'धन का लोभ दूँ तो भी गणिकाओं को सहायक बनाना इतना सुगम नहीं है। धन की उन्हें क्या कमी ! कोई ऐसी वेश्या ही इस हेतु तत्पर हो सकेगी जो न तो प्रसिद्ध हो न ही समृद्ध। धन उसे ही लुभा सकेगा। ऐसी वेश्या के यहाँ कम लोगों का आवागमन रहना स्वाभाविक है। यह सुविधा तो रहेगी ही, साथ ही उसकी कम आय उसे मैं

द्वारा प्रदत्त धन का लोभ आकर्षित भी कर सकेगा।' यह सोचकर वह किसी नगण्य-सी, उपेक्षिता वेश्या की खोज करने लगा। ऐसी एक वेश्या–काली उसे मिल भी गयी। उसने काली वेश्या का द्वार खटखटाया।

काली अपने भवन में एकाकी थी। रात्रि में उसे अपने द्वार पर खटखटाहट सुनाई दी तो वह सहसा उमंगित हो उठी। लपककर उठी और मुस्कराते हुए द्वार पर गयी। कपाट खोलकर उसने अतिथि का स्वागत किया और देवकुमार 'को भीतर ले आयी। भवन अधिक सज्जित तो न था, किन्तु स्वच्छता का अभाव भी न था। देवकुमार भवन की भीतरी स्थितियों पर दृष्टि प्रसारित कर किसी अनुमान पर आने का प्रयास करने लगा था। तभी काली ने पूछा–"श्रीमान् जी ! क्या सुनना चाहेंगे ···· ? कोई ····।"

सहसा अपने हाथ से उसे मौन रहने का संकेत किया और काली का हाथ घुँघरुओं की ओर बढता-बढ़ता बीच में ही थम गया–"देवी ! हम इस समय कुछ सुनने को नहीं, सुनाने के लिये आये हैं। हमारी बात ध्यान से सुनो।" काली वेश्या तो भीतर-ही-भीतर भयभीत हो उठी। यह कैसा अतिथि ··· ! क्या चाहता है यह !··· काली उत्कंठित हो आगत अतिथि को ताकती रह गयी।

"मैं सर्वहर चोर हूँ, काली ! कुख्यात चोर ··· चौर्यकला का निष्णात कलाकार हूँ। देश-देश में अपने कीर्तिमान स्थापित कर अब मालव-देश में अपनी धाक जमाने की अभिलाषा से अवन्ती आया हूँ।" देवकुमार के दृढ़तापूर्ण इस कथन से काली वेश्या तो काँप उठी। उसका मुख विवर्ण हो उठा, कंठावरोध से कुछ क्षणों तक तो वह मौन रह गयी।

बडी कठिनाई से उसके मुख से बोल फूटे–"सर्वहर हो तुम ? ··· लेकिन मेरे यहाँ तो कुछ भी ऐसा नहीं ··· जिसका हरण तुम कर सको। मैं तो एक साधारण-सी गणिका हूँ। व्यवसाय में भी पिछड़ी हुई और वैसे भी दीन-हीन। गणिका होकर भी कैसी अभागिन हूँ कि मैं धन कमा ही नहीं सकी।"

"सर्वहर इसीलिए तुम्हारे पास आया है, काली ! मैं तुम्हें भी सम्पन्न बना देना चाहता हूँ, अन्य गणिकाओं की भाँति। तुममें अभाव किस बात का है ! चढ़ता यौवन है, बढ़ता रूप और आकर्षण है। सब-कुछ तो है तुम्हारे पास। प्रशस्ति पाकर कौन गर्वित नहीं होता। तुच्छ जन भी स्वयं को गण्यमान्य समझने लग जाते हैं। प्रशस्ति जितनी ही मिथ्या होती है–उसका प्रभाव उतना ही सघनतर होता जाता है।"

काली भी प्रसन्न हो उठी ··· उसके नयनों में एक अपूर्व तेज निखर उठा। उत्साह के साथ बोली–"क्या सचमुच तुम ऐसा कर सकोगे ?"

"अवश्य, देवी ! ··· अवश्य ही कर सकूँगा। मैं यही करता रहा हूँ। राजा-महाराजाओं ··· श्रेष्ठियों-धनाढ्यों का धन हरण करता हूँ और दीन जनों में वितरित कर देता हूँ। न कभी पकड़ा गया और न ही इस भय से कभी मैं त्रस्त रहा। अवन्ती में मेरे कार्य के लिए अच्छी संभावनाएँ हैं। सम्पन्न नगरी जो है। मै

तुम्हें चोरी के धन का आधा भाग दे दिया करूँगा। देखते-ही-देखते तुम कहाँ से कहाँ पहुँच जाओगी, देवी !"

"मुझे विश्वास हो गया, सर्वहर ! तुम मेरी सहायता करना चाहते हो··· किन्तु···· ।" काली वेश्या ने तनिक सोचते हुए गंभीरतापूर्वक पूछा–"किन्तु मुझे क्या करना होगा?"

"तुम्हें? कुछ विशेष नहीं, देवी !····कुछ विशेष नहीं। हम चोरों के लिये तो अँधियारी रात्रियाँ ही वरदान रहती हैं। मैं रात्रि में अपना काम करूँगा। दिन में प्रच्छन्न रहकर विश्राम करूँगा। मुझे अवन्ती में आश्रय चाहिये। मुझे आश्रय दो। तुम्हारे भवन में छिपे रहने की सुविधा··· बस, यही मैं चाहता हूँ। दे सकोगी आश्रय मुझे?"

"इस घर को अपना ही घर समझो, सर्वहर ! इस घर से कोई याचक निराश नहीं गया··· फिर तुम तो दाता–भाग्य विधाता होकर आये हो। जितने दिन यहाँ रहना चाहो··· तुम रह सकोगे। स्वागत है।"

"धन्यवाद, देवी ! अब तुम भी देखोगी कि चोरों के भी अपने आदर्श होते हैं। मैं अपने वचन का पक्का हूँ। कुछ ही दिनों में मैं तुमको समृद्धि के शिखर पर पहुँचा दूँगा। हाँ··· तुम्हें मेरी एक सहायता अवश्य करनी होगी··· ।"

"वह क्या···?"

"तुम्हें नगर में विचरण कर सारी परिस्थितियों का ज्ञान करना होगा और संध्या समय मुझे उससे अवगत कराना होगा। बस···· यही तुम्हारा कार्य होगा।" –सर्वहर ने समझाते हुए कहा–"शेष कार्य मेरा रहेगा। तुम्हारी सूचनाओ के आधार पर ही मैं अपनी योजनाएँ बनाऊँगा।"

"यह तो मेरे लिये कठिन न होगा, सर्वहर !" आत्म-विश्वासपूर्वक काली ने कहा। हम गणिकाओं को दूसरों के भेद जान लेने की कला आती है। मै तुम्हारा यह कार्य कर सकूँगी, सर्वहर !··· कर दूँगी।"

"तुम कुछ····श्रान्त–क्लान्त लग रहे हो।"–स्नेहपूर्वक काली ने कहा–"आओ, भोजन कर लो और फिर विश्राम करो। तुम तो अतिथि हो इस घर के····।"

"और अतिथि तो तुम्हारे लिये देवता-समान होते हैं। यही न?" काली के कथन को सर्वहर ने पूर्ण कर दिया। दोनों हँसते हुए उठे और कक्ष से बाहर आ गये।

× × ×

राजसभा से निवृत्त होकर महाराज अपने विश्राम-कक्ष में पहुँचे। वे अपने मृदुल आसन पर विराजित हुए ही थे कि सहसा एक अट्टहास का स्वर उभरा। यह चिर-परिचित हास्य महाराज के मानस को हर्षपूरित करने लगा। अग्निवेताल अभी अनायास ही कैसी···· और क्षण मात्र में वेताल प्रकट हो ही गया। "स्वामी के श्रीचरणों में अग्निवेताल प्रणाम निवेदन करता है।"–वेताल ने नमन किया।

महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक अपने मित्र की आवभगत की–"आओ, देव अग्निवेताल !····आओ, बैठो···· ।" महाराज ने उसे आसन दिया। वेताल ने आसन ग्रहण करते हुए सुख की सॉस ली। महाराज ने आश्चर्य मिश्रित मुस्कान के साथ पूछ लिया–"आज मेरे स्मरण किये बिना ही तुम कैसे आ गये? हाँ··· ? कहो, प्रसन्न तो हो?"

"हम तो चिर प्रसन्न रहते हैं, स्वामी ! देव जो ठहरे। आपकी भाभी भी प्रसन्न हैं। सभी प्रकार से कुशल-मंगल है। आप यह सत्य ही कहते हैं, श्रीमन् ! कि आपके स्मरण को कभी टाला नहीं मैंने। आपने स्मरण किया और मैं उपस्थित हो गया। यह सत्य है तो यह भी सत्य ही है कि आपके बिना स्मरण किये, मेरी उपस्थिति का यह प्रथम अवसर ही है। और यह भी एक विशेष कारण से है··· ।" वेताल ने कुछ सोचते हुए कहा।

"अच्छा !··· अच्छा !! तो हमारा मित्र आज आया नहीं, कोई स्वार्थ ही उसे यहॉ तक धकेल लाया है ! है न यही बात?" महाराज अपने विनोद पर स्वयं ही हॅस पड़े। मित्र वेताल ने भी अपनी क्षीण-सी मुस्कान के साथ उसमें अपना योग दिया। "बोलो मित्र ! क्या चाहते हो?"–महाराज ने सीधा-सा प्रश्न कर दिया।

"निवेदन यह है, महाराज ! कि देवद्वीप में हम देवों का नृत्योत्सव होने वाला है। दो माह तक चलने वाले इस समारोह में हम देवगण नृत्य-संगीत में निमग्न रहेंगे। इस अवधि में मैं उपस्थिति दे नहीं सकूँगा, महाराज ! यही निवेदन करने को आया हूँ कि कृपया इस दौरान मुझे स्मरण करने का कष्ट न करें।" करबद्ध रूप में वेताल ने प्रार्थना-मुद्रा में निवेदन कर दिया।

महाराज किंचित् गंभीर हो गये। कुछ ही क्षणों के मौन के उपरान्त बोले–"मित्रवर ! तुमने हमारे साथ आदर्श-मैत्री का निर्वाह किया है। प्रत्येक कठिन कार्य में हमें तुम्हारा अद्‌भुत और असाधारण सहकार मिला और वही हमारी सफलताओ का, उपलब्धियों का आधार बना। हमें गर्व है ऐसी मित्रता पर। तुम-जैसा मित्र पाकर हम कृतार्थ हो गये, अग्निवेताल ! हमारे हृदय-पटल पर तुम्हारी छवि अमिट रूप में अंकित रहेगी।" महाराज की वाणी वेताल को संकुचित बनाये जा रही थी। यही सज्जनों की पहचान है कि वे अपनी उचित प्रशंसा सुनकर भी गर्वित नहीं होते, कच्छपवत् संकोच धारण करते हैं। दुर्जन ही अपनी झूठी-सच्ची प्रशंसा से प्रफुल्लित होते हैं, उनकी छाती फूल जाती है और वही ग्रीवा उठाकर गर्व की अभिव्यक्ति करने लगता है।

वेताल ने तब अतिशय विनय के साथ कहा–"श्रीमानेश्वर ! आप जिसे सहकार कहते हैं–वास्तव में तो वह मेरी सेवा थी, मैं तो आपके दास के रूप में वचनबद्ध हूँ. आपकी आज्ञाओं को पूर्ण करने के लिए। यह तो आपकी महानता है, महाराज ! कि आप मेरे साथ मित्रवत् व्यवहार करते हैं। मैं आभारी हूँ।"

"मित्र ! हम उसी वचनबद्धता की चर्चा करना चाहते हैं। आज उस प्रतिबंध का अन्तिम दिवस समझो। अब हम तुम्हें उस वचनबद्धता से मुक्त करते हैं। तुम्हारा हमारा संबंध अब शुद्ध मैत्री भाव का रहेगा। पूर्व से भी अधिक प्रगाढ़, अधिक सक्रिय सम्बन्ध रहेगा। जब भी तुम्हें अवकाश मिले, आ जाया करो। तुमसे मिलकर हमें सदा प्रसन्नता ही रहेगी। अब स्वामी-दास-जैसा कोई सम्बन्ध न होगा। हम हमारे किसी आदेश-पूर्ति के लिए तुम्हारा स्मरण न करेंगे।" महाराज ने प्रसन्न मुस्कान के साथ मौन धारण कर लिया। वे कुछ गंभीर हो गये।

"आप कितने महाशय हैं, श्रीमानेश्वर ! आपकी इस उदारता के लिए मैं आभारी हूँ ⋯ किन्तु क्या सुख-दुःख के अवसरों पर भी मित्र को विस्मृत रखेंगे? उनमें सम्मिलित रहने का तो मेरा अधिकार रहना ही चाहिए।"

अग्निवेताल के इस कथन के उत्तर में महाराज ने एक क्षीण-सी मुस्कान के साथ कहा–"हमारे जीवन में तो तुम्हारा स्थान सदा अविस्मरणीय रहेगा। हम चाहेंगे कि हमारा पुनः-पुनः मिलन होता रहे। सुखद प्रसंगों की प्रतीक्षा तो बनी ही रहती है न !"

"तो अब मैं विदा चाहता हूँ, श्रीमानेश्वर !" वेताल ने नमन किया और महाराज ने हाथ उठाकर अनुमति प्रदान कर दी। क्षण मात्र में ही वह लुप्त हो गया।

इसी समय विश्राम-कक्ष के वातायन से एक बाण आया और महाराज के चरणों के समीप गिरा। वे तो सहसा आश्चर्यचकित रह गये। उनका आश्चर्य तब और भी बढ़ गया जब उनकी दृष्टि बाण में लगे एक ताड़-पत्र पर पड़ी। बिना समय व्यर्थ किये ही महाराज ने ताड़-पत्र को बाण से निकाला और पढ़ने लगे–

"राजराजेन्द्र महाराज विक्रमादित्य के चरणों में इस बाण के रूप में चतुर चोर सर्वहर का नमन ! अपनी स्पष्टवादिता के लिए क्षमा करें, किन्तु मैं आपके इस गर्व को मिथ्या मानता हूँ कि आप जन-जन के दुःख-विनाशक हैं, सर्वसुखकारी हैं। आपने एक अबला का समग्र जीवन ही दुःखों से परिपूर्ण कर दिया है। उसके सर्वसुखहारी हो गये हैं, राजन् आप ! स्मरण कीजिये, स्वयं अपने कृत्य पर विचार कीजिए। आपको गर्व इस बात का भी है कि अवन्ती में कहीं चोरी नहीं हो सकती। अब मैं शिरोमणि चोर अवन्ती में पहुँच गया हूँ। बड़ी-बड़ी चोरियों से इस गर्व को भी मिथ्या कर दूँगा। धनाढ्यों के घरों में अपना चमत्कार दिखाऊँगा। आपके शासन में कौशल हो तो मुझे बन्दी बनाएँ–खुली चुनौती है। जो भी मेरे मार्ग में बाधक बनेगा, मैं उसको तहस-नहस कर दूँगा। एक दिन वह भी आएगा जब आपका सिंहासन भी हस्तगत कर लूँगा। जन के धन-सम्पत्ति की रक्षा के लिए आप जो प्रबंध कर सकें कर लें–मैं अपना कौशल दिखा ही दूँगा। कल से मैं कार्यारंभ करूँगा।

आपका अपना
सर्वहर"

संदेश तो उत्तेजक था, किन्तु महाराज के चित्त में सतर्कता का संचार होने लगा। सुधीर शासक इस नवीन संकट के कारण और निवारण की दिशा में चिन्तन करने लगे–'इस संदेश का प्रेषक जितना सुसंस्कृत, वीर और साहसी प्रतीत होता है–उससे अनुमान होता है कि वह अवश्य ही कोई कुलीन है, असाधारण है। उसकी चुनौती भी यों ही हवा में उड़ायी नहीं जा सकती। अवश्य ही उसका संदेश विचारणीय है। किन्तु हमें नहीं ज्ञात, हमारे किस कार्य से किस स्त्री के लिए दुःखद परिस्थितियाँ निर्मित हो गयीं। सर्वहर ने हमारी सर्वसुखकारी प्रवृत्ति को चुनौती दी है–हमारे लिए यह आवेश का नहीं, गवेषणा का आधार होना चाहिए। हमें खोज करनी होगी उस दुःखिता नारी की। किन्तु ··· किन्तु ··· उसने अवन्ती का राज्यासन हथियाने की भी बात कही है ··· क्या यह उसने किसी झोंक में ही ऐसा लिख दिया ··· या कि वह वास्तव में ··· । अभी तो हमें जनता के धन-रक्षण का प्रयत्न करना है ··· यही प्राथमिक दायित्व हो गया है।'

नगर-रक्षक सिंहदत्त को बुलाकर महाराज ने उससे पूछा–"गत एक-दो दिन में किसी परदेसी अपराधी, चोर का नगर में प्रवेश हुआ है? सर्वहर नाम का चोर कहीं से आया है?"

"इस नाम का कोई व्यक्ति अवन्ती में नहीं आया, श्रीमान् !" नगर-रक्षक ने निवेदन किया–"कोई अपरिचित ··· आगंतुक भी दृष्टिगत नहीं हुआ।" कुछ सोचते हुए उसने पुनः कथन किया–"हाँ ··· हर सिद्धि माँ के मंदिर में कोई परदेसी ब्राह्मण युवक अवश्य आया था। उसने तीन दिन तक देवी माँ की आराधना भी की थी। पुजारी ने उसका नाम तो सर्वेश्वर बताया था।"

"हूँ ····· 'सर्वेश्वर' ··· और ··· और ····· 'सर्वहर'।"–महाराज ने कहा। सोचने लगे–'ये दोनों नाम किसी एक व्यक्ति के हो सकते हैं। संभवतः आवश्यकता के अनुसार उसने किसी स्थल और प्रसंग में अपने नाम में कुछ हेर-फेर कर लिया हो।' प्रकट रूप में महाराज ने नगर-रक्षक को सतर्क किया–"सर्वहर कुख्यात चोर है। वह नगरवासियों को त्रस्त करेगा। राज्य का दायित्व जन-धन की रक्षा करना है। सारी व्यवस्था को सुदृढ़ कर दो। सर्वहर की कोई चेष्टा सफल न हो पाए। वह कल से चोरी आरंभ करेगा और नगर के धनाढ्यों के यहाँ चोरी करेगा। सारी शक्ति लगा दो। रात्रिभर कठोर पहरा रहे। नगर-श्रेष्ठी को सतर्क कर दो और उनके भवन पर विशेष सुरक्षा-व्यवस्था कर दो।"

"जैसी आज्ञा, प्रभो ! ऐसा ही होगा। राज्य के समक्ष इस सर्वहर की शक्ति ही क्या होगी। हम उसे पकड़कर श्रीमान् के समक्ष उपस्थित कर देंगे।"–सिंहदत्त ने नमन किया और त्वरा के साथ चल पड़ा। सिंहदत्त ने तत्काल सुरक्षा-योजना गठित की। आरक्षियों को सतर्क रहने की चेतावनी दी और आगामी संध्या के पूर्व सारे नगर में सर्वत्र आरक्षियों का जाल ही बिछा दिया गया।

सर्वहर तो क्या ···· कोई पक्षी भी विचरण करे और राज्य-कर्मचारियो को ज्ञात न हो—यह संभव न था। यह सारी सूचना काली ने सर्वहर को दे दी। उसने यह भी बताया—"सर्वहर ! नगर-श्रेष्ठी के भवन पर विशेष सुरक्षा-व्यवस्था की गयी है। तुम आज उस भवन के समीप भी न जाना।"

सर्वहर ने सारी बात सुनी और सोचा—'शासन आतंकित तो हो उठा है। नरेश को आशंका है कि मैं अपना प्रथम प्रहार नगर-श्रेष्ठी पर ही करूँगा। मैं भी उनकी आशंका को सत्य सिद्ध कर दूँगा। सुरक्षा की सारी व्यवस्था को विफल और ध्वस्त कर दूँगा। मेरे लिए भयभीत होने का कोई कारण नहीं।' तब नगर के विषय में अन्य सूचनाएँ विस्तार के साथ उसने काली से प्राप्त कीं। काली का परामर्श था कि यही उत्तम रहेगा कि दो-तीन दिन सर्वहर शान्त बैठा रहे। अभी कुछ भी संभव न होगा। जब कोई घटना न होगी तो सुरक्षा-व्यवस्था कुछ दिनों में स्वयं ही शिथिल भी हो जायेगी। किन्तु सर्वहर का निश्चय तो अन्य ही प्रकार का था। उसने तो आज ही अपना करतब दिखाने की ठान रखी थी और वह भी नगर-श्रेष्ठी के घर में, जहाँ सर्वाधिक सुरक्षा-व्यवस्था की गयी थी। वह उठा तो इसी संकल्प-दृढ़ता के साथ और समय-यापन के साथ-साथ उसका संकल्प दृढ़तर ही होता चला गया। प्रकट रूप में उसने काली से यही कहा—"तुम्हारा परामर्श भी उचित ही है, देवी ! मैं विचार करूँगा। अभी तो संध्या हुई ही है। पर्याप्त समय हमारे पास है।" सर्वहर मंथर-मंथर गति से अपने कक्ष में चला गया।

काली का भवन चाहे छोटा ही सही, वह भी चारों ओर एक उपवन से घिरा था। वह भवन था भी एकान्त में। सर्वथा शान्ति ··· सुनिश्चित सुरक्षा ··· कोई भय—कोई आशंका नहीं। प्रहरी भी वड़ा ही विश्वसनीय और साहसी था। उद्विग्न मन ने सर्वहर को कक्ष में विश्राम करने नहीं दिया। वह उद्यान में टहलने लगा। मस्तक झुका हुआ, पलकें अचंचल, दृष्टि भूमि पर और चरणों में धीमी चाल। मन-ही-मन सर्वहर ने नगर-श्रेष्ठी के यहाँ चोरी की अपनी योजना को सुदृढ़ कर लिया। पुनः-पुनः सोचकर उस योजना में कोई कमी, कोई दुर्वलता तो नहीं—उसने परीक्षा की। प्रत्येक पुनरावृत्ति में कुछ संशोधन हो जाता और योजना प्रवलतर हो जाती। अर्द्ध-रात्रि से कुछ पूर्व ही वह नगर में पहुँच गया। छोटी-छोटी सूनी गलियाँ पार करता हुआ वह आगे वढ़ने लगा। सारे प्रमुख मार्गों पर कठोर प्रहरा था। आरक्षीगण सतर्क मुद्रा में दौड-भाग कर रहे थे। वीच-वीच में दूर-दूर से—"सव कुशल है ··· सव कुशल है" की ध्वनियाँ आ रही थीं।

इस समय अश्व की टापों की ध्वनि से सर्वहर चौंका। कोई अश्वारोही सुरक्षा अधिकारी समीप के मुख्य मार्ग पर आगे वढ़ गया। सर्वहर गली में एक भित्ति से सटकर दुवक गया। संकट दूर चला गया तो वह उठा, चीते की-सी चपलता के साथ उसने मुख्य मार्ग को दौड़कर पार कर लिया और सामने की गली में प्रविष्ट हो पुनः सुरक्षित हो गया। अनेक प्रहरियो को दम देता हुआ, अनेक आरक्षियो को

विफल करता हुआ सर्वहर नगर-श्रेष्ठी के भवन तक पहुँचने में सफल हो ही गया। यहाँ जो सुरक्षा-व्यवस्था की विपुलता देखी तो चकित रह गया। इतने आरक्षी ! बीसियों तो मुख्य द्वार पर ही थे। सारे परिसर को प्रहरियों ने घेर रखा था। चोर तो चोर कोई मच्छर भी प्रवेश न कर सके—इस आश्वस्तता के साथ अनेक अश्वारूढ़ सुरक्षाधिकारी भवन के चारों ओर पल-पल की खबर रखते हुए चक्कर लगा रहे थे। सर्वहर के लिये चारों ओर कठिनाई-ही-कठिनाई थी। उसका द्रुत मस्तिष्क नव-नवीन युक्तियाँ खोज निकालने में अद्‌भुत रूप से क्षमताशील था। उसने तत्काल निश्चय किया और भवन के पृष्ठ भाग में पहुँच गया। भवन से दूर—बहुत दूर रहते हुए ही उसने यह चक्कर लगाया—प्रहरियों से दूर ··· सर्वथा सुरक्षित। पृष्ठ भाग में दो-तीन ही प्रहरी थे। परिसर की प्राचीर भी अधिक उच्च न थी। प्राचीर के भीतर एक सघन वृक्ष था। उसकी पुष्ट शाखाएँ प्राचीर के आर-पार बाहर निकल रही थीं और अधिक उच्च भी न थीं। सर्वहर उछलकर प्राचीर पर चढ़ गया और एक शाखा को माध्यम बनाकर वृक्ष पर आ गया। बिना कोई ध्वनि किये, सतर्कतापूर्वक वृक्ष के तने पर होता हुआ वह परिसर के भीतर भूतल पर उतर आया। सुरक्षा-व्यवस्था को अपनी विफलता की भनक भी न पड़ी। रुकते-लपकते वह भवन के द्वार के समीप पहुँच गया। दूर से ही उसने देखा—दो प्रहरी हाथों में नग्न तलवारें लिए द्वार के बाहर एक-दूसरे से विपरीत दिशा बनाए हुए इधर से उधर और उधर से इधर की ओर गतिशील थे। द्वार के सम्मुख कुछ ही दूरी पर एक लताकुंज था। सर्वहर कुंज के पीछे तक पहुँच गया और दुबक रहा।

जब प्रहरी चलते-चलते एक-दूसरे की ओर पीठ किये अपने-अपने छोर पर पहुँचे तो मध्य का भाग रिक्त रह गया। चपल सर्वहर इसी समय द्वार में प्रविष्ट हो गया। भवन के भीतर सर्वत्र शान्ति थी। सुरक्षा-व्यवस्था से आश्वस्त सभी सुखद निद्रा के अधीन थे। कोषागार खोजने में भी उसे कोई विशेष कठिनाई न हुई। कोषागार के कपाट बड़े भारी और सुदृढ़ थे। मोटा-सा ताला भी था। इस द्वार पर ही कोषागार का रक्षक एक खटिया पर सोया था। उसकी भीमकाय बलिष्ठ देह से ही चोरों का आतंकित हो जाना स्वाभाविक था। सर्वहर उसे देखकर सावधान हो गया। उसने रक्षक की निद्रा की परीक्षा कर लेना चाहा। उसने जल-पात्र का ढक्कन उठाया और इस दालान में एक ओर छिपकर उसने उसे ऊँचाई से गिरा दिया। खनखनाहट हुई और सर्वहर ने पाया कि निद्रित रक्षक ने कुछ व्यवधान की झुँझलाहट के साथ करवट बदल ली। इसी समय उसे खटिया पर अन्य खन-खन की ध्वनि होती अनुभव हुई। रक्षक की साँस बजने लगी। आश्वस्त होकर सर्वहर खटिया के समीप पहुँचा और तनिक-सा संमूर्छना चूर्ण उसकी नासिका पर छिड़क दिया। कुछ ही क्षणों मे वह अचेत हो गया। उसके तकिये के नीचे टटोला तो चावियों का गुच्छा था। सर्वहर को अनुमान हुआ—यह द्वार कदाचित् कोषागार का बाहरी द्वार है, जिसकी चाबी इसमें होगी। भीतर के द्वारों की चाबियाँ श्रेष्ठी के पास रहती होगी। उसने प्रयत्न किया, द्वार खुल गया। भीतर तो रत्नों की जगमग

का प्रकाश था। शीघ्रता के साथ सर्वहर ने भीतर से यह द्वार बन्द कर लिया। भीतर तीन कक्ष थे। तीनों पर ताले थे। अपने चातुर्य से उसने बन्द तालों मे ही द्वारों के कपाटों को खिसकाकर मार्ग बना लिया।

नगर-श्रेष्ठी के कोषागार में तो अपार वैभव था। एक बड़ी-सी मंजूषा मे उसने अतिशय मूल्यवान रत्न, हीरक, मुक्तादि भर लिये, स्वर्णाभूषण और मुद्राओं से भरकर मंजूषा को बन्द किया और बाहर आकर परिस्थिति का आकलन किया। अब भी निविड़ शान्ति थी। रक्षक भी अचेत था। सब-कुछ स्वानुकूल पाकर सर्वहर मंजूषा बाहर ले आया। भीतरी कक्षों के द्वार यथावत् कर दिये गये। बाहरी द्वार पर भी ताला लगा दिया। कुंजियाँ रक्षक के पास छोड़कर मंजूषा कंधे पर उठाकर सफलकाम देवकुमार भवन के द्वार तक आ गया और तब अदृश्यकारिणी विद्या के प्रभाव से स्वयं को अदृश्य कर आत्म-विश्वासपूर्वक भवन से बाहर आ गया। निर्भीकतापूर्वक वह आगे बढ़कर उद्यान के मुख्य द्वार तक आया। कुछ दूरी से उसने उच्च्य स्वर में प्रश्नात्मक वाणी में कहा–"सब कुशल है?"

भीतर और बाहर के प्रहरियों ने एक साथ उत्तर दिया–"सब कुशल है।"

सर्वहर के भीतर एक क्षीण-से हास का उद्रेक हुआ और वह आगे बढ़ा। अस्फुट स्वर में वह बड़बड़ाया–"अब तो सब कुशल ही कुशल है।" साहसपूर्वक वह मुख्य द्वार से बाहर निकल गया। उसको कोई न देख सकता था, न ही कोई देख पाया। काली वेश्या के भवन पर आकर वह शिरीष तरु के समीप आया। गड्ढा खोदकर उसने मंजूषा को भूमिगत किया और अपने कक्ष में आकर सो गया। भरपेट भोजन और सिद्ध आयोजन के पश्चात् आगत निद्रा आम्र-फल से भी अधिक मधुर और सिंधु से भी अधिक गहन होती है। भोर तक वह एक ही निद्रा में सोता रहा।

प्रातः काली ने बताया–"रात्रिभर सारे नगर में चोर का आंतक छाया रहा। प्रजा जन अपने-अपने घरों में बन्द जागते रहे और मार्गों का रूप तो सरिताओं का-सा हो गया। जिनमें प्रहरियों और आरक्षियों का जल सतत रूप से प्रवाहित होता रहा। अच्छा हुआ कि कल रात्रि में तुम बाहर निकले नहीं, अन्यथा कुछ तो होने ही वाला था।"

परिहास तो मन में उठा, किन्तु सायास उसको दमित करते हुए सर्वहर ने अनुमोदन किया–"तुम कदाचित् उचित ही कहती हो। मैंने तुम्हारे संध्या के परामर्श को अपनाया तो इस भोर में मैं सकुशल भी हूँ। तुम्हारा संरक्षण तो मेरे लिए वरदान ही है।" उसके अधरों पर एक मुस्कान तैर आयी। सर्वहर ने उसमें व्यंग्य का रंग न आने देने की सावधानी बरती। कुछ पलों के विरामोपरान्त वह पुनः बोल उठा–"काली ! कल मैं निरुद्यम रह गया तो देह कसमसा रही है। आज मैं रात्रि को अवश्य निकलूँगा और कुछ व्यवसाय करके ही लौटूँगा।"

"तुम इसे व्यवसाय कहते हो? आश्चर्य है !" काली ने कहा।

"आश्चर्य क्यों?" सर्वहर ने तर्कपूर्ण उत्तर दिया–"व्यवसाय क्यों न होगा यह। हाँ····? इसमें चातुर्य और साहस की अपेक्षा रहती है, परिश्रम लगता ही है। लाभ-हानि का पक्ष प्रबल बना ही रहता है और··· और जोखिम इसमें भी है। व्यवसाय में और क्या होता है, जो इसमें नहीं? किन्तु··· हाँ··· आज तुम मुझे रोकोगी नहीं। आज तो मैं राजा के यहाँ चोरी करूँगा।"

"तुम ठीक तो हो? तुम्हारा मस्तिष्क यथास्थान प्रतीत नहीं होता है, सर्वहर ! क्यों 'आ बैल मुझे मार' करने पर तुले हो? अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज महाप्रतापी शासक हैं। अन्यथा क्या इस देश में चौर्यकर्म यों समाप्त हो गया होता। उनके दंड-विधान के आगे चोर थरथर काँपते हैं। खर्परक चोर की दुर्दशा के विषय में तुम नहीं जानते हो··· इसी कारण तुम ऐसा सोचने का भी दुस्साहस कर रहे हो। वह बड़ा शक्तिशाली चोर था··· देवों के लिए भी वह अजेय हो गया था। खर्परक हन्ता के रूप में हमारे महाराज ने अपार कीर्ति अर्जित की है, सर्वहर ! उसे देव-दनुजों के लिए अपराजेय चोर को मंत्र-सिद्धि भी प्राप्त थी। तुम तो उसके पैर के नख के समान भी नहीं। महाराज ने खर्परक को मृत्यु के घाट उतारकर जनता को निश्चिन्तता का वरदान दिया है, सर्वहर ! उसकी दुर्गति से आतंकित हो देशभर के चोरों ने यह कर्म ही त्याग दिया। उसके पश्चात् कहीं कोई चोरी नहीं होती। पथ में कोई मुद्रा गिराकर देख लो–कोई उसे भी नहीं उठाता··· चोरी तो बहुत दूर की बात है। और··· तुम···· तुम उन्हीं पराक्रमी नरेश के यहाँ चोरी करने की सोच रहे हो। जिसका सर्वनाश का पल आ गया हो··· वही चोरी के निश्चय के साथ राजभवन की ओर मुख करेगा। मेरी बात ध्यान से सुनो–चोरी तुम्हें करनी ही है तो तनिक रुक जाओ कुछ दिन और, किसी अन्य घर में करना, राजभवन में नहीं।"

इस दीर्घ वार्त्ता से सर्वहर तो उकता गया था। भीतर-ही-भीतर कसमसा रहा था–"तुम वचनबद्ध हो, काली ! मेरी सहायता करने के लिये।"–सर्वहर ने शान्त मुद्रा में कहा–"तुम यह विलोम व्यवहार क्यों करती हो ! मेरा साहस बढ़ाना तुम्हारा काम है, हतोत्साह करना नहीं। अब तुम ध्यान से सुनो, देवी ! मैं चोरी करूँगा··· अवश्य करूँगा। राजभवन में आज ही चोरी करूँगा और तुम्हारे इन पराक्रमी महाराज को चौंका दूँगा। उनके इस मिथ्या गर्व को गलित करना भी मेरा एक संकल्प है, देवी ! कि उनके देश में चोरी की कुप्रवृत्ति सदा-सदा के लिए निर्मूल हो गयी। उन्होंने ऐसे-वैसे ही किसी खर्परक से सामना किया होगा–मुझ-जैसे पारंगत चौर्य कलाकार से नहीं। वैसे भी अब वो समय दूर नहीं जब हम मालवाधिपति होंगे। अवन्ती-नरेश के रूप में जनता हमारी ही जय-जयकार करेगी, देवी !" सर्वहर के सुन्दर, तेजस्वी मुख पर आत्म-गौरव का रंग विकीर्ण हो गया।

"हाँ··· हाँ··· मन के मोदक–और फीके क्यों?" काली ने व्यंग्य को गहराते हुए कहा–"कहाँ अवन्ती का राजपद और कहाँ तुम एक नगण्य–तुच्छ, बौने-से

चोर। अर्द्ध-रात्रि के सपने साकार नहीं होते, सर्वहर ! क्यों अपने मन को यों छलते हो ··· हॉ ?"

"यह अर्द्ध-रात्रि का सपना नहीं, मेरी खुली पलकों में पला सपना है, देवी ! मेरा उद्यम एक दिन उसे अवश्य आकार प्रदान करके रहेगा।" सर्वहर ने कहा और कुछ क्षणों के लिए अन्तर्लीन-सा हो गया। तुरन्त चिन्तन-सागर से उबरते हुए वह बोल उठा—"छोड़ो, काली ! इस विनोद के प्रसंग को यहीं समाप्त करना आवश्यक है। हमें वर्तमान में जीना है, उसी के लिए उद्यम करना है। इसी से भवितव्य को जो आकार ग्रहण करना हो ··· करता रहेगा। आज तो तुम्हें दिनभर की गतिविधियों का नगर में निरीक्षण करना है। संध्या को हमें अवगत कर देना। उसी के अनुरूप हम अपनी योजना तैयार करेंगे।"

संध्या-समय काली ने जो समाचार दिये—सुनकर सर्वहर सतर्क हो गया। कठिनाइयों से विचलित न होने वाला ही धीरज का साथ पाकर सफलता के गंतव्य को प्राप्य बना लेता है। इस मर्म को जानने और मानने वाला सर्वहर नगर की दुर्गम स्थितियों की जानकारी पाकर हततेज न हुआ। उस संध्या को वह अँधियारा होते-होते ही राजभवन में अदृश्य रूप में प्रविष्ट हो गया। सारे भवन में उसने भ्रमण किया। महाराज के विश्राम-कक्ष में वह एक ओर खड़ा हो गया। वह सभी को देख पा रहा था, किन्तु कोई भी उसको नहीं। उसने पिता महाराज को अशब्द प्रणाम किया। राजरानी कमलावती और रानी लीलावती भी वहीं थीं। मन-ही-मन उन्हें भी उसने प्रणाम किया और उनके पारस्परिक संभाषण को ध्यानपूर्वक सुनने लगा।

महाराज को गत रात्रि में नगर-श्रेष्ठी के यहाँ चोरी होने की पूरी-पूरी आशंका रही थी। इसी कारण उसके भवन पर विशेष सुरक्षा-व्यवस्था कर दी गयी थी। स्वयं नगर-श्रेष्ठी को भी सतर्क कर दिया गया था। सिंहदत्त नगर-रक्षक को इसका प्रभार सौंपा था। आज प्रातः तो उसने सूचना दी कि नगर-श्रेष्ठी के भवन में कोई घटना नहीं हुई। नगर में अन्यत्र भी चोरी नहीं हुई। महाराज ने बताया कि उन्होंने स्वयं भी उन आरक्षी अधिकारियों से चर्चा की जो नगर-श्रेष्ठी के भवन पर नियुक्त किये गये थे। उन्होंने भी यही सूचना दी कि कोई भी व्यक्ति न आया था। सारी रात्रि सकुशल ही व्यतीत हो गयी। महाराज ने संतोष की साँस ली। वे सर्वहर के संदेश पर विचार कर ही रहे थे कि नगर-श्रेष्ठी हॉफता-कॉपता-सा आ पहुँचा। पता चला कि उसके यहाँ रात्रि में बड़ी भारी चोरी हो गयी। उसके कोषागार के सारे द्वार, ताले यथावत् रहे और भीतर से सारे मूल्यवान हीरक, रत्न, स्वर्ण और मुद्राएँ चोरी चली गयीं। आश्चर्य की बात है। ऐसी चौर्यकला अपूर्व और अद्वितीय है। महाराज ने कहा—"हमने स्वयं कभी ऐसी चोरी की घटना नहीं सुनी। यह सर्वहर तो बड़ा कुशल और निष्णात चोर है। उसे तो यह कला सिद्ध हो गयी प्रतीत होती है। उसके संदेश में हम अतिशयोक्ति की आशंका कर रहे थे। सोचते थे अपने विषय में उसने स्वयं ही कुछ बढ़ा-चढ़ाकर लिख दिया है।

किन्तु ··· नही ··· वह है ही वैसा ही। उसे पकड़ पाना साधारण बात नहीं है। डाकू तो सतर्क करके लूटते पाये गये हैं, किन्तु ठग और चोर तो चुपचाप अपना काम कर जाते हैं। चोरी हो जाने के पश्चात् ही ज्ञात हो पाता है। और इस सर्वहर की निर्भीकता तथा साहस तो देखिये—चुनौती देकर चोरी करता है। सारी सुरक्षा-व्यवस्था धरी रह गयी और वह अपना कार्य कर ही गया।"

इसी समय राजरानी ने भी आशंका व्यक्त की—"किसी दिन यह सर्वहर राजभवन में भी घुस आए तो आश्चर्य नहीं, स्वामी ! उसका साहस बड़ा खुला हुआ है। वह तो सर्वथा निश्शंक प्रतीत होता है।"

लीलावती रानी ने भी समर्थन की शैली में कहा—"ऐसे दुस्साहसी अपराधियों का कोई निश्चय नहीं। उन्हें तो अपने नये-नये कीर्तिमान स्थापना की धुन-सी सवार रहती है। राजभवन में चोरी को भी वह अपने लिये गौरव का प्रसंग मान सकता है।"

महाराज को ऐसा आभास होने लगा कि रानियाँ भी कुछ आतंकित और आशंकित हो उठी हैं। उन्हें आश्वस्त करते हुए महाराज ने कहा—"हमारे लिये चिन्ता की बात नहीं है। चूहा चूहों के बिलों में ही हाथ मार सकता है, बिलरिया के घर में नहीं। परम साहसी भी अपने हाथ-पैर बचाकर ही कार्य करता है। हमारे लिए भयभीत होने का कोई कारण ही नहीं है। हमें तो चिन्ता है तो नागरिकों की रक्षा की चिन्ता है। उस मोर्चे पर हम असफल नहीं होना चाहेंगे।"

"फिर भी, प्राणेश्वर ! राजभवन की सुरक्षा-व्यवस्था में भी बढ़ोतरी करवा देना उपयुक्त ही रहेगा।"

राजरानी के सुझाव को अस्वीकार न करते हुए अवन्ती-नरेश ने कहा—"आपका परामर्श भी अनुपयुक्त नहीं है। ऐसा करा लेंगे ··· किन्तु हम सोचते हैं संकट से आत्म-रक्षा के प्रयत्न ही पर्याप्त नहीं होते। आवश्यकता संकट के कारणों को निर्मूल करने की है। वही स्थायी समाधान दे सकता है। सर्वहर को पकड़ना हमारा प्राथमिक लक्ष्य है। आज हम स्वयं नगर में भ्रमण करेंगे और उसे रँगे हाथों ही पकड़ लेंगे।"

"आपके इतने-इतने योग्य, अनुभवी और चतुर अधिकारी लगे हुए तो हैं इस कार्य पर। फिर भला आपको स्वयं प्रवृत्त होने की क्या आवश्यकता है?" —राजरानी कमलावती ने कहा।

उनका समाधान करते हुए महाराज ने उत्तर दिया—"प्रिये ! हमारे प्रवृत्त रहने से, हमारी सक्रियता से राज्य-कर्मचारियों और अधिकारियों की क्षमता में भी अभिवृद्धि होती है, वे अधिक सक्रिय और सजग हो जाएँगे। उन्हें एक विशेष बल मिलेगा—हमारी उपस्थिति से।"—यह कहते हुए महाराज ने तत्परता दिखायी। वे उठ खडे हुए। अपने कक्ष में उन्हें किसी बाह्य तत्त्व की क्षीण-सी आशंका

घुमाकर उन्होंने चारों ओर देखा और आश्वस्त होकर उन्होंने अपने बहुमूल्य आभूषण उतारकर त्रिपदी स्थित स्वर्ण-थाल में रख दिये। राजमुकुट पहले से वहीं रखा था। महाराज अपनी रानियों से विदा होकर कक्ष से बाहर चले गये। दोनों रानियों ने भी अपने अलंकार उतारकर इसी थाल में रखे और इसी कक्ष में अपनी-अपनी शय्याओं पर लेट गयीं। कुछ समय तक वे परस्पर बतियाती रहीं। इस कक्ष की परिचारिका ने थाल के सारे वस्त्रालंकार एक मंजूषा में रख दिये और मंजूषा को चुपचाप राजरानी की शय्या-तले रख दिया। कक्ष का प्रकाश मंद कर परिचारिका चली गयी।

कुछ समय तक रानियाँ भी सर्वहर की चर्चा करती रहीं। सर्वहर स्वयं रस लेकर सुनता रहा। यह सर्वहर साधारण चोर तो हो नहीं सकता। अवश्य ही उसका संबंध किसी उच्च कुल से होगा। संदेश में प्रयुक्त भाषा से भी ऐसा ही आभास होता है। चोरी उसकी आजीविका का स्रोत भी न होगा ··· इस माध्यम से वह कदाचित् किसी अन्य कार्यसिद्धि का ही प्रयत्न कर रहा हो। हो तो सकता है ऐसा। किन्तु यह ··· अबला को धोखा देने का क्या प्रसंग है? महाराज तो ऐसा कर नहीं सकते! कौन स्त्री ··· कैसा छल? कुछ भी तो आभास नहीं होता। लिखा है जीवनभर की यातना भोगने को उसे एकाकी छोड़ दिया गया। महाराज के जीवन में ऐसा कोई प्रसंग हो और हमें ज्ञात न हो ··· यह कैसे हो सकता है। स्वामी तो हमसे कोई रहस्य रखते भी नहीं। लीलावती रानी ने कहा—"किन्तु यह सर्वहर भी विचित्र ही चोर निकला। नगर-श्रेष्ठी के यहाँ की चोरी का वृत्तान्त तो आश्चर्य में डाल देता है। कौन जाने मायावी चोर ही हो? मुझे तो बड़ा डर लग रहा है।"

"अब हमें डरने की क्या आवश्यकता। राजभवन में सुरक्षा न होगी, तो अन्यत्र ही रहेगी क्या? हमारे कक्ष के बाहर पृथक् से कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था है। कोई कितना ही चतुर क्यों न हो, रानी ! यहाँ तक पहुँच नहीं सकता।" राजरानी ने आश्वासनदायी स्वर में कहा।

किन्तु रानी लीलावती का नारी-सुलभ भय दूर न हुआ। वोलीं—"कौन जाने कोई पहले से ही घुसा हुआ हो ··· ।"

"अब तुम यह भी कह दोगी कि कोई हमारे ही कक्ष में घुस आया हो ···।" राजरानी ने विनोद करते हुए कहा और किंचित् हासपूर्वक पुनः आश्वस्त किया—"अब तुम सो जाओ, रानी जी ! ··· कहीं भी ··· कोई भी ऐसा-वैसा नहीं है। निश्चिन्त होकर सोने की चेष्टा करो। मुझे भी नींद आने लगी है।" राजरानी कमलावती ने जमुहाई ली और करवट वदल ली।

इस शोभित कक्ष में सर्वथा मन्द प्रकाश और अटल शान्ति थी। भित्ति के समीप भूतल पर वैठा अदृश्य देवकुमार अव भी मौन वना रहा। आज उसे बहुत सारी वातों का ज्ञान हुआ। व्यक्ति की यह जिज्ञासा प्रायः अतृप्त रह जाती है कि उसकी अनुपस्थिति में लोग उसके विपय में क्या चर्चा करते हैं ··· क्या धारणा

व्यक्त करते हैं। उसके पास जो बातें पहुँचती भी हैं तो वे पूर्णतः विश्वसनीय नहीं होतीं। माध्यम द्वारा उनमें विकार ले आया गया हो—यह आशंका रहती ही है, किन्तु आज तो सर्वहर ने सारी चर्चा स्वयं सुनी। उसे प्रतीत हुआ कि उसकी माता सुकोमला इस राजकुल के लिए अपरिचिता-सी ही हैं। वस्तु-स्थिति का पूर्वाभास करके ही किसी निश्चय तक पहुँचना भ्रान्त भी हो सकता है। अब रानियाँ गहन निद्रा के अधीन हो गयीं। सर्वहर उठा और अतिशय सावधानी के साथ उसने मंजूषा को शय्या से बाहर किया। तनिक-सी ध्वनि भी संकट का कारण हो सकती थी। कक्ष का आलोक तो बाधा बन ही नहीं सकता था। सर्वहर के पास की प्रत्येक वस्तु ही स्वयं उसके साथ अदृश्य हो जाती थी। उसने मंजूषा को काँधे पर उठाया और सावधानीपूर्वक कक्ष के बाहर आ गया। प्रहरी सतर्क मुद्रा में चौकसी करते रह गये। किसी व्यक्ति या वस्तु से उसका स्पर्श न हो जाय सर्वहर इस सावधानी से चलता हुआ क्रमशः राजभवन का परिसर भी पार कर गया। राजपथ पर वह निश्शंक रूप में बढ़ने लगा। वास्तव में नगर में कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था थी। अश्वारोही अधिकारीगण भी घूम-घूमकर निरीक्षण कर रहे थे। सर्वहर को प्रहरियों की बाधा से भी मुक्ति मिली हुई थी। वह कभी दौड़ जाता तो कभी गति को धीमी कर लेता और आरक्षियों की भीड़ से भी निकल जाता। अर्द्ध-रात्रि के कुछ पश्चात् ही वह अपने आवास पर पहुँच गया। भवन में पहुँचकर उसने स्वयं को साकार कर लिया। तब तो अलंकार-मंजूषा भी दृश्यमान हो उठी।

"तुम कुशल से तो हो, सर्वहर !.... मैं तो चिन्ता में घुली जा रही थी।" काली वेश्या ने पूछा—"राजभवन तो नहीं गये ना.... ?"

"राजभवन भी गया और सकुशल लौट भी आया हूँ... सफलता के साथ। देखो यह....।" सर्वहर ने मंजूषा की ओर संकेत कर दिया।

"यह... यह क्या ले आये हो तुम? तुमने राजकुल की चोरी की... । अद्भुत साहस है तुम्हारा, सर्वहर ! तुम तो कोई मानवेतर प्राणी हो... अवश्य ही कोई... ।" काली वेश्या ने साश्चर्य कहा—"क्या है?....इस मंजूषा में क्या है?"

"साधारण-सी वस्तुएँ हैं, देवी ! राजा-रानियों के अलंकार और वस्त्र हैं... बस, और कुछ भी नहीं।" सर्वहर ने एक झटके के साथ मंजूषा को खोल दिया और सारा कक्ष रत्नाभरणों से जगमग हो गया।

"अरे वाह ! यह अपार धन तो करोड़ों का है... यह सब क्या... क्या मेरे लिए है?"—रत्नों की चकाचौंध ने वेश्या की आन्तरिक सृष्टि को भी अलंकृत कर दिया व दृष्टि को विफल कर दिया। वह भूल ही गयी थी कि चोरी के आधे धन पर ही उसका अधिकार निश्चित हुआ था।

तपाक से सर्वहर ने भी उत्तर दिया—"अपना ही समझो, काली ! सारा तुम्हारा ही है। इसे धारण कर तुम तो राजरानी ही हो जाओगी।.... किन्तु....

किन्तु इसे अभी सँभालकर रख लो। किसी को कानोंकान भी कुछ ज्ञात न होने पाए।"

"वह तो ठीक है ... किन्तु तुमने यह सब किया कैसे?"–काली एकदम उत्सुक हो उठी।

किन्तु सर्वहर ने टाल दिया–"छोड़ो भी। तुम आम खाओ ना, पेड़ों को गिनने के पीछे क्यों पड़ी हो। वैसे यह सब तो मेरा बायें हाथ का ही चमत्कार है। दायाँ हाथ तो अभी काम में लगा ही नहीं है।"

"अद्‌भुत है, सर्वहर ! मैं तुम्हारे कौशल को मान गयी।" पराजित-सी होती हुई काली ने कहा–"मेरा सारा संदेह दूर हो गया है, सर्वहर ! तुम सच्चे अर्थों में 'सर्वहर' ही हो। जाओ ... अब अपने कक्ष में विश्राम करो।" सर्वहर के चले जाने पर कक्ष को भीतर से बन्द तो कर लिया, किन्तु काली वेश्या शेष रात्रि में सो न पायी। वह कभी यह अलंकार तो कभी वह, पहनती-उतारती ही रही।

भोर से कुछ पूर्व ही महाराज राजभवन लौट आये थे। वह रात्रि तो कुशल से व्यतीत हो गयी। कहीं भी चोरी की घटना नहीं हुई। महाराज इस संतोष के साथ राजभवन में प्रविष्ट हुए थे, किन्तु अपने कक्ष में पहुँचे तो राजरानी और रानी लीलावती को उदास बैठी देखकर वे उद्विग्न हो उठे। उतावले-से नरेश ने प्रश्न कर ही दिया–"क्या हो गया, राजेश्वरी ! आप लोग ऐसी उदास क्यों हैं? क्या कोई अनहोनी हो गयी है?"

"अनहोनी ही हो गयी है, प्राणनाथ !" राजरानी ने निराशा के साथ कहा–"आप तो रात्रि में नगर-रक्षा के लिए प्रयत्न करते रहे और इधर राजभवन में चोरी हो गयी। सर्वहर हमारे अलंकारों की मंजूषा उठा ले गया। हमारा वह धन अट्ठाईस करोड़ से कुछ अधिक का ही रहा है। आश्चर्य है ! इतनी कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था में भी ....।"

"प्रश्न अट्ठाईस करोड़ का नहीं, राजरानी ! राज-प्रतिष्ठा का है। उसने हमारी मान-मर्यादा को चुनौती दी है। अब हम उसे छोड़ेंगे नहीं। एड़ी-चोटी का बल लगा देंगे और उसे पकड़कर रहेंगे। धन का लोभ उसे नहीं है। सर्वहर यदि धन का अभिलाषी ही होता तो राजभवन में चोरी न करता। धन तो अन्यत्र भी उसे सुगमता से मिल जाता। यहाँ तो वह अपना पराक्रम और हमें नीचा दिखाने को आया है। एक बार तो वह सफल हो भी गया है, किन्तु अन्तिम विजय हमारी ही होकर रहेगी।"

नरेश वीर विक्रम महाराज ने प्रातः वेला में ही मंत्रि-परिषद् आहूत की। परिषद् में सर्वहर-समस्या पर गहन चिन्तन किया गया। राजभवन में हुई चोरी को राजकीय अक्षमता का द्योतक भी स्वीकारा गया और यह माना गया कि अवश्य ही सर्वहर साधारण चोर नहीं है। उसके पास मंत्र और विद्याओं की शक्ति भी होगी, अन्यथा

ऐसे नाटकीय ढंग से चोरी संभव नहीं है। इस बिन्दु पर भी अमात्य जन सर्वसम्मत रूप से सहमत थे कि चोरी का उद्देश्य सर्वहर के लिए कुछ अन्य ही है, धन-प्राप्ति नहीं है। जो भी हो, पर उसका प्रच्छन्न प्रयोजन गंभीर भी है और महत्त्वपूर्ण भी। इस आवश्यकता पर भी सभी सहमत थे कि ऐसे चोर को स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी गतिविधियाँ चलाते रहने देना उपयुक्त नहीं। राज-प्रतिष्ठा, लोक-शान्ति और जनता को आतंक और कष्टों से मुक्त करने के लिए उसका बन्दी बनाया जाना अनिवार्य है और यह जितना ही शीघ्र हो, उत्तम होगा। प्रधानामात्य भट्टमात्र का यह परामर्श भी उपयुक्त स्वीकार किया गया कि राजसभा में यह प्रसंग लाया जाय और सभी सभासदों से भी परामर्श किया जाय। संभव है उनमें से कोई साहसी यह चमत्कार कर दिखाये और अवन्ती को इस संकट से मुक्ति मिल जाय।

निदान, कुछ ही घटिकाओं में राजसभा भी आहूत होकर जुड़ी। महाराज वीर विक्रम ने सभासदों को ओजस्वी स्वर में सम्बोधित किया। एक परदेसी चोर की गतिविधियों को उन्होंने मालव-देश के लिए अपमानजनक बताया और कहा—"चोर सर्वहर बडा चतुर और साहसी है। उसको अब शीघ्र ही पकड़ लिया जाय—यह अत्यावश्यक हो गया है। गत रात्रि में तो उसने राजभवन में भी चोरी करने का सफल दुस्साहस कर लिया। यह अवन्ती के शूरवीरों के पराक्रम पर एक प्रश्न-चिह्न है। उस एक अकेले अपराधी को उसकी दुष्टता का मजा चखाना हमारे लिए कठिन भी नहीं है। वीरो ! अपना साहस संकलित करो, अपनी शक्ति और शौर्य का परिचय दो, देश की सेवा करो और जन-कल्याण में राज्य के भागीदार बनो। उठो ! इस अत्याचार का मुँहतोड़ उत्तर दो। आपमें से जो इस चुनौती को स्वीकार करने को तत्पर हो, वह सामने आए और स्वर्ण-थाल में रखा पान का बीड़ा उठाए।"

महाराज के इस प्रेरक उद्‌बोधन से अनेक सभासदों का रक्त उबल पड़ा। अनेक के हृदय में सर्वहर के प्रति घृणा का भाव भी भड़का, उसे दंडित कराने का विचार सुदृढ़ हुआ, किन्तु कोई भी उस विकट समस्या से जूझने को स्वयं को तत्पर न कर पाया। स्वर्ण-थाल में बीड़ा यथावत् पड़ा रहा। महाराज ने पुनः उत्साहित किया—"मालव-धरती कभी वीरों से शून्य नहीं रही ··· आज भी नहीं है। साहसपूर्वक आगे आइये। उस दुष्ट को पकड़कर शासन को सौंपना एक महान् पुण्यकर्म होगा। जो यह बीड़ा उठाएगा उसे सारा शासकीय सहयोग प्राप्त रहेगा। सैन्य-वल का उपयोग भी वह कर सकेगा। साहस करो और आगे बढ़ो।" कथन सम्पूर्ति पर महाराज ने विशाल राजसभा पर चारों ओर दृष्टि घुमायी। उन्हें कोई अनुकूल प्रतिक्रिया दिखायी नहीं दी। कोई हलचल नहीं, कोई चेतना नहीं।

इसी समय अनुभवी और आयुवृद्ध मंत्री बुद्धिसागर ने वीर सभासदों—सामन्तों को उत्साहित करते हुए कहा—"महानुभावो ! ऐसे शौर्य-मार्ग पर होने के अवसर पर यह सन्नाटा कैसा ! आप लोग शान्त और गुमसुम क्यों हो गये? इतने पराक्रमी शूरवीरों की इस विशाल श्रेणी में क्या कोई एक भी ऐसा नहीं, जो यह वीड़ा उठा

सके। गर्दन न झुकाइये, शीश उठाइये इस गर्व के साथ कि आप शूरवीर हैं, देशभक्त और राष्ट्र-प्रेमी हैं। हम सभी राजा का अन्न खाते हैं–राजा का कार्य धर्म के समान मानते हैं। आज्ञा बाद में मिलती है। इस धर्म-पालन के लिये तत्पर हम पहले से रहते हैं। तभी आप-हम राज के यथार्थ सेवक कहलाने के अधिकारी होते हैं। सच्चा राजभक्त समर-भूमि में राजा से आगे-आगे चलता है, नगर में राजा के पीछे-पीछे चलता है और घर में बराबरी से चलता है। आज राजा से आगे बढ़कर चुनौती स्वीकार करने का अवसर है, आप लोग पीछे क्यों हटते हैं। आगे आइये ... बढ़िये आगे और बीड़ा उठाइये।"

नगर-रक्षक सिंहदत्त की शिराओं में रक्त-प्रवाह प्रबल हो गया। उसकी दृढ़ मनस्कता नेत्रों में लालिमा बनकर झलक आई। सिंहदत्त अपने आसन से उठा और आत्म-विश्वास के साथ, क्षिप्र गति से बढ़ता हुआ राज्यासन के समक्ष खडा हो गया–"राजाधिराज ! मैं इस सेवा के लिए स्वयं को प्रस्तुत करता हूँ। प्राणों का मोह त्यागकर भी मैं सर्वहर को पकड़ लूँगा। मुझे एक प्रतिशोध भी पूर्ण करना है-विगत पराजय का। आपश्री की वन्दनापूर्वक आपके आदेश को मैं शिरोधार्य करता हूँ।" सिंहदत्त ने इन वचनों के साथ बीड़ा उठा लिया। वह सधैर्य कहने लगा–"मैं राजराजेश्वर का और समस्त राजसभा का आशीर्वाद चाहता हूँ कि मुझे सफलता प्राप्त हो। मैं जीवित या मृत सर्वहर को इसी राजसभा में ला उपस्थित करूँगा। यदि तीन दिवस में भी ऐसा न कर सकूँ, श्रीमानेश्वर ! तो मुझे वही दण्ड स्वीकार होगा जो सर्वहर के लिये निर्धारित है।"

मंत्री बुद्धिसागर ने सिंहदत्त का नाम उच्च स्वर में पुकारा और सारी सभा ने जय-जयकार उसके साथ जोड़ दिया। सारा वातावरण उत्साह और उमंग से भर गया। महाराज ने आगे बढ़कर सिंहदत्त को वक्ष से लगा लिया। ● ●

सिंहदत्त कृत संकल्प था। ऊर्जा ही रक्त के साथ मिश्रित होकर मानो उसकी शिराओं में प्रवाहित होने लगी थी। उसकी वाणी में ओज और मुद्रा में अद्भुत तेजस्विता आ गयी थी। एक नयी उमंग उसके मानस को लहलहा उठी थी। उसे वह पीड़ाजनक लज्जा अभी भी स्मरण थी, जव न जाने कैसे छलपूर्वक नगर-सेठ के धन का सर्वहर ने अपहरण कर लिया था और उसकी सारी सुरक्षा-व्यवस्था धरी-की-धरी रह गयी थी। वह पराजय अविस्मरणीय हो गयी थी–उसके लिए। अव द्विगुणित उत्साह के साथ सिंहदत्त सर्वहर के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था। उसने सारे नगर में चौकसी की सुदृढ़ व्यवस्था कर ली। हजारों प्रहरी संध्या-समय में ही लगा दिये गये। सज्जन तो सज्जन–दुर्जन भी अपने-अपने गृहों में जैसे वन्दी वन

गये थे। सारे ही प्रमुख–गौण मार्ग जनशून्य हो गये। आरक्षियों के अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टिगत ही नहीं होता था। इस वातावरण से आतंकित पशु-पक्षी भी शान्तैकान्त स्थलों को चले गये थे।

ऐसे वातावरण में सिंह की भाँति निर्भीक मुद्रा में सिंहदत्त अश्वारूढ़ हो नगरभर में भ्रमण करता, सारी सुरक्षा-व्यवस्था का निरीक्षण करता रहा। पूरी रात्रि व्यतीत हो गयी। न कोई चोरी की घटना हुई और न ही ऐसा कोई संदेहास्पद व्यक्ति कहीं दिखायी दिया। सिंहदत्त तो अपनी सफलता पर गर्वित हो गया। सोचने लगा–'संभव है इस दल-बल को देख आतंकित सर्वहर नगर से पलायन ही कर गया हो।' इस सारी सुदृढ़ सुरक्षा-व्यवस्था की विस्तार से सूचना सर्वहर को काली वेश्या से यथासमय ही मिल गयी थी। उसे यह भी ज्ञात हो गया था कि सिंहदत्त ने उसे पकड़कर राजसभा के समक्ष तीन दिन में प्रस्तुत कर देने का बीड़ा उठाया है। मन-ही-मन सर्वहर सिंहदत्त की अबोधता पर हँसने लगा था, किन्तु वह विवेकशीलता में भी पीछे न था। नीतिशील तो वह प्रथम श्रेष्ठी का था। उसने दो दिवस शान्ति के साथ व्यतीत किये। कोई उपद्रव अभी उपयुक्त न मानते हुए वह काली के भवन से बाहर ही नहीं निकला। तीसरा दिवस आरंभ हुआ। सिंहदत्त का विशाल आरक्षी दल आज अधिक स्फूर्त, अधिक सतर्क हो गया था। सिंहदत्त ने भी सोचा–'आज का अन्तिम दिवस शेष रह गया है। मेरा प्रयोजन सर्वहर को चौर्यकर्म से रोके रखना मात्र नहीं है। मेरा मूल दायित्व तो उसे पकड़ना है। इस दिशा में कुछ भी संभव नहीं हो पाया है। मेरा सफलता-असफलता का मूल्यांकन तो इसी कसौटी पर होगा।'

उसने अपने अधीन अधिकारियों को सतर्क किया। गली-गली, घर-घर में खोज होने लगी। संध्या-समय से ही यह खोज आरंभ हो गयी। उसे विश्वास था कि यदि सर्वहर अवन्ती में है तो जायेगा कहाँ ! संवेदनशील क्षेत्रों में यह अभियान और भी तीव्र हो गया था। वेश्याओं के घरों को तो विशेष संदेहास्पद दृष्टि से देखा जाता था। गहन खोज वहाँ भी हुई, पर कहीं भी कोई ऐसा व्यक्ति न मिला। काली वेश्या का भवन इस क्षेत्र से एक ओर हटकर था। कुछ आरक्षीगण पहुँचे अवश्य थे, वहाँ भी; पर वे पूछताछ करके ही चले आये। सभी जानते थे कि उसके यहाँ कोई आता-जाता नहीं। भयभीत काली ने पूर्व में ही सचेत कर देने के लिए सर्वहर को बुलाया था, किन्तु उसे ज्ञात हुआ कि सर्वहर तो कोई एक घटिका पूर्व ही भवन से बाहर चला गया था। निश्चिन्त वेंश्या ने आरक्षियों से कहा भी कि वे भीतर आकर सारा भवन देख लें। काली की इस चिन्ताहीन मुद्रा ने आरक्षियों के लिए उसे और भी अधिक विश्वसनीय बना दिया था। वे सर्वथा संतुष्ट होकर लौट गये।

नगर-रक्षक सिंहदत्त के घर-परिवार के सम्बन्ध में गणिका काली से सर्वहर ने समस्त ज्ञातव्य जान ही लिए थे। और तब उसने शान्त मन से एक युक्ति निर्धारित कर ली थी। उसने पकड़ में न आने की ठान ली थी और सिंहदत्त प्राण-पण से उसे

पकड़ लेने को कटिबद्ध था। वह अकेला और सिंहदत्त के पास अपार जन-बल था। यह अन्य प्रसंग था कि नगर-रक्षक भारी मानसिक दबाव में था। उसके पास कुछेक घटिकाओं का ही समय शेष रह गया था। वह अपने एक ही विरोधी से दोबारा पराजित नहीं होना चाहता था। उसके पास पल-पल का समाचार आ रहा था। कहाँ-कहाँ तक की खोज का कार्य हो गया है। कुछ ही संवेदनशील-स्थल शेष रह गये थे। उसकी आशाएँ धूमिल होने लगी थीं। सिंहदत्त अश्व पर नगरभर का भ्रमण कर रहा था। सहसा एक चौराहे पर उसने अपना अश्व थामा। वह नायक से हाल-चाल पूछने ही लगा था कि मुख्य मार्ग पर आकर मिलने वाली एक गली में उसे कुछ हलचल अनुभव हुई। देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। दो प्रहरियों के संग एक काँवरिया तीर्थयात्री आ रहा था। घुटनों तक ऊँची धोती पहने भगवाँ उत्तरीय डाले, काँधे पर काँवर और मुख में हर-हर महादेव के साथ तीर्थयात्री समीप आकर खड़ा हो गया। सिंहदत्त उसे घूरकर देखने लगा तो सहसा–"अरे, यह क्या, मामा ! आप तो मुझे पहचान ही नहीं रहे···· ! हाँ···· ? ये तो मैं हूँ, तुम तो मुझे पहचान ही नहीं रहे। सात वर्षों से तीर्थ-विचरण कर रहा हूँ···· सत्य है यह, किन्तु इससे क्या ? कोई अपने भानजे को भी यों भूल जाता है भला ! तुम्हारा भानजा श्यामल पाँव लगता है, मामा ! अभी सीधा ही तीर्थो से चला आ रहा हूँ। लो, प्रसाद लो और गंगाजल का आचमन कर लो, मामा ! तुम्हारे सारे काम सिद्ध होंगे।" गंगोदक सिंहदत्त ने बड़ी भक्ति भाव से ग्रहण किया। इसे उसने मंगलसूचक सुयोग माना–"मामा ! कैसी है मेरी माँ ! ···· हाँ ? और मामी भी सकुशल हैं न ?"

"हाँ रे श्यामल ! तू तो इन सात वर्षों में बड़ा बदल गया रे !" आश्वस्त करते हुए सिंहदत्त ने कहा–"चिन्ता न कर, भानजे ! सब कुशल-मंगल है। तेरी माँ ···· मेरी बहन शोभा भी अच्छी है और तेरी मामी भी। अब, भैया ! अब तू घर चला जा···· हाँ, थका हुआ है, तनिक विश्राम तो कर।"

"हाँ···· मामा ! घर ही चला जाता हूँ। क्या तुम न चलोगे साथ ? अच्छा ही रहता न···· चलो, चलते हैं।" मनुहार-भरे स्वर में श्यामल ने आग्रह किया।

"नहीं रे ! मैं न आ सकूँगा। अभी मेरा आना···· कैसे संभव होगा रे····!"

मामा के कथन-मध्य ही श्यामल बोल पड़ा–"हाँ···· हाँ···· मैं तो भूल ही गया था, मामा ! अभी तुम कैसे चल पाओगे। आज तो अंतिम, तीसरी रात्रि है न ! आज तो तुम्हें उस कुख्यात चोर को पकड़ना होगा न ! अच्छा होता कि तुम यह बीड़ा उठाते ही नहीं। मैंने यहाँ आकर सब सुन लिया। और उस मायावी चोर के विषय में तो मैं पहले ही से बहुत-कुछ जानता भी हूँ। बड़ा दुष्ट, चालबाज और शक्तिशाली है। तुम कहाँ उसके फेर में आ गये, मामा ! उसकी नस-नस से परिचित हूँ मैं, मामा ! जो उसे पकड़ने की ठानता है, सबसे पहले तो वह उसी की सम्पत्ति का हरण कर लेता है···· ऐसा दुष्ट है वह। सुना है, यहाँ के राजा ने उसे पकड़ना चाहा–उसी के यहाँ उसने चोरी कर ली और अपनी धाक जमा ली।

वे तो राजा हैं, समुद्र से चार बूँदें निकल भी जाएँ तो क्या कमी आती है, पर हम तो गृहस्थ जन हैं। मुर्गी के लिए तकुवे का घाव भी भारी हो जाता है न !" सिंहदत्त को उसकी बातें सटीक लगीं। किया तो उसने ऐसा ही है। कौन जाने श्यामल उचित ही कहता हो।

"मेरी मानो तो यह जोखिम न उठाओ, मामा ! कण-कण करके जोड़ा धन क्षणभर में 'कपूर' हो जायेगा। बुढ़ापा भी दौड़ा चला आ रहा है। दाने-दाने के लिए विवश हो जाता है धनहीन मनुष्य।"

"कहता तो तू ठीक ही है रे ! तो बोल.... क्या कहता है?" अर्द्ध-सहमति के स्वर में सिंहदत्त सहसा पूछ बैठा।

"मैं भला कहूँगा क्या....? आज रात्रि में तो तुम घर रह न सकोगे ना ! एक रात्रि की ही तो बात है। अपना सारा धन कहीं अन्यत्र छिपा न लो.... ऐं? क्या कहते हो?" श्यामल ने सुझाया।

"होना तो यही चाहिये, किन्तु.... किन्तु यह सब करेगा कौन?"

"मैं हूँ न मामा ! अब तो मैं आ गया हूँ.... तुम अकेले नहीं रह गये हो अब।"

"ठीक है, श्यामल ! अब तुम ही ठीक कर लो सब-कुछ।" सिंहदत्त ने कहा– "शीघ्रता करो। अँधेरा होने से पहले ही सब-कुछ हो जाना चाहिये.... हाँ?"

"हो जायेगा, मामा ! जब तुमने कह दिया तो सब-कुछ वैसा ही हो जायेगा।" श्यामल ने कहा–".... पर एक कठिनाई है।"

"अब तुझे भी कठिनाई आने लगी क्या? बोल, क्या कठिनाई है?"

"अरे मामा ! तुम भी कहाँ एकदम से मुझे पहचान सके, हाँ? कहीं मामी भी न पहचान सकीं तो बिखेडा हो जायेगा न ! फिर तुम्हारी आज्ञा के बिना उनके लिए धन घर से बाहर निकलना उचित भी तो न रहेगा। हम ऐसा क्यों न करें....!" श्यामल कुछ सोचने लगा।

"कैसा.... कैसा करें हम?"

"मामा ! तुम अपना कोई विश्वस्त सेवक मेरे साथ कर दो जिसको मामी भी पहचानती हों। अपना संदेश उसके साथ भिजवा दो न ! हो जायेगा सारा काम।" श्यामल अपने कथन की प्रतिक्रिया जानने को दम साधे मामा का मुख निहारने लगा।

"बड़ा समझदार हो गया है रे भानजे ! बात तो ठीक ही कहता है तू। यह प्रवंध भी किये देता हूँ।" सिंहदत्त ने एक प्रहरी को वुलाकर उसे ठीक से समझा दिया और फिर बोला–"ले रे ! यह काम भी हो गया तेरा। तू इसे अपने संग ले जा।" और नगर-रक्षक अपने कार्य में लग गया। उसने अश्व को एड़ लगायी।

"ठीक है, मामा ! अब तो सारा धन ठिकाने ....।" श्यामल का कथन अपूर्ण ही रह गया। मामा तो तब तक दूर निकल गया था। प्रहरी के साथ कॉवरिया श्यामल जब घर पहुँचा तो घर की दोनों महिलाएँ ऑगन में ही दिखायी दे गयीं। दूर से ही उसने कहा—"पालागूँ मॉ !" शोभा ने चौंककर देखा और लपककर श्यामल ने पॉव छू लिये। आँखों पर हथेली की छाया कर शोभा पहचानने का प्रयत्न करने ही लगी थी कि श्यामल बोल पड़ा—"पहचाना अपने बेटे को .... या नहीं? मैं .... माँ .... श्यामल हूँ तुम्हारा।"

"अरे, श्यामल है क्या ....? तभी तो कहूँ, मुझे मॉ कहने वाला कौन है, भाई ! अरे, तू कुशल से तो रहा।"

इसी मध्य मामी के चरण स्पर्श कर उसने आशिष ले ली थी—"अरे, तू तो बहुत बदल गया रे। हम पहचानें, तो भला कैसे? हैं रे ! बहुत समय बिता दिया तूने तीर्थों में।"

"मामी ! अब क्या बताऊँ, एक के पश्चात् अन्य तीर्थ की अभिलाषा होती रही। चलता ही चला गया। बड़ा आनन्द रहा, बड़ी शान्ति मिली। लो, तुम लोग भी पवित्र गंगाजल का आचमन तो कर लो।" झोले से उसने गंगाजली निकालकर दोनों को गंगोदक भेंट किया। वे दोनों तो कृतार्थ ही हो गयीं।

"बेटे ! बड़ा भाग्यशाली है तू ! इस आयु में इतना तीर्थाटन कर लिया।" माँ ने गर्व-मिश्रित प्रसन्नता के साथ कहा।

"माँ ! मैंने तो निश्चय किया है शीघ्र ही मामा-मामी सहित तुम्हें भी तीर्थ करा लाऊँगा। मामा तो अभी राह में मिल गये थे। बड़े चिन्तित थे, मामी ! उन्होंने भी यह मिथ्या ही बला मोल ले ली। वह चोर चाहे पकड़ा जाय, या न भी पकड़ा जाय। हमारे धन की तो जोखिम बन ही गयी, मॉ ! आज की रात्रि निकल जाय तो फिर सब ठीक हो जायेगा। वह चोर सर्वहर है ही ऐसा .... उसे पकड़ने वाले को वह छोड़ने वाला नहीं। इसीलिए तो मामा ने इस प्रहरी के साथ संदेश भिजवाया है।"

"क्या संदेश है, भैया?" मामी ने प्रहरी के अभिवादन को उत्तरित करते हुए पूछ लिया।

"स्वामिनी ! स्वामी ने कहलाया है कि घर में आज की रात अपना धन सुरक्षित नहीं है। श्यामल उसे अन्यत्र पहुँचा देगा। इसलिए मुद्राएँ, आभूषण, भूमिगत धन, वहुमूल्य वस्त्रादि सव-कुछ श्यामल को सौंप दें। कल रात्रि तक संकट निरस्त हो जायेगा, तव पुनः सारा धन घर में आ जायेगा।"

"ठीक है, भैया ! तुम जाओ। हम ऐसा ही कर लेंगे।"—मामी ने कहा और नमन कर प्रहरी विदा हो गया। मॉ और मामी ने धन को एकत्र करना आरंभ किया। अँधेरे से पूर्व ही सव-कुछ कर लेना आवश्यक जो था। शीघ्र ही सारा धन कॉवर में धर दिया गया।

"जय हो .... वीर विक्रम महाराज की सदा विजय हो !!" नगर-रक्षक सिंहदत्त के मुख से अन्तरात्मा ही मानो मुखरित हो उठी। खोया धन तो किसी रूप में उसे पुनः प्राप्त हो गया, किन्तु .... किन्तु उसका आहत आत्म-विश्वास दुर्बल से दुर्बलतर ही होता चला गया। एक हीन भावना उसके मानस में घर कर गयी। यह सर्वहर तो चोर ही नहीं, चतुर शिरोमणि भी निकला। श्यामल बनकर उसने प्रवंचना का जो जाल फैलाया, वह उसके बुद्धि-कौशल का एक जीवन्त प्रमाण है। सर्वहर ने काँवर सहित जब सिंहदत्त के घर से प्रस्थान किया तो सभी ने उसे देखा था, किन्तु फिर तो वह सब की दृष्टि से ओझल ही हो गया। काली वेश्या के भवन में पहुँचकर ही वह प्रकट हुआ।

काँवर एक ओर रखकर वह जब काली के समक्ष पहुँचा तो वह सहसा उठ खड़ी हुई। बोली–"अरे, तुम आ गये सर्वहर ! मैं तो तुम्हारी चिन्ता में घुली जा रही थी। दिन-दहाड़े तुम किधर चले गये। मैंने बताया तो था कि सिंहदत्त तुम्हारे प्राणों का गाहक बना फिर रहा है। तुम कुशल से तो हो न?"

"कुशल से .... सर्वथा कुशल से हूँ। मुझे होना ही क्या था? मैं तो रिक्त हस्त गया था और सिंहदत्त की सारी सम्पदा लेकर आया हूँ। मेरे कौशल को देखो, केवल कुशल की चिन्ता न करो। देखो–वह रहा उसकी जीवनभर की कमाई का धन।" सर्वहर ने कॉवर की ओर संकेत कर दिया।

"अरे ! यह क्या? तुम्हारी वेश-भूषा भी तीर्थार्थी-जैसी .... यह कॉवर भी ...। समझी–समझी, तुमने सिंहदत्त के भानजे श्यामल का रूप धरा होगा। तुम्हारा साहस अदम्य है, सर्वहर ! तुम तो किसी से भी भय नहीं खाते और दिन-दहाड़े ही उसे रंक कर आये।"

काली ने प्रशंसात्मक रूप में उसकी ओर ताका और उसने स्वयं जोड़ा–"जी हाँ .... दिन-दहाड़े भी और सबके जागते हुए भी। उसके घर की महिलाओं ने स्वयं अपना धन निकाल-निकालकर इस काँवर में भर दिया।"

"आश्चर्य है, सर्वहर ! आश्चर्य है !! तुम तो शिरोमणि हो। तुम्हारी यह प्रतिभा जन्मजात ही प्रतीत होती है।" काली वेश्या ने अभिभूतावस्था में कह दिया।

"देवी ! जन्मजात यह प्रतिभा नहीं–जन्मजात तो मेरे अभाव हैं, दुर्भाग्य है, असहाय अवस्था है। यह चौर्य-चातुर्य तो मैंने उस सव को दूर करने के प्रयोजन में स्वयं ही विकसित किया है।" सारी कथा का न तो यह अनुकूल अवसर था, न ही काली की रुचि अभी इस सव में थी।

वह कॉवर की ओर निहारती कहने लगी–"तो यह सारा धन मेरा है ....?"

"है .... सारा धन तुम्हारा ही है ....। इसे सँभालकर रख लो। यही मेरी विजय-गाथा का मूर्त्त रूप है। इसे सहेजकर रख लो। अव मैं तो कुछ थक गया हूँ .... भूख भी लग आयी है। .... तुम कुछ ....।"

"चलो .... चलो, तुम वस्त्रादि परिवर्तित कर कुछ विश्राम करो। मैं भोजन का प्रबंध करती हूँ।" काली तत्परता दिखाती प्रसन्न मन भीतर चली गयी।

× × ×

एक राजकीय उत्कट प्रयास विफल हो गया—शासन में एक हततेजता छाने लगी। सर्वहर क्या इस प्रकार दुर्जेय बनकर अवन्ती-शासन पक्ष का उपहास ही करता रहेगा ! क्या कोई भी पराक्रम उस दुष्प्रवृत्ति का नियन्ता बनकर समक्ष न आयेगा ! वीर-प्रसविनी मालव-धरती क्या इस अपयश को ढोते रहने की ही नियति रखती है ! ऐसे-ऐसे अनेक हताशा-भरे प्रश्नों का सार्थक और समर्थ उतर बनकर एक बुद्धि-चातुर्य राजसभा में प्रकट हुआ। अब की बार स्वयं प्रधानामात्य भट्टमात्र ने बीडा उठाया था। भट्टमात्र के प्रति असीम आस्थाओं ने, उनकी योग्यता और शक्ति ने जन-जन को आश्वस्त कर दिया कि अब तो उस सर्वहर का सर्वनाश सर्व निश्चित है। नगरभर में व्याप्त यह नवाशा का उत्साहपूर्ण वातावरण भी सर्वहर के आत्म-विश्वास और मनोबल का हरण न कर पाया। वह तो स्वतः ही द्विगुणित हो चला गया। काली वेश्या नगर-भ्रमण करके आयी थी। उसने अवगत करा दिया था कि अब भट्टमात्र प्रधानामात्य स्वयं ने संघर्ष-क्षेत्र में प्रवेश किया है। उन्होंने प्रण किया है कि वे सर्वहर को तीन दिवस में बंदी बना लेंगे। विफलता की दशा में वे जो भी दण्ड महाराज निर्धारित कर दें उसे भोगने को तत्पर रहेंगे। काली वेश्या ने बोध देते हुए सर्वहर से कहा—"तुम जानते नहीं हो हमारे महामात्य को। वे बड़े चतुर, कुशल और बुद्धि-वैभव से सम्पन्न हैं। उनका गुप्तचर तंत्र भी बड़ा सक्रिय है। तुम्हें ज्ञात ही न होगा कि कौन तुम्हारा विरोधी है, कौन राजसेवक है। उड़ती चिड़िया के पंख गिन लेते हैं उनके गुप्तचर। मैं तुम्हें रोकती तो नहीं हूँ, किन्तु तुम्हें अतिरिक्त सावधानी अवश्य रखनी होगी। आरंभ में तो तुम नगर-भ्रमण न ही करो तो उत्तम रहेगा।"

सर्वहर ने काली वेश्या का सारा कथन ध्यानपूर्वक सुना—मन में उसे गुना और तब अपना जाल बुना। सर्वहर तो युक्ति और शक्ति—दोनों की भक्ति करता था। उसे ज्ञात होता रहा कि उस पर वश पाने के लिए भट्टमात्र क्या-क्या योजनाएँ बना रहा है। प्रत्येक आगंतुक के लिए व्यवस्था थी कि उसकी पूरी छानबीन की जाय। उसे तीन दिवस की इस अवधि में प्रतिबंधित रखा जाय, मुक्त विचरण की स्वाधीनता उसके पास न रहे। भट्टमात्र का आदेश था कि किसी भी नवागत, अपरिचित पर तनिक भी आशंका हो—उसे तत्काल मेरे पास भेज दिया जाय। आरक्षियों का दृश्यमान जाल तो जो बिछा था वह था ही, इससे भी अधिक तो उसके गुप्तचरों की सक्रियता थी। भट्टमात्र को विश्वास था कि अब सर्वहर बच न सकेगा। वह स्वयं अनावृत खड्ग लिए अश्वारूढ़ होकर नगर में विचरण करता रहा।

दो दिन व्यतीत हो गये—कोई उपलब्धि न रही। आज तीसरा दिवस था, वह भी अधिकांशतः व्यतीत हो गया। संध्या होने को थी। भट्टमात्र का अश्व भी

शिथिल न हुआ था। विचरण करते-करते वह क्षिप्रा-तट की ओर आ गया। इस जनशून्य क्षेत्र में उसे तनिक-सी आशंका थी कि कदाचित् सर्वहर कहीं छिपा बैठा हो। अश्व-गति को किंचित् मंथर कर भट्टमात्र टोह लेने लगा। तभी उसे किसी पीड़ित की कराह का स्वर सुनायी दिया। इस सुनसान में कौन कष्टित हो सकता है ! क्या कष्ट उसे हो सकता है ! ध्वनि का अनुसरण करते हुए वह अग्रसर हुआ। चलते-चलते वह सरिता-तट पर जल के समीप पहुँच गया, जो देखा तो सन्न रह गया। एक रूक्ष तरु के तन को चीरकर दोनों भागों के मध्य एक निरीह से युवक के दोनों पैरों को जकड़ दिया गया था। वक्ष के मूल में उस असहाय की काया तड़प रही थी। उसके दोनों हाथों को भी दृढ़ता के साथ एक रज्जु से बाँध दिया गया था। बड़ी ही कारुणिक स्थिति में वह उस निर्जन स्थल पर सहायतार्थ पुकार मचा रहा था। भट्टमात्र समीप पहुँचा। अपनी सहानुभूति से प्रथमतः उसे आश्वस्त किया और पूछा—"युवक ! कौन हो तुम? और तुम्हारी ऐसी दुरावस्था किसने कर दी है? हम उसका प्रतिकार करेंगे।"

"महामात्य जी ! आपसे क्या निवेदन करूँ? आप तो दीनों के बंधु हैं न, आपसे कुछ छिपाऊँगा भी नहीं।" उस वृक्ष-बेड़ी में जकड़े पीड़ित युवक ने कथन आरंभ किया—"महाराज ! मैं तो आपकी ही प्रजा हूँ। एक निर्धन कुंभकार का अभागा बेटा हूँ। कुछ दिनों से कुसंगति में पड़ गया था, श्रीमान् ! उसी का फल भोग रहा हूँ। सच पूछो तो आपके कर्मचारियों ने ही मेरी यह दुर्दशा कर दी है। कोई परदेसी चोर इस नगर में आया हुआ है, प्रभो ! बड़ी-बड़ी चोरियाँ करता है। उसने मुझे भी अपने साथ ले लिया। एक बात उसने कही कि मेरी सहायता करोगे तो चोरी का धन तुम्हें भी दूँगा। मैं धन के लोभ में उसके साथ हो लिया। एक रात चोरी करने को वह एक महल में घुसा और मुझे बाहर खडा कर दिया कि कोई आ जाय तो उसे संकेत कर दूँ। वह तो भीतर ही था कि आरक्षीगण आ गये। मुझे उन्होंने पकड़ लिया और यहाँ ले आये। चोर तो धन लेकर आराम से चम्पत हो गया होगा और मुझे वृक्ष-बेड़ी में यहाँ इस दशा में डाल दिया गया, करुणानिधान ! मेरी रक्षा कीजिए।"

भट्टमात्र परदेसी चोर का नाम आने पर आशंकित हो गया था। उसने पूछा—"युवक ! वह परदेसी चोर है कहाँ? कौन है वह?"

"मैं उसके विषय में कुछ भी अधिक जानता नहीं, किन्तु लगा मुझे वह बडा ही भला मानुस है। कल रात मुझसे मिलने को आया था। आज भी अँधेरा होने पर मेरे लिए कुछ भोजन लेकर आयेगा।"

अपनी बात को व्यवस्था देते हुए उस युवक भीमा कुम्हार ने बताया तो भट्टमात्र उत्साहित हो उठा, बोला—"भीमा ! सुनो, तुम हमारी सहायता करो हम तुम्हारे जीवनभर के कष्ट दूर कर देंगे। विपुल धन मिलेगा तुमको।"

"आप महान् हैं, मंत्री जी ! बड़े ही दयालु हैं। मुझे बताइये तो, करना क्या होगा मुझे?" लालायित होकर भीमा ने पूछ लिया।

"कुछ विशेष नहीं ···· भीमा ! तुम उससे हमें मिला दो। बस, इतना ही काम होगा तुम्हारा।"

"किन्तु यह काम सुगम भी नहीं है, महामात्य जी !" भीमा ने सीधा-सपाट उत्तर दिया–"वह बड़ा ही चतुर चोर है। पकड़ में आता ही नहीं है। यहाँ आपको देखेगा तो वह दूर से ही लौट जायेगा। मुझे भोजन भी न मिलेगा, दाता !"

"कोई युक्ति निकालो, भीमा ! मुझे उस चोर से मिलना है।"

"एक उपाय हो सकता है, श्रीमान् जी ! यही हो सकता है कि आप मेरा स्थान ले लें। अँधेरे में वह आपको पहचान भी न सकेगा और आपकी बात हो जायेगी उससे।" सारभूत रूप में भीमा ने अपनी बात कह दी। भट्टमात्र को वह रुच भी गयी।

"ठीक है, भीमा ! यही उचित रहेगा। तुम्हें यह विचार बड़ा भला आया। ऐसा ही करो।" अभिभूत-सा भट्टमात्र बोल पड़ा।

"ऐसा ही करना है तो ···· फिर शीघ्रता करनी होगी जी।" भीमा ने कहा–"वह चोर कभी भी आ सकता है। आपको मेरे ये वस्त्र भी पहनने होंगे।"

"हाँ ···· भाई हाँ ···· उसको संदेह नहीं होने दें–यह तो आवश्यक ही है। लो, हम अपने वस्त्र परस्पर परिवर्तित कर लेते हैं।" यह कहते हुए भट्टमात्र अपना कटिबंध शिथिल करने लगा।

इसी समय मुस्कराते हुए भीमा बोल पड़ा–"पहले मुझे मुक्त तो कीजिये, श्रीमान् !"

"अरे हाँ ···· यह लो।" भट्टमात्र ने पहले भीमा के हाथों को बंधन-मुक्त किया। फिर उसने वृक्ष-बेड़ी से उसके पैर निकाले। दोनों ने एक-दूसरे के वस्त्र पहने। और तब भीमा ने भट्टमात्र को वृक्ष-बेड़ी में जकड़ा, उसने दोनों हाथों को भी भलीभाँति बाँध दिया।

भीमा को अपनी युक्ति के सफल हो जाने का मन-ही-मन गर्व भी होने लगा। उसने कहा–"मंत्री जी ! सुनो ···· मेरी बात ध्यान से सुनो। वह चोर अदृश्य हो जाने की कला भी जानता है। जब वह आपके समीप आए उसका हाथ आप कसकर पकड़ लेना। जब तक आप पकड़े रहेंगे उसकी विद्या विफल ही रहेगी–वह अदृश्य न हो पायेगा।" यह कहकर भीमा ने भट्टमात्र के अश्व की वल्गा थामी और आरूढ़ होकर चल दिया। नगर के वाहर ही उसने अश्व को त्याग दिया और अदृश्य रूप में काली वेश्या के भवन की ओर वढ़ गया।

काली ने सर्वहर को प्रधानामात्य के वेश में देखा तो आश्चर्य से उसके नेत्र तो कपाल पर चढ गये। "ओहो ····।"–कहते हुए जो उसका मुख खुला तो कुछ

क्षणों के लिए वह खुला ही रह गया। तदनन्तर सहज हुई तो बोली–"यह क्या, सर्वहर ! तुम क्या करके आये हो? भट्टमात्र महामंत्री कहाँ हैं···· कैसे हैं वे?"

"चिन्ता न करो, देवी ! वे सकुशल हैं। हाँ, उनको चोर का बाना पहनाकर आ रहा हूँ। क्षिप्रा-तट पर वे वृक्ष-बेड़ी में अवश्य ही दीन-हीन दशा में पड़े हुए हैं। उन्हें अभिमान था न कि वे मुझे पकड़कर रहेंगे। सो···· यह दुर्दशा तो उनकी मेरे हाथों होनी ही थी। होकर ही रही।"

यह सारा वृत्तान्त सुनकर काली अतिशय भयभीत हो गयी। उसे आश्वस्त करते हुए सर्वहर ने बोध दिया–"घबराओ नहीं, देवी ! मेरे चौर्यकर्म का उद्देश्य बड़ा पावन है। निश्चिन्त रहो–इसका परिणाम हम दोनों के लिए मंगलकारी ही होगा। तुम मुझे अकेला जानकर चिन्तित और भयभीत रहती हो न। यह तुम्हारा भ्रम है। मेरे छह साथी हैं जो सदा ही मेरे संग रहते हैं। सुनो, देवी ! उद्यम, साहस, बल, बुद्धि, धैर्य और पराक्रम–जिसके साथ ये छह गुण विद्यमान रहते हैं–वह तो देवताओं के लिए भी अपराजेय बना रहता है। धैर्यशील व्यक्ति का चाहे सब-कुछ विनष्ट हो जाय, पर उसका साहस तब भी शेष रहता है और साहसी कभी पराजित नहीं होता।"

"तुम्हारा साहस अदम्य है, सर्वहर ! मुझे विश्वास न था कि तुम ऐसे विकट कार्यों में यों सुगमतापूर्वक सफलता प्राप्त करते रहोगे। अब बेचारे भट्टमात्र की क्या स्थिति होगी?" जिज्ञासावश पूछ लिया काली वेश्या ने।

"स्थिति क्या होगी, बेड़ी में जकड़े पड़े होंगे। प्रतीक्षा कर रहे होंगे सर्वहर चोर की, जो उन्हें कभी मिलेगा नहीं।"–यह कहते हुए सर्वहर अपने कक्ष को चल दिया।

भट्टमात्र वास्तव में बड़े कष्ट में था। वृक्ष-बेड़ी की कसावट बड़ी ही पीड़ाजनक थी। यह उत्साह ही उसे शान्ति के साथ सब-कुछ सहन करते रहने को प्रेरित करता रहा कि आज उसकी अवधि की अन्तिम रात्रि में चोर तो पकड़ में आ जायेगा ! यह गौरव इतना महान् रहेगा कि उसके समक्ष यह कष्ट-पीड़ा तो बेचारी कुछ भी नहीं। वह रात्रिभर सर्वहर की प्रतीक्षा करता रहा, किन्तु आया कोई भी नहीं। भोर होते-होते वह इस चिन्ता में ग्रस्त हो गया–'कोई क्षिप्रा-तट पर आ गया तो उसकी इस दुर्दशा को देखकर क्या कहेगा? उसका तीव्र उपहास होगा। जिस भीमा कुम्हार को मैंने मुक्त किया–हो-न हो, वह स्वयं सर्वहर ही था। मेरे बुद्धि-चातुर्य के आवरण में छिपी मूर्खता का ही प्रमाण है यह कि मैं सर्वहर के कुचक्र को समझ ही नहीं पाया और उसके वाग्जाल में फँस गया।' उसकी मनःस्थिति बदली तो वृक्ष की जकड़ उसके लिए असहनीय पीड़ाजनक भी हो उठी। वह छटपटाने लगा। उसके मुख से कराहें निकलने लगीं। वह लज्जित भी होने लगा। भोर भी हुई। अँधियारा सिमटा और आलोक क्रमशः उसका स्थान लेता सघनतर होने लगा।

इस समय महाराज के निजी परिचारक ने उपस्थित होकर निवेदन किया–"राजराजेश्वर पृथ्वीनाथ की जय हो ! आपका यश सूर्यालोक की भाँति धरती के

चप्पे-चप्पे पर फैले। अमर रहें हमारे राजाधिराज ! द्वार पर मंत्री हरदेव आपकी अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे हैं, दर्शनार्थ आये हैं।"

"मंत्री....और इस समय? जाओ, उन्हें सादर ले आओ।" महाराज ने सोचा–'अभी इस असाधारण समय में मंत्री का आगमन किस प्रयोजन से संभव है....।' मस्तिष्क पर पर्याप्त बल देने पर भी महाराज को कोई सूत्र हाथ न आ रहा था।

इसी समय मंत्री भी आ उपस्थित हुआ। नमन-वन्दन के पश्चात् उसने निवेदन किया–"क्षमा-प्रार्थी हूँ, श्रीमानेश्वर ! कि आपके विश्राम में व्यवधान पहुँचाया, किन्तु बात ही कुछ ऐसी थी।" संकोचवश मंत्री कहते-कहते थम से गये।

महाराज उत्सुक हो उठे थे, बोले–"कहो.... कहो, मंत्रीवर ! हम सुन रहे हैं। क्या कोई शिकायत है?"

"जी हाँ, प्रभो ! यदि वह शिकायत भी है तो श्रीमानेश्वर स्वयं आपश्री के विरुद्ध ही है। महामात्य भट्टमात्र की दी हुई सारी अवधि निष्फल व्यतीत हो गयी, वे सर्वहर को पकड़ न सके। यह यथार्थ है, प्रभो ! फिर भी.... आपने उन्हें जो दण्ड दिया है, वह राज्य के महामात्य होने की दृष्टि से उनके लिए उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। वह भी सार्वजनिक रूप से दिया गया–जनता उनका उपहास करेगी, उन पर पत्थर मारेगी–महामात्य की ऐसी दुर्दशा स्वयं नरेश के लिए भी तो....।"

"तुम कहना क्या चाहते हो, मंत्रीवर ! हमारी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा। अपना कथन स्पष्ट करो, विस्तार से बताओ।" महाराज ने जिज्ञासा की मुद्रा में कहा।

"श्रीमानेश्वर ! मैं सीधा क्षिप्रा-तट से आ रहा हूँ। मैं देखकर आ रहा हूँ महामात्य भट्टमात्र वहाँ वृक्ष-बेड़ी में जकड़े पड़े कराह रहे हैं। उनके वस्त्र भी बड़े लज्जाजनक और अस्त-व्यस्त हैं। सफलता-असफलता तो लगी ही रहती है। सर्वहर आज नहीं, तो कल पकड़ा जायेगा; किन्तु आपका महामात्य को ऐसा दण्ड दिया जाना उचित प्रतीत नहीं होता, महाराज ! करुणा के अवतार हैं, श्रीमानेश्वर ! आप तो। शीघ्र ही, अवन्ती की जनता उनकी दुर्दशा जान पाये, उससे पूर्व ही उन्हें मुक्त कराइये। मैं इसी प्रार्थना हेतु उपस्थित हुआ हूँ।"

महाराज तो मंत्री की बात सुनकर सन्न-से रह गये। उन्होंने ऐसी कोई आज्ञा नहीं दी। भट्टमात्र की असफलता का अभिलाषी ही ऐसा कर गया हो–आशंका इस बात की है। हम इसकी पूरी परीक्षा कराएँगे, ऐसे दुष्ट, कुकर्मी को भयावह दण्ड देंगे–इस संकल्प के साथ उन्होंने अपने मन को सुदृढ़ किया और उठ खड़े हुए। इसी समय वातायन से एक वाण आया और महाराज के चरणों में गिरा। महाराज चौंक उठे। वाण में लगे ताड़-पत्र को देखकर उनको कुछ अनुमान अवश्य होने लगा। उन्होने देखा अब तक मंत्री हरदेव जा चुका था। उन्होंने स्फूर्ति के साथ वाण उठाया और ताड-पत्र निकाला। लिखा था–

"परम पूज्य, राजराजेश्वर, मालवाधिपति, महापराक्रमी नरेश, वीर विक्रमादित्य महाराज के चरणारविन्दों में सर्वहर का नमन-प्रणाम ! आपने सर्वहर को पकड़ने के नाना प्रयत्न कर लिये। आपकी शक्ति मेरे चातुर्य के समक्ष पराभूत ही होती रही है। मैंने आपको पूर्व-संदेश में निवेदन किया—आपने एक सती-साध्वी स्त्री के साथ घोर अनर्थपूर्ण अत्याचार किया है। उसे स्मरण कीजिये और उसका निराकरण कर लीजिये। खेद है कि आपने ऐसा नहीं किया। मैं सात दिवस का समय और देता हूँ, राजन् ! अपनी भूल को सुधार लीजिये; अन्यथा आठवें दिवस में मैं ऐसा क्रूर कर्म करूँगा कि सब भय-विकम्पित हो उठेंगे। आशा है आप इसके लिए मुझे विवश नहीं करेंगे। अवन्ती में की गयी चोरियों का धन मेरे पास सुरक्षित है। यदि आपने इस अवधि में स्व-सुधार कर लिया—पीड़ित नारी को न्याय दिया तो सर्वहर वह सारा धन राजप्रासाद में पहुँचाकर लुप्त हो जायेगा।

महामात्य को अपने बुद्धि-बल और चातुर्य पर बड़ा गर्व था न ! उन्होंने मुझे पकड़ने के लिए बीड़ा उठाया था। उनकी क्या दुर्दशा हुई है—यदि अभी भी ज्ञात न हुआ हो आपको, तो क्षिप्रा-तट पर स्वयं जाकर देख लीजिये।

आपका हितैषी

सर्वहर"

महाराज ने पत्र को पुनः आद्योपान्त पढ़ा। मन-ही-मन उन्होंने एक-एक शब्द का विवेचन किया। भाषा से उन्हें पुनः अनुमान हुआ कि सर्वहर सर्वथा कुलीन है। वह सभ्य—सुसंस्कार-सम्पन्न लगता है। वह बार-बार किसी स्त्री का स्मरण कराता है, किन्तु यह स्त्री है कौन····? क्या अन्याय हमसे हो गया है उसके साथ ! हमें कुछ भी तो ज्ञात नहीं है। जो भी हो—चोरी का बहाना बनाकर यह जो भी है—उसे कोई अन्य प्रयोजन ही पूर्ण करना है—चोरी के धन का लोभी नहीं है वह कदाचित्। चोरी से तो वह अपना और अपने मंतव्य की महत्ता स्थापित करना चाहता है—ऐसा संभव है···· हो तो सकता है···· जो भी हो यह सर्वहर···· किन्तु इसका नाम आते ही हमारे मन में इसके प्रति सघन स्नेह क्यों उमड़ पड़ता है···· क्यों आत्मीयता का ज्वार-सा आ जाता है। कौन है यह मेरा····। क्यों उठते-बैठते, सोते-जागते हमें इसकी सुधि···· क्यों बनी रहती है? सब किसी को सर्वहर से द्वेष है—पकड़ना हम भी चाहते हैं उसे···· तथापि उसके लिए मन में एक ललक है—ऐसा क्योंकर है····?

महाराज अपने कतिपय मंत्रियों—अमात्यों के साथ क्षिप्रा-तट पर पहुँचे। भट्टमात्र की दशा देखकर स्वयं महाराज भी स्तंभित रह गये। "हाय-हाय, भट्टमात्र ! तुम्हारी यह दशा कैसे हो गयी? किसने तुम्हें इस प्रकार फँसा दिया है?"

"मैं सर्वहर को पकड़कर यश अर्जित करना चाहता था, राजेश्वर !" भट्टमात्र ने उत्तर में निवेदन किया—"वही लोभ मुझे इस दुर्गति में ग्रस्त कर गया, महाराज ! क्या बताऊँ वह सर्वहर तो चातुर्य में मुझसे भी कहीं आगे निकला हुआ है।" एक

कराह के साथ उसने कहा–"पहले मुझे मुक्त कराइये, महाराज !" राज्य-कर्मचारियों ने निर्देश पाकर भट्टमात्र के हाथ-पैरों के बंधन खोल दिये। अत्यन्त साधारण वस्त्रों में भट्टमात्र कुछ-का-कुछ दिखायी दे रहा था। अँगुलियाँ फिराकर उसने अपने केशों को कुछ व्यवस्थित किया और तब उसने गत रात्रि की घटना को सविस्तार सुना दिया। कभी वह अपने सद्यःमुक्त पैरों को सहलाता तो कभी एक हाथ से दूसरे हाथ को। मुख पर बार-बार पराभव की लज्जा लहरा जाती थी।

मित्र की इस गति से महाराज के मन में करुणा उमड़ उठी। उसे सहज करने के प्रयोजन से उन्होंने कहा–"सर्वहर साधारण अपराधी नहीं है। जिसने हमारे राजभवन में, नगर-श्रेष्ठी के भवन में, सिंहदत्त के यहाँ जिस कौशल के साथ धनापहरण किया है, उसने ही फिर एक बार अपने चातुर्य से, हे महामात्य ! तुम्हें भी छल गया है। वही सर्वहर तुम्हें बन्दी बना गया है.... तुमने उसे बंदी बनाने का बीड़ा जो उठाया था न....। तुमने उसे पकड़ने के अपने प्रयासों में कोई अभाव न रखा। सफलता का इतना मोल नहीं, महत्त्व तो प्रयत्नों की सच्चाई का, लगन का, उद्यमशीलता का रहता है। यदि यह न हो, तथापि सफलता हाथ लग जाय तो वह संयोगजन्य उपलब्धि विशेष कोई महत्त्व नहीं रखती। यह सब हैं तो इनकी महत्ता को असफलता भी कम नहीं कर पाती। तुम्हारा कोई दोष तो तब माना जाता, जब तुम्हारे प्रयत्नों में अभाव रह जाता, अतः भट्टमात्र ! तुम आत्म-ग्लानि की जकड़ से स्वयं को मुक्त करो और आगामी उद्यमों में संलग्न हो जाओ। कर्मशीलता का यही तो आग्रह है।"

तुरन्त ही राजभवन पहुँचकर महाराज ने मंत्रि-परिषद् का आह्वान किया। परिषद् को सम्बोधित करते हुए महाराज ने सर्वहर की दुर्जेयता पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए खेद व्यक्त किया–"हमारी राज-शक्ति पर हमें गर्व है, हम सभी को गर्व है, किन्तु इस गर्व का खोखलापन उजागर होने लगा कि प्रशासन अपनी सम्पूर्ण क्षमता और शक्ति का प्रयोग करके भी एक परदेसी अपराधी को बन्दी न बना सका। एक के पश्चात् एक दाँव में राज्य को अपने मुँह की खानी पड़ी है। अब उस अपराधी का पकड़ में आ जाना अनिवार्य हो गया है। चोरी के अतिरिक्त जो अन्यान्य अपराध वह करने लगा है, भविष्य में जो आशंकित हैं–उनसे हमारी प्रजा आतंकित है। प्रजा को इस पीड़ा और आतंक से मुक्त कराना हमारा प्रथम और सर्वाग्र कर्त्तव्य है। यह स्वीकार्य सत्य है कि राज्य उसे बंदी वनाने में असमर्थ रहा, किन्तु इसी से पराक्रमी और चतुर जनों की, साहसी जनों की शृंखला की इतिश्री नहीं हो जाती। प्रजा जन में भी ऐसे शूरवीर, बुद्धि और चातुर्य के धनी हो सकते हैं। मालव की वीर प्रसविनी धरा क्या कभी वीरों से शून्य हो सकती है....! आपका क्या मत है, पार्षदो ! हमें अवन्ती में पटह वजवा देना चाहिये कि जो भी सर्वहर को पकड़कर राजसभा में प्रस्तुत कर देगा, उसे राज्य की ओर से सम्मानित–पुरस्कृत किया जायेगा। दो लाख से भी अधिक आय के अनेक गाँव उसे दिये जायेंगे।"

वयोवृद्ध बुद्धिसागर ने महाराज के विचार का समर्थन करते हुए कहा- "श्रीमानेश्वर ! ऐसा सर्वथा उपयुक्त रहेगा। मैं स्वयं अपनी ओर से यह प्रस्ताव करने को था। मुझे आशा है, हमारा यह चरण अवश्य ही सफलता तक हमें पहुँचा सकेगा। नेकी का कोई पार नहीं, महाराज ! किन्तु अमंगल प्रवृत्ति अनन्त नहीं होती, अछोर नहीं हो सकती वह। कौन जाने नियति को यही स्वीकार्य हो कि इस विकट विपदा के अन्त का श्रेय किसी सामान्य जन को प्राप्त हो। शौर्य, साहस, चातुर्य और बुद्धिमत्ता तो देवदत्त गुण हैं, उन पर किसी वर्ग-विशेष का एकाधिपत्य नहीं रहता। पटह बजवाने का विचार सर्वथा स्तुत्य है।"

भट्टमात्र ने भी इस प्रयोग को अपनाने में कोई हानि अनुभव नही की। सर्वसम्मत रूप में यह विचार निर्णीत हो गया, तो तत्काल इसकी क्रियान्विति भी आरंभ हो गयी। नगर में पटह बजने लगी। घोषणा होने लगी। उस दुस्साहसी सर्वहर को पकड़ने की चुनौती को जो स्वीकार करे वह पटह का स्पर्श करे। यदि वह सात दिवस में सफल रहेगा तो उसे अनेक गॉव पुरस्कार में दिये जायेंगे। दिनभर पटह बजती रहती, घोषणा होती रही, किन्तु किसी ने भी पटह का स्पर्श न किया। कर्मचारी भी हतोत्साहित होने लगे। बेचारे कर्त्तव्यबद्ध थे, सो अपना कार्य करते रहे; किन्तु उनमें वह तेज न रहा जो प्रातः कार्यारंभ के समय था। दिन ढलते-ढलते वे नगर के वेश्या-क्षेत्र में पहुँच गये। इस क्षेत्र में तो पटह-वादकों को कोई आशा थी ही नहीं। श्रमित–थकित वादक एक स्थल पर कुछ देर विराम लेकर बैठ गये। वहीं बार-बार पटह-वादन होता रहा।

पटह ने वेश्याओं को भी उत्साहित कर दिया। पुरस्कार का लोभ उन्हें सक्रिय करने लगा। चार गणिकाओं ने परस्पर विचार-विमर्श किया और पटह-स्पर्श का निश्चय कर लिया। हम गणिकाएँ तो चातुर्य में अग्रणी मानी जाती हैं। हमें इस चोर को पकड़ने में क्या कठिनाई होगी भला। हमारे यहॉ अनेक परदेसी युवक प्रतिदिन ही आते रहते हैं। यदि वास्तविक चोर न भी पकड़ा गया तो इनमें से किसी को भी सर्वहर बनाकर राजसभा में प्रस्तुत कर देंगी। यह सुगमता और सुविधा हमारे पास ही है। इसका लाभ क्यों न उठाएँ। अनेक ग्राम पुरस्कार में मिलेंगे। एक वरिष्ठ-सी गणिका ने अपना विचार व्यक्त किया तो उसके नेत्र आशातिरेक से दमक उठे। अन्य गणिकाओं के मन-मयूर भी नृत्य कर उठे।

गणिकाएँ वाहर निकल आयीं और पटह-वादकों के पास पहुँचीं–"भाई ! हम इस चुनौती को स्वीकार करती हैं।"–प्रमुख गणिका ने कहा।

एक अन्य ने उसमें योग दिया–"हॉ, जिस कार्य को अमात्यों और राज्याधिकारियो ने दुर्गम मांना है–वही हमारे लिए अत्यन्त सुगम है। हम मान दिन के पूर्व ही सर्वहर को पकड़कर प्रस्तुत कर देंगी।"

एक अन्य गणिका ने तभी कहा–"हमारा चातुर्य, हमारा व्यवहार-कौशल इस

दुर्गम कार्य को भी हमारे लिए सहल कर देगा। हमें आत्म-विश्वास है, सफलता हमारे चरणों में आ गिरेगी।''

''हे गणिकाओ ! इससे बढ़कर अन्य कोई प्रसन्नता की बात हमारे लिए क्या हो सकती है। अवन्ती में कोई तो है जो इस चुनौती को स्वीकार करने का साहस कर सका। आपकी सफलता रहेगी तो वह पुरस्कृत भी होगी। आगे बढ़िये और पटह का स्पर्श कर लीजिये।''—वादकों के नायक ने कहा और पटह-वादन के एक तीव्र दौर के पश्चात् पटह को आगे कर दिया। गणिकाओं ने सोत्साह आगे बढ़कर पटह को स्पर्श कर लिया और वे वचनबद्ध हो गयीं—सात दिवस में ही सर्वहर को राजसभा में प्रस्तुत कर देने के लिए।

पटह-वादक दल गणिकाओं को अपने साथ लेकर राजभवन की ओर चला। अब पटह-वादन और भी अधिक बजने लगी थी। आगे-आगे चारों गणिकाएँ, पीछे पटह-वादक चलने लगे। नगरवासियों में एक नवीन उत्साह भर उठा। अब तो सर्वहर बच न सकेगा। अवश्य ही वह पकड़ में आ जायेगा। उसका उपाय तो अब हुआ है। नाना प्रकार की चर्चा करते नागरिक जनों के दल-के-दल पीछे होने लगे। उत्साह और उमंग का नवीन वातावरण पुनः नगर में निर्मित होने लगा।

राजभवन में पहुँचकर गणिका-प्रमुखा ने प्रणाम करते हुए अवन्ती-नरेश से निवेदन किया—''राजाधिराज ! हम नगर को सर्वहर के आतंक से मुक्त करने को कटिबद्ध हैं। वह बल नहीं, छल से ही पकड़ में आ सकता है—हमें विश्वास है इस बात का और हम छल-प्रपंच करने में सिद्धहस्त हैं। जैसे भी हो हम उस जघन्य अपराधी को बंदी बनाने में राज्य का सहयोग करने को तत्पर हैं और हमें विश्वास है, श्रीमानेश्वर ! कि हमें हमारे प्रयत्नों में सफलता मिलकर ही रहेगी।''

''विश्वास हमें भी है, गणिके ! तुम लोगों पर विश्वास न करने का कोई कारण नहीं।'' महाराज ने सधैर्य कथन किया और हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया—''हमारी शुभ कामनाएँ तुम्हारे साथ हैं। राज्य के जिन साधनों का तुम उपयोग आवश्यक समझो, कर सकती हो। तुम्हारे प्रयत्न, तुम्हारी सफलता अवन्ती के लिए उपकारक सिद्ध होगी। किन्तु .... इस कार्य के लिए सात दिन की अवधि निर्धारित है....।''

''महाराज ! हमें ज्ञात है। इस अवधि को ध्यान में रखते हुए ही हमने अपनी योजना तैयार की है। यदि इस अवधि में हम सर्वहर को प्रस्तुत न कर पाएँ तो आप जैसा दण्ड चाहें, हमारे लिए उसका विधान करें, श्रीमानेश्वर !''

''हम प्रसन्न हुए तुम्हारे इस आत्म-विश्वास को जानकर। अब बिना एक क्षण भी व्यर्थ किये तुम लोग अपने उद्यम में लगो।'' महाराज यह कहकर आसन से उठ गये। वे सोच रहे थे—'गणिकाओं का सामर्थ्य और ही प्रकार का रहता है। असंभव-से प्रतीत होने वाले कार्यों को भी ये अपने चातुर्य और छल-प्रतिभा के सहारे संभव कर दिखाती हैं। अब आशा तो बनी है—सर्वहर को पकड में आ जाने

की।' चार गणिकाओं ने सर्वहर को पकड़ लेने की ठान ली है—यह समाचार भी सूर्य की धूप की भाँति नगरभर में प्रसारित हो गया। सर्वत्र यही चर्चा चलने लगी।

नगर के रसिक जन और कला-प्रेमी जन भी सावधान हो गये। ऐसा भी इन छलिया गणिकाओं से असंभव प्रतीत नहीं होता कि अपने किसी भी अतिथि को सर्वहर बनाकर राजा के समक्ष प्रस्तुत कर दें। धन का लोभ इनकी मूल प्रवृत्ति है। धन के लिए ये कुछ भी कर सकती हैं। धन का प्राचुर्य भले ही इनके पास हो, किन्तु धन का लोभ धनिकों को ही अधिक होता है। विपन्न जनों को तो अभावपूर्ति हेतु थोड़े-से धन की लालसा मात्र होती है, जिसके लिए वे उचित साधनों का विकास करते रहते हैं। अपने धन को और अधिक विपुल बनाने का लोभ सम्पन्न जनों को अनुचित मार्गों के अनुसरण में भी नीति का ही दर्शन कराता है। इस जन-आशंका का दुष्परिणाम यह रहा कि वेश्यालय सूने हो गये। वेश्याओं की दशा तो यह हो गयी कि चौबे जी छब्बे जी बनने चले और दुब्बे जी रह गये। कोई पुरुष वेश्यालय की देहरी लाँघकर भीतर जाने का साहस न कर पाया। इन गणिकाओं की नवीन लालसा पूर्ण होना तो दूर रह गया, उनकी नित्य की नियमित आय भी सर्वथा रुक गयी।

चारों गणिकाओं ने चिन्तित अवस्था में विचार-विमर्श आरंभ किया। अनेक मार्ग उनके समक्ष आये, किन्तु वे अंधी गलियों की भाँति कुछ दूरी तक चलकर ही बन्द मिलते। इस भारी विपदा से वे व्याकुल हो गयीं। वास्तविक सर्वहर को पकड़ पाना तो और भी कठिन था। उसका कोई सूत्र पाना भी दुष्कर था। ऐसी स्थिति में उन्हें सभी दिशाओं में संकट-ही-संकट दिखायी दे रहा था। वेश्या काली ने इस सारी स्थिति से सर्वहर को अवगत किया। वह स्वयं बड़ी भीत थी। उसे ज्ञात था कि चारों गणिकाएँ बड़ी चालाक और छली हैं। "उन्हें यदि ज्ञात हो गया कि सर्वहर मेरे यहाँ आश्रित है तो वे भेद खोलकर, हे सर्वहर ! तुम्हें पकड़वाकर पुरस्कार प्राप्त कर लेंगी।"—काली वेश्या ने परामर्श दिया—"इस अवधि में अतः, सर्वहर ! तुम कहीं अन्य सुरक्षित स्थल पर चले जाओ। इसी में हम दोनों का हित है।"

अपनी आश्रयदात्री की बात को सर्वहर ने ध्यान से सुना और तत्काल एक क्षीण-सी मुस्कान बिखरते हुए वह उठ खड़ा हुआ—"चिन्ता न करो, काली ! व्याकुल होने का कोई कारण ही नहीं है।"—यह कहकर सर्वहर अपने कक्ष की ओर चल दिया।

चारों गणिकाएँ अपने भवनों में घिर आए इस आशातीत सन्नाटे से व्याकुल थीं। नरेश द्वारा प्रदत्त अवधि समापन की ओर तीव्र गति से बढ़ती जा रही थी। सफलता के दर्शन तो दूर की बात थी, उन्हें उद्यम की दिशा ही नहीं मिल पा रही थी। वे वातायनों से झाँक-झाँककर देखतीं। उनके भवनों को आने वाले मार्ग दूर-दूर तक सूने पड़े दिखायी देते। वे तो अपनी भावी अपकीर्ति की चिन्ता में घुलने लगी थीं। कैसे .... इस निराशा के समुद्र से निस्तार मिले। तभी गणिका

प्रमुखा का द्वार किसी ने खटखटाया। इस समय चारों चिन्तामग्न इसी भवन में बैठी थी। एक गणिका में उत्साह उदित हुआ। उसने प्रमुखा से कहा—"दीदी !.... दीदी ! देखो, कोई आ ही गया है। इसे अब छोड़ना नहीं है। आज सातवीं रात्रि है। भगवान ने हमारी लाज रख ली। आखेट घर बैठे ही हमारे पास भेज दिया है।"

"हाँ.....हाँ.....हमारे लिए तो अब यही सर्वहर है।" एक अन्य गणिका ने कहा।

"अरे.... कौन आया होगा हमारे द्वार पर.... कोई न आया होगा। हवा से कपाट खड़खडा गये होंगे।"—प्रमुखा ने निराशा-भरे स्वर में कहा ही था कि पुनः द्वार पर थाप पड़ी।

एक गणिका ने कहा—"कोई तो है अवश्य। मैं देखती हूँ कौन आया है....।"

"तनिक सावधानी से.... बहन उसे भीतर ले आना। कहीं वह बाहर से ही लौट न जाय....।" अन्य गणिका ने सावधान किया।

"रुको.... रुको।"—प्रमुखा ने कहा—"मुझे ही द्वार खोलना होगा। तुम बैठो यहाँ।" प्रमुखा ने द्वार खोला तो पाया कि एक सम्पन्न और सुसंस्कृत प्रतीत होने वाला युवक प्रतीक्षा कर रहा है। कुलीनोचित बहुमूल्य वेशभूषा से सज्जित उस युवक का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। कंठ में मुक्तामालाओं और रत्नाभरणों से विभूषित उस सम्पन्न पुरुष को देखकर मन-ही-मन गणिका अत्यन्त प्रसन्न हुई। स्वागत करते हुए उसने पुरुष को भीतर बुला लिया। पुरुष ने भी सस्मित प्रणाम किया और इंगित आसन पर सभ्यतापूर्वक बैठकर उस शृंगारित कक्ष की शोभा निहारने लगे। संकोच के साथ गणिका ने प्रश्न किया—"श्रेष्ठीवर ! पूर्व में कभी आपके दर्शन न हुए। क्या आप परदेसी हैं?"

"तुम्हारा अनुमान सत्य है, देवी ! मैं परदेसी हूँ। मेरे स्वामी भी अवन्ती के लिए परदेसी ही हैं। मैं श्रेष्ठी नहीं हूँ, श्रेष्ठीवर का एक साधारण-सा सेवक हूँ। मैं तो अपने स्वामी धनदेव का एक संदेश लेकर आया हूँ। अनुमति हो तो निवेदन करूँ?" विनय के साथ आगंतुक ने कहा।

इतनी शालीनता और ऐसा वैभव जिसके चर के पास हो—वह श्रेष्ठी स्वयं कैसा होगा? गणिका किंचित् आश्चर्य के साथ विचारग्रस्त हो गयी। चर ने तत्काल कथन आरंभ किया—"आपका अनुमान सत्य है, देवी ! मेरे श्रेष्ठी अपार-अपार धन-वैभव के स्वामी हैं। कदाचित् वे स्वयं भी अनभिज्ञ हों कि उनका धन सही-सही कितना है? दूर-दूर तक उनके अनेक प्रकार के व्यवसाय चलते हैं। इस नगर में श्रेष्ठी धनदेव आज ही पधारे हैं। बड़े कला-प्रेमी हैं। नृत्य-संगीत में तो मानो उनके प्राणों का निवास रहता है। कलाकारों का आदर-सत्कार करना भी कोई उनसे सीखे। आज उन्होंने नगर में आपकी कला-प्रवीणता की चर्चा सुनी थी। वे बड़े प्रभावित हुए और मुझे आपके पास भिजवा दिया कि आपसे निवेदन करूँ कि क्या आज की रात्रि में आप उन्हें अपनी कलाओं से आनन्दित कर सकेंगी?"

"क्यों नहीं.... क्यों नहीं.... यह तो हमारा सौभाग्य होगा। ऐसे कला-प्रेमी को तुष्ट करने का आनन्द ही कुछ और है। हम चलेंगी.... अवश्य चलेगी।" उत्साहपूर्वक उस गणिका ने कहा—"बस, कुछ समय प्रतीक्षा करनी होगी। हम लोग तनिक ठीक से तैयार हो लें....।"

"मैं प्रतीक्षा कर लूँगा, देवी ! आप तैयार हो जायें। वैसे भी मेरे श्रेष्ठीश्री को सुन्दरता से बड़ा लगाव है। उन्हें शृंगारित और वनी-ठनी युवतियाँ ही अच्छी लगती हैं। वे तो यह भी मानते हैं कि बीसियों अलंकारों का प्रयोग करके ही कोई युवती सुन्दरी कहलाने की पात्रता अर्जित कर सकती है।" चर ने अपनी बात बड़े कौशल से कह दी। चारों गणिकाएँ अपने-अपने भवनों में जाकर शृंगार करने लगीं। बहुमूल्य बस्त्रालंकार धारण कर वे यथाशीघ्र ही चर के संग चल दीं। उन्हें आशा थी कि उनकी अवधि की इस अंतिम रात्रि में उन्हें सफलता प्राप्त होने को ही है। वे इसी श्रेष्ठी को रिझाकर, अपने वश में करके सर्वहर के रूप में प्रस्तुत कर देंगी।

इस संध्या को सर्वहर काली वेश्या के भवन से निकला तो उसने एक बैलगाडी किराये पर ले ली थी। बैलगाड़ी में ही वह एक उद्यान में पहुँच गया था। गाडीवान को उसने सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से पुरस्कृत किया। उसने इन वस्त्राभूषणो को तुरन्त धारण कर लिया और अनेक मुद्राएँ प्राप्त कर उसने सर्वहर का चर वन जाना स्वीकार कर लिया था। इसी वेश में वह गणिकाओं के यहाँ पहुँचा था। उद्यान में एक छोटा-सा भवन भी था। माली को कुछ धन देकर सर्वहर ने उसी को अपने आवास-स्थल के रूप में सजवा लिया था। चर चारों गणिकाओं को लेकर वहाँ पहुँचा तो धनदेव श्रेष्ठी ने अपने आसन से उठकर गणिकाओं का स्वागत किया। "कलाकार देवियों को धनदेव का प्रणाम !" आदरपूर्वक उसने शीश को किंचित नमित कर नमस्कार किया और बोला—"लक्ष्मी के घर में सरस्वती देवी के पदार्पण-जैसा सुखद वातावरण आपके आगमन से निर्मित हुआ है आज। नगर मे आपकी कला की बड़ी प्रशंसा सुनी। मैं तो कला का एक अकिंचन पुजारी हूँ। सोचा—'आपके माध्यम से क्यों न कला की आज अर्चना कर ली जाये।' मेरे अनुरोध पर आपने कष्ट किया—मैं तो कृतकृत्य हो गया, देवियो !" गद्‌गद भाव से श्रेष्ठी ने उनका अभिनन्दन किया और सुवासित पुष्पों की वेणियाँ भेंट कीं।

गणिकाएँ वड़ी प्रसन्न थीं, ऐसे कला-भक्त तो वहुत कम ही मिलते हैं। एक गणिका ने मुस्कराते हुए कहा—"श्रेष्ठीवर ! आपका स्नेहपूर्ण सम्मान पाकर हम कृतार्थ हो गयीं। हमें ज्ञात न था कि आप कलाओं के इतनी उच्च कोटि के भक्त हैं। हमें तो आपके व्यक्तित्व में लक्ष्मी और सरस्वती का अद्‌भुत संयोग अनुभव हो रहा है। वैसे, ऐसा होता कभी-कभी ही है। आप धन्य हैं, श्रेष्ठीवर ! और आज आपका सान्निध्य पाकर हम भी धन्य हो गयी हैं। आपने हमें स्नेह दिया, मान दिया—हम भी आपको कलाओं का भरपूर आनन्द देंगी।"

एक गणिका ने गीत की मधुर तान छेड़ दी। दूसरी ने योग दिया और दो ने नृत्यारंभ कर दिया। प्रफुल्लित श्रेष्ठी आनन्द-मग्न हो गया। रस-विभोर स्थिति में वह झूम उठा। नृत्य-समापन पर उसने चारों को अति सुन्दर और मूल्यवान वस्त्र और आभूषण भेंट किये। गणिकाओं ने उन्हें आदरभाव व्यक्त करते हुए ग्रहण किया। तब श्रेष्ठी ने उन्हें मदिरा का एक-एक पानक भी भेंट किया। मदिरापान से उन्हे अत्यन्त स्फूर्ति अनुभव होने लगी। मदाधीन गणिकाओं को अनुभव होने लगा कि सहसा उनके स्वरों का माधुर्य अतिशयता के साथ अभिवर्धित हो गया है। उनके कण्ठ में तो जैसे पपीहा आ बैठा हो। इतनी खुली-खुली, इतनी मधुर वाणी। एक गणिका ने पुनः तान छेडी तो उसे ही नहीं, सभी को लगा कि उसका स्वर तो कुछ का कुछ हो गया। ऐसा प्रभाव तो उसके स्वरों में कभी न रहा। दूसरी ने गान आरम्भ किया–उसके स्वरो की मादकता और मधुरिमा कुछ और भी बढ़ी-चढ़ी थी। पुन· एक लालित्य-भरा, शृंगारपूर्ण नृत्य आरम्भ हो गया–"धन्य है अवन्ती ! जहॉ ऐसे निष्णात कलाकारों का वास है। आज तुम गणिकाओं की साधना से नृत्य-संगीत की कला स्वयं धन्य हो गयी है। धन्य हो गये हैं हमारे नयन, जिन्हें ऐसे कला-प्रदर्शन साक्षी होने का अवसर प्रथमतः मिला है।" श्रेष्ठी प्रशंसाऍ करता रहा .... आनन्दित होता रहा। और नृत्य की समाप्ति पर उसने सम्मूर्च्छना चूर्ण मिश्रित मदिरा पीने को दी।

"श्रेष्ठीवर ! पहले पानक ने स्वर-माधुर्य बढ़ा दिया था। अब इस मदिरा का क्या प्रभाव होगा?" एक गणिका ने प्रश्न कर दिया।

"देवी ! मेरा कार्य पिलाना है, तुम्हारा कार्य पीना है। शेष काम इस पानक का है जो यह स्वतः ही करता चलेगा। इसका अप्रतिम प्रभाव तो ऐसा होगा कि तुम जीवनभर वह सुख विस्मृत न कर सकोगी।"–श्रेष्ठी धनदेव खुलकर हँस पडा और गणिकाओ ने भी उसकी हॅसी में अपना योग दिया। नृत्य पुनः आरम्भ हुआ। एक नवीन एवं प्रखर उत्साह के साथ आरम्भ हुआ नृत्य अधिक समय तक अपना तेज वनाये नहीं रख सका। शीघ्र ही उसमें शिथिलता आने लगी। नर्तकियो को आभास होने लगा कि जैसी भाव-भंगिमाऍ, जैसी आंगिक चेष्टाऍ वे प्रदर्शित करना चाहती हैं, वैसी हो नहीं पा रही हैं। उनके अंग-प्रत्यंग जैसे उनके वश से वाहर निकलते जा रहे हैं। चितवन की चपलता का स्थान पलकों की वोझिलता ने ले लिया, ठुमका लडखड़ाहट में परिवर्तित होने लगा। वे समझ न पायीं कि यह हो क्या रहा है। कुछ ही पलों में तो वे निश्चेष्ट होकर भूलुंठित हो गयी। सर्वहर की योजना सफल रही। उसने चारों गणिकाओं के वस्त्राभूषण उतार लिये। उन्हें अर्द्ध-नग्नावस्था में ही गाडी में भर दिया और दूर–वहुत दूर एक खेत में ले गया।

इस खेत मे एक कुऍ पर रहट लगा था। इस रहट के घंटों वाली माला थी। उसने इन गणिकाओं को माला पर वॉध दिया और रहट घुमाकर इन्हें कुऍ के भीतर उतार दिया। तव वैलगाड़ी पर सवार होकर वह नगर में लौट आया।

गाड़ीवान को पर्याप्त धन देकर विदा किया और स्वयं गणिकाओं के वस्त्राभूषण लेकर अदृश्य रूप में काली के यहाँ पहुँच गया। काली को सर्वहर ने यह सब सौंपा और गणिकाओं की दुर्दशा का वृत्तान्त विस्तार से सुनाया। वेश्या काली तो आश्चर्यचकित रह गयी—"अरे सर्वहर ! तुमने तो उन्हें भी छल लिया जो जगत् को छल-छद्म से अपने वशीभूत कर लेती हैं और जन-जन को धनहीन कर उनका जीवन सारहीन करके छोड़ देती हैं—उन गणिकाओं को भी तुमने लूट लिया। तुम तो छलिया—शिरोमणि हो गये, किन्तु तुम्हारा यह विपुल चातुर्य कभी तुम्हारे लिए ही संकट न बन जाय—मैं तो सदा इस भय से विचलित रहती हूँ। इतनी साहसिकता भी ठीक नहीं। एक ही बात मुझे आश्वस्त रखती है कि तुम्हारा परमोच्च साहस भी सुविचारित रहता है। यही तुम्हारा अभेद्य रक्षा-कवच है। इसे न त्यागना।"

भोर में ही कृषक अपने खेत पर पहुँचा और जल के लिए उसने नित्य की भाँति रहट को घुमाया, किन्तु आज तो उसे रहट भारी—बहुत भारी लगा। उसने अधिक बल लगाकर पुनः प्रयत्न किया। परिणाम वही विफलता ....। कृषक चकराया—आज क्या हो गया है इस रहट को। उसने कूप में झाँका तो भयभीत हो उठा। यह क्या .... चार-चार पिशाचिनियाँ मेरे कूप में घुसी हुई हैं। उन्होंने रहट को थाम लिया है तो कैसे घूमेगा यह। अब क्या हो ....? इस प्रेत-बाधा के तो न जाने क्या-क्या भयंकर दुष्परिणाम हों। वह भयाक्रान्त हो थरथर काँपने लगा। वह तो शीघ्र ही दौड़कर अपने खेत से बाहर निकल आया। बाहर आकर वह टुकुर-टुकुर अपना खेत, अपना कूप, अपना रहट निहारता रहा। बार-बार उसके नेत्रों के समक्ष रहट पर लटकी हुई नग्न पिशाचिनियों के चित्र आ जाते थे। वह गाँव की ओर भागा। मार्ग में ही उसे एक विचार आया—'क्यों न राजा को सूचना देकर सहायता माँगी जाय।' वह चिल्लाता हुआ गाँव को पार करता निकल गया। शोर सुना तो लोग घरों के बाहर निकल आये। अनेक ग्रामवासी उसके खेत में पहुँच गये। वह कुआँ .... कुआँ कुछ चिल्ला रहा था .... लोगों ने कुएँ में झुककर देखा तो उस कृषक के भयातंकित होने का कारण भी तुरन्त ज्ञात हो गया।

महाराज ने कृषक की बात धैर्य और शान्ति के साथ सुनी। पूछा—"कितनी पिशाचिनियाँ है।" उन्हें ज्ञात हुआ कि संख्या में चार हैं, कल की रात्रि मे ही गणिकाओं की अवधि भी पूर्ण हुई थी और वे चारों उनके निवास पर भी इस समय न थीं। इन सभी परिस्थितियों ने यह निष्कर्ष दे दिया था कि हो-न हो ये वे ही गणिकाएँ हैं—सर्वहर ने ही उनकी भी यह दुर्दशा की होगी। अधिकारियों को नरेश ने भेज दिया, जिन्होंने गणिकाओं को मुक्त कराया और उन्हें उचित रीति से नगर में ले आए। अत्यन्त लज्जित और संकुचित-सी वे महाराज के समक्ष उपस्थित हो गयीं। महाराज से उन्होंने क्षमा-याचनापूर्वक दुःख व्यक्त किया कि चोर को पकड़ने की प्रतिज्ञा उन्होंने की थी, किन्तु वे सफल न हो सकीं। वे सर्वहर को छलना चाहती थीं,

किन्तु इसके विपरीत चोर के हाथों वे ही छली गयी हैं और उनका चातुर्य का अभिमान चूर-चूर हो गया है। अब आप जो भी दण्ड दें हम उसे भोगने को तत्पर हैं। महाराज चोर की दुर्दमनीयता से सुपरिचित थे। वे इन वेश्याओं के लिए भला क्या दण्ड-विधान करते। महाराज ने उन्हे क्षमा तो कर दिया, किन्तु उनका मन इस घटना से और भी उद्विग्न हो उठा। उनके सामर्थ्य और शक्ति के लिए सर्वहर का उत्पात एक खुली चुनौती बन गया था और राज-शक्ति उसके समक्ष असहाय और असमर्थ अवस्था में खड़ी थी। महाराज के इस निश्चय से अन्य अमात्यगण भी सहमत थे कि पराजय तो हमारी हो रही है, किन्तु इसके कारण राज्य निश्चेष्ट नहीं हो सकता। हमें हमारे प्रयत्न निरन्तरित रखने चाहिए। परिणामतः नगर में पुनः पटह-वादन का निश्चय किया गया। भट्टमात्र को भी विश्वास था कि कभी-न-कभी तो हमें सफलता मिलेगी ही। दुराचार और दुर्विचार अनन्त नहीं होते। उन्हें एक दिन अपने समापन पर पहुॅचना ही पड़ता है।

राजसभा में जब यह विचार चल ही रहा था तब कौटिक नाम का जुआरी भी वहॉ उपस्थित था। उसने अपना मत व्यक्त किया कि छलिया चोर को छल से ही पकड़ना होगा–बल से वह वश में न आयेगा। उसने कहा–"राजराजेश्वर ! अनेक प्रयत्न उसे पकड़ने के हो चुके हैं। एक अवसर मुझे भी प्रदान करें, श्रीमानेश्वर ! मुझे अपनी चालबाजियों के आधार पर आत्म-विश्वास है–मैं उसे पकडकर राजसभा में प्रस्तुत कर दूँगा, किन्तु नगर में पटह-वादन कराना उचित न होगा, इससे तो चोर और भी सावधान हो जायेगा। छल-प्रपंच की सफलता का रहस्य तो उसकी आकस्मिकता में ही निहित रहता है।"

निदान, पटह-वादन का क्रम आरम्भ न किया गया। महाराज ने कौटिक को सतर्क किया कि सर्वहर के चातुर्य का पार पाना बडा कठिन है। वह शक्तिशाली भी है, साहसी और पराक्रमी भी है और मंत्र-शक्ति तथा विद्याओं का स्वामी भी है। उसे साधारण समझकर न चलो। कौटिक भी स्वयं को कहॉ सामान्य-सा मानने वाला था। उसे महाराज की उक्तियों में यथार्थ का बोध तो हुआ किन्तु उसने कहा–"सर्वहर चाहे असाधारण ही सही, किन्तु आपकी दया से कौटिक भी साधारण नहीं है। मुझे विश्वास है मैं उसे पकड पाने में सफल रहूँगा।" महाराज ने कौटिक को अवसर देने में भी कोई हानि अनुभव नहीं की और उसे प्रयत्न करने की अनुमति प्रदान कर दी। यह सारा वृत्तान्त काली के माध्यम से सर्वहर को ज्ञात हो गया। उसने यह भी बताया कि जुआरी कौटिक को मॉ चण्डिका का इष्ट है और यह देवी मॉ की भक्ति को ही अपनी सबसे बड़ी शक्ति मानकर चलता है।

उस सन्ध्या को जब कौटिक चण्डिका माता के मन्दिर पहुॅचा तो उसने मॉ के दर्शन से पूर्व ही एक योगिराज के दर्शन किये। क्या ही भव्य और दिव्य-सा व्यक्तित्व है.... आहा.... हा....। श्वेत, लम्बी केशराशि, श्वेत ही दाढी। गौर तन पर कौशेय झगा बहुत फबता था। मुकुलित पलकों से भी दीर्घाक्ष का अनुमान हो जाता

था। योगिराज के प्रभाव से अभिभूत कौटिक मंथर गति से उन्हीं की ओर बढता चला गया। अन्तःप्रेरणा से वह योगिराज के श्रीचरणों मे नमित हो गया। वह वन्दन करने ही वाला था कि सहसा योगिराज की गम्भीर वाणी फूटी—"सफल काम हो, वत्स ! अभिलाषाओं की कलिकाएँ सुरभित पुष्प बनें, कौटिक !"

"जय हो, प्रभो ! आपके दर्शनों का सौभाग्य इस जन को प्रथम बार ही मिला है। आप मेरे नाम से भी परिचित हो गये, महाराज ! आश्चर्य, महान् आश्चर्य !!"

"नाम ही नहीं .... हम तेरी कामना से भी परिचित हैं, कौटिक ! तू यही चाहता है न कि वह कुख्यात चोर सर्वहर तेरी पकड़ में आ जाये। तू लोक-मगल की भावना से ऐसा चाहता है न ! जनता के दुःख दूर हों—यही तेरी कामना है। बोल, यही अभिलाषा है न तेरी।"

"सत्य वाणी, महाराज ! आप तो अन्तर्यामी निकले, प्रभो ! मै तो हृदय से आपका दास हो गया, स्वामी ! आपका गुणगान ही मेरी एक मात्र साधना रह गयी है। दया करो, करुणानिधान ! जब आप मेरी कामना जानते है तो उसकी पूर्ति का स्रोत भी आपश्री से अज्ञात नहीं हो सकता। परम प्रतापी, शूरवीर अवन्ती-नरेश की धवल कीर्ति एक चोर के पॉवों-तले मर्दित हो रही है। इतिहास में महाराज विक्रमादित्य का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हो, जनदुःख-भंजन के रूप में उनका चरित-बखान हो—यह चोर सर्वहर इसमें व्यवधान वन गया है, प्रभो ! अवन्ती के दुःखों को दूर करने का संकल्प लिया है मैंने, प्रजा-वत्सल राजा विक्रम का मार्ग अबाध करने की प्रतिज्ञा की है, प्रभो ! मुझे सामर्थ्य प्रदान करो, स्वामी ! कि उस नराधम सर्वहर को पकड़ने में मै सफल हो सकूँ।"

"तो पकड़ क्यों नहीं लेता कौटिक, सर्वहर को ! हमसे क्या चाहता है, अज्ञानी ?" रोष के साथ योगिराज ने कहा। उनके नेत्र रक्ताभ हो उठे।

"क्या चाहूँगा, प्रभो ! एक ही कामना है।" अनुनयपूर्वक कौटिक ने कहा—"सर्वहर ही मेरे लिए अभी अंधे की ऑख वना हुआ है। इसे पकड पाऊँ तो मेरा जीवन ही सार्थक हो जाय। आप तो त्रिलोकगामी है, त्रिकालज्ञ हैं। आप विद्या-विलासी हैं। कृपा करो, करुणावतार ! मुझे वता दो, प्रभो ! इस समय वह कहॉ है ?"

"मूर्ख है तू ! तेरे समक्ष वैठा है तेरा लक्ष्य, जिसे तू खोज रहा है और तू पहचान नहीं रहा। अरे सर्वहर जो भी होगा, जहॉ भी होगा—आत्मा के रूप में जो परमात्मा उसमे निवास करता है वही तो हममें-तुममें, सभी में वसा हुआ है। पर तुझे संतोष उस प्राणी की देह को वन्दी वनाने से होगा न !" योगी जी ने रहस्य को गहराया और पुनः अरहस्य वना दिया। कौटिक तनिक चकराया भी कि क्या ये योगिराज ही .... और तुरन्त मार्ग पर आ गया कि नहीं .... नहीं, महात्मा जी का अर्थ तो कुछ भिन्न ही है। वह सोच ही रहा था कि योगिराज ने अपनी

रुद्राक्ष-माला खडखड़ाते हुए उसके सोच को भंग किया, बोले—"हम सब-कुछ जानते हैं, वत्स ! सब जानते हैं कि सर्वहर कहॉ छिपा है, किन्तु हम सांसारिक बिखेड़ों में हस्तक्षेप नहीं करते। ये विषय हम विरक्तों के लिए नहीं होते। हॉ, यदि तू सिद्ध कर ले तो एक मंत्र तुझे हम दे सकते है, फिर तू सर्वहर को पराजित कर सकेगा। सर्वहर स्वयं बड़ा शक्तिशाली है, विद्याओं का स्वामी है। यह मंत्र ही उसे पकडने में तुम्हें समर्थ कर सकता है। अन्य कोई उपाय नहीं। बड़े-बड़े शूरवीर, साहसी, चालबाज और चतुर लोग उसे पकड़ न सके। लगता है कि यह श्रेय तुम्हें ही मिलने को है, किन्तु .... उस मंत्र को सिद्ध करना भी साधारण कार्य नहीं है। जा, तू इस फेर में न पड़। वह कठोर साधना तुझसे हो न सकेगी .... ओ३म् .... हरि .... ओ३म् ....।" योगी ध्यानलीन होने की तैयारी में दिखायी देने लगे। इन क्षणों में तो कौटिक सहसा चिन्तित हो उठा।

अचकचाते हुए त्वरा के साथ बोल उठा—"ऐसा न कहें, महाराज ! मैं, कितनी ही कष्टकर साधना क्यों न हो .... उसे पूर्ण करूँगा। मुझ पर विश्वास करें, गुरुदेव ! मै मंत्र को अकारथ न होने दूँगा। मुझे मंत्र-सिद्धि की विधि बताइये, प्रभो !"

"शीत बड़ा कठोर है, कौटिक ! किन्तु इसकी चिन्ता न करते हुए तुझे आकण्ठ जल में खड़े रहकर रात्रिभर इस मंत्र का जाप करना होगा। इसके पूर्व तुझे सिर मुँडाना होगा और मुख पर गहरी कालिख पोतनी होगी ताकि रात्रि में प्रकट होने वाली प्रेत-बाधाएँ तुझसे भयभीत होकर दूर-दूर से ही निकल जायें। बोल—कर सकेगा तू यह सब-कुछ ?" योगिराज ने समझाकर सारी बात बताई। कौटिक को तो जैसे डूबते को नौका ही मिल गयी। उसने अपनी तत्परता दिखाई तो योगी ने भी कहा—"आशा तो हमें भी तुमसे यही थी, कौटिक ! जा, जैसा बताया है, वैसी सारी तैयारी करके आ जा। और हॉ .... दक्षिणा की सवा दो लाख स्वर्ण-मुद्राएँ लाना न भूलना। ध्यान रहे रात्रि के आरम्भ में ही तुझे यह साधना प्रारम्भ करनी होगी, फिर हमे भी तीन दिन की समाधि में प्रवेश करना होगा।"

"जैसी आज्ञा, महाराज ! मैं अभी लौटकर आता हूँ।" और सचमुच ही वह कोई एक घटिका में लौट भी आया। योगी ने उसकी अवस्था देखी तो अपनी हँसी को वडी कठिनाई से रोक पाये। मुण्डित शीश, श्याम मुख कौटिक आया और स्वर्ण-मुद्राएँ भेंट कीं। योगी ने एक मंत्र उसे कान में सुनाया। कौटिक प्रसन्न हो गया। श्याम मुख में उसके दॉत दमककर एकदम से वीभत्स हो उठे। उसके नेत्र अतिरिक्त रूप से अरुण प्रतीत होने लगे थे। योगिराज की अनुमति पाकर वह एक जलाशय में जाकर आकण्ठ गहरे जल में खड़ा होकर जाप करने लगा। शीत की कठोरता और जल की शीतलता से उसकी देह अकड़ने लगी, किन्तु वह साधनाच्युत न हुआ। भोर होते-होते तो वह इस भयानक कष्ट से विचलित होने लगा। उसके दॉत वजने लगे। सारे तन में रह-रहकर सिहरन उठने लगी। सूर्योदय हुआ। सूर्यदेव को नमन कर वह जल से वाहर आया तो चक्कर खाकर भूमि पर

गिर पड़ा। इस भयानक रूप में उसे अचेत पड़े देखा तो लोग उसे पहचान तो न पाये, किन्तु भयभीत होकर भागने लगे। किसी ने नगर-रक्षक सिंहदत्त को सूचना दे दी। वह अपने दल सहित पहुँचा और उसकी चिकित्सा करायी। उसके सचेत होने पर ही ज्ञात हुआ कि वह तो द्यूतकार कौटिक है।

उसे महाराज के समक्ष उपस्थित किया गया। अर्द्ध-नग्नावस्था में आरक्षी उसे राजपथ पर लेकर आये। मुण्डित केश और काले मुख ने उसे जन-हास्य का विषय बना दिया था। वह मन-ही-मन समझ गया कि कोई कुचक्र उसके साथ हो गया है। वह उपहास का पात्र होकर लज्जित होता हुआ ही राजभवन पहुँचा और महाराज से उसने अपनी समस्त आपबीती निवेदित कर दी।

"ऐसा कौन योगी हमारे नगर में आ गया है?"—महाराज ने चण्डी-मन्दिर में सिंहदत्त को भेजा कि खोजकर आये।

सिंहदत्त ने लौटकर निवेदन किया—"श्रीमानेश्वर ! मन्दिर में कोई योगी नहीं है। यह वस्तुएँ अवश्य ही वहाँ पड़ी मिली हैं।" उसने एक गठरी खोलकर रख दी, जिसमें श्वेत जटा और कृत्रिम दाढ़ी आदि थी, कौशेय झगा और खडाऊँ भी। सब-कुछ स्पष्ट हो गया था।

महाराज ने कहा—"कौटिक ! वह सर्वहर ही तुझे योगी बनकर लूट गया और तेरी यह दुर्दशा भी कर गया है। हमने बताया तो था सर्वहर का पार पाना बड़ा कठिन है, किन्तु तेरे अभिमान को अन्ततः मुँह की खानी ही पड़ी। तेरा चातुर्य भी तेरी सहायता न कर सका न। किन्तु तेरा भी भला दोष क्या है? तूने अपनी ओर से यथाशक्य प्रयास किया है।" कौटिक बेचारा लज्जा के मारे जैसे धरती में गड़ा जा रहा था।

सर्वहर कौटिक के वस्त्र और स्वर्ण-मुद्राएँ लेकर काली के पास पहुँचा, उस समय रात्रि का द्वितीय प्रहर आरम्भ हो चुका था। जुआरी से सवा दो लाख स्वर्ण-मुद्राएँ लेकर आ गया। चोरी की इस नवीन शैली का अद्भुत रूप देखकर वेश्या काली तो बेचारी चमत्कृत हो उठी। चोर को गृह-स्वामी ने स्वयं लाकर अपना धन दे दिया। प्रवंचना का यह अनूठा ढंग, द्यूतकार के पराभव का यह विचित्र और सफल प्रयास सर्वहर को अतिशय चतुर सिद्ध करने में सर्वथा पर्याप्त हो गया है। काली के मन में भाव उठने लगा कि ऐसे कुशल, ऐसे चालाक सर्वहर को भला कौन पराजित कर सकता है। "तुम तो जुआरी को भी चकमा दे आये, सर्वहर ! तुम तो अजात विजेता हो। तुम्हें पराजित करने वाला प्रतापी कोई जन्मा ही नहीं। तुम चोर न होते तो तुम्हें अपने चातुर्य का कितना यश प्राप्त हो जाता। तुम महान् हो गये होते।"

काली की इस उक्ति के उत्तर में सर्वहर ने कहा—"महान् तो हमें होना ही है, देवी ! उसके बीज हममें छिपे पड़े हैं। समय आने पर वे अंकुरित और विकसित होकर प्रतिष्ठा प्रदान करेंगे। मेरे सान्निध्य में वस्तुतः तुम्हारा व्यक्तित्व भी निखर उठा है। तुम्हारा उत्कर्ष भी हमें समीप ही दिखायी दे रहा है। तुमको भी इस जघन्य

और अपावन जीवन से मुक्ति मिलेगी और उच्च, गौरवपूर्ण, प्रतिष्ठित स्थान मिलेगा। तुम्हारी नवीन गरिमा-महिमा निर्मित होगी, देवी !''

''अब छोड़ो भी ! नाहक ही क्यों विनोद करते रहते हो। हम पापिष्टा गणिकाओं की और कोई गति नहीं होती। हमारी नियति में अधोमुखी होकर निम्न से निम्नतर स्थिति प्राप्त करते रहने का अटूट क्रम ही रहता है।''–उदास स्वरों में काली ने कहा।

''न मानो ···· मैं मानने को विवश तो नहीं करता तुम्हें, देवी ! किन्तु वह समय भी अब अधिक दूर नहीं है, जब मेरा कथन तो तुम्हें अपना उपहास प्रतीत हो रहा है–सत्य रूप में घटित हो जायेगा।'' गम्भीर होते हुए जब सर्वहर ने उक्त कथन किया तो उसके अनेकानेक अर्थों की कल्पना करती हुई काली तो आत्म-विभोर-सी हो उठी।

नयन मूँदकर वह अपने भवितव्य की माधुरी का पूर्वानन्द लेने लगी। बोली–उसी अवस्था में बोली–''तुम ··· तुम कितने अच्छे हो ··· सर्वहर ! ···· बहुत अच्छे हो ···· ।''

महाराज के जीवन की फिर एक नयी भोर नयी आशा को लेकर आयी। प्रत्येक भोर इसी रूप में इन दिनों आती रही कि साँझ ढलते-ढलते वह भी अँधेरी रात्रि के समान निराशा दे जाती थी। महाराज स्नानादि से निवृत्त होकर बैठे सर्वहर की समस्या पर चिन्तन करने लगे थे–'वह तो बड़ा दुष्ट निकला। गणिकाएँ और द्यूतकार भी अपने चातुर्यपूर्ण बुद्धि-कौशल से उसे पराजित न कर सके तो अब हमारी आशाओं का धूमिल हो जाना स्वाभाविक ही है, किन्तु क्या हमें उस उत्पाती से यों पराजय स्वीकार कर लेनी होगी ···· यह किसी भी राज्य-शक्ति के लिए शोभाजनक नहीं हो सकता है। हमें और भी शक्तिशाली प्रयास करने होंगे। उसे वश में करने के अन्यान्य मार्ग अपनाने होंगे। यों हाथ पर हाथ धरे हम बैठे कैसे रह सकते हैं?'

इसी समय उनके कक्ष में एक क्षीण-सा अट्टहास गूँज उठा और अग्निवेताल अवतरित हो गया। ''प्रणाम स्वीकार हो, महाराज !''–वेताल ने करबद्ध नमन किया।

''अरे मित्र अग्निवेताल ! ···· तुम? ···· इस समय यहाँ ····? तुम तो ····।'' महाराज विक्रमादित्य ने साश्चर्य कहा।

''देवद्वीप पर हमारा नृत्य-समारोह समाप्त हुआ तो, श्रीमन् ! लौटते हुए मैं इधर से निकल गया। सोचा–कुशल-क्षेम ही पूछता चलूँ ····।'' नम्रतापूर्वक अग्निवेताल ने निवेदन किया।

''अच्छा किया, मित्र ! तुम बड़े ही उपयुक्त समय पर पहुँचे हो।'' महाराज ने कहा–''हमें इस समय तुम्हारी आवश्यकता भी थी।''

''वही तो कहूँ ···· आपको चिन्तित देखकर मैं तो सन्न ही रह गया। आप-जैसे पराक्रमी और उद्यमशील वीर को भला क्या चिन्ता हो सकती है?'' जिज्ञासा वेताल के मुख-मण्डल पर झलक आयी। वह कारण जानने को जैसे आतुर हो उठा।

"है, मित्र ! .... कुछ कारण ऐसा ही है हमारी चिन्ता का, किन्तु अब तुम आ गये हो तो हम निश्चिन्त हो गये। तुम्हारे आगमन ने हमारे लिए नवीन आशाओं का द्वार खोल दिया है।"–महाराज ने कहा–"वर्षा का होना, खेत में बीज बोना, औषधि का सेवन और दूसरों की सहायता करना–ये सभी उपयुक्त समय पर हो जायें तभी सार्थक और सफल होते हैं। विलम्ब से होने पर वे लाभरहित होकर निरर्थक हो जाते हैं। तुम भी, मित्र ! यथासमय ही पहुँच गये हो। तुम तो अवन्ती के लिए वरदान-जैसे ही अवतरित हो गये हो।"

"ऐसी क्या समस्या है, महाराज ! मैं कुछ समझ नहीं पाया हूँ।" विवरण जानने को अग्निवेताल एकदम उत्सुक हो उठा।

"एक दुर्दान्त चोर ने हमें समस्या में ग्रस्त कर रखा है। जो सर्वहर बड़ा पराक्रमी और विद्यावेत्ता भी प्रतीत होता है। बड़ा चतुर और साहसी है वह। अवन्ती की प्रजा उससे बड़ी दुःखी और आतंकित हो उठी है। हमने बहुतेरे प्रयत्न किये हैं–सर्वहर को पकड़ने के। पूरी शक्ति लगा दी, किन्तु सर्वहर है कि अब तक वश में नहीं आया है।"

"आज्ञा करें, श्रीमानेश्वर ! मैं अपनी शक्ति और विद्याओं का प्रयोग करूँ .... ?" अग्निवेताल ने कहा–"मेरी शक्ति के आगे तो उसकी एक न चल पायेगी। अदृश्य रूप से मैं उसे अपने वश में कर लूँगा।"

"अब तुमसे ही आशा है, मित्र अग्निवेताल ! तुम ही हमारी चिन्ता और नगरवासियों के भय को दूर कर सकते हो।" महाराज ने कहा–"इसी से तो हम कहते हैं–तुम्हारा यह चमत्कारी आगमन इस समय बड़े अनुकूल अवसर पर हुआ है। तुम्हीं कुछ करो।"

"जैसी आज्ञा, श्रीमानेश्वर .... !" एक अट्टहास के साथ ही अग्निवेताल विलुप्त हो गया। महाराज के मन में नवाशा का संचार होने लगा। उन्हें अपने मित्र अग्निवेताल के सामर्थ्य और चातुर्य पर अटूट विश्वास था। कठिन से कठिन स्थितियों पर भी वेताल ने सदा विजय प्राप्त की है, असंभव-से कार्यो की सिद्धि में भी वह सदा सफल रहा है। सर्वहर की इस वाधा पर भी वह विजयी रहेगा।

यह सारा वृत्तान्त काली के माध्यम से जव सर्वहर को ज्ञात हुआ तो वह मुस्करा उठा। उसका मुख-मण्डल एक अपूर्व दीप्ति से जगमगा उठा। उसने साहस के साथ कहा–"हम वेताल का भी सामना करेंगे, देवी ! चिन्ता का विपय कोई है ही नहीं।"

काली के मुख पर चिन्ता की घटाएँ घुमडने लगी थीं। वुझे-से स्वर में वह वोली–"अग्निवेताल के पराक्रम से तुम परिचित नहीं, सर्वहर ! अतः ऐसा कहते हो। यह तो अनेकानेक विद्याओं का धारक है। शक्ति में भी वह परमोच्च है। इससे वचकर रहने में ही कुशल है–इससे न भिडना। इसने वडे-वडों का गर्व गलित कर दिया है।"

"तुम चिन्ता त्यागो, काली ! ऐसा कुछ होने का नहीं है। विजय हमारी ही होगी।"—सर्वहर के इस कथन में अविश्वास करने का कोई कारण न था। इसमें काली को तनिक भी अत्युक्ति का आभास न हो रहा था, किन्तु .... किन्तु वह अग्निवेताल की भयावह शक्ति को भी कम करके कैसे आँकती। एक विचित्र असमंजस के डोले पर वह झूलती ही रह गयी।

तीन दिन में सर्वहर को पकड़कर प्रस्तुत कर देने का वचन महाराज को अग्निवेताल ने दिया था। यह भी ज्ञात हो गया था सर्वहर को। वह अन्तिम दिवस की प्रतीक्षा किये बिना ही अगले दिवस से खड्ग लेकर अदृश्य रूप से नगर में विचरण करने लगा। यही स्थिति अग्निवेताल की थी। अन्तर यही था कि अग्निवेताल के लिए सर्वहर अदृश्य ही रहा, किन्तु वेताल स्वयं अन्य सभी के लिए अदृश्य होते हुए भी सर्वहर के लिए दृश्यमान बना रहा। हू .... हू करता वेताल सारे नगर में विचरण करता रहा तथा सर्वहर उसका अनुसरण करता रहा और वेताल को इसका आभास भी न हुआ। उसकी दृष्टि आगे से आगे ही बनी रही— उसने अनुसरणकर्त्ता सर्वहर का आभास उसे वैसे भी संभव न था। सर्वहर ने अग्निवेताल की गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया, उसकी महाशक्ति का अनुमान भी किया। अग्निवेताल की भयावह विशाल काया भी उसने देखी और उसके तीक्ष्ण भारी खड्ग को भी देखा। उसके मन के संकल्प की दृढ़ता भी कठोरता के रूप में उसकी मुख-मुद्रा में विद्यमान थी। प्रथम दिवस इसी प्रकार निरर्थक विचरण में व्यतीत हो गया—रात्रिभर का विचरण भी कोई परिणाम न दे सका।

अग्निवेताल दौड़ता रहा और सर्वहर की कहीं गंध भी वह पा न सका। दूसरे दिवस में भी सर्वहर ने उसे इसी प्रकार श्रमित—थकित करने की ठान रखी थी। वेताल अपनी समर्थता को करे भी क्या .... उसका लक्ष्य ही उसे मिल नहीं पा रहा था। वह असहाय वीर यों ही डोलता रह गया। झुंझलाकर सन्ध्या होते-होते वह एक स्थल पर ठहरा और अपनी दृष्टि चारों ओर प्रसारित करते हुए मन-ही-मन सोचने लगा—'सर्वहर ! आज तुझे मैं छोडूँगा नहीं। तू पाताल में भी छिपा होगा तो तुझे खोज निकालूँगा।' उसने पवन में अपना खड्ग लहराया। तभी खड्ग उसकी पकड़ से निकल गया और दूर गगन में उड़ता दृष्टिगत हुआ। उसे आश्चर्य था कि खड्ग उससे किसने छीन लिया। वह भौंचक्का-सा इधर-उधर ताकने लगा। तभी उसकी भुजा पर एक प्रहार हुआ। तत्काल ही रक्तस्राव होने लगा। उसने पाया कि उसका खड्ग भी उसी के समीप किन्तु, हाथों की पहुँच से वाहर हवा में झूल रहा है। उसके खड्ग से ही उस पर प्रहार हुआ, किन्तु कोई सुभट दृष्टिगत न हो रहा था। आश्चर्य के साथ उसने देखा कि तभी खड्ग तीव्र गति से उससे दूर होता जा रहा है। उसमे यह साहस भी न था कि दौड़कर पीछा कर लेता।

सर्वहर ने अग्निवेताल का रक्तरंजित खड्ग काली वेश्या के चरणो के समीप गिराया। झनझनाहट से काली का ध्यान भंग हो गया। सर्वहर की कुशलता की

चिन्ता में लीन काली चौंक उठी–'यह क्या .... यह रक्त से सना खड्ग कैसा!' मस्तक उठाकर देखा तो सामने ही मुस्कराता हुआ सर्वहर खड़ा था। "यह क्या सर्वहर ! रक्त सना खड्ग ....।"

"व्याकुल न हो, देवी ! मैं सर्वथा ही सकुशल हूँ। अवधि से एक दिन पूर्व ही मैंने अग्निवेताल को पराजित कर दिया है। वह हाहाकार करता हुआ भाग छूटा है। उसके रक्त से तृप्त हुआ यह स्वयं उसी का खड्ग है, देवी ! किन्तु चिन्ता न करो मैंने उसका प्राणान्त नहीं किया है, जीवित ही छोड़ दिया है ताकि अपने को अविजेय समझने वाले को पराजय की पीड़ा तो भोगनी पड़े।"

सर्वहर के उक्त कथन से चमत्कृत हो, उठी काली ने कहा–"धन्य हो, सर्वहर ! तुम धन्य हो ! जब अग्निवेताल ही तुमसे परास्त हो गया तो अब तुम सर्वजेता हो गये हो। कोई शक्ति तुम्हें पराजित कर नहीं सकती। तुम अभय हो गये हो, सर्वहर !"

"तुम आश्वस्त हो गयीं, देवी ! मुझे इसकी प्रसन्नता है।"–सर्वहर ने मुस्कराते हुए कहा–"अब प्रतीत होता है, शीघ्र ही यह संघर्ष का क्रम समाप्त हो जायेगा। शासन के घुटने टिकने लगे हैं।"

राजसभा को सम्बोधित करने को महाराज जाने ही वाले थे कि उसी समय उनके कक्ष में साकार हो गया–अग्निवेताल। उसने निवेदन किया–"करुणानिधान ! यह सर्वहर तो कोई साधारण व्यक्ति नहीं है। वह साहसी भी है और चतुर भी। अब तक कोई मुझसे मेरा खड्ग न छीन सका, न ही कोई प्रहार करने का दुस्साहस कर सका, किन्तु इस साहसी वीर ने तो यह सब कर दिखाया। देव-दानव कोई भी उसे पराजित नहीं कर सकता, प्रभो ! खप्पर चोर तो इसके चरणों की धूलि के समान भी नहीं है।"

"सर्वहर .... सर्वहर ही है, वेताल ! यह न देव है, न दनुज है। यह असाधारण अवश्य है, किन्तु है मनुष्य ही। सेर का कभी तो कोई सवा सेर मिलेगा ही।" महाराज ने कहा–"इस असाधारण अपराधी को पकड़ने के लिए भी कोई असाधारण युक्ति ही लगानी होगी। तुमने अपना प्रयत्न पूर्ण निष्ठा के साथ कर लिया। हम तो तुम्हारे आभारी हैं। अव अवन्ती का भाग्य ही ऐसा है तो भला तुम कर ही क्या सकते हो। अच्छा तुम विश्राम करो। हम राजसभा में जायेंगे।"

"अमात्य जनो और सभासदो ! सर्वहर की समस्या जटिल से जटिलतर होती जा रही है।" महाराज ने राजसभा में कहा–"जिस-जिस ने भी इसे पकड़ने का प्रयत्न किया है–उसे मुँह की खानी पड़ी है। वह सर्वहर तो सर्वजेता होता जा रहा है, सर्वगर्वहर हो गया है वह। अव हम स्वयं सर्वहर को पकड़ेंगे। अकेले .... सर्वथा अकेले ही हम सचेष्ट होंगे।"

कुछ क्षणों के मौन के उपरान्त महाराज ने पुनः अपना कथन आरम्भ किया—"हम आप सभी के समक्ष प्रतिज्ञा करते हैं कि तीन ही दिवस में हम सर्वहर का गर्व हरण कर देंगे और उसे पकडकर ले आयेंगे। यदि हम ऐसा न कर सके तो आपको अधिकार होगा कि आप हमे वही दण्ड दें, जो एक चोर को दिया जाता है।"

महाराज की इस घोषणा से तो सभा में हाहाकार मच गया। भट्टमात्र ने निवेदन किया—"महाराज ! स्वयं सचेष्ट होने का आपका संकल्प तो सराहनीय है, किन्तु दण्ड देने का अधिकार सदा ही राजा के पास सुरक्षित रहता आया है। प्रजा भला राजा के लिए दण्ड का विधान क्या करेगी? अपने कथन से इस अंश को निरस्त करें, प्रभो ! यह नीति विरुद्ध व्यवस्था कृपया न दें।"

मंत्री बुद्धिसागर ने कहा—"भट्टमात्र जी का कथन सर्वथा उपयुक्त है, श्रीमानेश्वर ! इतिहास में कभी ऐसा कोई प्रकरण नहीं मिलता कि प्रजा ने किसी राजा को दण्डित किया हो। इस उल्टी गंगा का बहना कोई औचित्य नहीं रखता, प्रभो ! मेरा अनुनय तो यह भी है कि महाराज अपने साथ कुछ दक्ष अंगरक्षकों को भी अवश्य रखें। मालव-प्रजा इतना जोखिम नहीं उठा सकेगी, कृपानाथ ! हमारा अनुरोध स्वीकार करें।"

महाराज ने विषय को महत्ता अवश्य दी। इन पर विचार किया और तदुपरान्त बोले—"राजा सभी की रक्षा का दायित्व वहन करता है। उसकी रक्षा के लिए कोई व्यवस्था अपेक्षित नहीं होगी। हम अकेले ही प्रयत्न करेंगे—सर्वहर को पकड़ने का भी और आत्म-रक्षा का भी। आपकी चिन्ता जानकर हमें आपकी स्वामी-भक्ति पर गर्व तो होता है, किन्तु आपकी चिन्ता अकारण भी लगती है। आपका यह परामर्श हम सहर्ष स्वीकार किये लेते हैं कि दण्ड देने का अधिकार राजा तक ही सीमित रखा जाय। इतना अवश्य मैं घोषित करता हूँ कि यदि तीन दिवस मे हम सफलता प्राप्त न कर सके तो हम आठ करोड़ मुद्राओं का दान करेंगे।" सभा हर्ष-ध्वनि के साथ विसर्जित हो गयी।

× × ×

अवन्ती-नरेश महाराज वीर विक्रम के इस व्रत का समाचार काली वेश्या को मिला तो उसने अपनी चतुराई से शेष विस्तृत विवरण भी ज्ञात कर लिया। सर्वहर को उसने समस्त सूचनाएँ देते हुए कहा—"यह बात अन्य है कि तुमने अग्निवेताल को पराजित कर दिया—अब तुम्हारा सामना परम प्रतापी महाराज से है। उनसे पार पाना कमल-नाल को खण्डित करने-जैसा नहीं है। अब स्वयं महाराज ने तुम्हें तीन दिन में पकड़ लेने का संकल्प किया है। उनका सिंहत्व तो देखो—वे अपनी राज-शक्ति का सहारा लिए विना ही, स्वयं अकेले ही सारा प्रयत्न करेंगे। अजी खप्पर चोर कितना भयावह और क्रूरकर्मी था। अपने उत्पातों से अवन्तीवासियों का जीवन नरक कर दिया था उसने। उस मंत्रसिद्ध और मायावी अपराधी को भी

देखते-ही-देखते नष्ट कर दिया था हमारे महाराज ने। उनके साहस और शौर्य का भला कोई पार है !"

"क्या हैं तुम्हारे महाराज—मैं भलीभाँति जानता हूँ, देवी ! अधिक बखान की आवश्यकता नहीं। ऐसे ही शूरवीर थे तो पहले ही क्यों न आ गये मैदान मे। हाँ .... आँ ....।" सर्वहर ने कहा—"सुनो, काली ! शूरवीरों से कोई पीढ़ी कभी शून्य नहीं रहती। यदि वे अपनी पीढ़ी के वीर हैं तो मैं नयी पीढ़ी का साहसिक हूँ। मेरा पराक्रम अपने स्थान पर है—उनका उनके स्थान पर है। परिणाम संघर्ष नहीं, संघर्ष का निष्कर्ष है। यह संघर्ष बाह्य, दर्शनीय भी हो सकता है और गुप्त रूप मे बुद्धि-वैभव का, चातुर्य का भी हो सकता है। मैं किसी नृपति को शरीर-बल में हीन न मानता हूँ और न ही सिद्ध करना उपयुक्त समझता हूँ। नरेश तो नरेश ही होते हैं; महामहिम होते हैं। वे सबकी श्रद्धा के पात्र रहें—यही अपेक्षित है।"

सर्वहर का कथन सुनकर काली वेश्या तो सहसा अतिशय प्रभावित हो गयी। बोली—"सर्वहर ! तुम्हारे विचार कितने ऊँचे हैं। आश्चर्य है कि इस प्रकार के उच्चादर्श वाले होकर भी तुम ऐसा कर्म करते हो !"

"देवी ! यह कर्म प्रकट रूप में हीन कोटि का अवश्य अनुभव होता होगा, किन्तु सच मानो, काली ! न तो यह मेरा सहज स्वभाव है और न ही इस प्रकार के कर्म से मुझे कोई आनन्द मिलता है। बस, यह समझो—एक पुण्यकर्म के लिए यह अनिवार्यता हो गयी है। फिर अवन्ती-नरेश से तो मुझे बड़ा भावनापूर्ण लगाव भीतर-ही-भीतर अनुभव होता है। विजयी तो मुझे होना ही है, किन्तु मैं उनके सम्मान का रक्षक बना रहूँ ... यह मेरी अन्तरात्मा का आग्रह है। मैं इस आग्रह का पूर्तिकारक बनूँ—यही समस्त हृदय से मैं चाहता हूँ। आगे तो जैसा प्रारब्ध होगा वही ....।"

"सर्वहर ! तुम साधारण-से प्रतीत होने वाले ऐसे व्यक्ति हो जिसमें अद्‌भुत महानताएँ छिपी पड़ी हैं। यदि तुमने महाराज की प्रतिष्ठा का ध्यान रखा न .... तो तुम्हारा बाल भी बाँका न होगा। सभी शक्तियाँ तुम्हारी रक्षा में प्रवृत्त हों ....।" काली ने शुभ कामनाएँ दीं।

"यह अन्तिम भिड़न्त है, देवी ! .... ऐसा प्रतीत होता है।" सर्वहर ने सरलतापूर्वक कथन किया—"इस दीर्घ संघर्ष-शृंखला की परिणति मंगलमय ही रहेगी, मेरे लिए भी और तुम्हारे लिए भी। तुमने मुझे आश्रय और सहयोग दिया है। तुम्हारी भूमिका का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, देवी !" काली वेश्या मौन भाव से सब-कुछ सुनती रही और चिन्तनलीन हो बैठी रह गयी—अचंचल, शान्त।

"राजा की नियति ही ऐसी है। अन्ततः राजा को मुझसे पराजित होना ही होगा। फिर राजा से मैं स्वतः भेंट भी करूँगा। वे बड़े प्रसन्न होंगे। मैं तुम्हें भी अपने आश्रयदाता के रूप में राजा से मिलाऊँगा, काली ! वे तुम पर भी उदार भाव से कृपा करेंगे।"

सर्वहर के इस कथन से भीत काली तो ऐसे चौंकी; जैसे कोई विषधर उसके पॉवों-तले आ गया हो। बोली–"ना···· ना, ऐसा भी गजब न करना····। महाराज एक बार तुम्हें क्षमा भी कर दें, किन्तु मुझे तो मृत्य-दण्ड ही दे देंगे। हाय···· हाय ! किसी घड़ी में मैंने तुम्हें अपने यहॉं रख लिया। अब मेरा कोई रक्षक न हो सकेगा। सर्प के दन्त में, बिच्छू के डंक में ही विष भरा होता है, किन्तु दुर्जन की तो नस-नस में विष होता है। दुर्जन का सान्निध्य कभी शुभकर नहीं होता····। घोर दुष्परिणाम मुझे भी झेलने होंगे····।"

"तुम तो व्यर्थ ही विचलित हो रही हो, देवी ! चिन्ता छोड़ो–तुम पर मैं कोई संकट आने न दूँगा। आश्वस्त रहो, मैं सोच-समझकर ही सब कार्य करूँगा।"

"तुम जो चाहो सो करो पर मुझे राजा से नहीं मिलना। तुम मेरा नाम भी उनके सम्मुख खोलोगे नहीं।" व्याकुल-सी काली ने शीघ्रता में बस इतना कहा और पुनः मौन हो गयी।

"जैसा तुम चाहोगी–वैसा ही होगा, देवी !"–यह कहकर सर्वहर उठकर अपने कक्ष की ओर चला। नैसर्गिक रूप में काली भी स्वतः क्रमशः सहज होने लगी। वह जानती थी कि सर्वहर अविश्वसनीय नही है। वह मेरा उपकार मानता है और उसका कोई प्रत्युत्तर भी देना चाहता है। चोरियॉं उसने की अवश्य हैं, किन्तु उसका भी अवश्य ही कोई सात्विक उद्देश्य है, अन्यथा भी सर्वहर शुद्ध अन्तःकरण का ज्ञात होता है। जैसा भी अव भवितव्य हो····।

महाराज वीर विक्रमादित्य नगर की गली-गली में सर्वहर की खोज में भ्रमण करने लगे। सर्वहर भी अदृश्य होकर विचरण करने लगा। उसके चरणों की अपेक्षा भी उसका मस्तिष्क अधिक क्रियाशील हो गया था। वह सोचता चला जा रहा था कि किस युक्ति से अवन्ती-नरेश को पराभूत किया जाय। रात्रि के आरम्भिक भाग में ही वह नगर के अन्तिम छोर की अत्यन्त साधारण-सी बस्ती में पहुॅच गया। एक छोटी-सी कुटिया के वाहर के ऑंगन में एक पुरुष अपनी खटिया विछाकर सोने की तैयारी कर रहा था। कुटिया में व्यस्त अपनी पत्नी को पुकारकर उसने कहा–"सुन ले, भागवान ! मुझे कल महाराज के वस्त्र धोकर दिन में ही पहुॅचाने हैं। कपड़े मेरे सिरहाने रखकर सो रहा हूँ। पिछली रात में ही जगा देना मुझे। रजक-कूप पर जाकर धो लाऊॅंगा।" और भीतर से किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये विना ही वह सो भी गया। सर्वहर ने यह कथन सुन लिया और वाहर एक गधा वॅंधा देखकर वह समझ गया कि अवश्य ही यह पुरुप राजभवन का धोवी है। सहसा एक विचार उसके मानस मे कौंध गया। कुछ समय इधर-उधर निरुद्देश्य विचरण करते रहने के पश्चात् सर्वहर लगभग अर्द्ध-रात्रि में पुनः उसी स्थल पर आ पहुॅंचा और धोवी के पास पहुॅचकर पाया कि वह गहन निद्रा में खोया है। हौले-से उसने उसके सिरहाने धरे राजा के वस्त्रों का पोटला उठा लिया और

सावधानीपूर्वक आँगन से बाहर आ गया। बाहर आकर उसने गधे को खोला, उस पर पोटला लादा और चल दिया।

नगर-सुरक्षा की दृष्टि से नगरकोट के सारे द्वार रात्रिभर बन्द रखे जाते थे और प्रहरी जन प्रति क्षण सावधान रहते थे। गधे को साथ लिये सर्वहर धोबी रूप में द्वार पर पहुँचा तो द्वारपाल ने द्वार न खोला। पूछा—"कौन है? कौन द्वार खुलवाना चाहता है इस समय। हमें रात्रि में किसी के लिए भी द्वार न खोलने का आदेश है।"

"नायक जी ! मैं तो .... यह धोबी हूँ। महाराज के वस्त्र धोकर कल दिन मे ही पहुँचाने की आज्ञा है। इसी से तो अभी धोकर लाना आवश्यक है। एक क्षण के लिए खोल दीजिये। मैं निकल जाऊँ तो तुरन्त बन्द कर दीजिये। श्रीमान् जी, खोल दो .... द्वार खोल दो।"—अनुनय-विनय की धोबी ने।

"वस्त्र धोकर लाना है तो दिन में लाना। इस समय रात्रि मे द्वार खुलेगा नहीं ....।" द्वारपाल ने कड़ककर कहा।

धोबी ने पोटला खोलकर वस्त्र दिखाये—"देखो, नायक जी ! देखकर विश्वास कर लो—महाराज के ही वस्त्र हैं। न जाने देते हो तो न जाने दो। किन्तु फिर महाराज रुष्ट हो गये तो तुम्हारी ही जवाबदारी होगी। दण्ड भी तुम्हें भोगना होगा।"

द्वारपाल ने पाया कि वस्त्र तो नरेश के ही हैं। कहीं नरेश रुष्ट हो ही गये तो लेने के देने पड़ जायेंगे। वह घबरा गया। अपनी घबराहट छिपाते हुए बोला—"अच्छा-अच्छा ! अब अधिक बकवास न कर। जा, अपना काम कर।" द्वार खोल दिया गया और धोबी बाहर निकल गया। वन में वह रजक-कुएँ पर पहुँच गया।

राजा विक्रमादित्य भी रात्रि के सन्नाटे में नगर में विचरण कर रहे थे। सहसा उन्हें किसी के चीखने-चिल्लाने की ध्वनि सुनायी दी तो वे उसी दिशा में आगे बढ़ गये। शीघ्र ही वे धीबी की कुटिया पर पहुँच गये। धोवी ने उन्हें वताया—"महाराज ! मैं निर्दोष हूँ। मुझे क्षमा करें। आपके वस्त्र कोई चोर चुरा ले गया। मुझे तो आज दिन में ही उन्हें धोकर पहुँचाने थे, किन्तु ....।" धोवी फूट-फूटकर रोने लगा। महाराज ने उसे आश्वस्त किया—"तुम न घवराओ .... हम उस चोर को शीघ्र पकड़ लेगे। तुम निश्चिन्त रहो।"

महाराज ने अनुमान लगाया कि अभी चोर नगर में ही होगा। उसने हमारे वस्त्र पहनकर राजभवन में जाने का प्रयत्न किया होगा। अश्वारूढ़ महाराज तत्काल ही राजभवन की ओर गये। द्वारपाल से ही जव उन्हें ज्ञात हो गया कि वहाँ कोई नहीं आया था तो वे तत्काल लौट पड़े और नगर में उसे खोजने लगे। नगर-द्वार पर पहुँचे तो द्वारपाल ने सूचना दी कि राज-धोवी ही नगर के बाहर

गया था। महाराज को इस निष्कर्ष पर पहुँचने में विलम्ब न लगा कि वही सर्वहर चोर है जो धोबी बनकर गया है। उन्होंने द्वार खुलवाया और नगर के बाहर निकल गये। उनका अश्व तो हवा से बातें करने लगा।

रजक-कूप से कुछ दूरी पर ही वे अश्व से उतर पड़े। चौकन्ने सर्वहर को उनके आगमन का आभास हो गया था। उसने त्वरा के साथ एक भारी-सा पत्थर उठाकर कूप में फेंका और स्वयं एक वृक्ष के पीछे छिप गया। कुएँ में कुछ गिरने की ध्वनि से महाराज भी सचेत हो गये और लपककर कुएँ पर पहुँचे। उनके वस्त्र वहाँ रखे थे, किन्तु कोई व्यक्ति उन्हें वहाँ दिखायी नहीं दिया। यह सोचते भी उन्हें विलम्ब न लगा कि अवश्य ही हमसे बचने के लिए चोर ने कूप में छलाँग लगा दी है। अब तो उसे पकड़ना और भी सुगम हो गया है। यह सोचकर महाराज ने अपने वस्त्र और आभूषण उतारकर बाहर रखे और स्वयं साहसपूर्वक कुएँ में उतर गये। अब तो सर्वहर को अवसर मिल गया। उसने महाराज के वस्त्राभूषण पहने, उनका खड्ग हाथ में लिया और अश्वारूढ़ होकर नगर की ओर चल दिया। महाराज के लिए द्वारपाल ने द्वार खोल दिया और नमनपूर्वक खड़ा रह गया। अश्व तीव्र गति से ही नगर में प्रविष्ट हो गया।

सर्वहर ने राजभवन से कुछ दूरी पर अश्व का त्याग कर दिया और स्वयं काली के भवन की ओर चला गया। काली प्रतीक्षा मे जाग रही थी। "लो, देवी ! ये रहे तुम्हारे राजा के वस्त्र और आभूषण और यह रही उनकी तलवार।" —सर्वहर ने महाराज की वस्तुएँ काली को सौपते हुए कहा।

काली वेश्या तो आश्चर्य-समुद्र में निमग्न हो गयी—"अरे वाह ! तुमने तो असंभव को संभव कर दिखाया है। सचमुच, तुम परम तेजस्वी हो, सर्वहर ! तुम्हारे करतव तो एक से बढकर एक रहे हैं और आज अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज को पराजित करके तो तुमने अद्‌भुत कार्य कर दिखाया है। तुम चोर तो नही .... हो सकते। वास्तव मे, तुम हो कौन ? कोई देव हो ? दनुज हो ? या फिर ....!"

"मैं न तो कोई देव हूँ, न ही कोई दनुज हूँ, देवी ! मैं हाड-माँस का एक साधारण-सा पुतला—मनुज हूँ। तुम्हारे महाराज को मैं चकित कर देना चाहता था—अपने असाधारण कृत्यों से; वह मैंने कर दिखाया। अब मेरी यह भूमिका सम्पूर्ण हुई। अब तो मुझे न चोरी करनी है न चमत्कार दिखाने हैं। इतिश्री हो गयी इन सभी की। अब तो परिणाम ही देखने हैं।"

कूप में महाराज को जब कुछ न मिला तो वे निराश होकर बाहर निकल आये। बाहर उन्हें अपना खड्ग, वस्त्राभूषण, अश्व कुछ भी दिखायी न दिया तो वे बडे अचरज में पड़े। तो क्या सर्वहर चोर उन्हें भी छल गया। वे मन-ही-मन लज्जा का अनुभव करते स्वयं को ही कोसने लगे। वे निरुपाय थे .... कर ही थे। विवश हो वे नगर की ओर चल दिये। क्या करें .... वे तो अर्द्ध

थे, पर किया ही क्या जा सकता था। आगे बढ़ते-बढ़ते भी वे रात्रि की उस शीत में ठिठुर रहे थे।

नगर-द्वार के बाहर पहुँचकर उन्होंने द्वारपाल को पुकारा। कहा–"द्वार खोलो।" द्वारपाल सतर्क हो गया था। उसने द्वार न खोला। विवश होकर महाराज को कहना ही पड़ा–"हम राजा विक्रमादित्य हैं.... द्वार खोलो।" पर द्वारपाल ने भीतर से झिड़क दिया–"अरे जा.... जा.... बड़ा राजा विक्रमादित्य बना है। चोर कहीं का.... मुझे छलना बड़ा कठिन है। अरे मूर्ख, हमारे महाराजा तो अश्वारूढ़ होकर कभी के नगर में प्रवेश कर चुके। तू कौन है? हम जानते हैं.... चोर कहीं का....। महाराज ने हमें सचेत किया है कि सर्वहर चोर इसी द्वार से बाहर निकल गया है। वह राजा बनकर द्वार खुलवाएगा–उनका आदेश है द्वार न खोला जाय।"

"अरे द्वारपाल! वह आदेश भी हमीं ने दिया था, हम ही अब संकट में हैं। द्वार खोलोगे तो सब समझ जाओगे, भाई! द्वार खोलो....।"

"अब शान्त होजा बे! क्यों बकवास करता है। द्वार अब भोर से पूर्व खुलने का नहीं। राजा बनने चला है.... चोर कहीं का। अब तेरी आवाज आई तो प्राचीर से पत्थर मार-मारकर तेरा कचूमर निकाल दिया जायेगा।" विवश होकर द्वारपाल द्वारा किये गये अपमान को सहन करना ही पड़ा महाराज को। वे शान्त हो गये। शीत से सिकुड़कर वे प्राचीर के सहारे सटकर बैठ गये। भोर होने पर द्वार खुलेगा भी तो वे लोगों के सामने इस अर्द्ध-नग्न अवस्था में कैसे आयेंगे–इस विषय में वे चिन्तित थे।

राजभवन के प्रहरियों ने महाराज के अश्व को देखा तो सोच में पड़ गये कि महाराज कहाँ रह गये। वे बीच में आये भी थे और तुरन्त लौट गये। कहीं किसी संकट में तो नहीं हैं, हमारे पृथ्वीनाथ! चिन्तित प्रहरियों ने तत्काल महामात्य भट्टमात्र को सूचना दी। एक बार तो वह भी चिन्तित हो गया। अवश्य ही उस सर्वहर ने कोई संकट खड़ा कर दिया होगा। वे तत्काल राजभवन आये। परिस्थितियों का आकलन कर नगर-रक्षक को बुलाया और नगर में चारों ओर खोज आरंभ करायी। धोबी के यहाँ चोरी की घटना से भट्टमात्र को सूत्र मिला। वे लपककर नगर-द्वार पर पहुँचे। द्वारपाल से ज्ञात हुआ कि महाराज रात्रि में नगर के बाहर निकले अवश्य थे, किन्तु कुछ समय में ही लौट आये और राजभवन चले गये थे। भट्टमात्र ने कहा–"किन्तु महाराज न तो राजभवन में हैं, न ही नगर में, कहीं अन्यत्र हैं। इसका अर्थ है कि जिसे तुमने देखा था वे महाराज नहीं थे। उनका वेश धारण कर कोई ठग, कोई छलिया आया होगा और हमारे महाराज किसी संकट में फँस गये हैं।"

भट्टमात्र का यह कथन सुना तो द्वारपाल हक्का-बक्का ही रह गया–"श्रीमान्! यदि ऐसा है तो महाराज फिर द्वार के बाहर बैठे हैं। अश्व के निकल जाने के बाद

भी कोई आया था—द्वार खुलवाना चाहता था, किन्तु मैंने खोला नहीं। यह भी कहा उस व्यक्ति ने कि मैं राजा विक्रमादित्य हूँ, पर मैंने भरोसा नहीं किया। सोचा—सर्वहर ही मुझे धोखा देकर द्वार खुलवाना चाहता है।''

भट्टमात्र की कल्पना सत्य होती जा रही थी। तुरन्त द्वार खुलवाया गया। पाया कि दुर्गतिग्रस्त महाराज ही प्राचीर के बाहर अर्द्ध-मूर्च्छित अवस्था में पड़े थे। तुरन्त रथ और वस्त्र मँगवाये गये। महाराज भी कुछ क्षणों में ही सचेत हो गये। भय से थरथर काँपते हुए द्वारपाल बार-बार क्षमा-याचना करने लगा। उसे तो मृत्यु-दंड का भय त्रस्त किये हुए था। महाराज ने उसे समीप बुलाकर उसकी पीठ थपथपाई। कहा—''द्वारपाल ! तुम भयभीत क्यों हो। तुम्हारा कोई दोष नहीं। तुम-जैसे ही कर्त्तव्य-परायण कर्मचारियों की आवश्यकता शासन को सदा रहा करती है। हमें तुम पर गर्व है। ऐसी ही निष्ठा के साथ कर्त्तव्य-पालन करते रहो।'' रथ राजभवन की ओर बढ गया और द्वारपाल का मनोवल गगनचुम्बी हो गया।

महाराज सर्वहर की दिशा में और भी गंभीर और चिन्तित हो उठे थे। लोक-रक्षा के साथ-साथ राज्य-प्रतिष्ठा का प्रश्न भी विकट होता जा रहा था। मन्त्रि-परिषद् में महाराज ने अपने छले जाने पर क्षोभ व्यक्त किया। अमात्य जनों ने उन्हे सहज किया। बुद्धिसागर ने कहा—''राजराजेश्वर ! सर्वहर अवश्य ही कोई मानवेतर विभूति है। यही कारण है कि उसके कृत्यों में चमत्कार है। वह किसी भी प्रकार से साधारण नहीं कहा जा सकता है। मानव कितना ही श्रेष्ठ हो—वह मानव ही रहेगा। मानवेतर शक्तियों का सामना यों सहसा और सहजता के साथ तो संभव नहीं होगा। तथापि हमें हमारे प्रयास छोड़ने नही चाहिये। कभी तो हम उस पर हावी हो ही जायेगे।''

महाराज का संकोच और लज्जा भाव कुछ कम होता देखकर महामात्य भट्टमात्र को आन्तरिक हर्ष का अनुभव होने लगा। इसी क्रम को अग्रसर करते हुए महामात्य ने कहा—''महाराजश्री ! मंत्रीवर बुद्धिसागर जी के कथन में औचित्य है। अव हमें यह पटह-वादन करा देना चाहिये कि जो कोई भी सर्वहर को पकड़कर प्रस्तुत कर देगा उसे आधा राज्य प्रदान कर दिया जायेगा।'' मंत्रि-परिपद् का व्यापक समर्थन इस विचार को प्राप्त हुआ। महाराज ने भी अपनी अनुमति प्रदान कर दी।

निदान, नगर में घोपणा के साथ पटह-वादन कराया गया। दिनभर में भी किसी ने पटह स्पर्श न किया तो चिन्ता का विपय वन गया। सर्वहर ने काली से कहा कि अव इस पटह के साथ ही मेरे अभियान का पटाक्षेप होने को है। सर्वहर को राजसभा में प्रस्तुत करने का श्रेय तुम्हें प्राप्त होगा। काली तो यह सुनकर अस्त-व्यस्त-सी हो गयी—''यह क्या कहते हो तुम, सर्वहर ! महाराज तो तुम्हें आश्रय देने के अपराध मे मुझे मृत्यु-दंड ही दे देंगे। ना ···· ना ···· वावा ···· मैं

यह जोखिम नहीं लूँगी। सर्वहर ने नाना भाँति से उसे प्रबोधित और प्रेरित किया, किन्तु वह यही कहती रही कि उसे नहीं लालच आधे राज्य का। लालच ही तो गला कटवाता है।''

''ऐसा नहीं है.... देवी ! ऐसा नहीं है। महाराज तो परम प्रसन्न होंगे। भय और संकोच तनिक भी न रखो और जाकर पटह का स्पर्श कर लो। शेष कार्य तो मेरा है।''–सर्वहर ने उसे अनेक प्रकार से प्रबोधन दिया, आश्वस्त किया। काली को सर्वहर की यह बात प्रभावित कर गयी कि प्रत्येक नये कार्य के समय सर्वहर के प्रति वह आशंकित रही और अन्ततः प्रत्येक आशंका मिथ्या ही सिद्ध होती रही है। सर्वहर विश्वसनीय है और मेरा हितैषी भी। वह मुझे किसी संकट में क्यों डालने लगा। निश्चिन्त होकर वह गयी और पटह का स्पर्श कर आयी। महाराज को ज्ञात हुआ तो वे बड़े असमंजस में आ गये। यदि काली वेश्या सफल ही रही तो उसे आधा राज्य दिया कैसे जायेगा। यह तो बड़ी समस्या हो जायेगी।

''कोई समस्या नहीं है, राजाधिराज !....'' अनुभवी मंत्री बुद्धिसागर ने कहा–''कोई समस्या न होगी। यदि सर्वहर की समस्या का निदान हो जाता है तो उसके समक्ष भला यह भी कोई कठिनाई रहेगी? इसका तो उपाय बड़ा सरल है।''

''वह क्या, मंत्रीवर !'' महाराज तनिक जिज्ञासु हो उठे।

''काली का उन्नयन करना होगा, महाराज !'' मंत्री ने सुझाया–''आप उसके साथ विवाह कर लीजिये। आधा राज्य तब काली को नहीं एक रानी जी को दिया जायेगा और रानी के स्वामी होने के नाते प्रदत्त राज्य भी रहेगा स्वयं आपके ही पास।''

मंत्री बुद्धिसागर की युक्ति अकाट्य थी। अमोघ समाधान था यह, पर महाराज को यह समाधान भी वरेण्य प्रतीत न हुआ। इसकी व्यावहारिकता में उनको आशंका थी। बोले–''किन्तु हीन कुल की नारी को रानी का पद कैसे दिया जा सकेगा?''

समाधान इस बार महामात्य भट्टमात्र ने दिया–''किसी राजा द्वारा वेश्या से विवाह किये जाने पर भी राजा पर कोई दोष नहीं आता, महाराज ! आप निःशंक रहें। यह शास्त्र-सम्मत है। नीतिकारों की मान्यता है–''स्त्रीरत्नम् दुष्कुलादपि''। अमृत चाहे विष में भी हो–वह ग्राह्य है, मलिन वस्तु में पड़ा स्वर्ण और अधम व्यक्तियों से उनका ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिये। इसी प्रकार नीच जाति से भी स्त्री-रत्न प्राप्त हो तो उसे ले लेना चाहिये।''

भट्टमात्र का परामर्श महाराज की शंका को दूर करने में समर्थ हुआ। उनका मन शान्त हो गया। आगामी प्रातःकाल में राज्य-सेवक काली के भवन पर पहुँचे और आदरपूर्वक निवेदन किया–''महाराज प्रतीक्षा कर रहे हैं। आप सर्वहर को कब प्रस्तुत करने वाली हैं?''

सर्वहर से विचार-विमर्श पूर्व ही में हो गया था। काली ने कहा—"महाराजश्री से मेरा प्रणाम निवेदन कीजिये। उन्हें अवगत करा दीजिये कि सर्वहर आज ही संध्या-समय राजभवन में पहुँच जायेगा। मेरा संग होना आवश्यक न रहेगा। वह एकाकी भी आ सकता है—मैं उसके संग भी हो सकती हूँ। आज ही मैं अपने वचन को पूर्ण कर दूँगी। वे निश्चिन्त रहें।"

काली वेश्या का यह संदेश तो संजीवनी बूटी-सा चैतन्यकारी सिद्ध हुआ। सारे नगर में नवोत्साह की लहर फैल गयी। राजभवन में तो अतिशय उमंग का वातावरण छा गया। तत्काल ही समस्त तैयारियाँ आरंभ हो गयीं। राजभवन के उन्मुक्त प्रांगण में विशाल पाण्डाल तैयार करा लिया गया। आज कुख्यात अपराधी सर्वहर अवन्ती की जनता की साक्षी में आत्म-समर्पण करने को था। एक मंच भी सज्जित किया गया, जिस पर अवन्ती-नरेश और राजकुल के सदस्यों के आसीन होने की व्यवस्था की गयी। मंच के समक्ष, नीचे कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के लिए क्रम से आसन लगाये गये। समारोह के जनसंकुल होने के पूर्वानुमान के अनुसार ही अन्य व्यवस्थाएँ भी कर ली गयीं। समीपस्थ राज्यों के राजकुल भी आमंत्रित किये गये।

सूर्यास्त-पूर्व ही सारा पाण्डाल खचाखच भर गया। सभी ने यथोचित आसन ग्रहण कर लिये थे। अपार जनमेदिनी से पाण्डाल सुशोभित हो गया। राजकुल की समस्त रानियाँ मंचासीन थीं। पंचदण्डछत्र-सज्जित बत्तीस पुतलियों वाला राज-सिंहासन अभी रिक्त था। मंच के समक्ष की पंक्तियों में महामात्य, महाप्रतिहार, महादण्डनायक, अमात्य जन, मंत्रीगण, सामंतगण, नगर-श्रेष्ठी, अन्य लब्ध-प्रतिष्ठ, नागरिकगण, राज-अतिथि आदि विराजमान थे। असंख्य आरक्षीगण अपने-अपने कर्त्तव्य पर सतर्क मुद्रा से सन्नद्ध थे। चारों ओर एक प्रच्छन्न औत्सुक्य छाया था। सभी इस सर्व चर्चित सर्वहर की एक झलक के लिए लालायित थे। महाराज का आगमन अभी शेष था। अवसर ही ऐसा था कि महाराज के आगमन की प्रतीक्षा की अपेक्षा भी सर्वहर सभी के आकर्षण का केन्द्र हो गया था। यथासमय महाराज और राजमहिषी कमलावती ने पाण्डाल में प्रवेश किया। वे मुख्य द्वार से प्रविष्ट होकर पाण्डाल को पार करते मंच की ओर अग्रसर होने लगे थे। प्रजा जन अपने-अपने स्थान पर खड़े होकर महाराज को नमन करते जा रहे थे। राज-दम्पति भी मुस्कान के साथ सभी के अभिवादनों का उत्तर हाथ उठाकर देते जा रहे थे। मण्डप जय-जयकार से गुंजित हो उठा। मंच पर आकर राज-द्रम्पति ने सामूहिक रूप में सभी को उनके अभिवादन का उत्तर हाथ उठाकर दिया। हर्ष-ध्वनि के साथ सभी ने महाराज का सत्कार किया। राज-दम्पति के आसन ग्रहण करने पर सभी उपस्थित जन पुनः आसीन हो गये। कुल-पुरोहित ने स्वस्ति-गान किया। वंदी जन यशोगान करने लगे। महामंत्री भट्टमात्र मंच पर प्रकट हुए और महाराज को प्रणाम कर उच्च स्वर में कथन करने लगे—"परम पराक्रमी

महाराजश्री के सान्निध्य में हम सभी एक विशेष प्रयोजन से ही एकत्र हुए हैं। आप सभी अवगत हैं कि आज की इस सभा में बहुचर्चित सर्वहर स्वयं को प्रकट करेगा और राज्य के प्रति आत्म-समर्पण करेगा। अवन्ती की जनता के दुःखों और आतंक का पटाक्षेप भी इसी के संग हो जायेगा।''

नगर-श्रेष्ठी के समीप ही आसीन एक तेजस्वी तरुण महामंत्री की वात को ध्यान से सुन रहा था। यह अपरिचित-सा युवा किसी अन्य राजकुल से आगत अतिथि के रूप में अनुमानित किया गया था। युवराज-जैसा ही तेज और कान्ति उसके मुख-मण्डल पर विद्यमान थी। महामंत्री ने अपने कथन के अन्त में कहा- ''आज यह अपार जन-समूह सर्वहर को देख लेने की जिज्ञासा के साथ उमड़ पडा है। अवश्य ही सर्वहर इस पाण्डाल में उपस्थित है। सर्वहर एक क्षत्रिय है और वचन-पालन क्षत्रियोचित परम धर्म है। हमें विश्वास है, उन्होंने भी इस धर्म का पालन किया ही होगा और वे यहाँ उपस्थित हो गये होंगे। मेरा उनसे कहना है कि अब वे स्वयं प्रकट हों और जन-जिज्ञासा को तुष्ट करें।''

जनता की आशा के अनुरूप अब सर्वहर के सबके सामने आ जाने की संभावना थी। सभी की उत्कंठा अभिवर्धित हो गयी थी। दृष्टियाँ पाण्डाल में चारो ओर फैलाए लोग देखने लगे थे कि कहाँ से उठकर सर्वहर आता है? कैसा है यह सर्वहर? किन्तु कोई भी उठकर सामने नहीं आया। सभी का उत्साह कुछ शिथिल होने लगा। एक अर्थहीन-सी ध्वनि से पाण्डाल भरने लगा जो जन-नैराश्य का सूचक होता चला जा रहा था। इसी समय महाराज आसन से उठे और ओजस्वी स्वर में उन्होंने सम्बोधन प्रदान किया-''अवन्ती के मेरे प्रजा जनो ! आप शान्त बने रहें। सर्वहर अपने वचन का रक्षक है, शूरवीर और साहसी है। वह जो कहता है, उसे कर दिखाता है। सर्वहर अवश्य ही इस सभा में उपस्थित है-हमें इसका पूर्ण विश्वास है और वह प्रकट भी होगा। सर्वहर से हमारा कथन है कि वह अपने मन में कोई भय न रखे। निर्भयतापूर्वक हमारे समक्ष उपस्थित हो और अपने मन को खोलकर रख दे। चोरी उसका व्यवसाय नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका कोई अन्य ही शुभ प्रयोजन है। ये उत्पात तो उसने राज्य का ध्यान अपनी ओर केन्द्रित करने के निमित्त ही रचे हैं। उसका कर्म यदि चोरी भी है तो उस चोरी के पीछे कोई मांगल्य छिपा है, यह चौर्यकर्म भी सात्विक है। उसके विचारों से वह निःसंदेह वडा सौम्य और सुसंस्कृत लगा है। वह अपने वचनों से मुख नहीं मोडेगा। वह साहसी है। सर्वहर ! तुम निःसंकोच सामने आओ और हमें अपने प्रयोजन का परिचय दो।''

महाराज ने प्रेरक कथन किया और नगर-श्रेप्ठी के समीप वैठा युवक अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। राजसी वेश-भूपा, आकर्पक व्यक्तित्व, सौम्य मुख पर प्रसन्नचित्तता के लक्षण, निर्भीक, क्षत्रियोचित चाल-ढाल यह सब देखकर नगर-श्रेप्ठी तो चकित रह गये। यह सर्वहर ''। नहीं नहीं, हो नहीं सकता। यह

तो दुष्ट है, कुटिल है····। युवक सिंह गति से आगे बढ़ा और मंच तक पहुँचकर एक बार उपस्थिति की ओर अभिमुख होकर सभी को उसने झुककर प्रणाम किया और तब नरेशाभिमुख होकर वह मंच पर चढ़ा। शालीनतापूर्वक एक ओर खड़े होकर उसने राज-दम्पति को नमन किया और शान्त भाव से मौन खड़ा रह गया।

"सर्वहर···· सर्वहर कहाँ है, युवक ! क्या तुम उसके स्वामी हो? या उसका कोई संदेश लेकर आये हो?" महाराज ने उसकी बगल में कौशेय वस्त्र में लिपटी किसी वस्तु की ओर संकेत करते हुए पूछा।

"विश्वास करें···· महाराज ! मैं स्वयं ही सर्वहर हूँ।" युवक के मुख से जैसे सुरभित सुमन झड़ रहे हों। मैंने ही आपको संदेश भेजा था, मैंने ही नगर में चोरियाँ कीं, उत्पात मचाये।"

जनता में तो एक अद्‌भुत कुतूहल मच गया। सर्वहर का ऐसा रूप। यह सर्वहर हो—ऐसा कैसे हो सकता है। पर युवक का कथन अविश्वसनीय भी नहीं लगता था। यदि सर्वहर यह नहीं तो वह फिर है कहाँ? और यह भला कौन है····? भट्टमात्र ने कहा—"युवा ! तुम मिथ्या भाषण तो नहीं कर रहे? तुम सर्वहर हो नहीं सकते···· सर्वहर ऐसा नहीं हो सकता।"

"आश्चर्य है, महामात्य महोदय !" युवक ने कहा—"आपको तो यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये। आपसे मेरी भेंट हो चुकी है। क्या आप क्षिप्रा-तट पर सर्वहर से मिले न थे। स्मरण तो कीजिये।"

भट्टमात्र को सर्वहर की वाणी, उसकी देहयष्टि, उसकी चाल-ढाल स्मरण आने लगी। उन्होने भी साम्य का अनुभव किया—'संभव तो है—यही सर्वहर रहा हो। यह असत्य नही कहता।' भट्टमात्र बोले—"यदि तुम ही सर्वहर हो तो फिर सर्वहर का रूप तुमने अपना वना लिया था। वास्तव में तो तुम कुछ अन्य ही हो। न तुम वास्तव में चोर हो, न ही 'सर्वहर' नाम तुम्हारा वास्तविक नाम है।"

युवक देवकुमार महामात्य के उत्तर में कथन करने को ही था कि महाराज ने हस्तक्षेप किया—"महामात्य ठीक ही कहते हैं। इन्हें प्रतीत हो रहा है कि तुम तो जैसे किसी देश के युवराज हो। वैसा ही राजसी व्यवहार, वैसा ही सौम्य व्यक्तित्व और शालीनता। हमें तुम्हारी भाषा और विचार भी वैसे ही लगते हैं। क्या सचमुच ही तुम युवराज हो किसी देश के? हमारा मन तो तुम्हें देखकर वात्सल्य भाव से भर उठा है। हमें तो तुम्हारे व्यक्तित्व में अपनी ही छवि झलकती लगती है। तुम हमारे कौन हो, युवक !"

"मैं तो आपका अपराधी हूँ. राजन् ! चोर हूँ—वंचक हूँ—न जाने कैसे-कैसे अपराध किये हैं अवन्ती में मैंने। और···· और सवसे वड़ा अपराध तो यह कि फिर भी शासन की पकड़ मे न आया। किन्तु चोरी मेरा कर्म है नहीं, महाराज ! मैंने नगर-रक्षक, नगर-श्रेष्ठी आदि-आदि जिनका भी जो धनापहरण किया है उसे

सुरक्षित रखा। आज मैंने विवरण के साथ वह सारा धन राजभवन में पहुँचा दिया है कि संबंधित स्वामियों को पहुँचाया जा सके। इसमें आपके वस्त्राभूषण और अग्निवेताल का खड्गादि भी सम्मिलित है।" विनयपूर्वक युवक ने निवेदन किया तो महाराज उससे बड़े प्रभावित हुए। कहने लगे–

"तुमने चोरी का सारा धन लौटा दिया, तुम्हारे आज उपस्थित हो जाने पर आधा राज्य का पुरस्कार भी किसी अन्य को ही मिलेगा–फिर इस चौर्यकर्म मे तुम्हें क्या रस रहा? क्यों इस दुष्कर्म में प्रवृत्त रहे, वत्स ! तुम?" महाराज ने इस सरल से प्रश्न के साथ ही स्मरण कराया–"अपने संदेश में तुमने किसी अबला की चर्चा भी की थी। तुमने उल्लेख किया था कि हमने उस स्त्री को विस्मृत कर दिया। उसके साथ अत्याचार किया है। हमें हमारे जीवन का ऐसा कोई प्रसंग स्मरण नहीं आता, वत्स !"

"इस विस्मृति के आवरण को दूर करना भी मेरा एक प्रमुख उद्देश्य रहा है, श्रीमन् !"–युवक ने कहा–"अपनी स्पष्टवादिता के लिए क्षमा किया जाऊँ तो पुनः मेरा यही निवेदन है कि आप-जैसे महान् नरेश ने छल किया है एक परम विश्वासी, श्रद्धालु नारी के साथ। आपने उसके साथ विवाह किया, दाम्पत्य-जीवन भी कुछ माह तक जिया, उसके गर्भवती हो जाने पर उसका परित्याग कर आप अवन्ती चले आये और तब युगों तक उसकी सुधि ही नहीं ली आपने। उसके जीवन को आपने हवन-कुंड बना दिया। वह आज भी विरहाग्नि में दग्ध हो रही है। वह आपको एक क्षण के लिए भी विस्मृत नहीं कर पाती और आप सम्राट् बने यहाँ सुखोपभोग में निमग्न हैं। आपको एक क्षण भी उसकी स्मृति नहीं आती। यह अत्याचार नहीं तो और क्या है, महाराजश्री !"

"यदि ऐसा है तो यह घोर अन्याय है, युवक !"–महाराज ने स्पष्टोक्ति की–"किन्तु हमारा ऐसा कोई आचरण रहा हो–हमें अब भी स्मरण नहीं आता।"

"आज्ञा दें तो मैं आपको स्मरण कराऊँ। प्रतिष्ठानपुर में एक राजकन्या थी, सुकोमला, नर-द्वेषिणी राजकुमारी। आपने उसका नर-द्वेष छुड़ाया वह भी छद्मवेश में और छद्मरूप में संगीतज्ञ बनकर आपने उसका पाणिग्रहण भी किया। आपको स्मरण आया होगा, श्रीमन् ! आपने गर्भिणी राजकन्या का संग छोड़कर वंग-देश की ओर प्रस्थान किया–यह कहकर कि आप शीघ्र लौट आएँगे, किन्तु आपने कभी प्रतिष्ठानपुर की ओर मुख भी नहीं किया।" अपने आवेश को नियंत्रण में रखते हुए देवकुमार ने निवेदन किया।

"हमें कुछ-कुछ स्मृति आने लगी है, किन्तु, वत्स ! तुम कैसे मानते हो कि वह संगीतज्ञ हम ही थे? किस प्रेरणा से तुम यहाँ तक पहुँच पाये?" महाराज ने पूछा।

"स्पष्ट है, महाराज ! आपने विदा होते समय प्रासाद में एक द्वार पर एक श्लोक लिख दिया था। मैंने उसे पढ़ा तो आपका परिचय मिल गया। मैं उसी

अभागिन माँ, सुकोमला का पुत्र .... आपका तनुज देवकुमार हूँ। आपके पवित्राचरण और निर्मल हृदय के कारण आपश्री में माँ ने देवत्व की कल्पना की थी। अतः मेरा नाम देवकुमार रखा।''

''तो तुम वही कुँवर ....।''

महाराज का कथन अपूर्ण ही रह गया और देवकुमार कथन-मध्य ही बोल पड़ा–''आपने विदा होते समय एक मंजूषा भी दी थी। यही है वह मंजूषा, पिता महाराज ! यह देखिये।'' देवकुमार ने कौशेय वस्त्र हटाकर मंजूषा खोली–''इसमें यह राज-मुद्रिका थी, महाराज ! और एक ताड-पत्र भी जिस पर आपका लेख है।''

महाराज ने राज-मुद्रिका देखी तो सारा वृत्तान्त चलचित्र की भाँति उनके नन-चक्षुओ के समक्ष निकलने लगा। ताड़-पत्र भी पढा। दुःख-मिश्रित विस्मय के साथ बोले–''हमें हमारे किये पर पछतावा है, दुःख है, वत्स ! अतिशय दुःख है। किन्तु ... महारानी सुकोमला को इतना कष्ट भोगना पडा और .... और वे अवन्ती नही पहुँचीं? क्या कारण हो गया? हम विस्मृत कर गये, किन्तु उनके पास तो ....।''

''दुर्भाग्य रहा .... पिता महाराज ! और क्या कहा जाय ! वे तो सदा ही आपका स्मरण आपके छद्मरूप संगीतकार के रूप में ही करती रहीं। वे आपके वास्तविक परिचय से अनभिज्ञ रहीं। उन्हे कभी मंजूषा का स्मरण ही नहीं आया। यह कर्मफल है, पिता महाराज ! उनके प्रारब्ध में कष्ट भोगना था तो मंजूषा की याद ते आती ही क्यों?''

''सत्य कथन है, वत्स ! तुम्हारा। कदाचित् इसी कारण हम पर भी गहन विस्मृति का आच्छादन पड गया। किन्तु .... हम इस क्रम मे अपने अपराध-भार को कम नहीं कर सकते। चाहे हम कर्मविधान के अनुसार ही सब-कुछ भूले बैठे थे, किन्तु यह सत्य है, पुत्र ! .... हम उस महान् देवी के कष्टों के कारण रहे हैं। हमे इसका घोर दुःख है। हमारा मन आत्म-ग्लानि से भर उठा है।'' महाराज की मुख-मुद्रा में गहन उदासी उतर आयी। सारी सभा में सन्नाटा छाया हुआ था। वातावरण गंभीर और बोझिल हो उठा।

इसी समय मंत्री बुद्धिसागर ने कहा–''श्रीमानेश्वर ! इसे तो दैव का विधान ही कहा जायेगा। महारानी जी के प्रारब्ध को घटित होना था तो सारी परिस्थितियो को उसके अनुकूल ही ढलना था। हम सभी तो प्रारब्ध के हाथों के पुतले ही हैं। उससे बाहर हमारा कोई कर्म हो नहीं सकता। अतः कृपया स्वयं को दोषी न मानें। यह होना था .... और हो गया; अन्यथा अन्य अनेक जन भी तो इस प्रकरण से परिचित थे। किसी को भी उसकी स्मृति क्यो न आयी। कष्ट तो महारानी जी को हुआ, किन्तु इससे उनके अशुभ कर्म जो भी रहे होंगे–वे निरस्त हो गये। अब उनका भाग्योदय हुआ है, करुणानिधान !''

महामात्य भट्टमात्र ने बुद्धिसागर का समर्थन करते हुए महाराज को सहज करने का प्रयत्न किया और बोले–"श्रीमानेश्वर ! भाग्य के अधीन मनुष्य तो विवश प्राणी होता है, किन्तु सारे रहस्य के उद्घाटित हो जाने पर युवराज देवकुमार सीधे आकर आपश्री से भेंट कर सकते थे। चोरी और अपराधों की इस लीला की आवश्यकता ही क्या थी?"

त्वरा के साथ देवकुमार ने स्वयं सीधे ही उत्तर दिया–"मैं परम श्रेष्ठ राजाधिराज महाराज वीर विक्रमादित्य का पुत्र हूँ। मैं पराक्रमी पिता का प्रतापी पुत्र के रूप में ही अपना परिचय देना चाहता था। राजपुत्र हूँ .... क्षत्रिय न तो दैन्य को धारण करता है, न पलायन को अपनाता है। पराक्रमशीलता की भूमिका के लिए ही यह सब-कुछ करना पड़ा। मैं आतंक निर्मित कर पहले अपना वर्चस्व स्थापित करने के पश्चात् ही प्रतापी नरेश के युवराजरूप में स्वयं को प्रकट करना चाहता था। मेरे इस रूप के बिना मेरा प्रभावशाली प्रवेश संभव न था। मेरी इस भूमिका के कारण जिन-जिन को पीड़ा पहुँची है–मैं उनसे क्षमा-याचना करता हूँ। अपना मानकर मुझे क्षमा कर दीजिये।" देवकुमार के दोनों हाथ स्वचालित से जुड़ गये।

"हमें गर्व है अपने सुपुत्र की पराक्रमशीलता पर। अवन्ती को एक योग्य उत्तराधिकारी की प्राप्ति पर गर्व अनुभव करना चाहिये। शौर्य और साहस की राजकुल की परम्परा अब अगली पीढ़ियों में भी प्रसारित होगी–इसका दृढ़ विश्वास बन गया है, वत्स ! तुम्हारी मातृ-पितृ-भक्ति उदाहरणीय है। दीपक अपने आसपास की प्रकट वस्तुओं को ही प्रकाशित करता है, किन्तु कुल-दीपक तो माता-पिता के अप्रकट गुणों को भी प्रकाशित कर देता है। आज हमें अपने पुत्र की महानता पर गर्व है। साहस में अग्रणी हमारा यह पुत्र शौर्य और पराक्रम में हमारा ही चरित्र वहन करता है। आज से हमारे प्रतापी पुत्र को 'विक्रमचरित्र' के नाम से पुकारा जायेगा।" 'विक्रमचरित्र की ....' महाराज ने उच्च स्वर में उच्चारण किया और स्नेहाभिभूत उपस्थित जन-समुदाय ने 'जय' के तुमुल निनाद से मानो गगन को अस्थिर कर दिया। फिर तो बड़ी देर तक जय-जयकार होती रही। महाराज वीर विक्रम ने गणिका काली को मंच पर बुलाया, मोतियों का हार पहनाकर राजरानी कमलावती ने उसका अभिनन्दन किया। महाराज ने अनेक गाँव उसे पुरस्कार में प्रदान कर सामन्त श्रेष्ठी में उसे प्रतिष्ठित किया। सभा-मण्डप में हर्ष-ध्वनि गूँज उठी। काली कृतकृत्य हो उठी। महाराज ने घोषणा की–"हम स्वयं तत्काल प्रतिष्ठानपुर जायेंगे। रानी सुकोमला से हम क्षमा-याचना करेंगे और उन्हें मनाकर आदर सहित अवन्ती ले आयेंगे।"

प्रतिष्ठानपुर के नरेश शालिवाहन को ज्ञात हुआ कि उनके जामाता अवन्ती-नरेश राजाधिराज वीर विक्रम महाराज स्वयं उनकी पुत्री सुकोमला को अवन्ती ले जाने को आ रहे हैं तो हर्षातिरेक से उनके नयन सजल हो उठे। सारा नगर प्रसन्नता की लहरों में नहा उठा। उल्लासपूर्वक अवन्ती-नरेश का स्वागत किया

गया। महाराज ने राज-दम्पति के चरण स्पर्श किये। महाराज शालिवाहन ने स्नेहपूर्वक उन्हें उठाकर कंठ से लगा लिया। वे अपनी भूल पर पछतावा प्रकट करने लगे। रानी ने उन्हें निर्दोष बताते हुए कहा–"ये तो सब भाग्य के खेल हैं, जमाईराज ! हमारे लिए यही क्या कम है कि आपने राजकन्या सुकोमला की सुधि ली तो है।"

महाराज शालिवाहन ने कहा–"बीती को बिसराने में ही भला है, वत्स ! सवेरे का भूला संध्या को भी घर लौट आए तो वह भूला कहलाता कहॉ है।" सोलह वर्षीय वियोग-भोक्ता रानी सुकोमला पुनर्मिलन के इन क्षणों में अति अधीर हो उठी थीं। उनके पीत हो आए मुख-मण्डल में उमंग की लालिमा और विस्फारित विशाल नयनों में उल्लास की दीप्ति दमक उठी थी।

अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज ने प्रतीक्षातुर रानी सुकोमला के कक्ष में प्रवेश किया और रानी ने मधुर मुस्कान से उनका स्वागत किया। वर्षों की वियुक्ता रानी अपने पतिदेव के प्रति अपने मन के समस्त उपालम्भ जैसे विस्मृत ही कर बैठी थीं। अपने सौभाग्य का पल इतना समीप पाकर वह तो भाव-विभोर हो उठीं। उनकी सजल पलकें चू पड़ीं। महाराज भी विह्वल हो उठे। दोनों एक-दूसरे की ओर मंथर गति से बढ़े और समीप आकर रानी पतिदेव के चरणों मे लुढ़क पड़ी। प्रीतिपूर्वक अपने कोमल स्पर्श से पत्नी को निहाल करते महाराज ने उन्हें बॉहों में उठा लिया। कई क्षणों तक मिलन-सुख में दोनों निमग्न हो गये। इस मौन-मिलन की साक्षी भी उस कक्ष की नीरवता ही थी। इस अशब्द वातावरण में क्षणों तक रानी के नयन बरसते रहे और इनकी वाणी के लिए महाराज के कान तरसते रहे। अन्ततः महाराज ने ही क्षमा-याचनापूर्वक कथनारंभ किया। रानी सिसकन के साथ श्रवण करती रहीं। आर्द्र कंठ से महाराज कह रहे थे–"प्रेयसी ! हमने तुम्हें वहुत कष्ट दिया। हम क्षमा के योग्य भी कदाचित् हैं नहीं, किन्तु विधि के लेख कहें या कुछ अन्य.... किन्तु हम तुम्हारा प्रसंग ही विस्मृत कर गये। हमारे कुमार ने हमारा पुनर्मिलन कराया। हम लज्जित हैं, राजरानी !"

वडी कठिनाई से कंठावरोध को निरस्त करने के प्रयत्न के साथ राजरानी सुकोमला ने मंद स्वर में कहा–"इसमें आपका कोई दोष नहीं, प्राणनाथ ! हमारा अपना भाग्य का लेख ही ऐसा था। बस, किसी को निमित्त ही होना था, अन्यथा कर्मों के फल तो हमें भोगने ही थे। यदि यह न होता तो हम ही उस मंजूषा को क्यों भूल गये होते जो आपने हमें विदा की वेला में दी थी। आपने हमे अपना लिया–हम तो निहाल हो गयी।"

"हमे खेद है, राजरानी प्रियतमे ! हम क्षमा-याचना का साहस भी नहीं कर पा रहे हैं।" महाराज वीर विक्रम अति भावुक हो उठे। वोले–"हम यथा नाम सुकोमला देवी के लिए ऐसी सुदीर्घ और ऐसी कठोर यातना के कारण वने–हमारे लिए यह अत्यन्त पीडाजनक रहा है।"

राजरानी सुकोमला ने स्वामी की मानसिक पीड़ा का गहनतापूर्वक अनुभव किया और स्वयं उसकी सहभागिनी भी बनी–"प्राणनाथ ! यह तो हमारी नियति ही थी। इसमें किसी अन्य का भला क्या दोष हो सकता है ! तथापि आप कारणस्वरूप अपने को स्थिर कर उसके लिए दुःख का अनुभव करते हैं–यह सचमुच आपकी महानता ही है। ऐसे महामना की धर्मपत्नी होना भी हमारे लिए गर्व और गौरव की बात है। आप अपने मन से यह भ्रान्ति निकाल ही दीजिये कि हमारे मन में ऐसी कोई कल्पना भी हो सकती है कि हमारे कष्ट का दायित्व आप पर है। आपको यदि संबंध-विच्छेद ही करना होता तो भला आप अपना परिचय देने वाले स्रोत मुझे सौंपकर जाते ही क्यों? अब हमने स्वयं ही उस मंजूषा को विस्मृत कर दिया तो इसको कर्मफल का परिणाम ही मानना होगा। जब अशुभ परिणाम पूर्ण हो गया तो हमें उसकी स्मृति आ भी गयी।"

"आप बड़ी उदारचेत्ता हैं, प्रिये ! ऐसी जीवन-सहचरी पाकर हम धन्य हो उठे हैं। आपने कुँवर को जैसे संस्कार और सद्गुण दिये हैं उससे आपका मातृत्व भी धन्य हो उठा है। कैसा मृदुभाषी, शिष्ट व्यवहारी और आदर्शवादी वत्स है हमारा ! .... और क्यों न हो .... किस माता का पुत्र है !" वीर विक्रम महाराज का वक्ष तन गया।

"यही नहीं, वह परम पराक्रमी, शूरवीर और साहसी भी है। प्रतापी और शक्तिशाली नरेश का पुत्र जो है।"–रानी सुकोमला ने एक प्रकार से उक्ति-पूर्ति की और दीप्त-नयनों से वे स्वामी के नेत्रों में झॉकने लगीं। राज-दम्पति अत्यन्त प्रसन्न थे। दोनों के पास विगत समय के अनेकानेक प्रसंग थे–चर्चा के लिए। प्रत्येक प्रसग के उल्लेख के साथ उनकी पारस्परिक प्रीति प्रगाढ़ होती जा रही थी। दोनो का प्रणय उज्ज्वल होता जा रहा था। भाव-विभोर अवस्था में दोनों ही वडी देर तक मधुर संलाप में संलग्न रहे।

यथासमय ही प्रतिष्ठानपुर से विदा होकर राज-दम्पति अवन्ती पहुँचे। राजधानी तो राजवधू का स्वागत करने को स्वयं ही नव-वधू-सी शृंगारित-शोभित हो गयी थी। तोरणद्वारों, वन्दनवारों, पुष्पों से सारा नगर सजाकर पुरवासियो ने अपने उल्लास को व्यक्त किया। अपने प्रिय नरेश और राजरानी की जय-जयकार करते हुए प्रजा जनों ने उनकी भावपूर्ण अगवानी की। मधुर मुस्कान के साथ गजारूढ़ राजा-रानी ने सव की शुभ कामनाएँ स्वीकार कीं। सभी के अभिवादनों का हाथ उठाकर उत्तर देते हुए राजभवन की ओर अग्रसर दोनो ही अत्यन्त प्रफुल्लित और उल्लसित थे।

राजसभा के विशेप सत्र का आयोजन हुआ। नगर-श्रेष्ठी, नगर-रक्षक आदि जिन-जिन की सम्पदा का हरण हुआ था–सभी को स्वयं विक्रमचरित्र ने उनका धन लौटा दिया। सभी प्रसन्न थे। सभी के मन में विक्रमचरित्र के प्रति प्रशंसा का भाव घनीभूत हो उठा। कुमार की जय-जयकार से सभा-भवन गूँज उठा। महाराज ने

हाथ के संकेत से सभी को शान्त करते हुए आसन से उठकर सभासदों को संबोधन प्रदान किया और गर्वानुभव करते हुए कहा—"यह मालव-देश का सौभाग्य ही है कि उसे कुमार विक्रमचरित्र-जैसा शूरवीर, साहसी, प्रतिभाशाली और बुद्धिमान उत्तराधिकारी प्राप्त हुआ है। अवन्ती के राजकुल में योग्य और आदर्श शासकों की जो परम्परा रही है, कुमार सर्वथा उसके अनुरूप हैं। हम हर्षपूर्वक कुमार विक्रमचरित्र को मालव-देश का युवराज घोषित करते हैं।"

सभा में तत्काल हर्ष-ध्वनि गुंजरित हो उठी। बड़ी देर तक युवराज की जय और युवराज अमर रहें, महाराज वीर विक्रम और रानी सुकोमला देवी की जय-जयकार होती रही। सारे मालव-देश में त्योहार-जैसी उमंग छा गयी। यथासमय युवराज के रूप में विक्रमचरित्र का अभिषेक सम्पन्न हुआ। कई दिनों तक महोत्सव होते रहे। सब सुखी थे, सब प्रसन्न थे। सभी अपने युवराज के चातुर्य, साहस और पराक्रमशीलता का बखान करते रहे और ऐसे भावी शासक की प्राप्ति पर सौभाग्यशीलता का अनुभव करते रहे।

अभिषेक समारोह में महामात्य भट्टमात्र ने उनके वीरोचित कृत्यों का बखान किया और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। भट्टमात्र जब चार गणिकाओं के सम्मिलित प्रयास का वर्णन कर रहा था, उसी समय चारण आत्मविभोर-सा अपने स्थान से उठा और आनन्द से नाचता हुआ बोला—"महाराज की जय हो ! हे राजेश्वर ! आपने युवराजश्री को विक्रमचरित्र का नाम सर्वथा उचित ही दिया है। उन्होंने तो चातुर्य शिरोमणि गणिकाओं को जिस प्रकार प्रवंचित किया—उसे देख-सुनकर युवराजश्री के बुद्धि-बल का कोई अनुमान ही नहीं लग पाता है। स्त्री-चरित्र की अबूझता तो जगद्-विख्यात है। उसे देवता भी समझने में असमर्थ हैं, किन्तु युवराजश्री ने उसी स्त्री-चरित्र को तहस-नहस करके रख दिया है। वल को छल से परास्त किया जा सकता है, किन्तु छल को छल से पराजित करने का यह अपूर्व कृत्य युवराज की अखंड यशोगाथा निर्मित कर गया है। गणिकाओं के चातुर्य-गर्व की गाथा लज्जास्पद पराजय में परिणत हो गयी है। स्त्री-चरित्र को मटियामेट करने वाले युवराज विक्रमचरित्र अमर रहें ! अमर रहे युवराज का बुद्धिमत्तापूर्ण चातुर्य !! युवराज विक्रमचरित्र की .... जय !!"—सारी सभा जय-जयकार कर उठी।

"कविराज ! तुमने यथार्थ ही उक्ति की है।" महाराज ने चारण के विचारों का अनुमोदन किया—"तुम्हारा विचार वीस ही विस्वा खरा है। युवराज के लिए स्त्री-चरित्र अबूझ और अज्ञात नहीं रहा है। वे स्त्री-चरित्र के रहस्यवेत्ता, निपुण ज्ञाता हैं—उसकी अज्ञेयता की महिमा युवराज की दासी होकर रह गयी है। हम धन्य हो उठे हैं। हमारा जी युवराज की जय-जयकार कर उठा है।" युवराज विक्रमचरित्र की जय-जयकार के तुमल निनाद के साथ सभा विसर्जित हो गयी।

● ●

ज्ञानोत्सुक व्यक्ति ग्रंथों को अपने पास लाकर ज्ञान का विकास करते हैं और विश्व यदि एक खुला हुआ विशाल ग्रंथ है तो ज्ञानाभिलाषी को उस ग्रंथ के पास जाना होता है। देशाटन एक ऐसा ही प्रयत्न है। विभिन्न देशों, जीवन-पद्धतियो और समाजों का अध्ययन इस माध्यम से सुचारु रूप में हो जाता है। यह व्यावहारिक ज्ञान व्यक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक भी बनाता है। जीवन और जगत् को समझने में रुचिशील महाराज विक्रमादित्य को भी देशाटन से बड़ा प्रेम था। कूपमंडूकता से मुक्त होने के लिए वे अत्यावश्यक मानते थे इसे। महाराज राज-काज का दायित्व युवराज विक्रमचरित्र एवं प्रधानामात्य को प्रदान कर देशाटन हेतु अवन्ती से एक शुभ मुहूर्त्त में विदा हुए। निश्चित गंतव्यहीन प्रवास का भी अपना आनन्द होता है। प्रवास ही इसका प्रयोजन होता है। लक्ष्य तो एक के पश्चात् एक, नित नये बनते और प्राप्त होते रहते हैं। आगामी लक्ष्य क्या रहेगा—यह भी ज्ञात नहीं होता। अलक्षियत स्थल भी अनायास ही लक्ष्य बनकर देशाटन में आनन्द-स्रोत हो जाते हैं और नव-नवीन अनुभव प्रदान करते हैं। ऐसे ही अनिश्चित प्रवास क्रम में एक बार उनका अचिंत्य लक्ष्य को गया—पद्मपुर।

पद्मपुर की बड़ी विशेषताएँ थीं। महाराज के पहुँचते ही उन्हें इस नगर की प्रमुख विशेषताओं का आभास हो गया था। चौर्यकर्म की यह सिद्ध-स्थली थी। धनापहरण के सभी माध्यम यहाँ परम सक्रिय थे। विकारों एवं व्यसनों की इस नगरी में चोरी, तस्करी, ठगी, छीना-झपटी, डकैती, जुआ आदि 'पराया माल अपना' करने के सभी मार्ग सर्वथा उन्मुक्त थे। यदि ये सभी चातुर्यपूर्ण कलाएँ हैं तो इनके असंख्य निपुण कलाकार यहाँ निवास करते थे। स्वाभाविक ही था कि इन कलाओं के लक्ष्य बनने वाले सरल लोगों की संख्या भी कम न थी जो इनको आजीविका-स्रोत बनाते थे। किसी की भी सम्पत्ति सुरक्षित थी ही नहीं। आज हमारा धन हमारा है, किन्तु कब यह किसी चतुर कलाकार का हो जायेगा—कोई न जानता था। इस भय से जनता सदा त्रस्त रहती थी।

जनता की खेती को चरने वाले ये पशु ही नहीं थे, बाड़ ही खेत को खा रही थी। यहाँ का राजा रक्षक न होकर भक्षक की भूमिका में था। अपराधियो को दंडित करने के स्थान पर वह उन्हें और भी उत्साहित करता था। उनसे धन जो प्राप्त होता रहता था। मंत्री भी भ्रष्टता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। ऐसे भी दीन प्रजा जनों के लिए न्याय की आशा तो मृग-तृष्णावत् ही थी। राजा को 'अन्यायी' और मंत्री को 'सर्वभक्षी' नाम से ही जाना जाता था। महाराज को यह सब ज्ञात होने पर किंचित् चिन्ता होने लगी। वे राज-मर्यादा के ऐसे घोर पतन से

आपकी उदारता और सदाशयता के लिए पर्याप्त था। इस भ्रष्ट और निष्ठारहित नगरी के वातावरण में यही क्या कम था। आपने तो माल का आधा दाम ही ग्रहण किया। ऐसा क्यों किया?''

''संसार की व्यावहारिक बुद्धि के अनुरूप तो, परदेसी ! तुम ठीक ही कहते हो कदाचित्, किन्तु मुझे धन-संग्रह का लोभ भी नहीं है। किसी अन्य का धन अनुचित रूप में हथियाना मैं महापाप मानता हूँ। इस पाप से रक्षित रहने का सरल-सा उपाय यही है कि दूसरों का जो प्राप्य है, उसे कुछ बढ़ाकर ही उन्हें दो। फिर दान से तो धन की वृद्धि ही होती है। मुझे तो संतोष में ही जीवन का सार दिखायी दिया है। दाल-रोटी मिलती रहे–बस, इसे ही मैं पर्याप्त मानता हूँ। संचय के लिये ही, समृद्धि की असीम आकांक्षा के लिये ही मनुष्य अनुचित मार्गों का अनुसरण करने लगता है। मुझे इस सब की आवश्यकता नहीं। फिर सन्त-सेवा किसके भाग्य में लिखी है, परदेसी भाई !...'' वणिक् ने कहा–''साधु को कुछ देने से कौन-सी कमी हो जाती है। बढ़ोतरी ही रहती है। तन के अतिरिक्त मन का भी तो सुख होता है न ! परहित से वह सुलभ हो जाता है।''

श्रेष्ठी के ऐसे धर्मपूर्ण विचारों का महाराज के मन पर गहन प्रभाव हुआ। इस नगर में कोई तो नैतिक आचरण को महत्ता देने वाला है। धन्य हैं ऐसे लोग। ऐसे लोगों के आचरण में ही धर्म और नैतिकता की परम्परा अग्रसर हो रही है। वे सोच ही रहे थे कि धरोहर रूप में मैं अपने रत्न इस श्रेष्ठी के पास रख दूँ तो मैं निश्चिन्त हो सकता हूँ। यहाँ मेरा धन सर्वथा सुरक्षित रहेगा। कोई संकट नहीं है। महाराज को किंचित् आत्म-ग्लानि का अनुभव भी होने लगा था कि व्यर्थ ही इस धर्मात्मा के सत्कर्म में भी हमने किसी छल की आशंका का अनुभव किया। यह तो धर्म की प्रतिमूर्ति ही है।

महाराज का विचार-क्रम चल ही रहा था कि वह साधु अपना कमण्डल लिये पुनः आ गया। बोला–''श्रेष्ठी जी ! आपने तो दुगुना घृत दे दिया। आपकी भूल रह गयी। मैंने इतने घृत के दाम तो नहीं दिये थे। लीजिये, मैं आधा घृत लौटाने को ले आया हूँ। इसे रख लीजिए।''

''अरे, रख लो, महाराज ! सारा ही रख लो। काम ही आएगा।'' श्रेष्ठी ने विनयपूर्वक करबद्ध कथन किया–''हमारी सेवा स्वीकार करो।''

''हमारे गुरुजी तो रुष्ट हो गये, श्रेष्ठी जी !'' कहने लगे–''इस प्रकार विना दाम के सामग्री रख लेना तो चोरी है, पाप है। वे उचित से अधिक मात्रा में घी कभी न रखेंगे।'' युवा साधु ने कहा–''इसे तो वे मेरा अनाचार मान रहे हैं। वे मुझे आश्रम से निष्कासित ही कर देंगे, श्रेष्ठी जी ! आप यह अतिरिक्त घृत वापस रख लीजिए।''

श्रेष्ठी बेचारे क्या कहते। उन्होंने घृत रख लिया, किन्तु कुछ निराशा के साथ। पुण्य भी तो भाग्य से ही संभव हो पाता है। इसीलिए तो सभी पुण्यशाली हो नहीं पाते हैं। रिक्त कमण्डल थामते हुए साधु भी प्रसन्न हो उठा; जैसे किसी महापाप से बाल-बाल बच गया हो। प्रसन्न-वदन वह आश्रम को लौट गया। जाते-जाते वह कह गया–"हमारे गुरुदेव का कथन है–"चौर्य पापद्रुमस्य वधबन्धादिकम् फलम्।" अर्थात् चोरीरूपी वृक्ष के फल वध और कारावास दंड (बंधक) आदि ही होते हैं। यही नहीं–"जायते परलोके तु फलं नरक वेदना।" अर्थात् परलोक में भी नरक की वेदना सहनी पड़ती है।"

युवा साधु के कथन पर भी महाराज विचार करने लगे–'यह साधु तो अनीति से भयभीत है–धर्म का यह अति महत्त्वपूर्ण सोपान है। इसके गुरु के विचार कितने महान् और आचरण कितना पवित्र है ! धन्य हैं–ये गुरु-शिष्य भी। क्यों न मैं अपने रत्न ऐसे नैष्ठिक गुरु के पास ही धरोहर रख दूँ। वहाँ भी मेरा धन सुरक्षित रहेगा। नैतिकता और धर्माचरण जो इसके प्रहरी होंगे !' आन्तरिक प्रेरणा से वीर विक्रम महाराज उस युवा साधु का अनुसरण करते हुए आश्रम में पहुँच गये। आश्रय क्या था–नगर के बाहर, समीप ही एक पर्ण-कुटी थी। नरेश ने गुरुजी की करबद्ध वन्दना की और निवेदन किया–"महात्मन् ! मैं परदेसी हूँ और इस नगर में मेरा धन असुरक्षित है। मैं यात्रा पर निकला हूँ। आप कृपाकर मेरे पाँच रत्न अपने पास रख लीजिए। यात्रा से घर लौटते हुए मैं आपसे ले जाऊँगा।"

महात्मा तो एकदम कुपित हो उठे–"पाप शान्त हो ··· पाप शान्त हो ··· यह तू क्या ले आया, मूर्ख !" वे शीघ्रता से अन्य दिशा में मुख करके बैठ गये–"पतनकारिणी माया से हमारा क्या संबंध? इसे देखना भी हमारे लिए पाप है। हम इसके फेर में पड़ने वाले नहीं। जा ··· कहीं अन्यत्र जाकर अपना समाधान पा।"

"महात्मन् ! मैंने अभी-अभी आपके निर्लोभ व्यक्तित्व की झलक पायी है। आपके आश्रम में ही मेरे मूल्यवान रत्न सुरक्षित रह सकेंगे। कृपा करें, करुणावतार ! नगर में अन्य कोई भी तो विश्वसनीय दीख नहीं पड़ता। कहाँ जाऊँ मैं ··· ।"

"यह तूने ठीक कहा–निर्लोभ हैं हम ··· सर्वथा निरीह।" महात्मा ने कहा–"हम धन को स्पर्श नहीं करते, किन्तु एक भक्त को हम आश्रय से निराश भी तो नहीं लौटा सकते हैं। जा अपने ही हाथों से हमारी पर्ण-कुटिया के छाजन में कहीं अपने रत्न छिपाकर रख दे। लौटते समय वहीं से तू अपने रत्न निकाल ले जाना। जा ··· ।"

महाराज महात्मा की व्यवस्था से आश्वस्त हो गये। उन्होंने अपने पाँचो रत्न छाजन में छिपा दिये और महात्मा को प्रणाम कर यात्रा पर आगे बढ़ गये। अनेक स्थलों की यात्रा करते समय भी वे निश्चिन्त थे। मनोयोगपूर्वक वे जीवन और जगत् को समझने के क्रम में संलग्न रहे। नव-नवीन अनुभवों में उन्हें आनन्दानुभूति होती

रही। यशासमय वे अवन्ती लौटते हुए पुनः पद्मपुर पहुँचे और अपने रत्न लेने को महात्मा के आश्रम की ओर गये। उन्हें बडा आश्चर्य हुआ कि साधु की पर्ण-कुटी का कोई चिह्न भी न था वहाँ। कहाँ गये ये साधु लोग? मेरे रत्नों का क्या होगा? समीप ही उन्हें एक पक्का, नब-निर्मित भवन दिखायी दिया। वे भवन के भीतर चले गये। आँगन में ही उन्हें वह युवा साधु दिखायी दे गया। साधु ने भी उन्हें एक उड़ती नजर से देखा और उपेक्षापूर्वक अन्य दिशा में बढ़ गया। महाराज को लगा कि अवश्य ही दाल में कुछ काला है। ऐसा संभव न था कि युवा साधु उन्हें न पहचानें, उसने अवश्य ही जानबूझकर उपेक्षा की है। इससे मन की किसी मलिनता का ही आभास मिला। उन्होंने पीछे से पुकारा–"साधु जी, प्रणाम !"

वह युवा साधु रुका अवश्य, किन्तु अभिवादन का उत्तर दिये बिना वह दृष्टि गड़ाकर पहचानने के प्रयत्न का अभिनय करता-सा बोला–"कौन हो, भाई ! किससे कार्य है?"

"कार्य तो आपसे ही है, साधु जी ! आपकी एक कुटिया यहाँ कुछ माह पूर्व थी। गुरुजी के आदेश से मैं उसमें धरोहरस्वरूप कुछ रत्न रख गया था। वे ही लेने को आया हूँ, किन्तु यहाँ तो कोई पर्ण-कुटी ही दिखायी नहीं देती।" महाराज ने तनिक विस्तार से अपनी वात कही।

"कुटिया? कौन कुटिया? हमें स्मरण नहीं आता कि पहले तुम्हे कभी देखा भी हो। तुम्हें भ्रम हो गया है, पथिक ! वे कोई अन्य लोग होंगे। हम तुम्हारे रत्न-वत्न नहीं जानते।"

"कोई भ्रम नहीं, साधु जी !··· भ्रम का कोई प्रश्न ही नहीं है।" महाराज ने दृढ़तापूर्वक कहा–"हम आपको भलीभाँति पहचानते हैं। आपके सामने ही हमने रत्न छाजन में रखे थे। आप इतना शीघ्र ही··· ।"

"तुम गुरुदेव से बात कर लो, भाई ! जाओ उधर चले जाओ।"–साधु ने अपना पीछा छुड़ाते हुए एक ओर संकेत कर दिया।

महाराज तथाकथित महात्मा के पास गये। उसने भी पहचानने से मना कर दिया। कुटिया, छाजन, रत्न, धरोहर-जैसी कोई भी वात जैसे वह जानता ही नहीं था। "जा भाई जा, किसी अन्य को अपना ग्राहक वना। हम जगत्भर को उपदेश देते हैं। छल-कपट से दूर रहने का और तू हमें ही छलने आ गया।" वह उठा और अन्य कक्ष में चला गया।

महाराज तो अपने रत्न प्राप्त करने के लिए कटिवद्ध थे। उन्होंने राजकीय सहायता लेने का विचार किया और मंत्री सर्वभक्षी के पास जाने का सोचा। उन्हें लगता था कि रत्नों का उपयोग करके ही साधु ने अपनी कुटिया के स्थान पर यह विशाल मठ निर्मित करा लिया है। साधु के अनेक चेले नगर में और आसपास के क्षेत्रों में घूमते रहते थे। नगरवासियों से तो सम्पर्क भी नहीं करते थे वे, किन्तु

किसी आगंतुक परदेसी को नहीं छोड़ते थे। चिकनी-चुपड़ी करके महात्मा जी के गुणगान करके वे उन्हें मठ में ले आते और महात्मा जी फिर उसके धन को अपना कर ही लेते। संभव है महाराज के रत्न अभी सुरक्षित भी हों तो ऐसे ही धन से यह मठ खड़ा हो गया था। यह साधु था बड़ा नीतिज्ञ और चतुर। पानी में रहकर मगरमच्छ से बैर रखना वह उपयुक्त नहीं मानता था। पद्मपुर के निवासियों को वह नहीं छेड़ता था, तथापि सभी जन उसकी दुष्ट प्रवृत्ति और ठग-विद्या से भलीभाँति परिचित भी थे। कोई उस मठ की ओर देखता भी न था।

जब अवन्ती-नरेश मंत्री सर्वभक्षी के यहाँ पहुँचे तो वहाँ एक भोलाभाला कृषक अपनी दुःख-गाथा सुना रहा था। एक परदेसी के बैलों ने उसके खेत की खड़ी फसल चर ली और उसकी खेती चौपट कर दी। कृषक की गुहार थी—"मेरे साथ न्याय किया जाय, अन्नदाता ! मेरी बड़ी भारी हानि हुई है। मुझे इस परदेसी से क्षतिपूर्ति हेतु धन दिलाया जाय, श्रीमान् !"

मंत्री ने परदेसी यात्री से पूछा—"तुमने अपने बैल इसके खेत में क्यों छोड़ दिये कि इसकी सारी खेती ही नष्ट हो गयी?"

यात्री वेचारा परदेस में कठिनाई में फँस गया था। उस सभ्य और सुसंस्कृत यात्री ने वड़े ही आदर भाव और विनय के साथ निवेदन किया—"मान्यवर ! न तो मैंने अपने बैल इसके खेत में धकेले हैं और न ही इस कृषक भाई की सारी खेती नष्ट हुई है। मैं एक परदेसी, प्रवासी हूँ। अपनी बैलगाड़ी का पहिया क्षतिग्रस्त हो गया था। मैं उसे ठीक करने लगा था और वैलों को एक पेड से बाँध दिया। जाने कब वैल रस्सी तोड़कर इसके खेत में घुस गये—इसकी मुझे कोई जानकारी ही नहीं हुई। मैं अपने काम में व्यस्त था। बैलों ने कुछ ही पौधे चरे होंगे कि कृपक की चिल्लाहट पर मैं दौड़कर गया और बैलों को बाहर निकाल लाया, श्रीमान् ! मैं निर्दोष हूँ ··· मैंने कोई अपराध नहीं किया। यदि खेत पर वाड़ भी होती तो वैलों ने जो थोडी-सी हानि कर दी है, वह भी नहीं हो पाती। मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ, भगवन् ! दण्ड का भागी तो यह किसान है जिसने अपनी थोडी-सी हानि के कारण मेरी गाडी तोड दी और मुझे वेसहारा कर दिया।"

"जैसे भी हुई है, कृषक की हानि तो हुई है और इसके उत्तरदायी भी तुम हो। हमारा निर्णय है कि परदेसी के दोनों बैल, गाड़ी और उसमे की सारी सामग्री छीन ली जाय।"—मंत्री ने आदेश दिया।

कृषक कितना भोला था कि परदेसी की हानि से ही प्रसन्न हो गया, प्रफुल्लित हो गया। उसकी क्षतिपूर्ति के लिये तो कुछ हुआ ही न था, किन्तु इसकी ओर उसका ध्यान ही नहीं था। महाराज वीर विक्रम मंत्री सर्वभक्षी के न्याय के स्थान पर अन्याय पर दुःखी हो गये। अतिथि को देवता मानने वाले देश मे एक परदेसी की छोटी-सी भूल के कारण ऐसी दुर्दशा ··· आश्चर्य है !!

"जाओ, आदेश का पालन हो।" मंत्री ने अपने सेवकों को निर्देश दिया। सेवक परदेसी को साथ लेकर चले गये। नरेश वहीं एक ओर खड़े सर्वभक्षी की कार्रवाई, उसका न्याय देखते जा रहे थे।

अब मंत्री ने कृषक से कहा–"सुन, सारा दोष तेरा है। तूने अपने खेत पर बाड़ क्यों नहीं लगा रखी है। बैल तो बेचारे पशु हैं। तूने रोक नहीं लगा रखी है तो वे बेचारे हरी-भरी खेती देखकर ललचायेंगे ही। फिर तूने परदेसी की गाड़ी तोड़कर दूसरा दंडनीय अपराध किया है। तूने अपनी त्रुटि के कारण उस बेचारे परदेसी की दुर्गति करा दी। हम तेरी सारी सम्पत्ति का हरण करते हैं। आज से तेरे खेतों, फसलों, घर और अन्य सम्पत्ति पर से तेरा स्वामित्व समाप्त हो गया है। अब तेरा सब-कुछ हमारा हो गया है।"

कृषक तो बेचारा हाहाकार कर उठा। मंत्री के चरणों से लिपटकर वह गिड़गिड़ाने लगा, दया की भिक्षा माँगने लगा, रोने-कराहने लगा, किन्तु मंत्री का प्रस्तर हृदय द्रवित होने वाला था ही नहीं। उपेक्षापूर्वक झटका देकर उसने अपने पैर छुड़ाये और उठ खड़ा हुआ। अब सर्वभक्षी के नाम की सार्थकता महाराज ने समझी। सोचा–'इस मंत्री से न्याय की आशा करना व्यर्थ है।' वे चुपचाप वहाँ से हट गये और पद्मपुर-नरेश से सीधे ही प्रार्थना करने के विचार से राजभवन की ओर चल दिये।

महाराज ने देखा कि राजभवन में पद्मपुर का राजा भी न्याय करने में व्यस्त था। कुछ राज्य-कर्मचारियों से घिरी एक वृद्धा बेचारी रो-रोकर निढाल हो गयी थी। उसके साथ विधाता ने घोर अन्याय किया था। निमित्त हुआ था, नगर का एक समृद्ध श्रेष्ठी। वृद्धा का एक मात्र युवा पुत्र श्रेष्ठी-भवन में चोरी करने गया था। भवन में सेंध लगाते समय भित्ति ढह गयी और चोर उसके नीचे दबकर मर गया। वृद्धा बेचारी असहाय हो गयी। पुत्र-विहीन होकर वह बिलख-बिलखकर विलाप कर रही थी। पद्मपुर के राजा अन्यायी का हृदय भी इस दुःखिता की दुरावस्था पर द्रवित हो गया। करुणार्द्र नयनों से उसने वृद्धा की ओर निहारा और बोला–"तू चिन्ता न कर, माई ! हम तेरा न्याय करेंगे।" यह विस्मृत ही कर बैठा था वह कि उस वृद्धा का पुत्र मारा तो गया था, किन्तु वह स्वयं अपराधी था, चोर था और चोरी के लिए ही वह श्रेष्ठी के भवन को गया था। राजा ने अपना निर्णय सुना दिया–"उस श्रेष्ठी को फाँसी पर चढ़ा दिया जाय जिसकी भित्ति के नीचे दबकर माई का इकलौता बेटा मर गया।"

तुरन्त ही आज्ञा का पालन आरम्भ हुआ और कर्मचारीगण उस श्रेष्ठी को पकड़ लाए तथा राजा के समक्ष उसे उपस्थित कर दिया। वह निरपराध श्रेष्ठी तो मृत्यु को समीप देखकर थरथर काँपने लगा। अन्यायी राजा कहाँ परीक्षा करने वाला था कि दोष उसका है भी, अथवा नहीं। जब आँख बन्द कर उसने आदेश दे

ही दिया है तो उसका पालन भी अवश्यंभावी है और श्रेष्ठी का मरण सर्व निश्चित है। इस घोर निराशा की घड़ी में भी श्रेष्ठी ने विनय की–"हे राजेश्वर ! आप तो करुणावतार हैं, महान् न्यायी शासक हैं। यह सत्य है कि मेरी भित्ति के ढहने से वृद्धा का युवा पुत्र मारा गया। मुझे इसका दुःख भी है, किन्तु श्रीमानेश्वर भित्ति के ढहने में मेरा दोष रंच मात्र भी नहीं है। राज ने भित्ति बनायी ही ऐसी टेढ़ी थी कि सेंध लगते ही वह गिर गयी। सारा अपराध तो उस राज का है, करुणानिधान ! मुझे प्राणों की भिक्षा प्रदान करें, माई-बाप ! मैं निरपराध हूँ।"

राजा ने श्रेष्ठी की बात सुनी तो अपराध श्रेष्ठी से स्थानान्तरित होकर राज पर आ गया। महाराज दूर खड़े पद्मपुर के अन्यायी राजा की न्याय-विधि देखते जा रहे थे। तुरन्त ही उस राज को पकड़कर लाया गया। राजा ने डपटते हुए उससे कहा–"क्यों रे राज के बच्चे ! तूने क्यों श्रेष्ठी की भित्ति टेढी बना दी कि उसने गिरकर इस वृद्धा के पुत्र को मार दिया। हम अभी तुझे फाँसी पर चढ़ाते हैं।"

"दया करें, राजराजेश्वर ! दीवार मैंने बनायी थी यह सत्य है और सत्य यह भी है कि वह कुछ टेढ़ी हो गयी थी। इसी कारण यह दीवार गिरी भी है, किन्तु इसमें मेरा कोई दोष नहीं। जब दीवार का यह भाग मैं बना रहा था, उसी समय रूपवती गणिका कामलता उधर से होकर निकली। उसके नूपुर की ध्वनि सुनी तो मेरा ध्यान उधर बॅट गया। भला कौन उस रूप सौन्दर्य से प्रभावित न होगा? मैं उसे देखते-देखते दीवार बनाता रहा और दीवार टेढ़ी हो गयी। मैं तो बिलकुल ही निर्दोष हूँ, महाराज ! सारा अपराध तो उस गणिका का है। न वह आती और न दीवार टेढ़ी बनती, न दीवार गिरती और न ही वह चोर मरता ! दंड देना ही हो तो कामलता वेश्या को दीजिये, महाराज ! उसे फॉसी पर चढ़ाया जाय।"

राजा ने कहा–"तुम्हारा कथन उपयुक्त है, राज ! तुम्हारा तो इसमें कोई दोष नहीं। दोष तो उस वेश्या का ही है। राज को छोड़ दिया जाय। इसके स्थान पर कामलता वेश्या को फॉसी पर लटका दिया जाय।"

महाराज विक्रमादित्य ने देखा कि तुरन्त ही कर्मचारी वेश्या को पकड़ लाये। राजा ने उसे उसके अपराध का विवरण सुनाते हुए कहा–"वेश्या ! तुम उस मार्ग से होकर निकली ही क्यों? सारा अपराध तुम्हारा है, स्त्री ! हम तुम्हें अभी मृत्यु-दण्ड देते हैं।"

कामलता वेचारी कोमलांगी थी, स्त्रियोचित कोमल मन की थी। आसन्न प्राण-संकट से वह आकुल-व्याकुल हो उठी। उसने भी स्वयं को निर्दोप वताते हुए प्रार्थना की कि उसे मृत्यु-दण्ड न दिया जाय। उसने कहा–"करुणावतार ! राजाधिराज ! आप तो प्रजापालक और महान् न्यायशील नरेश हैं। आपसे कुछ छिपाऊँगी नहीं, ऐसा मैं कर भी नहीं सकती। मैं श्रेष्ठी-भवन की ओर होकर निकली थी–यह सत्य है, श्रीमानेश्वर ! किन्तु मुझे ऐसा करने के लिए विवश होना

पड़ा। मैं तो मुख्य मार्ग से ही जा रही थी, किन्तु सामने से एक नग्न साधु आ रहा था। भला मैं उसके समक्ष कैसे जाती ! मुझे इस कारण अपना मार्ग परिवर्तित करना पड़ा और इस गली में होकर मुझे जाना पड़ा, पृथ्वीनाथ ! अब इसमे तो मेरा क्या दोष है? फॉसी पर तो उस साधु को चढ़ाइये, प्रभो ! मुझे प्राणदान दें, करुणानिधान !"

"स्त्री ! तुम्हारे कथन में भी औचित्य है, तुम निर्दोष हो, कामलता ! हम तुम्हें प्राणदान करते हैं। जाओ, अभय हो जाओ। सारा दोष तो उस नग्न साधु का है। वही दण्ड का भागी होगा। साधु को मृत्यु-दण्ड दिया जाय।" राजा ने आदेश दिया।

तब उस नग्न साधु को उपस्थित किया गया। राजा ने उसे उसके अपराध से परिचित कराया, मृत्यु-दण्ड का निर्णय भी सुनाया। साधु विचलित न हुआ। वह तो समता भाव का सुदृढ़ उपासक था। कर्मफल की अटलता में उसकी अविचल आस्था थी। वह भला प्राणों की भीख मॉगता भी, तो क्योंकर। वह निर्भीक, अविकल, मौन और धीर बना रहा। उसने न विरोध किया और न ही अनुनय-विनय। साधु के मन में घोर अहितकारी राजा के प्रति भी कोई दुर्भाव न आया। राज्य-कर्मचारी उसे वध-स्थल पर ले चले। वह भी मस्तक उठाकर ही उनके संग चल पड़ा। चार चरण चलकर साधु मुड़कर राजा की ओर उन्मुख हुआ और हाथ उठाकर राजा को मौन आशीर्वाद प्रदान कर पुनः कर्मचारियों के संग हो गया।

राजा समझा न्याय पूर्ण हो गया, किन्तु अभी न्याय-विधि सम्पन्न कहॉ हुई। इस विचित्र न्याय-प्रक्रिया का चरम तो अभी शेष था। कुछ ही पलों में एक कर्मचारी लौटकर आया और करबद्ध निवेदन करने लगा—"महाराज ! साधु को फॉसी पर चढ़ाना संभव नहीं है। साधु तो बहुत कृषकाय है। फॉसी के फंदे के लिए उसकी गर्दन तो बहुत पतली है। फंदा उसे पकड़ ही नहीं पाता है।"

"ऐसा है तो छोड़ तो उस निकम्मे साधु को। न्याय के काम में वह इतना-सा भी न आ सका। ··· किन्तु वृद्धा का न्याय तो होना ही चाहिए। ऐसे किसी मोटे-ताजे व्यक्ति को पकड़ लाओ जिसकी गर्दन फंदे की पकड़ मे आ सके और उसे तत्काल फॉसी पर चढ़ा दो।" कर्मचारी ऐसे स्वस्थ व्यक्ति की खोज में निकले और उन्हें शीघ्र ही सफलता मिल भी गयी। राजभवन में ही रानी का भाई उन्हें मिल गया जो स्थूलकाय था। वे उसे पकड़ लाये और उसे तुरन्त ही फाँसी पर चढ़ा दिया। राजा अन्याय का न्याय पूर्ण हो गया।

अवन्ती-नरेश महाराज वीर विक्रम इस अद्भुत न्याय को देखकर बड़े निराश हुए। उन्होंने अपना वाद इस राजा के समक्ष न्यायार्थ प्रस्तुत करना व्यर्थ माना। इससे न्याय की आशा करना तो हिम-कणों से ताप की आशा रखने के समान था। महाराज कामलता के चातुर्य से प्रभावित हुए। उसकी सहायता कदाचित् कोई

चमत्कार दिखा दे··· इस आशा के साथ वे कामलता के भवन की ओर चल दिये। वहाँ पहुँचने में उन्हें कोई विशेष कठिनाई भी न हुई। कामलता भवन के भीतरी उद्यान मे लगे एक हिंडोले पर बैठी मन्द-मन्द झूला झूल रही थी। उसके अधरों पर कोई प्रणय गीत और मुख-मण्डल पर कोमल भाव थे। वह सुखमयी और सुखद मुद्रा मे थी। महाराज ने पहुँचकर प्रणाम किया और इन्हें एक परदेसी के रूप में पहचानने में भी उसे विलम्ब नहीं हुआ। कामलता का चातुर्य जितना तीव्र था, शिष्टाचार भी उतना ही अग्रसित था। उसने नमन द्वारा अभिवादन का उत्तर दिया। डोला रोककर धरती पर खड़ी हो गयी। परिचारिका को आसन लाने को कहा और स्वयं अतिथि का कुशल-क्षेम पूछने लगी। महाराज के मुख की तेजस्विता स्वयं ही उनकी परिचायक थी। कामलता ने सहज ही अनुमान कर लिया कि अवश्य ही ये किसी राजवंश के हैं। प्रकटतः बोली–"आप परदेसी पथिक ज्ञात होते हैं ! प्रवास में आप प्रसन्न तो हैं?"

तव तक आसन भी आ गया था। महाराज को आसीन करते हुए कामलता स्वयं भी स्थिर डोले पर बैठी। अन्य सेविका जल ले आयी थी। महाराज ने जल ग्रहण किया और बोले–"देवी ! आपका एक अनुमान तो सर्वथा सत्य है। मैं एक परदेसी हूँ। अवन्ती का क्षत्रिय हूँ। देशाटन के प्रयोजन से प्रवास पर निकला हूँ। प्रातः राजभवन में जब राजा उस वृद्धा का न्याय कर रहे थे, मैं भी वही उपस्थित था। आप पर भी राजा के न्याय की गाज गिरने ही वाली थी। यह तो आपने अपने कौशल से आत्म-रक्षा कर ली, अन्यथा राजा तो आपको मृत्यु-दण्ड दे ही चुका था। मै तो आपका भक्त हो गया हूँ। आपका चातुर्य बहुत बढ़ा-चढा है, देवी !"

अपनी प्रशंसा से सज्जनों की मुख-मुद्रा में संकोच का भाव आ जाता है, दुर्जनो मे गर्व उभर आता है। सलज्जतापूर्वक कामलता ने भी बात को आयी-गयी करते हुए कहा–"यह तो सब विधि के खेल है। जैसा परिणाम रहना होता है–उसी के अनुकूल हमारा मन हमें कुछ करने को प्रेरित करता है। मै तो आपका धन्यवाद ही कर सकती हूँ–आपकी मेरे प्रति धारणाओं के लिए। हैं आप गुण-ग्राहक; इसमें कोई सन्देह नही।··· किन्तु हाँ··· आपने मेरे दूसरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया–आप प्रवास मे प्रसन्न तो हैं?" कामलता ने प्रश्न की पुनरावृत्ति कर दी।

"प्रसन्न रहना तो मेरा स्वभाव ही है, देवी ! इस कारण मैं किसी दुःख का अनुभव नहीं करता, किन्तु एक खिन्नता से अवश्य ही मै ग्रस्त हूँ। पद्मपुर में जो अपराध-वृत्ति का घनघोर प्रसार है और न्याय के नाम पर जो भीषण अन्याय का ताडव चल रहा है उसे देखकर मन विचलित हो गया। मंत्री तो आपका ऐसा है कि बाड़ ही खेत को खा रही है। वह सर्वभक्षी अपने ही कोष को भरने में लगा रहता है। यह तो एक संरक्षित लूट है। जनता वेचारी उसके शोषण से त्रस्त है। राजा यदि केवल नाम का ही राजा होता तो भी इससे ठीक होता। यह तो अन्यायी

राजा है। सहायता और न्याय-प्राप्ति के पात्रों को भी उससे कोई सुविधा नहीं मिलती है। यह दशा देखकर मैं बड़ा दुःखी हूँ।''

महाराज की इस टिप्पणी से सहमत होती हुई गणिका ने कहा—''आप परदेसी हैं, आपका अल्पकालीन प्रवास ही पद्मपुर में रहा होगा—इस मध्य भी आपने यहाँ के विषय में सर्वथा सत्य निष्कर्ष निकाला है। आपके बुद्धि-वैभव और नीतिशीलता की मैं प्रशंसा करती हूँ। आपका दुःखी होना भी स्वाभाविक है। सज्जन तो परदुःख-कातर रहते ही हैं। दुःखितों की सहानुभूति में ही वे दुःखी रहते हैं, जगत् के दुःख से ही वे पीड़ित रहते हैं। किन्तु ··· आज आप राजभवन में किस प्रसंग से गये थे—राजा से भेंट करने?''

''नहीं, देवी ! ··· मैं भी इस बार नगर की कपट-क्रूरता का लक्ष्य हो गया हूँ। गया तो था अपना वाद प्रस्तुत कर राजा से न्याय माँगने, किन्तु उसकी न्याय-विधि देखी तो निराश होकर लौट आया।'' महाराज ने इतना कहते हुए रत्नापहरण की सारी कथा बता दी।

कामलता ने सहानुभूतिपूर्वक सारी घटना को सुना और बोली—''आप चिन्ता न करें। आपके रत्न आपको मिल जायेंगे। जब राजा और शासन से न्याय की आशा न रहे तो पीड़ित जन दुष्टों का प्रतिकार करने का बीड़ा स्वयं ही उठाते हैं। अनाचार करना पाप है, किन्तु उसे सहना तो महापाप है। सहन करने वाला अनाचारी को प्रोत्साहित कर उसे पाप-पंक में और गहरा उतारता जाता है—यह सहनशील लोगों के लिए एक पाप है। हम मिलकर उस दुष्ट, आडम्बरी मठाधीश का प्रतिकार करेंगे। आप निश्चिन्त हो जाइये।''

''वह तथाकथित साधु बड़ा प्रपंची और धूर्त्त है, देवी ! बड़ी सावधानी के साथ ··· ।''

महाराज का कथन पूर्ण भी न हो पाया था कि अति उत्साहित कामलता ने हस्तक्षेप किया—''मैं जानती हूँ, परदेसी ! उस ढोंगी साधु के विषय में सव-कुछ जानती हूँ। नगर का हर व्यक्ति उसकी ठग-विद्या को भलीभाँति जानता है। कोई स्थानीय जन उसके मठ की ओर जाते ही नहीं। यह सत्य है कि वह ठग परदेसी आगंतुकों को ही अपना आखेट बनाता है। यहाँ तो उसे रहना है, यहाँ की जनता को वह अपना शत्रु बनाना नहीं चाहता। अपना जाल वह हम लोगों पर नहीं फैलाता। सर्प दंश न भी करे, तथापि उसका आतंक वना ही रहता है। दंश न करने का अपना व्रत वह कव त्याग दे—कुछ कहा नहीं जा सकता। छली–प्रपंची लोग भले ही किसी की कोई हानि न भी करें फिर भी वे लोगों के लिये विश्वसनीय नहीं वन सकते।''

''मायाशीलः पुरुपो यद्यपि न करोति कं[illegible] ।
सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात[illegible]

"इस भय से पद्मपुर के निवासी उस मठ की ओर झाँकते भी नहीं, किन्तु अब प्रसंग आ गया है, मैं उस प्रपंची के पास जाऊँगी। ठगों को भी ठग लेने की विद्या हम जानती हैं।"

"इसी विश्वास के साथ तो सहायता की याचना लिये मैं आपके पास आया हूँ।"–आशाओं के आलोक से दीप्त मुख-मुद्रा के साथ परदेसी ने कहा–"मुझे आपके चातुर्य में पूरी आस्था है। आपकी योजना में मुझे क्या करना होगा? मेरी क्या भूमिका होगी?"

"परदेसी ! जो कुछ करना है हम ही को करना होगा।" चतुर कामलता ने उत्तर दिया–"आपको तो हमारे साथ मठ में चलना होगा और छिपकर कहीं खड़ा रहना होगा। उपयुक्त समय पर आपको प्रकट होकर साधु से अपने रत्न माँगने होंगे। उपयुक्त समय कब आता है? इसका संकेत मैं थाल को गिराकर कर दूँगी। आप सावधान रहें। शेष कार्य मेरा रहेगा।" महाराज आश्वस्त हो गये।

मठाधीश धूर्त्त तथाकथित साधु ने एक रूपसी नव-यौवना को मठ में आया देखा तो उसके मन की सुप्त रसिकता अँगड़ाइयाँ लेकर जाग उठी। गणिका कामलता के अपार-अपार आकर्षण से ग्रस्त साधु तो मन-ही-मन उसका दास हो गया था, किन्तु साधु-मर्यादा की बाह्य अनुपालना तो उसे करनी ही थी। वह अनासक्त-सा, शान्त अपने उच्चासन पर जमा रहा। विवश था बेचारा। वेश का निर्वाह तो करना ही था।

कामलता ने साधु को नमन करते हुए अपने हाथों का आवरणयुक्त थाल एक ओर रखा और आगे बढ़कर चरण स्पर्श किये। अपनी हँसमुखता को प्रयत्नपूर्वक खिन्नता का आवरण दिये कामलता ने अपना कथन आरंभ किया–"मैं बड़ी दुःखिता हूँ, प्रभो ! मेरी रक्षा कीजिये। इस दुःख जाल से मेरा उद्धार कीजिये।" और वह सिसक उठी। वेदना का भाव मुख पर साकार हो उठा और नयन स्वतः ही सजल हो गये। वह असहाय दृष्टि से साधु का मुख निहारने लगी।

"शान्त हो, नारी !..... शान्त हो ... !" साधु ने कहा–"यह भव-जाल दुःखों का ही आगार है। सुख की प्रतीति देने वाले प्रसंग भी अर्थहीन और क्षणिक हैं। वे भी अपने पीछे दुःखों को छोड़कर विलीन हो जाते हैं। सागर में रहकर जल से भला क्या भयभीत रहना। जगत् को दुःखों की लहरों से भरा समुद्र ही मानो। .... किन्तु तुम तो अति समृद्ध हो ! भला, तुम्हें कौन-सा दुःख हो सकता है?"

"मन का दुःख है, महाराज ! धन भी उसे दूर नहीं कर पाता। इसीलिए उस उत्पीडक धन को आपके चरणों में अर्पित करने आयी हूँ।" कामलता का कथन साधु को बड़ा प्रिय लगा। काल्पनिक रत्नों की दमक से उसका मानस आलोकित हो उठा। कामलता ने कथन निरन्तरित रखा–"मेरा धन रख लीजिए, प्रभो ! और मुझे मन की शान्ति प्रदान कीजिये।"

राजा है। सहायता और न्याय-प्राप्ति के पात्रों को भी उससे कोई सुविधा नहीं मिलती है। यह दशा देखकर मैं बड़ा दुःखी हूँ।"

महाराज की इस टिप्पणी से सहमत होती हुई गणिका ने कहा–"आप परदेसी हैं, आपका अल्पकालीन प्रवास ही पद्मपुर में रहा होगा–इस मध्य भी आपने यहाँ के विषय में सर्वथा सत्य निष्कर्ष निकाला है। आपके बुद्धि-वैभव और नीतिशीलता की मैं प्रशंसा करती हूँ। आपका दुःखी होना भी स्वाभाविक है। सज्जन तो परदुःख-कातर रहते ही हैं। दुःखितों की सहानुभूति में ही वे दुःखी रहते हैं, जगत् के दुःख से ही वे पीड़ित रहते हैं। किन्तु ··· आज आप राजभवन में किस प्रसंग से गये थे–राजा से भेंट करने?"

"नहीं, देवी ! ··· मैं भी इस बार नगर की कपट-क्रूरता का लक्ष्य हो गया हूँ। गया तो था अपना वाद प्रस्तुत कर राजा से न्याय माँगने, किन्तु उसकी न्याय-विधि देखी तो निराश होकर लौट आया।" महाराज ने इतना कहते हुए रत्नापहरण की सारी कथा बता दी।

कामलता ने सहानुभूतिपूर्वक सारी घटना को सुना और बोली–"आप चिन्ता न करें। आपके रत्न आपको मिल जायेंगे। जब राजा और शासन से न्याय की आशा न रहे तो पीड़ित जन दुष्टों का प्रतिकार करने का बीड़ा स्वयं ही उठाते हैं। अनाचार करना पाप है, किन्तु उसे सहना तो महापाप है। सहन करने वाला अनाचारी को प्रोत्साहित कर उसे पाप-पंक में और गहरा उतारता जाता है–यह सहनशील लोगों के लिए एक पाप है। हम मिलकर उस दुष्ट, आडम्बरी मठाधीश का प्रतिकार करेंगे। आप निश्चिन्त हो जाइये।"

"वह तथाकथित साधु बड़ा प्रपंची और धूर्त है, देवी ! बड़ी सावधानी के साथ ··· ।"

महाराज का कथन पूर्ण भी न हो पाया था कि अति उत्साहित कामलता ने हस्तक्षेप किया–"मैं जानती हूँ, परदेसी ! उस ढोंगी साधु के विषय में सब-कुछ जानती हूँ। नगर का हर व्यक्ति उसकी ठग-विद्या को भलीभाँति जानता है। कोई स्थानीय जन उसके मठ की ओर जाते ही नहीं। यह सत्य है कि वह ठग परदेसी आगंतुकों को ही अपना आखेट बनाता है। यहाँ तो उसे रहना है, यहाँ की जनता को वह अपना शत्रु बनाना नहीं चाहता। अपना जाल वह हम लोगों पर नहीं फैलाता। सर्प दंश न भी करे, तथापि उसका आतंक बना ही रहता है। दंश न करने का अपना व्रत वह कब त्याग दे–कुछ कहा नहीं जा सकता। छली–प्रपंची लोग भले ही किसी की कोई हानि न भी करें फिर भी वे लोगों के लिये विश्वसनीय नहीं बन सकते।"

"मायाशीलः पुरुषो यद्यपि न करोति कंचिदपराधम्।
सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात्मदोषहतः॥"

"इस भय से पद्मपुर के निवासी उस मठ की ओर झाँकते भी नहीं, किन्तु अब प्रसंग आ गया है, मैं उस प्रपंची के पास जाऊँगी। ठगों को भी ठग लेने की विद्या हम जानती हैं।"

"इसी विश्वास के साथ तो सहायता की याचना लिये मैं आपके पास आया हूँ।"–आशाओं के आलोक से दीप्त मुख-मुद्रा के साथ परदेसी ने कहा–"मुझे आपके चातुर्य में पूरी आस्था है। आपकी योजना में मुझे क्या करना होगा? मेरी क्या भूमिका होगी?"

"परदेसी ! जो कुछ करना है हम ही को करना होगा।" चतुर कामलता ने उत्तर दिया–"आपको तो हमारे साथ मठ में चलना होगा और छिपकर कहीं खड़ा रहना होगा। उपयुक्त समय पर आपको प्रकट होकर साधु से अपने रत्न माँगने होंगे। उपयुक्त समय कब आता है? इसका संकेत मैं थाल को गिराकर कर दूँगी। आप सावधान रहें। शेष कार्य मेरा रहेगा।" महाराज आश्वस्त हो गये।

मठाधीश धूर्त्त तथाकथित साधु ने एक रूपसी नव-यौवना को मठ में आया देखा तो उसके मन की सुप्त रसिकता अँगड़ाइयाँ लेकर जाग उठी। गणिका कामलता के अपार-अपार आकर्षण से ग्रस्त साधु तो मन-ही-मन उसका दास हो गया था, किन्तु साधु-मर्यादा की बाह्य अनुपालना तो उसे करनी ही थी। वह अनासक्त-सा, शान्त अपने उच्चासन पर जमा रहा। विवश था बेचारा। वेश का निर्वाह तो करना ही था।

कामलता ने साधु को नमन करते हुए अपने हाथों का आवरणयुक्त थाल एक ओर रखा और आगे बढ़कर चरण स्पर्श किये। अपनी हँसमुखता को प्रयत्नपूर्वक खिन्नता का आवरण दिये कामलता ने अपना कथन आरंभ किया–"मैं बड़ी दुःखिता हूँ, प्रभो ! मेरी रक्षा कीजिये। इस दुःख जाल से मेरा उद्धार कीजिये।" और वह सिसक उठी। वेदना का भाव मुख पर साकार हो उठा और नयन स्वतः ही सजल हो गये। वह असहाय दृष्टि से साधु का मुख निहारने लगी।

"शान्त हो, नारी !..... शान्त हो ... !" साधु ने कहा–"यह भव-जाल दुःखों का ही आगार है। सुख की प्रतीति देने वाले प्रसंग भी अर्थहीन और क्षणिक हैं। वे भी अपने पीछे दुःखों को छोड़कर विलीन हो जाते हैं। सागर में रहकर जल से भला क्या भयभीत रहना। जगत् को दुःखों की लहरों से भरा समुद्र ही मानो। .... किन्तु तुम तो अति समृद्ध हो ! भला, तुम्हें कौन-सा दुःख हो सकता है?"

"मन का दुःख है, महाराज ! धन भी उसे दूर नहीं कर पाता। इसीलिए उस उत्पीड़क धन को आपके चरणों में अर्पित करने आयी हूँ।" कामलता का कथन साधु को बड़ा प्रिय लगा। काल्पनिक रत्नों की दमक से उसका मानस आलोकित हो उठा। कामलता ने कथन निरन्तरित रखा–"मेरा धन रख लीजिए, प्रभो ! और मुझे मन की शान्ति प्रदान कीजिये।"

"धीरज का पल्ला न छोड़ो, सुलोचने ! अपनी विकलता को नियंत्रित करो और अपनी वेदना बताओ। मृत्यु को छोड़ शेष सभी संकटों का समाधान संभव है। अपना संकट मुझे बताओ।"–साधु ने कहा।

"स्वामी जी ! मेरी एक ही पुत्री है। रूप-गुण की निधान, साक्षात् देवी समान, क्या साधु-सेवा और क्या दान, उसके सभी आचरण हैं महान्।" कामलता पुत्री-गुणगान में भाव-विभोर-सी हो गयी।

"धन्य हो, देवी ! तुमने बेटी को संस्कारित करने में कोई कृपणता नहीं की। ऐसी प्रत्येक बेटी की माँ को उस पर गर्व ही होना चाहिए, किन्तु···· ।" साधु ने पूछा–"ऐसी गुणशीला बिटिया से तुम्हें क्या कष्ट है ?"

"कष्ट···· अब तक तो कोई न रहा, महाराज ! किन्तु··· किन्तु अब वह हठ पकड़कर बैठ गयी है कि वह तो काष्ठ-भक्षण करेगी। उसके स्वभाव से मैं भलीभाँति परिचित हूँ, महाराज ! वह अपने निश्चय से फिरने वाली नहीं है।" कामलता के बड़े-बड़े, सीपियों-से नयन मोतियों से भर गये। "इसी वेदना से मैं विरक्त हो उठी हूँ। ईश्वर का दिया मेरे पास बहुत-कुछ है, किन्तु जब बिटिया ही न रहेगी तो इस सब का मेरे लिये क्या अर्थ है, महाराज ! यह तो मेरे दुःखों की ज्वालाओं के लिए घृत बन जायेगा।" यह कहते हुए एक झटके के साथ उस बड़े थाल को आवरण-मुक्त कर दिया।

स्वर्ण, हीरक, मुक्ता, भाँति-भाँति के रत्नों से भरा थाल देखकर साधु तो अचंभित रह गया। इतनी सम्पदा ! उसके लिए एक साथ इतने वैभव का दर्शन ही अपूर्व था। उसके नयनों में रत्नों की आभा प्रतिबिम्बित होने लगी। लोभ अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर आँखों की चमक में व्यक्त होने लगा। प्रकटतः वह बोला–"किन्तु···· सुमुखी ! हम विरक्त जनों के लिए इस धन का क्या प्रयोजन?" साधु ने कहा–"ले जाओ इसे। हमें माया के मोह में न बाँधो। नहीं अपेक्षा हमे एक स्वर्ण-शलाका की भी।"

"विदित है, प्रभु ! मुझे सब-कुछ ज्ञात है कि आप महान् त्यागी और निस्पृह सन्त हैं। किन्तु··· ।" कामलता ने तर्कपूर्वक कहा–"किन्तु, महाराज ! मैं यह धन आपके लिए नहीं लायी हूँ। इसे आप दीन-दुःखियों की सेवा के लिए ग्रहण कर लीजिये।"

तर्क स्वयं साधु के पक्ष में था। तुष्टता का अभिनय करते हुए उसने कहा–"हाँ··· हाँ··· यह विचार तो शुभ है। तुम चाहो तो स्वयं भी यह धन दीन-दरिद्रों में वितरित कर सकती हो, किन्तु तुम्हें भय है कि इससे तो तुममें एक मिथ्या अहं का सर्वनाशी भाव आ सकता है। इसीलिये तो गुप्तदान की महिमा का इतना बखान हुआ है। हम तुम्हारी सहायता करने को तत्पर हैं, देवी ! इस धन से हम तुम्हारी ओर से दुःखितों की सहायता करेंगे। हम तुम्हें भी सुखी बनाना चाहते हैं,

शान्ति और सुख तुम्हें प्राप्त हो। हमारा आशीर्वाद है।" महात्मा ने अपना हाथ आशिष मुद्रा में ऊपर उठा दिया।

"धन्य हो, महाराज ! मैं कृतार्थ हुई।" गणिका थाल उठाकर साधु की ओर अग्रसर हुई कि थाल छूटकर भूमि पर आ रहा। थाल झनझना उठा और रत्नादि महात्मा के चरणों में बिखर गये। "महात्मन् ! आपके श्रीचरणों में अर्पित हो जाने को ये रत्न तो उतावले हो उठे हैं।"—बिखरे रत्नों को बटोरते हुए कामलता ने कहा और मुख पर झूल आयी केश-लट को अपने कोमल स्पर्श से पीछे धकेला और सावधानी से देखने लगी कि कहीं कोई रत्नादि बाहर न रह गया हो, कि इसी समय परदेसी आ उपस्थित हुआ—"प्रणाम स्वीकार हो, महाराज ! मैं यात्रा पर आगे जाते समय अपने पाँच रत्न आपके पास धरोहर रख गया था। अब यात्रा से लौटा हूँ। अपने रत्न लेकर घर लौट जाना चाहता हूँ। कृपा कीजिये, महात्मन् ! मेरे रत्न लौटा दीजिये।"

"अच्छा ! तुम लौट आये। तुम्हारा प्रवास सुखद तो रहा न? थक गये होगे बंधु, जल पीओ, विश्राम करो ··· ।" साधु ने ताली बजाई और एक शिष्य जल-पात्र ले आया।

पात्र हस्तगत करते हुए परदेसी ने कहा—"आपके आशीर्वाद से यात्रा सुखद ही रही और अब विश्राम तो ··· यात्री हूँ तो अपने स्थल पर पहुँचकर ही मिलेगा न, प्रभो !" जल का पान महाराज ने नहीं किया। कहीं जल विषाक्त न हो—यह आशंका उन्हें सहज रूप में ही रही।

साधु का यह परिवर्तित स्निग्ध व्यवहार देखकर वे चकित थे। साधु ने सोचा—'परदेसी के रत्न न लौटाता हूँ तो मेरे प्रति अविश्वास का भाव गणिका के मन में उत्पन्न हो जायेगा और यह अपना धन मुझे न देगी। इतने धन को खोना तो मूर्खता ही होगी।' त्वरित निर्णय कर साधु ने परदेसी को उसके पाँचों रत्न लौटा दिये—"लो भाई ! अपने रत्न ले लो। माया को हम अपनाते नहीं। पर-हित की साधना हमारा धर्म है। आवश्यक हो जाता है तो तात्कालिक रूप में ग्रहण करना भी पडता है, किन्तु हमारे मन में शान्ति भी तब आती है, जब पराया धन हम पुनः सुरक्षित लौटा दें या उस कार्य में लगा दें जिसके लिए वह हमें दिया गया। लो, भैया ! अपनी धरोहर सँभालो और हमें दायित्व-मुक्त करो।"

साधु ने कामलता के मुख पर आस्था और विश्वास का भाव देखा तो मन में अतिशय संतोष हुआ। परदेसी तो नमन कर कृतज्ञता के भाव प्रदर्शित करते हुए लौट गया और उसी समय कामलता की परिचारिका ने प्रवेश किया। वह योजनानुसार यथासमय ही उपस्थित हो गयी—कामलता इससे अपनी युक्ति की सफलता के लिए आश्वस्त हो गयी। परिचारिका तो हाँफ रही थी ···· अत्यन्त उत्साहित और प्रसन्न लग रही थी। इसी उत्तेजना के वशीभूत सीधे बोल उसके मुख से निकल नहीं रहे—"ऐसा उल्लास क्यों री, मधु ! क्या हो गया है? क्या कोई अचरज पूरा हो गया?"

"हाँ, स्वामिनी ! अचरज ही पूरा हो गया है। चारुलता देवी ने काष्ठ-भक्षण का विचार त्याग दिया है। मैं बहुत हर्षित हूँ।" मधु का तो जैसे अंग-प्रत्यंग नर्तन करने लगा।

"क्या कहती है, मधु ! सच ही क्या चारु ने काष्ठ-भक्षण का विचार त्याग दिया? तू कितनी अच्छी है ! कैसा शुभ संदेश लायी है, तू ! इस आश्रम का ही प्रताप है यह सारा। यहाँ पग धरते ही मेरी सारी कष्ट-बेड़ियाँ कट गयीं। धन्य हो, महात्मन् ! आपका चमत्कार महान् है।" वह उठी और साधु को प्रणाम कर थाल मधु को थमाते हुए साधु के चरण स्पर्श कर चल पड़ी। पीछे-पीछे मधु भी थाल लिए चल दी। साधु देखता ही रह गया। इस नाटकीय स्थिति की उसे कोई पूर्व कल्पना ही नहीं थी। वह तो हाथ ही मलता रह गया। उसके हाथ से तो यह भी गया और इसके लोभ में वह भी गया। वह महाप्रवंचक भी आप ही ठगा गया।

महाराज वीर विक्रम ने एक रत्न सप्रेम कामलता को दिया और अवन्ती के लिए उन्होंने मार्ग प्रस्थान किया। मार्ग में एक दरिद्र मिला। धनाभाव में वह परम दुःखी था। उसकी दीन दशा देखकर महाराज द्रवित हो उठे। वह दीन महाराज के भव्य एवं तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित हो उठा। उसने निवेदन किया–"हे महाभाग ! मैं अत्यन्त दीन हूँ। दरिद्रता तो समस्त दुःखों की जननी होती है। निर्धनों के सारे गुण लुप्त हो जाते हैं और धनवानों के महान् अवगुण भी गुणरूप में परिवर्तित हो जाते हैं। उसका यशोगान किया जाता है।" महाराज उस दीन का कथन ध्यान से सुनने लगे। वह बोला–"महाराज ! धनाढ्यों का आलस्य भी उनकी स्थिरता कहलाती है और उनकी चंचलता को उद्यमशीलता की संज्ञा मिल जाती है। मूर्खतावश धनवान मूक रहें तो वह उनकी अल्पभाषिता मानी जाती है, उसका भोलापन या अबोधता उसकी सरलता मानी जाती है तो पात्रापात्र की विवेकशून्यता उनकी उदारता बन जाती है। अवगुणों की खान तो दरिद्र ही है। उसके सद्गुणों को भी दोष ही माना जाता है।"

"सत्य कहते हो, बन्धु ! जगत् और जीवन के विषय में तुम्हारा अनुभव बड़ा सटीक है। तुम योग्य और गुणवान हो, भैया–धनाभाव के कारण ही तुम्हारा आदर नहीं होता और तुम दुःखी भी हो। हम तुम्हारी सहायता करने के अभिलाषी हैं। लो, ये रत्न रख लो।"–महाराज ने उसे दो रत्न दिये। वह दरिद्र तो निहाल हो गया।

महाराज ने कहा–"सच्चा धन तो वही है, जिससे पर-हित साधा जाय। अन्यथा संगृहीत धन तो मिट्टी के समान है। भाग्यवान हैं वे, जिनके धन से सुखी होने वाले लोग भी हों। यदि किसी धन को कोई लेना ही न चाहे तो उससे बड़ा अभागा अन्य कोई हो ही नहीं सकता। भाई ! तुमने हमें सौभाग्यशाली बना दिया। आभारी तो हम हैं तुम्हारे।" महाराज के इस बड़प्पन से, उनकी सदाशयता से प्रभावित वह दीन महाराज को आशीर्वाद देते हुए चला गया। महाराज भी दीर्घ-यात्रा पूर्ण कर अवन्ती लौट आये। राज-काज सँभालकर वे पुनः प्रजा-पालन करने लगे। ••

देशाटन के अन्तर्गत महाराज वीर विक्रम चैत्रपुर नगर में आये। इस शान्त और सुन्दर नगर में प्रजा अत्यन्त प्रसन्न और सुखी थी। प्रजा को सुखी देखकर महाराज अति प्रसन्न हुए। वे पद्मपुर के अन्यायी राजा और सर्वभक्षी मंत्री की नीतियाँ और व्यवस्थाएँ देख चुके थे जिनके कारण वहाँ की जनता अत्यन्त दुःखी थी। स्वतः ही उनके मन में चैत्रपुर-नरेश के प्रति प्रशंसा के भाव उदित होने लगे। वही राजा धन्य है जो अपनी प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान रखे और किसी के भी अत्याचार और अन्याय का आखेट न बनने दे। उसे भी प्रजा की रक्षा का एक अनिवार्य भाग मानकर चले।

यही सब-कुछ सोचते हुए महाराज नगर-भ्रमण करते रहे। संध्या समय होने को आया था कि उन्होंने एक स्थल पर वाद्यों के स्वर सुने। इस मंगल ध्वनि से वे हर्षित हो उठे। सज्जनों का चित्त पर-सुख की कल्पना मात्र से भी सुखी हो जाता है, चाहे वह किसी अपरिचित का अज्ञात सुख ही क्यों न हो। यह सच्ची मनुजता की पहचान है। मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। इस सजे-सजाए भवन में कौन-सा पारिवारिक मंगल-प्रसंग है? इसी आशय का प्रश्न उन्होंने एक सज्जन से कर लिया। उसके उत्तर से उन्हें ज्ञात हुआ—"श्रेष्ठी धनद का यह भवन है। श्रेष्ठी के यहाँ बड़े सौभाग्य और आनन्द का अवसर आया है। दीर्घ प्रतीक्षा के पश्चात् उसे पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। आज नवजात शिशु की छठी है। इसी उपलक्ष में तो यह उत्सव मनाया जा रहा है। आज ही रात्रि में विधाता माता बालक की भाग्यलिपि का लेख करेंगी न।"

"अच्छा ··· अच्छा ! ऐसा है क्या !! यह तो बड़ा आनन्द का अवसर है। उत्सव का आयोजन होना ही चाहिये।" महाराज मुस्कराते हुए अग्रसर हो गये। उनके मन में यह जानने को उत्सुकता अँगड़ाइयाँ लेने लगी कि भाग्य के लेखा बेमाता कैसे लिखती है? इस शिशु का भविष्य कैसा है? रात्रि पर्याप्ततः व्यतीत हो जाने पर वे पुनः धनद श्रेष्ठी के भवन पर पहुँच गये। बाहर ही किसी एकान्त और सुनसान स्थल पर वे अँधेरे में छिपकर बैठ गये। उन्हें भाग्यविधात्री देवी के आगमन की प्रतीक्षा थी। प्रहर पर प्रहर व्यतीत होते रहे; पर उन्हें विधाता के दर्शन नहीं हुए। बड़े विलम्ब से उन्होंने देखा कि विधाता देवी तो श्रेष्ठी भवन से लौटकर जा रही थी। सोचा—'देवी ने अपना कार्य सम्पन्न कर लिया है, कदाचित् और अब वे प्रस्थान कर रही हैं।' वे साहस के साथ लपककर आगे आये और विधाता माता का हाथ दृढ़ता से पकड़ लिया—"विचलित न होओ, माता ! मैं आपका दास विक्रमादित्य हूँ। एक ही अनुनय है, माँ ! मुझे कृपा कर यह बताइये कि आपने इस शिशु के भाग्य में क्या लिखा? कैसा है भविष्य इसका, माँ !"

"वत्स ! तुमने प्रश्न किया भी, तो ऐसा कि जिसका उत्तर दिया जाना असंभव है।" महाराज की विनयशीलता के कारण विधाता माता के मन में, अपने मार्ग के इस व्यवधान की भी कोई प्रतिक्रिया न होने दी थी। एक सहज स्नेह उनके मन में महाराज के प्रति विकसित हो गया था। उन्होंने कहा–"मेरे अबोध पुत्र ! भाग्य तो अदृष्ट होता है। भवितव्य अज्ञात रहकर ही अपना कार्य करता है और यथासमय ही स्वयं को उजागर करता है। उसके विषय में कोई पूर्वाभास भी नहीं कर सकता है। तुम भी इसके अपवाद नहीं हो। भला फिर तुमको मैं बालक के भवितव्य का पूर्व ज्ञान कैसे करा सकती हूँ।"

"माँ ! मैंने यह जान लेने का निश्चय कर लिया है? मुझे अपने निश्चय से डिगाना सुगम भी नहीं है। आपको, माँ ! मेरे प्रश्न का उत्तर देना ही होगा।" वीर विक्रम महाराज ने शिष्टता एवं विनय के साथ, किन्तु पूर्ण दृढ़तापूर्वक आग्रह किया। उनका अनुरोध भी राजहठ के समान हो गया था, किन्तु प्रश्नकर्त्ता के वास्तविक परिचय से अनभिज्ञ बेमाता के लिए वह बालहठ-सा प्रियकर था। भाग्यलिपि की गोपनीयता की विशेषता के निर्वाह को कटिबद्ध भाग्यविधात्री देवी ने अपनी विवशता बार-बार व्यक्त की, किन्तु अवन्ती-नरेश भी दृढ़ मनस्क थे। अन्त में उन्होंने कहा–"माँ ! यह जाने बिना मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा। मैं तुम्हारा हाथ ही नहीं छोड़ने वाला, भला तुम जाओगी कैसे, मातेश्वरी !"

इस स्नेहपूर्ण अनुरोध से बेमाता का हृदय द्रवित होने लगा। अपनी मर्यादा को रक्षित रखते हुए उन्होंने एक युक्ति का प्रयोग करना उपयुक्त माना। बोलीं–"वत्स ! तुम अत्याग्रह न ही करते तो ही भला था। प्रतीत ऐसा होता है कि तुम भविष्य के पूर्व-निर्धारित रहने के तथ्य की परीक्षा कर लेना चाहते हो, भाग्य नाम की वस्तु के औचित्य को परख लेना चाहते हो। मैं भी तुम्हें इस बालक के भाग्य का लेख वता तो दूँगी, किन्तु एक वचन तुम्हें देना होगा।"

"कैसा वचन, माँ ! क्या प्रण करना होगा मुझे?"

"बस, यही कि इस बालक का भविष्य तुम गोपनीय रखोगे। तुम्हारे दो कान ही इसे सुनेंगे। तुम किसी तीसरे कान में इसे नहीं पहुँचाओगे।" भाग्यविधात्री देवी ने पूछा–"क्या तुम ऐसा वचन देने को तत्पर हो?"

"सर्वथा तत्पर हूँ, माँ ! जो तथ्य आप मुझे बताएँगी मैं उन्हें अपने तक ही सीमित रखूँगा। मैं वचन देता हूँ कि उसकी गोपनीयता को किसी भी अवस्था में मैं भंग नहीं होने दूँगा।"

महाराज के इस विश्वसनीय कथन से विधाता माता आश्वस्त हुई और वताया–"इस वालक का भाग्य वड़ा विचित्र है। यों तो वाल्यकाल में यह सामान्य-सा रहेगा, किन्तु यह होगा वड़ा विद्याविद् और चतुर ज्ञानी। प्राणघातक रोग से भी यह ग्रस्त हो जायेगा, किन्तु यह घात भी टल जायेगी। विवाह-योग्य

वय-प्राप्ति पर पिता धनद इसका विवाह सोलह कन्याओं के संग स्थिर करेगा, किन्तु परिणय हो नहीं पाएगा। यह होगा भी अल्पायु ही। विवाह-मण्डप में ही सिंह इस पर आक्रमण करेगा और इसकी जीवन-लीला समाप्त हो जायेगी।''

महाराज तो सुनकर सन्न रह गये। अवाक्-से वे भाग्यविधात्री देवी की ओर देखने की चेष्टा करने लगे, किन्तु वे तो लुप्त हो गयी थीं। उनका हाथ का बंधन यथावत् था, किन्तु अब वह पकड़ रिक्त पिंजरे की-सी रह गयी थी जिसमें से आबद्ध पंछी उड़ चला हो।

नवजात बालक की भाग्य-लिपि की पूर्व अवगति ने महाराज को उद्विग्न कर दिया। उनके मन में एक मन्तव्य घुमड़ने लगा–'हमें श्रेष्ठी-पुत्र के अमंगल भवितव्य को पलटने की चेष्टा करनी होगी। हम अपने पुरुषार्थ से उसके भाग्य को बदलेंगे।' यही सब सोचते हुए परदेसी वेशी महाराज धर्मशाला के अपने कक्ष में लौट आए और अशान्त चित्तता के साथ विश्राम करने लगे।

आगामी प्रातः ही वे बालक को देख लेने की लालसा के साथ धनद श्रेष्ठी के यहाँ पहुँच गये। धनद ने आगंतुक परदेसी का स्वागत-सत्कार किया। पुत्र-प्राप्ति पर परदेसी की बधाई पाकर श्रेष्ठी बड़ा हर्षित हुआ। अतिथि का तदर्थ धन्यवाद करते हुए श्रेष्ठी अपने पुत्र को परदेसी के पास ले आया और उसे आशीर्वाद देने का अनुरोध करने लगा कि बालक दीर्घायु हो। परदेसी तो विचारग्रस्त हो गया। कैसा आशीर्वाद चाहा जा रहा है ! स्नेहपूर्वक बालक के मस्तक को छूकर परदेसी ने कहा– ''बालक बड़ा सुलक्षणी है। भगवान करें यह अपने पिता के समान ही यशस्वी हो !''

पिता धनद श्रेष्ठी अतिथि के स्नेहपूर्ण सौजन्य से बड़ा प्रसन्न हुआ। परिचय पूछे जाने पर परदेसी ने स्वयं को अवन्तीवासी विक्रम बताया और कहा– ''देश-भ्रमण के लिए निकला हूँ। आपकी सुन्दर नगरी और सुशील नगरवासियों से बड़ा प्रभावित हूँ। दो-एक दिन यहाँ रुककर आगे प्रस्थान करूँगा।''

श्रेष्ठी ने अनुरोध किया–''आप जब तक भी चैत्रपुर में रहें; मेरे अतिथि बनकर रहें। यह मेरा सौभाग्य होगा।'' महाराज ने भी आतिथ्य स्वीकार कर लिया। दोनों में मैत्री भाव विकसित होते-होते प्रगाढ़ हो गया। विदा होते समय श्रेष्ठी ने अनुरोध किया–''मित्र विक्रम ! अब आपका-हमारा तो पारिवारिक सम्बन्ध हो गया है। मेरी हार्दिक कामना है कि मेरे पुत्र के विवाह-उत्सव में आप अवश्य सम्मिलित हों।''

''मैं स्वयं भी सम्मिलित होना चाहता हूँ, श्रेष्ठी जी ! अवश्य आऊँगा, यदि आप आमंत्रित करने को अवन्ती आयेंगे।''

महाराज के इस कथन का श्रेष्ठी धनद ने स्वागत किया और प्रसन्नतापूर्वक बोला–''मैं अवश्य ही अवन्ती आऊँगा। आपका यह प्रवास सुखद रहे !'' महाराज ने नमस्कार कर प्रस्थान किया।

अवन्ती आकर वे अपने नित्य-प्रति के राज-काज में व्यस्त हो गये और उक्त घटना आयी-गयी होकर रह गयी। कोई दो दशक का समय व्यतीत हो गया। चैत्रपुर की इस घटना के विषय में अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज को कभी स्मृति भी नहीं आयी। महाराज राजसभा में सिंहासनासीन हो एक दिवस जब राज्य की किसी गंभीर समस्या पर विचार-विमर्श कर रहे थे, तभी प्रतिहारी ने आकर सूचना दी कि चैत्रपुर नगर से कोई धनद श्रेष्ठी अवन्ती में आये हैं और वे महाराज से भेंट करने के इच्छुक हैं। अपनी स्मृति पर किंचित् बल लगाकर महाराज ने अतीत में झाँकने का प्रयास किया और उन्हें कुछ स्मरण आने ही लगा था कि अनुमति पाकर श्रेष्ठी भी उनके समक्ष आ उपस्थित हुए।

श्रेष्ठी को देखा तो महाराज के लिए सब-कुछ स्पष्ट हो गया—"आओ मित्र श्रेष्ठीवर ! कहिए, कैसे हैं आप?" महाराज आसन त्यागकर आगे बढ़ आये और अपने मित्र को उन्होंने बाँहों में भर लिया। श्रेष्ठी तो निहाल ही हो गया। ये तो वास्तव में अवन्ती-नरेश, परम पराक्रमी, यशस्वी नृपति वीर विक्रम महाराज हैं। तो अवन्ती के अधिपति मेरे यहाँ अतिथि रहे। इस आश्चर्य ने कुछ क्षणों तक तो धनद श्रेष्ठी को अवाक् ही कर दिया। जब प्रयत्नपूर्वक वह सहज हुआ तो उसने महाराज की कुशल-क्षेम जाननी चाही। महाराज उन्हें स्नेहपूर्वक अपने कक्ष में ले आये। सभा स्वतः ही स्थगित हो गयी।

सुखद आसन पर बिठाकर महाराज ने पूछा—"अवन्ती कब आना हुआ आपका?"

धनद श्रेष्ठी तो अब भी बड़ा चमत्कृत-सा अनुभव कर रहा था। बोला—"आपने तो, राजन् ! चैत्रपुर में यह आभास भी न दिया कि आपका वास्तविक परिचय क्या है? अवन्ती आकर मैं विक्रम नाम से ही आपको खोजता रहा। एक श्रेष्ठी जी ने बताया कि इस विशाल नगर में तो अनेक विक्रम हैं। मैं किससे मिलना चाहता हूँ? मैं भला क्या उत्तर देता उन्हें। नाम के अतिरिक्त अन्य कुछ मैं स्वयं भी न जानता था। तब मैंने विस्तृत विवरण ही बता दिया कि मेरे विक्रम तो वे हैं जो बड़े सौम्य और आकर्षण व्यक्तित्व के धनी हैं, जिनके अधरों पर सदा मुस्कान बनी रहती है। जिनके नयनों में दीप्ति और मुख पर अमित तेजस्विता है और जो उदार देह यष्टि (ऊँचे कद) वाले हैं, आजानु बाहु हैं, जिनकी भुजाएँ घुटनों तक लम्बी हैं। जो सभी के मित्र हैं और जिनका कोई शत्रु हो ही नहीं सकता। मेरे विक्रम अजातशत्रु हैं, वे ही मेरे भी मित्र हैं और मैं उन्हीं से भेंट करने को चैत्रपुर से आया हूँ।"

मेरा विवरण सुनकर श्रेष्ठी जी तनिक सोच में पड़ गये। बोले—"यदि ऐसे विक्रम से आप मिलना चाहते हैं तो उनका नाम आदर के साथ लेना चाहिए—'अवन्ती-नरेश महाराज वीर विक्रमादित्य' कहिये। वे हमारे प्रजावत्सल नृपति हैं।"

"प्रथमतः तो मुझे विश्वास न हुआ, किन्तु राजसभा में आपके दर्शन हुए तो मेरा अविश्वास अचरज में बदल गया।"

"अचरज क्यों, मित्र ! क्या हम अवन्ती-नरेश हो नहीं सकते ?"

"वो तो आप वस्तुतः हैं ही ··· न हो सकते जैसा प्रश्न ही नहीं आता। अचरज तो इस कारण कि इन बीस वर्षों में मैं तो कभी अनुमान ही नहीं लगा पाया कि आप मालवाधिपति हो सकते हैं। मैं बड़ा लज्जित हूँ, राजाधिराज ! मैं तो आपश्री के योग्य कोई सत्कार कर ही न पाया।"

संकुचित होते हुए धनद ने कहा तो उसके संकोच को दूर करते हुए नरेश ने कहा–"श्रेष्ठी मित्र ! ये तो सब समय-समय की बातें हैं। सत्कार तो भावना से होता है, उसमें कोई अभाव न था। आडम्बरों में क्या धरा है ! तुमने हमें अपने मित्रों और परिजनों में स्थान दिया–यह क्या कम है ?"

लज्जित-सा धनद बेचारा बड़ी देरी तक करबद्ध नमन की मुद्रा बनाए रहा। महारांज ने उसके बद्ध करों को थामकर पूछा–"छोड़िये, श्रेष्ठीवर ! उस अतीत-व्यतीत को। यह बताइये हमारा श्रीकुमार कैसा है? अव तो वह युवा हो गया होगा।" महाराज ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा।

"आपकी आशिष फली, महाराज !" धनद श्रेष्ठी ने निवेदन किया–"आपकी कृपा से कुमार अब तो एक गुणवान प्रतिभाशाली युवक के रूप में निखर आया है। सत्रह-अठारह वर्ष का कुमार प्रसन्न-वदन और आकर्षक व्यक्तित्व का धनी है। वह विद्याविद् भी है, कलाओं का उपासक भी और व्यवसाय-बुद्धि में भी वह पीछे नहीं है। बीच में कुछ समय तक वह अस्वस्थ अवश्य रहा। रोग भी भयानक रहा। हमने तो उसके जीवन की आस ही छोड़ दी। वैद्य जन भी निराश हो गये। हमारे-उसके न जाने किसके पुण्यों का प्रताप था कि इस अग्नि-परीक्षा से वह सकुशल निकल आया। एक घात ही टली, महाराज !" धनद ने विस्तार से श्रीकुमार के विषय में महाराज को अवगत कराया।

महाराज ने मन-ही-मन सोचा–'विधाता माता का यह कथन तो पूर्ण हो गया। कुमार पर प्राणों का संकट आया और अहानिकारक रूप में चला भी गया। घोर अनर्थकारी भवितव्य तो अव घटित होगा। यह कथन सत्य निकला तो वेमाता के शेष कथन भी पूर्ण होंगे।' विवाह-मण्डप की भावी दुःखान्तिका का स्मरण करके ही महाराज भीतर तक कम्पित हो उठे। अपने विचलन पर यवनिका डालते हुए महाराज मुस्करा उठे–"भाई धनद श्रेष्ठी ! आपकी लगन और आपके आत्म-विश्वास ने ही कुमार की प्राण-रक्षा की है–इसमें कोई संदेह नहीं। अव उसका विवाह कब कर रहे हो ···· ?"

"श्रीमानेश्वर ! मै इसी निमित्त तो अवन्ती आया हूँ। स्मरण है आपको ? मैंने अनुरोध किया था कि कुमार के विवाह में आप अवश्य सम्मिलित हों, मैं आपको निमंत्रित करने को अवन्ती आऊँगा। तो ··· अव आप चैत्रपुर पधारिये, महाराज ! वह अवसर आ ही गया है।" धनद ने उत्साहपूर्वक आमंत्रित कर दिया–"आपको

पधारना होगा, राजराजेश्वर ! जन्म पर कुमार को आपका आशीर्वाद मिला है, गृहस्थ जीवन में प्रवेश भी उसका आपके आशीर्वचनों के साथ ही होगा।"

"हम आएँगे .... अवश्य आएँगे, मित्र !" महाराज ने कहा–"हमें आना ही होगा। कब का निश्चित हुआ है पाणिग्रहण?"

"सब-कुछ तैयारियाँ हो चुकी हैं, राजन् ! कुमार का विवाह सोलह कन्याओं के साथ निश्चित किया गया है। सभी कन्या-पक्ष चैत्रपुर पहुँच गये हैं। मुहूर्त्त भी हो चुका है। न जाने क्यों प्रत्येक मंगल विधान में कोई व्यवधान आ जाता था। रंग में भंग हो जाता था। बहुत सोचने पर एक ही कारण समझ पाया–आपकी अनुपस्थिति।" धनद श्रेष्ठी ने स्वीकार किया–"आपको निमंत्रित करना तो मैं भूले ही बैठा था–फिर व्यवधान तो होना ही था। स्मरण आते ही मै अवन्ती दौड़ा आया। चलिये, महाराज ! अब विवाह-प्रसंग को निर्विघ्न कीजिये।"

"धनद ! अब तो हम चाहें, तब भी अवन्ती में रुक नहीं सकते। तुम आगे चलो। तुम्हें अभी यहाँ रोकना उचित न होगा। हम भी शीघ्र ही प्रस्थान करेंगे। निश्चिन्त रहो।" महाराज ने उसे आश्वस्त किया। प्रणाम कर धनद भी चैत्रपुर के लिये विदा हो गया। महाराज बैठे बड़ी देर तक चिन्तामग्न रहे–'सोलह कन्याओं के साथ कुमार का परिणय निश्चित हुआ है। विधाता का यह पूर्व-निर्धारण भी सत्य हो रहा है। तो ... क्या सिंह वाली घटना भी ... ।'

महाराज यथासमय अपने सैन्य-बल के साथ चैत्रपुर पहुँच गये। सारे नगर में उन्होंने अपने रक्षक नियुक्त कर दिये। नगर-द्वारों पर भी प्रहरी रख दिये। सभी को निर्देश दे दिया गया कि बाघ, सिंह आदि किसी भी हिंस्र प्राणी को देखते ही मार दो। उसे किसी भी अवस्था में श्रेष्ठी-भवन की ओर न जाने दो। श्रेष्ठी-भवन को भी सशस्त्र सैनिकों ने घेर लिया। महाराज स्वयं खड्ग लिये विवाह-मण्डप में सन्नद्ध हो गये। आठ सैनिक भी ढाल-तलवारों से सज्जित सावधान होकर पहरा देने लगे।

सोलह वधुओं के संग श्रीकुमार विवाह-मण्डप में बड़ा आकर्षक लग रहा था। विवाह के विधि-विधान चल रहे थे। मंत्रोच्चारण और मंगल-वाद्यों के निनाद ने बड़ा ही उत्साहपूर्ण वातावरण निर्मित कर दिया था। पाणिग्रहण प्रक्रिया अपने चरम पर पहुँचने ही वाली थी कि सहसा एक अघटनीय घटना हुई। एक सैनिक की ढाल में धातु के सिंह का अलंकरण था। वह सजीव हो गया और सिंह की दहाड़ से सहसा सारा वातावरण बड़ा भयावह हो उठा। मण्डप में भगदड़ मच गयी। भयातुर लोग आत्म-रक्षा के लिए भागने लगे। सिंह ने छलाँग लगायी और वर श्रीकुमार पर आक्रमण किया। सभी के देखते-देखते सिंह ने श्रीकुमार को मार दिया और लुप्त हो गया। सैनिक की ढाल पुनः सिंह की आकृति से अलंकृत हो उठी। सर्वत्र हाहाकार मच गया। श्रीकुमार की माता तो इस शोक में हतचेत हो

गयी। शृंगारित वधुएँ विलाप करने लगीं। पिता धनदकुमार की स्थिति तो विक्षिप्त-सी हो गयी। महाराज स्वयं भी किंकर्त्तव्यविमूढ़-से खड़े रह गये। अन्ततः सारे उपक्रम के होते हुए भी भाग्य का लेख पूर्ण हो ही गया। भाग्य कुछ होता ही है, वह सर्व निश्चित और अवश्यंभावी है। महाराज ने यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया।

"अब मुझे ज्ञात हुआ महाराज ! आरंभ से क्यों इतने विघ्न आ रहे थे। वे भावी अशुभ के पूर्व संकेत थे। हम उन्हें समझ नहीं पाये।" दुःखित श्रेष्ठी ने कहा–"क्यों आपने इतनी सुरक्षा-व्यवस्था की–यह भी अब ही समझ सका। आपको ज्ञात था, महाराज ! यह भावी अनिष्ट···· तो आपने बताया क्यों नहीं? मैं यह विवाह ही स्थगित रखता। मेरा प्यारा पुत्र तो न जाता। हाय ! मैं अभागा अब क्या करूँ···· कहाँ जाऊँ?"

"धैर्य ही संकट और विपदा में मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र और सहायक होता है। इस नौका पर चढ़कर ही दुःख-सागर से पार होकर सुख-तट को स्पर्श किया जा सकता है। इसी धैर्य का सहारा ग्रहण करो। कुमार की छठी के दिन ही हमें ज्ञात हो गया था कि क्या शुभाशुभ उसके जीवन में घटित होने को है, किन्तु उसे किसी को प्रकट न करने के लिए भी हम वचनवद्ध थे। हमने सिंह से रक्षा के सारे प्रयास कर लिये, किन्तु कर्म-परिणाम तो घटित होना ही था। चित्रित सिंह ने ही वह घटित कर दिया। होनहार ही समझो इसे, मित्र ! इसके आगे सभी विवश रह जाते हैं।"

"जो भी हो, महाराज ! अब मैं अपने पुत्र के बिना जीवित नहीं रहूँगा–रह नहीं सकता। इस हवन-कुंड को ही चिता बनाकर मैं काष्ठ-भक्षण कर लूँगा। अब किसके लिए जीना··· ।" धनद श्रेष्ठी विह्वल हो उठा।

"धनद ! मेरे मित्र !! तुम्हें ऐसा न करना पड़ेगा। मैं तुम्हारे पुत्र को पुनर्जीवित कराऊँगा।" महाराज ने आत्म-विश्वासपूर्वक कहा–"यदि ऐसा न करा सका तो मैं अपने खड्ग से अपना शिरोच्छद कर लूँगा।"

विधाता माता ने अवन्ती-नरेश की भावना जानी तो वे विचलित हो उठीं। नरेश को तो सौ वर्ष का आयुष्य पूर्ण करना है। मैं अपने निर्णय को विपरीत कैसे होने दूँ। यदि राजा ने आज आत्म-घात कर ही लिया तो मेरा लेख मिथ्या हो जायेगा। मैं ऐसा न होने दूँगी। विधाता माता महाराज के समक्ष साक्षात् हुईं और कहने लगीं–"वत्स ! तुम अपना आयु-शतक पूर्ण किये बिना मरण को गले नहीं लगा सकते। यही तुम्हारा प्रारब्ध है। इसे अन्यथा न करो।"

"न करूँगा, माँ ! आपकी प्रतिष्ठा को भी मैं आँच न आने दूँगा, किन्तु ऐसा तभी संभव है, जब आप श्रेष्ठी कुमार को पुनर्जीवित कर दें। अन्य कोई मार्ग नहीं।"

पधारना होगा, राजराजेश्वर ! जन्म पर कुमार को आपका आशीर्वाद मिला है, गृहस्थ जीवन में प्रवेश भी उसका आपके आशीर्वचनों के साथ ही होगा।"

"हम आएँगे.... अवश्य आएँगे, मित्र !" महाराज ने कहा—"हमें आना ही होगा। कब का निश्चित हुआ है पाणिग्रहण ?"

"सब-कुछ तैयारियाँ हो चुकी हैं, राजन् ! कुमार का विवाह सोलह कन्याओं के साथ निश्चित किया गया है। सभी कन्या-पक्ष चैत्रपुर पहुँच गये हैं। मुहूर्त्त भी हो चुका है। न जाने क्यों प्रत्येक मंगल विधान में कोई व्यवधान आ जाता था। रंग में भंग हो जाता था। बहुत सोचने पर एक ही कारण समझ पाया—आपकी अनुपस्थिति।" धनद श्रेष्ठी ने स्वीकार किया—"आपको निमंत्रित करना तो मैं भूले ही बैठा था—फिर व्यवधान तो होना ही था। स्मरण आते ही मैं अवन्ती दौड़ा आया। चलिये, महाराज ! अब विवाह-प्रसंग को निर्विघ्न कीजिये।"

"धनद ! अब तो हम चाहें, तब भी अवन्ती में रुक नहीं सकते। तुम आगे चलो। तुम्हें अभी यहाँ रोकना उचित न होगा। हम भी शीघ्र ही प्रस्थान करेंगे। निश्चिन्त रहो।" महाराज ने उसे आश्वस्त किया। प्रणाम कर धनद भी चैत्रपुर के लिये विदा हो गया। महाराज बैठे बड़ी देर तक चिन्तामग्न रहे—'सोलह कन्याओं के साथ कुमार का परिणय निश्चित हुआ है। विधाता का यह पूर्व-निर्धारण भी सत्य हो रहा है। तो... क्या सिंह वाली घटना भी... ।'

महाराज यथासमय अपने सैन्य-बल के साथ चैत्रपुर पहुँच गये। सारे नगर मे उन्होंने अपने रक्षक नियुक्त कर दिये। नगर-द्वारों पर भी प्रहरी रख दिये। सभी को निर्देश दे दिया गया कि बाघ, सिंह आदि किसी भी हिंस्र प्राणी को देखते ही मार दो। उसे किसी भी अवस्था में श्रेष्ठी-भवन की ओर न जाने दो। श्रेष्ठी-भवन को भी सशस्त्र सैनिकों ने घेर लिया। महाराज स्वयं खड्ग लिये विवाह-मण्डप में सन्नद्ध हो गये। आठ सैनिक भी ढाल-तलवारों से सज्जित सावधान होकर पहरा देने लगे।

सोलह वधुओं के संग श्रीकुमार विवाह-मण्डप में बड़ा आकर्षक लग रहा था। विवाह के विधि-विधान चल रहे थे। मंत्रोच्चारण और मंगल-वाद्यों के निनाद ने बड़ा ही उत्साहपूर्ण वातावरण निर्मित कर दिया था। पाणिग्रहण प्रक्रिया अपने चरम पर पहुँचने ही वाली थी कि सहसा एक अघटनीय घटना हुई। एक सैनिक की ढाल में धातु के सिंह का अलंकरण था। वह सजीव हो गया और सिंह की दहाड़ से सहसा सारा वातावरण बड़ा भयावह हो उठा। मण्डप में भगदड़ मच गयी। भयातुर लोग आत्म-रक्षा के लिए भागने लगे। सिंह ने छलाँग लगायी और वर श्रीकुमार पर आक्रमण किया। सभी के देखते-देखते सिंह ने श्रीकुमार को मार दिया और लुप्त हो गया। सैनिक की ढाल पुनः सिंह की आकृति से अलंकृत हो उठी। सर्वत्र हाहाकार मच गया। श्रीकुमार की माता तो इस शोक में हतचेत हो

गयी। श्रृंगारित वधुएँ विलाप करने लगीं। पिता धनदकुमार की स्थिति तो विक्षिप्त-सी हो गयी। महाराज स्वयं भी किंकर्त्तव्यविमूढ-से खड़े रह गये। अन्ततः सारे उपक्रम के होते हुए भी भाग्य का लेख पूर्ण हो ही गया। भाग्य कुछ होता ही है, वह सर्व निश्चित और अवश्यंभावी है। महाराज ने यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया।

"अब मुझे ज्ञात हुआ महाराज ! आरंभ से क्यों इतने विघ्न आ रहे थे। वे भावी अशुभ के पूर्व संकेत थे। हम उन्हें समझ नहीं पाये।" दुःखित श्रेष्ठी ने कहा–"क्यों आपने इतनी सुरक्षा-व्यवस्था की–यह भी अब ही समझ सका। आपको ज्ञात था, महाराज ! यह भावी अनिष्ट.... तो आपने बताया क्यों नहीं? मैं यह विवाह ही स्थगित रखता। मेरा प्यारा पुत्र तो न जाता। हाय ! मैं अभागा अब क्या करूँ.... कहाँ जाऊँ?"

"धैर्य ही संकट और विपदा में मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र और सहायक होता है। इस नौका पर चढ़कर ही दुःख-सागर से पार होकर सुख-तट को स्पर्श किया जा सकता है। इसी धैर्य का सहारा ग्रहण करो। कुमार की छठी के दिन ही हमें ज्ञात हो गया था कि क्या शुभाशुभ उसके जीवन में घटित होने को है, किन्तु उसे किसी को प्रकट न करने के लिए भी हम वचनबद्ध थे। हमने सिंह से रक्षा के सारे प्रयास कर लिये, किन्तु कर्म-परिणाम तो घटित होना ही था। चित्रित सिंह ने ही वह घटित कर दिया। होनहार ही समझो इसे, मित्र ! इसके आगे सभी विवश रह जाते हैं।"

"जो भी हो, महाराज ! अब मैं अपने पुत्र के बिना जीवित नहीं रहूँगा–रह नहीं सकता। इस हवन-कुंड को ही चिता बनाकर मैं काष्ठ-भक्षण कर लूँगा। अब किसके लिए जीना... ।" धनद श्रेष्ठी विह्वल हो उठा।

"धनद ! मेरे मित्र !! तुम्हें ऐसा न करना पड़ेगा। मैं तुम्हारे पुत्र को पुनर्जीवित कराऊँगा।" महाराज ने आत्म-विश्वासपूर्वक कहा–"यदि ऐसा न करा सका तो मैं अपने खड्ग से अपना शिरोच्छद कर लूँगा।"

विधाता माता ने अवन्ती-नरेश की भावना जानी तो वे विचलित हो उठीं। नरेश को तो सौ वर्ष का आयुष्य पूर्ण करना है। मैं अपने निर्णय को विपरीत कैसे होने दूँ। यदि राजा ने आज आत्म-घात कर ही लिया तो मेरा लेख मिथ्या हो जायेगा। मैं ऐसा न होने दूँगी। विधाता माता महाराज के समक्ष साक्षात् हुईं और कहने लगीं–"वत्स ! तुम अपना आयु-शतक पूर्ण किये बिना मरण को गले नहीं लगा सकते। यही तुम्हारा प्रारब्ध है। इसे अन्यथा न करो।"

"न करूँगा, माँ ! आपकी प्रतिष्ठा को भी मैं आँच न आने दूँगा, किन्तु ऐसा तभी संभव है, जब आप श्रेष्ठी कुमार को पुनर्जीवित कर दें। अन्य कोई मार्ग नहीं।"

"दुराग्रह छोड़ो, पुत्र ! यह संभव नहीं। श्रीकुमार ने अपने कर्मों का ही फल पाया है। उसने पूर्वभव में केहरी सिंह का हनन किया था। केहरी सिंह ने इस भव में उसी का प्रतिकार पूर्ण किया है।" बोध देती हुई विधाता ने कहा।

"दुराग्रह नहीं, माते ! अनुरोध है हमारा तो, सुदृढ़ अनुरोध ! कृपा करो, माँ ! श्रीकुमार को जीवनदान दो। पूर्वभव का प्रतिकार केहरी सिंह को लेना था, वह पूर्ण हो गया, श्रीकुमार का मरण हो गया। कर्मफल इस दारुण रूप में घटित हो गया। हम तो अब आगे का प्रसंग चाहते हैं। हुए को अनहुआ न भी किया जा सकता हो, तथापि नवीन तो साधा ही जा सकता है, माँ ! यदि हमारा मरण श्रेयस्कर न हो तो कुमार का पुनर्जीवन ही उसे अन्यथा कर सकता है। सोच लीजिये क्या वरेण्य है, क्या त्याज्य है?" बेमाता असमंजस में पड़ गयीं, किन्तु त्वरित निर्णय भी अपेक्षित था। लम्बन अब संभव न था। महाराज के सशक्त तर्कों के समक्ष वे हततेज़ भी हो रही थीं। विक्रम महाराज का कथन युक्तियुक्त भी था। उसमें अनौचित्य न पाकर उन्होंने श्रेष्ठी कुमार को पुनर्जीवित कर दिया।

अँगड़ाई लेकर श्रीकुमार उठ बैठा। माता-पिता ने संतोष की साँस ली। उपस्थित जन-समुदाय हर्ष-ध्वनि कर उठा। सोलह वधुओं का तो सुप्त हो चुका सद्भाग्य ही पुनर्जाग्रत हो उठा था। उनकी जी की कलियाँ खिल उठीं। इस विद्रूप व्यवधान के अनन्तर विवाह-संस्कार की प्रक्रिया उसी स्थल से पुनः आरंभ हुई, जहाँ वह थम गयी थी। सर्वत्र हर्षोल्लास छा गया। धनद श्रेष्ठी तो महाराज विक्रमादित्य के इस पौरुषपूर्ण सदोद्योग के भक्त ही हो गये थे। महाराज ने उसे एक वीभत्स संकट से उबार लिया था, उसकी दुर्भाग्यपूर्ण नियति को भी परिवर्तित कर दिया था। श्रीकुमार का पाणिग्रहण संस्कार सोलह श्रेष्ठी-कन्याओं के साथ सानन्द सम्पन्न हो गया।

● ●

महाराजाधिराज विक्रमादित्य का न्याय-नीतिपूर्ण शासन सर्वत्र चर्चित रहा करता था। अन्य देशों के निवासी कहा करते थे कि इस युग में रामराज्य के दर्शन करना हो तो मालव-देश में पहुँच जाओ। यही कीर्ति किसी शासक के साफल्य की प्रतीक हो जाती है। प्रजावत्सल नरेश वीर विक्रम महाराज ने जनता के हित और सुख-सुविधाओं को सर्वोच्च प्राथमिकता दे रखी थी। अपना सारा जीवन ही उन्होंने इसी हेतु पर समर्पित कर दिया था। सारे मालव-देश में धन-धान्य का वाहुल्य था। कहीं भी अशान्ति न थी। प्रजा जन पारस्परिक हितों को ध्यातव्य मानकर, अन्य जनों को सुखी वनाकर स्वयं सुखानुभव करते थे। 'जीओ और जीने दो' का

सिद्धान्त जीवन्त रूप में सभी के व्यवहार में साकार हो गया था। सर्वथा अभय और विकार-मुक्त जीवन जीने वाले सभी नागरिक यथार्थ रूप में सुखी और समृद्ध थे। धर्म ही उनका सबसे बड़ा धन था और कर्मशीलता में ही उनके तन की सार्थकता थी। मालव राज्य इस प्रकार स्वर्गोपम हो गया था। मालव-देश आदर्श राज्य, मालव जन आदर्श नागरिक और महाराज विक्रमादित्य आदर्श राजा के प्रतिरूप हो गये थे। महाराज ने प्रयत्नपूर्वक अपने राज्य को सप्त व्यसनों से मुक्त कर दिया था। कलाओं-विद्याओ की समुचित वृद्धि उनके राज्य में थी।

देशाटन के प्रयोजन से किंचित् दीर्घावधि के लिए महाराज जब अवन्ती में न रहे तब भी उनके शासनादर्श यथावत् सक्रिय रहे। अमात्य-अधिकारी वर्ग जन-सेवाओं का संचालन यथावत् करते रहे। प्रजा भी अपना नियमित-संयमित जीवन व्यतीत करती रही। व्यसन-मुक्ति भी यथावत् बनी रही। धर्माचरण का विकास होता रहा और अनीति से सदा दूर रहने की प्रवृत्ति भी सुदृढ़ होती रही। एक ही समस्या आने लगी थी। इस राज्य में चोरी, ठगी-जैसे कुकृत्य सदा के लिए समाप्त हो गये थे, किन्तु यह पाप पुनः सिर उठाने लगा था। मालव जन तो व्यसन-मुक्त जीवन के अभ्यासी हो गये थे। उन्हें जीवन के ऐसे सात्त्विक स्वरूप में ही आनन्द का अनुभव होता रहता था। समीपवर्ती अन्य राज्यों के कुछ धनलोलुप अपराध प्रवृत्ति के लोग सक्रिय हो गये थे। वे ही अवन्ती में घुस आते थे और सम्पन्न परिवारों का धनापहरण कर लेते थे। अवन्ती की समृद्धि उनके लिए आकर्षण थी तो महाराज की अनुपस्थिति उन्हें विशेष रूप से प्रेरित करती थी।

महाराज जब देशाटन से अवन्ती लौटे तो इस विकार से वे अवगत हो गये और किचित्-से चिन्तित भी। विकार और व्यसन से मुक्ति जब तक रहती है, तभी तक रहती है। जब एक बार कहीं से इस रोग के कीटाणु आकर तनिक-सा प्रभाव दिखाने लगते हैं, तो फिर बडी तीव्र गति से रोग का प्रसार होने लगता है। इस संक्रामक रोग को इसके शैशव में ही नष्ट कर देना आवश्यक मानकर महाराज सक्रिय हो गये। नगर के अनेक धनाढ्य जन, व्यवसायी आदि त्राहि-त्राहि करते आये और महाराज से रक्षा की याचना करने लगे। महाराज ने सभी को अभय दिया, आश्वस्त किया कि शीघ्र ही राज्य को इस आपद् से मुक्ति मिलेगी, आप सभी निश्चिन्त रहें। हम पुनः इस दुष्प्रवृत्ति को समूल नष्ट करके ही रहेंगे। जो राजा जनता से कर प्राप्त करे और जन-धन की रक्षा का दायित्व न निभाए, वह नरक का भागी होता है। अवन्ती शीघ्र ही इस रोग से मुक्त होकर पुनः नीरोग हो जायेगी।

महाराज ने चोरों को पकड़ने का दृढ़ निश्चय किया और स्वयं इस दिशा में गतिशील हो गये। वे रात्रि में वेश परिवर्तित कर नगर में विचरण करने लगे। बड़ी देर तक वे विचरण करते रहे, किन्तु कहीं चोर का कोई चिह्न भी नहीं

मिला। धनाढ्यों के क्षेत्र में वे अनेक चक्कर लगा चुके, पर जब कोई सूत्र हाथ न लगा तो वे विक्रय-स्थलों की ओर आ गये। संभव है बाजार को चोरों ने अपना लक्ष्य बनाया हो। यह सोचकर वे जब जौहरियों के व्यवसाय केन्द्रों की ओर आये, तो उन्हें उस नीरव रात्रि में कुछ हलचल-सी अनुभव होने लगी। अंधकार में भी उन्होंने देखा कि पार्श्व के एक मार्ग से आकर चार लोग चौराहे के समीप रुके और आपस में धीमे स्वर में वार्त्तालाप करने लगे। महाराज के चातुर्य ने उन्हें आभास करा दिया कि ये चोरों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकते। इनको पकड़ पाना भी यों एकदम सुगम न था। इनका भेद ज्ञात करना अधिक आवश्यक था। वे चोरों के समीप पहुँचकर धीमे-से स्वर में कहने लगे—"भाई लोगो ! तुम चोर प्रतीत होते हो। भाई, हूँ तो मैं भी एक चोर ही, पर अकेला होने के कारण कोई लम्बा हाथ साफ नहीं कर पाता, बड़ा दुःखी हूँ। कृपाकर मुझे भी अपने साथ ले लें, भाई !"

"तूने हमें भाई कहा है तो आज से तू भी हमारा साथी हो गया—यह समझ ले। चोर-चोर तो मौसेरे भाई होते ही हैं। नाम क्या है तेरा?" एक चोर ने, जो इनका सरदार प्रतीत होता था, पूछ लिया।

"भला, चोर का भी क्या कोई नाम होता है, किन्तु भैया मुझे प्रजापाल नाम से पुकारा जाता है। छोटा-सा चोर हूँ। अकेले काम करने से पकड़े जाने का भय बना रहता है। कोई चौकसी करने वाला भी तो नहीं होता। जो हाथ लगता है, लेकर भाग छूटता हूँ।" चोररूपी महाराज ने कहा।

सरदार ने आश्वस्त करते हुए कहा—"अब तेरी चिन्ता समाप्त हुई ही समझ, प्रजापाल ! काम से तो चोर है और नाम इतना ऊँचा। प्रजा को लूटने वाला है और 'प्रजापाल' नाम है।" सरदार को हँसी आ गयी। अन्य चोरों ने भी इस हँसी में योग दिया।

तभी अन्य चोर बोला—"भाई प्रजापाल ! चोरी के कार्य में अनेक प्रकार की विशेषताएँ आवश्यक होती हैं तभी कोई बड़ा काम संभव हो पाता है। हममें से प्रत्येक में ऐसी कोई-न-कोई विशेषता है। तू बता तेरी विशेषता क्या है?"

प्रजापाल ने शिथिल होते हुए उत्तर दिया—"भाइयो ! मेरा क्या है? साधारण-सा चोर हूँ। फिर भी चोर की विशेषताएँ तो मुझमें भी हैं ही। आप लोगों में क्या-क्या विशेषताएँ हैं? मैं भी तो जानूँ। फिर अपनी भी बता दूँगा।" महाराज के पास कोई स्पष्ट उत्तर न था। अतः यह प्रश्न कर दिया कि इसका उत्तर आते-आते वे भी कोई कल्पना कर लेंगे। चारों की विशेषताएँ सुनकर उन्हें कल्पना करने में भी सुगमता रहेगी।

एक चोर ने कहा—"मैं सात तालों में बन्द धन को भी केवल गंध से पहचान लेता हूँ। कहाँ कितना मूल्यवान धन छिपा है, मैं तत्काल पता लगा सकता हूँ।"

दूसरे चोर ने कहा—"भाई ! मेरे हाथों में तो चमत्कार ही है। बड़े-बड़े, सुदृढ़ तालों को मैं केवल स्पर्श मात्र से सुगमता के साथ खोल देता हूँ।"

तीसरे चोर ने अपनी विशेषता बतायी—"वह किसी की वाणी सुन ले तो इस आधार पर सौ साल बाद भी उसे फिर से पहचान लेता है। चाहे उस व्यक्ति की मुखाकृति उसने न तब देखी हो और न ही अब देख पा रहा हो।"

चौथे चोर ने अपनी विशेषता बताई—"वह पशु-पक्षियों की भाषा जानता-समझता है।"

जब चारों चोर अपनी-अपनी विशेषता बता चुके तो सरदार ने कहा—"अब तेरी बारी है, प्रजापाल ! बता—तुझमें क्या विशेषता है ?"

प्रजापाल ने कहा—"आहा ... हा ... भाइयो ! तुम लोगों में तो बड़ी-बड़ी विशेषताएँ हैं। इनके उपयोग से चोरी का काम कितना सुगम हो जाता होगा। मुझमें तो साधारण-सी विशेषता है। उसे प्रकट करने में भी मुझे संकोच होता है, किन्तु बताना तो होगा ही, भाई ! मेरी तो बस इतनी-सी विशेषता है कि मैं जिन लोगों के मध्य रहता हूँ, राजा उनका कोई अहित नहीं कर पाता, वे अभय हो जाते हैं।"

"अरे, वाह प्रजापाल ! तू इसे साधारण और छोटी-सी विशेषता कहता है। भाई ! यह तो हम चोरों के लिए सबसे बड़ा वरदान है। अब हम लोग तुझे छोड़ेंगे नहीं, सदा साथ ही रखेंगे। अवन्ती में तो हम कुछ ही दिन और चोरी करेंगे। शीघ्र ही हम किसी अन्य राज्य में चले जायेंगे। इसके पूर्व हम किसी अन्य राज्य में थे। तू तो हर राज्य में हमारा भारी सहायक रहेगा, भाई ! हमारा जीवन तो बनजारों जैसा है, आज यहाँ तो कल वहाँ।"

तब एक अन्य चोर ने कहा—"चल भाई, प्रजापाल ! आज हम मेघवर्ण श्रेष्ठी के यहाँ चोरी करने जाते हैं। आज संध्या को ही मैं देख आया था—उसकी दुकान में ढेरों माल भरा है।"

"माल तो अवश्य भरा होगा, भाई ! किन्तु क्षमा करना मेरा मत तुम लोगों से भिन्न है। मेघवर्णी श्रेष्ठी के यहाँ धरा क्या है ? गेहूँ, धान, चावल, उड़द आदि। बोझा ढोते-ढोते कमर टूट जायेगी और हाथ क्या आना है ? फिर आज की रात्रि ऐसे माल के लिए शुभ नहीं। मेरे कारण चाहे राजा तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सके, किन्तु श्रेष्ठी की आत्मा तो दुःखी होकर तड़पेगी। उसकी 'हाय' न लो। वह अनर्थकारी हो सकती है। जिसके प्राण जाते हैं उसे तो क्षणिक कष्ट ही होता है, किन्तु जिसका अपनी कमाई का धन चोरी हो जाता है, वह तो जीवनभर दुःखी रहता है और दुष्कामनाएँ करता रहता है। मेरी मानो तो एक काम करो। चलो, आज राजा के यहीं चोरी करते हैं। उसका तो बिना परिश्रम का धन है। चोरी से उसे कोई शोक न होगा। वहाँ मणि-माणिक्य के ढेर हैं। जितने चाहो उठा लाना। मैं राजभवन के सारे भेद

जानता हूँ। कहाँ क्या रखा है ` ` ` मुझसे कुछ छिपा नहीं। एक ही चोरी में हम मालामाल हो जायेंगे।''

''बात तो प्रजापाल ! तुम ठीक ही कहते हो।''–एक चोर ने कहा। तुम्हारे साथ मिलकर की गयी प्रथम चोरी तो ऐसी ही भव्य होनी चाहिए।''

प्रजापाल ने परामर्श दिया–''सरदार ! हम लोगों को चोरी से जो धन प्राप्त होगा, उसमें से कुछ धन राजभवन के रक्षकों–प्रहरियों को भी दे देना। वे सारी सुविधा कर देंगे।''

''नहीं-नहीं ` ` ` ` नहीं। ऐसा परामर्श न दे, प्रजापाल ! राजा विक्रमादित्य के कर्मचारी बड़े निष्ठावान हैं। धन के लोभ से उन्हें कर्त्तव्य-च्युत करना सर्वथा असम्भव है। उन्हें तो हमारी भनक भी न पड़नी चाहिए।'' सरदार का कथन सुनकर प्रजापालरूपी महाराज विक्रमादित्य को बड़ा संतोष हुआ।

लुकते-छिपते पाँचों चोर जब राजभवन तक पहुँच गये तो प्रजापाल ने चोरों से कहा–''तुम लोग यहाँ छिपकर बैठ जाओ। मैं भवन के भीतर जाकर देख आता हूँ, कैसा क्या है ?'' प्रजापालरूपी महाराज राजभवन में गये और प्रधान रक्षक व प्रहरियों पर संमूर्च्छना चूर्ण का प्रयोग कर तुरन्त लौट आये–''सब-कुछ ठीक है, मित्रो ! अब समय खोना उपयुक्त नहीं। चलो, चलते हैं।'' प्रजापाल ने लौटकर कहा और पाँचों ने राजभवन में प्रवेश किया। प्रहरी जन ऊँघ रहे थे। निरापद रूप में प्रजापाल उन्हें कोषागार तक ले आया। अब उसने पहले चोर को कहा–''भाई ! तुम बताओ इन कक्षों में से कौन-से कक्ष में भारी माल है।''

वह चोर सूँघता हुआ कक्षों की पंक्ति के सामने से होकर निकल गया। एक कक्ष पर वह रुका और नाक से गहरी साँस लेकर उस द्वार की ओर उसने संकेत कर दिया। दूसरे चोर की ताला खोलने की बारी आयी। वह आगे बढ़ा। वड़ा भारी ताला था। उसने स्पर्श करने को हाथ अग्रसर किया ही था कि वाहर कहीं शृगाली बोल पड़ी। चोर ने अपना हाथ खींच लिया।

पशु-पक्षियों की भाषा जानने वाला चोर बोला–''शृगाली का तो वड़ा अद्भुत कथन है, भाई ! कहती है कि ताला न तोड़ो, चोरी न करो। जिस धन की तुम चोरी करने जा रहे हो–उसका स्वामी स्वयं तुम्हारी सारी करतूत को देख रहा है। इस चेतावनी की अनदेखी नहीं की जा सकती।''

प्रजापाल ने साहस वढाते हुए कहा–''अरे काहे की चेतावनी, भैया ! कहाँ स्वामी देख रहा होगा। राजा तो ऊपर के पाँचवें तल्ले में अपने शयन-कक्ष में सो रहा है। और देख भी रहा हो तो डर काहे का। मैं जो तुम्हारे साथ हूँ। राजा तुम्हारी कोई हानि कर ही नहीं सकता है न ! आगे वढ़ भैया ! ` ` ` ` ताला खोल दे।'' प्रजापाल ने दूसरे चोर को उत्साहित किया। दूसरे चोर ने अपना चमत्कार दिखाया–ताले खुल गये। सभी कोपागार में प्रविष्ट हुए। मंजूपाओं में रत्न, हीरे,

मोती, जवाहरात भरे पड़े थे। मंजूषाओं पर भी ताले पड़े थे। उन्हें यथावत् रखना ठीक समझा गया। पहले चोर ने सूँघ-सूँघकर पाँच मंजूषाएँ चयनित कर लीं। चोर एक-एक मंजूषा उठाने को झुके ही थे कि शृगाली पुनः बोल गयी। उसके शान्त हो जाने पर एक कुत्ते के भौंकने की आवाज आयी। साथी चोर ने सभी को बताया– "शृगाली कुत्ते से कह रही है कि राजा का धन चोर चुराकर ले जा रहे हैं। तू भौंक-भौंककर उन्हें रोकता क्यों नहीं?"

सरदार ने पूछा–"कुत्ते का क्या कहना है?"

"कुत्ता कह रहा है कि धन का स्वामी ही जब साथ है तो भला मेरे भौंकने का क्या लाभ?" चोर ने पशुओं की वाणी की व्याख्या कर दी।

चोर हताश हो गये। यह स्वामी कौन? हमारे साथ तो यह प्रजापाल है। नाम ही नाम का प्रजापाल है–वास्तव में तो चोर है यह। यह धन का स्वामी, राजा कैसे हो सकता है भला। सरदार के मन में इसी प्रकार के विचार आते जा रहे थे कि प्रजापाल ने हस्तक्षेप किया–"भैया ! सोच-विचार करने वाला चोरी नहीं कर पाता। जल्दी से ही हम माल उठाकर चम्पत हो जाते हैं। चोरी भी साहस और वीरता का काम है, भाई ! पशु-पक्षियों की बातों पर तो कायर विश्वास करते हैं। वैसे कुत्ता बेचारा यदि ऐसा कहता है तो मिथ्या भी क्या है उसमें? जब माल हमारे हाथ में आ गया तो अब माल के स्वामी तो हम हो ही गये हैं न ! अब अधिक सोच में न पड़ो और माल उठाकर चलते बनो। मेरी विशेषता को न भूलो। राजा तुम्हारा कुछ भी अहित न कर सकेगा। मैं हूँ न तुम्हारे साथ।"

प्रजापाल के कथन से चोर आश्वस्त हुए। पाँचों ने एक-एक मंजूषा उठायी और चल दिये। वे सभी रात के अँधेरे में छिपते-छिपाते उसी चौराहे पर लौट आये। आज की इस भव्य सफलता पर सभी चोरों को बड़ी प्रसन्नता थी। सभी को प्रजापाल के कौशल पर बड़ा गर्व था। चोरों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसे कभी न छोड़ने का वादा किया। प्रजापाल यदि संग में न होता तो वे राजभवन में पहुँचने का साहस ही नहीं कर पाते और किसी भाँति पहुँच भी गये होते तो इन परिस्थितियों में माल तो उनके हाथ लग ही नहीं पाता। आज की उपलब्धि का सारा श्रेय प्रजापाल का स्वीकारा गया। प्रजापाल भी प्रसन्न था। बोला–"भैया ! यह तो हम सभी का सम्मिलित प्रयास था। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। चोर को कायर समझा जाता है, किन्तु जितना साहस चोरी के काम में आवश्यक होता है, उतना अन्य बहुत कम ही कामों में रहता होगा। अगर आज हम शृगाली की व्यर्थ की बातों में आकर भाग आते तो माल तो छूटता ही, कोई ऐसी चूक भी हम कर आते कि पकड़े जाते।"

"नहीं .... नहीं, भाई प्रजापाल ! तुम्हारा सोच-विचार उपयुक्त ही रहा।" चोरों के सरदार ने कहा–"तुम भले ही स्वयं को एक साधारण चोर मानते रहो, हमारे लिए तो तुम्हारा बड़ा महत्त्व है। हम सदा तुम्हें अपने साथ ही रखेंगे।"

"मुझे भी तुम लोगों के आसरे की बड़ी आवश्यकता है, भैया ! मैं ही तुम्हें छोड़कर कहाँ जाने वाला हूँ।" प्रजापाल ने कहा—"अब तो साथ बना ही रहेगा। यदि कभी दोपहर में तुमसे मिलना चाहूँ तो कहाँ मिलोगे?"

सरदार ने कहा—"हम तो इसी बाजार में विचरण करते रहते हैं। हमारे सिर पर लाल टोपियाँ रहती हैं। दिन में हम दुकान-दुकान की टोह लेते हैं और चोरी के लिए स्थान खोजते रहते हैं।"

"अच्छा, भैया ! कल मिलते हैं फिर ....।" प्रजापालरूपी महाराज यह कहकर प्रस्थान कर गये। अपनी मंजूषा के साथ वे राजभवन लौट आये और शयन-कक्ष में जाकर सो गये। प्रातः उठे तो पाया कि राजभवन में भय और आतंक का वातावरण छाया हुआ है। विचित्र-सी हड़बड़ी और भाग-दौड़ मची हुई थी। ज्ञात हुआ कि रात्रि में राजभवन में चोरी हो गयी। कोषागार खुला पड़ा था और बहुमूल्य हीरे-जवाहरातों की छह मंजूषाएँ चोरी हो गयी हैं। महाराज सोच में पड़ गये—'पाँच की बात तो ठीक है, किन्तु यह छठी मंजूषा। वह कहाँ गयी?'

महाराज ने मुख्य प्रहरी को बुलाया और उसे भली प्रकार से प्रताड़ित किया। आजकल तुम बड़े प्रमादी हो गये हो। यह है तुम्हारी रक्षा-व्यवस्था ! कोष-रक्षा का दायित्व तुम्हारा है। चोरी हो जाना कोई साधारण बात नहीं। तुम्हें वही दण्ड मिलेगा, जो चोर को मिलता है। मुख्य प्रहरी बेचारा कुछ निवेदन करने की स्थिति में ही नहीं था। बेचारा उदास—निराश मुँह लटकाये खड़ा रह गया। इसी अवस्था में वह घर पहुँचा तो पत्नी कुछ जान न पायी कि पति आज इतना उदास क्यों है। बार-बार पूछने पर मुख्य प्रहरी ने सारी घटना कह सुनायी। पत्नी कुछ तीव्र बुद्धि की थी। उसने दण्ड से रक्षा पाने के लिए एक उपाय बताया।

मुख्य प्रहरी लौटकर राजभवन पहुँचा और उसने महाराज से निवेदन किया—"करुणावतार ! आप तो हमारे माई-बाप हैं। मेरी शिथिलता के कारण ही राजकोष की हानि हुई है। मैं आपका दोषी हूँ। कल ही रात जाने कैसे मुझे नींद आ गयी। आप मेरी सारी सम्पत्ति छीन लें। मैं अन्य किसी राज्य में चला जाऊँगा। कृपानिधान ! मुझ पर दया कीजिये।"

"घबराओ नहीं, प्रहरी ! तुम्हरा कोई दोष नहीं। तुम्हें अन्यत्र कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। हमारी परीक्षा में तुम खरे उतरे। तुमने सावधान वने रहने की मिथ्या डींगें नहीं हाँकीं। सत्य को स्वीकार किया कि नींद आ गयी थी। हम तुम पर प्रसन्न हैं। और भी चुस्ती से काम में लगे रहो।" महाराज का कथन तो मुख्य प्रहरी के लिए जैसे पुनर्जीवन का दाता ही हो गया। उसका हृदय प्रसन्नता से जैसे उछलने लगा।

महाराज ने विशेष आरक्षी-दल को वाजार भेजकर लाल टोपी की पहचान से चारों चोरों को पकड़ वुलवाया। चोर तो हक्के-वक्के रह गये। "हमें क्यों पकड़ लिया

गया, महाराज !"–एक चोर ने कहा–"हम तो सीधेसादे-से परदेसी यात्री हैं। दो दिन अवन्ती-दर्शन कर स्वदेश लौट जायेंगे। भला हमें किस अपराध में बन्दी बनाया गया है?"

"तुमने हमारे कोष से चोरी की है। हीरे-जवाहरातों से भरी मंजूषाएँ तुम कल रात को राजभवन से चुरा ले गये हो। तुम्हें ज्ञात नहीं, हमारे राज्य में चोरी नहीं होती। वर्षों बाद तुम लोगों के कारण हमारी इस धवल कीर्ति को हानि पहुँची है। चुरायी गयी मंजूषाएँ पहले हमारे समक्ष प्रस्तुत करो और फिर अपने इस जघन्य अपराध का दण्ड भोगने को तत्पर हो जाओ।" महाराज की आज्ञा सुनकर चोर अपना सारा साहस भूल गये। उनकी अकड़ धरी की धरी रह गयी। वे दण्ड के भय से विचलित हो उठे। भागकर गये और मंजूषाएँ लाकर प्रेषित कर दीं।

"ये तो चार ही हैं।" महाराज ने प्रश्न किया–"शेष दो मंजूषाएँ कहाँ हैं? हमारे कोष से छह मंजूषाएँ चोरी गयी हैं।"

"महाराज ! हम चारों ने चोरी की थी, यह सत्य है।"–चोर ने कहा–"किन्तु हम चारों एक-एक मंजूषा लेकर गये थे। हम वे चारों ले आए हैं। हमारे साथ एक और भी चोर था। उसका पता-ठिकाना हम नहीं जानते। एक मंजूषा वह ले गया था, किन्तु हम नहीं जानते कि छठी मंजूषा भी यदि चोरी गयी है, तो वह किसके पास है? सत्य तो यही है, महाराज !"

"तुम शायद सत्य ही कहते हो, चोर !" महाराज ने कहा–"पाँचवीं-छठी मंजूषा की खोज तो हम कर लेंगे। तुम्हें हम मृत्यु-दण्ड देते हैं। अपने इष्ट का स्मरण कर लो और वध के लिए तत्पर हो जाओ।"

वाणी से मनुष्य को पहचान लेने वाला चोर अपनी कला में बड़ा कुशल था। उसने महाराज की वाणी से पहचान लिया कि ये ही रात को प्रजापाल चोर के रूप में हमारे साथ थे। उसने करबद्ध निवेदन किया–"श्रीमानेश्वर ! रात हमारे साथ जो पाँचवाँ चोर प्रजापाल था उसने तो हमें कहा था कि जिन लोगों के साथ वह होता है, राजा उनकी कोई हानि नहीं करता, फिर आप हमें मृत्यु-दण्ड क्यों दे रहे हैं, राजेश्वर !"

"हे चोरो ! सुनो, तुम्हारा अनुमान सत्य ही है। रात को जो तुम्हारा पाँचवाँ साथी था–वह कोई अन्य नहीं, स्वयं हम ही थे। इसीलिए प्रजापाल ने तुमसे कहा था कि राजा तुम्हारी कोई हानि नहीं कर सकता, क्योंकि वह राजा ही तो था। पाँचवीं मंजूषा हमारे पास है–यह हम स्वीकार करते हैं। छठी मंजूषा निश्चित रूप से हमारा कोषाध्यक्ष ले गया है–इसमें कोई संदेह नहीं। उसे अवसर जो मिल गया। चोरी के पश्चात् सबसे पहले वही कोषागार में गया था। पाँच मंजूषाएँ नहीं हैं–यह सर्वप्रथम उसे ही ज्ञात हुआ। उसने भी बहती गंगा में हाथ धो लेना चाहा और एक मंजूषा स्वयं रख ली और घोषित किया कि छह मंजूषाएँ चोरी चली गयीं।

यह सोचकर वह स्वयं को सुरक्षित मान रहा था कि अन्य किसी को मंजूषाओं की वास्तविक संख्या का ज्ञान नहीं है। हमारा कोषाध्यक्ष भी एक चोर है।''—यह कहते हुए नरेश ने एक कठोरतापूर्ण दृष्टि कोषाध्यक्ष पर डाली। वह तो थरथर कॉप रहा था। उसने तत्काल अपना अपराध स्वीकार कर लिया और मंजूषा प्रस्तुत करने की तत्परता प्रकट की।

''हे चोरो ! रात हम भी तुम लोगों के साथ चोरी में सम्मिलित हुए थे तो हम एक भाँति तुम्हारे भाई ही हो गये। प्रजापाल के रूप में हमने जो वचन तुम्हें दिया था उसका पालन करने को भी हम तत्पर हैं। हम तुम्हें दण्ड-मुक्त कर देंगे, यदि तुम प्रतिज्ञा करो कि भविष्य में कभी चोरी न करोगे।''

महाराज की बात सुनकर चोर तो चौंक पड़े—यह कैसे संभव है। सरदार ने कहा—''धन्य हो, महाराज ! आप सचमुच कितने महान् हैं ! आपने किसी सत्य को छिपाया नहीं। इस भय से भी विचलित नहीं हुए कि आपको इन रहस्यों के उद्घाटन से तनिक निन्दनीय समझा जा सकता है। सभी जानते हैं कि आपने चोरों का साथ केवल उन्हें पकड़ने के लिए ही दिया था। चोरी के आरोप से बचने के लिए ही आपने मेघवर्ण श्रेष्ठी के यहाँ चोरी का कार्यक्रम स्थगित करवाया और अपने ही कोष में चोरी करायी। आप अपने वचन के प्रतिपालक भी हैं। हमें दण्ड-मुक्त करने को भी आपने अपनी तत्परता दिखा दी है, किन्तु देव ! इसके लिए आपने जो शर्त रख दी है, उसकी पूर्ति हमारे लिए संभव नहीं है।''

एक अन्य चोर तभी बोल उठा—''हे राजेश्वर ! आप हमें चोरी के अतिरिक्त अन्य कुछ भी छोड़ने की आज्ञा करें—हम उसका पालन कर लेंगे। चोरी तो हमारा रोजगार है। चोरी छोड़ देंगे तो हमारे परिवार वाले भूखों मर जायेंगे, मान्यवर ! हम इसके अतिरिक्त और कुछ कर भी तो नहीं सकते।''

''इसकी चिन्ता न करो तुम।'' महाराज ने चोरों को आश्वस्त करते हुए कहा—''हमने तुम्हारे पुनर्वास का प्रबन्ध भी किया है। तुमको दण्ड-मुक्त कर हम तुम्हें पॉच सौ गाँवों की जागीर से पुरस्कृत करेंगे। हम समझ सकते हैं कि अपराध को आय का माध्यम बना लेने वालों को आय का अन्य स्रोत सुलभ कराकर ही अपराध-च्युत किया जा सकता है।''

चोरों को इस निराकरण से वड़ा संतोष हुआ। सच्चे मन से उन्होंने प्रतिज्ञा की कि भविष्य में वे कभी भी चोरी नहीं करेंगे। चोरों के इन मनोभावों को और भी सुदृढ़ बनाने के प्रयोजन से महाराज ने उन्हें प्रतिबोधित किया—''वन्धुओ ! सुनो, चोरी महापातक है, अधमाधम कार्य है। इससे वचकर रहना आत्म-कल्याण में सहायक सिद्ध होता है। चोरी का पाप लोक और परलोक दोनों को चोर के लिए दु:खद वना देता है। चोर को इस लोक में वन्दी वनना पड़ता है, भाँति-भाँति की दारुण यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। सवसे वड़ा दुष्परिणाम तो यह है कि वह

लोक-निन्दा का पात्र हो जाता है। वह किसी का भी स्नेह प्राप्त नहीं कर पाता और कोई भी उससे सम्पर्क नहीं रखना चाहता। परलोक में भी चोर को अधोगति ही प्राप्त होती है। चोर कभी सुखी नहीं हो सकता है। चोरी का धन उसके पास चाहे कितना भी हो, किन्तु वह उसका खुलकर उपयोग नहीं कर सकता है। चोरी का भेद गुप्त बनाये रखने के लिए उसे विवश होना पड़ता है। धन तो स्वयं प्रयुक्त होकर ही सुख की सृष्टि कर पाता है। उपयोग से प्रदर्शन होता है और धन का प्रदर्शन चोर कर नहीं सकता। अपने जीवन को वह सुख-सम्पन्न नहीं बना सकता। ऐसे धन का लाभ ही क्या है?

अतः बंधुओ ! तुमने जो अचौर्यव्रत आज ग्रहण किया है, उस पर अडिग रहना। मनुष्य के लिए यही धर्म का मर्म है। मनुष्य से और कुछ भी छीना जा सकता हो, किन्तु उसका धर्म कोई उससे छीन नहीं सकता। अविचलित भाव से धर्मानुसरण करना–सुख का मार्ग है।''

महाराज की हितैषितापूर्ण वाणी का प्रभाव चोरों के मन पर गहन रूप में हुआ और वे धर्मानुसरण को शुभ मानकर अचौर्यव्रत का संकल्प धारण कर सुखी हो गये।

अवन्तीपति वीर विक्रम महाराज के शासन में स्वयं उनके प्रयत्नों से धर्म की श्रीवृद्धि हुई। सुख-शान्ति का, स्नेह-सौजन्य का युग उनका शासनकाल हो गया था। महाराज पापी को नहीं, पाप को समाप्त करने में आस्था रखते थे। वे चारों व्यक्ति रहे–न चोर रहे, न चोरी रही।

● ●

राजमहिषी सुकोमला ने अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज की निराशा को दूर करने में अपनी ओर से कोई अभाव नहीं रखा, किन्तु उन्हें पूर्ण सफलता न मिली। जैसे मन्द पवन के झोंके घनघोर घटाओं को तिरोहित करने में असमर्थ रह जाते हैं। एक क्षीण-सी मुस्कान के साथ महाराज बोले–''हमारे अनेक मंत्री दूर-दूर तक के राज्यों का भ्रमण कर लौट आये हैं। युवराज के योग्य कोई राजकुमारी कहीं भी उन्हें न मिली। प्रिये ! हमारा युवराज विक्रमचरित्र असाधारणतः गुणवान और विद्यावान है, वीर और साहसी है। उसके पराक्रम का चमत्कार समस्त अवन्ती देख ही चुकी है। ऐसे असाधारण युवराज की जीवनसंगिनी भी असाधारण ही हो–यह अत्यावश्यक है। योग्य से ही योग्य का सम्बन्ध होना योग्य है। यह समस्या तो चिन्ता की विषय हो गयी है।''

"सभी की धारणा यही है कि रूप, गुण, शील में युवराज की वधू अद्वितीय होनी चाहिए, किन्तु इसमें उद्विग्न होने की कहाँ आवश्यकता है ! आज नहीं तो कल, हमें उपयुक्त वधू मिल ही जायेगी।" रानी सुकोमला ने प्रबोधन के स्वर में कहा।

महाराज ने खण्डन करने की मुद्रा में कहा—"प्रिये ! इस गंभीर प्रसंग को आप जितना साधारण मान रही हैं, वैसा यह है नहीं। हम इस ओर से आँख मूँदकर नहीं बैठ सकते। आज नहीं तो कल कहाँ से आ जायेगी कोई राजकन्या? वधू तो युवराज की समवयस्का ही होगी न ! उसका जन्म होना अभी शेष हो··· यह तो हो नहीं सकता और विद्यमान कन्याओं में कोई युवराज के योग्य है नहीं, तो समस्या विषम ही हुई न !"

तनिक सलज्ज मुस्कान के साथ रानी सुकोमला ने अपनी बात को स्पष्ट किया—"मेरा अर्थ तो यह है, प्राणनाथ ! कि जब योग होगा तब कोई राजकन्या ऐसी मिल जायेगी जो हमारे युवराज के अनुकूल पायी जाय। यह सम्बन्ध भी योग से ही स्थिर होगा और जिस कन्या का योग होगा, उसी के संग सम्बन्ध संभव होगा। यह योग आज नहीं है तो न सही—कोई कल तो ऐसा होगा जो अपने संग ऐसा सुयोग लेकर आए।"

महाराज अपनी जीवन-सहचरी के विचारों से प्रभावित हुए। उन्हें इन विचारों में कुछ औचित्य प्रतीत हुआ, किन्तु वे पूर्णतः सहमत न हो पाये। असहमति के इस भाव को देखकर रानी ने अपनी ओर से और प्रयास किया—"मैं अपनी ही बात कहूँ। पिता महाराज मेरे विवाह को लेकर बड़े चिन्तित रहते थे। नर-द्वेषिणी होने के कारण मेरा प्रश्न तो और भी कठिन था। किसी भी और कैसे भी वर के साथ मेरा युग्म स्थिर होना तो सर्वथा असंभव ही था। हीन से हीन युवा भी मुझसे क्यों विवाह करने लगा। जब तक सुयोग न आया ये परिस्थितियाँ बनी रहीं। जब योग बना तो परिस्थितियाँ भी अनुकूल हुईं, मेरा नर-द्वेष भी दूर हुआ और मुझे अन्ततः आप-जैसे सुयोग्य वर की प्राप्ति हो ही गयी। ऐसे ही हमारे युवराज··· ।"

"आप कदाचित् उचित ही कहती हैं, प्रिये ! किन्तु आपकी बात अन्य थी, हमारे युवराज की बात उससे भिन्न है।"—महाराज ने कहा—"हमें योग्य वधू की अपेक्षा है न ! ऐसी कन्या जो संस्कारशीला भी हो, आदर्श आचरण और सुन्दर विचार वाली भी हो, विद्याविद् और कलावती भी हो। योगरूप में युवराज के समकक्ष हो। यही मेल तो दुर्लभ हो रहा है। यह मेल संभव है योग से ही मिले, किन्तु उसके लिए भी तो प्रयास अनिवार्य है। सब-कुछ प्रारब्ध के वश में भी हो, तब भी कर्मशीलता अपेक्षित है। भाग्य की गतिशीलता उद्योग और पुरुषार्थ के चरणों पर ही निर्भर करती है। सत्य है कि आपको हमारी प्राप्ति हुई, किन्तु उसके लिए हमें क्या-क्या प्रयत्न करने पड़े—आप उससे अनभिज्ञ भी नहीं हैं, राजेश्वरी !"

"सत्य है, स्वामी ! प्रयत्न तो करने ही होंगे।" रानी ने कहा—"जोड़े तो वर-वधू के पारस्परिक भाग्य से निर्मित हो जाते हैं। हम तो उन्हें मात्र मिलाने का

उद्यम करते हैं। हमारा यह उद्यम हमारे भाग्य से सफल होगा। प्रयत्न करते रहना ही हमारे वश में रहता है। इसमें अभाव न आने देना ही कर्मण्यता है।''

''हाँ ··· यह कथन आपका सर्वथा श्लाघ्य है, देवी ! प्रयत्न से विमुख होकर भला कोई फल की आशा कैसे रख सकता है?''–महाराज ने अनुमोदनपूर्वक कहा–''हम प्रयत्नों की सततता के विषय में ही चिन्तित हैं। हमारे इतने सारे प्रयास जब विफल रहे हैं तो अब हमारे उद्यम की क्या दिशा उपयुक्त रहेगी–यही हमारी चिन्तना का विषय है।''

''उचित है, प्राणेश्वर ! प्रयत्न हमारे सुविचारित ही हों–फल-प्राप्ति के लिए यह भी अनिवार्य है।'' रानी सुकोमला ने सीधा प्रश्न कर दिया–''तो आपने आगे क्या करने का निश्चय किया है?''

महाराज ने मंत्रियों और राजदूतों की विफलता के पश्चात् स्वयं ही खोज के लिए निकलने का निश्चय कर लिया था। रानी ने तो इस विचार की सराहना की, किन्तु प्रधानामात्य भट्टमात्र को जब ज्ञात हुआ तो वे इस विचार में औचित्य का अनुभव नहीं कर पाये। उन्होंने महाराज से निवेदन किया–''वधू की खोज-जैसा प्रसंग हमारे लिए चाहे कितना भी गंभीर और महत्तापूर्ण क्यों न हो, सामान्यतः लोकदृष्टि में वह नरेश की गरिमा के अनुकूल नहीं होता। प्रायः सामान्य जन ही इस निमित्त सक्रिय किये जाते हैं। राजा स्वयं पुत्र-वधू की खोज में निकलें–यह न शोभा का विषय होगा और न ही यह लोक-मर्यादा के अनुरूप रहेगा। आप आज्ञा करें; आपका यह सेवक इस कर्त्तव्य के लिए तत्पर है। मुझे आशा है, कुछ शुभ ही घटित होगा। विश्वास के साथ प्रवृत्त होने वाला सफल-काम ही होता है, महाराज !'' महामात्य के इस परामर्श में पर्याप्त औचित्य का अनुभव करते हुए अवन्ती-नरेश ने भट्टमात्र को अपेक्षित अनुमति प्रदान कर दी और निर्देश दिया कि महामात्य अवन्ती के राज-वैभव और पराक्रम का द्योतन करने वाली, उसका परिचय देने वाली सज्जा के साथ इस अभियान पर प्रस्थान करेंगे।

निदान, चतुरंगिणी के साथ महामात्य भट्टमात्र ने अवन्ती से प्रयाण किया। स्वर्णालंकारों से सज्जित गज आगे-आगे चल रहे थे। ऐसे ही एक सर्वाग्र गजराज पर मालव-देश की राजपताका शोभित थी। रत्नजटित स्वर्णदण्ड पर लहराती पताका मानो देश-देश में राजराजेश्वर विक्रम महाराज की धवल कीर्ति का प्रसार कर रही थी। दुदुंभी और तुरही-निनाद मानो महाराज का कीर्तिमान कर रहा था। अनेक बंदी जन भी महाराज वीर विक्रमादित्य, युवराज विक्रमचरित्र का, मालव-देश का गौरव-गान करते चल रहे थे। चंचल, स्वस्थ एवं बलिष्ठ अश्वों की तो शोभा ही अनूठी थी। उनके दीप्तिपूर्ण तनों पर दृष्टि थमती ही नहीं थी। भट्टमात्र स्वयं भी ऐसे ही एक सशक्त अश्व पर आरूढ़ थे। यह विशाल शोभा-यात्रा एक के पश्चात् एक राज्य का प्रवास पूर्ण करती हुई सतत रूप से अग्रसर होती

रही। भट्टमात्र भलीभाँति अवगत थे कि युवराज विक्रमचरित्र के युग्म की राजकन्या कैसी विशेषताओं से सम्पन्न होनी चाहिए। वैसी कन्या का समीपस्थ राज्यों में न होना तो पूर्व में ही स्पष्ट हो चुका था। अब दूर-दूर के राज्यों में भी ऐसी ही अवस्था दिखायी देने लगी थी। भट्टमात्र तथापि निराश न हुए। शोभा-यात्रा अग्रसर ही होती चली गयी।

भट्टमात्र का यह दल जब सौराष्ट्र देश से होकर जा रहा था, मार्ग में ही एक ब्राह्मण ने आशीर्वाद प्रदान कर जानना चाहा कि यह कहाँ का सैन्य-बल है? भट्टमात्र ने भी शीश झुकाकर आशिष ग्रहण की और अभिवादनपूर्वक नम्रता से निवेदन किया–"हम अवन्ती से आये हैं। मैं मालव-देश का महामात्य हूँ, भट्टमात्र मेरा नाम है। एक महत्त्वपूर्ण दायित्व के लिए मैं प्रवास पर हूँ।" भट्टमात्र ने आगंतुक का परिचय जानने की भी अभिलाषा व्यक्त की।

ब्राह्मण ने कहा–"मैं भट्ट-ब्राह्मण हूँ। इस सौराष्ट्र राज्य का राजपुरोहित हूँ। आपका वैभव और पराक्रम-प्राचुर्य देखकर मैं आश्चर्यचकित हूँ। किस दायित्व-पूर्ति के लिए आप अवन्ती से चले हैं, महाभाग ! यह सेना लेकर आप किस देश पर आक्रमण करने वाले हैं? राज्य-विस्तार ही तो आपका दायित्व नहीं है, महामात्य !"

"आपका परिचय पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई, राजपुरोहित जी !" भट्टमात्र ने कहा–"यह आपका भ्रम है, विप्रवर ! कि हम राज्य-विस्तार के लिए और किसी देश पर आक्रमण करने को निकले हैं। हमारा देश और हमारे नृपति शान्तिप्रिय हैं। हम अकारण समर को जन्म नहीं देते। आक्रमण कर राज्य-विस्तार करने में हमने कभी औचित्य स्वीकार नहीं किया। हमारी तलवार तो मात्र दुष्ट-दलन के लिए अथवा आवश्यक हो जाने पर स्वाधीनता की रक्षा के लिए ही उठा करती है। हम किसी देश पर युद्ध थोपते नहीं। अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए रक्तपात को हम अनीति मानते हैं।"

"फिर आपका प्रवास-प्रयोजन क्या है?" राजपुरोहित ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की।

"अच्छा है कि आपने प्रश्न कर दिया। अन्यथा भी मैं अपना ध्येय प्रकट कर ही देना चाहता था। आपको ज्ञात होगा कि हमारा प्रयोजन क्या है? तभी तो उसकी पूर्ति में आपकी सहायता हमें मिल सकेगी। हम एक गुणवती, लावण्ययुक्त, असाधारण योग्य राजकन्या की खोज में निकले हैं, महोदय !" भट्टमात्र ने अपनी बात सविस्तार प्रकट करना ही उचित समझा और बोले–"अवन्ती-नरेश महाराज वीर विक्रमादित्य के युवराज विक्रमचरित्र अब परिणय-योग्य हैं। हमारे युवराज कामदेव-जैसे अभिराम हैं। बुद्धि में वे वृहस्पति और पराक्रम में कार्तिकेय के समान हैं। वे साहस में अदम्य हैं, साक्षात् गुण-निधि ही हैं। ऐसे योग्य वर के समतुल्य ही योग्य कन्या अपेक्षित है न ! विगत अनेक दिवस से हमारे राज-दम्पति

जायेगा। आपने यहाँ पधारकर बड़ा उपकार किया है–इस कुल पर। हम सहर्ष आपका प्रस्ताव स्वीकार करते हैं। शीघ्र ही किसी शुभ मुहूर्त्त में विवाह भी हम सम्पन्न कर देना चाहते हैं।"

भट्टमात्र को तो ऐसा हर्ष हुआ कि कुछ क्षणों तक तो वे अवाक् ही रह गये। आशातीत साफल्य की इस घड़ी में उनके नेत्र आर्द्र हो गये। कृतज्ञता की मुद्रा मे बोले–"आपने तो मेरी सारी कठिनाइयाँ सरल कर दीं, राजन् ! व्यक्तिगत रूप से मैं आपका आभारी हूँ। दूत के मुख से तो स्वयं उसके नरेश की ही वाणी उच्चरित होती है। मेरे शब्दों में, कृपावतार ! अवन्तीपति का धन्यवाद स्वीकार कीजिए।"

"आभारी तो हम भी हैं वीर विक्रम महाराज के कि उन्होंने हमारी चिन्ता का शमन कर दिया, हम सफल-काम हुए। ऐसे यशस्वी राजकुल से सम्बन्ध पाकर हम कृतार्थ हो गये, महामात्य ! हमारा गौरव अभिवर्धित हो गया है।" महाराज ने कहा–"ऐसे शुभ कार्य में फिर विलम्ब क्यों ··· ! हम शीघ्र ही मुहूर्त्त निकलवाते हैं। आप पूर्ण सूचना के साथ ही अवन्ती जाएँ।"

निदान, ज्योतिषियों की मंडली विवाह के शुभ मुहूर्त्त की शोध में लगी। भट्टमात्र एवं महाराज महाबल भी उपस्थित थे। राज-ज्योतिषी के मतानुसार वर-वधू की कुंडलियाँ एक-दूसरे के सर्वथा अनुरूप थीं। यह सम्बन्ध दोनों पक्षों के लिए सोने में सुगंध जैसा था। यह ऐसा सम्बन्ध होगा जो वर और वधू दोनों के लिए अपार सुखद होगा। ग्रहयोग तो इससे श्रेष्ठ हो ही नहीं सकते थे। सर्वमंगल का ही शुभ योग है। इस सम्बन्ध के सुदृढ़ होने की तो पूर्ण संभावना है, किन्तु इसके स्थिर होने में ही आशंका है। व्यवधान की विकट स्थिति है। यही एक विपदा है।

यह तो ऐसी स्थिति है कि जैसे नेत्र विशाल हों, दीप्तिमान और अत्यन्त आकर्षक हों। पलकें भी सीपियों-जैसी सुगढ़ और सुन्दर हों, बरोनियाँ धनुषाकार हों, श्रेष्ठ काजल से आँजी गयी इन आँखों में एक ही अभाव हो कि वे ज्योतिहीन हों। यह सम्बन्ध ही स्थिर न हो पाये तो शेष सारे सम्बन्धजन्य शुभ परिणामों का अर्थ ही क्या है? राजा महाबल से अर्द्ध-विश्वास के साथ ही राज-ज्योतिपी की यह बात सुनी। अवन्ती का तो यह प्रस्ताव ही है। उनके लिए सम्वन्ध की अमान्यता का कोई प्रश्न ही नहीं है। वल्लभीपुर ने इसे स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया है, औचित्य इसके मूल में है, फिर आशंका हो ही क्या सकती है? सम्वन्ध स्थिर होने में कोई साधारण-सी कठिनाई हुई भी तो वह स्वतः ही दूर हो जायेगी। चिन्ता का कोई कारण हो नहीं सकता। भट्टमात्र ने व्यवधान के प्रसंग को गंभीरता से लिया। वे सोचने लगे कि संभवतः युवराज के मन में अन्य कोई कन्या हो। शुभमती के साथ सम्वन्ध होने में तो व्यवधान इससे भी आ सकता है ··· किन्तु यदि ऐसी कोई स्थिति होती तो युवराज-जैसे स्पष्टवक्ता इसे गुप्त न रखते, विशेषतः जव वधू की खोज की जा रही हो। और ··· और क्या ··· व्यवधान

और संभव भी नहीं। मुझे खेद है कि आशान्वित होकर आपको हताश होना पड़ रहा है। हमारी ओर से कृपया अवन्ती-नरेश से क्षमा-याचना कर लीजिये।"

महामात्य ने अपनी उदारता व्यक्त की–"राजन् ! आपकी विवशता को मैं समझता हूँ। वस्तुतः तो हमारे युवराज के सम्बन्ध में यहाँ प्रस्ताव पहुँचने से पूर्व ही श्रीपुर में राजकुमारी जी का सम्बन्ध स्थिर हो गया था–कुमार धर्मध्वज के साथ। अतः इस दशा में तो हमारे प्रस्ताव को विचारणीय समझा भी नहीं जा सकता है। जितनी भी चर्चा हुई है, श्रीपुर में घटित तथ्य से अनभिज्ञता के कारण हुई है। आपके स्थान पर कोई भी होता तो वह यही निर्णय लेता। हमारी नियति ही यही है, तो आप भी क्या कर सकते हैं। हम तो इसी से तुष्ट हैं कि आपने हमारे पक्ष का भी औचित्य स्वीकारा। आप मन से समस्त खिन्नता को दूर कर लीजिये और राजकुमारी शुभमती के पाणिग्रहण समारोह की तैयारी आरंभ कीजिये। हमें कोई अप्रसन्नता नहीं, हमारे प्रसन्न मन की बधाई स्वीकार कीजिए। हमें तो बस यही अनुभव हो रहा है कि अभी हमारा खोज-अभियान हमें चलाए रखना होगा। एक सुखद विराम इस प्रवास में आया था, एक लालसा जगाकर निकल गया। आपने जो स्नेहपूर्ण सत्कार दिया–हम उसके लिए आपके आभारी हैं। अब हमें अनुमति प्रदान कीजिए। धन्यवाद !" महामात्य भट्टमात्र ने नम्रतापूर्वक प्रणाम किया और उठ खड़े हुए।

सदाशय राजा अब भी संकोचग्रस्त थे–"अब किस मुख से मैं अनुमति दूँ। मालवाधिपति राजराजेश्वर को मेरा प्रणाम पहुँचाइये।"

भट्टमात्र को ऐसा लग रहा था कि तट को स्पर्श करते-करते ही जैसे महासमुद्र में ज्वार आ गया हो और तट खिसककर आगे–बहुत आगे बढ़ गया हो। वे पुनः सागर की ऊँची-ऊँची लहरों से घिर गये हों। उन्होंने तुरन्त ही अवन्ती लौटने का निश्चय किया। अवन्ती पहुँचकर महामात्य ने वल्लभीपुर की सारी घटना का विवरण महाराज के समक्ष प्रस्तुत किया। राजमहिषी सुकोमला और युवराज विक्रमचरित्र भी वहीं उपस्थित थे। महाबलाधिकृत आवेश में आ गये। बोले–"यह मालव-देश का अपमान है। हम वल्लभीपुर-नरेश को उनकी दुष्टता का समुचित दंड देंगे। आज्ञा करें, महाराज ! हम सेना सहित वर-यात्रा लेकर वल्लभीपुर जाएँगे और बलपूर्वक राजकुमारी के साथ युवराजश्री का परिणय सम्पन्न करा लेंगे।"

महाबलाधिकृत के विचारों से रानी की सहमति न थी। उन्हें यह अनुचित प्रतीत हो रहा था। इसी समय महाराज वीर विक्रम मुखर हो उठे–"नहीं, महाबलाधिकृत !··· नहीं। यह उचित नहीं है। विवाह तो दो मनों का मेल है, दो घरानों के मध्य पारस्परिक अनुबंध है। दोनों पक्षों की स्वतंत्र स्वीकृति इसमें अपेक्षित रहती है। इसके बिना जो विवाह होता है, वह सारे साम्य होते हुए भी अनमेल ही रह जाता है। दोनों पक्षों के परस्पर स्नेह के अभाव में परिणय असफल ही रहता है। राजा महाबल अपनी कन्या का विवाह जहाँ चाहें, वहाँ करने में स्वाधीन हैं। हमें उनकी विवशता को भी समझना चाहिये।"

महाराज के कथन से रानी सुकोमला तुष्ट और प्रसन्न हो गयीं, किन्तु भट्टमात्र के मुख से राजकुमारी शुभमती के रूप-गुण का बखान सुनकर विक्रमचरित्र के मन में उसके प्रति पूर्व राग उत्पन्न हो गया। वे शुभमती को प्राप्त करने के लिए व्यग्र हो उठे। युवराज ने शुभमती को जीवन-सहचरी बनाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मित्रों के इस परामर्श को भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया कि हम लोग वल्लभीपुर जाकर दशमी पूर्व ही राजकन्या का बलपूर्वक अपहरण कर लाते हैं। विक्रमचरित्र तो स्वयं साहसी और विद्यावान थे। उन्होंने निश्चय किया कि वे स्वयं अपने सामर्थ्य के बल पर अकेले ही प्रयत्न करेंगे। वे किसी का सहकार इस अभियान में नहीं लेंगे। उन्होंने तीव्रगामी अश्व मनोवेग के संबंध में सविस्तार जानकारी प्राप्त की और बिना समय को व्यर्थ किये रात्रि में ही मनोवेग अश्व पर आरूढ़ होकर उन्होंने वल्लभीपुर की ओर प्रयाण किया। दशमी को अभी पॉच दिन शेष थे, किन्तु गंतव्य भी दूरस्थ था।

वल्लभीपुर पहुँचने पर युवराज को ज्ञात हुआ कि श्रीपुर-नरेश गजवाहन अपने कुमार धर्मध्वज की बात लेकर वल्लभीपुर पहुँच चुके हैं और राजकुमारी शुभमती का पाणिग्रहण आज रात्रि में ही सम्पन्न होने वाला है। युवराज युक्ति सोचने में लग गये और नगर का भ्रमण करते रहे। नगर उनके लिए सर्वथा नवीन था, कोई परिचित व्यक्ति भी न था। माध्यमस्वरूप किसी की सहायता वे अपेक्षित समझ रहे थे। विचरण करते-करते वे नगर-श्रेष्ठी श्रीदत्त के भवन के समक्ष होकर निकले। श्रेष्ठी की पुत्री लक्ष्मी गवाक्ष में अपनी सखियों के संग खड़ी मनोविनोद कर रही थी। उसकी दृष्टि सहसा विक्रमचरित्र पर पड़ी तो उनके रूप-यौवन और सौम्य से इतनी प्रभावित हुई कि उसके मन में युवराज के प्रति अनुराग अंकुरित हो गया। उसने अपनी सखियों से कहा—"यह युवक बड़ा मनमोहक है। इसे देखते ही मेरे मन में इसके प्रति प्रीति जाग्रत हो गयी है। मैं इसे ही अपना जीवन-सहचर बनाऊँगी। तुम इसे लेकर आओ।"

सखियों के साथ विक्रमचरित्र लक्ष्मी के पास पहुँचे तो उन्हें लगा, मानो जिस व्यक्ति की सहायता की वे अभिलाषा कर रहे थे, उन्हें उसकी प्राप्ति हो गयी—"नमस्कार, बहन ! आप तो देवदूती-सी मेरे जीवन में आ गयी हो। मुझे आपकी····।"

विक्रमचरित्र का कथन सुनकर लक्ष्मी को तो जैसे काठ मार गया। जिसे वह अपना जीवन-साथी बनाना चाहती है, उसने तो उसे बहन कहा है। इस विचार से ही उसे ऐसा आघात लगा कि लक्ष्मी तो संज्ञाहीन हो गयी। सखियों ने शीतलोपचार द्वारा उसकी मूर्च्छा दूर की। सखियों ने ही उसे प्रतिबोधित भी किया। उसे भाई-बहन के नाते की पवित्रता का स्मरण कराया। यह उल्लेख भी किया कि तेरा कोई सहोदर भ्राता है भी नहीं। नियति ने ही तेरे पास तेरा भ्राता भेजा

अभाव-पूर्ति का तू स्वागत कर, सखी ! अन्त:प्रेरणा से ही परदेसी युवक ने तुझे बहन बनाया है तो इसमें तेरा कोई हित ही है।

सखियों की बातें लक्ष्मी को युक्तियुक्त लगीं। शुभ विचारों का उदय उसके मन में हुआ। सखियों ने मर्मस्पर्शी बात कह दी थी। उसी का उल्लेख करते हुए उसने कहा–"परदेसी ! मुझे बड़ी उदासी रहा करती है कि मेरा कोई सहोदर नहीं है। आज से तुम मेरे धर्म-भाई हुए। बहन कहा है मुझे, तो अपना स्नेहभाजन बनाकर रखना। भाग्य ने ही मेरे पास मेरा भाई भेजा है।"–उँगलियों के पोरों से अपनी पलकें पोंछते हुए लक्ष्मी ने स्नेहपूर्ण दृष्टि से विक्रमचरित्र की ओर देखा।

"तुम-जैसी बहन पाकर तो मैं भी गौरव का अनुभव कर रहा हूँ। तुम्हें ज्ञात नहीं तुम अवन्ती के युवराज विक्रमचरित्र की बहन हो गयी हो। आजीवन मैं यह सम्बन्ध निभाऊँगा, बहन !" परिचय पाकर लक्ष्मी तो अवाक् रह गयी। कुछ क्षणों तक तो वह न जाने कहाँ खो गयी। तब सहज होती हुई बोली–"भैया ! तुम्हारी ही चर्चा हमारी राजकुमारी शुभमती के लिए हुई थी।"

"हाँ, बहन ! मैं वही अभागा युवराज हूँ। तुम चाहो तो मेरे दुर्भाग्य को सौभाग्य में परिवर्तित कर सकती हो। इसी विश्वास के साथ मैं वल्लभीपुर आया हूँ और सफल होकर ही अवन्ती लौटूँगा; अन्यथा मैं तुम्हारे नगर में ही प्राण दे दूँगा····।" युवराज उत्तेजित हो उठे।

"शुभ-शुभ बोलो, भैया !" लक्ष्मी ने अपना हाथ विक्रमचरित्र के मुख पर रख दिया और बोली–"भैया ! मैं नहीं समझती कि अब कुछ भी संभव है। अब तो उद्यम का समय भी शेष नहीं रहा। आज ही तो कुमार धर्मध्वज के साथ शुभमती का परिणय होने वाला है। अब क्या हो सकता है ?"

"लक्ष्मी बहन ! मैं तो प्रयत्नों में विश्वास रखने वाला हूँ। उद्यमी के लिए कुछ भी असंभव नहीं होता। तुम मेरे लिए बस एक काम कर दो।"–युवराज ने निहोरे-भरे स्वर में कहा–"तुम मेरी एक बार राजकुमारी से भेट करवा दो। आगे मेरा प्रारब्ध है। मैं शुभमती के प्रेम में सब-कुछ विस्मृत कर गया हूँ। मुझे विश्वास है, राजकुमारी भी मेरे लिए प्रेमोन्मत्त अवश्य होगी। यह विवाह तो उन्होंने विवशतावश ही स्वीकारा होगा।"

"जो भी हो, किन्तु अब मिलकर भी क्या लाभ होगा ?" लक्ष्मी ने बड़ी शिथिलतापूर्वक कहा–"अब उससे भेंट करना भी कैसे संभव होगा ?"

इसके लिए युक्ति खोजना तुम्हारा कार्य है, बहन ! नियति ने तुम-जैसा समर्थ सहारा दिया है मुझे, तो फिर निराश क्यों होऊँ ? यह कार्य तो तुम्हें किसी भी प्रकार से करना ही होगा।"

"अब कोई लाभ प्रतीत होता नहीं, किन्तु तुम्हारी भेंट हो सके–इसका पूरा प्रयत्न करूँगी। समय भी तो अब कम है। शीघ्र ही कुछ करना होगा।"–लक्ष्मी यह कहती हुई उठी और अपनी सखियों के साथ विचार-विमर्श करने को अन्य कक्ष में चली गयी। जाते-जाते वह युवराज को विश्राम करने को कह गयी थी। एक सखी ने यह भी व्यक्त किया कि राजकुमारी शुभमती हमारी सहेली हैं। लक्ष्मी कोई-न-कोई मार्ग निकाल ही लेगी। युवराज को तनिक संतोष अनुभव हुआ। प्रातराश कर युवराज विश्राम करने लगे।

कुछ ही समय पश्चात् लक्ष्मी अपनी दो चपल सखियों के संग राजभवन में राजमाता से वार्त्तालाप कर रही थी। उसने कहा–"आज हमारी सखी राजकुमारी जी परदेसिन हो जायेंगी। फिर तो यदा-कदा ही मिलन संभव होगा। सभी सहेलियों के यहाँ राजकुमारी जी ने बारी-बारी से भोजन किया है। एक मैं ही यह अवसर न पा सकी हूँ। आज मुझे कृतार्थ कर दीजिये ना ! प्रातःकाल के भोजन में हमारे यहाँ सम्मिलित होने के लिए उन्हें अनुमति दीजिये न ! आप तो माता हैं, मैं भी आपकी बिटिया हूँ .... दया कर मेरा अनुरोध स्वीकार कर लीजिये।"

लक्ष्मी ने इतनी विनम्रता के साथ विनय की थी कि राजमाता सहसा 'ना' नहीं कर सकीं। बोलीं–"अच्छा .... अच्छा, आ जायेगी शुभमती तेरे घर, किन्तु सुन, अधिक विलम्ब न करना। शीघ्र ही वह राजभवन लौट आए–इसका ध्यान रहे।"

"जी माँ .... शीघ्र ही आयेंगी .... मैं समझती हूँ। आज ही तो उनका विवाह है। भाँति-भाँति की रस्में पूरी करनी होंगी। आपकी कृपा से हमारा मन रह गया–यह क्या कम है?" लक्ष्मी प्रसन्नतापूर्वक लौट आयी। राजकुमारी शुभमती अपने समय से श्रेष्ठी-भवन पहुँच गयीं। सभी सखियों ने एक साथ हास-परिहासपूर्वक भोजन किया और तब वे कक्ष में आयीं, जहाँ विक्रमचरित्र पहले से प्रतीक्षा कर रहे थे। लक्ष्मी ने परिचय कराया–"ये मेरे धर्म-भाई हैं, विक्रमचरित्र ! अवन्ती-नरेश वीर विक्रम महाराज के युवराज हैं।"

शुभमती ने नाम सुना तो सहसा हक्की-बक्की रह गयी। व्रीड़ा भाव सघन लालिमा के रूप में उसके मुख पर व्याप्त हो गया। लज्जावनत पलकों और नमित शीश ने राजकुमारी के अनुराग भाव को व्यक्त कर दिया। युवराज ने जो अनुमान किया था कि यह अनुराग उभयपक्षीय है–उसकी पुष्टि हो गयी थी। अब उनका मनोबल उच्चतर हो गया और उनका निश्चय और भी सुदृढ हो गया। युवराज ने कथन आरंभ किया–"राजकन्ये ! हमारी ओर से पाणिग्रहण का प्रस्ताव आया था, किन्तु हमारी प्रीति की अवहेलना करते हुए जिस प्रकार से उसे टाल दिया गया–वह दुर्भाग्यपूर्ण है। हमने जब से आपका परिचय पाया है–तब से ही मेरा चित्त अनुरक्त हो गया है, शुभमती ! अब हम आपके बिना जीवित रह नहीं सकते। अव ज्ञात हुआ कि हमारे प्रति आपके मन में भी अनुराग की तीव्रता है। अब जगत् की

कोई शक्ति हमारे मिलन में बाधक नहीं हो सकती। हम एक-दूसरे को प्राप्त करके ही रहेंगे।"

संकोच त्यागकर शुभमती ने भी स्वीकार किया कि युवराज के पराक्रम, साहस और विद्याबल, गुणशील की गाथाएँ सुनकर वह तो समर्पित हो चुकी थी। उन्होंने मन की गहनता के साथ पतिरूप में युवराज का एक प्रकार से वरण ही कर लिया था। जब यह संबंध नकार दिया गया तो उन पर जैसे वज्रपात ही हो गया। "पिता महाराज की प्रतिष्ठा के लिए भी कहाँ तक उत्सर्ग करूँ, किन्तु अन्य कोई चारा भी न था।"–राजकुमारी ने कहा–"आपको संदेश भी कैसे भेजती। बँधे पंख के पाँखी-जैसी तड़फती रही हूँ। आप तो साहसी हैं, पराक्रमी हैं। कोई मार्ग निकाल ही सकते हैं। यह परिणय हो भी गया तो मैंने प्रण कर लिया है, मैं अपना प्राणान्त कर लूँगी।"

"अद्भुत संयोग है, राजकन्ये !" युवराज ने कहा–"प्रण तो हमने भी ऐसा ही किया था, किन्तु वह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति अब आयेगी नहीं। हमें साथ-साथ मृत्यु से आलिंगन न करना होगा, अपितु साथ-साथ सुखपूर्वक जीवित रहना होगा। इस हेतु प्रयास दोनों ओर से अपेक्षित रहेगा, राजकुमारी ! अब निराशा के मेघ छँट गये हैं और निरभ्र नभ में उज्ज्वल चाँदनी छिटक आयी है। कुछ साहस आपको भी अपनाना होगा, राजकन्ये !"

"मैं तो प्राणों को दाँव पर लगाने को भी तत्पर हूँ, युवराज ! अब किसी समय-साध्य युक्ति के लिए अवसर नहीं है। शीघ्र ही कदम उठा लेना नितान्त अनिवार्य हो गया है।"–राजकुमारी ने कुछ विचलित स्वर में कहा।

उत्तर में युवराज ने अविचलन का परिचय देते हुए कहा–"शीघ्रता और हड़बड़ी में अन्तर है, राजकुमारी ! हमारे काम में त्वरा हो, स्फूर्ति हो, किन्तु अविचारित हड़बड़ी न हो–यही सफलता का मूल मंत्र है। समय सीमित है–ऐसे में क्या किया जा सकता है? यही विचारणीय है।"

"विचारणीय प्रश्न यह ऐसा न हो जाय कि अवसर ही वीत जाय। सारे जल के प्रवाहित हो जाने के पश्चात् नदी को बाँधना व्यर्थ हो जाता है, वृक्ष के सूख जाने पर सींचना भी अकारथ ही रह जाता है। समय रहते जो कार्य पूर्ण कर लिया जाता है वही फलदायी होता है, युवराज ! और कुछ न संभव हो, तो भी विवाह-पूर्व आप मेरा अपहरण तो कर ही सकते हैं।" इतना कहकर राजकुमारी हठात् मौन हो गयीं और युवराज की प्रतिक्रिया ताड़ने को उनका मुख निहारने लगीं।

यह प्रस्ताव सुनकर युवराज तो सहसा सकते में आ गये। यह प्रस्ताव और स्वयं राजकुमारी की ओर से ····! किन्तु ऐसा होने में कोई अनौचित्य तो न रहेगा? वे सोच ही रहे थे कि सहसा लक्ष्मी ने हस्तक्षेप किया–"सोचते क्या हो,

भैया ! इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? विवाह के लिए अपहरण कोई असामान्य बात तो है नहीं। ऐसा होता रहा है। विशेष रूप से, इसमें जब कन्या को कोई आपत्ति न हो तो फिर कुछ भी अनुचित नहीं है। अन्ततः विवाह ही तो इसका भी परिणाम है, एक ऐसा विवाह जिसे वर और कन्या दोनों की चाहना प्राप्त है। अब सोच-विचार का अधिक समय है भी नहीं।"

सहज होकर विक्रमचरित्र भी इसी विचार का हो गया। उसकी सहमति एक प्रश्न के रूप में प्रकट हुई—"···· किन्तु यह सब होगा कैसे?"

उत्तर अब की बार भी लक्ष्मी ने ही दिया—"बड़ा सुगम है, भैया ! तुम राजभवन के पिछवाड़े आम्र-वृक्ष के तले अपने अश्व पर आरूढ़ होकर प्रतीक्षा करना। रात्रि के अंधकार में तुम्हारा लुकाव तो स्वतः ही हो जायेगा। बारात आ जाने पर जब सबका ध्यान उधर हो जायेगा, तो राजकुमारी जी चुपके से तुम्हारे पास आ जायेंगी। तुम दोनों अवन्ती के लिए प्रस्थान कर जाना। वहाँ जाकर विवाह रचा लेना।"

योजना इतनी साफ-सुथरी और सरल थी कि दोनों को भा गयी।

गोधूलि-वेला में ही धर्मध्वज गजारूढ़ होकर अपने शिविर से बारात के साथ राजभवन की ओर चला। सज्जित श्रृंगारित नगरी स्वयं एक दुलहिन-जैसी लगती थी। स्थान-स्थान पर तोरण-द्वार निर्मित किये गये थे। सॉझ ढलते ही असंख्य दीपकों से नगर जगर-मगर हो उठा। एक अपूर्व उल्लास सर्वत्र सघन हो गया था। भॉति-भॉति के वाद्यों के निनाद से वातावरण में अद्भुत उमंग भर गयी थी। राजभवन तो विशेष रूप से सजाया गया था। स्वागत का भव्य प्रबंध था। सखियाँ राजकुमारी शुभमती को वधू-वेश में सज्जित कर चुकी थीं। एक सखी ने उनकी केश-लट को ठीक किया जो बार-बार मुख पर आ जाती थी। दूसरी ने अवगुंठन का अवकाश रखते हुए चुनरी को व्यवस्थित कर दिया। काजल का ऐसा कलात्मक उपयोग किया गया कि उनके नयन और भी विशाल, और भी दमकीले और चंचल लगने लगे। भाल चन्दन-रोली से चमचमा उठा था। अनुपम सुन्दर वस्त्रालंकारों में यह लावण्यमयी राजकुमारी रति के समान लगने लगी थी। बारात के वाद्यों की ध्वनि इस कक्ष में भी आने लगी थी। एक सखी ने कुछ मन्द स्वर में ठिठोली की। सभी सखियॉ ठठाकर हॅस पड़ीं, किन्तु राजकुमारी कुछ लज्जित, कुछ गंभीर हो गयीं। सखियों को विश्वास न था कि इतनी सरलता से राजकुमारी शुभमती श्रृंगार के लिए तैयार हो जायेंगी।···· किन्तु अब वे सहसा उदास और गंभीर क्यों हो गयीं? सखियों को आश्चर्य था। परिचारिकाएँ खड़ी सारी सुरक्षा-व्यवस्था देख रही थीं। कक्ष में एक ओर वरमाला भी रखी थी। परिचारिकाओं का उचित समय पर राजकन्या को वरमाला थमाकर वर के समक्ष पहुँचाने का दायित्व भी था।

वारात राजभवन पर पहुँच गयी। वाद्यों के स्वर सहसा अत्युच्च हो गये। राजसी मान-सम्मान के साथ राजा महावल ने भावपूर्ण स्वागत किया। सव ओर कोलाहल मच गया। सभी सखियाँ वर-दर्शन को त्वरा के साथ वाहर भाग गयीं। परिचारिकाओं ने भी उनका अनुसरण किया। केवल लक्ष्मी ही वहाँ रह गयी। उसने सारी व्यवस्था पहले से कर ली थी। अनुकूल अवसर आया, किन्तु वड़ा विलम्ब हो गया था। पीछे का द्वार लक्ष्मी ने पहले से ही वाहर से खुलवा रखा था। "अब उठो, राजकुमारी ! यह समय है यहाँ से चले जाने का। अभी किसी का ध्यान भी नहीं है इधर। इसका लाभ उठाओ।"—लक्ष्मी ने कहा और आगे वढ़कर द्वार भीतर से खोल दिया। शुभमती इन क्षणों में विह्वल हो उठी। लक्ष्मी के कंधे पर शीश रखकर रुदन करने लगी। कुछ क्षणों तक उसे लक्ष्मी ने रोका नहीं। फिर शान्ति के साथ कहा—"राजकुमारी जी ! यह भावुकता का अवसर नहीं है। अपने मन को दृढ़ बना लो और निकल जाओ। भैया आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। राजकुमारी पर लक्ष्मी के कथन का अनुकूल प्रभाव हुआ। वे वाहर निकल गयीं। लक्ष्मी ने भीतर से द्वार को पूर्ववत् बन्द कर लिया और स्वयं भी वाहर जाकर सखियों में मिल गयी। योजना का ज्ञान अन्य किसी सखी को था भी नहीं।

आम्र-वृक्ष-तले प्रतीक्षारत विक्रमचरित्र के मन में न जाने कैसे-कैसे विचार आने लगे थे। असाधारण विलम्ब ने उसे धैर्य-च्युत कर दिया था। कहीं कोई विघ्न न आ गया हो .... हमारी योजना कहीं प्रकट तो नहीं हो गयी .... क्या हुआ? राजकुमारी अब तक आयीं क्यों नहीं? बारात तो कभी की पहुँच गयी होगी ....। युवराज के मन में उथल-पुथल मच गयी। इसी समय एक ग्रामीण वारात देखकर अपने ग्राम को लौटता हुआ युवराज को दिखायी दिया। उसे पुकारकर उन्होंने कहा—"भाई ! मेरे अश्व को तनिक थामकर खड़े रह जाओ। मैं भी राजजामाता के दर्शन कर आऊँ।" ग्रामीण ने तत्काल हाँ भर ली और मनोवेग अश्व की वल्गा थाम ली। युवराज परिस्थिति को ताड़ने भीतर चले गये।

कुछ ही क्षणों में वधू-वेश में शुभमती वहाँ पहुँच गयी। वोली—"शीघ्रता करो, युवराज ! मुझे कुछ विलम्व हो गया, किन्तु अव त्वरा के साथ भाग चलने में ही हित है। पिता महाराज को ज्ञात होते ही वे हमें पकड़ लेने का प्रयत्न करेंगे। इसके पूर्व ही हमें दूर .... वहुत दूर निकल जाना होगा"

कथन सुनकर तत्का [illegible] सारी [illegible] गया। घोड़ा मुझे सौंपकर भीतर गया युवक अव [illegible] से शादी करना चाहता है। वह अपहर [illegible] जाना [illegible]। ग्रामीण ने आत्म-परिचय [illegible] 'राजकुमारी का [illegible] मैं [illegible] उठा लूँ।' [illegible]

वक्ष में फल भी शीघ्र ही आ जाते हैं। ग्रामीण ने मौन रहकर ही राजकुमारी को सहारा देकर अश्वारूढ़ कर दिया और तुरन्त ही स्वयं भी आरूढ़ हो गया। एड़ लगाकर वह अश्व को अपने ग्राम की ओर ले चला।

शीघ्र ही नगर-क्षेत्र पार कर मनोवेग अश्व इन्हें उन्मुक्त वातावरण में ले आया। युवराज का अब तक का मौन शुभमती को स्वाभाविक ही प्रतीत हो रहा था, किन्तु अब स्वच्छन्दता का अनुभव करते हुए राजकुमारी ने चर्चा आरंभ की। पूछा–"युवराज ! आपका देश .... सुना है, बहुत दूर है .... कब तक हम अवन्ती पहुँच जायेंगे?"

प्रश्न अनुत्तरित ही रह गया। ग्रामीण ने मौन भंग नहीं किया। रहस्य-रक्षण जब तक हो जाय–वही अच्छा है। ग्रामीण ने यही सोचकर कोई उत्तर नहीं दिया। शुभमती को आश्चर्य हुआ–'युवराज ! उत्तर क्यों नहीं देते। कहीं मेरे साथ कोई छल तो नहीं हो गया? ये बोलते क्यों नहीं? ऐसा न हो कि ये युवराज हों ही नहीं .... कोई अन्य ही मुझे ....। नहीं .... शुभमती नहीं .... क्यों विचलित होती है? यह युवराज न होते, कोई अन्य होता तो ऐसा द्रुतगामी यह श्याम अश्व–मनोवेग उसके पास कहाँ से आता। यही तो पहचान बतायी थी युवराज ने अपने अश्व की।' उसके मानस ने उसे धीरज दिलाया। किन्तु मस्तिष्क पुनः सक्रिय हुआ–'तू भी बड़ी भोली है शुभ, जो लम्पट, युवराज की भूमिका में आ जाय, उसके लिए अश्व हथियाना क्या कोई कठिन कार्य रहा होगा? अपना भेद गुप्त रखने को ही तो यह व्यक्ति मौन है। ऐसा एकान्त पाकर तेरा प्रेमी भला मौन क्यों हो जाता !' इसी ऊहापोह में सारी रात्रि व्यतीत हो गयी और प्रत्यूष-वेला में राजकुमारी की दृष्टि वल्गा पर गयी। उसे थामने वाले हाथों की कठोरता को देखकर वे आशंकित हो गयीं–'युवराज के हाथ भला ऐसे कैसे हो सकते हैं।' उन्होंने अपनी ग्रीवा को पीछे की ओर ऊँचा किया तो पाया कि वास्तव में यह तो कोई अन्य है, युवराज नहीं हैं, तो वह सहसा विचलित हो गयीं–'हाय ! यह क्या घटित हो गया। तो मेरी आशंका सत्य ही निकली। दैव ! मेरे भाग्य में क्या लिखा है? सुरम्य सरोवर की अभिलाषा के साथ मैं तो कुएँ से निकली, तो खाई में आ गिरी। अब मेरा क्या होगा?' साहस कर राजकुमारी ने अपने विचलन को वश में किया और पूछा– "युवक ! तुम कौन हो और मुझे कहाँ लिये जा रहे हो? जानते नहीं, हम एक राजकुमारी हैं।"

"शान्त हो जाओ, राजकुमारी शुभमती ! .... शान्त हो जाओ और प्रारब्ध में जो कुछ है उसका स्वागत करो; अन्यथा उसका विरोध करना भी निरर्थक ही है। भाग्य पर भला कौन विजयी हो सकता है? मैं भलीभाँति जानता हूँ कि तुम शुभमती राजकुमारी हो, किन्तु हम भी राजा से कम नहीं हैं। मेरा नाम सिंह है, एक कृषक हूँ। अन्न देकर किसान ही तो प्रजा का पालन करता है। किसान

अन्नदाता है, सच्चा प्रजा-पालक राजा तो वही है।" कृषक सिंह ने बडी ही शालीनता के साथ कहा और प्रतिबोध दिया—"सुनो, राजकुमारी ! तुम्हारे जीवन में मेरा और मेरे जीवन में जब तुम्हारा स्थान हमारे भाग्य ने ही बना दिया है तो भला मैं, अथवा तुम उसे नकार ही कैसे सकते हैं? यदि हमारा यह संबंध प्रारब्ध सम्मत न होता तो मुझे प्राप्ति होती ही नहीं तुम्हारी। भूल जाओ उस युवराज को। उसके भाग्य में तुम्हारा संग न था। इसी कारण तो ऐसा योग बना है।"

"चुप हो जाओ, कृषक ! हमें अपने अप्रिय वचनों से दग्ध न करो।" राजकुमारी ने दुःखित होकर कहा।

"भाग्य को अस्वीकार कर असंतुष्ट रहना ही दुःख का मूल है। जो विधि के विधान को स्वीकार नहीं करता, उसके सहज क्रियान्वयन में बाधक बनता है—वह दुःखी ही होगा। स्वयं सुखी हो जाओ और मुझे भी सुखी बनाओ, शुभमती ! मुझे अपना लो।" सिंह ने समझाने का पुनः प्रयत्न किया।

शुभमती ने भी सोचा—'वे जिस कुचक्र में ग्रस्त हो गयी हैं, उससे उद्धार पाने के लिए युक्ति और नीति से ही कार्य करना होगा। स्पष्ट वक्ता होकर अपनी लक्ष्य-प्राप्ति की दृढ़ता को व्यक्त करते रहना सहायक सिद्ध न होगा। तात्कालिक रूप से अभिनय करना भी कभी-कभी सफलता के लिए आवश्यक हो जाता है।' शुभमती ने तब सिंह से कहा—"तुम उपयुक्त ही कथन करते हो, कृषकराज ! कि कृषक ही सच्चा प्रजा-वत्सल राजा है। ऐसे राजा की रानी बनने में हमें भी गर्व ही अनुभव होगा। प्रारब्ध के अधीन तो हम-तुम सभी हैं और रहना ही होगा। हमें प्रारब्ध द्वारा निर्धारित और घटित स्थिति का स्वागत करने में प्रसन्नता ही है। हमारा युगल तो एक आदर्श युगल होगा।"

यह परोक्ष स्वीकृति पाकर सिंह का चित्त प्रसन्नता से खिल उठा। बोला—"शुभमती ! मैं तुमको सुखपूर्वक रखूँगा। मेरे पास सुख-सुविधाओं का अभाव भी नहीं। पाँच खेत हैं मेरे। धन-धान्य से पूरित एक छोटा-सा घर है। हल-बैल हैं, गायें हैं। मेरे खेत सोना उगलते हैं। बस, एक ही कष्ट है। मेरी घर वाली तनिक उग्र स्वभाव की है। मैं उसका परित्याग कर दूँगा और तुमसे विवाह कर लूँगा। फिर तो मेरे घर में सुख-ही-सुख छा जायेगा।"

सिंह की बातों में शुभमती को तनिक भी रस न आ रहा था, किन्तु रुचिहीनता का प्रदर्शन करना भी उसे उपयुक्त प्रतीत नहीं हो रहा था। उसने कहा—"कृषकराज ! पहले तुम अपने खेत मुझे दिखाओ। मुझे लहलहाते खेतों को देखने का बड़ा चाव है। अब उन खेतों को जब मैं अपने खेत समझ सकूँगी तो आनन्द की कोई सीमा नहीं रहेगी।"

सिंह का ग्राम भी आ ही गया था। प्रातः वेला में ही ये ग्राम के बाहर स्थित अपने खेतों पर पहुँच गये। अश्व से उतरकर वे एक ऊँचे स्थल पर खड़े हो गये।

सिंह ने दूर-दूर तक फैले अपने खेत शुभमती को दिखाये। विभिन्न फसलों का परिचय भी दिया। शुभमती के मुख पर संतोष और गर्व के भाव दिखायी देने लगे। उन्होंने कहा–"हमें मर्यादा का पालन तो करना ही होगा। हे कृषकराज ! हमें पहले विवाह करना होगा और उसके पश्चात् ही मैं तुम्हारे घर में प्रवेश करूँगी। तुम्हारा घर तो मेरा ससुराल होगा न, वहॉ विवाह हो नहीं सकेगा। इस खेत में ही हम विवाह करेंगे और आज ही करेंगे। फिर आनन्द के साथ तुम मुझे अपने साथ अपने घर लेकर चले जाना।"

कृषक को भी शुभमती की बात युक्तियुक्त लगी। वह शीघ्र ही सारी व्यवस्था कर लौटने की बात कहकर गॉव में चला गया। सबसे पहला कार्य तो उसने यही किया कि अपनी पत्नी के साथ विग्रह करके उसे इतना अपमानित कर दिया कि रुष्ट होकर उसने स्वयं ही गृह-त्याग कर दिया। अपने पितृ-गृह जाते-जाते कहा– "अब मुझे मनाने को न आना।"

सिंह ने भी क्रोधावेश में कहा–"जा जा .... तुझे मनाने को क्या आना .... धरा ही क्या है तुझमें !"

"मुझमें तो कुछ हो, अन्यथा न भी हो, पर तुम्हें भी कोई राजकुमारी तो मिलने वाली नहीं।"–कृषक-पत्नी ने कहा।

उत्तर में गर्व के साथ सिंह ने कहा–"अब तो मैं भी राजकुमारी को ही घर लाकर बताऊँगा। तू समझती क्या है?" सिंह अनर्गल-सा प्रलाप करता ही रहा और झल्लाती हुई उसकी पत्नी भी बड़बड़ाती हुई चली गयी।

एक प्रमुख कार्य से निवृत्त होकर कृषक सिंह अब अन्य उपक्रम में व्यस्त हो गया। उसने एक पंडित को विवाह सम्पन्न कराने के लिए राजी किया। पंडित के निर्देशानुसार सामग्री जुटाते-जुटाते संध्या हो गयी। जब वह पंडित को लेकर सामग्री सहित खेत पर पहुँचा तो हक्का-बक्का ही रह गया। वहाँ न तो राजकुमारी थी और न ही अश्व था। उसके हाथों से तो दोनों ही निकल गयीं–न माया मिली न राम। उसका राजकुमारी से मिलाप तो एक स्वप्न-सा हो गया जो भंग होने से पूर्व उसके घर का सर्वनाश कर गया था। अविवेक और अनाचार का अन्त ऐसा ही होता है। 'आधी छोड़ पूरी को धावे, आधी छूटे न पूरी पावे' वाली स्थिति में आकर सिंह बेचारा हाथ ही मलता रह गया।

प्रातः जब सिंह किसान राजकुमारी को खेत पर छोड़कर गाँव की ओर चला था, उसी समय वह मनोवेग पर आरूढ़ होकर प्रस्थान कर गयी थी। कोई ध्येय गंतव्य नहीं। लक्ष्य था मात्र सिंह किसान से छुटकारा पाना। मनोवेग अपने नाम को किसी सीमा तक सार्थक करता हुआ राजकुमारी को सिंह के ग्राम से दूर–अति दूर करता जा रहा था। कहाँ जाना है यह तो उसकी स्वामिनी को भी ज्ञात न था।

नदी, पर्वतों, मैदानों को पार करता हुआ मनोवेग निरन्तर दौड़ता चला जा रहा था। एक सरिता के तट पर पहुँचकर शुभमती ने पाया कि अब रात्रि समीप है। प्रातः तक का समय व्यतीत करने के लिए यही सुरक्षित स्थल है। तट के समीप ही एक सघन वृक्ष था। वे उस वृक्ष-तले बैठकर विश्राम करने लगीं। उनका मानस अनिश्चित भविष्य की कल्पित दशाओं से तनावग्रस्त था। वे थकित–श्रमित तो थीं, किन्तु तनाव और चिन्तावश वे निद्राधीन नहीं हो पा रही थीं।

जब रात्रि लगभग आधी व्यतीत हो चुकी तो शुभमती को सहसा पक्षियों का रव सुनायी दिया। वे आश्चर्यचकित रह गयीं। कुछ ही क्षणों में उन्होंने अनुभव किया कि उसी वृक्ष पर भारंड पक्षी परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे। एक भारंड भारी और कुछ कम्पित स्वर में बोला–"मुझे तुम-जैसे चारों पुत्रों पर बड़ा गर्व है। दूर-दूर की उड़ान भरने में मेरे सभी पुत्र बड़े प्रवीण हैं। जगत्‌भर के भाँति-भाँति के दृश्य तुम्हें देखने को मिलते हैं, भाँति-भाँति की घटनाएँ देखते हो, समाचार पाते हो। मैं तो अब बूढ़ा हो चला। घोंसले से बाहर निकलने की शक्ति भी शेष नहीं रही है। तुम बताओ आज तुमने क्या-क्या देखा?"

एक बेटे ने वृद्ध भारंड को बताया–"आज तो मैंने एक बड़ी ही विचित्र घटना सुनी। वल्लभीपुर की राजकुमारी से विवाह करने को श्रीपुर का राजकुमार धर्मध्वज बारात लेकर आया। लग्न मुहूर्त्त के समय ही राजकुमारी बन्द कमरे में से लुप्त हो गयी। कोई देव-दानव उस राजकुमारी का अपहरण कर ले गया। राजा ने अदृश्य हो गयी राजकुमारी की खोज चारों दिशाओं में करवायी, किन्तु जब सफलता नहीं मिली तो राजा-रानी और वर धर्मध्वज अनशनपूर्वक प्राण त्यागने का निश्चय कर गिरनार पर्वत की ओर चले गये। है न, तात ! यह एक अद्‌भुत और दुःखद घटना !"

"है तो अद्‌भुत घटना ही।"–वृद्ध भारंड बोला–"किन्तु विश्वसनीय नहीं लगती। राजकुमारी का अपहरण हुआ होगा, किन्तु यह किसी देव-दानव द्वारा संभव नहीं, किसी मनुष्य ने ही किया होगा और बन्द कमरे से हुआ है तो यह अपहरण एकपक्षीय नहीं है। राजकुमारी की सहमति भी रही होगी और उसकी चेष्टा भी।" वृद्ध भारंड की बात सुनकर राजकुमारी शुभमति उसकी अनुभवशीलता और बुद्धिमत्ता से बहुत प्रभावित हुईं।

दूसरे पुत्र ने अपना अनुभव सुनाते हुए कहा–"मैंने भी आज एक दुःखद घटना देखी है, तात ! मैं उड़ता-उड़ता वामन-स्थली राज्य में पहुँच गया। वहाँ के राजा कुंभ की कुमारी कन्या रूपश्री का दुर्भाग्य देखिये कि भरे यौवन में ही दृष्टिहीन हो गयी। उसका सारा रूप-सौन्दर्य अर्थहीन हो गया। रूपश्री ने निश्चय कर लिया है कि यदि एक माह के भीतर उसकी दृष्टि नहीं लौटती है तो वह काष्ठ-भक्षण कर लेगी। बेचारी राजकुमारी दया की पात्र हो गयी है। राजा कुंभ ने

घोषणा करवा दी है कि जो कोई भी राजकुमारी रूपश्री को दृष्टिदान करेगा, उसकी मनोकामना जो भी होगी, मैं उसे पूर्ण कर दूँगा।"

"बेटे ! बड़ी दुःखद घटना तुमने सुनायी है। वास्तव में, राजकुमारी से सहानुभूति होती है, किन्तु उसकी दृष्टिहीनता दूर हो सकती है। आज मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बताता हूँ, बेटो ! हमारी बीट में बड़ा ही चमत्कार है। अनेक रोगों का उपचार भी इससे हो सकता है। ध्यान से सुनो—भारंड-मल (बीट) को अमृतवल्ली (गड्ची) के रस में मिलाकर आँखों में आँज लिया जाय तो स्त्री पुरुष रूप में और पुरुष स्त्री के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। जब पुनः मूल रूप प्राप्त करना हो तो इसी बीट को चन्द्रवल्ली अर्थात् माधवी लता के रस में घोलकर आँखों में आँज लेना पर्याप्त रहता है।"

"यह तो आपने, तात ! बड़ी चमत्कारी बात बताई।" एक बेटे ने कहा—"हमें तो ज्ञात ही नहीं था कि इतना प्रभाव है हमारी बीट में।"

"इसी से तो कहता हूँ.... राजकुमारी को खोयी दृष्टि पुनः प्राप्त हो सकती है।"—वृद्ध भारंड ने आत्म-विश्वासपूर्वक कहा—"यदि हमारी बीट को गजेन्द्र-कुण्ड के जल में घोलकर आँखों में आँज लिया जाय तो नेत्रहीन भी दृष्टि प्राप्त कर लेते हैं। अब तुम बताओ; बेटे ! तुमने आज क्या कुछ उल्लेखनीय देखा?" पिता भारंड ने अपने तृतीय पुत्र से पूछा।

"मैंने भी एक घटना सुनी है, तात !"—भारंड-पुत्र ने कहा—"घटना विद्यापुर गाँव की है। किसी राज्य की राजकुमारी का अपहरण कर, इस गाँव का एक किसान अपने गाँव में ले आया था। राजकुमारी को उसने किसी प्रकार अपने साथ विवाह कर लेने को भी सहमत कर लिया। राजकुमारी को वह अपने खेत पर छोड़कर विवाह के लिए किसी पंडित को बुलाने गाँव में गया। घर पर जाकर उसने अपनी पत्नी को लड़-झगड़कर घर से निकाल दिया। वह बेचारी अपने पीहर चली गयी। पंडित को लेकर जब कृषक खेत पर पहुँचा तो यह देखकर उसने अपना सिर पीट लिया कि राजकुमारी तो उसे छोड़कर कहीं चली गयी। वह बेचारा न घर का रहा, न घाट का।"

"सत्य है बेटे ! रसिक और कामी लोगों की ऐसी ही दुर्दशा होती है।"—पिता ने टिप्पणी की और अपने चौथे पुत्र को उसका अनुभव सुनाने को कहा।

पुत्र ने अपना वृत्तान्त सुनाया—मैं आज बड़ी दूर सुन्दरवन में पहुँच गया। थककर जब मैं वृक्ष पर विश्राम करने लगा तो ज्ञात हुआ कि उसी वृक्ष के नीचे दो सह-यात्री बैठे परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे। एक पथिक बड़ा उदास—हताश था। दूसरे ने उससे इस उदासी का कारण पूछा—"क्यों दुःखी हो, भाई ! क्या तुम्हारे धन का हरण हो गया है? या कोई तुम्हारी स्त्री को ही ले उड़ा है? किस संकट में हो?"

"अब क्या बताऊँ, भाई ! सब भाग्य का दोष है–किसी का दोष नहीं। पूर्वकृत कर्मों का फल ही तो इस भव में हमारा भाग्य या प्रारब्ध बन जाता है। मैं अपने कर्मों का ही फल भोग रहा हूँ। भोगकर ही कर्मों से निस्तार पाया जा सकता है, भागकर नहीं। शुभ कर्म सुखोत्पादक होते हैं तो अशुभ कर्म दुःखों में फलित होते ही हैं। दुःखद परिस्थितियाँ अथवा उत्पीड़क जन तो निमित्त मात्र ही होते हैं। उनसे राग-द्वेष करना नये कर्मों का बंध करना ही है–भवितव्य को विकृत करना है। अतः जो दुःख आ पड़ा है उसे भोगना ही पड़ेगा। भला कोई अन्य इसमें क्या सहायता कर सकता है? अपनी पीड़ा को अपने तक सीमित रखने में ही विवेकशीलता है। किसी भी अन्य के समक्ष अपना दुःखड़ा रोना व्यर्थ है, मेरे भाई !"

सह-यात्री बड़े ध्यान से उसकी बातें सुनता रहा, फिर बोला–"तुम्हारा कथन बीस ही बिस्वा सत्य है। कोई किसी के दुःख-भार को बँटा तो नहीं सकता, फिर भी अपनी पीड़ा व्यक्त कर देने से वह कुछ हल्की तो हो ही जाती है। बताओ.... क्या दुःख है तुम्हें? कदाचित् मैं ही कुछ सहायता का निमित्त बन सकूँ।"

"मैं तुमसे कुछ भी गोपनीय नहीं रखूँगा, बन्धु !" अन्य सह-यात्री ने कहा– "तुमने बड़ा अपनत्व दिखाया है, तुम ही कोई मार्ग भी संभवतः दिखा सको। वल्लभीपुर की राजकन्या के साथ मेरा गहन अनुराग था। यह प्रीति उभयपक्षीय थी। हम प्राण-पण से एक-दूसरे को चाहते थे, किन्तु योग ही नहीं था। विवाह भी उसका एक अन्य राजकुमार से पूर्व निश्चित था और हमने अपहरण की योजना भी बना ली थी कि अवन्ती जाकर हम विवाह सम्पन्न कर लेंगे। दुर्भाग्य कुछ ऐसा रहा कि हमारी योजना से पूर्व ही लग्न मुहूर्त्त के समय बन्द कमरे से राजकुमारी लुप्त हो गयी। कोई देव मेरी प्रेयसी शुभमती का मायावी अपहरण कर ले गया। मेरे जीवन में तो महाशून्य व्याप्त हो गया। प्रेयसीरहित जीवन का भला क्या अर्थ है ! मैंने प्राणों के विसर्जन का सुनिश्चय कर लिया है और इसी हेतु मैं गिरनार जा रहा हूँ।"

"तनिक आवेश-मुक्त होकर अपने निश्चय पर पुनर्विचार करो, मित्र !" सह-यात्री ने कहा–"वैसे तुमने अपना परिचय नहीं दिया। राजकुमारी से प्रेम का प्रसंग है, तो क्या तुम भी किसी राजकुल के हो?"

"हाँ, साथी ! मैं अवन्ती का युवराज, महाराज वीर विक्रमादित्य का पुत्र विक्रमचरित्र हूँ।" दुःखी यात्री ने कहा।

"क्षमा कीजिये, श्रीमन् ! अपरिचय के कारण मैं आपकी मर्यादा के अनुरूप कदाचित् व्यवहार न कर सका। क्षमा चाहता हूँ, किन्तु युवराज ! जीवन-मरण मनुष्य के हाथ नहीं होता। आत्मघात या स्वैच्छिक मरण भी तभी संभव हो पाता है, जब उसका योग हो। भाग्य को किसने देखा है? संभव है यदि राजकुमारी के साहचर्य का योग हो तो उसकी भी प्राप्ति हो जाय और आपका मरण भी टल

वासन्तस्थली पहुँचने के पूर्व ही मार्ग में एक सुरक्षित स्थल पर उन्होंने गुटिका का प्रयोग किया और अपना वास्तविक स्वरूप पुनः प्राप्त कर लिया। उन्होंने आनन्दकुमार नाम के साथ स्व-परिचय देने का निश्चय कर लिया। वासन्त स्थली में पहुँचकर उन्होंने पटह-वादन सुना और राजा की घोषणा का प्रत्यक्ष ज्ञान उन्हें हो गया। भारंड-पुत्र ने अपने कथन में जो प्रकट किया उसे सत्य पाकर उनका मनोबल भी बढ़ा। आनन्दकुमार सीधे राजभवन पहुँचा और महाराज से निवेदन किया कि वह राजकुमारी को दृष्टिदान दे सकता है। राजा ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—"तुम तो देवदूत की भाँति मेरे कष्ट काटने को आये हो ऐसा प्रतीत होता है। कृपया चिकित्सा आरंभ करो। मैं तुम्हें जो चाहोगे वही दूँगा।"

"राजन् ! मुझे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिये, तथापि चिकित्सा आरंभ होने से पूर्व ही मुझे तीन वचन दीजिये। स्पष्ट है कि चिकित्सा कार्य इसके पश्चात् ही आरंभ होगा।"—आनन्दकुमार ने दृढ़ता, किन्तु कोमलता के साथ कहा और एक क्षीण-सी मुस्कान उसके अधरों पर आ गयी जिसने उसके कथन को राजा के लिए और भी मृदुल—मधुर बना दिया। राजा ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि के साथ प्रश्न कर दिया—"तीन वचन ....? वे क्या हैं?"

आनन्दकुमार ने तब कहा—"सर्वप्रथम तो यह वचन दीजिये, राजन् ! कि रोगमुक्त होकर जब राजकुमारी रूपश्री दृष्टियुक्त हो जायें तो आप उनका पाणिग्रहण संस्कार उस राजकुमार के साथ करा देंगे जिसका चयन मैं करूँ।"

आनन्दकुमार का कथन सुनकर राजा कुछ क्षण संशय में पड़े। वे रूपश्री की सम्मति अपेक्षित समझकर उससे पूछना ही चाहते थे कि राजकुमारी स्वतः ही बोल उठी—"उपयुक्त है, पिता महाराज ! आनन्दकुमार तो मेरे दृष्टि-दाता हैं। जो मेरा इतना उपकार करेंगे .... उनके चयन में भी मेरा हित ही होगा।" यह स्पष्ट सहमति पाकर राजा ने आनन्दकुमार को इस आशय का वचन दे दिया।

आनन्द ने तब कहा—"दूसरा वचन यह दीजिये, महाराज ! कि आप अपने राज्य की एक कृषक बाला का विवाह मेरे बताए एक कृषक युवक से कर देंगे और उसे आठ गाँवों की जागीर भी देंगे। और तीसरा वचन मैं यह चाहता हूँ कि आगामी एक माह तक गिरनार क्षेत्र का शासनाधिकार मेरे पास रहे।"

राजा ने प्रसन्नतापूर्वक शेष दो वचन भी दे दिये। अब आनन्दकुमार की बारी थी। उसने अपने झोले में से वह गुटिका निकाली जो उसने गजेन्द्र-कुंड के जल में भारंड की बीट घोलकर तैयार की थी। गुटिका का चूर्ण बनाकर ज्यों ही रूपश्री के नयनों में उसे आँजा कि चमत्कार ही हो गया। राजकुमारी को दृष्टि प्राप्त हो गयी।

"मैं देख सकती हूँ .... मैं देख सकती हूँ ....।" कहती हुई वह दौड़कर आयी और पिता महाराज के चरणों से लिपट गयी। उसकी तो प्रसन्नता का पारावार ही नहीं रहा। सारा राजभवन ही उल्लास से जैसे नाच उठा। राजा कुंभ के नयन मारे हर्ष के आर्द्र हो उठे। रूपश्री ने आनन्दकुमार की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से निहारा और कहा—"आप तो मेरे नव-जीवनदाता हैं। आपका उपकार मैं जीवनभर स्मरण रखूँगी।"

महाराज कुंभ के पास तो आनन्द के प्रति आभार व्यक्त करने को कोई शब्द ही न थे। उन्होंने प्रीतिपूर्वक उसके दोनों हाथों को थामकर यही कहा—"आनन्द ! तुमने हमें बड़े भारी संकट से उबार लिया। हम ही नहीं हमारे सारे देश पर तुम्हारा भारी उपकार है। हमने तुम्हें इच्छित वचन तो दिये ही हैं, हम उनका निर्वाह भी करेंगे। हम तुम्हें इसके अतिरिक्त भी कुछ और ....।"

निषेध करते हुए आनन्द ने कहा—"नहीं, महाराज ! मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। आप कदाचित् नहीं जानते कि अपने वचनों के माध्यम से आपने मुझे भी अप्रत्यक्ष रूप में कुछ दिया है और वह कुछ ही मेरा जीवन-सर्वस्व है।" इसी समय सेविका एक बड़ा-सा थाल दोनों हाथों में थामकर ले आयी। आवृत थाल को महाराज का संकेत पाकर सेविका ने आनन्द की ओर बढ़ा दिया। आनन्द ने थाल को ग्रहण किया। आवरण हटाकर देखा—हीरक-मुक्तादि रत्नों की जगमगाहट से उसके नेत्र चुँधियाने लगे। थाल को मस्तक पर चढ़ाकर पुनः सेविका को थमाते हुए नम्रतापूर्वक आनन्द ने कहा—"कृतार्थ हुआ, राजन् ! इस धन का वितरण दीन-दु:खियों में करवा दीजिये।"

"धन्य हो, आनन्द ! तुम बड़े उदारचेता हो।" महाराज का हृदय प्रशंसा भाव से भर गया—"तुम-जैसे उपकारक खोजे से भी मिल नहीं सकते। हम तत्पर हैं, आपके वचनों की पूर्ति के लिए। कहो, किस राजकुमार के साथ हम रूपश्री बिटिया का विवाह करा दें?"

"यथासमय यह भी हो जायेगा, राजन् ! पहले तो मुझे गिरनार क्षेत्र का कार्य पूर्ण करना होगा। आप कृपया आदेश प्रसारित करवा दें कि गिरनार के अधिकारी–कर्मचारी मेरे निर्देशन में कार्य करेंगे।" राजा ने बताया कि यह

व्यवस्था कर दी गयी है और तब संतोष व्यक्त करते हुए आनन्द ने विदा माँगते हुए प्रणाम किया और कुछ अधिकारियों के साथ गिरनार की ओर चला गया। वहाँ पहुँचकर उसने सेवकों को निर्देश दिया—"गिरनार पर जो भी व्यक्ति आये उसकी सूचना उसे दी जाय और उसकी अनुमति के बिना कोई भी प्राण-त्याग का उपक्रम भी न करे।"

अगली प्रातः ही कुछ राज-सेवक एक युवक को साथ लेकर उपस्थित हुए और सूचना दी कि यह अनशनपूर्वक प्राण-त्यागने को गिरनार पर आया है। "युवक ! तुम कौन हो? प्राण तुम्हारी सम्पत्ति नहीं। यह तो तुम्हारे पास धरोहर है। इसे यों नष्ट कर देना उचित नहीं। अवश्य ही तुम्हारा प्रयोजन आध्यात्मिक नहीं है। अतः यह पाप भी होगा।"—प्रतिबोध देते हुए आनन्द ने शान्तिपूर्वक युवक को समझाया—"तुम तो कुलीन और विवेकशील लगते हो। आवेश छोड़कर स्थिर चित्त होकर अपनी समस्या का समाधान खोजो। मुझे बताओ .... तुम्हारी निराशा क्या है?"

इस प्रतिबोध से आश्वस्त हो युवक ने कहा—"महाभाग ! मैं एक अभागा राजकुमार हूँ। मैं सपादलक्ष देश के श्रीपुर-नरेश गजवाहन का पुत्र धर्मध्वज हूँ। जब बारात लेकर मैं वल्लभीपुर के राजकुल में पहुँचा तो उसी समय मेरी वधू का अपहरण हो गया। राजा महाबल ने अपनी कुमारी शुभमती की खोज करायी, किन्तु परिणाम कुछ नहीं रहा। अब मैं बिना वधू को साथ लिये कैसे अपने नगर को जाऊँ .... किस मुँह से जाऊँ?"

"तो यही समस्या है तुम्हारी ....?" आनन्दकुमार ने बड़ी सहजता के साथ कहा—"कुमार धर्मध्वज ! यह तो कोई समस्या ही नहीं। कम से कम ऐसी नहीं कि जिसके लिए प्राण-त्याग किया जाय। तुम तो वीर क्षत्रिय हो। यों धैर्य खोना भला तुम्हें शोभा देता है ! कठिनाइयों में जीना हम सभी को सीखना चाहिये। तुम्हारी समस्या का समाधान मेरे पास है, कुमार ! मैं किसी राजकुमारी के साथ ही तुम्हारा परिणय सम्पन्न करा दूँगा। अब तुम मरण के विचार को त्यागो और निश्चिन्त हो जाओ।"

"आप वास्तव में बड़े महान् हैं, महाभाग !" धर्मध्वज ने कहा—"आपने तो अपने प्रतिबोध से मेरी सारी हताशा को ही दूर कर दिया। मेरी मुर्भूषा भावना सर्वथा तिरोहित हो गयी। अब मैं जीऊँगा—उत्साह के साथ जीऊँगा।"

वल्लभीपुर-नरेश महाबल और रानी वीरमती भी प्राण त्यागने को गिरनार आये। आनन्द ने तो अपने माता-पिता को पहचाना ही, किन्तु वे आनन्द में अपनी पुत्री शुभमती का आभास भी न पा सके। आनन्दरूपी शुभमती उनकी सारी कष्ट-कथा से परिचित थीं, तथापि स्वयं उनसे जानना भी अत्यावश्यक था। धैर्य के साथ उनका दुःखड़ा सुनकर आनन्द ने उन्हें भी सांत्वना दी। उसने कहा—"धैर्य के

साथ समय के चढ़ाव-उतार देखते चले जाओ। समस्याएँ आती ही हैं, किन्तु समाधानरहित कोई समस्या नहीं होती। समाधान कभी अदृश्य रहता भी हो तो अपने समय पर वह स्वतः प्रकट हो जाता है। इसी से कहता हूँ धैर्य प्रत्येक समस्या का समाधान 'संभव कर देता है। मेरा मन कहता है कि आपकी पुत्री शुभमती भी आपसे शीघ्र भेंट करेगी और आपको देवपुत्र-सा, चरित्रवान जामाता भी प्राप्त होगा। अब आप निश्चिन्त हो जाइये और आप मरण का विचार भी मन में न आने दीजिये।'' उन्हें क्या पता कि वे स्वयं शुभमती बेटी से ही वार्त्तालाप कर रहे थे। उन्हें आन्तरिक शान्ति का अनुभव होने लगा।

विद्यापुर ग्राम का कृषक सिंह भी अपना सब-कुछ खोकर जगत् को असार मानने लगा और जीवन को नीरस। वह भी प्राण त्यागने को गिरनार पहुँचा तो आनन्द ने उसे भी बोध दिया–''तुमने जो कुछ खोया है–वह तुम्हें पुनः प्राप्त होगा और ऐसी सम्पदा भी जो अब तक तुम्हारे लिए अपूर्व रही है। अब निराशा त्यागो। एक सुन्दर कृषक बाला के संग तुम्हारा विवाह होगा। आठ गाँव भी तुम्हें राजा की ओर से दिये जायेंगे। तुम्हारी पूर्व पत्नी भी प्रसन्न होकर स्वयं ही तुम्हारे घर आ जायेगी।'' कृषक आश्वस्त हो गया, प्रसन्न और तुष्ट हो गया।

प्राण त्यागने को जब विक्रमचरित्र गिरनार पहुँचा तो आनन्दकुमार ने उसकी व्यथा को भी ध्यान देकर सुना। अन्त में उसने युवराज से कहा–''कुमार ! जीवन तो उत्साहपूर्वक, सन्मार्गी होकर जीने के लिए मिला है। जीवनान्त के पूर्व ही मरण का वरण करना सत्पुरुषों के योग्य कर्म नहीं है। सदुद्योग में निरत रहना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्यशीलता को अपनाने वाला कभी निराश नहीं होता। निराश व्यक्ति ही निष्क्रिय हो जाता है और निष्क्रियता की चरम पराकाष्ठा–मरण का अभिलाषी हो जाता है। मनुष्य तो अपने उद्यम से स्वभाग्य-निर्माता हो जाता है। अपना भवितव्य स्वयं निर्मित करने की अपनी क्षमता को पहचानो, युवराज !'' विक्रमचरित्र को इस प्रतिबोध से पर्याप्त मानसिक शान्ति प्राप्त हुई। उन्हें आन्तरिक अनुभूति होने लगी कि उनका निश्चय तनाव के अधीन किया हुआ है और विवेक-संगत नहीं है। आनन्दकुमार ने अन्त में कहा–''तुम्हारी समस्या यह है, युवराज ! कि तुम शुभमती को प्राप्त करने के लक्ष्य से ही अवन्ती से चले थे और शुभमती तुम्हारे हाथ आते-आते ही हाथ से निकल गयी। तुम्हारा मान भंग हुआ और अब तुम सोचते हो कि तुम किस मुँह से अपने पिता महाराज के समक्ष जाओ। किन्तु .... किन्तु ऐसी हीन भावना से ग्रस्त होना उपयुक्त नहीं और इसके अधीन प्राणान्त की बात सोचना तो और भी अनुचित है। मैं एक रहस्य की बात तुम्हें बताऊँ .... राजकुमारी शुभमती तुम्हारी जीवन सहचरी के रूप में तुम्हें मिलेगी .... शीघ्र ही मिलेगी। यह मेरी अन्तरात्मा की आवाज है–मिथ्या नहीं हो सकती। कुछ धैर्य रखना होगा .... तुम्हारा सफल काम होना सर्व निश्चित है।'' आनन्दकुमार के कथन से प्रभावित विक्रमचरित्र ने मरण का विचार त्याग दिया।

आनन्दकुमार अब वामन-स्थली लौट आया और राजा कुंभ को गिरनार क्षेत्र का शासन पुनः सौंप दिया। उसने कुमार धर्मध्वज, विक्रमचरित्र, राजा महाबल, रानी वीरमती और कृषक सिंह को भी वामन-स्थली में बुलवा लिया। राजकुमारी रूपश्री का विवाह कुमार धर्मध्वज के साथ और एक कृषक युवती का विवाह सिंह के साथ सम्पन्न कर राजा कुंभ ने अपना प्रथम और द्वितीय वचन पूर्ण किया। सिंह को आठ गॉवों की जागीर भी प्रदान की।

वल्लभीपुर के राज-दम्पति से आनन्दकुमार ने कहा–"आप भी अपनी कन्या शुभमती से मिलने को लालायित हैं। मैं शुभमती को भी आपकी सेवा में उपस्थित कर सकता हूँ, यदि आप....।"

"तुम रुक क्यों गये, आनन्द !" राजा महाबल ने कहा–"तुम अपना कथन पूर्ण करो, आनन्द ! अपनी बिटिया को पाने के लिये हम हर कार्य करने को तत्पर हैं। बताओ हमें क्या करना होगा?"

"आपको केवल एक वचन देना है कि शुभमती के लौट आने पर आप उसका परिणय अवन्ती के युवराज विक्रमचरित्र से कर देंगे।"–आनन्दकुमार ने अपना कथन पूर्ण कर दिया।

"इसमें हमें क्या आपत्ति हो सकती है, आनन्दकुमार !" राजा महाबल ने स्वीकारा–"हम तो आरंभ में ही इस सम्बन्ध को अपनी स्वीकृति दे चुके थे, किन्तु हमारे मंत्री द्वारा कुमार धर्मध्वज के साथ सम्बन्ध पहले ही निश्चित कर दिया गया तो हमारे सोचे हुए सम्बन्ध को हम अंतिम रूप न दे सके। राजाधिराज विक्रमादित्य महाराज की पुत्र-वधू होने में तो हमारी कुमारी का गौरव ही गौरव है। अब तो कुमार धर्मध्वज का विवाह भी कुमारी रूपश्री से हो गया है। अब तो किसी को भी आपत्ति हो नहीं सकती। हम अवश्य ही विक्रमचरित्र के साथ शुभमती का परिणय सम्पन्न करा देंगे, किन्तु हमारी प्यारी पुत्री आयेगी कब? कहाँ हमारी भेंट होगी उससे?"

"चिन्ता न कीजिये, राजन् ! जब आपने वचन दे ही दिया है तो उससे आपकी भेंट कराना फिर मेरा कर्त्तव्य हो जाता है। मैं यहीं और इसी समय राजकुमारी शुभमती को बुलवा देता हूँ।"–यह कहकर आनन्दकुमार भीतर के कक्ष में गया। चन्द्रवल्ली के रस में भारंड-बीट को मिलाकर बनाई गयी गुटिका को उसने अपने नेत्रों में आँजा और तत्काल उसका राजकुमारी शुभमती के रूप में परिवर्तन हो गया।

बेटी शुभमती को देखकर माता-पिता अति प्रसन्न हो गये। पुत्री ने उनका चरण स्पर्श किया। जननी ने उसे वक्ष से लगा लिया। दोनों के नयन सजल हो गये। आनन्दकुमार कहीं दृष्टिगत न हो रहा था। अपने महान् उपकारक आनन्द के विषय में राजा महाबल ने पूछा तो उत्तर स्वयं शुभमती ने ही दे दिया–"पिताजी

महाराज ! मैं ही आनन्द हूँ और मैं ही शुभमती हूँ। आनन्द की भूमिका शुभमती को अपने माता-पिता से मिलाना और युवराज विक्रमचरित्र से उसका परिणय निश्चित कराना मात्र था। उसकी भूमिका पूर्ण हो गयी और वह चला गया। शेष रह गयी शुभमती–सो आपके समक्ष है।''

शुभमती के इस चमत्कारपूर्ण कथन से सभी चकित रह गये। उनकी जिज्ञासा जानकर शुभमती ने अपने अपहरण के अनन्तर का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। विक्रमचरित्र भी अपने प्रति शुभमती के अनुराग के साहसपूर्ण रक्षण के वृत्तान्त से बड़ा प्रभावित हुआ। राजा कुंभ ने शुभमती और विक्रमचरित्र का पाणिग्रहण अत्यन्त भव्यता के साथ सम्पन्न कराया। राजा ने वर-वधू को अनुपम उपहार भेंट किये। शुभ मुहूर्त्त में ही विक्रमचरित्र ने शुभमती के साथ अवन्ती के लिए प्रस्थान किया।

× × ×

मनोवेग पर आरूढ़ होकर युवराज विक्रमचरित्र मन में राजकुमारी की कल्पना लिए अवन्ती से एक रात चुपचाप चल दिये थे। किसी को ज्ञात भी न था कि युवराज किस प्रयोजन से, कहाँ गये हैं और आज वही मनोवेग गर्वपूर्वक अपने स्वामी युवराज और स्वामिनी राजवधू शुभमती को लेकर अवन्ती में प्रवेश करने को ही था। स्वामी की विजय से अश्व का गर्वित होना स्वाभाविक भी था। अपनी कनौती खड़ी करके, बार-बार हिनहिनाकर वह अपना आन्तरिक हर्ष व्यक्त कर रहा था। युवराज अपने अश्व के भावों को समझकर, उसकी ग्रीवा थपथपाकर उसका साधुवाद करते जा रहे थे। अवन्ती के राजभवन के उच्च स्वर्ण-कलश दूर से दृष्टिगत होने लगे थे। अपना चिर-परिचित क्षेत्र पाकर अश्व और भी उत्साहित हो उठा था। उसकी गति अस्वाभाविक रूप से द्रुत हो गयी थी।

युवराज अवन्ती में होने वाले घटना-क्रम से सर्वथा अनभिज्ञ थे। वे तो रात्रि के अँधेरे में उस रात्रि में, शुभमती की प्राप्ति का संकल्प धारण कर प्रस्थान कर गये थे। उसी रात्रि में भोर-पूर्व ही भट्टमात्र भी अन्य योग्य राजकन्या की खोज मे अवन्ती से निकल पड़े थे। दोनों को ही एक-दूसरे के प्रस्थान की सूचना न थी। महामात्य कुछ ही दिनों में सफल होकर लौट आये। राजा भीम की अत्यन्त गुणवती, सुन्दरी राजकन्या रूपवती के साथ उन्होंने युवराज का सम्बन्ध निश्चित कर लग्न तिथि भी निर्धारित कर दी थी। संकट यह था कि युवराज का कहीं अता-पता न था। कैसे इस तिथि का निर्वाह होगा?

महाराज वीर विक्रम के समक्ष बडी विकट स्थिति थी। अपने पुरुषार्थी और साहसी पुत्र के वियोग में माता सुकोमला रानी तो वहुत दुःखित थीं। उन्होंने अन्न का भी त्याग कर दिया था। पिता का हृदय भी वात्सल्यवश पुत्र की अनिश्चित स्थिति में वड़ा आशंकित और आतंकित रहता है। महाराज भी वार-वार व्यग्र हो

उठते थे, किन्तु उन्हें विश्वास था कि जो भी होगा–शुभ ही होगा। युवराज तो बाहर-भीतर से हमारी ही अनुकृति के समान हैं। हमारे ही गुण युवराज में विद्यमान हैं। युवराज वीर, शक्तिशाली और साहसी हैं। न तो उनका कोई अहित होगा, न ही किसी अशुभ कर्म द्वारा राजकुल की गरिमा को आघात लगने देंगे।

राजा भीम को जब ज्ञात हुआ कि युवराज विक्रमचरित्र का कोई अता-पता ही नहीं है तो वे यह सम्बन्ध भंग कर अन्य वर की खोज का प्रयत्न आरम्भ करना चाहते थे। राजकुमारी रूपवती को पिता के इस विचार का पता लगा तो विचलित हो गयीं। उन्होंने पिता के मंतव्य का विरोध करते हुए कहा–"पिता महाराज ! मैं आर्य कन्या हूँ और आर्य कन्या तो एक बार जिसे पतिरूप में स्वीकार कर लेती है, उस भव में तो वही उसका स्वामी रहता है। वह किसी अन्य पुरुष की कल्पना भी अपने चित्त में नहीं आने देती। मैंने अवन्ती के युवराज का मानसिक स्तर पर वरण कर लिया है तो अब आपका अन्यत्र प्रयत्नों का कोई अर्थ नहीं है। मेरे ही पापों का उदय इस संकट के रूप में हुआ है कि मेरे स्वामी अज्ञातवास में हैं। जब पुण्यों का उदय होगा तो मेरा उनसे मिलन हो भी जायेगा; चाहे इसके लिए मुझे कितनी ही दीर्घ प्रतीक्षा क्यों न करनी पड़े। यदि उनका साहचर्य सर्वथा असंभव भी हो जायेगा तो चितारूढ़ होकर मैं प्राण त्याग दूँगी, किन्तु अन्य किसी का वरण नहीं करूँगी।"

"पिता महाराज ! आपने भी अपनी पुत्री का विवाह युवराज विक्रमचरित्र से कर देने का वचन दिया है। राजा और साधु का वचन एक ही होता है। अन्य कोई परिवर्तित वचन वे नहीं देते। सज्जनोचित व्यवहार भी यही है कि एक बार वे जो स्वीकार कर लेते हैं, किसी भी अवस्था में वे उसे त्याज्य नहीं मान सकते।"

अपनी संस्कारशीला पुत्री के उक्त विचारों से राजा भीम बहुत प्रभावित हुए। इन कथनों ने उनकी सुप्त आत्मा को जाग्रत कर दिया था। अपनी अनुचित अस्थिरता पर उन्हे स्वयं ही लज्जा अनुभव होने लगी। संकोच के साथ उन्होंने कहा–"हमारी बिटिया बड़ी विवेकशालिनी है। तुमने बड़ा उपकार किया है हम पर, बेटी ! हम तो धर्म के मार्ग से फिसलने को थे और तुमने हमारी बॉह पकडकर थाम लिया। यह सत्य ही है कि कन्या का दान एक ही बार किया जाता है। वाचिक रूप से कन्यादान तो हम कर चुके–वाग्दान हो गया है। एक को दान में दी गयी वस्तु दुबारा किसी अन्य को दान की ही नहीं जा सकती। तुमने हमें यह पुनः स्मरण कराकर हमारा वड़ा भारी हित किया है, बेटी ! तुम्हारा स्थान अव अवन्ती का राजकुल ही है। अपने जीवन का भला-बुरा समय तुम्हें वहीं व्यतीत करना है।"

कुछ पलों का विराम लेकर राजा भीम ने पुनः अपना कथन आरंभ कर दिया–"युवराज विक्रमचरित्र की वाग्दत्ता हो तुम, इसमें कोई संदेह नहीं। हम तुम्हें अवन्ती पहुँचा देते हैं–यही उत्तम रहेगा। तुम्हारा पूर्व राग वहीं अनुराग में परिवर्तित हो। तुमने जो वात कही थी–चितारूढ़ होने की, सो पिता के घर पुत्री का काष्ठ-भक्षण

नीतियुक्त भी नहीं और धर्मसम्मत भी नहीं है। तुम राजाधिराज विक्रम महाराज के संरक्षण में रहकर ही वर की प्रतीक्षा करना। उनके आगमन पर विधिवत् विवाह कर लेना। यदि काष्ठ-भक्षण की ही स्थिति आ जाय तो अपने श्वसुर जी की अनुमति लेकर ही तुम ऐसा करना। यह मेरा अपना विचार है, राजकन्ये ! क्या तुम्हें यह उचित प्रतीत होता है? तुम्हारे अनुमोदन पर ही इसकी क्रियान्विति अवलंबित रहेगी।" राजकुमारी रूपवती को इसमें कोई आपत्ति न थी। राजा भीम ने अवन्ती-नरेश को भी संदेशवाहक के माध्यम से अपना विचार प्रेषित किया और उनकी सम्मति और निर्देश की प्रार्थना की। संदेशवाहक ने राजकुमारी रूपवती के विचारों को भी सविस्तार प्रस्तुत किया। वीर विक्रम महाराज राजकुमारी के विचारों से बड़े प्रभावित हुए और उनके प्रशंसक हो गये। उन्होंने अनुभव किया कि वस्तुतः युवराज के लिए ऐसी ही आदर्श वधू अपेक्षित है। महाराज की उदारता ने राजा भीम के विचारों में औचित्य पाया और उन्होंने अपनी सहमति भिजवा दी।

आहत मन से भी अवन्ती के राज-दम्पति ने अपने कुल में रूपवती का स्नेहपूर्ण भाव-भीना स्वागत किया। वह रानी सुकोमला के संरक्षण में रहने लगीं। रूपवती ने सभी को अवगत करा दिया था कि वह पन्द्रह दिवस तक प्रतीक्षा करेगी। तब तक भी यदि युवराज का आगमन नहीं हुआ तो वह काष्ठ-भक्षण करेगी। अवधि-समाप्ति पर रूपवती ने महाराज से काष्ठ-भक्षण हेतु अनुमति की याचना की। महाराज तो इस हेतु वचनबद्ध ही थे। अनुमति पाकर रूपवती ने काष्ठ-भक्षण का उपक्रम आरंभ किया।

यह संयोग भी द्रष्टव्य है कि इसी दिन युवराज विक्रमचरित्र का आगमन अवन्ती में हुआ। नगर के बाहर, उद्यान में कुछ समय विश्राम कर लेने और स्वयं को व्यवस्थित करने के प्रयोजन से युवराज और राजवधू शुभमती रुक गये थे। अवन्ती से एक पथिक आता दिखायी दिया तो युवराज ने नगर के समाचार उससे जानने चाहे। पथिक ने उपर्युक्त वृत्तान्त सुनाया और कहा–"नगर के बाहर के दक्षिण उद्यान में इस समय काष्ठ-भक्षण होने वाला होगा। नगर में मैं शोभा-यात्रा की धूम देखकर आ रहा हूँ।"

विवेकवान विक्रमचरित्र ने तुरन्त निर्णय लिया। शुभमती के लिए उद्यान-रक्षक के घर में विश्राम की व्यवस्था करवाकर उन्होंने रक्षक को राजभवन से रथ लाकर शुभमती को राजभवन पहुँचाने का दायित्व सौंपा और स्वयं मनोवेग पर आरूढ़ होकर दक्षिण उद्यान के लिए चल दिये। जनसंकुल दक्षिण उद्यान सती रूपवती की जय-जयकार से गूँज रहा था। दूर से ही उन्हें दिखायी दिया कि विशाल चिता निर्मित की गयी थी और रूपवती चिता की परिक्रमा कर रही थी। "काष्ठ-भक्षण नहीं होगा.... रुक जाओ.... हम विक्रमचरित्र लौट आये हैं।"–विक्रमचरित्र ने दूर से ही उच्च स्वर में कहा–"आ गये हैं हम। राजकुमारी ने हमें अपना जीवन-साथी माना है तो हम भी उन्हें अपनी सहचरी स्वीकार करते हैं।"

राजभवन में तो अद्भुत, अपूर्व महोत्सव मनने लगा था। राजपरिवार ने दोनों पुत्र-वधुओं के स्वागत का सुयोग पाया। सुमन्ती की प्राप्ति के लिए जो उपक्रम युवराज ने किये—उनका वृत्तान्त सुनकर सभी ने उनकी प्रशंसा की और उनको पराक्रमी और चतुर मानने लगे तो इस स्वर में स्वर मिलाते हुए महाराज ने गर्वानुभव के साथ कहा—"क्यों न हो.... है किसका पुत्र ......" रानी सुकोमला को यह निश्चय ही नहीं हो पा रहा था कि उनका गर्वित होना उपयुक्त भी है, अथवा नहीं। सुमन्ती के चातुर्य और आनन्दकुमार की भूमिका का वृत्तान्त जानकर तो सभी को आश्चर्यपूर्ण हर्ष का अनुभव हुआ। सभी उनके भी प्रशंसक हो गये। महाराज और विक्रम ने तो कहा—"हमारा तो पुत्र सेर तो पुत्र-वधू सवा सेर। और क्यों न हो सिंह का युगल सिंहनी से ही तो पूर्ण हो सकता है।" कालान्तर में रूपवती और विक्रमचरित्र का परिणय भी धूमधाम के साथ सम्पन्न हुआ। अपनी दोनों पत्नियों के साथ युवराज सानन्द जीवन व्यतीत करने लगे।

● ●

पाटलिपुत्र की गणिका-पुत्री पुष्पसेना चौपड़-क्रीड़ा की निष्णात मानी जाती थी। इस प्रवीणा को कोई पराजित न कर पाता था। उसने यह निश्चय कर लिया था कि जो कोई उसे चौपड़ में परास्त करेगा वह उसी के साथ विवाह कर लेगी। उसका वैभव भी नवयुवकों के लिए एक अदम्य आकर्षण था। सप्त-को[illegible] स्वामिनी थी वह। रूप-वैभव तो अतुल्य था। मुग्ध होकर अनेक [illegible]

चुनौती को स्वीकार किया और अपने क्रीड़ा-कौशल का प्रयोग करते हुए जी-जान से प्रयत्न किये, किन्तु कोई भी विजयी नहीं हो पाया। पराजितों को उसका दासत्व स्वीकार करना पड़ता था। ऐसे कोई डेढ़ सौ बन्दी पाटलिपुत्र में थे। इनमें से अनेक राजकुमार, श्रेष्ठी-पुत्र आदि कुलीन जन भी थे। पाटलिपुत्र में जब कोई उसकी चुनौती को स्वीकार करने वाला शेष न रहा तो वह अन्य राज्यों का भ्रमण करने निकली थी। इसी क्रम में पुष्पसेना का आगमन अवन्ती में हुआ।

महाराज वीर विक्रम से भेंट करने को जब वह राजभवन पहुँची तो महाराज इसके रूप-वैभव को देखकर चकित रह गये। देवांगना-सी इस ललना के मुख पर अद्भुत आत्म-विश्वास की झलक थी। उपस्थित होकर जिस विधि से उसने अभिवादन किया, उससे उसके सौम्य शिष्टाचार का परिचय भी मिला। महाराज ने आसन की ओर संकेत किया। पुष्पसेना सकुचाती-सी आसीन हुई; उससे महाराज को प्रतीत हुआ कि यह नारी-मर्यादा और व्यवहार में भी कुशल है। ऐसी गुणवती स्त्री में चौपड़-क्रीड़ा की प्रवीणता का दर्प क्यों है? महाराज के मन में एक सहज जिज्ञासा उठी। पूछा–"पुष्पसेना ! ऐसी कठिन शर्तों के साथ तुम चौपड़ क्यों खेला करती हो? अपनी क्रीड़ा-प्रतिभा का प्रदर्शन मात्र तो तुम्हारा प्रयोजन हो नहीं सकता। क्या उद्देश्य है तुम्हारा, पुष्पसेना?"

पुष्पसेना ने महाराज को सादर सम्बोधित करते हुए कहा–"राजराजेश्वर ! आपने सत्य ही यह माना है कि मेरा प्रयोजन अपनी क्रीड़ा-चातुर्य प्रकट करने का नहीं है। मैं तो इस माध्यम से अपने लिए योग्य वर की खोज कर रही हूँ। इसलिए मेरी चुनौती केवल पुरुषों के लिए है। स्त्रियों के साथ मैं नहीं खेलती।"

"यह तो हम समझे ····।" महाराज ने कुछ सोचते हुए कहा–" ···· किन्तु इससे क्या कोई योग्य वर ही तुम्हें मिल जायेगा? संभव है कि कोई अकुलीन, मद्यप, दुर्जन ही विजयी हो जाय।"

"ऐसा असंभव तो नहीं, महाराज !"–अत्यन्त मृदुलता के साथ पुष्पसेना ने उत्तर दिया–" ···· किन्तु यह जीवन स्वयं ही एक द्यूत है, जुए में इतना जोखिम तो रहता ही है। यह जोखिम वर की खोज की प्रत्येक विधि में रह सकता है, किसी में कुछ कम, तो किसी में अधिक।"

महाराज पुष्पसेना के बुद्धि-वैभव से भी प्रभावित हुए। उन्होंने पुष्पसेना को क्रीड़ा-चुनौती की घोषणा करवाने की अनुमति प्रदान कर दी। इस घोषणा से अवन्ती में एक अद्भुत हलचल मच गयी। अनेक युवाओं के मन चुनौती स्वीकार करने को मचलने लगे। अनेक ने साहस किया और पराजित हुए। पुष्पसेना उन्हें अपना दास बनाती चली गयी। राजवधू शुभमती के मन में पुष्पसेना को बोध देने के लिए एक विचार–एक अद्भुत युक्ति आयी। पिता महाराज अवन्ती-नरेश से उन्होंने चर्चा की और उनकी तथा अपने स्वामी युवराज विक्रमचरित्र की अनुमति भी उन्होंने प्राप्त कर ली।

पुष्पसेना अपने कक्ष में अनमनी-सी बैठी थी। अवन्ती के अनेक युवाओं ने क्रीड़ा-साहस किया भी और पराजित हुए। कुछ दिन सर्वथा शून्य-से व्यतीत हो गये। कोई भी पुष्पसेना की चुनौती को स्वीकार करने न आया तो वह हताश हो गयी थी। इसी हताशा के साथ वह अपनी मुख्य परिचारिका से बात कर रही थी– "मधु ! तू मेरे उद्विग्न चित्त को समझ नहीं सकती। तू जानती नहीं, मुझे कैसा तनाव घेरे हुए है। मैं बड़ी आशा के साथ अवन्ती आयी थी। सोचती थी कि इस महानगरी से मुझे कोई-न-कोई सहारा अवश्य मिल जायेगा। यहाँ भी मुझे पराजित करने वाला कोई नहीं निकला, मधु ! क्या मेरा जीवन इसी भाँति नीरसता के साथ बीत जायेगा ! क्या मेरी जी की कली को खिलाने वाला कोई भी नहीं मिलेगा ! इस वैभव, इस स्वर्ण को मैं क्या करूँ ! हाय ! क्या मेरे जीवन में कोई भी पुरुष नहीं आने वाला है !"

"आ गया, देवी ! तुम्हारे जीवन में पुरुष भी आ गया।"–कक्ष में प्रवेश करते हुए एक युवक ने कहा–"तुम्हें तो असीम आत्म-विश्वास है। तुम निराश भी हो सकती हो, कोई ऐसी आशा भी नहीं कर सकता।"

ग्रीवा घुमाकर जो देखा पुष्पसेना ने, तो एक अप्रतिम सुदर्शन युवा को देखकर वह चौंक पड़ी। मुग्ध मन में अनेक कल्पनाएँ उठने लगीं। उसने उठकर आगंतुक का स्वागत किया। सेविका कक्ष में दीप प्रज्चलित कर रही थी। दोनों ने आसन ग्रहण किये। पुष्पसेना ने बड़ी ही मृदुलता के साथ परिचय पूछा। ज्ञात हुआ कि युवक एक श्रेष्ठी-पुत्र है। शुभकरण उसका नाम है। चौपड़-क्रीड़ा हेतु आया है और पुष्पसेना को पराजित करने की कामना रखता है। मुस्कराहट में व्यंग्य का रंग मिश्रित करती पुष्पसेना ने कहा–"इसका निर्णय तो समय ही करेगा कि कौन विजयी होता है और किसे पराजय का मुख देखना पड़ता है। पहले मुझे अपने आतिथ्य-धर्म का निर्वाह तो कर लेने दीजिये। मैं आपके जलपान का प्रबन्ध करती हूँ।"

"धन्यवाद, देवी ! मैं रात्रि में कुछ ग्रहण नहीं करता। जैनधर्मावलम्बी हूँ न !" युवक शुभकरण ने कहा–"मैं चाहता हूँ कि समय को निर्णय कर ही लेने दिया जाय–जय-पराजय का।"

"तो श्रेष्ठीकुमार ! आप क्या इसी समय चौपड़ खेलना चाहते हैं?" पुष्पसेना ने पूछ लिया।

"समय तो यह भी बुरा नहीं। सोचता हूँ जब विजयी होना ही है तो क्यों न वह गौरव तत्काल प्राप्त कर लिया जाय !" बड़ी सहजता के साथ युवक ने कह दिया।

और एक स्वाभाविक मुस्कान के साथ पुष्पसेना ने कहा–"अच्छा था, आपका यह भ्रम कुछ समय और आपको सुख पहुँचाता रहता कि जयश्री आपका वरण करेगी।.... किन्तु आप अपने इस सुखद स्वप्न को भंग ही कर लेना चाहते हैं, तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है। आइये, चौपड़ की बाजी प्रारंभ करते हैं। नियम तो

ज्ञात होगा ही आपको। तीन बाजियों में से जो दो में विजयी होगा–विजय उसी की मानी जायेगी।"

"ज्ञात है, देवी ! भलीभॉति ज्ञात है।" युवक ने कहा–"अब हमें शीघ्र ही क्रीड़ा आरंभ करनी चाहिये।"

पुष्पसेना अतिथि युवक शुभकरण को अन्य कक्ष में ले गयी, जहॉ चौपड़ पहले बिछी थी। क्रीड़ा आरंभ हुई। मनोयोगपूर्वक दोनों चाल पर चाल चलते रहे। कुछ पलों बाद ऐसी स्थिति आयी कि पुष्पसेना को शुभकरण की चालें भारी पडने लगीं। श्रेष्ठी-पुत्र की चालें त्वरित होती गयीं और पुष्पसेना की चालें कम और सोच-विचार अधिक रहता। पुष्पसेना अधिकाधिक शिथिल होती गयी और वह क्षण भी शीघ्र ही आ गया, जब वह सर्वथा पराभूत हो गयी। शुभकरण ने बाजी मार ली। पुष्पसेना को जीवन में यह पहली पराजय मिली थी। उसका हतप्रभ हो जाना स्वाभाविक ही था, तथापि उसने अपने को सायास सॅभाला–"यह तो पहली बाजी थी। दो बाजियाँ जो अपने पक्ष में करेगा, वही तो विजयी होगा और अभी दो बाजियॉ शेष हैं।"–साहस बटोरते हुए पुष्पसेना ने कहा।

"सत्य है, पुष्पसेना ! दो बाजियाँ शेष हैं।"–शुभकरण ने कहा–"···· किन्तु कौन जानता है, निर्णय इस अगली बाजी में ही हो जाय। दूसरी की आवश्यकता ही न रहे। दो बाजियाँ ही तो जीतनी हैं। एक मेरे पक्ष में हो ही चुकी है।" दूसरी बाजी आरंभ हुई और वही हुआ कि शुभकरण ने दूसरी बाजी भी अपने पक्ष में कर ली। बड़ी सुगमता के साथ उसने पुष्पसेना को पराजित कर दिया। किन्तु इस बार वह हताश तनिक भी न थी। उसे ऐसे सुदर्शन युवा का जीवन-साहचर्य जो सुलभ हो रहा था।

उसने बड़े स्वस्थ मन के साथ अपनी पराजय स्वीकार की और इस भव्य विजय पर उसने शुभकरण का अभिनन्दन किया–"बधाई हो श्रेष्ठी-कुमार ! आज से मैं आपकी हो गयी। मेरा जीवन आपके अधीन रहेगा। आपकी जीवन-सहचरी होकर भी मैं आपकी दासी रहूँगी।"

"दासी ····? दासी नहीं, पुष्पसेना ! पत्नी तो अर्द्धांगिनी होती है। मैं तुम्हें अपने समान ही श्रेणी दूँगा। यही हमारा कुलीन व्यवहार है। चलो, अव पहले राजभवन चलते हैं।"–शुभकरण ने बड़ी ही कोमलता के साथ कहा–"वहॉ ····।"

"क्यों ···· क्यों? राजभवन क्यों जायेंगे हम?"–जिज्ञासापूर्वक पुष्पसेना ने प्रश्न कर दिया।

समाधान देते हुए शुभकरण ने कहा–"पुष्पा ! मेरे पिताश्री राज-सम्मानित श्रेष्ठी हैं। अवन्ती-नरेश मुझे पुत्रवत् मानते हैं, वहुत स्नेह करते हैं। सर्वप्रथम हम उनका आशीर्वाद ग्रहण करेंगे और उसके पश्चात् ही अपने भवन को चलेंगे।"

पुष्पसेना उठी और मुस्कराते हुए वोली–"वड़े प्रसन्न दिखायी दे रहो हो, प्रिय !"

"प्रसन्नता कहाँ है !" उदासी का अभिनय-सा करता हुआ बोला–"मुझे तो दुःख है, प्रिये ! कि मेरे कारण आज तुमको पराजित होना पड़ा।"

"नहीं .... मैं पराजित कहाँ हुई ?" गर्व के साथ पुष्पसेना बोली–"मैंने तो तुम्हें जीत लिया। यही तो सच्ची विजय है। मुझे तो तुम्हें पाकर गर्व है।" दोनों ठहा मारकर जोर से हँस पड़े।

हँसी से मुक्त हो दोनों हाथ में हाथ डाले एक-एक चरण आगे बढ़ने लगे– "आज से मेरी सारी सम्पत्ति आपकी है, प्रिय !"

"अरे वाह !"–पुष्पसेना के कथन के उत्तर में शुभकरण ने कहा–"सम्पत्ति का मैं स्वागत करता हूँ .... सम्पत्ति तो मेरे पास भी कुछ कम नहीं; चाहता तो मैं तुमसे कुछ और ही था, प्रिये !"

"अरे, आप-जैसे मनोहर प्रिय के लिये तो मैं प्राणों का उत्सर्ग भी कर सकती हूँ, मेरे प्रियतम ! कहें .... क्या चाहते हैं आप ?" अपनी सहज, मधुर वाणी में पुष्पसेना ने प्रश्न किया।

"देवी ! एक छोटी-सी कामना है मेरी। हर्षोल्लास की इस घड़ी को स्मरणीय बनाने के लिए, प्रिये ! एक शुभ कार्य कर दो। सभी पराजित बंदियों को स्वतंत्र कर दो।"

याचना-भरे स्वर में जब शुभकरण ने यह अनुरोध किया तो पुष्पसेना ने कहा–"आप याचना क्यों करते हैं, प्रियतम ! आपको तो आदेश देने का अधिकार है और आदेश-पालन मेरा धर्म है। समझिये कि सभी बंदी मुक्त हो गये।"

"तुम कितनी अच्छी हो, पुष्पा ! सौभाग्यशाली जनों को ही तुम-जैसी प्रेयसी मिलती है। मैं तो धन्य हो गया।" शुभ ने अपनी बाँह पुष्पसेना की कटि में डाल दीं और दोनों हौले-हौले आगे बढ़ते चले गये।

राजभवन में पहुँचे तो महाराज रानी सुकोमला के साथ बैठे बतिया रहे थे। महाराज एक युवक के साथ पुष्पसेना को आते देखकर आश्चर्यचकित रह गये। दूर से ही युवक ने हाथ जोड़कर नमन किया–"पिता महाराज के श्रीचरणों में शुभकरण का प्रणाम !" युवक ने आगे बढ़कर माता-पिता दोनों के चरणों को स्पर्श करते हुए कहा–"हम दोनों सफल जीवन के लिए आपका आशीर्वाद प्राप्त करने आये हैं।"

"बधाई हो ! तो तुमने चौपड़ में विजय प्राप्त कर ही ली, शुभ !"

"सब आपका आशीर्वाद है, पिता महाराज !" नम्रतापूर्वक शुभकरण ने कहा और वह भीतर के कक्ष में चली गयी। उसी कक्ष से कुछ समय पश्चात् शुभमती और विक्रमचरित्र को आता देखा तो पुष्पसेना हक्की-बक्की ही रह गयी। शुभकरण का चेहरा-मोहरा, वही रूप-आकर्षण–"यह क्या रहस्य है ? मैं क्या दे रही हूँ यह ?"

"तुम जो अब देख रही हो, वही यथार्थ है, पुष्पसेना ! वही सत्य है।" शुभमती ने कहा। उसकी वाणी का लोच पुष्पसेना को सब-कुछ स्पष्ट कर गया। "···· तो शुभमती युवराज्ञी ने ही शुभकरण का स्वांग रचा था?"

"तुम ठीक ही कहती हो, पुष्पसेना ! यह हमारी युवराज्ञी शुभमती ही है जिसने शुभकरण के वेश में तुम्हें परास्त किया है। हमने तो कहा था तुमसे।" –महाराज ने कहा–"···· कि वर की खोज के लिए जो विधि तुमने अपनायी है, वह जोखिम-भरी है। आखिर उसने तुम्हें छल ही लिया न !"

"किन्तु ···· अब मेरा क्या होगा?"

"होगा क्या ····?" शुभमती ने प्रसन्नता के साथ कहा–"तुम ···· मेरी प्रेयसी और मैं युवराज की प्रेयसी तो तुम भी युवराज की प्रेयसी ····।"

"नहीं-नहीं ···· नहीं, यह कैसे संभव है? ऐसा नहीं हो सकता।" बड़ी तत्परता के साथ पुष्पसेना ने शुभमती के विचार को नकार दिया।

"अच्छा, ऐसा नहीं तो न सही।"–रानी सुकोमला माता ने हस्तक्षेप करते हुए कहा–"तुम शुभमती की सखी बनकर राजभवन में रहो। कालान्तर में तुम्हारा हृदय-परिवर्तन भी हो सकता है। युवराज से यदि प्रभावित हो जाओ तो शुभमती को बता देना।"

पुष्पसेना उदास तो हो गयी, किन्तु उसकी सहजता क्रमशः लौटने लगी। वह राजभवन के सुख-वैभव के वातावरण में भी तटस्थ होकर रहने लगी। सुखोपभोग में, साज-सज्जा में उसकी रुचि समाप्त हो गयी। वह बाहर से तो शान्त, गंभीर थी ही, भीतर से वैरागिन हो गयी थी। सांसारिक विषय उसे अर्थहीन प्रतीत होने लगे। उसके जीवन में जो महाशून्य आ गया था, आध्यात्मिकता धीरे-धीरे उस रिक्तता को भरने लगी। उसे जीवन की क्षण-भंगुरता और जगत् की असारता का यथार्थ समझ में आने लगा। वह राग-द्वेष से ऊपर उठने लगी। विरक्ति के सोपान उसे स्पष्ट दृष्टिगत होने लगे थे और उसके चरण उन्हें छूने को जैसे कसमसाने लगे। वह धर्मोपासना में समय व्यतीत करने लगी।

× × ×

अवन्ती का भाग्योदय हुआ। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का शुभ आगमन हुआ। 'गृहस्थ-साध्वी' पुष्पसेना तो ऐसी हर्षित हो गयी थी जैसे नेत्रहीना को दृष्टि प्राप्त हो गयी हो। सारा राज-परिवार दर्शनार्थ गया। सबसे पीछे भाव-विभोर-सी पुष्पसेना श्वेत वस्त्रों में चली जा रही थी–पलकें झुकाए, अलकें बिखेरे; अहंकार त्यागे, अलंकारहीन, हृदय से मलिन और मन से दीन। दूर से भाव-वन्दना करती वह आचार्यश्री के चरणों में आ उपस्थित हो गयी। अचल और अमर सुख का मार्ग अपने प्रवचन में आचार्यश्री ने बताया। उस पर गतिशील होने की प्रेरणा दी। मार्ग की कठिनाइयों से अवगत भी कराया और उन पर विजय पाने की समर्थता भी प्रदान की।

पुष्पसेना का मन तो विरक्ति से भर उठा। उसने आचार्यश्री से दीक्षार्थ अनुरोध किया। अपनी दृष्टि से ही उन्होंने पुष्पसेना की पात्रता को पहचान लिया और धर्मसंघ में उसे दीक्षित कर लिया। कृतकृत्य पुष्पसेना तो अपने जीवन को सार्थक मानने लगी। उसे यथार्थ और सर्वोपरि विजय सुलभ हो गयी।

× × ×

मालवाधिपति वीर विक्रम महाराज ने तीर्थ-यात्रा का निश्चय किया। बड़ा भारी यात्रा-संघ सजा। हाथी, अश्व, रथादि वाहन, रक्षक, अनेक यात्री जन, सेवक-परिचारक, शिविर, औषधि, चिकित्सक—सब-कुछ साथ था। एक प्रकार से लघु अवन्ती ही चलायमान होकर तीर्थ-मार्ग पर गतिशील हो गयी थी। कोई छह माह तक यह यात्रा चलती रही। करोड़ों स्वर्ण का दान-पुण्य किया महाराज ने अपने हाथों से। यह भी बड़ा सुखद संयोग था कि जिस दिन महाराज अवन्ती पहुँचे उसी दिन सारे राज्य में महाराज का सैंतालीसवाँ जन्म-दिन बड़े उत्साह और उमंग के साथ मनाया गया। राजभवन दीपावली से अलंकृत किया गया।

कुछ ही कालोपरान्त शकों ने मालव-धरती को पदाक्रान्त करना आरंभ किया। दुर्दान्त अत्याचारों से निरीह प्रजा जन पीड़ित होने लगे। प्राण-प्रिय रानी कमलावती को रुग्ण छोड़कर राजधर्म को निभाने, राष्ट्र की पुकार पर महाराज ने शकों को खदेड़ने हेतु प्रयाण किया। अपराजेय वीर विक्रम महाराज अपने पराक्रम से शत्रु को पराभूत करते रहे। किन्तु शत्रु एक क्षेत्र में दमित होता तो अन्य क्षेत्र में सिर उठा लेता। राज्यभर में मालव-सैन्य अपने शूरवीर शासक के नेतृत्व में भागता-दौड़ता रहा। दो वर्षों के सतत संघर्ष में अन्ततः विजय महाराज के पराक्रम की हुई। विजय-पताका फहराते हुए महाराज अवन्ती लौटे, किन्तु स्वामी के गौरवपूर्ण कृतित्व की यशोगाथा सुनने को राजरानी कमलावती नहीं रहीं। इस कीर्ति-लाभ के उपरान्त भी महाराज ज्योतिहीन दीपक की भाँति निष्प्रभ हो गये। उनका मन विरक्ति से भर उठा। मालव-जनता ने अपने राजेश्वर को 'शकारि' की उपाधि से विभूषित किया। राष्ट्र ने अभिनन्दन-वन्दन किया। महाराज तटस्थ भाव से, मूक दर्शक-से बने रहे। शत-शत राज्यों के नरेशों ने महाराज का नेतृत्व स्वीकार किया और वीर विक्रम महाराज 'सर्वश्रेष्ठ सम्राट्' घोषित किये गये।

महाराज ने पचास वर्षों का आयुष्य पूर्ण किया और इक्यावनवें वर्ष में प्रवेश किया और उस वर्ष को विक्रमी संवत् का समारंभ स्वीकारा गया।

आधा जीवन वीत गया। क्या खोया, क्या पाया? महाराज इसी दिशा में चिन्तन करते राजभवन के भीतरी उद्यान में मंथर गति से विचरण कर रहे थे—दोनों हाथ पीठ-पीछे वँधे, शीश झुका हुआ, पलकें अधखुलीं। वे सोचते चले जा रहे थे। अनेक साथी जगत् से उठ गये—राजरानी कमलावती गयीं, रानी देवदमनी भी नहीं रही, रामदास और अजय-जैसे स्वामी-भक्त, विश्वसनीय सेवक भी चले गये। .... यह जगत् तो सुख-दुःखों का मेला है। दुःख तो दुःख हैं ही , भी

केवल सुखाभास हैं। अन्ततः वे दुःख में ही परिणत हो जाते हैं। फिर सुखों के पीछे भागने का अर्थ ही क्या है? इसी समय उन्हें आभास हुआ–जैसे उनके संग-संग कोई चल रहा है। उस नीरव वातावरण में राजमहिषी की पद-चाप स्पष्ट सुनायी देने लगी थी, किन्तु महाराज चौंके नहीं, शान्त-गंभीर बने रहे। मात्र यही कहा–"तुम .... सुकोमला रानी !"

"जी, मैं ही हूँ .... किन्तु आज बड़े चिन्तित दिखायी दे रहे हैं, स्वामी ! आप क्या सोच रहे हैं?" रानी सुकोमला महाराज का मुख ताकने लगी।

"चिन्ताशील नहीं .... चिन्तनशील हूँ, रानी !" महाराज ने उसी गंभीरता के साथ कहा–"सोच रहा हूँ अब तक के जीवन में मैंने क्या भला किया–क्या बुरा?"

"बुरा क्या होगा, प्राणनाथ ! .... सब-कुछ भला ही भला तो है। आपने संस्कृति का परिरक्षण किया। मनुष्य को मनुष्य बनकर जीने की कला सिखाई, जनता को व्यसन-मुक्त जीवन जीना सिखाया, आदर्श राजा का स्वरूप स्थापित किया, जनता का वात्सल्यपूर्वक पालन किया, धर्म की ज्योति प्रसारित कर अधर्म-तिमिर को दूर किया। सब-कुछ तो मंगलमय और शुभ है। आपके कृत्य तो सदा-सदा ही स्मरण किये जाते रहेंगे। वे कालजयी होते हैं, स्वामी !" रानी सुकोमला ने कहा।

"कह नहीं सकते, इन सब बातों का कितना मोल है?" महाराज ने शान्ति के साथ कहा–"मैंने तो आचार्यश्री के उपदेशों में अपने कार्यों में से एक कार्य की शुभ कर्म के रूप में पुष्टि पायी है। आचार्यश्री का कथन था–आनन्द देने में है, लेने में नहीं। हमें संतोष है, देवी ! कि हमने भी स्वयं की समृद्धि की नहीं, जनता के सुख की ही चिन्ता है, किन्तु अब हम यह शुभ कर्म भी अपने उत्तराधिकारी को सौंपकर निवृत्त हो जाना चाहते हैं। आत्म-कल्याण की साधना में हम प्रवृत्त हो जाना चाहते हैं, देवी ! यही मात्र एक दिशा हमारी गतिशीलता के लिए अब शेष रह गयी है। हवाएँ भी हमें प्रेरित कर रही हैं कि पलभर का भी प्रमाद किये बिना धर्माराधना में हमें निरत हो जाना चाहिये। जगत् को खूब देखा है अब स्वयं को देखना है .... आत्म-साक्षात्कार ....। भगवान महावीर स्वामी द्वारा निर्देशित त्याग–तपोमय जीवन ही सद्धर्म है। वीतराग ही आत्म-साक्षात्कार का स्रोत है। मेरा शेष जीवन इसी धर्माराधना को समर्पित रहेगा। यथाशक्य अन्य जनों में धर्म की आस्था को प्रबल बनाने में ही मेरे जीवन की सार्थकता रहेगी।"

जयति .... जयति .... जय महावीर !
जय त्याग तपोमय धर्मधीर !!

॥ इतिश्री ॥